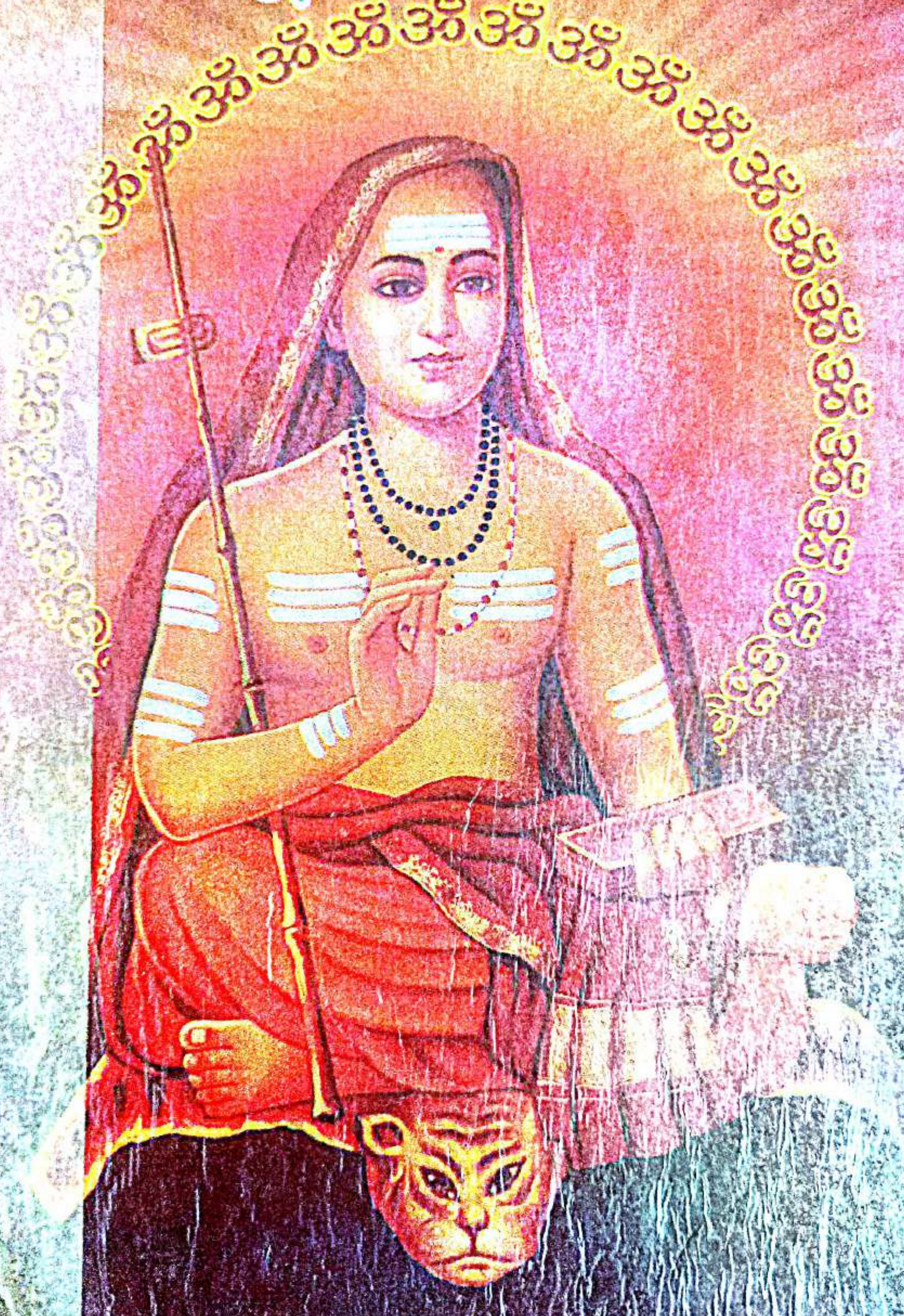
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्



स्वामी श्रीहनुमानदासजी षट्शास्त्री

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१२४

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

'ब्रह्मतत्त्वविमर्शिनी' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः
स्वामी श्रीहनुमानदासजी षट्शास्त्री

भूमिका लेखकः
डॉ० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय
एम० ए०, बी० एल्०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष : संस्कृत-विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 0542-2420404
E-mail : cvbhawan@yahoo.co.in

संस्करण **2017**
मूल्य : **500.00**

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

❖

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
124

BRAHMASŪTRA ŚAṄKARABHĀṢYAM

OF

ŚRĪ ŚAṄKARĀCĀRYA

Edited with

THE BRAHMATATTVAVIMARŚINĪ
HINDĪ COMMENTARY

By

Swami Hanumandas Shatshastri

With an Introduction

By

Dr. Viramani Prasad Upadhyaya
M. A., B. L., D. Litt., Sahityacharya
Prof. & Head of the Sanskrit Deptt.
University of Gorakhpur.

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

Publishers :

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Publishers & Distributors)
Chowk (Behind Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001
Tel. # 0542-2420404
e-mail : cvbhawan@yahoo.co.in

Also can be had from :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

•

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

•

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

भूमिका

वेदान्त का सर्वप्रथम क्रमबद्ध रूप वेदान्तसूत्रों में उपलब्ध होता है, यद्यपि इस क्रमबद्धता तथा एकरूपता के विषय में सन्देह किया जाता है। इन ब्रह्मसूत्रों में कतिपय वेदान्त के आचार्यों के नाम मिलते हैं, जिनमें जैमिनि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न और औडुलोमि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्राचीन समय में कई ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रों की रचना हुई थी (उदाहरणार्थ—B. N. Krishnamurti Sharma : ABORI, XXIII, P. 398; Swami Vireshwaranand : The Erahmasutra's Introd., P. 6; Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, P. 432 ; Vidhushekhar Bhattacharya : आगमशास्त्रम्, अवतरणिका, पृ० २१९ ; रामकृष्ण आचार्य : ब्रह्मसूत्र के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ३), जिनमें अधिकांश लुप्त हो गये। लुप्त होने का कारण यही बतलाया जा सकता है कि प्रचलित ब्रह्मसूत्र अधिक क्रमबद्ध और प्रामाणिक सिद्ध हुआ। इस कारण इसकी तुलना में अन्य सूत्रग्रन्थों की प्रामाणिकता कम हो गई और वे कालान्तर में लुप्त हो गये।

प्रो० श्रीपादकृष्ण बेलवलकर का कथन है कि उपनिषद् ग्रन्थों के आलोडन से यह ज्ञात होता है कि पहले वेदशाखाओं के अनुसार तत्तद् वाक्यों की क्रमबद्धता के प्रदर्शन तथा तात्पर्य निर्णय के लिये सूत्रग्रन्थों की रचना हुई थी (द्रष्टव्य—Belvalkar's Lectures on Vedanta Philosophy, P. 140-41)। उनके मत में जैमिनि ने सामवेद के अनुसार एक अन्य शारीरिक-सूत्र की रचना की थी, जिसके आदिम दो सूत्र प्रचलित ब्रह्मसूत्रों से मिलते थे। इसके प्रमाण में वे सुरेश्वराचार्य की **'नैष्कर्म्यसिद्धि'** (हिरियन्ना संस्करण) का निर्देश करते हैं (द्रष्टव्य—आगमशास्त्र, अवतरणिका पृ० ७०)। परन्तु ब्रह्मसूत्रों में उद्धृत जैमिनि के मतों की समीक्षा से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जैमिनि ने किसी अन्य शारीरक-सूत्र की रचना नहीं की थी, अपितु ये सिद्धान्त पूर्वमीमांसा सूत्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों से भिन्न नहीं। (इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य—मेरे निर्देशन में लिखा गया शोध-प्रबन्ध—"शङ्कर और नागार्जुन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २७२–७३)। डा० बेलवलकर के मत में जैमिनि सूत्र को 'छान्दोग्य' ब्रह्मसूत्र का नाम दिया जा सकता है (द्रष्टव्य—वही, पृ० १४१ ; Belvalkar's Article in the "Garbe Festgabe", 1972, P. 168 ; Belvalkar, "The Multiple Authorship of

the Vedanta-Sutras" in the Indian Philosophical Review, Vol. II, 19.8-19, P. 141-154) उनके मतानुसार एक बृहदारण्य ब्रह्मसूत्र भी विद्यमान था। बाद में इन प्रातिशाखीय ब्रह्मसूत्रों के प्रमुख मूल अंशों को सर्व-शाखीय ब्रह्मसूत्रों के रूप में परिणत कर दिया गया। प्रचलित ब्रह्मसूत्र उस सर्व-शाखीय ब्रह्मसूत्र का परिमार्जित रूप कहा जा सकता है (द्रष्टव्य—वही, पृ० १४२-४६)।

ब्रह्मसूत्र का कर्तृत्व और इसकी प्राचीनता

प्राचीन पद्धति के पण्डितसमाज में यह प्रचलित तथा प्रसिद्ध धारणा है कि बादरायण व्यास का नामान्तर है। परन्तु आजकल पाश्चात्य तथा अनेक भारतीय अन्वेषक विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं। कुछ तो कहते हैं कि बादरायण को व्यास मान लेने पर भी उनके कृष्णद्वैपायन व्यास होने में कोई प्रमाण नहीं। प्रारम्भ में इसी प्रश्न पर विचार करना आवश्यक होगा। सर्वप्रथम प्रमाण जो उपर्युक्त विचार के समर्थन में उपन्यस्त किया जाता है वह है महर्षि पाणिनि के सूत्र **"पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" (४-३११०),** तथा **"कर्मन्दकृशाश्वादिनिः" (४-३-१११)।** प्रथम सूत्र में भिक्षुसूत्रकार पाराशर्य का स्पष्ट उल्लेख है और पाराशर्य का अर्थ पराशर-पुत्र है, जो वेदव्यास बादरायण थे। 'भिक्षु' पद संन्यासी का वाचक है। इसलिये इस सूत्र में उपात्त भिक्षुसूत्र संन्यासियों के लिये उपनिषदों के आधार पर लिखा हुआ कोई ग्रन्थ होगा, जो पाणिनि को ज्ञात रहा होगा। आजकल प्रचलित जो ब्रह्मसूत्र है वह भी बादरायण व्यास के नाम से ही प्रसिद्ध है। अतः उपर्युक्त पाणिनिसूत्राऽभिप्रेत भिक्षुसूत्र वेदव्यास अर्थात् बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र ही है। इस विचार के प्रसङ्ग में एक उल्लेखनीय मत Rhys Davis का है। उन्होंने अपने ग्रन्थ, "Buddhist India" में लिखा है—"अतिप्राचीन बुद्धकाल के भारत में विभिन्न सम्प्रदायों के कुछ अनुयायिगण आरण्यक जीवन व्यतीत करते थे और अपने-अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुसार ध्यान, यज्ञानुष्ठान या तपस्या आदि में निरत रहते थे। इनके अतिरिक्त कुछ वैसे भी थे जो घूमते रहते थे। वे 'परिव्राजक' कहे जाते थे और उनका भी देश में बड़ा सम्मान था। इनके सामुदायिक नाम भी होते थे और समुदाय 'संघ' कहा जाता था। इन संघों के नाम 'अनुत्तर' में संकलित हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणों के संघ थे और उनके भी सूत्र होते थे। तीसरी शताब्दी में "वैखानस सूत्र" प्रचलित था, जिसमें वैखानस संघ के नियम संगृहीत थे। पाणिनि के उपर्युक्त सूत्रों से इसी प्रकार के दो ब्राह्मण-संघों की सूचना मिलती है। तदनुसार 'पाराशर्य' और 'कर्मन्द' के कहे हुये भिक्षुसूत्रों को पढ़नेवाले 'पाराशरी' और 'कर्मन्दी' शब्दों से व्यपदिष्ट होते थे (द्रष्टव्य पृ० ८७-८८)। नागेश ने अपनी 'शेखर' टीका में 'भिक्षुसूत्र' की व्याख्या करते हुये लिखा है **"भिक्षुसूत्रम् = भिक्षुत्वसम्पादकं सूत्रम्। यथा नटसूत्रम्। नटसूत्रज्ञाने हि नटत्वसम्पत्तिः, एवं तज्ज्ञाने ब्रह्मरूपत्वेन सर्वज्ञानात्कर्मस्वनादरेण भिक्षुत्वसम्पत्तेः"।** उपर्युक्त उद्धरणों के परिशीलन से यही सिद्ध होता है कि 'भिक्षु-सूत्र' से तात्पर्य पाणिनिपूर्ववर्त्ती ब्राह्मणसंघों में प्रचलित, पाराशर्य से प्रोक्त, भिक्षुत्वसम्पादक तथा सम्प्रदायविशेष के सिद्धान्तों एवं नियमों के संग्राहक सूत्र से है।

यह भिक्षु सूत्र वर्तमान वेदान्त-सूत्र ही है तथा वेदव्यास, वेदान्तसूत्र के रचयिता एवं बादरायण से अभिन्न हैं—इन प्रश्नों के सम्बन्ध में परस्परविरोधी रहे प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनका संकलन नीचे किया जाता है।

साधक प्रमाण तथा युक्तियाँ :—

(१) 'ब्रह्मसूत्र' पद की चर्चा गीता के "ऋषिभिर्बहुधा गीतं, छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितम्" (अ० १३, श्लो० ४)। इसके भाष्य में शङ्कराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या इन शब्दों में की है—"ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि, तैः पद्यते ज्ञायते ब्रह्म इति पदानि इत्येवमादिभिः ब्रह्मसूत्रपदैः आत्मा ज्ञायते।" इससे ब्रह्मसूत्र की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है।

(२) ड्यूसन के अनुसार ब्रह्मसूत्र को पहले किसी संग्रहकार ने एकत्र संग्रथित किया था। ब्रह्मसूत्र पर उपवर्ष ने 'कृतकोटि' नाम की वृत्ति[1] लिखी। बोधायन की वृत्ति का भी यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है। इन दोनों का समय ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूव माना जाता है। कुछ लोगों का मत है कि 'उपवर्ष' तथा 'बोधायन' एक ही व्यक्ति के दो नाम थे। अन्य लोग उन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। यह भी कहा जाता है कि उपवर्ष ने अद्वैतमत के अनुसार वृत्ति लिखी थी और बोधायन ने विशिष्टाऽद्वैतमत के अनुसार। जो भी हो, इसमें मतभेद नहीं कि उपवर्ष पाणिनि के समकालिक और गुरु[2] थे। उनकी लिखी हुई 'वृत्ति' से 'ब्रह्मसूत्र' अवश्यमेव प्राचीनतर रहा होगा।

(३) "उत्तरं भगवान् बादरायण आचार्यः पठति—"अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्" (४-४-२२) सूत्र की इस अवतरणिका से सिद्ध होता है कि बादरायण 'ब्रह्मसूत्र' के रचयिता थे। [द्रष्टव्य—बेलवेलकर : The Brahmasutra of Badarayan (Poona ed. 1928) Notes, P. 27, II. 1. 12.]

(३) वाचस्पतिमिश्रकृत भामती का मङ्गलाचरण श्लोक ५ :—

"ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय धीमते। ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवते हरेः॥"

(व्यास = बादरायण)

(४) सर्वज्ञात्ममुनिकृत संक्षेपशारीरक का श्लोक ६ :—

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्तरङ्गा, वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः।

---

१. महर्षि शबरस्वामी ने वाचकत्व प्रत्येक वर्ण में है वा वर्णों के समुदाय में या स्फोट में है? इत्यादि संशयों को उपस्थित करते हुए "गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति हि भगवानुपवर्षः" इत्यादि शब्दों से उपवर्ष के सिद्धान्त का उपन्यास किया है। ब्रह्मसूत्र "एक आत्मनः शरीरे भावात्" (३-३-५३) के शाङ्कर भाष्य में "इत एव चाकृष्याऽऽचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अत एव च भगवता उपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्यामः इत्युद्धारः कृतः।

२. शङ्करस्वामिनामाऽभूद् ब्राह्मणो वेदपारगः।
वर्षोपवर्षौ तस्येमौ तनयावतनुत्विषः॥
सम्प्राप्य विद्यामतुलां विश्रुतो लोकपूजितः।
कनीयानुपवर्षोऽस्य मम भर्तुर्महाधनः॥
पाणिनिर्नाम वर्षस्य शिष्यः पूर्वं जडाशयः।
तपसा शङ्करं प्राप्य नवं व्याकरणं वशी॥

(द्रष्टव्य—सोमदत्त : कथासरित्सागर ; क्षेमेन्द्रः बृहत्कथामंजरी)

इसकी टीका 'सारसंग्रह' में मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं :—

"रत्नाकररूपेण भगवन्तं व्यासं विष्ण्ववतारं सूत्रकारं प्रथमगुरुं स्तौति"

(५) आनन्दगिरि टीका श्लोक ५ :—

श्रीमद्व्यासमुनिः पयोनिधिरसौ सत्सूक्तिपङ्क्तिस्फुरन्-
मुक्तानामनवद्यहृद्यविपुलप्रद्योतिविद्यामणिः ।
क्षान्तिः शान्तिधृती दयेतिसरितामेकान्तविश्रान्तिभू-
र्भूयासः सततं मुनीन्द्रमकरश्रेणीश्रयः श्रेयसे ॥

(६) रत्नप्रभाटीका श्लोक ५ :—

श्रीशङ्करं भाष्यकृतं प्रणम्य, व्यासं हरिं सूत्रकृतं च वच्मि ।
श्रीभाष्यतीर्थे परहंसतुष्ट्यै वाग्जालबन्धच्छिदमभ्युपायम् ॥

(७) श्रीभाष्य श्लोक २ :—

पाराशर्यवचः सुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योद्धृताम् ।
संसाराग्निविदीपनव्यपगतप्राणात्मसञ्जीविनीम् ॥

(८) तत्त्वटीका (कलकत्ता संस्करण) पृ० ७३ : उद्धृत श्लोक :—

"द्वीपे बदरिकाश्रमे, बादरायणमच्युतम् । ... ... ।
अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात् । ... ... ॥
... ... । चकार ब्रह्मसूत्राणि, येषांसूत्रत्वमञ्जसा ।

बाधक प्रमाण युक्तियाँ :—

(१) प्रथम प्रमाण के अनुसार ब्रह्मसूत्र गीता से पूर्ववर्ती हो जाता है । किन्तु 'स्मृतेश्च' (१-२-६) इस सूत्र में परामृष्ट 'स्मृति' के सम्बन्ध में शाङ्करभाष्य में लिखा गया है "स्मृतिश्च..." "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ (गी० १८-६१) इत्याद्या" । इस कथन तथा अन्य कतिपय उद्धरणों से प्रतीत होता है कि वर्त्तमान 'ब्रह्मसूत्र' गीता-परवर्त्ती है ।

(२) "वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति" (१-३-२९ वे० सू० शा० भा०); "भावं तु बादरायणोऽस्तिहि" (१-३-३३); इसी पर शा० भा० "बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते; "मनु-व्यासप्रभृतिभिः" (२-१-१२ वे० सू० शा० भा०); "स्मरन्ति च व्यासादयो यथा" (२-३-४७ वे० सू० शा० भा०)—इन पङ्क्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि व्यास अथवा वेदव्यास तथा बादरायण वेदान्तसूत्र रचयिता से भिन्न हैं, क्योंकि इनके नाम पृथक् निर्दिष्ट हैं । यदि सूत्रकार से अभिन्न होते तो शङ्कराचार्य अपने भाष्य में उनका मत पृथक् उपन्यस्त नहीं करते । साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि व्यास और बादरायण के पृथक्तया उद्धृत होने के कारण शङ्कर के अनुसार वेदव्यास (महाभारत के रचयिता) और बादरायण सूत्रकार से भिन्न व्यक्ति हैं । उपर्युक्त सूत्र (१-३-३३) में ही बादरायण का उपन्यास स्पष्ट रूप से बादरायण की सूत्रकार से पृथकता सिद्ध करता है ।

"तथाहि-अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिर्विष्णुनियोगात्कलिद्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति" (३-३-३२ वे० सू० शा० भा०) । इससे ज्ञात होता है

कि वेदव्यास अर्थात् कृष्णद्वैपायन अपान्तरतमस् के अवतार थे। "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकणाम्"—इस सूत्र में उपन्यस्त आधिकारिकों के उदाहरण रूप कृष्णद्वैपायन अर्थात् वेदव्यास की चर्चा आयी है। इससे भी सूत्रकार की 'आधिकारिक' पद-वाच्य वेदव्यास से भिन्नता प्रतीत होती है।

अन्त में उन प्रमाणों को उपस्थित किया जाता है, जिनमें स्पष्ट रूप से वेदव्यास बादरायण के ब्रह्मसूत्र रचयिता होने का निर्देश है। ब्रह्मसूत्र के अन्तिम सूत्र (४-४-२२) की अवतरणिका का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सर्वज्ञात्ममुनि ने 'संक्षेपशारीरक' के कई स्थानों पर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वेदव्यास बादरायण 'ब्रह्मसूत्र' के रचयिता हैं। इसके लिये निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य हैं :—

"भेदादिवर्जितमखण्डमुशन्ति यस्माच्छ्रीबादरायणमतानुगता महान्तः" ॥ १।१४६

इसकी टीका 'सारसङ्ग्रह' में मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं "भगवद्बादरायणः खलु 'तत्तु समन्वयात्' इति सूत्रेणाऽखण्डैकरसे ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यं न्यरूपयत्। अतस्तन्मतानुसारिणः शङ्करभगवत्पादास्तच्छिष्याश्च तथैवोशन्ति।

"यद्बादरायणमतं परिगृह्य पूर्वं, श्रेयस्करेऽनधिगते खलु चोदनायाः।
प्रामाण्यमुक्तमिदमस्य समन्वयस्य, वस्तुस्वरूपकथनेऽप्यविशिष्टमस्ति ॥"

इसकी टीका में मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—"जैमिनिना 'अनुपलब्धेऽर्थे तत्प्रमाणं बादरायणस्याऽनपेक्षत्वात्' इति सूत्रांशेनाऽनपेक्षत्वेनैव वेदप्रामाण्य बादरायणसम्मतम्"।

"सूत्रं तत्तु समन्वयादिति विधिव्यापारनिष्ठं वचो,
मोक्षायेति निवेदनाय कृतवान् वेदान्तवेदी मुनिः। १।२६१

इसकी टीका में मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—"वेदान्तवेदी वेदान्तानां सम्यगर्थवेदनशीलः मुनिर्बादरायणः "तत्तु समन्वयात्" इति सूत्रं कृतवानिति सम्बन्धः।"

"वाक्यार्थान्वयितत्पदार्थकथने नेतीति वाक्यं पुनः।
साक्षात्सूत्रयति स्म सूत्रकृदतस्तत्तत्परं निश्चितम्।" १।२६२

मधुसूदन सरस्वती टीका—"सूत्रकारो ह्युदाहृतसूत्रेण "अथात आदेशो नेति नेति" इति वचनं मूर्त्तादिकं कारणब्रह्मस्वरूपमेव प्रतिषेधति न तु रूपि ब्रह्मेति प्रतिपादयंस्तत्पदार्थमेव शोधयामासेति न तत्प्रधानम्।"

"भूताय भव्यमिति भूतपरं हि सर्वं वेदावसानमिति सूत्रकृदाचचक्षे ॥" १।३१२

"यद्यजडं भवति संसृतिकारणं तद्ब्रह्मेति स्फुटं वदति सूत्रकृदत्र यस्मात् ॥" १।३२४

"स्वप्नःशुभाशुभफलागमसूचकःस्याद् मिथ्यापिसन्निति च सूत्रकृदाह यत्नात्।"१।३३८

"तद् बादरायणमतानयनात् प्रतीमः"—२।४६

मधुसूदन सरस्वती टीका—"तत्र सूत्रे ('अर्थेऽनुपलब्धे' इत्यादि जैमिनिसूत्रे) बादरायणमतस्यानयनादाकर्षणादिति सम्बन्धः"।

न स्तौमि तं व्यासमशेषमर्थं सम्यङ् न सूत्रैरपि यो बबन्ध। बिनाऽपि तैः संग्रथिताखिलार्थं तं शङ्करं नौमि सुरेश्वरं च ॥ मधुसूदन, सिद्धान्तबिन्दु, ग्रन्थान्तश्लोक २।

शाङ्कर अद्वैतवाद के सर्वज्ञात्ममुनि तथा मधुसूदन सरस्वती दो प्रमुख आचार्य थे। इन वाक्यों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वेदव्यास बादरायण ब्रह्मसूत्रकार थे।

इसके अतिरिक्त शङ्करभगवत्पाद के साक्षात् शिष्य पद्मपाद ने भी अपने ग्रन्थ 'पञ्चपादिका' में यही लिखा है :—

"नमः श्रुतिशिरःपद्मषण्डमार्त्तण्डमूर्तये ।
बादरायणसंज्ञाय मुनये शमवेश्मने ॥ पञ्चपादिका, श्लो० २

'पञ्चपादिकाविवरणकार प्रकाशात्मा ने मङ्गलश्लोक में इसी बात का समर्थन किया है :—

श्यामोऽपि श्रुतिकमलावबोधरागः,
शान्तः सञ्जयति तमोविनाशमन्तः ।
नीरूपं प्रथयति योऽपि गोसहस्रैः,
तं व्यासं नमत जगत्यपूर्वभानुम् ॥ श्लो० ४ ।

शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्य सुरेश्वर ने भी इस बात की पुष्टि की है—**"कृष्णद्वैपायनो वेदात्मा ध्वान्तहानिकृत् । प्राह बहुशः प्राणिनां हितकाम्यया ।** वृ० उ० भा० वार्त्तिक३-७-३१।

बालकृष्णानन्द सरस्वती स्वरचित **'अद्वैतपञ्चरत्नम्'** की किरणावली टीका के मङ्गलश्लोक में लिखते हैं :—

यदीय सूत्रविलसच्छास्त्रनावा भवाम्बुधिम् ।
सन्तस्तरन्ति तं वन्दे पाराशर्यमहर्निशम् ॥

स्मरण रहे कि यही **'पाराशर्य'** पद पाणिनि के उद्धृत सूत्र **'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः'** में भी प्रयुक्त हुआ है।

इन सब वचनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि पाराशर्य अर्थात् वेदव्यास बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। उपन्यस्त विविध प्रमाणों के बलाबल के परिशीलन से भी यही निर्णय तर्कसङ्गत जँचता है।

जैकोबी के अनुसार ब्रह्मसूत्र की रचना बहुत बाद अर्थात् २५० से ४५० शताब्दी के भीतर हुई। इस मत के समर्थन में यही युक्ति बतलाई जाती है कि इसमें अन्य दर्शन-सिद्धान्तों का खण्डन है (द्रष्टव्य—J. O. A. S., 1911, PP. 1–29)।

कीथ के अनुसार इसका समय अधिक से अधिक २०० शताब्दी हो सकता है। फ्रेजर (Fraser) इसका समय ४०० ईसा पूर्व मानते हैं (द्रष्टव्य—"Literary History of India", P. 196)।

मैक्समूलर ने इसका समय ३०० ईसा पूर्व स्वीकार किया है (द्रष्टव्य—"Six systems of Indian Philosophy", P. 113)।

अभयकुमार गुहा इसका समय ६०० ईसा पूर्व मानते हैं (द्रष्टव्य—Jivatman in the Brahmasutras"; Radhakrishnan : Indian Phil., Vol., II, P. 435; J. D. L., 1921, PP. 281–82 ।

दासगुप्ता के अनुसार ब्रह्मसूत्र का समय २०० ईसा पूर्व है (द्रष्टव्य—History of Indian Philosophy, Vol. I, P. 419.) बेलवलकर का मत है कि खीष्टाब्द के प्रारम्भ में ब्रह्मसूत्र का निर्माण हुआ (द्रष्टव्य—Lectures on Vedanta, P. 146) ।

उपर्युक्त मतों के संग्रह के पर्यालोचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्रचलित ब्रह्मसूत्र की रचना कई शताब्दी ईसा पूर्व में हुई होगी । जैकोबी की यह कल्पना कि वेदान्तसूत्र अन्य दर्शन-सूत्रों तथा ईश्वरकृष्णकृत साङ्ख्यकारिका आदि दर्शनग्रन्थों के बाद में निर्मित हुआ, क्योंकि वेदान्त-दर्शन में खण्डनार्थ उपस्थापित अन्य दार्शनिक सिद्धान्त अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं, मान्य नहीं । इसकी प्रबल युक्ति यह है कि ब्रह्मसूत्र में प्राचीन ऋषियों तथा आचार्यों के अतिरिक्त किसी अर्वाचीन सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक या दार्शनिक सिद्धान्त स्थापक का निर्देश नहीं है । साङ्ख्यमत का खण्डन प्रधानमल्लनिर्बर्हण-न्याय में विस्तृत रूप में किया गया है, किन्तु **"स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नाऽन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्"** यह सूत्र स्पष्ट बतलाता है कि स्मृतिकार कपिल महर्षि ही साङ्ख्यमत–प्रवर्त्तक के रूप में परामृष्ट हैं । न्यायवैशेषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक, पाञ्चरात्र तथा पाशुपत मतों के लिये भी यही बात लागू है (द्रष्टव्य—Shri V. shweshwaranand, Introduction to Vedanta, P. 9 ; पं० गोपीनाथ कविराज अच्युत, पृ० २–३ ; विष्णुपुराण, ३।१७।४१–४४ तथा ३।१८।७) ।

शङ्कराचार्य का समय

शङ्कराचार्य के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । उनका संकलन नीचे किया जाता है :—

(१) **टी० आर० चिन्तामणि** शङ्कराचार्य का जीवन-काल ६५५ से ६८८ शताब्दी तक ३३ वर्षों का मानते हैं (द्रष्टव्य—J. O. R. M. 1929, PP. 37–55) ।

(२) **ए० बी० कीथ०** के अनुसार इनका समय ९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में है (द्रष्टव्य—"Indian Logic and Atomism" P. 39) ।

(३) **म० म० स्व० पं० रामावतार शर्मा** शक ७०१ से ७६५ तक इनका समय स्वीकार करते हैं ।

(४) **स्व० बा० गा० तिलक** ने शङ्कराचार्य का जन्म ६८८ शताब्दी में माना है ।

(५) **कोलब्रूक तथा विल्सन** के मत में शङ्कराचार्य ८ वीं से ९ वीं शताब्दी के मध्य में हुये ।

(६) **कृष्णस्वामी** ने शङ्कराचार्य का काल ७८८ शताब्दी में निर्धारित किया है ।

(७) **टेलर** के अनुसार शङ्कराचार्य ९ वीं शताब्दी में हुये ।

(८) **हौजसन** (Hodgson) ने शङ्कराचार्य का समय ८ वीं शताब्दी में निश्चित किया है ।

(९) **मैकेन्जी** शङ्कराचार्य को ५ वीं शताब्दी में स्वीकार करते हैं ।

(१०) वेङ्कटेश्वर ने शङ्कराचार्य का काल ८०५ से ८९७ शताब्दी के मध्य में निर्दिष्ट किया है।

(११) के० बी० पाठक, मैक्समूलर, मैक्डोनल और टीले ने शङ्कराचार्य का समय ७८८ से ८२० शताब्दी के अभ्यन्तर स्थापित किया है (द्रष्टव्य—Teile : "Outlines of the History of Ancient Religions;" P. 141 ; Pathak : "The Date of Sankaracharya," Indian Antiquery 1822, PP. 173–175, cf : "निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे शङ्करोदयः। कल्यशब्दे चन्द्रनेत्राऽङ्कवह्न्यब्दे (३९२१) गुहाप्रवेशः॥ वैशाखे पूर्णिमायान्तु शङ्करः शिवतामियात्॥"

(१२) बर्नेल (Burnell) के अनुसार शङ्कराचार्य का काल ७ वीं शताब्दी है (द्रष्टव्य—"South Indian Paleography")।

(१३) वेबर (Hist. of Indian literature, P. 51) तथा ल्युईस राईस (PA. IOC, III, P.225) ने शङ्कर-समय ७४० से ७३७ शताब्दी तक स्वीकृत किया है।

(१४) राजेन्द्रनाथ घोष (प्रो० बलदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत) के अनुसार शङ्कराचार्य का समय ६८८ से ७२० शताब्दी तक होना चाहिये (द्रष्टव्य "Sanker and Ramanuja" PP. 787–807)।

शङ्कराचार्य ने २।२।२८ के भाष्य में धर्मकीर्ति के एक श्लोक को अंशतः "सहोपलम्भनियमाद्भेदो नीलतद्धियोः" तथा उपदेश साहस्री १८।१४२ में उनके श्लोक अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा" आदि को उद्धृत किया है। २।२।२८ के भाष्य में दिङ्नाग की कारिका के अंश को "यदन्तरीयरूपं तद् बहिर्वद्‌वभासते" उद्धृत किया है।

२।२।२२ तथा २।२।२४ सूत्रों के भाष्य में शङ्कराचार्य ने जिन दो बौद्ध आचार्यों के वचनों को उद्धृत किया है, उनमें से प्रथम गुणमतिकृतिकृत (६३०–६४०) अभिधर्मकोशव्याख्या में मिलता है।

आचार्य ने जैनमतखण्डन में जिस मत को उद्धृत किया है वह अकलंक के गुरु समन्तभद्र का प्रतीत होता है। २।२।२३ शा० भा० टीका भामती में उनकी "आप्तमीमांसा" का एक वचन "स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्" भी उद्धृत है।

अकलंक ७५३ शताब्दी के आस-पास के माने जाते हैं। अतः इनके गुरु समन्तभद्र का समय ८वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाना चाहिये। (द्रष्टव्य—म० म० पं० गोपीनाथ कविराज जी : "वेदान्तभूमिका, पृ० २७–२८) वाचस्पति ने ८४१ शताब्दी में "न्यायसूची-निबन्ध" की रचना की (द्रष्टव्य—Randle : Indian Logic In Early Schools," P. 39); प्रो० बलदेव उपाध्याय : शङ्कराचार्य, पृ० २९; उदयन : लक्षणावली)। उदयन ने वाचस्पतिकृत "न्यायतात्पर्य-टीका" पर "परिशुद्धि" लिखी। वाचस्पति ने १।२।३६ के शा० भा० की टीका में पद्मपादाचार्य-कृत "पञ्चपादिका" के मत का खण्डन किया है। पद्मपादाचार्य श्रीशङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्य थे। भास्कर ने शाङ्कर-व्याख्यान में दोष उद्भावित किये हैं। वाचस्पति ने इनका भी खण्डन किया है (द्रष्टव्य—भामती और कल्पतरु, पृ० १७८–२८४)। अतः यह निर्विवाद है कि वाचस्पति पद्मपादाचार्य तथा भास्कर ने उपरान्त हुये। भास्कर ने शङ्कराचार्य का खण्डन किया था इससे यह भी सिद्ध है कि इनके समय तक शाङ्करभाष्य की प्रसिद्धि हो चुकी थी। इस प्रसिद्धि के लिये

शङ्कराचार्य और वाचस्पति, जिनके बीच में भास्कर हुए, केवल २०-२१ वर्ष होते हैं, जो पर्याप्त समय नहीं है। उपर्युक्त उद्धरणों से यह निश्चित है कि शङ्कराचार्य का काल प्रचलित मत के अनुसार ७८८-८२० शताब्दी के बीच में इतना पीछे नहीं स्वीकृत किया जा सकता है।

दूसरी ओर जैनपरम्परा पर दृष्टिपात करने पर भी यह संगत नहीं प्रतीत होता। जिनसेन (७८३ शताब्दी के) ने "अष्टसाहस्री के रचयिता नित्यानन्द का उल्लेख किया है। नित्यानन्द ने सुरेश्वराचार्य के वार्त्तिकों को उद्‌धृत किया है। अतः सुरेश्वराचार्य ८ वीं शताब्दी के मध्य के माने जा सकते हैं। यदि ऐसा है तो सुरेश्वर के गुरु शङ्कराचार्य कैसे ८ वीं शताब्दी के अन्त में और ९वीं के प्रारम्भ में माने जा सकते हैं। अतः इन्हें ७वीं शताब्दी के अन्त में और ८वीं शताब्दी के आरम्भ में माना जा सकता है।

शङ्कराचार्य भाष्य की रचना के उपरान्त कुमारिल से मिले जब वे भागीरथी के तट पर तुषानल में अपना शरीर जला रहे थे। आचार्य शङ्कर को कुमारिल ने अपने शिष्य मण्डन के पास भेजा। [कुमारिल का समय—भर्तृहरि के स्फोटवाद का खण्डन कुमारिल करते हैं (द्र० श्लो० वा० १३७; तन्त्रवार्त्तिक १ ३।३० में वा० प०, २।२११ उद्‌धृत है); भर्तृहरि की ऐहिकलीला ६५१-५२ में समाप्त हो गई (द्र० JORM, 1929, PP. 46-47 : H. Suing (Records) Translated by J. Takakuru.); अतः कुमारिल भर्तृहरि के बाद हुये, अर्थात् ६२८-६८० शताब्दी (द्र० T. R. Chintamani, JORM, 1929, P.46)।] शङ्कराचार्य शाङ्करभाष्य की रचना के बाद कुमारिल से उनके अन्तिम दिनों में मिले और **"षोडशे कृतवान् भाष्यम्"** इस वचन के अनुसार उस समय शङ्कराचार्य की आयु सोलह वर्ष की थी। अतः शङ्कराचार्य की जन्मतिथि ६८०-१६=६६४ शताब्दी होनी चाहिये। प्रोफेसर चिन्तामणि का यह मत कि शङ्कराचार्य का जीवनकाल ६५५-६८८ शताब्दी मानना चाहिये तर्कसंगत प्रतीत होता है।

ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य का सैद्धान्तिक भाग

वेदान्तदर्शन का प्रयोजन उपनिषद्वाक्यार्थनिर्णयपूर्वक ब्रह्मजीवैक्यरूप अखण्डार्थ बोध कराना है। अतएव इसका दूसरा नाम उत्तर-मीमांसा है। 'मीमांसा' पद का भारतीय दर्शन में पारिभाषिक अर्थ है और वह है जिज्ञासा विषय विषयक संशयाऽसम्भावनाविपरीतभावनादिनिवर्त्तक विचार। वेदार्थ प्रधानतया दो हैं : (१) धर्म, जो कर्मकाण्ड से सम्बन्धित और पूर्वमीमांसा का विषय है; (२) ब्रह्म, जो ज्ञानकाण्डान्तर्गत उपनिषद् से सम्बन्धित और उत्तरमीमांसा का विषय है। फलतः पूर्वमीमांसा (अर्थात् मीमांसा) का जिज्ञास्य धर्म और उत्तरमीमांसा (अर्थात् वेदान्त) का जिज्ञास्य ब्रह्म है। तदनुसार ही दोनों के प्रथम सूत्र क्रमशः **'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा'** और **'अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा'** हैं।

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति"; "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्"; तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम्"—इत्यादि अनेकों श्रुति-स्मृतिवचनों के अनुसार तत्त्वज्ञान अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार मोक्ष का साधन है और मोक्ष ही मानव जीवन का परमपुरुषार्थ है। मोक्ष और धर्म में उपायोपेयभाव सम्बन्ध है। **"विविदिषन्ति यज्ञेन"** इत्यादि; **"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः"; "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते"**—इत्यादि वचनों का निष्कर्ष यही निकलता है कि मोक्ष का साधन ब्रह्म-साक्षात्कार है, ब्रह्मज्ञान का साधन विविदिषा है, विविदिषा का साधन

मनोमलक्षय है और मनोमलक्षय का साधन धर्म है। इस प्रकार धर्म परम्परया मोक्ष का साधन सिद्ध होता है और धर्मज्ञान ब्रह्मज्ञान का अङ्ग माना जाता है।

उपनिषत्तात्पर्यावधारण सबके लिये समान होते हुए भी वेदान्तसूत्रों की व्याख्या भाष्यकारों ने स्वाभिमतवाद के अनुसार विभिन्न रूप से की है। शङ्कराचार्य का अभिमत सिद्धान्त ब्रह्माद्वैतवाद है। अतः इस भूमिका में इसी का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

अद्वैतवाद की स्थापना में शङ्कराचार्य ने माया अथवा अविद्या का अभ्युपगम किया है। यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उठता है कि माया के अभ्युपगम की क्या आवश्यकता है। इसका समाधान अतिसुलभ और स्पष्ट है कि जगत् का नानात्व और अद्वैत इन दोनों का सामञ्जस्य माया की जगत्कारणत्व में द्वारता के बिना नहीं सम्भव है। उपनिषदों में दो तरह के परस्पर विरोधी वाक्य-कदम्ब उपलब्ध होते हैं। एक ओर, **"पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्"; "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् दक्षिणतश्चोत्तरेण"; "एकमेवाऽद्वितीयम्"; "नेह नानास्ति किञ्चन"** इत्यादि, जिनसे अद्वैत साधित होता है। दूसरी ओर **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रेत्याऽभिसंविशन्ति" "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते"; "ज्यायान्पृथिव्या ज्यायान्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः"**—इत्यादि, जिनसे नानात्व स्थापित होता है। अद्वैत और नानात्व में स्पष्ट विरोध है। इसी विरोध के परिहारार्थ माया का अभ्युपगम आवश्यक हो जाता है। माया के अभ्युपगम से इन परस्पर-विरोधी वचनों में सामञ्जस्य सुलभ है। माया या अविद्या को शङ्कराचार्य अनिर्वचनीय[1] तथा मिथ्या मानते हैं। माया-कल्पित या अविद्या-प्रत्युपस्थापित[2] सारा जगत् भी अनिर्वचनीय[3] एवं मिथ्या है। मिथ्या माया से प्रोद्भासित या विक्षिप्त जगत् के नानात्व से पारमार्थिक अद्वैत की हानि नहीं होती है। पारमार्थिक तत्त्व एक ही है और वह है ब्रह्म। इसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ-सार्थ रज्जुसर्पादिवत् प्रातिभासिक या व्यावहारिक हैं। आगणित प्रतिभासकी या व्यावहारिकी सत्ताओं से युक्त विविध वस्तुओं की प्रतीति से एक पारमार्थिकी सत्ता या अद्वैत (Absolute Reality) का कोई विरोध नहीं। दूसरे शब्दों में पारमार्थिक तत्त्व ब्रह्म एक ही है और परिदृश्यमान नानात्व उत्पादविनाशशाली एवं प्रतीतिमात्रजीवित है। इस प्रकार माया के अभ्युपगम से नानात्व का अद्वैत से विरोध परिहृत हो जाता है।

उपर्युक्त परिहार से शाङ्कर अद्वैतवाद का मूल-सिद्धान्त यही निष्पन्न होता है—**"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः"**। किन्तु माया को जगद्विक्षेपककारण मानने पर "भक्षिते-

---

१. "अव्यक्ता हि माया तत्त्वाऽन्यत्वनिरूपणस्याऽशक्यत्वात् (ब्र० सू० शा० भा० १-४-३)।

२. अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनाऽसकृत्प्रत्युक्तत्वात् (२-२-२); अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न सम्भवति (१-२-१३); अविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते (४-३-१४); उपाधीनां चाऽविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् (३।२।१५); नन्वेवमद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत न अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात् (४-३-१४)।

३. सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाऽविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वाऽन्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार प्रपञ्चबीजभूते।

ऽपि लशुने न व्याधिशान्तिः"—इस नय के अनुसार एकमात्र पारमार्थिक तत्त्व ब्रह्म के साथ तथा तत्प्रत्युपस्थापित जगत् को किस प्रकार सम्बन्धित किया जाय यह जटिल समस्या बनी ही रह जाती है। इसी के समाधानस्वरूप शङ्करानुयायियों ने तीन प्रस्थान प्रतिष्ठापित किये : (१) अविच्छेदवाद, (२) प्रतिबिम्बवाद और (३) आभासवाद, जिनके अनुसार जगत् क्रमशः अपरिच्छिन्न ब्रह्म का परिच्छिन्न नामरूपात्मक प्रतिभास, चित्प्रतिबिम्ब या चिदाभासमात्र है। वेदान्तसूत्रशाङ्करभाष्य में इन तीनों के सङ्केत और तत्परक व्याख्यान समधिगत होते हैं, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि शङ्कराचार्य ने इनमें से किसी एक को एकान्तरूप से नहीं अपनाया। जहाँ जो उपयुक्त जँचा या आवश्यक हुआ वहाँ उसे उपन्यस्त किया। अतः उनके भाष्य में तीनों की पृष्ठभूमि समान रूप से उपलब्ध होती है। उनके शिष्य तथा परवर्ती अनुयायी आचार्यों ने प्रत्येक को विशिष्ट तथा उपबृंहित कर एक प्रस्थान या वाद का रूप दिया।

शाङ्करभाष्य के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि माया के पर्यायवाचक शब्दों के रूप में मिथ्याज्ञान,[१] मिथ्याप्रत्यय, मिथ्याबुद्धि, अव्यक्त,[२] महासुषुप्ति,[३] आकाश,[४] अक्षर,[५] अध्यास[६] और अविद्या[७] का प्रयोग किया है। 'माया'[८] पद का भी स्पष्ट उल्लेख है।

---

१. मिथ्याज्ञाननिमित्तः.........नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः (ब्र० सू० शा० भा० १-१-१ उपोद्घात); "तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्ति......" (१-१-४); सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्" (Ibid) "नह्यात्मनः शरीरत्वाभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्" (Ibid) "मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम्। न हि मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्पृश्यते" (१-२-८); "मिथ्याज्ञानविजृम्भितं नानात्वम्" (२-१-१४); मिथ्याज्ञानपुरस्सरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसम्बन्धः। न च मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्ति" (२-३-३१); "मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धक्षये विदुषः कैवल्यम्" (४-१-१९)।

२. "अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या......" (१-४-३)।

३. "परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः" (१-४-३)।

४.-५. "तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्—एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च (बृ० उ०, ३-८-११)," (१-४-३)।

६. तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते (१-१-१ उपोद्घातः)।

७. "न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्" (२-१-३३), "तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशितृत्वसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते" (२-१-१४); "तस्मादविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपमिति......" (१-३-२०); "एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्" (१-१-४)।

८. "मायामात्रं ह्येतत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनाऽवभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति" (२-१-९); "एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते" (१-३-१९)।

अविद्या के अभ्युपगम के फलस्वरूप ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—**"द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्"** (ब्र० सू० शा० भा० १-१-१२)। पहला व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिक, पहला अपर या सोपाधिक और दूसरा पर या निरूपाधिक ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म के सोपाधिक तथा निरुपाधिक दो रूपों में वर्णन करने का अभिप्राय यह नहीं कि ब्रह्म के दो भेद हैं; क्योंकि अद्वैत-सिद्धान्त में भेद का स्थान ही कहाँ। एक पारमार्थिक और दूसरा कल्पित—ये दो रूप दो तरह के परस्पर-विरोधी वाक्यों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये माने जाते हैं। उपनिषदों में—**"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्तत्केन कं पश्येत** (बृ० उ० ४-५-१५); **"यत्र नान्यत्पश्यति···स भूमाऽथ यत्राऽन्यत्पश्यति···तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्"** (छा० उ० ७-२४-१); **"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्"** ॥ (श्वे० ६-१९); **"नेति नेति"** (बृ० २-३-६); **"अस्थूलमनणु"** (बृ० ३-८-८); **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति** (तै० ३.१) आदि निरुपाधिक ब्रह्म की द्विरूपता को निरूपित करते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्ण निरन्तर और निरुपाधिक परब्रह्म ही अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपविशेषों में प्रविष्ट हो परिच्छिन्न, प्रतिबिम्ब या आभास के रूप में व्यवहारापन्न-सा हो सोपाधिक-सा प्रतीत होता है। अविद्या की परिधि में तथा उसकी अपेक्षा से सोपाधिक रूप में प्रतीत होता हुआ भी ब्रह्म अपने पारमार्थिक स्वरूप में निरन्तर बना ही रहता—**"पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते"**। अविद्यावशात् ईश्वर तथा जीव सा अंशांशिभाव से प्रतीत होता है, जगत्कारणत्व तथा शारीरत्व अंशांशिभाव के दो पहलू हैं।

शङ्कराचार्य माया तथा अविद्या में भेद नहीं मानते। माया या अविद्या ईश्वर की उपाधि तथा महाशक्ति है। **नामरूपादिविविधविशेपात्मक अगणित वैचित्र्यमय समस्त** जगत् इसीका विक्षेप तथा विजृम्भण है। फलतः सोपाधिक ब्रह्म या अविद्यासंवलित परमात्मा ही ईश्वर कहा जाता है, जो जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण है। **"सोपेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षते इति चेत्–धर्माधर्मावपेक्षेत इति वदामः"** (२-१-३४) ईश्वर अन्तर्यामी और नियन्ता आदि भी कहा जाता है—**"तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम्"** (१-२-२०) ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता और सर्वशक्तिमान्। शङ्कराचार्य एक स्थल पर अविद्या का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—**"देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तत्पूजनादौ रागस्तत्परिभवादौ द्वेषस्तदुच्छेददर्शनाद् भयं मोहश्चेत्येवमयमनन्तभेदोऽनर्थव्रातः संततः सर्वेषां नः प्रत्यक्षः"** (१-३-२) अन्य दर्शनों में भी अविद्या का स्वरूप यही वर्णित है। परमार्थतः अशरीर भी परमात्मा अविद्या-तत्कार्यबुद्ध्याद्युपाधिवशात् शरीर तथा संसारी जीव के रूप में प्रतिभासित होता है। जीव संसारी, नामरूपविशेषापन्न, शरीरत्रयावच्छिन्न, रागद्वेषादिदोष कलुषित धर्माधर्मादिफलस्वरूप—संसारसमस्तानर्थव्रातसमाकुल-सा प्रतीत होता है; किन्तु यह अपारमार्थिक जैव रूप है, पारमार्थिक स्वरूप तो इसका ब्रह्म ही है, जो ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त अविद्यावृत रहता है—**"तस्मादविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृभोक्तृरागद्वेषादिदोपकलुषितमनेकानर्थयोगि···"** (१-३-२०)। परमार्थतः ब्रह्म से भिन्न न होता हुआ भी ईश्वर तथा दोनों से भिन्न न होता हुआ भी जीव उपाधियों के कारण भिन्न-सा प्रतीत होता है—**"परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते। व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः** (२-१-१४); **"सत्यमीश्वरादन्यः संसारी"** (१-१-५); "नेश्व-

सदन्यः संसारी, तथापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्धः इष्यते एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्योम्नः (१-१-५) ; "पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते" (१-२-६); "पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, उपाधिकृतं तु शारीरत्वम्" (ब्र० सू० शा० भा०, ३-४८)।

जीव पारमार्थिक रूप से एक किन्तु औपाधिक रूप से नाना है। विचार करने पर व्यवहारदशा में भी जैसे हिरण्यगर्भ समष्टिबुद्ध्युपाध्युपहितत्वेन एक है किन्तु व्यष्टिबुद्ध्युपाध्युपहितत्वेन अनेक है वैसे जीव समष्टिबुद्ध्याद्युपाध्युपहितत्वेन एक है किन्तु व्यष्टिबुद्ध्याद्युपाध्युपहितत्वेन नाना प्रतीत होता है। जीव में भी एकत्व और नानात्व परस्परविरोधी होते हुए भी असङ्गत नहीं कहे जा सकते क्योंकि भिन्न दृष्टि से दोनों उत्पन्न हैं—'कथं भेदाऽभेदौ विरुद्धौ सम्भवेयाताम् नैष दोषः। आकाशन्यायेनोभयसम्भवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात् (ब्र० सू० शा० भा०, २-१-२२), "वास्तवमेकत्वमौपाधिकं नानात्वमित्युभयनिर्देशोपपत्तिरिति परिहरति–नैष दोष इति (आ० गि० न्या० नि०); "एवमेकत्वं नानात्वं च हिरण्यगर्भस्य। तथा सर्वजीवानाम्" (बृ० उ० भा०, १–४–६, पृ० ९७–वाणीविलास ग्रन्थमाला)। 'सिद्धान्तबिन्दु' में मधुसूदन सरस्वती ने 'एकजीववाद' तथा 'दृष्टिसृष्टिवाद' का वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त माना है–"अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वा, अज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः अज्ञानोपहितं जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्यः। इममेव च दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते" (पृ० २९, गै० ओ० सी०) इसी को अर्थात् एकजीववाद को चन्द्रशेखर दीवान ने शङ्कराचार्य का स्वाऽभिमतपक्ष कहा है—"मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीव वादाख्यः—The three theories set forth are propouded by the followers of Sankaracharya who biffered from him in some minor particulars. His own theory is known as the एकजीववाद (One-Soul-theory) or दृष्टिसृष्टिवाद (Theory Idealism) (Siddhanta-Bindu notes p. 94)

Dinesh Chandra Bhattacharya in his article entitled "Mandana, Suresvara and Bhavabhuti"—Sankara and his host of followers generally favour एकजीववाद (Ind. Historical Quarterly) for 1931. vol. vii, P. 302।

यही दृष्टिकोण शङ्कराचार्य ने जीव के परिमाण के सम्बन्ध में भी अपनाया है। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या जीव विभु है या मध्यम परिमाण है या अणुपरिमाण है। "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः"—इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार शङ्कराचार्य ने निर्णय किया कि उपाधि-बुद्धि-के गुणों की प्रधानता से बुद्धि-परिमाण अणुत्व का जीव में भी व्यपदेश होता है। सारांश यह कि जीव परमार्थतः विभु है किन्तु स्वोपाधिबुद्धिवशात् अणु-सा प्रतीत है अर्थात् आनन्त्य पारमार्थिक और अणुत्व औपचारिक है। इसी प्रकार जीव शाङ्कराद्वैतवेदान्त के अनुसार अणु माना जाता है—"यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तशरीरं व्याप्नुयान्नाऽणुर्जीवः स्यात्। चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ नात्र गुणगुणिविभागो विद्यत इति। शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम्। परिशेषाद् विभुर्जीवः। कथं तर्ह्यणुत्वादिव्यपदेश इत्यत आह 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः'। तस्मात्तद्गुणसारत्वाद् बुद्धिपरिमाणेनास्य परिमाणव्यपदेशः। तथैवमेव

समञ्जसं स्याद् यद्यौपचारिकमणुत्वं जीवस्य भवेत्पारमार्थिकं चानन्त्यम्" (ब्र० सू० शा० भा० २-३-२९)।

अविद्या-दशा में जीव का पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म माया या अविद्या से आवृत-सा रहता है और उपाधिकल्पित जैव रूप ही प्रगट रहता है। दृष्टि, श्रुति, मति और विज्ञाति जीव का स्वरूप है। यह स्वरूप इस दशा में भी अनावृत रहता है, अन्यथा व्यवहार नहीं बनता; किन्तु अन्तर यह है कि सांसारित्व की अवस्था में विवेकविज्ञान अर्थात् ब्रह्मजीवैक्यज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व उपर्युक्त दृष्ट्यादिज्योतिःस्वरूप शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना उपाधियों से अविविक्त सा रहता है उसी प्रकार जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक की स्वच्छता और शुक्लता-रूप स्फटिकस्वरूप विवेकग्रहण के पहले रक्त, नील आदि उपाधियों से अविविक्त-सा रहता है। जीव का यह ज्योतिःस्वरूप अविवेकावस्था में कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप नहीं आविर्भूत होता किन्तु शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-संघातरूप उपाधियों के प्रभावों से उपप्लुत, अनवरत-परिवर्त्तनशील, अनित्य अर्थात् उत्पादविनाशशाली, परिच्छिन्न तथा मलिन-सा प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, जीव शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार-व्यापाररूप कर्म के फलस्वरूप भोग के कारण त्रिविधताप पीड़ित-सा बना रहता है। यही है जीव का सांसारित्व अथवा बन्ध। इस बन्ध की निवृत्ति ब्रह्मजीवैक्यरूपविवेकज्ञान से अविद्या-निवृत्ति के द्वारा होती है। जिस प्रकार नेत्ररूप प्रमाण से स्फटिकस्वरूपसाक्षात्कार के हो जाने पर अपने स्वरूप अर्थात् स्वच्छता और शुक्लता में, जो पहले भी निरन्तर उसमें थे ही, अभिनिष्पन्न या आविर्भूतावस्थित हो जाता है, उसी प्रकार जीव श्रुतिवाक्य से ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार हो जाने पर अपने पारमार्थिक स्वरूप अर्थात् शुद्ध-कूटस्थ-नित्य चैतन्य-स्वरूप में अभिनिष्पन्न अर्थात् आविर्भूतावस्थित हो जाता है। विवेकविज्ञान के अभाव में अपने पारमार्थिक स्वरूप के आवृत अर्थात् अनाविर्भूत रहने पर जैव रूप में संसारी तथा बद्ध-सा बना रहता है। किन्तु विवेकविज्ञान के फलस्वरूप के आविर्भूत हो जाने पर मुक्तरूप से साक्षात्कृत हो जाता है। जो पहले भी परमार्थतः वह था ही। 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से समुत्पन्न विवेकविज्ञान ही जीव का शरीर से समुत्थान अथवा अशरीरत्व है और अविवेक से उसका सशरीरत्व अथवा बन्ध है—"अत्रोच्यते–प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविवक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिः-स्वरूपं भवति। यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छ्यं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविवक्तमिव भवति। प्रमाणजनितविवेकग्रहणात्तु पराचीनः स्फटिकः स्वाच्छ्येन शौक्ल्येन च स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव सन्। तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं विवेकविज्ञानं शरीरसमुत्थानम्, विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाऽभिनिष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः। तथा विवेकाऽविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च। तस्माद् विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन्विवेकविज्ञानादाविर्भूतस्वरूप इत्युच्यते" (ब्र० सू० शा० भा० १-३-१९); "यदि संसार्येवात्मा शारीरः कर्त्ता भोक्ता च शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्तर्हि फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात्। अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसर्गरहितोऽपहतपाप्मत्वादि-विशेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु (ब्र० सू० शा० भा०, ३-४-८)। जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्ममरणपरम्परापन्नत्व, अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशरूपपञ्चक्लेशभाजनत्व रागद्वेषादिदोषकलुषितत्व तथा तज्जन्यसमस्तानर्थजालग्रथितत्व आदि जो भी सांसारित्वपरिणाम-कलाप से प्रतीत होते हैं वे सब विवेकविज्ञानाऽभावनिबन्धन और परिकल्पित हैं—"नित्यशुद्धबुद्ध-

मुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम्" (वे० सू० शा० भा० १-३-२०) ।

उपर्युक्त विवेचन से यही निर्गलित होता है कि जीव परमार्थतः शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा होता हुआ भी अविद्यावेशवशात् देहात्मभावापन्न-सा होकर तत्कृतदुःख से अपने को दुःखी मान लेता है और इस प्रकार अविद्याकृतदुःखोपभोगाभिमानी होकर संसार के नानाविध क्लेशों तथा त्रिविध तापों का भाजन बन जाता है। यही संसारित्व, शारीरत्व तथा अविद्याकृतविविधदुःखोपभोगाभिमानित्व जीव का बन्ध है। किन्तु यह दुःखाभिमान जीव का अविद्याकृतनामरूपोपनत देहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेक निमित्तक अर्थात् मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्तक ही है पारमार्थिक नहीं—"जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते । जीवस्यापि अविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकनिमित्त एव दुःखाभिमानो न तु पारमार्थिकः । ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति (ब्र० सू० शा० भा०, २-३-४६) । जिस प्रकार आकाश स्वोपाधि घटादि के चलते रहने पर घटावच्छिन्न आकाश के रूप में चलता हुआ-सा दिखाई देता है फिर भी मूलभूत आकाश नहीं चलता उसी प्रकार अविद्याप्रत्युपस्थापित-बुद्ध्याद्युपहित जीव रूपी अंश के दुःखी-सा होने पर भी अंशी ईश्वर दुःखी नहीं होता—"यथा आकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते" (ब्र० सू० शा० भा० २-२-४६) ।

आपाततः उपर्युक्त बन्ध से छुटकारा मोक्ष कहा जा सकता है, किन्तु पूर्ण विवेचन करने पर अपने पारिभाषिक अर्थ में उससे अधिक हो जाता है। तदनुसार यह कहना होगा कि अविद्यानिमित्तकजीवभावव्युदास से ब्रह्मभाव ही मोक्ष है—"तथा चाऽविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः–'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः (ब्र० सू० शा० भा० २-२-१६) । उपाधियोग से वस्तुस्वरूप परिवर्त्तन नहीं होता। स्वच्छ स्फटिक अलक्तक आदि उपाधि के योग से अस्वच्छ नहीं होता या जपाकुसुमप्रतिबिम्ब योग से रक्त नहीं हो जाता। चपल तरङ्गों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा प्रतिबिम्ब द्वारा तरङ्गों के योग से वस्तुतः तरङ्गानुसार दोलायमान नहीं हो जाता। उसी तरह नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म उपाधियोग से न तो वस्तुतः ईश्वर तथा जीव और न संसारकारण एवं संसारी, शारीर, कर्त्ता, भोक्ता और बद्ध हो जाता है। इसलिये उपर्युक्त अविद्याप्रत्युपस्थापित बन्ध का निरास अविद्यानिवृत्ति से स्वतः हो जाता है और जीव की पारमार्थिक मुक्तस्वरूपता जो सतत है ही किन्तु अविद्यावशात् आवृत या अनाविर्भूत-सी बनी रहती है, स्वतः आविर्भूत हो जाती है। सारांश यह कि मोक्ष न केवल अविद्या-तत्कार्यनिवृत्ति है अपितु ब्रह्मभाव है–'नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति। नहि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति, भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्" (ब्र० सू० शा० भा०, ३-२-११); "बुद्ध्याद्युपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सञ्जीवः कर्त्ता भोक्ता चेत्युच्यते। तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म" (ब्र० सू० शा० भा०, १-१-३१); "अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्याऽनित्यत्वदोषः। नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य, ब्रह्मभावश्च मोक्षः" (ब्र० सू० शा० भा०, १-१-४) । निष्कर्ष यह कि अविद्याकृतस्वस्वरूप का विद्याकृतानावरण मोक्ष की निष्पत्ति है। दूसरे शब्दों में, नित्याऽ-

धिगत मोक्ष, जो अविद्या के कारण अनाविर्भूत या अनधिगत-सा प्रतिभासित हो रहा था, अविद्या-
निवृत्ति के कारण आविर्भूत या अधिगत हो जाता है—"तद्ध्यसाध्यं नित्यसिद्धस्वभावमेव
विद्ययाधिगम्यत इत्यसकृदवादिष्म (ब्र० सू० शा० भा०, ४-१-५२)।

नामरूपप्रपञ्चप्रविलापन से ब्रह्मतत्त्वावबोध होता है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रपञ्चप्रवि-
लापन क्या है? क्या यह अग्नि के प्रकृष्टताप के संपर्क से घृतकाठिन्य के प्रविलय के समान है
या एक चन्द्र तिमिरकृत अनेक चन्द्र प्रपञ्च के समान अविद्याकृत नामरूपप्रपञ्च का विद्या से
प्रविलयन है? दूसरी बात यह है कि आदि मुक्त ने जब एकबार पृथिव्यादिप्रविलय कर दिया
तब पृथिव्यादिशून्य अन्य बद्ध जीवों का जगत् हो जायगा। सभी प्रश्नों का समाधान है कि
अविद्याध्यस्तप्रपञ्च के प्रत्याख्यान से ब्रह्म ही आवेदनीय है और **'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' 'तत्सत्यं
स आत्मा तत्त्वमसि'** इन वाक्यों से ब्रह्म का आवेदन हो जाने पर विद्या स्वयं उत्पन्न हो जाती है
और अविद्या बाधित हो जाती है और तब सकल नामरूपप्रपञ्च स्वप्नप्रपञ्च के समान प्रविलीन हो
जाता है—**"ततो ब्रह्मैवाऽविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनावेदयितव्यम्, तस्मिन्नावेदिते विद्या
स्वयमेवोत्पद्यते' तया चाऽविद्या बाध्यते, ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपञ्चः
स्वप्नप्रपञ्चवत्प्रविलीयते"** (ब्र० सू० शा० भा०, ३-२-२१)। ब्रह्म में नामरूपप्रपञ्च का
अवभास अध्यास है—**"अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम"**।

शङ्कराचार्य जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त मानते हैं। विद्या अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार से अविद्यानिवृत्ति
हो जाने पर समस्त नामरूप प्रपञ्च का सद्यः उपशम हो जाता है। ज्ञान से अक्षीणाऽवशिष्ट प्रारब्धकर्म
को छोड़कर समस्त कर्मपुञ्ज दग्ध हो जाता है। इसका क्षय भोग से ही होता है और तदर्थ भोगाव-
सानपर्यन्त शरीर बना रहता है। इस प्रकार सशरीर होता हुआ भी मुक्त 'जीवन्मुक्त' कहा जाता
है—**"प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः, तस्य तावदेव चिरम् इति
शरीरपातावधिक्षेपकरणात्"** (ब्र० सू० शा० भा०, ३-३-३२)।

अन्त में यह लिख देना आवश्यक होगा कि शङ्करानुयायियों के द्वारा बाद में उपबृंहित समस्त
सिद्धान्त बीजरूप में शङ्करकृतियों में उपलब्ध होते हैं। विस्तारभय से उनका पूर्ण विवेचन इस
भूमिका में नहीं किया जाता है। संक्षेपतः शाङ्करसिद्धान्त के सामान्यज्ञान के लिये यह
भूमिका पर्याप्त होगी।

उदाहरणार्थ—शङ्कराचार्य के अनुयायियों में तीन वाद प्रचलित थेः—(१) अवच्छेदवाद,
(२) प्रतिबिम्बवाद तथा (३) आभासवाद—

"वाचस्पतेरवच्छेद आभासो वार्त्तिकस्य च।
संक्षेपशारीरकृता प्रतिबिम्बमिहेष्यते॥"

शङ्कराचार्य ने इन तीन वादों में से किसी का न प्रतिषेध किया और न किसी के प्रति पक्षपात
दिखलाया, प्रत्युत यथास्थान इन तीनों का अपने भाष्यों में उपयोग किया। अत एव इन तीनों
के बीजभूत समर्थक वाक्यकदम्ब यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं।

अवच्छेदवाद के समर्थक सङ्केतस्थल :—

जीव के प्रसङ्ग में यह ऊपर कहा जा चुका है कि अनवच्छिन्न परमात्मा ही अविद्याकृतनाम-

रूपादि उपाधियों से अवच्छिन्न-सा हो जीवभावापन्न प्रतीत होता है। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ उसी अनवच्छिन्न के अवच्छेदात्मक अवभास हैं। इस वाद के प्रतिपादक निम्नलिखित स्थल है :—

"घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्याम्नोः" (१-१-५); "पर एवात्मना देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते, यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते, तद्वत्" (१-२-६); "एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति" (१-२-२०); "यस्तु सर्वशरीरेषूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते परमात्मैव स भवति। यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरुपाधिभिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाशा एव भवन्ति' (१-३-७); "उपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्तः" (२-१-१३); "घटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्" (२-१-२२); "घटाद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसम्बन्धनिमित्तम्" (२-३-१७); यथा, चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छत्स्विव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति" (२-३-४६); "अवच्छिन्न इवाज्ञानात्"—इत्यादि (आत्मबोध)।

प्रतिबिम्बवाद के समर्थक सङ्केतस्थल :—

सत्, चित्, आनन्दरूप परमात्मा यद्यपि एक, अनन्त, अप्रमेय अद्वितीय है तथापि नामरूपात्मक अनेकों उपाधियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण बिम्बभूत परब्रह्म उसी प्रकार अनेकधा अवभासित होता है जैसे एक ही सूर्य वस्तुतः एक होते हुए भी घटशरावादिगत उदक में अनेक-सा प्रतीत होता है। इस प्रकार जगत् के सभी पदार्थ एक बिम्बभूत ब्रह्म के नानाविध प्रतिबिम्ब हैं।

इस वाद के प्रतिपादक निम्नलिखित स्थल हैं :—

"ज्ञानस्यैकत्वोपपत्तेः। सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात्सवित्रादि जलादिप्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासते इति" (क० उ० शा० भा०, ६-२);

"प्रतिफलति भानुरेकोऽनेकशरावोदकेषु यथा।
तद्वदसौ परमात्मा ह्येकोऽनेकेषु देहेषु॥ (प्रबोधसुधाकर, अद्वैत प्रकरण)
रूपं रूपं प्रतीदं प्रतिफलनवशात्प्रातिरूप्यं प्रपेदे। (शतश्लोकी);
इन्द्रो मायाभिरास्ते श्रुतिरिति वदति व्यापकं ब्रह्म तस्मात्।
जीवत्वं यात्यकस्मादतिविमलतरे बिम्बित बुद्ध्युपाधौ॥ (शतश्लोकी)

"स एष प्रज्ञानरूप आत्मा ब्रह्मापरं सर्वशरीरस्य प्राणः प्रज्ञात्माऽन्तःकरणोपाधिष्वनुप्रविष्टो जलभेदगतप्रतिबिम्बवाद्धिरण्यगर्भः प्राणप्रज्ञात्मा। एष एवेन्द्रो गुणाद्देवराजो वा। (ऐ० उ० भा० ३।१); "तस्य प्रतिबिम्बाख्यपुरुषस्य निष्पत्तिरस्तेः प्राणात्" (बृ० उ० शा० भा०, पृ० ४५८ वा० वि० ग्र० मा०);

"सदा सर्वगतोप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
बुद्ध्यैवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्॥" (आत्मबोधः);

"बुद्ध्याद्युपाधिस्वभावानुविधायी हि स चन्द्रादिप्रतिबिम्ब इव" (बृ० उ० भा० २।१९); "तदुच्यते वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति । जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते इत्येवं जलधर्मानुयायी भवति, न तु सूर्यस्य तथात्वमस्ति" (ब्र० सू० शा० भा०, ३–२–२०)। अर्थात्—जैसे जलगत सूर्य-प्रतिबिम्ब जलवृद्धि के साथ बढ़ता-सा, जलह्रास के साथ ह्रसित-सा, जलचलन के साथ कम्पित-सा तथा जलभेद से भिन्न-सा होता हुआ जलधर्म का अनुयायी-सा हो जाता है, उसी प्रकार परमार्थतः अविकृत एक रूप सद्ब्रह्म देहाद्युपाधि से वृद्धिह्रासादिक धर्मों का अनुगमन-सा करता है; "यथा चोदशरावादिकम्प-नात्तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान्सूर्यः कम्पते (ब्र० सू० शा० भा० २-३-४६); तत्र यस्माद्द्वैतमिव तस्मादेवेतरोऽसौ परमात्मनः खिल्यभूत आत्माऽपरमार्थश्चन्द्रादेरि-वोदकचन्द्रादिप्रतिबिम्ब इतरो घ्राणेतरो घ्राणेनेतरं घ्रातव्यं जिघ्रति" (बृ० उ० शा० भा०);

"चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्यमौपाधिकं मूढधियो नयन्ति ।
स्वबिम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रियं कर्त्तास्मि भोक्तास्मि हतोस्मि हेति (विवेकचूडामणि—)

आभासवाद के समर्थक सङ्केतस्थल :—

प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद में सूक्ष्म अन्तर है। प्रतिबिम्बवादी पद्मपादाचार्य और प्रकाशात्मयति प्रभृति बिम्ब चित् से प्रतिबिम्ब को अभिन्न[1] मानते हैं, उसी प्रकार जैसे दर्पणस्थ मुख ग्रीवास्थ मुख से वस्तुतः अभिन्न है किन्तु आभासवादी सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरि आदि आभास को चित् से न भिन्न, न अभिन्न और न उभय अत एव अनिर्वचनीय मानते हैं, और अत एव इसकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। इस मत[2] के अनुसार ईश्वरादि स्थावरान्त समस्त जगत् चिदाभासरूप है। अविद्यान्तर्गत चिदाभास साक्षात् चिदुद्भूत होने के कारण चित्कारणक और अनादि[3] कहा जाता है और उस स्वान्तर्गत चिदाभास से सतत अनुप्राणित, उद्भासित तथा सत्तान्वित होने के कारण अविद्या चिदाभास मानी जाती है। यह चिदाभास कारण-चिदाभास[4] कहा जाता है। अविद्याकार्य-बुद्ध्याद्यन्तर्गत चिदाभास अविद्याद्वारक (अर्थात् स्वकारणाऽविद्यान्तर्गतचिदाभासप्रसूत) होने के कारण अविद्यामूलक कहे जाते हैं। बुद्ध्यादि समस्त पदार्थसार्थ या अविद्याकार्यजात प्रातिस्विक रूप से स्वान्तर्गत चिदाभास से अनवरत अनुप्राणित, उद्भासित तथा सत्तायुक्त रहने के कारण चिदाभास माने जाते हैं। ये कार्य-चिदाभास[5] कहे जाते हैं। दोनों प्रस्थानों में कुछ अवान्तर

---

१. "उपाधिस्थितवैशिष्ट्येन प्रतिबिम्बस्य (आभासस्य) असत्त्वम् । आभासश्च न बिम्बधर्मो नाप्युपाधिधर्मो नाऽपि स्वतन्त्र इत्यत्र प्रतिपादितम्"—वाक्यसुधाटीका, श्लो० ३६ ।

२. "ईशादिविषयान्तं यत्तदविद्याविजृम्भितम्" (बृ० भा० वा०); "तदन्यद् यत् तदाभासम्" (बृ० भा० वा०); "कूटस्थदृष्टि-तन्मोहौ दृष्ट्याभासश्च तत्त्रयम् । कारणं जगतः······(बृ० भा० वा० ३–४–८६)।

३. चिदाभासं तमो ज्ञेयम्" (बृ० भा० वा० १–४–३४१); प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासम्" ।

४. "कूटस्थात्मैकहेतूत्थश्चिद्बिम्बो मोहगस्तु यः, स्वोपादानानुरोधित्वात्······(बृ० भा० वा० ४–३–४१५)।

५. "आत्माभासोऽपि योऽज्ञाने तत्कार्ये चाऽवभासते । कार्यकारणतारूपः······(बृ० भा० वा० ४–३–१३२०)।

मतभेद भी हैं, जिनका विवेचन ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य बहिर्भूत होने के कारण इस भूमिका में नहीं किया जाता है।

आभास-समर्थक वाक्य ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में २-३ ही हैं, किन्तु अन्य कृतियों में पर्याप्त हैं, जिनके कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :—

"आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात्। नापि वस्त्वन्तरम्। ……आभासस्य चाऽविद्याकृतत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्याऽविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति, तद्व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः। (ब्र० सू० शा० भा० २-३-५०)।

"कल्पयत्यात्मनात्मानम्" इत्यादि (गौडपाद कारिका १२),

"जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रः" (छा० उ० भा०, ६-३-२);

"गम्यते शास्त्रयुक्तिभ्यामाभासत्वमेव च" (उपदेशसाहस्री, २-३८-४३);

"आभासस्याप्यवस्तुतः" (उपदेशसाहस्री, २-१८-४३);

"आभासे परिणामश्चेन्न रज्ज्वादिनिभत्ववत्।
सर्पादेस्तथाऽवोचमादर्शे च मुखत्ववत्॥ (उ० सा०, २-१८-११४);

"मुखाभासो यथादर्शे आभासश्चोदितो मृषा" (उ० सा०, २-१८-८७);

इनके अतिरिक्त कुछ पङ्क्तियाँ ऐसी उपलब्ध होती हैं, जिनमें 'आभास' शब्द प्रयुक्त नहीं है किन्तु वे अर्थतः आभास-परक हैं। उनके उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :—

"नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं **व्योम्नीव तलमलादि** परिकल्पितम्" (१-२-१९)।

"प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिःस्वरूपं भवति। यथा शुद्धस्य स्फटिकाय स्वच्छ्यं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति" (१-२-१९); **"जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गः।** अंश इवांशः, **नहि निरवयवस्य मुख्योंशः सम्भवति"** (२-३-४३); **"सूर्यप्रतिविम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान् सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते"** (२-३-४६)। **उभयलिङ्गाधिकरणे जीवोजलचन्द्र-जल-सूर्याभ्यामुपमितः।** इन पङ्क्तियों का तात्पर्य आभास में ही पर्यवसित होता है।

दूसरा उदाहरण मुक्ति-भेद का दिया जा सकता है। शङ्करानुनायायियों ने मुक्ति का त्रिविध भेद किया है—(१) क्रममुक्ति, (२) जीवन्मुक्ति और (३) विदेहमुक्ति। इन तीनों का संक्षिप्त उल्लेख ब्रह्मसूत्रशङ्करभाष्य में किया गया है–**"तत्र कानिचित्ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचित्क्रममुक्त्यर्थानि,[1] कानिचित्कर्मसमृद्ध्यर्थानि"** (१-१-१२); **इति च सम्यग्दर्शन-**

---

१. उपास्तीनां मुक्त्यर्थत्वाद् विद्यावद् वस्तुगामितेत्याशङ्क्य साक्षान्न मोक्षार्थतेत्याह-तत्र कानिचित्-इत्यादि। अभ्युदयार्थानि प्रतीकोपासनानि, क्रममुक्त्यर्थानि दहराद्युपासनानि कर्मसमृद्ध्यर्थानि उद्गीथादिध्यानानि" (न्यायनिर्णयाख्य-आनन्दगिरिटीका)। 'नाम ब्रह्म'-इत्याद्युपास्तीनां काम-

कालमेव तत्फलं सर्वासमत्वं[1] दर्शयति" (ब्र० सू० शा० भा०, ३-३-३२); "नहि विदुषः संपरेतस्य विद्यया ब्रह्म संप्रेप्सतोऽन्तराले सुकृतदुष्कृताभ्यां किञ्चित्प्राप्तव्यमस्ति, यदर्थं कतिचित् क्षणानक्षीणे[2] ते कल्प्येयाताम्" (३-४-२७); "प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः, 'तस्य तावदेव चिरम्' इति शरीतपातावधिक्षेपकरणात्।[3]

इस प्रकार अन्य सभी उदाहरण संगृहीत किये जा सकते हैं; किन्तु भूमिका में समस्त सिद्धान्तों का उपन्यास सम्भव नहीं।

—वीरमणि प्रसाद उपाध्याय

चारादिरभ्युदयः फलम्, दहराद्युपास्तीनां क्रममुक्तिः फलम्, उद्गीथादिध्यानस्य कर्मसमृद्धिः फलम्" (रत्नप्रभाटीका)।

१–२. ये दोनों पङ्क्तियाँ जीवन्मुक्ति का समर्थन करती हैं।

३. इस पङ्क्ति से शरीरपात के अनन्तर विदेहमुक्ति सूचित होती है।

॥ श्रीः ॥

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

'ब्रह्मतत्त्वविमर्शिनी'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽध्यायः

यो वेदैः प्रविविच्यते हि विरजा जानन्ति यं साधवः,
येनेदं रचितं धृतं च निखिलं यस्मै जगद्रोचते ।
यस्मादेव विभाति विश्वविभवो यस्यैव लीलाऽखिलम्,
यस्मिन्नित्यसुखं सदा समरसं तस्मै नमः स्वात्मने ॥

उपोद्घात

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ (कठ० १।२।२)

सद्गुरु सत्यशास्त्र के उपदेशों के अनुसार धार्मिक मर्यादा नियम में रहने वाले मनुष्य को मोक्ष और उसके साधनरूप पुण्य, ज्ञान, सन्तोषादि रूप सब श्रेय तथा प्रेय (प्रियतर) स्वर्ग सुखादि और उनके साधन स्त्रीपुत्रविषयादि प्राप्त होते हैं। मनुष्यता से रहित को तो श्रेय या प्रेय कुछ भी प्राप्त नहीं होते। उन दोनों के प्राप्त होने पर भी जो मनुष्य प्रेय की उपेक्षा (अनादर-त्याग) करके श्रेय का ग्रहण करता है, उसको साधु (शुभ) प्राप्त होता है, और जो विवेकादि के बिना श्रेय की उपेक्षा करके प्रेय का ग्रहण करता है, वह श्रेय से वियुक्त (रहित) होता है (तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते)। इससे धीर (बुद्धिमान्) विवेकी मनुष्य उन प्राप्त श्रेय और प्रेय को सम्यक् विचार कर विविक्त (पृथक्) करता है, और प्रेय से विविक्त (भिन्न) तथा श्रेष्ठ श्रेय का ग्रहण करता है, और मन्द (अल्पज्ञ-अविवेकी) पुत्र शरीरादि के योग-क्षेम (प्राप्ति वृद्धि रक्षादि) के लिये प्रेय का ही ग्रहण करता है; जिससे कि वह सत्य पुरुषार्थ रूप प्रयोजन से रहित (च्युत) होता है और फिर प्रेय से भी रहित होकर कष्टमय पशु आदि योनि में प्राप्त होता है। वहाँ श्रेय, प्रेय आदि के विवेकादि से रहित सांसारिक सुखेच्छुक मनुष्यों के लिए प्रायः कर्मकाण्ड रूप वेद और उपवेदादि प्रवृत्त हुए हैं, जिनमें शत्रु-मारणादि स्वर्गादि के लिये अधिकतर कर्मों का विधान है। अविद्यादि क्लेशयुक्त मनुष्य भी बहुत प्रकार के इच्छायुक्त होते हैं, इससे कर्मकाण्ड रूप वेद और उपवेदादि का भी बहुत विस्तार है, उपासना काण्ड, ज्ञान-काण्ड

रूप उपनिषदात्मक वेद कर्मकाण्डादि की अपेक्षा बहुत अल्प हैं, क्योंकि इनके अधिकारी भी अल्प हैं। इसी प्रकार कर्मकाण्ड की मीमांसा (विचार) रूप एक दर्शनशास्त्र भी अन्य पाँच दर्शन के बराबर (तुल्य) है। सब वेद और वैदिक दर्शनों का लक्ष्य आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष ही है, जो (सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ कठ, १।२।१५॥ इत्यादि) शास्त्रों से सिद्ध होता है।

जिस ब्रह्मात्मा पद (प्राप्तव्य वस्तु) को सब वेद कहते हैं तथा तपस्विजन जिसे तपों द्वारा प्राप्त करते हैं, जिस के ज्ञान और प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य करते हैं (सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। मुण्डक, ३।१।५), जो ब्रह्मात्मा नित्य (निरन्तर) सत्यभाषण, नित्य तप (मन-इन्द्रिय का निग्रह) और नित्य ब्रह्मचर्य तथा सम्यक् विवेक विज्ञानादि रूप ज्ञान से प्राप्त होता है, उस ब्रह्मात्मा रूप वस्तु को संग्रह (संक्षेप) से मैं तेरे प्रति कहता हूँ कि वह 'ओम्' इस शब्द का वाच्य और लक्ष्य स्वरूप है, 'वेद्यन्ते बोध्यन्ते धर्मादिपुरुषार्था यैस्ते वेदा:' इस निर्वचन के अनुसार धर्मादि के बोधक वचनों को वेद कहते हैं। यद्यपि 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इत्यादि वचनों में वेद शब्द दर्भमुष्टि का वाचक है, तथापि वह कुश-मुष्टि अर्थ में रूढ़ अन्तोदात्त शब्द है, और धर्मादि के बोधक ऋग्वेदादि का वाचक वेद शब्द अन्य है। यौगिक, रूढ़, योगरूढ़ और यौगिकरूढ़ भेद से शक्ति (अर्थबोध में सामर्थ्य) युक्त पद चार प्रकार के होते हैं, यहाँ प्रकृति प्रत्ययादि रूप अवयवों के ही अर्थों को कहनेवाले यौगिक होते हैं, अवयवों की शक्ति के बिना समुदाय शक्ति से अर्थों के बोधक शब्द रूढ़ और अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति दोनों से एक अर्थ के बोधक शब्द योगरूढ़ कहाते हैं। अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति से भिन्न-भिन्न अर्थों को कहने वाले शब्द यौगिकरूढ़ कहाते हैं। पक्ता, गन्ता इत्यादि यौगिक के उदाहरण हैं, गो घटादि रूढ़ के उदाहरण हैं, पङ्कजादिपद योगरूढ़ के उदाहरण हैं—उद्भिद् शब्द यौगिकरूढ़ का उदाहरण है। क्योंकि पक्ता आदि में पच धातु से पाक का और प्रत्यय से कर्ता का बोध होता है। गौ, घट शब्द में गच्छतीति गौ:, चले सो गौ है और घटते—चेष्टते, इति घट:, चेष्टा करे सो घट है, ऐसा अवयवार्थ प्रतीत होता है, परन्तु वह वस्तुत: गो—घट शब्द का अर्थ नहीं है, एवं पंक से उत्पन्न होने वाले कुमुदादि का पङ्कज शब्द से बोध नहीं होता, किन्तु कमल का ही बोध होता है। उद्भिद् शब्द यौगिक रूप (अवयव शक्ति) से वृक्षादि का बोधक होता है और समुदाय शक्ति से 'उद्भिदा यजेत' इस वाक्य में यागविशेष का बोधक होता है। प्रकृत में वेद शब्द ऋग्वेदादि अर्थ में पंकज पद के समान योगरूढ़ है, जो ऋग्वेदादि ईश्वरानुगृहीत सर्गादि कालिक परम पवित्र देव, ऋषि जन से ज्ञात स्मृत और प्रचारित हैं, इससे पवित्र हैं, इसी से (वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयम:। अहिंसा गुरुसेवा च नि:श्रेयसकरं परम् ॥ सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां

प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ मनुः १२।८३—८५) अर्थयुक्त वेद का अभ्यास, तप, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, गुरु की सेवा और इनसे साध्य आत्मज्ञान परम निःश्रेयस (कल्याण) कारक हैं। इन सब वेदाभ्यासादिकों में भी वेदान्तजन्य आत्मज्ञान ही उत्तम कहा गया है, क्योंकि वह सब विद्याओं में प्रधान है और इसीसे अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। श्रुति कहती है कि - तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य. पन्था विद्यतेऽयनाय। श्वेता० ३।८। अज्ञानादि तम से पर महान् सर्वात्मा उस पुरुष को जान कर ही मृत्युमेति, अज्ञानादि से रहित होता है, मोक्षप्राप्ति के लिये अन्य मार्ग नहीं है। ईश्वरानुगृहीत ऋषियों से स्मृत भी वेद शत्रुमारणादि का तथा रागद्वेषादिमय कर्मों का विधान क्यों करते हैं, इस शंका का समाधान है कि वेद प्रायः मनुष्यमात्र के हित के लिये हैं, वहाँ अत्यन्त कामी क्रोधी तथा अत्यन्त अज्ञ (मूढ) के लिये कुछ मार्ग नहीं बतायेंगे, तो व लोग अत्यन्त उच्छृङ्खल होकर सर्वथा नष्ट हो जायेंगे। इसलिये अपिरिमित राग, द्वेष, हिंसादि को छुड़ा कर परिमित में लाते हैं, कि जिससे श्रद्धालु सदाचारी अग्नि, वरुणादि नाम वाले, औपाधिकस्वरूप वाले ब्रह्मात्मा के पूजक भी धीरे धीरे निजात्मतत्व के ज्ञानी और मुक्त हों तथा नहीं मुक्त होने पर भी पूर्वोक्त प्रेय को प्राप्त करके सुखी रहें।

इस प्रकार सोपानारोह न्याय से सब वेद की प्रवृत्ति हुई है और सभी वैदिक दर्शन और वैदिक सन्तों की वाणी भी प्रेय से उपरत के प्रति सोपानारोह न्याय से ही प्रवृत्त हुई है। यहाँ सकाम शुभ कर्मों के बोधक वेद वा दर्शनादि प्रथम सोपान रूप हैं, निष्कामतायुक्त कर्मादिकों के बोधक द्वितीय सोपान रूप हैं। इससे कामादि को नहीं त्याग सकने पर परोपकारमय इष्ट पूर्त्तादि कर्मों को करना अभ्युदय के लिये शुभ सौधादि आरोह का प्रथम सोपान और निष्काम कर्मों का अनुष्ठान द्वितीय सोपान (सीढ़ी) है, इसके बाद न्यायवैशेषिक के अनुसार न्याय की रीति को और पदार्थों को समझना तृतीय सोपान है तथा दर्शनों की दृष्टि से प्रथम सोपान ही है। भाव यह है कि—प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ (मनुः १२।१.५) इत्यादि शास्त्र के अनुसार धर्म की शुद्धि (विवेकादि पूर्वक तत्वज्ञानादि) की इच्छा वालों को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और अनेक प्रकार के वेदादि आगम रूप शास्त्रों को विदित (ज्ञात) करना चाहिये अर्थात् लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि (ज्ञान) होती है, वहाँ सजातीय विजातीय से वस्तु के स्वरूप को व्यावर्तक (भेदक) धर्म को लक्षण और ज्ञातव्य वस्तु के यथार्थ ज्ञान के हेतु को प्रमाण कहते हैं। उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्यादि, प्रत्यक्षादि तीन के अन्तर्गत हैं या पृथक् होते भी धर्म-शुद्धि में उनकी जरूरत नहीं है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्रादि रूप शब्दप्रमाण से ही धर्मतत्त्व का ज्ञान और उनकी प्राप्ति मुक्ति हो सकती है। जिन धर्मों की शुद्धि होती है, वे धर्म धर्मशास्त्र में यों गिने गये हैं—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं

दशकं धर्मलक्षणम् ।। (मनु० ६। ९२) । योग-
शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो सन्तोषादि रूप धैर्य, क्षमा,
युक्त मन-प्राण-इन्द्रिय की क्रिया को कुमार्ग से रोकने वाले अस्तेय, इन्द्रिय तन, मन धनादि की
मन का दमन रूप दम, निषिद्ध द्रव्य का त्याग रूप ज्ञान रूप धी । विवेक) ।
शुचिता, विरुद्ध विषयों से इन्द्रियों का निरोध, शास्त्रादि का धर्म के स्वरूप हैं । वहाँ भी-
आत्मविद्या, सत्यभाषण, काम-क्रोध-लोभ का त्याग, ये दश यद्योगेनात्मदर्शनम् ।।
इज्याऽऽचारदमाऽहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च । अयं तु परमो धर्मो वेदाऽध्ययनादि साधन रूप
(याज्ञ० स्मृ० १।८) । यज्ञ, सदाचार, दम, अहिंसा, दान, आत्मज्ञान की प्राप्ति परम धर्म
अपर धर्म हैं । निष्काम कर्म, भक्ति, ध्यानादि रूप योग से क्योंकि योग से द्रष्टव्य जिस
है । इस परम धर्म का प्रथम सोपान रूप न्यायवैशेषिक है, मन्तव्यो निदिध्या-
आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये––आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो विदितम् । बृ०
सितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं किया गया है ।
२।४।५) । इस श्रुति से श्रवण-मनन-निदिध्यासन (ध्यान) का विधान ईश्वर का एक पार-
वह आत्मा ब्रह्म (विभु त्रिविध भेद रहित) है, सब जीव-जगत् के दर्शनादि हो जाते
मार्थिक स्वरूप है, इसी से उस एक के दर्शनादि से इस सब संसार ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।
हैं, और जिस के दर्शनादि से सब के दर्शनादि होते हैं वह––सत्यं आसीदेकमेवा-
(तैत्ति० २।१) कं ब्रह्म खं ब्रह्म । (छा० ४।१०।५) । सदेव सोम्येदमग्र ।(६।२३।१)।
द्वितीयम् । (छा० ६।२।१) । स आत्मा तत्त्वमसि ।(६।८।७)। भूमैव सुखम्
आत्मानन्दः स स्वराड्भवति । (छा० ६।२५।२) । सत्य, ज्ञान और अनन्त (देश काल
वस्तुकृत भेदरहित) ब्रह्म है । सुखस्वरूप विभु ब्रह्म है । हे सौम्य ! यह संसार सृष्टि से
प्रथम सद्ब्रह्ममात्र था, इससे एक और सब द्वैत (भेद) रहित था, वही सर्वात्मा है,
इससे तुम वास्तव में वही स्वरूप हो, वह ब्रह्म ही सुखस्वरूप है, उस ब्रह्मात्मा को
जानने वाला स्वात्मानन्द स्वरूप और स्वयं प्रकाश स्वरूप मुक्त हो जाता है । इन वचनों
से सत्, चिद्, आनन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा के सिद्ध होते भी जो दर्शन आत्मा को केवल
सत्यस्वरूप विभु वा एकदेशी कहता है, उसे प्रथम सोपान रूप समझना चाहिये । उसके
भी अधिकारी बहुत मनुष्य हैं, सत्यात्मा और ईश्वरादि को भिन्न समझकर सत्कर्म भक्ति
उपासनादि करते-करते वे लोग कभी द्वितीय सोपान के अधिकारी होंगे ही । एक बच्चा
भी समझ सकता है, और समझता है कि मिट्टी के ढेले को तोड़ने लगेंगे तो अत्यन्त सूक्ष्म
हो जाने पर उसके अन्तिम अवयव को नहीं तोड़ सकेंगे इससे वह नित्य है, परम
अणु सूक्ष्म है । इसी प्रकार जल, तेज आदि में भी वह समझ सकता है, और सर्वत्र
भासते हुए दिशा, कालादि को भिन्न-भिन्न नित्यादि भी समझ सकता है, तथा पूर्व वर्णित
प्रत्यक्ष, अनुमान और वेदादि शास्त्र रूप प्रमाणों में प्रत्यक्ष तथा अनुमान की प्रधानता
को एक बच्चा भी समझ सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के बिना शारीरिक
और लौकिक व्यवहार कभी नहीं चल सकता, और प्रथम श्रेणी के लोग प्राय: शरीर
व्यवहार परायण होते हैं, यद्यपि पूर्वोक्त प्रेय से कुछ उपरत ही लोग सभी वैदिक

दर्शनों के अधिकारी होते हैं, तथापि ऐहलौकिक प्रेय से उपरत होते भी पारलौकिक प्रेय से उपरत सब नहीं होते हैं, और सर्वत्र उपयोगी विचार में सहायक अनुमान में विशेष उपयोगी, प्रमाण, प्रमेय संशयादि षोडश पदार्थों का वर्णन जो न्यायदर्शन में और द्रव्य गुण, कर्म सामान्यादि का वर्णन जो वैशेषिक में है; उन्हीं का संक्षेप रूप में वर्णन है, सो भी प्रथमावस्था में उपयोगी है। समास-व्यास (संक्षिप्त-विस्तृत) के विचार से बुद्धि विशद और बृहत् होती है, फिर 'एक ही पुरुष एक है नारी, ताकर करहु बिचारा' इत्यादि उपदेश और 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि' (भ. गी. १३।१९) 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' (छा. ६।२३।१) इत्यादि शास्त्रों के अनुसार जगत् की प्रकृति (उपादान कारण) अनिर्वचनीय एक माया और जीवात्मा तथा सत्य ब्रह्मात्मा रूप एक पुरुष ही विचारादि से समझने के योग्य है कि जिस ब्रह्मात्मा के अपरोक्ष अनुभव से (ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति छा. २।२३।१।) ब्रह्मनिष्ठ अतमृत्व (मोक्ष) पाता है। भाव है कि (अन्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्य सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। छा. ६।८।४) देह कारण रूप भी अन्न सत्य अन्तिम मूल कारण नहीं है, इससे अन्न रूप शुंग (कार्य) से उस का मूल (कारण) रूप जल को समझो, जल रूप कार्य से उसके कारण रूप तेज को समझो, तेज से सर्वाधिष्ठान सत्य ब्रह्मात्मा रूप माया-शक्ति सहित मूल कारण को समझो, क्योंकि सन्मूलक, सदाश्रित, सत में समाप्ति विलय वाली सब प्रजा हैं, अर्थात् जैसे मिट्टी के आश्रित मिट्टी के अभिन्न सत्ता वाला घट है, तन्तु रूप ही पट है, मिट्टी और तन्तु के बिना घट और पट मिथ्या वाचारम्भण (वाचयाऽऽरम्यतेऽभ्युद्यत इति वाचारम्भणम्) मात्र ही हैं। श्रुति कहती है कि (वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृतिकेत्येव सत्यम्' छा. ६।१।४)। मिट्टी के विकार मिट्टी रूप से सत्य हैं और अपने स्वरूप से असत्य मिथ्या हैं, इससे मिट्टी के ज्ञान से ही उनका ज्ञान होता है, उनका सत्य स्वरूप मिट्टी के समझ लेने से ही समझा जाता है, अन्यथा नहीं। वैसे ही भूत-भौतिक सब संसार और मनोमायामय जीवेश्वर का व्यावहारिक स्वरूप मिथ्या है। ब्रह्मात्मा रूप एक पारमार्थिक स्वरूप ही सत्य है, उसके ज्ञान से सब का स्वरूप ज्ञात अनुभूत होता है, जिससे कि अनादि अविद्या की निवृत्ति से जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेह मुक्ति होती है। परन्तु यह तत्त्व प्रथम श्रेणी वालों को समझ में नहीं आ सकता है। इससे कार्यकारित्व मात्र को सत्य का लक्षण मानकर मृत्पिण्ड से घट में जलाहरणादि रूप पृथक् कार्यकारित्व होने से घट को मृत्पिण्ड से पृथक् सत्ता वाला नैयायिकादि मानते हैं। क्योंकि प्रथमावस्था में यह बात समझ में नहीं आसकती कि यदि मिट्टी से घट भी भिन्न और सत्य वस्तु है, तो एक सेर मिट्टी का जहाँ एक घट बना हो, वहाँ मिट्टी कहीं गई नहीं है, और घट भी एक नया पार्थिव द्रव्य रूप पदार्थ उसमें उत्पन्न हुआ है, तो, उस का परिणाम गुरुत्व कुछ भी तो बढ़ना चाहिये और

रस्सी में सर्प का भ्रम होने पर मिथ्या ही उस सर्प से भय रूप कार्य होता है तथा स्वप्न के मिथ्या पदार्थादि से उस समय सुख-दुःखादि कार्य होते हैं और शुभाशुभादि की सूचना होती है, इससे कार्यकारित्व मात्र सत्यता नहीं है इत्यादि। एक सुपक्व आम्र के स्पर्श, रूप, रस और गन्ध त्वक्, नेत्र, जिह्वा तथा घ्राण को पृथक् २ तृप्त करते हैं, परन्तु सब एक आम्र मात्र हैं। स्पर्शादि गुण आम्र से पृथक् सत्ता स्थिति वाले नहीं हैं। इसी प्रकार पांचभौतिक पदार्थ देह, वृक्षादि पाँच भूत मात्र हैं और पाँच भूतों में भी पृथिवी जल मात्र है, जल तेज मात्र है, तेज वायु मात्र है, वायु आकाश मात्र है, आकाश, मायाविशिष्ट ब्रह्मात्मा ईश्वर मात्र है, वही एक पारमार्थिक सत्य एक अद्वितीय है। सो शब्द प्रमाण सद्गुरु से ज्ञेय है, वह स्वयं प्रकाश चेतन अखण्डानन्द स्वरूप है, यदि अनेक परमाणु आदि अखण्ड और सत्य होंगे, तो वह आत्मा अखण्ड और सत्य नहीं हो सकता, एक देश में दो सत्य नहीं रह सकते और एक सत्य में अनेक असत्य कल्पित भेद वाले मिथ्या पदार्थ रह सकते हैं, जैसे कि कपास में तन्तु और तन्तु में वस्त्रादि रहते हैं वैसे ही माया और सब संसार कोई साक्षात् कोई परंपरा से ब्रह्मात्मा में है, तो भी माया आदि के मिथ्या होने से वह ब्रह्म असंग है, अच्छेद्य है, अदाह्यादि है। असत् और मिथ्या शब्द का सर्वथा अभाव अर्थ नहीं है, किन्तु कारण अधिष्ठान से भिन्न सत्ता रहित कारण अधिष्ठान रूप से सत्य को ही मिथ्या या असत्य कहा गया है। इस तत्त्व को नहीं समझने वालों के लिये, आत्मभिन्न सत्य ईश्वर को मान कर (ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्। न्यायदर्शन, अ. ४।१।१९)। मनुष्य कर्म-फल की इच्छा से कर्म करता है परन्तु कर्मफल नियम से नहीं देखा जाता। इससे जगत् जन्मादि का ईश्वर कारण है, इत्यादि उपदेश दिया गया है, योग के साधनों का तथा समाधि आदि का उपदेश दिया गया है, तथा (न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीन-क्लेशस्य। न्या. सू. ४।१।६४) रागादि दोषरहित की प्रवृत्ति पुनः बन्धन के लिये नहीं होती, इत्यादि उपदेश भी अतिसमीचीन ही है। योगदर्शन का भी वचन है कि—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः (योगद० २।१३)। अविद्यादि रूप क्लेशों के रहने पर ही जन्म, आयु तथा भोग रूप कर्मों के फल होते हैं, अन्यथा नहीं। इससे क्लेशों को शिथिलादि करने के लिये असंग सत्य चेतनात्मा के विवेकादि का विधायक सांख्य और योग दोनों दर्शन, दर्शन की दृष्टि से द्वितीय सोपान हैं। इस सोपान में असंग निर्विशेष आत्मा में भेद का स्वीकार प्रकृति आदि में स्वतन्त्र सत्ता का स्वीकार आदि ही तृतीय सोपान वेदान्त की अपेक्षा न्यूनता है। असंग एक सत्य तत्त्व के ज्ञानपूर्वक अन्य सब को मिथ्या समझने ही पर क्लेशों की अत्यन्त निवृत्ति श्रुति अनुभव के अनुसार हो सकती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि सत्य प्रेय के लिये रागादि को सत्य प्रकृति अवश्य करेगी, उसका यह स्वभाव है, वृत्ति रूप ज्ञान काल में लज्जित सा होने पर भी वृत्ति की निवृत्ति काल में अवश्य पुरुष को भोग देने के लिये फिर प्रवृत्त होगी,

बन्धन का हेतु रूप अविद्यादि जब मिथ्या अनिर्वाच्य है; तब तो अविद्या के विरोधी विद्या से उसकी सर्वथा निवृत्ति होती है, इससे अविद्यादि जन्य अहंकारादि रूप बीजाङ्कुर न्याय से अनादि अन्तःकरणादि में, सूर्यकान्तादि में व्यक्त सौर तेज के समान अभिव्यक्त चिदात्मा रूप व्यष्टि व्यावहारिक जीव उस अविद्या की निवृत्ति से मुक्त होता है, निर्वाण पद को पाता है, अर्थात् जैसे सूर्यकान्त के अभाव से उस से व्यक्त हुआ तेज फिर समान सौर तेज मात्र रह जाता है, वैसे ही ज्ञानादि द्वारा मिथ्या अविद्यादि के विलय से व्यावहारिक जीवभाव सदा के लिये निवृत्त हो जाता है, यही निर्वाण पद कैवल्य है, अन्य नहीं। स्वप्न कालादि में प्रतीत होने वाला और जागने आदि से निवृत्त होने वाला जीव का प्रतिभासिक स्वरूप है, जिसका बृहदारण्यक (४।३।१३) में बहुरूप और क्रीडादि रूप युक्त का वर्णन किया गया है, और भी जो स्वप्न कालिक रथादि श्रुति वर्णित हैं और लोकप्रसिद्ध हैं, वे सब सत्यात्मा से और असत् गगन पुष्पादि से भिन्न होने से अनिर्वचनीय और प्रातिभासिक (प्रतीति काल तक रहने वाले) हैं। सत्यासत्यादि से भिन्न को ही अनिर्वचनीय कहते हैं। उक्त सत्यासत्य से भिन्न होने से माया सहित सब जगत् और व्यावहारिक जीव भी अनिर्वचनीय हैं। सत्य चिदानन्दादि रूप से निर्वचनार्ह परिणामक्रियादिरहित एक ब्रह्मात्मा ही है। स्वप्न की प्रतीति स्मृति रूप नहीं है, क्योंकि वहाँ की वस्तु सामने दीख पड़ती है, साक्षात् शब्दादि के श्रवणादि उस समय होते हैं। व्यावहारिक जीवों के स्वरूपों का : रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च (कठ० २.५।९)। एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति (कठ० २।५।१२)। कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्रश्न० ४।९।)। इत्यादि श्रुतियों से वर्णन किया गया है, कि काष्ठादि गत अग्नि आदि के समान एक सत्यात्मा ही सब देहों में अनेक रूप से हुआ है, सो एक स्वतन्त्र सब प्राणी के सत्यात्मा ही उपाधियों में अभिव्यक्ति रूप प्रतिबिम्ब आभास द्वारा अपने मिथ्या बहुत स्वरूपों को करता है, वही व्यावहारिक जीव है (एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ (ब्रह्मबिन्दु० १२)। साक्षिणः पुरतो भाति लिङ्गं देहेन संयुतम्। चितिच्छायाः समावेशाज्जीवः स्याद् व्यावहारिकः॥ (वाक्य सुधा० १६)। एक ही सत्यात्मा सर्वभूतों का आत्मा (सत्य स्वरूप) है, सब भूतों में पृथक् २ विशेष भिन्न स्वरूप से भी स्थिर है और बाह्य चन्द्र तथा अनेक जल से पूर्ण घटों के अन्दर गत प्रतिबिम्ब रूप चन्द्र के समान वह आत्मा स्वरूप से एक रस और उपाधि से बहुत प्रकार का भासता है। उस एक रस रहने वाले साक्षी स्वरूप आत्मा के आगे स्थूल देह से युक्त होकर लिङ्ग सूक्ष्म देह भासता है और वही लिङ्ग देह चेतनात्मा की छाया के प्रवेश से व्यावहारिक जीव होता है। यह जीव स्थूल देह काल में हृदय के अन्दर दीप-शिखा के समान रहता है, और सम्पूर्ण देह में दीप-प्रभा के तुल्य रहता है। देह में रहते भी बाहर नेत्र द्वारा प्रभा तुल्य निकलता है, इससे संकोच विकाश वाला है।

सत्यात्मा एक ही है, इसी जीव की जीवता के आरोप भ्रम से सत्यात्मा भी अनेक भासता है। (राम कबीरा एक है, चीन्हे बिरला कोय। अन्तर टाटी भरम की, तात देखै दोय ॥ राम कबीरा एक है, कहन सुनन कों दोय। दोय करि सोई जानई, सुद्गुरु मिला न होय ॥ समदिष्टी सद्गुरु किया, भरम किया सब दूर। दूजा कोई दीखै नहीं, राम रहा भरपूर ॥) वास्तव स्वरूप में राम (ईश्वर) और कबीरा (जीव) एक है, भ्रम रूप परदे से दो भासता है, भ्रम को ही अध्यास कहते हैं। उस अध्यास से कहीं एक ही वस्तु दो रूप से प्रतीत होती है। जैसे एक चन्द्र दो भासता है, दूर से अनेक वृक्ष एक भासते हैं। इसी प्रकार उपनेत्र से छोटी वस्तु बड़ी और बड़ी वस्तु छोटी भासती है, इत्यादि सभी जैसे अध्यास हैं उसी प्रकार रेत (बालू) में जल भासता है, वह भी अध्यास ह। जहाँ भ्रम से जल भासने पर भी उसे सत्य समझकर उसके लिए दौड़ने पर मृग दुखी होता है, विचारादि से उसे मिथ्या समझने वाला दुखी नहीं होता, इसी प्रकार मायिक मिथ्या भेद युक्त ईश्वरादि के भासने पर भी विवेकी को भयादि नहीं होते, अन्य को होते हैं। इससे विवेकादिपूर्वक सत्य एकात्मा के ज्ञान के लिये दयालु हरि के अवतार रूप भगवान् व्यास ने विचारात्मक शास्त्र को रचा है और अनन्त रुद्रों में योगीश्वर ज्ञानी शंकर के अवतार शंकराचार्य ने उसका भाष्य करके समझाया है कि सर्वात्मा स्वरूप ईश्वर प्रलय के बाद फिर सृष्टि काल में पूर्वसृष्टि के बिखरे हुए सच्चे परमाणुओं को नहीं समेटने लगता है, किन्तु (आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास। ऋग्वेद० म० १०।११।१२९। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे। १०।११।१२९। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। श्वेता०। ६।८।) वह ब्रह्म सृष्टि से प्रथम माया रूप स्वधा (शक्ति) सहित एक ही वर्तमान था, उससे भेदयुक्त अन्य कुछ नहीं था, अविद्या माया रूप तम था, तम से छिपा हुआ सब कार्य और ब्रह्म था। उसके सत्य शरीर इन्द्रियादि न थे, न हैं, न उसके तुल्य वा अधिक दीखता है, किन्तु स्वामाविक उसकी विविध प्रकार वाली परा उत्तमा शक्ति सुनी जाती है, तथा ज्ञानक्रिया और बलक्रिया सुनी जाती है। ईश्वर शक्ति रूप बलक्रिया से ही फिर अनायास से सृष्टि को स्वप्न के समान रचता है, इससे सद्गुरु से ज्ञान को पाने वाली दूसरी वस्तु को देखता है, परन्तु सत्य नहीं देखता और शरीरादिरहित त्रिविध सत्य-भेद से शून्य राम को व्यापक देखता है, इससे भय, राग, द्वेषादि से रहित जीवन्मुक्ति पूर्वक विदेह मुक्त हो जाता है। यदि ईश्वर पूर्व सृष्टि के परमाणुओं से ही फिर संसार को रचेगा तो मनुष्यों ने कितने पत्थरादिकों को जलाकर चूना राख कर दिया है, हीरों को भस्म बनाकर मनुष्य खा गये हैं, उनके परमाणुओं को वह कहाँ ढूंढेगा, और वे कहाँ उसे मिलेंगे, तथा उन्हें ढूँढ कर जोड़ना असम्भव है, इससे माया रूप शक्ति से ही ईश्वर से सब कार्य अनायास से साध्य हैं। सत्य सर्वात्मा राम अखण्ड एक चिदानन्द स्वरूप है, उस आत्मा का विचार यद्यपि अनादि काल से महात्मा लोग

करते आये हैं, इससे यह विचार मार्ग, दर्शन मार्ग अनादि है, तथापि प्रथम अध्ययन
सत्संगादि द्वारा कुछ विवेकादि की प्राप्ति होने पर गुरु-शिष्य का संवाद रूप कथा से
लोग जिज्ञासा (विचारादि) करते थे। समय के परिवर्तन से वाद कथा के लुप्त सा
होने पर और जल्प वितण्डा के बढ़ने पर तथा अनेक नास्तिक आस्तिक दर्शनों के
सिद्ध होने पर फिर प्राचीन पद्धति की पूर्ण रूप से स्थापना के लिये श्रीव्यास देव और
भगवान् शंकर ने सूत्र और भाष्य की रचना की है, उत्तम सन्तों में तो किसी न किसी
रूप से सदा संवाद कथा वर्तमान ही रहती है। पूर्वोक्त व्यावहारिक भेद की दृष्टि से
हो—नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्। कठ० ५।१३। श्वेता० ६।१३। द्वा सुपर्णा सयुजा
संखाया। मुण्डक० ३।१ श्वेता० ४।६। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं
त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वेता० १।१२। नेतरोऽनुपपत्तेः। भेदव्यपदेशाच्च। ब्रह्मसूत्र० १।१
१६-१७। इत्यादि श्रुति और सूत्रादि में भेद का व्यवहार-वर्णन किया गया है और
सत्य भेद का 'नेह नानास्ति किञ्चन' वृ० ४।४।१९। इत्यादि वचनों से निषेध किया
गया है। कोई प्रलयादि में जीवों का ब्रह्म से अविभाग मात्र समझकर लोक देशादि के
भेद से ब्रह्म में भेद मात्र का निषेध इस वचन से समझते हैं, परन्तु किञ्चन पद से सत्य
सब प्रकार के भेदों का निषेध में श्रुति का मुख्य तात्पर्य है। इसी से (मृत्योः स मृत्यु-
माप्नोति य इह नानेव पश्यति। वृ० ४।४।१९। कठ० ४।१०) सत्य भेद दर्शी की मृत्यु
वशवर्तिता का श्रुति वर्णन करती है कि इस ब्रह्म में सत्य नाना की नाईं भी जो देखता
है, वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है। इससे समझना चाहिये कि (यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र
तदन्विह। कठ० ४।१०) जो ब्रह्म सत्य स्वरूप इस मानव संसार शरीरादि में है,
यही अन्य नहीं, अमुत्र (ईश्वर-परलोक) में भी सत्य है। भोक्ता 'भोग्य'
अन्तर्यामी सब स्वरूप से एक सत्य ब्रह्म ही कहा गया है। नेह नानाऽस्ति किञ्चन।
कठ० ४।११ अर्थात् इस ब्रह्म में नाना कुछ भी सत्य नहीं है। ऐसा नहीं समझने
वालों की निन्दा करती है कि (अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स
देवानाम्। वृ० १।४।१०) परलोकवासी ईश्वर अन्य है, मैं उससे अन्य हूँ इस प्रकार
जो जानता है, वह सत्यात्मा को नहीं जानता। इससे मिथ्या भेद युक्त देवों को जानकर
पशु के समान उनके वशवर्ती भयभीत दुखी रहता है। इससे भयादि की निवृत्ति के हेतु
जो अद्वैतात्म दर्शन उसका प्रतिपादक उपनिषदों का विचार रूप सूत्र[1] भाष्यादि का
आरम्भ किया गया है।

१. स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥
संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलणम्॥
सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥
पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना। आक्षेपस्य समाधानं व्याख्या पञ्चविधा स्मृता॥
विषयो विषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥

इस वेदान्त दर्शन में उपोद्घात रूप सङ्गति से अध्यास भाष्य का आरम्भ हुआ है। भाव यह है कि आरब्धव्य मीमांसा के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुति बोधित आत्मदर्शन के सफल होने से उस दर्शन के लिये ब्रह्मजिज्ञासा को कर्तव्य बताया गया है। संशय भ्रमादि की निवृत्ति पूर्वक ब्रह्मात्मा रूप मोक्ष की प्राप्ति रूप मीमांसा के प्रयोजन को सूचित किया गया है, तथा ब्रह्म को ही शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय दर्शाया गया है और अथ शब्द से विवेकादि युक्त अधिकारी की सूचना की गयी है। अधिकारी आदि का विषयादि से प्राप्य-प्रापकादि भाव रूप सम्बन्ध स्वयं लभ्य है, इस बात को भी सूत्र से दर्शाया गया है। इस से शास्त्र में प्रवृत्ति के हेतु रूप अनुबन्धों को दर्शाया गया है। शास्त्र को सफल और आरम्भ योग्य दर्शाकर 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि रूप शास्त्र का आरम्भ किया गया है, परन्तु यह सब बात तब बन सकती है कि यदि ज्ञान से मुक्ति हो सकती हो और ज्ञान से मुक्ति तब हो सकती है कि यदि जन्मादि रूप बन्ध सत्यात्मा में भ्रम से हो और आत्मा का संशय या भ्रम हो, तभी (मीमांसा) विचारादि जन्य ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति पूर्वक संशय भ्रम की निवृत्ति पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मैं सदा रहने वाला हूँ, ईश्वर है, ब्रह्म है इस प्रकार का निश्चय ज्ञान साधारण पढ़े लिखे मनुष्यों को भी रहता है और उससे मुक्ति नहीं मिलती, तथा प्रत्यक्ष निश्चित रूप से ज्ञात आत्म ब्रह्म विषयक भ्रम संशय भी नहीं रह सकते, इससे शास्त्र का आरम्भ निष्फल है, ऐसी शंका होने पर मैं हूँ इत्यादि ज्ञान को भ्रम संशयादि रूप समझाने के लिये और निजात्मभिन्न रूप से ईश्वर ब्रह्म ज्ञान को भ्रम रूप समझाने के लिये तथा इन भ्रमों की निवृत्ति पूर्वक ब्रह्मात्मा को साक्षात् सच्चिदानन्द, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति युक्तादि रूप समझाने के लिए शास्त्राऽऽरम्भ को सफल बताने के लिये पूज्य भाष्यकार ने अध्यास भाष्य लिखा है, तहाँ अध्यास विषयक पूर्वपक्ष से ही आरम्भ किया है——

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम् ॥ १ ॥

यद्यपि लोक में व्यावहारिक वस्तु सर्प, रजतादि के ज्ञानजन्य संस्कार, अध्यासाश्रय रज्जु, शुक्ति आदि का सामान्य (इदं) रूप से ज्ञान और रज्जु शुक्ति आदि का विशेष रूप

सप्रसंग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तया। निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा सङ्गतिरिष्यते ॥
(लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च। सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥)

से अज्ञान और प्रमाता (जीवात्मा) में भय लोभादि रूप दोष, नेत्रादि रूप प्रमाणों में मन्दता आदि रूप दोष, प्रमेय (प्रमाण के विषय), रज्जु (रस्सी), सर्प और शुक्ति (सीपी), रजत (रूप्य-चांदी) में सदृशता रूप दोष रहने से अध्यास (मिथ्या सर्पादि और उनके मिथ्या ज्ञान) सिद्ध होते हैं और आत्मा में अहंकार, अन्तःकरण, धर्माधर्मादि शरीरादि के अध्यास में वा आत्मा के चेतनता आदि के अन्तःकरणादि शरीरादि विषयक अध्यास में उक्त संस्कारादि कोई कारण नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणादि आत्मभिन्न कोई वस्तु कहीं सिद्धान्त में सत्य नहीं है। आत्मा असङ्ग है तथा युष्मत् प्रत्यय (तुम ज्ञान) का विषय अनात्मा अन्तःकरणादि और मैं, अहम् (अस्मत् प्रत्यय) इत्यादि ज्ञान का विषय आत्मा, जो विषय (जड़) और विषयी (प्रकाशक) स्वरूप होने से तम (अन्धकार) और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, सर्वथा अध्यास के हेतु सादृश्य दोष शून्य हैं। उनकी परस्पर तादात्म्य (अभेदाध्यास) की अनुपपत्ति (अयुक्तता) सिद्ध होने पर उनके धर्मों का भी परस्पर तादात्म्य रूप अभेदाऽध्यास की अयुक्तता (अयोग्यता) सुतराम् (स्वतः अत्यन्त-अवश्य) सिद्ध होती है, क्योंकि धर्मियों के अविवेक से धर्मों के अविवेक द्वारा धर्मों का परस्पर अध्यास होता है। जड़ चेतन के विवेकयुक्त पृथक् ज्ञान रहते परस्पराध्यास उनके धर्मों का भी नहीं हो सकता। इस पूर्वोक्त हेतु से अहम् (मैं) इत्यादि ज्ञान का विषय, और विषयी (विषयों का प्रकाशक) चेतनात्मक वस्तु में तुम आदि ज्ञान के विषय अनात्मा और उसके धर्मों का अध्यास (भ्रम) होना मिथ्या है, अर्थात् आत्मा में अनात्मा का अध्यास नहीं है, ऐसा मानना उचित है, इसी प्रकार इससे उलटा अन्तःकरणादि विषय (जड़पदार्थ) में विषयी (चिदात्मा) और उसके धर्मों का अध्यास मानना अयुक्त है, और अध्यास के असम्भव से ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है, इससे ब्रह्मजिज्ञासा आदि की जरूरत नहीं है। मोक्ष के लिये कर्मोपासनादि कर्तव्य हैं, इत्यादि पूर्वपक्ष है।

यहाँ (युष्मदस्मद्) इस पद में 'त्यदादीनां सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इस वार्तिक के अनुसार अस्मद् मात्र शेष रहना चाहिये था, परन्तु असंदिग्ध बोधादि के लिये एक शेष नहीं किया गया है और स्पष्ट पराक् और प्रत्यग् का भेद बोध के लिये युष्मदस्मद् के स्थान में, इदमस्मद्, कहना था, परन्तु 'इमे वयम्' इत्यादि वाक्य में इदमर्थ को अस्मदर्थ से विरोध नहीं भासता है, इससे स्पष्ट विरुद्धार्थता के लिये वैसा कहा गया है ॥ १ ॥

उत्तर है कि सादि अनादि भेद से दो प्रकार के अध्यास होते हैं, वहाँ व्यावहारिक सत्य के ज्ञानजन्य संस्कारादि प्रातिभासिक अध्यास के हेतु उक्त रीति से होते हैं सो ठीक ही कथन है, परन्तु बीजाङ्कुर न्याय से अनादि व्यावहारिक अध्यास में यह नियम नहीं है, पूर्व सृष्टि आदि के मिथ्या ज्ञान जन्य मिथ्या संस्कारादि से ही उत्तर २ अध्यास होते हैं और उन से फिर मिथ्या संस्कारादि होते हैं और अविद्या, अविवेक, अज्ञानादि नाम तथा स्वरूप वाली माया ही सब दोषों के स्थानापन्न अनादि अध्यास में रहती है।

माया में अद्भुत शक्ति है, सृष्टि के आदि काल में ईश्वरीय संकल्प मात्र से जैसे ब्रह्मा आदि की सृष्टि करके फिर योनिज सृष्टि रचती है, एवं मत्कुण (खटमल) आदि को प्रथम ऊष्मा मलादि मात्र से पैदा कर के फिर अण्डजादि रूप से उत्पन्न करती है, वैसे ही सत्यज्ञानज संस्कारादि के बिना अनादि प्रवाह रूप मिथ्या कर्म वासनादि जन्य मिथ्या अध्यासों को रच कर फिर तदधीन अनन्त अध्यासों को विशेष तत्तत् सामग्रियों से रचती है, इत्यादि आशय से भाष्य है कि—

तथाप्यन्योऽन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ॥ २ ॥

उक्त रीति से अध्यास की अयुक्तता होते भी अनादि अज्ञान मूलक अनादि अविवेक से, आत्माऽनात्मा का परस्पर अध्यास (तादात्म्य) का निश्चय करके, और उनके चैतन्य जाड्यादि रूप धर्मों का अध्यास करके, फिर अत्यन्त पृथक् धर्म चैतन्य जाड्यादि और धर्मी आत्मा अनात्मा के मिथ्याज्ञान (अध्यास) निमित्तक यह लोक व्यवहार प्रसिद्ध है कि मैं इस शरीरादि रूप हूँ, कर्ता भोक्ता आदि हूँ और मेरे ये शरीर मित्रादि हैं इत्यादि। वे मिथ्या व्यवहार सत्यात्मा और अनृत (मिथ्या) अनात्मा को मिथुन (युगल) बनाकर नैसर्गिक (स्वाभाविक-अनादि) प्रवृत्त हैं। इससे इनके वासना अज्ञानादि रूप कारण भी अनादि हैं। पूर्व पूर्व के असत्य साधन से ही पर पर के असत्य अध्यास होते हैं, उनके विरोधी विचारादि जन्य ज्ञान से इनकी निवृत्ति मुक्ति होती है। इससे ज्ञान के लिये शास्त्र का आरम्भादि कर्तव्य है ॥ २ ॥

संक्षेप से शंका समाधान द्वारा अध्यास प्रयोजनादि का निरूपण करके शंका का उत्थान और लक्षणादि द्वारा अध्यास का स्फुट वर्णन किया जाता है अथवा प्रकाशमानता रूप सत्यता मानकर आक्षेप करने वालों के प्रति वादकथा से सर्व अध्यास की प्रसिद्धि द्वारा उत्तर दिया जाता है कि —

आह कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः ॥३॥

अध्यास का क्या लक्षण है, यह अध्यास किस लक्षण वाला किस रूप से प्रसिद्ध है, इसका लक्षण नहीं हो सकता इत्यादि पूर्ववादी का भाव है। वाद रूप यथार्थ कथात्मक शास्त्र के होने से सत्योत्तर है कि लक्षण कहा जाता है, सुनो ! जो ज्ञान स्मृति के समान संस्कारजन्य होने से स्मृतिरूप (स्मृति के समान आकार वाला) असमीपवर्ती वस्तु विषयक हो, उस ज्ञान का विषय वहाँ सत्य नहीं हो, इसीसे जो अन्य वस्तु शुक्ति आदि में अन्य रजतादि का अवभास (मिथ्याज्ञान) हो उसको अध्यास कहते हैं, सो परत्र (अन्य) शुक्ति में पूर्वदृष्ट रजत का अवभास (अध्यास) रूप है, इसी प्रकार के सादि, अनादि सब अध्यास हैं, और होते हैं ॥ ३ ॥

उक्त मिथ्या अध्यास को सर्वसम्मत समझाने के लिऐ कहा जाता है कि—

तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्वि-

वेकाऽग्रहनिबन्धनो भ्रम इति। अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्व-कल्पनामाचक्षते इति ॥ ४ ॥

उस अध्यास को कोई सौत्रान्तिक बुद्धमतानुयायी, अन्यत्र वाह्य वस्तु) में विज्ञान रूप आत्मा के धर्म रूप रजतादि का अध्यास (मिथ्या ज्ञान) कहते हैं और अन्यथा-ख्याति (अन्य की अन्यथा प्रतीति) वादी नैयायिक रजत का धर्म रजतत्व की शुक्ति में प्रतीति को या रजतावयव के धर्म रजत की शुक्ति में प्रतीति को अध्यास कहते हैं। असन्निहित की प्रतीति रूप अध्यास को असम्भव समझ कर प्रभाकरादि कहते हैं कि जिस शुक्ति में जिस रजत का अध्यास होता है, वह शुक्ति और रजत के विवेक ज्ञाना-माव निमित्तक भ्रम कहा जाता है। अर्थात् जहाँ पूर्वदृष्ट रजत का स्मरण होता है और शुक्ति के इदमंश का नेत्र से अपरोक्ष ज्ञान होता है, वहाँ प्रत्यक्ष और स्मरण रूप दोनों ज्ञान और दोनों के विषय सत्य ही रहते हैं, परन्तु उस समय विषय और ज्ञानों का विवेक पृथक्ता के ज्ञान के नहीं रहने से वह समूह ज्ञान भ्रम कहाता है। रजत की स्मृति से सन्मुख शुक्ति में रजतार्थी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इससे कोई जिस शुक्ति में जिस रजत का अध्यास होता है, उस शुक्ति का ही विपरीत रजत रूप धर्मत्व की कल्पना कहते हैं। अर्थात् शुक्ति में मिथ्या रजतत्व सहित रजत की कल्पना आरोप से रजत में प्रवृत्ति मानते हैं ॥ ४ ॥

सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति। कथं पुनः प्रत्यगात्मन्य-विषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तर-मध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि ॥ ५ ॥

इस पूर्व कथित रीति से सर्वमत साधारण रूप से और सब प्रकार से ही यह अध्यास अन्य शुक्ति आदि को अन्य धर्म रजतत्वादि रूप से मिथ्या प्रतीति रूपता को नहीं त्यागता है। शून्यवादी को भी शून्य में शून्यभिन्नता रूप मिथ्या प्रतीति माननी पड़ती है। प्राभाकर की भी प्रवृत्ति रजतत्व विशिष्ट के ज्ञान बिना शुक्ति में नहीं हो सकती। लोक में सर्वसाधारण का अनुभव भ्रमस्थान में होता है कि शुक्तिका ही भ्रम काल में रजत के समान भासती है और एक ही चन्द्रमा सद्वितीय (दूसरा चन्द्र सहित) के समान भासता (मिथ्या प्रतीत होता) है। यहाँ शंका होती है कि बाहर की शुक्ति आदि वस्तु में उक्त रीति से सर्वमत सिद्ध अध्यास के होने पर भी प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) इन्द्रियादि का अविषय है, उस अविषय रूप अन्तरात्मा में अन्तःकरणादि रूप वाह्य विषय और उनके धर्मो का अध्यास कैसे हो सकता है, सभी लोग आगे उपस्थित विषय में ही अन्य विषय का अध्यास करते हैं, यदि आत्मा को भी अध्यास की सिद्धि के लिये किसी ज्ञान का विषय शुक्ति आदि के समान मानें तो स्वसिद्धान्त का त्याग होगा, क्योंकि प्रत्यगात्मा को अविषय कहते हैं, और यदि आत्मा को विषय भी कहें, तो उसको जानने वाला अन्य ही चिदात्मा सिद्ध होगा और स्वयंप्रकाश रूप

से अत्यन्त प्रकाशित में भी अध्यास नहीं हो सकता, इससे आत्मा में अनात्मा का अध्यास कहना अनुचित है ॥ ५ ॥

उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति ॥ ६ ॥

उक्त शंका का उत्तर दिया जाता है कि प्रथम तो यह समझना चाहिये कि अहम् (मैं) हूँ इत्यादि ज्ञान का विषय होने से आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है, अर्थात् स्वयं प्रकाश होने से यद्यपि अविषय है तथापि अविद्या कल्पित अहंकारादि के अध्यास में ही उसके साक्षी रूप से आत्मा का प्रकाश होता है, और इस मास और अध्यास का अनादि प्रवाह है, इससे अन्योन्याश्रयादि नहीं है और चेतनात्मा स्वयं प्रकाश होने से यद्यपि अविषय है, तथापि औपाधिककर्ता भोक्तादि रूप जीव भाव से विषय है, और अपरोक्षत्व (स्वयं प्रकाशत्व) होने से आत्मा की अप्रसिद्धि नहीं है; किन्तु प्रसिद्धि है, और अन्तरात्मा रूप से अत्यन्त प्रसिद्धि से ही स्वयं प्रकाशरूपता है, और वह स्वयं प्रकाशस्वरूपात्मा स्वशक्ति रूप अविद्या माया का विरोधी नहीं है, इससे अविद्याजन्य अध्यासादि होते हैं, शास्त्रगुरु के उपदेश से जन्य ज्ञान ही अविद्यादि विरोधी है, इत्यादि। यह भी नियम नहीं है कि आगे स्थिर अपरोक्ष विषय में ही अन्य अनुपस्थित विषय का अध्यास होना चाहिये, अन्यत्र नहीं, क्योंकि रूप, स्पर्शादि के अभाव से अप्रत्यक्ष (इन्द्रियों का अविषय) आकाश में भी अविवेकी लोग तल (अधोलम्बमानता अनूर्ध्वता), मलिनता आदि का जहाँ अध्यास करते हैं, वहाँ आलोकाकार नेत्रवृत्ति से व्यक्तसाक्षिभास्य बहिरिन्द्रिय से अप्रत्यक्ष आकाश में भी अध्यास होता है ॥ ६ ॥

एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माऽध्यासः। तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवं सति यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते ॥ ७ ॥

इस पूर्वोक्त रीति से अन्तरात्मा चेतन में भी अनात्मा अन्तःकरणादि का अध्यास अविरुद्ध है। अन्य अनेक अध्यास हैं, परन्तु वे अनर्थ के कारण नहीं हैं। आत्मा में अनात्मा को जो उक्त लक्षणवाले ये प्रसिद्ध अध्यास हैं, उन्हें पण्डित लोग अनर्थ का हेतु अविद्या मानते हैं, क्योंकि ये अविद्याजन्य प्रवाहरूप हैं और विद्या से निवृत्त होते हैं, इससे भी अविद्या रूप हैं और उस मिथ्या अध्यस्त वस्तु से विवेक करके सत्यात्म वस्तु के स्वरूप का अध्यास के अधिष्ठान के अवधारण (निश्चयात्मक ज्ञान) को पण्डित लोग विद्या कहते हैं। स्वरूपनिष्ठ वह विद्या अनादि अध्यास को भी नष्ट कर देती है। इस प्रकार अनर्थ रूप अविद्या के अध्यासात्मक होने से स्वरूपावधारण

होने पर उसकी निवृत्ति से जहाँ जिसका अध्यास रहता है, वह अध्यासाश्रय अध्यस्त के गुण वा दोष से फिर अणुमात्र भी नहीं सम्बद्ध होता है। अर्थात् अध्यासकाल में भी अध्यस्त के मिथ्या होने से अध्यस्त गुण दोष का अधिष्ठान में वस्तुतः संबन्ध नहीं रहता है, परन्तु भासता है। विवेकपूर्वक अवधारण होने पर भासना भी निवृत्त हो जाता है इससे अन्तःकरणादि के दोष शोकादि से चिदात्मा नहीं सम्बद्ध होता और न चिदात्मा के आनन्दादि से अन्तःकरणादि सम्बद्ध होते हैं। इत्यादि ॥ ७ ॥

तमेतमविद्याऽऽख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय-व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः। सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्ष-पराणि। कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति ॥८॥

पूर्व वर्णित इस प्रत्यक्ष अविद्या नामक आत्मा और अनात्मा के परस्पर अध्यास को कारण रूप से आगे करके लौकिक और वैदिक प्रमाण प्रमेय के व्यवहार सब प्रवृत्त (सिद्ध) हुए हैं, अर्थात् तव-ममादि शब्द प्रयोग रूप पूर्वोक्त व्यवहार के समान दर्शन, श्रवण, ग्रहण त्यागादि रूप प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता के व्यवहार सब भी अध्यास से ही आत्मा में भासते हैं। तथा विधि-निषेध और मोक्ष परक (बोधक) सब शास्त्र भी अध्यासपूर्वक ही प्रवृत्त हुए हैं। यहाँ शंका होती है कि अन्य व्यवहार अविद्यावद् विषयक हो सकते हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्यायुक्त आत्मविषयक कैसे हो सकते हैं, यथार्थ ज्ञान के जनक को प्रमाण कहा जाता है, और यथार्थ ज्ञान रूप प्रमा से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, किसी प्रकार कल्पित व्यावहारिक प्रमाणता होने से सत्य-प्रमाणता रहित प्रत्यक्षादि प्रमाण में अविद्यावद्विषयकत्व होने पर भी पुरुष के हित के लिये धर्मादि के बोधक शास्त्र कैसे अविद्याश्रय आत्मविषयक हैं और अविद्यावाला आत्मा जिनका आश्रय विषय हैं ऐसे प्रत्यक्षादि प्रमाण कैसे कहा सकते हैं, और शास्त्र कैसे कहा सकते हैं। क्योंकि अविद्या के नाशक प्रमाण और शास्त्र कहाते हैं ॥ ८ ।

उच्यते—देहेन्द्रियादिष्वहं ममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वाऽनुपपत्तौ प्रमाण-प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति। न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते। न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति, असङ्गस्यात्मनः प्रमातृ-त्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मादविद्यावद्विष-याण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ॥ ९ ॥

उत्तर दिया जाता है कि देह और इन्द्रियादि में अध्यासजन्य अहं (मैं), मम (मेरा) इस प्रकार आत्मत्व और आत्मसम्बन्धित्व का व्यवहार जाग्रत और स्वप्नकाल में होता है। अभिमान के अभाव से सुषुप्ति आदि में व्यवहार नहीं होता, क्योंकि देहादि में अहं, ममादि अभिमान रहित को प्रमाता रूपता को असिद्धि होने पर प्रमाण, की भी असिद्धि से प्रमाण मूलक व्यवहार नहीं सिद्ध हो सकता है और प्रमातृत्व की सिद्धि होने ही पर वह प्रमाता रूप कर्ता इन्द्रियादि रूप कारण को आत्मसम्बन्धिरूप

से ग्रहण करके व्यवहार में प्रवृत्त होता है, क्योंकि इन्द्रियादि रूप प्रमाकरणों को ग्रहण किये बिना प्रत्यक्षानुमिति आदि रूप व्यवहार हो नहीं सकते हैं, और अधिष्ठान (आत्मरूप से कल्पित देहरूप आश्रय) तथा आत्मा के बिना इन्द्रियों के व्यापार दर्शनादि नहीं हो सकते हैं, क्योंकि कर्ता के बिना करणों के व्यापार नहीं बन सकते, और इन्द्रियों के आश्रय देह से भी उसमें अध्यस्त आत्मता के बिना कोई भी व्यापार में नहीं प्रवृत्त होता है, आत्मता के अध्यास रहित अन्य के देह से स्वदेह के समान व्यवहार नहीं करता है। इससे इन सब अध्यासों के नहीं रहने पर असङ्ग सत्यात्मा को प्रमातृत्व नहीं बन सकता, और प्रमातृत्व के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रमाता की प्रेरणा से विषय में प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार आत्मानात्मा के परस्पर अध्यास जन्य होने से प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र भी अविद्या वाला प्रमाता के आश्रित हैं और सर्वाधिष्ठानात्मा में भी अज्ञान से ही कल्पित है। आत्मा को प्रमाणों की जरूरत नहीं है, वह स्वयं प्रकाश साक्षिमात्र हैं ॥ ९ ॥

पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते अनुकूले प्रवर्तन्ते। यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति। एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः ॥ १० ॥

जिज्ञासा हुई कि किसी अज्ञ का व्यवहार अध्यासजन्य हो सकता है, परन्तु प्रमाणादि का व्यवहार तो विद्वानों को भी होता है, वह कैसे अविद्यावद्विषयक हो सकता है, तब कहा जाता है कि विद्वान् अविद्वान् सब मनुष्यों के व्यवहार पशु आदि के समान ही अध्यासजन्य होते हैं, इससे व्यवहार में पशु आदि से अविशेषता (तुल्यता) से विद्वान् का व्यवहार भी अध्यासजन्य है, क्योंकि जैसे शब्दादि के साथ श्रोत्रादि इन्द्रियों के सम्बन्ध होने पर और शब्दादिज्ञान के प्रतिकूल होने पर पशु आदि भी उससे निवृत्त हो जाते हैं, और अनुकूलज्ञान होने पर प्रवृत्त होते हैं। जैसे कि हाथ में दण्ड उठाये हुए पुरुष को सामने देखकर यह मुझे मारना चाहता है, ऐसा समझ कर वहाँ से पशु भागने लगते हैं। और हरी घास से पूर्ण हाथ वाले को देखकर उसके सन्मुख पास में जाते हैं। इसी प्रकार शब्दादि के अर्थज्ञ विवेकी पुरुष भी क्रूर दृष्टि वाले विरुद्ध वक्ता खड्गधारी बली को देखकर उससे निवृत्त होते हैं और उससे विपरीतों के प्रति प्रवृत होते हैं। इससे पुरुषों का प्रमाणप्रमेय सम्बन्धी व्यवहार पशु आदि के तुल्य ही है ॥ १० ॥

पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्य-दर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति

निश्चीयते। शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसम्बन्धमधिक्रियते तथापि न वेदान्तवेद्यमशनायाद्यतीतमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च।

पशु आदि का प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेकपूर्वक (अविवेकहेतुक) प्रसिद्ध ही है। उसकी तुल्यता को देखने से निश्चय किया जाता है कि विवेकी पुरुषों का भी अध्यासकालिक व्यवहार पशु आदि के तुल्य ही होता है, लौकिक व्यवहार-काल में पशु आदि के समान ही 'मैं' 'मेरी'-बुद्धिपुर्वपूर्वक विद्वान् का भी व्यवहार होता है। शास्त्रीय यज्ञदानादि व्यवहारकाल में तो बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाले विवेकी यद्यपि अपनी आत्मा के परलोक सम्बन्ध को समझे बिना कर्म में अधिकृत (प्रवृत्त) नहीं होते हैं। क्षणभङ्गुर देह से भिन्न आत्मा का शास्त्रादि से उन्हें परोक्ष ज्ञान रहता है। इससे वह व्यवहार अध्यासमूलक नहीं होना चाहिये, तथापि वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं रहता है। इससे आत्मा को कर्ता, भोक्ता तथा देह के धर्म वर्णाश्रमादियुक्त मानकर कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। इसमें कारण यह है कि वेदान्त से ज्ञेय भूख-पिपासादि-रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद से शून्य असंसारी (नित्यमुक्त, असंग) सत्यात्मा कर्माधिकार में अपेक्षित नहीं है, प्रत्युत असंसारी आत्मा और उसके ज्ञान के अधिकार में अनुपयोग (फलाभाव) और विरोध है। इसलिये सत्यात्मा के ज्ञान से रहित के प्रति ही कर्मकाण्डात्मक शास्त्र प्रवृत्त होता है। वेदान्त भी प्रमाता आदि भेददर्शी के प्रति ही प्रवृत्त होता है, परन्तु फिर भेदादिरहित निजस्वरूप में उसको स्थिर करता है, यह रहस्य है।

प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथा हि 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते। अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा पुत्रभार्य्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति, तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान् मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। एवमन्तःकरणधर्मान् कामसंकल्पविचिकित्साऽध्यवसायादीन्।

शंका होती है कि यदि वेदान्तवेद्य आत्मा अधिकार-विरोधी है, तो वह ज्ञान होने पर शास्त्र से विरोध करेगा, जिससे परस्पर विरोध द्वारा शास्त्र अप्रमाण होगा। उत्तर में कहा जाता है कि क्षुधादिरहित पूर्ववर्णित आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान से प्रथम-प्रवर्तमान-शास्त्र अविद्यावद्विषयता को नहीं त्यागता, बल्कि प्रमाण ही रहता है, और शास्त्र भी अध्यास में प्रमाण हो जाता है। वह इस प्रकार होता है कि 'ब्राह्मण यज्ञ करे' (ब्राह्मणो यजेत), गृहस्थ अपने सदृश स्त्री को प्राप्त करे' (गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत), 'काले केशवाला अग्नियों को धारण करे' (कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत), 'आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे' (अष्टवर्ष

ब्राह्मणमुपनयीत) इत्यादि शास्त्रवचन सब वर्ण, आश्रम, आयु, अवस्था आदि रूप देहधर्मविशेष का जो आत्मा में अध्यास है उनका आश्रयण करके ही प्रवृत्त होते हैं। (वर्णादियुक्त से भिन्न आत्मा में) वर्णादि की बुद्धि (ज्ञान) अध्यास है। यह प्रथम कहा गया है। इस अध्यास के ये उदाहरण हैं कि पुत्र, स्त्री आदि के विकल-सकल (दुखी-सुखी) आदि रहने पर उन बाह्य वस्तु पुत्रादि के धर्मों को मनुष्य आत्मा में अध्यास करता है कि मैं ही विकल (अपूर्ण, दुखी) और मैं ही सकल (सर्वाङ्गपूर्ण) हूँ। यहाँ पुत्रादि की देहों को अपनी देह के साथ अभेदाध्यास-पूर्वक परंपरा से उनके देह-धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है। इसी प्रकार अपनी देह के स्थूलत्व, कृशत्व, गौरत्व स्थिति, गति, लंघनादि धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है कि मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, गौर हूँ, खड़ा हूँ, चलता हूँ, लाँघता हूँ इत्यादि; वैसे ही इन्द्रियों के मूकत्व, काणत्व, क्लीबत्व, बधिरत्व और अन्धत्वादि धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है कि मैं मूक, काण, नपुंसक, बधिर, अन्ध आदि हूँ। इसी प्रकार अन्तःकरण के धर्म-काम, संकल्प, संशय, निश्चयादि का अध्यास करता है कि मैं कामी, संकल्पवाला, संशय-युक्त और निश्चय वाला हूँ इत्यादि; क्योंकि स्थूलत्वादि और काणत्वादि तो देह और इन्द्रियों के धर्म प्रत्यक्ष ही हैं। कामादि भी 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इत्यादि श्रुति-अनुभव के अनुसार मन के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं॥ १२॥

एवमहं प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

इस पूर्ववर्णित रीति से 'अहम्' (मैं) इस वृत्तिरूप ज्ञान के आश्रय अन्तःकरण का अन्तःकरण के सब प्रचार (प्रवृत्ति-वृत्ति) के साक्षी प्रत्यगात्मा में अध्यास (आरोप) करके फिर उससे विपरीत रूप से उस प्रत्यगात्मा सर्वसाक्षी का अन्तःकरणादि में लोग अध्यास करते है। इस प्रकार यह मिथ्या (भ्रम) ज्ञानरूप और प्रवाह तथा कारणरूप अनादि और आत्मानुभव के विना अन्त (नाश) रहित-अनन्त अतएव नैसर्गिक (स्वाभाविक) अविद्यारूप स्वभावजन्य यह अध्यास (भ्रम) है। वही कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप संसार का प्रवर्तक (हेतु) है, जो सब लोगों को प्रत्यक्ष है। भ्रमयुक्त संसार सबको साक्षीस्वरूप आत्मा से अनुभूत है। इसके ज्ञान के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इन अनर्थ के हेतु अध्यास की निवृत्ति के लिये और उस निवृत्ति के हेतु आत्मा की एकता के ज्ञान की प्राप्ति (सिद्धि) के लिये ही सब वेदान्त

(उपनिषद्) आरब्ध हुए हैं। यद्यपि वेदान्त में उपासनाओं का भी वर्णन है, तथापि उन सब वेदान्तों का भी जिस प्रकार एकात्मज्ञानरूप ही प्रयोजन है, उसे हम इस शारीरकमीमांसा में प्रदर्शित करेंगे। शरीरक (निन्दित देहनिवासी) जीव शारीरक है, उसकी ब्रह्मरूप से मीमांसा (पूजित विचार) शारीरक मीमांसा है ॥ १३ ॥

जिज्ञासाधिकरण (१)

अविचार्यं विचार्यं वा ब्रह्माऽध्यासानिरूपणात्।
असन्देहाऽफलत्वाभ्यां न विचारं तदर्हति ॥ १ ॥
अध्यासोऽहं बुद्धिसिद्धोऽसङ्गं ब्रह्म श्रुतीरितम्।
सन्देहान्मुक्तिभावाच्च विचार्यं ब्रह्म वेदतः ॥ २ ॥

ब्रह्म विचार के योग्य है या नहीं। अर्थात् ब्रह्मविचारात्मक शास्त्र कर्तव्य है या नहीं, ऐसी शंका होने पर पूर्वपक्ष होता है कि यदि अज्ञानजन्य अध्यास का सम्भव हो तो अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक अध्यास की निवृत्ति के लिए शास्त्र का आरम्भ हो सकता था; परन्तु मैं कहता हूँ, मैं देह नहीं, मेरी देह है इत्यादि विवेकपूर्वक ज्ञान होने से अध्यास का निरूपण नहीं हो सकता। इस कारण से ही आत्मा में संशय का अभाव है, मैं हूँ कि नहीं हूँ ऐसा संशय किसी को नहीं है कि जिसकी निवृत्ति के लिये विचार करे और इसीलिए शास्त्रारम्भ का कोई फल नहीं है, क्योंकि मैं हूँ ऐसा ज्ञान सबको है, और वह 'मैं' ज्ञान का विषय आत्मा ही तो ब्रह्म है और उस ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है, इससे ब्रह्मज्ञान के लिये विचार करना योग्य नहीं है ॥ १ ॥

उत्तर है कि यद्यपि मैं देह नहीं हूँ इत्यादि परोक्ष ज्ञान किसी को होता है, परन्तु 'स्थूलोऽहं' 'कृशोऽहं' इत्यादि वर्णित रीति से अविवेक अज्ञानपूर्वक अध्यास प्रत्यक्ष-सिद्ध है। यदि कहा जाय कि देह में ब्रह्मात्मा का सम्बन्ध है, इससे 'स्थूलोऽहं' इत्यादि गौण व्यवहार होता है, अध्यास नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मात्मा असङ्ग है ऐसा श्रुतियों में कहा गया है। इससे अध्यास के बिना देहेन्द्रियान्तःकरणादि के साथ आत्मसम्बन्ध की प्रतीति भी नहीं हो सकती और इस सम्बन्धाध्यास से ही आत्मा में ब्रह्मभिन्नत्वाभिन्नत्व, नित्यत्वाऽनित्यत्व, एकत्वानेकत्वादि का संशय होता है और अज्ञान, अध्यास, संशयादि की ज्ञानद्वारा निवृत्ति से मुक्तिरूप फल होता है। इससे वेदादि द्वारा ब्रह्मविचार कर्त्तव्य है और विचारात्मक शास्त्र का आरम्भ उचित है ॥ २ ॥

वेदान्तमीमांसा-शास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

जिसका व्याख्यान करना चाहते हैं, उस वेदान्तमीमांसा नामक शास्त्र का यह प्रथम सूत्र है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। प्रतिज्ञायुक्त इस सूत्रप्रदर्शन से भाष्यकार ने पूर्वमीमांसा से इस शास्त्र की सर्वथा भिन्नता का और सफलता का तथा विषयादि का प्रदर्शन कराया है। सूत्र का संक्षिप्तार्थ है—

'यतः तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन (बृ० ४।४।२२) तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति (बृ० ४।४।२३) इत्यादिश्रुतिप्रोक्तप्रणालिकया यज्ञादिभिः शुद्धे चेतसि ब्राह्मणादीनामधिकारिपुरुषाणां ब्रह्मजिज्ञासा भवति। किञ्च तमात्मानं ज्ञात्वैव पापात्मकेन बन्धनप्रदेन कर्मणा न लिप्यते। तस्मादेवं विवेकादिवान् पुरुषः शमादियुक्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा निजबुद्धावेवात्मानं सर्वमात्मस्वरूपमेव पश्यति, अतश्चेतसः शुद्धिं विधाय शमादिकं सम्पाद्य कर्मफलानित्यत्वं ज्ञानफलस्य नित्यत्वं च निश्चित्य अथ तदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या, तया विचारं सम्पाद्य ज्ञानं लब्ध्वा ब्रह्मात्मना स्थातव्यमित्यादि ॥

——जिससे 'तमेतम्' और 'तं विदित्वा' इत्यादि श्रुतिकथित प्रणाली (प्रवाह-परंपरा) से यज्ञादि द्वारा शुद्ध चित्त में ब्राह्मणादि अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मज्ञान की इच्छा होती है और उस ब्रह्मात्मा को जानकर ही पापात्मक बन्धप्रद कर्म से मनुष्य लिप्त नहीं होता है, जिससे ऐसा विवेकादि वाला पुरुष शम-दमादियुक्त, उपरत, तितिक्षु, समाहित होकर अपनी बुद्धि में आत्मा को सर्वात्मस्वरूप देखता है और चित्तशुद्धि द्वारा शमादि का सम्पादन करके कर्मफल की अनित्यता और ज्ञानफल की नित्यता का निश्चय करके विरागपूर्वक ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य है, उससे विचार का संपादन करके मोक्ष के लिये ब्रह्मनिष्ठ होना उचित है। इसलिये 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि शास्त्र का आरम्भ किया जाता है। यह अन्य शास्त्र से साध्य नहीं है, इससे शास्त्रारम्भ सफल कर्त्तव्य है।

अत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्। मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तरप्रयुक्तो ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याऽव्यतिरेकात्।

सूत्र के अथ, अतः, ब्रह्मजिज्ञासा, इन तीनों पदों में से प्रथम पठित अथ शब्द आनन्तर्य (अनन्तरता) अर्थ वाला परिगृहीत हुआ है और माना गया है। शंका हुई कि 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ' इस अमरकोश में मंगल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न और पूर्णता, अर्थ में 'अथ' शब्द कहा गया है, और 'अथ शब्दानुशासनम्,' 'अथ योगानुशासनम्' इत्यादि स्थान में आरम्भ अर्थ में 'अथ' शब्द देखा जाता है, तथा यहाँ भी जिज्ञासा शब्द को विचार अर्थ में रूढादि मानकर कोई 'अथ' शब्द को अधिकारार्थक कहते हैं, तो इसको अधिकारार्थक क्यों नहीं माना जाता इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि यह 'अथ' शब्द अधिकार अर्थ वाला नहीं, क्योंकि जिज्ञासा शब्द की विचारार्थता में कोई हेतु नहीं है। 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इत्यादि वाक्य में भी विजिज्ञासा शब्द का विशेष ज्ञान की इच्छा ही अर्थ है और वाच्यार्थ का अन्वय हो सकने पर लक्षणा की जरूरत नहीं है, इत्यादि। सूचनार्थक सूत्र होता

है। इससे विचार की भी सूचना होती है, परन्तु वाच्यार्थजिज्ञासा अधिकार के योग्य नहीं है। इसी से 'अथ' शब्द मङ्गलार्थक भी नहीं है, और मंगल भी यहाँ 'अथ' शब्द का वाच्य वा लक्ष्य अर्थ नहीं है; क्योंकि शब्द का वह अर्थ वस्तुतः होता है कि जिसका कर्ता-कर्म-करणादि रूप से वाक्यार्थ में अन्वय (सम्बन्ध) हो सके, और मंगल के वाक्यार्थ में सम्बन्ध का अभाव है इससे अन्य अर्थ में (अन्तरार्थ में) ही उच्चारित (पठित) 'अथ' शब्द श्रवण मात्र से मंगल फलवाला होता है। यदि कहा जाय कि पूर्वप्रकृत (प्रारब्ध) की अपेक्षारूप विकल्प अर्थ में भी अथ शब्द होता है, जैसे कहा जाता है कि 'प्रपञ्चो मिथ्याऽस्ति, अथ (अथवा) सत्योऽस्ति' यहाँ पूर्व की अपेक्षा दूसरा अर्थ अथ शब्द का है, तो उत्तर है कि फलस्वरूप में प्रकृतापेक्षा आनन्तर्य से भिन्न नहीं है, क्योंकि प्रकृतापेक्षा में भी मिथ्यात्व के बाद सत्यत्व की प्रतीति होती है और आनन्तर्य में विवेकादि के बाद जिज्ञासा प्रतीत होती है, परन्तु एक वस्तु में पक्षान्तर के कथन से वहाँ विकल्प भासता है, आनन्तर्यार्थ में विकल्प नहीं रहता है यह भेद है।

सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाऽध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मज्जिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम् [1]स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्। नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः। न, धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताऽधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च।

पूर्ववर्णित रीति से अथ शब्द की आनन्तर्यार्थकता की सिद्धि होने पर, जैसे धर्ममीमांसा अपने पूर्वसिद्ध वेदाऽध्ययन की नियम से अपेक्षा करती है, क्योंकि वेदाऽध्ययन ही उसका विशेष पुष्कल कारण है, वैसे ही ब्रह्ममीमांसा भी जिस पूर्वसिद्ध की नियम से अपेक्षा करती है वह वक्तव्य है, इसलिये उसे कहना चाहिये। ब्रह्मजिज्ञासा से नियमपूर्वक पूर्वापेक्षित वेदाऽध्ययन नहीं हो सकता, वह ब्रह्ममीमांसा का समान कारण है—विशेष नहीं। धर्म के समान ब्रह्म भी वेद का अर्थ है, उसकी पूर्वमीमांसा बन ही चुकी थी। यदि इससे कुछ अधिक अर्थ नहीं कहना हो तो शास्त्र व्यर्थ होगा। शंका होती है कि ब्रह्ममीमांसा में पूर्वमामांसाजनित कर्मज्ञान की अनन्तरता विशेष है। क्योंकि कर्मावबोध के बाद यज्ञदानादि से शुद्धान्तःकरण वाला ही सफल ब्रह्ममीमांसा कर सकता है। उत्तर है कि जन्मान्तरकृत यज्ञादि और भक्ति आदि से शुद्ध अन्तःकरण वाले हजारों न्यायादियुक्त धर्ममीमांसा से प्रथम भी वेदान्त के अध्ययन वालों को ब्रह्मजिज्ञासा की सिद्धि हो सकती है। पशुयाग में 'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः' — (तैत्ति० सं०, शतपथ) इत्यादि वचनों से जैसे अवदानों (हृदयादि खण्डनों)

१. यहाँ स्वाध्याय शब्द अध्ययन अर्थ में लाक्षणिक है।

की अनन्तरता का नियम है, क्योंकि एक कर्मकर्ता क्रमनियम के बिना अनेक कर्म कर नहीं सकता है, इससे अवदानों में क्रम विवक्षित है, उसी प्रकार यहाँ धर्म ब्रह्ममीमांसा में क्रम विवक्षित नहीं है, क्योंकि दोनों के कर्ता एक काल में एक नहीं प्राप्त हैं, न इन दोनों मीमांसाओं को शेषशेषित्व (अङ्गाङ्गित्व) में या अधिकृताधिकार में ही कोई प्रमाण है कि जिससे क्रम हो सके।

भाव यह है कि—दर्श और पौर्णमास नामक याग में, समिधो यजति, इडा यजति, बर्हिर्यजति, तनूनपातं यजति, स्वाहाकारं यजति, इन वचनों से पाँच प्रयाज नामक अङ्गरूप यज्ञ विहित हैं, दर्श तथा पौर्णमास प्रधान (अङ्गी) हैं और इनके प्रयोग (क्रिया) विधायक वचन अङ्ग और प्रधान सब कर्म में एक पुरुष से कर्तव्यता का विधान करते हैं। इससे नियत क्रम बिना एक मनुष्य इन्हें कर नहीं सकता, अतः श्रुतिपाठादि के अनुसार क्रम सिद्ध होता है। 'दर्शपौर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' इस वचन से दर्श पूर्णमास में अधिकृत (अधिकारयुक्त) को सोमयाग में अधिकार कहा गया है। क्योंकि प्रथम दर्श पौर्णमास करके सोमयाग किया जाता है, अतः दर्शपूर्णमास में अधिकृत का ही सोमयाग में अधिकार होने से नियत क्रम होता है, यह कोई बात धर्मब्रह्ममीमांसा में नहीं है, धर्ममीमांसा ब्रह्ममीमांसा का अङ्ग नहीं है, न धर्ममीमांसा का अधिकारी ही ब्रह्ममीमांसा का अधिकारी हो ऐसा नियम है, क्योंकि इसमें श्रुति आदि कोई प्रमाण नहीं है। अङ्गाङ्गिभाव, अधिकृताधिकार नहीं होने पर भी फल और जिज्ञास्य (विचार का विषय) एक होता तो नियत क्रम हो सकता था जैसे कि स्वर्गार्थक आग्नेयादि छः यागों का और पूर्वमीमांसा के द्वादशाध्यायों का फल स्वर्ग और जिज्ञास्य धर्म एक-एक है, इससे उनका नियत क्रम भी है। धर्मब्रह्ममीमांसा के फल और जिज्ञास्य वस्तु में भेद है, इससे क्रम नहीं है।

अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्। भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्मजिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। [1]चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसन्निकर्षेणार्थावबोधे तद्वत्।

अभ्युदय (स्वर्गादि) रूप फल वाले धर्म का ज्ञान होता है, और वह फल धर्मरूप कर्म के अनुष्ठान (आचरण) की अपेक्षा करता है, धर्म के ज्ञानमात्र से नहीं सिद्ध होता है। उससे विलक्षण मोक्षफलवाला ब्रह्मविज्ञान है। वह अपने स्वरूप से

१. यहाँ भामती, रत्नप्रभा में चोदना शब्द का उपदेशमात्र अर्थ किया गया है। इससे 'चोदनाऽजन्यत्वात्' पाठ समझ कर विधिअजन्यत्वादि अर्थ उचित नहीं है, अन्यथा ब्रह्म चोदना शब्द का अर्थ अयुक्त होता।

अतिरिक्त अनुष्ठान की अपेक्षा मोक्षरूप फल के लिये नहीं करता, स्वयं मोक्ष देता है। यह फल का भेद है। जिज्ञास्य का भेद है कि धर्ममीमांसा का जिज्ञास्य भव्यक्रिया द्वारा साध्य भावी धर्मजिज्ञासाजन्य ज्ञानकाल में नहीं रहता, क्योंकि वह पुरुष के अधीन है, प्रमाण के अधीन नहीं है, न नित्य है। ब्रह्ममीमांसा में तो भूत (नित्यसिद्ध) स्वयंप्रकाश सत्य ब्रह्म जिज्ञास्य है, अतः नित्य होने से ब्रह्म पुरुष के व्यापार के अधीन नहीं है। इन उक्त हेतुओं से जिज्ञास्य-भेद है ही। अज्ञात तत्त्वों के बोधक वैदिक शब्द प्रमाणरूप जो चोदना उसकी प्रवृत्ति में भेद से भी जिज्ञास्य में भेद सिद्ध होता है, क्योंकि धर्म के लक्षण रूप जो वैदिक शब्द हैं सो अपने विषय (बोध्य) धर्म में पुरुष को प्रवृत्त करते हुए—प्रेरणा करते हुए ही धर्म का बोध कराते हैं। ब्रह्म के बोधक शब्द तो केवल पुरुष को ब्रह्मबोध (ज्ञान) ही कराते हैं, और ब्रह्म-बोध के शब्दप्रमाणजन्य होने से प्रेरणाजन्य नहीं होने से उस अवबोध (ज्ञान) में भी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं कराई जाती है, अर्थात् प्रमाणजन्य ज्ञान होता है प्रेरणा-जन्य नहीं, इससे पुरुष बोध में नियुक्त, प्रवृत्त नहीं किया जाता है, जैसे कि इन्द्रिय और उसके विषयरूप पदार्थ के सम्बन्ध से जन्यज्ञान में प्रवृत्ति नहीं कराई जाती है, सम्बन्ध के बाद नेत्ररूप प्रमाण से प्रेरणा बिना ही ज्ञान होता है, वैसे ही शब्द की शक्ति ज्ञानादियुक्त पुरुष को शब्दज्ञान के बाद प्रेरणा के बिना ही ज्ञान होता है इत्यादि।

तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति। उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्मजिज्ञासितुं ज्ञातुं च न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते।

उक्त रीति से अथ शब्द के आनन्तर्यार्थक सिद्ध होने पर और धर्मावबोधादि से अनन्तरता नहीं बन सकने पर कुछ ऐसा विशेष साधन कहना चाहिये कि जिसके अनन्तर रूप से ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश सूत्रकार ने दिया है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि नित्य आत्मवस्तु और अनित्य अनात्मवस्तु का पृथक् निश्चयरूप विवेक एक साधन है। उसके बाद अनित्य लौकिक पारलौकिक अर्थ (विषयादि) और भोगों में विराग दूसरा साधन है। शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति, तितिक्षा, की सम्पत्ति (प्राप्ति) तीसरा साधन है। उसके बाद उत्कट मोक्षेच्छा चतुर्थ साधन है। इन सब साधनों के रहने पर धर्मजिज्ञासा से प्रथम और उसके पीछे भी ब्रह्मजिज्ञासा (विचार) की जा सकती है, और ब्रह्मको समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं। इन साधनों के बिना जिज्ञासा सफल नहीं हो सकती है, न ज्ञान हो सकता है, जिससे अथ शब्द द्वारा पूर्वोक्त साधनप्राप्ति से अनन्तरता का उपदेश दिया जाता है। विषयों से मन के निरोध को शम, इन्द्रियनिरोध को दम, गुरु आदि में विश्वास को श्रद्धा, मन की स्थिति को समाधान, कर्मादि से उपरामता को उपरति, सहनशीलता को तितिक्षा कहते हैं।

अत: शब्दो हेत्वर्थ:। यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेय:साधनानामनित्यफलतां दर्शयति–'तद्यथेह कर्मचितो लोक: क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोक: क्षीयते' (छा० ८।१।६) इत्यादि:। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति-'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि: (तैत्ति० २।१)। तस्माद्यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यत:' इति।

सूत्रगत अत: शब्द हेतुवाचक है, हेतु यह है कि जिससे वेद ही लौकिक पारलौकिक श्रेय: (शुभ) के साधन अग्निहोत्रादि की अनित्यफलता (विनश्वरफल वाला) दर्शाते (समझाते) हैं कि इस मनुष्यलोक में जैसे कर्मों से साधित लोक (भोगों के साधन) नष्ट हो जाते हैं वैसे ही परलोक में होने वाले पुण्य-साधित लोक भी नष्ट होते हैं (अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। ऋग्० अष्टक ६।अ०४।व० ५ मंडल ८ अनु० ६ सू० ४८) सोम पिया, अमृत हो गये, ज्योति: (स्वर्ग) पाये, देवों को समझा, इत्यादि वचन स्तुतिरूप हैं। इसी प्रकार ब्रह्मविज्ञान से परपुरुषार्थ (मोक्ष) वेद दर्शाते हैं कि ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त करता है, इत्यादि। इस कारण से पूर्वोक्त साधन की प्राप्ति के बाद जिज्ञासा कर्तव्य है, ब्रह्म वह है, जिसका 'जन्माद्यस्य यत:' इस सूत्र से लक्षण करना है।

अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम्। ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासाया:, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च। ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुद्ध्यते सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्। एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मण: कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थ: प्रयास: स्यात्।

यद्यपि ब्रह्मशब्द ब्रह्मा, ब्राह्मणत्व, तप, वेद, ऋत्विग्विशेषादि अर्थ में अन्यत्र पढ़ा जाता है, परन्तु यहाँ जगत्कारणत्व के अन्य में असंभव से ही ब्रह्म शब्द के जाति आदि अन्य अर्थ की शंका नहीं करनी चाहिये। और (ब्रह्मणो जिज्ञासा) इस विग्रह-वाक्य में ब्रह्मण:, इस पद की षष्ठी विभक्ति 'कर्तृकर्मणो: कृति' इस सूत्र से कर्मार्थ में है। 'शेषे' इस सूत्र से शेष (सम्बन्धसामान्य) अर्थ में नहीं है, क्योंकि जिज्ञासा-रूप क्रिया को कर्मरूपजिज्ञास्य की अपेक्षा है, वह ब्रह्म ही है, क्योंकि दूसरे जिज्ञास्य का यहाँ निर्देश (कथन) नहीं किया गया है। शंका होती है कि शेष अर्थ में यहाँ षष्ठी मानने पर भी ब्रह्म का जिज्ञासाकर्मत्व से विरोध नहीं होता है, क्योंकि सम्बन्ध सामान्य विशेष सम्बन्ध में रहता है, तत्तत् विशेष मिलकर ही सामान्य कहलाता है। उत्तर है कि ऐसा होने पर भी प्रत्यक्ष ब्रह्म की कर्मता को त्याग कर सामान्य सम्बन्ध द्वारा परोक्षब्रह्म की कर्मता की कल्पना करने वाले का व्यर्थ प्रयास (श्रम), होगा। इससे कर्मषष्ठी मानना उचित है।

न व्यर्थ:, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेन्न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्। तस्मिन्

प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक् सूत्रयितव्यानि। यथा राजाऽसौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति तद्वत्। श्रुत्यनुगमाच्च। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म' इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद् 'ब्रह्मण' इति कर्मणि षष्ठी।

यदि कोई कहे कि शेषषष्ठी के लिये प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध सामान्य से ब्रह्म और ब्रह्म सम्बन्धी लक्षण, प्रमाण, युक्ति, ज्ञान, साधन, फल इन सबका ज्ञान होता है, इसी से इन सबके विचारों की भी प्रतिज्ञा हो जाती है; अन्यथा नहीं होती। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रधान ब्रह्म की जिज्ञासा को कर्मरूप से ग्रहण करने पर, उस ब्रह्म और उसकी जिज्ञासा से अपेक्षितों (आकांक्षितों) का अर्थ (प्रयोजन) से आक्षेप होता है, इससे आक्षिप्त (गृहीत) हो जाते हैं। यहाँ ब्रह्म ही ज्ञान द्वारा प्राप्त करने के लिये इष्टतम (अत्यन्त अभिवांछित) है, इससे प्रधान है। उस प्रधान ब्रह्म के जिज्ञासा के कर्मरूप से परिगृहीत (स्वीकृत) होने पर जिन लक्षण प्रमाणादि को जिज्ञासा के बिना (जिन्हें समझे बिना) ब्रह्म जिज्ञासित (विचारित, ज्ञात) नहीं हो सकता, न उसकी जिज्ञासा ही हो सकती, वे सब अर्थात् आक्षिप्त ही हो जाते हैं, प्रयोजनवश उन सबका ग्रहण हो जाता है। इससे वे सब सूत्राक्षर द्वारा पृथक् बोधार्ह नहीं हैं। जिसके लिये शेषषष्ठी मानी जाय। लोक में जैसे यह राजा जाता है, ऐसा कहने पर परिवार (परिजन, रक्षकादि) सहित राजा का गमन कहा जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये और कर्म षष्ठी का श्रुति के साथ अनुगम (संगति, सम्बन्ध) भी है, क्योंकि जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, वह ब्रह्म है, इत्यादि अर्थ को कहने वाली श्रुतियाँ कहती हैं कि (तद्विजिज्ञासस्व) उसे जानने की इच्छा करो, वही सत्य ब्रह्म है, इस प्रकार ये श्रुतियाँ प्रत्यक्ष ही ब्रह्म को जिज्ञासा का कर्मरूप समझाती हैं, और उस श्रुतिकथित अर्थ को सूत्र में कर्मषष्ठी मानने पर सूत्र के साथ अनुगम (सम्बन्ध) होता है, श्रुति और सूत्र की एकवाक्यता हो जाती है, जिससे ब्रह्मणः इस पद में कर्मवाचक षष्ठी विभक्ति है।

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन् वाच्यायाः इच्छायाः कर्म, फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद्ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्।

जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं, और सर्वथा अज्ञात की इच्छा नहीं होती है। इससे वेदान्त के अध्ययनादि द्वारा सामान्य रूप से ब्रह्म का ज्ञान प्रथम रहता है। वह विशेष रूप से जिज्ञासा का हेतु होता है, इससे सामान्य ज्ञान जिज्ञासा का हेतु है, और अवगतिपर्यन्त (अपरोक्षब्रह्मानुभूति-प्राप्तिपर्यन्त) ज्ञान सन्प्रत्ययार्थ इच्छा का विषय है, क्योंकि इच्छा फलविषयक होती है, फलपर्यन्त उपाय को इच्छा विषय

करती है, केवल उपाय को नहीं, वृत्तिरूप ज्ञानात्मक प्रमाण से अवगत (आवरण-रहित अपरोक्ष प्राप्त) करने के लिये ब्रह्म अभिलषित है, क्योंकि ब्रह्म की अवगति (अनुभव, प्राप्ति) ही परमपुरुषार्थ (मोक्ष) है, जिससे ब्रह्मावगति से संपूर्ण संसार के कारण अविद्या आदि रूप अनर्थ का नाश होता है। अतः ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य है, अर्थात् अपरोक्षानुभव के लिये ब्रह्म का विचार अवश्य करना चाहिये।

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम्, सर्वज्ञम्, सर्वशक्तिसमन्वितम्। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्।

शंका उपस्थित होती है कि वह जिज्ञासायोग्य ब्रह्म प्रसिद्ध (ज्ञात) है, या अज्ञात है। यदि कहा जाय कि उपनिषदादि से ज्ञात है, तो अज्ञानादि अनर्थ के अभाव से जिज्ञासा की जरूरत नहीं है, यदि सर्वथा अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा नहीं का जा सकती है, सर्वथा अप्रसिद्ध का विचार नहीं बन सकता है। उत्तर दिया जाता है कि विचार से प्रथम भी वेदान्तादि से ब्रह्म सामान्यरूप से प्रसिद्ध है कि निर्गुण ब्रह्म, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-(ज्ञान) और मुक्त-स्वभाव (स्वरूप) वाला है, और सगुण ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तियुक्त है, व्याकरण से व्युत्पाद्यमान (साधित) ब्रह्मशब्द में वृद्धि अर्थ वाला 'वृह्' धातु के अर्थ के सम्बन्ध से उस ब्रह्म शब्द के नित्य शुद्धत्वादि अर्थ प्रतीत होते हैं, इससे भी ब्रह्म शब्द का अर्थ सामान्य रूप से प्रसिद्ध होता है जो कि तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद का अर्थ है।

सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न, तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे, मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता, भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्राविचार्य यत्किञ्चित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात् तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयस-प्रयोजना प्रस्तूयते ॥ १ ॥

ब्रह्म ही सब प्राणियों का सत्यात्मा सत्यस्वरूप है, इससे भी ब्रह्म की अस्तिता (सत्ता) प्रसिद्ध है। क्योंकि सभी प्राणी आत्मसत्ता को जानते हैं और सब को

अपनी सत्ता में विश्वास है। यदि आत्मसत्ता की प्रसिद्धि (ज्ञान) सबको नहीं होती, तो सब लोग 'मैं नहीं हूँ' ऐसा समझते ('मैं नहीं हूं' ऐसा ज्ञान सबको होता)। और जिस आत्मा को सब लोग 'मैं' इस प्रकार देहादि से अविवेकपूर्वक जानते हैं, वही विविक्त साक्षी स्वरूप आत्मा ब्रह्म है, यही (अयमात्मा ब्रह्म) इत्यादि श्रुतियाँ दर्शाती हैं। तात्पर्य को समझे बिना शंका होती है कि यदि आत्मा ही ब्रह्म है और वह लोक में आत्मस्वरूप से प्रसिद्ध है, श्रुति भी (तत्त्वमसि) वह ब्रह्म तुम हो इस प्रकार कहती है तो वेदान्तज्ञादि को आत्मारूप से ब्रह्म ज्ञात ही है, इससे फिर भी ब्रह्म में अजिज्ञास्यता प्राप्त होती है, इससे उसकी जिज्ञासा नहीं हो सकती इत्यादि। तब समाधान है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि विवेकादि के बिना सामान्य रूप से 'मैं हूँ' इत्यादि ज्ञान होने पर भी उस आत्मा के विशेष (नित्यत्व एकत्वादि) स्वरूप के ज्ञान बिना विप्रतिपत्ति (विरुद्ध अनेक प्रकार का ज्ञान) होती है, जिससे संशय होते हैं। अतः संशयों की निवृत्ति के लिए ब्रह्मात्मा की प्रसिद्धि रहते भी जिज्ञासा होती है और विचार कर्तव्य है इत्यादि। विप्रतिपत्तियाँ ये हैं कि प्राकृत (शास्त्रज्ञानरहित) देहाभिमानी जन, और लोकायतिक (चार्वाक) चार भूतों से रचित स्थूल देह ही आगन्तुक चैतन्ययुक्त आत्मा है, इस प्रकार के निश्चय वाले हैं। अन्य कोई देह को विनश्वर समझकर उससे भिन्न सूक्ष्म इन्द्रियों को ही चेतन और आत्मा कहते और समझते हैं, एक-एक देह में अनेकानेक इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हो सकती हैं, ऐसा समझ कर इन्द्रियों के स्वामी मन को कोई आत्मा कहते हैं, मन भी अन्तःकरण है, इससे उसका स्वामी क्षणिक-विज्ञानमात्र (बुद्धि) ही आत्मा है, इस प्रकार बुद्धमतानुयायी विशेष मानते हैं। सुषुप्तिमें बुद्धि का भी अभाव होता है, इससे सदा स्थायी शून्य ही आत्मा है, इस प्रकार शून्य-वादी कहते हैं। देहादिशून्यपर्यन्त से अन्य संसारी कर्त्ता भोक्ता आत्मा है यह न्याय वैशेषिक का सिद्धान्त है। केवल भोक्ता (भोग का अनुभवकर्ता) आत्मा है, कर्ता नहीं है, क्योंकि प्रकृति बुद्धि उसके भोगों को सिद्ध करने वाली है और वह प्रकृति स्वतन्त्र है, ईश्वर भी नहीं है, यह सांख्य का सिद्धान्त है। योग मत वाले कहते हैं कि प्रकृति के स्वतन्त्र होते भी प्रकृति और जीवात्मा से भिन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त, असंग, ईश्वर भी है। वह असंग ईश्वर भोक्ता जीव का सत्यात्मा है, ईश्वर और जीव में माया अविद्यादि उपाधिकृत भेद है, आत्मा में नहीं, यह अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है। इस प्रकार युक्ति और युक्त्याभास (असद्युक्ति) तथा वाक्य और वाक्याभासों के सम्यग् आश्रित हो कर बहुत लोग विरुद्ध सिद्धान्त समझने वाले हैं। विचार किये बिना उन विरुद्ध सिद्धान्तों में से किसी असत् सिद्धान्त को ही सत्य मानने वाला मोक्षमार्ग से पतित (नष्ट) हो जायेगा, और अनर्थ को प्राप्त होगा। यद्यपि सूत्र में 'विचार' पद नहीं है तथापि ब्रह्मजिज्ञासा के कथन द्वारा ही वेदान्तवाक्यों की मीमांसा (पूजित विचार) का आरम्भ किया जाता है, जो मीमांसा उससे अविरोधी तर्क रूप उपकरण (सहकारी कारण) वाली और मोक्षरूप प्रयोजन (फल) वाली है ॥ १ ॥

जन्माद्यधिकरण (२)

लक्षणं ब्रह्मणो नास्ति किं वास्ति नहि विद्यते ।
जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात् सत्यादेश्चाप्रसिद्धितः ॥ १ ॥
ब्रह्मनिष्ठं कारणत्वं स्याल्लक्ष्यं स्रग्भुजङ्गवत् ।
लौकिकानीव सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि ॥ २ ॥

अप्रसिद्धि आदि से संशय होता है कि ब्रह्म का लक्षण है कि नहीं है । पूर्वपक्ष है कि जन्मादि अन्य (जगत्) में है, और ब्रह्मनिष्ठ सत्यतादि प्रसिद्ध नहीं हैं, इससे जन्मादि वा सत्यत्वादि ब्रह्म के लक्षण नहीं हो सकते हैं । सिद्धान्त है कि जगत् कार्य से सिद्ध कारणत्व रूप धर्म लक्ष्य (ब्रह्म) स्वरूप होता हुआ ब्रह्म का लक्षण हो सकता है, क्योंकि वह ब्रह्म में कल्पित होने से ब्रह्म से भिन्न नहीं है जैसे कि माला में मिथ्या भासित सर्प माला रूप ही रहता है उसकी भिन्न सत्ता नहीं रहती है वैसे ही कारणत्व की भिन्न सता नहीं है, इससे लक्ष्य रूप होता हुआ लक्षण है, इससे स्वरूप लक्षण है । और लौकिक(प्रकृष्ट-प्रकाशश्चन्द्रः,इत्यादि लक्षणों में जैसे चन्द्रनिष्ठत्व रूप से प्रथम अप्रसिद्ध भी प्रकृष्टत्व प्रकाशत्वादि अनेक धर्म एक चन्द्रादि का बोध कराते हैं, वैसे ही कल्पित भेदयुक्त सत्यत्वादि अखण्ड एक ब्रह्म के लक्षण रूप से बोधक होते हैं । 'लक्ष्यं' के स्थानमें 'लक्ष्म' पाठ हो तो उसका लक्षण अर्थ है, भाव है कि जैसे माला का सर्प मिथ्या निश्चित होने पर स्वाश्रय माला का बोधक होता है, वैसे ही कारणत्व भी ब्रह्म का लक्षण होता है ॥ १–२ ॥

ब्रह्मजिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किं लक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मेत्यत आह भगवान् सूत्रकारः—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

उक्त रीति से ब्रह्म के सामान्य रूप से प्रसिद्ध तथा जिज्ञास्य होते हुए भी विशेष ज्ञान के लिए लक्षण वक्तव्य होता है । वहाँ ब्रह्म किस लक्षण वाला है, अर्थात् नित्यशुद्धत्वसत्यत्वादि अप्रसिद्ध होने से ब्रह्म के लक्षण नहीं हो सकते हैं, और जगत् के जन्मादि भी जगत् के धर्म होने से ब्रह्म के लक्षण नहीं हो सकते । ऐसी अपेक्षा होने पर भगवान् सूत्रकार कहते हैं कि—अस्य सर्वानुभवसिद्धस्य प्रत्यक्षस्य सावयवत्वदृश्यत्वादित्वात् सिद्धकार्यत्वस्यादभुतस्य जगतः कारणं विना ह्यसिद्धेर्यतः श्रुतिप्रसिद्धात्कारणात् जन्मादिकं भवति तद्ब्रह्म, तन्निष्ठं जगत्कर्तृत्वं तस्य लक्षणं सत्यानन्दादिकं च लक्षणं विद्यते तथा जगज्जन्मादि च कर्तारमनुमापयल्लक्षणत्वं प्रपद्यते । इस सर्वानुभवसिद्धप्रत्यक्ष सावयवत्वादि से सिद्ध कार्यत्व वाले अदभुत जगत् की कारण के बिना अत्यन्त असिद्धि से श्रुतिप्रसिद्ध, जिस कारण से इसके जन्मादि होते हैं, वह ब्रह्म है, उसमें जन्मादि कर्तृत्व ही उसका लक्षण है । तथा श्रुतिप्रसिद्ध सत्यत्वादिस्वरूप लक्षण हैं, और जगत् के जन्मादि भी कर्ता का अनुमान कराते हुए तटस्थ लक्षण हैं । स्वरूप होते जो धर्मादि सजातीय विजातीय से व्यावर्तक हों वे स्वरूप लक्षण कहाते हैं, लक्ष्य से अन्य होकर जो भेदक हों वे तटस्थ लक्षण होते हैं ।

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः। जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावद् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्यस्मिन् वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि, जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसम्भवात्।

जन्मादि इस सूत्र के प्रथम पद में बहुव्रीहि समास है। बहुव्रीहि समास में, समस्यमान पदों के अर्थ से अन्य पदार्थ प्रधान रहता है, और उसमें उच्चारित पदों के अर्थ गौण रूप से भासते हैं। उस बहुव्रीहि के तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान दो भेद होते हैं। जहाँ समासार्थरूप अन्य पदार्थ में गुणरूप से अवयवार्थ का भी सम्बन्ध हो वहाँ तद्गुणसंविज्ञान होता है, अन्यत्र अतद्गुणसंविज्ञान होता है। 'लम्बकर्णमानय' यहाँ कर्ण का भी गुणरूप से सम्बन्ध होता है, इससे लम्बे कानवाले का क्रिया में अन्वय होता है। 'दृष्टसागरमानय' यहाँ अतद्गुणसंविज्ञान है, इससे सागर का आनयन क्रिया में अन्वय नहीं होता है। 'लम्बौ कर्णौ यस्य, दृष्टः सागरो येन' ये समास के विग्रहवाक्य हैं। इसी प्रकार 'जन्म उत्पत्तिः, आदिर्यस्य' इस विग्रहार्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है। यहाँ जन्म और स्थिति तथा भंग (नाश) इन तीनों का समाहाररूप समूह अन्यपदार्थ समासार्थ है, उस समूह में गुणरूप से एकदेश रूप से, जन्म भी भासता है, इससे तद्गुणसंविज्ञान है। अर्थात् स्थिति और भंग के समान संसार का जन्म भी ब्रह्म का लक्षण है। स्थिति भंग की अपेक्षा जन्म के आदित्व (प्रथमत्व) का वर्णन श्रुतिनिर्देश (श्रुति की आज्ञा उच्चारण) और लोकवृत्त (लोकचरित्र) के अनुसार किया गया है। श्रुति का निर्देश है कि जिससे भूत उत्पन्न होते हैं, उसे ब्रह्म जानो। यहाँ से (यतो वा इमानि) इस वाक्य में जन्मस्थिति और प्रलय के क्रम दर्शन से तथा जन्म से प्राप्त सत्ता वाले धर्मी (पदार्थ) की स्थिति और प्रलय सम्भव है अन्यथा नहीं, इससे जन्म में आदिता (प्रथमता) का वर्णन उचित है।

अस्येति प्रत्यक्षादिसन्निधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्था। यत इति कारणनिर्देशः। अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः। अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्। यास्कपरिपठितानां तु ('जायतेऽस्ति' इत्यादीनाम्) ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले सम्भाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते।

सूत्रस्थ 'अस्य' इस पद में 'इदम्' इस प्रातिपदिक से प्रत्यक्ष-अनुमानादि द्वारा

सन्निधापित (सन्निधिप्राप्त-उपस्थित-बोधित) सर्व मूत-भौतिकपदार्थरूप जन्मादि धर्मों के धर्मी का निर्देश (कथन) किया गया है, और उस पद में षष्ठी विभक्ति जन्मादि धर्मों का धर्मी के साथ जो सम्बन्ध है उसे कहती है। 'यतः' इस पद से कारण का निर्देश (कथन) है, वाक्यार्थ है कि नाम रूप द्वारा विविध स्वरूप से व्यक्त अनेक कर्ता और भोक्ता से संयुक्त, तथा प्रतिनियत (व्यवस्थित) देश काल निमित्त हैं जिनके ऐसे क्रिया और फलों के आश्रय, या प्रतिनियत देशादि का आश्रय, देव-मनुष्यादि के मन से भी अचिन्त्य रचनास्वरूप इस जगत् के जन्म, स्थिति और भंग (नाश) जिस सर्वज्ञ और सर्वशक्तियुक्त कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है। जड़प्रकृति अल्पज्ञ जीव वा अन्य किसी से जगज्जन्मादि नहीं हो सकते हैं। 'तद्ब्रह्म' यह वाक्य का शेष (सूत्रार्थ के बोध के लिये अभ्याहृत अवयव) है। जन्म स्थिति भङ्ग से अन्य वृद्धि परिणाम और अपक्षयरूप भाव (वस्तु) विकारों का जन्मादि तीनों में ही अन्तर्भाव है, इससे जन्म स्थिति और नाश का ही यहाँ ग्रहण किया गया है। वृद्धि और परिणाम का जन्म में अन्तर्भाव है, अपक्षय का नाश में अन्तर्भाव है। यास्क मुनि से पढ़े (कहे) गये 'जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यति' इन जन्मादिकों का सूत्र में ग्रहण करने पर तो उनकी जगत् के स्थितिकाल में सम्भावना (विचारादि) होने से मूल कारण ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाम का ग्रहण सूत्र में नहीं हो सकता है, ऐसी शंका कोई कर सकेगा, वह शंका नहीं करे इसलिये, जो ब्रह्म से उत्पत्ति होती है, और ब्रह्म ही में जो स्थिति और लय होते हैं, उन्हीं का सूत्र में ग्रहण किया गया है।

न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वाऽन्यतः प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावात्संसारिणो वा उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाऽध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिर्नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता।

पूर्वोक्त विशेषण वाले जगत् की उक्त विशेषणयुक्त ईश्वर के बिना, उससे अन्य अचेतन प्रधान (प्रकृति) से या अचेतन अणुओं से या अभाव (शून्य) से या संसार हिरण्यगर्भादि से उत्पत्ति आदि की संभावना (सम्यक्त्व का निश्चयरूप अनुमान) नहीं की जा सकती है, न स्वभाव से कारण के बिना ही उत्पत्ति आदि की संभावना हो सकती है, क्योंकि इस संसार में कार्यार्थी से तत्तत्कार्यों के लिये विशिष्ट (भिन्न-भिन्न असाधारण) कारणों का ग्रहण देखा जाता है, यदि स्वभाव से कार्य होते तो कारणों की जरूरत नहीं होती, जगत् भी कार्य है, इससे यह भी स्वभाव सिद्ध नहीं है,

किन्तु विशिष्ट कारण जन्य है, यह अनुमान होता है, और इसी अनुमान को संसार से व्यतिरिक्त (भिन्न) तटस्थ ईश्वर की सत्ता आदि का साधनरूप ईश्वरकारणवादी नैयायिक मानते हैं। शंका होती है कि यहाँ भी जन्मादि सूत्र में वह अनुमान ही कहा गया है, उत्तर है कि यहाँ अनुमान का नहीं कथन किया गया है, क्योंकि वेदान्त वाक्यरूप पुष्पों को गूंथने के लिये सूत्र सब हैं, वेदान्त वाक्यों का विचार सूत्रों का प्रयोजन है, अनुमान नहीं, क्योंकि उदाहरणरूप से ग्रहण करके वेदान्तवाक्यों का ही सूत्रों से विचार किया जाता है, इससे वेदान्त के विचाररूप सूत्र हैं, अनुमान-रूप नहीं हैं। और वेदवाक्य और उसके अर्थों के विचार का जो अध्यवसान (समाहित-रूप तात्पर्यनिश्चय) उसी से ब्रह्मावगति (अनुभव) सिद्ध होती है, अनुमानादि रूप प्रमाणान्तर से नहीं होती। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'—यह ज्ञात तर्क से पाने योग्य नहीं है (कठ०)।

सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्याया-नुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याऽभ्युपेतत्वात्। तथा हि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृ० २।४।५) इति श्रुतिः, 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्यतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद' (छा० ६।१४।२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति। न धर्मजिज्ञासा-यामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्। किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासम्भवमिह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।

ऐसा होने पर भी जगत् के जन्मादि के कारण को कहने वाले वेदान्तवाक्यों के रहने पर, उनके अर्थज्ञान की दृढ़ता के लिये वेदान्त वाक्यों का अविरोधी अनुमान भी प्रमाण होता हो तो उसका निवारण नहीं किया जाता है। श्रुति ने ही अपने सहायकरूप से तर्क को स्वीकार किया है, जैसे कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' यह श्रुति श्रवण मनन की कर्तव्यता बताती है, यहाँ श्रवण के बाद तर्क द्वारा युक्ति से श्रुतार्थ की संभावना करना मनन है। किसी को चोर आँख बाँध कर गन्धार से दूर देश में ले जाकर वैसा ही छोड़ दे, फिर कोई दयालु उसकी आँखों को खोलकर कहे कि अमुक दिशा में गन्धार देश है, तो वह मार्गग्रहण के सामर्थ्यवाला पण्डित और तर्क में कुशल मेधावी रहने पर ही गन्धार को प्राप्त करता है, इसी प्रकार पण्डित और मेधावी (बुद्धिमान्) आचार्य वाला पुरुष इस संसार (शरीर) में ब्रह्मात्मा को जानता है, इस अर्थ को कहने वाली श्रुति भी पुरुषबुद्धि का सहायक अपने को बताती है, इससे बुद्धिमान् ही पुरुष श्रुति से भी ब्रह्मात्मा का अपरोक्षज्ञान करता है। क्योंकि धर्मजिज्ञासा के समान ब्रह्मजिज्ञासा में श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं है, किन्तु श्रुति आदि और तर्क-अनुभवादि सभी यहाँ यथासंभव प्रमाण हैं क्योंकि अपरोक्षानुभवरूप अवसान (चरमसीमा) वाला, और भूत (सिद्ध) वस्तु-विषयक ब्रह्मज्ञान होता है, इससे श्रुति-स्मृति आदि अनुभवादि सब उसके लिये प्रमाण हैं।

कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षाऽस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात् पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाऽश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छति। तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति', इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यविज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि वस्तुतन्त्रमेव तत्। न हि स्थाणावेकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानम्, वस्तुतन्त्रत्वात्।

कर्तव्य (साध्य) धर्मादि विषय में अनुष्ठान के लिये अनुभव की अपेक्षा नहीं है, इससे उसमें श्रुति आदि शास्त्र की ही प्रमाणता हो सकती है, और कर्तव्य कर्मादि की आत्मा (स्वरूप) की सिद्धि पुरुषाधीन है, इससे प्रथम से वह असिद्ध है, अनुभव योग्य नहीं है, और लौकिक वैदिक सब कर्म पुरुष की इच्छा के अनुसार करने, न करने, अन्यथा करने के शक्य योग्य) हैं, जैसे कोई अश्व द्वारा गमन करता है, पैरों से चलता है, वा अन्य किसी प्रकार गमन करता है या नहीं चलता है, इससे लौकिक गमनक्रिया पुरुषाधीन है; वैसे ही अतिरात्र नामक याग में षोडशी नामक पात्र का ग्रहण करता है, वा अतिरात्र में ही षोडशी का नहीं भी ग्रहण करता है, और सूर्य के उदित होने पर अग्निहोत्र करता है, अथवा अनुदित रहते ही प्रातःकाल में हवन करता है, इससे वैदिक कर्म भी पुरुषाधीन है, इच्छा के अनुसार साध्य है, और साध्य होने ही से विधि-निषेध भी इस कर्तव्य में सार्थक होते हैं, तथा विकल्प उत्सर्ग (सामान्य) और अपवाद (विशेषता) भी पुरुषाधीन साध्यता से होते हैं। इस प्रकार का है, इस प्रकार का नहीं है, या है नहीं है इस प्रकार के विकल्प का विषय सिद्ध वस्तु नहीं होती है। संशयविपर्ययरूप विकल्प पुरुष के अन्तःकरणाधीन होते हैं, वस्तु के यथार्थस्वरूप का ज्ञान अन्तःकरण के अधीन नहीं होता है। तो कैसे होता है कि वस्तु के अधीन ही यथार्थ ज्ञान होता है, क्योंकि एक स्थाणु में, स्थाणु है, वा पुरुष या अन्य कुछ है, ऐसा ज्ञान सत्यज्ञान नहीं होता है, क्योंकि स्थाणु में पुरुष वा अन्य का ज्ञान भ्रम है। स्थाणु ही है यही तत्त्वज्ञान है, क्योंकि यही ज्ञान वस्तु के अधीन है।

एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तुविषयत्वात्। ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणाऽनर्थिकैव प्राप्ता। न, इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मणा सम्बद्धं कार्यमिति गृह्येत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा सम्बद्धं किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थं किं तर्हि वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्।

इस पूर्व वर्णित रीति से भूतवस्तुविषयक ज्ञानों की प्रमाणता वस्तु के अधीन है, और सिद्धवस्तु के ज्ञान में वस्तुतन्त्र प्रामाण्य होने पर भूतवस्तुविषयक होने से ब्रह्मज्ञान भी वस्तुतन्त्र (अधीन) है, इसलिये प्रमाण है। यहाँ शंका होती है कि लोक में सिद्धवस्तु यथासंभव प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणान्तर के विषय होते हैं, वैसे ही ब्रह्म के सिद्धवस्तु होने पर वह नैयायिक से वर्णित प्रमाणान्तररूप अनुमान का विषय ही होगा, इससे अनुमान का विचार करना उचित है, वेदान्तवाक्य का विचार तो अनर्थक ही सिद्ध होता है ? इसका उत्तर है कि अनुमान में साध्य और हेतु के सम्बन्ध (व्याप्ति) का ज्ञान रहने पर अनुमिति प्रमा होती है यहाँ ब्रह्म के इन्द्रियों का अविषय होने से कार्य के साथ सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ स्वभाव से ही बाह्यविषयविषयक होती हैं, ब्रह्मविषयक नहीं होती हैं, (पराञ्चि खानि) इस प्रकार कठश्रुति भी कहती है। यदि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय होता, तो यह जगत्-रूप कार्य के साथ सम्बन्धवाला है, ऐसा ज्ञान हो सकता, परन्तु कार्यमात्र ही जब गृहीत (ज्ञात) है, तब यह कार्य ब्रह्म के साथ सम्बन्धवाला है, या अन्य किसी के साथ सम्बन्धवाला है यह निश्चय नहीं किया जा सकता है, अतः (जन्माद्यस्य यतः) यह सूत्र अनुमान के उपन्यास (कथन-रचना के लिये नहीं है, तो फिर किसके लिए है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा गया है कि वेदान्तवाक्य के प्रदर्शन के लिये है अर्थात्—जिससे ब्रह्म को समझा जा सके ॥ ७ ॥

किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम्। 'भृगुर्वै वारुणिः' वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति,' इत्युपक्रम्याह–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति' (तैत्ति० ३।१)। तस्य च निर्णयवाक्यम्—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' (तैत्ति० ३।६)। अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव-सर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि ॥ २ ॥

जिज्ञासा हुई कि कौन वह वेदान्त वाक्य है कि जो सूत्र के द्वारा समझाने की इच्छा का विषय है, तब कहा जाता है कि. वरुण के पुत्र भृगु वरुण नामक पिता के पास गया, और पिता से कहा कि हे भगवन् ब्रह्म का स्मरण कराओ—उपदेश दो, इस प्रकार कथा का आरम्भ करके कहा है कि 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, प्रलय के समय लीन होते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं उसकी जिज्ञासा—विचार करो वही ब्रह्म है', फिर निर्णयरूप वाक्य है कि 'आनन्द स्वरूप ब्रह्म से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं, प्रलीन होते हुए आनन्द में ही प्रवेश करते हैं', इसी प्रकार के अर्थवाले अन्य भी नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाले सर्वज्ञस्वरूप कारणविषयक वाक्य यहाँ उदाहरण के योग्य हैं—जिनसे आनन्दादि

रूपता से स्वरूप लक्षण, और सर्वज्ञता आदि से तटस्थ लक्षण से युक्त लक्षित ब्रह्म ज्ञात होता है, इत्यादि ॥ २ ॥

शास्त्रयोनित्वाधिकरण (३)

न कर्तृ ब्रह्म वेदस्य किं वा कर्तृ न कर्तृ तत् ।
विरूपनित्यया वाचेत्येवं नित्यत्वकीर्तनात् ॥ १ ॥
कर्तृनिःश्वसिताद्युक्तेर्नित्यत्वं पूर्वसाम्यतः ।
सर्वावभासिवेदस्य कर्तृत्वात् सर्वविद्भवेत् ॥ २ ॥
अस्त्यन्यमेयताप्यस्य किं वा वेदैकमेयता ।
घटवत् सिद्धवस्तुत्वाद् ब्रह्मान्येनापि मीयते ॥ ३ ॥
रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता ।
तं त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता ॥ ४ ॥

वेद की नित्यता और सृष्टि इन दोनों को सुनने से संदेह होता है कि ब्रह्म वेद का कर्ता है कि नहीं ? पूर्वपक्ष है कि (विरूप: नित्यया वाचा) इत्यादि श्रुति (अनादिनिधना नित्या) इत्यादि स्मृति से नित्यता कही जाती है, इससे ब्रह्म वेद का कर्त्ता नहीं है ॥१॥

उत्तर है कि (अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमृग्वेदः) इत्यादि कथन से ब्रह्म वेद का कर्ता है । किन्तु (यथापूर्वमकल्पयत्) इत्यादि श्रुति के अनुसार पूर्वकल्प की तुल्यता से नित्यता कही गई है, और सर्व-धर्म-व्यवहार तथा तत्त्व का बोधक वेदों का कर्ता होने से ब्रह्म सर्वज्ञ ही हो सकता है ॥ २ ॥

घटादि के समान सिद्ध वस्तु और परमसूक्ष्म दुर्ज्ञेय होने से संशय होता है कि वेद से अन्य प्रमाणों द्वारा भी ब्रह्म समझा जा सकता है या केवल वेद ही से समझा जा सकता है ? पूर्वपक्ष है कि घटादि के समान सिद्ध वस्तु होने से अन्य प्रमाणों से भी ब्रह्म समझा जाता है ॥ ३ ॥

उत्तर है कि व्यक्त रूप-स्पर्शादि और लिङ्ग (हेतु) व्याप्तिज्ञानादि के अभाव से इस ब्रह्म को साक्षात् प्रमाणान्तर की योग्यता नहीं है और (तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि) इत्यादि श्रुतियों से केवल वेद-ज्ञेयता कही गई है ॥ ४ ॥

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं तदेव द्रढयन्नाह—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

अनन्त अद्भुत अचिन्त्य जगत् की कारणता के प्रदर्शन से पूर्वसूत्र में ब्रह्म सर्वज्ञ है, यह अर्थ अनुमान से प्रतिज्ञात (निश्चित) हुआ, क्योंकि कार्य-कारण के ज्ञानरहित कर्ता नहीं होता है, इससे प्रकृति पर्यन्त का साक्षी सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्-कारण है, इस सूचित अनुमापित सर्वज्ञत्व को ही दृढ निश्चय कराते हुए सूत्रकार कहते हैं कि— 'ऋग्वेदादीनामनेकशाखाङ्गोपाङ्गादियुक्तानां योनित्वाच्च सत्यमूलकारणत्वाच्च सर्वज्ञं

ब्रह्मैव जगतोऽपि हेतुः । किञ्च तादृशं शास्त्रं योनिः (प्रमाणं) यस्मिन् तच्छास्त्रयोनि ब्रह्म
तत्त्रियोनित्वाच्च, किंवा शास्त्रं च तद्योनिश्च तद्विज्ञानस्य तस्य भावात्सर्वज्ञं ब्रह्म सिद्धयति'
अनेक शाखा अङ्ग-उपाङ्ग आदि का सत्य मूल कारण होने से सर्वज्ञ ब्रह्म है और
वही सब जगत् का हेतु है एवं उक्त शास्त्र उस ब्रह्म में प्रमाण है, इससे उस ब्रह्म
के विज्ञान का शास्त्र ही हेतु है, इससे जगत् का हेतु सर्वज्ञ ब्रह्म सिद्ध होता है ।
पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण को एककार्यत्वरूप संगति है ।

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थाव-
द्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिल-
क्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं
यस्मात्पुरुषविशेषात्सम्भवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि,
स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके, किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेद-
भिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाक-
रस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः सम्भवः,
'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० २।४।१०) इत्यादिश्रुतेः,
तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति ।

पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च
चतुर्दश ।। (याज्ञवल्क्य स्मृ० १।३) इस शास्त्र से पुराणादि चार और छः व्याकरणादि
वेदाङ्ग सहित चार वेद ये चतुर्दश विद्या और धर्मों के स्थान हैं, महान् ऋग्वेदादिरूप
शास्त्र अन्य दश विद्याओं के स्थानों से उपबृंहित (उपकृत-परिवर्द्धित) हैं, अत एव प्रदीप
के समान सब उपयुक्त अर्थों के प्रकाशक हैं, इससे सर्वज्ञकल्प (सर्वज्ञ समान) हैं, उनका
सर्वज्ञ ही ब्रह्म कारण है, क्योंकि ऐसा महत्त्वादियुक्त सर्वज्ञ के गुण सर्वज्ञतासहित
ऋग्वेदादिरूप शास्त्रों का सर्वज्ञेश्वर के बिना अन्य से उत्पन्न होना नहीं बन सकता है,
क्योंकि जो-जो शास्त्र शब्दों के विस्तार (अधिकता) के लिये जिस पुरुष विशेष से
होते हैं, जैसे कि ज्ञेय वस्तु का एकदेशार्थक व्याकरणादि पाणिनि आदि से हुए हैं,
वहाँ वह पुरुषविशेष उस शास्त्र से अति-अधिक विज्ञानवाला रहता है यह बात लोक
में प्रसिद्ध है, तो फिर अनेक शाखाओं के भेद से अनेक भेदयुक्त, देव, तिर्यक्
(पशु आदि), मनुष्य और उनके वर्ण (जाति), आश्रम (ब्रह्मचर्यादि) का प्रविभाग
के हेतु, सब ज्ञान का आकर (खान) ऋग्वेदादि नामक शास्त्र की जिस महान्
भूतयोनि से लीला के समान अन्यत्र (अल्पयत्न-संकल्प) मात्र से ही उत्पत्ति होती है,
उस भूतयोनि की अधिकतर विज्ञानवत्ता में कहना ही क्या है, वह तो अवश्य सर्वज्ञ
है और यह अर्थ (अस्य महतो भूतस्य) इत्यादि श्रुति से भी सिद्ध होता है । इससे
उस महान् स्वरूप को सर्वोपरि सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता है, उससे अधिक वा तुल्य
ज्ञानादिवाला कोई नहीं है । (न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, श्वेता० ६।८) इत्यादि
श्रुति से उसके सर्वज्ञत्वादि में कुछ भी वक्तव्य नहीं है ।।

अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रं ? यावता पूर्वसूत्रे एवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते—'शास्त्रयोनित्वादि'ति ॥ ३ ॥

अथवा सूत्र का दूसरा भी अर्थ है कि पूर्वोक्त विशेषण वाले ऋग्वेदादि शास्त्र इस ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप-ज्ञान में योनि (कारण) याने प्रमाण हैं, क्योंकि शास्त्ररूप प्रमाण से ही जगत् के जन्मादि का कारणरूप ब्रह्म समझा जाता है, यह अभिप्राय (तात्पर्य) है, और जो शास्त्र प्रमाण है, वह पूर्वसूत्र के भाष्य में (यतो वा इमानि इत्यादि उदाहरणरूप से कहा जा चुका है। यहाँ शंका होती है कि जब पूर्वसूत्र में ही इस प्रकार के शास्त्र का उदाहरण देनेवाले सूत्रकार ने ब्रह्म के शास्त्रयोनित्व (शास्त्रप्रमाण-बोध्यत्व) को दिखला दिया है, समझाया है, तो यह सूत्र किस प्रयोजन के लिये है, या रचा गया है ? समाधान है कि पूर्वसूत्र में शास्त्र उदाहृत है, परन्तु पूर्वसूत्र के अक्षर (पद) से स्पष्ट शास्त्र का ग्रहण नहीं होने से, केवल अनुमान कहा गया है, ऐसी शंका हो सकती थी। उस शंका के निवारण के लिए (शास्त्रयोनित्वात्), यह शास्त्र प्रवृत्त हुआ है ॥ ३ ॥

समन्वयाधिकरण (४)

वेदान्ताः कर्तृदेवादिपरा ब्रह्मपरा उत।
अनुष्ठानोपयोगित्वात् कर्त्रादिप्रतिपादकाः ॥ १ ॥
भिन्नप्रकरणाल्लिङ्गषट्काच्च ब्रह्मबोधकाः।
सति प्रयोजनेऽनर्थहानेऽनुष्ठानतोऽत्र किम् ॥ २ ॥
प्रतिपत्तिं विधित्सन्ति ब्रह्मण्यवसिता उत।
शास्त्रत्वात्ते विधातारो मननादेश्च कीर्तनात् ॥ ३ ॥
नाकर्तृतन्त्रेऽस्ति विधिः शास्त्रत्वं शंसनादपि।
मननादेः पुरा बोधाद् ब्रह्मण्यवसितास्ततः ॥ ४ ॥

कर्मबोधक वेद की तुल्यता और प्रकरण के भेदादि से संशय होता है कि वेदान्त कर्मापेक्षित देवादि का बोधक है या स्वतन्त्र मोक्ष फल के लिये ब्रह्म स्वरूप मात्र का बोधक है ? पूर्वपक्ष है कि कर्मानुष्ठान में उपयोगी होने से कर्ता देवादि का ही बोधक है ॥ १ ॥

सिद्धान्त है कि भिन्न प्रकरण होने से और ब्रह्मबोधार्थक तात्पर्य निश्चय के हेतु उपक्रमादि षड्लिङ्ग से भी वेदान्त ब्रह्म का ही बोधक है। और ब्रह्मबोध से ही

अज्ञानजन्य जन्मादि रूप अनर्थ की निवृत्तिरूप फल के होते, यहाँ कर्मानुष्ठान ये वृथा फल है ॥ २ ॥

वेदान्त प्रतिपत्ति (उपासना) का विधान करना चाहता है या ब्रह्म में ही पर्यवसित (तात्पर्य वाला) है, यह दूसरा संशय है । पूर्वपक्ष है । या शास्त्र होने से कर्मकाण्ड के समान उपासना का विधायक है, और श्रवण के बाद मननादि क्रिया का भी वेदान्त में कथन है, इससे मननादि का विधायक है ॥ ३ ॥

उत्तर है कि कर्त्ता के अधीन क्रिया में विधि होती है, कर्ता के अनधीन वस्तु तन्त्र ज्ञान में विधि नहीं होती है । और उपदेशमात्र से शास्त्र कहा जाता है, विधिमात्र ही से नहीं, और ज्ञान से प्रथम मननादि का विधान है, इससे वेदान्त ब्रह्म में ही तात्पर्य वाले हैं ॥ ४ ॥

कथं पुनः ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते ? यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै. सू. १।२।१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम् । अतो वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यम्, अक्रियार्थत्वात् । कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वम्, उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा नहि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं सम्भवति प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः ।

पूर्वसूत्र में प्रतिज्ञा-मात्र से कहा गया है कि शास्त्र रूप प्रमाण से जगत् का कारण ब्रह्म सिद्ध होता है, उसी अर्थ को शास्त्र का समन्वय रूप हेतु से दृढ करना है, वहाँ पूर्वोक्त अर्थ का पूर्वपक्षी प्रथम खंडन-आक्षेप करता है कि सिद्ध ब्रह्म को शास्त्ररूप प्रमाणजन्यज्ञान-विषयत्व कैसे हो सकता है, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रमाणान्तर का विषय होती है, और प्रमाणान्तर से ज्ञेय (अनुमेय) ब्रह्म का यदि शास्त्र बोधक भी होगा, तो लौकिक वाक्य के समान अनुवादक होगा, तब अप्रमाण होगा । इसी हेतु से जैमिनीय सूत्र, शास्त्र (वेद) को क्रियापरत्व (क्रियाबोधकत्व) दर्शाया है कि आम्नाय (वेद) के क्रियार्थक होने से क्रियार्थकता से रहित वेदवाक्य अनर्थक हैं । इससे क्रियारहित वेदान्त वाक्य भी अनर्थक हैं, अथवा (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) इस अध्ययन विधि से विहित सार्थक अध्ययन के विषय होने के कारण जैसे अर्थवाद वाक्य को क्रिया की स्तुति द्वारा क्रियार्थक मानकर सार्थक माना गया है, वैसे ही कर्म के कर्ता देव फलादि के प्रकाशनार्थक होने से क्रिया विधि को शेष (अंग) रूपता वेदान्त को है, इससे सार्थक है, जीव प्रतिपादक कर्म कर्ता का, ईश्वर का प्रतिपादक कर्मांग देव का बोधक है, या अन्य फल का बोधक है, अथवा उपासनादि रूप क्रियान्तर का विधानार्थक ही है, क्योंकि यज्ञादि कर्म के प्रकरणों से वेदान्त का भिन्न प्रकरण है । सिद्ध वस्तु का सर्वथा कर्म सम्बन्ध के बिना प्रतिपादन नहीं बन सकता है, क्योंकि परिनिष्ठित (सिद्ध) वस्तु को अवश्य प्रत्यक्षादि विषयत्व होता है, और प्रत्यक्षादि के विषय ब्रह्म का प्रतिपादक वेद अनुवादक अप्रमाण होगा । यद्यपि रूपादि रहित-व्याप्ति-

ज्ञानशून्य ब्रह्म सिद्ध होते भी प्रमाणान्तर का विषय नहीं है, यह बात प्रथम कही गई है, तथापि उसको स्थूणाखनन न्याय से दृढ करने के लिए पूर्वपक्ष है।

तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात्। अत एव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० सू० १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम्। मन्त्राणां च 'इषे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम्। न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा। न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः। तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

सिद्ध वस्तु भी यदि हेय (त्यागार्ह) कुभक्ष्य, कुपुरुष, कुदेशादि के समान रहती है, तो उसके त्याग से पुण्य सुखादि पुरुषार्थ होते हैं, और उपादेय (ग्राह्य) सुभक्ष्य सत्पुरुष सुदेशादि के ग्रहण से पुरुषार्थ (फल) होता है। हेय और उपादेय से भिन्न असंग ब्रह्म का वेदान्त से प्रतिपादन करने पर कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। क्रिया संबन्ध रहित सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता, और (दध्ना जुहोति) इत्यादि में हवन क्रिया सम्बन्ध से सिद्ध दधि का भी कथन हो सकता है, इसीसे (देवैर्निरुद्धः सोग्निररोदीत्) इत्यादि वाक्यों की अनर्थकता न हो, इसलिए पूर्वमीमांसा में कहा गया है कि विधि वाक्य के साथ मिलकर विधि की स्तुति द्वारा उक्त वाक्य सब सार्थक होते हैं। अर्थात् (बर्हिषि रजतं न देयम्) इस निषेधविधि के साथ, 'देवैः' इत्यादि वाक्य का सम्बन्ध है कि देव से निगृहीत अग्निदेव के रोदन से रजत हुआ है इससे बर्हिष नामक याग में उसका दान नहीं करना, नहीं तो रोना पड़ेगा इत्यादि भाव है। इसी प्रकार (इषे त्वा) इत्यादि मन्त्रों को भी (छिनद्मि) इत्यादि क्रिया के अध्याहार द्वारा क्रियाबोधकत्व मानकर तथा क्रिया के साधन देवादि का वाचक मानकर कर्मसम्बन्धित्व कहा है, इससे कहीं भी वेदवाक्यों की विधि (क्रिया) के बिना सार्थकता नहीं देखी गई है, न उपपन्न (सिद्ध) हो सकती है। वेदान्त से यदि ब्रह्म कहा जाय, तो परिनिष्ठित (सर्वथा सिद्ध) वस्तु के स्वरूप में विधि हो नहीं सकती है, क्योंकि विधि की क्रियाविषयत्व का नियम है, असिद्ध ही क्रिया विधि से साध्य होता है, सिद्ध नहीं, इससे कर्मों से अपेक्षित (कर्मों के हेतु) कर्ता के स्वरूप को या देवतादि को प्रकाशन के (समझाने के) द्वारा वेदान्तों को कर्म-विधि की अङ्गता है, या वेदान्त का कर्म-विधि से भिन्न प्रकरण है ? इस भय से यदि कर्म विधि की अङ्गता वेदान्त को नहीं मानी जा सके, तो भी वेदान्त-वाक्यगत (मनो ब्रह्मेत्यु-

पासीत) इत्यादि वाक्यविहित उपासना श्रवणादि-कर्मपरत्व (बोधकत्व) ही वेदान्त वाक्यों को है, इससे शास्त्रयोनित्व (शास्त्रप्रमाणकत्व) ब्रह्म को नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहा जाता है कि (न शास्त्रयोनित्वं निषेद्धुं शक्यते सर्वेषां शास्त्राणां वेदान्तानां तत्रैव कारणे ब्रह्मणि तात्पर्येण सम्बन्धात्, शास्त्रयोनित्वस्य निषेधे सर्वेषामानर्थक्यापत्तेः, अत एव ब्रह्मणि शास्त्रयोनित्व (हेतुत्व) मात्राद न तत् सिद्धिः, अपि तु शास्त्रसमन्वयादपि सर्वज्ञं सर्वशक्तियुक्तं ब्रह्म सिद्ध्यतीति) ब्रह्म में शास्त्र प्रमाणकत्व का निषेध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सब वेदान्त शास्त्र का उस जगत् का कारण ब्रह्म में तात्पर्य द्वारा सम्बन्ध है, शास्त्रयोनित्व के निषेध से सबको अनर्थकता की प्राप्ति होगी, इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म में शास्त्रयोनित्व (हेतुत्व) मात्र ही से ब्रह्म की सिद्धि नहीं होती है, कि सब शास्त्र के समन्वय से भी सर्वज्ञ सर्वशक्तियुक्त ब्रह्म सिद्ध होता है।

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद्ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम्, समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१)। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐतरेय २।१।१।१)। 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृहदा० २।५।१९) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) इत्यादीनि। न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते 'तत्केन कं पश्येत्' (बृह० २।४।१३) इत्यादिक्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः।

सूत्रगत तु शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है कि पूर्वपक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिवाला और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण वह ब्रह्म वेदान्त से ही अवगत (अपरोक्षानुभूत-प्राप्त) होता है। यदि कहो कि कैसे अवगत होता है, तो सुनो,—सम्यक् अन्वय से अवगत होता है, क्योंकि सभी वेदान्तों में तद्गत वाक्य सब तात्पर्यपूर्वक इस ब्रह्मात्मक अर्थ के ही प्रतिपादक (बोधक) रूप से अनुगत (सम्बद्ध-मिलित) हैं। हे सोम्य ! प्रियदर्शन ! यह सब दृश्य जगत् सृष्टि से प्रथम सद्ब्रह्म मात्र ही था, एक ही द्वैतरहित था। यह जगत् एक आत्मस्वरूप ही प्रथम था। जो आत्मा है, वही यह ब्रह्म है, और वह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित) अनपर (कार्यरहित) जात्यन्तर के व्यवधानरहित, और बाह्यपदार्थरहित है, यह सर्वात्मा ब्रह्म है, सर्वात्मारूप[1] से सबका अनुभव करने वाला है। अमृत ब्रह्म ही यह

१. स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेयत आत्मपातः॥
(श्रीमद्भा० स्क० २)

आगे प्रत्यक्षदृश्यादिरूप भासता है, इत्यादि अर्थवाले वे अनुगत वाक्य हैं। और उन वाक्यगत पदों के ब्रह्मस्वरूपविषयक निश्चित समन्वय (सम्बन्ध) के अवगम्यमान (ज्ञात) रहते, अर्थान्तर (क्रियार्थकता) की कल्पना युक्त (उचित) नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसा करने से श्रुत ब्रह्मार्थ की हानि (अभाव) और अश्रुत (श्रुति से अबोधित) अर्थ की कल्पना हो जायगी। और उन वाक्यों के कर्मकर्ता के स्वरूप के प्रतिपादन में तात्पर्य का निश्चय भी नहीं होता है, उन्हें कर्ता के स्वरूप का प्रतिपादन परायण नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि (तत्केन कं पश्येत्) इस श्रुति से (उस ज्ञान काल में कौन किससे किसको देखे) इस प्रकार क्रिया कारक फल का निषेध सुना गया है।

न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः। 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात्। यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति। नैष दोषः, हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मताव-गमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेः। देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्य-गतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। न तु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं सम्भवति, एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः। न ह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः सम्भवोऽस्ति। येनोपासना-विधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्येत। यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टं, तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्षेत। तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम् ॥

ब्रह्म के सिद्ध वस्तु स्वरूप होते उसके भी प्रत्यक्षादि की विषयता नहीं है, क्योंकि जीव रूप से कल्पित ब्रह्म अहम् (मैं) इस प्रत्यक्ष का कथञ्चित् विषय है, जगत के कारण रूप से कथञ्चित् अनुमेय भी हो सकता है, परन्तु (तत्त्वमसि) वह सत्य ब्रह्म तू है, इस प्रकार ब्रह्मात्मता (ब्रह्मरूपता) शास्त्र के बिना नहीं ज्ञात हो सकती है, शास्त्र के बिना वह सदा अज्ञात है। और जो यह कहा गया था कि हेय और उपादेय से रहित होने से ब्रह्म उपदेश के योग्य नहीं है, वहाँ कहा जाता है कि यह दोष भी नहीं है, क्योंकि हेयोपादेय से शून्य (रहित) ब्रह्म के ज्ञान से ही अविद्यादि सब क्लेशों की निवृत्ति से परमपुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि होती है। और जो उपासनापरक वेदान्त उसको स्ववाक्यगत (प्राप्त) उपासनार्थकत्व में कोई विरोध नहीं है, परन्तु ब्रह्म को प्राणादि के समान उपासना विधि के शेषत्व (अंगत्व) का सम्भव नहीं है (अर्थात् वेदान्त से अनुभूत ब्रह्म उस ज्ञानी के लिये उपास्य रूप से विधेय नहीं हो सकता है क्योंकि एकत्व के निश्चय से सत्य एकत्व के होने पर हेय और उपादेय की शून्यता से

क्रियाकारकादि द्वैत के विज्ञानों के उपमर्द (नाश) की सिद्धि होती है, सत्य द्वैत नहीं भासता है, और एकत्व विज्ञान से विनाशित द्वैत विज्ञान का फिर सम्भव (सिद्धि) नहीं हो सकता, कि जिस द्वैत विज्ञान रूप कारण की सत्ता से ब्रह्मसम्बन्धी उपासना विधि की शेषता का वेदान्त से प्रतिपादन किया जाय। यद्यपि ब्रह्मबोधक वेदान्त से अन्यत्र वेदवाक्यों की विधि-सम्बन्ध के बिना प्रमाणता नहीं देखी गई है। तथापि आत्मविज्ञान की फलपर्यन्तता (मोक्षप्रापकता) से आत्मज्ञानविषयक शास्त्र की प्रमाणता विधि-सम्बन्ध के अभावादि से प्रत्याख्यान (निषेध) के योग्य नहीं है। शास्त्र की प्रमाणता अनुमान से ज्ञेय नहीं है, जिससे वह अन्य कहीं दृष्ट दृष्टान्त नामक निदर्शन की अपेक्षा करे, क्योंकि नेत्रादि के समान शास्त्र अपने विषय में स्वतः (निरपेक्ष) प्रमाण है, उससे समन्वित शास्त्र प्रमाण का विषयत्व ब्रह्म को सिद्ध हुआ। इस पूर्व कथन से सिद्धार्थ में भी पद की शक्ति ज्ञान को मानने वाले ब्रह्म को नहीं मानने वाले के मत का खण्डन वेदान्त की ब्रह्म परता दिखला कर किया गया है। आगे कार्यसम्बन्ध पदार्थ में ही पदों की शक्ति माननेवालों की चर्चा होगी।

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते तद्वत्। कुत एतत्? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य।

इस वेदान्तवेद्यत्व कथन में अन्य कोई प्रतिवादीरूप से उपस्थित होते हैं, और पूर्वपक्ष करते हैं कि यद्यपि शास्त्ररूप प्रमाणवाला ब्रह्म है, प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है, तो भी उस ब्रह्मविषयक ज्ञान उपासनारूप प्रतिपत्ति की विधि के विषय रूप से ही शास्त्र द्वारा भी ब्रह्म समर्पित (बोधित) होता है, जैसे कि यूप आहवनीय आदि पदार्थ लोक में अप्रसिद्ध हैं, तो भी विधि के अंगरूप से शास्त्र से बोधित होते हैं, अर्थात् (यूपे पशुं बध्नाति आहवनीये जुहोति, इन्द्रं यजेत) इन विधियों में वे यूपादि कौन पदार्थ हैं ऐसी आकांक्षा होने पर (यूपं तक्षति, अग्नीनादधीत, वज्रहस्तः पुरन्दरः) इत्यादि विधिपरक वाक्यों से जैसे पशुबन्धन के हेतु स्तम्भ विशेष का आहवन के स्थान अग्नि का पूज्य विशेष देव वज्रधारी का बोध होता है, वैसे ही (तद्विजिज्ञासस्व) इत्यादि विधि के अंग रूप से ही (सत्यम्) इत्यादि सिद्धार्थक वाक्य ब्रह्म का बोध कराते हैं, अन्यथा अप्रसिद्धार्थक होने से उनसे ब्रह्म का बोध भी नहीं हो सकेगा, यदि कोई कहे कि विधिशेषता से ही क्यों बोधक शास्त्र होता है, तो प्रवृत्ति या निवृत्ति शास्त्र का प्रयोजन होता है, अर्थात् श्रेयः की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति का, अनिष्ट से निवारण के लिए निवृत्ति का शास्त्र विधान करता है, इसके बिना उसमें अनर्थकता की प्राप्ति होती है।

तथाहि शास्त्रतात्पर्यविद आहुः—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इति। 'चोदने'तिक्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्। 'तस्य ज्ञानमुपदेशः' (जै० सू०

१।१।५) 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' (जै० सू० १।१।२५) 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१) इति च। अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्, तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्। तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयत एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम्।

इसीसे तो—उक्त प्रवृत्ति-निवृत्तिप्रयोजनता को शास्त्र के तात्पर्यज्ञ भी कहते हैं कि कर्म (क्रिया-कार्य-नियोग-विधि-धर्म) का अवबोधन (उपदेशन) ही शास्त्र वेद का प्रयोजन देखा गया है। तथा क्रिया के प्रवर्तक (साधक) वचन को चोदना शब्द से कहा जाता है। उस धर्म का ज्ञान (ज्ञापक) विधि वाक्य उपदेश कहाता है। 'तद्भूताना' उस-वेदगतभूतार्थक (सिद्धार्थक) पदों का क्रियार्थक पद के साथ 'समाम्नाय' उच्चारण कर्तव्य है और आम्नाय (वेद) क्रियार्थक हैं, इससे क्रियारहित को अनर्थकता है इत्यादि। इससे पुरुष को किसी विषय विशेष (इष्टोपाययागादि) में प्रवृत्त करता हुआ, या किसी विषयविशेष (अनिष्टसाधन हिंसादि) से निवृत्त कराता हुआ ही शास्त्र सार्थक होता है, और उस विधि-निषेध रूप सार्थक शास्त्र के शेष (अंग) रूप से अन्य अर्थवादादि रूप सिद्धार्थक वचन उपयुक्त (उपयोगी-सफल) होते हैं। इस प्रकार के उस कर्म शास्त्र के साथ तुल्यशास्त्रता से वेदान्त को भी उसी के समान प्रवर्तकत्व-निवर्तकत्व-तदङ्गत्व रूप से ही सार्थकत्व होगा। इस प्रकार वेदान्त का विधि (क्रिया) परकत्व (क्रियाबोधकत्व) सिद्ध होने पर जैसे स्वर्गादि की इच्छावालों के लिये अग्निहोत्रादि साधनों का शास्त्र से विधान किया जाता है, उसी प्रकार अमृतत्व (मोक्ष) की कामना वालों के लिये ब्रह्मज्ञान का विधान किया जाता है। ऐसा होना ही युक्त (उचित) है। क्रिया से प्राप्त भी अमृतत्व अमृत (अविनाशी) ही रहेगा यह भाव है।

नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्—कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः, इह तु भूतं नित्यनिर्वृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति। तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्। कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृह० २।४।५) इति। 'य आत्माऽपहतपाप्मा-सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१) 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७) 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ० १।४।१५) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इत्यादिविधानेषु सत्सु 'कोऽसावात्मा किं तद् ब्रह्म' इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः—'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्येवमादयः।

उक्त विधिविषयक शङ्का होती है कि इस धर्म और ब्रह्म जिज्ञासा के सूत्रकारों ने वेद में जिज्ञास्य (विचारार्ह) वस्तु का वैलक्षण्य (भिन्नता) कहा है, कि कर्मकाण्ड वेद में धर्म जिज्ञास्य है, और इस वेदान्त में तो भूत (सिद्ध) नित्यनिर्वृत्त (नित्यसिद्ध)

ब्रह्म जिज्ञास्य है, यह भेद है। वहाँ कर्मानुष्ठानपूर्वक होने वाले धर्म के फलों से विलक्षण ब्रह्मज्ञान का फल होना चाहिये, अर्थात् कर्मफल अनुष्ठान साध्य है इससे अनुष्ठान के लिये विधि की आवश्यकता है। यहाँ ज्ञानमात्र से नित्यसिद्ध मोक्ष की प्राप्ति होती है। इससे विधि की आवश्यकता नहीं है, इस शङ्का का उत्तर है कि ऐसा हो नहीं सकता है, क्योंकि कार्य के विधिप्रयुक्त (निमित्तिक) ही ब्रह्म प्रतिपादित है कि अरे (मैत्रेयि) आत्मा ही द्रष्टव्य है (अर्थात् आत्मज्ञान के लिये आत्मोपासना-आत्मचिन्तना करो) इसी प्रकार जो पापरहित आत्मा है वह अन्वेषणीय है, उसका अन्वेषण (ध्यानादि) करो। वह विचारणीय है, विचार करो। प्राणादि आत्मस्वरूप ही हैं इस प्रकार उपासना-चिन्तना करे। आत्मा की ही ज्ञानात्मक लोक (प्रकाश) रूप से उपासना करे। ब्रह्म को जानने वाला (उपासना करने वाला) ब्रह्म होता है। इत्यादि विधि वाक्यों के रहने पर आकांक्षा (जानने की इच्छा) होती है कि वह आत्मा कौन वस्तु है? ब्रह्म क्या है? तो उनके स्वरूपों के बोधन द्वारा सब वेदान्त उपयुक्त (सफल) होते हैं कि नित्य सर्वज्ञ सर्वगत (व्यापक) नित्यतृप्त नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध नित्यमुक्त स्वभाव वाला आत्मा है, विज्ञानानन्द स्वरूप ब्रह्म है, इत्यादि।

तदुपासानाच्च शास्त्रदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति। कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे तु वस्तुमात्रकथने हानोपादानासम्भवात्, 'सप्तद्वीपा वसुमती, राजाऽसौ गच्छ-ती'त्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात्। ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरियं नायं सर्प' इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टम्, तथेहाप्य-संसार्यात्मकवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात्। स्यादेतदेवं, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत। नतु निवर्तते, श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारित्वधर्मदर्श-नात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५) इति च श्रवणो-त्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात् तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति।

उक्त रीति से नित्यादि स्वरूप उस ब्रह्मात्मा की उपासना से शास्त्र से ज्ञात और प्रत्यक्षादि से अज्ञात मोक्षरूप फल होगा, एवं कर्तव्य (उपासना) विधि में शेष (अंग) रूप से सिद्धार्थक वेदान्त-वाक्यों का अनुप्रवेश (सम्बन्ध-गति) नहीं होने पर और वस्तुमात्र को कहने पर तो, त्याग वा ग्रहण रूप क्रिया के असंभव से, 'सात द्वीप वाली भूमि है, यह राजा जाता है' इत्यादि निरर्थक वाक्यों के समान वेदान्त-वाक्यों को भी निरर्थकता प्राप्त होगी। यहाँ शंका होती है कि, भ्रान्त पुरुष के प्रति कहा जाता है कि यह रस्सी है, सर्प नहीं है, इत्यादि, तो वहाँ वस्तु मात्र के कहने से भी भ्रमजन्य भय की निवृत्ति द्वारा उस सिद्धार्थ कथन की सार्थकता देखी गयी है। इसी प्रकार इस वेदान्त में भी असंसारी आत्मवस्तु के कथन से संसारित्व-भ्रान्ति की निवृत्ति द्वारा

अर्थवत्त्व हो सकता है। उत्तर है कि-यह वेदान्त की सार्थकता उक्त रीति से हो सकती-यदि रस्सी के स्वरूप का श्रवण होने पर जैसे सर्प की भ्रान्ति निवृत्त होती है, वैसे ही ब्रह्म का स्वरूप मात्र के श्रवणमात्र से संसारित्व-भ्रान्ति निवृत्त हो जाती, परन्तु श्रवणमात्र से नहीं निवृत्त होती है, क्योंकि वेदान्त वाक्यों के द्वारा ब्रह्म के श्रवण-वालों को भी श्रवण से पूर्व के समान ही सुख-दुःखादि रूप संसारीधर्म देखे जाते हैं, (ध्यान) की विधि के देखने से भी सिद्ध होता है कि श्रवणमात्र से संसारित्व-भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है, अन्यथा उनकी विधि व्यर्थ होगी। उससे उपासना विधि के विषय रूप से ही शास्त्रप्रमाणक (शास्त्रप्रमाणबोध्य) ब्रह्म मानने योग्य है। यह पूर्वपक्ष है।

अत्राभिधीयते। न। कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै० सू० १।१।१) इति सूत्रिता। अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय। तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फलं प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे।

उक्त पूर्वपक्षी भी मोक्ष को अमृत (नित्य) मानते हैं, अन्यथा कार्यता से आनन्त्यता की प्राप्ति होगी। वहाँ नित्य सिद्ध ज्ञान से अभिव्यक्तिमात्र हो सकती है, कर्मोपासना से उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती, इस आशय से सिद्धान्ती कर्मफल का अनित्यत्वादि दिखाने के लिये कहते हैं कि इस उक्त विषय में इस प्रकार कहा जाता है कि विधि का विषय ब्रह्म नहीं है, क्योंकि कर्म और ब्रह्म विद्या के फलों में विलक्षणता है, कायिक-वाचिक और मानस कर्म श्रुतिस्मृति से सिद्ध धर्म नामक है, जिन कर्मों के विषय में जिज्ञासा (अथातो धर्मजिज्ञासा) इस सूत्र से सूत्रित (सूचित-बोधित) हुई है। सूत्र का अर्थ है कि वेदाध्ययन के बाद वेद के सार्थक होने से पाठमात्र से पुण्यप्रद मात्र ही नहीं होने से वेदार्थ धर्म का विचार करना चाहिये और अधर्म भी हिंसादिक निषेध विधि से लक्षित हैं, अर्थात् वेदादि में जिन कर्मों का निषेध है, वे अधर्म कहाते हैं, वे भी त्यागने के लिये विचारार्ह हैं, ओर विधि-प्रतिषेध रूप चोदनात्मक लक्षण वाले अर्थ (पुण्य) अनर्थ (पाप) रूप उन धर्म और अधर्मों के प्रत्यक्ष सुख:दुख रूप जो फल शरीर, वाक्, मन से ही भोगे जाते हैं, विषय और इन्द्रियों के संयोग से जन्य वे सुख:दुख रूप फल ब्रह्मा से स्थावर तक शरीरियों में प्रसिद्ध हैं।

मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते। ततश्च तद्धतो-धर्मस्य तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम्। प्रसिद्धं चार्थित्व-सामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम्। तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधि-

विशेषादुत्तरेण पथा गमनं, केवलैरिष्टा[1]पूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात्। 'यावत्सम्पातमुषित्वा', (छा० ५।१०।५) इत्यस्माद् गम्यते।

उक्त प्रसिद्ध अनुभव के अनुसार ही मनुष्यत्व से आरम्भ करके ब्रह्मापर्यन्त देहधारियों में सुख का तारतम्य (न्यूनाधिक भाव) (स एको मानुष आनन्दः। तै० आ० २।८।१) इत्यादि श्रुतियों से सुना जाता है, उससे उन सुख के हेतु धर्मों में भी न्यूनाधिक भाव अनुमानादि से समझा जाता है, और धर्म के न्यूनाधिक भाव से उसके अधिकारियों में न्यूनाधिकता समझी जाती है। एवं अर्थित्व (फलेच्छा) सामर्थ्य (शक्ति) आदि के भेद से सिद्ध अधिकारियों के न्यूनाधिक भाव लोक में प्रसिद्ध भी हैं। इसी प्रकार यागादि कर्मों के अनुष्ठान (आचरण) करने वालों में ही किसी की विद्या (उपासना) में समाधि (चित्त की स्थिरता) विशेष से श्रुतिवर्णित अर्चि आदिरूप उत्तर मार्ग से गति है, और उस मार्ग से ब्रह्मलोक में जाता है। तथा उपासना रहित केवल अग्निहोत्रादि रूप इष्ट (वैदिक कर्म) और वापी कूपादि का संपादन रूप पूर्त (स्मार्तकर्म) एवं शरणागत की रक्षादि रूप दत्तकर्म रूप साधनों से धूमादि क्रमवाले दक्षिण मार्ग से चन्द्रलोकादि में गति होती है और उस चन्द्रादि लोकों में भी सुख और सुख के साधनों का न्यूनाधिक भाव (यावत्संपातमुषित्वा) इस श्रुति से ज्ञात होता है। (संपत्ति, गच्छति परलोकमनेनासौ संपातः) जिससे परलोक में जाय उस कर्म को संपात कहते हैं। वह कर्म जब तक रहता है तब तक वहाँ रह कर फिर लौटता है, यह श्रुति का अर्थ है।

तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः। तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः- 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। 'अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१) इति

---

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥
वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥
शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्।
बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते॥

प्रियाप्रियस्पर्शप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते । धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते ।

इसी प्रकार मनुष्यों से लेकर नारकी और स्थावर पर्यन्त में जो सुख का लेश (अंश) है सो न्यूनाधिकरूप से वर्तमान सुख भी विधिरूप लक्षणवाले धर्म से ही साध्य है, इस प्रकार समझा जाता है । इसी प्रकार ऊर्ध्व स्वर्गादिगत और अधोगत देहधारियों में दुःख की न्यूनता अधिकता के देखने (समझने) से उस दुःख के हेतु और प्रतिषेध-विधिरूप लक्षण वाले अधर्मों की तथा उनके अनुष्ठाता (कर्ताओं) की न्यूनता-अधिकता ज्ञात होती है । इस प्रकार अविद्यादि दोष (क्लेश) वालों के धर्माधर्म के न्यूनाधिक्य निमित्तक शरीरों का ग्रहणपूर्वक जो सुखदुःख का न्यूनाधिक भाव है वही अनित्य संसार स्वरूप है और श्रुति-स्मृति तथा न्याय (अनुमान) से प्रसिद्ध है वैसी ही श्रुति है कि शरीर सहित सत्यात्मा जीव के सुख और दुःख की निवृत्ति (नाश) नहीं होती है, इस प्रकार पूर्ववर्णित संसार के स्वरूप का श्रुति अनुवाद करती है और शरीररहित सत्यात्मा को सुखदुःख स्पर्श भी नहीं करते हैं । इस प्रकार मोक्षावस्था में विषयजन्य सुखदुःख के स्पर्श का भी निषेध होने से मोक्ष नामक शरीराहित्य की विधिरूप धर्म-कार्यत्व का निषेध किया जाता है यह बात समझी जाती है—अनुमित होती है, क्योंकि मोक्ष को धर्म-कार्यत्व के रहते सुखदुःख का निषेध नहीं बन सकता है, पूर्ववर्णित रीति से सर्वधर्मकार्य सुखादि युक्त होते हैं ।

अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेन्न । तस्य स्वाभाविकत्वात् । 'अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।' (कठ० १।२।२१) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम् । तत्र किञ्चित्परिणामि नित्यं यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते । यथा पृथिव्यादि जगन्नित्यत्ववादिनाम् । यथा च सांख्यानां गुणाः । इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिःस्वभावम् । यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते ।

शंका होती है कि शरीररहित होने पर सुखदुःख स्पर्श नहीं होता है, यह ठीक है, परन्तु वह शरीरशून्यता ही उपासनादिरूप विलक्षण धर्म का कार्य है, और उस उपासनादि विधि के शेष रूप से ब्रह्म का ज्ञान होता है । उत्तर है कि ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि उस मुक्त स्वरूप आत्मनिष्ठ शरीरशून्यता को स्वाभाविकता है, स्वभाव से ही सर्वात्मा शरीर-सम्बन्ध से रहित है, भ्रम से उसमें शरीर भासता है, भ्रम की निवृत्ति के लिए ज्ञान चाहिये, धर्म नहीं । श्रुति कहती है कि शरीर में शरीररहित अनवस्थिर (विनश्वर) शरीरादि में स्थिर (नित्य) महान् विभु आत्मा को साक्षात् करके ज्ञानी शोक नहीं करता है, इस ज्ञान के लिए उपासनादि का निवारण

नहीं किया जाता है। यह आत्मा प्राण और मन के संगादि से भी रहित है। यह असंग पुरुष आत्मा है, इत्यादि श्रुतियों से स्वाभाविक अशरीरी आत्मा सिद्ध होता है। इसीसे कर्तव्य कर्मफल से विलक्षण मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है, यह सिद्ध होता है। उस नित्य के भी दो भेद होते हैं, कोई वस्तु परिणामी नित्य होती है, अर्थात् धर्म, लक्षण (काल) अवस्था के भेद से स्वरूप को अन्यथा करने वाली होती है, कि जिसके विक्रियमाण (विकारयुक्त अन्यथा स्वरूप) होने पर भी वही वस्तु यह है, इस बुद्धि की निवृत्ति नहीं होती है। जैसे की जगत् को नित्य कहने वालों के मत में पृथिवी आदि परिणामी नित्य हैं और सांख्यशास्त्र को मानने वालों के मत में सत्त्वादि रूप तीनों गुण परिणामी नित्य हैं, परन्तु यह शरीरराहित्य रूप मोक्ष नामक नित्यत्व ही पारमार्थिक (सत्य) है, परिणामी नित्यत्व कल्पनामात्र है। एवं यह मोक्ष कूटस्थ (निर्विकार) नित्य, आकाशतुल्य सर्वव्यापी है। अत एव धर्मादिकृत सब विकारों से रहित, नित्यतृप्त निरवयव और स्वयंप्रकाश स्वभाववाला है, इससे ही धर्म से साध्य भी नहीं होने से जिसमें कार्यों के सहित धर्म और अधर्म कभी नहीं रहते हैं, न तीन काल का सम्बन्ध होता है, इससे भूत-भावितादि नहीं होते हैं इत्यादि।

तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' (कठ० २।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अतस्तद् ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता। तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्यत। नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते, अतो न कर्त्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः।

यह पूर्वोक्त मोक्ष नामक अशरीरत्व (सर्वशरीरराहित्य) धर्म से अन्य, अधर्म से अन्य, इस कार्य और कारण से अन्य, भूत, भावी वर्तमान से अन्य है इत्यादि श्रुत्यर्थ से सिद्ध होता है। और इन श्रुतियों से तथा कूटस्थतादि से वह अशरीरत्व ही ब्रह्म है जिसकी यह जिज्ञासा प्रस्तुत (आरब्ध) है। वह ब्रह्म यदि कर्तव्य उपासनादि के शेष (अंग) रूप से उपदिष्ट हो, अर्थात् कार्य के शेष रूप से यदि उसका उपदेश दिया जाय और उस कर्तव्य उपासनादि धर्म से यदि मोक्ष साध्य (जन्य) माना जाय, तो वह मोक्ष अनित्य ही होगा। और सभी मोक्षवादियों से मोक्ष नित्य माना जाता है। इसलिये कर्तव्य के शेष रूप से ब्रह्म का उपदेश होना युक्त (उचित) नहीं है।

अपि च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'[१] (मुण्ड० २।२।८) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'न बिभेति

१ परं च अवरं च परावरम्। अथवा परमपि यस्मादवरम् इस प्रकार विग्रह भेद से यह भी अर्थ होता है कि अन्य से पर भी हिरण्यगर्भादि, जिससे अवर हैं इत्यादि।

कुतश्चन' (तैत्ति० २।९) 'अभयं वै जनक ! प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्' (वाजसनेयिब्राह्मणोप० १।४। ०), 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति ।

और जो ब्रह्म को साक्षात्कार करता है, वह ब्रह्म (मुक्त) हो जाता है। परावर (कारण-कार्य स्वरूप सर्वाधिष्ठान) उस परब्रह्म के साक्षात्कार होने पर इस विद्वान् के प्रारब्ध से भिन्न सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मानन्द को जानने वाला किसी से भयभीत नहीं होता है। हे जनक ! तुम अभय को प्राप्त हो चुके हो। यह जीव प्रथम ब्रह्म ही था, और है, अज्ञान से जीवत्व को प्राप्त सा हुआ है। गुरु उपदेश से जब वह ब्रह्मस्वरूप अपने को समझा कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उससे वह ब्रह्म ही हो गया। एक आत्मतत्व को समझने वालों में उस ज्ञान काल में कौन मोह और शोक रह सकते हैं, मूल सहित इनका अभाव हो जाता है। इस प्रकार कहने वाली श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान के अव्यवहित उत्तरकाल में मोक्ष दिखलाती हुई ज्ञान और मोक्ष के मध्य में कार्यान्तर का वारण करती हैं।

यथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १।४।१०) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम्। यथा तिष्ठन् गायतीति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते। 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयति' (प्रश्न० ६।८) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदि'ति 'सोऽहं भगवः शोचामि तन्मा भगवाञ्छोकस्य परं पारं तारयतु (छा० ७।१।३) 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः परं पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' (छा० ७।१६।२) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति।

इसी प्रकार उस ब्रह्म को इस अन्तरात्मस्वरूप से अपरोक्षानुभव करते हुए वामदेव ऋषि ने अपने को सर्वात्मस्वरूप से इस प्रकार अनुभव किया कि मैं ही मनु और सूर्यादि रूप से हुआ और हूँ। इससे ब्रह्मानुभव और सर्वात्मभाव मोक्ष के मध्य में कार्यान्तर के अभाव के लिए यह श्रुति उदाहरणयोग्य है। जैसे कि 'खड़ा होता हुआ गाता है' इस कथन से खड़े होने और गाने के बीच में उस पुरुषकृत कार्यान्तर नहीं है, ऐसी प्रतीति होती है। भारद्वाजादि ऋषियों ने पिप्पलाद गुरु के प्रति कहा कि आप ही हम सब के पिता हैं, जो आप-हम सबको अविद्यात्मक संसार-सागर से पर पार में पहुँचाते हैं। नारद जी ने सनत्कुमार जी से कहा कि भगवत्तुल्य ज्ञानियों से यह वचन मुझे श्रुत है कि आत्मज्ञ, शोकरहित हो जाता है। यह तत्त्व मुझे अनुभूत नहीं है। हे भगवन् इससे वह अज्ञ मैं शोकयुक्त हूँ, उस अज्ञ मुझको ज्ञान नाव द्वारा शोकात्मक संसार से पार कर दो। तप आदि द्वारा विनाशित दोष वाले उस नारद

को भगवान् सनत्कुमार ने अविद्या रूप तम से परत्तत्व को दर्शाया। इत्याद्यर्थक श्रुतियाँ भी मोक्ष के प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्तिमात्र को ही आत्मज्ञान का फल दर्शाती हैं।

तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या० सू० १।१।२) इति। मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति। न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्पद्रूपम्। यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृ० ३।१।९) इति। न चाध्यासरूपम् यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) इति च मन आदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः।

मोक्ष के लिये अज्ञान की निवृत्ति में केवल श्रुति ही नहीं प्रमाण है किन्तु गौतमाचार्यप्रणीत (रचित) न्याययुक्त सूत्र भी इस अर्थ में प्रमाण है, सूत्र का अर्थ है त्रिविध या एकविंशति प्रकार के दुःख, जन्म, प्रवृत्ति (धर्माधर्म), दोष (रागद्वेषलोभेर्ष्यादि) और मिथ्या ज्ञान (अविद्या भ्रम) इनमें पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर के कारण हैं, इससे उत्तर-उत्तर की निवृत्ति से पूर्व-पूर्व के अभाव से अपवर्ग (मोक्ष) होता है, अर्थात् मिथ्याज्ञानादि की क्रम से निवृत्ति द्वारा दुःख की सर्वथा निवृत्ति ही मोक्ष है। यद्यपि उक्त आचार्य के मत में भिन्नात्म ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति मानी गई है, तथापि श्रुति के अनुसार ब्रह्मात्मा के एकत्व के विज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है। यदि कोई कहे कि यह एकत्वज्ञान सत्यवस्तुविषयक नहीं है, जिससे अज्ञान की निवृत्ति द्वारा मोक्ष हो सके, किन्तु सम्पदादि रूप है, अर्थात् जैसे मन की वृत्तियाँ अनन्त हैं, और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, वहाँ इस अनन्तता रूप तुल्यता से हीन मन में उत्तम विश्वेदेवरूपता का संपादन (संकल्प) करके और उस मन को नहीं समझ कर उस रूप से विश्वेदेव के चिन्तन को सम्पत् कहा जाता है, ऐसा ही ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान है, चिद्रूपता की तुल्यता से जीव को उत्तम ब्रह्मरूप मान कर ब्रह्म का चिन्तन है, उस रूप से विश्वेदेव के चिन्तन को सम्पत् कहा जाता है, ऐसा ही ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान है, चिद्रूपता की तुल्यता से जीव को उत्तम ब्रह्मरूप मान कर ब्रह्म का चिन्तन है, अथवा जैसे मन की ब्रह्मरूप से वा सूर्य की ब्रह्म रूप से उपासना विधि है, आदेश (उपदेश) है वहाँ हीन का ही उत्तम रूप से चिन्तन होता है, ब्रह्म को न समझ कर मन को ब्रह्म समझा जाता है, वह अध्यात्मक प्रतीकोपासना है, ऐसे ही ब्रह्मभिन्न जीव को उत्तम ब्रह्मरूप से अध्यासात्मक ज्ञान है, और उक्त सम्पदुपासना का जैसे अनन्त लोक की प्राप्ति फल है वैसे ही इसका भी अमृतत्व की प्राप्ति फल है इत्यादि। वहाँ कहा जाता है कि यह ब्रह्म आत्मा की एकता का विज्ञानसम्पत् रूप वा मन आदि में जैसा ब्रह्म दृष्टि का अध्यास किया जाता है, वैसा अध्यास रूप नहीं है। सम्पद्वा अध्यासरूपता के अभाव में आगे हेतु कहे जायँगे।

नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तम्, 'वायुर्वाव संवर्गः' 'प्राणो वाव संवर्गः' (छान्दो० ४।३।१) इतिवत्। नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्काररूपम्, संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि' (छान्दो०

६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० १।४।१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत। भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (मुण्ड० २।२।८) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन् । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन् ।

इसी प्रकार यदि कोई कहे कि जैसे प्रलयकाल में वायु देव, अग्नि जलादि देव का संवरण संहरण करके उन्हें अपने में स्थिर करता है, तथा सुषुप्ति और प्रलयकाल में प्राण भी वागादि इन्द्रियों को अपने में संहरण करता है इससे श्रुति में वायु और प्राण की संवरण क्रिया (व्यापार) विशेष के योग से संवर्ग कहा गया है, वैसे ही जीव में बृंहण (वृद्धि) क्रिया के योग संबन्ध से जीव को ब्रह्म कहा गया है, या 'पत्न्यावेक्षितमाज्यं भवति' इस वचन के अनुसार जैसे यज्ञ में यजमान की पत्नी से देखा गया घृत संस्कृत होता है वैसे ही 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि से विहित दर्शन द्वारा आत्मा यज्ञादि के लिये संस्कृत (शुद्ध) होता है, इससे कर्माङ्ग ही आत्मज्ञान है इत्यादि । तब कहा जाता है कि संवर्ग के समान विशिष्ट क्रिया सम्बन्ध निमित्तक वा आज्यावेक्षण (घृतदर्शन) आदि के समान भी यह ब्रह्मात्मा को एकता का दर्शन नहीं है । क्योंकि सम्पदादिरूप ब्रह्मात्मा के एकत्व ज्ञान को मानने पर, 'वह तू ही है, मैं ब्रह्म हूँ यह आत्मा ब्रह्म है' इस प्रकार कहने वाले सब वाक्यों के ब्रह्मात्मा की एकात्मक वस्तु का प्रतिपादन विषयक जो पदों का सम्यक् अन्वय (सम्बन्ध) है, वह नष्ट हो जायगा । और आत्म ज्ञान से हृदय की कामादि ग्रन्थि (बन्धन) सब टूट जाती हैं—सब संशय नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार ज्ञान मात्र से अविद्या की निवृत्ति रूप फल श्रवण सब उपरुद्ध (बाधित-मिथ्या) हो जायँगे और ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है, इस प्रकार के ज्ञान से ब्रह्मभाव की प्राप्ति के बोधक वचन सब सम्पदादि पक्ष में सामञ्जस्य (न्याय) उचित रूप से नहीं सिद्ध होंगे ।

तस्मान्न सम्पदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम् । अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या । किं तर्हि ? प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा । एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम् । न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः, 'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि' (केन० १।३) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' (बृह० २।४।१३) इति च । तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (केन० १।४) इति ।

'उक्त हेतुओं से ब्रह्मात्मा की एकता का ज्ञान सम्पदादि चारों में स किसी रूप में नहीं

है, इसीसे पुरुष के व्यापाराधीन भी ब्रह्म विद्या नहीं है। तो क्या नित्य है ? ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय जो वस्तु उनके ज्ञानों के समान ब्रह्मविद्या भी वस्तुतन्त्र (अधीन) है। इस प्रकार के ब्रह्म और उसके ज्ञान को किसी भी युक्ति से कार्य के साथ सम्बन्ध की कल्पना नहीं हो सकती है। ज्ञानक्रिया के कर्म रूप से भी ब्रह्म का किसी कार्य के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, ज्ञान का भी कर्म नहीं हो सकता क्योंकि श्रुति कहती है कि 'वह ब्रह्म विदित (ज्ञात-कार्यादि) और अविदित (कारणादि) से अधि (उपरि-अन्य) है'। अर्थात् व्याकृत नाम रूप और अव्याकृत प्रकृति से अन्य स्वयं प्रकाश है। इससे ज्ञानक्रिया की कर्मता का निषेध होता है। इसी प्रकार श्रुति कहती है कि जिस आत्मप्रकाश से लोग इस सब दृश्य वस्तु को जानते हैं, उसे किस साधन से जानेंगे। इससे भी ज्ञानक्रिया की कर्मता का निषेध ही किया गया है। इसी प्रकार उपास्ति (उपासना) क्रिया की कर्मता का ब्रह्म में निषेध है, जो ब्रह्म वाक् इन्द्रिय से अभ्युदित (प्रकाशित-कथित) नहीं होता और जिस ब्रह्म से वाक् प्रकाशित प्रेरित होती है। इस प्रकार ब्रह्म को इन्द्रियों की अविषयता का कथन करके कहा है कि उसी अविषय स्वरूप ब्रह्म को तुम समझो, ये जो इन्द्रियों के विषय पदार्थ प्रसिद्ध हैं, जिनकी उपासना की जाती है, उन्हें ब्रह्म नहीं समझो क्योंकि जिसकी उपासना की जाती है वे ब्रह्म नहीं हैं, इत्यादि।

अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्। न। अविद्याकल्पित-भेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि ? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य—वेदितृ-वेदनादिभेदमपनयति। तथाच शास्त्रम्—'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' (केन० २।३), 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृह० ३।४।२) इति चैवमादि। अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः।

यहाँ शंका होती है कि यदि ब्रह्म वाक् का अविषय है, उसका शब्द से ज्ञान नहीं होता है, तो पूर्ववर्णित शास्त्रप्रमाणगम्यत्व रूप शास्त्रयोनित्व की अप्रसिद्धि होती है ? उत्तर है कि शास्त्रप्रमाणकत्व की असिद्धि नहीं होती है, क्योंकि अविद्या से कल्पित (मिथ्याभासित) जो भेद उसकी निवृत्ति परक शास्त्र है, वह निवृत्ति विषयता बिना भी होती है। अर्थात् जो अधिकारी प्रथम विवेकादि से समझा है कि शरीर-मन-बुद्धि-प्राण इन्द्रियादि की अनेक अवस्था संकोच-विकाशादि होते हुए भी मैं एकरस साक्षी रूप ही रहता हूँ और शास्त्रादि द्वारा परोक्ष रूप से ब्रह्म को सत्यादि स्वरूप समझता है--भिन्न समझता है। वहाँ भेद मात्र का निवारण तत्त्वमसि, इत्यादि वाक्य करता है, क्योंकि उक्त शास्त्र भी इदं (ग्राह्य-अनात्म) रूप से ज्ञान के विषय स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करता नहीं

चाहता है। भाव है कि रस गन्धादि को भी शब्द इदं रूप से स्पष्ट नहीं समझा सकता तो ब्रह्म की बात तो और अति दूर है, यदि कहा जाय कि इदं रूप से नहीं समझना चाहता तो क्या करना चाहता है ? तो उत्तर है कि अन्तरात्मा रूप से अविषय रूप से प्रतिपादन करता हुआ स्वयं प्रकाश सर्वसाक्षी आदि स्वरूप समझता हुआ अविद्या से कल्पित वेद्य (ज्ञेय) वेदितृ (ज्ञाता-प्रमाता) वेदन (ज्ञान) आदि के सत्य भेद को ब्रह्म में शास्त्र निवृत्त करता है। अर्थात् जीवात्मा रूप प्रमाता प्रमाणाधीन प्रमिति (ज्ञान) से घटादि को समझता है। वहाँ जीव में उस घटादि से विलक्षण इन्द्रियादि के अविषय ब्रह्मरूपता को समझता हुआ शास्त्र प्रमाता में प्रमातृत्व आदि का निषेध करता है। इसे मिथ्या समझता है। इसी प्रकार शास्त्र भी कहता है कि जिसको ब्रह्म विषय रूप से अमत (अज्ञात) है, उसी को ज्ञात है, और जिसको विषय रूप से ज्ञात है, वह ब्रह्म को नहीं जानता है। इसीसे ज्ञानी के लिये ब्रह्म अदृश्य है। अज्ञानी के लिये विज्ञात (दृश्य) है। उषस्त से याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि लौकिक दृष्टि के द्रष्टा (साक्षी) को तुम नहीं देख सकते हो, न बुद्धिवृत्ति के विज्ञाता को जान सकते हो इत्यादि। इससे अविद्या से कल्पित सांसारित्व की ज्ञान से निवृत्ति द्वारा नित्यमुक्त आत्मस्वरूप के समझाने प्राप्त कराने से मोक्ष में अनित्यता रूप दोष नहीं है।

यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च। तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। न हि दध्यादि विकार्यं उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके। न चाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः आकाशस्येव। नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा। न तावद्गुणाधानेन सम्भवति, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य।

क्षणिक विज्ञानवादी आदि के मत में मोक्ष उत्पत्ति के योग्य है, उसके मत में मानसिक, वाचिक वा कायिक क्रिया की अपेक्षा मोक्ष करता है, अर्थात् क्रिया से मोक्ष-सिद्ध होता है यह मानना युक्त (उचित) है। इसी प्रकार विकार के योग्य जिसके मत में मोक्ष है, उसे भी विकारार्ह मोक्ष में कर्म की अपेक्षा है। परन्तु उन दोनों पक्षों (सिद्धान्तों) में मोक्ष को अवश्य निश्चित अनित्यत्व होगा क्योंकि विकार योग्य दधि आदि और उत्पत्ति योग्य घटादि लोक में नित्य नहीं देखे गये हैं। मोक्ष को आप्य (प्राप्तियोग्य) मान कर भी उसके लिये क्रिया की अपेक्षा मानना उचित नहीं है, क्योंकि यदि मोक्ष निजात्मस्वरूप है तो प्राप्ति के योग्य नहीं है। स्वरूप में कर्तृकर्म भाव विरुद्ध है। यदि मोक्षात्मक ब्रह्म निजस्वरूप से भिन्न हो तो भी वह प्राप्ति योग्य नहीं है, क्योंकि सर्वगत (व्यापक) होने से सबको सदा आकाश के समान ब्रह्म प्राप्त ही है। ब्रह्मात्मक मोक्ष संस्कार के

योग्य भी नहीं है जिससे संस्कार के लिये क्रिया की अपेक्षा हो। क्योंकि क्रियाजन्य संस्कार रूप फल दो प्रकार से होता है। एक तो संस्कार योग्य वस्तु में गुणाधान (गुण का प्रापण-स्थापन) से संस्कार होता है, जैसे श्वेत वस्त्र को रंगने से होता है। दूसरा दोष की निवृत्ति से होता है जैसे मलिन वस्त्र को धोने से होता है। यहाँ गुणाधान से ब्रह्म का संस्कार नहीं हो सकता है, क्योंकि असंगादि होने से अतिशय (भेदविशेषता) जिसमें नहीं प्राप्त हो सके, वह ब्रह्म स्वरूप मोक्ष है। इसी से तथा मोक्षात्मक ब्रह्म के नित्य, शुद्ध, ब्रह्मस्वरूप होने से दोष के निवारण द्वारा भी संस्कार नहीं हो सकता है।

स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्। न। क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया हि क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया विक्रियेतानित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। 'अविकार्योऽयमुच्यते' इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम्। तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः सम्भवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयात्मा संस्क्रियते।

उक्तार्थ में शंका होती है कि स्वात्मा के ही धर्म नित्य, मुक्तत्वादि रूप मोक्ष है, जो पापादि रूप मल से तिरोहित (आच्छादित) है। जहाँ क्रिया रूप धर्मोपासनादि से आत्मा के संस्कृत (शुद्ध) होने पर वह मोक्ष अभिव्यक्त प्रगट होता है, जैसे मलिन दर्पण को धूलि आदि द्वारा घिसने से उसके शुद्ध होने पर उसका भास्वरत्व (दीप्त स्वभाव) रूप धर्म प्रगट होता है। तो उत्तर है कि ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि आत्माश्रयादि दोष से और कूटस्थ नित्य, निरवयव आत्मा के होने से आत्मा को क्रिया का आश्रयत्व नहीं हो सकता, इससे स्वाश्रित क्रिया से स्वयं संस्कृत नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें दोष ही नहीं है, और यदि उसमें क्रिया हो तो वह निर्विकार भी नहीं रह सकता, क्योंकि जिसमें क्रिया होती है, उसको विकृत किए बिना स्वरूप का लाभ नहीं करती। आश्रय को विकृत करती हुई ही क्रिया उत्पन्न होती है, यह उसका स्वभाव है। यदि मान लो कि कि आत्मा में क्रिया होती है, और आत्मा क्रिया से विकृत भी होता है तो आत्मा में अनित्यता की प्राप्ति होगी, और 'यह आत्मा विकारी नहीं कहा जाता है', इत्यादि भगवद्वाक्यादि भी बाधित (तिरस्कृत-अनादृत) होंगे, वह अनिष्ट है। जिससे आत्मा के संस्कार का हेतु स्वाश्रय क्रिया नहीं हो सकती है। यदि आत्मा से अन्य किसी में रहने वाली क्रिया से आत्मा का संस्कार मानो कि जैसे हस्तगत घर्षण रूप क्रिया से दर्पण का संस्कार होता है, तो भी नहीं हो सकता है, दृष्टान्त में दर्पण सावयव पदार्थ है धूलि, हस्तादि के साथ उसका संयोग बनता है, निरवयव आत्मा अन्याश्रित क्रिया के अविषय होने से (संयोगादिरहित होने से) उससे संस्कृत नहीं हो सकता है।

ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः। न, देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम्। तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदविद्यात्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम्। यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलं 'अहमरोग' इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते। एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना 'अहं शुद्धः संस्कृत' इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव। तेनैव ह्यहंकर्त्राहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते, तत्फलं च स एवाश्नाति।

उक्तार्थ में शंका होती है कि देह में होने वाली स्नान आचमन (जलोपस्पर्श), यज्ञोपवीत (यज्ञसूत्र) आदि क्रिया से देही (जीवात्मा) संस्कृत हुआ देखा गया है, इसी प्रकार अन्यगत क्रिया से आत्मा भी संस्कृत हो सकता है। उत्तर है कि ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि देह के संस्कार से भी देहेन्द्रियादि से संहत (मिलित) उसके मध्यगत; और अविद्या से गृहीत (देहादि के अभिमानयुक्त) देहाभिन्नात्ममानी जीवात्मा (व्यावहारिक जीव) का ही संस्कार होता है, असंग का नहीं। और स्नानाचमनादि को प्रत्यक्ष ही देह सम्बन्धिता है। इससे उस देहाश्रित क्रिया से उस देह से मिलित ही कोई अज्ञ व्यावहारिक जीवात्मा अविद्या से सत्यात्मत्व से ज्ञात हुआ संस्कृत होता है ऐसा होना युक्त ही है, जैसे कि देहाश्रित चिकित्सा (रोगनिवारण) निमित्तक रस, रक्त, वातपित्तादि धातुओं की समता से उस देह से मिलित देहाभिमानी को आरोग्य फल होता है, जिसमें मैं अरोग हुआ ऐसी बुद्धि होती है। इसी प्रकार स्नानादि से जिसमें ऐसी बुद्धि होती है कि मैं शुद्ध और संस्कृत हो गया, वही संस्कृत होता है, वह देह से मिलित ही है। उसी अहंकार करने वाले और अहं रस ज्ञान के विषय, तथा वृत्ति रूप ज्ञान, कामादि के आश्रय जीव से सब क्रियाएँ की जाती हैं, और वही उन क्रियाओं के फलों को भोगता है।

'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मुण्ड० ३।१।१) इति मन्त्रवर्णात्, 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठ० १।३।४) इति च। तथा 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० ६।११) इति, 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्' (ईशा० ८) इति च, एतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः। ब्रह्मभावश्च मोक्षः। तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः। अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम्। तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते।

उक्त अर्थ इन वक्ष्यमाणार्थक वचनों से सिद्ध होता है। एक देहरूप वृक्ष पर

रहने वाले उन जीवात्मा और ब्रह्म में से अन्य (एक) क्षेत्रज्ञनामक जीव स्वादु पिप्पल (कर्मफल) को भोगता है और उससे अन्य सर्वज्ञ ईश्वर कर्मफल को नहीं भोगता हुआ देखता (प्रकाशता) है। आत्मभाव से गृहीत देह, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं; केवल को नहीं। वह एक देव (दीप्त स्वरूप) सब प्राणी में है परन्तु माया से गूढ (छिपा) है। सब में व्यापक और सब प्राणी की अन्त· रात्मारूप वह एक ही है, कर्मों का अध्यक्ष (नियन्ता) सब भूतों में बसने वाला साक्षी (निर्विकार साक्षात् द्रष्टा) अत एव केवल चेता (बोद्धा) और निर्गुण है। वह आत्मा सर्वत्र व्यापक शुक्र (दीप्तिमान्) लिङ्ग-देह रहित, अव्रण (अक्षत-दुःखरहित) अस्नाविर (शिरा-स्नायुरहित अनश्वर) है- स्थूल देहरहित है, और शुद्ध पाप रहित है अर्थात् अविद्या, राग, द्वेष, धर्माधर्मादि से असंग है। इन वचनों में से कठश्रुति संसारी जीवात्मा का वर्णन करती है और उससे अन्य दो मन्त्र ब्रह्मसम्बन्धी अतिशय (न्यूनाधिकभाव) के आधान से रहित नित्यमुक्तता को दर्शाते हैं और अतिशयादि रहित नित्यमुक्त ब्रह्मभाव ही मोक्ष है। जिससे संस्कार के योग्य भी मोक्ष नहीं है। पूर्ववर्णित मोक्ष में क्रियाप्रवेश के चार द्वारों से अन्य मोक्ष के प्रति क्रिया सम्बन्ध के द्वार (हेतु) को कोई देखा नहीं है, और उक्त चारों का असम्भव दर्शाया गया है। इससे एक ज्ञान को छोड़कर क्रिया के गन्ध (लेश) मात्र का भी इस मोक्ष में सम्बन्ध नहीं होता है।

ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया। न। वैलक्षण्यात्। क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च, यथा 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' इति, 'संध्यां मनसा ध्यायेत्' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति चैवमादिषु ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसम्, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं, पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम् प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्, अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्, न चोदनातन्त्रम्, नापि पुरुषतन्त्रम्, तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्।

शंका होती है कि ज्ञान भी तो मानसी क्रिया ही है, तो विधि का विषय क्यों न होगा, वा उसके उत्पाद्यादि रूप फल क्यों नहीं होंगे ? उत्तर है कि ज्ञान क्रियारूप नहीं है, ज्ञान को क्रिया से विलक्षणता है। क्रिया वह है कि जहाँ वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा बिना विधि (प्रेरणा) होती है, और जो पुरुष के चित्त का व्यापार (इच्छा -अनिच्छा आदि) के अधीन होती है। जैसे कि—जिस देवता के लिए अध्वर्यु से हवि गृहीत हो, उस देव का 'वषट' इस शब्द का उच्चारण करता हुआ, होता मन से ध्यान करे। संध्या देव को संध्या काल में मन से ध्यान करे इत्यादि स्थानों में ध्यान चिन्तन रूप है। वह यद्यपि मानस है, तथापि पुरुष से करने न करने वा अन्यथा करने

में शक्य है क्योंकि पुरुष के अधीन है देवता के रहते भी ध्यान देवता के अधीन नहीं है। और ज्ञान तो प्रमाण जन्य होता है, और प्रमाण वही होता है कि जो वस्तु जैसी हो वैसी ही उसको विषय करे (प्रकाशे) इससे यथार्थ वस्तुविषयक होता है। इससे वह ज्ञान करने न करने अन्यथा करने के योग्य नहीं होता है। केवल वस्तु के अधीन ही वह ज्ञान होता है, न विधि के अधीन होता है, न पुरुष के अधीन होता है। इस कारण से ज्ञान के मानसत्व रहते भी क्रिया से इसमें बड़ी विलक्षणता है।

यथाच 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः', 'योषा वाव गौतमाग्निः' (छान्दो० ५।७, ८।१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति, केवलचोदनाजन्यत्वात्क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिर्न सा चोदनातन्त्रा, नापि पुरुषतन्त्रा, किं तर्हि ? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवंसति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्त्युपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत् अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात्।

जिस प्रकार पञ्चाग्निविद्या प्रकरण में स्वर्ग, मेघ, भूमि का अग्नि रूप से चिन्तन का वर्णन करके कहा गया है कि हे गौतम ! पुरुष भी अग्नि है, योषा (स्त्री) भी अग्नि है। जहाँ स्त्री, पुरुष में विधि के अनुसार उपासक को अग्निबुद्धि होती है, वहाँ केवल विधिजन्य होने से क्रिया ही होती है, और पुरुषाधीन ही होती है और जो लोक में प्रसिद्ध अग्नि में अग्निबुद्धि होती है, न तो वह विधि के अधीन होती है और न पुरुष के अधीन होती है। तो वह बुद्धि प्रत्यक्ष इन्द्रिय का विषय जो वस्तु उसके अधीन हो कैसे होती है ? इससे वह ज्ञान होता है, क्रिया नहीं। इसी प्रकार अनुमान, शब्दादि सब प्रमाणों के विषयरूप वस्तु में समझना चाहिये कि लिंग व्याप्ति ज्ञानादि रूप प्रमाण जन्य ज्ञान क्रिया रूप नहीं होता है और पूर्वरीति से सत्य वस्तु विषयक ज्ञान के वस्तु तन्त्र सिद्ध होने पर यथाभूत (सत्य स्वरूप) ब्रह्मात्म विषयक ज्ञान भी विधि के अधीन नहीं होता है, किन्तु वस्तुतन्त्र (अधीन) होता है। यद्यपि 'आत्मानं पश्येत्, आत्मेत्येवोपासीत, ब्रह्म त्वं विद्धि, आत्मा द्रष्टव्यः' इत्यादि वचनों से ब्रह्मात्मविषयक ज्ञान की विधि सा प्रतीत होती है, क्योंकि लिङ् और तव्य प्रत्यय विध्यर्थक दीख पड़ते हैं, तथापि उस विषयतन्त्र ज्ञान विषयक श्रुति भी लिङादि अनियोज्य (कृति से असाध्य-अव्यापार्य) विषय में प्रयुक्त (उच्चारित) होने से वे अर्थ बोध कराने में कुण्ठित (असमर्थ) हो जाते हैं। जैसे कि पाषाणादि में प्रेरित क्षुरा की धारतीक्ष्णता कुण्ठित होती है, ब्रह्मज्ञान का विषय ब्रह्म भी सर्वात्मा विभु होने से हेय उपादेय नहीं है। इससे विषय का विधान द्वारा भी ब्रह्मज्ञान की विधि नहीं हो सकती है।

किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि ? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः। यो हि बहि-

मुखः प्रवर्तते पुरुषः 'इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूदिति' नच तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते। तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसङ्घातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि। तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते—'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृह० २।३।६) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्, विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृह० ४।५।१५) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्यादिभिः। यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते। अलङ्कारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति।

शंका होती है कि यान अविधेय है, तो अरे मैत्रेयि ! आत्मा दर्शन के योग्य है, सुनने योग्य है, इत्यादि विधि तुल्य वचन सब किस प्रयोजन के लिये हैं ? उत्तर है कि स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयक वस्तु से विमुख करने के लिये हैं, इस प्रकार प्रयोजन कहा जाता है। क्योंकि जो बहिर्मुख (विषयपरायण) पुरुष मुझे इष्ट (सुख) हो, अनिष्ट (दुःख) नहीं हो, इस बुद्धि से बाह्य विषय में प्रवृत्त होता है और वहाँ आत्यन्तिक पुरुषार्थ (नित्य सुख शान्ति) नहीं पाता है। उस नित्य सुख चाहने वाले को स्वाभाविक शरीर और इन्द्रियों के समूह की प्रवृत्ति के विषयों से विमुख करके अन्तरात्मा विषयक उसकी चित्तवृत्ति के प्रवाह रूप से उसको 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वचन प्रवृत्त कराते हैं, आत्मान्वेषण (खोज) में लगाते हैं। फिर जब वह आत्मान्वेषण ज्ञान में प्रवृत्त होता है तब उसको अहेय अनुपादेय (त्याग ग्रहण के अयोग्य) आत्मतत्त्व का उपदेश दिया है कि 'जो यह जगत् है वह सब आत्म स्वरूप है, सर्वत्र एक आत्मा ही की सत्ता है, भेद मायामात्र मिथ्या है।' इस निश्चय से जब इस ज्ञानी को सब आत्मस्वरूप सिद्ध सत्य हो गया तब किस साधन से किसको देखे किसको जाने, अरे मैत्रेयि ! विज्ञाता आत्मा को किससे जाने। यदि कहा जाय कि यह आत्मा ब्रह्म को जाने तो वह कहना भी नहीं बन सकता, क्योंकि यह आत्मा ही ब्रह्म है। इससे द्रष्टा द्रष्टव्यादि भाव भी मायामात्र है इत्यादि उपदेश श्रुतियों से दिया जाता है। और जो कहा गया था कि अकर्तव्य प्रधान (विधिसम्बन्धरहित) आत्मज्ञान त्याग वा ग्रहण के लिये नहीं होता है, वह वैसा ही माना जाता है। यह आत्मज्ञों की शोभा है कि जो आत्मज्ञान के होने पर कर्तव्यता की निवृत्ति और कृतकृत्यता हो जाती है।

तथा च श्रुतिः—

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।' (बृह० ४।४।१२) इति।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत। (भ० गी० १५।२०)

इति च स्मृतिः। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।

यदपि केचिदाहुः—'प्रवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेद-भागो नास्ति' इति, तन्न, औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात्। योऽसावुप-निषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्व-प्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्, 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृह० ३।९।२६) इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्या-तुमशक्यत्वात्। य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वप्रसङ्गात्।

इस कृतकृत्यता को श्रुति और स्मृति कहती है कि, यदि आत्मा को पुरुष इस प्रकार जान जाय कि सर्वसाक्षी आनन्द स्वरूप मैं हूँ, तो किस वस्तु की इच्छा करता हुआ वा किस फल की इच्छा से किसके प्रयोजन के लिये शरीर के ताप से तप्त हो सकता है, अर्थात् वह सबसे रहित कृतकृत्य हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! इस गुह्य (गुप्त) तत्त्व को जानकर वृद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। जिससे प्रतिपत्तिविधि के विषय रूप से ब्रह्म का बोध वेदान्त से नहीं होता है। और जो कोई यह कहते हैं कि प्रवृत्तिविधि, निवृत्तिविधि, और उन दोनों के शेष (अंग) रूप वेद भाग से अतिरिक्त (भिन्न) वेद का भाग नहीं है, वह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि उपनिषद् से ज्ञेय पुरुष (आत्मा) विधिनिषेध का शेष नहीं है, और उसके बोधक उपनिषद् वेद हैं। जो यह उपनिषदों में ही पुरुष ज्ञात होता है, वही असंसारी पुरुष ब्रह्म है और उत्पाद्य, विकार्य, प्राप्य, संस्कार्य, साध्य चारों प्रकार के द्रव्यों से विलक्षण है, और किसी विधिनिषेध प्रकरण में नहीं वर्णित होने से खास स्वप्रकरण में निरूपित है इससे स्वप्रकरणस्थ है किसी का शेष नहीं है, वह नहीं है, वा नहीं समझा जाता है, इस प्रकार भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि नेति नेति पद से प्रपञ्च का निषेधपूर्वक जो यह अपरोक्षात्मा को कहा गया है, उसको आत्मशब्दार्थ होने से उसका निषेध नहीं हो सकता। आत्मा निषेध के अयोग्य है, क्योंकि जो निषेध करने वाला है, उसका भी वह आत्मा है, इससे स्वात्मनिषेध की प्राप्ति होगी।

नन्वात्माहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्। न। तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्। न ह्यहं प्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्व-भूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधि-गतः सर्वस्यात्मा, अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम्। आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः। सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरु-षान्तं विनश्यति। पुरुषो हि विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः, तस्मात् 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० १।३।११) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह० ३।९।२६) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु -

प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्व उपपद्यते। अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम्'

उक्तार्थ में शंका होती है कि लोक-शास्त्र के व्यवहारों में आत्मा अहं (मैं) इस ज्ञान का विषय होता है यह प्रसिद्ध है, फिर उसको औपनिषद शब्द द्वारा उपनिषदों में ही विज्ञात होता है, ऐसा कहना अयुक्त है ? उत्तर है कि 'अहंप्रत्यय' के विषय कर्ता भोक्ता का आत्मा साक्षी है, इससे आत्मा में अहंप्रत्यय (ज्ञान) की विषयता प्रयुक्त (निषिद्ध) है। क्योंकि अहं ज्ञान का विषय कर्ता से भिन्न और उसका भी साक्षी सर्वभूत निवासी सम (एकरस) एक कूटस्थ नित्य सर्वात्मा पुरुष, कर्मकाण्ड में वा तर्ककाल में न्यायसिद्धान्त में किसी से ज्ञात नहीं हुआ है, न होता है, और इस अज्ञानता से हीन वह प्रत्याख्यान (निषेध) के योग्य है, न विधि के अङ्गत्व प्राप्त कराने के योग्य है, तथा सर्वात्मा होने ही से न हेय है न उपादेय (ग्राह्य) है। क्योंकि विनश्वर अनात्म वस्तु हेय होता है, और विनष्ट होता हुआ विकार सब भी पुरुषान्त (पुरुषभिन्न) ही नष्ट होते हैं, असंग सर्वात्मा का विनाश के हेतु नहीं होने से वह अविनाशी है, विकार के हेतु नहीं होने से कूटस्थ नित्य है, और इससे ही नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त स्वभाव वाला है। इसीसे श्रुति कहती है कि (आत्मा) से पर (भिन्न-उत्तम) और सत्य कोई वस्तु नहीं है, वही सबकी सीमा है, परगति (परम पुरुषार्थ) स्वरूप है। और उपनिषद्गम्य पुरुष को मैं तुम से पूछता हूँ। यहाँ पुरुष का औपनिषदत्व (उपनिषद्गम्यत्व) विशेषण भी पुरुष के उपनिषदों में प्रधान रूप से प्रकाशित (प्राप्त) होने पर युक्त होता है। इससे उपनिषद्वेद्य सत्यात्मा है। इसलिये भूत (सिद्ध) वस्तु मात्र के बोधक वेदभाग नहीं हैं यह वचन साहसमात्र (अविवेक मूलक धाष्टर्य-मात्र) है।

यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इत्येवमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम्। अपि च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः, प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः। न हि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति। अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्। नैष दोषः। क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव। क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न चैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति।

जो शास्त्र के तात्पर्यज्ञों का अनुक्रमण (शास्त्र परिपाटीविषयक वचन) है कि कर्मावबोधन (फलवदर्थावबोधन) वेद का प्रयोजन देखा गया है इत्यादि। उसको धर्मजिज्ञासा विषयक होने से विधिनिषेध शास्त्र के तात्पर्यवाला समझना चाहिये कि विधिनिषेधरूप वेद का धर्मज्ञान प्रयोजन है इत्यादि। और ऐसा नहीं मानकर वेद क्रियावाचक

है, क्रियावाचक से भिन्न को निरर्थक समझना चाहिये। इस प्रकार जो नियम से मानने वाले हैं, उनके मत में भूत (सिद्ध) वस्तु के उपदेश रूप (दध्ना जुहोति) इत्यादि में दधि आदि पद अनर्थक प्राप्त होंगे, क्योंकि वे भी भूतार्थ वाले हैं। यदि कहा जाय कि भूतार्थक होते भी भव्य (साध्य) क्रिया के लिये कारण आदि का उपदेश करते हैं इससे सार्थक है, तो कहा जाता है कि शास्त्र यदि भूत वस्तु का उपदेश क्रिया के लिये करता है, तो कूटस्थनित्य का नहीं उपदेश करता है इसमें क्या कारण है ? क्योंकि क्रिया के लिये उपदिष्ट भूतवस्तु स्वयं क्रिया स्वरूप तो नहीं हो जाती है। यदि कहा जाय कि क्रियार्थक भूतवस्तु के क्रियात्मक नहीं होते हुए भी उसे क्रिया के साधन होने से उसका उपदेश क्रिया ही के लिए है, और ब्रह्म का उपदेश ऐसा नहीं माना जाता है, तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि दध्यादि के क्रियार्थक होने पर भी क्रियासिद्धि की शक्ति वाली सिद्ध वस्तु का तो उपदेश हुआ ही, और वह वस्तु उपदिष्ट हुई, इसी प्रकार ब्रह्म भी उपदिष्ट हो सकता है। दधि आदि की क्रियार्थता तो प्रयोजन (फल) है। एतावता (दधि आदि की क्रियार्थता से) भूत दधि आदि वस्तु अनुपदिष्ट नहीं होती है, दधि आदि शब्द का अवाच्य नहीं समझी जाती है इत्यादि।

यदि नामोपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति। उच्यते—अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन। अपि च 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति चैवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते। न च सा क्रिया, नापि क्रियासाधनम्। अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत्। 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम्। तच्चानिष्टम्। न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण।

शंका होती है कि (दध्ना जुहोति) यहाँ सिद्ध वस्तु का उपदेश सिद्ध हुआ इससे सिद्ध ब्रह्मोपदेशवादी को क्या फल हुआ, अर्थात् सिद्ध भी उपदिष्ट दधिक्रिया में उपकारक है, इससे उसका उपदेश सार्थक है, ब्रह्म तो क्रियोपयोगी नहीं है, तब उत्तर है कि अनवगत हवन कर्ता युक्त दधि का जैसे उपदेश होता है, वैसे अनवगत (अज्ञात) ब्रह्म का भी उपदेश हो सकता है, और उपदेश द्वारा उस ब्रह्म के ज्ञान से संसार (जन्मादि) के हेतु मिथ्याज्ञान अज्ञान की निवृत्ति रूप प्रयोजन भी सिद्ध होता है, इससे क्रिया के साधन दधि आदि वस्तु के उपदेश के (अविशिष्ट) तुल्य ही अर्थवत्त्व (सफलता) ब्रह्मोपदेश को है। और यह नियम नहीं है कि क्रिया और क्रिया के साधन ही का वेद और शास्त्र उपदेश करता है, क्योंकि (ब्राह्मणो न हन्तव्यः सुरां न पिबेत्) 'ब्राह्मण को नहीं मारे, मदिरा नहीं पीये' इत्यादि शास्त्रों से ब्राह्मण का हनन, मद्यपान से निवृत्ति का उपदेश दिया जाता है। और निवृत्ति न क्रियारूप है न क्रिया का साधन ही है, इससे क्रियार्थक से भिन्न का उपदेश यदि निरर्थक (निष्फल) माना

जाय तो 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निवृत्ति के उपदेश रूप शास्त्रों में अनर्थकता की प्राप्ति होगी, वह इष्ट नहीं है, इन्हें कोई भी अनर्थक नहीं मानता है। शंका हुई कि जैसे (नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्) उदित होते हुए सूर्य को नहीं देखे, यह ब्रह्मचारी के लिये प्रजापति के व्रत प्रकरण में उपदेश दिया जाता है, वहाँ सूर्य को नहीं देखना मात्र तो कोई व्रतात्मक कर्म नहीं हो सकता इसलिये अनीक्षण के संकल्प का विधान किया जाता है, वह संकल्प व्रतरूप कर्म होता है, वैसे ही 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि स्थानों में भी राग से प्राप्त हनन क्रियादि के विरोधी संकल्प का विधान किया जाता है कि हनन से उदासीनता के लिये हनन से मन का निरोधात्मक विधारक प्रयत्न करे इससे संकल्परूप यत्न क्रिया का विधायक यह वाक्य है कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' अक्रियार्थक नहीं है, उत्तर है कि 'न हन्तव्यः', इस वाक्य में, हनन क्रिया की निवृत्ति रूप उदासीनता से भिन्न संकल्पादि रूप अप्राप्त क्रियावाचकत्व रूप 'न–शब्दार्थ' की कल्पना नहीं कर सकते हैं 'नेक्षेत' वाक्य में तो व्रत के प्रकरण संकल्प की कल्पना होती है, यहाँ कोई कल्पना का कारण नहीं है। यदि फिर भी प्रश्न हो कि कारणान्तर के नहीं रहते हुए भी 'न शब्द के अनेक विरोधादि अर्थ होते हैं, जैसे—'अनुदरा कन्या' यहाँ न शब्द का अल्प अर्थ होता है, अधर्म शब्दगत न का विरोधी अर्थ होता है, वैसे ही यहाँ भी अन्यार्थ हो सकता है, तो उत्तर है कि दो प्रकार का 'न' शब्द होता है, एक पर्युदास और एक प्रसज्यप्रतिषेध कहाता है। लिखा है कि 'द्वौ नञौ हि समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ। पर्युदासः सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्' यहाँ पर्युदास का उत्तर पद से सम्बन्ध होता है, समास होता है, और लक्षणावृत्ति से अल्पविरोधादि अर्थ का बोधक होता है, वस्तुतः यह 'न' शब्द अनेकार्थक नहीं है, और पर्युदास से भिन्न जो 'न' शब्द होता है, उसका क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है, और क्रियासम्बन्धी जो 'न' शब्द होता है वह उस प्राप्त क्रियामात्र का निषेध करता है, अन्यार्थ को नहीं कहता है। इससे 'न हन्तव्यः' इस वाक्य में स्वभावरागादिवश प्राप्त हनन के साथ ही 'न' शब्द का अनुराग (सम्बन्ध) है। इससे हनन का निषेधमात्र करता है, अन्यार्थ को नहीं कहता है, और वह हनन का निषेध न क्रिया है न क्रिया का साधन है, क्योंकि अभाव भाव का साधन नहीं हो सकता, और उस निषेध का उपदेश है. वैसे ही ब्रह्म का उपदेश हो सकता है इत्यादि।

नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधयतीति। अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम्, सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति। तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम्।

क्रियासम्बन्धी प्रसज्यप्रतिषेधरूप न शब्द का यह स्वभाव है कि अपने साक्षात्

सम्बन्धी के अभाव का बोध करता है, 'न हन्तव्यः' इत्यादि में हन्धात्वर्थ के साथ 'न' शब्दार्थ का साक्षात्सम्बन्ध है, इससे उसके अभाव का बोध कराता है, अथवा प्रत्ययार्थ के प्रधान होने से उसके साथ 'न'शब्दार्थ का सम्बन्ध है, इससे बलवदनिष्टासम्बन्धी इष्टसाधनत्वरूप विधि प्रत्ययार्थ के अभाव के बोधन द्वारा बलवदनिष्टसाधनत्व का बोध कराता है, और वह हननाभाव बुद्धि तथा अनिष्टसाधनत्व (ज्ञान) हनन से उदासीनता एवं परिपालन स्थिति का कारण होता है। शंका हुई कि यदि अभाव बुद्धि उदासीनता के कारण है, तो हननोदासीनता काल में उस बुद्धि को सदा रहना चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं है, तो कहा जाता है कि वह बुद्धि दग्धेन्धनाग्नि के समान स्वयं शान्त हो जाती है। भाव है कि हनन के हेतु भ्रान्तिमूलक राग को नष्ट करके नष्ट होती है और हनन को अनिष्ट साधन समझ लेने पर तद्विषयक राग के अभाव से उदासीनता बनी रहती है इत्यादि। उक्त हेतुओं से यह सिद्ध हुआ कि रागादिमूलक प्राप्त क्रिया की निवृत्तिरूप उदासीनता ही 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि वाक्यों में 'न' शब्दार्थ माना जाता है, किन्तु 'तस्य व्रतम्, नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादि व्रत-विधायक वाक्यों से अन्यत्र के लिए यह नियम है। वहाँ अभाव मात्र 'न' शब्दार्थ नहीं है। शंका हुई कि पूर्ववर्णित 'आनर्थक्यमतदर्थानाम्' यह सूत्र का भाग फिर कैसे युक्त हो सकता है यदि अक्रियार्थक नशब्दार्थ का शास्त्र उपदेश करता है, और उसी के समान मोक्ष के लिये ब्रह्म का उपदेश भी होता है, और उपदेशजन्य ज्ञान से यदि अनर्थ की निवृत्ति भी होती है, इत्यादि। तब कहा जाता है कि इन उक्त हेतुओं से ही ऐसा समझना चाहिये कि किसी भी पुरुषार्थ में साक्षात् अनुपयोगी उपाख्यानादि रूप भूतार्थविषयक अनर्थकता का कथन क्रियासम्बन्ध के विना किया गया है।

यदप्युक्तं—'कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात् 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादिवत् इति, तत्परिहृतम्, रज्जुरियं नायं सर्प इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्। ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम्। अत्रोच्यते—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात्। न हि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्।

जो यह कहा गया है कि कर्तव्य विधि के साथ सम्बन्ध के बिना कथित वस्तुमात्र अनर्थक होगा जैसे कि 'सात द्वीपवाली भूमि है' इत्यादि कथन अनर्थक होता है। इसका परिहार भी पहले किया गया है कि रस्सी में सर्प के भ्रमयुक्त मनुष्य को कहा जाता है कि 'यह रस्सी है, सर्प नहीं है' तो वहाँ वस्तुमात्र के कथन से भय की निवृत्ति रूप प्रयोजन देखा गया है, वैसे ही ब्रह्म के कथन से श्रवणकर्ता में संसार भय का

अभाव देखा गया है, पूर्वपक्षी कहता है कि ब्रह्म का जिसने श्रवण किया है उसको भी पहले के समान संसारी दुःखभयादियुक्त देखने से रज्जु (रस्सी) स्वरूप के कथन के समान ब्रह्म का कथन सार्थक नहीं है। यहाँ सिद्धान्त की बात कही जाती है कि श्रवणमात्र से किसी परोक्ष ब्रह्मज्ञ में पूर्व के समान संसारित्व रह सकता है, परन्तु वेदरूप प्रमाणजन्य साक्षात् ब्रह्मात्मभाव से संसारित्व को विरोध होने के कारण साक्षात् अनुभूत ब्रह्मात्म भाव पुरुष को पूर्व के समान संसारित्व दर्शाने योग्य नहीं है। क्योंकि जिस शरीरादि के अभिमानी को पहले दुःखभयादिवाला देखा गया है, उसीको वेदप्रमाणजन्य ब्रह्मस्वरूपता के अपरोक्षानुभव होने पर और देहादि के अभिमानों की निवृत्ति होने पर, फिर पहले के ही मिथ्याज्ञाननिमित्तक दुःखभयादि-मत्त्व होता है (संसारित्व रहता है) ऐसी कल्पना करना शक्य (योग्य) नहीं है।

न हि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति। न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डल-वियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या—'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छान्दो० ८।१२।१) इति। शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात् न जीवत इति चेन्न। सशरीर-त्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यमशरीरत्वम-कर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम।

क्योंकि धनाभिमानी धनी गृहस्थ को चोरादि द्वारा धन के अपहरण निमित्तक दुःख देखा गया है, इससे वही यदि धनाभिमान रहित त्यागी संन्यासी हो गया तो वही धनापहरण निमित्तक दुःख उसको होता है, ऐसी कल्पना नहीं होती है, न उसे दुःख होता है, इसी प्रकार कुण्डल वाले को मैं कुण्डलवाला हूँ इस अभिमान निमित्तक सुख देखा गया है, इससे वही यदि कुण्डलाभिमान रहित कुण्डल का त्यागी हो गया तो फिर उसको वही कुण्डलाभिमाननिमित्तक सुख होता है ऐसी कल्पना नहीं होती है, न उसको कुण्डल निमित्तक सुख होता है। इन दृष्टान्तों के अनुसार देहाभिमानादि रहित ज्ञानी में सांसारिक सुख-दुःख का अभाव श्रुति से भी कहा गया है कि शरीर रहित सत्यात्मा को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते हैं, वह असंग है। यदि कोई कहे कि शरीर के पात (नाश) होने पर, अशरीरत्व होगा ज्ञानी का आत्मा सुख-दुःख रहित होगा। जीवित को अशरीरत्व नहीं हो सकता है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा में शरीर सहितत्व (शरीरित्व) मिथ्याज्ञान (अध्यास) निमित्तक है, ज्ञान से मिथ्या-ज्ञान की निवृत्ति होते ही आत्मा का नित्य अशरीरित्व अभिव्यक्त होता है। क्योंकि शरीराऽभिमानरूप मिथ्याज्ञान के बिना आत्मा की सशरीरता अन्य किसी कारण से कल्पना के योग्य नहीं है। अर्थात् ज्ञान से नाश के अयोग्य सत्य शरीरित्व नहीं है कि

जिसकी ज्ञान से निवृत्ति नहीं हो, इसीसे अशरीरत्व नित्यात्मस्वभाव ही है, क्योंकि वह कर्मजन्य नहीं है यह पहले कहा जा चुका है कि आत्मा-नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला है इत्यादि।

तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेन्न। शरीरसम्बन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धः शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषानादित्वकल्पना क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः। संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेन्न। धनदानाद्युपार्जितभृत्यसम्बन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः। न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसम्बन्धनिमित्तं किञ्चिच्छक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्धहेतुः। एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम्।

उक्तार्थ में शंका होती है कि अभिमानमात्र निमित्तक आत्मा में सशरीरत्व नहीं है, किन्तु उस आत्मा से कृत जो पूर्व जन्म के धर्माधर्म तन्निमित्तक सशरीरत्व और अभिमान भी है। इससे धर्माधर्म की निवृत्ति होने पर ही मुक्ति हो सकती है, जीते जी नहीं। उत्तर है कि आत्मा को श्रुति असंगनिर्गुणादि कहती है, इससे उसका शरीर के साथ सम्बन्ध असिद्ध है, इसीसे शरीर द्वारा कृत धर्माधर्म को आत्मजन्यत्व की असिद्धि है। इसलिए आत्मा के धर्माधर्म ही नहीं हैं कि जिससे आत्मा शरीरी हो, अन्य के धर्माधर्म से सशरीरत्व मानने पर अतिप्रसक्ति होगी। और यदि कहें कि बीजांकुर न्याय से सशरीरत्व और धर्माधर्म में आत्मकृतत्व अनादि है, तो भी परस्पराश्रयत्व है और यह अनादि की कल्पना अन्ध परम्परा रूप (अप्रत्यक्ष) है। अर्थात् एक जन्म के धर्माधर्म से शरीर सम्बन्ध और सम्बन्ध से धर्माधर्म मानने पर इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) होगा कि जिससे एक भी नहीं सिद्ध हो सकेगा, और अनादि मानने पर अदृष्ट की कल्पना होगी और केवल आत्मा में क्रिया सम्बन्ध के अभाव से आत्मा को कर्तृत्व बन सकता है। शंका होती है कि क्रिया सम्बन्ध के बिना भी राजा आदि की समीपता मात्र से कर्मकर्तृता देखी गई है। इसी प्रकार आत्मा भी कर्ता हो सकता है। उत्तर है कि वहाँ धन के दानादि द्वारा उपार्जित भृत्य के साथ राजा आदि को सम्बन्धी होने से उन्हें भृत्य द्वारा कर्तृत्व बनता है। धन दानादि के समान आत्मा को शरीरादि के साथ स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध के हेतु कुछ भी कल्पना के योग्य नहीं है एवं मिथ्या अभिमान तो प्रत्यक्ष हेतु है ही और भ्रमजन्य मिथ्या अभिमान से ही आत्मा में मिथ्या यजमानत्व भी व्याख्यात (कथित) हो गया।

अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति चेन्न। प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां[1] सिंहशब्दप्रत्यय-

१. दूसरे में शब्दाप्रत्यय होना अन्वय है, अन्यत्र नहीं होना व्यतिरेक है।

भाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः सम्पन्नः सिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययो भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिति[1] निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसङ्घातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्मविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम्।

यहाँ कोई मीमांसक कहते हैं कि देहादि से भिन्न आत्मा को जो देहादि अपने सम्बन्धी वस्तु में आत्मता का अभिमान होता है, वह गौण (सदृश गुणनिमित्तक) होता है। जैसे राजा के मन्त्री में गुणनिमित्तक राजा बुद्धि आदि होते हैं, इससे देहादि मिथ्या भी नहीं हैं। यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ व्यवहार (शब्द प्रयोग) करने वाले को गौणत्व और मुख्यत्व की प्रसिद्धि (ज्ञान) से गौण और मुख्य वस्तु के भेद का ज्ञान प्रथम रहता है, वहाँ यदि अन्य में अन्य बुद्धि व्यवहार करता है, तो वह गौण होता है। इससे प्रसिद्ध (ज्ञान) वस्तु भेद वाले ही को गौणत्व-मुख्यत्व का ज्ञान होता है। जैसे कि जिसको वस्तु का भेद ज्ञात है कि केसर (सटा) आदि वाला आकृतिविशेष अन्वय और व्यतिरेक से सिंह शब्द और ज्ञान के भागी मुख्य वस्तु पुरुष से अन्य, लोक में प्रसिद्ध है, और उससे अन्य क्रूरता-शूरता आदि सिंह के प्रायिक (बहुत) गुणों से युक्त पुरुष भी ज्ञात है। उस भेद ज्ञान वाले को जो वली पुरुष में सिंह शब्द का प्रयोग और ज्ञान होता है वह गौण होता है। वस्तु के भेद ज्ञानरहित के शब्द और ज्ञान गौण नहीं होते हैं। जैसे कि मन्द (अल्प) अन्धकार में, 'यह स्थाणु (ठूठ) है' इस प्रकार विशेष ज्ञान नहीं होने पर स्थाणु में पुरुष शब्द का प्रयोग और ज्ञान होते हैं। जैसे सीपी में अकस्मात् रजत इस प्रकार के शब्द का निश्चित प्रयोग और ज्ञान होते हैं, उसी प्रकार देहादि संघात में निरुपचार से (गुण ज्ञान के बिना) जो अहं शब्द का प्रयोग और ज्ञान आत्मानात्मा के अविवेक से उत्पन्न होते हैं वह गौण कैसे कहे जा सकते हैं।

आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव न गौणः। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—'तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते, अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृह० ४।४।७) इति। 'सचक्षुरचक्षुरिव[2] सकर्णोऽकर्ण इव

---

१. दृष्टकारण के बिना अदृष्टविशेष से।

२. वस्तुतोऽचक्षुरपि बाधितवृत्त्या सचक्षुरिव, इत्यादि टीकाकार योजना करते

सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च। स्मृतिरपि च—'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (भ० गी० २।५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसम्बन्धं दर्शयति।

आत्मा साक्षात्कार से रहित आत्मानात्म के विवेकी श्रवणादि में कुशल पण्डितों को भी व्यवहार काल में बकरा मेष के पालक गड़ेरिया के समान विवेक रहित शब्द और ज्ञान शरीरादि में होते हैं, यही पहले कहा गया है 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्'। इत्यादि सूत्र से। इससे देहादि से भिन्न आत्मवादी को देहादि में अहं (मैं) ऐसा ज्ञान मिथ्या (भ्रम) रूप ही होता है, गौण नहीं होता और देहात्मवादी को तो उसकी दृष्टि से गौण भ्रम दोनों से भिन्न पदार्थ ही होता है। उक्त रीति से मिथ्या ज्ञान निमित्तक सशरीरत्व के होने से मिथ्या ज्ञान रहित विद्वान् को जीतेजी भी अशरीरत्व सिद्ध है। इस प्रकार के विद्वान् को वर्णन करने वाली श्रुति है कि जीतेजी ज्ञानी ब्रह्म होता है। उसमें दृष्टान्त है कि—साँप का जीर्णत्वक् साँप के बिल आदि में सर्प से त्यक्त और मृत देह के समान सर्प के अभिमान से रहित जैसे पड़ा रहता है, उसी प्रकार इस विद्वान् का शरीर अभिमानादि से रहित रहता है और वह ज्ञानी अशरीर अमृत प्राणों का प्राण ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, तेज (विज्ञान ज्योति) स्वरूप हो जाता है और सचक्षु रहते भी अभिमान रहित होने से अचक्षु तुल्य होता है। इसी प्रकार सकर्ण होते अकर्ण, सवाक् होते अवाक्, मनसहित होते मनरहित और सप्राण होते अप्राण तुल्य होता है। स्मृति भी स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धि वाला) का 'क्या भाषा (लक्षण) है' इत्यादि प्रश्नपूर्वक स्थितप्रज्ञ (जीवन्मुक्त) ज्ञानी के लक्षणों को कहती हुई विद्वान् को शरीरादि रहते भी अभिमानादि के अभाव से सब प्रवृत्ति का असम्बन्ध दर्शाती है।

तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्। यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचनियोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति, न; श्रवणवत् अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः। यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत भवेत्तदा विधिशेषत्वम्, न तु तदस्ति, मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्, तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम्। एवं च सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयः पृथक्शास्त्रारम्भ उपपद्यते। प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि 'अथातो धर्मजिज्ञासे'त्येवारब्धत्वान्न पृथक्शास्त्रमारभ्येत।

पूर्वोक्त श्रुतिस्मृति आदि से सिद्ध हुआ कि ब्रह्मात्मरूपता के अपरोक्ष अनुभवी को

हैं कि ज्ञानी वस्तुतः आँख कान वागादिरहित हो जाता है, परन्तु सचक्षु आदि के सदृश भासता है।

अज्ञदशा के समान संसारित्व नहीं रहता है, प्रारब्धवश बाधितानुवृत्ति भले ही रहती है, और श्रवणादि करने पर भी जिसको पूर्व के समान देहादि के अभिमानित्वादिरूप संसारित्व रहता है, वह ब्रह्मात्मभाव की अपरोक्षता से रहित रहता है, श्रवणादि करने पर भी किसी प्रतिबन्धक दोष से आत्मसाक्षात्कार नहीं करने पाता है, इससे मोक्ष-लाभ के लिये ही दोषरहित वेदान्त शास्त्र है। जो पहले कहा था कि श्रवण के बाद मनन ध्यान के विधि देखने से ब्रह्म को विधि का अङ्गत्व है, स्वरूपपर्यवसायित्व (स्वतन्त्र वेदान्तवेद्यत्व) नहीं है। वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि श्रवण के समान मनन निदिध्यासन को भी ज्ञान हेतुत्व है, इससे ज्ञान के लिये उनका विधान और व्यवहार किया जाता है। यदि अवगत (ज्ञात) ब्रह्म किसी कर्मोपासनादि में विनियुक्त होता (अंगरूप से विधि द्वारा सम्बन्ध वाला होता) तो विधि शेषत्व ब्रह्म को होता, परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि मनन ध्यान को भी श्रवण के तुल्य ही ज्ञानार्थकता है। उससे उपासना विधि के विषय रूप से ब्रह्म को शास्त्ररूप प्रमाण से ज्ञेयता नहीं सम्भव है, इस प्रकार स्वतंत्र ही ब्रह्म वेदान्त वाक्यों के समन्वय से शास्त्ररूप प्रमाण का विषय है यह बात सिद्ध हुई, ब्रह्म के इस प्रकार स्वतन्त्र सिद्ध होने ही से 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र द्वारा ब्रह्मविषयक पृथक् शास्त्र का आरम्भ सिद्ध होता है। प्रतिपत्तिविधिपरक यदि ब्रह्म बोधक वाक्य सब होते तो (अथातो धर्मजिज्ञासा) यह पहले से ही आरब्ध था, उपासना भी मानस धर्म ही विशेष है, पृथक् शास्त्र का आरम्भ नहीं किया जाता।

आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत—'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति', 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा' (जै० ४।१।१) इतिवत्, ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति। तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि। न ह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितु-मर्हन्तीति।

यदि कथंचित् मानस धर्मविशेष के विचार के लिये पृथक् शास्त्र का आरम्भ भी किया जाता तो (अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा) ऐसा किया जाता। अर्थात् बाह्य साधन साध्य धर्म विचार के बाद बाह्य साधन जन्य धर्म शुद्धान्तःकरण होने से अवशिष्ट मानसधर्म के अधिकारियों के लिये मानस धर्म का विचार किया जाता है, इस प्रकार आरम्भ किया जाता। जैसे कि (अथातः क्रत्वर्थ) इत्यादि सूत्र का आरम्भ हुआ है। अर्थात् मीमांसा के तृतीय अध्याय में शेष शेषी के निर्णय के बाद कौन यज्ञ का अङ्ग है, एवं कौन यज्ञाङ्गता के बिना पुरुषार्थक है उस विचार का जैसे विशेष रूप से आरम्भ किया गया है, उसी प्रकार आरम्भ हो सकता था, किन्तु वैसा नहीं है और सिद्धान्त में तो ब्रह्मात्मा की एकता का ज्ञान पूर्व मीमांसा में अप्रतिज्ञात है, अर्थात् उसके विचार की

प्रतिज्ञा तथा विचारादि नहीं हुए हैं, इससे उसके लिए (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा) इस प्रकार पृथक् आरम्भ होना युक्त (उचित) है। उक्त हेतुओं से और आत्मज्ञान बाह्य धर्म के विरोधी भी हैं उससे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अपरोक्षानुभव से पूर्व काल तक ही सब विधि और सब भिन्न प्रमाण सत्य भासते हैं। क्योंकि (अहेय अनुपादेय) अत एव अद्वैत सत्य एक आत्मा के अपरोक्षानुभव होने पर, सत्यविषयरहित सत्यप्रमातारहित प्रमाण भी फिर सत्य होने के योग्य नहीं रह सकते हैं।

अपि चाहुः—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्॥ इति॥ ४॥

उक्त विषय को ब्रह्मवेत्ता लोग भी इस प्रकार कहते हैं कि, सत्—सर्वथा बाध नाश विकारादि शून्य साक्षिस्वरूप सर्वात्मा ब्रह्म (सच्चिदानन्दाखण्डतत्त्व) 'मैं हूँ' इस प्रकार शास्त्र गुरु आदि द्वारा बोध अपरोक्षानुभव होने पर असङ्ग स्थिति होने से पुत्र और देहादि का बाध होता है। इनमें मिथ्यात्व का निश्चय और इनसे सम्बन्धाभाव का निश्चय होता है, इससे गौणात्मा (पुत्रादि) और मिथ्यात्मा (देह) की उक्त बाध से असत्ता होने पर देह से पुत्रादि के लिये कार्य कैसे हो सकता है अर्थात् ज्ञानी के देहाभिमानादि जन्य ममतादिमूलक कर्म निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि उक्त कर्म कर्ता प्रमाता (व्यावहारिक जीव) है, और अन्वेष्टव्य (ज्ञातव्य) आत्मा के ज्ञान में पूर्वकाल में सत्यात्म को ही वह जीव प्रमाता समझता है, अर्थात् अपने प्रमातृत्व की आत्मा में कल्पना करता है, इससे अन्विष्ट (प्रत्यक्ष) हुआ वह प्रमाता ही पापदोषादि से रहित शुद्धात्मा रूप भासने लगता है, जीवता भी बाधित हो जाती है। फिर किस कर्म में प्रवृत्त हो और किसके लिये हो। ऐसा होने पर भी जैसे देह में आत्मबुद्धि कल्पित मिथ्या होती हुई व्यवहार के लिये प्रमाण मानी जाती है, वैसे ही आत्मसाक्षात् पर्यन्त यह लौकिक प्रमाण प्रत्यक्षादि भी माने जाते हैं, और सब कर्तव्य भी तभी तक रहते हैं।

(इति चतुःसूत्री समाप्ता)

ईक्षत्यधिकरण (५)

तदैक्षतेतिवाक्येन प्रधानं ब्रह्म वोच्यते।
ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात् प्रधानं सर्वकारणम् ॥ १ ॥
ईक्षणाच्चेतनं ब्रह्म क्रियाज्ञाने तु मायया।
आत्मशब्दात्मतादात्म्ये प्रधानस्य विरोधिनी ॥ २ ॥

श्रुतिगत तदैक्षत इस वाक्य से प्रधान कहा जाता है या ब्रह्म, ऐसी शंका होने पर पूर्वपक्ष है कि त्रिगुण प्रधान में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दोनों हैं इससे ईक्षता पूर्वक सर्व का कारण प्रधान है, अतः प्रधान ही तदैक्षत इस वाक्य से कहा जाता है। उत्तर है कि मुख्य ईक्षितृत्व को सिद्ध होते गौण मानना उचित नहीं प्रतीत होता, और जड़ प्रधान में मुख्य ईक्षण हो नहीं सकता, अतः ईक्षण के श्रवण से मुख्य चेतन ब्रह्म ही जगत् का कारण कहा गया है। उसमें भी माया से ज्ञान और क्रिया सिद्ध होती है। उस ईक्षिता में 'आत्म' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा जीवात्मा के साथ अभेद का प्रतिपादन किया गया है इसलिये दोनों बातें प्रधान की विरोधी हैं। जड़ प्रकृति चेतन जीव का आत्मा नहीं हो सकती है और न जीव से अभिन्न हो सकती है, इससे सर्वात्मा ब्रह्म उक्त वाक्य से कहा गया है।

एवं तावद्वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिप्रयोजनानां ब्रह्मात्मनि तात्पर्येण समन्वितानामन्तरेणापि कार्यानुप्रवेशं ब्रह्मणि पर्यवसानमुक्तम्। ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणमित्युक्तम्। साङ्ख्यादयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराण्यनुमिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्ति, सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव कार्येण कारणं लिलक्षयिषन्ति।

प्रधानपुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति साङ्ख्या मन्यन्ते। काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमीते। अणूंश्च समवायिकारणम्। एवमन्येऽपि तार्किका वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ते।

सुखपूर्वक बोध के लिये और आक्षेपरूप अवान्तर सङ्गति दर्शाने के लिये भाष्यकार पूर्वकथित सारार्थ का अनुवादपूर्वक उत्तरभाष्य का आरम्भ करते हैं कि पहले उक्त रीति से कार्य के साथ संबन्ध के बिना भी ब्रह्मसाक्षात्कार प्रयोजन वाले ब्रह्मात्मा में ही तात्पर्य द्वारा समन्वित वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में ही पर्यवसान (बोधकरूप से स्थिति) कहा गया है। वह ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिवाला, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है, यह भी कहा गया है। यहाँ सांख्यादि शास्त्रवादी सिद्धवस्तु को

वेदान्त से अन्य प्रमाणों द्वारा ही ज्ञेय मानते हुए, ब्रह्म से भिन्न प्रधानादिरूप जगत् के कारणों का अनुमान करते हुए, प्रधानादि परत्वेन (प्रधानादि बोधकत्वेन) वेदान्त वाक्यों की योजना (सम्बन्ध) करते हैं। तथा वे लोग मानते हैं कि सृष्टिविषयक सर्ववेदान्त वाक्यों में कार्यरूप अनुमान (हेतुलिङ्ग) से ही कारणरूप प्रकृति आदि दिखलाने की इच्छा का विषय है, जैसे धूम से अग्नि दिखलाई जाती है। अभिप्राय यह है कि मानान्तर के अयोग्य कूटस्थ ब्रह्म में ब्रह्मपद का शक्तिग्रह नहीं हो सकता है, न शास्त्र से उसका शक्ति के ज्ञान बिना बोध हो सकता है, न लोक में कहीं जड़ का चेतन उपादान कारण देखा गया है जिससे जड़ जगत् का निमित्तोपादान कारण ब्रह्म का अनुमान हो सके इससे जड़ प्रकृति हो जगत् का उपादान कारण है परन्तु केवल जड़ में प्रवृत्ति का असम्भव है इससे अविवेक मूलक प्रधान और पुरुष के संयोगों को भी नित्यानुमेय—सदा अनुमान से जानने योग्य—मानते हैं। (द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। तस्य हेतुरविद्या। योगद० सा० १७, २४) द्रष्टा और दृश्य का संयोग संसार दुःख का कारण है। और संयोग का हेतु अविद्या—अविवेक—है। (न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते। कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात्। सांख्यद० अ० १।१९, १३५) नित्यशुद्धादि स्वभाववाले आत्मा को प्रकृति के साथ सम्बन्ध किये बिना संसार से सम्बन्ध नहीं हो सकता। इससे प्रकृति के साथ संयोग मूलक अविवेक जन्य संसार है, वह विवेक ज्ञान से निवृत्त होता है। एवं कार्यरूप विशेषादि पदार्थों से अविशेषादि कारणों का अनुमान करना चाहिये, क्योंकि कार्य के साथ कारण को रहना देखा गया है। काणाद—वैशेषिक—शास्त्रवादी तो इन वेदान्त गत सृष्टिबोधक वाक्यों से ही निमित्त तटस्थकारणरूप ईश्वर का अनुमान करते हैं, परमाणुओं को समवायी (कार्याधार) कारण अनुमान से मानते हैं। इसी प्रकार अन्य भी तर्क से प्रवृत्त होनेवाले श्रुतिगत वाक्याभास (अर्थवादादि वाक्य) एवं असत् तर्क का अवलम्बन कर इस अद्वैत सिद्धान्त में पूर्वपक्षवादी होकर उपस्थित होते हैं।

तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वप्रदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते।

उक्त रीति से वादियों के विवाद के उपस्थित होने पर, वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म साक्षात्कार में तात्पर्य दिखलाने के लिये, पद (व्याकरण) वाक्य (मीमांसा) और प्रमाण (न्याय) के पूर्ण ज्ञाता आचार्य से वे वाक्याभास और युक्त्याभास में प्रतिपत्ति (निश्चय) वाले को पूर्वपक्षी बनाकर निराकृत किये जाते हैं, तथा उनके वाक्याभास असद्युक्ति विषयक जो प्रतिपत्ति (विरुद्ध समझ) है, उसको पूर्वपक्ष बनाकर उसका खंडन किया जाता है। महत्प्रमाण वाले स्वापेक्षा अल्पपरिमाण से ही उत्पन्न होते हैं, जैसे तन्तुओं से महान् पट होता है, परमाणु से जगत् होता है, विभुब्रह्म से नहीं। सूक्ष्म जड़ प्रकृति से जगत् हो सकता है, चेतन ब्रह्म से नहीं। महाप्रलय में दीप

निर्वाण तुल्य जगत् शून्य हो जाता है, इससे शून्य ही सत्य है, फिर उसीसे जगत् होता है सद्ब्रह्म से नहीं इत्यादि मतभेद युक्त्याभास हैं। एवं (असद्वा इदमग्र आसीत्) इत्यादि वाक्य आभासमात्र है।

तत्र साङ्ख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः—यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं दर्शयन्तीत्यवोचस्तानि प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते। सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते। एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते। कथम्? यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' (गी० १४।१७) इति स्मृतेः। तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्यकारणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः। सत्त्वस्य हि निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम्। न केवलस्याकार्यकारणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वं किंचिज्ज्ञत्वं वा कल्पयितुं शक्यम्।

उन पूर्वोक्त वादियों में सत्त्व रज तम तीन गुणयुक्त अचेतन प्रधान (प्रकृति) को कारण माननेवाले सांख्यवादी इस प्रकार कहते हैं कि जो तुमने कहा है कि वेदान्त के वाक्य सब सर्वज्ञ सर्वशक्ति वाले ब्रह्म को जगत् का कारणत्व प्रदर्शित करते हैं वह सब वाक्य प्रधान कारणपक्ष में ही जोड़े जा सकते हैं। क्योंकि प्रथम प्रधान ही अपने कार्यविषयक सर्वशक्तित्व युक्त हो सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञत्व भी वह बन सकता है। कहो कि कैसे तो सुनो, जिसको ज्ञान समझते हो, वह सत्त्वगुण का धर्म है। गीता में लिखा है कि सत्त्वगुण से ज्ञान होता है। उसी सत्त्वगुण के धर्म ज्ञान से कार्यकारण (देहेन्द्रिय) वाले सर्वज्ञयोगी पुरुष संसार में प्रसिद्ध हुए और होते हैं। सत्त्वगुण के निरतिशय (अत्यन्त) उत्कर्ष (वृद्धि) होने पर रजस्तमो गुण के अभिभूत होने से सर्वज्ञत्व प्रसिद्ध होता है। उसकी उत्कर्षता नहीं रहने से ही सब प्राणियों में सत्त्व गुण रहते हुए भी सब लोग सर्वज्ञ नहीं होते हैं। इस प्रकार सत्त्व निमित्तक कार्यकरणवान् को सर्वज्ञत्व सिद्ध होने पर सत्त्व की न्यूनता द्वारा अल्पज्ञत्व सिद्ध होने से केवल (एक) कार्यकारण रहित उपलब्धि मात्र (नित्यचिन्मात्र) पुरुष (ब्रह्म) सर्वज्ञत्व वा अल्पज्ञत्व की कल्पना करने योग्य नहीं है। संसार में कोई कार्य एक होकर ज्ञानादि को नहीं उत्पन्न करता है, किन्तु अनेक प्रमाण प्रमेयादि युक्त होकर कार्य को उत्पन्न करते हैं। वहाँ ब्रह्म केवल है, और प्रकृति त्रिगुण है। इसमें प्रकृति जगत् का कारण है ब्रह्म नहीं यह भाव है।

त्रिगुणत्वात्तु प्रधानस्य सर्वज्ञानकारणभूतं सत्त्वं प्रधानावस्थायामपि विद्यत इति प्रधानस्याचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्वमुपचर्यते। वेदान्तवाक्येष्ववश्यं च त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्माभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमुपगन्तव्यम्। नहि सर्वविषयं ज्ञानं कुर्वदेव ब्रह्म वर्तते। तथाहि—ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयते। अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति। अपि च प्रागुत्पत्तेः सर्व-

कारकशून्यं ब्रह्मेष्यते त्वया। न च ज्ञानसाधनानां शरीरेन्द्रियादीनामभावे ज्ञानोत्पत्तिः कस्यचिदुपपन्ना। अपि च प्रधानस्यानेकात्मकस्य परिणामसंभवात्कारणत्वोपपत्तिर्मृदादिवत्, नासंहतस्यैकात्मकस्य ब्रह्मण इत्येवं प्राप्त इद सूत्रमारभ्यते—

यदि कहा जाय कि गुणों की साम्यावस्था को सांख्य मत में प्रधान कहा जाता है, उस अवस्था में तत्त्व की उत्कर्षता के अभाव से सर्वज्ञता नहीं रह सकती, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान के त्रिगुणयुक्त होने से सब ज्ञान के कारणरूप सत्त्वगुण उस प्रधानावस्था में भी रहता है। इससे अचेतन होते हुए भी प्रधान को ही उपचार (गौणी वृत्ति) से सर्वज्ञ कहा जाता है। वेदान्त वाक्यों में सर्वज्ञ ब्रह्म को प्रतिपाद्य मानने वाले तुमको भी सर्व ज्ञान की शक्ति वाला होने से ही सर्वज्ञत्व अवश्य मानना होगा। क्योंकि ब्रह्म सदा सर्व विषयक ज्ञान करता हुआ ही नहीं रहता है। यही इस प्रकार समझना चाहिये कि यदि सर्व विषयक ब्रह्म का ज्ञान नित्य हो तो ज्ञानरूप क्रिया के प्रति ब्रह्म की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी अर्थात् वह ज्ञान का कर्ता ज्ञाता नहीं रहेगा। यदि वह ज्ञान अनित्य है तो ब्रह्म कभी ज्ञान क्रिया से उपरत (रहित) भी हो सकता है, अर्थात् ज्ञान क्रिया से रहित भी रह सकता है, तो उस काल में सर्वज्ञान शक्तिवाला होने ही से सर्वज्ञत्व ब्रह्म में भी सिद्ध होता है। संसार की उत्पत्ति से पहले सर्व ज्ञानादि के कारणों से रहित ब्रह्म तुमसे माना जाता है और ज्ञान के साधन शरीर इन्द्रियादि के अभाव रहते किसी को ज्ञान होना बन नहीं सकता है, इससे शरीरादि रहित ब्रह्म को सर्वज्ञादि होना असंभव है, और अनेकात्मक (त्रिगुण) प्रधान का तो मृदादि के समान परिणाम हो सकने से कारणत्व की सिद्धि होती है असंहत (केवल एकात्मा) ब्रह्म का परिणाम के अभाव से उसे कारणत्व नहीं बन सकता है। इस प्रकार पूर्व पक्ष होने पर यह सूत्र का आरम्भ होता है कि—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

सूत्र का संक्षिप्त अर्थ यह है कि (न विद्यते सांख्यरीत्या स्वातन्त्र्येण प्रतिपादकः शब्दः श्रुतिर्यस्य तद् अशब्दं प्रधानं न वेदान्तप्रतिपाद्यं युक्त्यापि भवितुमर्हति, कुतः, ईक्षतेः। साक्षादगौणेक्षितृत्वश्रवणादित्यादि) यद्यपि (आनीदवातं स्वधया तदेकम्। ऋ. ८।७।१७।२ प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः। श्वेता० ६।१६) इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है कि वायु रहित स्वधा (माया) सहित एक वह ब्रह्म सृष्टि से प्रथम था, वही प्रधान और क्षेत्रज्ञ (जीव) का स्वामी है, गुणों का प्रेरक है इत्यादि। तथापि सांख्य की रीति से स्वतन्त्र रूप से प्रधान का प्रतिपादक श्रुति नहीं है, इसलिये प्रधान को 'अशब्द' कहा गया है। अत एव ईक्षण कर्तृत्व श्रुति वेदान्त से भी प्रतिपादन योग्य नहीं है (अत एव च ईक्षतेः श्रवणाच्चिदात्मकं ब्रह्म, अशब्दम्, श्रुत्यप्रतिपाद्यमित्यपि न वक्तुं युक्तम् किन्तु ब्रह्मैव वेदान्त-

प्रतिपाद्यमिति सर्वैर्वेदवादिभिर्मन्तव्यम्)। इति ईक्षण कर्तृत्व श्रुति से चिदात्मा ब्रह्म, अशब्द, श्रुति से प्रतिपादन के अयोग्य है यह बात कहने योग्य नहीं है, किन्तु सब वेदवादी को मानना चाहिये कि सच्चिदानन्द सर्वज्ञ सर्वशक्ति युक्त स्वतन्त्र ब्रह्म ही वेदान्त से प्रतिपादन के योग्य है।

न साङ्ख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम्। अशब्दं हि तत्। कथमशब्दत्वम्? ईक्षतेः—ईक्षितृत्वश्रवणात् कारणस्य। कथम्? एवं हि श्रूयते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० ६।२।१) इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत, (छान्दो० ६।२।३) इति। तत्रेदंशब्दवाच्यं नामरूपव्याकृतं जगत्प्रागुत्पत्तेः सदात्मनावधार्य तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्दवाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजः प्रभृतेः स्रष्टृत्वं दर्शयति। तथान्यत्र—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐत० १।१।१) इतीक्षापूर्विकामेव सृष्टिमाचष्टे। क्वचिच्च षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्याह—स ईक्षांचक्रे। स प्राणमसृजत' (प्रश्न० ६।३) इति।

सांख्य द्वारा स्वतन्त्र रूप से परिकल्पित (अनुमित) प्रधान, वेदान्त में जगत् के कारण रूप से मानने योग्य नहीं है, अर्थात् वह वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय नहीं है, क्योंकि वह प्रधान 'अशब्द' है। यदि कहा जाय कि प्रधान को अशब्दत्व कैसे है? तो उत्तर है कि 'ईक्षति' क्रिया से अशब्दत्व है, क्योंकि जगत् कारण को ईक्षण (दर्शन) कर्तृत्व सुना गया है। कैसे सुना गया है? ऐसी आकांक्षा हो तो सुनो—वेदान्त में इस प्रकार पिता पुत्र का संवाद सुना जाता है कि (अरुण नामक पिता श्वेतकेतु पुत्र से कहता है कि) हे सौम्य यह सब जगत् सृष्टि से प्रथम सन्मात्र ही था एक ही था द्वैत रहित था, इस प्रकार उपदेश का उपक्रम (आरम्भ) करके, कहा कि वह सत् ईक्षण (आलोचन विचार) किया कि बहुत होऊँ, बहुतरूप से उत्पन्न होऊँ, फिर वह तेज को उत्पन्न किया इत्यादि। वहाँ 'इदं' शब्द का अर्थ नामरूप से व्यक्त जगत् को उत्पत्ति से प्रथम सत् रूप ही से निश्चय करके फिर उसी प्रकृति (प्रकरण प्राप्त) सत् शब्दार्थ को ईक्षण पूर्वक तेज आदि की सृष्टिकर्ता श्रुति दर्शाती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी ईक्षण पूर्वक ही सृष्टि कहती है कि एक आत्मा ही प्रथम था, अन्य कुछ भी मिषत् (क्रियायुक्त प्राणी आदि) नहीं था, वह आत्मा ईक्षण किया कि लोकों की सृष्टि करूँ, और वह इन लोकों को रचा इत्यादि। और कहीं षोडश प्राणादि कला (अंश) वाला पुरुष के प्रसंग निरूपण का आरम्भ करके श्रुति कहती है कि वह पुरुष विचार किया और वह प्राण को रचा।

ईक्षतेरिति च धात्वर्थनिर्देशोऽभिप्रेतः, यजतेरितिवत्। न धातुनिर्देशः। तेन 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च

जायते' (मुण्ड० १।१९) इत्येवमादीन्यपि सर्वज्ञेश्वरकारणपराणि वाक्यान्युदाहर्तव्यानि। ननूक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति, तन्नोपपद्यते। नहि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात्सत्त्वधर्मो ज्ञानं संभवति। ननूक्तं सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भविष्यतीति। तदपि नोपपद्यते। यदि गुणसाम्ये सति सत्त्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य किञ्चिज्ज्ञमुच्येत। अपि च नासाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिनाऽभिधीयते। न चाचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्ति। तस्मादनुपपन्नं प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम्। योगिनां तु चेतनत्वात्सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदाहरणम्।

यद्यपि (इकस्तिपौ धातुनिर्देशे) इस व्याकरण के अनुसार ईक्षति शब्द धातु के उच्चारणार्थ में होना चाहिये तथापि यहाँ धातु के निर्देश अर्थ में 'ईक्षतेः' यह सूत्रांश नहीं है, किन्तु धात्वर्थ (ईक्षण) में अभिप्रेत (तात्पर्य वाला) है। जैसे कि (इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम् ७।४।१) इस जैमिनिसूत्र में 'यजति' शब्द याग वाचक है। उस ईक्षति के समान ही जो सर्वज्ञ सर्ववेत्ता है, जिसका ज्ञानमय तप है उसी से यह कार्य ब्रह्म (हिरण्य गर्भ) नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं, इत्यादि अर्थ के बोधक सर्वज्ञेश्वरपरक वाक्य उदाहरण के योग्य हैं। पहले जो कहा गया था कि सत्त्वगुण के धर्मज्ञान से प्रधान ही सर्वज्ञ हो सकता है, सो वह नहीं बन सकता है। क्योंकि गुणों की समता रूप प्रधानावस्था में गुण की समता से सत्त्व गुण का धर्मरूप ज्ञान नहीं हो सकता है। एवं जो यह कहा गया था कि सब ज्ञान की शक्तिमत्ता से प्रधान सर्वज्ञ हो सकेगा, वह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि यदि गुणों की समता होने पर भी सत्त्वगुणाश्रित ज्ञानशक्ति का आश्रयण (स्वीकार) करके प्रधान को सर्वज्ञ कहा जाय, तो रजस्तमोगुण के आश्रित ज्ञान के प्रतिबन्धक शक्ति का आश्रयण करके प्रधान को अल्पज्ञ भी कहा जा सकता है, जिस अल्पज्ञता से उसके द्वारा सृष्टि का असम्भव हो सकता है। साक्षात् द्रष्टा साक्षी से रहित सत्त्वगुण की वृत्ति (परिणाम) भी ज्ञान शब्द से नहीं कही जाती है और अचेतन प्रधान को साक्षिता नहीं है। उससे प्रधान को सर्वज्ञता असिद्ध है। योगियों को तो चेतनता से सत्त्वगुण के आधिक्यनिमित्तक सर्वज्ञत्व बन सकता है, इससे प्रधान की सर्वज्ञता में योगी दृष्टान्त नहीं हो सकते हैं।

अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्प्येत, यथाग्निनिमित्तमयःपिण्डादेर्दग्धृत्वम्। तथासति यन्निमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञं मुख्यं ब्रह्म जगतः कारणमिति युक्तम्। यत्पुनरुक्तं—ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वमुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यासम्भवादिति। अत्रोच्यते—इदं तावद्भवान् प्रष्टव्यः, कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति। यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम्।

अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज्जानाति कदाचिन्न जानातीत्यसर्वज्ञत्वमपि स्यात् नासौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति। ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेत्, न; प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेशदर्शनात्। ननु सवितुर्दाह्यप्रकाश्यसंयोगे सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेशः स्यात्, न तु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञानकर्मसंयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः, न; असत्यपि कर्मणि सविता प्रकाशत इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात्।

यदि सेश्वर सांख्यवाद को मानकर जैसे अग्निनिमित्तक लोहपिण्ड में दाहकत्व होता है, वैसे ईश्वर रूप साक्षिनिमित्तक प्रधान के द्रष्टृत्व ईक्षितृत्व की कल्पना की जाय, तो ऐसा मानने की अपेक्षा जिस ईश्वर निमित्तक प्रधान को ईक्षितृत्व है, वही मुख्य सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है ऐसा मानना उचित है। और जो पहले यह कहा गया था कि ब्रह्म को मुख्य सर्वज्ञत्व नहीं बन सकता है, क्योंकि नित्यज्ञान क्रिया वाला ब्रह्म हो तो उसको ज्ञान क्रिया के प्रति स्वतन्त्रता का असम्भव है। इस सम्बन्ध में कहना है कि यह बात पहले आपसे पूछी जाती है कि नित्यज्ञान क्रियावत्व ब्रह्म में रहते हुए भी उसकी सर्वज्ञता की हानि कैसे होती है? जिसको सब विषयों के प्रकाशन में समर्थ ज्ञान नित्य है, वह सर्वज्ञ नहीं है, यह तो विरुद्ध बात है। यदि ज्ञान अनित्य हो तब तो कभी जानता है कभी नहीं जानता है, इससे असर्वज्ञता हो सकती है; परन्तु वह दोष ज्ञान के नित्यत्व पक्ष में नहीं है। यदि कहो कि ज्ञान के नित्य होने पर ज्ञानविषयक स्वतन्त्रता का व्यपदेश (व्यवहार) नहीं बन सकता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतत (संतत-नित्य) उष्णता और प्रकाश वाले सूर्य में भी जलाता है प्रकाशित होता है इस प्रकार दाह प्रकाश क्रिया के प्रति स्वतन्त्रता का व्यवहार होता है। यदि कहो कि दाह योग्य और प्रकाश योग्य वस्तु के साथ सूर्य के अनित्य संयोग होने से दहति प्रकाशयति (जलाता है, प्रकाशता है) यह स्वतन्त्रता का व्यवहार हो सकता है और उत्पत्ति से प्रथम ब्रह्म को तो ज्ञान के कर्मों से संयोग नहीं है, इससे यह ब्रह्म विषयक सूर्य का दृष्टान्त विषम (अयोग्य) है, तो इसका उत्तर है कि यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि कर्म की विवक्षा नहीं रहते भी सूर्य प्रकाशता है। इस प्रकार प्रकाश क्रिया के कर्तृत्व का सूर्य में व्यवहार होता है।

एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तदैक्षत' इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम्। कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः। किं पुनस्तत्कर्म, यत्प्रागुत्पत्तेरीश्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति? तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः। यत्प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति। यदप्युक्तम्—प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरादिसंबन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यम-

वतरति, सवितृप्रकाशवद्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। अपि चाऽविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यान्न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य। मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानतां च दर्शयतः—

सूर्य के समान ही कर्म की अपेक्षा बिना भी (वह ईक्षण क्रिया) इस प्रकार कर्तृता का व्यवहारादि हो सकने से दृष्टान्त में विषमता नहीं है। यदि कर्म की अपेक्षा हो तब तो ब्रह्म विषयक ईक्षितृत्व विषयक श्रुतियाँ अत्यन्त उपपन्न (युक्तियुक्त) सिद्ध होती है। यदि कहो कि जगत की उत्पत्ति से पूर्व वह कौन ज्ञान का कर्म रहता है जो ईश्वरीय ज्ञान का विषय होता है, तो उत्तर है कि (न सदासीन्नासदासीत्) इत्यादि मन्त्रों के अनुसार तत्त्वान्यत्व (सत्यत्व असत्यत्व) रूप से निर्वचन (निर्णय) के अयोग्य, अव्यक्त व्यक्त करने की इच्छा के विषयीभूत, नाम रूप ही ईश्वरीय आलोचन का कर्म होता है यह हम कहते हैं और जिस ईश्वर की प्रसन्नता से योगियों के अतीत अनागत (भूतभावी) वस्तु विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान को योगशास्त्रज्ञ चाहते मानते कहते हैं, उस नित्यसिद्ध ईश्वर को सृष्टि स्थिति संहार विषयक नित्यज्ञान होता है, इस विषय में फिर कहना ही क्या है। जो यह कहा गया था कि सृष्टि से प्रथम शरीरादि के साथ सम्बन्ध के बिना ब्रह्म को ईक्षणकर्तृत्व नहीं हो सकता, वह चोद्य (शंका) तो बुद्धिमान को हो ही नहीं सकती है, क्योंकि सूर्य के प्रकाश के समान ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप के नित्य होने से ज्ञान के साधनों की अपेक्षा की असिद्धि है और अविद्यादि वाले संसारी को शरीरादि साधन से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और ज्ञान के प्रतिबन्धक कारण (विघ्नों) से रहित ईश्वर को शरीरादि की अपेक्षा पूर्वक ज्ञान नहीं होता है। यह वक्ष्यमाण दो मन्त्र ईश्वर को शरीरादि की अपेक्षा बिना ही निरावरण ज्ञानिता दर्शाते हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
(श्वेता० ६।८) इति।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
(श्वेता० ३।११) इति च।

ननु नास्ति तावज्ज्ञानप्रतिबन्धकारणवानीश्वरादन्यः संसारी, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृह० ३।७।२३) इति श्रुतेः। तत्र किमिदमुच्यते संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्येति। अत्रोच्यते—सत्यं, नेश्वरादन्यः संसारी। तथापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसंबन्ध इव व्योम्नः। तत्कृतश्च शब्दप्रत्ययव्यवहारो

लोकस्य दृष्टो घटच्छिद्रं करकादिच्छिद्रमित्यादिराकाशाव्यतिरेकेऽपि, तत्कृता चाकाशे घटाकाशादिभेदमिथ्याबुद्धिर्दृष्टा। तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः।

उस ईश्वर को कार्य (शरीर) करण (इन्द्रिय) नहीं है, न उसके तुल्य वा उससे अधिक है। परन्तु उसकी विविध कार्य में समर्थ विविधा पराशक्ति सुनी जाती है और स्वाभाविकी ज्ञानबल से क्रिया सुनी जाती है, तथा ज्ञानक्रिया बलक्रिया स्वाभाविकी सुनी जाती है। और हाथ-पैर रहित होते हुए भी ग्रहण करता है, और वेगवाला है, आँख रहित भी देखता है, कानरहित भी सुनता है, वह सब ज्ञेय वस्तु को जानता है, उसको विषय के समान जानने वाला कोई नहीं है। उसीको अग्र्य (अनादि) महान-पुरुष कहते हैं। शंका होती है कि 'ज्ञान के प्रतिबन्धक कारणवाले ईश्वर से अन्य संसारी का इस एक सत्यात्मा से अन्य द्रष्टा विज्ञाता नहीं है' इत्यादि श्रुति के अनुसार अभाव है, इस अवस्था में यह कैसे कहा जाता है कि संसारी का शरीर सापेक्ष ज्ञान होता है, ईश्वर को नहीं ? यहाँ उत्तर है कि 'ईश्वर से सत्यभेदयुक्त संसारी नहीं है' यह श्रुति का कथन सत्य ही है, तो भी देहादि संघातरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध, शास्त्र को भी इष्ट है। शास्त्र ईश्वर की उपाधि का सम्बन्ध मानता है। वह सम्बन्ध भी असंगात्मा को इस प्रकार का है कि जैसे घट, कमण्डल, पर्वत की गुफादिरूप उपाधि के साथ आकाश का सम्बन्ध होता है, और उस सम्बन्ध जन्य शब्द तज्जन्य ज्ञानरूप व्यवहार भी लोक में देखा गया है। जैसे कि आकाश से भिन्न नहीं होते हुए भी कहा और समझा जाता है कि यह घटच्छिद्र (घटाकाश) है करकाकाश है इत्यादि, और इस व्यवहार से श्रोता को भी आकाश में घटाकाशादि भेद की मिथ्या बुद्धि देखी गई है, वैसे ही यहाँ भी देहादि संघातरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध से अविवेकजन्य ईश्वर संसारी में मिथ्या भेद बुद्धि होती है।

दृश्यते चात्मन एव सतो देहादिसंघातेऽनात्मन्यात्मत्वाभिनिवेशो मिथ्याबुद्धिमात्रेण पूर्वपूर्वेण। सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्षमीक्षितृत्वमुपपन्नं संसारिणः। यदप्युक्तम्—प्रधानस्यानेकात्मकत्वान्मृदादिवत्कारणत्वोपपत्तिर्नासंहतस्य ब्रह्मण इति, तत्प्रधानस्याशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम्। यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वोढुं शक्यते न प्रधानादीनाम्, तथा प्रपञ्चयिष्यति—'न विलक्षणत्वादस्य–' (ब्र० २।१।४) इत्येवमादिना ॥ ५ ॥

और सत्यात्मा रूप जीव को ही अनात्म स्वरूप देहादि संघात (समूह) में आत्मता का अभिनिवेश (मिथ्याभिमान) पूर्व-पूर्व मिथ्या बुद्धिमात्र (अनादिभ्रमप्रवाह) से देखा जाता है। इस प्रकार औपाधिक भेद से संसारित्व सिद्ध होने पर, संसारी को देहादि की अपेक्षा (सहायता) पूर्वक ईक्षितृत्व (ज्ञानित्व) भी सिद्ध हुआ। और जो यह कहा था कि मृदादि के समान प्रधान के अनेकात्मक (त्रिगुणात्मक) होने से उसको

कारणत्व बन सकता है, असंहत (केवल) ब्रह्म को कारणता युक्त नहीं है, इस उक्ति का निराकरण प्रधान के अशब्दत्व (शास्त्राबोधितत्व) से ही हो चुका है। और तर्क से भी जिस प्रकार ब्रह्म को ही कारणत्व का निर्वाह (सिद्धि) किया जा सकता है, और प्रधानादि को कारणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, उस प्रकार (रीति) का विस्तार पूर्वक वर्णन (न विलक्षणत्वादस्य) इत्यादि सूत्रों द्वारा किया जायगा ॥ ५ ॥

अत्राह—यदुक्तम्, नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणमीक्षितृत्वश्रवणादिति। तदन्यथाप्युपपद्यते, अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात्। यथा प्रत्यासन्नपतनतां नद्याः कूलस्यालक्ष्य कूलं पिपतिषतीत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तद्वच्चेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यसन्नसर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति 'तदैक्षत' इति। यथा लोके कश्चिच्चेतनः स्नात्वा भुक्त्वाचापराह्णे ग्रामं रथेन गमिष्यामीतीक्षित्वानन्तरं तथैव नियमेन प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेण नियमेन प्रवर्तते। तस्माच्चेतनवदुपचर्यते। कस्मात्पुनः कारणाद्विहाय मुख्यमीक्षितृत्वमौपचारिकं कल्प्यते, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छान्दो० ६।३।४) इति चाचेतनयोरप्यप्तेजसोश्चेतनवदुपचारर्शनदात्। तस्मात्सत्कर्तृकमपीक्षणमौपचारिकमिति गम्यते, 'उपचारप्राये वचनात्' इति। एवं प्राप्ते इदं सूत्रमारभ्यते—

पूर्वपक्ष—

इस पूर्वोक्त सिद्धान्त में पूर्वपक्षी कहता है कि ईक्षणकर्तृत्व के सुनने से अचेतन प्रधान (प्रकृति) जगत् का कारण नहीं है, यह जो सिद्धान्ती ने कहा है, जिसका तात्पर्य है कि ईक्षण पूर्वक कर्तृत्व जड़ में नहीं हो सकता, वहाँ कहा जाता है कि अन्यथा (प्रकृति के अचेतन रहते हुए भी) ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व का श्रुति में वर्णन बन सकता है, क्योंकि अचेतन में भी चेतन के समान उपचार (गौण व्यवहार) देखा जाता है। जैसे कि प्रत्यासन्न (अतिशीघ्र) पतन की उन्मुखता युक्त नदी के तट को देखकर, अर्थात् शीघ्र गिरने वाले किनारे को समझकर मनुष्य कहता है कि यह नदी का तट किनारा गिरना चाहता है। वहाँ इस प्रकार अचेतन तट में भी चेतन के समान चाह (इच्छा) का व्यवहार (कथन) होता है, इसलिये उपचार (गौण) व्यवहार दृष्ट (प्रत्यक्ष) है। उसीके समान सृष्टि काल के समीप प्राप्त होने पर अचेतन प्रधान में भी चेतन के समान गौण व्यवहार हो सकता है कि (तदैक्षत) उस सत् शब्दवाच्य प्रधान के विचार आलोचन किया इत्यादि। जैसे लोक में कोई चेतन पुरुष विचार करता है कि स्नान और भोजन करके अपराह्ण (मध्याह्न) काल में (बारह बजे) रथ द्वारा अमुक ग्राम में जाऊँगा, और इस प्रकार विचार कर नियम से विचार के अनुसार प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रधान भी सृष्टि के आदि काल में महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) अहंकारादि रूप से नियम पूर्वक प्रवृत्त (परिणत) होता है, उससे श्रुति

में उसका चेतन के समान ईक्षण विषयक गौण व्यवहार किया गया है। शंका होती है कि मुख्य चेतन कर्तृक ईक्षण कर्तृत्व को त्यागकर गौण की कल्पना क्यों की जाती है, तो उत्तर है कि (तत्तेज) वह तेज ईक्षण किया, वे जल ईक्षण किये। इस प्रकार अचेतन तेज और जल का ईक्षण उसी प्रकरण में देखा गया है, जिससे अनुमान द्वारा जाना जाता है कि सत्कर्तृक (सत्कर्ताजन्य) ईक्षण भी गौण ही है, क्योंकि उपचारप्राय (बहुत गौण) के प्रकरण में उसका कथन है। इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर इस सूत्र का आरम्भ होता है कि—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

सूत्र का संक्षिप्त अर्थ है कि (श्रुतौ सच्छब्दवाच्ये गौण ईक्षणकर्तृत्वप्रयोग इति न वाच्यम्, यस्मात्सदीक्षितुर्जीवविषय आत्मशब्दो वर्तते जीवस्य चेक्षितविषयोऽप्यात्मशब्दो वर्तते, अचेतनस्य प्रधानस्य प्रसिद्धश्चेतनो जीव आत्मा स्वरूपं न भवितुमर्हति न वा चेतनस्य अचेतनमात्मा भवितुमर्हतीति) श्रुति में सत्शब्दार्थविषयक गौण ईक्षणकर्तृता का प्रयोग है—ऐसा कहने योग्य नहीं है। सत्य ईक्षिता का जीव विषयक आत्म-शब्द है, और जीव का ईक्षिता विषयक आत्मशब्द है, वहाँ अचेतन प्रधान का चेतन जीव आत्मा नहीं हो सकता, चेतन का अचेतन ही आत्मा हो सकता है। इससे मुख्य ईक्षितृत्व समझना चाहिये।

यदुक्तम्—प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं तस्मिन्नौपचारिक ईक्षतिः, अप्तेजसोरिवेति। तदसत्। कस्मात्? आत्मशब्दात्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो० ६।२।१, ३) इति च तेजोऽबन्नानां सृष्टिमुक्त्वा तदेव प्रकृतं सदीक्षितृ तानि च तेजोऽबन्नानि देवताशब्देन परामृश्याह—'सेयं देवतैक्षत' हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छान्दो० ६।३।२) इति। तत्र यदि प्रधानमचेतनं गुणवृत्त्येक्षितृ कल्प्येत तदेव प्रकृतत्वात्सेयं देवतेति परामृश्येत। न तदा देवता जीवमात्मशब्देनाभिदध्यात्। जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता, तत्प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च। स कथमचेतनस्य प्रधानस्यात्मा भवेत्? आत्मा हि नाम स्वरूपम्। नाचेतनस्य प्रधानस्य चेतनो जीवः स्वरूपं भवितुमर्हति। अथ तु चेतनं ब्रह्म मुख्यमीक्षितृ परिगृह्यते तस्य जीवविषय आत्मशब्दप्रयोग उपपद्यते। तथा 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो० ६।१४।३) इत्यत्र स आत्मा इति प्रकृतं सदणिमानमात्मानमात्मशब्देनोपदिश्य 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेनोपदिशति। अप्तेजसोस्तु विषयत्वादचेतनत्वम् नामरूपव्याकरणादौ च प्रयोज्यत्वेनैव निर्देशात्, न चात्मशब्दवत्किंचिन्मुख्यत्वे कारणमस्तीति युक्तं कूलवद्गौणत्वमीक्षितृत्वस्य। तयोरपि च सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेक्षितृत्वम्। सतस्त्वात्मशब्दान्न गौणमीक्षितृत्वमित्युक्तम् ॥ ६ ॥

पहले जो यह कहा गया है कि अचेतन प्रधान सत् शब्द का वाच्यार्थ है। उसमें जल और तेज में ईक्षण प्रयोग के समान गौण ईक्षण का प्रयोग (कथन) है। ऐसा कहना असत् है, क्योंकि यहाँ आत्मशब्द का ऐसा प्रयोग है कि 'हे सौम्य ! (प्रियदर्शन !) यह जगत् प्रथम सत्मात्र ही था, इस प्रकार उपदेश का आरम्भ करके कहा है कि वह सत् आलोचन-चिन्तन किया, उसने तेज को उत्पन्न किया, इस प्रकार तेज जल, और अन्न की सृष्टि को कहकर, वही प्रकृत (प्रकरण प्राप्त) सत् ईक्षण कर्ता का और उन तेज जल और अन्न का देवता शब्द से परामर्श (स्मरण) करा के कहा है कि 'सेयं' सो शब्द वाच्य और यह ईक्षण कर्ता देवता ने विचार किया कि हन्त (इदानीं) इस समय मैं इन तीनों तेज आदि रूप देवताओं में इस जीवात्मा रूप से पैठकर नाम और रूप की अभिव्यक्ति रूप व्याकरण करूँ। वहाँ यदि अचेतन प्रधान को गौणीवृत्ति से ईक्षण कर्ता माना जाय, तो उस प्रधान को ही प्रकरण प्राप्त होने से 'सेयं देवता' इस वाक्य में वह प्रधान ही परामर्श का विषय होगा। इस अवस्था में वह जड़ देवता जीव को आत्मशब्द से नहीं कह सकता है। क्योंकि जीव प्रसिद्ध चेतन है शरीर का अध्यक्ष स्वामी है (जीव-प्राणधारणे) इस धात्वर्थ के अनुसार प्राणों का धारण करने वाला है। यह बात उसकी लोक-प्रसिद्धि और निर्वचन (प्राणान् धारयति) इस प्रकार के विग्रह वाक्य से सिद्ध होती है। इसलिये प्रसिद्ध चेतन जीव अचेतन प्रधान का आत्मा कैसे हो सकता है ? यह प्रसिद्ध है कि आत्मा स्वरूप को कहते हैं, और अचेतन प्रधान का चेतन जीव स्वरूप होने योग्य नहीं है। जब सिद्धान्त के अनुसार चेतन ब्रह्म को मुख्य ईक्षणकर्ता माना जाता है, तब उस ब्रह्म को जीव विषयक आत्मशब्द का प्रयोग उपपन्न (युक्त) होता है। इसी प्रकार (स य एषोऽणिमा) वह जो सत् नामक अत्यन्त अणुत्व जगत् का मूल कारण है, तत्स्वरूप ही यह सब जगत् है, अर्थात् उसी की सत्ता सब में है, वही सत् शब्दार्थ सत्य है, वही सबका आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! तुम उसी के स्वरूप हो, इत्यर्थक श्रुति में, 'स आत्मा', इन शब्दों से प्रकृत सत अणुत्व युक्त आत्मा का आत्मशब्द से उपदेश करके कहा गया है कि हे श्वेतकेतो ! तुम वही हो, इससे चेतन श्वेतकेतु के आत्मा रूप से सत् ईक्षिता का श्रुति उपदेश करती है। जल तेज बाह्य विषय के जड़ होने से उनमें अचेतनत्व है। और नाम रूप के व्याकरण (उत्पत्ति-अभिव्यक्ति) नियमन में उनका प्रयोज्य (सृज्यत्व नियम्यत्व) प्रेर्य कार्यत्व रूप से निर्देश (कथन) हुआ है इससे भी उन्हें अचेतनत्व है। सत ईक्षिता में आत्म शब्द के समान अप् तेज के ईक्षितृत्व में मुख्यता का कोई कारण नहीं है। इससे अप तेज के ईक्षितृत्व को तट पतन की इच्छा के समान गौण होना युक्त (उचित) है। वस्तुतः उस अप् तेज को सत् चेतन से अधिष्ठित होने से उस अधिष्ठान की दृष्टि से ईक्षितृत्व है। स्वयं नहीं। सत् को तो आत्म शब्द के बल से गौण ईक्षितृत्व नहीं सिद्ध हो सकता है ॥ ६ ॥

अथोच्येत—अचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः, आत्मनः सर्वार्थकारि-

त्वात्, यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्यात्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। प्रधानं हि पुरुषस्यात्मनो भोगापवर्गौ कुर्वदुपकरोति, राज्ञ इव भृत्यः संधिविग्रहादिषु वर्तमानः। अथवैक एवात्मशब्दश्चेतनाचेतनविषयो भविष्यति, भूतात्मेन्द्रियात्मेति च प्रयोगदर्शनात्। यथैक एव ज्योतिःशब्दः क्रतुज्वलन-विषयः। तत्र कुत एतदात्मशब्दादीक्षतेरगौणत्वमिति—अत उत्तरं पठति—

अथ (उक्तोत्तर के बाद भी) यदि प्रधानवादी कहें कि, अचेतन प्रधान अर्थ में भी आत्मशब्द का प्रयोग होता है। क्योंकि यह प्रधान चेतनात्मा, पुरुष के सब कार्य प्रयोजन को करने वाला है। जैसे राजा के सब अर्थ कर्ता प्रधान भृत्य में आत्म शब्द का प्रयोग होता है कि मेरी आत्मा भद्रसेन है इत्यादि। प्रधान भी पुरुष रूप आत्मा के भोग और मोक्ष का सम्पादन करता हुआ उसका उपकार करता है। जैसे राजा का प्रधान भृत्य, सन्धिविग्रहादि में वर्तमान रह कर राजा का उपकार करता है। अथवा एक ही आत्मशब्द चेतन और अचेतन दोनों विषयक हो सकता है। प्रकरण भेदादि से दोनों अर्थ का बोध करा सकता है और भूतात्मा इन्द्रियात्मा इत्यादि वाक्यों में अचेतन भूत (पृथिवी आदि) और इन्द्रियों में आत्मशब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे एक ही ज्योतिशब्द का याग और अग्नि अर्थ में प्रयोग होता है, वैसे ही आत्मशब्द को समझना चाहिये। यदि ऐसा है तो फिर आत्मशब्द से ईक्षण को अगौणत्व है, यह बात किस हेतु से सिद्ध हो सकती है, ऐसी शंका होने पर उत्तर रूप सूत्र पढ़ते हैं—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

सूत्र का संक्षिप्तार्थ है कि (तन्निष्ठस्य आत्मनिष्ठस्य, श्रुतौ मोक्षोपदेशादात्मशब्दार्थः प्रधानं नैव भवितुमर्हति) आत्मनिष्ठ के मोक्ष का उपदेश श्रुति में है। इससे आत्मशब्द का अर्थ प्रधान नहीं हो सकता है।

न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति, 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमादाय 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्मोक्षयितव्यस्य तन्निष्ठामुपदिश्य 'आचार्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छान्दो० ६।१४।२) इति मोक्षोपदेशात्। यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं तदसीति ग्राहयेन्मुमुक्षुं चेतनं सन्तमचेतनोऽसीति तदा विपरीतवादि शास्त्रं पुरुषस्यानर्थायेत्यप्रमाणं स्यात्, न तु निर्दोषशास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम्। यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमात्मेत्युपदिशेत् प्रमाणभूतं शास्त्रं स श्रद्दधानतयान्धगोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्, तद्व्यतिरिक्तं चात्मानं न प्रतिपद्येत, तथा सति पुरुषार्थाद्विहन्येतानर्थं च ऋच्छेत्। तस्माद्यथा स्वर्गाद्यर्थिनाऽग्निहोत्रादिसाधनं यथाभूतमुपदिशति तथा मुमुक्षोरपि 'स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति यथाभूतमेवात्मानमुपदिशतीति युक्तम्। एवञ्च सति तप्तपरशुग्रहणमोक्षदृष्टान्तेन सत्याभि-

सन्धस्य मोक्षोपदेश उपपद्यते। अन्यथा ह्यमुख्ये सदात्मतत्त्वोपदेशे 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' (ऐ० आर० २।१।२।६) इतिवत्संपन्मात्रमिदमनित्यफलं स्यात्। तत्र मोक्षोपदेशो नोपपद्येत। तस्मान्न सदणिमन्यात्मशब्दस्य गौणत्वम्, भृत्ये तु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वादुपपन्नो गौण आत्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। अपि च क्वचिद्गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्तूक्तं—चेतनाचेतनयोः साधारण आत्मशब्दः क्रतुज्वलनयोरिव ज्योतिःशब्द इति, तन्न। अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात्। तस्माच्चेतनविषय एव मुख्य आत्मशब्दश्चेतनत्वोपचाराद् भूतादिषु प्रयुज्यते भूतात्मेन्द्रियात्मेति च। साधारणत्वेऽप्यात्मशब्दस्य न प्रकरणमुपपदं वा किंचिन्निश्चायकमन्तरेणान्यतरवृत्तिता निर्धारयितुं शक्यते। न चात्राचेतनस्य निश्चायकं किंचित्कारणमस्ति, प्रकृतं तु सदीक्षितृ संनिहितश्च चेतनः श्वेतकेतुः, नहि चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतन आत्मा संभवतीत्यवोचाम। तस्माच्चेतनविषय इहात्मशब्द इति निश्चीयते। ज्योतिःशब्दोऽपि लौकिकेन प्रयोगेण ज्वलन एव रूढः अर्थवादकल्पितेन तु ज्वलनसादृश्येन क्रतौ प्रवृत्त इत्यदृष्टान्तः।

सिद्धान्तभाष्य—

अचेतन प्रधान आत्मा का विषय (अर्थ) नहीं हो सकता है, क्योंकि, 'स आत्मा', इस प्रकार प्रकरण प्राप्त सत्य अणुत्व का ग्रहण उपदेश करके, और हे श्वेतकेतु तुम वही हो, इस प्रकार मुक्त करने योग्य चेतन श्वेतकेतु को उस सत्यात्मा में निष्ठा (अभिन्नात्म दृष्टि से स्थिति) का उपदेश करके श्रुति ने मोक्ष का उपदेश दिया है कि आचार्यवाला पुरुष सत्यात्मा को जानता है, और उस जाननेवाले को तभी तक विदेह कैवल्य में चिर (विलम्ब) है कि जब तक प्रारब्धजन्य शरीर से छुटकारा नहीं पाता है, प्रारब्धान्त में वह सत् स्वरूप में लीन होता है। यदि अचेतन प्रधान सत् शब्द का वाच्यार्थ हो, तो वह अचेतन प्रधान तुम हो, इस प्रकार मुमुक्षु चेतन सत् को तुम अचेतन हो इस प्रकार ग्रहण कराता (समझाता) हो तो, विपरीत अर्थ को करनेवाला वह शास्त्र पुरुष के अनर्थ के लिए होगा। इससे अप्रमाण भी होगा। और निर्दोष (अनादि) शास्त्र अप्रमाण है ऐसी कल्पना करना उचित नहीं है। यदि प्रमाणरूप शास्त्र अज्ञ सत्पुरुष मुमुक्षु के प्रति अचेतन अनात्मा का आत्मारूप से उपदेश करेगा, तो वह मुमुक्षु श्रद्धालु होने के कारण अन्धगोलांगूलन्याय से (जैसे कोई वञ्चक अन्धे को बैल की पूंछ पकड़ा दे और वह नहीं छोड़े) इस रीति से उस प्रधान में आत्मदृष्टि को मुमुक्षु नहीं त्यागेगा। एवं उससे भिन्न आत्मा को नहीं समझेगा न प्राप्त कर सकेगा। ऐसा होने पर वह पुरुषार्थ से च्युत होकर नष्ट होगा, और अनर्थ को प्राप्त करेगा। अतः स्वर्गादि को चाहनेवालों के लिये यथाभूत (सत्य) अग्निहोत्रादि साधनों का शास्त्र उपदेश करता है, वैसे ही मुमुक्षु के

लिये (वह सत्य तत्त्व आत्मा है, और हे श्वेतकेतु वही तुम हो इस प्रकार यथार्थ आत्मा का ही शास्त्र उपदेश करता है ऐसा मानना उचित है। इस प्रकार सत्यात्मोपदेश मानने पर ही तप्त परशु के ग्रहण करने पर और उससे दाह नहीं होने पर जैसे कल्पित चोर चोरी की शंका से मुक्त होता है उसी दृष्टान्त से सत्य में अभिसंधा (निष्ठा आत्मभाव से संबन्ध) वाले पुरुष का मोक्षोपदेश भी युक्त होता है। ऐसा नहीं मानकर अन्य प्रकार से अमुख्य सत् आत्मतत्त्व रूप प्रधान का उपदेश करने पर तो (मैं उक्थनाम वाला प्राण हूँ ऐसा चिन्तन करे) इस उपदेश के समान यह आत्मोपदेश भी सम्पन्मात्र (उत्कृष्ट रूप से स्वचिन्तनात्मक उपासनारूप) होने से अनित्य फलवाला होगा। फिर वहाँ मोक्ष का उपदेश उचित नहीं हो सकता है। अतः सत्य अणुतत्त्व में आत्म शब्द गौण नहीं है। और स्वामी भृत्य के भेद के प्रत्यक्ष होने से भृत्य में गौण आत्म शब्द युक्त है कि मेरा आत्मा भद्रसेन है इत्यादि। सत्यात्मा में उचित नहीं है। आत्मशब्द कहीं गौण रूप में देखा गया है, उससे ही शब्द प्रमाण द्वारा ज्ञेय अर्थ में गौणी वृत्ति की कल्पना उचित नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा करने से सर्वत्र शास्त्रार्थ में अविश्वास की प्राप्ति होगी, कहाँ आत्म शब्द का क्या अर्थ है यह निश्चय नहीं होगा। पहले जो कहा गया था कि यज्ञ और अग्नि अर्थ में ज्योति शब्द के समान आत्म शब्द चेतनाचेतनार्थ में साधारण है, दोनों का वाचक है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मशब्द का अनेकार्थक होना अन्याय (युक्तिविरुद्ध) है। इससे चेतन वाचक ही मुख्य आत्म शब्द है और चेतनत्व के उपचार (गौण व्यवहार) से भूतादि में भी आत्म शब्द का प्रयोग किया जाता है, भूतात्मा इन्द्रियात्मा इत्यादि। आत्मशब्द के साधारण होने पर भी तात्पर्य का निश्चय कराने वाले कोई प्रकरण वा उपपद (साथ पठितपद) के बिना आत्मा अनात्मा दोनों में से किसी एक का निश्चय नहीं किया जा सकता है। उपर्युक्त श्रुतियों में अचेतन आत्मशब्दार्थ को निश्चय कराने वाला कोई कारण नहीं है, क्योंकि प्रकरण प्राप्त सत्य द्रष्टा है, और आत्मशब्द के पास में पठित चेतन श्वेतकेतु है। चेतन श्वेतकेतु का अचेतन आत्मा नहीं हो सकता, यह बात कही जा चुकी है, इससे चेतन का वाचक यहाँ आत्म शब्द है, यह निश्चय किया जाता है। ज्योतिशब्द भी लौकिक प्रयोग से अग्नि अर्थ में ही रूढ़ है। परन्तु अर्थवाद (स्तुतिवाद) से कल्पित जो अग्नि की तुल्यता उससे कल्पित सादृश्य-युक्त याग में ज्योतिशब्द बोधकरूप से प्रवृत्त हुआ है, इस लिए वह आत्म शब्द का दृष्टान्त नहीं हो सकता है।

अथवा पूर्वसूत्रे एवाशब्दं निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारणत्वाशङ्कतया व्याख्याय ततः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणनिराकरणहेतुर्व्याख्येयः 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इति। तस्मान्नाचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ७ ॥

अथवा पूर्वसूत्र में ही समस्त गौणत्व साधारणत्व की शंकाओं का निरास

(खंडन) पूर्वक आत्मशब्द का व्याख्यान करके, फिर स्वतन्त्र ही प्रधानरूप कारण के निराकरण हेतु व्याख्यान के योग्य सूत्र है कि आत्मनिष्ठ को मोक्ष का उपदेश है इससे अचेतन प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है ॥ ७ ॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

और भी किस कारण से प्रधान सत् शब्द का अर्थ नहीं है ?

संक्षिप्त सूत्रार्थ है कि (मोक्षार्थमेकज्ञानेन सर्वज्ञानार्थं च सदात्मानमुपदिश्य पुनर्हेयत्वस्यावचनाच्च ज्ञायते नात्र प्रधानं सच्छब्दार्थः) मोक्ष के लिये और एक सत् के ज्ञान से सब वस्तु के ज्ञान के लिए सत्यात्मा का उपदेश करके फिर हेयता नहीं कही गई है। इससे सिद्ध होता है कि मुख्यात्मा का ही उपदेश है, अन्यथा अन्नमयादि के बाद प्राणमयादि के उपदेशपूर्वक परमतत्त्व ब्रह्म के उपदेश के समान यहाँ भी प्रधानात्मक सत् से भिन्न मुख्य सत्यात्मा का फिर उपदेश देना था, या (नेदं यदिदमुपासते, केन) इत्यादि के समान फिर निषेध करना था इत्यादि।

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा, तत्त्वमसि' इतीहोपदिष्टं स्यात् स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षुस्तस्य हेयत्वं ब्रूयात्। यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां तारामुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति तद्वन्नायमात्मेति ब्रूयात्। न चैवमवोचत्। सन्मात्रात्मावगतिनिष्ठैव हि षष्ठप्रपाठकपरिसमाप्तिर्दृश्यते। 'च'शब्दः प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थः। सत्यपि हेयत्ववचने प्रतिज्ञाविरोधः प्रसज्येत, कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम्। 'उत तमादेशमप्राक्षः, येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि'ति। 'कथं नु भगवः स आदेशो भवती'ति। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्, एवं सोम्य स आदेशो भवति' (छा० ६।१।१।३) इति वाक्योपक्रमे श्रवणात्। न च सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा विज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवति, अप्रधानविकारत्वाद्भोक्तृवर्गस्य। तस्मान्न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ८ ॥

यदि अनात्मा प्रधान ही सत् शब्द का अर्थ हो, और उसी को (स आत्मा, तत्त्वमसि) वह आत्मा है और वही तुम हो, इस प्रकार यहाँ उपदेश किया गया हो, तो वह जिज्ञासु श्वेतकेतु उस उपदेश के श्रवण से अनात्मज्ञता के कारण अनात्मनिष्ठ न हो जाय, इसलिए मुख्यात्मा के उपदेश के इच्छुक गुरु को उस उक्त सत् में हेयता त्याज्यता कहनी चाहिये। जैसे कि अरुन्धती तारा को किसी के प्रति दिखाने की इच्छा वाला

उसके समीपवर्ती स्थूल तारारूप अमुख्य अरुन्धती को अरुन्धती नाम से दिखाकर समझा कर फिर उसका निषेध करके अरुन्धती नामक सूक्ष्म तारा को दिखाता समझाता है, वैसे ही गुरु को कहना था कि यह सत्य आत्मा नहीं है, परन्तु ऐसा कहा नहीं है, इससे सन्मात्ररूप आत्मा को अवगति (ज्ञान) में निष्ठा (स्थिति) वाले ही छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक (अध्याय) की समाप्ति देखी जाती है। सूत्र में 'च' शब्द प्रतिज्ञाविरोध का समुच्चय (हेतु रूप से सम्बन्ध) दिखाने के लिए हेयता (त्याज्यता) के कथन करने पर भी यदि प्रधान सत् शब्द का अर्थ हो तो प्रतिज्ञा से विरोध की प्राप्ति अवश्य होगी। क्योंकि गुरु ने शिष्य के प्रति प्रतिज्ञा की है कि कारण के ज्ञान से ही सब वस्तु ज्ञात हो जाती है। कथा है कि गुरुकुल से लौटकर आये हुए अभिमानी पुत्र को देखकर पिता ने पुत्र से पूछा कि, क्या तुमने अपने गुरु से उस आदेश (उपदेश) को भी पूछा कि जिस उपदेश के सुनने से अश्रुत भी पदार्थ श्रुत हो जाता है, और अमत (अविचारित) भी जिसके विचार से मत (विचारित) हो जाता है, तथा अविज्ञात (अनिश्चित) जिसके विज्ञान से विज्ञात होता है इत्यादि। पुत्र बोला कि हे भगवन् वह उपदेश कैसा है पिता जी बोले कि हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड के समझने से सब मृद्विकार समझे जाते हैं, वैसे एक सत्यात्मा के समझने से सब वस्तु समझी जाती है। क्योंकि विकार रूप कार्य वस्तु वाचारम्भण (वाग् इन्द्रिय से आरम्भ किये) जाते हैं। इससे नामैव नामधेयं (नाममात्र ही) कारण से पृथक है। वस्तुतः जैसे मृद्विकारों में मृत्तिका ही सत्य है ? कार्य सब मिथ्या नाम मात्र है, वैसे ही सद्विकार में सद्वस्तु ही सत्य है, कार्य वस्तु मिथ्या नाम मात्र हैं, हे सोम्य वह उपदेश इस प्रकार होता है, इस प्रकार वाक्य के आरम्भ में सुना गया है सत् शब्द का अर्थ यदि प्रधान हो तो इससे विरोध होगा, क्योंकि भोग्य वस्तु समूह के कारणरूप सत् शब्द के अर्थ प्रधान के हेयत्व वा अहेयत्व रूप से ज्ञात (अनुभूत) होने पर भी, भोक्ताओं का समूह विज्ञात (अनुभूत) नहीं हो सकता है, क्योंकि भोक्ता जीव समूह प्रधान का विकार रूप नहीं है जिससे प्रधान सत् शब्द का अर्थ नहीं है, और सिद्धान्त में तो जीव चेतनात्मक है, और जड़ जगत् चित् शक्ति माया का विकार रूप है इससे जगत् की सत्ता चिदात्मा से भिन्न नहीं है इसलिए सत् चेतनात्मा ब्रह्म के ज्ञान से सब वस्तु का ज्ञान होने से प्रतिज्ञा से विरोध नहीं होता है इत्यादि ॥ ८ ॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

और भी किस हेतु से प्रधान सत् शब्द का अर्थ नहीं है ?

संक्षिप्तार्थ है कि (सुषुप्तिकाले स्वाप्ययात्-स्वस्मिन्-अप्ययो विलयः स्वाप्ययः, तस्य श्रुतो श्रवणादपि न प्रधानं सच्छब्दार्थः) सुषुप्ति काल में सत् शब्द के अर्थ आत्मा में

जीवन का विलय सुना गया है। इससे भी प्रधान सत् शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि चेतन जीव का अचेतन में विलय नहीं हो सकता है।

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति, एषा श्रुतिः स्वपितीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति। स्वशब्देनेहात्मोच्यते, यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः। अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धं, प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात्, मनःप्रचारोपाधिविशेषसंबन्धादिन्द्रियार्थान्गृह्णंस्तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति। तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान् पश्यन् मनःशब्दवाच्यो भवति। स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात्स्वात्मनि प्रलीन इवेति 'स्वं ह्यपीतो भवति' इत्युच्यते। यथा हृदयशब्दनिर्वचनं श्रुत्या दर्शितम्—'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति, तस्माद्धृदयम् (छा० ८।३।३) इति, यथावाऽशनायोदन्याशब्दप्रवृत्तिमूलं दर्शयति श्रुतिः—'आप एव तदशितं नयन्ते तेज एव तत्पीतं नयते' (छा० ६।८।३,५) इति च एवं 'स्वमात्मानं सच्छब्दवाच्यमपीतो भवती'तीममर्थं स्वपितिनामनिर्वचनेन दर्शयति। न च चेतन आत्माऽचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिपद्येत। यदि पुनः प्रधानमेवात्मीयत्वात् स्वशब्देनैवोच्येत, एवमपि चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत। श्रुत्यन्तरं च—'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृह० ४।३।२१) इति सुषुप्तावस्थायां चेतनेऽप्ययं दर्शयति। अतो यस्मिन्नप्ययः सर्वेषां चेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणं न प्रधानम् ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त उसी सत् शब्द के अर्थ कारण को कहकर उसी के प्रकरण में श्रुति सुनी जाती है कि यत्रैतत्पुरुषः इत्यादि। जिस सुषुप्ति काल में यह पुरुष सोता है, और जहाँ इसका 'स्वपिति' यह नाम होता है, हे सोम्य! उस काल में यह जीवात्मारूप पुरुष सदात्मा के साथ सम्पन्न (संगत एक) अभिन्न हो जाता है। स्वं सत्परमार्थ स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, उसमें लीन होता है, मन आदि कृत औपाधिक स्वरूप को त्याग देता है, जिससे उस अवस्था में उसको 'स्वपिति' इस नाम से कहते हैं, जिससे आत्मा में लीन होता है। इस प्रकार कहने वाली श्रुति 'स्वपिति' यह लोकप्रसिद्ध पुरुष के नाम का निर्वचन (व्याख्यान) करती है, स्वशब्द से यहाँ आत्मा कहा जाता है। और जो प्रकरण प्राप्त सत्शब्द का अर्थ है। उसी में अपीत होता है, अपिगत (लीन) होता है, यह श्रुति का अर्थ है, क्योंकि अपि अव्ययपूर्वक गत्यर्थक एतिधातु को लयवाचकत्व प्रसिद्ध है। (भवाप्ययौ हि भूतानाम्। भ० गी० ११।२) इत्यादि वाक्यों में उत्पत्ति और लय अर्थ में प्रभव और अप्यय शब्द का प्रयोग देखा जाता है। और मन के प्रचार (वृत्ति) रूप उपाधि विशेष के सम्बन्ध से विशेषावस्था को प्राप्त यह जीव इन्द्रियार्थ (शब्दादि विषयों) का ग्रहण करता हुआ जागता है, अर्थात् स्थूल देहाभिमानी स्थूलार्थ

का ज्ञाता जागने वाला विश्व नाम जीव कहाता है। और उस जाग्रत की वासनाओं से युक्त होकर अर्थात् जाग्रद्वासनायुक्त मन रूप उपाधि वाला होकर स्वप्नों को देखता हुआ मन (तैजस) शब्द का वाच्य जीव होता है। वही जीव, जाग्रत स्वप्न की दोनों उपाधियों के उपरम (निवृत्ति) होने पर सुषुप्ति अवस्था में उपाधिकृत प्रगट विशेष (भेद) के अभाव से स्वात्मा (स्वरूप) में प्रलीन के समान होता है इससे (स्वंह्यपीतो भवति) अपने ही में लीन होता है, इस प्रकार कहा जाता है, अर्थात् उपाधि के विलय से विलय का गौण व्यवहार होता है, वास्तविक जीव भाव का विलय तो मोक्षावस्था में होता है। यह स्वपिति नाम का निर्वचन अर्थवाद रूप नहीं है, क्योंकि इसी के समान हृदय शब्द का निर्वचन श्रुति से दर्शाया गया है कि (वह अपहृत पाप्मादि विशेषण वाला यह आत्मा हृदय में रहता है) उस हृदय शब्द का यही निर्वचन है कि हृदय में जिससे यह आत्मा रहता है जिससे (हृद् अयम्—हृदयम्) कहा जाता है। और भी जिस प्रकार, अशनाया, और उदन्या शब्दों को प्रवृत्ति (व्यवहार) के मूल को श्रुति दर्शाती है कि (जल ही उस खाये हुए अन्न का द्रवीभूत करके पाक स्थान में पहुँचाता है, पचाता है। इससे अशनाया कहाता है। और तेज ही उस पीए हुए उदक को शोषण करता रक्त—प्राणादि रूप परिणाम को प्राप्त करता है, इससे वह उदन्या कहाता है, इत्यादि। इसी प्रकार, सत् शब्द का वाच्यार्थ अपने आत्मा में लीन होता है इस अर्थ को स्वपिति नाम के निर्वचन से श्रुति यथार्थ दर्शाती है। स्वप्रधान पक्ष में नहीं बन सकता है, क्योंकि चेतनात्मा पुरुष अचेतन प्रधान को निजात्म रूप से नहीं प्राप्त कर सकता है। और यदि प्रधान को ही आत्म सम्बन्धी होने से स्वशब्द से कहा जाय, तो ऐसा मानने पर भी चेतन अचेतन भाव को प्राप्त होता है, तद्रूप से उसमें लीन होता है, यह विरुद्धार्थ प्राप्त होगा। और दूसरी श्रुति साफ कहती है कि सुषुप्ति काल में यह जीवात्मा रूप पुरुष प्राज्ञ (प्रकृष्ट ज्ञाता) पारमार्थिक अपने आत्मा से संपरिष्वक्त (एक स्वरूप) होकर बाहर भीतर की किसी वस्तु को नहीं जानता है। इससे सुषुप्ति अवस्था में चेतन में ही विलय दर्शाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुषुप्ति प्रलय में सब चेतनात्माओं जीवों का चेतन में विलय होता है, वही चेतन सत् शब्द का अर्थ चेतन में है और जगत् का कारण है, प्रधान नहीं ॥ ९ ॥

कुतश्च न प्रधानं जगतः कारणम्—

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

और किस कारण से प्रधान जगत् का कारण नहीं है—

संक्षिप्तार्थं है कि (सर्वेषां वेदान्तानां गतेः प्रवृत्तिमार्गस्य तुल्यत्वात्—चेतनात्मनि-विवादाऽदर्शनान्न प्रधानं क्वचिदपि वेदान्ते कारणं स्वतन्त्रमभ्युपगम्यते) सब वेदान्त की गति (प्रवृत्ति का मार्ग) रीति की तुल्यता से चेतनात्मा में विवाद के अभाव दर्शन से किसी भी वेदान्त में स्वतन्त्र कारण प्रधान नहीं माना जाता है, यह निश्चय हो जाता है।

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत् क्वचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणम्, क्वचिदचेतनं प्रधानम्, क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित्प्रधानकारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत्, न त्वेतदस्ति, समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः। 'यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते 'प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (का० ३।३) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति, 'आत्मन एवेदं सर्वम्' (छा० ७।२६।१) इति, 'आत्मन एष प्राणो जायते' (प्र० ३।३) इति चात्मनः कारणत्वं दर्शयन्ति सर्वे वेदान्ताः। आत्मशब्दश्च चेतनवचन इत्यवोचाम। महच्च प्रामाण्यकारणमेतद्यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वं चक्षुरादीनामिव रूपादिषु। अतो गतिसामान्यात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ॥ १० ॥

यदि तार्किकों (अनुमान से जगत कारण की कल्पना करने वालों) के सिद्धान्तों के समान वेदान्तों में भी भिन्न भिन्न अनेक प्रकार के कारणों की अवगति (अनुभूति-ज्ञान) होती और मानी जाती, जैसे कि कहीं कहा जाता कि चेतन ब्रह्म जगत का कारण है, कहीं कहा जाता कि अचेतन प्रधान कारण है, कहीं अन्य ही कुछ कहा जाता कि शून्यादि वा कालस्वभावादि कारण हैं, तो श्रोता को भी श्रवण के अनुसार भिन्न-भिन्न अवगति होती, फिर कहीं प्रधान कारणवाद के अनुसार से भी ईक्षति इत्यादि श्रुति को गौणार्थत्व की कल्पना हो सकती और प्रधान कारण माना जाता। परन्तु ऐसी गति वेदान्त में है नहीं। क्योंकि समान (एक प्रकार की) ही चेतन कारण की अवगति सब वेदान्तों में होती है। जैसे कि (यथाग्नेः) इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं कि जैसे प्रज्वलित अग्नि से सब दिशाओं में विस्फुलिंग (चिनगारियाँ) फैलती हैं, विविध रूप से गमन करती हैं, इसी प्रकार सुषुप्ति काल में आत्मा में विलीन सब प्राण जागने के समय इस आत्मा से अपने-अपने गोलक रूप आश्रय के अनुसार गमन करते हैं। प्रगट होते हैं, और प्राणों से उनके सहायक देव व्यक्त होते हैं, उन देवों से लोक (विषय) व्यक्त गृहीत होते हैं। और उस मन्त्र प्रतिपादित तथा इस ब्राह्मण ग्रन्थ से प्रतिपादित आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आत्मा ही से यह सब जगत होता है। आत्मा से यह प्राण (उत्पन्न होता है)। इस रीति से सब वेदान्त आत्मा की कारणता को ही दर्शाते हैं। आत्मशब्द चेतनवाचक है, यह प्रथम कहा गया है। और वेदान्त वाक्यों का जो चेतन कारणत्व विषयक समानगतित्व (तुल्यप्रवृत्तिरूपता) है, यही वेदान्त वाक्यों के प्रामाण्य का महान् कारण है, विवादाभावपूर्वक समान गति से शीघ्र प्रामाण्य का निश्चय होता है, जैसे कि सब पुरुषों के नेत्रादि की रूपादि विषयों में समान गति से नेत्रादि में प्रमाणता होती है और इस गति सामान्य से ही जगत का कारण ब्रह्म है ॥ १० ॥

कुतश्च सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्—

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

और भी किस कारण से सर्वज्ञ ब्रह्म जगत का कारण है—

संक्षिप्तार्थ है कि (श्रुतिषु साक्षादेव ब्रह्मणो जगतः कारणत्वस्य श्रुतत्वात् सर्वज्ञं ब्रह्मैव जगतः कारणम्) श्रुतियों में प्रत्यक्ष ही ब्रह्म को जगत की कारणता सुनी गई है। जिससे सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत का कारण है।

स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य 'न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके, न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्, स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति। तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणं, नाचेतनं प्रधानमन्यद्वेति सिद्धम् ॥ ११ ॥

सर्वज्ञ ईश्वर जगत का कारण है, यह अर्थ श्रुतिगत स्वशब्दों (चेतन सर्वज्ञादि के वाचक शब्दों) द्वारा सुना जाता है। जैसे कि श्वेताश्वतर शाखा वालों के मन्त्रात्मक उपनिषद में सर्वज्ञ ईश्वर को प्रकरणस्थ करके लिखा है कि (जिस ईश्वर का लोक में कोई पति (स्वामी) नहीं है, इसी से उसका ईशिता (नियन्ता) नहीं है। न उसका कोई लिङ्ग चिह्न है, वही सबका कारण है, और करणों (इन्द्रियों) के स्वामी जीव तथा मन का भी वही अधिष्ठाता स्वामी है। और उसका कोई जनयिता (पिता) वा स्वामी नहीं है। इत्यादि। जिससे सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत का कारण है, अचेतन प्रधान वा अन्य कोई वस्तु जगत का कारण नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'श्रुतत्वाच्च' इत्येवमन्तैः सूत्रैर्यान्युदाहृतानि वेदान्तवाक्यानि तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वं न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम्। गतिसामान्योपन्यासेन च सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारणवादिन इति व्याख्यातम्। अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमिति ?

यहाँ शङ्का होती है कि अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, इस सूत्र से ब्रह्म विचार की प्रतिज्ञा करके (जन्माद्यस्य यतः) यहाँ से वेदान्त वाक्यों के विचार का आरम्भ करके (श्रुतत्वाच्च) इस सूत्र पर्यन्त सूत्रों के द्वारा जिन वेदान्त वाक्यों का उदाहरण रूप से ग्रहण किया गया है, उन वाक्यों को सर्वज्ञ सर्वशक्ति वाला ईश्वर जगत की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण है। इस अर्थ का प्रतिपादकत्व है। यह अर्थ न्याय (युक्ति) पूर्वक प्रतिपादित (निरूपित) हो चुका। और गति (ज्ञान) सामान्य के कथन से सब वेदान्त चेतन कारणवादी है। यह तत्त्व भी व्याख्यात (प्रसिद्ध) हो चुका। अतः इससे आगे के ग्रन्थ का उत्थान (उत्पत्ति-आरम्भ) किस लिये है।

उच्यते—द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृह० ४।५।१५) 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छान्दो० ७।२४।१) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः, नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७)

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ (श्वे० ६।१९)

'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति[1] 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) 'न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्' इति च, एवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि। तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः। तत्र कानिचिद्ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचित्क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसमृद्ध्यर्थानि, तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः। एक एव तु परमात्मेश्वरस्तैस्तैर्गुणविशेषैर्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति, तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः, 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' (छा० ३।१४।१) इति च। स्मृतेश्च—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ (गी० ८।६) इति।

यद्यप्येक[2] आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढस्तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्यादात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते—'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' (ऐ० आ० २।३।२।१) इत्यत्र। स्मृतावपि—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ (गी० १०।४१)

इति यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपास्यतया चोद्यते। एवमिहाप्यादित्यमण्डले हिरण्मयः पुरुषः सर्वपाप्मोदयलिङ्गात्पर एवेति वक्ष्यति। एवम् 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १।१।२२) इत्यादिषु द्रष्टव्यम्। एवं सद्योमुक्तिकारणमप्यात्मज्ञानमुपाधिविशेषद्वारेणोपदिश्यमानमप्यविवक्षितोपाधिसंबन्धविशेषं

१. 'नेति नेत्यात्मा' इति प्रा० मु० पु० पाठः।
२. 'एक एवे'ति प्रा० मु० पु० पाठः।

परापरविषयत्वेन सन्दिह्यमानं वाक्यगतिपर्यालोचनया निर्णेतव्यं भवति। यथेहैव तावत् 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति।

एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यत इति प्रदर्शयितुं परो ग्रन्थ आरभ्यते। यच्च 'गतिसामान्यात्' इत्यचेतनकारणनिराकरणमुक्तं तदपि वाक्यान्तराणि ब्रह्मविषयाणि व्याचक्षाणेन ब्रह्मविपरीतकारणनिषेधेन प्रपञ्च्यते—

उत्तर दिया जाता है कि शास्त्र से दो स्वरूप वाला दो प्रकार का एक ही ब्रह्म अवगत (ज्ञात) होता है। एक स्वरूप तो नामरूपात्मक जो विकार हैं, उनके ही भेद (विशेष) रूप उपाधि सहित है, जो उपासना आदि के लिए वर्णित है। और दूसरा निर्गुण स्वरूप सब उपाधियों से रहित है। जैसे श्रुति कहती है कि यत्र (जिस अज्ञानावस्था में) द्वैत के समान रहता है, सत्य द्वैत (भेद) प्रतीत होता है, उस अवस्था में इतर द्रष्टा जीव इतर दृश्य देवादि को सत्य स्वरूप देखता है, इस अवस्था में दृश्योपाधि वाला ब्रह्म भासता है। और (जिस ज्ञानावस्था में) इस विद्वान् की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया, उस अवस्था में वह किससे किसको सत्य देखे। इससे यहाँ निरुपाधिक वस्तु ज्ञानी की दृष्टि में कर्म करणादि रहित भासना प्रतीत होता है। इसी प्रकार जिस ब्रह्म में निश्चय पूर्वक स्थिर विद्वान् ब्रह्मात्मा से अन्य वस्तु को सत्स्वरूप नहीं देखता है, न अन्य को सुनता है, न मन से जानता है, वह निर्गुण भूमा ब्रह्म है। उसके बाद सगुण का कथन है कि जिस सगुण में स्थिर पुरुष ब्रह्मात्मा से अन्य को देखता सुनता और जानता है, वह अल्प (एकदेशी) वस्तु है, और जो भूमा (ब्रह्म) है सो अमृत (अविनाशी-नित्य) है, उससे अन्य जो अल्प है वह मर्त्य (अनित्य) है। धीर (सर्वज्ञ) परमात्मा ही सब देवमनुष्यादि रूपों को विचित्य (रचकर) उनके तत्तत् नाम करके हृदयों में जीव रूप से पैठ कर अभिवदन (तत्तत्) व्यवहारों को करता हुआ जो है वह सगुण है। इसी प्रकार निष्कल (निरंश) क्रियारहित, शान्त (परिणाम रहित) दोषशून्य, निरञ्जन (निर्गुण) मोक्ष की प्राप्ति में सेतुतुल्य दग्धेन्धन अग्नि के समान एक रस प्रकाश युक्त निर्गुण आत्मा को समझना चाहिये नेति-नेति (यह नहीं, यह नहीं) और न स्थूल है न अणु है इत्यादि वाक्य भी निर्गुण के बोधक हैं। इसी प्रकार न्यून (अल्प) स्थान अन्य (सगुण) है। और पूर्ण (निर्गुण) स्थान उससे अन्य है, इस प्रकार सगुण निर्गुण दोनों का वर्णन है। और इसी प्रकार विद्या और अविद्या के विषय सत्य मिथ्या के भेद से ब्रह्म की दो रूपता को वाक्य दर्शाते हैं। वहाँ अविद्यावस्था में ब्रह्म सम्बन्धी उपास्य उपासकादिरूप सब व्यवहार होते हैं। उनमें भी कोई ब्रह्म की उपासनायें अभ्युदय (स्वर्गादि) के लिये हैं। कोई क्रममुक्ति (ब्रह्मलोक की प्राप्ति पूर्वक मुक्ति) के लिए हैं, कोई कर्म फल की समृद्धि (वृद्धि) के लिए हैं। उन उपासनाओं को ब्रह्म के गुणरूप उपाधि विशेष के भेद से भेद होता है, उपास्य के एक होते भी गुण के भेद से वह

भिन्न-भिन्न समझा जाता है, इससे उपासना भी भिन्न-भिन्न हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि एक ही परमात्मस्वरूप ईश्वर तत्तत् गुणों से युक्त हो कर उपास्य (सेव्य) होता है। तो भी जैसी गुणयुक्त की उपासना की जाती है, उसके अनुसार ही फल भी भिन्न हो जाते हैं। शतपथश्रुति कहती है कि (उस परमात्मा को जिस-जिस गुणयुक्त समझ कर लोग उसकी उपासना करते हैं, उस गुणरूपता को ही उपासक प्राप्त होते हैं। और जैसा क्रतु (संकल्प ध्यान) वाला पुरुष इस लोक में होता है, मरने के बाद इस लोक से परलोक में जाकर संकल्प के अनुसार स्वरूप पाता है। गीता में श्रीभगवद्वचन है कि—हे कौन्तेय (अर्जुन) अन्तकाल में जिस-जिस भाव (पदार्थ देवादि) का स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, सदा उस पदार्थ का भाव (भावना चिन्तन प्रेम) से भावित (प्रभावित वासित चित्त वाला) वह पुरुष तत्तत् भाव को ही प्राप्त होता है। यद्यपि एक ही आत्मा स्थावर जंगम सब प्राणी में गूढ़ (छिपा) है। अर्थात् प्राणी का एक ही सत्य पारमार्थिक स्वरूप है, वह अविद्या कृत आवरणादि से नहीं भासता है। इससे स्वरूप के अभेद से यद्यपि सब प्राणी को तुल्य होना चाहिये, तथापि चित्तात्मक उपाधि (विशेषण-माया) विशेष (भेद) के तारतम्य (न्यूनाधिक भाव-शुद्धत्वाशुद्धत्वादि) से कूटस्थ नित्य एकरूप ऐश्वर्य और शक्ति विशेषों के द्वारा उत्तर आविष्कृत (व्यक्त) आत्मा का भी औपाधिक तारतम्य वक्ष्यमाण श्रुति में सुना जाता है कि (जो पुरुष जिस आत्मा के आविस्तर-प्रकटतर (अति प्रकट) आत्मा (स्वरूप) को जानता है। उस स्परूप की उपासना करता है वह उस रूप को प्राप्त करता है। गीता का वचन है कि जो-जो विभूति-ऐश्वर्यादि युक्त सत्त्व-वस्तु वा प्राणी है, शोभा लक्ष्मी से युक्त है, ऊर्जित बलोत्साह युक्त है, उन सबको तुम मेरे (ईश्वर के) तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जानो। इत्यादि वचनों से जहाँ-जहाँ विभूति की अधिकता है, वह सब ईश्वर है इस प्रकार उपास्य का विधान है। इसी प्रकार इस सूत्रग्रन्थ में भी कहेंगे कि सूर्यमण्डल में हिरण्यमय (तेजोमय) पुरुष है, वह सब पापों से उदय (असम्बद्ध) परमात्मा ही है। इसी प्रकार (आकाशस्तल्लिङ्गात्) इस सूत्र में आकाश शब्दार्थ परमात्मा को कहेंगे इत्यादि समझना चाहिये। उक्त रीति से सोपाधिक स्वरूप का वर्णन उपासनार्थक है, उसके निर्णय के लिये उत्तर ग्रन्थ की आवश्यकता है ही। इसी प्रकार शीघ्रमुक्ति का कारण आत्मज्ञान भी जहाँ उपाधि विशेष द्वारा उपदिश्यमान (उपदेश का विषय) है, और उपाधि द्वारा उपदेश होते भी जहाँ उपाधि की विवक्षा नहीं है, तो भी पर अपर ब्रह्म विषयकत्व का संदेह होने पर वाक्यों की गति (तात्पर्य) के विचार द्वारा वह निर्णयार्ह होता है। इस लिये भी ग्रन्थारम्भ है। जैसे यहाँ ही प्रथम (आनन्दमयोऽभ्यासात्) यह सूत्र है। इस प्रकार एक भी परब्रह्म उपाधि सम्बन्ध की अपेक्षा (विवक्षा) युक्त होने पर उपास्य रूप से और उपाधि सम्बन्ध की अपेक्षा के बिना ज्ञेय रूप से वेदान्तों में उपदेश का विषय होता है, इस अर्थ को प्रदर्शित कराने के लिये आगे के ग्रन्थ का आरम्भ किया

जाता है। और (गतिसामान्यात्) इस सूत्र से जो अचेतन कारण का निराकरण कहा (किया) गया है, वह भी ब्रह्मविषयक वाक्यान्तरों के व्याख्यान करते हुए सूत्रकार से ब्रह्म से विपरीत कारणों के निषेध द्वारा विस्तृत किया जायगा।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (ब्रह्मण उपक्रमादिसत्त्वेऽपि सविधेऽन्नमयादीनां कीर्तनादानन्दमयस्यार्थान्तरपरत्वस्य संशये पूर्वपक्षे च जाते सूत्रकृतोक्तवान्, यदानन्दमयशब्दार्थो मुख्यं ब्रह्मैव मन्तव्योऽभ्यासात्, न तु जीव इति) ब्रह्म विषयक उपक्रमादि के रहते भी पास में अन्नमयादि के कथन से आनन्दमय सम्बन्धी अर्थान्तरता की शंका और पूर्वपक्ष के होने पर सूत्रकार ने कहा है कि आनन्दमय शब्द का अर्थ मुख्य ब्रह्म ही अभ्यास से मानने योग्य है।

आनन्दमयाधिकरण (६)

संसारी ब्रह्म वानन्दमयः संसार्ययं भवेत्।
विकारार्थमयट्शब्दात्प्रियाद्यवयवोक्तितः ॥ १ ॥
अभ्यासोपक्रमादिभ्यो ब्रह्मानन्दमयो भवेत्।
प्राचुर्यार्थो मयट्शब्दः प्रियाद्याः स्युरुपाधिगाः ॥ २ ॥
अन्याङ्गं स्वप्रधानं वा ब्रह्मपुच्छमिति श्रुतम्।
स्यादानन्दमयस्याङ्गं पुच्छेङ्गत्वप्रसिद्धितः ॥ ३ ॥
लाङ्गूलासंभवादत्र पुच्छेनाधारलक्षणा।
आनन्दमयजीवोऽस्मिन्नाश्रितोऽतः प्रधानता ॥ ४ ॥

श्रुतिगत आनन्दमय शब्द का अर्थ संसारी जीव है कि ब्रह्म है, ऐसी शंका होने पर पूर्वपक्ष है कि यह आनन्दमय का अर्थ संसारी हो सकता है, क्योंकि विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय है, और आनन्दमय के प्रिय मोदादि अवयव कहे गये हैं, एवं ब्रह्म निर्विकार निरवयव है ॥ १ ॥

सिद्धान्त है कि अभ्यास और उपक्रमादि से आनन्दमय शब्द का अर्थ ब्रह्म ही हो सकता है। मयट् प्रत्यय प्राचुर्य (बाहुल्य) अर्थ में है, विकार में नहीं। तथा आनन्दमय के उपाधि विज्ञानमय में प्रियादि अवयव हैं, आनन्दमय में नहीं ॥ २ ॥

प्रकारान्तर से शंका है कि 'ब्रह्मपुच्छम्', इस श्रुत पद में ब्रह्म अन्य का अङ्ग (अवयव) कहा गया है, या ब्रह्म शब्द का स्वकीय अर्थ ही प्रधान है। पूर्व पक्ष है कि ब्रह्म आनन्दमय का अङ्गरूप से बोधित है। इससे स्वार्थ प्रधान नहीं है। लोक में भी पुच्छ में पशु का अङ्गत्व प्रसिद्ध है इससे भी प्रधानता नहीं है ॥ ३ ॥

सिद्धान्त है कि यहाँ आनन्दमय का लांगूल (पुच्छ) ब्रह्म हो नहीं सकता, इससे

पुच्छ शब्द से लक्षणा द्वारा आधार का बोध होता है, और आनन्दमय नामक जीव इस ब्रह्म के आश्रित रहता है इससे ब्रह्म शब्द की स्वार्थ में प्रधानता है ॥ ४ ॥

तैत्तिरीयकेऽन्नमयं, प्राणमयं, मनोमयं, विज्ञानमयं, चानुक्रम्याम्नायते— 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २।५) इति। तत्र संशयः—किमिहानन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते यत्प्रकृतम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति, किंवाऽन्नमयादिवद्ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति। किं तावत्प्राप्तं ब्रह्मणोऽर्थान्तरममुख्य आत्मानन्दमयः स्यात्। कस्मात्? अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वात्। अथापि स्यात्सर्वान्तरत्वादानन्दमयो मुख्य एवात्मेति। न स्यात्, प्रियाद्यवयवयोगाच्छारीरत्वश्रवणाच्च। मुख्यश्चेदात्माऽऽनन्दमयः स्यान्न प्रियादिसंस्पर्शः स्यात्। इह तु 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादि श्रूयते। शारीरत्वं च श्रूयते— 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' इति। तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शारीर आत्मा य एष आनन्दमय इत्यर्थः। न च सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियसंस्पर्शो वारयितुं शक्यः। तस्मात्संसार्येवानन्दमय आत्मा, इत्येवं प्राप्त इदमुच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्'।

तैत्तिरीय श्रुति में, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय का क्रम से निरूपण करके उन्हें विशिष्टात्मा रूप से वर्णन करके फिर लिखा है (कहा गया है) कि (तस्माद्वा) इत्यादि। उस उक्त विज्ञानमय से अन्य उसका अन्तरात्मा है, वह आनन्दमय है, इत्यादि। वहाँ संशय होता है कि यहाँ आनन्दमय शब्द से (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) जो इस वाक्य से परब्रह्म प्रकरण प्राप्त है, वही कहा जाता है अथवा अन्नमयादि के समान ब्रह्म से भिन्न ही अर्थ कहा जाता है। विचारणा हुई कि प्रथम प्राप्त क्या होता है। पूर्वपक्ष होता है कि ब्रह्म से भिन्न अमुख्य आत्मा आनन्दमय का अर्थ हो सकता है, क्योंकि अन्नमयादि रूप अमुख्य आत्मा के प्रवाह (प्रकरण-निरूपण की परम्परा) में ही आनन्दमय भी पतित (प्राप्त निरूपित) हुआ है। ऐसा होने पर भी यदि कहा जाय कि आनन्दमय को सर्वान्तरत्व होने से वह मुख्य ही आत्मा है, तो यह बात भी नहीं बन सकती है, क्योंकि उसमें प्रियमोदादि अवयवों का योग (सम्बन्ध) कहा गया है, और शारीरत्व (शरीरवृत्तित्व) सुना गया है, मुख्यात्मा यदि आनन्दमय होता, तो उसमें प्रियादि अवयवों का सम्बन्ध नहीं होता, और यहाँ तो (उसका प्रिय शिर है) इत्यादि सुना जाता है। और शारीरत्व भी सुना जाता है कि (जो उस पूर्व वर्णित विज्ञानमय का आत्मा है, सो वही शरीरवृत्ति आनन्दमय रूप आत्मा है) और शरीर सहित रहने वाले को प्रियाप्रिय (सुख-दुःख) के सम्बन्ध का वारण नहीं किया जा सकता है, किस कारण से संसारी आत्मा ही आनन्दमय है, इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहा जाता है कि—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।'

पर एवात्मानन्दमयो भवितुमर्हति। कुतः? अभ्यासात्। परस्मिन्नेव ह्यात्म-

न्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते। आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वै: स:' इति तस्यैव रसत्वमुक्त्वोच्यते—'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति, 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति' (तै० २।७) 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' (तै० २।८, ९) इति। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्ति० ३।६) इति। श्रुत्यन्तरे च—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) इति ब्रह्मण्येवानन्दशब्दो दृष्टः। एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासादानन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते।

परमात्मा ही आनन्दमय होने के योग्य है। यदि कहा जाय कि कैसे ? तो अभ्यास से आनन्दमय परमात्मा सिद्ध होता है। परमात्मा में ही आनन्दशब्द का बहुत बार अभ्यास (प्रयोग) किया जाता है। आनन्दमय का प्रस्ताव (प्रसंग) करके लिखा है कि वह रस (आनन्द) है और वही इस प्रकार उस आनन्दमय के रसत्व को कहकर कहा जाता है कि (रस सार तत्त्व) को प्राप्त करके ही यह लोक आनन्दयुक्त होता है। कौन अन्यात् (चले) और कौन प्राण्यात् (जीवे) यदि यह आकाश (पूर्ण) आनन्द न हो। यह पूर्णानन्द ही सब को आनन्द देता है, आनन्दयुक्त करता है। मनुष्यानन्द से ब्रह्मानन्द तक यह आनन्द की विचारणा होती है। इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करता है। ब्रह्मानन्द को जानने वाला किसी से नहीं डरता है। आनन्दस्वरूप ब्रह्म है इस प्रकार भृगु ने समझा (विज्ञानमानन्दं) इस दूसरी श्रुति में भी ब्रह्मार्थ में ही आनन्दशब्द देखा गया है। इस प्रकार आनन्द शब्द का बहुत बार ब्रह्मविषयक अभ्यास से आनन्दमयरूप आत्मा ब्रह्म है ऐसा समझा जाता है।

यत्तूक्तम्—'अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्याप्यमुख्यत्वमिति-नासौ दोषः। आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात्। मुख्यमेव ह्यात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरत् अन्नमयं शरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽन्तरमित्येवं पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राहयत् प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरं मुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरम्। यथारुन्धतीनिदर्शने बह्वीष्वपि तारास्वमुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु यान्त्या प्रदर्श्यते सा मुख्यैवारु-न्धती भवति, एवमिहाप्यानन्दमयस्य सर्वान्तरत्वान्मुख्यमात्मत्वम्।

जो यह कहा था कि अन्नमयादि अमुख्य (गौण) आत्मा के प्रसंग में आनन्दमय के ज्ञान होने से आनन्दमय को भी अमुख्यत्व है। वहाँ कहा जाता है कि अमुख्य प्रवाह-पातजन्य अमुख्यत्व दोष आनन्दमय में नहीं है, क्योंकि आनन्दमय को सर्वान्तरत्व है। यदि इससे अभ्यन्तर अन्य कोई होता, तो उसकी अपेक्षा अन्नादिमय के समान यह भी अमुख्य होता, यह बात नहीं है। उस मुख्य ही आत्मा के उपदेश के इच्छुक शास्त्र ने

लोगों की बुद्धि का अनुसरण करता हुआ, अन्नमय अनात्मा शरीर जो अत्यन्त मूढ़ों को आत्मरूप से प्रसिद्ध है उसका अनुवाद करके साँचे में दिए हुए द्रुत तामे आदि की प्रतिमा के समान उसके अन्दर इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समान उत्तर-उत्तर अनात्मा को ही ज्ञान की सुगमता की दृष्टि से प्रथम आत्मरूप से ग्रहण (ज्ञान) करता हुआ अन्त में सर्वान्तरमुख्य आनन्दमय आत्मा का उपदेश दिया है, ऐसा मानना अत्यन्त उचित है। जैसे अरुन्धती के प्रदर्शन (दिखाने) में प्रथम बहुत अमुख्य अरुन्धती ताराओं को देखने के बाद में जो अरुन्धती दिखाई जाती है वह मुख्य ही अरुन्धती रहती है। इसी प्रकार यहाँ भी आनन्दमय को सर्वान्तर होने से मुख्यात्मत्व है।

यत्तु ब्रूषे—प्रियादीनां शिरस्त्वादिकल्पनाऽनुपपन्ना मुख्यस्यात्मन इति—अतीतानन्तरोपाधिजनिता सा न स्वाभाविकीत्यदोषः। शारीरत्वमप्यानन्दमयस्यान्नमयादिशरीरपरम्परया प्रदर्श्यमानत्वात्, न पुनः साक्षादेव शारीरत्वं संसारिवत्, तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १२ ॥

जो यह कहते हो कि मुख्य आनन्दमय में प्रियादि की शिर आदि रूप से कल्पना अयुक्त है, इसका उत्तर है कि वह शिर आदि की कल्पना आनन्दमय से पूर्वगत विज्ञानमय रूप उपाधि जनित है स्वभावसिद्ध नहीं है, इससे कोई दोष नहीं है। और आनन्दमय को शरीर सम्बन्धित्व भी अन्नमयादि शरीरों की परंपरा से दिखलाया गया है। संसारी के समान साक्षात् शरीरत्व नहीं दिखलाया गया है, जिससे आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १२ ॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

विकारशब्दात् न इति चेत् न प्राचुर्यात्। इस प्रकार इस सूत्र में छः पद हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (आनन्दमयशब्दे मयड्वैतयोरित्यादि सूत्रेण विकारार्थे प्रत्ययसत्त्वादानन्दमयशब्दो न ब्रह्मवाचक इति चेन्न, तत्प्रकृतवचने मयडितिसूत्रेण प्राचुर्य (बाहुल्य) विशिष्टार्थेऽपि मयटो विधानात् सम्भवति ब्रह्मवाचकत्वमानन्दमयशब्दस्येति) आनन्दमय शब्द में (मयड्वा) इस सूत्र से विकार और अवयव अर्थ में प्रत्यय विधान के कारण विकार अर्थ में प्रत्यय है, इससे आनन्दमय शब्द निर्विकार ब्रह्म का वाचक नहीं है, इस शंका का उत्तर है कि (तत्प्रकृत) इत्यादि सूत्र से बहुलता विशिष्ट (युक्त) अर्थ में मयट् होता है, वही आनन्दमय में है, क्योंकि (द्व्यचश्छन्दसि) इस सूत्र से नियम किया गया है कि वैदिक शब्द में यदि विकारार्थ में मयट् हो तो दो अच् वाले ही से हो और आनन्द शब्द में तीन अच् हैं, इससे आनन्दमय शब्द को ब्रह्मवाचकत्व है।

अत्राह—नानन्दमयः पर आत्मा भवितुमर्हति। कस्मात्, विकारशब्दात्। प्रकृतिवचनादयमन्यः शब्दो विकारवचनः समाधिगतः, आनन्दमय इति मयटो विकारार्थत्वात्। तस्मादन्नमयादिशब्दवद्विकारविषय एवानन्दमयशब्द इति चेत्, न। प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात्। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पा०

५।४।२१) इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते । यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यन्नप्रचुर उच्यते । एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्मानन्दमयम् उच्यते । आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात् । तस्मात्प्राचुर्यार्थे मयट् ॥ १३ ॥

यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि आनन्दमय परमात्मा होने योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें विकार वाचक मयट् शब्द है । (तत्प्रकृत) इत्यादि से जो मयट् होता है वह प्रकृति के बाहुल्य अर्थ में होता है । इसी प्रकार जो अन्य कोई प्रकृति का वाचक शब्द है उससे अन्य यह विकारवाचक शब्द मयट् समझा जाता है । तथा आनन्द शब्दार्थ से भिन्न अर्थ को मयट् कहता है, क्योंकि आनन्दमय इसमें मयट् को विकारार्थकत्व है । जिससे आनन्दमय शब्द भी अन्नमयादि शब्दों के समान विकार वाचक है । इस शंका का उत्तर है कि–ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्राचुर्यार्थ में भी मयट् का विधान है । 'तत्प्रकृतवचने मयट्' बाहुल्यरूप से प्रस्तुत के वाचक से उसी संयुक्त अर्थ के कथन में मयट् होता है, जैसे कि (अन्नमयो यज्ञः) 'बहुत अन्न जिसमें है ऐसा यज्ञ है' यहाँ अन्न की अधिकता की प्रतीति होती है और वही मयट् की प्रकृति है, इसी प्रकार आनन्द के बाहुल्य से युक्त ब्रह्म आनन्दमय कहा जाता है । और मनुष्यत्व से आरम्भ करके उत्तर स्थानों में शतगुण अधिक आनन्दों को कहकर ब्रह्मानन्द को सर्वोत्तम निश्चय करने से ब्रह्ममें आनन्द बाहुल्य सिद्ध होता है । इस हेतु से प्राचुर्यार्थ में (ही यहाँ) मयट् है ॥१३॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट् । यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः—'एष ह्येवानन्दयाति' इति । आनन्दयतीत्यर्थः । यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति । यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत् । तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः सम्भवादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १४ ॥

इस वक्ष्यमाण (आगे कथित) हेतु से भी आनन्दमय में प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय है, जिससे श्रुति आनन्दमय ब्रह्म को (तस्य हेतुस्तद्धेतुः) उस जीव सम्बन्धी आनन्दों का हेतु कहती है कि यही सबको आनन्दयुक्त करता है । एवं जो अन्य को आनन्दयुक्त करता है वह बहुत आनन्द वाला है, यह प्रसिद्ध निश्चित होता है । जैसे लोक में जो अन्य को धनिकत्व सिद्ध करता है, वह प्रचुर (अधिक) धन वाला समझा जाता है, वैसे ही ब्रह्म प्रचुरानन्द वाला समझा जाता है । जिससे प्राचुर्यार्थ में भी मयट् के हो सकने से आनन्दमय परमात्मा ही है । सूत्रार्थ भाष्यार्थ से ही स्पष्ट हो गया है ॥ १४ ॥

५।४।२१) इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते। यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यन्नप्रचुर उच्यते। एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्मानन्दमयम् उच्यते। आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात्। तस्मात्प्राचुर्यार्थे मयट् ॥ १३ ॥

यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि आमन्दमय परमात्मा होने योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें विकार वाचक मयट् शब्द है। (तत्प्रकृत) इत्यादि से जो मयट् होता है वह प्रकृति के बाहुल्य अर्थ में होता है। इसी प्रकार जो अन्य कोई प्रकृति का वाचक शब्द है उससे अन्य यह विकारवाचक शब्द मयट् समझा जाता है। तथा आनन्द शब्दार्थ से भिन्न अर्थ को मयट् कहता है, क्योंकि आनन्दमय इसमें मयट् को विकारार्थकत्व है। जिससे आनन्दमय शब्द भी अन्नमयादि शब्दों के समान विकार वाचक है। इस शंका का उत्तर है कि—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्राचुर्यार्थ में भी मयट् का विधान है। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' बाहुल्यरूप से प्रस्तुत के वाचक से उसी संयुक्त अर्थ के कथन में मयट् होता है, जैसे कि (अन्नमयो यज्ञः) 'बहुत अन्न जिसमें है ऐसा यज्ञ है' यहाँ अन्न की अधिकता की प्रतीति होती है और वही मयट् की प्रकृति है, इसी प्रकार आनन्द के बाहुल्य से युक्त ब्रह्म आनन्दमय कहा जाता है। और मनुष्यत्व से आरम्भ करके उत्तर स्थानों में शतगुण अधिक आनन्दों को कहकर ब्रह्मानन्द को सर्वोत्तम निश्चय करने से ब्रह्म में आनन्द बाहुल्य सिद्ध होता है। इस हेतु से प्राचुर्यार्थ में (ही यहाँ) मयट् है ॥१३॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट्। यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः— 'एष ह्येवानन्दयाति' इति। आनन्दयतीत्यर्थः। यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति। यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत्। तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः सम्भवादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १४ ॥

इस वक्ष्यमाण (आगे कथित) हेतु से भी आनन्दमय में प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय है, जिससे श्रुति आनन्दमय ब्रह्म को (तस्य हेतुस्तद्धेतुः) उस जीव सम्बन्धी आनन्दों का हेतु कहती है कि यही सबको आनन्दयुक्त करता है। एवं जो अन्य को आनन्दयुक्त करता है वह बहुत आनन्द वाला है, यह प्रसिद्ध निश्चित होता है। जैसे लोक में जो अन्य को धनिकत्व सिद्ध करता है, वह प्रचुर (अधिक) धन वाला समझा जाता है, वैसे ही ब्रह्म प्रचुरानन्द वाला समझा जाता है। जिससे प्राचुर्यार्थ में भी मयट् के हो सकने से आनन्दमय परमात्मा ही है। सूत्रार्थ भाष्यार्थ से ही स्पष्ट हो गया है ॥ १४ ॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा, यस्मात्, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम' इत्युपक्रम्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इत्यस्मिन्मन्त्रे यत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तविशेषणैर्निर्धारितं, यस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्यजायन्त, यच्च भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थितं सर्वान्तरं, यस्य विज्ञानाय 'अन्योऽन्तर आत्मान्योऽन्तर आत्मा' इति प्रक्रान्तं तन्मात्रवर्णिकमेव ब्रह्मेह गीयते 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २।५) इति। मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तम्, अविरोधात्। अन्यथा हि प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये स्याताम्। न चात्रान्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्माभिधीयते। 'एतन्निष्ठैव च सैषा भार्गवी वारुणी विद्या' (तै० ३।६) तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥१५॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी आनन्दमय परमात्मा ही है, जिससे (ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है) इस प्रकार उपक्रम (आरम्भ) करके मन्त्र लिखा है कि (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है। वहाँ इस मन्त्र में जो ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप विशेषणों द्वारा निर्धारित (निश्चित) हुआ है और जिससे आकाशादि क्रम से स्थावर, जंगम सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और जो भूतों को रच कर और उनमें प्रविष्ट हो हृदयगत बुद्धिकोशरूप गुहा में सर्वान्तर स्वरूप से स्थिर है, एवं जिसके विज्ञान के लिए अन्य अन्तरात्मा है, इस प्रकार प्रकृष्ट क्रम किया और कहा गया है, वही मन्त्रात्मक वर्ण (शब्द) में प्रतिपादनीय रूप से वर्तमान ब्रह्म इस ब्राह्मण वाक्य में भी गाया (कहा) गया है (अन्य अन्तरात्मा आनन्दमय है)। क्योंकि व्याख्येय और व्याख्यान रूप मन्त्र और ब्राह्मण को एकार्थवत्त्व होना भी उचित है, ऐसा होने से दोनों में अविरोध होता है। अन्यथा मन्त्र से ब्राह्मण के भिन्नार्थ होने पर प्रकृत की हानि (प्रकरणप्राप्त का त्याग) और अप्रकृत की प्रक्रिया (अप्रकृतार्थ का आरम्भ स्वीकार) रूप दोष होगा, यद्यपि मन्त्र के व्याख्यान रूप अन्नमयादि का वर्णन भी है, परन्तु उनसे अन्य अन्य अन्तरात्मा के वर्णन से उनमें अमुख्यता सिद्ध हो जाती है; और उनके समान आनन्दमय से अन्य अन्तरात्मा का कथन नहीं है। यह भृगु को दी गई वरुण से उपदिष्ट भाग की वारुणी विद्या भी एतन्निष्ठ (आनन्दमय में ही परिनिष्ठित) है, इससे आनन्दमय परमात्मा ही है। इन दोनों सूत्रों में चकार हेतु अर्थ में पढ़ा गया है और इस सूत्र का अर्थ भी भाष्यार्थ से स्पष्ट हो गया है ॥ १५ ॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६ ॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात्? अनुपपत्तेः। आनन्द-

मयं हि प्रकृत्य श्रूयते—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति। 'स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' (तै० २।६) इति। तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते ॥ १६ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी आनन्दमय परमात्मा ही है, इतर (ईश्वर से अन्य संसारी जीव) आनन्दमय नहीं है, अर्थात् आनन्दमय शब्द से जीव नहीं कहा जाता है, प्रश्न होता हैं कि क्यों नहीं कहा जाता ? उत्तर है कि—अनुपपत्ति (असम्भव, अयुक्तता) से नहीं कहा जाता है। कैसी अनुपपत्ति है ? इस अर्थ को दर्शाने के लिए कहा जाता है कि आनन्दमय का प्रसङ्ग करके उसी के प्रकरण में सुना जाता है कि (उस आनन्दमय रूप ईश्वर ने इच्छा की कि मैं बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ। फिर उसने सृष्टि का विचार रूप तप किया और वह तप करके संसार को रचा, और जो कुछ वस्तु है सबको बनाया इत्यादि। वहाँ शरीरादि की उत्पत्ति से पूर्वकाल में सृष्टि का चिन्तन विचार और सृष्टि क्रिया से उत्पन्न होने वाले सब विकारों (कार्यों) से सृष्टि करने वाले का अभेद (एकता) और सब विकार की सृष्टि, ये तीनों बातें परमात्मा के बिना अन्य में नहीं बन सकती हैं, इस हेतु से आनन्दमय परमात्मा है जीव नहीं यह सूत्र पूर्वपक्ष का उत्तर रूप है ॥ १६ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

इतश्च नानन्दमयः संसारी, यस्मादानन्दमयाधिकारे—'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तै० २।७) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। नहि लब्धैव लब्धव्यो भवति। कथं तर्हि 'आत्मान्वेष्टव्यः' 'आत्मलाभान्न परं विद्यते इति च श्रुतिस्मृती, यावता न लब्धैव लब्धव्यो भवतीत्युक्तम्। बाढम्। तथाप्यात्मनोऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सततस्तत्त्वानवबोधनिमित्तो मिथ्यैव देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः तेन देहादिभूतस्यात्मनोऽप्यात्माऽनन्विष्टोऽन्वेष्टव्योऽलब्धो लब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्योऽविज्ञातो विज्ञातव्य इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते। प्रतिषिध्यत एव तु परमार्थतः सर्वज्ञात्परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिना। परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात्कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः। यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः। यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः। ईदृशं च विज्ञानात्मपरमात्मभेदमाश्रित्य 'नेतरोऽनुपपत्तेः' 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

पूर्व सूत्रगत अनुपपत्ति रूप हेतु के साथ समुच्चय (एकार्थत्व) द्योतन के लिए च शब्द है। अतः पूर्वोक्त हेतु के समान इस हेतु (कारण) से भी आनन्दमय संसारी जीव नहीं

है। आनन्दमय के अधिकार (प्रकरण) में श्रुति है कि वह (आनन्दमय परमात्मा) रस (आनन्दस्वरूप) है, और यह जीव उस आनन्द को पाकर आनन्द वाला होता है। इस प्रकार यह श्रुति जीव और आनन्दमय को भेदपूर्वक कथन करती है, क्योंकि प्राप्त करने वाला कर्ता ही प्राप्त करने योग्य प्राप्ति क्रिया का कर्म नहीं होता है? लोक में कर्ता कर्म का भेद प्रसिद्ध है, इससे जीव रूप प्राप्तिकर्ता से आनन्दमय भिन्न है। यहाँ शंका होती है कि, यदि कर्ता कर्म का भेद निश्चित है जिससे लब्धा (लाभ कर्ता) लब्धव्य (लाभ का कर्म) नहीं होता है तो, 'आत्माऽन्वेष्टव्यः' 'आत्मलाभान्न परं विद्यते'। आत्मा का अन्वेषण (खोज-विचार) करना चाहिए। आत्मा की प्राप्ति से उत्तम कोई वस्तु वा क्रिया नहीं है, इस प्रकार की श्रुति स्मृति कैसे संगत हो सकती है। सिद्धान्त रूप उत्तर दिया जाता है कि यह शंका ठीक ही है, तो भी अप्रच्युत (अनष्ट) आत्मभाव युक्त वर्तमान आत्मा के ही सत्य स्वरूप के अज्ञान निमित्तक (अज्ञानजन्य) देहादि रूप अनात्मा में मिथ्या ही आत्मत्व का लौकिक (भ्रम रूप लोक में प्रसिद्ध) निश्चय ज्ञान देखा जाता है, जो प्रत्यक्ष है। इससे मिथ्या ज्ञान द्वारा देहादिरूपता को प्राप्त आत्मा का भी अन्विष्ट (प्राप्त विचारित) देहादि से भिन्न आत्मा है, इससे अनन्विष्ट है, इससे अन्वेषण योग्य है। इसी प्रकार अलब्ध है इससे लब्धव्य है, अश्रुत है इससे श्रोतव्य है। अमत (मनन का अविषय) है, इससे मन्तव्य है। अविज्ञात है इससे विज्ञातव्य (जानने योग्य) है, इत्यादि भेद का व्यवहार बनता है। एवं अज्ञान औपाधिक मिथ्या भेद निमित्तक सब व्यवहार होते हुए भी परमार्थ रूप से तो सर्वज्ञ परमेश्वर अन्य द्रष्टा वा श्रोता का श्रुति से निषेध ही किया जाता है कि (नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा)इस परमात्मा से अन्य द्रष्टा नहीं है इत्यादि। इससे सत्यात्मा से यद्यपि मिथ्या जीव भिन्न सत्ता वाला नहीं है, तो भी अविद्या कल्पित जो जीव शरीराभिमानी कर्ता भोक्ता विज्ञानात्मा नाम वाला है उससे परमेश्वर अन्य है। जैसे कि ढाल और तलवार लेकर सूत्र (तन्तु) द्वारा आकाश में चढ़ते हुए मायावी (नट) से अन्य वही सत्य मायावी भूमि में स्थिर रहता है अथवा उपाधि से परिच्छिन्न (एकदेशी) आकाश से जैसे उपाधि से अपरिच्छिन्न विभु आकाश भिन्न रहता है, और इस प्रकार के कल्पित जीव परमात्मा के भेद को मानकर 'नेतरोनुपपत्तेः' 'भेदव्यपदेशाच्च' यह कहा गया है ॥ १७ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि 'जीवात्मन आनन्दमयत्वानुपपत्तावपि, अनुमानमपेक्षते स्यात्तद्वा-वित्यनुमानापेक्षा प्रकृतिः सत्त्वप्रचुराऽऽनन्दमयः स्यादित्याशङ्कायामाह—कामादपि प्रकृति-र्नानन्दमय' इति। जीवात्मा के आनन्दमय नहीं हो सकने पर भी अपनी सिद्धि में अनुमान की अपेक्षा रखने वाली प्रकृति सत्त्वाधिक्य युक्त होने से आनन्दमय हो सकती है। ऐसी शंका होने पर सूत्रकार ने कहा है कि काम के श्रवण से भी प्रकृति आनन्दमय नहीं हो सकती है।

आनन्दमयाधिकारे च 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति कामयितृत्वनिर्देशान्नानुमानिकमपि सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वापेक्षितव्यम् । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इति निराकृतमपि प्रधानं पूर्वसूत्रोदाहृतां कामयितृत्वश्रुतिमाश्रित्य प्रसङ्गात्पुनर्निराक्रियते गतिसामान्यप्रपञ्चनाय ॥ १८ ॥

आनन्दमय के प्रकरण में (उसने कामना की कि बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ) इस प्रकार इच्छा कर्तृत्व रूप से आनन्दमय का कथन है, इससे और अनुमान से सिद्ध भी सांख्य से परिकल्पित अचेतन प्रधान आनन्दमय रूप वा स्वतन्त्र कारण रूप से मन्तव्य नहीं है । ईक्षतेर्नाशब्दम्, इस सूत्र से प्रथम ही प्रधान निराकृत (खंडित) हो चुका है, तो भी उस उक्त, 'ईक्षति' सूत्र में उदाहरण रूप से पठित कामकर्तृत्व श्रुति का आश्रयण करके, वेदान्त की गति सामान्य का विस्तार से कथन के लिए प्रसङ्गवश प्रधान का फिर निराकरण किया गया है कि अनुमीयते, इति अनुमानं प्रधानं तस्यापेक्षा (सम्बन्धः) आनन्दमये नैव भवति कामश्रवणात् । अनुमान से जाना जाय उसको भी अनुमान कहते हैं, ऐसा जो प्रधान उसका आनन्दमय वाक्य में वाच्य रूप से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यहाँ काम का श्रवण है, जड़ में काम नहीं हो सकता । कामादि को श्रुति में जो मन रूप कहा गया है, सो उपादानता निमित्तत्वादि दृष्टि से कहा गया है, कर्तृत्व दृष्टि से नहीं, यहाँ कर्तृत्व का वर्णन है ॥ १८ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

इतश्च न प्रधाने जीवे वाऽनन्दमयशब्दः, यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्य तद्योगं शास्ति, तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः मुक्तिरित्यर्थः । तद्योगं शास्ति, शास्त्रम्—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' (तै० २।७) इति । एतदुक्तं भवति । यदैतस्मिन्नानन्दमयेऽल्पमप्यन्तरमतादात्म्यरूपं पश्यति तदा संसारभयान्न निवर्तते । यदा त्वेतस्मिन्नानन्दमये निरन्तरं तादात्म्येन प्रतितिष्ठति तदा संसारभयान्निवर्तत इति । तच्च परमात्मपरिग्रहे घटते, न प्रधानपरिग्रहे जीवपरिग्रहे वा । तस्मादानन्दमयः परमात्मेति स्थितम् ।

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी प्रधान वा जीव में आनन्दमय शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता कि जिससे इस प्रकरण प्राप्त आनन्दमय रूप आत्मा में प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) इस जीवात्मा का तद्योग (तद्भाव से सम्बन्ध) का अर्थात् (अभेद) का शास्त्र उपदेश देता है, तद्भावापत्ति रूप मुक्ति का वर्णन करता है कि (जिस काल में यह जीव, इस अदृश्य स्थूल जगतरहित) अनात्म्य (लिङ्गरहित) अवाच्य प्रकृति पार वस्तु में, जिस प्रकार अभय हो उस रीति से चित्त की स्थिति का लाभ करता है, उसी समय वह अभय को

प्राप्त हो जाता है। और जिस काल में अल्प भी अन्तर (भेद) करता (समझता) है तो उस काल में उसको भय होता है, इससे यह कहा गया है कि जब इस आनन्दमय में अल्प भी अतादात्म्य (अब्रह्मत्व) रूप भेद को पुरुष देखता है, तब संसार भय से रहित नहीं होता है। और जब इस आनन्दमय ब्रह्म में निरन्तर (सदा) तद्रूप से स्थिर (ब्रह्मनिष्ठ) होता है, सदा निजात्मा रूप से आनन्दमय को जानता है, तब संसार भय से रहित होता है। यह पूर्व वर्णित श्रुति का कथन तब संघटित (युक्त) हो सकता है कि जब आनन्दमय शब्द से परमात्मा को समझा जाय। और आनन्दमय से प्रधान वा जीव को समझने पर पूर्व कथन संघटित नहीं हो सकता है, इससे आनन्दमय परमात्मा है यह स्थित (सिद्ध) हुआ।

इदं त्विह वक्तव्यम्—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' 'तस्मात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' 'तस्मात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तै० २।१,२,३,४) इति च विकारार्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रीयत इति। मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत् ? न। अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः।

इस पूर्वोक्त मयट् के प्राचुर्यादि रूपार्थकता युक्त व्याख्यान में यह वक्तव्य (दोष) या वचनार्ह है कि (सो यह पुरुष अन्नरसमय है) इस पूर्वोक्त अन्नरसमय से अन्य अन्तरात्मा प्राणमय है। उससे अन्य अन्तरात्मा मनोमय है। उससे अन्य अन्तरात्मा विज्ञानमय है, इस प्रकार विकारार्थक[1] मयट् के प्रवाह रहते अकस्मात् (कारण के बिना) आनन्दमय में ही अर्द्धजरती न्याय से मयट् को प्राचुर्यार्थकत्व और ब्रह्मविषयत्व किस प्रकार माना जाता है। यदि कहा जाय कि मन्त्र में वर्णित ब्रह्म का प्रकरण होने से माना जाता है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरण से यदि आनन्दमय ब्रह्म का वाचक हो तो अन्नमयादि को भी ब्रह्मत्व की प्राप्ति होगी।

अत्राह—युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वं, तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्तरस्यान्यस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वात्, आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्योऽन्तर आत्मोच्यते, तेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्, अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गादिति।

यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि अन्नमयादि को अब्रह्मता उचित है, क्योंकि इस अन्नमयादि से अन्य-अन्य अन्तरात्मा कहा गया है। और आनन्दमय से अन्य कोई अन्त-

---

१. यहाँ शंका होती है कि (द्व्यचश्छन्दसि) इस नियम सूत्र के अनुसार, अन्नरसमय, विज्ञानमय और आनन्दमय में विकारार्थक मयट् हो नहीं सकता है, उसका उत्तर है कि (नित्यं वृद्धशरादिभ्यः) इस सूत्र के आरम्भ सामर्थ्य से ही नित्यत्व के सिद्ध होते हुए भी नित्यग्रहण से अर्थ होता है कि लोक में वृद्धशरादि से विकारार्थ में नित्य मयट होता है, और छन्द में भी कहीं होता है।

रात्मा नहीं कहा जाता है, इससे आनन्दमय को ब्रह्मता है, अन्यथा प्रकृत की हानि और अप्रकृत की प्रक्रिया प्राप्त होगी।

अत्रोच्यते—यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति न श्रूयते तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं, यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते—'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति। तत्र यद्ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, तदिह 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते। तद्विजिज्ञापयिषयैवान्नमयादय आनन्दमयपर्यन्ताः पञ्चकोशाः कल्प्यन्ते, तत्र कुतः प्रकृतहानाऽप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गः। नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते, अन्नमयादीनामिव 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादि, तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम्। प्रकृतत्वादिति ब्रूमः। नन्वानन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते, आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादिति।

यहाँ कहा जाता है कि यद्यपि अन्नमयादि से पर (अन्य) आत्मा के समान आनन्दमय से अन्य अन्तरात्मा नहीं सुना जाता है, तथापि आनन्दमय को ब्रह्मत्व नहीं है, क्योंकि आनन्दमय का आरम्भ करके उसके प्रकरण में सुना जाता है कि (उस) आनन्दमय का प्रिय (इष्टार्थं दर्शनजन्यसुख) शिर है, मोद (इष्ट की प्राप्तिजन्य सुख) दक्षिण पांख है, प्रमोद (इष्टोपभोगजन्य सुख) उत्तर पाँख है, और आनन्द रूप चेतन उसका आत्मा है, विभु शुद्ध ब्रह्म उसका पुच्छ और प्रतिष्ठा (आश्रय) है इत्यादि। वहाँ जो ब्रह्म मन्त्राक्षर में प्रकृत है—(सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है) वही ब्रह्म यहाँ पुच्छ प्रतिष्ठारूप कहा जाता है। और उसी ब्रह्म को समझाने की इच्छा से ही अन्नमयादि आनन्दमय पर्यन्त पंचकोश कल्पित होते हैं। इस व्यवस्था में प्रकृत हान और अप्रकृत प्रक्रिया का प्रसङ्ग किस हेतु से है ? पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे अन्नमयादि को यह पृथिवी आदि पुच्छ प्रतिष्ठा है यह कहा गया है, वैसे ही आनन्दमय के अवयव रूप से ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा कहा गया है: तो इस अवस्था में ब्रह्म को स्वयं प्रधानत्व कैसे समझा जा सकता है ? उत्तर है कि ब्रह्म का प्रकरण है, इससे हम ब्रह्म को प्रधान कहते हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि आनन्दमय के अवयव रूप से भी ब्रह्म के विज्ञात स्वीकृत होने पर ब्रह्म का प्रकृतत्व (प्रकरण) नष्ट नहीं होता है, क्योंकि आनन्दमय को ब्रह्मत्व है।

अत्रोच्यते—तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्मावयवी, तदेव च ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यात्। अन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुं ब्रह्मशब्दसंयोगात्, नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति। अपि च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्त्वेदमुच्यते—'तदप्येष श्लोको भवति, असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्, अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेनं ततो विदुः' (तै० २।६) इति। अस्मिश्च श्लोकेऽननु-

कृष्यानन्दमयं ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद्गम्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति। न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता, प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात्। कथं पुनः स्वप्रधानं सद्ब्रह्म आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति। नैष दोषः। पुच्छवत्पुच्छं प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते, नावयवत्वम्, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह० ४।३।३२) इति श्रुत्यन्तरात्। अपि च आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम्। निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते, वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्—'यतो वाचो निवर्तन्ते; अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चन इति' (तै० २।९)। अपि च आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखास्तित्वमपि गम्यते, प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात्। तथाच सति 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७।२४।१) इति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत। प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्यापि भिन्नत्वम्। ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इत्यानन्त्यश्रुतेः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इति च श्रुत्यन्तरात्।

यहाँ कहा जाता है कि उक्त रीति से मानने पर वही ब्रह्म आनन्दमय आत्मारूप अवयवी (प्रधान) है, और वही ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा अवयव (अप्रधान) है, इस प्रकार अयुक्तता होगी। दोनों में से एक का ब्रह्म रूप से ग्रहण करना हो तो, 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इसी वाक्य में ब्रह्म का कथन मानने योग्य है, क्योंकि ब्रह्म शब्द का इसमें सम्बन्ध है। आनन्दमय वाक्य में ब्रह्म का कथन मानने योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें ब्रह्म शब्द के सम्बन्ध का अभाव है। 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' यह कहकर फिर यह कहा गया है कि उक्तार्थ में यह श्लोक है कि (असन्नेव) इत्यादि। ब्रह्म असत् है (नहीं है) ऐसा जो जानता है सो स्वयं आपही असत् होता है, और जानता है कि ब्रह्म है तो उसको ज्ञानी लोग ब्रह्म रूप से सत् समझते हैं। इस श्लोक में आनन्दमय का सम्बन्ध अनुवृत्ति नहीं करके ब्रह्म के ही भाव और अभाव की ज्ञान दशा (अवस्था) में गुण और दोष के कथन से समझा जाता है कि 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्य में ब्रह्म ही स्वयं प्रधान है, और आनन्दमय रूप आत्मा के भावाभाव की शंका तो युक्त नहीं हो सकती, क्योंकि प्रियमोदादिविशेषगुण वाला आनन्दमय सब लोक में प्रसिद्ध है। यदि कहो कि श्रुति में सिद्धान्त के अनुसार स्वयं प्रधान सत् ब्रह्म आनन्दमय के पुच्छ रूप से कैसे कहा गया है कि आनन्दमय का ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है। तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि पुच्छशब्द का मुख्य वाच्यार्थ तो संगत नहीं हो सकता है, इससे सादृश्य अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग है। भाव यह है कि जैसे पक्षी का पुच्छ

उड़ने आदि में आधार होता है, वैसे ही पुच्छ के तुल्य यह ब्रह्मानन्द प्रतिष्ठा परम आयतन (वास स्थान) और एक नीड (अद्वितीय आश्रय) सब लौकिक आनन्दों का है, यह अर्थ यहाँ विवक्षित है। अर्थात् आनन्द स्वरूप ब्रह्म सब आनन्दादि का हेतु और अधिष्ठान है, अवयवत्व विवक्षित नहीं है। क्योंकि दूसरी श्रुति कहती है कि इसी ब्रह्मानन्द की मात्रा (स्वल्पांश) का उपभोग सब प्राणी करते हैं। और दूसरी बात यह है कि यदि आनन्दमय को ब्रह्म माना जायगा तो उसे प्रियादि अवयव वाला होने से सविशेष (सगुण) ब्रह्म को स्वीकार करना होगा, और निर्गुण ब्रह्म वाक्यशेष (अंगवाक्य) में सुना जाता है, क्योंकि वाक् और मन की अगोचरता (अविषयता) का वाक्य शेष में कथन है कि मन सहित वाणी जिसको प्रकाश करने और कहने में असमर्थ होकर निवृत्त होती है, जिसको प्राप्त नहीं कर सकती है, उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला किसी से नहीं डरता है। और आनन्दमय को बहुत आनन्दयुक्त कहने पर उसमें दुःख की सत्ता भी प्रतीत होती है। अनुमान से दुःख की सत्ता समझी जाती है, क्योंकि लोक में प्रतियोगी (विरोधी सम्बन्धी) की अल्पत्व की अपेक्षा से अन्य मे प्रचुरता (अधिकता) की सिद्धि होती है। ब्रह्म में अल्प दुःख की सत्ता मानने पर जिस ब्रह्म में जो अन्य को नहीं देखता है, नहीं सुनता है, न अन्य को जानता है, वही भूमा विभु ब्रह्म है। इस रीति से ब्रह्म में ब्रह्म से भिन्न वस्तु के अभावों को कहने वाली श्रुति बाधित होगी। प्रतिशरीर (सब शरीर) में प्रियमोदादि के भेद से आनन्दमय को भी भेद है, सब में एक आनन्दमय नहीं है, और ब्रह्म प्रत्येक शरीर में भिन्न नहीं होता है, क्योंकि (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) यह अनन्तता विभुता सुनी गई है, और दूसरी श्रुति है कि (एको देवः) एक परम देव ब्रह्म सब प्राणी में छिपा है, सब में व्यापक और सब प्राणी की अन्तरात्मा है।

न चानन्दमयस्याभ्यासः श्रूयते, प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते—'रसो वै सः, रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति सैषानन्दस्य मीमाँसा भवति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति,' (तै० २।७।८।९) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ६।५) इति च। यदि च आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत्, तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत, न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम। तस्माच्छ्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) इत्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शनात् 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिर्ब्रह्मविषयः प्रयोगो न त्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यम्।

---

१. अत्र 'इति' पदं प्रा० पु० नास्ति।

यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः—'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' (तै० २।८) इति,—न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पठितत्वात् ।

अभ्यास से आनन्दमय को ब्रह्म कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आनन्दमय का अभ्यास नहीं सुना जाता है, किन्तु मयट् प्रत्यय का आश्रय जो आनन्दरूप प्रातिपदिक उसी के अर्थमात्र का ही अभ्यास किया गया है कि वह रस है, वह रस को ही पाकर आनन्दयुक्त होता है। कौन चले या कौन जीवे, यदि वह विभु आनन्द न हो। वही आनन्द देता है। यही उस आनन्द की विचारणा है। ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला किसी से नहीं डरता है। आनन्द ब्रह्म है, (ऐसा समझा) इत्यादि। यदि कहा जाय कि यद्यपि आनन्दमात्र का अभ्यास है तथापि वह लक्षणावृत्ति से आनन्दमय का बोधक है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यदि आनन्दमय शब्द को ब्रह्मवाचकत्व निश्चित हो, तो उससे आगे के आनन्दमात्र के प्रयोगों (कथनों) में आनन्दमय के अभ्यास की कल्पना लक्षणा से की जाय। इसलिए आनन्दमय को प्रियशिरस्त्वादि हेतुओं से ब्रह्मत्व नहीं है यह बात कही जा चुकी है। इससे दूसरी श्रुति में (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म) इस प्रकार आनन्द के प्रतिपादक शब्द का ब्रह्म में प्रयोग देखने से (यह देश आकाश आनन्द) इत्यादि भी ब्रह्मविषयक प्रयोग है, आनन्दमय का अभ्यास नहीं है ऐसा मानना चाहिये। और जो यह मयट् प्रत्ययान्त आनन्दमय का अभ्यास है कि (इस आनन्दमय आत्मा को उपसंक्रमण करता है) वहाँ उपसंक्रम का निवृत्ति (बाध) अर्थ है, इससे उसको ब्रह्मविषयत्व नहीं है, क्योंकि विकार स्वरूप जो अन्नमयादि बाधयोग्य हैं उनके ही प्रवाह में वह आनन्दमय भी पठित है।

नन्वानन्दमयस्योपसंक्रमितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिफलं निर्दिष्टं भवेत्। नैष दोषः। आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव-पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात्। 'तदप्येष श्लोको भवति, यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिना च प्रपञ्च्यमानत्वात्। या त्वानन्दमयसन्निधाने 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति इयं श्रुतिरुदाहृता सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यनेन सन्निहिततरेण ब्रह्मणा सम्बध्यमाना नानन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति। तदपेक्षत्वाच्चोत्तरस्य ग्रन्थस्य 'रसो वै सः' इत्यादेर्नानन्दमयविषयता।

यदि कहो कि उपसंक्रम योग्य प्राप्य आनन्दमय को भी अन्नमयादि के समान ब्रह्मभिन्नत्व होने पर विद्वान को ब्रह्म की प्राप्ति रूप फल निर्दिष्ट (कथित) नहीं होगा, तो यह फलानिर्देश रूप दोष नहीं है, क्योंकि आनन्दमय की प्राप्ति के निर्देश से ही पुच्छ प्रतिष्ठा रूप ब्रह्म की प्राप्ति रूप फल का निर्देश हो गया है। अर्थात् उपक्रमपद से आनन्दमय की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति कहा गया है, और उसी का 'तदप्येष

श्लोको भवति, यतो वाचो' इत्यादि से विस्तार किया गया है। एवं जो आनन्दमय के समीप में (सोऽकामयत) यह श्रुति उदाहरण (दृष्टान्त) रूप कही गई है, वह भी 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इस अत्यन्त निकट स्थित ब्रह्म के साथ सम्बन्धयुक्त होकर आनन्दमय की ब्रह्मता का प्रतिबोध नहीं कराती है, और उस ब्रह्मपुच्छ के साथ अपेक्षा रखने वाला 'रसो वै सः' इत्यादि ग्रन्थ को भी आनन्दमय विषयता नहीं है, अर्थात् आनन्दमय को रस रूप नहीं कहता है किन्तु ब्रह्म को कहता है।

ननु 'सोऽकामयत' इति ब्रह्मणि पुंलिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते। नायं दोषः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यत्र पुंलिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्। यत्तु भार्गवी वारुणी विद्या 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति, तस्यां मयडश्रवणात्, प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाच्च युक्तमानन्दस्य ब्रह्मत्वम्। तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते। नचेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितं, वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः। तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेपि विकारार्थं एव मयट् विज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः।

शंका होती है कि 'सोऽकामयत' यहाँ ब्रह्मार्थकता में पुंलिंग उच्चारण नहीं बन सकता है, आनन्दमय में बन सकता है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' यहाँ पुंल्लिग 'आत्म' शब्द से भी ब्रह्म प्रकृत (प्रस्तुत) है और (आनन्द ब्रह्म है ऐसा समझा) इत्यादि भार्गवी वारुणी विद्या कही गई है, उसमें मयट् का श्रवण नहीं है, एवं न प्रियशिरस्त्वादि का ही श्रवण है, इससे वहाँ आनन्द को ब्रह्मता युक्त ही है। इससे अति अल्प भी विशेष (गुणादि) के आश्रयण किए बिना स्वतः निर्गुण ब्रह्म को प्रियशिरस्त्वादि नहीं बन सकता है, और यहाँ सगुण के प्रतिपादन की इच्छा नहीं है, क्योंकि वाक् और मन की गोचरता (विषयता का अभाव सुना गया है, जिससे अन्नमयादि के समान आनन्दमय में भी विकारार्थक मयट् ही मानने योग्य है, प्राचुर्यार्थक मन्तव्य नहीं है।

सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र किमानन्दमयस्यावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यत उत स्वप्रधानत्वेनेति। पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्त उच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। आनन्दमय आत्मेत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते, अभ्यासात्। 'असन्नेव स भवति' इत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलस्याभ्यस्यमानत्वात्, 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्'। विकारशब्देनावयवशब्दोऽभिप्रेतः, पुच्छमित्यवयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वं ब्रह्मण इति यदुक्तं, तस्य परिहारो वक्तव्यः। अत्रोच्यते—नायं दोषः प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः। प्राचुर्यं प्रायापत्तिः, अवयवप्राये वचनमित्यर्थः। अन्नमयादीनां हि शिर आदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिर आदी-

न्यवयवान्तराण्यक्त्वावयवप्रायापत्त्या 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्याह, नावयवविवक्षया यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम् । 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च'। सर्वस्य च विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते- 'इदँ सर्वमसृजत यदिदं किंच' (तै० २।६) इति । नच कारणं सत् ब्रह्म स्वविकारस्यानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्याऽवयव उपपद्यते । अपराण्यपि सूत्राणि यथासंभवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानि ॥ १९ ॥

सूत्र तो इस वक्ष्यमाण रीति से व्याख्यान के योग्य है कि 'ब्रह्म पुच्छम्' इत्यादि में आनन्दमय के अवयव रूप से ब्रह्म विवक्षित है किम्वा स्वयं प्रधान रूप से विवक्षित है, इस प्रकार के संशय के बाद, पूर्वपक्ष हुआ कि 'पुच्छ' शब्द के बल से वह अवयव रूप से ही विवक्षित है, तब कहा जाता है कि 'आनन्दमयोऽभ्यासात्', आनन्दमय आत्मा, यहाँ पर (इस वाक्य में) ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा, इससे स्वयं प्रधान ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है । क्योंकि (असन्नेव स भवति) इस निगमन (सर्वसारार्थसंग्रहरूप उपसंहार) श्लोक में केवल ब्रह्म का ही अभ्यास है ।[1] 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' यह विकार शब्द से अवयव शब्द अभिप्रेत (तात्पर्य का विषय) है । भाव यह है कि पुच्छ इस अवयव वाचक शब्द के रहने से ब्रह्म को स्वयं प्रधानत्व नहीं है, यह जो कहा गया है, उसका उत्तर कहना चाहिये । यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, प्राचुर्य से अवयव शब्द सङ्गत हो सकता है । प्राचुर्य का अर्थ है प्रायापत्ति (अवयव क्रम की वृद्धि) अवयवबाहुल्य में कथन । इससे अन्नमयादि के शिर आदि पुच्छ पर्यन्त अवयवों के कहने पर आनन्दमय के भी शिर आदि अन्य अवयवों को कहकर अवयवप्राय की प्राप्ति से 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यह श्रुति कहती है, अवयवत्व की विवक्षा से नहीं कहती है । क्योंकि 'अभ्यासात्' इस हेतु से ब्रह्म को स्वयं प्रधानत्व समर्थित (सिद्ध) किया जा चुका है । 'तद्धेतुत्वव्यपदेशात्', आनन्दमय सहित सब विकारों के कारण रूप से ब्रह्म का कथन किया जाता है (जो कुछ ये दृश्य हैं, उन सबको रचा) इस प्रकार सबका कारण रूप ब्रह्म अपने कार्य आनन्दमय का मुख्य वृत्ति से अवयव नहीं बन सकता है । इसी प्रकार अन्य सूत्रों को भी सम्भव के अनुसार पुच्छ वाक्य में कथित ब्रह्म के साधक हैं, ऐसा समझना चाहिये । वस्तुतः 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ।; (माण्डूक्य ५) 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' (माण्डू० ६) इत्यादि श्रुति में आनन्दमय सुषुप्तिकालिक प्राज्ञ नामा जीव को ईश्वराभेद दृष्टि से जैसे सर्वेश्वर सर्वज्ञ अन्तर्यामी योनि आदि कहा गया है, वैसे ही तैत्तिरीय श्रुति गत आनन्दमय को अभेद मानकर सूत्र की प्रवृत्ति प्रतीत होती है (सोऽकामयत) इत्यादि की संगति सगुणता बिना नहीं हो सकती, इससे सूत्रकार के

१. प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन ये पञ्च अवयव परार्थानुमान वाक्य में होते हैं, वहाँ वाक्य के अन्त्यावयव अबाधित अर्थ को पक्ष में सिद्ध करता है ।

मत से यहाँ सगुण ब्रह्म का ही मुख्य रूप से कथन है, और वह सगुण वस्तुतः निर्गुणानन्द से भिन्न नहीं है। इससे निर्गुण का अभ्यास सगुण का ही अभ्यास है, और सगुण ही वास्तविक स्वरूप से मन वाणी का अविषय है यह सूत्रकार का तात्पर्य है, भाष्य का तात्पर्य तो अति प्रगट है ॥ १९ ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

यहाँ पूर्व से ब्रह्म का सम्बन्ध है, और संक्षिप्तार्थ है कि (सूर्ये चक्षुषि चान्तः स्थितत्वेन श्रुतः पुरुषो ब्रह्मैव नान्यः कुतस्तस्य ब्रह्मणो धर्माणामुपदेशादिति) सूर्य और आँख में स्थित स्वरूप से सुना गया पुरुष ही ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्म के धर्मों का उपदेश है।

अन्तरधिकरण (७)

हिरण्मयो देवतात्मा किंवासौ परमेश्वरः।
मर्यादाधाररूपोक्तेर्देवतात्मैव नेश्वरः ॥ १ ॥
सार्वात्म्यात्सर्वदुरितराहित्याच्चेश्वरो मतः।
मर्यादाद्या उपास्त्यर्थमीशेऽपि स्युरुपाधिगाः ॥ २ ॥

हिरण्यमय पुरुष श्रुति में वर्णित है, वह देवतास्वरूप है या परमेश्वर है ? इस संशय के बाद पूर्वपक्ष है कि विभूति की मर्यादा, आधार और रूप के श्रवण से देवतात्मा है, ईश्वर नहीं है। उत्तर है कि विभु आधारादि रहित ईश्वर में उपाधिगत मर्यादा आदि का उपदेश उपासना के लिये है, और सर्वात्मता सर्वपापासङ्गता के श्रवण से यह पुरुष परमेश्वर है।

इदमाम्नायते—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः' 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद' इत्यधिदैवतम् (छा० १।६।७।८)। अथाध्यात्मम्—'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १।७।१५) इत्यादि। तत्र संशयः—किं विद्याकर्मातिशयवशात्प्राप्तोत्कर्षः कश्चित्संसारी सूर्यमण्डले चक्षुषि चोपास्यत्वेन श्रूयते किंवा नित्यसिद्धः परमेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तम् ? संसारीति। कुतः ? रूपवत्त्वश्रवणात्। आदित्यपुरुषे तावत् 'हिरण्यश्मश्रुः' इत्यादि रूपमुदाहृतम्। अक्षिपुरुषेऽपि तदेवातिदेशेन प्राप्यते—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' इति। नच परमेश्वरस्य रूपवत्त्वं युक्तम् 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (का० १।३।१५) इति श्रुतेः। आधारश्रवणाच्च—'य एषोऽन्तरादित्ये य एषोऽन्तरक्षिणि' इति। नह्यनाधारस्य स्वमहिमप्रतिष्ठस्य सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्याधार उपदिश्येत। 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च श्रुती भवतः। ऐश्वर्यमर्यादाश्रुतेश्च। 'स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च'

(छा० १।६।८) इत्यादित्यपुरुषस्यैश्वर्यमर्यादा, 'स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १।७।६) इत्यक्षिपुरुषस्य। न च परमेश्वरस्य मर्यादावदैश्वर्यं युक्तम्, 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) इत्यविशेषश्रुतेः। तस्मान्नाक्ष्यादित्ययोरन्तः परमेश्वर इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः— 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इति। 'य एषोऽन्तरादित्ये य एषोऽन्तरक्षिणि' इति च श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव, न संसारी। कुतः? तद्धर्मोपदेशात्। तस्य हि परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टाः, तद्यथा—'तस्योदितिनाम' इति श्रावयित्वा अस्यादित्यपुरुषस्य नाम 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति सर्वपाप्मापगमेन निर्वक्ति। तदेव च कृतनिर्वचनं नामाक्षिपुरुषस्याप्यतिदिशति—'यन्नाम तन्नाम' इति। सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव श्रूयते—'य आत्माऽपहतपाप्मा (छा० ८।७।१) इत्यादौ। तथा चाक्षुषे पुरुषे 'सैवर्क् तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म' इत्यृक्सामाद्यात्मकतां निर्धारयति। सा च परमेश्वरस्योपपद्यते, सर्वकारणत्वात्सर्वात्मकत्वोपपत्तेः। पृथिव्यग्न्याद्यात्मके चाधिदैवतं ऋक्सामे वाक्प्राणाद्यात्मके चाध्यात्ममनुक्रम्याह—'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ' इत्यधिदैवतम्। तथाध्यात्ममपि—'यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ' इति। तच्च सर्वात्मकत्वे[1] सत्येवोपपद्यते 'तद्य इमे वीणायां गायन्त्येवं त्वेव ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः' (छा० १।७।६) इति च लौकिकेष्वपि गानेष्वस्यैव गीयमानत्वं दर्शयति। तच्च परमेश्वरपरिग्रहे घटते—

श्रुति में यह कहा जाता है कि 'अथ य' इस उपासना के आरम्भार्थ में 'अथ' शब्द है। सूर्य मण्डल में जो यह हिरण्यमय (जोतिर्मय) पुरुष उपासक से देखा जाता है, उसके दाढ़ी केश भी हिरण्यमय हैं, और वह नखपर्यन्त सब सुवर्ण (ज्योति स्वरूप) है, एवं कपि (बानर) जिस अवयव को भूमि में टिका के बैठता है, उसके समान जो लाल कमल उस कमल के समान जिसकी आँखें हैं उसका 'उद्' यह नाम है, और वह सबसे उदित (उद्गत) असंग है। जो पुरुष ऐसा समझकर उस पुरुष की उपासना करता है, वह सब पाप से रहित हो जाता है, यह अधिदैवत (देव सम्बन्धी चिन्तन) कहा गया है। अब अध्यात्म (देह सम्बन्धी) कहा जाता है कि (जो यह आँख में पुरुष दीखता है इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि विद्या कर्म की अधिकता से उत्कर्षता (श्रेष्ठता) को प्राप्त कोई संसारी जीव सूर्यमण्डल और नेत्र में उपास्य रूप से सुना जाता है, अथवा नित्य सिद्ध परमेश्वर सुना जाता है। पूर्वपक्ष रूप में संसारी प्राप्त है, क्योंकि रूप वाला सुना जाता है। प्रथम आदित्य पुरुष में हिरण्यश्मश्रु आदि रूप उदाहरण कहा गया है, और नेत्रगत पुरुष में भी वही रूप

१. सर्वात्मन एवेति पाठान्तरम्।

अतिदेश (सदृश बोधन) द्वारा प्राप्त होता है कि (इस उस आँख गत पुरुष का वही रूप है कि जो उस सूर्य मण्डलगत पुरुष का रूप है) और परमेश्वर को रूप वाला होना युक्त नहीं है, क्योंकि (वह शब्द स्पर्श रूप रहित निर्विकार अविनाशी है) इस प्रकार श्रुति से रूपरहित परमात्मा है। एवं आधार के श्रवण से भी यह पुरुष परमात्मा नहीं है (जो यह आदित्य के अन्तर में है, जो यह चक्षु में है) इस प्रकार आधार सुना जाता है। और निराधार अपनी महिमा (स्वरूप) में अत्यन्त स्थिर सर्वव्यापी परमेश्वर के आधार का उपदेश नहीं दिया जाता, यदि उसका ही उपदेश होता तो इस प्रकार नहीं कहा जाता, क्योंकि नारद जी ने पूछा कि हे भगवन् वह किसमें प्रतिष्ठित है, तब सनत्कुमार जी ने कहा कि अपनी महिमा में। तथा वह आकाश के समान सर्वगत नित्य है। केवल ऐश्वर्य की मर्यादा को सुनने से ही वह पुरुष परमेश्वर नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है कि जो आदित्यमण्डलगत पुरुष है वह उस आदित्य लोक से जो परे लोक है उनका, और देवताओं के कामों का ईशिता (नियन्ता) है। इस प्रकार आदित्य पुरुष के ऐश्वर्य की मर्यादा है। और (जो चक्षुगत पुरुष है वह चक्षु के विषय रूप लोक से नीचे के लोकों का और मनुष्यों के कामों का नियन्ता है) इस प्रकार नेत्रगत पुरुष के ऐश्वर्य की मर्यादा (सीमा) है। और परमेश्वर को मर्यादायुक्त ऐश्वर्य होना युक्त नहीं है। क्योंकि (यह परमात्मा सर्वेश्वर है, यह सब प्राणी का स्वामी है, सबका रक्षक है, और यह विशेष रूप धारण करने वाला सब लोकों के असम्भेदन (अनाश-स्थिति) के लिये सेतु तुल्य है, एवं धर्मादि की मर्यादाओं का रक्षक है) यह अविशेष (मर्यादा रहित) ऐश्वर्य की बोधक श्रुति है। इससे नेत्र आदित्य के अन्तर्गत परमात्मा नहीं है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि—'अन्तस्तदित्यादि'। यह सूर्य के अन्दर और यह नेत्र के अन्दर देखा गया पुरुष परमात्मा ही है, संसारी नहीं है, क्योंकि यहाँ इस परमात्मा के धर्म उपदिष्ट हुए हैं (कहे गये हैं) जो इस प्रकार हैं कि (उसका उद् यह नाम है) इस प्रकार आदित्य पुरुष का नाम सुनाकर, फिर उस नाम का श्रुति निर्वचन (व्याख्यान) करती है कि सो यह पुरुष सब पाप से उदित (उद्गत) रहित है, यह नाम का निर्वचन सब पाप के अपगम (अभाव) द्वारा किया गया है। और उसी निर्वचन वाले नाम का अक्षिगत पुरुष में श्रुति अतिदेश करती (प्राप्त कराती) है कि जो आदित्य पुरुष का नाम है वही नाम नेत्रगत पुरुष का भी है। और (य आत्माऽपहतपाप्मा) इत्यादि श्रुति में सब पाप का अभाव परमात्मा ही सुना जाता है। इसी प्रकार नेत्रगत पुरुष में ऋग् सामादि रूपता का श्रुति अवधारण (निश्चय) कराती है। कि (वह चक्षुगत पुरुष ही ऋग्वेद, साम (स्तोत्र), उक्थ (शास्त्र-अप्रगीतमन्त्रकस्तुति) यजुर्वेद, ब्रह्म (तीनों वेद) यह सब स्वरूप है। और यह ऋगादि रूपता परमेश्वर में बन सकती है, क्योंकि सबका कारण होने से परमात्मा में सर्वात्मकता की सिद्धि होती है। पृथिवी, अग्नि आदि स्वरूप अधिदैवत (देव

सम्बन्धी-देवरूप) ऋक् और साम का वर्णन करके पृथिवी ऋग् है, अग्नि साम है इत्यादि । तथा अध्यात्म (देह सम्बन्धी) वाक् प्राणादिरूप ऋक् साम का वर्णन करके श्रुति कहती है कि (तस्य) उस आदित्यगत पुरुष के पृथिवी अग्नि आदि स्वरूप ऋक् और साम गेष्ण (पर्व) पोरभाग विशेष हैं, उसकी प्राप्ति के साधन सोपान रूप हैं । यह अधिदैवत उपदेश है । इसी प्रकार अध्यात्म भी है कि (जो आदित्यगत पुरुष के गेष्ण हैं वही अक्षिगत पुरुष के गेष्ण हैं) यह उपदेश सर्वात्मक परमात्मा रूप पुरुष के होने पर ही युक्त हो सकता है) वह ऋक् सामगेष्णवत्त्व अन्य में नहीं बन सकता है । और जो ये गाने वाले वीणा में गाते हैं, वह इसी पुरुष को गाते हैं, जिससे वे धन की सनि (लाभ) वाले (धनी) होते हैं । इस प्रकार लौकिक वीणा द्वारा गान में भी इसी पुरुष को गान का विषय श्रुति दर्शाती है । यह श्रुति कथन भी तभी संघटित (युक्त) हो सकता है कि जब पुरुषशब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया जाय, क्योंकि भगवद्गीता में भी देखा जाता है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ (१०।४१)

इति भगवद्गीतादर्शनात् । लोककामेशितृत्वमपि निरङ्कुशं श्रूयमाणं परमेश्वरं गमयति ।

यत्तूक्तं—हिरण्यश्मश्रुरित्यादिरूपश्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यत—इति, अत्र ब्रूमः—स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम् ।

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ! ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥

इति स्मरणात् । अपि च यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं परमेश्वरं रूपमुपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि । सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः (छा० ३।१४।२) इत्यादिना । तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति । यदप्याधारश्रवणान्न परमेश्वर इति । अत्रोच्यते—स्वमहिमप्रतिष्ठस्याप्याधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वाद्ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वान्तरत्वोपपत्तेः । ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमुपासनार्थमेव । तस्मात्परमेश्वर एवाक्ष्यादित्ययोरन्तरुपदिश्यते ॥२०॥

जो जो विभूति, ऐश्वर्य वाला, लक्ष्मी शोभायुक्त, बली प्राणी हैं, (उन सबको तुम मेरे तेजोंऽश जन्य जानो) और लोक तथा काम का जो निरंकुश (स्वतन्त्र) नेतृत्व सुना जाता है वह परमेश्वर का ही बोध अनुमान कराता है ।

जो यह कहा था कि सुवर्णमय दाढ़ी आदि युक्त जो रूप सुना जाता है वह परमेश्वर में नहीं बन सकता है, [illegible] समाधान है कि साधक भक्त उपासक के प्रति अनुग्रह (हितसम्पादन अहित निवारण [illegible] लिए इच्छा के अधीन परमेश्वर को भी मायामय रूप हो

सकता है। महाभारत में भगवद्वचन रूप स्मृति है कि (हे नारद ! यह जो तुम मुझे मूर्तिमान् शरीर देख रहे हो यह मूर्ति तो मुझ से मायात्मक रची गई है, वस्तुतः सब भूतों के गुणों से युक्त इस प्रकार मुझे आप समझने के योग्य नहीं हो।) और जहाँ सब भेदों से रहित परमेश्वर के स्वरूप का उपदेश दिया जाता है, वहाँ शास्त्र कहता है कि----वह शब्दरहित स्पर्शरहित रूपरहित निर्विकार है। और सबका कारण होने से किसी विकार के धर्मों से भी युक्त परमेश्वर नहीं कहा जाता है, जैसे कि----सब कर्म वाला--सब काम वाला सब गन्ध वाला--सब रस वाला है। वैसे ही हिरण्यश्मश्रुत्वादि का निर्देश (कथन) भी हो सकता है। और जो कहा था कि सूर्य नेत्ररूप आधार के सुनने से वह पुरुष परमेश्वर नहीं है, इस विषय में कहा जाता है कि अपनी महिमा में स्थिर ईश्वर का भी आधार विशेष का कथन रूप उपदेश उपासना के लिये हो सकता है और ब्रह्म को सर्वगत (विभु) होने से आकाश के समान सर्वान्तरत्व भी बन सकता है। तथा ऐश्वर्य की मर्यादा जो सुनी गई है, वह भी अध्यात्म और अधिदैवत ध्यानादि के विभाग ज्ञान पूर्वक उपासना ही के लिए सुनी गई है। ऐश्वर्य के भेद के लिये नहीं, उससे परमेश्वर का ही नेत्र और सूर्य के अन्तर में उपदेश दिया गया है, अन्य का नहीं ॥ २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

अस्ति चादित्यादिशरीराभिमानिभ्यो जीवेभ्योऽन्य ईश्वरोऽन्तर्यामी—'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।९) इति श्रुत्यन्तरे भेदव्यपदेशात्। तत्र हि 'आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद' इति वेदितुरादित्याद्विज्ञानात्मनोऽन्योऽन्तर्यामी स्पष्टं निर्दिश्यते। स एवेहाप्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति, श्रुतिसामान्यात्। तस्मात्परमेश्वर एवेहोपदिश्यत इति सिद्धम्।

यद्यपि सूर्यलोकवासी देव भी पुरुष कहा जा सकता है; तथा जीवात्मा भी पुरुष कहा जाता है तथापि आदित्यादि रूप शरीरों के अभिमानी जीवों से भिन्न अन्तर्यामी ईश्वर है जिसका दूसरी श्रुति में भेदपूर्वक कथन है कि जो आदित्य में रहता हुआ आदित्य से भिन्न तदन्तर्गत है। जिसको आदित्य नहीं जान सकता है, जिसका आदित्य शरीर तुल्य है, जो आदित्य का अन्तरात्मा होकर आदित्य का नियमन (शासन) करता है। यही अमृत (अविनाशी) अन्तर्यामी भी तेरा सत्यात्मा है। वहाँ उस श्रुति में कहा गया है कि, वह आदित्य से भिन्न तदन्तर्गत है जिसको आदित्य नहीं जानता है। इससे जानने वाला विज्ञानात्मा (जीव) रूप सूर्य से अन्य अन्तर्यामी स्पष्ट ही कहा गया है और वही इस हिरण्मयादि श्रुति में भी आदित्य के अन्तर्गत पुरुष होने के योग्य है, क्योंकि दोनों श्रुतियों में तुल्यता है। इससे यहाँ परमेश्वर का ही उपदेश है, यह सिद्ध हुआ ॥ २१ ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच । इति श्रुतौ य आकाशब्दार्थस्तद्ब्रह्म न भूताकाशो ब्रह्मणो लिङ्गदर्शनादि) इस लोकका क्या आश्रय है, इस प्रश्न का उत्तर है कि आकाश है । इस श्रुति में जो आकाश शब्द का अर्थ है वह ब्रह्म है भूताकाश नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का लिङ्ग (चिह्न) देखा जाता है ।

आकाशाधिकरण (८)

आकाश इति होवाचेत्यत्र खं ब्रह्म वाऽत्र खम् ।
शब्दस्य तत्र रूढत्वाद्वाय्वादेः सर्जनादपि ॥ १ ॥
साकाशजगदुत्पत्तिहेतुत्वाच्छ्रौतरूढितः ।
एवकारादिना चात्र ब्रह्मैवाकाशशब्दितम् ॥ २ ॥

(आकाश इति होवाच) इस श्रुति में भूताकाश वा ब्रह्म आकाश कहा गया है ? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष है कि भूताकाश में ही आकाश शब्द रूढ़ (लोक में निश्चित) है, और उससे वायु आदि की सृष्टि भी होती है । इससे जगत् का कारण रूप आकाश ही कहा गया है । सिद्धान्त है कि आकाश सहित जगत् के हेतु होने से और श्रौतरूढ़ि (श्रुतगतप्रसिद्धि) से तथा एवकारादि से ब्रह्म ही यहाँ आकाशशब्द से कहा गया है ॥ १–२ ॥

इदमामनन्ति—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छान्दो० १।९।१) इति । तत्र संशयः—किमाकाशशब्देन परं ब्रह्माभिधीयते उत भूताकाशमिति । कुतः संशयः ? उभयत्र प्रयोगदर्शनात् । भूतविशेषे तावत्सुप्रसिद्धो लोकवेदयोराकाशशब्दः ब्रह्मण्यपि क्वचित्प्रयुज्यमानो दृश्यते, यत्र वाक्यशेषवशादसाधारणगुणश्रवणाद्वा निर्धारितं ब्रह्म भवति, यथा—'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० २।७) इति, 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) इति चैवमादौ । अतः संशयः किं पुनरत्र युक्तम् ? भूताकाशमिति कुतः ? तद्धि प्रसिद्धतरेण प्रयोगेण शीघ्रं बुद्धिमारोहति । न चायमाकाशशब्द उभयोः साधारणः शक्यो विज्ञातुम्, अनेकार्थत्वप्रसङ्गात् । तस्माद्ब्रह्मणि गौण आकाशशब्दो भवितुमर्हति विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति, न च मुख्यसंभवे गौणोऽर्थो ग्रहणमर्हति, संभवति चेह मुख्यस्यैवाकाशस्य ग्रहणम् । ननु भूताकाशपरिग्रहे वाक्यशेषो नोपपद्यते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादिः । नैष दोषः । भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वोपपत्तेः । विज्ञायते हि—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः' (तै० २।१) इत्यादि । ज्यायस्त्वपरायणत्वे अपि भूतान्तरापेक्षयोपपद्येते भूताकाशस्यापि । तस्मादाकाशशब्देन ताकाशस्य ग्रहणमिति ।

छान्दोग्य में कथा है कि शालावत्य नामक ब्राह्मण जैवलि नामक राजा से पूछता है कि (अस्य) इत्यादि। उसका भाष्यकार वर्णन करते हैं कि श्रुतियाँ यह कहती हैं कि (इस पृथिवी आदि रूप प्रत्यक्षपरोक्ष लोक का आधाररूप आश्रय कौन है ? राजा का उत्तर है कि आकाश आधार है, आकाश आधार है ऐसा कहकर आगे कहा कि आकाश इसलिए आधार है कि आकाश से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, और आकाश में ही अन्त लीन होते हैं, आकाश ही इन सबसे बहुत बड़ा है। इससे आकाश ही इनका परायण (परम आश्रय) है। यहाँ संशय होता है कि आकाश शब्द से परब्रह्म कहा जाता है कि भूताकाश कहा जाता है ? विचार होता है कि यह संशय क्यों होता है, तो कहा जाता है कि दोनों अर्थ में आकाश शब्द का प्रयोग अन्यत्र देखने से यहाँ संशय होता है। भूतविशेष में तो प्रथम लोक और वेद में भी आकाश शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध ही है। ब्रह्म में भी कहीं आकाश शब्द का प्रयोग देखा जाता है कि जहाँ वाक्यशेष के बल से या ब्रह्म के असाधारण गुण के श्रवण से ब्रह्म निर्धारित (निर्णीत-निश्चित) रहता है जैसे कि (यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्) यहाँ आनन्दरूप असाधारण गुण श्रवण से आकाश शब्दार्थ ब्रह्म निर्धारित है और (प्रसिद्ध आकाश ही नामरूप का निर्वाहिता (उत्पत्ति स्थिति का हेतु) है, वे नामरूप जिससे भिन्न जिसके अन्दर हैं, वह ब्रह्म है)। यहाँ वह ब्रह्म है इस वाक्यशेष से आकाश शब्द ब्रह्मार्थक निश्चित है, इसी प्रकार अन्यत्र भी निश्चित है। इससे यहाँ संशय होता है, परामर्श होता है कि यहाँ युक्त क्या है ? पूर्वपक्ष है कि भूताकाश युक्तार्थ है, क्योंकि अत्यन्त प्रसिद्ध लौकिक प्रयोग से भूताकाश बुद्धि (समझ) में शीघ्र आता है, और यह आकाश शब्द ब्रह्म और भूतविशेष दोनों का साधारण (तुल्य) वाचक है। ऐसा मानने के योग्य नहीं है, क्योंकि इस प्रकार इस शब्द को अनेकार्थत्व की प्राप्ति होगी। इससे ब्रह्मार्थ में आकाश शब्द गौण होने के योग्य है, क्योकि विभुत्व असङ्गत्वादि बहुत धर्मों द्वारा आकाश के सदृश ब्रह्म है। मुख्य अर्थ का ग्रहण के संभव रहते गौणार्थ का ग्रहण उचित नहीं होता है और यहाँ मुख्यार्थ आकाश का ही ग्रहण हो सकता है। यदि कहा जाय कि यहाँ भूताकाश का ग्रहण करने पर (ये सब प्रसिद्ध आकाश से ही उत्पन्न होते हैं) इस अर्थ को कहने वाला वाक्य का भाग संगत नहीं होगा, तो उत्तर है कि यह दोष नहीं है। क्योंकि भूताकाश को भी वायु आदि की उत्पत्ति के क्रम से चराचर संसार का कारणत्व सिद्ध होता है, और (तस्माद्वा एतस्माद) इत्यादि श्रुति से भूताकाश की कारणता विज्ञात भी होती है कि (आकाश से वायु उत्पन्न हुआ, वायु से अग्नि उत्पन्न हुई और आकाश मात्र आत्मा से उत्पन्न हुआ)। एवं अन्य भूतों की अपेक्षा श्रेष्ठत्व परम आश्रयत्व भी भूताकाश को उचित हो सकता है, जिससे यहाँ आकाश शब्द से भूताकाश का ग्रहण है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम्। कुतः ? तल्लिङ्गात्। परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि ह वा

इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा। ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम्। सत्यं दर्शितम्। तथापि मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहादाकाशादेवेत्यवधारणं, सर्वाणीति च भूतविशेषणं नानुकूलं स्यात्। तथा 'आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इति ब्रह्मलिङ्गं 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' इति च ज्यायस्त्वपरायणत्वे। ज्यायस्त्वं ह्यनापेक्षिकं परमात्मन्येवैकस्मिन्नाम्नातम्—'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१४।३) इति। तथा परायणत्वमपि परमकारणत्वात्परमात्मन्येवोपपन्नतरम्। श्रुतिश्च भवति—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्' (बृ० ३।९।२८) इति। अपि चान्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य पक्षं निन्दित्वाऽनन्तं किञ्चिद्वक्तुकामेन जैवलिनाऽऽकाशः परिगृहीतः, तं चाकाशमुद्गीथे संपाद्योपसंहरति—'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १।९।२) इति। तच्चानन्त्यं ब्रह्मलिङ्गम्। यत्पुनरुक्तं—भूताकाशं प्रसिद्धिबलेन प्रथमतरं प्रतीयत—इति। अत्र ब्रूमः—प्रथमतरं प्रतीतमपि सत् वाक्यशेषगतान् ब्रह्मगुणान् दृष्ट्वा न परिगृह्यते। दर्शितश्च ब्रह्मण्यप्याकाशशब्दः—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादौ। तथाऽऽकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः' (ऋ० सं० १।१६४।३९) 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' (तै० ३।६) 'ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'खं पुराणम्' (बृ० ५।१) इति चैवमादौ। वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्याकाशशब्दस्य वाक्यशेषवशाद्युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा। 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' इति हि वाक्योपक्रमगतोऽप्यग्निशब्दो माणवकविषयो दृश्यते। तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर सिद्धान्त रूप में कहा जाता है कि (आकाशस्तल्लिङ्गात्) आकाश शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि ब्रह्म का लिङ्ग (चिह्न) देखा जाता है। परब्रह्म का ही यह लिङ्ग है ऐसा कहा जाता है कि आकाश से ही ये सब भूत समुत्पन्न होते हैं, क्योंकि परब्रह्म से ही भूतों की उत्पत्ति होती है; यह सब वेदान्त में मर्यादा (स्थिति-धारणा) की गई है। यदि कहो कि भूताकाश की कारणता प्रथम वायु आदि क्रम से दिखाई गई है, तो यह कहना सत्य है, वायु आदि का कारण भूताकाश है ही, तो भी यहाँ मूलकारण ब्रह्म के नहीं ग्रहण करने पर, आकाशादेव, इस वाक्य में 'एव' शब्द से अवधारण (अन्य कारण का निवारण) अनुकूल नहीं होगा, और भूतों का सर्व यह विशेषण अनुकूल नहीं होगा। तथा इसी प्रकार (आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति) आकाश में सब लीन होते हैं, यह भी ब्रह्म का लिंग है। आकाश सबसे अति बड़ा है, परम आश्रय है ये कथन भी ब्रह्म के ही लिंग है। क्योंकि अनापेक्षिक (सर्वथा) श्रेष्ठत्व एक परमात्मा में ही श्रुति से आम्नात

(कथित) है कि (वह पृथिवी से बहुत बड़ा है, अन्तरिक्ष से अति बड़ा है, स्वर्ग से अति बड़ा है। इन लोगों से अति बड़ा है इत्यादि)। इसी प्रकार परम आश्रयत्व भी परम (मूल) कारण होने से परमात्मा में ही अत्यन्त उचित है। श्रुति भी कहती है कि (विज्ञान आनन्द स्वरूप ब्रह्म है) वह धन के दाता (यज्ञादि कर्ता) का परम आश्रय है। एवं शालावत्य जैवलि के संवाद में अन्तवत्त्व दोष से शालावत्य के पक्ष (मन्तव्य) की निन्दा करके अनन्त किसी वस्तु को कहने की इच्छा से जैवलि ने आकाश का ग्रहण किया। और उस आकाश को उद्गीथ सामभाग विशेष और तदवयव ओंकार में संपादन करके (उद्गीथ आकाश ही है) इस प्रकार उद्गीथ आकाश की एकता करके जैवलि ने उपसंहार किया है कि यह (उद्गीथ) पर है और वरों से अति वर है, और यह अनन्त है और वह अनन्तता ब्रह्म का लिंग है तथा जो यह कहा था कि प्रसिद्धि के बल से भूताकाश अत्यन्त पहले (प्रथम) प्रतीत होता है। इस विषय का समाधान है कि बहुत पहले प्रतीत (ज्ञात) होता हुआ भी वाक्यशेषगत ब्रह्म के गुणों को देखने पर यहाँ वह परिगृहीत (स्वीकृत) नहीं होता है और ब्रह्म में भी आकाश शब्द का प्रयोग दिखलाया गया है कि आकाश नामरूप का निर्वाहक है इत्यादि में ब्रह्मार्थक आकाश शब्द है और इसी प्रकार आकाश पर्यायवाची (आकाश के समानार्थक) शब्दों का भी ब्रह्म में प्रयोग देखा जाता है कि (ऋगादि) सब वेद जिसमें प्रमाण हैं उस अक्षर-कूटस्थ अविनाशी परम व्योम (आकाश) ब्रह्म में सब देव अधिष्ठित (स्थिर) हैं। यह भृगु को दी गई वरुण से उपदिष्ट विद्या व्योम में प्रतिष्ठित है। ओंकार सुखरूप ब्रह्म है, विभु ब्रह्म है। अनादि ब्रह्म है। इन वाक्यों में व्योम-ख शब्द आकाशवाचक आये हैं। और वाक्य के आरम्भ में भी वर्तमान आकाश शब्द को वाक्यशेष के बल से ब्रह्मविषयकत्व का अवधारण (निश्चय) करना उचित है। जैसे कि (अग्निरधीतेऽनुवाकम्) अग्नि अनुवाक (वेद का भाग विशेष) को पढ़ती है। यहाँ वाक्य के आरम्भ में भी आया हुआ अग्नि शब्द बालकविषयक देखा जाता है। इससे आकाश शब्द का यहाँ ब्रह्म अर्थ है यह सिद्ध हुआ ॥ २२ ॥

अत एव प्राणः ॥ २ ॥

(अत एव पूर्वसूत्रश्रुताल्लिङ्गादेव पूर्वोदाहृतश्रुतेरग्रे वर्तमानायां श्रुतौ श्रुतः प्राणशब्दो ब्रह्मवाचक इति) पूर्वसूत्र में सुना गया लिंगरूप हेतु से ही पूर्व सूत्र में उदाहृत श्रुति से आगे वर्तमान श्रुति में सुना गया प्राण शब्द ब्रह्म का वाचक है।

प्राणाधिकरण (९)

मुखस्थो वायुरीशो वा प्राणः प्रस्तावदेवता।
वायुर्भवेत्तत्र सुप्तौ भूतसारेन्द्रियक्षयात् ॥ १ ॥
संकोचोऽक्षपरत्वे स्यात् सर्वभूतलयश्रुतेः।
आकाशशब्दवत् प्राणशब्दस्तेनेशवाचकः ॥ २ ॥

प्रस्ताव (स्तुति विशेषभाग वेद) की देवतारूप से वर्णित प्राण मुख में स्थित वायु है, वा ईश्वर है, इस संशय के बाद में पूर्वपक्ष है कि वायु ही यह प्राण हो सकता है। यदि कहा जाय कि उस प्राण में वहाँ सब संसार के विलयादि सुने गये हैं, वह कैसे संगत होगा तो कहा जाता है कि सुषुप्ति में भूतों के साररूप इन्द्रियों का प्राण में विलय होता है, उस आशय से उस विलयादि का कथन है। सिद्धान्त है कि इस प्रकार मानने से केवल इन्द्रियों के लयपरक लय वाक्य के होने से सब भूत के विलय श्रुति का संकोच होगा। इससे आकाश शब्द के समान प्राण शब्द भी ईश्वर वाचक है ॥ १—२ ॥

उद्गीथे—'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' (छा० १।११।४,५) इति। तत्र संशयनिर्णयौ पूर्ववदेव द्रष्टव्यौ। 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः (छा० ६।८।२) 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) इति चैवमादौ ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते, वायुविकारे तु प्रसिद्धतरो लोकवेदयोः, अत इह प्राणशब्देन कतरस्योपादानं युक्तमिति भवति संशयः। किं पुनरत्र युक्तम्? वायुविकारस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्योपादानं युक्तम्। तत्र हि प्रसिद्धतरः प्राणशब्द इत्यवोचाम। ननु पूर्ववदिहापि तल्लिङ्गाद्ब्रह्मण एव ग्रहणं युक्तम्, इहापि वाक्यशेषे भूतानां संवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं कर्म प्रतीयते। न। मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेशनोद्गमनस्य दर्शनात्। एवं ह्याम्नायते—'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते' (श० ब्रा० १०।३।३।६) इति। प्रत्यक्षं चैतत्—स्वापकाले प्राणवृत्तावपरिलुप्यमानायामिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते, प्रबोधकाले च प्रादुर्भवन्तीति। इन्द्रियसारत्वाच्च भूतानामविरुद्धो मुख्ये प्राणेऽपि भूतसंवेशनोद्गमनवादी वाक्यशेषः। अपि चादित्योऽन्नं चोद्गीथप्रतिहारयोर्देवते प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्यानन्तरं निर्दिश्येते। न च तयोर्ब्रह्मत्वमस्ति, तत्सामान्याच्च प्राणस्यापि न ब्रह्मत्वमिति। एवं प्राप्ते सूत्रकार आह—'अत एव प्राणः' इति। 'तल्लिङ्गात्' इति पूर्वसूत्रे निर्दिष्टम्। अत एव तल्लिङ्गात् प्राणशब्दमपि परं ब्रह्म भवितुमर्हति। प्राणस्यापि हि ब्रह्मलिङ्गसम्बन्धः श्रूयते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' (छा० १।११।५) इति प्राणनिमित्तौ सर्वेषां भूतानामुत्पत्तिप्रलयावुच्यमानौ प्राणस्य ब्रह्मतां गमयतः। ननूक्तं मुख्यप्राणपरिग्रहेऽपि संवेशनोद्गमनदर्शनमविरुद्धं, स्वापप्रबोधयोर्दर्शनादिति। अत्रोच्यते—स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेव केवलानां प्राणाश्रयं संवेशनोद्गमनं दृश्यते न सर्वेषां भूतानाम्, इह तु सेन्द्रियाणां सशरीराणां च जीवाविष्टानां भूतानां 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इति श्रुतेः। यदाऽपि भूतश्रुतिर्महाभूतविषया परिगृह्यते तदापि ब्रह्मलिङ्गत्वमविरुद्धम्। ननु सहापि विषयैरिन्द्रियाणां स्वापप्रबोधयोः

प्राणेऽप्ययं प्राणाच्च प्रभवं शृणुमः—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' (कौ० ३।३) इति (१)। तत्रापि तल्लिङ्गात्प्राणशब्दं ब्रह्मैव। यत्पुनरन्नादित्यसंनिधानात्प्राणस्याब्रह्मत्वमिति। तदयुक्तम्। वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायां संनिधानस्याकिंचित्करत्वात्। यत्पुनः प्राणशब्दस्य पञ्चवृत्तौ प्रसिद्धतरत्वम्, तदाकाशशब्दस्येव प्रतिविधेयम्। तस्मात्सिद्धं प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम्। अत्र केचिदुदाहरन्ति—'प्राणस्य प्राणम्, प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति च। तदयुक्तम्। शब्दभेदात्प्रकरणाच्च संशयानुपपत्तेः। यथा पितुः पितेति प्रयोगेऽन्यः पिता (२) षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्यः प्रथमानिर्दिष्टः पितुः पितेति गम्यते, तद्वत् प्राणस्य प्राणम् इति शब्दभेदात् प्रसिद्धात् प्राणादन्यः प्राणस्य प्राणम् इति निश्चीयते। नहि स एव तस्येति भेदनिर्देशार्हो भवति। यस्य च प्रकरणे यो निर्दिश्यते नामान्तरेणापि स एव तत्र प्रकरणनिर्दिष्ट इति गम्यते। यथा ज्योतिष्टोमाधिकारे—'वसन्ते वसन्त ज्योतिषा यजेत' इत्यत्र ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयो भवति, तथा परस्य ब्रह्मणः प्रकरणे 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति श्रुतेः प्राणशब्दो वायुविकारमात्रं कथमवगमयेत्। अतः संशयाविषयत्वान्नैतदुदाहरणं युक्तम्। प्रस्तावदेवतायां तु प्राणे संशयपूर्वपक्षनिर्णया उपपादिताः॥ २३ ॥

उद्‌गीथ नामक स्तुतिविशेष के प्रकरण में सर्वप्रथम यह कथा है कि उषस्ति नामक चक्रवंश के चाक्रायण, पूर्ण विद्वान् ऋषि किसी दुष्काल के समय किसी राजा के यज्ञ में द्रव्य की इच्छा से गये, और प्रस्तोता नामक ऋत्विक् के पास में बैठ गये, तथा प्रस्तोता ने जब स्तुति करना चाहा तब बोले कि (हे प्रस्तोतः जो देवता प्रस्ताव-स्तुति) का नियन्ता है, उसको समझे बिना यदि मेरे सामने स्तुति करोगे तो तेरा शिर गिर जायगा। यहाँ से आरम्भ करके सुना जाता है कि उस प्रस्तोता ने ऋषि से पूछा कि भगवन् वह कौन देवता प्रस्ताव का नियन्ता है, ऋषि बोले कि वह देवता प्राण है, और ये सब भूत अन्तकाल में प्राण में ही लीन होते हैं, सृष्टिकाल में प्राण से ही उद्‌गत (प्रगट उत्पन्न) होते हैं, इसलिये यही सबका हेतुरूप देवता प्रस्ताव (स्तुति) का नियन्ता है। यहाँ संशय और निर्णय पूर्व के समान जानना चाहिये। जैसे कि (प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः) मन रूप उपाधि वाला जीव प्राण रूप बन्धन वाला है अर्थात् सुषुप्ति में प्राण नामक ब्रह्म से एक हो जाता है, तदधीन रहता है। वह ब्रह्म प्राण का प्राण (प्रेरक प्रकाशक) है इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मविषयक प्राण शब्द देखा जाता है, और वायु के विकार प्राणापानादि अर्थ में प्राणशब्द वेद में प्रसिद्ध ही है। इससे यहाँ प्रस्तावनियन्ता प्राणशब्दार्थ किसको माना जाय, प्राणशब्द द्वारा दोनों में से किसका ग्रहण करना उचित है यह संशय होता है। फिर यहाँ किसका ग्रहण युक्तियुक्त है ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष होता

है कि प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नामक पाँच वृत्ति (अवस्था-परिणाम) वाला प्राण का ग्रहण होना उचित है, क्योंकि इस प्राण अर्थ में प्राण शब्द अतिप्रसिद्ध है, यह पहले भी कहा जा चुका है। यदि कहा जाय कि यहाँ भी पूर्व के समान ब्रह्मलिङ्ग से ब्रह्म ही का ग्रहण होना उचित है, क्योंकि यहाँ भी भूतों का विलय और उद्गमन रूप परमेश्वर का कर्म प्रतीत होता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मुख्य प्राण में भी भूतों का विलय उद्गमन देखा जाता है। श्रुति कहती है कि जब पुरुष शयन करता है तब उस काल में प्राण में वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन ये सब लीन हो जाते हैं, और जब जागता है तब प्राण से ही सब उत्पन्न होते हैं। यह प्रत्यक्ष भी है कि सुषुप्ति काल में प्राण वृत्तियों के विलय नहीं होते हुए भी इन्द्रियों की वृत्तियाँ परिलुप्त हो जाती हैं। एवं जागने के समय सब इन्द्रियवृत्ति प्रगट होती हैं। 'तस्य ह्येष रसः वृ० २।३।५' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भूतों के साररूप इन्द्रियाँ हैं, इससे मुख्य प्राण में भी भूतों के विलय उद्गम कहने वाला वाक्यशेष विरुद्ध नहीं होता है। और प्रस्ताव का देवता प्राण के कथन के बाद, उद्गीथ और प्रतिहार भाग का देवता सूर्य और अन्न क्रम से कहे गये हैं, और उन दोनों को ब्रह्मत्व नहीं है, इसलिए उनके सामीप्य तुल्यता से भी प्राण को ब्रह्मता नहीं है, इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर सूत्रकार कहते हैं कि 'अत एव प्राणः, तल्लिङ्गात्' यह पूर्व सूत्र में कहा गया है, इसी तल्लिङ्ग से प्राण शब्द का अर्थ भी परब्रह्म होने योग्य है, क्योंकि प्राण को ब्रह्मलिङ्ग से सम्बन्ध है। सुना जाता है कि यह सब भूत प्राण ही में प्रवेश करते हैं, प्राण से प्रगट होते हैं। और इस प्रकार कहे गये प्राण हेतुक सब भूतों के उत्पत्ति विनाशक प्राण को ब्रह्मरूपता है ऐसा बोध अनुमान कराते हैं। यदि कहो कि पहले कहा गया है कि प्राण शब्द से मुख्य प्राण के ग्रहण करने पर भी भूतों के संवेशन और उद्गमन के दर्शन अविरुद्ध हैं। सुषुप्ति और जाग्रत काल में प्राण में प्रवेश और उसी से उद्गम देखा जाता है, तो यहाँ कहा जाता है कि स्वाप प्रबोध काल में केवल इन्द्रियों के प्राणाश्रित संवेशन और उद्गमन देखे जाते हैं, सब भूतों के संवेशनादि नहीं देखे जाते हैं, और यहाँ तो इन्द्रिय एवं शरीर सहित जीवों से आविष्ट (युक्त) सब भूतों के लयादि (सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि) इस श्रुति से सुने जाते हैं, और जिस समय भूतश्रुति महाभूत आकाशादि विषयक मानी जाती है, तब भी उसको ब्रह्मलिङ्गत्व अविरुद्ध है। यदि कहो कि (जब पुरुष सोया हुआ किसी स्वप्न को भी नहीं देखता है, उस समय उस प्राण में ही पुरुष (जीव) एकधा (अभिन्न) हो जाता है, और उस समय इस प्राण में ही सब नामों के सहित वागिन्द्रिय लीन होती है। इस श्रुत्यर्थ के अनुसार विषयों के सहित सब इन्द्रियों का प्राण में विलय और प्राण से उत्पत्ति सुने जाते हैं, तो कहा जाता है कि वहाँ भी ब्रह्म के लिङ्ग होने से प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही है। और जो यह कहा था कि अन्न और सूर्य की समीपता से प्राण को अब्रह्मत्व है, सो यह कहना अयुक्त (अनुचित) है, क्योंकि वाक्यशेष के बल से प्राण

शब्द की ब्रह्मविषयता (ब्रह्मबोधकता) के निश्चय ज्ञात होने पर सन्निधान (समीपता) कुछ कर नहीं सकता है । एवं पहले जो यह कहा था कि प्राणशब्द प्राणादि पाँच वृत्ति वाला वायुविशेष में प्रसिद्ध है, उसका प्रतिविधान (उत्तर-निराकरण) आकाश शब्द के समान समझना चाहिये । इससे सिद्ध हुआ कि प्रस्ताव का देवता रूप प्राण ब्रह्म है । यहाँ कोई इस सूत्र के उदाहरण रूप (प्राणस्य प्राणम् । प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः) इन श्रुतियों को कहते हैं, यह अयुक्त है । क्योंकि प्रथम वाक्य में शब्द के भेद से और दूसरे में प्रकरण से संशय की सिद्धि नहीं हो सकती है, जैसे कि (पितुःपिता) पिता का पिता, इस प्रयोग में षष्ठी विभक्त्यन्त पद से कहा गया यहाँ पिता एक अन्य है, और प्रथमा विभक्त्यन्त से कहा गया दूसरा पिता का पिता उससे अन्य है यह समझा जाता है, वैसे ही 'प्राणस्य प्राणम्' इस प्रकार के शब्द भेद से निश्चय किया जाता है कि प्रसिद्ध प्राण से अन्य प्राण का प्राण है, क्योंकि वह प्रसिद्ध एक ही प्राण, प्राण का प्राण है, इस प्रकार भेदपूर्वक कथन के योग्य नहीं हो सकता है । और जिसके प्रकरण में जो नामान्तर द्वारा भी कहा जाता है, वहाँ वही प्रकरण में प्रथम कथित वस्तु नामान्तर से भी समझी जाती है कि यही वस्तु यहाँ कही गई है । जैसे कि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में (वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत) प्रति वसन्त में ज्योतिष नामक यज्ञ से इष्ट का संपादन करे । इस वाक्य में ज्योतिः शब्द ज्योतिष्टोम का वाचक होता है । इसी प्रकार परब्रह्म के प्रकरण में सुना गया प्राणबन्धनम्) यह प्राण शब्द वायु के विकार मात्र को कैसे बोध करा सकता है । इसलिए संशय के अविषय होने से यह उदाहरण युक्त नहीं है और प्रस्ताव का देवता रूप प्राणविषयक संशय पूर्वपक्ष और निर्णय तो उपपादित (युक्तिसिद्ध प्रतिपादित) हो चुके हैं ॥ २३ ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (परो दिवो ज्योतिरित्यादिश्रुतौ ज्योतिःशब्दार्थो ब्रह्मैव पूर्वं प्रकरणे, ब्रह्मण एव चरणानां भागानामभिधानान्न तु सूर्यादिज्योतिस्तस्यार्थं इति) 'परो दिवो ज्योतिः' इत्यादि श्रुति में ज्योतिः शब्द का अर्थ ब्रह्म ही है, क्योंकि पूर्व प्रकरण में ब्रह्म के भागों (अंशों) का कथन है । इसीसे सूर्यादि उस पद के अर्थ नहीं हैं ॥ २४ ॥

ज्योतिश्चरणाधिकरण (१०)

कार्यं ज्योतिरुत ब्रह्म ज्योतिर्दीप्यत इत्यदः ।
ब्रह्मणोऽसंनिधेः कार्यं तेजो लिङ्गबलादपि ॥ १ ॥
चतुष्पाद्ब्रह्मकृतं ब्रह्म यच्छब्देनानुवर्त्यते ।
ज्योतिः स्याद्भासकं ब्रह्म लिङ्गन्तूपाधियोगतः ॥ २ ॥

'ज्योतिर्दीप्यते' यहाँ ज्योतिः शब्द कार्य ज्योति का वाचक है अथवा ब्रह्म का वाचक है, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष है कि यहाँ ब्रह्म की असमीपता से और तेज के लिङ्गों के बल से भी कार्य ही सूर्यादि ज्योतिः शब्दार्थ हैं ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि चार पाद युक्त ब्रह्म का प्रकरण है, वही प्रकृत ब्रह्म यहाँ यत् शब्द से अनुवृत्ति द्वारा प्राप्त होता है, और प्रकाशक होने से ब्रह्म ज्योति कहाता है, तथा अन्य कार्य का लिंग उपाधि के सम्बन्ध से ब्रह्म में भासता है ॥ २ ॥

इदमामनन्ति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा० ३।१३।७) इति । तत्र संशयः—किमिह ज्योतिःशब्देनादित्यादि ज्योतिरभिधीयते किंवा पर आत्मेति । अर्थान्तरविषयस्यापि शब्दस्य तल्लिङ्गाद्ब्रह्मविषयत्वमुक्तम्, इह तु तल्लिङ्गमेवास्ति नास्तीति विचार्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? आदित्यादिकमेव ज्योतिःशब्देन परिगृह्यत इति । कुतः ? प्रसिद्धेः । तमो ज्योतिरिति हीमौ शब्दौ परस्परप्रतिद्वन्द्विविषयौ प्रसिद्धौ । चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकं शार्वरादिकं तम उच्यते । तस्या एवानुग्राहकमादित्यादिकं ज्योतिः । तथा 'दीप्यते' इतीयमपि श्रुतिरादित्यादिविषया प्रसिद्धा । नहि रूपादिहीनं ब्रह्म दीप्यत इति मुख्यां श्रुतिमर्हति । द्युमर्यादत्वश्रुतेश्च । नहि चराचरबीजस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य द्यौर्मर्यादा युक्ता । कार्यस्य तु ज्योतिषः परिच्छिन्नस्य द्यौर्मर्यादा स्यात् । 'परो दिवो ज्योतिः' इति च ब्राह्मणम् । ननु कार्यस्यापि ज्योतिषः सर्वत्र गम्यमानत्वाद्द्युमर्यादावत्त्वमसमञ्जसम् । अस्तु तर्ह्यत्रिवृत्कृतं तेजः प्रथमजम् । न । अत्रिवृत्कृतस्य तेजसः प्रयोजनाभावादिति । इदमेव प्रयोजनं यदुपास्यत्वमिति चेत् । न । प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवादित्यादेरुपास्यत्वदर्शनात् । 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६।३।३) इति चाविशेषश्रुतेः । न चात्रिवृत्कृतस्यापि तेजसो द्युमर्यादत्वं प्रसिद्धम् । अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तत्तेजो ज्योतिःशब्दम् । ननूक्तमर्वागपि दिवोऽवगम्यतेऽग्न्यादिकं ज्योतिरिति, नैष दोषः सर्वत्रापि गम्यमानस्य ज्योतिषः 'परो दिवः' इत्युपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते, न तु निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना भागिनी । 'सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषु लोकेषु' इति चाधारबहुत्वश्रुतिः कार्ये ज्योतिष्युपपद्यतेतराम् । 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा० ३।१३।७) इति च कौक्षेये ज्योतिषि परं ज्योतिरध्यस्यमानं दृश्यते । सारूप्यनिमित्ताश्चाध्यासा भवन्ति । यथा– 'तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरम्' (बृ० ५।५।३) इति । कौक्षेयस्य तु ज्योतिषः प्रसिद्धमब्रह्मत्वम् । 'तस्यैषा दृष्टिः तस्यैषा श्रुतिः' (छा० ३।१३।७) इति चौष्ण्यघोषविशिष्टत्वस्य श्रवणात् । तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति श्रुतेः । 'चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद' (छा० ३।१३।८) इति चाल्पफलश्रवणादब्रह्मत्वम् । महते हि फलाय ब्रह्मोपासन-

मिष्यते। न चान्यदपि किञ्चित्स्ववाक्ये प्राणाकाशवज्ज्योतिषोऽस्ति ब्रह्मलिङ्गम्। नच पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' इति छन्दोनिर्देशात्। अथापि कथंचित् पूर्वस्मिन् वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टं स्यादेवमपि न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्ति, तत्र हि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (३।१२।१,६) इति द्यौरधिकरणत्वेन श्रूयते, अत्र पुनः 'परो दिवो ज्योतिः' इति द्यौर्मर्यादात्वेन। तस्मात्प्राकृतं ज्योतिरिह ग्राह्यमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

छान्दोग्य शाखा वाले यह कहते हैं कि (जो इस दिव (स्वर्ग) से परे ज्योति दीप्त होती है, जो विश्व (सब प्राणी) के पृष्ठ के ऊपर दीप्त होती है, जो सब लोक के ऊपर दीप्त होती है, और जिससे कोई उत्तम लोक नहीं है ऐसे उत्तम लोकों में जो प्रकाशित होती है, वह ज्योति यही है कि जो इस पुरुष के अन्दर में अग्निरूप ज्योति है) यहाँ संशय होता है कि यहाँ ज्योति शब्द से सूर्यादि ज्योति कही जाती है, अथवा परब्रह्म आत्मा कहा जाता है। यद्यपि अर्थान्तर वाचक शब्द को ब्रह्मवाचकत्व ब्रह्म के लिङ्ग से कहा जा चुका है, तथापि वह ब्रह्म का लिङ्ग यहाँ है कि नहीं है, इस अर्थ का यहाँ विचार किया जाता है। विमर्श हुआ कि प्राप्त क्या है ? पूर्व पक्ष है कि आदित्यादिक ही ज्योति शब्द से समझे जाते हैं, क्योंकि आदित्यादि अर्थ में ज्योति शब्द की प्रसिद्धि है। तम और ज्योति ये दोनों शब्द परस्परविरोधी अर्थ को कहने वाले लोक में प्रसिद्ध हैं। चक्षुवृत्ति के विरोध करने वाला रात्रि में होने वाला अन्धकारादि तम कहा जाता है और उस नेत्र की वृत्ति (तेज व्यापार) के सहायक सूर्यादि को ज्योति कहा जाता है। इसी प्रकार (दीप्यते) प्रकाशता है, यह श्रुति भी आदित्यादि विषयक प्रसिद्ध है, रूपादि रहित ब्रह्म प्रकाशता है, इस श्रुति का मुख्य अर्थ नहीं हो सकता है। वह वस्तुतः इस वाक्य से नहीं कहा जा सकता है, और स्वर्ग मर्यादत्व (स्वर्ग सीमायुक्त) सुनने से भी यह ज्योति ब्रह्म वाचक नहीं है, क्योंकि चराचर के बीच सर्वात्मा ब्रह्म की स्वर्ग मर्यादा (सीमा) होना युक्त नहीं है, और परिच्छिन्न (एकदेशी) कार्य रूप ज्योति की स्वर्ग मर्यादा (सीमा) हो सकती है। (परो दिवो ज्योतिः) यह ब्राह्मण ग्रन्थ मर्यादा कहता है कि—स्वर्ग से परे ज्योति प्रकाशती है। यदि कार्य ज्योति को भी सर्वत्र उपलब्ध (ज्ञात) होने से उसमें भी स्वर्गमर्यादत्व नहीं बन सकता ऐसी शङ्का हो तो सृष्टि काल में प्रथम उत्पन्न भूमि (अन्न) जल के साथ सम्मेलन रूप त्रिवृत्करण से रहित सूक्ष्म तेज यहाँ ज्योति शब्द का अर्थ हो सकता है। यदि कहा जाय कि ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सृष्टि के बाद उस सूक्ष्म तेज का कोई प्रयोजन (फल) नहीं होता है, स्थूल तेज ही सर्वत्र काम देता है: इससे उसकी सत्ता में प्रमाण का अभाव है। यदि कहो कि उसका यही प्रयोजन है कि वह उपास्य होता है, उसकी उपासना की जाती है, तो यह कहना भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रयोजनान्तर में प्रयुक्त (हेतुरूप) ही सूर्यादि को उपास्यत्व देखा जाता है ! ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसका केवल उपासना ही प्रयोजन हो। (तेजो, अप, अन्न, रूप देवताओं में एक एक को

त्रिवृत त्रिवृत (तीन रूपों से सम्मिलित) करूँ इस प्रकार ईश्वर के संकल्पपूर्वक तीनों का सामान्य रूप से सम्मेलन सुना गया है, इससे सम्मेलन रहित की सत्ता नहीं है, सम्मेलन रहित तेज को भी स्वर्ग सीमायुक्तत्व प्रसिद्ध नहीं है। फिर पूर्व पक्षी कहता है कि तो सम्मिलित ही वह स्थूल तेज ज्योति शब्द का अर्थ है। यदि कहो कि स्वर्ग से नीचे भी अग्नि आदि तेज उपलब्ध होता है यह कहा जा चुका है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि सर्वत्र उपलब्ध (ज्ञात ज्योति का भी (परःदिवः) इस श्रुति के अनुसार उपासना के लिए प्रदेश विशेष का परिग्रह (स्वीकार) विरुद्ध नहीं होता है। निष्प्रदेश (निरवयव देश सम्बन्ध रहित) ब्रह्म के प्रदेशविशेष की कल्पना भागिनी (युक्त) नहीं हो सकती है। (सब के ऊपर प्रकाशता है। अनुत्तम उत्तम लोकों में प्रकाशता है) इस प्रकार बहुत आधारत्वत्व का श्रवण भी कार्य ज्योति में अत्यन्त युक्त होता है। और (वह ज्योति यही है कि जो पुरुष में अन्तर्ज्योति है) यहाँ कुक्षिगत ज्योति में पर ज्योति का अध्यास (आरोप) किया हुआ देखा जाता है, और सदृशता निमित्तक अध्यास होते हैं। जैसे कि (आदित्य मण्डलान्तर्गत पुरुष का भूर् रूप व्याहृति शिर है, क्योंकि एक शिर है और एक ही यह अक्षर है। और कुक्षिगत ज्योति की अब्रह्मता प्रसिद्ध है (उस कुक्षिगत तेज की यह दृष्टि है जो शरीर में गरमी उपलब्ध होती है। और जो कान में अनाहत शब्द सुना जाता है सो उसकी श्रुति (श्रवण) है। इस प्रकार उष्णता घोष (नाद) युक्तत्व को सुनने से, तथा (यह अन्तर्ज्योति दृष्ट और श्रुत है ; इस प्रकार उपासना करे। इस श्रुति से, और इस प्रकार उपासना करनेवाला दर्शनीय सुन्दर होता है एवं श्रुत (प्रख्यात) होता है। एवं अल्प फल के श्रवण से भी कुक्षिगत तेज को अब्रह्मत्व (ब्रह्मभिन्नत्व) सिद्ध होता है। क्योंकि महाफल के ही लिये ब्रह्म की उपासना वाञ्छित होती है। और प्राण तथा आकाश के समान अन्य भी कोई ब्रह्म का लिङ्ग स्ववाक्य (ज्योति वाक्य) में नहीं है कि जिस ब्रह्म से ज्योति को ब्रह्म समझा जाय। पूर्व वाक्य में भी ब्रह्म नहीं निर्दिष्ट है क्योंकि (गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्) इस पूर्व वाक्य में छन्द का कथन है, कि गायत्री छन्द रूप यह सब भूत है। यदि सर्वात्मत्व अमृतत्व के कथन से किसी प्रकार पूर्व वाक्य में ब्रह्म निर्दिष्ट (कथित) है, ऐसा माना भी जाय तो भी उसका यहाँ प्रत्यभिज्ञान (वही यह है ऐसा निश्चय) नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्व वाक्य में कहा गया है कि (त्रिपादस्यामृतं दिवि) उसके तीन पाद रूप अमृत स्वर्ग में है। इससे स्वर्ग उस अमृत का अधिकरण रूप से सुना जाता है और यहाँ दिव (स्वर्ग) से पर ज्योति सुनी जाती है। इससे स्वर्ग मर्यादा सीमा रूप से सुना जाता है। तथा प्राकृत (प्रकृति के कार्य), साधारण ज्योति यहाँ ग्रहण के योग्य हैं।

ज्योतिरिह ब्रह्म ग्राह्यम्। कुतः ? चरणाभिधानात्, पादाभिधानादित्यर्थः। पूर्वस्मिन् हि वाक्ये चतुष्पाद् ब्रह्म निर्दिष्टम् —

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

(छा० ३।१२।६) इत्यनेन मन्त्रेण । तत्र यच्चतुष्पदो ब्रह्मणस्त्रिपादमृतं द्युसम्बन्धिरूपं निर्दिष्टं तदेवेह द्युसम्बन्धान्निर्दिष्टमिति प्रत्यभिज्ञायते । तत्परित्यज्य प्राकृतं ज्योतिः कल्पयतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम् । न केवलं पूर्ववाक्याज्ज्योतिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः, परस्यामपि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म । तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । यत्तूक्तम्—'ज्योतिर्दीप्यते' इति चैतौ शब्दौ कार्ये ज्योतिषि प्रसिद्धाविति । नायं दोषः । प्रकरणाद्ब्रह्मावगमे सत्यनयोः शब्दयोरविशेषकत्वात् दीप्यमानकार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसम्भवात् । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति च मन्त्रवर्णनात् । यद्वा नायं ज्योतिःशब्दश्चक्षुर्वृत्तेरेवानुग्राहके तेजसि वर्तते, अन्यत्रापि प्रयोगदर्शनात्—'वाचैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४।३।५) 'मनो ज्योतिर्जुषताम्' (तै० ब्रा० १।६।३।३) इति च, तस्माद्यद्यत्कस्यचिदवभासकं तत्तज्ज्योतिःशब्देनाभिधीयत । तथा सति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यरूपस्य समस्तजगदवभासहेतुत्वादुपपन्नो ज्योतिःशब्दः । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कौ० २।५।१५) 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४।४।१६) इत्यादि श्रुतिभ्यश्च । यदप्युक्त—द्युमर्यादत्वं सर्वगतस्य ब्रह्मणो नोपपद्यत–इति । अत्रोच्यते । सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते ।

इस प्रकार प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि ज्योति यहाँ ब्रह्म ग्रहण के योग्य है, क्योंकि प्रथम चरण (ब्रह्म के पादों) का कथन किया गया है । पूर्व वाक्य में चार पादयुक्त ब्रह्म ही कहा गया है कि (तावान्) चतुष्पदा षड्विधा गायत्री आदि रूप यह संसार इस ब्रह्म की महिमा (विभूति) है, और वह ब्रह्म रूप पुरुष उस विभूति से बहुत बड़ा (अधिक) है, क्योंकि ये सब भूत इसके एक पाद (अंश) रूप हैं । उसके त्रिपाद (अनन्त स्वरूप) दिव (प्रकाश मय स्वरूप) में है, या सूर्य मण्डल में है । तावानित्यादि मन्त्र में जो चतुष्पादयुक्त ब्रह्म का त्रिपाद रूप अमृत स्वरूप प्रकाश सम्बन्धी रूप वाला कहा गया है, वही यहाँ (दिवः परः) इस वाक्य में कहा गया है, वह प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान दिवपद के सम्बन्ध से होता है । वहाँ प्रत्यभिज्ञा के विषय ब्रह्म को त्याग कर प्राकृत ज्योति की कल्पना करने वाले को प्रकृत की हानि अप्रकृत की कल्पना रूप दोष प्राप्त होगा । एवं पूर्व वाक्य से केवल ज्योति वाक्य में ही ब्रह्म की अनुवृत्ति (प्राप्ति सम्बन्ध) नहीं होती है, किन्तु इससे भी आगे वर्णित शाण्डिल्य नामक विद्या में ब्रह्म की अनुवृत्ति होगी । इससे यहाँ 'ज्योति' इस पद से ब्रह्म को समझना चाहिये । पहले जो यह कहा था कि (ज्योति और दीप्यते)

ये दोनों शब्द कार्य रूप ज्योति में प्रसिद्ध हैं, वहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रकरण से ब्रह्म के ज्ञान होने पर ये दोनों शब्द विशेषक (भेदक) नहीं होते हैं, ब्रह्म की व्यावृत्ति करके अन्यार्थ के बोधक नहीं होते हैं। क्योंकि दीप्यमान कार्य ज्योति से उपलक्षित (बोधित) ब्रह्म में भी उनका प्रयोग हो सकता है। तथा (जिस तेज रूप चेतनात्मा से इद्ध—प्रकाशित होकर सूर्य—तपता प्रकाश करता है) इत्याद्यर्थक मन्त्रों से उक्तार्थ की सिद्धि होती है, अथवा यह ज्योति शब्द नेत्र वृत्ति का सहायक तेज ही अर्थ को कहता है, यह नियम नहीं है। अन्य अर्थ में भी ज्योति शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जैसे कि (सूर्य दीपादि के नहीं रहने पर यह पुरुष अन्धकार में वाक् रूप ज्योति से ही स्थिति आदि व्यवहार करता है) और 'घृतं जुषताम्' घृत का सेवन पान करने वालों का मन ज्योतिः (प्रकाशक) होता है इत्यादि। इससे जो जिस किसी का प्रकाशक होता है वह सब ज्योति शब्द से कहा जाता है। और ऐसे होने पर चेतन स्वरूप ब्रह्म को भी सम्पूर्ण जगत के प्रकाश का हेतु होने से उस अर्थ मे ज्योति शब्द उचित है एवं (उस ब्रह्म के प्रकाशित रहते ही सब फिर प्रकाशता है। उसके प्रकाश से यह सब जगत प्रकाशता है। उस ब्रह्म की ही ज्योतियों की ज्योति रूप से और आयु अमृत रूप से देव सब उपासना करते हैं) इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्म ज्योति कहा जाता है। पहले जो यह कहा था कि विभु ब्रह्म की स्वर्ग सीमा नहीं हो सकती, सीमा युक्तत्व ब्रह्म में अनुचित है। वहाँ कहा जाता है कि विभु ब्रह्म की उपासना के लिए प्रदेश विशेष का परिग्रह स्वीकार, विरुद्ध नहीं होता है।

ननूक्तं—निष्प्रदेशस्य ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यत—इति नायं दोषः। निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसम्बन्धात्प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तः। तथाहि—आदित्ये चक्षुषि हृदये इति प्रदेशविशेषसम्बन्धीनि ब्रह्मण उपासनानि श्रूयन्ते एतेन 'विश्वतः पृष्ठेषु' इत्याधारबहुत्वमुपपादितम्। यदप्येतदुक्तम्–औष्ण्यघोषानुमिते कौक्षेये कार्ये ज्योतिष्यध्यस्यमानत्वात्परमपि दिवः कार्यं ज्योतिरेव--इति। तदप्ययुक्तम्। परस्यापि ब्रह्मणो नामादिप्रतीकत्ववत्कौक्षेयज्योतिष्प्रतीकत्वोपपत्तः। 'दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति तु प्रतीकद्वारकं दृष्टत्वं श्रुतत्वं च भविष्यति। यदप्यल्पफलश्रवणान्न ब्रह्मेति। तदप्यनुपपन्नम्। नहीयते फलाय ब्रह्माश्रयणीयम्, इयते नेति नियमहेतुरस्ति। यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसम्बन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेनोपदिश्यते, तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते। यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीकविशेषसम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येवोच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते--'अन्नादो वसुदानो विदन्त वसु य एवं वेद' (बृ० ४।४।२४) इत्याद्यासु श्रुतिषु। यद्यपि न स्ववाक्ये किञ्चिज्ज्योतिषो ब्रह्मलिङ्गमस्ति तथापि पूर्वस्मिन्वाक्ये दृश्यमानं ग्रहीतव्यं भवति। तदुक्तं सूत्रकारेण--'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति। कथं पुनर्वाक्यान्तरगतेन ब्रह्मसंनिधानेन ज्योतिःश्रुतिः स्वविषयात् प्रच्याव्य शक्या व्यावर्तयि-

तुम् । नैष दोषः । 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति प्रथमतरपठितेन यच्छब्देन सर्वनाम्ना द्युसम्बन्धात्प्रत्यभिज्ञायमाने पूर्ववाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि स्वसामर्थ्येन परामृष्टे सत्यर्थाज्ज्योतिःशब्दस्यापि ब्रह्मविषयत्वोपपत्तेः । तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ॥ २४ ॥

यदि कहो कि यह बात कही जा चुकी है कि निरवयव ब्रह्म के प्रदेश विशेष की कल्पना नहीं बन सकती है (तो कहा जाता है कि) यह दोष भी नहीं हैं क्योंकि निरवयव ब्रह्म का भी उपाधि विशेष के साथ सम्बन्ध से प्रदेश विशेष की कल्पना सिद्ध होती है, जैसे कि आदित्य, चक्षु, हृदय, इत्यादि प्रदेश विशेष सम्बन्धी ब्रह्म की उपासनायें सुनी जाती हैं। इन श्रुतियों से ही 'विश्वतः पृष्ठेषु' इत्यादि में वर्णित आधार बहुत्व का कथन भी उपासना के लिये उपपादित (सिद्ध) हो चुका । और जो यह भी कहा गया था कि उष्णता और नाद से अनुमित (ज्ञात) कुक्षिस्थ कार्य अग्नि में अध्यास का विषय होने से दिव (स्वर्ग) से पर भी कार्य अग्नि रूप ही ज्योति है, यह भी कथन अयुक्त है। परब्रह्म को भी नामादिप्रतीकत्व के समान कौक्षेय ज्योतिष्प्रतीकत्व (आधेय अवयववत्व) बन सकता है। और (दृष्ट है, श्रुत है इस प्रकार उपासना करे) इत्यादिविहित दृष्टत्व श्रुतत्व भी ब्रह्म को प्रतीक द्वारा होगा। जो यह कहा गया था कि अल्प फल होने से दृष्ट श्रुत ब्रह्म नहीं है। वह भी अयुक्त है, क्योंकि यह नियम नहीं है कि इतने फल के लिये ब्रह्म का आश्रयण करना चाहिये और इतने के लिये नहीं। जहाँ सब विशेष सम्बन्ध से रहित ब्रह्म का उपदेश रहता है, वहाँ एक स्वरूप ही मोक्ष फल अवगत (अनुभूत) होता है। और जहाँ गुण विशेष का सम्बन्ध युक्त वा प्रतीक विशेष का सम्बन्ध युक्त ब्रह्म उपदिष्ट होता है, वहाँ संसार विषयक ही उत्तममध्यमादि फल देखे जाते हैं। जैसे कि ईश्वर अन्न को खाने वाला वा देने वाला है, तथा वसु (हिरण्य को देने वाला है, इस प्रकार समझ कर जो उपासना करता है, वह धन पाता है) इत्यादि श्रुतियों में वर्णन है। यद्यपि ज्योति बोधक वाक्य में कोई लिंग नहीं है कि ज्योति की ब्रह्मता सिद्ध करे, तथापि पूर्व वाक्य में देखा गया है कि लिंग ग्रहण के योग्य है। इसलिये सूत्रकार ने कहा कि 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्'। शंका होती है कि वाक्यान्तर गत ब्रह्म के सन्निधान (सम्बन्ध) से ज्योतिः प्रत्यक्ष श्रुति अपने विषय से प्रच्युति के योग्य कैसे हो सकती है, उत्तर है कि (यदतः परो दिवो ज्योतिः) यहाँ सबसे प्रथम पठित सर्वनाम यत् शब्द से स्वसामर्थ्य द्वारा पूर्व वाक्य में कथित ब्रह्म के परामृष्ट (स्मृत) होने पर, और दिव के साथ सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञात होने पर फिर (अर्थात् ज्योति पद के साथ यत् की सामानाधिकरणता से) ज्योति शब्द को ब्रह्म विषयकत्व सिद्ध होता है। इससे यहाँ 'ज्योति' इस शब्द से ब्रह्म को समझना चाहिये ॥ २४ ॥

छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

छन्दोभिधानात्-न-इति, चेत्-न-तथा-चेतोऽर्पणनिगदात्-तथा-हि-दर्शनम् । ये दश पद इस सूत्र में हैं । और ब्रह्म तथा ज्योतिः पद का पूर्व से सम्बन्ध होता है । संक्षिप्त सूत्रार्थ है कि (पूर्वस्मिन् वाक्ये गायत्री नाम्नश्छन्दोऽभिधानाद् गायत्र्या एव पादत्रयाद्युक्तेस्तादृशवाक्यबलान्नात्र ज्योतिर्ब्रह्म भवितुमर्हति इति चेन्न तथा (तेन प्रकारेण) गायत्रीकथनमार्गेण तत्रानुगते ब्रह्मणि तद्वाच्ये चेतसोऽर्पणस्य कथनात्, तथा अन्यत्रापि दर्शनमस्त्येव (एतं ह्येव बह्वृचामहत्युक्थे मीमांसन्ते इत्यादि) पूर्व वाक्य में गायत्री नामक छन्द के कथन से तथा उसी के तीन पादादि की उक्ति से वैसे वाक्य के बल से यहाँ ज्योति ब्रह्म नहीं हो सकता है । यदि इस प्रकार कोई कहे तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस रीति से गायत्री के कथन द्वारा गायत्री में अनुगत उसका वाच्य ब्रह्म में चित्त का अर्पण कहा गया है, और इस प्रकार (एतं ह्येव) इत्यादि वचन देखा गया है, इससे पूर्ववाक्य में ब्रह्म का कथन है ॥ २५ ॥

अथ यदुक्तम्—पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये न ब्रह्माभिहितमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' (छा० ३।१।१२।) इति गायत्र्याख्यस्य छन्दसोऽभिहितत्वात्–इति । तत्परिहर्तव्यम् । कथं पुनश्छन्दोभिधानान्न ब्रह्माभिहितमिति शक्यते वक्तुं, यावता 'तावानस्य महिमा' इत्येतस्यामृचि चतुष्पाद्ब्रह्म दर्शितम् । नैतदस्ति । 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति गायत्रीमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदैर्व्याख्याय 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' तदेतदृचाभ्यनूक्तं 'तावानस्य महिमा' इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माद्ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात् । योऽपि तत्र 'तद्वै तद् ब्रह्म' (छा० ३।१२।५, ६) इति ब्रह्मशब्दः सोऽपि छन्दसः प्रकृतत्वाच्छन्दोविषय एव । 'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छा० ३।११।३) इत्यत्र हि वेदोपनिषदमिति व्याचक्षते, तस्माच्छन्दोभिधानान्न ब्रह्मणः प्रकृतत्वमिति चेत् ? नैष दोषः । 'तथा चेतोर्पणनिगदात्' तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं चित्तसमाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते–'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति । न ह्यक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं सम्भवति । तस्माद्यद्गायत्र्याख्यविकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म तदिह सर्वमित्युच्यते । यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति । कार्यं च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः—'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः, (ब्र० २।१।१४) इत्यत्र । तथान्यत्रापि विकारद्वारेण ब्रह्मण उपासनं दृश्यते–'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते, एतमग्नावध्वर्यव, एतं महाव्रते छन्दोगाः' (ऐ० आ० ३।२।३।१२) इति । तस्मादस्ति छन्दोभिधानेऽपि पूर्वस्मिन्वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम् । तदेव ज्योतिर्वाक्येऽपि परामृश्यते उपासनान्तरविधानाय ।

और पूर्व में जो कहा था कि पूर्व वाक्य में ब्रह्म नहीं कथित है, क्योंकि (गायत्री ही इस सब भूत स्वरूप है, और जो कुछ यह वस्तु है वह गायत्री है) इस प्रकार गायत्री नामक

छन्द कहा गया है, इस शंका की निवृत्ति करनी चाहिये। यहाँ कोई कहता है कि छन्द के कथन से ब्रह्म नहीं कहा गया है। यह कैसे कहा जा सकता है? जब कि (तावानस्य महिमा) इस ऋग् मन्त्र में चारपादयुक्त ब्रह्म दिखलाया गया है। पूर्वपक्षी कहता है कि उस मन्त्र में भी ब्रह्म नहीं दिखलाया गया है, क्योंकि (गायत्री वा इदं सर्वम्) गायत्री ही यह सर्वस्वरूप है। इस प्रकार गायत्री का आरम्भ करके फिर उसीका भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय, वाक् और प्राण के प्रभेद रूप से व्याख्यान करके उसी के विषय में कहा गया है कि—यह गायत्री चारपाद वाली छः प्रकार की है। एवं यह ऋग् मन्त्र से भी कहा गया है कि—तावानस्य महिमा। इस प्रकार यह मन्त्र भी उस व्याख्यात रूपवाली गायत्री में ही उदाहरण दिया गया है। फिर चारपाद वाले ब्रह्म को वह मन्त्र अकस्मात् कैसे कह सकता है? बिना कारण के वह ब्रह्म को नहीं कह सकता है। और जो वहाँ (यद्वैतद्ब्रह्म इस वाक्य में ब्रह्म शब्द है उसके बल से भी मन्त्र ब्रह्म को नहीं कह सकता है, क्योंकि छन्द का प्रकरण होने से वह ब्रह्म शब्द छन्द विषयक ही है। (य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद) इस वाक्य में ब्रह्मोपनिषदं का वेदोपनिषद इस प्रकार व्याख्यान करते हैं। इससे गायत्री आदि रूप वेद भी ब्रह्म शब्द का अर्थ होता है। उक्त वाक्य का अर्थ है कि—'जो कोई इस वेद के रहस्यरूप मधुविद्या को कथित रीति से जानता है उसको उदयादि रहित ब्रह्म की प्राप्ति होती है।' इस पूर्वोक्त हेतु से पूर्व प्रकरण में वेदरूप छन्द के कथन से ब्रह्म को पूर्व प्रकृतत्व नहीं है। यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है। यद्यपि गायत्री का कथन पूर्व प्रकरण में ठीक ही है, तो भी उस गायत्री के द्वारा ब्रह्म में चित्त का अर्पण भी कहा गया है; इससे ब्रह्म भी प्रकृत है। क्योंकि इस ब्राह्मण वाक्य से (गायत्री नामक छन्द द्वारा) उसमें व्यापक ब्रह्म में चित्त का समाधान रूप अर्पण कहा जाता है (गायत्री ही यह सब स्वरूप है)। गायत्री पद से यदि तदनुगत ब्रह्म को लक्षित नहीं माना जाय तो अक्षरों के सन्निवेश (रचनाविशेष) मात्ररूप गायत्री को सर्वात्मकता सम्भव नहीं हो सकती है। जिससे गायत्री नामक कार्य में अनुगत जगत का कारण जो ब्रह्म वही यहाँ सर्वं स्वरूप कहा जाय। जैसे कि (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) इस श्रुति म सर्वं स्वरूप ब्रह्म कहा जाता है। और कार्य वस्तु, उपादान कारण से भिन्न नहीं होती है यह आगे (तदनन्यत्वम्) इत्यादि सूत्र में कहेंगे। इसी प्रकार अन्यत्र भी कार्य द्वारा ब्रह्म की उपासना देखी गई है कि इसी परमात्मा की बह्वृच (ऋग्वेदी) महान् उक्थ (शस्त्र) में उपासना करते हैं। इसी की उपासना यजुर्वेदी अग्नि में करते हैं और सामवेदी महाव्रत रूप क्रतु में उपासना करते हैं। जिससे छन्द का कथन होते हुए भी पूर्व वाक्य में ब्रह्म निर्दिष्ट है, वही ब्रह्म उपासनान्तर के विधान के लिए ज्योतिबोधक वाक्य में भी परामृष्ट (स्मृत) होता है।

अपर आह—साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते संख्यासामान्यात्, यथा गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैस्तथा ब्रह्म चतुष्पात्। तथान्यत्रापि

छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे संख्यासामान्यात् प्रयुज्यमानो दृश्यते। तद्यथा—'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' इत्युपक्रम्याह 'सैषा विराडन्नादी' (छा० ४।३।८) इति। अस्मिन् पक्षे ब्रह्मैवाभिहितमिति न छन्दोभिधानम्। सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन् वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म ॥ २५ ॥

यहाँ अन्य कोई कहते हैं कि गायत्री शब्द लक्षणा द्वारा ब्रह्म का बोधक नहीं है किन्तु गौणी वृत्ति से साक्षात् ही गायत्री शब्द द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन होता है। यहाँ पाद संख्या की तुल्यता गुण है। जैसे षडक्षर वाले पादों से गायत्री चारपाद वाली होती है, वैसे ही ब्रह्म भी चारपाद वाला है। इसी प्रकार अन्यत्र भी छन्दवाचक शब्द संख्या की तुल्यता से अर्थान्तर में प्रयुक्त देखा जाता है। जैसे कि संवर्गविद्या में कहा गया है कि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और जल ये वायु में लीन होते हैं। इससे अपने स्वरूप सहित वायु पञ्चात्मक है और वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन प्राण में लीन होते हैं, इससे प्राण भी पञ्चात्मक है। एवं वे अग्नि आदि रूप पाँच अन्य हैं, तथा यागादि रूप पाँच अन्य हैं, वे दोनों पाँच-पाँच मिलकर दश हो जाते हैं और दश होने से कृत (सतयुग) और द्यूत विशेष हो जाते हैं, क्योंकि कृत की चार संख्या, त्रेता की तीन संख्या, द्वापर की दो संख्या और कलि की एक संख्या (अंक) समझी जाती है। वहाँ कृत दशात्मक होता है (दशांकयुक्त समझा जाता है) क्योंकि चार के अन्दर तीन, तीन के अन्दर दो और दो के अन्दर एक प्रविष्ट होता है, इससे चार तीन सात, सात दो नौ और नौ एक दश हो जाता है, इससे वायु आदि और प्राणादि भी दश होकर कृत कहाते हैं, और इन वायु आदि दश का उपक्रम करके कहा गया है कि यही दश अक्षर वाला विराट् नामक छन्द है जो अन्नादी है। इस पक्ष में भी गायत्री पद से ब्रह्म ही कहा गया है ॥ २५ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति पूर्वस्मिन् वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मेति, यतो भूतादीन् पादान् व्यपदिशति। भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निर्दिश्याह—'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इति। नहि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य छन्दसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते। अपि च ब्रह्मानाश्रयणे नेयमृक्संबध्यत—'तावानस्य महिमा' इति। अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाभिधीयते, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।५) इति सर्वात्मत्वोपपत्तेः। पुरुषसूक्तेऽपीयमृग्ब्रह्मपरतयैव समाम्नायते। स्मृतिश्च ब्रह्मण एवंरूपतां दर्शयति—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भग० १०।४२) इति। 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३।१२।७) इति च निर्देश एवंसति मुख्यार्थ उपपद्यते। 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३।१३।६) इति च हृदयसुषिषु ब्रह्मपुरुष (१) श्रुतिर्ब्रह्मसम्बन्धि-

तायां विवक्षितायां सम्भवति । तस्मादस्ति पूर्वस्मिन् वाक्ये ब्रह्म प्रकृतम् । तदेव ब्रह्म ज्योतिर्वाक्ये द्युसम्बन्धात्प्रत्यभिज्ञायमानं परामृश्यत इति स्थितम् ॥ २६ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी (गायत्री द्वारा तदनुगत ब्रह्मनिर्दिष्ट है) इसी प्रकार पूर्व वाक्य में ब्रह्म प्रकृत (प्रस्तुत) है यह स्वीकार करने योग्य है, जिससे भूतादि रूप पादों का कथन श्रुति करती है । जैसे कि भूत, पृथिवी, शरीर, और हृदय का निर्देश करके कहती है कि (यह पूर्वोक्त चार पाद वाली षड्विध गायत्री है) वहाँ ब्रह्म का आश्रयण (स्वीकार) नहीं करने पर केवल छन्दरूप गायत्री के भूतादि पाद नहीं सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु ब्रह्म के ग्रहण करने पर यह कथन युक्त होता है । एवं ब्रह्म के अनाश्रयण करने पर (तावानस्य महिमा) यह ऋग्मन्त्र भी समन्वित नहीं होगा, क्योंकि इस ऋग्मन्त्र से मुख्य तात्पर्य द्वारा ब्रह्म कहा जाता है (इसके सब भूत एक पाद हैं, अमृत तीन पाद दिव्य स्वरूप में हैं) इस प्रकार सर्वात्मत्व की सिद्धि से वह तात्पर्य समझा जाता है । पुरुष सूक्त में भी यह मन्त्र ब्रह्मपरक ही पढ़ा गया है । एवं स्मृति भी इस प्रकार ब्रह्म की सर्वात्मकता दिखलाती है कि (मैं एक अंश से इस सब जगत् का व्याप्त-धारण करके स्थिर हूँ) और इस प्रकार पूर्व वाक्य में ब्रह्म का कथन मानने पर (यद्वै तद् ब्रह्म) यह कथन भी मुख्यार्थक सिद्ध होता है, और (ते वा एते ब्रह्म पुरुषाः) इस प्रकार हृदय के छिद्रों में ब्रह्म पुरुषत्व का श्रवण भी उसे ब्रह्म सम्बन्धी मानने पर सम्भव होता है, अर्थात् गायत्री नामक ब्रह्म की उपासना जब हृदय में मानी जाती है, तब हृदय के पूर्वादि छिद्रों में ब्रह्म के द्वारपालरूप प्राणादि वायु सिद्ध होते हैं, उनका कथन सम्भव है, अन्यथा नहीं । जिससे पूर्ववाक्य में ब्रह्म प्रस्तुत है, वही 'ब्रह्म ज्योतिः' वाक्य में 'दिव' पद के सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञात स्मृत होता हुआ परामृष्ट (विचारित) होता है, यह स्थित हुआ ॥ २६ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

उपदेश भेदात्-न-इति-चेत्-न-उभयस्मिन्-अपि-अविरोधात् । ये आठ पद इस सूत्र में हैं । ब्रह्म और ज्योति का पूर्व से सम्बन्ध है । संक्षिप्तार्थ यह है कि (पूर्वापरवाक्ययोः सप्तमी-पञ्चमी-विभक्ति-भेदेनोपदेशभेदात् तेन च विरुद्धार्थत्वाज्ज्योतिर्वाक्ये ब्रह्म न परामृश्यते, इति चेत्—उच्यते, तन्नवक्तव्यम्—कुतः, उभयस्मिन्नपि विरोधाभावात्, तादृश-प्रयोगस्यैकार्थत्वेऽपि लोके दर्शनादिति) पूर्ववाक्य में सप्तमी और उत्तरवाक्य में पञ्चमीविभक्ति के भेद से उपदेश में भेद है । जिसलिए विरुद्धार्थकता है, इसलिए ज्योति वाक्य में ब्रह्म का परामर्श नहीं होता है । यदि किसी से यह बात कही जाती हो, तो वह कहने योग्य नहीं है, क्योंकि दोनों वाक्यों में विरुद्धार्थता का अभाव है । इस प्रकार विभक्ति भेद युक्त प्रयोग लोक में एकार्थ में भी देखा जाता है । अर्थात् दोनों

विभक्तियों में से एक विभक्ति लक्षणा द्वारा दूसरी विभक्ति के अर्थ को कहती है, अतः अविरोध हो जाता है, इत्यादि ।

यदप्येतदुक्तं पूर्वत्र 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा इह पुनः 'अथ यदतः परो दिवः' इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन, तस्मादुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्तीति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः। उभयस्मिन्नप्यविरोधात्, उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोपदेशे न प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते । यथा लोके वृक्षाग्रसंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते-वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन-इति च । एवं दिव्येव सद्ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते ।

जो यह भी कहा था कि प्रथम (त्रिपादस्यामृतं दिवि) इस वाक्य में सप्तमी विभक्ति से स्वर्ग ब्रह्म के आधार रूप में कहा गया है, और (अथ यदतः परो दिवः) इस वाक्य में पञ्चमी विभक्ति से स्वर्ग को ज्योति की मर्यादा (सीमा) रूप से कहा गया है, जिससे उपदेश के भेद से उस ब्रह्म के स्वर्ग के साथ सम्बन्ध मात्र से यहाँ ज्योति वाक्य में प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है कि वही ब्रह्म ज्योति शब्द का अर्थ है, इस शंका का परिहार (निवारण) कर्तव्य है । इसलिए यहाँ कहा जाता है कि यह दोष यहाँ नहीं है, क्योंकि दोनों वाक्यों की विभक्तियों में विरोध नहीं होने से प्रत्यभिज्ञा में भी विरोध नहीं है, सप्तम्यन्त पञ्चम्यन्त दोनों उपदेशों में स्वर्ग के सम्बन्ध से होने वाला प्रत्यभिज्ञान विरुद्ध नहीं होता है । उसमें कोई विघ्न नहीं उपस्थित होता है, जैसे लोक में वृक्षाग्र के साथ सम्बन्ध वाला भी श्येन पक्षी दो प्रकार से उपदिष्ट देखा जाता है कि वृक्षाग्र में श्येन है वृक्षाग्र से परे श्येन है, इसी प्रकार स्वर्ग में ही रहता हुआ ब्रह्म स्वर्ग से परे है इस प्रकार कहा जाता है, अर्थात् यहाँ पञ्चमी विभक्ति भी लक्षणा से आधार को ही कहती है ।

अपर आह—यथा लोके वृक्षाग्रेणासंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्यनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च एवं च दिवः परमपि सद्ब्रह्म दिवीत्युपदिश्यते । तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभिज्ञानम् । अतः परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

यहाँ दूसरे लोग कहते हैं कि वृक्षाग्र से असम्बद्ध ऊपर उड़ता हुवा श्येन भी दोनों प्रकार से उपदिश्यमान देखा जाता है कि वृक्ष के अग्र भाग में श्येन है, वृक्ष के अग्र भाग से परे श्येन है । इसी प्रकार वस्तुतः स्वर्ग से परे होता हुआ भी ब्रह्म स्वर्ग में है ऐसा कहा जाता है । इस पक्ष में सप्तमी विभक्ति लक्षणा से पञ्चमी विभक्ति के अर्थ को कहती है, वस्तुतः असंगादि होने से स्वर्गादि से परे है, और विभु होने से सब में है भी, जिससे पूर्व कथित ब्रह्म का यहाँ, ज्योति वाक्य में प्रत्यभिज्ञान होता है । इसलिए यहाँ ब्रह्म ही ज्योति शब्द का अर्थ है, यह सिद्ध हुआ ॥ २७ ॥

प्रतर्दनाधिकरण (११)

प्राणोऽस्मीत्यत्र वाय्विन्द्रजीवब्रह्मसु संशयः।
चतुर्णां लिङ्गसद्भावात्पूर्वपक्षस्त्वनिर्णयः ॥ १ ॥
ब्रह्मणोऽनेकलिङ्गानि तानि सिद्धान्यनन्यथा।
अन्येषामन्यथासिद्धेर्व्युत्पाद्यं ब्रह्म नेतरत् ॥ २ ॥

प्राणोऽस्मि, इत्यादि वाक्यों में, प्राणवायु, इन्द्र, जीव, और ब्रह्म चारों के लिङ्ग रहने से चारों विषयक संशय होता है कि इन चारों में से मुख्य प्रतिपाद्य वस्तु यहाँ कौन है ? पूर्वपक्ष होता है कि अनेक के अनेक लिङ्ग रहने हो से यहाँ निर्णय नहीं हो सकता है। सिद्धान्त है कि ब्रह्म के अनेक लिङ्ग हैं, वह अन्यथा सिद्ध नहीं है, प्राणादि के साथ उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता है, और प्राणादि के लिङ्ग अन्यथा सिद्ध हैं, उनका ब्रह्म के साथ सम्बन्ध हो सकता है, इसलिए यहाँ मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म है अन्य नहीं ॥ १–२ ॥

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा) इत्यत्र, तथा—ज्योतिवत् प्राणशब्दोऽपि ब्रह्मवाचकः, कस्माद् ब्रह्मधर्मानुगमात्, ब्रह्मधर्मसम्बन्धात्। पदानां समन्वयावगमात् तथैव प्रतीतेरिति) प्राणोऽस्मि, इत्यादि वाक्य में ज्योति वाक्यके समान प्राण शब्द भी ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि ब्रह्म के धर्मों का सम्बन्ध है। और पदों का भी ब्रह्म के साथ सम्यक् अन्वय है, जिससे ब्रह्म धर्म का सम्बन्ध ज्योति के समान ही प्रतीत होता है इत्यादि।

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्याम्नाता। तस्यां श्रूयते—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति। तथोत्तरत्रापि 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३।१,२,३) इति। तथा 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि, अन्ते च 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' (कौ० ३।८) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिह प्राणशब्देन वायुमात्रमभिधीयत उत देवतात्मोत जीवोऽथवा परं ब्रह्मेति। ननु 'अत एव प्राणः' इत्यत्र वर्णितं प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वम्। इहापि च ब्रह्मलिङ्गमस्ति—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि, कथमिह, पुनः संशयः संभवति। अनेकलिङ्गदर्शनादिति ब्रूमः। न केवलमिह ब्रह्मलिङ्गमेवोपलभ्यते। सन्ति हीतरलिङ्गान्यपि। 'मामेव विजानीहि' (कौ० ३।१) इतीन्द्रस्य वचनं देवतात्मलिङ्गम् इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति प्राणलिङ्गम्

'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गम् । अत उपपन्नः संशयः । तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राण इति प्राप्त उच्यते—

कौषीतकि नामक ब्राह्मण भाग रूप उपनिषद् में इन्द्र और प्रतर्दन नामक राजा की आख्यायिका (कथा विशेष) है जहाँ (प्रतर्दन नाम से प्रसिद्ध दिवोदास का पुत्र युद्ध और अन्य पुरुषार्थ के द्वारा पुण्य विशेष से इन्द्र के प्रिय धाम स्वर्ग में गया) इस प्रकार आरम्भ करके वह कथा कही गई है, और उस कथा में सुना जाता है कि इन्द्र ने प्रसन्न होकर उसे वर देने के लिये कहा, तो प्रतर्दन ने कहा मनुष्य के लिये जो आप अत्यन्त हित समझते हों वह वर दें, तब इन्द्र बोले कि (प्रज्ञात्मा प्राण मैं हूँ; उस मुझ को तुम आयु अमृत इस प्रकार समझ कर मेरी उपासना करो) फिर उसके आगे कहा है कि (प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीर को अभिमानपूर्वक ग्रहण करके शयनाशनादि से उठाता है, अन्य इन्द्रियों में यह शक्ति नहीं है) और अन्त में कहा है कि (यह प्राण रूप ही प्रज्ञात्मा आनन्द स्वरूप अजर और अमृत है) इत्यादि । यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ प्राण शब्द से वायु मात्र कहा जाता है, अथवा देवता स्वरूप इन्द्र या जीव वा परब्रह्म कहा जाता है । यदि कहा जाय कि (अत एव प्राणः) इस सूत्र में ब्रह्म के लिङ्ग से प्राण शब्द के ब्रह्मपरत्व का वर्णन हो चुका है, और यहाँ भी (आनन्दोऽजरोऽमृतः) इत्यादि ब्रह्म का लिंग है ही, फिर यहाँ संशय कैसे हो सकता है, तो उत्तर है कि अनेक लिंगों के देखने से फिर संशय होता है । यहाँ केवल ब्रह्म का ही लिंग नहीं उपलब्ध होता है, किन्तु अन्य के लिंग भी हैं (मुझे ही समझो) यह इन्द्र का वचन देवतात्मा का लिंग है । और (इस शरीर का परिग्रहण करके इसको उठाता है) यह प्राण का लिंग है (वाक् को जानने की इच्छा नहीं करे, किन्तु वक्ता को समझे) इत्यादि जीव का लिंग है, इससे संशय सिद्ध होता है । संशय होने पर पूर्वपक्ष हुआ कि प्रसिद्धि से वायु प्राण है ।

प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम् । कुतः ? तथानुगमात् । तथाहि—पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते । उपक्रमे तावत् 'वरं वृणीष्व इतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनः परमं पुरुषार्थं वरमुपचिक्षेप—'त्वमेव मे वृणीष्व' यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति । तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात् नह्यन्यत्र परमात्मज्ञानाद्धिततमप्राप्तिरस्ति 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथा 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया' (कौ० ३।१) इत्यादि च ब्रह्मपरिग्रहे घटते । ब्रह्मविज्ञानेन हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे (मु० २।२।८) इत्याद्यासु श्रुतिषु प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मपक्ष एवोपपद्यते । नह्यचेतनस्य वायोः प्रज्ञात्मत्वं सम्भवति । तथोपसं-

हारेऽपि—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यानन्दत्वादीनि न ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवन्ति। 'स न साधुना कर्मणा भूयान् भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते' इति; 'एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः' (कौ० ३।८) इति च। सर्वमेतत्परस्मिन् ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते न मुख्ये प्राणे। तस्मात्प्राणो ब्रह्म ॥ २८ ॥

प्राण शब्द का अर्थ यहाँ ब्रह्म समझना चाहिये क्योंकि वैसा ही अनुगम (पदों का सम्बन्ध) है। इसलिये वैसा ही दिखलाया जाता है कि वाक्य के पूर्वापरसहित वाक्य को विचारने समझने से पदार्थों का समन्वय ब्रह्मप्रतिपादनपरक ही उपलब्ध होता है। आरम्भ में प्रथम इन्द्र ने कहा कि (वर मांगो) इस प्रकार इन्द्र से कहे जाने पर, उस प्रतर्दन ने परमपुरुषार्थ रूप वर का उपक्षेप (प्रक्षेप) किया, अर्थात् इन्द्र के ही प्रति अर्पण किया, मांगने का भार अपने शिरसे हटाया, और इन्द्र से कहा कि मैं क्या जानता हूँ, कि मेरे लिये वर (हित) क्या है, आप सर्वज्ञ हो (आप ही जिसको मनुष्य के लिये अत्यन्त हित समझते हो वह मेरे लिये देना स्वीकार करो) फिर उस प्रतर्दन के लिये अत्यन्त हित रूप से उपदिश्यमान (इन्द्र से उपदिष्ट) प्राण परमात्मा कैसे नहीं होगा। क्योंकि परमात्मज्ञान के बिना अन्यत्र कहीं भी हिततम की प्राप्ति नहीं होती है, यह बात (उस ब्रह्मात्मा को जान करके ही अतिमृत्यु मोक्ष पाता है; अन्य मार्ग मोक्ष के लिए नहीं है इत्यादि) श्रुत्यर्थ से सिद्ध होती है। इसी प्रकार (वह जो कोई पुरुष मुझ आतमा को प्रत्यक्ष जानता है, उस विद्वान् का मोक्ष रूप लोक किसी कर्म से भी हिंसित नष्ट नहीं होता है, न चोरी से न गर्भ हत्या बालहत्या से नष्ट होता है) इत्यादि कथन भी ब्रह्म का प्राण शब्द से ग्रहण करने पर संघटित होता है। क्योंकि ब्रह्म विज्ञान से ही सब कर्मों का नाश (उस परावर परमात्मा के अपरोक्ष होने पर इस ज्ञानी के कर्म नष्ट हो जाते हैं) इत्याद्यर्थक श्रुतियों में प्रसिद्ध है। और प्रज्ञात्मत्व (प्रकृष्ट ज्ञान रूपत्व) तो ब्रह्म का स्वीकार पक्ष में ही युक्त हो सकता है, अचेतन वायु को प्रज्ञात्मत्व का सम्भव नहीं है। इसी प्रकार उपसंहार अन्त) में श्रुत (आनन्द अजर अमृत) ये विशेषण सब ब्रह्म से अन्यत्र संबन्ध के योग्य नहीं हैं। और (वह पुण्य कर्म से बड़ा नहीं होता है, पाप कर्म से छोटा नहीं होता है, यही उससे पुण्य करवाता है कि जिसको इन लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है, एवं वही उससे पाप कर्म कराता है जिसको इन लोकों से नीचे ले जाना चाहता है। यही लोकाऽधिपति है, यही लोकपाल है) इत्यादि। प्राण शब्द के अर्थ रूप से परब्रह्म के स्वीकार करने पर ये वर्णित सभी विशेषण गुण सम्बन्ध के योग्य संगत होते हैं, मुख्य प्राण में संगत नहीं हो सकते, जिससे प्राण शब्दार्थ ब्रह्म है ॥ २८ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२९॥

संक्षिप्तार्थ है कि (वक्तुरिन्द्रस्य देवतात्मन उपदेशात्प्राणशब्दार्थो देव एवास्ति चेत्कश्चिद् ब्रूते तन्न युक्तं हि (यतः) अस्मिन् प्रकरणेऽध्यात्मबाहुल्यमुपलभ्यते तस्माद् ब्रह्मपरतैव युक्ता, वक्ता रूप इन्द्र के देवता स्वरूप के उपदेश से प्राण शब्द का अर्थ शरीरी देव ही है, इस प्रकार यदि कोई कहता हो तो वह कहना उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकरण में अध्यात्म सम्बन्ध की बहुलता से इसे ब्रह्मपरता ही उचित है ॥

यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति, तदाक्षिप्यते—न परं ब्रह्म प्राणशब्दम्। कस्मात्? वक्तुरात्मोपदेशात्। वक्ता हीन्द्रो नाम कश्चिद्विग्रहवान् देवताविशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनायाचचक्षे—'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यहङ्कारवादेन, स एष वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं ब्रह्म स्यात्। नहि ब्रह्मणो वक्तृत्वं सम्भवति, 'अवागमनाः' (बृह० ३।८।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा विग्रहसम्बन्धिभिरेव ब्रह्मण्यसम्भवद्भिर्धर्मैरात्मानं तुष्टाव— 'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इत्येवमादिभिः। प्राणत्वं चेन्द्रस्य बलवत्त्वादुपपद्यते, 'प्राणो वै बलम्' इति हि विज्ञायते बलस्य चेन्द्रो देवता प्रसिद्धा। 'या च काचिद्बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् इति हि वदन्ति'[१]। प्रज्ञात्मत्वमप्यप्रतिहतज्ञानत्वाद्देवतात्मनः सम्भवति, अप्रतिहतज्ञाना देवता इति हि वदन्ति। निश्चिते चैवं देवतात्मोपदेशे हिततमत्वादिवचनानि यथासम्भवं तद्विषयाण्येव योजयितव्यानि। तस्माद्वक्तुरिन्द्रस्यात्मोपदेशान्न प्राणो ब्रह्मेत्याक्षिप्य प्रतिसमाधीयते—

पहले जो कहा गया है कि प्राण ब्रह्म है, उसका आक्षेप (निन्दा-निषेध) किया जाता है कि प्राण शब्द का अर्थ परब्रह्म नहीं है, क्योंकि वक्ता के आत्मा का उपदेश है। यहाँ इन्द्र नाम से प्रसिद्धि शरीरधारी कोई देवता विशेष रूप वक्ता ने प्रतर्दन के प्रति अपने आत्मा को जानने के लिए कहा कि (मुझे ही जानो) और इस प्रकार उपक्रम करके अहं (मैं) इस प्रकार के अहंकार का कथनपूर्वक कहा गया कि (मैं ही प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ) तो इस प्रकार वक्ता इन्द्र का आत्मा रूप कहा गया प्राण ब्रह्म कैसे हो सकता है, और ब्रह्म को वक्तृत्व भी नहीं सम्भव है, क्योंकि (अवागमना) वाग् मन रहित है, इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं। एवं ब्रह्म में असम्भव देह सम्बन्धी धर्म द्वारा ही इन्द्र ने अपनी स्तुति की है कि (मैंने तीन शिर वाले त्वष्टा के पुत्र को मार डाला और सत् शास्त्र के अध्ययनादि से रहित यतियों को मारकर जंगली कुत्तों को दे दिया) इत्यादि। बली होने से इन्द्र को प्राणता सिद्ध होती है (प्राण ही बल है) ऐसा समझा जाता है, और बल का देवता इन्द्र प्रसिद्ध है। लोक में जिस किसी ने बल का काम किया है वह इन्द्र का ही कर्म है इस प्रकार लोग कहते हैं। और अप्रतिहत ज्ञान

१ 'काचन'—'पठन्ति इति प्रा० मु०पु० पाठः रत्नप्रभाकाराणां सम्मतो बोध्यः।

होने से प्रज्ञात्मत्व भी देवतात्मा को सम्भव है। क्योंकि अप्रतिहत ज्ञान वाला देव होता है ऐसा लोग कहते हैं। इस प्रकार देवात्मा के उपदेश निश्चित होने पर, हिततमत्वादि वचनों को भी सम्भव के अनुसार देवविषयक सम्बाध योजना करना ही युक्त है। जिससे वक्ता इन्द्र के आत्मा के उपदेश होने से प्राण ब्रह्म नहीं है, इस प्रकार आक्षेप करके सिद्धान्त का समर्थन रूप प्रतिसमाधान किया जाता है।

'अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्' इति। अध्यात्मसम्बन्धः प्रत्यगात्मसम्बन्धस्तस्य भूमा बाहुल्यमस्मिन्नध्याय उपलभ्यते। 'यावद्धयस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः प्रत्यग्भूतस्यायुष्प्रदानोपसंहारयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति, न देवताविशेषस्य पराचीनस्य। तथास्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसमित्यध्यात्ममेवेन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति। तथा 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३।३) इति, 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इति चोपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः' 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इति विषयेन्द्रियव्यवहारानभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति। 'स म आत्मेति विद्यात्' इति चोपसंहारः प्रत्यगात्मपरिग्रहे साधुर्न पराचीनपरिग्रहे। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० २।५।१९) इति च श्रुत्यन्तरम्। तस्मादध्यात्मसम्बन्धबाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेशः ॥ २९ ॥

इस अध्याय में अध्यात्म सम्बन्ध की बहुलता उपलब्ध होती है अर्थात् देह में प्राप्त अन्तरात्मा सम्बन्धी धर्मों का बहुत उपलम्भ (ज्ञान) इस अध्याय में होता है, जैसे कि (जब तक इस शरीर में प्राण बसता है तब तक आयु (जीवन) है) यहाँ प्रत्यक् स्वरूप प्रज्ञात्मा प्राण की आयु प्रदान और उपसंहार (मृत्यु) में स्वतन्त्रता श्रुति दिखलाती है, बाह्य देवता विशेष की स्वतन्त्रता नहीं दिखलाती है। इसी प्रकार प्राण के रहने ही पर निःश्रेयस (इन्द्रियों की स्थिति रूप कल्याण) होता है, इस रीति से इन्द्रियों के आश्रय अध्यात्म प्राण को ही दिखलाती है। एवं प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीर को ग्रहण करके उठाता है। वाक् को जानने की इच्छा नहीं करे वक्ता को समझे। यह आरम्भ करके कहा गया है कि (लोक में जैसे रथ के आरों में नेमी अर्पित (प्रोत) स्थित रहती है और नाभी में आरा अर्पित रहते हैं इसी प्रकार भूत मात्रा (शब्दादि विषय और उनके आश्रय पाँचों भूत) प्रज्ञामात्रा (इन्द्रियों) में अर्पित हैं और प्रज्ञा मात्रा प्राण में अर्पित है। इसलिये यह प्राण ही प्रज्ञात्मा आनन्द अजर अमृत है) इस प्रकार विषय इन्द्रिय के व्यवहारों से अनभिभूत सर्वाश्रय आनन्दादि स्वरूप प्रत्यगात्मा का ही श्रुति अन्त में उपसंहार करती है। और (वह प्राण मेरा आत्मा है) यह भी उपसंहार प्रत्यगात्मा के परिग्रहण करने पर संगत ठीक

होगा, बाह्य वस्तु के ग्रहण करने पर नहीं (यह आत्मा ब्रह्म है, सबका अनुभवकर्ता है) इस प्रकार दूसरी श्रुति भी कहती है। जिससे अध्यात्मसम्बन्ध की बहुलता से यह ब्रह्मोपदेश ही देवतात्मा का उपदेश नहीं है ॥ २९ ॥

कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेशः ?

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

उक्तार्थ में शंका होती है कि यदि प्रतर्दन के प्रति इन्द्रदेव ने उक्त रीति से ब्रह्म का ही उपदेश दिया है, तो वक्ता इन्द्र ने अपनी आत्मा का उपदेश कैसे किया है कि (मामेव विजानीहि) मुझे ही जानो, तब कहा जाता है कि—'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो-वामदेववत्'।

इन्द्रो नाम देवतात्मा स्वमात्मानं परमात्मत्वेनाहमेव परं ब्रह्मेत्यार्षेण दर्शनेन यथाशास्त्रं पश्यन्नुपदिशति स्म—'मामेव विजानीहि' इति। यथा तद्वत्-त्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च इति तद्वत्, 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' (बृ० १।४।१०) इति श्रुतेः। यत्पुनरुक्तं-'मामेव विजानीहि' इत्युक्त्वा विग्रहधर्मैरिन्द्र आत्मानं तुष्टाव त्वाष्ट्रवधादिभिरिति-तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—न त्वाष्ट्रवधादीनां विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थत्वेनोपन्यासः यस्मादेवंकर्माहं तस्मान्मां विजानीहि इति, कथं तर्हि ? विज्ञानस्तुत्यर्थत्वेन। यत्कारणं त्वाष्ट्रवधादीनि साहसान्युपन्यस्य परेण विज्ञानस्तुतिमनुसन्दधाति-'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते' इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—यस्मादीदृशान्यपि क्रूराणि कर्माणि कृतवतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमापि न हिंस्यते, स योऽन्योऽपि मां वेद न तस्य केनचिदपि कर्मणा लोको हिंस्यत इति। विज्ञेयं तु ब्रह्मैव 'प्राणो-ऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति वक्ष्यमाणम्। तस्मात् ब्रह्मवाक्यमेतत् ॥ ३० ॥

इन्द्र नाम से प्रसिद्ध देवतात्मा ने अपनी आत्मा (स्वरूप) को आर्ष (जन्मान्तरीय श्रवणादि संस्कारज) दर्शन (ज्ञान) से शास्त्र के अनुसार मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकार परमात्म स्वरूप से देखते हुए प्रतर्दन के प्रति आत्मदृष्टि से ही उपदेश दिया कि मेरे सत्य प्रत्यगात्मा को समझो कि जो परमात्म स्वरूप है। जिसे कि उस ब्रह्मात्मा को अपरोक्षात्म स्वरूप से देखते हुए वामदेव ऋषि ने समझा, इस अनुभव को प्राप्त किया कि 'मैं मनु हुआ, मैं सूर्य हुआ' (अर्थात् अपने को सर्वात्म स्वरूप समझा) वैसे-ही समझ कर इन्द्र ने उपदेश दिया क्योंकि श्रुति कहती है कि (देवताओं में जिस-जिस देव ने उस ब्रह्म को समझा वह अवश्य उस ब्रह्म का रूप हो गया) और जो पहले कहा था कि (मुझे ही जानो, ऐसा कहकर इन्द्र ने देह के धर्म त्वाष्ट्र (विश्वरूप) के वधादि द्वारा अपनी आप स्तुति (प्रशंसा) की है, उसका परिहार करना चाहिये)

यहां कहा जाता है कि त्वाष्ट्रवधादि का कथन विज्ञेय (जानने योग्य) इन्द्र की स्तुति के लिये नहीं है, अर्थात् उसका यह तात्पर्य नहीं है कि जिससे मैं इस प्रकार के कर्मों को करने वाला हूं इससे मुझे समझो। यदि कहो कि उसका क्या तात्पर्य है ? तो सुनो, उस त्वष्ट्पुत्रवधादि का कथन विज्ञान की स्तुति के लिए है, जिस कारण से त्वाष्ट्रवधादि रूप साहसों (दुष्कर कर्मों) का कथन करके वहां के आगे के वाक्य से विज्ञान की स्तुति का ही अनुसन्धान (सम्बन्ध) किया गया है कि (उस मुझ साहसी का वहां एक लोम भी नहीं हिंसित हुआ) जो कोई मुझे जानता है आत्मानुभवी होता है उसके भी किसी कर्म से लोक (मोक्ष) नहीं हिंसित होता इत्यादि। इससे यह साफ कहा गया है कि जिस कारण से इस प्रकार के क्रूर कर्मों को करने वाला होने पर भी ब्रह्म स्वरूप होने से मेरा एक लोम भी नहीं हिंसित होता है, इसी प्रकार जो अन्य कोई भी मुझे समझता है उसके भी किसी कर्म से लोक हिंसित नहीं होता है। ज्ञान की स्तुति होते भी विज्ञेय (जानने योग्य) ब्रह्म ही है, क्योंकि (मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूं) इस प्रकार वक्ष्यमाण (आगे का वाक्य है, जिससे यह ब्रह्मबोधक वाक्य है ॥ ३० ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्या-दाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

'जीवमुख्यप्राणलिगात्–न–इति–चेत्–न–उपासात्रैविध्यात्–आश्रितत्वात्–इह–तद्योगात्'। ये नौ पद इस सूत्र में हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (जीवस्य मुख्यप्राणस्य च लिंगात्–लिंगस्य सत्त्वान्न केवलब्रह्मपदमिदं वाक्यं भवितुमर्हतीति कश्चिद् यद्याह, तन्न युक्तं तथासति ह्युपासनायास्त्रैविध्यप्रसंगात्, श्रुत्यन्तरे ब्रह्मलिंगवशात्प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वस्वीकारादिहापि च ब्रह्मलिंगयोगाद्, ब्रह्मपरत्वमेव वाक्यस्येति) जीव और मुख्य प्राण के भी लिंग रहने से यह वाक्य केवल ब्रह्मपरक नहीं हो सकता है। यदि इस प्रकार कोई कहे तो वह कहना उचित नहीं है, क्योंकि केवल ब्रह्मपरक वाक्य को नहीं मानने पर त्रिविध उपासना की प्राप्ति से वाक्यभेद की प्राप्ति होगी। वाक्य एक है, और दूसरी श्रुति में ब्रह्म के लिंग से प्राण शब्द को ब्रह्मपरक माना गया है, एवं यहाँ भी ब्रह्म के लिंग का संबन्ध है, इससे जीव प्राण वाच्य शब्द भी ब्रह्मपरक है।

यद्यप्यध्यात्मसम्बन्धभूमदर्शनान्न पराचीनस्य देवतात्मन उपदेशः, तथापि न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति। कुतः ? जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिंगाच्च। जीवस्य तावदस्मिन् वाक्ये विस्पष्टं लिंगमुपलभ्यते 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि। अत्र हि वागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते। तथा मुख्यप्राणलिंगमपि—'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति। शरीरधारणं च मुख्यप्राणस्य

धर्मः। प्राणसंवादे वागादीन् प्राणान् प्रकृत्य—'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' (प्र० २।३) इति श्रवणात्। ये तु 'इमं शरीरं परिगृह्य' इति पठन्ति, तेषामिमं जीवमिन्द्रियग्रामं वा परिगृह्य शरीरमुत्थापयतीति व्याख्येयम्। प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे तावच्चेतनत्वादुपपन्नम्। मुख्येऽपि प्राणे प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादुपपन्नमेव। जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च प्राणप्रज्ञात्मनोः सहवृत्तित्वेनाभेदनिर्देशः स्वरूपेण च भेदनिर्देश इत्युभयथा निर्देश उपपद्यते—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः' इति 'सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति। ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद्भिद्येत। तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा प्रतीयेयातां न ब्रह्मेति चेत्? नैतदेवम्, उपासात्रैविध्यात्। एवं सति त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत जीवोपासनं मुख्यप्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति। न चैतदेकस्मिन् वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम्। उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमवगम्यते। 'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इत्युक्त्वान्ते 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्येकरूपावुपक्रमोपसंहारौ दृश्येते। तत्रार्थैकत्वं युक्तमाश्रयितुम्। न च ब्रह्मलिंगमन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्यम्, दशानां भूतमात्राणां प्रज्ञामात्राणां च ब्रह्मणोऽन्यत्रार्पणानुपपत्तेः। आश्रितत्वाच्च, अन्यत्रापि ब्रह्मलिंगवशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि प्रवृत्तः। इहापि च हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिंगयोगाद्ब्रह्मोपदेश एवायमिति गम्यते यत्तु मुख्यप्राणलिंगं दर्शितम्—'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति। तदसत् प्राणव्यापारस्यापिपरमात्मायत्तत्वात् परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात्,—

अध्यात्म सम्बन्ध की बहुलता के देखने से यद्यपि बाह्य देवतात्मा का उपदेश नहीं है, तो भी ब्रह्म वाक्य होने योग्य नहीं है। क्योंकि जीव का लिंग है, और मुख्य प्राण का भी लिंग है (वाक् को जानने की इच्छा नहीं करे किन्तु वक्ता को समझे) इत्यादि कथन रूप जीव का अतिस्पष्ट लिंग इस वाक्य में प्रथम उपलब्ध होता है। क्योंकि यहाँ वागादि इन्द्रियों द्वारा व्यापार करने वाले शरीरेन्द्रिय के अध्यक्ष जीव को ज्ञेयत्व कहा जाता है। इसी प्रकार (निश्चित यह प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीर को धर कर उठाता है) यह मुख्य प्राण का लिंग भी है। क्योंकि शरीर का धारण करना मुख्य प्राण का धर्म है। प्राण के सम्वाद में वागादि रूप प्राण (इन्द्रियों) का प्रसंग करके कि सब इन्द्रियाँ कहने लगीं कि मैं ही श्रेष्ठ हूँ और निर्णय के लिए प्रजापति के पास[1] गई, प्राजापति बोले कि जिसके निकलने से शरीर अत्यन्त अमङ्गल रूप हो वह तुममें श्रेष्ठ है, अन्य के निकलने से शरीर वैसा नहीं

१. यद्यपि प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति की कथा नहीं है, तथापि बृहदा० ६।१ में है, और सब श्रुतियों का समन्वय है इसलिए ऐसा लिखा गया है।

हुआ, और मुख्य प्राण जब निकालना चाहा तभी सब इन्द्रियाँ व्याकुल हो गई (तब मुख्य सर्वश्रेष्ठ प्राण ने उनसे कहा कि मोह को नहीं प्राप्त होओ, मैं ही अपनी आत्मा को पाँच रूप से विभक्त करके इस कार्य को करता हूं कि इस प्राण (गमनशील) शरीर को आश्रयण करके इसको धरता हूं। जो कोई (इमं शरीरं परिगृह्य) इस प्रकार श्रुति को पढ़ते हैं, उनके मत में (इस जीव को वा इन्द्रिय समूह को आश्रयण करके शरीर को उठाता हूँ) इस प्रकार व्याख्यान होगा। और जीव के चेतन होने से उसमें प्रज्ञात्मत्व मुख्य रूप से सिद्ध होता है। मुख्यप्राण में (प्रज्ञा) ज्ञान के साधन अन्य इन्द्रियों के आश्रय होने से प्रज्ञात्मत्व सिद्ध होता ही है। जीव तथा मुख्य प्राण दोनों के ग्रहण करने पर इन दोनों की सहवृत्तिता से अभेद का कथन भी युक्त होता है, और स्वरूप से भेद का कथन भी युक्त होता है। जैसे कि (जो ही प्रज्ञा है वही प्राण है, और जोही प्राण हो वही प्रज्ञा है) यह अभेद कथन है। और (ये प्राण और प्रज्ञा दोनों इस शरीर में साथ बसते हैं, साथ निकलते हैं) यह भेद कथन है। यदि यहाँ ब्रह्म का सर्वथा ग्रहण हो तो कौन किससे भिन्न होगा जिससे यहाँ जीव और मुख्यप्राण में से एक या दोनों ज्ञेय प्रतीति के विषय हो सकते हैं, ब्रह्म नहीं। इस प्रकार यदि कोई कहे, तो कहना चाहिये कि यह उपदेश का तत्त्व इस प्रकार ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उपासात्रैविध्यप्रसङ्गात्, वाक्यभेदापत्तेरित्यादि। अर्थात् जीव और मुख्य प्राण के लिङ्ग रहने से जीव और मुख्य प्राण को उपास्यादि रूप ज्ञेय मानने पर ब्रह्म का भी लिङ्ग है ही इससे तीनों की त्रिविध उपासना की प्राप्ति होगी, कि जीवोपासना, मुख्यप्राणोपासना और ब्रह्मोपासना इस वाक्य में विहित हैं, यह त्रैविध्य इस एक वाक्य में मानना उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ उपक्रम और उपसंहार (आरम्भ और समाप्ति) से एकवाक्यता (एकार्थ प्रतिपादकता) प्रतीत होती है (मुझे ही जानो) इस प्रकार उपक्रम करके (मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ, मुझे आयु अमृत रूप से चिन्तन करो) इस प्रकार कहकर अन्त में कहा कि (यह प्राण ही प्रज्ञात्मा है; आनन्द अजर अमृत है) इस रीति से एक रूप ही उपक्रम और उपसंहार देखे जाते हैं। वहाँ अर्थ की एकता भी मानने योग्य है। और प्रधान-स्वरूप ब्रह्म के लिङ्ग को अन्यपरत्वेन (अन्यार्थसम्बन्धित्वरूप से) प्राप्त नहीं करा सकते हैं। क्योंकि पाँच भूत और पाँच विषयरूप स्थूल सूक्ष्म दश भूत मात्राओं का तथा उनके वृत्ति ज्ञान रूप दश प्रज्ञा मात्राओं का ब्रह्म से अन्य में अर्पण नहीं बन सकता है। ब्रह्म लिङ्ग के बल से प्राण शब्द की ब्रह्म में प्रवृत्ति का तो अन्यत्र भी आश्रयण (स्वीकार) किया गया है। यहाँ भी हिततम (अत्यन्त हित) का कथनादि रूप लिङ्ग के सम्बन्ध से यह ब्रह्म का ही उपदेश है ऐसा समझा जाता है। और जो मुख्य प्राण का लिङ्ग दिखलाया है कि—इस शरीर को ग्रहण करके उठाता है, यह मुख्यप्राण का लिङ्ग है, वह असत् है—ठीक नहीं है। क्योंकि प्राण का

व्यापार भी परमात्मा के अधीन है, इससे परमात्मा में भी शरीरोत्थापन का गौण व्यवहार किया जा सकता है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥

(काठ० २।५।५) इति श्रुतेः। यदपि 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गं दर्शितम्, तदपि न ब्रह्मपक्षं निवारयति, नहि जीवो नामात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुतिभ्यः। बुद्ध्याद्युपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सन् जीवः कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते। तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म प्रदर्शयितुं 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादिना प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थमुपदेशो न विरुध्यते। 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (क० १।४) इत्यादि च श्रुत्यन्तरं वचनादिक्रियाव्यापृतस्यैवात्मनो ब्रह्मत्वं दर्शयति। यत्पुनरेतदुक्तम्—'सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति प्राणप्रज्ञात्मनोर्भेददर्शनं ब्रह्मवादे[1] नोपपद्यत इति। नैष दोषः। ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयाश्रययोर्बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्भेदनिर्देशोपपत्तेः। उपाधिद्वयोपहितस्य तु प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेद इत्यतः प्राण एवं प्रज्ञात्मेत्येकीकरणमविरुद्धम्।

श्रुति कहती है कि (कोई मनुष्य प्राण वा अपान से नहीं जीवित रहता है, किन्तु इनसे इतर (भिन्न) ब्रह्मात्मा से सब प्राणी जीते हैं कि जिस ब्रह्म के आश्रित ही ये प्राणापान भी रहते हैं। और जो जीव का लिंग दिखलाया है कि (वाक् को जानने की इच्छा नहीं करे, वक्ता को समझे) यह जीव का लिंग है। वह लिंग भी ब्रह्मपक्ष का निवारण नहीं करता है, क्योंकि (तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि) इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि जीव नाम से प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं है, किन्तु बुद्धि आदि रूप उपाधि से जन्य विशेषाभिव्यक्ति आदि का आश्रयण करके ब्रह्म ही होता हुआ कर्ता और भोक्ता जीव कहा जाता है। उसके उपाधिकृत विशेष (भेद) को त्यागकर ब्रह्मस्वरूप दिखलाने के लिये (वाक् को जानने की इच्छा नहीं करे वक्ता को समझे) इत्यादि वाक्यों से अन्तरात्मा के अभिमुख करने के लिये यह उपदेश है, वह भी विरुद्ध नहीं होता है। क्योंकि (जो वाक् से नहीं कहा जाता है, जिससे वाक् कही जाती है, उसी ब्रह्म को तुम जानो, जिसकी इदं रूप से उपासना की जाती है उसे ब्रह्म नहीं जानो (इत्यादि अन्य श्रुतियाँ वचनादि क्रिया से रहित ही आत्मा की ब्रह्मरूपता बताती हैं। और जो यह कहा था कि (ये जीवात्मा और मुख्यप्राण साथ ही इस शरीर में बसते हैं, साथ ही निकलते हैं) इस प्रकार प्राण और प्रज्ञात्मा का भेदप्रदर्शन

१. 'ब्रह्मवादिनो' इति प्रा० मु० पाठः।

ब्रह्मवाद में नहीं बन सकेगा। तो वह दोष भी नहीं है, क्योंकि ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के आश्रय जो बुद्धि और प्राण प्रत्यगात्मा के उपाधि स्वरूप हैं, उनके भेद का कथन बनता है। और दोनों उपाधियों से उपहित (युक्त) जो अन्तरात्मा है उसको स्वरूप से एकता है इससे (प्राण ही प्रज्ञात्मा है) इस प्रकार एक निश्चय करना भी अविरुद्ध है।

अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इत्यस्यायमन्योऽर्थः—न ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विरुध्यते। कथम्? उपासात्रैविध्यात्। त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितं प्राणधर्मेण प्रज्ञाधर्मेण स्वधर्मेण च। तत्र 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः[१] प्राणः' इति, 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, 'तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' इति च प्राणधर्मः। 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति तद्व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्राः प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादिः प्रज्ञाधर्मः। 'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं, दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्, यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः, यद्धि प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः, नह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिद्ध्येत्, नो एतन्नाना। 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वपि ताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा' इत्यादिर्ब्रह्मधर्मः। तस्माद्ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितम्। अन्यत्रापि 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इत्यादावुपाधिधर्मेण ब्रह्मण उपासनमाश्रितम्, इहापि तद्युज्यते वाक्यस्योपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थत्वावगमात् प्राणप्रज्ञाब्रह्मलिंगावगमाच्च। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतदिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

अथवा 'नोपासात्रैविध्यादि'त्यादि, सूत्रांश का यह वक्ष्यमाण अन्य अर्थ है कि ब्रह्म ब्रह्मवाक्य में भी जीव और मुख्य प्राण का लिंग विरुद्ध नहीं होता है, क्योंकि ब्रह्म की एक ही उपासना के त्रैविध्य हैं। यहाँ तीन प्रकार की ब्रह्मोपासना विवक्षित है, एक प्राणधर्म द्वारा दूसरा प्रज्ञाधर्म द्वारा तीसरा ब्रह्म का स्वकीय धर्म द्वारा विवक्षित है। द्वार में भेद है उपास्य ब्रह्म है। इससे वाक्यभेद दोष नहीं है। वहाँ (आयु अमृत की उपासना करो, आयु प्राण है) यह, और (इस शरीर का आश्रयण करके इसे उठाता है) यह तथा (शरीर को प्राण उठाता है, जिससे इसी को उक्थ समझ कर

१ 'रमृतमित्युपास्स्वे'ति प्रा० मु० पाठः।

उपासना करे) ये सब प्राण के धर्म हैं। (अथ) बुद्धि प्राण की साथ स्थिति और उत्क्रम के बाद में जिस प्रकार इस प्रज्ञा (बुद्धि) के सम्बन्धी सब भूत एक हो जाते हैं, उसके आत्मा हो जाते हैं, यह व्याख्यान करेंगे, इस प्रकार आरम्भ करके कहा है कि (नाम और रूपात्मक इस बुद्धि के एक अंग को वाक् पूरण किया, अर्थात् वाग् द्वारा नामविषयक बुद्धि हुई। और उस बुद्धि का ही प्रसिद्ध अंगरूप चक्षु द्वारा दृष्टादिभूतमात्रा रूपादि पीछे अर्द्धांग रूप प्रतिविहित (ज्ञापित-सिद्ध) हुए। इस प्रकार नामरूपात्मक बुद्धि के दोनों अंग के सिद्ध होने पर, जीवात्मारूप पुरुषप्रज्ञा (बुद्धि) द्वारा वागिन्द्रिय पर आरूढ़ होकर वाव् द्वारा सब नामों को प्राप्त करता है। इसी प्रकार नेत्रादि द्वारा रूपादि को प्राप्त करता है, वह सब बुद्धियुक्त जीव के धर्म हैं। और वे पूर्व वर्णित दस ही भूतमात्रा हैं, वह प्रज्ञा (इन्द्रियजन्य ज्ञान) में स्थिर हैं, इन्द्रियों से समझे जाते हैं, और दश प्रज्ञा मात्र (इन्द्रिय और तज्जन्य वृत्ति) भूतमात्राओं में स्थिर हैं, क्योंकि यदि भूतमात्रा न हों तो प्रज्ञामात्रा नहीं हो सकते हैं, और यदि प्रज्ञामात्रा न हों तो भूतमात्रा भी नहीं हो सकते, क्योंकि अन्यतर (दोनों में से एक) से कोई रूप नहीं सिद्ध हो सकता है। अर्थात् ग्राह्य विषय से ग्राह्य का स्वरूप नहीं सिद्ध होता है, किन्तु ग्राहक इन्द्रिय से उसका स्वरूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार ग्राहक भी विषयकी अपेक्षा बिना नहीं सिद्ध होता है, इस प्रकार परस्पर सापेक्ष होने से ये ग्राह्यग्राहक (भूतेन्द्रियादि) नाना (भिन्न) नहीं हैं और जैसे रथ के आरों में नेमी प्राप्त रहती है, नाभि में आरा स्थिर रहता है, इसी प्रकार ये भूतमात्रा प्रज्ञामात्रा में रहते हैं, प्रज्ञामात्रा प्राण में रहता है, और यह प्राण ब्रह्म ही प्रज्ञात्मा है, अर्थात् विषयेन्द्रिय बुद्धि आदि सब में आत्मा की ही सत्ता है, इत्यादि ब्रह्म धर्म हैं, जिससे ब्रह्म का ही उपाधि रूप बुद्धि और प्राण के धर्म द्वारा और स्वधर्म द्वारा एक ही उपासना तीन प्रकार से विवक्षित है। अन्यत्र भी 'मनोमयः प्राणशरीरः' इत्यादि वाक्यों में मन प्राण उपाधि के धर्म द्वारा ब्रह्म की उपासना मानी गई है कि ब्रह्मात्मा मनोमय है, प्राण रूप शरीर वाला है इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये इत्यादि। इससे जीवोपाधि द्वारा चिन्तन सिद्ध होता है, यहाँ भी वह अन्य धर्म द्वारा उपासनायुक्त हो सकती है, क्योंकि वाक्यके उपक्रम और उपसंहार से एकार्थत्व का ज्ञान होता है, और प्राण प्रज्ञा तथा ब्रह्म के धर्मों का भी ज्ञान होता है। जिससे यह ब्रह्म का बोधक वाक्य है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार प्रथमाध्याय प्रथम पाद का अनुवाद समाप्त हुआ।

———

प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

[अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तवाक्यानामुपास्यब्रह्मविषयाणां विचारः]

सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरण (१)

मनोमयोऽयं शारीर ईशो वा प्राणमानसे ।
हृदयस्थित्यणीयस्त्वे जीवे स्युस्तेन जीवगाः ॥ १ ॥
शमवाक्यगतं ब्रह्म तद्धितादिरपेक्षते ।
प्राणादियागश्चिन्तार्थश्चिन्त्यं ब्रह्म प्रसिद्धितः ॥ २ ॥

प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्युक्तम् । तस्य समस्तजगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं नित्यत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं सर्वात्मकत्वमित्येवंजातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति । अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषाञ्चिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि सन्दिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि । पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि सन्दिह्यन्ते— किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किञ्चिदिति तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते ।

इस समन्वयाध्याय के प्रथम पाद में (जन्माद्यस्य यतः) इस सूत्र से आकाशादि सम्पूर्ण जगत् का कारण रूप ब्रह्म है यह कहा गया है, और उस समस्त जगत् के कारण रूप ब्रह्म के व्यापकत्व, नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वात्मकत्व इस प्रकार के सभी जातीय धर्म उक्त हो जाते हैं । अर्थात् जिन गुणादिकों के बिना ईश्वरत्व नहीं सिद्ध हो सकता है, उनका कथन निरपेक्ष ईश्वर के कथन से ही समझना चाहिये । ब्रह्म से अन्यार्थ में प्रसिद्ध कितने शब्दों को ब्रह्मविषयत्व (वाचकत्व) में हेतुओं के प्रतिपादन द्वारा स्पष्ट ब्रह्म लिङ्ग वाले सन्देह के विषय कितने वाक्य ब्रह्म के प्रतिपादक रूप से निर्णीत किये गये हैं । फिर अस्पष्ट लिङ्ग वाले अन्य वाक्य सन्देह के विषय संदिग्ध हैं कि ये वाक्य परब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, अथवा किसी दूसरे अर्थ का । उनके निर्णय के लिये दूसरे और तीसरे पाद का आरम्भ किया जाता है ।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

संक्षिप्तार्थ यह है कि (सर्वेषु वेदान्तेषु जगत्कारणत्वेनोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वादिना च प्रसिद्धस्य ब्रह्मणः (तज्जलानुपासीत) इत्यत्रोपास्यत्वेनोपदेशान्मनोमय इत्यादिशब्देन ब्रह्मैवावगन्तव्यमिति) सब वेदान्त में जगत् के कारण उपास्यत्व, ज्ञेयत्वादि रूप से प्रसिद्ध ब्रह्म की ही उत्पत्ति-स्थिति-लयाधार रूप से उपासना करे ऐसा कहा गया है ।

यहाँ उपास्य रूप से उपदेश है, इसलिए उस प्रकरण में स्थित मनोमयादि शब्द से भी ब्रह्म को ही समझना चाहिये।

इदमाम्नायते—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत, अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत, मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।१, २) इत्यादि। तत्र संशयः किमिह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः शारीर आत्मोपास्यत्वेनोपदिश्यते, आहोस्वित्परं ब्रह्मेति। किं तावत्प्राप्तम् ? शारीर इति। कुतः ? तस्य हि कार्यकरणाधिपतेः प्रसिद्धो मन आदिभिः सम्बन्धो न परस्य ब्रह्मणः 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २।१।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति स्वशब्देनैव ब्रह्मोपात्तं कथमिह शारीर आत्मोपास्य आशङ्क्यते। नैष दोषः। नेदं वाक्यं ब्रह्मोपासनाविधिपरम्, किं तर्हि ? शमविधिपरम्। यत्कारणं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्याह। एतदुक्तं भवति—यस्मात्सर्वमिदं विकारजातं ब्रह्मैव, तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्च। न च सर्वस्यैकात्मने रागादयः संभवन्ति, तस्माच्छान्त उपासीतेति। नच शमविधिपरत्वे सत्यनेन वाक्येन ब्रह्मोपासनं नियन्तुं शक्यते, उपासनं तु 'स क्रतुं कुर्वीत' इत्यनेन विधीयते। क्रतुः सङ्कल्पो ध्यानमित्यर्थः। तस्य च विषयत्वेन श्रूयते—'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गम्। अतो ब्रूमो जीवविषयमेतदुपासनमिति। 'सर्वकर्मा' 'सर्वकामः' इत्याद्यपि श्रूयमाणं पर्यायेण जीवविषयमुपपद्यते। 'एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इति च हृदयायतनत्वमणीयस्त्वं चाराग्रमात्रस्य जीवस्यावकल्पते नापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः। ननु 'ज्यायान्पृथिव्या' इत्याद्यपि न परिच्छिन्नेऽवकल्पत इति। अत्र ब्रूमः—न तावदणीयस्त्वं ज्यायस्त्वं चोभयमेकस्मिन्समाश्रयितुं शक्यं विरोधात्। अन्यतराश्रयणे च प्रथमश्रुतत्वादणीयस्त्वं युक्तमाश्रयितुम्। ज्यायस्त्वं तु ब्रह्मभावापेक्षया भविष्यतीति। निश्चिते च जीवविषयत्वे यदन्ते ब्रह्मसंकीर्तनं 'एतद्ब्रह्म' (छा० ३।१४।४) इति, तदपि प्रकृतपरामर्शार्थत्वाज्जीवविषयमेव। तस्मान्मनोमयत्वादिभिर्धर्मैर्जीव उपास्य इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः।

श्रुति यह कहती है कि (यह सब जगत् निश्चित ब्रह्म स्वरूप ही है इसकी सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं है, क्योंकि 'तज्ज' उस ब्रह्म से जायमान है। 'तल्ल' उसी में लीन होता है। तदन्, उसी में चेष्टा जीवन करता है। इससे सबको ब्रह्म भिन्न एक सत्य स्वरूप होने से भेद को वाचारम्भणमात्र होने से राग-द्वेषादि को त्याग कर शान्त होकर, उत्पत्ति आदि का हेतु रूप ब्रह्म की तज्ज, तल्ल, तदन्, इस रूप से उपासना करनी चाहिये और समझना चाहिये कि यह जीवात्मा रूप पुरुष क्रतु (संकल्प-उपासन-चिन्तन) मय ही है। इससे जैसा संकल्प वाला इस लोक और

शरीर में पुरुष रहता है, वैसा ही यहाँ से लोकान्तरादि में जाकर मरने के बाद होता है। इसलिए वह पुरुष संकल्प ध्यान करे कि ब्रह्मात्मा मनोमय प्राणरूप शरीरवाला प्रकाश स्वरूप है, इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि इस श्रुति में मनोमयत्वादि धर्म द्वारा शरीरवृत्ति जीवात्मा की उपासना का उपदेश दिया गया है, इससे जीवात्मा उपास्य है अथवा परब्रह्म की उपासना का उपदेश है, अर्थात्—ब्रह्म उपास्य रूप कहा गया है। विमर्श हुआ कि प्राप्त क्या होता है? तब पूर्वपक्ष होता है कि शरीरवृत्ति जीवात्मा प्राप्त होता है। क्योंकि कार्यकरण (शरीरेन्द्रिय) के स्वामी उस जीव का मन आदि के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है, और (ब्रह्मात्मा प्राणरहित है, मनरहित है, दीप्त शुद्ध है) इत्यादि श्रुति से ब्रह्म के साथ मन आदि के सम्बन्धादि के निषेध से ब्रह्म में सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं है। शंका होती है कि (यह सब जगत् ब्रह्म ही है) इस प्रकार ब्रह्म अपने वाचक ब्रह्म शब्द से ही वहाँ गृहीत—'कथित' है, फिर भी शरीरी उपास्य है यह शंका कैसे की जाती है। वहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि यह वाक्य उपासना की विधिपरक (उपासनाविषयक) नहीं है, तो क्या है? शमविधिपरक है। कारण यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है। 'उत्पत्ति आदि के आधार रूप से ब्रह्म की उपासना शान्त होकर करे' यह श्रुति कहती है। श्रुति द्वारा कहा जाता है कि यह सब विकार (कार्य) समूह ब्रह्म ही है, क्योंकि उस ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, उसी में लीन होता है, और उसी में जीवन व्यवहार करता है। सब का एक स्वरूप निश्चित होने पर रागादि का सम्भव नहीं हो सकता, जिससे शान्त होकर उपासना करे। इस प्रकार इस वाक्य को शमविधिपरक होने पर पुनः इससे ब्रह्मोपासना का नियम नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उपासना (वह संकल्प करे) इस वाक्य से विहित होती है। क्रतु का संकल्प = ध्यान अर्थ है, और उस ध्यान का विषय रूप से मनोमय प्राणशरीर सुना जाता है, यह जीव का लिंग है। इससे पता चलता है कि यह उपासना जीवविषयक है और (सर्वकर्मा-सर्वकामः) इत्यादि भी जो सुना जाता है, वह भी अनन्त जन्मों के क्रम से जीव में सम्भव है। एक जन्म में नहीं कर सकने पर भी जन्म की परंपरा से सब कर्म कामादि जीव करते हैं और (यह मेरी आत्मा हृदय में है, धान वा यव से भी अति अणु (छोटा) है। यह श्रुतिवर्णित हृदयायतनत्व अति अल्पत्व भी आरा के अग्रमात्र स्वरूप जीव में युक्त होता है, व्यापक ब्रह्म में नहीं युक्त हो सकता है। यदि कहा जाय कि 'पृथिवी से बहुत बड़ा है' इत्यादि श्रुति भी परिच्छिन्न जीव में युक्त नहीं हो सकती। ऐसा होने पर यहाँ कहा जाता है कि अति अणुता और अति महत्ता के विरोध से ये दोनों धर्म एक वस्तु में नहीं रह सकते हैं। इससे परस्पर विरोधी ये धर्म एक में माने भी नहीं जा सकते हैं। इन दोनों में से एक को मानने पर प्रथम श्रुत होने से अणुता मानना उचित है, और सर्वश्रेष्ठत्व तो जीव को ब्रह्म भाव की अपेक्षा

से होगा। इस प्रकार जीवविषयकत्व वाक्य के निश्चित होने पर, जो अन्त में ब्रह्म का संकीर्तन है कि 'एतद्ब्रह्म'--यह ब्रह्म है, वह भी पूर्व प्रकृत (प्रस्तुत) का परामर्श के लिए होने से जीवविषयक ही है, जिससे मनोमयत्वादि धर्मयुक्त स्वरूप से जीव ही उपास्य है। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि—

परमेव ब्रह्म मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यम् । कुत: ? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । यत्सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दस्यालम्बनं जगत्कारणम्, इह च 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्योपक्रमे श्रुतं तदेव मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टमुपदिश्यत इति युक्तम् । एवं च प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये न भविष्यत: । ननु वाक्योपक्रमे शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं न स्वविवक्षयेत्युक्तम् । अत्रोच्यते— यद्यपि शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं तथापि मनोमयत्वादिषूपदिश्यमानेषु तदेव ब्रह्म संनिहितं भवति । जीवस्तु न संनिहितो न च स्वशब्देनोपात्त इति वैषम्यम् ॥ १ ॥

परब्रह्म ही मनोमयत्वादि धर्मयुक्त रूप से उपास्य है। क्योंकि सर्वत्र प्रसिद्ध ब्रह्म का ही उपदेश है। जो ब्रह्म शब्द का आलम्बन (विषय) जगत् का कारण सब वेदान्त में प्रसिद्ध है, और जो यहाँ भी वाक्य के आरम्भ में सुना गया है कि 'यह सब जगत् ब्रह्म है' वही ब्रह्म मनोमयत्वादि धर्म सहित यहाँ उपदेश का विषय है, ऐसा मानना उचित है। ऐसा मानने से प्रकृतहान और अप्रकृत की प्रक्रिया रूप दोष नहीं होंगे। यदि कहो कि वाक्य के आरम्भ में शमविधि की विवक्षा (कहने की इच्छा) से ब्रह्म निर्दिष्ट (कथित) हुआ है। ब्रह्म की विवक्षा से नहीं निर्दिष्ट हुआ है। यद्यपि शमविधि की विवक्षा से ही ब्रह्म निर्दिष्ट हुआ है, तथापि मनोमयादि के उपदेश काल में वह ब्रह्म ही सन्निहित (उपस्थित-प्राप्त) होता है, जीव न सन्निहित है, न जीव शब्द से वहाँ गृहीत है, यह जीव और ब्रह्म में यहाँ भेद है ॥ १ ॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

वक्तुमिष्टा विवक्षिता: । यद्यप्यपौरुषेये वेदे वक्तुरभावान्नेच्छार्थ: संभवति तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते । लोके हि यच्छब्दाभिहितमुपादेयं भवति तद्विवक्षितमित्युच्यते, यदनुपादेयं तदविवक्षितमिति । तद्वद्वेदेऽप्युपादेयत्वेनाभिहितं विवक्षितं भवति, इतरदविवक्षितम् । उपादानानुपादाने तु वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते । तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टा: सत्यसङ्कल्पप्रभृतयस्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । सत्यसङ्कल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते । परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्मापहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यत्र 'सत्यकाम: सत्यसङ्कल्प' इति श्रुतम् । आकाशात्मेत्यादिनाकाशवदात्मास्येत्यर्थ: । सर्वगतत्वा-

दिभिर्धर्मैः संभवत्याकाशेन साम्यं ब्रह्मणः। 'ज्यायान्पृथिव्याः' इत्यादिना चैतदेव दर्शयति। यदाप्याकाश आत्मा यस्येति व्याख्यायते, तदापि संभवति सर्वजगत्कारणस्य सर्वात्मनो ब्रह्मण आकाशात्मत्वम्, अत एव 'सर्वकर्मा' इत्यादि। एवमिहोपास्यतया विवक्षिता गुणा ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। यत्तूक्तं 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गं न तद्ब्रह्मण्युपपद्यत इति, तदपि ब्रह्मण्युपपद्यत इति ब्रूमः। सर्वात्मत्वाद्धि ब्रह्मणो जीवसम्बन्धीनि मनोमयत्वादीनि भवन्ति। तथाच ब्रह्मविषये श्रुतिस्मृती भवतः—

कहने की इच्छा के विषय जो पदार्थ हों, जिनका कथन इष्ट हो वे पदार्थ विवक्षित कहाते हैं। वहाँ अपौरुषेय (पुरुष से अरचित) अनादि वेद में मूल वक्ता के अभाव से इच्छार्थक सन् प्रत्यय का यद्यपि सम्भव नहीं है, तथापि उपादेय ग्राह्यगुण का उपादान (ग्रहण) रूप फल से गौण व्यवहार किया जाता है। लोक में जो शब्द से कथित अर्थ उपादेय होता है वह विवक्षित इस शब्द से और जो अनुपादेय (अग्राह्य) होता है, वह अनुपादेय कहा जाता है। ग्रहण तथा अग्रहण वेद के तात्पर्य और अतात्पर्य से समझे जाते हैं। वैदिक शब्दों के जिस अर्थ में वेद का तात्पर्य रहता है उसका ग्रहण होता है अन्य का त्याग होता है, जिससे यहाँ जो सत्यसंकल्पादि विवक्षित गुण उपासना में उपादेय रूप से इष्ट हैं वे सब परब्रह्म में ही सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि सृष्टि, स्थिति और संहार में अखण्डित शक्ति होने से परमात्मा ही को सत्य संकल्पवत्त्व सिद्ध हो सकता है। परमात्मा के ही गुण रूप से (जो आत्मा पापरहित है) यहाँ पर भी (सत्यकाम है, सत्यसंकल्प है) यह सुना गया है। और (आकाशात्मा) इत्यादि पद से आकाशतुल्य विभु असंग इस का स्वरूप है। एवं सर्वगतत्वादि धर्मों द्वारा ब्रह्म को आकाश के साथ तुल्यता का सम्भव है। (पृथिवी से बहुत बड़ा है) इत्यादि से भी इसी सर्वगतत्वादि को श्रुति दिखलाती है, जब आकाश आत्मा है (जिसका) इस प्रकार आकाशात्मा शब्द का व्याख्यान करते हैं तब भी सब जगत् का कारण सर्वात्मा ब्रह्म को ही आकाशात्मत्व संभव है, और सर्वात्मा होने ही से ब्रह्म सर्वकर्म है इत्यादि। इस प्रकार यहाँ उपास्य रूप से विवक्षित गुण ब्रह्म में युक्त होते हैं जो पहले कहा गया था कि 'मनोमयः प्राणशरीरः' ये जीव के लिंग हैं, और ब्रह्म में सिद्ध नहीं हो सकते, वे भी ब्रह्म में उत्पन्न (युक्त होते हैं, इसलिए कहते हैं कि ब्रह्म को सर्वात्मा होने से जीवसम्बन्धी मनोमयत्वादि धर्म भी ब्रह्म के होते हैं। उसके सर्वात्मत्व के बोधक श्रुति-स्मृति वचन स्पष्ट हैं—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः॥

(श्वे० ४।३) इति।

सर्वत:पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

(गा० १३।१३) इति च । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति श्रुतिः शुद्धब्रह्मविषया । इयं तु 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति सगुणब्रह्मविषयेति विशेषः । अतो विवक्षितगुणोपपत्तेः परमेव ब्रह्मेहोपास्यत्वेनोपदिष्टमिति गम्यते ॥ २ ॥

तुम आनन्दात्मा ही स्त्री-पुरुष शब्द का वाच्य होते हो, और कुमार-कुमारी भी होते हो, वृद्ध होने पर तुम दण्ड के सहारे चलते हो, और जात (उत्पन्न) बालक होते हो और सब तरफ मुख वाला (नानावस्थायुक्त) होते हो वह ब्रह्म सर्वतो हाथ पैर वाला सर्वतोऽक्षि-शिर-मुख वाला है तथा सर्वतः श्रोत्र वाला है और लोक में सब को आच्छादित करके स्थिर है । (अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः) यह श्रुति शुद्ध ब्रह्म-विषयक है । और (मनोमयः) इत्यादि श्रुति सगुण ब्रह्मविषयक है, यह भेद है । अतः विवक्षित गुणों की उपपत्ति से पर ब्रह्म ही यहाँ उपास्य रूप से उपदिष्ट है यह ज्ञात और सिद्ध होता है ॥ २ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ॥

पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता । अनेन तु शारीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते । तुशब्दोऽवधारणार्थः । ब्रह्मैवोक्तेन न्यायेन मनोमयत्वादिगुणं, न तु शारीरो जीवो मनोमयत्वादिगुणः, यत्कारणं 'सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा अवाकी अनादरः ज्यायान् पृथिव्या' इति चैवंजातीयका गुणा न शारीरे आञ्जस्येनोपपद्यन्ते । शारीर इति शरीरे भव इत्यर्थः । नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति । सत्यम् । शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति । 'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्, आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च व्यापित्वश्रवणात् । जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात् ॥ ३ ॥

जीव के धर्मों का ब्रह्म में सर्वात्मत्व से सम्भव है, परन्तु ब्रह्म के धर्मों का जीव में सम्भव नहीं है, अनुपपन्न है । इस रीति से पूर्वसूत्र द्वारा ब्रह्म में विवक्षित गुणों की सिद्धि कही गई है । इस सूत्र से उन ब्रह्म-गुणों की जीव में असिद्धि कही जाती है । 'तु' शब्द निश्चयार्थक है । उक्त सर्वात्मत्वादि न्याय (युक्ति) से मनोमयत्वादि गुण वाला ब्रह्म ही है, शरीरवर्ती जीवमनोमयत्वादि गुण वाला नहीं है । क्योंकि (सत्यसंकल्प) आकाशात्मत्व, वागादि इन्द्रिय रहितता, अनादर (अकामता) पृथ्वी आदि से महत्ता । इस प्रकार के गुण सब जीव में तत्त्वतः यथार्थ रूप से नहीं सिद्ध हो सकेंगे । शारीर उसको कहा जाता है जो शरीर में हो । यदि कहो कि ईश्वर भी शरीर में रहता है, तो वह कहना सत्य है । परन्तु शरीर ही में नहीं रहता है, क्योंकि (पृथ्वी से बड़ा है, अन्तरिक्ष से बड़ा है, आकाश के समान सर्वगत और नित्य है) इत्यादि वाक्यों से व्यापकत्व सुना जाता है । जीव तो शरीर में ही

रहता है, क्योंकि भोग के आश्रय शरीर से अन्यत्र उसकी वृत्ति (जीविका स्थिति) नहीं है ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

इतश्च न शारीरो मनोमयत्वादिगुणः, यस्मात्कर्मकर्तृव्यपदेशो भवति 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' (छा० ३।१४।४) इति। एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणमुपास्यमात्मानं कर्मत्वेन प्राप्यत्वेन व्यपदिशति। अभिसंभवितास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन प्रापकत्वेन। अभिसंभवितास्मीति प्राप्तास्मीत्यर्थः। नच सत्यां गतावेकस्य कर्मकर्तृव्यपदेशो युक्तः। तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव। तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादिविशिष्टः ॥ ४ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी जीव मनोमयादि गुण वाला नहीं है, जिससे कर्म और कर्त्ता का व्यपदेश (व्यवहार-कथन) होता है, कि (इस शरीर से मुक्त होकर इस सर्वात्मा को प्राप्त करूंगा) श्रुति में 'एतम्' इस पद से मनोमयादि गुण वाला उपास्य आत्मा का कर्म रूप से प्राप्यरूप से श्रुति कथन करती है, अभिसंभवितास्मि, इस पद से उपासक जीव का कर्तृत्व प्रापकत्व रूप से कथन करती है, अभिसंभवितास्मि, इसको प्राप्त करने वाला हूँ यह अर्थ है, और गति (मार्गान्तर उपास्यान्तर) के रहते एक को कर्म कर्ता का व्यवहार युक्त नहीं होता है। इसी प्रकार उपास्य उपासक भाव भी भिन्नाश्रय में ही रहता है, जिससे भी जो मनोमयत्वादि युक्त उपास्य नहीं है किन्तु उपासक है ॥ ४ ॥

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

इतश्च शारीरादन्यो मनोमयत्वादिगुणः, यस्माच्छब्दविशेषो भवति समानप्रकरणे श्रुत्यन्तरे—'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाक-तण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः' (शत० ब्रा० १०।६।३।२) इति। शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति, तस्माद्विशिष्टोऽन्यः प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्यात्मनोऽभिधायकः। तस्मात्तयोर्भेदोऽधिगम्यते ॥ ५ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी जीव से अन्य मनोमयाद गुण वाला है जिससे शब्द का (विभक्ति का) विशेष (भेद) है। इसी श्रुति के तुल्य प्रकरण वाली दूसरी श्रुति में वाक्य है कि (जैसा व्रीहि, वा यव वा श्यामाक वा श्यामाक तण्डुल हो) ऐसे यह हिरण्यमय पुरुष अन्तरात्मा में रहता है। यहाँ जीवात्मा का वाचक जो लुप्त सप्तम्यन्त 'अन्तरात्मन्' यह शब्द है, उससे विशिष्ट (भेदयुक्त) प्रथमान्त पुरुषशब्द मनोमयत्वादि युक्त आत्मा का वाचक है। जिससे दोनों शब्दों का भेद समझा जाता

है और शब्द के भेद से आधाराधेय अर्थ का भेद सिद्ध होता है इससे जीव मनोमयादि से भिन्न है ॥ ५ ॥

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेदं दर्शयति—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(गी० १८।६१) इत्याद्या ।

अत्राह—कः पुनरयं शारीरो नाम परमात्मनोऽन्यः यः प्रतिषिध्यते 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' इत्यादिना । श्रुतिस्तु—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योतोऽस्ति श्रोता' (बृह० ३।७।२३) इत्येवंजातीयका परमात्मनोऽन्यमात्मानं वारयति । तथा स्मृतिरपि—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ।

(गी० १३।२) ।

इत्येवंजातीयकेति ।

अत्रोच्यते सत्यमेवैतत् । पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते । यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते तद्वत् । तदपेक्षया च कर्मत्वकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुध्यते प्राक् 'तत्त्वमसि' इत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात् । गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात् ॥ ६ ॥

स्मृति भी जीव परमात्मा में भेद दिखलाती है। भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! शरीर रूप यन्त्र पर अभिमानादि से आरूढ (स्थिर) सब प्राणी को अपनी माया से भ्रमण कराता हुआ ईश्वर सब प्राणी के हृदय में स्थिर रहता है' इत्यादि स्मृति का कथन है। यहाँ कोई शंका करता है कि यह शारीर (जीव) नामक परमात्मा से अन्य कौन है कि जिसका (अनुपपत्तेस्तु न शारीरः इत्यादि सूत्रों से) निषेध किया जाता है (इस परमात्मा से अन्य द्रष्टा नहीं है, श्रोता नहीं है) इस प्रकार कहने वाली श्रुति तो परमात्मा से अन्य आत्मा का वारण (निषेध) करती है। तथा हे भारत (अर्जुन !) सब शरीरों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो। इस प्रकार की स्मृति भी भेद का वारण करती है। यहाँ इस शंका का समाधान (उत्तर) कहा जाता है कि वास्तविक सत्यात्मा की दृष्टि से यह कहना सत्य ही है कि परतमामा से अन्य जीव नहीं है, तो भी परमात्मा ही देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि रूप उपाधियों से परिच्छिद्यमान (उपहित) होकर अज्ञों से जीव कहा जाता है (मिथ्या व्यवहार किया जाता है) जैसे घट, कमण्डलु आदि उपाधि के वश (बल) अपरिच्छिन्न भी आकाश परिच्छिन्न (एकदेशी-परिमित) भासता है, वैसे ही इससे (तत् त्वमसि) वह ब्रह्म

सत्यात्मा तू है, इस प्रकार आत्मा के एकत्व के उपदेश के ग्रहण से प्रथम उस औपाधिक भेद की अपेक्षा से कर्मत्व-कर्तृत्व का व्यवहार विरुद्ध नहीं होता है। आत्मा के एकत्व के ग्रहण करने पर (समझने पर) तो बन्ध-मोक्षादि सब व्यवहार समाप्त ही हो जाते हैं ॥ ६ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

अर्भकौकस्त्वात्-तद्व्यपदेशात्-च-न-इति-चेत्-न-निचाय्यत्वात्, एवम् व्योमवत्-च ।
ये ग्यारह पद इस सूत्र में हैं । संक्षिप्तार्थ यह है कि (अर्भकमल्पमोकः स्थानं यस्य सः अर्भ-
कौकास्तस्य भावोऽर्भकौकस्त्वं तस्मादल्पस्थानवत्त्वात् तस्याल्पस्थानवत्त्वस्य अल्पत्वस्य च
साक्षात् कथनाच्च न ब्रह्मात्राभिधीयते,इति चेत् कश्चिद् वक्ति तन्न वक्तव्यम् यतः अर्भकस्थाने
निचाय्यत्वात्–उपास्यत्वादुपलम्यत्वाच्चैवं व्यपदिश्यते न स्वरूपतः । व्योमवच्चैतदौ-
पाधिकाल्पस्थानत्वं स्वरूपेण विभुत्वमुन्नेयम्) हृदयादि अल्प स्थान वाला होने से तथा
अल्प स्थानवत्व अल्पत्व के साक्षात्कथन से मनोमयादि ब्रह्म नहीं है, किन्तु जीव है,
इस प्रकार यदि कोई कहता हो तो वह नहीं कहना चाहिये । क्योंकि अल्पस्थान में
उपास्य, अन्वेषणीय, प्राप्य होने से अल्पस्थान वाला अणीयान् (अति अणु) आदि
ब्रह्म कहा जाता है, स्वरूप से नहीं, और आकाश के समान यह उपाधि निमित्त से
अल्पदेशित्व और स्वरूप से विभुत्व समझने योग्य है ।

अर्भकमल्पमोको नीडम्, 'एष म आत्मान्तर्हृदये' इति परिच्छिन्नायतनत्वात्, स्वशब्देन च 'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यणीयस्त्वव्यपदेशात्, शारीर एवाराग्रमात्रो जीव इहोपदिश्यते, न सर्वगतः परमात्मेति यदुक्तं तत्परिहर्तव्यम् ।

यह आत्मा मेरे हृदय में है, इस प्रकार अर्भक (अल्प) आत्मा का नीड (आश्रय) श्रुत है, इससे परिच्छिन्न (अल्प) (आयतनत्व आश्रयवाला) होने से, तथा अल्पार्थवाचक शब्द द्वारा उपदेश होने से (यह व्रीहि से अति अणु है वा यव से अति अणु है) इस प्रकार अणुत्व के कथन से शरीरधारी आराग्रमात्र (सूक्ष्म) जीव ही यहाँ उपदेश का विषय है, सर्वगत परमात्मा उपदेश का विषय नहीं है, यह जो प्रथम कहा गया था, उसका परिहार (निवारण) कर्तव्य है ।

अत्रोच्यते–नायं दोषः । न तावत्परिच्छिन्नदेशस्य सर्वगतत्वव्यपदेशः कथमप्युपपद्यते, सर्वगतस्य तु सर्वदेशेषु विद्यमानत्वात्परिच्छिन्नदेशव्यपदेशोऽपि कयाचिदपेक्षया सम्भवति, यथा समस्तवसुधाधिपतिरपि हि सन्नयोध्याधिपतिरिति व्यपदिश्यते । कया पुनरपेक्षया सर्वगतः सन्नीश्वरोऽर्भकौका अणीयांश्च व्यपदिश्यते इति । निचाय्यत्वादेवमिति ब्रूमः । एवमणीयस्त्वादिगुणगणोपेत

ईश्वरस्तत्र हृदयपुण्डरीके निचाय्यो द्रष्टव्य उपदिश्यते। यथा शालग्रामे हरिः। तत्रास्य बुद्धिविज्ञानं ग्राहकम्। सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति। व्योमवच्चैतद् द्रष्टव्यम्। यथा सर्वगतमपि सद् व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयाऽर्भकौकोऽणीयश्च व्यपदिश्यते, एवं ब्रह्मापि। तदेवं निचाय्यत्वापेक्षं ब्रह्मणोऽर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च न पारमार्थिकम्। तत्र यदाशङ्क्यते—हृदयायतनत्वाद् ब्रह्मणो हृदयायतनानां च प्रतिशरीरं भिन्नत्वाद्भिन्नायतनानां च शुकादीनामनेकत्वसावयवत्वानित्यत्वादिदोषदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति, तदपि परिहृतं भवति ॥ ७ ॥

इसमें यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है। पहले तो बात यह है कि परिच्छिन्न देश वाले एकदेशी को सर्वगतत्व व्यापकत्व का कथन किसी प्रकार नहीं बन सकता है। और सर्वगत को तो सर्वदेश में वर्तमान रहने से परिच्छिन्न देश का कथन भी किसी स्वरूप की अपेक्षा से हो सकता है, जैसे कि समस्त भूमि का स्वामी होता हुआ भी अयोध्या का अधिपति कहा जाता है। यदि कहो कि फिर किस अपेक्षा से सर्वगत होता हुआ भी ईश्वर अल्पस्थान वाला और अति अणु कहा जाता है, तो कहते हैं कि निचाय्य (द्रष्टव्य) होने से ऐसा कहा जाता है। क्योंकि जैसे शालग्राम शिला में हरि का उपदेश दिया जाता है, इसी प्रकार अति अणुत्वादि गुण समूहयुक्त ईश्वर उस हृदय कमल में निचाय्य द्रष्टव्य कहा जाता है। वह हृदय में इसलिये कहा जाता है कि जिससे उस हृदय में बुद्धि के वृत्तिरूप विज्ञान उस ईश्वर को ग्रहण-व्यक्त करने वाला होता है। सर्वगत भी ईश्वर उस हृदय में उपासना का विषय होने पर प्रसन्न व्यक्त होता है और इसको आकाश से समान र ामना चाहिए—जैसे सर्वगत होते हुए भी सूचीपाशादि की अपेक्षा से अल्पस्थान ाला अति अणु कहा जाता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी कहा जाता है। इस प्रकार द्रष्टव्यत्व ध्येयत्व की अपेक्षा से वह ब्रह्म का अल्पस्थानत्व और अति अणुत्व है, पारमार्थिक (सत्य) नहीं है। इस प्रकार आकाशतुल्य अल्पस्थानादि के मिथ्यात्व सिद्ध होने पर, जो यहाँ शंका होती है कि ब्रह्म का हृदय आश्रय होने से एवं प्रत्येक शरीर में हृदय रूप आश्रय के भिन्न होने से तथा भिन्न आश्रय वाले शुकादि को अनेकत्व सावयवत्व अनित्यत्व दोष देखने से ब्रह्म को भी भिन्नत्व और अनेकत्वादि दोष प्राप्त होते हैं। यह शंका भी आकाश के दृष्टान्त से ही परिहृत निवारित हो गई, क्योंकि अनेकाश्रय वाला भी आकाश वस्तुतः भिन्नानेकादि नहीं होता है ॥ ७ ॥

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

संक्षिप्तार्थ यह है कि (सर्वगतस्यापि ब्रह्मणोऽर्भकौकस्त्वे स्वीकृते तस्यापि जीववत् सम्भोगस्य प्राप्तिः स्यादिति चेन्न ससङ्गत्वादिभिरुभयोर्भेदात्) सर्वगत ब्रह्म को भी जीव के स्थान रूप अल्प हृदय स्थान वाला मानने पर जीव के समान ब्रह्म को भी संभोग की

प्राप्ति होगी यदि ऐसी शंका कोई करे तो ठीक नहीं है ससंगता असंगता आदि से जीव ब्रह्म में भेद है, इससे जीव के समान ईश्वर को संभोग नहीं होता है।

व्योमवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धात्, चिद्रूपतया च शारीरादविशिष्टत्वात् सुखदुःखादिसम्भोगोऽप्यविशिष्टः प्रसज्येत। एकत्वाच्च। नहि परस्मादात्मनोऽन्यः कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्परस्यैव संसारसम्भोगप्राप्तिरिति चेत् न, वैशेष्यात्। न तावत्सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धाच्छारीरवद्ब्रह्मणः सम्भोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमाँश्च, एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य। यदि च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसम्बन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः, सर्वगतानेकात्मवादिनामपि समावेतौ चोद्यपरिहारौ। यदपि-एकत्वाद् ब्रह्मण आत्मान्तराभावाच्छारीरस्य भोगेन ब्रह्मणो भोगप्रसङ्ग-इति। अत्र वदामः—इदं तावद्देवानांप्रियः प्रष्टव्यः— कथमयं त्वयात्मान्तराभावोऽध्यवसित' इति। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योऽतोस्ति विज्ञाता' इत्यादिशास्त्रेभ्य इति चेत् ? यथाशास्त्रं तर्हि शास्त्रीयोर्थः प्रतिपत्तव्यो न तत्रार्धजरतीयं लभ्यम्। शास्त्रं च 'तत्त्वमसि' इत्यपहतपाप्मत्वादिविशेषणं ब्रह्म शारीरस्यात्मत्वेनोपदिशच्छारीरस्यैव तावदुपभोक्तृत्वं वारयति। कुतस्तदुपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः।

आकाश के समान सर्वगत ब्रह्म का सब प्राणी के हृदयों के साथ सम्बन्ध होने से और चेतन होने से जीव से विलक्षणता के अभाव से सुखदुःखादि का संभोग भी जीव के तुल्य ही प्राप्त होगा। जीव ब्रह्म की एकता से भी तुल्य भोग प्राप्त होगा, क्योंकि परमात्मा से अन्य कोई आत्मा संसारी नहीं है यह 'इस ब्रह्म से अन्य विज्ञाता नहीं है' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। जिससे परमात्मा ही को भोग की प्राप्ति होती है। यदि इस प्रकार कहा जाय तो यह कहना उचित नहीं क्योंकि जीव ब्रह्म में भेद है। सब प्राणी के हृदय के साथ सम्बन्ध से जीव के समान ब्रह्म को संभोग की प्राप्ति नहीं है। इसमें विशेषता (भेद) ही हेतु है। और जीव परमेश्वर में परस्पर भेद अवश्य है। एक जीव कर्त्ता, भोक्ता, धर्माधर्म रूप साधन वाला और सुख-दुःखादि वाला है और एक परमात्मा उससे विपरीत अपहतपाप्मत्वादि (पापादि-रहितत्वादि) गुण वाला है। इसी विशेष (भेद) से एक जीव को भोग होता है, उससे अन्य परमात्मा को भोग नहीं होता है। यदि वस्तु की शक्ति का आश्रयण (स्वीकार) नहीं करके सन्निधि (समीपता) मात्र से कार्य के सम्बन्ध को स्वीकार करें, तो दग्ध होते हुए काष्ठादि के सामीप्य से आकाशादि को भी दाहादि की प्राप्ति होगी। सर्वगत

अनेकात्मवादियों को भी यह शंका और समाधान तुल्य है। सबके आत्मा सर्व देश में सम्बन्ध वाले हैं, इससे सर्वत्र सब को भोग प्राप्त होता है, उसका निवारण सबका कर्तव्य है; केवल मुझे ही इस शंका का निवारण करना नहीं हैं। पहले यह जो कहा था कि ब्रह्म के एक होने से, आत्मान्तर के अभाव से जीव के भोग से ब्रह्म को भोग प्राप्त होता है, तो इस विषय में कहते हैं कि पहले उस मूढ को पूछना चाहिए कि दूसरे आत्माओं का अभाव है, यह तुमने कैसे निश्चय किया है, किस प्रमाण से समझा है ? यदि कहे कि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादि शास्त्रों से समझा है कि तू ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ, और ब्रह्म से अन्य विज्ञाता नहीं है। तो उसको सर्वांश में शास्त्र के अनुसार ही शास्त्रकथित अर्थ को समझना चाहिए। शास्त्रार्थ में अर्द्धजरतीय प्राप्त होने योग्य नहीं है। कुछ मानना कुछ नहीं मानना यह अर्द्धवृद्धयुवत्व के समान अयुक्त है 'तत्त्वमसि' यह शास्त्र तो विगतपापादिविशेषणयुक्त ब्रह्म को जीव की आत्मा रूप से उपदेश करता हुआ जीव को भी प्रथम से अज्ञानवश प्राप्त उपभोक्तृत्व का वारण करता है, फिर उस जीव के उपभोग से ब्रह्म को कैसे उपभोग की प्राप्ति हो सकती है ?

अथागृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वं तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः। नहि बालैस्तलमलिनतादिभिर्व्योम्नि विकल्प्यमाने तलमलिनतादिविशिष्टमेव परमार्थतो व्योम भवति। तदाह—न वैशेष्यादिति। नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानयोः। मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः, सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम्। नच मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्पृश्यते। तस्मान्नोपभोगगन्धोऽपि शक्य ईश्वरस्य कल्पयितुम् ॥ ८ ॥

यदि शास्त्रादि द्वारा जीव की ब्रह्म के साथ एकता को नहीं समझता है, तो मिथ्या ज्ञाननिमित्तक प्रतिभासात्मक जीव को भोग होता हैं, और उस भोग के साथ सत्य स्वरूप ब्रह्म को संस्पर्श (सम्बन्ध) नहीं होता है, जैसे कि अज्ञानियों से तल-मलिनतादि धर्मों द्वारा आकाश के विकल्पित (उन धर्मों से सहित ज्ञात) होने पर भी वस्तुतः तलमिलनतायुक्त ही आकाश नहीं हो जाता है, जिससे सूत्रकार कहते हैं कि (न वैश्येष्यादिति)। ब्रह्म के एक सर्वानुगत होते हुए भी जीव के उपभोग से ब्रह्म को उपभोग की प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि भेद है। मिथ्या ज्ञान और सत्य ज्ञान में अवश्य भेद होता है। वहाँ मिथ्याज्ञान से कल्पित (सिद्ध) उपभोग होता है, और सत्यज्ञान से एकत्व दृष्ट (प्रत्यक्ष) होता है, तथा मिथ्याज्ञान से कल्पित उपभोग के साथ सत्यज्ञान से दृष्ट वस्तु संस्पृष्ट-सम्बद्ध नहीं होती है, जिससे उपभोग का गन्ध (लेश) मात्र भी ईश्वर में कल्पना के योग्य नहीं है ॥ ९ ॥

अत्त्रधिकरण (२)

जीवोऽग्निरीशो वाऽत्ता स्यादोदने जीव इष्यताम् ।
स्वाद्वत्तीति श्रुतेर्वह्निर्वाग्निरन्नाद इत्यदः ॥ १ ॥
ब्रह्मक्षत्रादिजगतां भोज्यत्वात् स्यादिहेश्वरः ।
ईशप्रश्नोत्तरत्वाच्च संहारस्तस्य चात्तृता ॥ २ ॥

संक्षिप्तार्थ यह है कि (यद्यपि पूर्वाधिकरणे ब्रह्मणो भोक्तृत्वं प्रतिषिद्धं तथापि कठवाक्याल्लब्धोऽत्ता ब्रह्मैव नाग्न्यादिकम् । ब्रह्मक्षत्रपदाभ्यां चराचरस्य जगतो ग्रहणादत्तव्यत्वेन स्वीकारादिति) यद्यपि पूर्व अधिकरण में ब्रह्म को भोक्तृता का निषेध किया गया है, तथापि कठ श्रुति के ओदनयुक्त वाक्य से सूचित अत्ता ब्रह्म ही हो सकता है, अग्नि आदि नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ब्रह्मक्षत्रपद से चराचर जगत् का उपलक्षण द्वारा ग्रहण होता है, और सब जगत का संहर्तारूप अत्ता ब्रह्म ही हो सकता है, अन्य नहीं हो सकता ।

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

(यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च) इस श्रुति से उपलब्ध अत्ता जीव वा अग्नि वा ईश्वर है, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष होता है कि ओदन शब्दार्थ भोग्य के रहने के कारण भोक्तारूप जीव ही यहाँ अत्ता हो सकता है, और (पिप्पलं स्वाद्वत्ति) इस श्रुति से भी अत्ता जीव सिद्ध होता है । अथवा (अग्निरन्नादः) इस श्रुति के अनुसार अग्नि अत्ता हो सकती है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि ब्रह्मक्षत्रपद के उपलक्षक होने से यहाँ सब जगत के भोज्य होने से ईश्वर ही अत्ता हो सकता है । दूसरी बात है कि उक्त वाक्य ईश्वरविषयक प्रश्न का उत्तर रूप है, इससे ईश्वर ही अत्ता है । जगत का संहार ही ईश्वर की अत्तृता (भोक्तृता) है, क्योंकि सुखादि की भोक्तृता उसमें नहीं है, यह पहले ही कहा जा चुका है ॥ २ ॥

कठवल्लीषु पठ्यते—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' (१।२।२४) इति । अत्र कश्चिदोदनोपसेचनसूचितोऽत्ता प्रतीयते । अत्र किमग्निरत्ता स्यात्, उत जीवः, अथवा परमात्मेति संशयः, विशेषानवधारणात्, त्रयाणां चाग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे प्रश्नोपन्यासोपलब्धेः । किं तावत्प्राप्तम् ? अग्निरत्तेति । कुतः ? 'अग्निरन्नादः' (बृ० १।४।६) इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम् । जीवो वाऽत्ता स्यात्, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति दर्शनात् । न परमात्मा, 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मुण्ड० ३।१।१) इति दर्शनादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः ।

कठोपनिषद् के छः वल्ली (लता-काण्ड) हैं । दो अध्याय हैं । वहाँ प्रथम अध्याय वल्ली २ के अन्दर पढ़ा गया है कि (जिसके ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनों ओदन हैं, मृत्यु उस

ओदन में उपसेचन (संस्कारक घृत दाल आदि) है, वह अत्ता जिस निर्गुण ब्रह्म में अभिन्न रूप से रहता है। जिस निज महिमा में रहता है, उस ईश्वराश्रय को जैसे साधनसम्पन्न अधिकारी जानता है, इस रीति से अन्य कौन जान सकता है) इत्यादि। यहाँ ओदन और उपसेचन से सूचित (बोधित) कोई अत्ता प्रतीत होता है। यहाँ संशय होता है कि अग्नि अत्ता हो सकती है अर्थात् जीव अत्ता है, अथवा परमात्मा ? क्योंकि विशेष का निश्चय नहीं होता है, और अग्नि, जीव, परमात्मा इन तीनों के प्रश्नों का कथन इस ग्रन्थ में उपलब्ध (ज्ञात) होता है। विमर्श होता है कि पहले प्राप्त क्या है ? पूर्वपक्ष है कि अग्नि अत्ता है, क्योंकि (अग्नि अन्न का भोक्ता है) इस प्रकार श्रुति कहती है और लोक में प्रसिद्धि भी है कि अग्नि अत्ता है। जाठराग्नि के ही अधीन भोक्तृत्व है। अथवा जीव अत्ता हो सकता है, क्योंकि जीवेश्वर में एक जीव स्वादु विषय को भोगता है। इस अर्थ में श्रुति देखी जाती है, और परमात्मा तो भोक्ता नहीं हो सकता। क्योंकि (भोग नहीं करता हुआ परमात्मा प्रकाश करता है) इस अर्थ में श्रुति देखी जाती है। इस प्रकार प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं।

अत्ताऽत्र परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः ? चराचरग्रहणात्। चराचरं हि स्थावरजङ्गमं मृत्यूपसेचनमिहाद्यत्वेन प्रतीयते। तादृशस्य चाद्यस्य न परमात्मनोऽन्यः कार्त्स्न्येनात्ता सम्भवति, परमात्मा तु विकारजात संहरत सर्वमत्तीत्युपपद्यते। नन्विह चराचरग्रहणं नोपलभ्यते, तत् कथं सिद्धवच्चराचरग्रहणं हेतुत्वेनोपादीयते। नैष दोषः। मृत्यूपसेचनत्वेन सर्वस्य प्राणिनिकायस्य प्रतीयमानत्वात्, ब्राह्मणक्षत्रयोश्च प्राधान्यात्प्रदर्शनार्थत्वोपपत्तेः। यत्तु—परमात्मनोऽपि नात्तृत्वं सम्भवति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति दर्शनात्—इति। अत्रोच्यते। कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकमेतद्दर्शनम्, तस्य संनिहितत्वात्, न विकारसंहारस्य प्रतिषेधकम्, सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्। तस्मात्परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति ॥ ९ ॥

यहाँ 'अत्ता' परमात्मा ही होने योग्य है, क्योंकि चराचर का यहाँ ग्रहण है। इससे चराचर रूप स्थावर और जंगम मृत्युरूप उपसेचनयुक्त यहाँ प्रतीत होता है। ऐसे चराचररूप अद्य (भक्ष्य) का सम्पूर्ण रूप से भक्षक परमात्मा से अन्य नहीं हो सकता है, और परमात्मा तो विकार-समूह का संहार करता हुआ सबको खाता है, यह बन सकता है। शंका होती है कि यहाँ चराचर का ग्रहण उपलब्ध (ज्ञात) नहीं होता है, तो भी श्रुति में वर्त्तमान के समान चराचर ग्रहण का हेतुरूप से कैसे ग्रहण किया जाता है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि मृत्यु की उपसेचना से सब प्राणि-समूह की प्रतीति होती है। ब्राह्मण-क्षत्रिय का ग्रहण प्रधानता से है, और उन दोनों की प्रधानता से अन्य सब प्राणी के प्रदर्शनार्थत्व की सिद्धि होती है, उनके द्वारा सब प्राणी को ओदन रूप समझाया जाता है। और जो यह कहा था कि परमात्मा को भी भोक्तृत्व नहीं बन सकता; क्योंकि (भोगरहित होकर परमात्मा

प्रकाश करता है) इस अर्थ में श्रुति देखी जाती है। यहाँ कहा जाता है कि कर्मफल भोग का प्रतिषेधन रूप यह दर्शन (वचन) कर्मफल भोग ही की समीपता है, विकारसंहार का प्रतिषेधक वह दर्शन नहीं है, क्योंकि सब वेदान्त में सृष्टि स्थिति और संहार के कारण रूप से ब्रह्म प्रसिद्ध है। जिससे यहाँ परमात्मा अत्ता होने योग्य है ॥ ९ ॥

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

इतश्च परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति, यत्कारणं प्रकरणमिदं परमात्मनः, 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (काठ० १।२।१८) इत्यादि। प्रकृतग्रहणं च न्याय्यम्। 'क इत्था वेद यत्र सः' इति च दुर्विज्ञानत्वं परमात्मलिङ्गम् ॥ १० ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी परमात्मा ही अत्ता होने योग्य है। क्योंकि यह परमात्मा ही का प्रकरण है (यह परमात्मा न जन्मता है, न मरता है और यह विद्वान् सर्वज्ञ है) इत्यादि। एवं प्रकरण प्राप्त का ग्रहण न्याययुक्त होता है। और जहाँ वह परमात्मा है उसे इदमित्थम्—यह ऐसा है इस प्रकार से कौन जान सकता है। इस प्रकार (दुर्विज्ञानत्व) कष्टसाध्यज्ञानविषयत्व भी परमात्मा का ही लिंग है ॥ १० ॥

गुहाप्रविष्टाधिकरण (३)

गुहां प्रविष्टौ धीजीवौ जीवेशौ वा हृदि स्थितौ।
छायातपाख्यदृष्टान्ताद्धीजीवौ स्तो विलक्षणौ ॥ १ ॥
पिबन्ताविति चैतन्यद्वयं जीवेश्वरौ ततः।
हृत्स्थानमुपलब्ध्यै स्याद्वैलक्षण्यमुपाधितः ॥ २ ॥

'गुहां प्रविष्टौ' इस रूप से वर्णित बुद्धि और जीव हैं, अथवा जीवेश्वर हैं? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष है कि छाया और आतप नामक दृष्टान्त से विलक्षण हृदयस्थित बुद्धि और जीव है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि 'पिबन्तौ' इस कथन से दो चेतन की प्रतीति होती है, इससे जीव और ईश्वर गुहाप्रविष्ट कहे गये हैं, और हृदय स्थान उपलब्धि (ज्ञानोपासना) के लिये कहा गया है। जीवेश्वर में उपाधि से विलक्षणता होती है ॥ २ ॥

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

'गुहाम्-प्रविष्टौ-आत्मानौ-हि-तद्दर्शनात्' ये पाँच पद इस सूत्र में हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (गुहां प्रविष्टौ—इति कठवल्ल्यां गुहायां प्रविष्टत्वेन श्रुतौ जीवपरमात्मानौ हि एव स्तः। तयोरेवान्यास्वपि श्रुतिषु गुहाप्रविष्टत्वेन दर्शनादिति) गुहां प्रविष्टौ, इस प्रकार पठित कठवल्ली में गुहाप्रविष्टत्वरूप से सुने गये जीव और परमात्मा हैं. क्योंकि उन दोनों को ही अन्य श्रुतियों में भी गुहाप्रविष्टत्व रूप से वर्णित देखा जाता है।

कठवल्लीष्वेव पठ्यते—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' (काठ० १।३।१) इति । तत्र संशयः—किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टावुत जीवपरमात्मानाविति । यदि बुद्धिजीवौ, ततो बुद्धिप्रधानात्कार्यकरणसङ्घाताद्विलक्षणो जीवः प्रतिपादितो भवति । तदपीह प्रतिपादयितव्यम्, 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः' (काठ० १।१।२०) इति पृष्टत्वात् । अथ जीवपरमात्मानौ, ततो जीवाद्विलक्षणः परमात्मा प्रतिपादितो भवति । तदपीह प्रतिपादयितव्यम्, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' (काठ० १।२।१४) इति पृष्टत्वात् । अत्राहाक्षेप्ता—उभावप्येतौ पक्ष न सम्भवतः । कस्मात् ? ऋतपानं कर्मफलोपभोगः, 'सुकृतस्य लोके' इति लिङ्गात् । तच्च चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य सम्भवति, नाचेतनाया बुद्धेः । पिबन्तौ इति च द्विवचनेन द्वयोः पानं दर्शयति श्रुतिः । अतो बुद्धिक्षेत्रज्ञपक्षस्तावन्न सम्भवति, अत एव क्षेत्रज्ञपरमात्मपक्षोऽपि न सम्भवति, चेतनेऽपि परमात्मनि ऋतपानासम्भवात् । 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति मन्त्रवर्णादिति । अत्रोच्यते—नैष दोषः । छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेनापि छत्रिणा बहूनां छत्रित्वोपचारदर्शनात् । एवमेकेनापि पिबता द्वौ पिबन्तावुच्येयाताम् । यद्वा जीवस्तावत्पिबति, ईश्वरस्तु पाययति, पाययन्नपि पिबतीत्युच्यते । पाचयितर्यपि पक्तृत्वप्रसिद्धिदर्शनात् । बुद्धिक्षेत्रज्ञपरिग्रहोऽपि सम्भवति करणे कर्तृत्वोपचारात्, एधांसि पचन्तीति प्रयोगदर्शनात् । न चाध्यात्माधिकारेऽन्यौ कौचिद् द्वावृतं पिबन्तौ सम्भवतः । तस्माद् बुद्धिजीवौ स्यातां जीवपरमात्मानौ वेति संशयः किं तावत्प्राप्तम् ? बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति । कुतः ? 'गुहां प्रविष्टौ' इति विशेषणात् । यदि शरीरं गुहा यदि वा हृदयम् उभयथापि बुद्धिक्षेत्रज्ञौ गुहां प्रविष्टावुपपद्यते नच सति सम्भवे सर्वगतस्य ब्रह्मणो विशिष्टदेशत्वं युक्तं कल्पयितुम् । 'सुकृतस्य लोके' इति च कर्मगोचरानतिक्रमं दर्शयति । परमात्मा तु न सुकृतस्य वा दुष्कृतस्य वा गोचरे वर्तते, 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति श्रुतेः । 'छायातपौ इति च चेतनाचेतनयोर्निर्देश उपपद्यते छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात् । तस्माद् बुद्धिक्षेत्रज्ञाविहोच्येयातामिति प्राप्ते ब्रूमः—

कठवल्लियों में ही पढ़ा जाता है कि सुकृत-स्वयंकृत कर्म के ऋत-अवश्यंभाविफल को संसार में वा कर्मफलरूप देहात्मक लोक में वर्तमान और पर (परात्मा) की स्थिति के योग्य परार्ध हृदय रूप गुहा में प्रविष्ट को ब्रह्मवेत्ता और कर्मी भी छाया और आतप के समान विलक्षण कहते हैं, जो कर्मी पंचाग्नि वाले और तीन बार नाचिकेत नामक अग्नि का चयन करने वाले हैं । वहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ बुद्धि और जीव गुहाप्रविष्ट शब्द से कहे गये हैं, वा जीव और परमात्मा कहे गये हैं ? यदि बुद्धि

और जीव कहे गये हों तो जिसमें बुद्धि प्रधान है ऐसे देहेन्द्रिय के संघात से विलक्षण
जीव यहाँ प्रतिपादित होता है। उस जीव का बुद्धि से विलक्षणत्व भी यहाँ प्रति-
पादन कर्तव्य है, क्योंकि कोई कहते हैं कि मनुष्य के मरने पर भी जीवात्मा
रहता है, कोई कहते हैं कि नहीं रहता है, इस तत्त्व को मैं आप से उपदिष्ट
शिक्षित हो कर जानूँगा। यही वरों में तीसरा वर है। यदि यहाँ जीव और
परमात्मा कहे गये हों, तो जीव से विलक्षण परमात्मा प्रतिपादित होता है।
वह विलक्षण परमात्मा का स्वरूप भी यहाँ प्रतिपादन योग्य है, क्योंकि प्रश्न
है कि (धर्म, अधर्म, इस कार्य कारण, और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान इन
सबसे अन्यत्र (भिन्न) त्रिकालातीत जिस वस्तु को जानते हो सो कहो)। यहाँ
आक्षेप (निन्दा) करने वाला कहता है कि, ये दोनों पक्ष अयुक्त हैं, बन नहीं सकते हैं,
क्योंकि कर्मफल भोग का नाम ऋतपान है। उसमें, 'सुकृतस्य लोके' (स्वयं कृत कर्म
के कार्य देह में) यह कथन लिंग हेतु अनुमापक है। और ऋतपान चेतन क्षेत्रज्ञ का
हो सकता है। अचेतन बुद्धि का नहीं हो सकता है। एवं पिबन्तौ, इस पद में द्विवचन
से गुहाप्रविष्ट दोनों के ऋतपान के सम्बन्ध को श्रुति दर्शाती है। इससे प्रथम बुद्धि
क्षेत्रज्ञ वाला पक्ष का असंभव है। इसी हेतु से दूसरा क्षेत्रज्ञ परमात्मपक्ष (विशेष) का
भी सम्भव नहीं है, क्योंकि चेतन परमात्मा में भी कर्मफल का भोग नहीं है (परमात्मा
फल को नहीं भोगता हुआ प्रकाश करता है। इस प्रकार वेद मन्त्र कहता है। यहाँ
कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि एक छत्र वाले के रहते भी अजहत् लक्षणा
के द्वारा एक साथ चलने वाले बहुत मनुष्यों में ऐसा व्यवहार देखा जाता है कि ये छत्ता
वाले जाते हैं। इसी प्रकार एक फल भोक्ता जीव के साथ से जीवेश्वर दोनों फल
भोगते हैं यह लक्षणा से कहा जा सकता है। अथवा जीव वस्तुतः फल भोगता है,
और ईश्वर भोगाता है। इससे भोगाता हुआ भी भोगता है इस प्रकार कहा जाता
है, क्योंकि पाक कराने वालों में भी पाक-कर्तृत्व की प्रसिद्धि देखी जाती है। और
बुद्धि क्षेत्रज्ञ का ग्रहण भी करण में कर्तृत्व के उपचार (गौण व्यवहार) से हो सकता
है। एधांसि पचन्ति (लकड़ियाँ पकाती हैं) ऐसा प्रयोग देखा जाता है और अध्यात्म-
निरूपण के अधिकार (प्रकरण) में अन्य कोई फल भोक्ता नहीं हो सकते हैं। जिससे
बुद्धि जीव हो सकते हैं, या जीव परमात्मा हो सकते हैं। इससे संशय है; विमर्श है कि
क्या प्राप्त है? पूर्वपक्ष है कि बुद्धि और क्षेत्रज्ञ प्राप्त है। क्योंकि भोक्ता का गुहा प्रविष्ट
यह विशेषण है, उसका बुद्धि और जीव में सम्भव है। क्योंकि यदि शरीर गुहा है वा
हृदय गुहा है इन दोनों प्रकार से बुद्धि और क्षेत्रज्ञ ही गुहाप्रविष्ट हो सकते हैं। सम्भव
रहते सर्वगत ब्रह्म को विशिष्ट देशत्व (एकदेशित्व) की कल्पना करना युक्त नहीं है।
और ('सुकृतस्य लोके') यह श्रुति कर्मफल का अनतिक्रमण (संबन्ध) दर्शाती है।
परमात्मा तो पुण्य पाप के अधीन नहीं रहता है, क्योंकि श्रुति कहती है कि परमात्मा
न कर्म से बढ़ता है न छोटा होता है, और छाया आतप तुल्य कथन भी अचेतन, तथा

चेतन में बन सकता है। क्योंकि जड़ चेतन में छाया और आतप तुल्य विलक्षणता है। जिससे बुद्धि और क्षेत्रज्ञ यहाँ पान-कर्ता कहे जा सकते हैं। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—

विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम्। कस्मात्? आत्मानौ हि तावुभावपि चेतनौ समानस्वभावौ। संख्याश्रवणे च समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते। अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाश्वः पुरुषो वा। तदिह ऋतपानेन लिङ्गेन निश्चिते विज्ञानात्मनि द्वितीयान्वेषणाय समानस्वभावश्चेतनः परमात्मैव प्रतीयते। ननूक्तं—'गुहाहितत्वदर्शनान्न परमात्मा प्रत्येतव्य'—इति। गुहाहितत्वदर्शनादेव परमात्मा प्रत्येतव्य इति वदामः। गुहाहितत्वं तु श्रुतिस्मृतिष्वसकृत्परमात्मन एव दृश्यते—'गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम्' (काठ० १।२।१२) 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तै० २।१) 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्' इत्याद्यासु। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थो देशविशेषोपदेशो न विरुध्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सुकृतलोकवर्तित्वं तु छत्रित्ववदेकस्मिन्नपि वर्तमानमुभयोरविरुद्धम्। छायातपावित्यप्यविरुद्धम्, छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्संसारित्वासंसारित्वयोः। अविद्याकृतत्वात्संसारित्वस्य पारमार्थिकत्वाच्चासंसारित्वस्य। तस्माद्विज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते ॥ ११ ॥

विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा यहाँ कहे जा सकते हैं। क्योंकि वे दोनों चेतनात्मा ही समान स्वभाव वाले भी हैं और संख्या के श्रवण स्थान में समान स्वभाव विषयक भी प्रतीति लोक मे देखी जाती है, जैसे कि इस गौ (वृष-बैल) के सम्बन्धी (साथी-जोड़ा) दूसरा गौ का अन्वेषण करना (खोजना), ऐसा कहने पर दूसरा बैल ही लोक में खोजा जाता है, अश्व या पुरुष (मनुष्य नहीं खोजा जाता है। जिससे यहाँ भी कर्मफल भोगरूप लिंग से विज्ञानात्मा (जीव) के निश्चय होने पर द्वितीय के खोज चिन्ता करने पर समान_स्वभाव वाला चेतन परमात्मा ही प्रतीत होता है। एवं जो कहा गया है कि 'गुहाहितत्व' (शरीर बुद्धि में प्रविष्टत्व) के दर्शन से परमात्मा नहीं समझा जा सकता, वहाँ कहते हैं कि गुहाहितत्व के देखने से ही परमात्मा समझा जा सकता है। क्योंकि परमात्मा को ही गुहाहितत्वरूप से अनेकों बार श्रुति स्मृतियों में सुना जाता है बुद्धि (बुद्धि गुहा) में प्रविष्ट-देह रूप गह्वर (गहन निकुञ्ज) में स्थिर पुरातन को जान कर विद्वान् हर्ष शोक को त्यागता है। परम श्रेष्ठ व्योम हृदयाकाश गत बुद्धि गुहा में जो निहित (प्रविष्ट) ब्रह्म को जानता है, जो सब काम को प्राप्त करता है। (गुहा में प्रविष्ट आत्मा को विचारो) इत्यादि श्रुति ब्रह्मात्मा को गुहाहित कहने वाली हैं और सर्वगत ब्रह्म का भी ज्ञानोपासनादि के लिए देश विशेष का उपदेश विरुद्ध नहीं होता है यह बात कही जा चुकी है। सुकृत लोक (कर्म जन्य देह) में रहना भी एक जीव ही में रहते भी छत्रित्व के समान लक्षणा से दोनों

में कथा अविरुद्ध है। छायातप तुल्यता भी अविरुद्ध है, क्योंकि संसारित्व और असंसारित्व को छाया और आतप के समान परस्पर विलक्षणता है। अविद्याकृत संसारित्व एवं पारमार्थिक असंसारित्व है, इससे इन दोनों में विलक्षणता है। जिससे विज्ञानात्मा और परमात्मा गुहाप्रविष्ट गृहीत (ज्ञात) होते हैं ॥ ११ ॥

कुतश्च विज्ञानात्मपरमात्मानौ गृह्येते ?

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

किस हेतु से विज्ञानात्मा और परमात्मा गृहीत होते हैं ?

संक्षिप्तार्थ है कि (गन्तृगन्तव्यत्वादिविशेषणभेदात् । मन्तृमन्तव्यत्वादिविशेषण-भेदेन निरूपणात्—जीवात्मपरमात्मैव गृह्येते) गन्ता प्राप्ति कर्ता जीव है। गन्तव्य परमपद परमात्मा है। मनन करने वाला ज्ञाता जीव है मन्तव्य परमात्मा है। इनके धर्म रूप विशेषणों का भेद है। विशेषणों के भेद पूर्वक श्रुति में निरूपण इन दोनों का किया गया है। इससे जीवात्मा परमात्मा का ग्रहण किया जाता है।

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव सम्भवति। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (का० १।३।३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपक-कल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (का० १।३।९) इति च परमात्मानं गन्तव्यं कल्पयति। तथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥'' (का० १।२।१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्तृमन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ। प्रकरणं चेदं परमात्मनः। 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति च वक्तृविशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते। तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम्। एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मुण्ड० ३।१।१) इत्येवमादिष्वपि। तत्रापि ह्यध्यात्माधिका-रान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद्वि-ज्ञानात्मा भवति। 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यनशनचेतनत्वाभ्यां परमात्मा। अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥' (मुण्ड० ३।१।२) इति।

जीवात्मा और परमात्मा का ही वक्ष्यमाण विशेषण हो सकता है, क्योंकि आत्मा को रथी और शरीर को रथ जानो। इत्यादि आगे के ग्रंथ से रथी रथादि रूपक की कल्पना द्वारा विज्ञानात्मारूप रथी को संसार और मोक्ष मार्ग में गमन कर्ता सिद्ध किया जाता है। और वह जीव संसार मार्ग के परम पार को प्राप्त करता है जो परम पार विष्णु 'व्यापक' परमात्मा का पद (स्वरूप) है। इस प्रकार परमात्मा को गन्तव्य (प्राप्य) सिद्ध करता है। इसी प्रकार (उस दुर्दर्श दुर्ज्ञेय)

माया से आवृत माया में प्रविष्ट शरीरासक्त मिलित के समान पुरातन उस आत्मदेव को विवेकादियुक्त निदिध्यासनरूप अध्यात्मयोग से अपरोक्ष समझकर (अध्यात्मयोग की प्राप्ति से आत्मा को प्राप्त करके) विद्वान् पुरुष हर्ष शोक को त्याग देता है। इस पूर्व ग्रन्थ में भी मन्ता और मन्तव्य रूप से ये जीव और परमेश्वर ही विशेषण युक्त निरूपित कथित हैं। परमात्मा का प्रकरण है, और (ब्रह्मवेत्ता इसको कहते है) यह वक्ता का ब्रह्मज्ञतारूप विशेषण भी परमात्मा के परिग्रहण करने पर संघटितयुक्त होता है। जिससे यहाँ जीव परमात्मा को ही कहने योग्य समझना चाहिये। यही न्याय (द्वासुपर्णा सयुजा सखाया) इत्यादि श्रुति में भी समझना चाहिये। सुन्दर गति वाले, सदा साथ रहने वाले, तुल्य स्वभाव वाले जीवेश्वर दोनों एक शरीर वृक्ष का आश्रयण करते हैं, उनमें से एक जीव स्वादु कर्म फल को भोगता है। एक ईश्वर भोगे बिना सही रूप से प्रकाशता है। इस श्रुति में भी अध्यात्म प्रकरण होने से सुपर्ण पद से सुन्दर पांख वाले प्राकृत (लोक प्रसिद्ध) साधारण पक्षी नहीं कहे जाते हैं। किन्तु उनमें एक स्वादु पिप्पल खाता है। इस अदन (भोग) रूप से लिंग से विज्ञानात्मा सिद्ध होता है। भोगे बिना प्रकाशता है। यहाँ अनशन (भोगाभाव) और चेनतत्व से परमात्मा सिद्ध होता है। द्वासुपर्णा, के अनन्तर पठित मन्त्र में वे ही जीव और परमात्मा द्रष्टा और द्रष्टव्य भावरूप विशेषण युक्त कहे यये हैं। इन्हीं को द्रष्टृत्व द्रष्टव्यत्व विशेषण युक्त श्रुति कहती है कि समान एक देह वृक्ष में देहभिमानादि से आसक्त जीवात्मा रूप पुरुष अनीशता के कारण मोहित होता हुआ शोचता है सन्तप्त होता है। और जब योगादि द्वारा जुष्ट (सेवित) अन्य ईश्वर को अपरोक्ष करता है, और सब जगत् को उसके महिमा रूप देखता है तब उसको प्राप्त हो कर शोक रहित हो जाता है इत्यादि।

अपर आह—'द्वा सुपर्णा' इति नेयमृगस्याधिकरणस्य सिद्धान्तं भजते, पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनान्यथा व्याख्यातत्वात्। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ती'ति सत्त्वम्, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीति, अनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः, तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। सत्त्वशब्दो जीवः क्षेत्रज्ञशब्दः परमात्मेति यदुच्यते। तन्न। सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोरन्तःकरणशारीरपरतया प्रसिद्धत्वात्। तत्रैव च व्याख्यातत्वात्—'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति, अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षं भजते। नह्यत्र शारीरः क्षेत्रज्ञः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिना संसारधर्मेणोपेतो विवक्ष्यते। कथं तर्हि सर्वसंसारधर्मातीतो (१) ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यमात्रस्वरूपः 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति, अनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः' इति वचनात् 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गी० १३।२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। तावता च विद्योपसंहारदर्शनमेवमेवावकल्प्यते, 'तावेतौ सत्वक्षेत्रज्ञौ. न ह वा एवंविदि

किञ्चन रज आध्वंसते' इत्यादि। कथं पुनरस्मिन्पक्षे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्' इत्यचेतने सत्त्वे भोक्तृत्ववचनमिति। उच्यते। नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता किं तर्हि? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति। तदर्थं सुखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति। इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते। परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि सम्भवति, अचेतनत्वात्सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य, अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न सम्भवति। तथा च श्रुतिः—'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' इत्यादिना स्वप्नदृष्टहस्त्यादिव्यवहारवदविद्याविषय एव कर्तृत्वादिव्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना च विवेकिनः कर्तृत्वादिव्यवहाराभावं दर्शयति ॥१०॥

अन्य कोई कहते हैं कि (द्वासुपर्णा) यह ऋग् इस अधिकरण के सिद्धान्त को नहीं भजती (कहती) है। क्योंकि 'पैङ्गिरहस्य' ब्राह्मण में इसका अन्य रीति से व्याख्यान किया है। कहा गया है कि (तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति) यहाँ भोक्ता सत्त्व है और अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति) इससे कहा गया है कि भोगे बिना अन्य देखता है, सो ज्ञ (ज्ञाता) है। और ये दोनों सत्त्व और क्षेत्रज्ञ है। सत्त्व शब्द का अर्थ जीव और क्षेत्रज्ञ शब्द का अर्थ परमात्मा जो कहते हैं वह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सत्त्व क्षेत्रज्ञ शब्द की अन्तःकरण और शारीरपरता प्रसिद्ध है। जिस अन्तःकरण शरीर अर्थ में ही पैङ्गिरहस्य में ये दोनों शब्द व्याख्यात हैं। (जो यह सत्त्व है, जिससे स्वप्न देखता है और जो यह शरीर उपद्रष्टा है वह क्षेत्रज्ञ है, यही दो सत्त्व क्षेत्रज्ञ हैं) और इसी प्रकार यह ऋक् इस अधिकरण के पूर्वपक्ष को भी नहीं भजती है। क्योंकि यहाँ कर्तृत्वभोक्तृत्वादि संसार धर्म से युक्त शरीर क्षेत्रज्ञ विवक्षित नहीं है। फिर कैसा विवक्षित है कि सब सांसारिक धर्म से रहित असङ्गतादि ब्रह्म के स्वभाव वाला चैतन्यमात्र स्वरूप विवक्षित है, क्योंकि बिना भोगे प्रकाशता है, बिना भोगे देखता है। इस प्रकार का वचन है। वही सत्यात्मा तू है, (मुझे ही क्षेत्रज्ञ जानो) इत्यादि श्रुति स्मृति से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है और तावता (मन्त्र के व्याख्यान मात्र से ही) विद्या का उपसंहार वचन है कि (ये दोनों सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं) इस प्रकार जानने वाले में अविद्या रूप रज कुछ भी विध्वस को नहीं प्राप्त करा सकता है, विद्वान में अविद्या का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता है। शंका होती है कि इस पक्ष में (उन दोनों में से एक स्वादु पिप्पल खाता है, और वह सत्त्व है) इस प्रकार अचेतन सत्त्व में भोक्तृता कथन कैसे बन सकता है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि यह श्रुति, अचेतन सत्त्व को भोक्तृत्व कहूँगा, इस आशय से नहीं प्रवृत्त हुई है, तो किस आशय से प्रवृत्त हुई कि चेतन क्षेत्रज्ञ को अभोक्तृता और ब्रह्म स्वभावता

कहूँगा ? इस आशय से प्रवृत्त हुई है । इसलिए सुखादि विकार वाले सत्त्व में भोक्तृता का आध्यारोप करती है । और यह कर्तृत्व भोक्तृत्व भी सत्त्व और क्षेत्रज्ञ के परस्पर स्वभावों के अविवेककृत सिद्ध होता है । परमार्थ से तो सत्त्व क्षेत्रज्ञ में एक को भी कर्तृत्व भोक्तृत्व का सम्भव नहीं है, क्योंकि सत्त्व में अचेतनता है और क्षेत्रज्ञ को निर्विकारता है । सत्त्व को अविद्याजन्य स्वभाव वाला होने से उसमें कर्तृत्वादि का अत्यन्त असम्भव है । अतः श्रुति कहती है कि (जिस अज्ञान काल में चैतन्य भिन्न के समान रहता है, उस काल में अन्य द्रष्टा अन्य दृश्य को देखता है) इत्यादि कथनों से स्वप्न से दृष्ट हस्ती आदि व्यवहार के समान अविद्या विषय (काल) में ही कर्तृत्वादि व्यवहार को श्रुति दर्शाती है, और (जिस काल में इस ज्ञानी को सब आत्मा ही हो गया उस काल में किससे किसको देखे) इत्यादि से विवेकी के कर्तृत्वादि व्यवहारों के अभाव को बर्शाती है ॥ १२ ॥

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' यहाँ संशय होता है कि यह नेत्र में दृश्य पुरुष छाया है, या जीव है, या देव है, या ईश्वर है ? पूर्व पक्ष है कि आधार और दृश्यता के कथन से ईश्वर से अन्य तीन में से कोई हो सकता है । सिद्धान्त है कि जो प्रथम सुखस्वरूप विभु ब्रह्म कहा गया है वही वामनीत्वादि गुण युक्त नेत्र में उपासना का विषय है अन्य नहीं क्योंकि अन्य में अमृतत्वादि सम्भव नहीं है ॥ १-२ ॥

अन्तराधिकरण (४)

छायाजीवौ देवतेशौ वासौ योऽक्षिणि दृश्यते ।
आधारदृश्यतोक्त्येशादन्येषु त्रिषु कश्चन ॥
कं कं ब्रह्म यदुक्तं प्राग् तदेवाक्षिण्युपासते ।
वामनीत्वादिनाऽन्येषु नामृतत्वादिसम्भवः ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (चक्षुषि दृश्यत्वेनोपदिष्टोऽन्तरः पुरुषः परमात्मैव, तत्रोक्तानां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेरिति) नेत्र में दृश्यत्वरूप से उपदिष्ट अन्तरात्मा रूप पुरुष परमात्मा ही है, क्योंकि वहाँ कहे गये धर्मों की सिद्धि परमात्मा में ही हो सकती है ।

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति, तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' (छा० ४।१५।१) इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः--किमयं प्रतिबिम्बात्माक्ष्यधिकरणो निर्दिश्यतेऽथवा विज्ञानात्मा उत देवतात्मेन्द्रियस्याधिष्ठाताऽथवेश्वर इति । किं तावत्प्राप्तम् ? छायात्मा पुरुषप्रतिरूप इति । कुतः ? तस्य दृश्यमानत्वप्रसिद्धेः । 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति च प्रसिद्धवदुपदेशात् । विज्ञानात्मनो वाऽयं निर्देश इति युक्तम् । स हि चक्षुषा रूपं पश्यंश्चक्षुषि

सन्निहितो भवति, आत्मशब्दश्चास्मिन्पक्षऽनुकूलो भवति। आदित्यपुरुषो वा चक्षुषोऽनुग्राहकः प्रतीयते, रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' (बृ० ५।५२) इति श्रुतेः। अमृतत्वादीनां च देवतात्मन्यपि कथंचित्संभवात्। नेश्वरः, स्थानविशेषनिर्देशादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः।

उपकोसल नामक शिष्य के प्रति जाबाल नाम के गुरु ने कहा कि (जो यह आँख में पुरुष दीखता है यह आत्मा है और यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है, और इस आत्मा का जो नेत्र रूप स्थान है उसमें यदि घृत वा जल कोई सींचता है, तो वह घृत वा जल नेत्र में नहीं टिकता है किन्तु वर्त्मों (पक्ष्मों) पलकों में ही चला जाता है) इत्यादि सुना जाता है। यहाँ संशय होता है कि यह नेत्र रूप अधिकरण वाला प्रतिबिम्ब स्वरूप कहा जाता है, अथवा विज्ञानात्मा जीव कहा जाता है, या इन्द्रिय का अधिष्ठाता देवतात्मा कहा जाता है अथवा ईश्वर कहा जाता है। प्राप्त क्या होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर पूर्व पक्ष होता है कि पुरुष का प्रतिबिम्बरूप छायात्मा निर्दिष्ट है, और उसमें अमृतत्वादि ध्यान के लिए कल्पित मात्र है सत्य नहीं। छायात्मा ही क्यों है जिससे उसको दृश्यमानत्व प्रसिद्ध है, और मनुष्य दूसरे के नेत्र में अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को देख सकता है। (यह आँख में जो पुरुष दीखता है) इस प्रकार प्रसिद्ध के समान उपदेश है, इससे छायात्मा उपास्य है। अथवा इस पक्ष में अमृतत्वादि को अत्यन्त कल्पित होने से विज्ञानात्मा का यह कथन है ऐसा मानना उचित है। यद्यपि विज्ञानात्मा संपूर्ण शरीर में रहता है वा विशेष रूप से उसका हृदय स्थान है, तथापि वह चक्षु से रूप को देखते समय चक्षु में विशेषरूप से सन्निहित (प्राप्त) होता है, और श्रुति कथित आत्म शब्द भी इस पक्ष में अनुकूल होता है। अथवा नेत्र का सहायक आदित्य पुरुष यहाँ प्रतीत होता है, क्योंकि श्रुति भी कहती है कि (यह सूर्य किरणों द्वारा नेत्र में स्थिर है) देवात्मा में भी कल्पान्त तक स्थिति से किसी प्रकार अमृतत्वादि का सम्भव है। स्थान विशेष के कथन से यहाँ ईश्वर नहीं प्रतीत होता है। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि—

परमेश्वर एवाक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट इति कस्मात्? उपपत्तेः। उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपदिश्यमानम्। आत्मत्वं तावन्मुख्यया वृत्त्या परमेश्वर उपपद्यते 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रुतेः। अमृतत्वाभयत्वे च तस्मिन्नसकृच्छ्रुतौ श्रूयेते। तथा परमेश्वरानुरूपमेतदक्षिस्थानम्। यथाहि परमेश्वरः सर्वदोषैरलिप्तः, अपहतपाप्मत्वादिश्रवणात् तथाक्षिस्थानं सर्वलेपरहितमुपदिष्टम्, तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' इति श्रुतेः। संयद्वामत्वादिगुणोपदेशश्च तस्मिन्नवकल्पते। 'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति, एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि

नयति' एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१५।२,३,४) इति च अत उपपत्तेरन्तरः परमेश्वरः ॥ १३ ॥

नेत्र के अभ्यन्तर निर्दिष्ट (कथित) पुरुष परमेश्वर ही है, क्योंकि उसी की उपपत्ति (सिद्ध) होती है । जिससे यहाँ उपदिष्ट गुण समूह परमेश्वर में ही सिद्ध होते है । और (वह आत्मा है, तुम आत्म स्वरूप हो) इस श्रुति से आत्म शब्द भी मुख्य वृत्ति से परमेश्वर में ही संघटित सिद्ध होता है । एवं अमृतत्व-अभयत्व उस परमेश्वर में अनेकों बार श्रुति में सुने जाते हैं । इसी प्रकार परमेश्वर के योग्य यह नेत्र रूप स्थान है। क्योंकि पापादि से अलिप्तादि के सुनने से जैसे परमेश्वर सब दोषों से अलिप्त अलग है, वैसा ही नेत्र रूप स्थान सब लेप से रहित उपदिष्ट (कथित) है कि (यदि इस आँख में घृत वा जल सींचता है, तो वह वर्त्म में चला जाता है । श्रुति कहती है कि (इस नेत्र गत पुरुष को संयद्वाम[1] कहते हैं, क्योंकि इसी परमात्मा के निमित्त कारण रूप से प्राप्त करके सब प्राणी के वाम (शोभन कर्म फल पुण्य) उत्पन्न और प्राप्त होते हैं। इससे यह परमात्मा ही वामनी (कर्मफलदाता-शोभनपुण्यादि को प्राप्त कराने वाला) है । क्योंकि यही सब वामों (कर्म फलों) को प्राप्त कराता है । यही भामनी (प्रकाश का प्रापक) है । क्योकि यही सब लोकों में प्रकाशता है । इस प्रकार श्रुत्यर्थ के ईश्वर में संघटित सिद्ध होने से यहाँ अन्तरात्मा परमेश्वर है ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

कथं पुनराकाशवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽक्ष्यल्पस्थानमुपपद्यत इति । अत्रोच्यते—भवेदेषाऽनवक्लृप्तिः यद्येतदेवैकं स्थानमस्य निर्दिष्टं भवेत् । सन्ति ह्यन्यान्यपि पृथिव्यादीनि स्थानान्यस्य निर्दिष्टानि—'यः पृथिव्यां. तिष्ठन्' (बृ० ३।७।३) इत्यादिना । तेषु हि चक्षुरपि निर्दिष्टम्—'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इति । स्थानादिव्यपदेशात्' इत्यादिग्रहणेनैतद्दर्शयति—न केवलं स्थानमेवैकमनुचितं ब्रह्मणो निर्दिश्यमानं दृश्यते, किं तर्हि ? नामरूपमित्येवंजातीयकमप्यनामरूपस्य ब्रह्मणोऽनुचितं निर्दिश्यमानं दृश्यते--'तस्योदिति नाम' 'हिरण्यश्मश्रुः (छा० १।६।७।६) इत्यादि । निर्गुणमपि सद्ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव । सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते, शालग्राम इव विष्णोरित्येतदप्युक्तमेव ॥ १४ ॥

पूर्वोक्तार्थ में शंका होती है कि आकाश तुल्य सर्वगत ब्रह्म का नेत्ररूप अल्प स्थान कैसे सिद्ध हो सकता है ? यहाँ कहा जाता है कि यह असिद्धि अयुक्तता तब

१. संयन्ति—समुत्पद्यन्ते, वामानि शोभनानि फलानि यतः स संयद्वाम इति ।

होती, कि यदि यह एक ही स्थान इस ब्रह्म का निर्दिष्ट (कथित) होता। ऐसी बात है नहीं, क्योंकि अन्य भी पृथिवी आदि स्थान इसके निर्दिष्ट हैं। जैसे लिखा है कि (वह पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी का नियन्ता है) इत्यादि। और उन पृथिवी आदिकों में चक्षु भी निर्दिष्ट है कि (जो चक्षु में रहता हुआ चक्षु का नियन्ता है) और (स्थानादि व्यपदेशात्) इसमें आदि शब्द का ग्रहण से वह दर्शाते हैं कि ब्रह्म का केवल एक अनुचित स्थान ही कहा गया नहीं दीखता है, किन्तु इस प्रकार के नाम रूप रहित ब्रह्म के अनुचित नाम और रूप के कथन भी दीखते हैं कि (उसका उद् यह नाम है) और वह हिरण्यमय दाढ़ी वाला है) इत्यादि। भाव यह है कि वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म का नाम रूप में स्थिर गुणों के द्वारा उपासना के लिए तत्तत् स्थानों में सगुण उपदेश दिया जाता है, यह पहले भी कहा ही गया है। और सर्वगत ब्रह्म का भी ज्ञान उपासना के लिए स्थान विशेष विरुद्ध नहीं होता है, जैसे विष्णु की उपासना के लिए शालग्राम विरुद्ध नहीं होता है। यह भी पहले कहा जा चुका है ॥ १४ ॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अपिच नैवात्र विवदितव्यम्—किं ब्रह्मास्मिन्वाक्येऽभिधीयते न वेति। सुखविशिष्टाभिधानादेव ब्रह्मत्वं सिद्धम्। सुखविशिष्टं हि ब्रह्म यद्वाक्योपक्रमे प्रक्रान्तं 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, तदेवेहाभिहितं, प्रकृतपरिग्रहस्य न्याय्यत्वात्। आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (छा० ४।१४।१) इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानात्। कथं पुनर्वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म विज्ञायत इति। उच्यते—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्येतदग्नीनां वचनं श्रुत्वोपकोसल उवाच—'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामि' इति। तत्रेदं प्रतिवचनम्—'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' (छा० ४।१०।५) इति। तत्र खंशब्दो भूताकाशे निरूढो लोके। यदि तस्य विशेषणत्वेन कंशब्दः सुखवाची नोपादीयेत, तथा सति केवले भूताकाशे ब्रह्मशब्दो नामादिष्विव प्रतीकाभिप्रायेण प्रयुक्त इति प्रतीतिः स्यात्। तथा कंशब्दस्य विषयेन्द्रियसंपर्कजनिते सामये सुखे प्रसिद्धत्वात्, यदि तस्य खंशब्दो विशेषणत्वेन नोपादीयेत, लौकिकं सुखं ब्रह्मेति प्रतीतिः स्यात्। इतरेतरविशेषितौ तु कंखंशब्दौ सुखात्मकं ब्रह्म गमयतः। तत्र द्वितीये ब्रह्मशब्देऽनुपादीयमाने कं खं ब्रह्मेत्येवोच्यमाने कंशब्दस्य विशेषणत्वेनैवोपयुक्तत्वासुखस्य गुणस्याध्येयत्वं स्यात्, तन्मा भूदित्युभयोः कंखंशब्दयोर्ब्रह्मशब्दशिरस्त्वं 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति। इष्टं हि सुखस्यापि गुणस्य गुणिवद्ध्येयत्वम्। तदेव वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्मापदिष्टम्। प्रत्येकं च गार्हपत्यादयोऽग्नयः स्वं स्वं महिमानमुपदिश्य 'एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या च' इत्युपसंहरन्तः पूर्वत्र ब्रह्म निर्दिष्टमिति ज्ञापयन्ति। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इति च गतिमात्राभिधान-

प्रतिज्ञानमर्थान्तरविवक्षां वारयति। 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४।१४।३) इति चाक्षित्यं पुरुषं विजानतः पापेनानुपघातं ब्रुवन्नक्षिस्थानस्य पुरुषस्य ब्रह्मत्वं दर्शयति। तस्मात्प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्षिस्थानतां संयद्वामत्वादिगुणतां चोक्त्वार्चिरादिकां तद्विदो गतिं वक्ष्यामीत्युपक्रमते—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ४। ५।१) इति ॥ १५ ॥

यहाँ इस वाक्य में ब्रह्म कहा जाता है या नहीं कहा जाता है ? इस प्रकार के विवाद यहाँ नहीं करने चाहिए। क्योंकि सुख विशिष्ट का कथन से ही ब्रह्मत्व सिद्ध-निश्चित है। सुखविशिष्ट ही जो ब्रह्मवाक्य के आरम्भ में निरूपण के लिए प्रस्तुत हुआ है कि (प्राण ब्रह्म है कं सुख ब्रह्म खं विभु ब्रह्म है) वही ब्रह्म यहाँ नेत्र में कहा गया है, क्योंकि प्रकृत का ग्रहण न्याय (उचित) होता है। एवं उपकोसल की सेवा से प्रसन्न अग्नि देव ने (प्राणो ब्रह्म) इत्यादि रीति से ब्रह्म का उपदेश करके (तेरा आचार्य गति-मार्ग कहेगा) इस प्रकार गति मात्र के कथन की प्रतिज्ञा की है। इससे विशेषतः आचार्य को गति मात्र वक्तव्य है। अन्य उपदेश तो अग्नि के ब्रह्म स्वरूप उपदेश का अनुवाद मात्र है। ऐसा नहीं मानने पर प्रतिज्ञादि से विरोध होगा। यदि कहो कि वाक्य के उपक्रम में सुख विशिष्ट ब्रह्म कैसे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि (प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है, खं ब्रह्म है) इस अग्नि के वचन को सुनकर उपकोसल ने कहा कि (सूत्रात्मरूप प्राण को ब्रह्म जानता हूँ, परन्तु तुच्छ विषयसुख और जड आकाश को तो ब्रह्म नहीं जानता हूँ) इस संशय में अग्नि का प्रतिवचन है कि (जो ही कं है वही खं है और जो खं है वही कं है) यहाँ तात्पर्य यह है कि लोक में खं शब्द भूताकाश में निरूढ़ है (भूतरूप आकाश का वाचक रूप से निश्चित है) यदि उस खं का विशेषण रूप से सुख वाचक कं शब्द का ग्रहण नहीं होता, तो ऐसी प्रतीति होती कि केवल भूताकाश में प्रतीक के अभिप्राय से ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे कि नाम मन आदि में ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार के शब्द को विषय एवं इन्द्रियों के सम्बन्ध से जन्य सदोष सोपद्रव विनश्वर सुखार्थ में प्रसिद्ध होने से यदि उसका विशेषण रूप से खं शब्द का ग्रहण नहीं किया जाता तो लौकिक सुख ब्रह्म है ऐसी प्रतीति होती और परस्पर पूर्वरीति से विशेषितार्थक कं खं शब्द तो अनित्य सुख तथा भूताकाश से भिन्न नित्य सुखात्मक विभु ब्रह्म का बोध कराते हैं। यदि कहा जाय कि सुख स्वरूप ब्रह्म का बोध के लिए तो (कं खं ब्रह्म) इतने ही की जरूरत है, दूसरा ब्रह्म शब्द का श्रुति में क्यों ग्रहण किया गया है, तो कहा जाता है कि वहाँ दूसरे ब्रह्म शब्द के नहीं ग्रहण करने पर और (कं खं ब्रह्म) इतना ही कहने पर कं शब्द खं का विशेषण रूप से उपयोगी (सफल) होगा, खं का विशेषण होकर उसको भूताकाश

से व्यावृत करेगा, इससे विशेषण रूप से उपयुक्त होने से सुख गुण होगा और खं प्रधान होगा, इसी से गुण रूप सुख ध्येय नहीं होगा, उसमें ध्यानाविषयता की प्राप्ति होगी, वह न हो इसलिए कं खं दोनों शब्दों को ब्रह्म शिरवाला (कं ब्रह्म खं ब्रह्म) ऐसा किया गया है। यद्यपि ऐसा करने पर भी सुख ब्रह्म का गुण (विशेषण है) तथापि विशिष्ट ब्रह्म के ध्यान में गुणी ब्रह्म के समान गुण रूप सुख को भी ध्येयत्व इष्ट है। और (कं खं ब्रह्म) कहने पर ख गुणविशिष्ट ब्रह्म ध्येय होगा विशेषण रूप से खं भी ध्येय होगा परन्तु खं का विशेषण कं विशेषण का विशेषण हो जाने से ध्येय नहीं होगा। इसलिए सुख विशिष्ट विभुता विशिष्ट ब्रह्म वाक्य के उपक्रम में इस प्रकार उपदिष्ट है। और प्रत्येक गार्हपत्यादि अग्नियों ने अपनी २ महिमाओं का उपदेश करके (हे सोम्य ! तेरे लिए ये हमारी विद्या और आत्मविद्या कही गई है) इस प्रकार उपसंहार करती हुई समझाती हैं कि प्रथम ब्रह्म का निर्देश किया गया है। और (आचार्य तेरा गति कहेगा) इस प्रकार गतिमात्र के कथन का जो प्रतिज्ञान है, वह अर्थान्तर की विवक्षा का वारण करता है। एवं (जैसे कमल के पत्र में जल लीन नहीं होता है, वैसे ही इस प्रकार जानने वाले में पाप कर्म)। इस प्रकार नेत्रस्थ पुरुष को जानने वाले को पाप से पीड़ा हिंसा के अभाव को कहता हुआ आचार्य अक्षिस्थ पुरुष को ब्रह्मत्व दर्शाता है। जिससे सिद्ध होता है कि प्रकृत ब्रह्म की ही अक्षिस्थानता और संयद्वामत्वादिगुणता को कहकर और उसको जानने वालों की अर्चि आदि गति (मार्ग) कहूँगा इस आशय से वक्ता आरम्भ करता है कि (जो यह आँख में पुरुष दीखता है वह आत्मा है ऐसा कहा) इत्यादि ॥ १५ ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

इतश्चाक्षिस्थानः पुरुषः परमेश्वरः, यस्माच्छ्रुतोपनिषत्कस्य श्रुतरहस्यविज्ञानस्य ब्रह्मविदो या गतिर्देवयानाख्या प्रसिद्धा श्रुतौ—'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' (प्रश्न० १।१०) इति। स्मृतावपि—

> अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
> तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ (गीता० ८।२४) इति ।

सैवेहाक्षिपुरुषविदोऽभिधीयमाना दृश्यते। 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति' इत्युपक्रम्य 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।५) इति। तदिह ब्रह्मविद्विषयया प्रसिद्धया गत्याक्षिस्थानस्य ब्रह्मत्वं निश्चीयते ॥ १६ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी अक्षिस्थानवाला पुरुष परमेश्वर है, क्योंकि जिसने उपनिषदों को सुना है और श्रवण पूर्वक रहस्यमय उपासनाओं का अनुष्ठान (आचरण) किया है, उस सगुण ब्रह्मोपासक ज्ञानी को श्रुतोपनिषत्क कहा गया है, उस श्रुतोपनिषत्क उपासना रहस्य (मर्म) के ज्ञानी सगुण ब्रह्म वेत्ता की जो देवयान नामक गति (मार्ग) श्रुति में प्रसिद्ध है कि (तप ब्रह्मचर्य श्रद्धा और विद्या से आत्मा का अन्वेषण ध्यान चिन्तन उपासना करके अर्थ (मृत्यु के बाद) उत्तर मार्ग से सूर्य लोक में प्राप्ति पूर्वक सगुण ब्रह्म स्थान को उपासक प्राप्त करते हैं) यह ब्रह्म प्राणों का आश्रय है यह अमृत है यह अभय है, यही परमगति है, अर्थात् सगुण ब्रह्म निर्गुण स्वरूप ही है उसकी सत्ता एक है, ज्ञानपूर्वक उसको प्राप्त करके उससे फिर संसार में नहीं आता है। स्मृति में भी कहा है कि (अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण छः मास के अभिमानी देवों से युक्त मार्ग में मर कर प्राप्त होने वाले ब्रह्मोपासक जन ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म को प्राप्त करते हैं) इस पूर्व कही रीति से श्रुतोपनिषत्क उपासक की जो गति कही गयी है, वही गति यहाँ अक्षिस्थ पुरुष के ज्ञानी को अभिधीयमान (कही हुई) देखी जाती है कि (इस प्रकार के उपासक के मरने पर यदि अन्य लोग उसके शव (मृत शरीर) सम्बन्धी कर्म करते हैं वा नहीं करते हैं, परन्तु वह मर कर अर्चि को प्राप्त करता है। इस प्रकार आरम्भ करके लिखा है कि (आदित्य से चन्द्रमा को चन्द्र से विद्युत को प्राप्त होते हैं) तब अमानव पुरुष ब्रह्मलोक से आकर उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करता है, ब्रह्म लोक में ले जाता है, यही देव मार्ग है, इसी को ब्रह्म पथ कहते हैं, इस मार्ग से ब्रह्मलोक में प्राप्त पुरुष इस मानव संसार जन्ममरणादि आवृत्ति में नहीं प्राप्त होते हैं, इत्यादि। अतः यहाँ ब्रह्मविद् विषयक प्रसिद्ध गति से अक्षिस्थानवाला पुरुष के ब्रह्मत्व का निश्चय किया जाता है ॥ १६ ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

यत्पुनरुक्तम्—छायात्मा विज्ञानात्मा देवतात्मा वा स्यादक्षिस्थान—इति। अत्रोच्यते—न छायात्मादिरितर इह ग्रहणमर्हति। कस्मात्? अनवस्थितेः। न तावच्छायात्मनश्चक्षुषि नित्यमवस्थानं सम्भवति। यदैव हि कश्चित्पुरुषश्चक्षुरासीदति तदा चक्षुषि पुरुषच्छाया दृश्यते, अपगते तस्मिन्न दृश्यते। 'य एषोऽक्षिणि पुरुषः' इति च श्रुतिः संनिधानात्स्वचक्षुषि दृश्यमानं पुरुषमुपास्यत्वेनोपदिशति। नचोपासनाकाले छायाकरं कञ्चित्पुरुषं चक्षुःसमीपे संनिधाप्योपास्त इति युक्तं कल्पयितुम्। 'अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति' (छा० ८।९।१) इति श्रुतिश्छायात्मनोऽप्यनवस्थितत्वं दर्शयति। असम्भवाच्च तस्मिन्नमृतत्वादीनां गुणानां न छायात्मनि प्रतीतिः।

जो यह कहा था कि छायात्मा, विज्ञानात्मा, देवतात्मा वा आँख में स्थान वाले हैं। यहाँ कहा जाता है कि छायात्मादि कोई भी ब्रह्म से इतर (भिन्न) यहाँ ग्रहण

के योग्य नहीं हो सकता है। क्योंकि इन सबकी अक्षि में अनवस्थिति है अर्थात्—सदा स्थिति का अभाव है। प्रथम तो छायात्मा की नेत्र में नित्य स्थिति का सम्भव नहीं है, क्योंकि जब ही कोई पुरुष आँख के पास में आता है तभी आँख में पुरुष की छाया दीखती है, उस पुरुष के चले जाने पर छाया नहीं दीखती है, और (जो यह आँख में पुरुष दीखता है) ऐसा कहने वाली श्रुति सन्निधान (समीपता) के कारण अपने नेत्र में दृश्यमान (दीख पड़ने वाले) पुरुष को उपास्य रूप से उपदेश करती है। और उपासक पुरुष उपासना काल में अपने नेत्रं में छाया को सिद्ध करने वाले किसी पुरुष को नेत्र के समीप में उपस्थित करके उपासना करता है यह कल्पना करने योग्य नहीं है। क्योंकि (इस शरीर के नाश के बाद छायात्मा नष्ट होता है) इस प्रकार श्रुति भी छायात्मा को अनवस्थितत्व दर्शाती है, और उस छायात्मा में अमृतत्वादि गुणों का असम्भव है, इससे (एपोऽक्षिणि) यहाँ छायात्मा की प्रतीति नहीं होती है।

तथा विज्ञानात्मनोऽपि साधारणे कृत्स्नशरीरेन्द्रियसम्बन्धे सति चक्षुष्येवावस्थितत्वं वक्तुं न शक्यम्। ब्रह्मणस्तु व्यापिनोऽपि दृष्ट उपलब्ध्यर्थो हृदयादिदेशविशेषसम्बन्धः। समानश्च विज्ञानात्मन्यप्यमृतत्वादीनां गुणानामसम्बन्धः। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्येते। संयद्वामत्वादयश्चैतस्मिन्ननैश्वर्यादनुपपन्ना एव। देवतात्मनस्तु 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' इति श्रुतेर्यद्यपि चक्षुष्यवस्थानं स्यात्तथाप्यात्मत्वं तावन्न सम्भवति, पराग्रूपत्वात्। अमृतत्वादयोऽपि न सम्भवन्ति, उत्पत्तिप्रलयश्रवणात्। अमरत्वमपि देवानां चिरकालावस्थानापेक्षम्। ऐश्वर्यमपि परमेश्वरायत्तं न स्वाभाविकम्।

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।

(तै० २।८) इति मन्त्रवर्णात्। तस्मात्परमेश्वर एवायमक्षिस्थानः प्रत्येतव्यः। अस्मिंश्च पक्षे दृश्यत इति प्रसिद्धवदुपादानं शास्त्राद्यपेक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थमिति व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

इसी प्रकार विज्ञानात्मा के भी सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियों के साथ साधारण (सामान-तुल्य) सम्बन्ध रहते चक्षु में ही अवस्थितत्व कहना योग्य नहीं है। एवं ब्रह्म को व्यापक होने पर भी ज्ञानोपासना के लिए हृदयादि देश विशेष का सम्बन्ध श्रुति में वर्णित देखा गया है। छायात्मा के समान ही विज्ञानात्मा में अमृतत्वादि गुणों का असम्बन्ध है। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मा से अनन्य (अभिन्न) ही है, इससे अमृतत्व अभयत्व भी होना चाहिए तथापि अविद्या और काम जन्य मर्त्यता (मरण शीलता) उस विज्ञानात्मा में अध्यारोपित है, और भय भी अध्यारोपित है। जिससे अमृतत्व और अभयत्व दोनों सिद्ध नहीं हो सकते हैं। और अनीश्वरता

(ऐश्वर्य का अभाव) से संयद्वामत्वादि गुण भी इस विज्ञानात्मा में अनुपपन्न (असिद्ध) ही हैं । (यह आदित्य किरणों द्वारा नेत्र में प्राप्त है) इस श्रुति की उक्ति के अनुसार यद्यपि देवतात्मा की चक्षु में स्थिति है, तथापि देवता को भी पहले तो आत्मत्व का सम्भव नहीं है, क्योंकि पराग (बाह्य) अनात्म रूपता है। और उत्पत्ति प्रलय के सुनने से अमृत्वादि का भी देवतात्मा में सम्भव नहीं है। देवताओं को अमरत्व भी अन्य प्राणी की अपेक्षा से चिरकाल तक स्थिति की अपेक्षा (दृष्टि) से है। और देवताओं के ऐश्वर्य (विभूति) भी ईश्वराधीन हैं स्वाभाविक नहीं, क्योंकि वेदमन्त्र कहता है कि (इस ईश्वर से भय के कारण वायु चलता है, सूर्य उदित होता है, और अग्नि तथा इन्द्र भय के कारण अपने-अपने कार्य करते हैं, और पञ्चम मृत्यु भय के कारण गतायु के पास जाता है ।) अतः यह अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर ही है, ऐसा समझना चाहिए । इस पक्ष में 'दृश्यते' दीखता है, इस प्रकार प्रसिद्ध ज्ञात के समान जो ग्रहण (कथन) है, वह शास्त्रादि की अपेक्षा से है। अर्थात् (प्रतिबोधविदितं मतम् केन० २।४) इस श्रुति के अनुसार यहाँ चक्षु शब्द सब इन्द्रिय जन्य बुद्धि वृत्ति का बोधक है और सब बुद्धि वृत्ति में बुद्धि वृत्तियों के साक्षिरूप से ब्रह्म ही प्रकाशता है । इस प्रकार समझने वाले को ही ब्रह्म ज्ञात अनुभूत होता है, इस ऐसे विद्वान् का अनुभव विषयक यह ग्रहण है, और अज्ञ प्राणी के प्रति प्ररोचनार्थक (रुचि उत्पादनार्थक) यह उपदेश है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए ॥ १७ ॥

अन्तर्याम्यधिकरण (५)

प्रधानं जीव ईशो वा कोऽन्तर्यामी जगत्प्रति ।
कारणत्वात्प्रधानं स्याज्जीवो वा कर्मणो मुखात् ॥ १ ॥
जीवैकत्वामृतत्वादेरन्तर्यामी परमेश्वरः ।
द्रष्टृत्वादेर्न प्रधानं न जीवोऽपि नियम्यतः ॥ २ ॥

जगत् के प्रति श्रुत अन्तर्यामी कौन है ? प्रधान है, या जीव है, या ईश्वर है ? ऐसा संदेह होने पर पूर्वपक्ष है कि जगत् का कारण होने से प्रधान अन्तर्यामी हो सकता है । अथवा कर्म द्वारा जीव हो सकता है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि (एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः) इस श्रुति में जीव के साथ अभेद श्रुति और अमृत्वादि के श्रवण से परमात्मा अन्तर्यामी है, द्रष्टृत्वादि के श्रवण में प्रधान नहीं है। तथा नियम्य (नियमन का विषय) होने से नियन्ता अन्तर्यामी जीव भी नहीं है ॥ २ ॥

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (अधिदैवादिषु योऽन्तर्यामी श्रूयते स परमात्मैव नान्यः । तस्य परमात्मनो धर्माणां व्यपदेशादिति) अधिदैवादिवादिकों में जो अन्तर्यामी सुना जाता है सो परमात्मा ही है, अन्य नहीं है, क्योंकि उस परमात्मा के धर्मों का कथन है ।

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृह० ३।७।१,२) इत्यादि । अत्राधिदैवतमधिलोकमधिवेदमधियज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयितान्तर्यामीति श्रूयते । स किमधिदैवाद्यभिमानी देवतात्मा कश्चित्किंवा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिद्योगी किंवा परमात्मा किंवार्थान्तरं किञ्चिदित्यपूर्वसंज्ञादर्शनात्संशयः । किं तावन्नः प्रतिभाति, संज्ञाया अप्रसिद्धत्वात्संज्ञिनाऽप्यप्रसिद्धेनार्थान्तरेण केनचिद्भवितव्यमिति । अथवा नानिरूपितरूपमर्थान्तरं शक्यमस्त्यभ्युपगन्तुम् । अन्तर्यामिशब्दश्चान्तर्यमनयोगेन प्रवृत्तो नात्यन्तमप्रसिद्धः । तस्मात्पृथिव्याद्यभिमानी कश्चिद्देवोऽन्तर्यामी स्यात् । तथा च श्रूयते—'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः' (बृ० ३।९।१०) इत्यादि । स च कार्यकरणवत्त्वात्पृथिव्यादीनन्तस्तिष्ठन्यमयतीति युक्तं देवतात्मनो यमयितृत्वम् । योगिनो वा कस्यचित्सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयितृत्वं स्यात्, नतु परमात्मा प्रतीयेत, अकार्यकरणत्वादिति ।

(जो मनुष्यादि के स्थान रूप इस लोक का तथा देवादि के स्थान रूप इस लोक का नियन्त्रण करता है, तथा जो सब भूतों का अन्तरात्मा होता हुआ सब भूतों का नियन्त्रण अनुशासन करता है । उसको क्या जानते हो ?) इस प्रकार आरम्भ करके सुना जाता है कि (जो पृथिवी में रहता हुआ पृथ्वी का अन्तरात्मा है, जिसको पृथिवी नहीं जानता है, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी का अन्तरात्मा होकर पृथिवी का नियन्ता है, वही अमृत अन्तर्यामी तेरा आत्मा है) इत्यादि । इस अन्तर्यामी ब्राह्मण ग्रन्थ में अधिदेव (पृथिवी आदि देव में वर्तमान) तथा इसी प्रकार लोकादि में वर्तमान, अधिलोक, अधिवेद, अधियज्ञ, अधिभूत, अध्यात्म स्वरूप और सब के अन्तर में स्थित कोई सर्व नियन्ता रूप अन्तर्यामी सुना जाता है, जहाँ अपूर्व संज्ञा (नाम) के देखने से संशय होता है कि वह अधिदेवादि के अभिमानी कोई देवतात्मा है, अथवा अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त किया हुआ कोई योगी है, अथवा परमात्मा है, अथवा इन सब से भिन्न कोई आन्तर विलक्षण पदार्थ है । प्रथम हमको क्या प्रतीत होता है कि संज्ञा के अप्रसिद्ध होने से संज्ञी भी कोई अप्रसिद्ध अर्थान्तर होना चाहिए । अथवा अनुरूपित (अप्रसिद्ध) रूप वाला पदार्थान्तर है ? ऐसा मानना नहीं बन सकता है । और अन्तर्यामी शब्द अन्तर में नियमन रूप अवयवार्थ द्वारा प्रवृत्त हुआ है इससे अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है । जिससे पृथिवी आदि का अभिमानी कोई देव अन्तर्यामी होगा । इस पक्ष के अनुसार ही सुना जाता है कि (इस देव का पृथिवी ही आयतन (शरीर) है । और अग्निलोक (नेत्र) है, सर्वार्थ प्रकाशक ज्योति मन है इत्यादि । वह देव शरीर और इन्द्रिय वाला होने के कारण पृथिवी आदि

के अन्तर में रहता हुआ उनका नियमन करता है। इससे देवतात्मा को नियन्तृत्व होना युक्त है। अथवा किसी सिद्ध योगी को सब में अनुप्रवेश द्वारा नियन्तृता हो सकती है। परमात्मा नियन्ता रूप नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि वह शरीरेन्द्रियादि साधन रहित है।

एवं प्राप्ते इदमुच्यते—योऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते स परमात्मैव स्यान्नान्य इति। कुतः? तद्धर्मव्यपदेशात्। तस्य हि परमात्मनो धर्मा इह निर्दिश्यमाना दृश्यन्ते। पृथिव्यादि तावदधिदैवादिभेदभिन्नं समस्तं विकारजातमन्तस्तिष्ठन्यमयतीति परमात्मनो यमयितृत्वं धर्म उपपद्यते। सर्वविकारकारणत्वे सति सर्वशक्त्युपपत्तेः। 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इति चात्मत्वामृतत्वे मुख्ये परमात्मन उपपद्येते। 'यं पृथिवी न वेद' इति च पृथिवीदेवताया अविज्ञेयमन्तर्यामिणं ब्रुवन्देवतात्मनोऽन्यमन्तर्यामिणं दर्शयति। 'पृथिवी देवता ह्यहमस्मि पृथिवीत्यात्मानं विजानीयात्'। तथा 'अदृष्टोऽश्रुतः' इत्यादिव्यपदेशो रूपादिविहीनत्वात्परमात्मन उपपद्यत इति। यत्तु—अकार्यकरणस्य परमात्मनो यमयितृत्वं नोपपद्यते—इति। नैष दोषः। यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणवत्त्वोपपत्तेः। तस्याप्यन्यो नियन्तेत्यनवस्थादोषश्च न संभवति, भेदाभावात्। भेदे हि सत्यनवस्थादोषोपपत्तिः। तस्मात्परमात्मैवान्तर्यामी।

इस प्रकार पूर्व पक्ष के प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि अधिदैवादि में जो अन्तर्यामी सुना जाता है वह परमात्मा ही हो सकता है अन्य नहीं, क्योंकि परमात्मा के ही धर्मों का वहाँ कथन है। साक्षात् उसी के धर्म कहे गये यहाँ देखे जाते हैं। प्रसिद्ध पृथिवी आदि अधिदैवतादि भेद से भिन्न (भेदयुक्त) समस्त विकार समूह के अन्तर में रह कर नियमन करता है, इस कथन से परमात्मा का ही नियन्तृत्व धर्म सिद्ध होता है। क्योंकि परमात्मा को ही सब विकारों के कारण होते हुए सर्वशक्तिमत्त्व की उपपत्ति (सिद्ध) है। और (यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है) इसमें वर्णित आत्मत्व और अमृतत्व मुख्यरूप से परमात्मा में ही सिद्ध होते हैं। और (जिसको पृथिवी नहीं जानती है) इस प्रकार पृथिवी देवता से अविज्ञेय अन्तर्यामी को कहता हुआ वक्ता देवतात्मा से अन्य अन्तर्यामी को दर्शाता है। क्योंकि पृथिवी रूप जो देवता है, वह तो मैं पृथिवी हूँ, इस प्रकार अपने को जान सकता है। इसी प्रकार (अदृश्य-अमृत) इत्यादि कथन भी परमात्मा को रूपादि रहित होने से संगत होता है। और जो यह कहा था कि शरीरेन्द्रिय रहित परमात्मा को नियन्तृत्व नहीं बन सकता, वह दोष नहीं है, क्योंकि परमात्मा जिनका नियन्त्रण करता है उनके ही शरीर और इन्द्रियों से शरीरेन्द्रियवाला हो जाता है, इससे उसको कार्य कारणवत्ता की सिद्धि है। जैसे देहादि के नियन्ता जीव का ईश्वर नियन्ता है। इसी प्रकार उस ईश्वर का भी अन्य नियन्ता होगा तब अनवस्था दोष होगा। वह दोष भी

नहीं हो सकता है, क्योंकि जीवात्मा परमात्मा में सत्यभेद का अभाव है, इससे नियन्ता रूप से जो जीव प्रसिद्ध है, वह परमात्मा ही है, ऐसा उपाधि का वारण द्वारा उपदेश है। यदि सत्यभेद हो तो अनवस्था दोष की सिद्धि हो। इससे सर्वात्मा परमात्मा ही अन्तर्यामी है यह सिद्ध हुआ ॥ १८ ॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९

संक्षिप्तार्थं है कि (स्मार्तं सांख्यादिस्मृतिषु प्रायः प्रसिद्धं प्रधानं तु न अन्तर्यामी शब्दार्थः प्रधानभिन्नचेतनधर्माणामभिलापादिति। यद्यपि (धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः) इति मनुवचनानुसारेण धर्मशास्त्राणामेव स्मृतिशब्दार्थत्वं विद्यते, तथाप्यत्र दर्शने गीता-पुराणदर्शनादीनामपि स्मृतिशब्दार्थत्वमुपलभ्यते—इति ध्येयम्) सांख्यादि स्मृतियों में अधिक प्रसिद्ध प्रधान तो यहाँ अन्तर्यामी शब्द का अर्थ है नहीं, क्योंकि (न तद् अतद्-तस्य धर्माः—अतद्धर्माः—तेषामभिलापात्) जो प्रधान नहीं है, जड़ प्रधान से भिन्न चेतन है उसके धर्मों का कथन है और धर्मशास्त्र को स्मृति कहा जाता है इस मनु वचन के अनुसार धर्मशास्त्र ही स्मृति शब्द का अर्थ है। तथापि वेदान्त दर्शन में गीता पुराण इतिहास दर्शन की भी स्मृति-शब्दार्थता उपलब्ध होती है, इसे ध्यान में रखना चाहिये, इसमें कारण है कि इन सभी में परापरधर्म का शासन है। इससे सब धर्मशास्त्र कह सकते हैं, और वैशेषिक दर्शन का तो प्रथम सूत्र ही है कि—(अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः) इत्यादि। पूर्वमीमांसा में धर्म का व्याख्यान है ही। सांख्ययोग भी विवेकादि रूप धर्मों का पूर्ण व्याख्यान करते हैं। इत्यादि।

स्यादेतत्। अदृष्टत्वादयो धर्माः सांख्यस्मृतिकल्पितस्य प्रधानस्याप्युपपद्यन्ते, रूपादिहीनतया तस्य तैरभ्युपगमात्। 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' (मनु० १।५) इति हि स्मरन्ति। तस्यापि नियन्तृत्वं सर्वविकारकारणत्वादुपपद्यते। तस्मात्प्रधानमन्तर्यामिशब्दं स्यात्। ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इत्यत्र निराकृतमपि सत्प्रधानमिहादृष्टत्वादिव्यपदेशसंभवेन पुनराशङ्क्यते।

यहाँ शंका होती है कि यह पूर्वोक्त कथन हो सकता है, परन्तु अदृष्टत्वादिधर्म सांख्य-स्मृति से कल्पित स्वतन्त्र प्रधान के भी सिद्ध हो सकते हैं, केवल परमात्मा के ही हो सकें यह बात नहीं है, क्योंकि रूपादिरहित स्वरूप से उन लोगों ने उस प्रधान को माना है (प्रधान तर्क का अविषय है, रूपादि रहित होने से अविज्ञेय है, और जड़ से सर्वत्र प्रसुप्त के समान होने से व्याप्त है) इस प्रकार स्मृति कहती है। सब विकारों का कारण होने से अपने कार्यों के प्रति उसकी भी नियन्तृता बन सकती है। जिससे प्रधान अन्तर्यामी शब्द का अर्थ हो सकता है। यद्यपि (ईक्षतेर्नाशब्दम्) यहाँ प्रधान निराकृत हो चुका है, तथापि यहाँ अदृष्टादिव्यवहार के सम्भव से फिर प्रधान की शंका होती है।

अत उत्तरमुच्यते—न च स्मार्तं प्रधानमन्तर्यामिशब्दं भवितुमर्हति। कस्मात् ? अतद्धर्माभिलापात्। तद्यप्यदृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्य संभवति तथापि न द्रष्टृत्वादिव्यपदेशः संभवति, प्रधानस्याचेतनत्वेन तैरभ्युपगमात्। 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' (बृह० ३।७।२३) इति हि वाक्यशेष इह भवति। आत्मत्वमपि न प्रधानस्योपपद्यते ॥ १९॥

अतः उत्तर कहा जाता है कि प्रधान अन्तर्यामी शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रधान से भिन्न धर्मों का कथन है। यद्यपि अदृष्टत्वादि का व्यवहार (कथन) प्रधान को भी सम्भव है, तथापि दृष्टत्वादि का व्यवहार सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रधान को अचेतन रूप से उन लोगों ने माना है। और (अदृष्ट होते द्रष्टा है; अश्रुत होते श्रोता है, अमत होते मन्ता है, अविज्ञात होते विज्ञाता है) इस प्रकार यहाँ वाक्य शेष है। एवं प्रधान को आत्मत्व भी युक्त हो सकता है ॥ १९ ॥

यदि प्रधानमात्मत्वद्रष्टृत्वाद्यसंभवान्नान्तर्याम्यभ्युपगम्यते, शारीरस्तर्ह्यन्तर्यामी भवतु। शारीरो हि चेतनत्वाद्द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता च भवति, आत्मा च प्रत्यक्त्वात्। अमृतश्च, धर्माधर्मफलोपभोगोपपत्तेः। अदृष्टत्वादयश्च धर्माः शारीरे प्रसिद्धाः, दर्शनादिक्रियायाः कर्तरि प्रवृत्तिविरोधात्। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' (बृ० ३।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। तस्य च कार्यकरणसंघातमन्तर्यमयितुं शीलं, भोक्तृत्वात्। तस्माच्छारीरोऽन्तर्यामीति। अत उत्तरं पठति—

फिर शंका होती है कि आत्मत्व दृष्टृत्वादि के असम्भव होने से यदि प्रधान को अन्तर्यामी नहीं माना जाता है, तो शरीरी जीवात्मा ही अन्तर्यामी हो। क्योंकि चेतन होने से जीवात्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता होता है। और प्रत्यक् (अन्तर) होने से आत्मा भी है। धर्माधर्म के फलों के उपभोग की उपपत्ति (सिद्धि) से अमृत (अविनाशी) है। अन्यथा शरीर के समान यदि जीव का नाश हो तो धर्मादि के फलों को कौन भोगेगा। जीवात्मा में अदृष्टत्वादि धर्म भी प्रसिद्ध हैं। क्योंकि दर्शन क्रिया की कर्त्ता में प्रवृत्ति का विरोध है। अर्थात् दर्शनकर्ता अपने आप उस दर्शन का विषय नहीं होता है। क्योंकि एक में कर्तृ-कर्मभाव विरुद्ध है। इसलिये अर्थ (दृष्टि के द्रष्टा को न देखो अर्थात्–नहीं देख सकते हो) इत्यादि श्रुत्यर्थ सिद्ध होता है। एवं उस जीव को कार्यकरण शरीरेन्द्रिय के अन्दर स्थिति पूर्वक उनका नियन्त्रण करने का स्वभाव है, क्योंकि वह भोक्ता है। यहाँ शंका होती है कि शरीरादि के नियन्त्रण के बिना भोग नहीं हो सकता है। अतः शरीरात्मा अन्तर्यामी है। इस शंका का उत्तर सूत्रकार भगवान् व्यास इस प्रकार देते हैं कि—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

नेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते। शारीरश्च नान्तर्यामीष्यते। कस्मात् ? यद्यपि दृष्टत्वादयो धर्मास्तस्य सम्भवन्ति तथापि घटाकाशवदुपाधिपरिच्छिन्नत्वान्न

कात्स्न्येन पृथिव्यादिष्वन्तरवस्थातुं नियन्तुं च शक्नोति। अपि चोभयेऽपि हि शाखिनः काण्वा माध्यन्दिनाश्चान्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते-'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (बृ. ३।७।२२) इति काण्वाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति माध्यन्दिनाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यस्मिंस्तावत्पाठे भवत्यात्मशब्दः शारीरस्य वाचकः। 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यस्मिन्नपि पाठे विज्ञानशब्देन शारीर उच्यते। विज्ञानमयो हि शारीरः। तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम्।

इस सूत्र में पूर्वसूत्र से 'न' इस पद की अनुवृत्ति (आगमन) होती है। जिससे सूत्रार्थ यह होता है कि शरीर-जीवात्मा अन्तर्यामी रूप से इष्ट मन्तव्य नहीं है। यद्यपि द्रष्टृत्वादि धर्म उसके सम्भव हैं, तथापि घटाकाश के समान उपाधि से परिच्छिन्न (परिमित) होने से पृथिवी आदि में पूर्णरूप से स्थिति के लिये और उनका नियन्त्रण करने के लिये वह समर्थ नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि काण्व और माध्यन्दिन शाखा वाले दोनों ही अन्तर्यामी से भेदपूर्वक इस शरीर को पृथिवी आदि के समान अन्तर्यामी के अधिष्ठान (आश्रय) रूप से और नियम्य रूपसे पढ़ते हैं। अर्थात् अन्तर्यामी के नियन्त्रण के अधीन जीव को कहते हैं (जो विज्ञान में रहता हुआ) इस प्रकार काण्व शाखा वाले कहते हैं। एवं (जो आत्मा में रहता हुआ) इस प्रकार माध्यन्दिन शाखा वाले पढ़ते हैं। (यो विज्ञाने तिष्ठन्) इस पाठ में तो प्रत्यक्ष आत्म शब्द शरीर का वाचक प्रसिद्ध है। (य आत्मनि तिष्ठन्) इस पाठ में भी विज्ञान शब्द से शरीर कहा जाता है, क्योंकि जीव विज्ञानमय ही है। यद्यपि बुद्धि को ही विज्ञान कहा जाता है तथापि बुद्धिरूप उपाधिवाला होने से जीव भी विज्ञान शब्द से कहा जाता है। जिससे शारीर जीव से भिन्न ईश्वर अन्तर्यामी है यह सिद्ध हुआ।

कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टारावुपपद्यते, यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी यश्चायमितरः शारीरः। का पुनरिहानुपपत्तिः। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचनं विरुद्ध्येत। अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं द्रष्टारं, श्रोतारं मन्तारं विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति। नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमिति चेत्? न। नियन्त्रन्तराप्रसङ्गादविशेषश्रवणाच्च।

यहाँ फिर भी शंका होती है कि एक देह में अन्तर्यामी=ईश्वर और शारीर=जीव ये दो द्रष्टा कैसे उत्पन्न (युक्त) हो सकते हैं? यदि कहा जाय कि यहाँ अनुपपत्ति (अयुक्तता दोष) क्या है, तो उसका उत्तर है कि (इस अन्तर्यामी से अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुति वचन विरुद्ध होंगे। क्योंकि इस श्रुति वचन में प्रकृत अन्तर्यामी से अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता आत्मा का यह वचन निषेध करता है। यदि कहा जाय कि यह वचन द्रष्टा आदि रूप जीवात्मा के निषेध के लिये नहीं है, किन्तु दूसरे नियन्ता के प्रतिषेध के लिये है, तो यह कहना

ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरे नियन्ता का यहाँ प्रसंग नहीं है, निषेध का अविशेष (समान) रूप से श्रवण होता है, इससे अन्तर्यामी भिन्न द्रष्टा मात्र का निषेध है।

अत्रोच्यते—अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ सम्भवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतो यथा घटाकाशो महाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञेयादिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधिप्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते। तथाच श्रुतिः-'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् इति विद्याविषये सर्वं व्यवहारं वारयति ॥ २० ॥

यहाँ उत्तर कहा जाता है कि अविद्याजन्य कार्यकरणरूप उपाधिनिमित्तक यह जीव और अन्तर्यामी के भेद का व्यवहार होता है, पारमार्थिक (सत्य) व्यवहार नहीं है। प्रत्यगात्मा एक ही होता है, दो प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) हो नहीं सकता है, और एक का उपाधिकृत भेद का व्यवहार होता है, जैसे घटाकाश महाकाश यह औपाधिक भेद का व्यवहार होता है। उस औपाधिक भेद से ज्ञाता ज्ञेयादि के भेद विषयक श्रुतियाँ, और प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण, संसार का अनुभव और विधि-प्रतिषेध रूप शास्त्र ये सब उत्पन्न (सिद्ध) होते हैं। वैसे ही श्रुति कहती है कि (जिस अविद्या काल में द्वैत के समान रहता है, उस काल में इतर द्रष्टा इतर दृश्य को देखता है) इस प्रकार अविद्या काल में सब व्यवहार को दर्शाती है। और (जिस काल में इस ज्ञानी को सब आत्मा ही हो गया उस काल में किससे किसको देखेगा) यह श्रुति विद्या काल में सब व्यवहार का धारण करती है ॥ २० ॥

अदृश्यत्वाधिकरण (६)

भूतयोनिः प्रधानं वा जीवो वा यदि वेश्वरः ?।
आद्यौ पक्षावुपादाननिमित्तस्याभिधानतः ॥
ईश्वरो भूतयोनिः स्यात्सर्वज्ञत्वादिकीर्तनात्।
दिव्याद्युक्तेर्न जीवः स्यान्न प्रधानं भिदोक्तितः ॥

(यत्तद्रेश्य) इत्यादि श्रुतियों में अदृश्यतादि गुणवाला भूतों का योनिरूप जो पदार्थ कहा गया है, वह प्रधान है, या जीव है, या परमात्मा है, ऐसा संशय होने पर पूर्व पक्ष है कि भूत योनि में प्रथम के दोनों पक्ष हो सकते हैं, अर्थात् प्रधान और जीव भूतयोनि कह सकते हैं, 'मायां तु प्रकृतिं विद्धि' इत्यादि श्रुति मायारूप प्रकृति को उपादान रूप से कथन करती है, और जीव कर्म द्वारा निमित्त कारण है। यही कारणमात्र का योनि शब्द बोधक है इत्यादि। सिद्धान्त है कि सर्वज्ञता आदि धर्मों

के कथन से भूत योनि ईश्वर ही हो सकता है, विभुता आदि गुणों के कथन से जीव नहीं हो सकता है, तथा (अक्षरात् परतः परः) इस श्रुति में अपने कार्यों से पर अक्षर (प्रधान) से भूतयोनि को पर कहा गया है। इससे भेद की उक्ति (कथन) से प्रधान भूतयोनि नहीं हो सकता है इत्यादि ॥ १–२ ॥

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते', 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मुण्ड० १।१।५,६) इति श्रूयते। तत्र संशयः—किमयमद्रेश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं स्यादुत शारीर आहोस्वित्परमेश्वर इति। तत्र प्रधानमचेतनं भूतयोनिरिति युक्तम्, अचेतनानामेव तस्य दृष्टान्तत्वेनोपादानात्।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

(मुण्ड० १।१।७) इति। ननूर्णनाभिः पुरुषश्च चेतनाविह दृष्टान्तत्वेनोपात्तौ। नेति ब्रूमः। नहि केवलस्य चेतनस्य तत्र सूत्रयोनित्वं केशलोमयोनित्वं चास्ति। चेतनाधिष्ठितं ह्यचेतनमूर्णनाभिशरीरं सूत्रस्य योनिः, पुरुषशरीरं च केशलोम्नामिति प्रसिद्धम्। अपि च पूर्वत्राद्रष्टत्वाद्यभिलापसम्भवेऽपि द्रष्टृत्वाद्यभिलापासंभवान्न प्रधानमभ्युपगतम्। इह त्वदृश्यत्वादयो धर्माः प्रधाने संभवन्ति। नचात्र विरुध्यमानो धर्मः कश्चिदभिलप्यते। ननु 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९) इत्ययं वाक्यशेषोऽचेतने प्रधाने न सम्भवति, कथं प्रधानं भूतयोनिः प्रतिज्ञायत इति। अत्रोच्यते—'यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यक्षरशब्देनादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोनिं श्रावयित्वा पुनरन्ते श्रावयिष्यति—'अक्षरात्परतः परः' (मुण्ड २।१।२) इति। तत्र यः परोऽक्षराच्छ्रुतः स सर्वज्ञः सर्ववित्संभविष्यति। प्रधानमेव त्वक्षरशब्दनिर्दिष्टं भूतयोनिः। यदा तु योनिशब्दो निमित्तवाची तदा शारीरोऽपि भूतयोनिः स्यात्, धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्योपार्जनादिति।

अपरा विद्या के बाद पराविद्या उसे समझना चाहिये कि जिस विद्या से उस अक्षर (अविनाशी) को प्राप्त किया जाता है। (जो वह अक्षर है वह ज्ञानेन्द्रियों से अदृश्य है, कर्मेन्द्रियों से अग्राह्य है, गोत्रवर्ण रहित है, चक्षु और श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से रहित है, पाणि पादादि कर्मेन्द्रियों से रहित है, नित्य है, विभु (प्रभु) है, सर्वगत और अत्यन्त सूक्ष्म है, वह अव्यय (निर्विकार अपक्षय रहित) है, जिसको धीर (विद्वान्) लोग 'भूतयोनि' जानते हैं, उसी की विद्या परविद्या है ऐसा सुना जाता है। यहाँ संशय होता है कि क्या यह अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतयोनि प्रधान हो सकता

है, या जीव अथवा परमेश्वर। यहाँ पूर्व पक्ष है कि प्रधान अचेतन है, वही भूत योनि है ऐसा मानना युक्तियुक्त है, क्योंकि उस भूतयोनि का दृष्टान्त रूप से श्रुति में अचेतनों का ही ग्रहण किया गया है। (जैसे मकड़ी तन्तुओं की सृष्टि सर्जन करती है, और फिर उनका ग्रहण उपसंहार करती है) और जैसे भूमि में ओषधियाँ होती हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश लोम होते हैं, इसी प्रकार इस सर्ग काल में अक्षर से विश्व होता है। यहाँ अचेतन दृष्टान्त दिये गये हैं। यदि कहा जाय कि चेतन रूप मकड़ी और पुरुष दृष्टान्त रूप से गृहीत हैं, पृथिमात्र जड़ दृष्टान्त है, तो हम कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मकड़ी और पुरुष मे केवल चेतन को सूत्र (तन्तु) योनित्व वा केशलोमयोनित्व नहीं है। केवल चेतन से कहीं भी तन्तु वा केशलोमादि नहीं होते हैं। किन्तु चेतन से अधिष्ठित (आश्रित) अचेतन मकड़ी का शरीर तन्तु का योनि (कारण) है, और चेतन से अधिष्ठित पुरुष का शरीर केश लोमादि का कारण है, यह लोक में प्रसिद्ध है। दूसरी बात है कि पूर्वाधिकरण में वर्णित अदृष्टत्वादि की उक्ति का प्रधान में सम्भव होते भी द्रष्टृत्वादि उक्ति के असम्भव से वहाँ प्रधान का स्वीकार नहीं किया गया है। यहाँ तो अदृश्यत्वादि धर्मों का प्रधान में सम्भव है, कोई भी यहाँ प्रधान का विरोधी धर्म नहीं कहा जाता है। यदि कहा जाय कि (जो सबको सामान्य रूप से जानने वाला सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने वाला सर्वविद् है) इस वाक्य शेष (अंग) का अचेतन प्रधान में सम्भव नहीं है, इससे विरोध है, तो फिर यहाँ भूतयोनि प्रधान है, यह प्रतिज्ञा कैसे की गई है वा कैसे प्रतिज्ञा की जा सकती है ? तो यहाँ कहा जाता है कि (जिस विद्या से अक्षर को प्राप्त किया जाता है) (जो अक्षर अदृश्य है) इस प्रकार अक्षर शब्द से अदृश्यत्वादि गुण वाले भूतयोनि को सुना कर फिर अन्त में सुनाया जायगा कि (वह पर अक्षर से भी पर है) वहाँ जो अक्षर से पर सुना गया है, वह सर्वज्ञ और सर्ववित् सिद्ध सम्भव होगा, और प्रधान ही अक्षर शब्द कथित भूतयोनि है। जब योनि शब्द निमित्त वाचक हो, तो जीव भी भूत योनि हो सकता है, क्योंकि धर्माऽधर्म द्वारा जीव भूत-समूह का उपार्जन (प्राप्ति-सृष्टि) करता है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—योऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः स परमेश्वर एव स्यान्नान्य इति। कथमेतदवगम्यते ? धर्मोक्तेः। परमेश्वरस्य हि धर्म इहोच्यमानो दृश्यते—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति। नहि प्रधानस्याचेतनस्य शरीरस्य वोपाधिपरिच्छिन्नदृष्टेः सर्वज्ञत्वं वा संभवति।

नन्वक्षरशब्दनिर्दिष्टाद्भूतयोनेः परस्यैव तत्सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च न भूतयोनिविषयमित्युक्तम्। अत्रोच्यते—नैवं संभवति। यत्कारणं 'अक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इति प्रकृतं भूतयोनिमिह जायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्यानन्तरमपि जायमानप्रकृतित्वेनैव सर्वज्ञं निर्दिशति—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ इति ॥

तस्मान्निर्देशसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्प्रकृतस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च धर्म उच्यत इति गम्यते। 'अक्षरात्परतः परः' इत्यत्रापि न प्रकृताद्भूतयोनेरक्षरात्परः कश्चिदभिधीयते। कथमेतदवगम्यते? 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मुण्ड० १।२।१३) इति प्रकृत्य तस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेरदृश्यत्वादिगुणकस्य वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात्। कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति व्यपदिश्यत इति? उत्तरसूत्रे तद्वक्ष्यामः। अपि चात्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते—'परा चैवापरा च' इति। तत्रापरामृग्वेदादिलक्षणां विद्यामुक्त्वा ब्रवीति—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि। तत्र परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरं श्रुतम्। यदि पुनः परमेश्वरादन्यददृश्यत्वादिगुणकमक्षरं परिकल्प्येत नेयं परा विद्या स्यात्। परापरविभागो ह्ययं विद्ययोरभ्युदयनिःश्रेयसफलतया परिकल्प्यते। नच प्रधानविद्या निःश्रेयसफला केनचिदभ्युपगम्यते। तिस्रश्च विद्याः प्रतिज्ञायेरन्, त्वत्पक्षेऽक्षराद्भूतयोनेः परस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यमानत्वात्। द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये इह निर्दिष्टे, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणं सर्वात्मके ब्रह्मणि विवक्ष्यमाणेऽवकल्प्यते, नाचेतनमात्रैकायतने प्रधाने, भोग्यव्यतिरिक्ते वा भोक्तरि। अपिच 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' (मुण्ड० १।१।१) इति ब्रह्मविद्यां प्राधान्येनोपक्रम्य परापरविभागेन परां विद्यामक्षराधिगमनीं दर्शयंस्तस्या ब्रह्मविद्यात्वं दर्शयति। सा च ब्रह्मविद्यासमाख्या तदधिगम्यस्याक्षरस्याब्रह्मत्वे बाधिता स्यात्। अपरर्ग्वेदादिलक्षणा कर्मविद्या ब्रह्मविद्योपक्रम उपन्यस्यते ब्रह्मविद्याप्रशंसायै—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥

(मुण्ड० १।२।७) इत्येवमादिनिन्दावचनात्। निन्दित्वा चापरां विद्यां ततो विरक्तस्य परविद्याधिकारं दर्शयति—

ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि जो यह अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतयोनि है वह परमात्मा ही हो सकता है, अन्य नहीं हो सकता। यदि कहो कि यह कैसे समझा जाता है? तो कहा जाता है कि परमात्मा के धर्मों की उक्ति (कथन) से यह परमात्मा समझा जाता है। यहाँ परमेश्वर का ही कहा जाता हुआ धर्म दीखता है, कि (जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है) अचेतन प्रधान को वा उपाधि से परिच्छिन्न दृष्टिवाले जीव को सर्वज्ञत्व वा सर्ववित्त्व नहीं सम्भव है। यदि कहो कि अक्षर शब्द

से कथित भूतयोनि से पर का सर्वज्ञत्व और सर्ववित्त्व धर्म है। इससे सर्वज्ञत्वादि का कथन भूतयोनि विषयक नहीं है, यह पहले कहा गया है। अब कहा जाता है कि इस प्रकार व्यवस्था होना यहाँ सम्भव नहीं है। जिस कारण से (यहाँ अक्षर से विश्व होता है) इस प्रकार भूतयोनि को उत्पन्न होने वाले जगत् के प्रकृति (उपादान) रूप से कथन करके उसके अनन्तर भी उत्पद्यमान के प्रकृति रूप से ही श्रुति कथन करती है कि जो सर्वज्ञ, सर्वविद् है, जिसके ज्ञानमय तप है, उससे यह कार्य ब्रह्म नामरूप और अन्न उत्पन्न होते हैं। जिससे निर्देश (कथन) की तुल्यता से वही यह है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा के विषय होने के कारण प्रकृत भूतयोनि का ही सर्वज्ञत्व सर्ववेतृत्व धर्म कहा जाता है, ऐसी प्रतीति होती है। और (पर अक्षर से भी पर है) यहाँ भी प्रकृत भूतयोनि रूप अक्षर से पर कोई पदार्थ नहीं कहा जाता है। यदि कहो कि यह कैसे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि (जिस ज्ञान से अक्षर भूतयोनि सत्यपुरुष को शिष्य जाने उस ब्रह्मविद्या को शिष्य के लिये आचार्य यथार्थ रूप से कहे) इस प्रकार प्रारम्भ करके उसी अदृश्यत्वादि गुण वाले भूतयोनि रूप अक्षर की वक्तव्य रूप से प्रतिज्ञा की गई है। इससे समझा जाता है कि भूतयोनि अक्षर से पर कोई अन्य नहीं है। यदि कहो कि ऐसा होने पर (अक्षरात्परत: परः) यह कैसे कहा गया है? तो इसका विवरण-विचार आगे के सूत्र में किया जायगा। यहाँ यह भी समझना चाहिये वि श्रुति में दो विद्यायें जानने योग्य कही गई हैं, जिनमें एक परा और एक अपरा नाम वाली है। उनमें ऋग्वेदादिरूप अपरा विद्या को कहकर आचार्य कहता है कि (अपरा के बाद परा है कि जिससे वह अक्षर समझा जाता है, प्राप्त किया जाता है) इत्यादि। यहाँ परा विद्या का विषय रूप से अक्षर श्रुत हुआ (सुना गया) है। यदि यहाँ परमेश्वर से अन्य अदृश्यत्वादि गुणवाला अक्षर परिकल्पित हो (माना जाय) तो यह अक्षर विषयक विद्या परा विद्या नहीं होगी। यदि कहो कि कारण रूप प्रधान को विद्या भी परा विद्या है तो वह हो नहीं सकती, क्योंकि विद्याओं का जो यह परा और अपरा रूप से विभाग है, वह अभ्युदय और निःश्रेयसरूप फल के भेद से सिद्ध होता है, अर्थात् फल भेद से विद्या में भेद की कल्पना होती है, और प्रधान की विद्या निःश्रेयसफला ब्रह्मविद्या से भिन्न यदि भूतयोनि विद्या हो तो ऋगादि विद्या, निःश्रेयसफला ब्रह्मविद्या से भिन्न यदि भूतयोनि विद्या हो तो तीन विद्या की प्रतिज्ञा की जाती, क्योंकि तेरे पक्ष में अक्षर भूतयोनि से पर परमात्मा का प्रतिपादन है, परन्तु दो ही विद्या यहाँ वेदितव्य कही गई हैं। और (हे भगवन्! किसके विज्ञात होने से यह सब विज्ञात होता है) इस प्रकार एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की अपेक्षा (चिन्तन) की गई है, वह सर्वात्मक ब्रह्म के विवक्षित होने पर सिद्ध हो सकती है। एक अचेतन मात्र के आश्रय प्रधान के विवक्षित रहने पर, वा भोग्य से भिन्न भोक्ता के विवक्षित रहने पर नहीं सिद्ध हो सकती है,

और (उस ब्रह्मा ने सब विद्याओं की प्रतिष्ठा-आश्रय सीमा-रूप ब्रह्म विद्या का कथन ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के लिए किया) इस प्रकार ब्रह्मविद्या का प्रधान रूप से प्रारम्भ करके फिर परापर के विभाग द्वारा अक्षरतत्त्व को प्राप्त करनेवाली परा को दर्शाते हुए, उसको ब्रह्मविद्यात्व भी दर्शाते हैं। अतः उस विद्या की ब्रह्मविद्या समाख्या (यौगिक नाम) बाधित होगी। उससे अतिरिक्त अधिगम्य (ज्ञेय-प्राप्तव्य) अक्षर को तो, अब्रह्मता होगी। उस ब्रह्मविद्या के आरम्भ में उस ब्रह्मविद्या की स्तुति प्रशंसा के लिए ऋग्वेदादिरूप अपरा कर्मविद्या कही गई है। जिससे (यज्ञ के निरूपक साधक अतएव यज्ञरूप षोडशऋत्विक् यजमान और यजमान की पत्नी ये अठारह जिससे अदृढ़ (अस्थिर) और प्लव विनश्वर हैं। और जिनमें अवर (अनित्य फलप्रद) कर्म कहा गया है। यही कर्म श्रेय है, इस प्रकार जो मूढ़ अभिनन्दन स्वीकार करते हैं, वे फिर भी बार बार जरामृत्यु को प्राप्त होते हैं) इत्यादि रूप से कर्म के निन्दा वचन से ब्रह्मविद्या की प्रशंसा होती है। इस प्रकार अपरा विद्या की निन्दा करके उससे विरक्त का विद्या में श्रुति अधिकार दर्शाती है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मुण्ड० १।२।२२) इति। यत्तूक्तम्—अचेतनानां पृथिव्यादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादानाद्दार्ष्टान्तिकेनाप्यचेतनेन भूतयोनिना भवितव्यम्–इति। तदयुक्तम्। नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति। अपि च स्थूलाः पृथिव्यादयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दार्ष्टान्तिको भूतयोनिरभ्युपगम्यते। तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वरः एव॥ २१॥

(कर्मों से साधित लोकों को अनित्यादि रूप से जानकर ब्रह्म में प्रेमादियुक्त होकर वैराग्य को प्राप्त करे क्योंकि अकृत (मोक्ष) कृत कर्म से नहीं होता है। ऐसा समझ कर उस ब्रह्म के विज्ञान के लिये विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण समिदादि भेंट युक्त प्राप्त हो) और जो यह कहा था कि अचेतन पृथिवी आदि का दृष्टान्त रूप से ग्रहण होने के कारण, जिसका दृष्ट है, वह दार्ष्टान्तिक भूतयोनि भी अचेतन ही होना चाहिये, वह कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक को अत्यन्त तुल्य होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। यदि सर्वथा तुल्यता को स्कीकार करो, तो स्थूल पृथिवी आदि दृष्टान्त रूप से गृहीत हैं। इसलिए तुझे स्थूल ही दार्ष्टान्तिक भूतयोनिको मानना चाहिए। परन्तु स्थूल ही दार्ष्टान्तिक भूतयोनि किसी से नहीं माना जाता है, जिससे अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतयोनि परमेश्वर ही सिद्ध होता है॥ २१॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

इतश्च परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतरौ शारीरः प्रधानं वा। कस्मात्? विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्। विशिनष्टि हि प्रकृतं भूतयोनिं शारीराद्विलक्षणत्वेन—'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) इति। न ह्येतद्दिव्यत्वादिविशेषणमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मान्स्वात्मनि कल्पयतः शारीरस्योपपद्यते। तस्मात्साक्षादौपनिषदः पुरुष इहोच्यते। तथा प्रधानादपि प्रकृतं भूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति—'अक्षरात्परतः परः' इति। अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतं सर्वस्माद्विकारात्परो योऽविकारस्तस्मात्परतः पर इदि भेदेन व्यपदेशात्परमात्मानमिह विवक्षितं दर्शयति। नात्र प्रधानं नाम किंचित्स्वतन्त्रं तत्त्वमभ्युपगम्यं तस्माद्भेदव्यपदेश उच्यते। किं तर्हि? यदि प्रधानमपि कल्प्यमानं श्रुत्यविरोधेनाव्याकृतादिशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परिकल्प्येत परिकल्प्यताम्। तस्माद्भेदव्यपदेशात्परमेश्वरो भूतयोनिरित्येतदिह प्रतिपाद्यते॥ २२ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी परमेश्वर ही भूतयोनि है, इतर जीव वा प्रधान भूतयोनि नहीं है, यदि कहो कि किस हेतु से ऐसा नियम करते हो, तो कहा जाता है कि भूतयोनि का विशेषण और भेद के कथन से यह नियम सिद्ध होता है। क्योंकि शरीर से विलक्षण रूप से भूतयोनि को विशेषणों से विशिष्ट (युक्त) कहा जाता है कि (वह दिव्य स्वयं प्रकाश अमूर्त-पूर्ण-प्रत्यगात्मा पुरुष है, और वही बाह्य स्थूल आभ्यन्तर सूक्ष्म सहित है इन सबका आधार है, अज है, प्राण मन से रहित शुभ्र दिव्यत्वादि जीव से अन्तर्यामी को यह वचन भिन्न दर्शाता है। क्योंकि यह शुभ्र है। इससे विशेषण, अविद्याजन्य नामरूप भेद से अभिमानी और नामरूप के धर्मों को अपने आत्मा में कल्पना करने वाला शारीर जीव का उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो सकता है। जिससे साक्षात् उपनिषद् से ज्ञेय पुरुष यहाँ कहा जाता है। इसी प्रकार प्रधान से भी भेद पूर्वक प्रकृत भूतयोनि का कथन श्रुति करती है कि (पर अक्षर से यह भूतयोनि पर है) यहाँ अक्षर शब्द का अनादि अव्यक्त नामरूप का बीज ईश्वर की शक्तिरूप भूतों के सूक्ष्म संस्कारों का आश्रय चिदात्मा ईश्वर के आश्रित रहने वाला और उस ईश्वर के उपाधि स्वरूप, और सब विकार से पर जो अविकार है, उस पर से पर भूतयोनि है इस प्रकार भेद पूर्वक निर्देश से परमात्मा को ही यहाँ श्रुति विवक्षित दर्शाती है। यह भी यहाँ समझना चाहिए कि, यहाँ प्रधान नामक किसी स्वतन्त्र तत्त्व को मान कर उससे भेद का कथन नहीं किया जाता है। तो यहाँ कहा जाता है कि यदि अव्याकृतादि शब्दों का वाच्यार्थ भूतों का सूक्ष्म स्वरूप कल्पमान प्रधान भी श्रुति के साथ अविरोध पूर्वक अर्थात् स्वतन्त्रता रहित ईश्वर की शक्ति स्वरूप से परिकल्पित (सिद्ध)

हो सके, तो परिकल्पित (सिद्ध) हो, स्वयं श्रुति कहती है कि (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते) इत्यादि। जिससे भेद कथन से परमेश्वर भूतयोनि है यह यहाँ प्रतिपादन किया जाता है ॥ २२ ॥

कुतश्च परमेश्वरो भूतयोनि :—

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

अपि च 'अक्षरात्परतः परः' इत्यस्यानन्तरम् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इति प्राणप्रभृतीनां पृथिवीपर्यन्तानां तत्त्वानां सर्गमुक्त्वा तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी च सूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

(मुण्ड० २।१।४) इति। तच्च परमेश्वरस्यैवोचितं, सर्वविकारकारणत्वात्। न शरीरस्य तनुमहिम्नः। नापि प्रधानस्यायं रूपोपन्यासः सम्भवति, सर्वभूतान्तरात्मत्वासम्भवात्। तस्मात्परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतराविति गम्यते। कथं पुनर्भूतयोनेरयं रूपोपन्यास इति गम्यते ? प्रकरणात्, 'एषः' इति च प्रकृतानुकर्षणात्। भूतयोनिं हि प्रकृत्य 'एतस्माज्जायते प्राणः' 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति वचनं भूतयोनिविषयमेव भवति। यथोपाध्यायं प्रकृत्यैतस्मादधीष्वैष वेदवेदाङ्गपारग इति वचनमुपाध्यायविषयं भवति तद्वत्। कथं पुनरदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेर्विग्रहवद्रूपं संभवति। सर्वात्मत्वविवक्षयेदमुच्यते नतु विग्रहवत्त्वविवक्षयेत्यदोषः, 'अहमन्नमहमन्नादः' (तै० ३।१०।) इत्यादिवत्।

किस हेतु से परमेश्वर भूतों का कारण सिद्ध होता है—तो और हेतु यह है कि 'पर अक्षर से पर है' इस कथन के अनन्तर (इससे प्राण उत्पन्न होता है) इस प्रकार से प्राणादि पृथिवी पर्यन्त तत्त्व की सृष्टि को कह कर, फिर उसी भूतयोनि का सर्व विकारात्म रूप उपन्यस्यमान (कथ्यमान) कथित-वर्णित देखते हैं कि (उसके अग्नि, स्वर्ग शिर है, चन्द्र सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, विवृत्त, प्रसिद्ध, वेद वाक् हैं, वायु प्राण है, संसार हृदय है, पृथिवी पैर है, इस प्रकार का जिसका रूप आकार है, वह सब प्राणी का अन्तरात्मा है) यह रूप का कथन सब विकारों (कार्यों) के कारण होने से परमेश्वर के लिये उचित है। अल्प महिमा वाले जीव के लिए उचित नहीं है, और प्रधान का भी यह रूप कथन सम्भव नहीं है, क्योंकि उसको सब भूतों के अन्तरात्मत्व का असम्भव है। जिससे परमेश्वर ही भूतयोनि है, उससे इतर (अन्य) जीव और प्रधान भूतयोनि नहीं है, यह समझा जाता है। यदि कहो कि भूतयोनि के रूप का यह कथन है। यह किस प्रमाण से कैसे समझते हो तो कहा जाता है कि

प्रकरण से समझते हैं, और श्रुति में जो 'एष' यह पद है, उससे प्रकृत भूतयोनि का अनुकर्षण (आवृत्ति पूर्वक सम्बन्ध) होता है। और भूतयोनि के ही कथन का प्रारम्भ करके कहा गया है कि (इससे प्राण उत्पन्न होता है) (यह सब भूतों का अन्तरात्मा है) इससे यह वचन भूतयोनि विषयक ही है। जैसे कि उपाध्याय को प्रस्तुत करके (उपाध्याय के नाम गुणादि का कथन करके) यदि कहा जाता है कि इनसे पढ़ो, ये वेदपारंगत हैं, तो फिर उपाध्याय के नाम लिए बिना भी यह वचन प्रकरण से उपाध्याय विषयक ही होता है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर भी अदृश्यत्वादि गुण वाले भूतयोनि को विग्रह (विस्तार विभाग. युक्त शरीर) वाला रूप का सम्भव रूप कैसे हो सकता है, तो, कहा जाता है कि सर्वात्मकता की विवक्षा से भूतयोनि का यह कहा जाता है, शरीरवत्त्व की विवक्षा से नहीं, इससे दोष (पूर्वापर विरोध) नहीं है। जैसे कोई आत्मज्ञ कहता है कि (मैं अन्न हूँ मैं अन्नाद हूँ) वह सर्वात्मकता दृष्टि से कहता है, उसी के समान यहाँ समझना चाहिये।

अन्ये पुनर्मन्यन्ते—नायं भूतयोने रूपोपन्यासः, जायमानत्वेनोपन्यासात्।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

इति हि पूर्वत्र प्राणादिपृथिव्यन्तं तत्त्वजातं जायमानत्वेन निरदिक्षत्। उत्तरत्रापि च 'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः' इत्येवमादि, 'अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च' इत्येवमन्तं जायमानत्वेनैव निर्देक्ष्यति। इहैव कथमकस्मादन्तराले भूतयोने रूपमुपन्यसेत्। सर्वात्मत्वमपि सृष्टि परिसमाप्योपदेक्ष्यति—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' (मुण्ड २।१।१०) इत्यादिना। श्रुतिस्मृत्योश्च त्रैलोक्यशरीरस्य प्रजापतेर्जन्मादि निर्दिश्यमानमुपलभामहे—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋ० सं० १०।१२१।१) इति। समवर्ततेत्यजायतेत्यर्थः। तथा—

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥ इति च॥

विकारपुरुषस्यापि सर्वभूतान्तरात्मत्वं सम्भवति, प्राणात्मना सर्वभूतानामध्यात्ममवस्थानात्! अस्मिन्पक्षे 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इत्यादिसर्वरूपोपन्यासः परमेश्वरप्रतिपत्तिहेतुरिति व्याख्येयम्॥ २३॥

यहाँ अन्य लोग तो मानते हैं कि यह पूर्व वर्णित भूतयोनि के रूप का कथन नहीं है, क्योंकि जायमान (उत्पद्यमान) रूप से प्राणादि का कथन है कि (इस भूत

योनि से प्राण उत्पन्न होता है, और मन, सब इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल, विश्व का धारण करनेवाली भूमि) ये सब उस भूतयोनि से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रथम प्राणादि पृथिवी पर्यन्त तत्त्व समूह जायमान (कार्य) रूप से कहे गये हैं। और आगे भी (उससे अग्नि स्वर्ग हुई जिसके मूर्धा समिध हैं) इत्यादि जायमान स्वर्गादि का और (इसी से सब औषधियाँ और रस हुए) इस प्रकार रसादि पर्यन्त का जायमान कार्य रूप से ही कथन करेंगे। यहाँ मध्य में अकस्मात् (कारण के बिना) भूतयोनि के रूप का कथन कैसे करेंगे। इससे मध्य में सृष्टि का ही कथन है। यदि कहा जाय कि सर्वात्मता की विवक्षा से मध्य में भूतयोनि के रूप का कथन है तो कहना उचित नहीं है, क्योंकि सृष्टि कथन को समाप्त करके अन्त में सर्वात्मत्व का भी उपदेश करेंगे, कि (पुरुष ही यह विश्व और कर्मस्वरूप है) इत्यादि। और श्रुति स्मृति में तीनों लोक रूप शरीर वाले प्रजापति के जन्मादि का कथन हमें उपलब्ध होता है कि (प्रथम हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा समवर्तत—उत्पन्न हुआ) और वह उत्पन्न होकर भूतों का एक स्वामी हुआ। एवं उसने इस पृथिवी और स्वर्ग को धारण किया। उस एक अपूर्व देव की रुचि द्वारा लोग सेवा परिचर्या करते हैं! समवर्तत, इस पद का अजायत (उत्पन्न हुआ) यह अर्थ है। इसी प्रकार वर्णन है कि (वह ब्रह्मा ही (हिरण्यगर्भ) प्रथम शरीरी है, वही पुरुष कहा जाता है। वह प्राणियों का आदि कर्ता है, यह प्रथम उत्पन्न हुआ) इत्यादि। यदि कहो कि उसको सर्वात्मत्व कैसे हो सकता है, तो कहा जाता है कि विकार पुरुष हिरण्यगर्भ को भी सर्वभूतान्तरात्मत्व का सम्भव है, क्योंकि समष्टि प्राण रूप से सब भूतों के शरीर के अन्दर उसकी स्थिति होती है। इस पक्ष में पुरुष ही यह विश्व कर्म और तप आदि है। इत्यादि सर्वरूप का कथन परमेश्वर के ज्ञान का हेतु है। इस रीति से सूत्र का व्याख्यान कर्तव्य है ॥ २३.॥

वैश्वानराधिकरण (७)

वैश्वानरः कौक्षभूतदेवजीवेश्वरेषु कः ?।
वैश्वानरात्मशब्दाभ्यामीश्वरान्येषु कश्चन ॥
द्युमूर्धत्वादितो ब्रह्मशब्दाच्चेश्वर इष्यते।
वश्वानरात्मशब्दौ तावीश्वरस्यापि वाचकौ ॥

जाठराग्नि, भूताग्नि, देवाग्नि, जीव, ईश्वर, इनमें से किस का वाचक श्रुति में वैश्वानर शब्द है, ऐसा संशय होने पर पूर्व पक्ष है कि वैश्वानर शब्द अग्नि अर्थ में प्रसिद्ध है। आत्मशब्द जीव में प्रसिद्ध है, इससे दोनों शब्दों के बल से ईश्वर से अन्य ही कोई वैश्वानर है। सिद्धान्त है कि द्यु मूर्धत्वादि के श्रवण से तथा ब्रह्म शब्द से वैश्वानर ईश्वर ही अभीष्टार्थ है। और वे वैश्वानर और आत्म शब्द भी ईश्वर के वाचक हैं ॥ १–२ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते, इति श्रुतौ वैश्वानरशब्दस्य जाठराग्नि भूताग्न्यादित्यदेवेषु साधारणत्वेऽपि, तथा चात्मशब्दस्य जीवात्मपरमात्मनोः साधारणवाचकत्वेऽपि (मूर्धैव सुतेजाः) इत्यादि विशेषस्य श्रवणाद्वैश्वानरः परमात्मैवेति) वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, इस श्रुति में वैश्वानर शब्द जाठराग्नि आदि अर्थ में साधारण है। आत्म शब्द जीवात्मा परमात्मा अर्थ में साधारण है, तो भी विशेष श्रवण से वैश्वानर शब्द का अर्थ यहाँ परमात्मा ही है।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति, 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषितमेव नो ब्रूहि' (छां० ५।११।१,६) इति चोपक्रम्य द्युसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीनां सुतेजस्त्वादिगुणयोगमेकैकोपासननिन्दया च वैश्वानरं प्रत्येषां मूर्धादिभावमुपदिश्याम्नायते—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५।१८।२) इत्यादि। तत्र संशयः—किं वैश्वानरशब्देन जाठरोऽग्निरुपदिश्यत उत भूताग्निरथ तदभिमानिनी देवता अथवा शारीर आहोस्वित्परमेश्वर इति। किं पुनरत्र संशयकारणम्? वैश्वानर इति जाठरभूताग्निदेवतानां साधारणशब्दप्रयोगादात्मेति च शारीरपरमेश्वरयोः। तत्र कस्योपादानं न्याय्यं कस्य वा हानमिति भवति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? जाठरोऽग्निरिति। कुतः? तत्र हि विशेषेण क्वचित्प्रयोगो दृश्यते—'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' (बृह० ५।९) इत्यादौ। अग्निमात्रं वा स्यात्, सामान्येनापि प्रयोगदर्शनात् 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' (ऋ० सं० १०।८८।१२) इत्यादौ। अग्निशरीरा वा देवता स्यात्, तस्यामपि प्रयोगदर्शनात् 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः' (ऋ० सं० १।९८।१) इत्येवमाद्यायाः श्रुतेर्देवतायामैश्वर्याद्युपेतायां सम्भवात्। अथात्मशब्दसामानाधिकरण्यादुपक्रमे स 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति केवलात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दवशेन च वैश्वानरशब्दः परिणेय इत्युच्यते, तथापि शारीर आत्मा स्यात्, तस्य भोक्तृत्वेन वैश्वानरसंनिकर्षात्। प्रादेशमात्रमिति च विशेषणस्य तस्मिन्नुपाधिपरिच्छिन्ने सम्भवात्। तस्मान्नेश्वरो वैश्वानर इति।

कथा है कि प्राचीनशालादि नाम वालों ने प्रथम आपस में विचार किया कि (हम सबका आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है? फिर निश्चय के लिये उद्दालक ऋषि के पास

गये, ऋषि भी नहीं समझा सके, फिर ऋषि सहित सब कैकय नाम राजा के पास गये, और राजा से पूछा कि इस समय आप वैश्वानर आत्मा का स्मरण चिन्तन करते हो, उसी का कथन हम लोगों के प्रति आप करें। यहाँ से आरम्भ करके, फिर वर्णन है कि राजा सबसे जुदा जुदा पूछेंगे कि आप सब किसकी उपासना करते हो, तो वे लोग जुदा जुदा (भिन्न भिन्न) बोले। स्वर्ग, सूर्य, वायु, आकाश, जल, पृथिवी को अपना अपना भिन्न भिन्न ध्येय बताये। तब राजा सुतेजस्त्वादि गुणों के सम्बन्ध का उपदेश करके एक एक की उपासनाओं की निन्दा पूर्वक वैश्वानर के प्रति इन स्वर्गादिकों को मूर्धादिभाव का उपदेश करके कहा कि ये सब स्वतन्त्र उपास्य नहीं हैं, किन्तु वैश्वानर के शिर आदि रूप से उपास्य हैं इस प्रकार से उपदेश करके फिर कहा गया है कि (जो इस प्रादेशमात्र उन अङ्गों से युक्त) अभिविमान (सर्वज्ञ) वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, सो सब लोक, सब भूत सब आत्मा में अन्न खाता है। और उस प्रसिद्ध इस वैश्वानर आत्मा के सुतेजा (स्वर्ग) मूर्धा है, विश्वरूप-सूर्य चक्षु है, पृथग्वर्त्मात्मा वायु प्राण है, बहुल आकाश संदेह (देह मध्य) है। वस्तिस्थान रयि (धन का हेतु जल) है, पृथिवी पाद है: उरः स्थान यज्ञ वेदी है, कुश लोम है, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है, मुख आहवनीय है इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि वैश्वानर शब्द से जाठराग्नि का उपदेश दिया जाता है, या भूताग्नि का अथवा अग्नि के अभिमानी देव का अथवा जीव या ईश्वर का उपदेश दिया जाता है। यदि कहा जाय कि यहाँ संशय का कारण क्या है, तो उसका उत्तर यह है कि यहाँ जाठराग्नि, भूताग्नि, देवाग्नि इन तीनों के साधारण तुल्य रूप से वाचक वैश्वानर शब्द का प्रयोग है, और जीवेश्वर के साधारण वाचक आत्म शब्द का प्रयोग है। यहाँ संशय होता है कि इन पाँचों का तो ग्रहण उपासना के लिए हो नहीं सकता है, तो इनमें से किसका ग्रहण न्याय्य (उचित) है, और किसका त्याग उचित है यह संशय होता है, विमर्श होता है कि प्राप्त क्या है। प्रथम पूर्व पक्ष है कि जाठराग्नि प्राप्त है, क्योंकि जाठराग्नि विषयक ही कहीं विशेषरूप से वैश्वानर शब्द का प्रयोग देखा जाता है कि (यह अग्नि वैश्वानर है कि जो पुरुष के अन्तर में है, और जिससे यह अन्न पचता है कि जो यह अन्न पुरुष से खाया जाता है) इत्यादि। अथवा अग्निमात्र वैश्वानर होगा, क्योंकि समानरूप से ही प्रयोग देखा जाता है कि (सब भुवनों के लिए देवताओं ने दिन का चिह्न रूप सूर्यात्मक अग्नि को बनाया है) इत्यादि। या अग्नि शरीर वाला देव वैश्वानर हो सकता है, क्योंकि उस देव-विषयक प्रयोग भी देखा जाता है (हम लोग वैश्वानर की सुमति का विषय होवें, अर्थात् हमारे विषयक वैश्वानर की सुमति हो। जिससे वैश्वानर भुवनों का राजा है (सुख स्वरूप सुख प्रद) है, और अभिमुख श्रीवाला है। इस प्रकार श्रुतियों का ऐश्वर्यादियुक्त देवताविषयक ही प्रयोग सम्भव है। और यदि (आत्मानं वैश्वानरम्)

यहाँ वैश्वानर को आत्मा के साथ समानाधिकरणता से और आरम्भ में (हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है) यहाँ केवल आत्म शब्द के प्रयोग से आत्म शब्द के बलद्वारा भी वैश्वानर शब्द आत्मार्थ में परिणेय (प्राप्त कराने योग्य) आत्मार्थक है ऐसा कहा जाय, तो भी वैश्वानर शब्द का अर्थ जीवात्मा हो सकता है, क्योंकि उसे भोक्ता होने से वैश्वानर के साथ उसको सम्बन्ध सामीप्य है, और प्रादेशमात्र इस विशेषण का भी उपाधिपरिच्छिन्न उस जीवात्मा में सम्भव है। जिससे ईश्वर वैश्वानर नहीं है।

एवं प्राप्ते तत इदमुच्यते—वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हतीति। कुतः ? साधारणशब्दविशेषात्। साधारणशब्दयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषः। यद्यप्येतावुभावप्यात्मवैश्वानरशब्दौ साधारणशब्दौ, वैश्वानरशब्दस्तु त्रयस्य साधारणः, आत्मशब्दश्च द्वयस्य तथापि विशेषो दृश्यते, येन परमेश्वरपरत्वं तयोरभ्युपगम्यते, 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादि। अत्र हि परमेश्वर एव द्युमूर्धत्वादिविशिष्टोऽवस्थान्तरगतः प्रत्यगात्मत्वेनोपन्यस्त आध्यानायेति गम्यते, कारणत्वात्। कारणस्य हि सर्वाभिः कार्यगताभिरवस्थाभिरवस्थावत्त्वाद्द्युलोकाद्यवयवत्वमुपपद्यते। 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' इति च सर्वलोकाद्याश्रयं फलं श्रूयमाणं परमकारणपरिग्रहे सम्भवति। 'एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।३) इति च तद्विदः सर्वपाप्मप्रदाहश्रवणम्। 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति चात्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम इत्येवमेतानि लिङ्गानि परमेश्वरमेवावगमयन्ति। तस्मात्परमेश्वर एव वैश्वानरः॥ २४॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर यह सिद्धान्त कहा जाता है कि वैश्वानर परमात्मा होने के योग्य है। क्योंकि साधारण शब्दों का भी विशेष है। साधारण शब्दों के विशेष को साधारण शब्द विशेष इस शब्द से सूत्र में कहा गया है। भाव यह है कि ये आत्म शब्द और वैश्वानर शब्द दोनों ही साधारण शब्द हैं, उनमें वैश्वानर शब्द तीन का साधारण वाचक है, आत्म शब्द दो का साधारण वाचक है, तो भी विशेष देखा जाता है। जिस विशेष से उन दोनों शब्दों को परमेश्वरपरत्व स्वीकार करते हैं। वह विशेष यह है कि (उस वैश्वानर आत्मा के ही सुन्दर प्रकाश वाला स्वर्ग मूर्धा है) इत्यादि। यहाँ त्रिलोकात्मकता रूप अवस्थान्तर को प्राप्त परमेश्वर ही द्युमूर्धत्वादि विशिष्ट भी प्रत्यगात्मारूप से आन्तरध्यान के लिए कहा गया है, ऐसी प्रतीति होती है। क्योंकि वह सब का कारण है। और कारण को कार्यगत अवस्थाओं से अवस्थावत्त्व होता है, इससे स्वर्गादिलोक रूप अवयववत्त्व भी सिद्ध होता है। और (सब लोक सब भूत सब आत्मा में अन्न खाता है) सर्वलोकादि के आश्रित सुना गया यह फल भी पर कारण का स्वीकार करने पर सम्भव है। इसी प्रकार (अग्नि में इषीका तूल के समान इस विद्वान् के सब पाप नष्ट हो जाते हैं) इस वैश्वानर के ज्ञानी के यह सब

पापों का दाह श्रवण। और (कौन हमारी आत्मा है, ब्रह्म क्या है) इस प्रकार आत्म ब्रह्म से आरम्भ ये सब लिङ्ग परमेश्वर का ही बोध करते हैं, जिससे परमेश्वर ही वैश्वानर है ॥ २४ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (स्मृत्या स्मर्यमाणं परमेश्वरं रूपं स्वमूलभूतां श्रुतिमनुमापयद्वैश्वानरस्यानुमानं गमकं स्यात्तस्माद्वैश्वानरः परमेश्वर एवेति) स्मृति से स्मर्यमाण जो परमेश्वर का रूप है, अतः अपने मूलश्रुति का अनुमान कराता हुआ वैश्वानर का बोधक होता है, इसलिए वैश्वानर परमेश्वर होता है।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात्परमेश्वरस्यैव-अग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा-इतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते—

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः॥ इति।

एतत्स्मर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः। इतिशब्दो हेत्वर्थः। यस्मादिदं गमकं तस्मादपि वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः। यद्यपि स्तुतिरियं 'तस्मै लोकात्मने नमः' इति। स्तुमित्वमपि नासति मूलभूते वेदवाक्ये सम्यगीदृशेन रूपेण सम्भवति।

द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे।
दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता॥

इत्येवंजातीयका च स्मृतिरिहोदाहर्तव्या ॥ २५ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी परमेश्वर ही वैश्वानर है, क्योंकि परमेश्वर का ही (—अग्नि, जिसका मुख है, स्वर्ग शिर है—) इस प्रकार का त्रैलोक्यात्मक स्वरूप का स्मृति से कथन किया जाता है कि (जिसका अग्नि मुख है, स्वर्ग शिर है, आकाश नाभि है, भूमि चरण है, सूर्य नेत्र है, दिशायें कान है, उस सर्वलोक स्वरूप परमात्मा के प्रति प्रमाण है (म० भा० शा० ४८।३८) इस स्मृति से यह स्मर्यमाण रूप, एतदर्थक स्वमूलश्रुति का अनुमान करता हुआ, इस वैश्वानर शब्द को परमेश्वर परत्व में अनुमानरूप गमक लिङ्ग होता है। सूत्र में इति शब्द हेतु अर्थ में है, इस प्रकार अर्थ होता है कि जिससे स्मर्यमाण रूप गमक है, उससे भी वैश्वानर परमात्मा ही है। उस लोकात्मा के प्रति नमस्कार से यद्यपि यह स्मृति स्तुतिरूप है, तथापि मूलस्वरूप वेदवाक्य के अभाव काल में इस प्रकार के रूप द्वारा स्तुतित्व भी सम्यक् नही हो सकता है। और (विप्र लोग जिसके शिर को स्वर्ग कहते हैं, आकाश को नाभि कहते हैं, पृथिवी को पाद कहते हैं, दिशाओं को श्रोत्र कहते हैं, चन्द्र सूर्य को नेत्र कहते हैं,

वह अचिन्त्यात्मा सब भूतों का प्रणेता नियन्ता कर्ता स्वामी है उसको जानो) इस प्रकार की अन्य स्मृतियाँ भी यहाँ उदाहरण के योग्य हैं ॥ २५ ॥

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

शब्दादिभ्यः-अन्तःप्रतिष्ठानात्-च-न-इति-चेत्-न-तथा-दृष्ट्युपदेशात्-असम्भवात्-पुरुषम्-अपि-च-एनम्-अधीयते। इस सूत्र में १५ पद हैं, संक्षिप्तार्थ है कि (वैश्वानरशब्द गार्हपत्याद्यग्निकल्पनप्राणाहुत्याधारतासंकीर्तनेभ्यः शरीरान्तःप्रतिष्ठानाच्च न वैश्वानरः परमात्मेति चेन्न तेन प्रकारेण जाठरे परमात्मदृष्ट्युपदेशासंभवात्। किञ्चैनं वैश्वानरं वैश्वानरपुरुषमपि पठन्ति तस्मात्परमात्मैव वैश्वानर इति) अग्निवाचक वैश्वानर शब्द से, तथा गार्हपत्यादि तीन अग्नियों की कल्पना से, प्राण के लिए जो आहुति एवं उसकी आधारता के कथन से तथा शरीर के अन्दर स्थिति के कथनादि से वैश्वानर परमात्मा नहीं है, किन्तु जाठराग्नि आदि है। ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि उस रीति से जठराग्नि में परमात्मदृष्टि का ही उपदेश दिया गया है और जाठर में विशेषण का असंभव है। इस वैश्वानर को कोई 'पुरुष' शब्द से भी कहते हैं, अतः परमात्मा ही वैश्वानर है।

अत्राह—न परमेश्वरो वैश्वानरो भवितुमर्हति। कुतः? शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च। शब्दस्तावद्वैश्वानरशब्दो न परमेश्वरे सम्भवति, अर्थान्तरे रूढत्वात्। तथाग्निशब्दः 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इति। आदिशब्दात् 'हृदयं गार्हपत्यः' (छा० ५।१८।२) इत्याद्यग्नित्रेताप्रकल्पनम्। 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५।१०।१) इत्यादिना च प्राणाहुत्यधिकरणतासंकीर्तनम्। एतेभ्यो हेतुभ्यो जाठरो वैश्वानरः प्रत्येतव्यः। तथान्तः प्रतिष्ठानमपि श्रूयते—'पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' इति। तच्च जाठरे सम्भवति। यदप्युक्तम्—मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषात्कारणात्परमात्मा वैश्वानर-इति। अत्र ब्रूमः—कुतो ह्येष निर्णयः, यदुभयथापि विशेषप्रतिभाने सति परमेश्वरविषय एव विशेष आश्रयणीयो न जाठरविषय इति। अथवा भूताग्नेरन्तर्बहिश्चावतिष्ठमानस्यैष निर्देशो भविष्यति। तस्यापि हि द्युलोकादिसम्बन्धो मन्त्रवर्णादवगम्यते—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १०।८८।३) इत्यादौ। अथवा तच्छरीराया देवताया ऐश्वर्ययोगाद्द्युलोकाद्यवयवत्वं भविष्यति। तस्मान्न परमेश्वरो वैश्वानर इति।

उक्तार्थ में कोई शंका करता है कि परमेश्वर वैश्वानर शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि वैश्वानरशब्दादिरूप हेतुओं से और अन्तःप्रतिष्ठान (स्थिति) से ऐसी प्रतीति होती है कि वैश्वानर ईश्वर नहीं है। पहले तो वैश्वानर शब्द ऐसा है कि

जो परमेश्वरार्थ में उसके प्रयोग का सम्भव नहीं है, क्योंकि वह दूसरे अर्थ में रूढ़ है, रूढ़ि (समुदायशक्ति) से अग्नि का वाचक है। वैसे ही अग्नि शब्द भी अर्थान्तर से रूढ़ है, वह भी परमेश्वर वाचक नहीं है। जैसे कि यह अग्नि वैश्वानर है इत्यादि प्रयोग है। सूत्र में आदि शब्द से (हृदय गार्हपत्य है) इत्यादि वचनों से जो तीन अग्नियों की कल्पना की गई है उनका ग्रहण है, और (वह जो प्रथम भात (ओदन) आवे वह होमार्थक द्रव्य है) इत्यादि वचनों से प्राण के लिए अन्न को आहुति (हवन) की अधिकरणता का वैश्वानराग्नि में कथन है इन हेतुओं से जाठराग्नि वैश्वानर शब्द का अर्थ जानने योग्य है। इसी प्रकार उस वैश्वानर की शरीरान्तर (भीतर) में स्थिति भी सुनी जाती है कि (वैश्वानर को पुरुष के अन्दर प्रतिष्ठित समझे) वह अन्तःस्थिति भी जाठराग्नि से ही सम्भव है। एवं जो यह पहले कहा है कि (मूर्धैव सुतेजा) इत्यादि। वहाँ विशेषरूप कारण से परमात्मा वैश्वानर है। अब प्रश्न है कि यह निर्णय कैसे हो सकता है कि जाठराग्नि विषयक और परमात्मविषयक दोनों प्रकार के विशेषों की प्रतीति रहनेपर भी वैश्वानर शब्द परमेश्वरविषयकका ही आश्रयण करना चाहिए, जाठर-विषयक विशेष का नहीं। यदि कहो कि द्युमूर्धत्वादि विशेष का जाठराग्नि में असंभव है, इससे परमेश्वरविषयक विशेष बली है, तो भी बाहर-भीतर वर्तमान भूताग्नि का ही यह द्युमूर्धत्वादि निर्देश (कथन) है, क्योंकि उस अग्नि को भी द्युलोकादि के साथ संबन्ध का ज्ञान मन्त्राक्षर से होता है। मन्त्र कहता है—(जो अग्नि इस भूमि और स्वर्गरूप रोदसी (लोक) तथा मध्यगत अन्तरिक्ष को सूर्य द्वारा व्याप्त किया) इत्यादि। यदि जड़ अग्निमात्र ध्येय नहीं माना जा सके, तो चाहे उस अग्निरूप शरीर वाले देव को ऐश्वर्यादि के सम्बन्ध से द्युलोकादि अवयव हो सकते हैं, और देव स्वर्ग-शिर आदि वाला हो सकता है, उससे परमेश्वर वैश्वानर नहीं है।

अत्रोच्यते—न तथादृष्ट्युपदेशादिति। न शब्दादिभ्यः कारणेभ्यः परमेश्वरस्य प्रत्याख्यानं युक्तम्। कुतः? तथा जाठरापरित्यागेन दृष्ट्युपदेशात्। परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यते, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१) इत्यादिवत्। अथवा जाठरवैश्वानरोपाधिः परमेश्वर इहे द्रष्टव्यत्वेनोपदिश्यते, 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्यादिवत्। यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत केवल एव जाठरोऽग्निर्विवक्ष्येत ततो मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषस्यासम्भव एव स्यात्। यथा तु देवताभूताग्निव्यपाश्रयेणाप्ययं विशेष उपपादयितुं न शक्यते तथोत्तरसूत्रे वक्ष्यामः। यदि च केवल एव जाठरो विवक्ष्येत, पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं तस्य स्यान्न तु पुरुषत्वम्। पुरुषमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' (श० ब्रा० १०।६।१।११) इति। परमेश्वरस्य तु सर्वात्मत्वात्पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं

चोभयमुपपद्यते । ये तु 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इति सूत्रावयवं पठन्ति, तेषामेषोऽर्थः—केवलजाठरपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं स्यान्न पुरुषविधत्वम् । पुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेदे' इति । पुरुषविधत्वं च प्रकरणाद्यदधिदैवतं द्युमूर्धत्वादि पृथिवीप्रतिष्ठितत्वान्तं, यच्चाध्यात्मं प्रसिद्धं मूर्धत्वादि चुबुकप्रतिष्ठितत्वान्तं तत्परिगृह्यते ॥ २६ ॥

यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि उस प्रकार की परमात्मविषयक दृष्टि का उपदेश होने से पूर्व कथन ठीक नहीं । अर्थात् उक्त शब्दादि रूप हेतुओं से परमात्मा का प्रत्याख्यान करना उचित नहीं है, क्योंकि उस प्रकार से जाठराग्नि को त्यागे बिना परमात्म दृष्टि का उपदेश है अर्थात् यहाँ जाठराग्नि रूप वैश्वानर में परमेश्वर दृष्टि (उपासना) का उपदेश दिया जाता है । जैसे कि 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'—मन ब्रह्म हैं—ऐसी उपासना करे, इत्यादि उपदेश हैं, उनके समान इस उपदेश को समझना चाहिए । अथवा (मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः) इत्यादि के समान इस उपदेश को समझ जाठर वैश्वानर (जाठराग्नि) रूप उपाधिवाला परमेश्वर यहाँ द्रष्टव्य रूप से उपदेश का विषय है, क्योंकि यदि यहाँ परमेश्वर नहीं विवक्षित हों, और केवल जाठराग्नि ही विवक्षित हो तो (मूर्द्धेव सुतेजा) इत्यादि विशेष का असम्भव ही होगा। देवता तथा भूताग्नि के आश्रयण द्वारा भी इस द्युमूर्द्धत्वादि विशेष का उपपादन नहीं कर सकते, यह प्रकार उत्तर सूत्र में कहेंगे । यदि केवल जाठराग्नि को विवक्षित माना जाय तो उसमें केवल पुरुष के अन्दर प्रतिष्ठितत्व विशेषण का सम्भव होगा, पुरुषत्व का सम्भव नहीं होगा और वाजसनेयी लोग इस वैश्वानर का पुरुष रूप से भी अध्ययन करते हैं कि (जो पुरुष है, वह यह वैश्वानर अग्नि है जो कोई इस वैश्वानर अग्नि को इस प्रकार पुरुष सदृश पुरुष के अन्दर में प्रतिष्ठित जानता है, वह सर्वत्र भोग पाता है), और परमेश्वर को तो सर्वात्मा होने से पुरुषत्व पुरुष के अन्तःप्रतिष्ठितत्व दोनों उपपन्न होते हैं । और जो कोई (पुरुषविधमपि चैनमधीयते) इस प्रकार सूत्र का अवयव पढ़ते हैं, उनके अनुसार अर्थ होगा कि केवल जाठराग्नि के ग्रहण करने पर, केवल पुरुष के अन्तःप्रतिष्ठितत्व होगा, पुरुषविधत्व नहीं होगा, और इस वैश्वानर को वाजसनेयी पुरुषविध भी पढ़ते हैं कि (पुरुष सदृश और पुरुष के अन्दर प्रतिष्ठित जानते हैं) इत्यादि । यहाँ प्रकरण से पुरुषविधत्व वह है कि जो अधिदैवत द्युमूर्द्धत्वादि से युक्त पृथिवी प्रतिष्ठितत्वपर्यन्त है । और मूर्धत्वादियुक्त चुबुकप्रतिष्ठितत्वपर्यन्त जो अध्यात्म प्रसिद्ध है । अर्थात् एक विराड्देहाकारत्व है और एक उपासक के शिर से डाढ़ी तक में कल्पित ईश्वर के पुरुषविधत्व हैं । वे ही यहाँ परिगृहीत होते हैं, देहव्यापित्वादि का ग्रहण नहीं होता है ॥ २६ ।

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

यत्पुनरुक्तम्—भूताग्नेरपि मन्त्रवर्णे द्युलोकादिसम्बन्धदर्शनान्मूर्धैव सुतेजा इत्याद्यवयवकल्पनं तस्यैव भविष्यतीति, यच्छरीराया देवताया वैश्वर्ययोगात्—इति । तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते--अत एवोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न देवता वैश्वानरः । तथाभूताग्निरपि न वैश्वानरः । नहि भूताग्नेरौष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य द्युमूर्धत्वादिकल्पनोपपद्यते, विकारस्य विकारान्तरात्मत्वासम्भवात् । तथा देवतायाः सत्यप्यैश्वर्ययोगे न द्युमूर्धत्वादिकल्पना सम्भवति । अकारणत्वात्परमेश्वराधीनैश्वर्यत्वाच्च । आत्मशब्दासम्भवश्च सर्वेष्वेषु पक्षेषु स्थित एव ॥२७॥

जो यह कहा था कि भूताग्नि का भी मन्त्रवर्ण में द्युलोकादि के साथ सम्बन्ध देखा (सुना) जाता है, उससे (मूर्धैव सुजेता) इत्यादि वचनों द्वारा अग्नि के ही अवयवों की कल्पना हो सकती है, अथवा उस अग्नि रूप शरीर वाले देव के अवयवों की कल्पना हो सकती है ? इस शंका का परिहार (निवारण) अवश्य कर्त्तव्य है। उक्त द्युमूर्द्धत्वादि सर्वलोकफलभागित्व सर्वपापप्रहादिरूप हेतुओं से ही देवता वैश्वानर नहीं है तथा भूताग्नि भी वैश्वानर नहीं है, क्योंकि औष्ण्य (उष्णता) और प्रकाशमात्र जिसकी आत्मा (स्वरूप) है, ऐसी भूताग्नि के द्युमूर्द्धत्वादि की कल्पना युक्त सिद्ध नहीं हो सकती है, जिससे एक विकार की विकारान्तरात्मता का असम्भव है। वैसे ही देवता के ऐश्वर्यादि का संबन्ध रहते भी द्युमूर्द्धत्वादिकल्पना का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि देवता उपादान कारण नहीं है, और उसका ऐश्वर्य ईश्वराधीन है। इन सभी पक्षों में आत्मशब्द का असम्भव तो स्थिर ही है ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पूर्वं जाठराग्निप्रतीको जाठराग्न्युपाधिको वा परमेश्वर उपास्य इत्युक्तमन्तःप्रतिष्ठितत्वाद्यनुरोधेन । इदानीं तु विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमेश्वरोपासनपरिग्रहे न कश्चिद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । ननु जाठराग्न्यपरिग्रहेऽन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं शब्दादीनि च कारणानि विरुध्येरन्निति । अत्रोच्यते--अन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं तावन्न विरुध्यते । नहीह 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति जाठराग्न्यभिप्रायेणेदमुच्यते । तस्याप्रकृतत्वादसंशब्दितत्वाच्च । कथं तर्हि यत्प्रकृतं मूर्धादिचुबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु पुरुषविधत्वं कल्पितं तदभिप्रायेणेदमुच्यते--'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति । यथा वृक्षे शाखां प्रतिष्ठितां पश्यतीति तद्वत् । अथवा यः प्रकृतः परमात्माध्यात्ममधिदैवतं च पुरुषविधत्वोपाधिस्तस्य यत्केवलं साक्षिरूपं तदभिप्रायेणेदमुच्यते—'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति । निश्चिते च पूर्वापरालोचनवशेन

परमात्मपरिग्रहे तद्विषय एव वैश्वानरशब्दः केनचिद्योगेन वर्तिष्यते। विश्वश्चायं नरश्चेति, विश्वेषां वायं नरः, विश्वे या नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा, सर्वात्मत्वात्। विश्वानर एव वैश्वानरः। तद्धितोऽनन्यार्थः, राक्षसवायसादिवत्। अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयणेन परमात्मविषय एव भविष्यति। गार्हपत्यादिकल्पनं प्राणाहुत्यधिकरणत्वं च परमात्मनोऽपि सर्वात्मत्वादुपपद्यते।

प्रथम जाठराग्नि रूप प्रतीक (मूर्ति) वाले वा जाठराग्नि रूप उपाधि वाले परमेश्वर उपास्य हैं, यह बात अन्तःप्रतिष्ठितत्वादि के अनुरोध (अनुकूलता) से कही गई है। अब इस समय कहा जाता हे कि प्रतीक और उपाधि की कल्पना के विना ही साक्षात् भी परमेश्वर की उपासना को स्वीकार करने पर कोई विरोध नहीं है, इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते हैं। यहाँ कोई पूर्ववर्णित शंका करते हैं कि जाठराग्नि के सर्वथा अपरिग्रह (अस्वीकार) करने पर अन्तःप्रतिष्ठितत्व-वचन और पूर्वोक्त शब्दादि कारण विरुद्ध होंगे। इसका उत्तर है कि प्रथम अन्तःप्रतिष्ठितत्व-वचन तो नहीं विरुद्ध होता है, क्योंकि यहाँ (पुरुषविध पुरुष के अन्तःप्रतिष्ठित को जाने) यह वचन जाठराग्नि के अभिप्राय से नहीं कहा जाता है, वह अग्नि अप्रकृत है, अर्थात् यहाँ जाठराग्नि का कोई प्रकरण नहीं है, और असंशब्दित है, अर्थात् खास उसके वाचक शब्द से जाठराग्नि कही नहीं गई है। अग्नि आदि शब्द ईश्वर के वाचक हैं, जाठराग्नि कें नहीं। यदि कहो कि अन्दर जाठराग्नि की स्थिति के अभिप्राय से अन्तःप्रतिष्ठितत्व—वचन नहीं हैं, तो किस अभिप्राय से वैसा वचन है? इसका समाधान है कि जो पुरुषविधत्व प्रकृत है और मूर्धादिचुबुकान्त पुरुष के अवयवों में कल्पित है, उसके अभिप्राय से यह कहा जाता है कि (पुरुषविध पुरुष प्रतिष्ठित को जाने) यह पुरुष के अन्दर देखने के बिना पुरुषविध शिर आदि को पुरुष में इस प्रकार देखता है, जैसे वृक्ष में प्रतिष्ठित शाखा को मनुष्य देखता है। अथवा अध्यात्म और अधिदैवत पुरुषविधत्वोपाधिवाला जो परमात्मा प्रकृत है, उसका जो केवल साक्षिरूप है उसके अभिप्राय से यह कहा जाता है कि (पुरुष के अन्दर प्रतिष्ठित जाने) और पूर्वापर ग्रन्थ के पर्यालोचन के वश से परमात्म-परिग्रह के निश्चित होने पर वैश्वानर शब्द भी किसी योग (अवयव शक्ति) द्वारा उस परमात्माविषय (अर्थ) में ही स्थित रहेगा। योगवृत्ति ऐसी होगी कि (विश्वरूप यह नर हैं—अर्थात् सर्वात्मा है) अथवा विश्व का कर्त्ता नर ईश्वर है, अथवा सब नर (जीव) इसके स्वरूप हैं, क्योंकि यह सर्वात्मा है। स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय होने से विश्वानर ही वैश्वानर कहलाता है, और (नरे संज्ञायाम्) इस सूत्र से विश्व शब्द को दीर्घ होता है। यहाँ तद्धित का अन्य अर्थ नहीं है, जैसे वायस राक्षसादि शब्दों में प्रकृति के अर्थ से अन्य प्रत्ययार्थ नहीं रहता है। अग्नि शब्द भी अग्रफल-प्रापकत्वादि योग के आश्रयण द्वारा परात्मविषयक ही होगा। इसी प्रकार गार्हपत्यादि

रूपता की कल्पना और प्राणाहुति का अधिकरणत्व भी परमात्मा के सर्वात्मत्व से उत्पन्न सिद्ध होता है ॥ २८ ॥

कथं पुनः परमेश्वरपरिग्रहे प्रादेशमात्रश्रुतिरुपपद्यत इति तां व्याख्यातुमारभते—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अतिमात्रस्यापि परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यात् अभिव्यज्यते किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वर उपासकानां कृते। प्रदेशेषु वा हृदयादिषूपलब्धिस्थानेषु विशेषणाभिव्यज्यते। अतः परमेश्वरेऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरभिव्यक्तेरुपपद्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २९ ॥

यहाँ शङ्का होती है कि पूर्वरीति से परमात्मा के स्वीकार करने पर प्रादेशमात्र श्रुति कैसे उत्पन्न होगी अर्थात् फैलाई हुई तर्जनी और अंगुष्ठ के मध्यभाग को एक वितस्ति से भी कम प्रदेश को प्रादेश कहते हैं, परमात्मा प्रादेशमात्रवृत्ति कैसे होगा? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए उस श्रुति का व्याख्यान करने के लिए आरम्भ करते हैं— 'अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः' इति अर्थात् सब परिमाणों से रहित परमेश्वर को भी प्रादेशमात्रत्व अभिव्यक्तिनिमित्तक होता है। क्योंकि उपासकों के लिए प्रादेशमात्र-परिमाण वाला ही परमेश्वर अवश्य अभिव्यक्त (प्रकट) होता है। अथवा उपलब्धि (ज्ञान) के स्थान हृदयादि प्रदेशों में विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है। इससे (प्रदेशेषु मीयते ज्ञायते) ऐसा प्रादेशमात्र कहलाता है। इससे परमेश्वर में भी अभिव्यक्तिरूप हेतु से प्रादेशमात्रता की श्रुति उपपन्नयुक्त होती है, इस प्रकार आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

प्रादेशमात्रहृदयप्रतिष्ठेन वायं मनसाऽनुस्मर्यते तेन प्रादेशमात्र इत्युच्यते। यथा प्रस्थमिता यवाः प्रस्था इत्युच्यन्ते तद्वत्। यद्यपि च यवेषु स्वगतमेव परिमाणं प्रस्थसम्बन्धाद्व्यज्यते, न चेह परमेश्वरगतं किञ्चित्परिमाणमस्ति यद्धृदयसम्बन्धाद्व्यज्येत; तथापि प्रयुक्तायाः प्रादेशमात्रश्रुतेः सम्भवति यथाकथंचिदनुरणमालम्बनमित्युच्यते। प्रादेशमात्रत्वेन वायमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेशमात्रश्रुत्यर्थवत्तायै। एवमनुस्मृतिनिमित्ता परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिरिति बादरिराचार्यो मन्यते ॥ ३० ॥

अथवा प्रादेशमात्र (देशविशेषमात्र) रूप हृदय में रहने वाला मन से यह परमात्मा स्मरण का विषय होता है (ध्यान में आता है) उससे प्रादेशमात्र कहा जाता है, जैसे कि प्रस्थनामक प्रमाण विशेष से मित (मापे-तौले गए) जौ (यव) भी

प्रस्थ कहलाते हैं। वैसे ही प्रादेशरूप मन से मित (ज्ञात-स्मृत) होने से परमात्मा प्रादेशमात्र कहलाता है। यद्यपि यवों में स्वगत ही परिमाण प्रस्थ के सम्बन्ध से अभिव्यक्त (ज्ञात) होता है। यहाँ परमात्मा में रहने वाला कोई भी परिमाण नहीं है कि जो परिमाण हृदय-सम्बन्ध से अभिव्यक्त हो। तथापि परमात्मविषयक प्रयुक्त (कथित) प्रादेशमात्र श्रुति-वचन का जिस किसी प्रकार से अनुस्मरण आलम्बन (विषय) हो सकता है इस आशय से श्रुति कहती है, कि मनगत प्रादेशमात्रता मन से स्मृत परमात्मा में कल्पित होती है, अथवा सूत्र का अर्थ है कि प्रादेशमात्र श्रुति की अर्थवत्ता (सफलता) के लिए यह अप्रादेशमात्र (विभु) परमात्मा भी प्रादेशमात्र रूप से स्मरण के योग्य है, अर्थात् परमात्मा के प्रादेशमात्र नहीं रहते हुए भी श्रुति की सार्थकता के लिए वैसा स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार अनुस्मरणनिमित्तक परमात्मा में प्रादेशमात्र श्रुति है, यह बादरि आचार्य मानते हैं ॥ ३० ॥

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥ ३१ ॥

सम्पत्तिनिमित्ता वा स्यात्प्रादेशमात्रश्रुतिः। कुतः? तथाहि—समानप्रकरणं वाजसनेयिब्राह्मणं द्युप्रभृतीन्पृथिवीपर्यन्तांस्त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्यावयवानध्यात्ममूर्धप्रभृतिषु चुबुकपर्यन्तेषु देहावयवेषु सम्पादयत्प्रादेशमात्रसम्पत्तिं परमेश्वरस्य दर्शयति—'प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा नु व एतान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसंपादयिष्यामीति, स होवाच मूर्धानमुपदिशन्नुवाच एष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति। चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति। नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति। मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति। मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति। चुबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति'। चुबुकमित्यधरं मुखफलकमुच्यते। यद्यपि वाजसनेयके द्यौरतिष्ठात्वागुणा समाम्नायते आदित्यश्च सुतेजस्त्वगुणः, छान्दोग्ये पुनर्द्यौः सुतेजस्त्वगुणा समाम्नायते, आदित्यश्च विश्वरूपत्वगुणः। तथापि नैतावता विशेषेण किञ्चिद्धीयते, प्रादेशमात्रश्रुतेरविशेषात्, सर्वशाखाप्रत्ययत्वाच्च। संपत्तिनिमित्तां प्रादेशमात्रश्रुतिं युक्ततरां जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

अथवा सम्पत्ति (लघु का बृहत्संपादन) निमित्तक प्रादेशमात्र श्रुति है, क्योंकि वैसा ही वर्णनरूप ब्राह्मण ग्रन्थ इस अर्थ को प्रदर्शित करता है। इस प्रादेश श्रुति के तुल्य प्रकरण वाला वाजसनेयी ब्राह्मणरूप ग्रन्थ पृथिवी आदि तीन लोकपर्यन्त जो त्रिलोकात्मक वैश्वानर के महान् अवयव हैं, उनको अपने आत्म (देह)--सम्बन्धी मूर्धादि चुबुक (दाढ़ी) पर्यन्त देह के अवयवों में सम्पादन (प्रतिपादन सिद्ध) करता हुआ परमेश्वर

को भी प्रादेशमात्रता की प्राप्ति दिखलाता है (प्रादेशरहित ईश्वर को भी प्रथम के देव सबने सम्पत्ति से प्रादेशमात्र के समान समझा, और प्राप्त किया। जिस प्रकार देवताओं ने उसे प्रादेशमात्र प्रत्यागात्मा रूप से प्राप्त किया, उसी प्रकार इन द्युलोकादि अवयवों को हमलोगों ने (यह कैकेय राजा का कथन प्राचीनशालादियों के प्रति है) जिस रीति से वैश्वानर को प्रादेशमात्र ही सिद्ध कर फिर अपने शिर का उपदेश करता (अङ्गुली से प्रदर्शन करता) हुआ वह राजा बोला कि यह मेरा शिर भूरादि लोकों का अतिक्रमण करने वाला निश्चय से अतिष्ठा नामक वैश्वानर का अवयव है। नेत्रों को दिखाता हुआ उसने कहा कि यह निश्चय सुन्दर तेज वाला सुतेजा नामक वैश्वानर का अवयव है। नासिका को दिखाता हुआ कहा कि--यह (इसमें रहने वाला प्राण) पृथक् गतिवाला वायु स्वरूप वैश्वानर का अवयव है। मुख के आकाश को दिखाता हुआ कहा—कि यह बहुल (आकाश) नामक वैश्वानर का अवयव है। मुख के जल को दिखाता हुआ कहा--कि यह रयि (बस्तिस्थ उदक) रूप वैश्वानर का अवयव है। चुबुक (डाढ़ी) को दिखाता हुआ कहा—कि यह अवश्य प्रतिष्ठा (पाद) रूप विश्वानर का अवयव है। (मुख के नीचे के भाग को चुबुक कहते हैं)। यद्यपि वाजसनेयक में द्युलोक को अतिष्ठात्व गुण वाला पढ़ा है और आदित्य को सुतेजस्त्व गुण वाला कहा है। और छान्दोग्य में द्युलोक को सुतेजस्त्व गुण वाला पढ़ा है, आदित्य को विश्वरूपत्व गुण वाला पढ़ा है तो भी इतने भेद से कुछ हानि नहीं होती है। विद्या में भेद नहीं समझा जाता है, क्योंकि प्रादेशमात्र का श्रवण दोनों में अविशेष (तुल्य) है। एवं शाखा का भेद होते हुए भी शाखाओं में प्रतीत होने वाली वैश्वानरादि की उपासना एक है यह न्याय आगे कहना है। इससे सम्पत्तिनिमित्तक श्रुति को प्रादेशमात्र ही जैमिनि आचार्य युक्ततर मानते हैं ॥ ३१ ॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन्मूर्धचुबुकान्तराले जाबालाः—'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति'। तत्र चेमामेव नासिकां वरणा नासीति निरुच्य या सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि वारयतीति सा वरणा, सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयतीति सा नासीति। पुनरामनन्ति—'कतमच्चास्य स्थानं भवतीति, भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्युलोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति' (जाबा० १)। तस्मादुपपन्ना परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिः। अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया। प्रत्यगात्मतया सर्वैः प्राणिभिरभिविमीयत इत्यभिविमानः। अभिगतो वायं प्रत्यगात्मत्वाद्विमानश्च मानवियोगादित्यभिविमानः। अभिवि-

मिमीते वा सर्वं जगत्कारणत्वादित्यभिविमानः । तस्मात्परमेश्वरो वैश्वानर इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

परमेश्वर के मूर्धा और चुबुक के अन्तराल (मध्य) में जाबाल प्रश्न करते हैं कि अव्यक्त अनन्त आत्मा को कैसे जानूंगा ? इस प्रकार अत्रि जी के द्वारा प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्यजी बोले कि जो यह अनन्त अव्यक्त आत्मा है वह अविमुक्त (कामादि से बद्ध जीव) के अन्दर प्रतिष्ठित (स्थिर) है । इससे वही उपासना से जानने योग्य है । फिर अत्रि जी बोले कि वह अविमुक्त कहाँ प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य जी बोले कि वह अविमुक्त वरणा और नासी के मध्य में प्रतिष्ठित है । अत्रि जी बोले कि वह वरणा कौन है, और नासी कौन है ? तब उस जाबाल-श्रुति में इस भ्रूसहित नासिका को ही वरणा और नासो निश्चयपूर्वक कहकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि इन्द्रिय-कृत सब पापों का वारण करती है इससे भ्रूवारण है और इन्द्रियकृत सब पापों का नाश करती है इससे नासिका नासी है । पुनः प्रश्न होता है कि उन दोनों में भी इस जीव का स्थान कौन है ? उत्तर है कि दोनों भ्रू और नासिका की जो सन्धि रूप त्रिकुटी है, वही द्युलोक और परलोक परमात्मा की सन्धि (गुण स्थान) है । उससे परमेश्वर में प्रादेशमात्र श्रुति उपपन्न (सिद्ध) होती है । एव प्रत्यागात्मत्व के अभि-प्राय से अभिविमान श्रुति है । क्योंकि प्रत्यगात्मस्वरूप से जो सब प्राणियों से जाना जाय उसको अभिविमान कहते हैं, सब प्राणी के अहं प्रत्यय (ज्ञान) का विषय साक्षीरूप वस्तुतः परमात्मा ही है । अथवा प्रत्यगात्मा (सबकी अन्तरात्मा) होने से परमात्मा सब को अभिगत (प्राप्त) है, और व्यापक होने से परिमाण रहित है विगतमान है, इससे अभिविमान कहलाता है । अथवा कारण होने से सब जगत् का अभितः विमाता निर्माता कर्ता है इससे अभिविमान कहलाता है । तथा उससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर वैश्वानर है ॥ ३२ ॥

प्रथमाध्याय का द्वितीय पाद समाप्त ।

—: ० :—

प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

[अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गानां प्रायो ज्ञेयब्रह्मविषयाणां विचारः। एवं पादत्रयेणापि वाक्यविचारः]

द्युभ्वाद्यधिकरण (१)

सूत्रं प्रधानं भोक्तेशो द्युभ्वाद्यायतनं भवेत्।
श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभ्यां भोक्तृत्वाच्चेश्वरेतरः॥
नाद्यौ पक्षावात्मशब्दान्न भोक्ता मुक्तगम्यतः।
ब्रह्मप्रकरणादीशः सर्वज्ञत्वादितस्तथा॥

मुण्डक श्रुति में जो स्वर्ग-भूमि आदि का आश्रम सुना गया है, वह सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) है, या प्रधान है, अथवा भोक्ता जीव है या ईश्वर है? ऐसी शंका होने पर पूर्वपक्ष है कि सूत्रात्मा रूप वायु से लोक ग्रथित है, इत्यादि श्रुति-प्रसिद्धि के अनुसार सूत्रात्मा हो सकता है अथवा सांख्य स्मृति में प्रसिद्धि के अनुसार प्रधान हो सकता है, अथवा भोक्ता होने से कर्म द्वारा सब का आश्रय जीव हो सकता है जो ईश्वर से भिन्न है। सिद्धान्त है कि आत्म शब्द के श्रवण से सूत्रात्मा और प्रधान नहीं हो सकते हैं, मुक्त से प्राप्यता के श्रवण से भोक्ता जीव भी नहीं हो सकता है, और ब्रह्म के प्रकरण से तथा सर्वज्ञत्वादि के श्रवण से ईश्वर ही स्वर्ग-भूमि आदि का आश्रय है, अन्य नहीं॥ १–२॥

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥ १॥

इदं श्रूयते—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥

(मुण्ड० २।२।५) इति। अत्र यदेतद्द्यु प्रभृतीनामोतत्ववचनादायतनं किञ्चिदवगम्यते, तत्किं परं ब्रह्म स्यादाहोस्विदर्थान्तरमिति सन्दिह्यते। तत्रार्थान्तरं किमप्यायतनं स्यादिति प्राप्तम्। कस्मात्? 'अमृतस्यैष सेतुः' इति श्रवणात्। पारवान् हि लोके सेतुः प्रख्यातः। न च परस्य ब्रह्मणः पारवत्त्वं शक्यमभ्युपगन्तुम् 'अनन्तमपारम्' (बृह० २।४।१२) इति श्रवणात्। अर्थान्तरे चायतने परिगृह्यमाणे स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानं परिगृहीतव्यं, तस्य हि कारणत्वादायतनत्वोपपत्तेः। श्रुतिप्रसिद्धो वा वायुः स्यात्, 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति' (बृह० ३।७।२) इति वायोरपि विधारणत्वश्रवणात्। शारीरो वा स्यात्, तस्यापि भोक्तृत्वाद्भोग्यं प्रपञ्चं प्रत्यायतनत्वोपपत्तेरिति।

यह सुना जाता है कि (जिसमें स्वर्ग, भूमि और अन्तरिक्ष रूप सब स्थूल प्रपञ्च ओत (समाश्रित-अर्पित) है और सब गौण-मुख्य प्राण-इन्द्रियादि सहित मन (सूक्ष्म प्रपञ्च) जिसमें ओत (कल्पित) है। उसी एक सर्वाधिष्ठान आत्मा को जानो (श्रवणादि से समझो), और अन्य अनात्मबोधक वचनों को सर्वथा त्याग दो। क्योंकि अनात्मपरक वचनादि का त्यागपूर्वक आत्मदर्शन ही संसार सिन्धु के पार रूप अमृत को प्राप्त कराने में सेतु (पुल) तुल्य है। इस श्रुति में स्वर्ग-भूमि आदि के ओतत्व-कथन से जो यह कुछ आश्रय प्रतीत होता है, वह क्या परब्रह्म है? अथवा अर्थान्तर है? ऐसा सन्देह होता है। यहाँ पूर्वपक्ष है कि कोई अर्थान्तर आयतन (आश्रय) होना चाहिये। ऐसा ही प्राप्त (ज्ञात) होता है, क्योंकि यह अमृत का सेतु है इस प्रकार भेद सुना जाता है और लोक में सेतु पार वाली वस्तु ही प्रख्यात (प्रसिद्ध) है। परब्रह्म को पारवत्त्व (परिच्छिन्नत्व) नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अनन्तम्-अपारम्) ऐसा सुना गया है। इस कारण से अर्थान्तर रूप जगदाश्रय के स्वीकार करने पर स्मृति में प्रसिद्ध प्रधान स्वीकार के योग्य है, क्योंकि उसको कारणत्व होने से आश्रयत्व सिद्ध हो सकता है। अथवा श्रुति में प्रसिद्ध वायु जगदाश्रय हो सकता है। श्रुति है कि (हे गौतम! वायु ही वह निश्चित सूत्र (सूत्रात्मा) है इससे हे गौतम! वायु रूप सूत्र से ही यह लोक-परलोक और सब भूत सन्दृब्ध (ग्रथित घृत) है। इससे वायु को भी विचारकत्व का श्रवण होता है, अथवा जीव आयतन हो सकता है। क्योंकि उसको भोक्तृत्व के रहने से भोग्य प्रपञ्च के प्रति आयतनत्व की सिद्धि हो सकती है।

एवं प्राप्त इदमाह—द्युभ्वाद्यायतनमिति। द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ द्युभुवावादी यस्य तदिदं द्युभ्वादि। यदेतदस्मिन्वाक्ये द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्मकं जगदोतत्वेन निर्दिष्टं तस्यायतनं परं ब्रह्म भवितुमर्हति। कुतः? स्वशब्दात् आत्मशब्दादित्यर्थः। आत्मशब्दो हीह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति। आत्मशब्दश्च परमात्मपरिग्रहे सम्यगवकल्पते नार्थान्तरपरिग्रहे। क्वचिच्च स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते—'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६।८।४) इति। स्वशब्देनैव चेह पुरस्तादुपरिष्टाच्च ब्रह्म सङ्कीर्त्यते—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' इति। 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरण' (मुण्ड० २।२।११) इति च। तत्र त्वायतनायतनवद्भावश्रवणात् 'सर्वं ब्रह्मे'ति च सामानाधिकरण्यात्। यथानेकात्मको वृक्षः शाखा स्कन्धो मूलं चेत्येवं नानारसो विचित्र आत्मेत्याशङ्का सम्भवति तां निवर्तयितुं सावधारणमाह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर सूत्रकार यह कहते हैं कि द्युभू आदि का

आयतन ब्रह्म है। यहाँ दिव (स्वर्ग) और भूमि को द्युभूवी कहते हैं, और वे दोनों हैं आदि जिसके वह समूह द्युभ्वादिक होता है, ऐसा जो इस श्रुति-वाक्य में कथित स्वर्ग, भूमि, अन्तरिक्ष, मन, प्राणादि हैं, और एतत्स्वरूप ही सब जगत् है, जो कि ओत रूप से निर्दिष्ट (कथित) है, उस सब जगत् का आयतन परब्रह्म ही होने योग्य है, क्योंकि वहाँ ब्रह्म का स्ववाचक आत्मशब्द है। (उस एक आत्मा ही को जानो) इस वाक्य में यहाँ आत्मशब्द है। और परमात्मा के स्वीकार करने पर आत्मशब्द का प्रयोग सम्यक् सिद्ध होता है, अर्थान्तर के स्वीकार करने पर ऐसा नहीं होगा। कहीं साक्षात् आयतन शब्द से ही ब्रह्म का आयतनत्व सुना जाता है कि (हे सौम्य ! सद्ब्रह्मरूप मूल वाली ये सब प्रजा हैं, और स्थिति काल में सत् आयतन वाली हैं, अन्त में सब सत् में प्रतिष्ठा (समाप्ति) वाली हैं। यहाँ स्ववाचक शब्द से ही प्रथम और आगे भी ब्रह्म कहा जाता है कि पुरुष ही यह सब विश्वस्वरूप है, कर्म, तप आदि रूप विश्व है और ब्रह्म पर अमृत स्वरूप है। (यह अमृत ब्रह्म ही पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर है) परन्तु यस्मिन् इत्यादि श्रुति में सन्मूलादि श्रुति में आयतनभाव और आयतनवद्भाव के श्रवण से तथा (सब ब्रह्म) है इस प्रकार सब जगत् के साथ ब्रह्म की समानाधिकरणता (एकविभक्तिवाच्य अभिन्नता) से आशंका हो सकती है कि जैसे अनेकात्मक वृक्ष होता है, शाखा, स्कन्ध और मूल ये सब वृक्ष रूप हैं, सब को मिलाकर वृक्ष कहा जाता है, वैसे ही नाना रस (गुण-शृङ्गारादि) वाला विचित्र आत्मा है। उस शङ्का को निवारण करने के लिए अवधारण (निश्चय) पूर्वक श्रुति कहती है कि उस एक आत्मा को ही जानो।

एतदुक्तं भवति—न कार्यप्रपञ्चविशिष्टो विचित्र आत्मा विज्ञेयः। किं तर्हि ? अविद्याकृतं कार्यप्रपञ्चं विद्यया प्रविलापयन्तस्तमेवैकमायतनभूतमात्मानं जानथैकरसमिति। यथा यस्मिन्नास्ते देवदत्तस्तदानयेत्युक्त आसनमेवानयति न देवदत्तम्, तद्वदायतनभूतस्यैवैकरसस्यात्मनो विज्ञेयत्वमुपदिश्यते। विकारानृताभिसन्धस्य चापवादः श्रूयते—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (का० २।४।११) इति। सर्वं ब्रह्मेति तु सामानाधिकरण्यं प्रपञ्चप्रविलापनार्थं नानेकरसताप्रतिपादनार्थम्, 'स यथा सैन्धवधनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृह० ४।५।१३) इत्येकरसताश्रवणात्। तस्माद्द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म। यत्तूक्तं—सेतुश्रुतेः सेतोश्च पारवत्त्वोपपत्तेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भवितव्यम्—इति। अत्रोच्यते—विधारणत्वमात्रमत्र सेतुश्रुत्या विवक्ष्यते, न पारवत्त्वादि। नहि मृद्दारुमयो लोके सेतुर्दृष्ट इत्यत्रापि मृद्दारुमय एव सेतुरभ्युपगम्यते। सेतुशब्दार्थोऽपि विधारणत्वमात्रमेव न पारवत्त्वादि, षिञो बन्धनकर्मणः सेतुशब्दव्युत्पत्तेः।

इससे यह उक्त (कथित) होता है कि कार्यविस्तारयुक्त विचित्र आत्मा नहीं विज्ञेय (विशेष रूप से जानने योग्य) है, तो क्या जानना कि अविद्याकृत कार्यविस्तार को विद्या से विलय करते हुए उस एक आयतनस्वरूप आत्मा को एकरस जानो। जैसे कि कहा जाय कि जिस पर देवदत्त बैठा है उसे लाओ, तो आसन को ही लाता है, देवदत्त को नहीं। वैसे ही आयतनस्वरूप एकरस आत्मा को विज्ञेयत्व का उपदेश दिया जाता है और विकार रूप अनृत (मिथ्या) में अभिसन्ध (अभिमान आसक्ति) वाले का अपवाद (निन्दा) सुना जाता है कि (जो इस एकरस ब्रह्म को नाना के समान देखता है वह जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पड़ता है)। 'सब ब्रह्म है' इस प्रकार जो समानाधिकरणता है, वह रज्जुसर्पतुल्य प्रपञ्च का बाध द्वारा विलय के लिए है, अनेक रसता का प्रतिपादन के लिए नहीं है। क्योंकि (जैसे लोक में प्रसिद्ध लवण का पिण्ड बाहर-भीतर रसान्तर से शून्य सम्पूर्ण लवण रसमय ही रहता है, अरे मैत्रेयि ! इसी प्रकार यह आत्मा बाहर-भीतर भेदरहित सम्पूर्ण प्रज्ञानरूप एक रस ही है)। इत्यादि श्रुति से एकरसता सुनी जाती है। उससे स्वर्गादि का आयतन ब्रह्म है। एवं जो यह कहा है कि श्रुति में सेतु कहने से और सेतु को पारवत्त्व की सिद्धि से, ब्रह्म से अर्थान्तर ही दिव-भूमि आदि का आश्रय होना चाहिये। यहाँ कहा जाता है कि सेतुश्रुति से विधारण मात्र ही यहाँ अर्थ विवक्षित हैं, पारवत्त्वादि विवक्षित नहीं है। लोग में मिट्टी, लकड़ी आदिमय सेतु देखा गया है। इससे यहाँ श्रुति में मिट्टी, लकड़ी से बना हुआ सेतु का स्वीकार नहीं किया जा सकता है। और सेतु शब्द का अर्थ भी विधारणत्वमात्र ही है, पारवत्त्वादि उसका अर्थ नहीं हैं। क्योंकि बन्धनक्रियार्थक षिञ् धातु से सेतु शब्द सिद्ध होता है, वहाँ बन्धन से नियमन रूप विधारण अर्थ की ही प्रतीति होती है। वह ब्रह्म सबके अमृत को धारण करने वाला है, तथा सत्य-धर्मादि का धारण करने वाला है। इसी से 'स सेतुरीजानानाम्। स सेतुर्विधृतिः। एष सेतुर्विधारणः' इत्यादि श्रुति से सङ्गति होती है।

अपर आह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति यदेतत्सङ्कीर्तितमात्मज्ञानं, यच्चैतत् 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति वाग्विमोचनं, तदत्रामृतत्वसाधनत्वात् 'अमृतस्यैष सेतुः' इति सेतुश्रुत्या सङ्कीर्त्यते न तु द्युभ्वाद्यायतनम्। तत्र यदुक्तं—सेतुश्रुतेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भाव्यमिति—एतदयुक्तम् ॥ १ ॥

प्रथम द्युभ्वादि आयतन के साथ सेतु पद के सम्बन्ध को मानकर शङ्का हुई थी, और उस सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए उत्तर दिया गया है। दूसरे लोग कहते हैं कि सेतु पद का आयतन के साथ सम्बन्ध नहीं, किन्तु (उस एक आत्मा ही को जानो) इस वाक्य से जो यह आत्मज्ञान कहा गया है और (अन्य वचनों को त्यागो) इस वाक्य से जो यह अन्य वचन का त्याग कहा गया है, वे ही दोनों अमृतत्व का साधन होने से (यह अमृत का सेतु है) इस प्रकार सेतु-श्रुति से कहे जाते हैं। द्युभ्वादि का

आयतन ब्रह्म सेतु पद से नहीं कहा जाता है। 'तत्र' इस प्रकार अन्य वाग्-विमोचन सहित ज्ञान को सेतु मानने पर जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि सेतु के सुनने से ब्रह्म से कोई अन्यार्थ ही स्वर्ग-भूमि आदि का आश्रय होना चाहिये वह अयुक्त है ॥ १ ॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ ६ ॥

इतश्च परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। यस्मान्मुक्तोपसृप्यतास्य व्यपदिश्यमाना दृश्यते। मुक्तैरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यम्। देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तत्पूजनादौ रागस्तत्परिभवादौ च द्वेषः, तदुच्छेददर्शनाद्भयं मोहश्चेत्येवमयमनन्तभेदोऽनर्थव्रातः सन्ततः सर्वेषां नः प्रत्यक्षः। तद्विपर्ययेणाविद्यारागद्वेषादिदोषमुक्तैरुपसृप्यं गम्यमेतदिति द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य व्यपदेशो भवति। कथम्?

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मुण्ड० २।२।८)

इत्युक्त्वा ब्रवीति—

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।

(मुण्ड० ३।२।८) इति। ब्रह्मणश्च मुक्तोपसृप्यत्वं प्रसिद्धं शास्त्रे—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ (बृह० ४।४।७)

इत्येवमादौ। प्रधानादीनां तु न क्वचिन्मुक्तोपसृप्यत्वमस्ति प्रसिद्धम्। अपि च 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' इति वाग्विमोकपूर्वकं विज्ञेयत्वमिह द्युभ्वाद्यायतनस्योच्यते। तच्च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणो दृष्टम्—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहूंश्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥

(बृह० ४।४।२१) इति। तस्मादपि द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म ॥ २ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी परब्रह्म ही द्युभ्वादि का आयतन है कि जिससे मुक्तों से उपसृप्यता (प्राप्यता) कही गई हुई इसकी देखी जाती है। अर्थात् मुक्त पुरुष इस सर्वाधार को प्राप्त होते हैं इस प्रकार श्रुति कहती है, इससे वह सर्वाधार ब्रह्म ही है, अन्य नहीं। मुक्तों से जो उपसृप्य (प्राप्य) हो, उसको मुक्तोपसृप्य कहते हैं। प्रथम बन्ध क्या है कि जिससे मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है, इस आशङ्का की निवृत्ति के आशय से कहा जाता है कि, 'अनात्मस्वरूप देहादि में' यह मैं हूँ इस प्रकार की आत्मबुद्धि (आत्मता का ज्ञान) अविद्याजन्य होने से अविद्या रूप है, और उस शरीर के पूजन-सत्कारादि में राग होता है, एवं उस शरीर से परिभव तिरस्कार

अनादरादि में द्वेष होता है, उस शरीर के उच्छेद-नाशादि के देखने से भय और मोह होते हैं, इस प्रकार के अनन्त भेद वाले अनर्थसमूह (संसार-बन्धन) सर्वत्र संतत (व्याप्त) हम सबको प्रत्यक्ष दीखता है। एवं उस अनर्थ से विपरीत (उल्टा) स्वभाव से युक्त अविद्या राग-द्वेषादि दोषों से रहित पुरुषों से उपसृप्य गम्य (प्राप्य) यह है, इस प्रकार द्युभ्वादि आयतन के प्रकरण में कथन है। वह कथन कैसे है कि (उस पर-अपर स्वरूप श्रेष्ठ परमात्मा के अपरोक्ष ज्ञान होने पर इस ज्ञानी के हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है। सब संशय नष्ट हो जाते हैं, और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं। ऐसा कह कर फिर श्रुति कहती है कि (जैसे समुद्र में प्राप्त होने पर नदियाँ अपने नाम-रूप को त्याग कर समुद्र रूप से स्थिर होती हैं। वैसे ही विद्वान् भी नाम-रूपात्मक संसार को त्याग कर, कार्यों से पर अव्यक्त से भी पर (पूर्ण) दिव्य (स्वयंप्रकाश) को प्राप्त हो कर तद्रूप से स्थिर होता है)। इस मुमुक्षु के हृदय में वर्तमान जो काम हैं वे हसब जब ज्ञानादि से समूल नष्ट हो जाते हैं उस समय यह मर्त्य भी अमृत हो जाता है, और इस देह में रहते ब्रह्म को सम्यक् प्राप्त करता है) इत्यादि शास्त्रों में मुक्तों से प्राप्यता ब्रह्म की प्रसिद्ध है, और प्रधानादि की कहीं भी मुक्त से प्राप्यता प्रसिद्ध नहीं है दूसरी बात है कि (उसी एक आत्मा को जानो अन्य वचनों को त्यागो, यह अमृत का सेतु है) इस प्रकार अन्य वाक् का त्यागपूर्वक स्वर्गादिक के आश्रय को यहाँ विज्ञेयत्व कहा जाता है, वह विज्ञेयत्व दूसरी श्रुति में ब्रह्म का देखा गया है कि (धीर विवेकी ब्राह्मण उस आत्मा को जान कर (विशुद्ध लक्ष्य को समझ कर) असंग सर्वात्मस्वरूप की प्रज्ञा को प्राप्त करे एवं बहुत शब्दों का अनुचिन्तन-अध्ययनादि नहीं करे, क्योंकि उनके चिन्तनादि वाक् और वाक् सम्बन्धी सब वर्णस्थानों के विग्लापन (शोषण श्रम) कारक हैं। मन में ग्लानि को पैदा करने वाले हैं इत्यादि। उससे भी द्यु-भूमि आदि का आश्रय पर ब्रह्म है ॥ २ ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह—नानुमानिकं साङ्ख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम्। कस्मात्? अतच्छब्दात्। तस्याचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः शब्दस्तच्छब्दः, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः। न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनाचेतनं प्रधानं कारणत्वेनायतनत्वेन वाऽवगम्येत। तद्विपरीतस्य चेतनस्य प्रतिपादकशब्दोऽत्रास्ति—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९) इत्यादिः। अत एव न वायुरपीह द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रीयते ॥ ३ ॥

जैसे ब्रह्म का प्रतिपादक वैशेषिक (असाधारण) हेतु कहा है। अर्थान्तर का

प्रतिपादक इस प्रकार के असाधारण हेतु नहीं है। इस अर्थ को सूत्रकार कहते हैं कि आनुमानिक (केवल अनुमान से ज्ञेय) सांख्य-स्मृति में परिकल्पित प्रधान भी द्युम्वादि के आश्रय रूप से ज्ञातव्य नहीं है, क्योंकि उसका वाचक कोई शब्द इस प्रकरण में नहीं है। उस अचेतन प्रधान के प्रतिपादक शब्द को तच्छब्द कहा गया है। तच्छब्द का न होना अतच्छब्द है। यहाँ अचेतन प्रधान का प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है कि जिससे अचेतन प्रधान को कारण रूप से वा आयतन रूप से समझा जाय। किन्तु उस प्रधान से विपरीत चेतन का प्रतिपादक शब्द (जो अविनाशी भूतयोनिरूप पुरुष सर्वज्ञसर्ववेत्ता है इत्यादि) में है। इसी अतच्छब्दत्व रूप हेतु से वायु भी यहाँ द्युम्वादि के आयतन रूप से स्वीकार के योग्य नहीं है ॥ ३ ॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

यद्यपि प्राणभृतो विज्ञानात्मन आत्मत्वं चेतनत्वं च सम्भवति तथाप्युपाधिपरिच्छिन्नज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाद्यसम्भवे सत्यस्मादेवातच्छब्दात् प्राणभृदपि न द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः। न चोपाधिपरिच्छिन्नस्याविभोः प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वमपि सम्यक्सम्भवति। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ॥ ४ ॥

यद्यपि प्राणधारी जीव को आत्मत्व और चेतनत्व का सम्भव है, तथापि उपाधि से परिच्छिन्न (परिमित) ज्ञान वाले को सर्वज्ञत्वादि के असम्भव होने पर इस अतच्छब्द (सर्वज्ञात्मत्वाभाव शब्द) से ही प्राणधारी भी द्युम्वादि के आश्रय रूप से स्वीकार के योग्य नहीं है, और उपाधि से परिच्छिन्न (परिमित) अतएव एकदेशी प्राणधारी को द्युम्वादि का आयतनत्व सम्यग् रीति से सम्भव भी नहीं है। अतच्छब्द रूप हेतु के रहते भी प्राणभृच्च, इस योग (सूत्र) को प्रथम सूत्र से पृथक् इसलिए किया गया है कि जिससे उत्तर सूत्र में इसकी ही अनुवृत्ति हो ॥ ४ ॥

कुतश्च न प्राणभृद् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

भेदव्यपदेशश्चेह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन। तत्र प्राणभृत्तावन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता, परिशेषादात्मशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनमिति गम्यते, न प्राणभृत् ॥ ५ ॥

किस हेतु से प्राणधारी द्युम्वादि के आश्रय रूप से अमन्तव्य है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते है—'भेदव्यपदेशात्' इति। अर्थात् इस द्युम्वादि के आयतन के प्रकरण में भेद का व्यवहार कथन है कि (उस एक आत्मा को ही जानो) इस प्रकार ज्ञेयभाव और ज्ञातृभाव से भेद का कथन है, उसमें मुमुक्षु होने से प्राणधारी ज्ञाता है। और उससे परिशेष रहने के कारण आत्मशब्द का वाच्य ज्ञेय ब्रह्म द्युम्वादि का आयतन है, ऐसा समझा जाता है, किन्तु प्राणधारी आयतन रूप नहीं समझा जाता है।

कुतश्च न प्राणभृद् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

प्रकरणं चेदं परमात्मनः। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणात्। परमात्मनि हि सर्वात्मके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यान्न केवले प्राणभृति ॥ ६ ॥

किस हेतु से प्राणधारी सर्वाश्रय नहीं मन्तव्य है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं 'प्रकरणात्' इति। अर्थात् यह परमात्मा का प्रकरण है कि (हे भगवन् किसके विज्ञात होने से यह सब जगत् विज्ञात होता है।) इस प्रकार यहाँ एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की अपेक्षा (आशा) की गई है, और एक परमात्मा के ही विज्ञात होने से यह सब जगत् विज्ञात होता है। केवल प्राणधारी के ज्ञात होने से जगत् नहीं ज्ञात हो सकता ॥ ६ ॥

कुतश्च न प्राणभृद् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३।१।१) इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्येते, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनम्, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते। यदि चेश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितस्ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनमवकल्पते, अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकमसम्बद्धं स्यात्। ननु तवापि क्षेत्रज्ञस्येश्वरापृथग्वचनमाकस्मिकमेव प्रसज्येत ? न, तस्याविवक्षितत्वात्। क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसम्बद्धो लोकत एव प्रसिद्धो नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते। ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याकस्मिकं वचनं युक्तम्। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' इत्यत्राप्येतद्दर्शितं 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचीश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति। यदापि पैङ्ग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेनास्यामृचि सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते, तदापि न विरोधः कश्चित्। कथम् ? प्राणभृद्धीह घटादिच्छिद्रवत्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानित्वेन प्रतिशरीरं गृह्यमाणो द्युभ्वाद्यायतनं न भवतीति निषिध्यते। यस्तु सर्वशरीरेषूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते परमात्मैव स भवति। यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरुपाधिभिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाश एव भवन्ति, तद्वत्प्राणभृतः परस्मादन्यत्वानुपपत्तेः प्रतिषेधो नोपपद्यते। तस्मात्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानिन एव द्युभ्वाद्यायतनत्वप्रतिषेधः। तस्मात्परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। तदेतत् 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' इत्यनेनैव सिद्धम्, तस्यैव हि भूतयोनिवाक्यस्य मध्य इदं पठितम् 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्' इति। प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम् ॥ ७ ॥

किस हेतु से स्वर्ग भूमि आदि के आश्रय रूप से प्राणधारी को नहीं मानना चाहिए ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—'स्थित्यदनाभ्यां च' अर्थात् स्वर्ग भूमि आदि के आयतन को प्रस्तुत (प्रकरण प्राप्त) करके (द्वासुपर्णा) इस मन्त्र में स्थिति और अदन (भक्षण) का निर्देश (कथन किया गया) है कि (जीवेश्वर दोनों में से एक जीव स्वादु कर्मफल को भोगता है) इससे कर्मफल का अशन (भोग) निर्दिष्ट होता है। और (उस जीव से अन्य ईश्वर भोग के बिना प्रकाश करता है) इस कथन से उदासीनतापूर्वक स्थिति का निर्देश होता है। वहाँ उस स्थिति और अदन उपभोग से ही ईश्वर और जीव गृहीत (ज्ञात) होते हैं। यहाँ यदि ईश्वर स्वर्ग भूमि आदि के आश्रय रूप से विवक्षित होता है, तब तो उस प्रकृत ईश्वर साक्षी स्वरूप का जीव से पृथक् कथन युक्त सिद्ध होता है, ऐसा नहीं होने पर आकस्मिक अप्रकृत का वचन असम्बद्ध होगा। यदि वह स्वर्गादि का आयतन होता है, तो उसके लिए ईश्वर प्रतिपादनीय रहता है। अन्यथा उसका वचन असम्भव होगा। यदि कहो कि तुम्हारे मत में भी तो जीव को ईश्वर से पृथक् कथन आकस्मिक (निर्हेतुक) ही प्राप्त होगा, क्योंकि वह प्रतिपादनीय नहीं है। यह कहना ठीक नहीं है ? क्योंकि ईश्वर से भिन्न जीवन का कथन होते हुए भी वहाँ जीव विवक्षित अर्थ नहीं है, जिससे कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वरूप से प्रत्येक शरीर में बुद्धि आदि उपाधि के साथ सम्बन्ध वाला क्षेत्रज्ञ जीव लोकव्यवहारादि से ही प्रसिद्ध है, इससे वह श्रुति के तात्पर्य का विषय रूप से विवक्षित नहीं होता है और ईश्वर तो लोक से अप्रसिद्ध है। इससे श्रुति के तात्पर्य का विषय रूप से विवक्षित होता है। अतः उसका आकस्मिक कथन होना युक्त नहीं है। क्योंकि (गुहां प्रविष्टौ) इत्यादि सूत्र में भी यह दर्शाया गया है कि 'द्वा सुपर्णा' इस ऋग्-मन्त्र में ईश्वर और क्षेत्रज्ञ दोनों कहे जाते हैं। जब पैङ्गी उपनिषद् कृत व्याख्यान के अनुसार इस ऋग्मन्त्र से सत्त्व (बुद्धि) क्षेत्रज्ञ को कहते हैं तब भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि घटादि छिद्र के तुल्य सत्त्वादि के अभिमानी रूप से प्रत्येक शरीर में ज्ञायमान प्राणधारी ही यहाँ स्वर्गादि संसार का आश्रय नहीं हो सकता, इस प्रकार परिच्छिन्न प्राणधारी का निषेध किया जाता है। एवं जो सब शरीरों में उपाधियों के बिना चिन्मात्र उपलक्षित होता है वह परमात्मा ही है। जैसे घटादि रूप उपाधियों के बिना उपलक्ष्यमाण घटादि के छिद्र महाआकाश हो रहते हैं, वैसे ही प्राणधारियों को परमात्मा से अन्यत्व की असिद्धि से निषेध नहीं बन सकता (द्युभू आदि के आयतनत्व का अभाव नहीं कहा जा सकता) है जिससे सत्त्वादि उपाधियों के अभिमानियों को ही सर्वाश्रयत्व का निषेध है अतः परब्रह्म ही सर्वाश्रय है। यद्यपि यह पूर्वप्रतिपादित अर्थ (अदृश्यत्वादि) इस सूत्र से ही गतार्थ है, क्योंकि उसी भूतयोनि वाक्य के मध्य में ही (यस्मिन् द्यौः) इत्यादि पठित हैं। तथापि प्रपञ्चार्थ (विस्तार से हेतु शब्दार्थ को समझाने के लिए) फिर से कहा गया है ॥ ७ ॥

२ भूमाधिकरण (१-२)

भूमा प्राणः परेशो वा प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात् ।
अनुवर्त्यातिवादित्वं भूमोक्तेर्वायुरेव सः ॥
विच्छिद्यैष त्विति प्राणं सत्यस्योपक्रमात्तथा ।
महोपक्रम आत्मोक्तेरीशोऽयं द्वैतवारणात् ॥

यहाँ सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि भूमा प्राण है वा परमात्मा है। पूर्वपक्ष है कि प्रथम से अनेक प्रश्नोत्तर हैं, और प्राण के उपदेश के बाद में श्रुति में प्रश्नोत्तर का अभाव है, इससे प्रतीत होता है कि अन्तिम उद्देश्य, उपदेश्य वस्तु प्राण है, और प्राण को ही जानने वाले को अतिवादित्व की अनुवृत्तिपूर्वक भूमा का कथन है, इससे भूमा वायु (प्राण) ही है। सिद्धान्त है कि (सत्येन तु) इस वाक्य गत तु शब्द से प्राण का विच्छेद करके उससे सम्बन्ध हटाकर सत्यब्रह्म के उपदेश का आरम्भ हुआ है, और महा उपक्रम में आत्मा कहा गया है, तथा (नान्यत्पश्यति) इस वाक्य से द्वैत का वारण किया गया है; इससे भूमा ब्रह्म है ॥ १–२ ॥

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

इदं समामनन्ति–'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति 'भूमानं भगवो विजिज्ञास' इति। 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' (छा० ७।२३, २४) इत्यादि। तत्र संशयः—किं प्राणो भूमा स्यादाहोस्वित्परमात्मेति। कुतः संशयः ? भूमेति तावद्बहुत्वमभिधीयते, 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (पा० ६।४।१५८) इति भूमशब्दस्य भावप्रत्ययान्ततास्मरणात्। किमात्मकं पुनस्तद्बहुत्वमिति विशेषाकाङ्क्षायां 'प्राणो वा आशाया भूयान्' (छा० ७।१५।१) इति संनिधानात्प्राणो भूमेति प्रतिभाति। तथा 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्' इति, 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७।१।१।३) इति प्रकरणोत्थानात्परमात्मा भूमेत्यपि प्रतिभाति। तत्र कस्योपादानं न्याय्यं कस्य वा हानमिति भवति संशयः। किं तावत्प्राप्तम् ? प्राणो भूमेति। कस्मात् ? भूयः प्रश्नप्रतिवचनपरम्परादर्शनात्। यथा हि 'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' इति, 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति, तथा 'अस्ति भगवो वाचो भूयः' इति, 'मनो वाव वाचो भूयः' इति च नामादिभ्यो ह्या प्राणाद्भूयः प्रश्नप्रतिवचनप्रवाहः प्रवृत्तः। नैवं प्राणात्परं भूयः प्रश्नप्रतिवचनं दृश्यते–अस्ति भगवः प्राणाद्भूय इत्यदो वाव प्राणाद्भूय–इति। प्राणमेव तु नामादिभ्य आशान्तेभ्यो भूयांसं 'प्राणो वा आशाया भूयान्' इत्यादिना सप्रपञ्चमुक्त्वा प्राणदर्शिनश्चातिवादित्वम्–'अति

वाद्यसीति अतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत' इत्यभ्यनुज्ञाय 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति प्राणव्रतमतिवादित्वमनुकृष्यापरित्यज्यैव प्राणं सत्यादिपरम्परया भूमानमवतारयन्प्राणमेव भूमानं मन्यत इति गम्यते। कथं पुनः प्राणे भूमनि व्याख्यायमाने 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतद्भूम्नो लक्षणपरं वचनं व्याख्यायेतेति। उच्यते—सुषुप्त्यवस्थायां प्राणग्रस्तेषु करणेषु दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिदर्शनात्सम्भवति प्राणस्यापि 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतल्लक्षणम्। तथा च श्रुतिः 'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिना सर्वकरणव्यापारप्रत्यस्तमयरूपां सुषुप्त्यवस्थामुक्त्वा 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति' (प्र० ४।२।३) इति तस्यामेवावस्थायां पञ्चवृत्तेः प्राणस्य जागरणं ब्रुवती प्राणप्रधानां सुषुप्त्यवस्थां दर्शयति। यच्चैतद्भूम्नः सुखत्वं श्रुतम्—'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७।२३)—इति, तदप्यविरुद्धम् 'यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ यदेतस्मिञ्छरीरे सुखं भवति' (प्र० ४।६) इति सुषुप्त्यवस्थायामेव सुखश्रवणात्। यच्च—'यो वै भूमा तदमृतम्' (छा० ७।२४।१)—इति, तदपि प्राणस्याविरुद्धं, 'प्राणो वा अमृतम्' (कौ० ३।२)—इति श्रुतेः। कथं पुनः प्राणं भूमानं मन्यमानस्य 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपद्यते। प्राण एवेहात्मा विवक्षित इति ब्रूमः। तथाहि—'प्राणो ह पिता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः' (छा० ७।१५।१) इति प्राणमेव सर्वात्मानं करोति। 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्' इति च सर्वात्मत्वारनाभिनिदर्शनाभ्यां च सम्भवति वैपुल्यात्मिका भूमरूपता प्राणस्य। तस्मात्प्राणो भूमेत्येवं प्राप्तम्।

यद्यपि भूमा वाक्य से प्रथम प्राण की चर्चा है, तथापि सुषुप्ति अवस्था में भी जागृत रहने वाले प्राण से ऊपर भूमा का उपदेश है। प्राण से प्राण ऊपर नहीं हो सकता इससे भूमा ब्रह्म है। नारद जी के पूछने पर उनके प्रश्न के उत्तर रूप से छान्दोग्य में सनत्कुमार जी यह कहते हैं कि (अल्प में सुख नहीं है, विभु ब्रह्म ही सुख रूप है, इससे सुखाभ्यर्थियों से भूमा ही विचारणीय है) नारद जी ने कहा कि (भगवन् मैं भूमा को विचारना जानना चाहता हूँ वह कैसा है) सनत्कुमार जी ने कहा कि (जिस भूमा में अन्य द्रष्टा अन्य दृश्य को नहीं देखता है, इसी प्रकार न अन्य को सुनता है न अन्य को जानता है वह भूमा है) अर्थात् जिसके ज्ञान होने पर सब वस्तु तन्मय भासती है, वही ब्रह्म है। और जहाँ अन्य को देखता, सुनता, जानता है वह अल्प (तुच्छ) है इत्यादि। वहाँ संशय होता है कि प्राण भूमा हो सकता है अथवा परमात्मा भूमा है। संशय क्यों होता है कि भूमा यह शब्द मुख्य रूप से बहुत्व अर्थ को कहता है, क्योंकि (बहोर्लोपो भ च बहोः) इस सूत्र से 'भूम' शब्द को

भावप्रत्ययान्तता कही गई है। अर्थात् बहु शब्द से भाव अर्थ में 'इमनिच्' प्रत्यय होता है, उसके आदि भाग इकार का इसी सूत्र से लोप होता है, बहु के स्थान में भू का आदेश होता है, इच् अनुबन्ध होने से लुप्त होता है, तब 'भूमन्' शब्द बनता है। सु विभक्ति के संबन्ध से पुल्लिंग में भूमा होता है, इससे उसका अर्थ बहुत्व ही है। वहाँ वह बहुत्व किमात्मक (किस स्वरूप का) है इस प्रकार विशेष को जानने की आकांक्षा (इच्छा) होने पर (प्राण ही आशा से बहुत बड़ा है) इस वचन के सन्निधान (सामीप्य) से प्राण भूमा है, ऐसी प्रतीति होती है। एवं प्रकरण के उत्थान .(आरम्भ) से परमात्मा भूमा है ऐसी प्रतीति भी होती है, क्योंकि प्रकरण के आरंभ में नारद जी का कथन है कि (हे भगवन् ! आप जैसे महात्माओं से मुझे श्रुत है कि अनात्मज्ञ शोक को तर जाता है, और मैं तो अनेक विद्याओं का ज्ञाता होते हुए भी आत्मज्ञ होने के कारण शोक करता हूँ, जिस मुझ को आप संसार शोक के पार कर दें) वहां संशय होता है कि किसका ग्रहण उचित है और किसका त्याग है ? वहाँ प्रथम विचार होता है कि प्राप्त क्या है, पूर्वपक्ष है कि प्राण भूमा है, क्योंकि प्राण के बाद अधिकतर का प्रश्न और प्रतिवचन की परंपरा के दर्शन से यह निश्चय हो जाता है कि प्राण भूमा है, जैसे कि—नारद जी का प्रश्न है कि (भगवान् के नाम से अधिकतर क्या है ?) उत्तर है कि (वाक् ही नाम से अधिकतर है) इसी प्रकार प्रश्न है कि (वाक् से अधिकतर क्या है) उत्तर है कि (मन ही वाक् से अधिकतर है) इस प्रकार नामादि से आरम्भ करके प्राणपर्यन्त अधिकता के प्रश्न और प्रतिवचन का प्रवाह प्रवृत्त (सिद्ध) रहा है, और प्राण के आगे अधिकतर का प्रश्न वा प्रतिवचन नहीं दीखता है कि हे भगवन् प्राण से अधिकतर क्या है, या अमुक प्राण से अधिक है इत्यादि। किन्तु (प्राण ही आशा से अधिकतर है) इत्यादि वचनों से प्राण को ही नामादि आशा पर्यन्त से अधिकतर विस्तारपूर्वक कहकर, फिर प्राणोपासक को ही अतिवादी श्रेष्ठ वक्ता स्वीकार किया है कि (यदि कोई प्रश्न करे कि तुम क्या अतिवादी हो तो प्राणोपासक को उत्तर देना चाहिये कि मैं अतिवादी हूँ, उसे अपने अतिवादित्व का अपह्नव (अपलाप-अस्वीकार) नहीं करना चाहिये, असत्य नहीं बोलना चाहिए (कि मैं अतिवादी नहीं हूँ) । इसी प्रकार प्राणवेत्ता में अतिवादित्व का स्वीकार करके फिर कहा है कि (यह तो निश्चय अतिवादी है, कि जो सत्य से अतिवादी श्रेष्ठवक्ता होता है) इस प्रकार प्राणोपासना सम्बन्धी व्रतरूप अतिवादित्व का एष शब्द से अनुकर्षण संबन्ध करके और प्राण को नहीं त्याग कर सत्यादि की परंपरा से भूमा का अवतरण (प्रारम्भ-निरूपण) करते हुए सनत्कुमार प्राण को ही भूमा मानते हैं, ऐसी प्रतीति होती है। यदि कहा जाय कि प्राण को भूमा रूप से व्याख्यान करने

पर (जिसमें अन्य को नहीं देखता है सो भूमा है) इस प्रकार के भूमा के लक्षणपरक वचन का कैसे व्याख्यान किया जायगा ? तो कहा जाता है कि सुषुप्ति अवस्था में करणों के प्राण से ग्रस्त होने पर (इन्द्रियों के प्राण में लीन होने पर) दर्शनादि व्यवहारों की निवृत्ति देखने से प्राण का भी यह लक्षण हो सकता है कि (जिसमें अन्य को नहीं देखता है वह भूमा रूप प्राण है) क्योंकि (न सुनता है न देखता है) इस प्रकार की श्रुति भी सब करणों के व्यापार का विलय रूप सुषुप्ति अवस्था को कहकर (इस पुर में प्राण अग्नियाँ ही जागती हैं) इस रीति से उस सुषुप्ति अवस्था में ही पञ्चवृत्ति वाले प्राण की जागृति को कहती हुई प्राण रूप प्रधान वाली सुषुप्ति अवस्था को दर्शाती है। और (जो भूमा है वही सुख है) इस प्रकार जो भूमा को सुखत्व सुना गया है, वह भी प्राणपक्ष में विरुद्ध नहीं होता है, क्योंकि (जिस काल में यह देव (जीव) स्वप्नों को नहीं देखता है, उस समय सुषुप्ति में इस शरीर के अन्दर यह सुख होता है) इस प्रकार प्राण प्रधान सुषुप्ति में सुख सुना गया है। और 'जो भूमा है वही अमृत है' इस प्रकार जो अमृतत्व भूमा को श्रुत है, सो भी प्राण को अविरुद्ध है, क्योंकि (प्राण अवश्य अमृत है) यह श्रुति है। यदि कहा जाय कि प्राण को भूमा मानने वाले के मत में (आत्मज्ञ शोकरहित हो जाता है) इस प्रकार आत्मज्ञान की इच्छा से प्रकरण का आरम्भ कैसे उचित होगा ? तो कहते हैं कि यहाँ प्राण ही आत्मा विवक्षित है, क्योंकि (प्रसिद्ध प्राण ही पिता, माता, भ्राता, बहन, आचार्य और ब्राह्मण है) इस प्रकार की श्रुति प्राण को ही सर्वात्मा स्वीकार और सिद्ध करती है। और (जैसे नाभि में—आरा समर्पित प्रोत रहते हैं, उसी प्रकार इस प्राण में सब समर्पित है) इस सर्वात्मत्व और आरा नाभि के दृष्टान्त से विपुलता रूप भूमा रूपता प्राण को सम्भव है, जिससे प्राण ही भूमा है इस प्रकार व्याप्त है।

तत इदमुच्यते—परमात्मैवेह भूमा भवितुमर्हति न प्राणः। कस्मात् ? सम्प्रसादादध्युपदेशात्। सम्प्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमुच्यते, सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति निर्वचनात्। बृहदारण्यके च स्वप्नजागरितस्थानाभ्यां सह पाठात्। तस्यां च सम्प्रसादावस्थायां प्राणो जागर्तीति प्राणोऽत्र सम्प्रसादोऽभिप्रेयते। प्राणादूर्ध्वं भूम्न उपदिश्यमानत्वादित्यर्थः। प्राण एव चेद्भूमास्यात्स एव तस्मादूर्ध्वमुपदिश्येतेत्यश्लिष्टमेवैतत्स्यात्। नहि नामैव नाम्नो भूय इति, नाम्न ऊर्ध्वमुपदिष्टम्। किं तर्हि ? नाम्नोऽन्यदर्थान्तरमुपदिष्टं वागाख्यम्—'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति। तथा वागादिभ्योऽप्या प्राणादर्थान्तरमेव तत्र तत्रोर्ध्वमुपदिष्टम्, तद्वत्प्राणादूर्ध्वमुपदिश्यमानो भूमा प्राणादर्थान्तरभूतो भवितुमर्हति।

इसके बाद यह सिद्धान्त कहा जाता है कि यहाँ परमात्मा ही भूमा होने योग्य है,

प्राण नहीं, क्योंकि संप्रसाद (सुषुप्ति प्राण) से आगे ऊपर भूमा के उपदेश से यह निश्चय होता है। संप्रसाद इस शब्द से सुषुप्ति स्थान कहा जाता है। अच्छी तरह यथार्थ रूप से जिसमें प्रसन्न (सुखी) हो, इस प्रकार संप्रसाद का निर्वचन अर्थ किया जाता है, और बृहदारण्यक श्रुति में स्वप्न जागरित स्थान के साथ संप्रसाद के पाठ से संप्रसाद सुषुप्त स्थान है और उस संप्रसादावस्था में प्राण जागता है। इस कथन से लक्षणा द्वारा इस सूत्र में संप्रसाद शब्दार्थ प्राण अभिप्रेत (स्वीकृत) है। अर्थात् सूत्र में संप्रसाद शब्द प्राण को कहा गया है, इससे सूत्र का अर्थ है कि (प्राण के बाद 'ऊपर' भूमा उपदिष्ट है, इससे भूमा प्राण नहीं है किन्तु परमात्मा है) क्योंकि यदि प्राण ही भूमा हो तो वह प्राण ही प्राण के बाद (ऊपर) उपदिष्ट होगा, फिर इस प्रकार यह वाक्य असंगत ही हो जायगा। क्योंकि नाम ही नाम से बड़ा है, इस प्रकार नाम के आगे नाम नहीं उपदिष्ट हुआ है। कारण, नाम के बाद नाम से अन्य अर्थान्तर वाग् नामक उपदिष्ट हुआ है। जैसे (नाम से बड़ी वस्तु वाक् है) उसी प्रकार वागादि से प्राण तक भी अर्थान्तर ही उन-उन स्थानों में अधिकतर उपदिष्ट हुए हैं। एवं प्राण से आगे उपदिष्ट भूमा भी प्राण से अर्थान्तर स्वरूप होने योग्य है।

नन्विह नास्ति प्रश्नः—अस्ति भगवः प्राणाद्भूय—इति, नापि प्रतिवचनमस्ति—प्राणाद्वाव भूयोऽस्ति—इति, कथं प्राणादधि भूमोपदिश्यत इत्युच्यते। प्राणविषयमेव चातिवादित्वमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं पश्यामः—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति। तस्मान्नास्ति प्राणादध्युपदेश इति। अत्रोच्यते—न तावत्प्राणविषयस्यैवातिवादित्वस्यैतदनुकर्षणमिति शक्यं वक्तुं विशेषवादात् 'यः सत्येनातिवदति' इति।

यहाँ तो हे भगवन् 'प्राण से बड़ा क्या है ?' ऐसा प्रश्न नहीं है, न उसका उत्तर ही है कि प्राण से भी बड़ा है। तो प्राण से ऊपर भूमा का उपदेश है, भूमा ऊपर उपदिष्ट है, यह कैसे कहा जाता है, और प्राण विषयक अतिवादित्व ही आगे अनुकृष्ट (अनुवृत्त) देखते हैं (वह अतिवादी है कि जो सत्यवचनयुक्त अतिवादी होता है) जिससे प्राण से ऊपर उपदेश नहीं है। यहाँ कहा आता है कि प्रथम तो यह नहीं कह सकते हो कि प्राण विषयक अतिवादित्व का ही यहाँ यह अनुकर्षण (अनुवृत्ति) संबन्ध है। क्योंकि यहाँ सत्य से अतिवादित्व रूप पूर्व से विशेष (अधिक) वाद है कि (सत्य से जो अतिवादी होता है)।

ननु विशेषवादोऽप्ययं प्राणविषय एव भविष्यति। कथम् ? यथैषोऽग्निहोत्री यः सत्यं वदतीत्युक्ते न सत्यवदनेनाग्निहोत्रित्वम्, केन तर्हि ? अग्निहोत्रेणैव; सत्यवदनं त्वग्निहोत्रिणो विशेष उच्यते। तथा 'एष तु वा अतिवदति यः

सत्येनातिवदति' इत्युक्ते न सत्यवदनेनातिवादित्वम्, केन तर्हि ? प्रकृतेन प्राण-विज्ञानेनैव । सत्यवदनं तु प्राणविदो विशेषो विवक्ष्यत इति । नेति ब्रूमः । श्रुत्यर्थ-परित्यागप्रसङ्गात् । श्रुत्या ह्यत्र सत्यवदनेनातिवादित्वं प्रतीयते—'यः सत्येना-तिवदति सोऽतिवदति' इति । नात्र प्राणविज्ञानस्य संकीर्तनमस्ति । प्रकरणात्तु प्राणविज्ञानं सम्बध्येत । तत्र प्रकरणानुरोधेन श्रुतिः परित्यक्ता स्यात् । प्रकृतव्या-वृत्त्यर्थश्च तुशब्दो न सङ्गच्छते 'एष तु वा अतिवदति' इति । 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ७।१६) इति च प्रयत्नान्तरकरणमर्थान्तरविवक्षां सूचयति । तस्माद्यथैकवेदप्रशंसायां प्रकृतायामेष तु महाब्राह्मणो यश्चतुरो वेदान-धीत इत्येकवेदेभ्योऽर्थान्तरभूतश्चतुर्वेदः प्रशस्यते तादृगेतद्द्रष्टव्यम् । न च प्रश्न-प्रतिवचनरूपयैवार्थान्तरविवक्षया भवितव्यमिति नियमोऽस्ति, प्रकृतसम्बन्धा-सम्भवकारितत्वादर्थान्तरविवक्षायाः । तत्र प्राणान्तमनुशासनं श्रुत्वा तूष्णीम्भूतं नारदं स्वयमेव सनत्कुमारो व्युत्पादयति । यत्प्राणविज्ञानेन विकारानृतविषये-णातिवादित्वमनतिवादित्वमेव तत् 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति । तत्र सत्यमिति परं ब्रह्मोच्यते, परमार्थरूपत्वात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति च श्रुत्यन्तरात् । तथा व्युत्पादिताय नारदाय 'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि' इत्येवं प्रवृत्ताय विज्ञानादिसाधनपरम्परया भूमानमुपदिशति । तत्र यत्प्राणादधि सत्यं वक्तव्यं प्रतिज्ञातं तदेवेह भूमेत्युच्यत इति गम्यते । तस्मादस्ति प्राणादधि भूम्न उपदेश इत्यतः प्राणादन्यः परमात्मा भूमा भवितुमर्हति । एवं चेहात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपन्नं भविष्यति । प्राण एवेहात्मा विवक्षित इत्येतदपि नोपपद्यते । नहि प्राणस्य मुख्यया वृत्त्याऽऽत्मत्वमस्ति । न चान्यत्र परमात्मज्ञानाच्छोकविनिवृत्तिरस्ति, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।१५) इति श्रुत्यन्तरात् । 'तं मा भगवान् शोकस्य परं पारं तारयतु' (छा० ७।१३) इति चोपक्रम्योपसंहरति—'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' (छा० ७।२६।२) इति । तम इति शोकादिकारणमविद्योच्यते । प्राणान्ते चानुशासने न प्राणस्यान्यायत्ततोच्येत । 'आत्मनः प्राणः' (छा० ७।२६।१) इति च ब्राह्मणम् । प्रकरणान्ते च परमात्म-विवक्षा भविष्यति, भूमा तु प्राण एवेति चेत् । न । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इत्यादिना भूम्न एवाप्रकरणसमाप्ते-रनुकर्षणात् । वैपूल्यात्मिका च भूमरूपता सर्वकारणत्वात्परमात्मनः सुतरामुपपद्यते ।। ८ ।।

यहाँ शंका होती है कि यह विशेष वाद भी प्राण विषयक ही हो सकता है, कैसे हो सकता है, कि जैसे कहा जाय कि यह अग्निहोत्री है जो सत्य बोलता है। यहाँ सत्य कथन से अग्निहोत्रित्व नहीं होता है, तो किससे होता है ? उत्तर—अग्नि-

होन से ही होता है। और सत्य कथन अग्निहोत्री का विशेष धर्म कहा जाता है, वैसे ही (यह अतिवादी है जो सत्य से अतिवादी है) ऐसा कहने पर भी सत्य कथन से अतिवादित्व नहीं होता है, तो कैसे होता है कि प्रकृत (प्रस्तुत) प्राण विज्ञान से ही अतिवादित्व होता है। एवं सत्य कथन प्राणवेत्ता का विशेष धर्म विवक्षित रहता है। यहाँ सत्य शब्द को सत्य वचनार्थक मानकर और (एष तु) वाक्य से एष शब्द से प्राणवेत्ता का अनुकर्षण मानकर पूर्वपक्ष हुआ है। सिद्धान्त में सत्य शब्द का सत्यात्मा अर्थ मानकर, तु शब्द से प्राण के सम्बन्ध के विच्छेद से एष शब्द सत्यब्रह्म वक्ता का बोधक है ऐसा मानकर यहाँ कहा जाता है कि यह पूर्व का कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वैसी विवक्षा से श्रुत अर्थ के परित्याग का प्रसंग आता है। 'सत्येन' इस पद में तृतीया विभक्तिरूप श्रुति से सत्यब्रह्म के कथन से अतिवादित्व (अनात्मा का अतिक्रमण पूर्वक वक्तृत्व) प्रतीत होता है, क्योंकि (जो सत्यब्रह्म द्वारा अतिक्रमण कहता है वह अतिवक्ता है) यह श्रुति कहती है। यहाँ प्राण विज्ञान का संकीर्तन नहीं है। प्रकरण से प्राण विज्ञान सम्बद्ध हो सकता है, और उसके सम्बद्ध होने पर प्रकरण के अनुसार से प्रत्यक्ष श्रुति परित्यक्त हो जायगी। एवं पूर्व से प्रकृत की व्यावृत्ति के लिए पठित 'तु' शब्द भी संगत नहीं होगा कि (यही फिर निश्चय अतिवादी है) इत्यादि। तथा (सत्य ही विचारणीय है) इस वचन से प्रयत्नान्तर का कथन अर्थान्तर की विवक्षा को सूचित करता है। इससे जैसे एक वेदज्ञ की प्रशंसा के प्रकरण में कहा जाता है कि 'यह महाब्राह्मण है' जो चारों वेद पढ़ता है, तो वहाँ एक वेदज्ञों से अर्थान्तर स्वरूप चतुर्वेदी प्रशंसित होता है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये कि प्राणज्ञ से आत्मज्ञ प्रशंसित होता है। और जो यह कहा था कि प्रश्न के बिना भूमा कहा गया है इससे प्राण है, वहाँ कहा जाता है कि यह नियम नहीं है कि प्रश्न प्रतिवचन रूप से ही अर्थान्तर की विवक्षा होनी चाहिये, क्योंकि अर्थान्तर की विवक्षा प्रकृत सम्बन्ध के असम्भव से कारित (उत्पादित) होती है। और उस नारद सनत्कुमार जी के संवाद में प्राण पर्यन्त के उपदेश को सुनकर तूष्णींभूत (चुप लगाये) नारद को स्वयं सनत्कुमार व्युत्पन्न (विज्ञानी) करते समझाते हैं कि विकार अनृत विषयक प्राण विज्ञान से जो अतिवादित्व है, वह वस्तुतः अतिवादित्व नहीं है, (यह वस्तुतः अतिवादी है जो सत्य करके अतिवादी है) वहाँ सत्य शब्द से परब्रह्म कहा जाता है, क्योंकि ब्रह्म परमार्थ स्वरूप है, और दूसरी श्रुति में (सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है) ऐसा कहा गया है। उक्तरीति से व्युत्पादित (विवेकादि युक्त समाहित) किए गए, और (हे भगवन् अब मैं सत्य से अतिवादी होऊँगा) इस प्रकार सत्य के ज्ञान के लिए प्रवृत्त नारद जी के प्रति विज्ञानादि (मनन श्रद्धादि) साधनों की परम्परा द्वारा भूमा का उपदेश सनत्कुमार जी ने दिया। वहाँ प्राण के ऊपर जो सत्य वक्तव्य रूप से प्रतिज्ञात हुआ, जिसे कहने के लिए प्रतिज्ञा की गई

है, वही वहाँ 'भूमा' इस शब्द से कहा जाता है ऐसी प्रतीति होती है। उससे प्राण के बाद भूमा का उपदेश है। इसीसे प्राण से अन्य परमात्मा भूमा होने योग्य है। यहाँ ऐसा होने ही पर आत्मज्ञान की इच्छा से प्रकरण का आरम्भ युक्त सिद्ध होगा। एवं जो यह कहा था कि यहाँ प्राण ही आत्मा विवक्षित है, वह नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि मुख्य शक्तिवृत्ति से प्राण को आत्मशब्दार्थत्व नहीं है। और परमात्मज्ञान के बिना शोक की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरी श्रुति कहती है कि (शोकादि की निवृत्ति मोक्ष के लिए आत्मज्ञान से अन्य मार्ग नहीं है) और यहाँ (जिस शोक-युक्त मुझ को हे भगवन्! आप शोकसागर से पार कर दें) इस प्रकार आरम्भ करके उपसंहार करते हैं कि (उस दोषरहित नारद के लिए तम के पार को भगवान् सनत्कुमार दर्शाते हैं) यहाँ 'तम' इस शब्द से शोकादि का कारण अविद्या कही जाती है। और यदि यहाँ प्राण पर्यन्त ही उपदेश होता तो प्राण की अन्याधीनता नहीं कही जाती कि (आत्मा से प्राण होता है) और ऐसा ब्राह्मण है। यदि कहो कि प्रकरण के अन्त में परमात्मा की विवक्षा होगी और भूमा तो प्राण ही है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि (हे भगवन्! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है) निज महिमा में प्रतिष्ठित है, इत्यादि वचनों से भूमा का ही प्रकरण की समाप्ति पर्यन्त अनुकर्षण होता है, और विपुलतात्मक भूमरूपता सर्वकारणता से परमात्मा को ही अत्यन्त उचित सिद्ध होती है ॥ ८ ॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

अपि च ये भूम्नि श्रूयन्ते धर्मास्ते परमात्मन्युपपद्यन्ते। 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति दर्शनादिव्यवहाराभावं भूमन्यवगमयति। परमात्मनि चायं दर्शनादिव्यवहाराभावोऽवगतः, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। योऽप्यसौ सुषुप्तावस्थायां दर्शनादिव्यवहाराभाव उक्तः सोऽप्यात्मन एवासङ्गत्वविवक्षयोक्तो न प्राणस्वभावविवक्षया, परमात्मप्रकरणात्। यदपि तस्यामवस्थायां सुखमुक्तम्, तदप्यात्मन एव सुखरूपत्वविवक्षयोक्तम्। यत आह— 'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४।३।३२) इति। इहापि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्' इति सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति। 'यो वै भूमा तदमृतम्' इत्यमृतत्वमपीह श्रूयमाणं परमकारणं गमयति, विकाराणाममृतत्वस्यापेक्षिकत्वात्, 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा च सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूयमाणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते नान्यत्र। तस्माद्भूमा परमात्मेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

और भूमा में जो धर्म सुने जाते हैं वह परमात्मा ही में सिद्ध युक्त हो सकते हैं। जैसे कि (जहाँ अन्य को न देखता है, न सुनता है, न जानता है वह भूमा है) यह वचन भूमा में दर्शनादि व्यवहारों के अभाव को बोध कराता है। और परमात्मा में यह दर्शनादि का अभाव (जिसकाल में इस ज्ञानी को सब आत्मा हो गया उस काल में किससे किसको देखे) इत्यादि दूसरी श्रुतियों से अवगत (ज्ञात) होता है। एवं जो यह सुषुप्ति अवस्था में दर्शनादि व्यवहारों का अभाव कहा है, वह भी आत्मा के ही असङ्गत्व की विवक्षा से कहा है, प्राण के स्वभाव की विवक्षा से नहीं, क्योंकि परमात्मा का प्रकरण है। इसी प्रकार जो सुषुप्ति में सुखरूपता कही गई है, वह आत्मा की है प्राण की नहीं, जिससे दूसरी श्रुति कहती है कि (यह आत्मा का परम आनन्द है) इसी आनन्द के लेश को अन्य प्राणी (उपभोग करते हैं) और इस छान्दोग्य में भी (जो भूमा है वही सुख है अल्प में सुख नहीं है) इस कथन से नाशादि दोषरूप आमय सहित सुख का निराकरणपूर्वक ब्रह्मरूप भूमा (विभु) सुख को ही दर्शाते हैं। (जो भूमा है वही अमृत है) इस कथन से यहाँ सुना गया अमृतत्व भी परम कारण का बोध कराता है, क्योंकि विकारों को आपेक्षिक अमृतत्व होता है, सर्वथा नहीं इसलिये दूसरी श्रुति कहती है कि (इस आत्मा से अन्य आर्त-नश्वर है) जिससे यह सिद्ध हुआ कि (सत्यत्व, स्वमहिमा में स्थिरत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्व) ये श्रुतिप्रतिपादित धर्म सब परमात्मा में ही युक्त सिद्ध होते हैं, अन्य में नहीं, जिससे भूमा परमात्मा ही है यह सिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

अक्षराधिकरण (३)

अक्षरं प्रणवः किंवा ब्रह्मलोकेऽक्षराभिधा। वर्णे प्रसिद्धा तेनात्र प्रणवः स्यादुपास्तये॥
अव्याकृताधारतोक्तेः सर्वधर्मनिषेधतः। शासनाद् द्रष्टृतादेश्च ब्रह्मैवाक्षरमुच्यते॥

भूमि से लेकर आकाश (अव्यक्त) पर्यन्त के धारण का श्रवण से अक्षर शब्द वर्णमात्र का वाचक नहीं है परन्तु ब्रह्म का वाचक है। फिर भी सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि (तदक्षरम्) इस श्रुति में अक्षर शब्द का अर्थ प्रणव (ओंकार) वर्ण है, वा ब्रह्म ? लोक में अक्षर यह नाम वर्ण का प्रसिद्ध है, इससे यहाँ उपासना के लिए अक्षर शब्दार्थ प्रणव होगा। सिद्धान्त है कि अव्याकृत की आधारता के कथन से तथा सब धर्मों के निषेध से शासन के श्रवण से द्रष्टृतादि के श्रवण से ब्रह्म ही अक्षर कहा जाता है, यह निश्चय होता है ॥ १-२ ॥

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति, स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।७।८) इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः-किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यते किंवा परमेश्वर इति। तत्राक्षरसमाम्नाय

इत्यादावक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वात् प्रसिद्ध्यतिक्रमस्य चायुक्तत्वात् 'ॐकार एवेदं सर्वम्' (छा २।२३।३) इत्यादौ च श्रुत्यन्तरे वर्णस्याप्युपास्यत्वेन सर्वात्मकत्वावधारणात्, वर्ण एवाक्षरशब्द इति।

बृहदारण्यक की कथा है कि महात्मा याज्ञवल्क्य जी से विरक्ता विदुषी गार्गी ने पूछा कि भूत, भविष्यत्, वर्तमान यह सब जगत् किसमें ओत (सम्मिलित होकर स्थिर) है। मुनि ने अव्याकृत आकाश को सबका आश्रय बताया। तब फिर गार्गी ने पूछा कि (आकाश किस निश्चित वस्तु में ओत प्रोत है। मुनि ने कहा कि गार्गी यही वह अक्षर (अविनाशी) वस्तु है कि जिसको ब्राह्मण लोग अस्थूल अनणु इत्यादि कहते हैं) इत्यादि सुना जाता है। यहाँ संशय होता है कि 'अक्षर' शब्द से वर्ण कहा जाता है किंवा परमात्मा? वहाँ पूर्व पक्ष है कि पाणिनि व्याकरण के मूल रूप चतुर्दश सूत्र को अक्षर समाम्नाय (अक्षरात्मक वेद) कहा जाता है, इससे ऐसे स्थानों में अक्षर शब्द वर्णार्थ में प्रसिद्ध है, और प्रसिद्धि का अतिक्रमण अयुक्त होता है,। 'ओंकार ही यह सब जगत् रूप है' इस प्रकार दूसरी श्रुति में वर्ण को भी उपास्य रूप से सर्वात्मकता का निश्चय किया गया है, इससे यहाँ वर्ण ही अक्षर शब्द का अर्थ है।

एवं प्राप्त उच्यते पर एवात्माक्षरशब्दवाच्यः। कस्मात्? अम्बरान्तधृतेः— पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात्। तत्र हि पृथिव्यादेः समस्तविकारजातस्य कालत्रयविभक्तस्य 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्यनेन प्रश्नेनेदमक्षरम' वतारितम्। तथा चोपसंहृतम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति। नचेयमम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्भवति। यदपि—'ॐकार एवेदं सर्वम्' इति, तदपि ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वात्स्तुत्यर्थं द्रष्टव्यम्। तस्मान्न क्षरत्यश्नुते चेति नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामक्षरं परमेव ब्रह्म॥ १०॥

ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि परमात्मा ही अक्षर शब्द का वाच्यार्थ है, यह कैसे निश्चय होता है कि जिससे पृथिवी से आकाश पर्यन्त विकार का धारण सुना जाता है। वहाँ श्रुति में तीन काल में विभक्त पृथिवी आदि सम्पूर्ण विकार (कार्य) समूह को (वह आकाश में ही ओत और प्रोत है) इस प्रकार आकाश में प्रतिष्ठितत्व (स्थिरता) कह कर (आकाश किस निश्चित आधार में ओत प्रोत सर्वथा स्थिर है) इस प्रश्न द्वारा इस अक्षर को श्रुति में अवतारित (वक्तव्य रूप से प्राप्त) किया है। और उसी प्रकार से उपसंहार किया है कि (हे गार्गि, इस अक्षर में ही आकाश ओत प्रोत है) और यह आकाश पर्यन्त सब विकार का धारण ब्रह्म से अन्य में सम्भव नहीं है। (ओंकार ही यह सब जगत् रूप है) यह जो श्रुति है, वह भी ओंकार ब्रह्मज्ञान का साधन है, इससे उस ओंकार की स्तुति के लिए

है, ऐसा समझना चाहिये। यद्यपि (रूढिर्योगमपहरति) रूढ़िवृत्ति योग वृत्ति का अपहरण करती है, इस न्याय से वर्णार्थ में अक्षर शब्द की रूढ़ि बली है, तथापि प्रश्न प्रतिवचन से जगदाधार में श्रुति के तात्पर्य का निश्चय होने से यहाँ ऐसा योग वृत्ति मानना चाहिए कि (न क्षरति-अश्नुते च) नष्ट नहीं होता है, और सब में व्यापक है, इससे अक्षर कहा जाता है। इस प्रकार नित्यत्व व्यापकत्व से अक्षर पर ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

स्यादेतत् कार्यस्य चेत्कारणाधीनत्वमम्बरान्तधृतिरभ्युपगम्यते, प्रधान-कारणवादिनोऽपीयमुपपद्यते, कथमम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिरिति, अत उत्तरं पठति--

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

सा चाम्बरान्तधृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म। कस्मात्? प्रशासनात्। प्रशासनं हीह श्रूयते–'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९) इत्यादि। प्रशासनं च पारमेश्वरं कर्म नाचेतनस्य प्रधानस्य प्रशासनं भवति। न ह्यचेतनानां घटादिकारणानां मृदादीनां घटादिविषयं प्रशासनमस्ति ॥ ११ ॥

फिर शंका होती है कि इस अम्बरान्त धृति से वर्ण अक्षर शब्दार्थ नहीं है, यह ऐसा ही सिद्धान्त रहे, परन्तु कार्य को कारणाधीनत्व रूप यदि अम्बरान्त धृति मानी जाती है, तो यह प्रधान कारणवादी को भी बढ़ सकती है, फिर अम्बरान्त धृति से कारण में ब्रह्मत्व ज्ञान का कैसे हो सकता है, ऐसी शंका होने पर सूत्रकार, उत्तर देते हैं 'सा च प्रशासनात्' इति। अर्थात् वह अम्बरान्त का श्रुति कथित धारण परमेश्वर का ही कर्म (क्रिया) है, क्योंकि प्रशासन सुना जाता है। यहाँ निश्चयपूर्वक प्रशासन सुना है कि (हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन-आज्ञा में सूर्य और चन्द्रमा व्यवस्थित रूप से स्थिर है) इत्यादि। शासन परमेश्वर का कर्म है, अचेतन प्रधान का प्रशासन रूप कर्म नहीं हो सकता है। क्योंकि घटादि के कारण अचेतन मृत्तिका आदि का घटादि विषयक अनुशासन नहीं होता है ॥ ११ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद् ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम्, तस्यैवाम्बरान्तधृतिः कर्म नान्यस्य कस्यचित्। किमिदमन्यभावव्यावृत्तेरिति। अन्यस्य भावोऽन्यभावस्तस्माद्व्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिरिति। एतदुक्तं भवति-यदन्यद् ब्रह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाशङ्क्यते तद्भावादिदमम्बरान्तविधारणमक्षरं व्यावर्तयति श्रुतिः–'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३।८।११) इति। तत्रादृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्यापि संभवति, द्रष्टृ-

त्वादिव्यपदेशस्तु न संभवत्यचेतनत्वात् । तथा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यात्मभेदप्रतिषेधात् । न शारीरस्याप्युपाधिमतोऽक्षरशब्दवाच्यत्वम्, 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३।८।८) इति चोपाधिमत्ताप्रतिषेधात् । नहि निरुपाधिकः शारीरो नाम भवति । तस्मात्परमेव ब्रह्माक्षरमिति निश्चयः ॥ १२ ॥

ब्रह्म से अन्य के भाव (स्वभाव धर्मादि) की व्यावृत्तिरूप कारण से ब्रह्म ही अक्षर शब्द का वाच्यार्थ है, और उस ब्रह्म का अम्बरान्त का धारण रूप कर्म है अन्य का यह कर्म नहीं है । 'अन्यभावव्यावृत्तेः' इसका क्या अर्थ है, यदि ऐसी जिज्ञासा हो तो सुनो—अन्य के भाव को अन्यभाव (भेद) कहते हैं, उसकी व्यावृत्ति (अभाव) को अन्यभावव्यावृत्ति कहते हैं । इससे यह कथित होता है कि जो ब्रह्म से अन्य अक्षर शब्दार्थ यहाँ पूर्वपक्षी से माना जाता है, उस भाव से इस अम्बरान्त का विधारण करने वाले अक्षर को श्रुति भिन्न बताती है (हे गार्गि ! वह ऐसा अक्षर है कि अन्य से अदृष्ट होते द्रष्टा है, अश्रुत होते श्रोता है, अमत होते मन्ता है, अविज्ञात होते विज्ञाता है । उन अदृष्टत्वादि का कथन प्रधान को भी संभव होता है, परन्तु प्रधान के अचेतन होने से द्रष्टृत्वादि का व्यवहार कथन प्रधान में नहीं हो सकता है ।) इसी प्रकार (इस अक्षरात्मा से अन्य द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता नहीं है) यह आत्मा में भेद का प्रतिषेध है, जिससे उपाधि वाले जीव को भी अक्षर शब्द की वाच्यता नहीं है । और (अक्षरात्मा चक्षु: श्रोत्र वाङ्मन रहित है) इस प्रकार उपाधि सम्बन्ध के निषेध से भी अक्षर शब्द का वाच्य जीव नहीं है, क्योंकि उपाधिरहित जीव प्रसिद्ध नहीं है, जिससे परब्रह्म ही अक्षर है, यह निश्चय है ॥ १२ ॥

ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण (४)

त्रिमात्रप्रणवे ध्येयमपरं ब्रह्म वा परम् । ब्रह्मलोकफलोक्त्यादेरपरं ब्रह्म गम्यते ॥
ईक्षितव्यो जीवघनात्परस्तात्प्रत्यभिज्ञया । भवेद्ध्येयं परं ब्रह्म क्रममुक्तिःफलिष्यति ।

'त्रिमात्रेण-अभिध्यायीत' इत्यादि वाक्य में ध्येय वह परमात्मा ही है, क्योंकि (पुरुषमीक्षते) इस वाक्य में वह ध्येय ही ईक्षण का कर्मरूप से कहा गया है, और का कर्म तो कल्पित भी हो सकता है, सत्य ज्ञान का विषय कर्म कल्पित नहीं होता है, इससे सत्य परमात्मा ही ध्येय है । ऐसा होते हुए भी सामान्य दृष्टि से संशय है कि तीन मात्रा वाले प्रणव में ध्येय अपर ब्रह्म है या परब्रह्म ? । पूर्व पक्ष है कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति के कथनादि से अपर ब्रह्म की प्रतीति होती है । सिद्धान्त है कि अन्त में जीव घन (समष्टि जीव) हिरण्यगर्भ से पर जो ब्रह्म द्रष्टव्य पुरुष कहा गया है, ध्यान विधायक वाक्य में पुरुष शब्द से उसी की प्रत्यभिज्ञा होती है कि यह वही है, इससे ईक्षति कर्म परब्रह्म ही ध्येय होता है, उस ध्यान से क्रममुक्तिरूप फल सिद्ध होता है ॥ १-२ ॥

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ १३ ॥

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति प्रकृत्य श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० ५।२,५) इति। किमस्मिन्वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यत आहोस्विदपरमिति। एतेनैवायतनेन परमपरं चैकतरमन्वेतीति प्रकृतत्वात्संशयः। तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम्। कस्मात् ? 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमानत्वात्। नहि परब्रह्मविद्देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम्, सर्वगतत्वात्परस्य ब्रह्मणः। नन्वपरब्रह्मपरिग्रहे परं पुरुषमिति विशेषणं नोपपद्यते। नैष दोषः, पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्तेः।

प्रश्नोपनिषद की कथा है कि पिप्पलाद नामक गुरु से सत्यकाम नामक शिष्य ने पूछा कि हे भगवन् ! प्राणान्त तक जो ओंकार का सदा ध्यान करता है, वह किस लोक को प्राप्त करता है। गुरु ने कहा कि हे सत्यकाम ! जो यह ओंकार है वह पर (निर्गुण) और अपर (सगुण) दोनों ब्रह्मरूप है, अर्थात् दोनों का वाचक है, दोनों का ध्यान के लिए अवलम्ब प्रतीक रूप आश्रय है उससे प्रणव को ब्रह्मरूप जानने वाले विद्वान् इस ओंकार के ध्यान रूप आयतन (आश्रय-साधन) से ही ध्यान के अनुसार पर अपर में से किसी एक को प्राप्त करता है, इस प्रकार ओंकार की चर्चा को आरम्भ करके मध्य में एकमात्र द्विमात्र ओंकार की चर्चा के बाद सुना जाता है कि जो पुरुष त्रिमात्र (तीनों मात्राओं के ऋषि देवादि के ज्ञानादि पूर्वक) ओमित्याकारक अक्षर रूप से पर पुरुष का ध्यान करता है, वह तेज रूप सूर्य में प्राप्त होता है इत्यादि। यहाँ इसी आयतन से पर वा अपर एक को प्राप्त करता है, इस प्रकार पर अपर दोनों के प्रस्तुत होने से संशय होता है कि इस वाक्य में ध्यान वा (ध्येय) रूप से परब्रह्म का उपदेश है, अथवा अपर ब्रह्म का उपदेश है ? वहाँ पूर्वपक्ष है कि यह ध्येय अपर ब्रह्म है ऐसा प्राप्त (प्रतीत) होता है, क्योंकि (सोध्याता रूप तेज में सम्पन्न प्रविष्ट होता है, फिर वह तृतीय मात्रारूप साम द्वारा ब्रह्मलोक में प्राप्त कराया जाता है) इस प्रकार उस ओंकार के ज्ञाता उपासक के लिए देश से परिच्छिन्न (परिमित) फल कहा गया है। परब्रह्म के ज्ञाता देश से परिच्छिन्न फल को भोगता है ऐसा होना युक्त नहीं है, क्योंकि परब्रह्म सर्वगत (विभु) है, और तदात्मकता ही ब्रह्मज्ञ का फल है। यदि कहा जाय कि अपर ब्रह्म को ध्येय स्वीकार करने पर (परं पुरुषम्) वह ध्येय का विशेषण अयुक्त होगा, तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि विशद (विराट्) की अपेक्षा से प्राण रूप हिरण्यगर्भ को परत्व सिद्ध होता है।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—परमेव ब्रह्मेहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते। कस्मात्? ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्। ईक्षतिर्दर्शनम्, दर्शनव्याप्यमीक्षतिकर्म, ईक्षतिकर्मत्वेनास्याभिध्यातव्यस्य पुरुषस्य वाक्यशेषे व्यपदेशो भवति—'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति। तत्राभिध्यायतेरतथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति, मनोरथकल्पितस्याप्यभिध्यायतिकर्मत्वात्। ईक्षतेस्तु तथाभूतमेव वस्तु लोके कर्म दृष्टमित्यतः परमात्मैवायं सम्यग्दर्शनविषयभूत ईक्षतिकर्मत्वेन व्यपदिष्ट इति गम्यते। स एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिज्ञायते।

इस प्रकार पूर्व पक्ष के प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि यहाँ परब्रह्म ही ध्यातव्य (ध्यानयोग्य) उपदिष्ट होता है, क्योंकि ईक्षति का कर्म रूप से उस ध्येय का कथन है और ईक्षति दर्शन (ज्ञान) का नाम है। उस दर्शन से व्याप्य दर्शन का विषय ईक्षति कर्म है और इस अभिध्यातव्य (ध्यानयोग्य) पुरुष का वाक्य शेष में ईक्षति (दर्शन) का कर्मरूप से कथन है कि वह (ध्यान करने वाला इस पर जीवघन (सूत्रात्मा) से पर पुरिशय (सर्वशरीरानुप्रविष्ट) पुरुष को देखता है। वहाँ अभिध्यान का विषयरूप कर्म तो मिथ्या वस्तु भी होती है, क्योंकि इच्छा से कल्पित भी ध्यान का विषयरूप कर्म होता है। परन्तु ईक्षति कर्म तो लोक में (सत्य वस्तु) ही देखी जाती है, इससे सम्यक् दर्शन का विषयरूप परमात्मा ही इस ईक्षति का कर्म रूप से कहा गया है, ऐसी प्रतीति होती है। वही यहाँ अभिध्यातव्य है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा पर और पुरुष शब्द से होती है।

नन्वभिध्याने परः पुरुष उक्तः, ईक्षणे तु परात्परः, कथमितर इतरत्र प्रत्यभिज्ञायत इति। अत्रोच्यते—परपुरुषशब्दौ तावदुभयत्र साधारणौ। न चात्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते, येन तस्मात्परात्परोऽयमीक्षितव्यः पुरुषोऽन्यः स्यात्। कस्तर्हि जीवघन इति उच्यते? घनो मूर्तिः, जीवलक्षणो घनो जीवघनः, सैन्धवखिल्यवद्यः परमात्मनो जीवरूपः खिल्यभावः उपाधिकृतः परश्च विषयेन्द्रियेभ्यः सोऽत्र जीवघन इति। अपर आह— 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इत्यतीतानन्तरवाक्यनिर्दिष्टो यो ब्रह्मलोकः परश्च लोकान्तरेभ्यः सोऽत्र जीवघन इत्युच्यते। जीवानां हि सर्वेषां करणपरिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलोको जीवघनः। तस्मात्परो यः परमात्मेक्षणकर्मभूतः स एवाभिध्यानेऽपि कर्मभूत इति गम्यते। परं पुरुषमिति च विशेषणं परमात्मपरिग्रहे एवावकल्पते। परो हि पुरुषः परमात्मैव भवति यस्मात्परं किंचिदन्यन्नास्ति, 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति च श्रुत्यन्तरात्। 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' इति च विभज्यानन्तरमोङ्कारेण परं पुरुषमभिध्यातव्यं ब्रुवन् पर-

मेव ब्रह्म परं पुरुषं गमयति। 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुच्यते' इति पाप्मविनिर्मोकफलवचनं परमात्मानमिहाभिध्यातव्यं सूचयति। अथ यदुक्तं—परमात्माभिध्यायिनो न देशपरिच्छिन्नं फलं युज्यत—इति। अत्रोच्यते—त्रिमात्रेणोङ्कारेणालम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतद्भविष्यतीत्यदोषः ॥ १३ ॥

यहाँ शंका होती है कि अभिध्यान में परपुरुष ध्येय कहा गया है और ईक्षण में पर से पर कहा गया है, तो इतर (ईक्षति कर्म) इतरत्र (ध्यायति वाक्य में) कैसे प्रत्यभिज्ञात होता है। यहाँ कहा जाता है कि पर और पुरुष शब्द प्रथम दोनों वाक्य में तुल्य हैं। इस ईक्षति वाक्य में जीवघन शब्द से प्रथम अभिध्यातव्य पर पुरुष का परामर्श (सम्बन्ध) नहीं होता है कि जिससे उस ध्यातव्य पर से पर यह द्रष्टव्य पुरुष अन्य (ध्येय से भिन्न) हो। शंका होती है कि यदि ध्यातव्य पर पुरुष जीवघन नहीं है, तो कौन है ? इसका उत्तर कहा जाता है कि घन शब्द मूर्ति का वाचक है, और जीव रूप जो घन उसको जीवघन कहते हैं अर्थात् सैन्धव (लवण) खिल्य (पिण्ड) तुल्य जो परमात्मा को उपाधिकृत जीव भाव रूप खिल्य भाव (परिच्छिन्न भाव) है, और इन्द्रियों से पर है यहाँ जीवघन है। कोई कहते हैं कि (वह साम से ब्रह्म लोक में पहुँचाया जाता है) इस अतीत (पूर्वगत) अव्यवहित वाक्य में निर्दिष्ट जो ब्रह्मलोक है, और लोकान्तरों से पर भी है, वही यहाँ जीवघन शब्द से कहा जाता है, जिससे व्यष्टि करणों (इन्द्रियों) से परिवृत (आच्छादित) व्यष्टि करणों के अभिमानी सब जीवों का सर्वकरणात्मा (समष्टि करणाभिमानी) ब्रह्मलोक निवासी हिरण्यगर्भ में संघात की सिद्धि होती है; जिससे ब्रह्मलोक जीवघन (जीव संघ का आश्रय) होता है, उससे पर जो परमात्मा ईक्षण का कर्म स्वरूप है, वही अभिध्यान में भी कर्म स्वरूप है ऐसा जाना जाता है। एवं 'परं पुरुषम्', यह विशेषण भी परमात्मा को स्वीकार करने पर ही युक्त सिद्ध होगा। क्योंकि परं पुरुष परमात्मा ही होता है जिससे पर अन्य कुछ भी नहीं है। दूसरी श्रुति कहती है कि (पुरुष से पर कुछ नहीं है, पुरुष परत्व की सीमा है और उत्तम गतिरूप है) और (जो ओंकार है, वह पर अपर ब्रह्म है) इस प्रकार विभाग कर के उसके बाद पर पुरुष को अभिध्यातव्य कहा हुआ गुरु पर ब्रह्म को पर पुरुष समझाता है। (जैसे सर्प जीर्ण त्वक् से मुक्त होता है, वैसे ही वह ध्याता पाप से मुक्त होता है) इस प्रकार पाप की निवृत्ति रूप फल का वचन यहाँ परमात्मा को अभिध्यातव्य सूचन करता है। जो यह कहा था कि परमात्मा के अभिध्यान करने वाले के लिए देश से परिच्छिन्न (परिमित) फल युक्त नहीं है। यहाँ कहा जाता है कि त्रिमात्र ओंकार रूप आलम्बन के द्वारा परमात्मा के ध्यान करने वाले को प्रथम ब्रह्मलोक की

प्राप्ति रूप फल होता है, फिर क्रम से सम्यग् दर्शन की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार क्रम मुक्ति में अभिप्राय वाला यह फल वचन है, इससे दोष नहीं है ॥ १३ ॥

दहराधिकरण (५)

दहरः को वियज्जीवो ब्रह्म वाऽऽकाशशब्दतः ।
वियत्स्यादथवाल्पत्वश्रुतेर्जीवो भविष्यति ॥
बाह्याकाशोपमानेन द्युभूम्यादिसमाहितेः ।
आत्मापहतपाप्मत्वात्सेतुत्वाच्च परेश्वरः ॥

(दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः) इस श्रुति में सुना गया दहर (अल्प) आकाश ब्रह्म का बोधक है, भूताकाशादि का नहीं, उसमें कारण यह है कि उत्तर वाक्य शेषों में, सर्वाधिष्ठानत्वापहतपाप्मत्वादि कहे गये हैं सो ब्रह्म से अन्य में नहीं हो सकते । सामान्य दृष्टि से संशय है कि दहर कौन है ? आकाश जीव या ब्रह्म है । पूर्वपक्ष है कि आकाश शब्द से भूताकाश है, अल्पत्व के सुनने से जीव हो सकता है। सिद्धान्त है कि बाह्याकाश को उपमान कहा गया है, और उसे उपमेय कहा गया है, इससे वह भूताकाश नहीं है, और स्वर्गभूमि आदि की उसमें स्थिति कही गई है, तथा पापादि से रहित असंग कहा गया है, एवं धर्मादि का सेतु कहा गया है इससे दहर परमात्मा है ।

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरे पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छां० ८।१।१) इत्यादिवाक्यं समाम्नायते । तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः स किं भूताकाशोऽथवा विज्ञानात्माऽथवा परमात्मेति संशय्यते । कुतः संशयः ? आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम् । आकाशशब्दो ह्ययं भूताकाशे परस्मिंश्च प्रयुज्यमानो दृश्यते । तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्किंवा पर इति संशयः । तथा ब्रह्मपुरमिति किं जीवोऽत्र ब्रह्मनामा तस्येदं पुरं शरीरं ब्रह्मपुरमथवा परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति । तत्र जीवस्य परस्य वान्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः । तत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद्भूताकाश एव दहरशब्द इति प्राप्तम् । तस्य च दहरायतनापेक्षया दहरत्वम् । 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः, इति च बाह्याभ्यन्तरभावकृतभेदस्योपमानोपमेयभावः द्यावापृथिव्यादि च तस्मिन्नन्तः समाहितम्, अवकाशात्मनाकाशस्यैकत्वात् । अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्, ब्रह्मपुरशब्दात् । जीवस्य हीदं पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते, तस्य स्वकर्मणोपार्जितत्वात् । भक्त्या च तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वम् । नहि परस्य ब्रह्मणः शरीरेण स्वस्वामिभावः सम्बन्धोऽस्ति । तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्थानं दृष्टं यथा राज्ञः । मन उपाधिकश्च जीवः, मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यैवेदं हृदयेऽन्तरवस्थानं स्यात् । दहरत्वमपि तस्यैव आराग्रोपमितत्वादवकल्पते । आकाशोपमितत्वादि

च ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यति। न चात्र दहरस्याकाशस्यान्वेष्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रूयते, 'तस्मिन्यदन्तः' इति परविशेषणत्वेनोपादानादिति।

भूमविद्या के बाद (ब्रह्म की प्राप्ति का साधन होने से ब्रह्मपुर रूप जो यह मानव शरीर है, उसमें जो यह प्रसिद्ध दहर (अल्प) हृदय कमल है, जो वेश्म (गृह) के समान है, उसमें दहर आकाश है, उसके अन्दर जो है सो अन्वेषणीय है, और विशेष रूप से ज्ञातव्य है) इत्यादि वाक्य पढ़े जाते हैं। वहाँ जो यह दहर हृदय पुण्डरीक में दहर आकाश सुना गया है वह क्या भूताकाश है, अथवा जीव है, अथवा परमात्मा है? इस प्रकार संशय होता है। जिज्ञासा होती है कि संशय किस हेतु से होता है, उत्तर है कि आकाश और ब्रह्मपुर इन दोनों शब्दों से संशय होता है, क्योंकि यह आकाश शब्द भूताकाश और परमात्मा दोनों अर्थों में प्रयुक्त (पठित) देखा जाता है, वहाँ संशय होता है कि इस वाक्य में क्या भूताकाश ही दहर होगा अथवा परमात्मा दहर होगा। इसी प्रकार 'ब्रह्मपुरम्', इसमें संशय होता है कि क्या यही जीव ब्रह्म नाम वाला है और उसका पुर यह शरीर है इससे ब्रह्मपुर है? अथवा पर ब्रह्म का ही पुर है इससे ब्रह्मपुर है? उस वर्णित संशय के होने पर जीव वा परमात्मा रूप अन्यतर पुर स्वामी के दहराकाशत्व में संशय होता है। वहाँ आकाश शब्द के भूताकाश में रूढ़ होने से भूताकाश ही दहर शब्द का अर्थ है, ऐसी प्राप्ति होती है, और उसको अल्प आश्रय की अपेक्षा से अल्पत्व है। (जितना परिमाणवाला यह वाह्याकाश है, उतना ही परिमाणवाला यह हृदय का आकाश है) इस वाह्याभ्यन्तर भावकृत भेदवाले आकाश को उपमान-उपमेय भाव होता है। एवं आकाश स्वरूप से एक होने के कारण उसके अन्दर स्वर्ग भूमि आदि समाहित (सम्यक् धृत) हैं। अथवा ब्रह्मपुर शब्द से जीव दहर है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि यह शरीर जीव का पुर होता हुआ ब्रह्मपुर कहा जाता है और उसके अपने कर्म से शरीर उपार्जित है, इससे उसका पुर है। चेतन होने से गौणीवृत्ति द्वारा जीव को ब्रह्म शब्द की वाच्यता है। परब्रह्म का यहाँ ब्रह्म शब्द से नहीं ग्रहण हो सकता, क्योंकि परब्रह्म का शरीर के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध नहीं है। वहाँ पुर के स्वामी जीव का ही हृदय रूप एक देश में वास देखा गया है, जैसे राजा का निवास पुर के एक देश में देखा जाता है। अर्थात् लोक में पुर के स्वामी राजा का अवस्थान जैसे पुर के एक देश राजभवन में देखा गया है, वैसे ही उक्त श्रुति में शरीर के स्वामी जीव का हृदय में अवस्थान देखा गया है, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे नगर स्वामी से अन्य भी नगर के एक देश में रहता है, वैसे ही शरीर के स्वामी जीव से अन्य ब्रह्म का हृदय वासस्थान है। यद्यपि जीव का सम्पूर्ण शरीर भोग का स्थान है, तथा कर्मोपार्जित है, तथापि मन उपाधिवाला जीव है और मन अधिकतर हृदय में प्रतिष्ठित रहता है, इस हेतु से जीव का ही यह श्रुति दृष्ट हृदय के अन्दर अवस्थान (निवास) हो सकता है। आराग्र से उपमित (तुल्यता) के कारण दहरत्व

भी जीव को ही युक्त सिद्ध होता है, एवं आकाश तुल्यता आदि जीव को ब्रह्म के साथ अभेद की विवक्षा से होगा । एवं श्रुति में अन्वेषणीय रूप से जिज्ञासितव्य रूप से दहराकाश नहीं सुना जाता है, क्योंकि (जो उसके अन्दर है) इस प्रकार जो उसके पर (अन्य) वस्तु है, उसके विशेषण आधार रूप से आकाश का ग्रहण है, इससे भूताकाश दहर हो सकता है, और उसमें अन्वेषणोय परब्रह्म है ।

अत उत्तरं ब्रूमः—परमेश्वर एवात्र दहराकाशो भवितुमर्हति न भूताकाशो जीवो वा । कस्मात् ? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः । तथाहि—अन्वेष्टव्यतया विहितस्य दहरस्याकाशस्य 'तं चेद्ब्रूयुः' इत्युपक्रम्य 'किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमाधानवचनं भवति । 'स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छां० ८।१।३) इत्यादि । तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्याकाशस्य प्रसिद्धाकाशौपम्येन दहरत्वं निवर्तयन् भूताकाशत्वं दहरस्याकाशस्य निवर्तयतीति गम्यते । यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढस्तथापि तेनैव तस्योपमा नोपपद्यत इति भूताकाशशङ्का निर्वर्तिता भवति ।

इस प्रकार प्राप्त होने पर इसके बाद उत्तर कहते हैं कि परमेश्वर ही यहाँ दहराकाश होने योग्य है, भूताकाश वा जीव नहीं । क्योंकि आगे के वाक्य शेष गत हेतुओं से ऐसा निश्चय होता है, जैसे कि 'तदन्वेष्टव्यम्' इत्यादि वचन से अन्वेष्टव्य रूप से विहित का सम्बन्धी आधार दहराकाश का आक्षेपपूर्वक, उस गुरु को यदि शिष्य कहें, इस प्रकार आरम्भ करके शिष्य का कथन है कि (अल्प पुण्डरीक के अन्दर अति अल्प इस) दहराकाश के अन्दर क्या है जो अन्वेष्टव्य और विशेष विचारणीय है ? इस प्रकार दहराकाश का आक्षेपपूर्वक शिष्य के प्रति समाधान का वचन है कि (वह गुरु शिष्य के प्रति कहे कि जितना यह बाह्य आकाश है, निश्चय उतना ही अन्तर हृदयाकाश है । एवं स्वर्ग भूमि दोनों इसमें अन्तर्गत स्थिर स्थापित हैं) इत्यादि । वहाँ प्रसिद्ध आकाश की उपमा से पुण्डरीक के अल्पत्व से जो आकाश को अल्पत्व प्राप्त था उस अल्पत्व को निवृत्त करता हुआ गुरु दहराकाश के भूताकाशत्व की भी निवृत्ति करता है, ऐसा प्रतीत होता है । यद्यपि आकाश शब्द भूताकाश में रूढ़ है, तो भी उस भूताकाश की उपमा (तुल्यता) नहीं बन सकती है, इससे भूताकाश की शंका निवृत्त हो जाती है ।

नन्वेकस्याप्याकाशस्य बाह्याभ्यन्तरत्वकल्पितेन भेदेनोपमानोपमेयभावः सम्भवतीत्युक्तम् । नैवं सम्भवति । अगतिका हीयं गतिः, यत्काल्पनिकभेदाश्रयणम् । अपि च कल्पयित्वापि भेदमुपमानोपमेयभावं वर्णयतः परिच्छिन्नत्वादभ्यन्तराकाशस्य न बाह्याकाशपरिमाणत्वमुपपद्यते ।

यद्यपि एक आकाश के भी बाह्यत्व अन्तरत्व से कल्पित भेद द्वारा उस एक में भी

उपमान उपमेय भाव-सम्भव है, यह पहले कहा है, तथापि इस प्रकार का उपमान-उपमेय भाव मुख्य रूप से सम्भव नहीं है, और जो उपमान-उपमेय भाव के लिए काल्पनिक भेद का स्वीकार है, यह तो अगतिक गति है। यहाँ दहाराकाश को ब्रह्म मानने पर अगतिकता है नहीं। और दूसरी बात है कि अभेद में भेद की कल्पना करके उपमान-उपमेय भाव का वर्णन करने वाले को अन्तर्गत आकाश के परिच्छिन्न होने से वह बाह्य आकाश के परिमाण वाली उपमा नहीं सिद्ध हो सकती है, न उपमेय हो सकता है, परिच्छेद दृष्टि को त्यागने पर अत्यन्ताऽभेद से उपमानोपमेय भाव नहीं हो सकता है।

ननु परमेश्वरस्यापि 'ज्यायानाकाशात्' (शत० ब्रा० १०।६।३।२) इति श्रुत्यन्तरान्नैवाकाशपरिमाणत्वमुपपद्येत। नैष दोषः। पुण्डरीकवेष्टनप्राप्तदहरत्वनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य न तावत्त्वप्रतिपादनपरत्वम्। उभयप्रतिपादने हि वाक्यं भिद्येत। न च कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्टिते आकाशैकदेशे द्यावापृथिव्यादीनामन्तः समाधानमुपपद्यते। 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति चात्मत्वापहतपाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे सम्भवन्ति। यद्यप्यात्मशब्दो जीवे सम्भवति तथापीतरेभ्यः कारणेभ्यो जीवाशङ्कापि निवर्तिता भवति। नह्युपाधिपरिच्छिन्नस्याराग्रोपमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्टनकृतं दहरत्वं शक्यं निवर्तयितुम्। ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य सर्वगतत्वादिविवक्ष्येतेति चेत्। यदात्मतया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येत तस्यैव ब्रह्मणः साक्षात्सर्वगतत्वादि विवक्ष्यतामिति युक्तम्। यदप्युक्तं—ब्रह्मपुरमिति जीवेन परस्योपलक्षितत्वाद्राज्ञ इव जीवस्यैवेदं पुरस्वामिनः पुरैकदेशवर्तित्वमस्तु—इति। अत्र ब्रूमः। परस्यैवेदं ब्रह्मणः पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते, ब्रह्मशब्दस्य तस्मिन्मुख्यत्वात्। तस्याप्यस्ति पुरेणानेन सम्बन्धः, उपलब्ध्यधिष्ठानत्वात्। 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र० ५।५) 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' (बृ० २।५।१८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवा जीवपुर एवास्मिन्ब्रह्मणि संनिहितमुपलक्ष्यते। यथा शालग्रामे विष्णुः संनिहित इति तद्वत्। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छां० ८।१६) इति च कर्मणामन्तवत्फलत्वमुक्त्वा 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्यानन्तफलत्वं वदन् परमात्मत्वमस्य सूचयति। यदप्येतदुक्तं—न दहरस्याकाशस्यान्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रुतं, परविशेषणत्वेनोपादानात्—इति। अत्र ब्रूमः। यद्याकाशो नान्वेष्टव्यत्वेनोक्तः स्यात् 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्याद्याकाशस्वरूपप्रदर्शनं नोपयुज्येत।

यदि कहा जाय कि (ज्यायानाकाशात्—परमात्मा आकाश से बहुत बड़ा है) इस श्रुति से परमात्मा में भी अति श्रेष्ठत्व सिद्ध है, इससे परमात्मा का भी आकाश तुल्य परिमाणत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। इसका समाधान है कि यहाँ यह दोष नहीं है, क्योंकि यह वाक्य पुण्डरीक वेष्टन से प्राप्त जो अल्पत्व उसकी निवृत्ति परक है, अर्थात् आकाश की उपमा से अल्पत्व शंकामात्र निवृत्त किया जाता है, इससे इस वाक्य का आकाश तुल्यत्व मात्र प्रतिपादन परत्व नहीं है। एक वाक्य से दोनों अर्थों के प्रतिपादन करने पर वाक्यभेद की प्राप्ति होगी और कल्पित भेद वाले पुण्डरीक से वेष्टित आकाश के एक देश में स्वर्ग भूमि आदि का अन्तःसमाधान (सम्यग् धारण) नहीं बन सकता है। इसी प्रकार (यह आत्मा पाप रहित, जरा अवस्था रहित, मृत्यु और शोक रहित, बुभुक्षारहित, पिपासा रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प वाला है) इस प्रकार के आत्मत्व पापविमुक्तत्वादि गुण भूताकाश में सम्भव नहीं हैं। यद्यपि आत्म शब्द जीव में सम्भव है, तो भी इतर हेतुओं से जीव की आशंका भी निवृत्त हो जाती है। क्योंकि उपाधि से परिमित आराग्र की उपमा वाला जीव का पुण्डरीकवेष्टनकृत दहरत्व निवृत्त करने के लिये शक्य (योग्य) नहीं है। यदि ब्रह्म के साथ अभेद की विवक्षा से जीव के सर्वगतत्वादि कहना चाहते हो, तो उस ब्रह्म को ही साक्षात् सर्वगतत्वादि की विवक्षा करो, यही उचित है और भी जो यह कहा था कि 'ब्रह्मपुरम्' इस वाक्य में जीव से पुर (देह) के उपलक्षितत्व (सम्बद्धत्व) के कारण राजा के समान पुर के स्वामी जीव का ही पुर के एक देश-हृदय में वर्तिता (स्थिति) रहे। यहाँ कहते हैं कि परब्रह्म का ही पुर होता हुआ यह शरीर ब्रह्मपुर कहाता है, क्योंकि ब्रह्मशब्द परब्रह्म में मुख्य वृत्ति से है इससे यहाँ उसका ही मुख्यत्व है। एवं उस ब्रह्म का भी इस पुर के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि यह देह उस ब्रह्म की उपलब्धि (ज्ञान) का अधिष्ठान (स्थान) है, इससे उपलब्धि स्थानत्वरूप सम्बन्ध है। तथा (वह ध्याता इस पर जीवघन से पर पुरनिवासी पुरुष को देखता है) और 'वह पुरुष सब शरीरों में हृदय पुर में यह सोया (स्थिर) है' इत्यादि श्रुति वचनों से उक्त सम्बन्ध निश्चित होता है। अथवा शरीर की वृद्धि का हेतु होने से जीव ही ब्रह्म शब्द का अर्थ (ब्रह्मपुरम्) इस वाक्य में है और उस जीव के इस शरीर रूप पुर में ही हृदय में सन्निहित (व्याप्त) ब्रह्म उपलक्षित (ज्ञात) होता है, जैसे कि शालग्राम में सन्निहित विष्णु उपलक्षित होता है, वैसे ही समझना चाहिये। एवं जैसे यहां कर्माजित लोक नष्ट होता है, वैसे ही परलोक में पुण्यार्जित लोक विषयादि भी नष्ट होते हैं। इस प्रकार कर्मों को विनश्वर फलवत्त्व कहकर कहा है कि (वैराग्य के बाद जो कोई इस शरीर में आत्मा को ध्यानादि से जान कर परलोक में जाते हैं, तथा इस आत्मा के आश्रित रहने वाले इस सत्य कामादि गुणों को जानकर परलोक में जाते हैं उनको सब लोकों में यथेष्ट गति होती है) इस कथन से प्रकृत दहराकाश के विज्ञान के अनन्त फलत्व को कहता हुआ गुरु

इसको परमात्मत्व सूचित करता है। पहले जो यह भी कहा था कि दहराकाश को अन्वेष्टव्यत्व और विजिज्ञासितव्यत्व नहीं सुना गया है, क्योंकि पर के विशेषण रूप से उसका ग्रहण किया गया है। उसके लिए कहते हैं कि यदि आकाश अन्वेष्टव्य रूप से नहीं होता तो 'जितना यह आकाश है इतना ही यह अन्तः हृदयाकाश है' इत्यादि वचन से उक्त आकाश के स्वरूप का प्रदर्शन उपयुक्त (सफल) नहीं होगा।

नन्वेतदप्यन्तर्वर्तिवस्तुसद्भावप्रदर्शनायैव प्रदर्श्यते, 'तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्याक्षिप्य परिहारावसर आकाशौपम्योपक्रमेण द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाहितत्वदर्शनात्। नैतदेवम्। एवं हि सति यदन्तःसमाहितं द्यावापृथिव्यादि तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चोक्तं स्यात्। तत्र वाक्यशेषो नोपपद्येत। 'अस्मिन्कामाः समाहिताः, एष आत्माऽपहतपाप्मा' इति हि प्रकृतं द्यावापृथिव्यादिसमाधानाधारमाकाशमाकृष्य 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्' इति समुच्चयार्थेन चशब्देनात्मानं कामाधारमाश्रितांश्च कामान्विज्ञेयान्वाक्यशेषो दर्शयति। तस्माद्वाक्योपक्रमेऽपि दहर एवाकाशो हृदयपुण्डरीकाधिष्ठानः सहान्तःस्थैः समाहितैः पृथिव्यादिभिः सत्यैश्च कामैर्विज्ञेय उक्त इति गम्यते। स चोक्तेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वर इति ॥ १४ ॥

यदि कहो कि यह स्वरूप प्रदर्शन भी अन्तर्वर्ती वस्तु के सद्भाव प्रदर्शन कराने के लिए किया गया है, क्योंकि 'उस गुरु को यदि शिष्य कहें कि जो इस ब्रह्मपुर में अल्प पुण्डरीक रूप वेश्म है उसमें अल्प अन्तः आकाश है, यहाँ कौन वह वस्तु है कि जो अन्वेष्टव्य है और अवश्य विजिज्ञासितव्य है' इस प्रकार आक्षेप करके, परिहार के अवसर में आकाश की उपमा तुल्यता का प्रारम्भ पूर्वक स्वर्ग भूमि आदि का अन्तः समाहितत्त्व देखा जाता है, जिसके अन्तर्गत वस्तु प्रदर्शन के ही लिए आकाश के स्वरूप का प्रदर्शन है। वहाँ कहा जाता है कि यह प्रदर्शन इस प्रकार का नहीं है, जिससे ऐसा होने पर जो अन्तः में समाहित स्वर्ग भूम आदि हैं वे ही अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य हैं, यह कथित होगा। इससे जगत् ही ध्येय ज्ञेय सिद्ध होगा। ऐसा होने पर वाक्य शेष संगत नहीं होगा, क्योंकि (इसमें काम समाहित है, यह आत्मा अपहतपाप्मा है) इन वाक्यों से प्रकृत स्वर्ग भूमि आदि के समाधान का आधार आकाश का आकर्षण सम्बन्ध करके (अब जो यहाँ आत्मा और इन सत्य कामों को जानकर गमन करता है) इस कथन से समुच्चयार्थक च शब्द से काम के आधार आत्मा को और आश्रित कामों को वाक्यशेष विज्ञेय दिखलाता है स्वर्ग भूमि आदि को नहीं। इससे वाक्य के आरम्भ में भी हृदयपुण्डरीकवृत्ति दहराकाश ही अन्तःस्थित समाहित पृथिवी आदि सहित और सत्य कामों सहित विज्ञेय कहा गया है. यह निश्चय होता है। एवं वह दहर उक्त हेतुओं से परमात्मा है ॥ १४ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

गतिशब्दाभ्याम्—तथा-हि-दृष्टम्-लिङ्गम्-च । इस सूत्र में छः पद हैं । संक्षिप्तार्थ है कि (गमन ब्रह्मलोकशब्दाभ्यां दहरो ब्रह्मेति हि । यस्माच्छ्रुत्यन्तरे तथा दृष्टं वर्तते वाक्यशेषे श्रुत्यन्तरे दृष्टं वचनं च ब्रह्मलोकशब्दे कर्मधारयसमासे लिङ्गं भवतीति) ब्रह्मलोक में प्रतिदिन का गमन और ब्रह्मलोक शब्द से दहर ब्रह्म है और दूसरी श्रुति में भी जिससे वैसा वचन देखा गया है, उससे भी दहर ब्रह्म है, एवं वही वचन कर्मधारय समास में भी लिङ्ग (हेतु) होता है ।

दहरः परमेश्वर उत्तरेभ्यो हेतुभ्य इत्युक्तम् । त एवोत्तरे हेतव इदानीं प्रपञ्च्यन्ते । इतश्च परमेश्वर एव दहरः, यस्माद्दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादकौ गतिशब्दौ भवतः—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' (छां० ८।३।२।) इति । तत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्देनाभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानामभिधीयमाना दहरस्य ब्रह्मतां गमयति । तथा ह्यहरहर्जीवानां सुषुप्तावस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टं श्रुत्यन्तरे—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छां० ६।८।१) इत्येवमादौ । लोकेऽपि किल गाढं सुषुप्तमाचक्षते-ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गत-इति । तथा ब्रह्मलोकशब्दोऽपि प्रकृते दहरे प्रयुज्यमानो जीवभूताकाशशङ्कां निवर्तयन् ब्रह्मतामस्य गमयति । ननु कमलासनलोकमपि ब्रह्मलोकशब्दो गमयेत्, गमयेद्यदि ब्रह्मणो लोक इति षष्ठीसमासवृत्त्या व्युत्पद्येत । सामानाधिकरण्यवृत्त्या तु व्युत्पाद्यमानो ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परमेव ब्रह्म गमयिष्यति । एतदेव चाहरहर्ब्रह्मलोकगमनं दृष्टं ब्रह्मलोकशब्दस्य सामानाधिकरण्यवृत्तिपरिग्रहे लिङ्गम् । नह्यहरहरिमाः प्रजाः कार्यब्रह्मलोकं सत्यलोकाख्यं गच्छन्तीति शक्यं कल्पयितुम् ॥१५॥

उत्तर हेतुओं से दहर परमेश्वर ही है, पहले यह कहा गया है । अब वे ही अगले हेतु इस समय विस्तृत रूप से कहे जाते हैं कि इस वक्ष्यमाण हेतु से भी परमेश्वर ही दहर है, जिससे दहर के वाक्यशेष में परमेश्वर के ही प्रतिपादक गति और शब्द हैं कि (यह सब प्रजाजीव) प्रतिदिन सुषुप्ति काल में इस दहररूप ब्रह्म में प्राप्त होती हैं (परन्तु अज्ञानसे आवृत रहने के कारण ब्रह्मलोक को जानती नहीं हैं) । वहाँ प्रकृत दहर को ब्रह्मलोक शब्द से कह कर प्रजा शब्द के जीवों की उस दहर विषयक गति को कहती हुई श्रुति दहर की ब्रह्मता को समझाती है । एवं श्रुत्यन्तर में भी उसी रीति से जीवों की प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म विषयक गमन देखा गया है कि (हे सोम्य ! सुषुप्ति काल में जीव सद्ब्रह्म से मिल जाता है) इत्यादि । लोक में भी अत्यन्त गाढ (अतिशय) निद्रायुक्त को लोग कहते हैं कि ब्रह्मस्वरूप हो गया ब्रह्मता को प्राप्त किया इत्यादि । उक्त गति के समान श्रुतिगत ब्रह्मलोक शब्द भी प्रकृत दहर

में प्रयुज्यमान (उच्चारित) हो कर, दहर विषयक जीव और भूताकाश वाचकत्वशंका निवृत्त करता हुआ इस दहर की ब्रह्मता को समझता है। शंका होती है कि ब्रह्मा के लोक को भी 'ब्रह्मलोक' शब्द बोध करा सकता है ? उत्तर है कि यदि (ब्रह्मणो लोकः) ब्रह्मा का लोक, इस प्रकार से षष्ठीसमासरूप वृत्ति द्वारा ब्रह्मलोक शब्द को सिद्ध किया जाता तो ब्रह्मलोक शब्द ब्रह्मा के लोक को बोध कराता, परन्तु जहाँ कर्मधारय समास संभव हो, वहाँ षष्ठी से कर्मधारय बली होता है, यह पूर्वमीमांसा (निषादस्थपति अधिकरण) में प्रसिद्ध है। यहाँ कर्मधारय का सम्भव है इससे समानाधिकरण वृत्ति (कर्मधारय) से साधा गया है कि ब्रह्मरूप लोक ब्रह्मलोक है। इस प्रकार यह शब्द पर ब्रह्म का ही बोध करायेगा अन्य का नहीं। एवं यही देखा गया प्रतिदिन का ब्रह्म-लोकगमन ब्रह्मलोक शब्द की समानाधिकरण वृत्ति के स्वीकार में लिंग है, क्योंकि ये प्रजा सत्यलोक नामक कार्यब्रह्म के लोक में प्रतिदिन जाती हैं, ऐसी कल्पना हो नहीं सकती है ॥ १५ ॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

धृतेः-च-महिम्नः-अस्य-अस्मिन्-उपलब्धेः ये छः पद इस सूत्र में हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (धृतेर्हेतोः परमात्मैव दहरो भवति धृत्यात्मकस्य, अस्य परमात्मनो महिम्नोऽस्मिन् दहरे ह्युपलब्धेर्ज्ञायते यदयं ब्रह्मेति) धारणारूप हेतु से दहर परमात्मा है, और श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध परमात्मा की धृतिरूप महिमा इस दहर में ज्ञात होती है, इससे जाना जाता है कि दहर ब्रह्म है।

धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः। कथम् ? 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति हि प्रकृत्याकाशौपम्यपूर्वकं तस्मिन्सर्वसमाधानमुक्त्वा तस्मिन्नेव चात्मशब्दं प्रयुज्यापहतपाप्मत्वादिगुणयोगं चोपदिश्य तमेवानतिवृत्तप्रकरणं निर्दिशति— 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय' (छां० ८।४।१) इति। तत्र विधृतिरित्यात्मशब्दसामानाधिकरण्याद्विधारयितोच्यते, क्तिचः कर्तरि स्मरणात्। यथोदकसन्तानस्य विधारयिता लोके सेतुः क्षेत्रसंपदामसम्भेदाय, एवमयमात्मैषामध्यात्मादिभेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादीनां च विधारयिता सेतुरसम्भेदायासङ्करायेति। एवमिह प्रकृते दहरे विधारणलक्षणं महिमानं दर्शयति। अयं च महिमा परमेश्वर एव श्रुत्यन्तरादुपलभ्यते 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादेः। तथान्यत्रापि निश्चिते परमेश्वरवाक्ये श्रूयते—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसम्भेदाय' इति। एवं धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः ॥ १६ ॥

धृति हेतु से भी परमेश्वर ही यह दहर है, क्योंकि (इसमें दहर अन्तर आकाश है) इस प्रकार आरम्भ करके ही आकाश की उपमा पूर्वक उसमें सबका समाधान कहकर

और उस दहर में ही 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करके और अपहृतपाप्मत्वादि गुण सम्बन्ध का उपदेश करके, जिसका प्रकरण अतिवृत्त (समाप्त-निवृत्त) नहीं हुआ है उसी का श्रुति निर्देश करती है कि (जो आत्मा है वह इन लोकों का असम्भेद=अमिश्रण) के लिये सेतु है। विधृति=धारण कर्ता है। वहाँ 'विधृति' इस शब्द से आत्म शब्द की समानाधिकरणता से विधारयिता कहा जाता है। क्योंकि क्तिच् प्रत्यय कर्ता अर्थ में स्मृत है, और जैसे जलप्रवाह का विधारण करने वाला सेतु लोक में होता है, वह क्षेत्र सम्पत्ति के असम्भेद के लिये होता है, वैसे यह आत्मा आध्यात्मादि भेद से भिन्न इन लोकों का और वर्णाश्रमादि का असम्भेद (असङ्कर) के लिये विधारयिता सेतु है, इस प्रकार यहाँ प्रकृत दहर में विधारणरूप महिमा को श्रुति दिखलाती है, और यह महिमा श्रुत्यन्तर से परमेश्वर की ज्ञात होती है कि (हे गार्गि। इस अक्षर परमात्मा के अनुशासन में सूर्य चन्द्रमा विधृत स्थिर है) इत्यादि। वैसे ही अन्यत्र भी निश्चित परमेश्वर विषयक वाक्य में सुना जाता है कि (यह सर्वेश्वर है यह भूतपति है, यह भूतपालक है, और इन लोकों का असम्भेद के लिये यही विधारण कर्ता सेतु है। इस प्रकार धृति हेतु से भी परमात्मा ही यह दहर है ॥ १६ ॥

प्रसिद्धेश्च १७ ॥

इतश्च परमेश्वर एव 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्युच्यते। यत्कारणमाकाशशब्दः परमेश्वरे प्रसिद्धः। 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छां० ८।१४।), 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छां० १।९।१) इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। जीवे तु न क्वचिदाकाशशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते। भूताकाशस्तु सत्यामप्याकाशशब्दप्रसिद्धावुपमानोपमेयभावाद्यसम्भवान्न ग्रहीतव्य इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

इस हेतु से भी परमेश्वर ही (इसमें दहर अन्तःआकाश है) इस प्रकार कहा जाता है, कि जिस कारण से आकाश शब्द परमेश्वर अर्थ में प्रसिद्ध है (आकाश ही नाम रूप का निर्वाहक आश्रय है। सब भूत आकाश ही से सम्यक् उत्पन्न होते हैं) इत्यादि वचनों में ईश्वर विषयक आकाश शब्द का प्रयोग देखने से प्रसिद्धि समझी जाती है। जीव अर्थ में प्रयुज्यमान (पठित) आकाश शब्द तो कहीं नहीं देखा जाता है। भूताकाश अर्थ में आकाश शब्द की प्रसिद्धि होते हुए भी उपमान उपमेयभाव का एक में असम्भव से भूताकाश यहाँ ग्रहण के योग्य नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है।

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८ ॥

यदि वाक्यशेषबलेन दहर इति परमेश्वरः परिगृह्येतास्तीतरस्यापि जीवस्य वाक्यशेषे परामर्शः—अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्य एष आत्मेति होवाच' (छां० ८।३।४)

इति। अत्र हि सम्प्रसादशब्दः श्रुत्यन्तरे सुषुप्तावस्थायां दृष्टत्वात्तदवस्थावन्तं जीवं शक्नोत्युपस्थापयितुं नार्थान्तरम्। तथा शरीरव्यपाश्रयस्यैव जीवस्य शरीरात्समुत्थानं सम्भवति। यथाकाशव्यपाश्रयाणां वाय्वादीनामाकाशात्समुत्थानं यद्वत्। यथा चादृष्टोऽपि लोके परमेश्वरविषय आकाशशब्दः परमेश्वरधर्मसमभिव्याहारात् 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्येवमादौ परमेश्वरविषयोऽभ्युपगत एवं जीवविषयोऽपि भविष्यति। तस्मादितरपरामर्शात् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इत्यत्र स एव जीव उच्यत इति चेत्। नैतदेवं स्यात्। कस्मात्? असम्भवात्। नहि जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी सन्नाकाशेनोपमीयेत। न चोपाधिधर्मानभिमन्यमानस्यापहतपाप्मत्वादयो धर्माः सम्भवन्ति। प्रपञ्चितं चैतत्प्रथमसूत्रे। अतिरेकाशङ्कापरिहारायात्र तु पुनरुपन्यस्तम्। पठिष्यति चोपरिष्टात् 'अन्यार्थश्च परामर्शः' (ब्र० १।३।२०) इति॥

शंका होती है कि यदि वाक्यशेष के बल से 'दहर' इस पद से परमेश्वर परिगृहीत =स्वीकृत=ज्ञात होता है, तो परमेश्वर से इतर (भिन्न) जीव का भी वाक्यशेष में परामर्श (विचार) कथन है कि—जो यह संप्रसाद जीव इस शरीर से सम्यक् उठकर (विविक्त आत्मा को समझकर) और शरीराभिमान के अभाव से आत्मा को निज स्वरूप से प्राप्त करके उस परम ज्योति को प्राप्त करता है वही आत्मा है, ऐसा प्रजापति ने इन्द्र से कहा। दूसरी श्रुति में संप्रसाद शब्द सुषुप्ति अवस्था में प्रयुक्त देखा गया है। इससे यहाँ उस अवस्था वाले जीव को उपस्थित (बुद्धिस्थ ज्ञात) करा सकता है, अर्थान्तर को नहीं करा सकता। इसी प्रकार शरीर के आश्रित रहने वाला शरीराभिमानी जीव का ही शरीर से समुत्थान का सम्भव है, जैसे कि आकाश के आश्रित रहने वाले वायु आदि का आकाश से समुत्थान (आविर्भाव) होता है, ऐसा ही समझना चाहिए। जैसे लोक में आकाश पर परमेश्वर विषयक (परमेश्वर वाचक) अदृष्ट भी है, तो भी परमेश्वर के धर्मों के कथन से (प्रसिद्ध आकाश ही नाम और रूप का निर्वाहक है) इत्यादि श्रुति में परमेश्वर विषयक आकाश शब्द माना गया है, इसी प्रकार जीव विषयक भी दहराकाश शब्द हो सकता। इस कारण से इतर के परामर्श से (इसमें अल्प अन्तराकाश है)। यहाँ वह जीव ही दहराकाश कहा जाता है, इस प्रकार यदि कोई कहे, तो उसका उत्तर है कि यह दहराकाश इस प्रकार जीव नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा होना असम्भव है। जिससे बुद्धि आदि उपाधिकृत परिच्छेद (भेद) का अभिमानी होता हुआ जीव आकाश से उपमित नहीं हो सकता (आकाश के तुल्य नहीं कहा जा सकता) है। एवं उपाधि के हर्षशोकादि धर्मों का भी सम्भव नहीं है, यह प्रथम सूत्र में विस्तार पूर्वक कहा गया है। यहाँ तो आगे वर्णित अधिक शंका के निवारण के लिए फिर उपन्यास (कथन) किया गया है और जीव के स्वरूप के परामर्श का प्रयोजन आगे सूत्र में कहेंगे कि (अन्यार्थक जीव का परामर्श है)॥ १८॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

इतरपरामर्शाद्या जीवाशङ्का जाता साऽसम्भवान्निराकृता। अथेदानीं मृतस्यैवामृतसेकात्पुनः समुत्थानं जीवाशङ्कायाः क्रियते उत्तरस्मात्प्राजापत्याद्वाक्यात्। तत्र हि 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च प्रतिज्ञाय 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' (छां० ८।७।४) इति ब्रुवन्नक्षिस्थं द्रष्टारं जीवमात्मानं निर्दिशति। 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छां० ८।९।३) इति च तमेव पुनः पुनः परामृश्य 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा' (छां० ८।१०।१) इति, 'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा' इति च जीवमेवावस्थान्तरगतं व्याचष्टे। तस्यैव चापहतपाप्मत्वादि दर्शयति—'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इति। 'नाह खल्वयमेव सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' (छां० ८।११।१,२) इति च सुषुप्तावस्थायां दोषमुपलभ्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इति चोपक्रम्य शरीरसम्बन्धनिन्दापूर्वकं 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इति जीवमेव शरीरात्समुत्थितमुत्तमम्पुरुषं दर्शयति। तस्मादस्ति सम्भवो जीवे पारमेश्वराणां धर्माणाम्। अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति जीव एवोक्त इति चेत्कश्चिद्ब्रूयात्।

इतर के परामर्श से जीव की शंका हुई थी, वह असम्भव से निराकृत (निवारित) की गई। फिर जैसे अमृत के सेचन से मृत को जिलाया गया, वैसे उत्तर पठित प्रजापति के वाक्य से इस समय जीव शंका का समुत्थान किया जाता है। क्योंकि उस प्रजापति के वाक्य में (जो आत्मा है सो पापरहित है) इस प्रकार विगत पापत्वादि गुण वाला आत्मा को अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य की प्रतिज्ञा करके (जो यह आँख में पुरुष दीखता है यह आत्मा है) इस प्रकार कहता हुआ, अक्षिस्थ द्रष्टा को जीवात्मा कहते हैं, (इसी को तेरे लिये फिर व्याख्यान करूँगा) इस प्रकार उसका ही बार-बार परामर्श (स्मरण) करके (जो यह स्वप्न में वासनामय विषयों से पूज्यमान होकर विचरता है यह आत्मा है) इस वाक्य में और (सुषुप्ति काल में जब यह गाढ़ निद्रा से सोया रहता है, सब इन्द्रियाँ जिसकी लीन हुई रहती हैं, स्वयं सम्प्रसन्न दोषरहित शुद्ध रहता है, स्वप्न नहीं देखता है, यह आत्मा है) इस वाक्य में भी प्रजापति अवस्थान्तर गत जीव का ही कथन करते हैं। उसी को (यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है) इत्यादि वाक्य से अपहतपाप्मत्वादि दिखलाते हैं। यहाँ इन्द्र का कथन है कि (अह—खेद है कि इस सुषुप्ति काल में यह जीव अपने ही आत्मा को नहीं जानता है कि मैं यह हूँ और न इन भूतों को ही जानता है) इस प्रकार दोष देखकर स्थिर इन्द्र के प्रति प्रजापति का कथन है कि (इसी आत्मा का मैं फिर व्याख्यान करूँगा, इससे अन्य का व्याख्यान

नहीं करूँगा) इस प्रकार आरम्भ करके शरीर सम्बन्ध की निन्दापूर्वक जीव को ही शरीर से समुत्थित (भिन्न) उत्तम पुरुष दिखलाते हैं कि (यह सम्प्रसाद इस शरीर से समुत्थित होकर पर ज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप से निष्पन्न पूर्ण होता है) उस प्रजापति के वाक्य से जीव में परमेश्वर के धर्मों का सम्भव है। इससे प्रजापति के वाक्य असम्भव की असिद्धि से इसमें दहर अन्तराकाश है) इस प्रकार जीव ही कहा गया है, इस प्रकार यदि कोई कहे तो—

तं प्रति ब्रूयात्—'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इति। तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवस्याशङ्का सम्भवतीत्यर्थः। कस्मात्? यतस्तत्राप्याविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते। आविर्भूतं स्वरूपमस्येत्याविर्भूतस्वरूपः। भूतपूर्वगत्या जीववचनम्।

उसके प्रति कहना चाहिए कि वहाँ संसारी जीव नहीं कहा गया है, किन्तु आविर्भूत (प्रकट) स्वरूपवाला जीव कहा गया है। यहाँ 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। अर्थ है कि-यहाँ उत्तर वाक्य से भी जीव की आशंका का सम्भव नहीं है, क्योंकि जिससे उत्तर वाक्य में भी आविर्भूत स्वरूप वाला जीव विवक्षित है। जिसका जीवत्व से रहित स्वरूप प्रगट हो गया हो उसको आविर्भूत स्वरूप कहते हैं, और इस अवस्था में जीवत्व का अभाव होते हुए भी भूतपूर्व गति (पूर्वकालिक अवस्था की दृष्टि) से जीव कहा जाता है।

एतदुक्तं भवति—'य एषोऽक्षिणि' इत्यक्षिलक्षितं द्रष्टारं निर्दिश्योदशरावब्राह्मणेनैनं शरीरात्मताया व्युत्थाप्य 'एतं त्वेव ते' इति पुनःपुनस्तमेव व्याख्येयत्वेनाकृष्य स्वप्नसुषुप्तोपन्यासक्रमेण 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति यदस्य पारमार्थिकं स्वरूपं परं ब्रह्म तद्रूपतयैनं जीवं व्याचष्टे न जैवेन रूपेण। यत्परं ज्योतिरुपसम्पत्तव्यं श्रुतं तत्परं ब्रह्म, तच्चापहतपाप्मत्वादिधर्मकं, तदेव च जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूपं 'तत्त्वमसि' इत्यादिशास्त्रेभ्यः, नेतरदुपाधिकल्पितम्। यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन्कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वम्। यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घाताद्व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते—'नासि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातः, नासि संसारी, किं तर्हि? तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपस्तत्त्वमसीति। तदा कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्यास्माच्छरीराद्यभिमानात्समुत्तिष्ठन् स एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति। 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तदेव चास्य पारमार्थिकं स्वरूपं येन शरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

इससे यह तात्पर्य सिद्ध होता है कि (एषो अक्षिणि) यह आँख में दीखता है। इस कथन से नेत्रजन्य वृत्ति में साक्षिस्वरूप से उपलक्षित द्रष्टा आत्मा का निर्देश

करके उदकयुक्त शराब का वर्णन करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ से, इस द्रष्टा आत्मा को शरीरात्मता से पृथक् करके अर्थात् जल प्रतिबिम्ब के समान शरीर को मिथ्या दिखलाता हुआ उससे भिन्न द्रष्टा को सत्य समझकर, और 'एतं त्वेव ते' इस वाक्य से उसी द्रष्टा का बार-बार आकर्षण करके और स्वप्न सुषुप्ति के प्रदर्शन क्रम से (परं ज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है) इस कथन द्वारा जो इस जीव का पारमार्थिक स्वरूप परब्रह्म है, उस रूप से इस जीव का व्याख्यान प्रजापति करते हैं, जीव सम्बन्धी रूप से नहीं करते हैं, यह तत्त्व यहाँ उक्त हुआ है । एवं जो पर ज्योति प्राप्तव्य सुना गया है, वह परब्रह्म है, और वह अपहतपाप्मत्वादि धर्म वाला है । वही जीव का पारमार्थिक स्वरूप है, उपाधि से कल्पित दूसरा स्वरूप पारमार्थिक नहीं है, वह (तत्त्वमसि) तू वही है इत्यादि शास्त्र से सिद्ध होता है । जीव को जीवत्व तभी तक है कि जब तक स्थाणु में पुरुष बुद्धि के समान द्वैतरूप अविद्या को निवृत्त करता हुआ कूटस्थनित्य चित्स्वरूप आत्मा को (अहं ब्रह्मास्मि) मैं ब्रह्म हूँ इस रूप से नहीं समझता है । और जिस काल में देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप संघात से व्युत्थित (ऊपर पृथक्) करके श्रुति से समझाया जाता है कि तुम देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप संघात (अनेकात्मक समूह) नहीं हो, संसारी नहीं हो, तो क्या हो कि वह जो सत्य है, वही चैतन्यमात्र स्वरूप आत्मा है, वही तुम हो । इस प्रकार समझाने पर अधिकारी जीव कूटस्थ नित्य चित्स्वरूप आत्मा को समझकर इस शरीरादि के अभिमान से उत्थित मुक्त होता हुआ वही कूटस्थ नित्य और ज्ञानस्वरूप आत्मा होता है । (वह जो कोई उस परब्रह्म को जानता है वह परब्रह्म ही होता है) इत्यादि श्रुतियों से उक्तार्थ सिद्ध होता है । इस जीव का वही पारमार्थिक स्वरूप है कि जिस स्वरूप से शरीर से समुत्थित (भिन्न) होकर अभिनिष्पन्न (सिद्ध स्थिर) होता है ।

कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत इति सम्भवति कूटस्थनित्यस्य । सुवर्णादीनां तु द्रव्यान्तरसम्पर्कादभिभूतस्वरूपाणामनभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां क्षारप्रक्षेपादिभिः शोध्यमानानां स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । तथा नक्षत्रादीनामहन्यभिभूतप्रकाशानामभिभावकवियोगे रात्रौ स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । न तु तथात्मचैतन्यज्योतिषो नित्यस्य केनचिदभिभवः सम्भवत्यसंसर्गित्वाद्व्योम्न इव । दृष्टविरोधाच्च। दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम् । तच्च शरीरादसमुत्थितस्यापि जीवस्य सदा निष्पन्नमेव दृश्यते । सर्वो हि जीवः पश्यन् शृण्वन्मन्वानो विजानन्व्यवहरत्यन्यथा व्यवहारानुपपत्तेः । तच्चेच्छरीरात्समुत्थितस्य निष्पद्येत प्राक्समुत्थानाद्दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत । अतः किमात्मकमिदं शरीरात्समुत्थानं, किमात्मिका वा स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरिति ।

यहाँ शङ्का होती है कि कूटस्थ नित्य जीव का अपना स्वरूप पुनः स्वरूप से निष्पन्न होता है, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि द्रव्यान्तर के सम्पर्क से अभिभूत

स्वरूप वाले अतएव अनभिव्यक्त (अप्रकट) असाधारण विशेषण वाले सुवर्णादि का तो क्षार द्रव्य के प्रक्षेप (अर्पण) आदि से शोधन होने पर स्वरूप से सिद्धि हो सकती है। एवं दिन में अभिभूत प्रकाश वाले नक्षत्रादि का रात्रि में अभिभावक सूर्यालोक के वियोग से स्वरूप से निष्पत्ति हो सकती है। परन्तु आकाश के समान असंसर्गी होने से नित्य आत्मचैतन्य ज्योति का सुवर्णादि नक्षत्रादि के समान किसी से अभिभव होना सम्भव नहीं है और अभिभव मानने पर दृष्ट व्यवहार से भी विरोध होता है। क्योंकि दर्शन-श्रवण-मनन-विज्ञान ही जीव का स्वरूप है, वह स्वरूप शरीर से असमुत्थित (शरीराभिमानी) जीव का भी सदा निष्पन्न (सिद्ध) ही देखा जाता है जिससे सब जीव देखते सुनते विचारते जानते हुए ही गमनागमनादि व्यवहार करते हैं, अन्यथा दर्शनादि के बिना व्यवहार ही नहीं सिद्ध हो सकता है। वह जीव का स्वरूप यदि शरीर से समुत्थित ज्ञानी को ही निष्पन्न (सिद्ध) हो, तो समुत्थान से प्रथम दृष्ट व्यवहार विरुद्ध होगा, व्यवहार की सिद्धि नहीं होगी। इस प्रकार सदा सरूप की निष्पत्ति (अभिव्यक्ति) के रहते भी जो शरीर से समुत्थान के बाद कही जाती है, उस निष्पत्ति का हेतु रूप समुत्थान का क्या स्वरूप है) यह शरीर से समुत्थान किस स्वरूप वाला है, और स्वरूप से अभिनिष्पत्ति किस स्वरूप वाली है ? यह प्रश्न है।

अत्रोच्यते—प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादि ज्योतिःस्वरूपं भवति। यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छ्यं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति। प्रमाणजनितविवेकग्रहणात्तु-परार्चीनः स्फटिकः स्वाच्छ्येन शौक्ल्येन च स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव सन्। तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं विवेकविज्ञानं शरीरात्समुत्थानं विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः। तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च मन्त्रवर्णात् 'अशरीरं शरीरेषु' (कौ० १।२।२२) इति, 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गी० १३।३१) इति च सशरीरत्वविशेषाभावस्मरणात्। तस्माद्विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन्विवेकविज्ञानादाविर्भूतस्वरूप इत्युच्यते। नत्वन्यादृशावाविर्भावानाविर्भावौ स्वरूपस्य सम्भवतः स्वरूपत्वादेव। एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः, व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात्। कुतश्चैतदेवं प्रतिपत्तव्यम्। यतो 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्युपदिश्य 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्युपदिशति। योऽक्षिणि प्रसिद्धो द्रष्टा द्रष्टृत्वेन विभाव्यते सोऽमृताभयलक्षणाद्ब्रह्मणोऽन्यश्चेत्स्यात्ततोऽमृताभयब्रह्मसामानाधिकरण्यं न स्यात्। नापि प्रतिच्छायात्मायमक्षिलक्षितो निर्दिश्यते, प्रजापतेर्मृषावादित्वप्रसङ्गात्। तथा द्वितीयेऽपि पर्याये 'य एषः स्वप्ने महीयमानश्चरति' इति न प्रथमपर्यायनिर्दिष्टादक्षिपुरुषाद्द्रष्टुरन्यो निर्दिष्टः, 'एतं त्वेव ते भूयोऽनु-

व्याख्यास्यामि' इत्युपक्रमात्। किञ्चाहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं नेदानीं तं पश्यामीति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्याचष्टे। द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति—य एवाहं स्वप्नमद्राक्षं स एवाहं जागरितं पश्यामि—इति। तथा तृतीयेऽपि पर्याये 'नहि खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' इति सुषुप्तावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमेव दर्शयति न विज्ञातारं प्रतिषेधति। यत्तु तत्र 'विनाशमेवापीतो भवति' इति, तदपि विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्, 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ० ४।३।३०) इति श्रुत्यन्तरात्। तथा चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इत्युपक्रम्य 'मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरम्' इत्यादिना प्रपञ्चेन शरीराद्युपाधिसम्बन्धप्रत्याख्यानेन सम्प्रसादशब्दोदितं जीवं 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति ब्रह्मस्वरूपापन्नं दर्शयन्न परस्माद् ब्रह्मणोऽमृताभयस्वरूपादन्यं जीवं दर्शयति।

यहाँ उत्तर कहा जाता है कि विवेक विज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व काल में शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और विषयों का अनुभव तथा हर्षशोकादिरूप वेदना रूप उपाधियों से अविविक्त (मिलित) के समान जीव के दृष्टि आदि रूप ज्योतिःस्वरूप रहता है, विविक्त भी अविविक्त के समान भासता है। जैसे कि शुद्ध स्फटिक की स्वच्छता और शुक्लतारूप स्वरूप विवेकज्ञान से प्रथम रक्तनीलादिरूप उपाधि से अविविक्त (अभिन्न) के समान रहता है। प्रमाणजनित विवेक ज्ञान होने से तो प्रथम भी स्वच्छ शुक्ल रहने पर ही कहा जाता है कि पहले यह बाह्यस्थित स्फटिक की ही स्वच्छता और शुक्लता रूप अपने स्वरूप से व्यक्त हो रहा हैं। उसी प्रकार शरीरादि उपाधि से अविविक्त (अभिन्न) वर्तमान जीव को ही श्रुतिकृत विवेक का विज्ञान होता है, वह शरीर से समुत्थान कहलाता है, और विवेक विज्ञान के फलरूप स्वरूप से अभिनिष्पत्ति केवल आत्मस्वरूप की अवगति है। इसी प्रकार (शरीरों में रहते अशरीर है) इत्यादि मन्त्राक्षर के अनुसार विवेक और अविवेकमात्र से ही अशरीरत्व और सशरीरत्व आत्मा को है। (कौन्तेय ! आत्मा शरीर में रहते भी न कर्म करता है न कर्मफल से लिप्त होता है) इस कथन से आत्मा में सशरीरत्व अशरीरत्वरूपविशेष (भेद) के अभाव कथन से भी अविवेक विवेककृत ही सशरीरत्व और अशरीरत्व है। एवं विवेक विज्ञान के अभाव से पहले अनाविर्भूत स्वरूप होता हुआ विवेक विज्ञान से आविर्भूतस्वरूप हुआ ऐसा कहा जाता है, अर्थात् पहले अव्यक्त (अप्रकट) था अब व्यक्त हुआ ऐसा व्यवहार अविवेक विवेककृत होता है। स्वरूप होने से ही इससे अन्य प्रकार के सत्य स्वरूप की अभिव्यक्ति अनभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार आकाशतुल्य असंगता के तुल्य रहने से जीवेश्वर में मिथ्याज्ञानकृत ही भेद है, वस्तुतः सत्य भेद नहीं है। जिज्ञासा हुई कि यह जीवेश्वर-

भेद के मिथ्यात्व को कैसे समझा जाय, तब कहा जाता है कि जिससे श्रुति में (जो यह नेत्र में पुरुष दीखता है । इस प्रकार से उपदेश करके फिर उपदेश करते हैं कि यह अमृत है, अभय है, ब्रह्म है) वहाँ आँख में प्रसिद्ध जो द्रष्टा शिष्य को द्रष्टा रूप से समझाया जाता है, वह यदि अमृत अभयस्वरूप ब्रह्म से जन्य हो, तो अमृत अभय ब्रह्म के साथ समानाधिकरणता (अभेदबोधक एकविभक्तिवाच्यता) जीव को नहीं हो सकेगी और यह नहीं समझना चाहिये कि आँख में लक्षित (दृष्ट) छायात्मा कहा जाता है द्रष्टा जीव का द्रष्टा रूप से कथन ही नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर प्रजापति को मृषावादित्व की प्राप्ति होगी । इसी प्रकार द्वितीय पर्याय (क्रम प्रकार) में भी (जो यह स्वप्न में पूज्यमान हो कर विचरता है) इस वाक्य में प्रथम-निर्दिष्ट अक्षिस्थ पुरुषरूप द्रष्टा से अन्य का निर्देश (कथन) नहीं है, क्योंकि (इसी का मैं तेरे लिए फिर व्याख्यान करूँगा) इस प्रकार उसका उपक्रम (आरम्भ) हुआ है । एवं मैंने आज स्वप्न में हाथी देखा था, इस समय उसको नहीं देखता हूँ, इस प्रकार दृष्टवस्तु का ही जागृत हो कर निषेध करता है, और द्रष्टा को तो वह रूप ही समझता है कि जिसे मैंने स्वप्न में देखा था उसे ही मैं जागरित रूप में देखता हूँ । इसी प्रकार तृतीय पर्याय में भी (निश्चय यह खेद है कि सुषुप्ति में न यह अपने को जानता है कि यह मैं हूँ न इन भूतों को जानता है) इस प्रकार विशेष विज्ञान के अभाव को ही दर्शाता है, विज्ञाता का प्रतिषेध नहीं करता है । और जो वहाँ सुषुप्तिविषयक वचन है कि (विनाश को ही प्राप्त होता है) वह भी वचन विशेष विज्ञान के नाश का अभिप्राय वाला ही है, विज्ञाता के नाश का अभिप्राय वाला नहीं है, क्योंकि दूसरी श्रुति है कि (विज्ञाता की विज्ञानिज्ञानस्वरूपता) का नाश नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है । इसी प्रकार चतुर्थ पर्याय में भी (इसी का तेरे लिए मैं फिर व्याख्यान करूँगा, इससे अन्य का नहीं) इस प्रकार आरम्भ करके (हे इन्द्र ! यह शरीर अवश्य मरणशील-विनश्वर है) इत्यादि विस्तारयुक्त शरीरादि उपाधि के प्रत्याख्यानपूर्वक संप्रसाद शब्द से कथित जीव को (अपने स्वरूप से अभिव्यक्त होता है) इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपापन्न (ब्रह्मस्वरूपप्राप्त) दिखाता हुआ अमृत अभयस्वरूप परब्रह्म से जीव अन्य नहीं है, यह प्रजापति दिखलाते हैं ।

केचित्तु परमात्मविवक्षायाम् 'एतं त्वेव ते' इति जीवाकर्षणमन्याय्यं मन्यमाना एतमेव वाक्योपक्रमसूचितमपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति कल्पयन्ति । तेषामेतमिति संनिहितावलम्बिनी सर्वनामश्रुतिर्विप्रकृष्येत । भूयः श्रुतिश्चोपरुध्येत, पर्यायान्तराभिहितस्य पर्यायान्तरेऽभिधीयमानत्वात् । 'एतं त्वेव ते' इति च प्रतिज्ञाय प्राक्चतुर्थात् पर्यायादन्यमन्यं व्याचक्षाणस्य प्रजापतेः प्रतारकत्वं प्रसज्येत । तस्माद्यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृभोक्तृरागद्वेषादिदोषकलुषितमनेकानर्थयोगि तद्विलय-

नेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमैश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपाद्यते, सर्पादिविलयनेनेव रज्ज्वादीन् ।

जीव और परमात्मा को सर्वथा भिन्न मानने वाले कोई आचार्य तो जब परमात्मा की विवक्षा है, उस अवस्था में (एतं त्वेव ते) इसीका मैं तेरे लिए फिर व्याख्यान करूँगा । इन वाक्यों में 'एतं' शब्द से जीव के आकर्षण को अन्याय मानते हुए कल्पना करते हैं कि वाक्य के आरम्भ में सूचित और अपहतपाप्मत्वादि गुण वाला इस आत्मा ही का मैं तेरे लिए फिर व्याख्यान करूँगा। उनके मत में सन्निहित अर्थ को बोध कराने वाली (एतं) यह सर्वनामरूप श्रुति विप्रकृष्ट (दूरान्वित) हो जायगी और भूयः श्रुति भी उपरुद्ध (निरुद्ध बाधित) होगी, क्योंकि पूर्वकथित के फिर कथन में भूयः कहा जाता है। एवं उक्त मत में प्रथम पर्यायान्तर में कथित का आगे के पर्यायान्तर में कथन नहीं हैं, और इसी को 'तेरे लिए फिर व्याख्यान करूँगा' इस प्रकार प्रतिज्ञा करके चतुर्थ पर्याय से प्रथम अन्य-अन्य का व्याख्यान करने वाले प्रजापति को प्रतारकत्व (वञ्चकत्व) की प्राप्ति होगी । उससे अविद्याजन्य, कर्तृत्व भोक्तृत्व रागद्वेषादि दोषों से कलुषित (मलिन) अनेक अनर्थों से युक्त मिथ्याकल्पित जो जीव का रूप है, उसका विलयन (संशोधन-बाध) करके, उससे विपरीत अपहतपाप्मत्वादि गुण वाला परमेश्वर के स्वरूप का विद्या (महावाक्य) से प्रतिपादित किया जाता है, जैसे कल्पित सर्पादि का बाध करके रज्जु आदि का प्रतिपादन ।

अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित् । तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिषेधायेदं शारीरकमारब्धम् । एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति । यत्त्विदं परमेश्वरवाक्ये जीवमाशङ्क्य प्रतिषेधति सूत्रकारः—'नासम्भवात्' (ब्र० १।३।१८) इत्यादिना । तत्रायमभिप्रायः—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम् । तदात्मैकत्वप्रतिपादनपरैर्वाक्यैर्न्यायोपेतैर्द्वैतवादप्रतिषेधैश्चापनेष्यामीति परमात्मनो जीवादन्यत्वं द्रढयति । जीवस्य तु न परस्मादन्यत्वं प्रतिपिपादयिषति किन्त्वनुवदत्येवाविद्याकल्पितं लोकप्रसिद्धं जीवभेदम् । एवं हि स्वाभाविककर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादेन प्रवृत्ता कर्मविधयो न विरुध्यन्त इति मन्यते । प्रतिपाद्यं तु शास्त्रार्थमात्मैकत्वमेव दर्शयति—'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० १।१।३०) इत्यादिना । वर्णितश्चास्माभिर्विद्वदविद्वद्भेदेन कर्मविधिविरोधपरिहारः ॥ १९ ॥

अन्य वादी लोग और कुछ मेरे लोग भी जीव के सांसारिक स्वरूप को सत्य ही मानते हैं, आत्मएकत्व के सम्यग्दर्शन के प्रतिपक्ष (विरोधी) स्वरूप उन सबका प्रतिषेध (खण्डन) के लिए यह शारीरिक आरब्ध हुआ है (रचा गया है) कि कूटस्थ

नित्य विज्ञान स्वरूप एक ही परमेश्वर अविद्यारूप माया से मायावी के समान अनेक प्रकार से प्रतीत होता है, उससे अन्य विज्ञान स्वरूप वस्तु नहीं है और जो यह परमेश्वर के प्रतिपादक वाक्य में जीव की आशंका करके सूत्रकार प्रतिषेध करते हैं कि (नासम्भवाद्) इत्यादि, वहां यह अभिप्राय है कि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाले कूटस्थ नित्य एक परमात्मा में उससे विपरीत जीव का रूप आकाश में तलमलादि के समान कल्पित है। उस कल्पित रूप का न्याययुक्त, आत्मा के एकत्व के प्रतिपादनपरक वाक्यों से और द्वैतवाद के प्रतिषेधों से निवारण करूँगा, इस आशय से जीव से परमात्मा के अन्यत्व को दृढ़ करते हैं, एवं जीव को तो परमात्मा से अन्यत्व का प्रतिपादन करना नहीं चाहते हैं, किन्तु अविद्या से कल्पित लोक में प्रसिद्ध जीव के भेद का अनुवादनमात्र करते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अनुवाद से कर्मविधि विरुद्ध नहीं होते हैं यह मानते हैं और (शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्) इत्यादि से प्रतिपादन-योग्य शास्त्र का अर्थ आत्मएकत्व को ही दिखलाते हैं। तथा विद्वान् अविद्वान् के भेद से कर्म विधि के विरोध का परिहार हमसे भी पहले वर्णित हुआ है ॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

अथ यो दहरवाक्यशेषे जीवपरामर्शो दर्शितः—'अथ य एष सम्प्रसादः' (छां० ८।३।४) इत्यादिः, स दहरे परमेश्वरे व्याख्यायमाने न जीवोपासनोपदेशो न प्रकृतविशेषोपदेश इत्यनर्थकत्वं प्राप्नोतीति। यत आह—अन्यार्थोऽयं जीवपरामर्शो न जीवस्वरूपपर्यवसायी, किं तर्हि ? परमेश्वरस्वरूपपर्यवसायी। कथम् ? सम्प्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा तद्वासनानिर्मितांश्च स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय श्रान्तः शरणं प्रेप्सुरुभयरूपादपि शरीराभिमानात्समुत्थाय सुषुप्तावस्थायां परं ज्योतिराकाशशब्दितं परं ब्रह्मोपसम्पद्य विशेषविज्ञानवत्त्वं परित्यज्य स्वेन रूपेणायमभिनिष्पद्यते। स एष आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुण उपास्य इत्येवमर्थोऽयं जीवपरामर्शः परमेश्वरवादिनोऽप्युपपद्यते ॥ २० ॥

उक्तार्थ के बाद शङ्का होती है कि जो दहर के वाक्यशेष में जीव का परामर्श (जो यह सम्प्रसाद) इत्यादि से दिखलाया गया है वहाँ दहर को परमेश्वर रूप से व्याख्यान करने पर यह जीव का परामर्श न होकर जीव की उपासना का उपदेशरूप हुआ, न कि प्रकृत दहर में विशेष गुणादि का उपदेशरूप हुआ। इससे अनर्थकत्व को प्राप्त होता है। इससे सूत्रकार कहते हैं कि यह जीव का परामर्श जीव के स्वरूपमात्र में पर्यवसान (तात्पर्य) वाला नहीं है, किन्तु अन्यार्थक है (जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश के लिए है)। यह जीव के परामर्श के बिना नहीं हो सकता है, इसलिए जीव का परामर्श है। जीव का स्वरूप पर्यवसायी नहीं है तो क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा है कि परमेश्वरस्वरूप पर्यवसायी है (परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन के तात्पर्य से परामर्श

है) इसी से अनर्थक नहीं है। क्योंकि सम्प्रसाद शब्द से कथित जीव जाग्रत्काल के व्यवहार में देहेन्द्रिय समूह का अध्यक्ष होकर फिर नाडीचर (नाडीचारी) होता हुआ उस जागरणकालिक वासनाओं से निर्मित (रचित) स्वप्नों का अनुभव करके श्रान्त होकर शरण (रक्षक विश्रामस्थान) की प्राप्ति का इच्छुक होकर जाग्रत्स्वप्नकालिक दोनों रूप वाले शरीर के अभिमानों से उत्थित (रहित) होकर सुषुप्ति अवस्था में पर ज्योति और आकाश शब्द से कथित परब्रह्म को प्राप्त करके विशेष ज्ञानवत्त्व को त्यागकर अपने स्वरूप से यह निष्पन्न (सिद्ध व्यक्त) होता है और जिस रूप से निष्पन्न होता है वही यह सर्वात्मा अपहतपाप्मत्वादि गुणवाला उपास्य है, इस प्रकार के इस प्रयोजन के लिए जीव का परामर्श परमेश्वरवादी को भी उत्पन्न सफल सिद्ध होता है ॥ २० ॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

यदप्युक्तम्—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्याकाशस्याल्पत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे नोपपद्यते, जीवस्य त्वाराग्रोपमितस्याल्पत्वमवकल्पत—इति, तस्य परिहारो वक्तव्यः। उक्तो ह्यस्य परिहारः–परमेश्वरस्यापेक्षिकमल्पत्वमवकल्पत–इति, 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' (ब्र० १।२।७) इत्यत्र, स एवेह परिहारोऽनुसन्धातव्य इति सूचयति। श्रुत्यैव चेदमल्पत्वं प्रयुक्तं प्रसिद्धेनाकाशेनोपमिमानया 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति ॥ २१ ॥

और जो यह भी कहा गया था कि (इसमें अल्प आकाश है) इस प्रकार सुना हुआ आकाश का अल्पत्व परमेश्वर में युक्त नहीं सिद्ध होता है और आराग्र से उपमित (आराग्र तुल्य) जीव को अल्पत्वयुक्त सिद्ध होता है, तो उसका परिहार कहना चाहिए। किन्तु इसका परिहार (उत्तर) पहले ही किया गया है कि परमेश्वर आपेक्षिक अल्पत्व युक्त होता है (अर्भकौकस्त्वात्) इस सूत्र में यह परिहार कहा गया है, वही परिहार यहाँ अनुसन्धान (सम्बन्ध-चिन्तन) करने योग्य है, यह सूत्रकार सूचना करते हैं। (जितना यह बाहर आकाश है उतना यह अन्तर हृदय में आकाश है) इस प्रकार प्रसिद्ध आकाश द्वारा उपमा देने वाली श्रुति ने ही इस अल्पत्व का निवारण किया है।

अनुकृत्यधिकरण (६)

न तत्र सूर्यो भातीति तेजोऽन्तरमुतापि चित्।
तेजोऽभिभावकत्वेन तेजोन्तरमिदं महत् ॥
चित्स्थात्सूर्याद्यभास्यत्वात्तादृक्तेजोऽप्रसिद्धितः।
सर्वस्मात्पुरतो भानात्तद्भासा चान्वभासनात् ॥

(तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) इस श्रुति में अनुकरण के श्रवण से सर्वविभासक परब्रह्म है, अन्य नहीं, उस ब्रह्म की ही अनुकृति और अवभास है। (यह सूत्रार्थ है) 'न तत्र सूर्यो भाति', यहाँ संशय होता है कि यह तेजोन्तर निरोधक और सर्वप्रकाश कोई विलक्षण तेजोन्तर है अथवा चेतनात्मा है। पूर्वपक्ष है कि तेज का

अभिभावक होने से कोई महत्—भारी तेज ही है। सिद्धान्त है कि सूर्यादि से अप्रकाशितत्व के श्रवण से तथा सब तेज का अभिभावक सर्वप्रकाशक तेज की अप्रसिद्धि से तथा सबसे प्रथम भान होने से और उसी के प्रकाश से अन्य के प्रकाशित होने से चेतनात्मा ही हो सकता है, अन्य नहीं ॥ १–२ ॥

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' ॥

(मु० २।२।१०) इति समामनन्ति। तत्र यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति स किं तेजो धातुः कश्चिदुत प्राज्ञ आत्मेति विचिकित्सायां तेजो धातुरिति तावत्प्राप्तम्। कुतः ? तेजोधातूनामेव सूर्यादीनां भानप्रतिषेधात्। तेजःस्वभावकं हि चन्द्रतारकादि तेजःस्वभावक एव सूर्ये भासमानेऽहनि न भासत इति प्रसिद्धम्, तथा सह सूर्येण सर्वमिदं चन्द्रतारकादि यस्मिन्न भासते सोऽपि तेजःस्वभाव एव कश्चिदित्यवगम्यते। अनुमानमपि तेजःस्वभावक एवोपपद्यते, समानस्वभावकेष्वनुकारदर्शनात्, गच्छन्तमनुगच्छतीतिवत्। तस्मात्तेजोधातुः कश्चित्।

उस परब्रह्म में सूर्य नहीं भासते हैं अर्थात् उसको नहीं प्रकाशते हैं, इस प्रकार चन्द्र, तारा, विद्युत् जिसको नहीं प्रकाश कर सकते, उसे यह अग्नि कैसे प्रकाश कर सकती है, उसी के प्रकाशित दीप्त होने पर सब प्रकाशित होते हैं, क्योंकि उसीके प्रकाश से यह सब जगत् भासता है। इस प्रकार की श्रुति को पढ़ते हैं, वहाँ जिसके प्रकाशित होने से सब प्रकाशते हैं, तथा जिसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, वह क्या कोई तेजरूप पदार्थ है, अथवा प्राज्ञ सर्वत्र सर्वभासक आत्मा है, ऐसी विचिकित्सा (संशय) होने पर पूर्वपक्ष में कहा जाता है कि तेज रूप पदार्थ ही प्रथम प्राप्त (प्रतीत) होता है, क्योंकि उसके प्रकाश से तेज रूप सूर्यादि के ही प्रकाश का प्रतिषेध होता है और लोक में प्रसिद्ध है कि तेजस्वी स्वभाव वाले सूर्य के दिन में प्रकाशित रहने पर तेजस्वी स्वभाव वाले चन्द्र तारा आदि नहीं प्रकाशते हैं, उसी प्रकार जिसके प्रकाशित रहते सूर्य सहित ये चन्द्र तारा आदि नहीं प्रकाश करते हैं, वह भी तेजःस्वभाव वाला कोई पदार्थ है, इस प्रकार अनुमान से समझा जाता है। अनुमान (एक के बाद दूसरे का भान) भी तेजःस्वभाव वाले में ही सिद्ध हो सकता है, क्योंकि समान स्वभाव वालों में ही अनुकार (अनुकरण) देखा गया है, जैसे कि चलते हुए के पीछे चलता है, ऐसा कहने पर एक गमन स्वभाव वाले के बाद दूसरे के गमन की प्रतीति होती है, वहाँ दोनों गतिवाले रहते हैं, वैसे ही यहाँ तेजःस्वभाव तिससे कोई तेज रूप पदार्थ है ऐसा समझना चाहिए।

इत्येवंप्राप्ते ब्रूमः—प्राज्ञ एवायमात्मा भवितुमर्हति। कस्मात् ? अनुकृतेः। अनुकरणमनुकृतिः। यदेतत् 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यनुमानं, तत्प्राज्ञपरिग्रहेऽवकल्पते। 'भारूपः सत्यसङ्कल्पः' (छां० ३।१४।२) इति हि प्राज्ञमा-

त्मानमामनन्ति, न तु तेजो धातुं कश्चित्सूर्यादयोऽनुभान्तीति प्रसिद्धम्। समत्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षास्ति यं भान्तमनुभायुः। नहि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति। यदप्युक्तं—समानस्वभावकेष्वनुकारो दृश्यत—इति। नायमेकान्तो नियमोऽस्ति, भिन्नस्वभावकेष्वपि ह्यनुकारो दृश्यते, यथा सुतप्तोऽयःपिण्डोऽग्न्यनुकृतिरग्निं दहन्तमनुदहति, भौमं वा रजो वायुं वहन्तमनुवहतीति। अनुकृतेरित्यनुभानमसूसुचत्। तस्य चेति चतुर्थं पादमस्य श्लोकस्य सूचयति। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति तद्धेतुकं भानं सूर्यादेरुच्यमानं प्राज्ञमात्मानं गमयति। 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४।४।१६) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति। तेजोन्तरेण सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धं विरुद्धं च, तेजोन्तरेण तेजोन्तरस्य प्रतिघातात्। अथवा न सूर्यादीनामेव श्लोकपरिपठितानामिदं तद्धेतुकं विभानमुच्यते। किं तर्हि? 'सर्वमिदम्' इत्यविशेषश्रुतेः सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य याभिव्यक्तिः सा ब्रह्मज्योतिःसत्तानिमित्ता। यथा सूर्यादिज्योतिःसत्तानिमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याभिव्यक्तिस्तद्वत्। 'न तत्र सूर्यो भाति' इति च तत्रशब्दमाहरन्प्रकृतग्रहणं दर्शयति। प्रकृतं च ब्रह्म 'तस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' (मु० २।२।५) इत्यादिना। अनन्तरं च—

'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥ इति।'

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्राज्ञ आत्मा ही सब का भासक होने योग्य हैं, क्योंकि अनुकृति (अनुकरण) सुनी जाती है, (उसके भासित रहते पीछे सब भासते हैं) यह जो अनुमान श्रुत है, वह प्रज्ञात्मा के स्वीकार करने पर संगत सिद्ध होता है। (प्रकाशस्वरूप है, सत्यसंकल्प है) इत्यादि श्रुतियाँ प्राज्ञ आत्मा को ही कहती हैं। किसी तैजस पदार्थ के बाद सूर्यादि प्रकाशते हैं, यह लोकवेद में कहीं प्रसिद्ध नहीं है, उससे तैजस पदार्थ सूर्यादि को अन्य तैजस पदार्थ की अपेक्षा नहीं है कि जिसके भासित होने पर पीछे सूर्यादि भासित हों, एक दीप किसी दूसरे दीप को प्रकाशित नहीं करता है। एवं जो यह कहा था कि समान स्वरूप वालों में अनुकरण देखा जाता है, वह भी अनिवार्य नियम नहीं है। भिन्न स्वभाव वालों में भी अनुकरण देखा जाता है, जैसे अत्यन्त तप्त लोहपिण्ड अग्नि का अनुकरण करता है, जलाती हुई अग्नि को जलाता है, भूमि की धूलि चलते हुए वायु के पीछे चलती है, इत्यादि। अनुकृतेः, इससे अनुमान का सूचन सूत्रकार ने किया है। और 'तस्य च' इस सूत्रांश से (न तत्र) इत्यादि रूप इस श्लोक के चतुर्थ पाद को सूचित करते हैं कि (उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशता है) इससे उसे हेतुजन्य कथित सूर्यादि का प्रकाश परमात्मा का बोध कराता है, क्योंकि (उस ब्रह्म

को देव लोग ज्योतियों की ज्योति और आयु अमृत रूप से उपासना करते हैं) इस प्रकार प्राज्ञात्मा का ही कथन करते हैं। अन्य तेज से सूर्यादि प्रकाशित होते हैं, यह अप्रसिद्ध एवं विरुद्ध है, क्योंकि प्रबल दूसरे तेज से अल्पबल तेजोन्तर का प्रतिघात (पराभव) होता है। अथवा श्लोक में परिपठित (पढ़े गए) सूर्यादि का ही यह तन्निमित्तक प्रकाश नहीं कहा जाता है किन्तु (सर्वमिदम्) उसके प्रकाश से यह सब प्रकाशता है, इस प्रकार अविशेष (सामान्य) श्रुति द्वारा नामरूप क्रियाकारक फल सामान्यरूप से इस विद्यमान समस्त जगत् की जो अभिव्यक्ति होती है, यह ब्रह्मज्योति की सत्ता निमित्तक ही होती है, जैसे कि सूर्यादि ज्योति की सत्तानिमित्तक सर्वरूप सामान्य की। एवं 'न तत्र सूर्यो भाति' यहाँ तत्र शब्द का ग्रहण करते हुए गुरु पूर्वप्रकृत (प्रस्तुत) का ग्रहण दिखलाते हैं और 'जिसमें स्वर्ग भूमि अन्तरिक्ष स्थिर है' इत्यादि वचन से ब्रह्म प्रकृत है, तथा 'न तत्र सूर्यो भाति', इसके अव्यवहित पूर्व में भी ब्रह्म का वर्णन है कि 'तेजोमय पर आनन्दमय कोश में निर्दोष निरवयव ब्रह्म है, वह शुद्ध ज्योतियों की ज्योति है, जिसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।'

कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्यत इदमुत्थितम्—'न तत्र सूर्यो भाति' इति। यदप्युक्तं—सूर्यादीनां तेजसां भानप्रतिषेधस्तेजोधातावेवान्यस्मिन्नवकल्पते सूर्य इवेतरेषाम्—इति। तत्र तु स एव तेजोधातुरन्यो न सम्भवतीत्युपपादितम्। ब्रह्मण्यपि चैषां भानप्रतिषेधोऽवकल्पते, यतो यदुपलभ्यते तत्सर्वं ब्रह्मणैव ज्योतिषोपलभ्यते, ब्रह्म तु नान्येन ज्योतिषोपलभ्यते स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्वात्, येन सूर्यादयस्तस्मिन्भायुः। ब्रह्म ह्यन्यद्व्यनक्ति न तु ब्रह्मान्येन व्यज्यते 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४।३।६) 'अगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ४।२।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २२ ॥

वह ज्योतियों की ज्योति किस प्रकार है, ऐसी जिज्ञासा होने पर 'न तत्र' यह वचन जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये उपस्थित होता है कि (उसमें सूर्य नहीं प्रकाशता है) इत्यादि। एवं पहले जो यह कहा है कि जैसे सूर्य के रहते अन्य तैजस पदार्थभास का प्रतिषेध होता है, वैसे ही अन्य तैजस-पदार्थ के ही रहते सूर्यादि रूप तेजों के भान का प्रतिषेध पराभव होना सम्भव है, इसके उत्तर में उपपादन (सिद्ध) किया गया है कि वह प्रज्ञात्मा ही तेजोधातु (प्रकाशमय पदार्थ) है अन्य का सम्भव नहीं है, और ब्रह्म में भी इन सूर्यादिकों के भान (प्रकाश) का प्रतिषेधसंभव सिद्ध हो सकता है, जिससे जो कुछ उपलब्ध (ज्ञात-अनुभूत) होता है, वह सब ब्रह्मज्योति से ही उपलब्ध होता है। स्वयंप्रकाश ज्योतिस्वरूप होने से ब्रह्म अन्य ज्योति से उपलब्ध नहीं होता है कि जिससे सूर्यादि उसमें भासित हों प्रकाश करें। ब्रह्म अन्य को अभिव्यक्त करता है, ब्रह्म अन्य से अभिव्यक्त नहीं होता है, यह अर्थ (यह आत्मा आत्मज्योति से रहता है) अग्राह्य है, अर्थात्—किसी से गृहीत नहीं होता है इत्यादि श्रुतिवचन से सिद्ध होता है ॥ २२ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

अपि चेदृग्रूपत्वं प्राज्ञस्यैवात्मनः स्मर्यते भगवद्गीतासु—'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥' (१५।६) इति, 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥' (१५।१२) इति च ॥ २३ ॥

और अन्य से अप्रकाश्यत्व स्वयंप्रकाशत्व ऐसा रूपवान् प्राज्ञ आत्मा ही को है, ऐसा भगवद्गीता में स्मरण एवं वर्णन किया गया है कि (उसको सूर्य नहीं प्रकाश करते हैं, चन्द्र और अग्नि भी नहीं प्रकाशित करते हैं, जिसे प्राप्त करके जीव संसार में नहीं आते हैं, वही मेरा परमधाम (तेजोमय स्वरूप) है । सूर्यगत जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशता है, और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्नि में है, उन्हें मेरा तेज जानो, आत्मचैतन्यरूप सब तेजों को समझो ॥ २३ ॥

प्रमिताधिकरण (७)

अङ्गुष्ठमात्रो जीवः स्यादीशो वाऽल्पप्रमाणतः ।
देहमध्ये स्थितेश्चैव जीवो भवितुमर्हति ॥
भूतभव्येशता जीवे नास्त्यतोऽसाविहेश्वरः ।
स्थितिप्रमाणे ईशेऽपि स्तो हृद्यस्योपलब्धितः ॥

अङ्गुष्ठमात्र प्रमाणयुक्त सुना गया प्राज्ञात्मा है, वह ईशानादि श्रुतिगत शब्द से प्रमित (ज्ञात) होता है वहाँ अङ्गुष्ठमात्रता और ईशानता दोनों के श्रवण से संशय होता है, कि यह अङ्गुष्ठमात्र जीव है अथवा ईश्वर है । यहाँ पूर्वपक्ष है कि अल्प प्रमाणता से और देह के मध्य में स्थिति से यह जीव ही होने योग्य है । सिद्धान्त है कि ईश्वरता जीव में नहीं है, और यहाँ ईश्वरता सुनी जाती है, इससे यह ईश्वर है और हृदय में उपलब्धि से शरीर के अन्दर स्थिति और प्रमाण ईश्वर में भी हैं ॥ २ ॥

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते । तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' (का० २।४।१३) इति च । तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते स किं विज्ञानात्मा किंवा परमात्मेति संशयः । तत्र परिमाणोपदेशात्तावद्विज्ञानात्मेति प्राप्तम् । नह्यनन्तायामविस्तारस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणमुपपद्यते । विज्ञानात्मनस्तूपाधिमत्त्वात्सम्भवति कयाचित्कल्पनयाङ्गुष्ठमात्रत्वम् । स्मृतेश्च—'अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं गतम् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥' (म० भा० ३।२९७।१७) इति । नहि परमेश्वरो बलाद्यमेन निष्क्रष्टुं शक्यस्तेन तत्र संसार्यङ्गुष्ठमात्रो निश्चितः स एवेहापीति ।

'अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाला पुरुष मध्यआत्मा (शरीर मध्यहृदय) मे रहता है' यह सुना जाता है । इसी प्रकार सुना जाता है कि (धूमरहित निर्मल प्रकाशरूप

ज्योति के समान अङ्गुष्ठपरिमाण पुरुष है वह भूतभावी का स्वामी नियन्ता है, वही आज प्राणियों में वर्तमान है, और वही आगे रहेगा, और नचिकेता ने जिसे पूछा था वह ब्रह्म यही है)। यहाँ जो अङ्गुष्ठमात्र पुरुष सुना जाता है वह विज्ञानात्मा जीव है, अथवा परमात्मा है ? यह संशय होता है, यहाँ परिमाण के उपदेश से पहले जीवात्मा प्राप्त होता है, क्योंकि अनन्तदीर्घता और अनन्तविस्तार महत्त्वयुक्त परमात्मा को अङ्गुष्ठ-परिमाण सिद्ध नहीं हो सकता है, और विज्ञानात्मा को तो उपाधि वाला होने से किसी कल्पना द्वारा अङ्गुष्ठमात्रत्व का सम्भव है। स्मृति से भी जीव में ही अङ्गुष्ठमात्रत्व की सिद्धि होती है, महाभारत में लिखा है कि (मरण के बाद यमपाश से बद्ध कर्म के वशगत अङ्गुष्ठमात्र पुरुष को सत्यवान् के शरीर से यम ने बल से खींचा) परमेश्वर यम से बलपूर्वक खींचने के योग्य नहीं है, अतः इस स्मृति में संसारी अङ्गुष्ठमात्र निश्चित है, यही यहाँ श्रुति में भी है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति। कस्मात्, शब्दात्—'ईशानो भूतभव्यस्य' इति। नह्यन्यः परमेश्वराद्भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता। 'एतद्वै तत्' इति च प्रकृतं पृष्टमिहानुसन्दधाति। एतद्वै तद्यत्पृष्टं ब्रह्मेत्यर्थः। पृष्टं चेह ब्रह्म—'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।' (का० १।२।१४) इति। शब्दादेवेत्यभिधानश्रुतेरेवेशान इति परमेश्वरोऽयं गम्यत इत्यर्थः॥ २४॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि परमात्मा ही यह अङ्गुष्ठमात्र परिमित पुरुष होने योग्य है, क्योंकि (भूत भव्य का ईशान है) इस शब्द से परमात्मा ही सिद्ध होता है। परमेश्वर से अन्य भूतभावी का निरङ्कुश (स्वतन्त्र) नियन्ता नहीं है। (एतद्वै तत्) यह वही है, इस कथन से प्रकृत में पूछी गई वस्तु का यहाँ अनुसंधान (संबन्ध) करते हैं। एवं यहाँ पूछी गई वस्तु ब्रह्म ही है कि (धर्म अधर्म से अन्य, इस कार्य-कारण से अन्य भूत-भावी-वर्तमान से अन्य जिसको देखते हो उसे कहो) इससे 'ईशान' इस शब्द-रूप अभिधान (ईश्वर का नाम) सुनने से ही यह अङ्गुष्ठमात्र परमात्मा है, ऐसी प्रतीति होती है यह सूत्र का अर्थ है ॥ २४ ॥

कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इत्यत्र ब्रूमः—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

सर्वगतस्यापि परमात्मनो हृदयेऽवस्थानमपेक्ष्याङ्गुष्ठमात्रत्वमिदमुच्यते। आकाशस्येव वंशपर्वापेक्षमरत्निमात्रत्वम्। नह्यञ्जसातिमात्रस्यैव परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते न चान्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हतीशानशब्दादिभ्य इत्युक्तम्।

फिर सर्वगत परमेश्वर के परिमाण का उपदेश कैसे किया गया है, ऐसी शङ्का होने पर यहाँ उत्तर कहते हैं कि—सर्वगत परमात्मा को भी हृदय में स्थिति की दृष्टि से यह अङ्गुष्ठमात्रता कही जाती है, जैसे कि आकाश को बांस के पर्व (पोर) की

दृष्टि से हाथ भर कहा जाता है, अतिमात्र (विभु) परमात्मा को हृदयादि की अपेक्षा के बिना अञ्जसा (तत्त्वतः सत्य) अङ्गुष्ठमात्र नहीं कहा जा सकता है, न अङ्गुष्ठ-मात्रत्व सिद्ध हो सकता है, और ईशानशब्दादि से परमात्मा से अन्य वस्तुतः हृदयवर्ती भी जीव यहाँ ग्रहण के योग्य नहीं है।

ननु प्रतिप्राणिभेदं हृदयानामनवस्थितत्वात्तदपेक्षमप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं नोपपद्यत इत्यत उत्तरमुच्यते—मनुष्याधिकारत्वादिति। शास्त्रं ह्यविशेषप्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाधिकरोति, शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वादुपनयनादिशास्त्राच्चेति वर्णितमेतदधिकारलक्षणे (जै० ६।१)। मनुष्याणां च नियतपरिमाणः कायः, औचित्येन नियतपरिमाणमेव चैषामङ्गुष्ठमात्रं हृदयम्। अतो मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः। यदप्युक्तं—परिमाणोपदेशात्स्मृतेश्च संसार्येवायमङ्गुष्ठमात्रः प्रत्येतव्य—इति, तत्प्रत्युच्यते—'स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादिवत्संसारिण एव सतोऽङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मत्वमिदमुपदिश्यत इति। द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः, क्वचित्परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा क्वचिद्विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा। तदत्र विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वमुपदिश्यते नाङ्गुष्ठमात्रत्वं कस्यचित्। एतमेवार्थं परेण स्फुटीकरिष्यति—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रबृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतम्॥' (का० २।६।१७) इति।

यहाँ शंका होती है कि भिन्न भिन्न तत्तत् प्राणियों के भी हृदयों के अनवस्थित (अनेक) स्वरूप वाले होने से उस हृदय की अपेक्षा से भी सर्वहृदयनिवासी परमात्मा को अङ्गुष्ठमात्रत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। अतः उत्तर है कि शास्त्र में मनुष्य के अधिकार से दोष नहीं है। यद्यपि शास्त्र सामान्य रूप से प्रवृत्त होता है, तथापि मनुष्यों को ही कर्म-भक्ति-ज्ञानादि का अधिकार देता है, मनुष्यों में भी जो शक्त (सामर्थ्ययुक्त) हैं, कर्मादि के फलार्थी हैं, अपर्युदस्त (अनिषिद्ध) हैं, उनको शक्तत्वादि से शास्त्र अधिकारी बनाता है। इस प्रकार उपनयनादि शास्त्र से उपनयनादि युक्त को ही त्रैवर्णिक कर्मादि में शास्त्रबोधित अधिकार है, यह पूर्व मीमांसा के अधिकाराध्याय में वर्णित है। और मनुष्यों के नियत परिमाण वाला शरीर होता है, और उस शरीर की योग्यता से युक्त नियत परिमाण वाला ही इनका अङ्गुष्ठमात्र हृदय होता है। इससे शास्त्र का अधिकार मनुष्यों को होने से मनुष्य के हृदय में स्थिति की अपेक्षा से परमात्मा को अङ्गुष्ठमात्रत्व युक्त है। जो यह कहा गया था कि परिमाण के उपदेश से और स्मृति से संसारी ही अङ्गुष्ठ मात्र है, ऐसा जानना चाहिये, उसके प्रति समाधान है कि (वह सत्यादि स्वरूप आत्मा है, और आत्मा तुम हो) इत्यादि के समान अङ्गुष्ठमात्र को संसारी होते भी वह ब्रह्मत्व का उपदेश दिया जाता है, क्योंकि दो रूपवाले वेदान्त वाक्यों की प्रवृत्ति है, कहीं (अस्थूलम्)

इत्यादि स्थान में परमात्मास्वरूप के निरूपणपरक प्रवृत्ति है, और कहीं विज्ञानात्मा के परमात्मा के साथ एकत्व (अभेद) की उपदेशपरक प्रवृत्ति है। यहाँ वही विज्ञानात्मा के परमात्मा के साथ एकत्व का उपदेश दिया जाता है, किसी के अंगुष्ठ-मात्रत्व का उपदेश नहीं दिया जाता है। इसी अर्थ को आगे के ग्रन्थ से गुरु स्फुट व्यक्त करेंगे कि अंगुष्ठमात्र अन्तरात्मारूप पुरुष जनों के हृदय में सदा सम्यक् निविष्ट (प्रविष्ट) है। उसको अपने शरीर से धैर्य द्वारा मूज से ईषीका समान विविक्त पृथक् करे, और उसको शुद्ध अमृतस्वरूप समझे ॥ २५ ॥

देवताधिकरण (८)

नाधिक्रियन्ते विद्यायां देवाः किंवाधिकारिणः।
विदेहत्वेन सामर्थ्यहानेर्नैषामधिक्रिया ॥
अविरुद्धार्थवादादिमन्त्रादेर्देहसत्त्वतः ।
अर्थित्वादेश्च सौलभ्याद् देवाद्या अधिकारिणः ॥

समन्वयाध्याय में प्रसंग से मनुष्याधिकार के चिन्तन होने पर प्रसंग से ही देवाधिकार का चिन्तन है कि मनुष्यों से ऊपर स्थित जो देव हैं, उनका भी ज्ञान में अधिकार है, क्योंकि उनमें सामर्थ्यादि का सम्भव है। यहाँ ज्ञान से पुस्तक के अध्ययन-जन्य ज्ञान का ग्रहण नहीं है किन्तु अधिकार की प्राप्ति के बाद गुरुशरण में प्राप्त हो कर जो नचिकेता सत्यकाम श्वेतकेतु नारदादि के समान पुस्तक द्वारा या बिना पुस्तक के गुरु से ज्ञान की प्राप्ति की जाती है, उस ज्ञान का ग्रहण है। यहाँ संशय होता है कि आत्मविद्या में देव अधिकारी नहीं होते हैं, अथवा अधिकारी होते हैं। पूर्वपक्ष है कि विदेह होने से देव में सामर्थ्य का अभाव है अतः इनका अधिकार नहीं है। सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध अर्थवाद और मन्त्र-पुराण इतिहासादि से देव को देहवत्त्व सिद्ध होने से तथा देही होने पर अर्थित्वादि के भी सुलभ होने से देवादि भी अधिकारी हैं।

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षा मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तं, तत्प्रसङ्गेनेदमुच्यते। बाढं मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्, न तु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञानेन नियमोऽस्ति, तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद्ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति बादरायण आचार्यो मन्यते। कस्मात् ? सम्भवात्। सम्भवति हि तेषामप्यर्थित्वाद्यधिकारकारणम्। तत्रार्थित्वं तावन्मोक्षविषयं देवादीनामपि सम्भवति विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालोचनादिनिमित्तम्। तथा सामर्थ्यमपि तेषां सम्भवति, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात्। न च तेषां कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति। नचोपनयनादिशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत, उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात्, तेषां च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात्। अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति—'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ

ब्रह्मचर्यमुवास' (छां० ८।११।३), 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्म' (तै० ३।१) इत्यादि । यद्यपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्— 'न देवानां देवतान्तराभावात्' इति, 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' (जै० ६। १।६।७)—इति, न तद्विद्यास्वस्ति, न च भृग्वादीनां भृग्वादिसगोत्रतया । तस्माद्- देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते । देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्यते ॥ २६ ॥

पहले कहा गया है कि शास्त्र का अधिकार मनुष्य को है, इससे अंगुष्ठमात्रश्रुति मनुष्य के हृदय की अपेक्षा से है, उस अधिकार के प्रसंग से यह कहा जाता है कि शास्त्र मनुष्य को अधिकृत करता है, यह बात सत्य है। परन्तु मनुष्यमात्र को इस ब्रह्मज्ञान में अधिकृत करता है, यह नियम यहाँ नहीं है। इससे उन मनुष्यों के ऊपर जो देवादि हैं, उनको भी शास्त्र अधिकृत करता है, इस प्रकार बादरायण आचार्य मानते हैं। क्यों ऐसा मानते हैं, तो उसका उत्तर है कि ऐसा सम्भव है। क्योंकि उन देवों को भी अधिकार के कारण अर्थित्वादि का सम्भव है। प्रथम मोक्षविषयक अर्थित्व (इच्छा) विकार रूप विषय विभूति के अनित्यत्व से आलोचन (दर्शन) निमित्तक देवादि को भी जैसे सम्भव है वैसे ही यन्त्र अर्थवाद इतिहास पुराण और लोक द्वारा शरीरित्व के ज्ञान होने से उन्हें सामर्थ्य का भी सम्भव है। उनके अधिकरण का प्रतिषेध रूप कोई शब्द नहीं है, उपनयनादि शास्त्र से उनका अधिकार निवृत्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उपनयन वेद के अध्ययन के लिए होता है। देवादि को जन्मान्तर के संस्कारादि से वेद स्वयं प्रतिभान (स्मृत-प्रतिभागत) रहते हैं। दूसरी बात यह है कि विद्या के ग्रहण (प्राप्ति) के लिए इनके ब्रह्मचर्यादि को श्रुति दिखलाती है कि (इन्द्र ने एक सौ एक वर्ष प्रजापति के पास में ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। वरुण का पुत्र भृगु पिता के पास में गया और उनसे कहा कि भगवन् मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करो।) और जो कर्म में देवादि के अनधिकार का कारण कहा गया है कि (देवों को देवोद्देश्यक) कर्म में अधिकार नहीं है, क्योंकि उद्देश्य देवान्तर का अभाव है। इसी प्रकार ऋषि को भी आर्षेय (ऋषि उद्देश्यक) कर्म में अधिकार नहीं है क्योंकि आर्षेयान्तर (उद्देश्यान्तरमन्त्रादि) का अभाव है, अर्थात् वसु आदि देव के लिए ध्येय दूसरे वसु आदि वैसे नहीं है, वैसे ही मन्त्रतादि के ऋषि ध्येय भृगु आदि दूसरे नहीं हैं, इससे देव और ऋषि का समन्त्रादि वैदिक कर्म में अधिकार नहीं है। वह अनधिकार कर्म कारण विद्या (ब्रह्मात्मज्ञान) में नहीं है, क्योंकि विद्याओं में अधिक्रियमाण (प्रवृत्त) इन्द्रादि को इन्द्रादि का उद्देश्य (लक्ष्य) करके कुछ भी कर्तव्य नहीं है, न भृगु आदि को भृगुसगोत्रता से कुछ कर्त्तव्य है, अतः देवादि का विद्याविषयक अधिकार किससे निवारित हो सकता है? अर्थात् विद्या के अधिकार का

कोई नहीं निवारण कर सकता है। देवादि का अधिकार होने पर भी अपने अंगूठे की अपेक्षा से अंगुष्ठमात्रश्रुतिविरुद्ध नहीं होती है।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्येत विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत, तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्, नहीन्द्रादीनां स्वरूपसन्निधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते, नच सम्भवति, बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसंनिधानतानुपपत्तेरिति चेत्? नायमस्ति विरोधः। कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः। कस्यापि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः सम्भवति। कथमेतदवगम्यते? दर्शनात्। तथाहि—'कति देवाः' इत्युपक्रम्य 'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' इति निरुच्य 'कतमे ते' इत्यस्यां पृच्छायाम् 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव। देवाः' (बृ० ३।९।१।२) इति निर्ब्रुवती श्रुतिरेकैकस्य देवतात्मनो युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडाद्यन्तर्भावक्रमेण 'कतम एको देव, इति 'प्राणः' इति, प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन्ती तस्यैवैकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति।

तथा स्मृतिरपि—'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ। योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥ प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥' इत्येवंजातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति। किमु वक्तव्यमाजन्मसिद्धानां देवानाम्। अनेकरूपप्रतिपत्तिसम्भवाच्चैकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभावं गच्छति, परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिक्रियायोगादित्युपपद्यते।

पूर्वोक्त सापेक्ष अंगुष्ठमात्रत्वादि हो सकता है, परन्तु यदि विग्रहवत्त्व (शरीरित्व) का स्वीकार करके देवादि का विद्या में अधिकार का वर्णन किया जायगा, तो इन्द्रादि को भी ऋत्विगादि के समान शरीरी होने से ऋत्विगादि के समान ही शरीर द्वारा सन्निधान (सामीप्य) पूर्वक इन्द्रादि के कर्माङ्गभाव (कर्माङ्गत्व) अभ्युपगत स्वीकृत होगा। तब कर्म में विरोध होगा। क्योंकि यदि स्वरूप (शरीर) से देव का कर्म सन्निधान हो तो दीखना चाहिए, और इन्द्रादि का स्वरूप सन्निधानपूर्वक याग में अङ्गत्व दीखता नहीं है। और ऐसा अङ्गभाव का सम्भव भी नहीं है, क्योंकि बहुत यागों में एक काल में एक इन्द्र की स्वरूप से सन्निधानता की अनुपपत्ति (अयुक्तता-असिद्धि) है। इस प्रकार यदि कोई विरोध की शंका करे, तो कहा जाता है कि यह विरोध नहीं है, क्योंकि एक देव को भी अनेकरूपता अदृश्यता आदि की प्राप्ति होती है। एक देवतात्मा को भी एक काल में अनेक स्वरूप की प्राप्ति सम्भव है। यदि कहो कि यह कैसे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि शास्त्र को देखने से यह समझा जाता है।

ऐसा ही शास्त्र है कि (शाकल्य ने याज्ञवल्क्य जी से पूछा कि यज्ञविशेष में स्तुत्यर्ह देव कितने हैं ? इस प्रकार आरम्भ करके फिर याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि (तीन सौ तीन और तीन हजार तीन देव हैं) अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः देव हैं, इस प्रकार संख्या का निर्वचन (कथन) करके, फिर संख्येय देव विषयक पृच्छा (प्रश्न) उपस्थित हुई कि वे देव कौन हैं। इस प्रश्न के बाद याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि ये तीन हजार आदि इन देवों के महिमा (विभूति) हैं, वस्तुतः आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ये तैंतीस देव हैं, इस प्रकार देव का निर्वचन (कथन) करती हुई श्रुति एक-एक देवतात्मा की एक काल में अनेकरूपता दिखलाती है, इस प्रकार तैंतीस देव का भी छः देवादि में अन्तर्भाव के क्रम से एक में अन्तर्भाव कहने पर प्रश्न उपस्थित हुआ कि वह एक देव कौन है, उत्तर है कि समष्टिप्राणरूपहिरण्यगर्भ एक देव है, अर्थात् वसु आदि तैंतीस का अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और दिव में अन्तर्भाव है, इनका तीन लोक में अन्तर्भाव है, लोकों का हिरण्यगर्भ में अन्तर्भाव है। इस प्रकार देवों की एकप्राण रूपता दिखलाती हुई श्रुति उस एक प्राण की ही एक काल में अनेक-रूपता दिखलाती है। इसी प्रकार की स्मृति भी है कि (हे भरतश्रेष्ठ ! योगी योग की अणिमादि सिद्धि रूप बल को प्राप्त करके अपने बहुत शरीरों को बना लेता है, और उन सबसे भूमि पर विचरता है कि कितने शरीरों से विषयों को प्राप्त करता है, कितने से उग्र (उत्कट) तप करता है और फिर उनको संक्षिप्त करता (समेटता) है, जैसे सूर्य किरण समूहों को समेटते हैं।) इस प्रकार की स्मृति अणिमादि ऐश्वर्यों को प्राप्त किये योगियों का भी एक काल में अनेक शरीर से सम्बन्ध दिखलाती हैं, तो फिर जन्म-सिद्ध देवताओं के विषय में कहना ही क्या है। और अनेक रूप की प्राप्ति के सम्भव होने से एक एक देव बहुत रूप से अपने आत्मा को प्रविभक्त करके बहुत यागों में एक काल में अङ्गभाव (अङ्गत्व) को प्राप्त होते हैं अन्तर्धानादि क्रिया के सम्बन्ध से अन्य से देखे नहीं जाते हैं, ऐसा सिद्ध होता है, और देव को भी विद्या में अधिकार इससे युक्त है।

अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यस्यापरा व्याख्या—विग्रहवतामपि कर्माङ्गभावचोदनास्वनेका प्रतिपत्तिर्दृश्यते क्वचिदेकोपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं न गच्छति, यथा बहुभिर्भोजयद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद्भोज्यते। क्वचिच्चैकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको ब्राह्मणो युगपन्नमस्क्रियते। तद्वदिहोद्देशपरित्यागात्मकत्वाद्यागस्य विग्रहवतीमप्येकां देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं युगपत्परित्यक्ष्यन्तीति विग्रहवत्त्वेऽपि देवानां न किञ्चित्कर्मणि विरुध्यते ॥ २७ ॥

'अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' इस सूत्रांश की दूसरी व्याख्या है कि शरीरियों के भी कर्म के अङ्गत्व की विधि में अनेक प्रतिपत्ति (प्राप्ति रीति) देखी जाती है कि कहीं तो

एक भी शरीरी एक काल में अनेक व्यवहार में अङ्गत्व को नहीं प्राप्त होता है। जैसे कि बहुत भोजन कराने वालों से एक ब्राह्मण एक काल में भोजन नहीं कराया जाता है और कहीं एक भी शरीरी अनेक व्यवहार में एक काल में ही अङ्गता प्राप्त करता है, जैसे कि बहुत नमस्कार करने वालों से एक ब्राह्मण एक काल में नमस्कृत होता है। इस नमस्कार के अङ्गत्व के समान एक एक देव को अनेकानेक याग में अङ्गत्व होगा, क्योंकि देव को उद्देश (ध्यान) करके द्रव्य का परित्यागात्मक यज्ञ के होने से विग्रह वाली एक देव को भी उद्देश्य (ध्यान का लक्ष्य) करके बहुत लोग एक काल में अपने-अपने द्रव्यों का परित्याग करेंगे, इस प्रकार देवों के शरीरत्व होने पर भी कर्म में कोई विरोध नहीं है ॥ २७ ॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥

शब्दे-इति-चेत्-न-अतः-प्रभवात्—प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। इस सूत्र में सात पद हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (कर्मणि विरोधाभावेऽपि शब्दे विरोधः स्यादिति चेन्न-अतः-शब्दादेव प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रभवात् विरोधासिद्धेः) कर्म में विरोध के नहीं होते भी शरीरी देव पक्ष में शब्द के नित्यत्व में विरोध होगा, यह नहीं कहना, श्रुति स्मृति से नित्य शब्द-जन्यत्व देवादि के सिद्ध होने से विरोध की असिद्धि होती है।

मा नाम विग्रहवत्त्वे देवानामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोधः प्रसञ्जि, शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत। कथम्? औत्पत्तिकं हि शब्दस्यार्थेन सम्बन्धमाश्रित्य 'अनपेक्षत्वात्' इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम्। इदानीं तु विग्रहवती देवताभ्युपगम्यमाना यद्यप्यैश्वर्ययोगाद्युगपदनेककर्मसम्बन्धीनि हवींषि भुञ्जीत तथापि विग्रहयोगादस्मदादिवज्जननमरणवती सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्ये सम्बन्धे प्रतीयमाने यद्वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्यादिति चेत्। नायमप्यस्ति विरोधः। कस्मात्? अतः प्रभवात। अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकं जगत्प्रभवति।

देवादि को शरीरी मानने पर कर्म में कोई विरोध भले ही नहीं प्राप्त हो, परन्तु शब्द में विरोध की प्राप्ति होगी, क्योंकि शब्दों का अर्थों के साथ औत्पत्तिक (स्वाभाविक नित्य) संबंध को मानकर (अनपेक्षत्वात्) इस अनपेक्षत्व हेतु से वेद की प्रमाणता को स्थिर किया है। अब इस समय देव को शरीरी मानने पर तो यद्यपि विग्रह वाली मानी गयी देवता ऐश्वर्य के सम्बन्ध से एक काल में अनेक कर्म सम्बन्धी हविषों को भोग सकती है, तथापि देह के सम्बन्ध से हम सबके समान वह देवता भी जन्म मरण वाली होगी, इस कारण से जो नित्य शब्द को नित्य अर्थ के साथ नित्य संबंध के प्रतीत होने से वैदिक शब्दों में प्रामाण्य स्थिर रहा, उसका विरोध होगा, ऐसा यदि कोई कहे तो कहा जाता है कि यह भी विरोध नहीं है, क्योंकि इस शब्द से ही प्रभव (उत्पत्ति) होती है इस वैदिक शब्द से देवादि सब जगत् उत्पन्न होता है, और कारण

होने से शब्द सदा रहता है, इससे शब्द में अनित्यत्व रूप विरोध नहीं है, और जो जिससे उत्पन्न होता है उसका उसके साथ वाच्य–वाचकादि भाव सदा रहता है, इससे सम्बन्ध में भी अनित्यत्व विरोध नहीं है।

ननु 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२) इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितं, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते। अपि च यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः, कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृतः, यावता वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येतेऽर्था अनित्या एवोत्पत्तिमत्त्वात्, तदनित्यत्वे च तद्वाचिनां वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते। प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यज्ञदत्त इति तस्य नाम क्रियत इति। तस्माद्विरोध एव शब्दे चेत्। न। गवादिशब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वदर्शनात्। नहि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते नाकृतयः। आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः। व्यक्तीनामानन्त्यात्सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः। व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते। तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम्। आकृतिविशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्यः। स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत्। ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधिरोहति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति। न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणाभिप्रायेणोच्यते। कथं तर्हि? स्थिते वाचकात्मना नित्ये शब्दे नित्यार्थसम्बन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्पत्तिवतः प्रभव इत्युच्यते। कथं पुनरवगम्यते शब्दात्प्रभवति जगदिति? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः। 'एते इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति श्रुतिः। तथान्यत्रापि 'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (बृ० १।२।४) इत्यादिना तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते।

यहाँ शंका होती है कि 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र में जगत् का ब्रह्म-प्रभवत्व (ब्रह्मजन्यत्व) निश्चित किया है, फिर यहाँ शब्द-प्रभवत्व कैसे कहा जाता है? और दूसरी बात है कि यदि प्रसिद्ध वैदिक शब्द से इस देवादि का प्रभव (उत्पत्ति) मान भी लिया गया, तो इतने मानने से शब्द में विरोध कैसे परिहृत (निवारित) हुआ? क्योंकि जब वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत् ये सब अर्थ उत्पत्ति वाले होने से अनित्य ही हैं, तो उनके अनित्य होने पर उनके वाचक वैदिक वसु आदि शब्दों के अनित्यत्व को किससे निवारण किया जा सकता है। लोक में प्रसिद्ध है कि देवदत्त के

पुत्र के उत्पन्न होने पर उसका यज्ञदत्त यह नाम किया जाता है, उससे शब्द में विरोध ही है। ऐसी यदि शंका हो तो कहा जाता है कि विरोध नहीं है, क्योंकि गो आदि शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध का नित्यत्व देखा जाता है, क्योंकि गवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति होने पर भी जाति और जाति का व्यञ्जक उनकी आकृति (आकार) की उत्पत्ति नहीं है, क्योंकि व्यक्ति भिन्न-भिन्न रहती है, और जाति, आकृति तो भूत, भावी वर्तमान सबमें एक रहती है। इससे द्रव्य गुण और कर्म की व्यक्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं, और शब्दों का जाति, आकृतियों के साथ सम्बन्ध है, व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि व्यक्तियाँ अनन्त हैं, उनके साथ शब्दों के सम्बन्ध का ग्रहण हो नहीं सकता है। व्यक्तियों के उत्पन्न होने पर भी जाति, आकृति की नित्यता से गो आदि शब्दों में कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार देवादि की व्यक्तियों की उत्पत्ति मानने पर भी जाति, रूप, आकृति के नित्य होने पर वसु आदि शब्दों में कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। मन्त्र अर्थवादादि से देवादि के शरीरित्व का निश्चय ज्ञान होने से उनका आकृति-विशेष भी जानने योग्य (मन्तव्य) है। आकार-विशेष भी मन्त्रादि से ही ज्ञेय है। सेनापति आदि शब्द के समान स्थान-विशेष के साथ सम्बन्ध-निमित्तक भी इन्द्रादि शब्द हो सकते हैं, उससे जो-जो उन-उन स्थानों में आरूढ प्राप्त स्थिर होता है वह-वह इन्द्रादि शब्दों से कहा जाता है; इससे विरोध दोष नहीं होता है। जो यह शब्दजन्यत्व है ऐसा कहते हैं, वह ब्रह्मजन्यत्व के समान उपादान कारण के अभिप्राय से नहीं। वह कैसे कहते हैं कि वाचक रूप से नित्यार्थ-सम्बन्धी नित्य शब्द के स्थिर रहते शब्द से व्यवहार के योग्य अर्थ की उत्पत्ति होती है, अतः प्रभव, शब्द से उत्पन्न हो जाता है यह कहा है। फिर भी शब्द से जगत् होता है, यह कैसे जाना जा सकता है? यदि ऐसी जिज्ञासा हो तो कहा जाता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जाना जाता है, वहाँ अपनी प्रमाणता के प्रति अन्य की अपेक्षा रहित होने से श्रुति को प्रत्यक्ष कहते हैं, और प्रमाणता में श्रुतिसापेक्ष होने से स्मृति को अनुमान कहते हैं, वे श्रुति-स्मृति दोनों शब्दपूर्वक सृष्टि दिखलाती है कि देव का स्मारक एते शब्द से देव का स्मरण करके प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की। इसी प्रकार असृक्-रुधिरमय देह में रमने वाले असृग्र-मनुष्य की सृष्टि असृग्र से स्मरण पूर्वक हुई। इन्दुपूर्वक पितरों की, 'तिरःपवित्रम्' से ग्रहों (यज्ञ-पात्रों) की स्मृति पूर्वक यज्ञपात्रों की, 'आशवः' से स्मरणपूर्वक स्तोत्रों की, 'विश्वानि' से स्मरणपूर्वक शस्त्रों की और 'अभिसौभग' इससे अन्य प्रजाओं का स्मरणपूर्वक अन्य की सृष्टि की गई, इस प्रकार श्रुति कहती है। वैसे ही अन्यत्र भी श्रुति है कि (उस प्रजापति ने मन से वाक् को मिथुन किया) अर्थात् वेद से प्रकाशित सृष्टि का मन से आलोचन विचार किया) इत्यादि वचनों से तत्तत्स्थानों में शब्दपूर्वक सृष्टि श्रुतियों में सुनी जाती है।

स्मृतिरपि—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ इति।

उत्सर्गोऽप्ययं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्य;, अनादिनिधनाया अन्यादृशस्योत्सर्गस्यासम्भवात्। तथा—

नामरूपे च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥ (मनु० २।१२१)
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ इति च।

अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते। तथा च श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरन् स भूमिमसृजत' (तै० ब्रा० २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति।

और स्मृति भी है कि (सृष्टि के आदि काल में स्वयंभू ब्रह्मा) ने वेदमयी दिव्य आदि-अन्तरहित नित्य वाक् का उत्सर्ग (सृष्टि) किया। जिससे कि सब प्रवृत्ति सिद्ध हुई। यह वाक् का उत्सर्ग (सृष्टि) भी संप्रदाय (गुरु-शिष्यपरंपरा) का प्रवर्तन रूप समझना चाहिये। क्योंकि आदि-अन्त रहित वाक् के अन्य प्रकार के उत्सर्ग का असम्भव है। इसी प्रकार (उस महेश्वर ने वेद के शब्दों से ही आदि काल में भूतों के नाम-रूप का कर्मों की प्रवृत्ति का निर्माण (सृष्टि) किया)। उस परमात्मा ने सबके पृथक्-पृथक् नामों का पृथक्-पृथक् कर्मों का पृथक्-पृथक संस्था (अवस्था) का वेद शब्द से ही आदि काल में निर्माण (रचना) किया। जैसे हम सबको यह प्रत्यक्ष है कि जिस काम या वस्तु के करने की इच्छा होती है, उसको करने या बनाने वाला पुरुष उसके वाचक शब्द का प्रथम स्मरण करके उस काम को करता है या वस्तु को बनाता है, वैसे स्रष्टा (सृष्टिकर्ता) प्रजापति को भी सृष्टि से प्रथम वैदिक शब्द मन में प्रादुर्भूत (प्रकट) हुए। उसके बाद उन शब्दों में अनुगत (वाच्य रूप से प्राप्त) तथा उनके बाद उनसे स्मृत अर्थों की सृष्टि प्रजापति ने की। श्रुति से ऐसा समझा जाता है। इसी प्रकार वह भूः ऐसा कहा और भूमि को रचा इत्यादि अर्थ को कहने वाली श्रुतियाँ भी मन में प्रादुर्भूत भूरादि शब्दों से ही जन्य भूरादि लोकों को दिखलाती हैं।

किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते ? स्फोटमित्याह। वर्णपक्षे हि तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वान्नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव

इत्यनुपपन्नं स्यात्। उत्पन्नध्वंसिनश्च वर्णाः प्रत्युच्चारणमन्यथा चान्यथा च प्रतीयमानत्वात्। तथाहि-अदृश्यमानोऽपि पुरुषविशेषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते–देवदत्तोऽयमधीते–इति। न चायं वर्णविषयोऽन्यथात्वप्रत्ययो मिथ्याज्ञानं, बाधकप्रत्ययाभावात्। न च वर्णेभ्योऽर्थावगतिर्युक्ता, न ह्येकैको वर्णोऽर्थं प्रत्याययेत् व्यभिचारात्। न च वर्णसमुदायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवत्त्वाद्वर्णानाम्। पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति यद्युच्येत। तन्न। सम्बन्धग्रहणापेक्षो हि शब्दः स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेद् धूमादिवत्। न च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति, अप्रत्यक्षत्वात्संस्काराणाम्। कार्यप्रत्यायितैः संस्कारैः सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत्? न। संस्कारकार्यस्यापि स्मरणस्य क्रमवर्तित्वात्। तस्मात्स्फोट एव शब्दः। स चैकैकवर्णप्रत्ययाहितसंस्कारबीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्येकप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते। न चायमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः, वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम्, भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वात्। तस्मान्नित्याच्छब्दात्स्फोटरूपादभिधायकात्क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति

यहाँ जिज्ञासा होती है कि शब्द से जो सृष्टि मानी गई वह शब्द के किस स्वरूप को मानकर अर्थात् वह शब्द वर्णात्मक है वा स्फोटात्मक? जिससे संसार को जन्यत्व कहा जाता है। वहाँ वैयाकरण कहते हैं कि वह शब्द स्फोट नामक वर्ण से भिन्न नित्य है, वह वर्णों से व्यक्त होकर पद-वाक्यादि रूप से भासता है। वर्णपक्ष में वर्णों की अनित्यता से उनके स्वयं उत्पन्न (विनाशशील) होने से उनसे सृष्टि नहीं हो सकती, इससे नित्य स्फोटात्मक शब्द से ही देवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानना युक्त होगा। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो नित्य शब्दों से देवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है यह कथन अनुपपन्न (अयुक्त-असिद्ध) होगा और प्रत्येक उच्चारण में भिन्न-भिन्न प्रतीत होने से वर्ण उत्पत्ति-विनाश वाले हैं। ऐसा ही देखा जाता है कि किसी अदृश्यमान (परोक्ष) पुरुष के अध्ययन की ध्वनि को सुनने से ही विशेष रूप से निर्धारण (निश्चय) किया जाता है कि यह देवदत्त पढ़ रहा है, यह यज्ञदत्त पढ़ता है इत्यादि। यदि कहा जाय कि ध्वनिरूप उपाधिकृत वर्णों में भेद का ज्ञान होता है इससे मिथ्याज्ञान (भ्रम) है, वहाँ कहा जाता है कि यह वर्णविषयक अन्यथात्व प्रत्यय (भेदज्ञान) मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि इसके बाधक ज्ञान का अभाव ह, बाधक ज्ञान से ही मिथ्या-ज्ञानत्व का निश्चय होता है, अन्यथा नहीं। और वर्णों से अर्थ की अवगति (अनुभूति) भी उचित नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि पदगत एक-एक वर्ण अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता है. जिससे व्यभिचार है, अर्थात्

एक वर्ण से पद के अर्थ की प्रतीति का अभाव है, वर्णमात्र से अर्थ की प्रतीति नहीं देखी जाती, और यदि ऐसे हो भी तो अन्य वर्ण व्यर्थ होंगे। यदि वर्णों के समूह से अर्थ का ज्ञान माना जाय तो वह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान के करण श्रोत्र-नेत्रादि अज्ञात होते हुए भी ज्ञान के हेतु स्वरूप से होते हैं, प्रत्यक्ष से अतिरिक्त स्थान में ज्ञात करण ज्ञान का हेतु होता है, जैसे पर्वत में ज्ञात धूम अग्नि की अनुमिति का हेतु होता है, वैसे ही शब्द भी ज्ञात होकर शाब्दज्ञान का हेतु होता है, और वर्णों के क्रम वाले होने से एक काल में वर्ण-समुदाय का प्रत्यय (ज्ञान) नहीं होता है। यदि कोई कहे कि वर्ण-समूह का एक काल में ज्ञान नहीं होने पर भी संस्कार द्वारा वर्णों का समूह (सम्मेलन) होगा उससे अर्थ का ज्ञान होगा, क्योंकि पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कार-सहित अन्तिम वर्ण अनुभूत होकर अर्थ का ज्ञान करायेगा। तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि धूमादि हेतु के समान, स्वयं प्रतीयमान (ज्ञात) और अर्थ के साथ सम्बन्ध शक्ति संकेत का ग्रहण की अपेक्षापूर्वक ही शब्द अर्थ का प्रत्यय करा सकता है, और पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभवजन्य संस्कार-सहित अन्तिम वर्ण की प्रतीति (ज्ञान) नहीं होती है क्योंकि अदृष्टादि के समान संस्कार अप्रत्यक्ष वस्तु है, स्मृतिरूप कार्य से अनुमेय है। यदि कहा जाय कि अर्थ ज्ञान का स्मरण रूप कार्य से प्रत्यायित (अनुमित) संस्कार-सहित ज्ञान अन्त्य वर्ण अर्थज्ञान का स्मरण करायेगा, तो वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि वर्णों के क्रमयुक्त होने से उनके अनुभव क्रम से होते हैं, अनुभव के अनुसार संस्कार क्रम से होते हैं, इससे संस्कार के कार्य स्मरण भी क्रम से वर्तने वाले (रहनेवाले) होते हैं, और क्रम वाले होने से क्रम से ही संस्कार की अनुमति के हेतु होंगे, उससे एक काल में अनुमिति सब संस्कारों के साथ होकर भी अन्तिम अनुभूत वर्ण अर्थ ज्ञान का हेतु नहीं हो सकती है। इससे स्फोट ही शब्द है (स्फुट-साफ जिससे अर्थ का ज्ञान हो उसे स्फोट कहते हैं) और वह स्फोट ही अनेक वर्ण और पद में एक पद और एक वाक्य ज्ञान का विषय होकर पद स्फोट और वाक्य स्फोट कहा जाता है, और एक प्रत्यय का विषय इस प्रकार होता है कि एक-एक वर्ण के ज्ञानों से जन्य स्फोटविषयक अव्यक्त ज्ञानरूप बीज जिस चित्तरूप प्रत्ययी (ज्ञानाश्रय) में स्थिर किया गया है, और अन्त्य वर्ण के ज्ञान से अन्तिम संस्काररूप परिपाक जिसमें हो चुका है, उस प्रत्ययी में एक ज्ञान के विषय रूप से स्फोट शीघ्र भासता है कि यह एक पद है, एक वाक्य है। यह पद वा वाक्य विषयक एकत्व की प्रतीति वर्णविषयक स्मृतिरूप नहीं है, क्योंकि वर्ण अनेक हैं, इससे एक ज्ञान की विषयता उनमें हो नहीं सकती है। उस स्फोट को प्रत्येक उच्चारण में प्रत्यभिज्ञा का विषय होने से नित्यत्व है। एक पद में जो उदात्त-अनुदात्त, तार-मन्दादि भेद की प्रतीति होती है, वह वर्णविषयक होती है, भ्रम से भले ही स्फोट में भासता हो परन्तु स्फोट प्रत्येक उच्चारण में एक रहता है, उससे अर्थ के अभिधायक (वाचक)

नित्यस्फोट रूप नित्यशब्द से क्रियाकारक फलरूप अभिधेय (वाच्यार्थ) रूप जगत् उत्पन्न होता है यह सिद्ध हुआ।

'वर्णा एव तु शब्दः' इति भगवानुपवर्षः। ननूत्पन्नप्रध्वंसित्वं वर्णानामुक्तम्। तन्न। त एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं केशादिष्विवेति चेत्? न। प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः। प्रत्यभिज्ञानमाकृतिनिमित्तमिति चेत्? न। व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात्। यदि हि प्रत्युच्चारणं गवादिव्यक्तिवदन्या अन्या वर्णव्यक्तयः प्रतीयेरंस्तत आकृतिनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानं स्यात्। नत्वेतदस्ति। वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते। द्विर्गोशब्द उच्चारित इति हि प्रतिपत्तिर्न तु द्वौ गोशब्दाविति। ननु वर्णा अप्युच्चारणभेदेन भिन्ना प्रतीयन्ते देवदत्तयज्ञदत्तयोरध्ययनध्वनिश्रवणादेव भेदप्रतीतेरित्युक्तम्। अत्राभिधीयते—सति वर्णविषये निश्चिते प्रत्यभिज्ञाने संयोगविभागाभिव्यङ्ग्यत्वाद्वर्णानामभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्तः। अपि च वर्णव्यक्तिभेदवादिनापि प्रत्यभिज्ञानसिद्धये वर्णाकृतयः कल्पयितव्याः। तासु च परोपाधिको भेदप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्, तद्वरं वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्ययः, स्वरूपनिमित्तं च प्रत्यभिज्ञानमिति कल्पनालाघवम्। एष एव च वर्णविषयस्य भेदप्रत्ययस्य बाधकः प्रत्ययो यत्प्रत्यभिज्ञानम्। कथं ह्येकस्मिन् काले बहूनामुच्चारयतामेक एव सन् गकारो युगपदनेकरूपः स्यात्—उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च सानुनासिकश्च निरनुनासिकश्च—इति। अथवा ध्वनिकृतोऽयं प्रत्ययभेदो न वर्णकृत इत्यदोषः।

अब आचार्य सम्प्रदाय की उक्तिपूर्वक सिद्धान्त कहते हैं कि भगवान उपवर्ष कहते हैं कि वर्ण रूप ही शब्द है, क्योंकि वर्ण से अतिरिक्त स्फोट रूप शब्द का अनुभव नहीं होता है। जो यह कहा है कि वर्ण उत्पन्न होकर प्रध्वंस स्वभाव वाले क्षणिक हैं, वह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिनका देवदत्त ने उच्चारण किया था वे ही वर्ण ये हैं जिनका यज्ञदत्त उच्चारण कर रहा है। इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से वर्ण उत्पन्न प्रध्वंसी नहीं हैं। यदि कहो कि अनेकों बार कटने पर फिर बढ़े हुए केशों दीपशिखा नदी-प्रवाहादि में सदृशता से प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही वर्णों में सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा भ्रमरूप होती है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि भ्रम का प्रमाणान्तर से बाध (नाश) होता है और वर्ण प्रत्यभिज्ञा का प्रमाणान्तर से बाध की अनुपपत्ति (असिद्धि) है, इसका बाध नहीं होता है। यदि कहो कि आकृति-निमित्तिक प्रत्यभिज्ञा है, अर्थात् वह जाति को विषय करती है, इससे भ्रमरूप नहीं होने से बाध भी नहीं होता है, और उसके बल से वर्ण भी नित्य शब्दरूप नहीं सिद्ध हो सकते हैं, तो यह कहना भी अनुचित है, क्योंकि व्यक्ति के भेद की सिद्धि के बिना प्रत्यभिज्ञा की जातिविषयता में कोई प्रमाण नहीं है, इससे वर्ण व्यक्ति की प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि प्रत्येक उच्चारण

में गो आदि की व्यक्ति के समान अन्य अन्य वर्ण व्यक्ति प्रतीत होते, तो प्रत्यभिज्ञा आकृतिनिमित्तक होती, परन्तु यह व्यक्ति के भेद का ज्ञान नहीं होता है, इसमें वर्णों की व्यक्तियाँ ही प्रत्येक उच्चारण में प्रत्यभिज्ञात होती हैं (प्रत्यभिज्ञा से जानी जाती हैं) जिससे कहा जाता है कि इसने एक गो शब्द का दो बार उच्चारण किया है, इससे दो बार गो शब्द उच्चारित हुआ ऐसी प्रतीति होती है, दो गो शब्द उच्चारित हुए ऐसी प्रतीति नहीं होती है। शंका होती है कि उदात्तादि भेद से उच्चारण के भेद द्वारा वर्ण भी भिन्न प्रतीत होते हैं; क्योंकि देवदत्त यज्ञदत्त के अध्ययन की ध्वनि के श्रवण से ही अध्ययन भेद की प्रतीति होती है, यह कहा जा चुका है। यहाँ उत्तर है कि वर्णविषयक निश्चित प्रत्यभिज्ञा के होने पर, वर्णविषयक यह विचित्र प्रत्यय वर्ण के स्वरूपनिमित्तक नहीं हैं, किन्तु तत्तत् तालु आदि स्थानों में वायु आदि के संयोग और विभाग से वर्णों की अभिव्यक्ति होने से अभिव्यञ्जक स्थान वायु आदि की विचित्रता निमित्तक यह वर्णविषयक विचित्र ज्ञान होता है। दूसरी बात है कि वर्ण व्यक्ति के भेद मानने वाले को भी प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि के लिए वर्णों की आकृति पर (जातियों) की कल्पना करनी पड़ेगी। एवं उनमें परोपाधिनिमित्तक उदात्तादि भेद का ज्ञान होता है ऐसा मानना होगा। उससे श्रेष्ठ यह मन्तव्य है कि वर्ण की व्यक्तियों में अन्योपाधिक भेद ज्ञान है, और स्वरूपनिमित्तक प्रत्यभिज्ञान है, क्योंकि ऐसा मानने पर व्यक्ति का भेद और जाति की कल्पना नहीं करके वर्ण-भेद मात्र की औपाधिकता से कल्पना की लघुता होती है। एवं जो यह प्रत्यभिज्ञा है वही वर्ण विषयक भेद-ज्ञान का बाधक ज्ञान है, ऐसा निश्चय होने पर अनेक उच्चारण करने वालों से उच्चारित एक ही होता हुआ यह गकार एक काल में अनेक कैसे होगा कि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक भिन्न हैं, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा के बल से भिन्नकालिक गकार के अभेद सिद्ध होने पर एक काल में अनेक से उच्चारित में भी उदात्तादि भेद से किसी प्रकार भी स्वरूप भेद नहीं सिद्ध हो सकता है, इससे औपाधिक भेद उदात्तादि में भी है स्वरूप भेद नहीं। इस औपाधिक भेद का स्वीकारपूर्वक वायु आदि के संयोग रूप उपाधि में अप्रत्यक्षता से तद्वत् विचित्रता का प्रत्यक्ष उदात्तादि में प्रत्यक्ष आरोप नहीं हो सकता है, इस आशय से स्वमत भाष्यकार कहते हैं कि अथवा वर्णों में यह उदात्तादि ज्ञान का भेद ध्वनिनिमित्तक है, वर्णभेदकृत नहीं है, इससे वर्ण में भेदापत्ति आदि दोष नहीं हैं। अर्थात् उदात्तादि ध्वनि के धर्म हैं, वह ध्वनि और वर्ण के अभेदाध्यास से वर्ण में भासते हैं।

कः पुनरयं ध्वनिर्नाम ? यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति, प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः। वर्णानां प्रत्युच्चारण प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। एवं च सति सालम्बना उदात्तादिप्रत्यया भविष्यन्ति, इतरथा

हि वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां निर्भेदत्वात्संयोगविभागकृता उदात्तादिविशेषाः कल्पेरन्। संयोगविभागानां चाप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषा वर्णेष्वध्यवसितुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः। अपि च नैवैतदभिनिवेष्टव्यम्—उदात्तादिभेदेन वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेत्—इति। नह्यन्यस्य भेदेनान्यस्याभिद्यमानस्य भेदो भवितुमर्हति। नहि व्यक्तिभेदेन जातिं भिन्नां मन्यन्ते। वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः सम्भवात्स्फोटकल्पनानर्थिका। न कल्पयाम्यहं स्फोटं प्रत्यक्षमेव त्वेनमवगच्छामि, एकैकवर्णग्रहणाहितसंस्कारायां बुद्धौ झटिति प्रत्यवभासनादिति चेत्? न। अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात्। एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गौरिति समस्तवर्णविषया नार्थान्तरविषया। कथमेतदवगम्यते? यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते न तु दकारादयः। यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात्ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन् न तु तथास्ति, तस्मादियमेकबुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः।

शंका होती है कि ध्वनि नाम वाली कौन वस्तु है? उत्तर है कि दूर से शब्द सुनने क कारण जो श्रोता वर्ण के विवेक को न समझ सकता है। उसके कर्णमार्ग में जो वर्ण विवेक के बिना पहले पहल दूर से प्रविष्ट होती है, और धीरे २ पास में जाने पर वर्णों मे उस श्रोता के लिए पटुत्व (स्फुटत्व) मन्दत्वादि भेद का आरोप सम्बन्ध करती है वह ध्वनि है, और उस ध्वनिनिमित्तक वर्णों में उदात्तादि विशेष (भेद) हैं, स्वरूपनिमित्तक नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक उच्चारण में वर्णों की प्रत्यभिज्ञा होती है प्रत्यभिज्ञा का विषय एक वर्ण प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ध्वनि रूप वर्ण की उपाधि के स्वीकार करने पर उदात्तादि का ज्ञान सालम्बन (विषयसहित) होगा, अन्यथा वर्णों के प्रत्यभिज्ञता होने से उनमें भेद के अभाव होने के कारण संयोग-विभागकृत उदात्तादि विशेषों की पूर्व रीति से कल्पना करनी होगी, और उक्त संयोग-विभागों के अप्रत्यक्ष होने से उनके आश्रित रहने वाले विशेषों का वर्णों में अनुभव निश्चय नहीं किया जा सकता है, इससे इस प्रकार ये उदात्तादि के ज्ञान निरालम्बन ही हो जायेंगे। ऐसा आग्रह कभी नहीं करना चाहिए कि उदात्तादि के भेद से प्रत्यभिज्ञात वर्णों का भी भेद होगा, क्योंकि किसी अन्य घट-मठादि के भेद से भेदरहित आकाश का भेद होने योग्य नहीं है, वैसे ही ध्वनिगत उदात्तादि भेद से वर्णों में भेद होने योग्य नहीं है, जैसे कि व्यक्ति के भेद से जाति को भिन्न नहीं मानते हैं, वैसे ही ध्वनि के भेद से वर्ण में भेद नहीं मानते हैं। वर्णों से ही अर्थ की प्रतीति के सम्भव होने से स्फोट की कल्पना अनर्थक है, यदि कोई कहे कि मैं स्फोट की कल्पना नहीं करता हूँ, किन्तु इस प्रत्यक्ष स्फोट का अनुभव स्वीकार करता हूँ, क्योंकि एक एक वर्ण के ग्रहण से अर्पित स्फोटविषयक संस्कार वाली बुद्धि में यह स्फोट स्वयं प्रत्यवभासित अनुभूत होता है। वहाँ कहा जाता है कि यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यह बुद्धि भी वर्ण-

विषयक ही होती है, एक-एक वर्ण के ज्ञान के उत्तरकाल में होने वाली गौ:, इस प्रकार की यह एक बुद्धि (एक ज्ञान) सम्पूर्ण वर्णविषयक होती है, स्फोटरूप अर्थान्तर विषयक नहीं होती है। यदि कहो कि यह कैसे समझते हो कि यह बुद्धि वर्णविषयक है ? तो कहा जाता है कि जिससे इस बुद्धि में गकारादि वर्ण ही अनुवृत्त (सम्बद्ध) होते हैं, दकारादि नहीं, इससे इसको गकारादि वर्णविषयक समझते हैं। और यदि इस बुद्धि का विषय गकारादि से अतिरिक्त अर्थान्तर स्फोट होता तो, उस बुद्धि से जैसे दकारादि व्यावृत्त हो जाते हैं, वैसे ही इस बुद्धि से गकारादि भी व्यावृत्त हो जाते, 'गौ:' इस बुद्धि में दकारादि से समान गकारादि भी नहीं भासते, परन्तु वैसा होता नहीं है, उससे यह एक बुद्धि वर्ण विषयक ही स्मृति है।

नन्वनेकत्वाद्वर्णानां नैकबुद्धिविषयतोपपद्यत इत्युक्तम्। तत्प्रति ब्रूमः—सम्भवत्यनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वम्, पङ्क्तिर्वनं सेना दशशतं सहस्रमित्यादिदर्शनात्। या तु गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिः, सा बहुष्वेव वर्णेष्वेकार्थावच्छेदनिबन्धनौपचारिकी वनसेनादिबुद्धिवदेव। अत्राह—यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युस्ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात्, त एव हि वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त—इति। अत्र वदामः। सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति, तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते। वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीता गृहीतार्थविशेषणसम्बन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्यां बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना। स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति, स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्। अथापि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि प्रत्यभिज्ञालम्बनभावेन वर्णसामान्यानामवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद्या वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया रचिता सा सामान्येषु संचारयितव्या। ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम् ॥ २८ ॥

जो यह कहा था कि वर्णों के अनेक होने से एकपदादि बुद्धिविषयता वर्णों की नहीं हो सकती, वहाँ प्रत्युत्तर कहते हैं कि अनेक वर्ण को भी एकार्थबोधकत्व एक स्मृतिविषयत्वादि से एकबुद्धिविषयत्व का सम्भव है, जैसे कि पंक्ति वन, सेना, दशशतं, सहस्रम्, इत्यादि प्रयोगों में देखा जाता है। इसी प्रकार 'गौ:' यह एक शब्द है। ऐसी जो बुद्धि होती है, वह बहुत वर्णों में ही एकार्थावच्छेदनिमित्तक (एकार्थबोधकत्वनिमित्तक) औपचारिकी (गौणी) बुद्धि वन-सेनादि-बुद्धि तुल्य ही होती है। यहाँ

कोई कहते हैं कि यदि वर्ण ही समस्त रूप से एकबुद्धि विषयता को प्राप्त होकर पद होते हैं, तो जारा-राजा, और कपि:-पिक:, इत्यादि में पद-भेद का ज्ञान नहीं होना चाहिये, क्योंकि तुल्य वे ही वर्ण भिन्न-भिन्न स्थानों में भासते हैं। यहाँ कहते हैं कि वे ही समस्त वर्णों के भिन्न-भिन्न स्थानों में ज्ञान होने पर भी जैसे क्रम का अनुरोध धारण करने वाली चींटियाँ पंक्ति-बुद्धि का विषय होती हैं, इसी प्रकार क्रमानुरोधी ही वर्ण पदबुद्धि में आरूढ़ होंगे। उससे वहाँ वर्णों के तुल्य होने पर भी क्रम के भेद से जन्य पदभेद की बुद्धि में विरोध नहीं होता है। यद्यपि वर्ण विभु हैं, इससे उनमें क्रम नहीं है, तथापि उनके ज्ञान में क्रम होता है, इससे पदशक्ति के ग्राहक वृद्धों के व्यवहार में क्रमादि से अनुगृहीत (ज्ञात) हुए और तत्तत् विशेष अर्थ के साथ गृहीत (ज्ञात) शक्ति सम्बन्ध वाले ये वर्ण, अपने व्यवहार में भी एक-एक वर्ण के ज्ञान के बाद समस्त वर्ण को विषय करने वाली स्मृतिरूप बुद्धि में उस क्रमिक स्वरूप से ही प्रत्यवभासित (प्रकाशित) हुए उस-उस अर्थ को निश्चित रूप से बोध करायेंगे, इस रीति से वर्णवादी की अति लघु कल्पना करनी पड़ती है, और स्फोटवादी की दृष्ट वर्ण की हानि होती है और अदृष्ट स्फोट की कल्पना करनी पड़ती है। इससे गौरव है, क्योंकि क्रम से गृहीत वर्ण स्फोट को अभिव्यक्त करेंगे, और वह व्यक्त स्फोट अर्थ को अभिव्यक्त करेगा, यह अति गुरु कल्पना होगी। अभ्युपगम वाद से कहते हैं कि यदि प्रत्युच्चारण प्रसिद्ध वर्ण अन्य-अन्य भी हों, तो भी प्रत्यभिज्ञा के अवलम्बन (विषय) रूप से वर्ण के सामान्यों (जातियों) को अवश्य मन्तव्य होने से वर्णों में अर्थ प्रतिपादन की जो प्रक्रिया (रीति) रची गई है, उस प्रक्रिया का वर्ण-सामान्य में सञ्चार करना होगा; अर्थात् वर्ण की जाति में अर्थबोधकता माननी पड़ेगी, स्फोट की कोई जरूरत नहीं है। उससे नित्य शब्दों से देवादि व्यक्ति की उत्पत्ति होती है इस सिद्धान्त में कोई विरोध नही है।

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभिः स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशङ्क्य 'अतः प्रभवात्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति—अत एव च नित्यत्वमिति। अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद्वेदशब्दनित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम्। तथा च मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' (ऋ० सं० १०।७१।३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति। वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥ इति ॥ २९ ॥

स्वतन्त्र वेदकर्ता के अस्मरण (स्मरणाभाव) आदि हेतुओं से वेद के नित्यत्व स्थिर होने पर, देवादि व्यक्तियों को उत्पत्ति मानने से उस नित्यत्व के विरोध की

आशंका करके फिर (अतः प्रभवात्), इससे शंका का परिहार करके, अब इस समय उस स्थिर वेद के नित्यत्व को ही दृढ़ करते हैं कि (अत एव च नित्यत्वमिति) इसी हेतु से अर्थात् नियत आकृतिवाले देवादि रूप जगत् को वेदशब्द से सृष्टि होने से वेद के शब्दों में नित्यत्व भी समझना चाहिये। वैसा ही मन्त्रवर्ण भी है कि (पूर्व के सुकृत रूप यज्ञ द्वारा वेदरूप वाक् की प्राप्ति की योग्यता को प्रथम प्राप्त करने वाले याज्ञिक लोगों ने पीछे ऋषियों में प्रविष्ट उस वाक् को प्राप्त किया) यह मन्त्र प्रथम से सिद्ध वेद को ही अनुविन्न (उपलब्ध-प्राप्त) दिखलाता है और भगवान् वेदव्यास भी ऐसे ही कहते हैं कि (प्रथम ब्रह्मा जी की सम्मति युक्त महर्षियों ने युगान्त में अन्तर्हित (लुप्त) वेदों को तप से प्राप्त किया) ॥ २९ ॥

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

समाननामरूपत्वात्–च–आवृत्तौ–अपि–अविरोधः–दर्शनात्–स्मृतेः–च। ये आठ पद इस सूत्र में हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (सर्गप्रलययोः पुनः प्राप्तिलक्षणायामावृत्तौ सत्यामपि शब्दार्थसम्बन्धानित्यत्वदोषात्मको विरोधो नास्ति समाननामरूपत्वात्, तथाविधश्रुतेर्दर्शनात् स्मृतेश्चेति) सृष्टि और प्रलय की बार-बार प्राप्ति रूप आवृत्ति के होने पर भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में अनित्यत्व दोष रूप विरोध नहीं है, क्योंकि सब सर्ग में तुल्यनाम रूप वाले देवादि होते हैं, और इसका निश्चय वैसी श्रुति स्मृति के देखने से होता है ॥ ३० ॥

अथापि स्यात्—यदि पश्वादिव्यक्तिवद् देवादिव्यक्तयोऽपि सन्तत्यैवोत्पद्येरन्निरुध्येरंश्च ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात्सम्बन्धनित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत। यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते प्रभवति चाभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति तदा कथमविरोध–इति।

फिर भी शंका होती है कि पूर्वोक्त व्यवस्था तब हो सकती, यदि आज पशु आदि व्यक्ति के समान देवादि की व्यक्तियों के भी निरन्तर प्रवाह रूप से सर्ग प्रलय होते, नाम, नामी और वक्ता के व्यवहार के अविच्छेद (निरन्तर वर्तमानता) से नाम-नामी के सम्बन्ध के नित्य होने से, शब्द में अनित्यत्व दोष परिहृत (निवारित) हो जाता परन्तु श्रुति स्मृति के वचन कहते हैं कि प्रलय में तीन लोकात्मक यह सब जगत् नाम-रूप को त्याग कर निःशेष रूप से प्रलीन (नष्ट) हो जाता है, और फिर नवीन उत्पन्न होता है, तो इस अवस्था में शब्दानित्यत्व विषयक अविरोध कैसे हो सकता है ?

तत्रेदमभिधीयते—समाननामरूपत्वादिति। तदापि संसारस्यानादित्वं तावदभ्युपगन्तव्यम्। प्रतिपादयिष्यति चाचार्यः संसारस्यानादित्वम्—'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र० २।१।३६) इति। अनादौ च संसारे यथा

स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः। एवं कल्पान्तरप्रभवप्रलययोरपीति द्रष्टव्यम्। स्वापप्रबोधयोश्च प्रलयप्रभवौ श्रूयेते—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, चक्षुः सर्वैः रूपैः सहाप्येति, श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति, स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ३।३) इति।

इस शंका के होने पर यह कहा जाता है, कि प्रलय होने पर फिर सृष्टि-काल में पूर्वसर्ग-तुल्य नाम रूप होने से अविरोध है, क्योंकि सर्ग-प्रलय की आवृत्ति होने पर भी, संसार की अनादिता (प्रवाह रूप से सदा वर्तमानता) अवश्य मन्तव्य है, और आचार्य भी 'उपपद्यते च' इत्यादि सूत्र से संसार की अनादिता का प्रतिपादन करेंगे। संसार के अनादि होने पर, जैसे सुषुप्ति और जागरण में प्रलय और सृष्टि के श्रवण होने पर भी पूर्व जागरण के समान आगे के जागरण में कोई व्यवहार का विरोध नहीं होता है, इसी प्रकार कल्पान्तर के सर्ग और प्रलय में भी व्यवहार के अविरोध को समझना चाहिये कि पूर्वकल्प के समान ही वेद और देवादि प्रकट होते हैं, इससे अनित्यत्व दोष वेद में नहीं है इत्यादि। सुषुप्ति और जागरण में प्रलय और सर्ग सुने जाते हैं कि (जब सोया हुआ प्राणी कोई स्वप्न नहीं देखता है उस समय वह इस परमात्मा-स्वरूप प्राण में एक हो जाता है। उस समय सब नामों के सहित वाक् (उस प्राण में लीन हो जाती है) नेत्र सब रूपों के सहित प्राण में लीन होता है। कान सब शब्दों के सहित लीन होता है और मन सब ध्यान (संकल्प-विकल्पादि) सहित लीन होता है। प्राणी जब जागता है तब ज्वलित अग्नि से जैसे चिनगारियाँ सब दिशाओं में गमन करती (फैलती) हैं, इसी प्रकार इस आत्मा से जब इन्द्रियाँ अपने-अपने आयतनों (गोलकस्थानों) के तरफ गमन करती हैं, प्रगट होती हैं, उन प्राणों से देव प्रगट होते हैं, देव सहित इन्द्रियों से विषयादि रूप लोक प्रगट होते हैं।) इत्यादि।

स्यादेतत्। स्वापे पुरुषान्तरव्यवहाराविच्छेदात्स्वयं च सुप्तप्रबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्यवहारानुसन्धानसम्भवादविरुद्धम्। महाप्रलये तु सर्वव्यवहारोच्छेदाज्जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यवहारस्यानुसन्धातुमशक्यत्वाद्वैषम्यमिति। नैष दोषः। सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तेः। यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो न जन्मान्तरव्यवहारमनुसन्दधाना दृश्यन्त इति, तथापि न प्राकृतवदीश्वराणां भवितव्यम्। यथाहि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः परेण परेण भूयान्भवन्दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रु-

तिस्मृतिवादेष्वसकृदनुश्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम्। ततश्चातीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत्कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तिः।

फिर शका होती है कि सुषुप्ति में प्रलय सुनने पर भी एक के सो जाने पर भी पुरुषान्तर के व्यवहार का उच्छेद अभाव नहीं होता है, और स्वयं पहले सो कर जागे हुए को पूर्व जाग्रत के व्यवहारों के अनुसंधान (स्मरणादि) के सम्भव से विरुद्ध व्यवहारादि नहीं प्राप्त होते हैं, और महाप्रलय में तो सब व्यवहारों का नाश हो जाता है इससे जन्मान्तर के व्यवहारों के समान कल्पान्तर के व्यवहार का अनुसंधान करना अशक्य है, इससे महाप्रलय के लिए सुषुप्ति का दृष्टान्त विषमतायुक्त है। यहाँ कहा जाता है कि यह अनुसंधानाभावादिरूप दोष नहीं है, क्योंकि सब व्यवहार के उच्छेद-वाले महाप्रलय के होने पर भी परमेश्वर के अनुग्रह से ईश्वररूप हिरण्यगर्भादिको कल्पान्तर के व्यवहारों के अनुसंधान की सिद्धि होती है। यद्यपि प्राकृत साधारण प्राणी जन्मान्तर के व्यवहारों का अनुसंधान करते हुए नहीं देखे जाते हैं, तथापि प्राकृत प्राणी के समान अनुसंधानादि रहित ईश्वर को नहीं होना चाहिए, न ऐसा हो सकता है। जैसे कि प्राणिता के तुल्य रहने पर भी मनुष्य से स्तम्ब (तृण) पर्यन्त में ज्ञान ऐश्वर्यादि का उत्तर अधिक प्रतिबन्ध (निरोध-वियोग) होता हुआ दीखता है। इसी प्रकार मनुष्यादि में भी हिरण्यगर्भादि पर्यंन्त में ज्ञानैश्वर्यादि की अभिव्यक्ति (प्रकटता प्राप्ति) उत्तर-उत्तर अधिक होती है, यह बात श्रुति-स्मृति-वचनों में बार-बार सुनी जाती है, वह ऐश्वर्यादि नहीं है ऐसा नहीं कह सकते हैं, न श्रुति-स्मृति का निषेध कर सकते हैं, इससे व्यतीत कल्प में जिन्होंने प्रकृष्ट ज्ञान (उपासना) और कर्मों का अनुष्ठान (आचरण) किया है, ऐसे ईश्वर रूप वर्तमान कल्प के आदि में प्रादुर्भूत (प्रकट) होने वाले परमेश्वर से अनुगृहीत हिरण्यगर्भादि को सुषुप्ति से जागे हुए के समान कल्पान्तर के व्यवहारों के अनुसंधान की सिद्धि होती है।

तथा च श्रुतिः—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (श्वे० ६।१८) इति।

स्मरन्ति च शौनकादयः 'मधुच्छन्दःप्रभृतिभिर्ऋषिभिर्दाशतय्यो दृष्टाः' इति। प्रतिवेदं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते। श्रुतिरप्यृषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' (सर्वानु० परि०) इत्युपक्रम्य 'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इति। प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते, दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते। दृष्टानुश्रवि-

कसुखदुःखविषयौ च रागद्वेषौ भवतो न विलक्षणविषयावित्यतो धर्माधर्मफलभूतोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिसदृश्येव निष्पद्यते। स्मृतिश्च भवति—

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते॥ इति।

श्रुति कहती है कि 'जो परमेश्वर के कल्प के आदि काल में ब्रह्मा को उत्पन्न सिद्ध करता है और उस ब्राह्मण के लिए ज्ञानमय वेद का प्रदान करता है, आत्मरूप से बुद्धि में प्रकाशमान उस देवरूप शरण (रक्षक) को मुमुक्षु मैं प्राप्त होता हूँ'! शौनकादि स्मरण करके कहते हैं कि (मधुच्छन्द आदि ऋषियों ने (दाशतय्य) दशमण्डलात्मक ऋग्वेद की ऋचाओं को देखा) इसी प्रकार सब वेद में तत्तत्॰ नाम से काण्ड और ऋषि आदि कहे जाते हैं, और श्रुति भी मन्त्रों के ऋषि के ज्ञानपूर्वक ही मन्त्र से अनुष्ठान दिखलाती है कि (जिस मन्त्र के आर्षेय स्मर्ता, ऋषि, छन्द, देव, विनियोजक ब्राह्मण का ज्ञान नहीं हो, उस मन्त्र से यदि यज्ञ कराता है वा अध्यापन कराता है, तो स्थावर योनि में प्राप्त होता है वा नरक में जाता है) इस प्रकार आरम्भ करके कहा है कि (ऋषि आदि के ज्ञान बिना उक्त अनर्थ होने के कारण इन ऋषि आदि को प्रत्येक मन्त्र में समझना चाहिए)। और प्राणियों को सुख की प्राप्ति के लिए धर्म की विधि की जाती है, दुःख की निवृत्ति के लिए अधर्म का निषेध किया जाता है। एवं दृष्ट इस लोक के सुख दुःख विषयक वा शास्त्र से अनुश्रुत परलोक के सुख-दुःख-विषयक राग और द्वेष होते हैं, इससे विलक्षण विषयक राग-द्वेष नहीं होते हैं, अर्थात् सुख में द्वेष और दुःख में राग नहीं होते हैं, इससे धर्माधर्म के फलस्वरूप आगे होनेवाली सृष्टि पूर्व सृष्टि के सदृश ही सिद्ध होती है। इस अर्थ को कहने वाली स्मृति भी है कि (उन प्राणियों में जो प्राणी जिन कर्मों को पूर्व सृष्टि में प्राप्त किये, वे बार बार उत्पन्न होकर उन्हीं कर्मों को प्राप्त कर सकते हैं, वे ही कर्म करते हैं)। हिंस्र-अहिंस्र (घातुक-अघातुक) मृदु-क्रूर, धर्म-अधर्म, सत्य-मिथ्या, कर्मादि को उनकी वासना से युक्त होकर प्राप्त करते हैं, और उस वासना से ही पुण्य-पापादि पसन्द होते हैं।'

प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते। शक्तिमूलमेव च प्रभवति इतरथाकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। नचानेकाकाराः शक्तयः शक्याः कल्पयितुम्। ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याप्युद्भवतां भूरादिलोकप्रवाहाणां, देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां च प्राणिनिकायप्रवाहाणां वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चानादौ संसारे नियतत्वमिन्द्रियविषयसम्बन्धनियतत्ववत्प्रत्येतव्यम्। नहीन्द्रियविषयसम्बन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्। अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात्कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धा-

नक्षमत्वाच्चेश्वराणा समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति। समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः। समाननामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ (ऋ० सं० १०।१९०।३) इति।

यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत्क्लृप्तं तथास्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः। तथा 'अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानाँ स्यामिति, स एवमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति नक्षत्रेष्टिविधौ योऽग्निर्निरवपद्यस्मै वाग्नये निरवपत्तयोः समाननामरूपतां दर्शयतीत्येवंजातीयका श्रुतिरिहोदाहर्तव्या।

प्रलय में प्रलीन होता हुआ भी यह जगत् संस्कार-वासना नामक शक्ति की अवशेषता (स्थिरता) पूर्वक लीन होता है, फिर शक्तिमूलक ही सृष्टि-काल में उत्पन्न होता है, अन्यथा शक्ति सहित लीन होने पर सृष्टि को आकस्मिकत्व (निर्हेतुकत्व) की प्राप्ति होगी और कल्पादि के भेद से भी शक्ति रूप प्रकृतियाँ अनेकाकार वाली कल्पना के योग्य नहीं हैं। उससे विच्छिन्न नष्ट हो-हो कर उत्पन्न होने वाले भूरादि-लोकों के प्रवाह, और देव, तिर्यक्, मनुष्य रूप प्राणिसमूह के प्रवाह, और वर्ण-आश्रम के धर्म तथा फल की व्यवस्था, इन सबको अनादि संसार में नियतत्व है, इससे जैसे इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध को नियतत्व होता है, वैसे ही इनके नियतत्व को समझना चाहिये। इन्द्रिय और विषय के सम्बन्धादि रूप व्यवहार का हर एक सर्ग में बाह्यषष्ठेन्द्रियविषय के समान अन्यथात्व (भेद) की कल्पना करना शक्य (योग्य) नहीं है। इससे सब कल्पों के तुल्य व्यवहार होने से, और ईश्वरों को कल्पान्तर के व्यवहारों के अनुसंधान में समर्थ होने से समान नाम-रूप वाले ही विशेष (विभक्त कार्य) सब सर्ग में प्रकट होते हैं। समान नाम-रूप के होने से जगत् के महासर्ग-महाप्रलय रूप आवृत्ति को मानने पर भी शब्द के प्रमाण्यादि मे कोई विरोध नहीं होता है। सब सर्ग में समान नाम-रूपता को श्रुति और स्मृति दिखलाती हैं (जगत् का धारण करने वाले परमात्मा ने पूर्वसृष्टि के समान ही सूर्य, चन्द्रमा, दिव्यलोक, भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग को उत्पन्न सिद्ध किया) पूर्वकल्प में सूर्य-चन्द्रादि रूप जगत् जैसे क्लृप्त (सिद्ध) था वैसा ही परमेश्वर ने इस कल्प में भी सिद्ध किया, यह श्रुति का अर्थ है। इसी प्रकार (भावी दृष्टि से अग्नि नाम वाला यजमान ने कामना किया कि मैं देवताओं के अन्न को खाने वाला होऊँ। फिर उसने कृतिका नक्षत्र के अभिमानी अग्निदेव के लिए आठ कपालों (मृत्पात्रों में) पकाया हुआ पुरोडाश (हवि) का अर्पण किया) यह श्रुति नक्षत्र इष्टि (योग) विधि में जिस अग्नि ने पुरोडाश का अर्पण किया और

जिसके लिए किया, उन दोनों की समान नाम-रूपता दर्शाती है. इसी प्रकार से अन्य श्रुतियाँ भी यहाँ उदाहर्तव्य हैं ।

स्मृतिरपि—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः ।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह ।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥ इत्येवञ्जातीयका द्रष्टव्याः ॥३०॥

स्मृति भी है कि (पूर्वकल्प में ऋषियों के जो नाम रहते हैं, वेदविषयक जो दृष्टियाँ ज्ञान रहते हैं प्रलय रूप रात्रि के अन्त में अज परमात्मा उत्पन्न उन ऋषियों के वे ही नाम और दृष्टि उनके लिए देता है) जैसे ऋतुओं के पर्याय आवृत्ति में नाना रूप वाले वेही-वेही ऋतुओं के लिंग चिह्न देखे जाते हैं, वैसे ही युगादि में पदार्थ तुल्य होते हैं । और जो चक्षु आदि के अभिमानी देव व्यतीत हो गये, वह जैसे यहाँ अभी वर्तमान अभिमानी देव के साथ तुल्य नाम-रूप द्वारा थे, वैसे ही उन अतीतों के साथ तुल्यनाम-रूप से युक्त वर्तमान अभिमानी देव हैं) इस प्रकार की अन्य स्मृति भी द्रष्टव्य हैं ॥ ३० ॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्रतिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते । देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मात् ? मध्वादिष्वसम्भवात् । ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत । नचैवं सम्भवति । कथम् ? 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३।१।१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन्, देवादिषु ह्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वादित्यः कमन्यमादित्यमुपासीत । पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य 'वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्ती'त्युपदिश्य 'स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा दृप्यति' इत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृतानि विजानतां वस्वादिमहिमप्राप्तिं दर्शयति । वस्वादयस्तु कानन्यान्वस्वादीनमृतोपजीविनो विजानीयुः कं वान्यं वस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः । तथा 'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः' (छां० ३।१८।२), 'वायुर्वाव सवर्गः' (छां० ४।३।१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छां० ३।११।१) इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधिकारः

सम्भवति । तथा 'इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः' (बृ० २।२।४) इत्यादिष्वप्यृषिसम्बन्धेषूपासनेषु न तेषामेवर्षीणामधिकारः सम्भवति ॥ ३१ ॥

इस ब्रह्मविद्या में देवादि का भी अधिकार है, यह जो प्रथम प्रतिज्ञा की गई है, उसकी पर्यावृत्ति (निवारण) किया जाता है कि जैमिनि आचार्य देव-ऋषि का ज्ञान में अधिकार नहीं मानते हैं, क्योंकि मधु आदि विद्याओं में देव का अधिकार होना असम्भव है । एवं ब्रह्मविद्या में अधिकार मानने पर विद्यात्व की तुल्यता से मधु आदि विद्याओं में भी अधिकार माना जायगा, और ऐसा सम्भव है नहीं, क्योंकि (अन्तरिक्ष में स्थित यह आदित्य देवताओं के मधु हैं) जिनसे देवताओं का मोद आनन्द के हेतु हैं, इससे आदित्य देव मधु कहा गया है, परन्तु इस आदित्य में मधु का अध्यास करके मनुष्य उपासना कर सकते हैं, देव नहीं कर सकते हैं, क्योंकि देवादि को भी उपासक मानने पर आदित्य देव किस अन्य आदित्य की उपासना करेंगे । फिर भी आदित्य के आश्रित आदित्य में रहने वाले रक्तशुक्लकृष्णादिरूप किरणमय अमृतों के वर्णन का आरम्भ करके, फिर वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत, साध्य ये पंचदेवगण उन अमृतों को क्रम से भोगते हैं । इस प्रकार उपदेश करके कहा है कि (वह जो कोई उपासक इस अमृत को इस प्रकार जानता है वह वसु में एक वसु रूप होकर अग्नि की प्रधानता द्वारा अग्नि मुख से अमृत को देखकर तृप्त होता है) इत्यादि रीति से वसु आदि के उपभोग्य रूप अमृतों को जानने वालों को वसु आदि की महिमा की प्राप्ति रूप फलश्रुति दर्शाती है, वहाँ वसु आदि किन अन्य अमृतोपभोगी वसु आदि को जानेंगे, या किन अन्य वसु आदि की महिमा को प्राप्त करना चाहेंगे ? इसी प्रकार आकाश रूप ब्रह्म के (अग्नि पाद भाग हैं, वायु पाद है, आदित्य पाद है, दिशापाद है, वायु संवर्ग है, आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है) इत्यादि रीति से विहित देवतात्माओं की उपासनाओं में उन देवतात्माओं का अधिकार सम्भव नहीं है । इसी प्रकार गले से ऊपरवर्ती इन्द्रियों का सप्तर्षि रूप से चिन्तन बताया गया है । वहाँ यह दक्षिण कर्ण गोतम है, वाम कर्ण भरद्वाज है, इससे ये दोनों गोतम भरद्वाज हैं, इत्यादि रीति से वर्णित ऋषि सम्बन्धी उपासनाओं में उन ऋषियों का अधिकार असम्भव है ॥ ३१ ॥

कुतश्च देवादीनामनधिकारः—

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जगदवभासयति तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च । न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयार्थत्वादिना वा योगोऽवगन्तुं शक्यते मृदादिवदचेतनत्वावगमात् । एतेनाग्न्यादयो व्याख्याताः ।

स्यादेतत्—मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवग-

मादयमदोष इति। नेत्युच्यते। नहि तावल्लोको नाम किञ्चित् स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति, प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यविचारितविशेषेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिद्ध्यन्नर्थो लोकात् प्रसिध्यतीत्युच्यते, न चात्र प्रत्यक्षादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति। इतिहासपुराणमपि पौरुषेयत्वात् प्रमाणान्तरमूलमाकाङ्क्षति। अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थाः सन्तो न पार्थगर्थ्येन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे कारणभावं प्रतिपद्यन्ते। मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनियुक्ताः प्रयोगसमवायिनोऽभिधानार्था न कस्यचिदर्थस्य प्रमाणमित्याचक्षते। तस्मादभावो देवादीनामधिकारस्य ॥ ३२ ॥

किस हेतु से देवादि का विद्या में अनधिकार है? इस पर कहते हैं—कि आकाश में रहने वाले दिन रात्रि के भेद से भ्रमने वाला जो यह ज्योतिर्मण्डल (ज्योतिसमूह) जगत को प्रकाशता है, उसी अर्थ में आदित्य आदि देवता वाचक शब्द प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् ज्योतिर्मण्डल को ही आदित्य, सूर्य, चन्द्र, शुक्रादि शब्दों से कहा जाता है। वह लोक प्रसिद्धि और (आदित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता) सूर्य पूर्वदिशा में उदय होने वाला पश्चिम में अस्त होने वाला है, इत्यादि वाक्यशेष से समझा जाता है। उस ज्योतिर्मण्डल का, हृदयादि के साथ, विग्रह (देह) के साथ, चेतनता के साथ, वा आर्थित्वादि के साथ योग (सम्बन्ध) नहीं माना जा सकता है, न समझा जा सकता है। क्योंकि मृदादि के समान उसमें अचेतनता का अवगम (ज्ञान) होता है। इसी अचेतनता के ज्ञान से अग्निवायुभूमि भी ज्ञानानधिकारी व्याख्यात (कथित) हो गये, और अग्नि आदि शब्द अचेतनवाचित्वेन व्याख्यात हो गये। यदि कहा जाय कि ये दीख पड़नेवाले ज्योतिर्मण्डल अग्नि आदि अचेतन हों, परन्तु मन्त्र अर्थवादरूप ('वज्रहस्तः पुरन्दरः' 'सोऽरोदीत्') इत्यादि वाक्यों से तथा अनेक इतिहास, पुराण और लोक से देवादि के शरीरित्व के ज्ञान होने से यह अचेतनत्वमूलक अधिकार दोष नहीं। वहाँ कहा जाता है कि यह कहना नहीं बन सकता, क्योंकि लोक नामक तो कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है कि जिससे देव को शरीरत्वादि सिद्ध हो सकें, किन्तु विशेष विचार रहित प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रसिद्ध होता हुआ अर्थ, लोक से प्रसिद्ध है इस प्रकार कहा जाता है। देव सम्बन्धी शरीर भोग ऐश्वर्यादिविषयक प्रत्यक्षादि में से कोई भी प्रमाण नहीं है, और इतिहास पुराण भी पुरुष रचित होने से अपनी प्रमाणता के लिए प्रमाणान्तर रूप मूल की आकांक्षा करते हैं। अर्थवाद भी विधि के साथ एकवाक्यता पूर्वक स्तुत्यर्थक होता हुआ पृथक् अर्थ वाला होकर देवादि के शरीरादि की सत्ता में कारणता को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। श्रुति लिंगादि रूप छः प्रमाणों से कर्मों में विनियुक्त (सम्बद्ध) मन्त्र भी कर्म सम्बन्धी अर्थ को कहने वाले व्रीहि आदि के समान पदार्थ स्मरण कराने द्वारा कर्म में प्रत्यक्ष उपकारक हैं, किसी अर्थ के प्रमाण रूप नहीं हैं' इस प्रकार मीमांसक कहते हैं। उस विग्रहादि के अभाव से देवादि के अधिकार का अभाव है ॥ ३२ ॥

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

'तु' शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते । यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्वसम्भवोऽधिकारस्य, तथाप्यस्ति हि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां सम्भवः, अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य । न च क्वचिदसम्भव इत्येतावता यत्र सम्भवस्तत्राप्यधिकारोऽपोद्येत, मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणादीनां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः सम्भवति । तत्र यो न्यायः सोऽत्रापि भविष्यति । ब्रह्मविद्यां च प्रकृत्य भवति दर्शनं श्रौतं देवाद्यधिकारस्य सूचकम्—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १।४।१०) इति, 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्' इति, 'इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्' (छां० ८।७।२) इत्यादि च । स्मार्तमपि गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि ।

सूत्रगत 'तु' शब्द पूर्वपक्ष को व्यावृत करता है, कि पूर्वपक्ष समाप्त हो गया अब सिद्धान्त कहा जाता है कि बादरायण आचार्य तो देवादि के भी ज्ञानाधिकार का भाव मानते हैं, और कहते हैं कि देवता से व्यामिश्रित (सम्मिलित) मधु आदि विद्या में यद्यपि देवादि के अधिकार का असम्भव है । तथापि शुद्ध ब्रह्मविद्या में उनके अधिकार का सम्भव है, क्योंकि शुद्ध विद्या में अर्थित्व सामर्थ्य और अप्रतिषेधादि की अपेक्षा अधिकार को रहती है अर्थात् अर्थित्वादि से विद्या का अधिकार होता है । कहीं अधिकार का असम्भव भी है, इसी से जहाँ सम्भव है वहाँ अधिकार निवारित (निषिद्ध) नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्राह्मणादि सब मनुष्यों को भी राजसूयादि सब कर्मों में अधिकार नहीं सम्भव होता है, वहाँ उन ब्राह्मणादिकों में अधिकार के लिए जो न्याय (उचित) है, वह देवाधिकार के लिए भी होगा और ब्रह्मविद्या के प्रकरण में श्रौत दर्शन—श्रुति सम्बन्धी दृष्टि है कि (देवताओं में जिस जिस उस ब्रह्म को प्रत्यगात्मा समझा वह तद्रूप ही हो गया, वैसे ही ऋषियों में और मनुष्यों में ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप हुआ) । वे देव परस्पर विचार कर बोले कि हम सब इस समय उस आत्मा का अन्वेषण करें कि जिसका अन्वेषण (खोज) करके सब लोक और सब काम को प्राप्त करता है । उसके बाद (देवताओं का राजा इन्द्र और असुरों का राजा विरोचन विद्याप्रद प्रजापति के पास में गये) इत्यादि वचन देवाधिकार का दर्शन (लिंग) रूप हैं । गन्धर्व और याज्ञवल्क्य के सम्वादादि रूप स्मृतियाँ भी इस अर्थ में प्रमाण हैं ।

यदप्युक्तं—ज्योतिषि भावाच्च—इति । अत्र ब्रूमः—ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात् । अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद्देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्चावस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम् । तथाहि श्रूयते

सुब्रह्मण्यार्थवादे–मेधातिथेर्मेषेति, 'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंश० ब्रा० १।१) इति। स्मर्यते च—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति। मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते–'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्' इत्यादिदर्शनात्। ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वचेतनत्वमभ्युपगम्यते, चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादिषु व्यवहारादित्युक्तम्। यदप्युक्तं—मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसामर्थ्यम्—इति। अत्र ब्रूमः—प्रत्ययाप्रत्ययौ हि सद्भावासद्भावयोः कारणं, नान्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा। तथाह्यन्यार्थमपि प्रस्थितः पथि पतितं तृणपर्णाद्यस्तीत्येव प्रतिपद्यते। अत्राह—विषम उपन्यासः, तत्र हि तृणपर्णादिविषयं प्रत्यक्षं प्रवृत्तमस्ति येन तदस्तित्वं प्रतिपद्यते। अत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थेऽर्थवादे न पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याऽध्यवसातुम्। नहि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक्प्रत्यायकत्वमस्ति। यथा 'न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वाक्ये पदत्रयसम्बन्धात्सुरापानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते, न पुनः सुरां पिबेदिति पदद्वयसम्बन्धात्सुरापानविधिरपीति।

जो यह कहा है कि 'ज्योतिषि भावाच्च' ज्योति में देव शब्द का प्रयोग होता है, यहाँ कहते हैं कि देवता वाचक आदित्यादि शब्द ज्योति आदि विषयक होते हुए भी चेतना वाले ऐश्वर्यादियुक्त तत्तत् देवतात्मा का बोध कराते हैं, क्योंकि मन्त्र अर्थवादादि में उस चेतनत्व रूप से व्यवहार है (कथन है) और देवताओं को ऐश्वर्य के सम्बन्ध से ज्योति आदि रूप से स्थिति के लिए, तथा यथेष्ट तत्तत् शरीर को ग्रहण करने के लिए सामर्थ्य है। क्योंकि वैसा ही शरीरी रूप का व्यवहार सुब्रह्मण्य (उद्गातृगणस्थ ऋत्विक्) के अर्थवाद में सुना जाता है कि (इन्द्र ने मेष होकर कण्व के पुत्र मेधातिथि का हरण किया) इससे उक्त अर्थवाद में (मेधातिथि का मेष) ऐसा सम्बोधन इन्द्रविषयक है। एवं स्मृति में सुना जाता है कि (आदित्य पुरुष होकर कुन्ती के पास गया) और मृदादि (भूमि आदि) में भी चेतन अधिष्ठाता माने जाते हैं क्योंकि (मृत्तिका बोली, जल बोला) इत्यादि वचन देखा जाता है, इससे मृत्तिकादि के समान आदित्यादि को सर्वथा जड़ कहना नहीं बन सकता है, और आदित्यादि में ज्योति आदि रूप भूतात्मक पदार्थ को तो अचेतनत्व माना ही जाता है, किन्तु मन्त्र अर्थवादादि में चेतन रूप से व्यवहार से उन भूतात्माओं के अधिष्ठाता देवतात्मा चेतन हैं, यह कहा गया है। जो यह कहा था कि मन्त्र और अर्थवाद अन्य प्रयोजन के लिए हैं, इससे देवता के विग्रह (शरीर) आदि के प्रकाशन (बोध कराने) में उनका सामर्थ्य नहीं है। यहाँ कहते हैं कि पदार्थ के ज्ञान और अज्ञान पदार्थ की सत्ता असत्ता का कारण है, वचन के अन्यार्थत्व वा अनन्यार्थत्व किसी का कारण नहीं है, जैसे कि अन्य प्रयोजन के लिए चला हुआ मनुष्य भी मार्ग पतित तृणपर्णादि को 'है' ऐसा समझता

है, वैसे ही अन्य प्रयोजन के लिए उच्चारित मन्त्र अर्थवाद से प्रतीत होने वाले अर्थ हैं ऐसे समझे जायेंगे। यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि मन्त्रार्थादि का तृणपर्णादि रूप दृष्टान्त विषय है, क्योंकि दृष्टान्त में तो तृणपर्णादि विषयक प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त होता है कि जिससे तृणपर्णादि की सत्ता ज्ञात होती है, और यहाँ दार्ष्टान्तिक में तो विधि वाक्य के साथ एकवाक्यता रूप से स्तुत्यर्थक अर्थवाद में पृथक् अर्थ के प्रतिपादक रूप से सिद्ध वृत्तान्त भूतार्थ विग्रहादि विषयक वाक्य की प्रवृत्ति का निश्चय नहीं कर सकते हैं। जैसे कि (न सुरां पिबेत्) मदिरा न पिये, इस न-युक्त वाक्य में तीनों पद के सम्बन्ध से सुरापान का निषेध रूप एक ही अर्थ प्रतीत होता है, और 'न' रहित दो पद के संबंध से (सुरा पिये) इस प्रकार सुरापान की विधि भी नहीं प्रतीत होती है, वैसे अर्थवाद में स्तुत्यर्थ के बाद भूतार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती।

अत्रोच्यते–विषम उपन्यासः। युक्तं यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्वयस्यैकत्वादवान्तरवाक्यार्थस्याग्रहणम्, विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्यानन्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते। यथाहि–'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां वायव्यादिपदानां विधिना सम्बन्धः' नैवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्येषामर्थवादगतानां पदानाम्। नहि भवति वायुर्वा आलभेतेति क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेतेत्यादि। वायुस्वभावसङ्कीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैवंशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति। तद्यत्र सोऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्तते यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन। यत्र तु तदुभयं नास्ति तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद् गुणवादः स्यादाहोस्वित् प्रमाणान्तराविरोधाद्विद्यमानार्थवाद इति प्रतीतिशरणैर्विद्यमानवाद आश्रयणीयो न गुणवादः। एतेन मन्त्रो व्याख्यातः। अपिच विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्, नहि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते। नच चेतस्यनारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते। श्रावयति च—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति। नच शब्दमात्रमर्थस्वरूपं सम्भवति, शब्दार्थयोर्भेदाद्, तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूपमवगतं न तत्तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम्। इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि सम्भवति। भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथाच व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति

ब्रूयात् । ततश्च राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात् । इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत, ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्, तस्माद्धर्मोत्कर्षवशाच्चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते । अपिच स्मरन्ति—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' (यो० सू० २।४४) इत्यादि । योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम् ।

यहाँ सिद्धान्ती कहते हैं कि अर्थवाद वाक्य का 'न सुरां पिबेत्' यह वाक्यरूप दृष्टान्त विषम है । क्योंकि एकवाक्यता दो प्रकार की होती है, एक तो पदैकवाक्यता होती है, दूसरी वाक्यैकवाक्यता । जहाँ एकवाक्यगत अनेक पद रहते हैं, उनका एक बार जो परस्पर अन्वय होता है, उसको पदैकवाक्यता कहते हैं, और जहाँ दो वाक्य अलग-अलग पदैकवाक्यता को प्राप्त होकर फिर दोनों एकवाक्यता को प्राप्त होते हैं उसको वाक्यैकवाक्यता कहते हैं । यहाँ (सुरां न पिबेत्) जो सुरापान का प्रतिषेध है, वह पदैकवाक्यता से पदों का सम्बन्ध एक है, इससे (सुरां पिबेत्) सुरा पिवे इस प्रकार अवान्तर वाक्यार्थ (मध्यगत भिन्न वाक्यार्थ) का अग्रहण होना ही युक्त है । विधिवाक्य अर्थवाद में से जो अर्थवाद में स्थित पद है, वह भूतार्थ विषयक पृथक् सम्बन्ध को प्राप्त होकर किमर्थता के वश से अर्थात् इस वाक्य में फलादि के अश्रवणादि से ये स्तुति आदि वाक्य किसके लिए हैं, ऐसी आकांक्षा के वश से यथेष्ट विधि के स्तावकत्व को प्राप्त होते हैं । जैसे कि (विभूति की इच्छावाला श्वेत पशु का वायु के लिए अर्पण करे) इस स्थान में विधिवाक्य में स्थिर वायव्यादि पदों का विधि के साथ सम्बन्ध होता है, इस प्रकार अर्थवाद गत पदों का विधि के साथ अन्वय नहीं होता है । अर्थवाद है कि (वायु निश्चय शीघ्रगामिनी देवता है, जो कोई उस वायु के अपने भाग द्वारा उसको तृप्त करता है, उसको वह वायु विभूति प्राप्त कराता है ।) यहाँ ऐसा सम्बन्ध नहीं होता है कि वायुरालभेत, वा क्षेपिष्ठा देवता आलभे, इत्यादि । अर्थात् अर्थवाद को विधि के साथ पदैकवाक्यता नहीं होती है, किन्तु वायु के स्वभाव के संकीर्तन द्वारा अवान्तर अन्वय को प्राप्त होकर, इस प्रकार के श्रेष्ठ देववाला यह कर्म है, इससे श्रेष्ठ है इस प्रकार विधि की स्तुति अर्थवाद करते हैं । उन अर्थवादों में जहाँ वह अवान्तर वाक्यार्थ प्रमाणान्तर का विषय रहता है, वहाँ उस प्रमाणान्तर सिद्ध का अनुवाद द्वारा अर्थवाद प्रवृत्त होता है, जैसे कि (अग्निर्हिमस्य भेषजम्) अग्नि ठंढी को निवृत्त करनेवाली है, यह वाक्य है, और जहाँ प्रमाणान्तर से विरुद्ध अर्थ रहता है वहाँ गुणवाद से अर्थवाद प्रवृत्त होता है, जैसे कि (आदित्यो यूपः) यज्ञस्तम्भ सूर्य है, यहाँ तेजस्वित्व गुणमात्र में तात्पर्य है । और जहाँ ये दोनों प्रकार नहीं हैं, वहाँ इन्द्र, वरुणादि के वर्णनरूप अर्थवाद प्रमाणान्तर के अभाव से क्या गुणवाद होंगे, अथवा प्रमाणान्तर से अविरोधता के कारण

विद्यमानार्थवाद होंगे। इस प्रकार विचार कर प्रतीतिरूप शरणवाले विचारशीलों को विद्यमानार्थवाद का आश्रयण करना चाहिए, गुणवाद का नहीं, इसी से मन्त्र भी व्याख्यात हो गये, अर्थात् मन्त्रार्थ में जहाँ प्रमाणान्तर से विरोधादि नहीं हैं, वहां मन्त्र भी विद्यमान अर्थ को कहने वाले हैं इत्यादि। दूसरी बात है कि इन्द्रादि देव के अभाव मानने पर देवसम्बन्धी किसी कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि इन्द्रादि देवसम्बन्धी हविषों के विधान करनेवाली विधियोंको इन्द्रादि के स्वरूप अपेक्षित हैं, जिससे स्वरूप रहित इन्द्रादि देव चित्त में ध्यान धारण योग्य नहीं हो सकते हैं, और चित्त में आरूढ़ हुए बिना तत्तत् देवताओं के लिए हविष का प्रदान नहीं कर सकते। श्रुति सुनाती है कि (जिस देवता के लिङ्ग हविर्गृहीत हों वषट् करने से प्रथम उस देव का ध्यान करे।) यदि कोई कहे कि विधि को अपेक्षित हो तो देव का स्वरूप माना जाय परन्तु विधि को देवस्वरूप की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि शब्दात्मक ही देव हैं। वहाँ कहा जाता है कि शब्दमात्र अर्थ का स्वरूप सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ का भेद है। इस प्रकार देवस्वरूप के अपेक्षित होने पर मन्त्र और अर्थवाद में इन्द्रादि का जैसा स्वरूप अवगत (ज्ञात) हुआ है, वह वैसा है, इसलिए शब्दप्रमाणवादी से प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। एवं इतिहास-पुराण भी मन्त्र और अर्थवाद मूलक होने से व्याख्यात मार्ग से प्रमाणरूप होते हुए देवादि के विग्रहादि को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं, और प्रत्यक्षमूलक भी देव शरीरादि की सिद्धि का सम्भव है। क्योंकि हमलोगों के अप्रत्यक्ष भी पदार्थ चिरन्तन-प्राचीनों को प्रत्यक्ष होता है। जैसे कि स्मृति है कि व्यासादि देवताओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। जो कोई कहेगा कि वर्तमान मनुष्यों के समान पूर्व के लोगों को भी देवादि के साथ व्यवहार करने का सामर्थ्य नहीं था, वह जगत् की विचित्रता का भी निषेध करेगा। इस समय के समान अन्य काल में भी सार्वभौम (चक्रवर्ती) क्षत्रिय नहीं थे ऐसा भी वह कहेगा। तब तो राजसूयादि की विधि निराकृत हो जायगी। वह वर्तमान काल के समान कालान्तर में भी वर्णाश्रम धर्म को प्रायः अव्यवस्थित मानेगा, तब तो व्यवस्था-विधायक शास्त्र अनर्थक होगा। जिससे धर्मोत्कर्षवश (बल) से चिरन्तन लोग देवादि के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे यही मानना संगत है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि (स्वाध्याय वेदाध्ययन मन्त्र जप परायण होने से इष्टदेव का दर्शन संभाषणादि सम्बन्ध होता है) इत्यादि। अणिमा, गरिमा आदि रूप ऐश्वर्य की प्राप्ति रूप फल वाला योग भी योगस्मृति में स्मृत है तो साहस (धृष्टता) मात्र से प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है।

श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति—

"पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगोऽग्निमयं शरीरम् ॥" (श्वे० २।

१२) इति । ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्येनास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम् । तस्मात्समूलमितिहासपुराणम् । लोकप्रसिद्धिरपि न सति संभवे निरालम्बनाध्यवसातुं युक्ता, तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमः । ततश्चार्थित्वादिसम्भवादुपपन्नो देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः । क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते ॥ ३३ ॥

श्रुति भी योग की महिमा को प्रख्यात करती कहती है कि (शरीर में स्थिर जो पृथिवी आदि पांच भूतों के भाग हैं, उन्हें धारणाओं से समुत्थित-विजित होने पर, और अणिमादि रूप योगगुण के प्रवृत्त-प्राप्त होने पर, योगाग्निमय शरीर को प्राप्त योगी को रोग, जरा, मृत्यु नहीं प्राप्त होते हैं । योगयुक्त मन्त्र ब्राह्मण के द्रष्टा ऋषि के सामर्थ्य को अपने सामर्थ्य के तुल्य समझना युक्त नहीं है जिससे इतिहास, पुराण समूल हैं, इससे प्रमाण है । एवं लोक प्रसिद्धि भी श्रुति आदि मूल के सम्भव हो सकने से निराश्रय के योग्य नहीं है । इससे मन्त्रादि द्वारा देवादि के भी शरीरित्वादि का ज्ञान सिद्ध है, और उस शरीरित्वादि से अर्थित्वादि के सम्भव होने से देवादि को भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है । इस प्रकार ब्रह्मविद्या में देवादि का अधिकार होने ही पर क्रममुक्ति विषयक दर्शन (उपासनादि के उपदेशात्मक श्रुतियां) उपपन्न (युक्त) हो सकती हैं । अन्यथा देव को ज्ञान के अभाव से क्रममुक्ति नहीं सिद्ध हो सकेगी ॥ ३३ ॥

अपशूद्राधिकरण (९)

शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि ।
अत्रैकवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान् ।
देवाः स्वयंभातवेदाः शूद्रोऽध्ययनवर्जनात् ।
नाधिकारी श्रुतौ स्मार्ते त्वधिकारो न वार्यते ॥

शुगस्येत्यादि सूत्र में शुक्-अस्य-तदनादरश्रवणात्-तदाद्रवणात्-सूच्यते-हि छः पद हैं । संक्षिप्तार्थ है कि (तस्य जानश्रुतेस्तस्य हंसस्यानादरश्रवणात्-शुग् (शोकः) उत्पन्ना तया शुचा च रैक्वं प्रति तस्य जानश्रुतेर्गमनात्तद्रैक्वेन शूद्रशब्देन सूच्यते नतु तस्य शूद्रत्वाच्छूद्र उच्यते—) इस जानश्रुति को उस हंस के अनादर वचन के सुनने से शोक हुआ, और उस शोक ही से उसका रैक्व ऋषि के प्रति गमन हुआ सर्वज्ञ ऋषि ने उस शोक को समझाने के लिये उसे शूद्रशब्द से कहा, शूद्र होने से नहीं । यहां छान्दोग्य श्रुति की ऐसी कथा है कि जानश्रुति राजा ने ऋषियों की बहुत सेवा की जिससे प्रसन्न होकर उसे ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त कराने के लिये हंसरूप होकर रात्रि के समय उसके पास गये जहां वह छत पर सोया था । वहां उस हंस पंक्ति में अगले हंस को पिछले हंस ने कहा कि इस तेजस्वी राजा के पास में नहीं जाओ, यह तेज से जला देगा । अगले हंस ने कहा कि क्या इस समान मनुष्य को सयुग्मा, गाड़ीसहित रहनेवाला रैक्व के समान कहते हो, इस प्रकार अपनी समान मनुष्यता आदि को सुनकर उसको शोक हुआ,

फिर सूत द्वारा रैक्व का पता लगाकर छः सौ गौ हार, रथ लेकर उपदेश लेने के लिये गया ऋषि ने उतने में सन्तुष्ट नहीं होने के कारण उपदेश नहीं दिया। राजा ने समझा कि ये विधुर हैं विवाह करना चाहते हैं, जिससे लड़की अर्पण किया और वे विद्या का उपदेश दिये इत्यादि। वेदविद्या में शूद्र अधिकारी होता है, अथवा नहीं ? ऐसा संदेह होने पर पूर्वपक्ष है कि तीन वर्ण से भिन्न देवादि जैसे अधिकारी होते हैं, वैसे ही शूद्र भी अधिकारी है। उत्तर पक्ष है कि देव स्वयं भाषित वेदवाले होते हैं, इससे ज्ञान के अधिकारी होते हैं। किंतु वेदाऽध्ययन का शूद्र में अभाव रहता है अतः श्रुति में शूद्र अनधिकारी है, स्मृति में अनाधकार का वारण नहीं किया जाता है ॥ १-२ ॥

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

यथा मनुष्याधिकारनियममपोद्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तस्तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्याऽप्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितुमिदमधिकरणमारभ्यते। तत्र शूद्रस्याऽप्यधिकारः स्यादिति तावत् प्राप्तम्, अर्थित्वसामर्थ्ययोः सम्भवात्, 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै० सं० ७।१।१।६) इतिवत् 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' इति च निषेधाश्रवणात्। यच्च कर्मस्वनधिकारकारणं शूद्रस्यानग्नित्वं न तद्विद्यास्वधिकारस्यापवादकं लिङ्गम्। नह्याहवनीयादिरहितेन विद्या वेदितुं न शक्यते। भवति च लिङ्गं शूद्राधिकारस्योपोद्वलकम्, संवर्गविद्यायां हि जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्रशब्देन परामृशति— 'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' (छां० ४।२।३) इति। विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि विशिष्टविज्ञानसम्पन्नाः स्मर्यन्ते। तस्मादधिक्रियते शूद्रो विद्यास्विति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—न शूद्रस्याधिकारः, वेदाध्ययनाभावात्। अधीतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते। न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य। उपनयनस्य च वर्णत्रयविषयत्वात्। यत्त्वर्थित्वं न तदसति सामर्थ्येऽधिकारकारणं भवति। सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति। शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्योपेक्षितत्वात्। शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्। यच्चेदं—'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'—इति तन्न्यायपूर्वकत्वाद्विद्यायामप्यनवक्लृप्तत्वं द्योतयति, न्यायस्य साधारणत्वात्। यत्पुनः संवर्गविद्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं मन्यसे, न तल्लिङ्गं, न्यायाभावात्। न्यायोक्ते हि लिङ्गदर्शनं द्योतकं भवति, नचात्र न्यायोऽस्ति। कामं चायं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्, तद्विषयत्वात्, न सर्वासु विद्यासु, अर्थवादस्थत्वात्तु न क्वचिदप्ययं शूद्रमधिकर्तुमुत्सहते। शक्यते चायं शूद्रशब्दोऽधिकृतविषये योजयितुम्। कथमित्युच्यते—'कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ' (छां० ४।१।३) इत्यस्माद्धंसवाक्यादात्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत्पेदे, तामृषी रैक्वः शूद्रशब्देनानेन सूचयांबभूवात्मनः परोक्षज्ञानताख्यापनायेति

गम्यते, जातिशूद्रस्यानधिकारात्। कथं पुनः शूद्रशब्देन शुगुत्पन्ना सूच्यते इति ? उच्यते—तदाद्रवणात्, शुचमभिदुद्राव शुचा वाभिदुद्रुवे शुचा वा रैक्वमभिदुद्रावेति शूद्रः, अवयवार्थसम्भवाद्रूढ्यर्थस्य चासम्भवात्। दृश्यते चायमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम् ॥ ३४ ॥

जैसे मनुष्य मात्र को वेदमूलक विद्या में अधिकार है, इस नियम को हटा कर देवादि का विद्या में अधिकार कहा है। इसी प्रकार द्विजाति के अधिकार के नियम को हटा कर, शूद्र का भी विद्या में अधिकार होना चाहिए, इस आशंका की निवृत्ति के लिए इस अधिकरण का आरम्भ किया जाता है। वहाँ शूद्र का भी अधिकार होना चाहिए इस प्रकार प्रथम प्राप्त होता है, क्योंकि शूद्र में भी अर्थित्व और सामर्थ्य का सम्भव है। (तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः) आहित अग्नि न होने के कारण शूद्र यज्ञ में असमर्थ है। इस वचन के समान शूद्र विद्या में असमर्थ है, इस प्रकार का निषेध नहीं सुना गया है। और जो शूद्र को वैदिक कर्म में अनधिकार का कारण आहित अग्नि-रहितता है, वह विद्या में अधिकार का बाधक लिंग नहीं है। क्योंकि आहवनीय आदि अग्नि रहित से विद्या नहीं समझी जा सके, यह बात नहीं है। एवं शूद्र का भी विद्या में अधिकार सिद्ध करने वाला लिंग (हेतु) है। क्योंकि संवर्ग विद्या में श्रवणेच्छुक पौत्रायण जानश्रुति को रैक्व ऋषि ने शूद्र शब्द से परामर्श (सम्बोधन) किया है कि (हे शूद्र ! हार और गौओं के सहित इत्वा (रथ) तेरे ही रहें) और शूद्रयोनि में होने वाले विदुर आदि भी विशिष्ट विज्ञान सम्पन्न कहे जाते हैं, जिससे शूद्र भी विद्या में अधिकारी होता है। ऐसा पूर्व पक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि शूद्र को वेद मूलक विद्या में अधिकार नहीं है, क्योंकि उसको वेद के अध्ययन का अभाव है। तथा जो वेद को विधिपूर्वक पढ़ा हो, सामान्य रूप से वेदार्थ को जानता है, वही वेदार्थ के विचारादि में अधिकारी होता है, और शूद्र को वेदों का अध्ययन नहीं है, क्योंकि वेद का अध्ययन उपनयन संस्कारपूर्वक होता है। उपनयन तीन वर्ण विषयक ही विहित है। (जैसे—वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्) और जो अर्थित्व (इच्छा) है, वह भी सामर्थ्य के नहीं रहने पर अधिकार का कारण नहीं होता है शास्त्र सम्बन्धी अर्थ में केवल लौकिक सामर्थ्य भी अधिकार का कारण नहीं होता है, किन्तु शास्त्रीय अर्थ में शास्त्रीय सामर्थ्य की अपेक्षा होती है और अध्ययन के निराकरण से ही शूद्र में शास्त्रीय सामर्थ्य निराकृत हो गया है। जो यह शूद्र को यज्ञ में असमर्थ कहा गया है, वह अध्ययनादि न्यायपूर्वक होने से विद्या में भी असमर्थत्व का द्योतन (प्रकाश) करता है, क्योंकि न्याय साधारण है, इससे यज्ञ शब्द वेदार्थ मात्र का बोधक है। और जो संवर्ग विद्या में शूद्र शब्द के श्रवण को शूद्र के अधिकार में लिंग मानते हो, सो न्याय के अभाव से लिंग नहीं है। क्योंकि न्याय से कथित अर्थ में लिङ्ग का दर्शन उस अर्थ का द्योतक होता है,

यहां न्याय नहीं है। एवं लिंग को मानने पर निषादस्थपति न्याय से यह शूद्र शब्द एक संवर्ग विद्या में शूद्र के अधिकार को यथेष्ट सिद्ध कर सकेगा, क्योंकि संवर्ग विषयक वाक्य में शूद्र का प्रयोग है, सब विद्याओं में अधिकार को नहीं सिद्ध करेगा। और निषाद शब्द के विधि में श्रवण से वह अधिकार का साधक होता है, और यहाँ शूद्रपद के अर्थवाद में श्रवण से यह शूद्र पद किसी शूद्र को कहीं अधिकार में नियुक्त नहीं कर सकता। यह शूद्र शब्द विद्या में अधिकृत विषय में भी नियुक्त किया जा सकता है, कैसे किया जा सकता है? इसका समाधान किया जाता है कि (शकट युक्त रैक्व के तुल्य किस वराक अज्ञ इस मनुष्य के विषय में यह वचन कह रहे हो) रैक्व का महान् तेज है, इसका कहाँ तेज है। इस प्रकार के हंस के वचन के श्रवण से पौत्रायण जानश्रुति को शोक उत्पन्न हुआ, उस शोक को रैक्व ऋषि ने इस शूद्र शब्द से सूचन किया, सो अपनी परोक्षज्ञता को जनाने के लिए किया, यह यहाँ अवगत (ज्ञात) होता है। क्योंकि जन्मशूद्र का अनधिकार है, जिज्ञासा हुई कि शूद्र शब्द से प्रथम उत्पन्न शोक कैसे सूचित किया गया? शूद्र शब्द में कोई शोकार्थक वर्ण तो नहीं है, न शूद्र शब्द शोकवाचक है, तब कहा जाता है कि तदाद्रवणात्, उस शोक को प्राप्त हुआ, वा शोक से प्राप्त (ग्रसित) हुआ, वा शोक से रैक्व के पास में गया इस अर्थ में योगव्युत्पत्ति से शोक सूचित होता है रूढ़ि वृत्ति से नहीं। क्योंकि अवयवार्थ का ही यहाँ सम्भव है, रूढ़ि अर्थ का नहीं। यही अर्थ इस आख्यायिका में दीखता है ॥ ३४॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः, यत्कारणं प्रकरणनिरूपणेन क्षत्रियत्वमस्योत्तरत्र चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहाराल्लिङ्गाद्गम्यते। उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथिरभिप्रतारिणः क्षत्रियः संकीर्त्यते—'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं सूदेन परिविष्यमाणो ब्रह्मचारी बिभिक्षे' (छां० ४।३।५) इति। चैत्ररथित्वं चाभिप्रतारिणः कापेययोगादवगन्तव्यम्, कापेययोगो हि चित्ररथस्यावगतः 'एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्' (ताण्ड्य ब्रा० २०।१२।५) इति। समानान्वयाच्च, प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति। 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत' इति च क्षत्रपतित्वावगमात् क्षत्रियत्वमस्यावगन्तव्यम्। तेन क्षत्रियेणाभिप्रतारिणा सह समानायां विद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति। समानानामेव हि प्रायेण समभिव्याहारा भवन्ति। क्षत्तृप्रेक्षणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः अतो न जातिशूद्रस्याधिकारः ॥ ३५ ॥

वक्ष्यमाण हेतु से भी जानश्रुति जन्म शूद्र नहीं था, जिस कारण से प्रकरण के देखने से और आगे चैत्ररथ अभिप्रतारी क्षत्रिय के साथ अध्ययन कथन रूप लिंग से

इस जानश्रुति को क्षत्रियत्व समझा जाता है। आगे संवर्ग विद्या के वाक्य शेष में चैत्ररथि अभिप्रतारी क्षत्रिय का कथन है कि (शुनक के पुत्र कापेय और कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी राजा को भोजन के लिए रसोई जब परोसी जाती थी, अर्थात् भंडारी पारस करता था, तब एक ब्रह्मचारी ने भिक्षा की याचना की)। अभिप्रतारी के चैत्ररथित्व को कापेय के सम्बन्ध से समझना चाहिये (इस द्विरात्र के द्वारा कापेयों ने चैत्ररथ से यज्ञ करवाया) इत्यादि से चित्ररथ को कापेय से सम्बन्ध ज्ञात होता है। और प्रायः समान वंश वालों के समान वंश वाले याजक (ऋत्विक् पुरोहित) होते हैं (उस चित्ररथ से चैत्ररथि नाम वाला एक क्षत्रपति जन्मा) इस कथन से क्षत्रपतित्व के ज्ञान से उनके क्षत्रियत्व को भी समझना चाहिये। उस क्षत्रिय अभिप्रतारी के साथ एक विद्या में जानश्रुति का भी संकीर्तन जानश्रुति के क्षत्रियत्व का सूचन करता है। क्योंकि समान पुरुष का ही प्रायः साथ कथन अध्ययन होते हैं और रैक्व का अन्वेषण के लिए सारथी की प्रेरणा आदि ऐश्वर्य के सम्बन्ध से भी जानश्रुति के क्षत्रियत्व का ज्ञान होता है। इससे शूद्र जाति का विद्या में अधिकार नहीं है ॥ ३५ ॥

संस्कारपरामर्शात्तद्भावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः यद्विद्याप्रदेशेषूपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते- 'तं होपनिन्ये' (श० ब्रा० ११।५।३।१३) 'अधीहि भगव इति होपससाद' (छां० ७।१।१) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति' 'ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः' (प्र० १।१) इति च, 'तान्हानुपनीयैव' (छां० ५।११।७) इत्यपि प्रदर्शितैवोपनयनप्राप्तिर्भवति। शूद्रस्य च संस्काराभावोऽभिलप्यते, 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु० १०४) इत्येकजातित्वस्मरणात्, 'न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति' (मनु० १०।१२।६) इत्यादिभिश्च ॥ ३६ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी शूद्र का अधिकार नहीं है कि जिससे विद्या के उपदेशादि के स्थानों में उपनयनादि संस्कार परामृष्ट (कथित-विचारित) होते हैं कि (आचार्य ने शिष्य का उपनयनात्मक संस्कार किया) विद्यार्थी नारद भी मन्त्रों का उच्चारण करते हुए सनत्कुमार जी के पास गये और कहा कि हे भगवन् (उपदेश दो) (वेदाध्ययन परायण सगुण ब्रह्मनिष्ठ निर्गुण परब्रह्म के अन्वेषण में लगे हुए भरद्वाजादि छः ऋषि, यह पिप्पलाद हमारी जिज्ञासा के विषय सब वस्तु को कहेंगे, ऐसा निश्चय करके वे लोग हाथ में लकड़ी लेते हुए भगवान् पिप्पलाद के शरण में प्राप्त हुए) और (उन औपमन्यवादि ब्राह्मणों को अश्वपति राजा ने उपनयन किए बिना विद्या पढ़ायी) यह कथन भी उपनयन की प्राप्ति दिखलाता ही है। और शूद्र के संस्कार का अभाव कहा जाता है कि (शूद्र चौथा वर्ण एक जन्म वाला है) इस प्रकार उपनयन संस्कार रहित होने से

शूद्र एक जाति कहा है। शूद्र में संस्कृत पुरुषों के कर्तव्य नित्य कर्मादि के अनाचरण जन्य कुछ भी पाप नहीं लगता है, क्योंकि वह उन कर्मों के हेतु संस्कार के योग्य नहीं है, संस्कार योग्य को संस्कार के बिना और संस्कृत को उचित कर्म के त्याग से दोष का भागी होना पड़ता है इत्यादि ॥ ३६ ॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः। यत्सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतमः उपनेतुमनुशासितुं च प्रवर्त्ते 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः' (छां० ४ ४।५) इति श्रुतिलिङ्गात् ॥३७॥

इससे भी शूद्र का अधिकार नहीं है कि जिससे गोत्र के ज्ञान से रहित मृतपितृक जाबाल के सत्य वचन से शूद्रत्व के अभाव का निश्चय होने पर गौतम ऋषि उसके उपनयन और अध्यापन के लिए प्रवृत्त हुए और बोले कि (हे सोम्य ! इस प्रकार का सत्य ब्राह्मण से अन्य नहीं बोल सकता है, लकड़ी ला तेरा उपनयन करूँगा, तुम सत्य से नहीं गिरे हो) इस श्रुति रूप लिंग से भी शूद्र का अनधिकार सिद्ध होता है ॥३६॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति, वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति, 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च। अत एवाध्ययनप्रतिषेधः, यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति स कथमश्रुतमधीयीत। भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अत एव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति, 'द्विजातीयानामध्ययनमिज्या दानम्' इति च। येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं, ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम् ॥ ३८ ॥

इस अग्रिम हेतु से भी शूद्र का आधकार नहीं है, जिससे इस शूद्र के श्रवण, अध्ययन तथा अर्थ तीनों का प्रतिषेध स्मृति से होता है, वेदश्रवण का प्रतिषेध, वेदाध्ययन का प्रतिषेध, और उसके अर्थ के ज्ञान का और अनुष्ठान का प्रतिषेध स्मृति से कहे जाते हैं। इससे शूद्र के ये तीनों निषिद्ध हैं : प्रथम श्रवण का प्रतिषेध है कि (पढ़ने वालों के पास में जाकर प्रमाद से वेद को सुनने वाले इस शूद्र के दोनों कानों को सीसा और लाह से प्रायश्चित्त के लिए भर देना चाहिये) और (जो

यह शूद्र है, वह पद्यु-गमन कर्ता जंगम श्मशान है, जिससे शूद्र के समीप में वेद नहीं पढ़ना चाहिये इत्यादि। इस श्रवण के निषेध से ही अध्ययन का निषेध सिद्ध होता है, क्योंकि जिसके समीप में भी वेद अध्ययन योग्य नहीं है, वह श्रवण रहित वेद का अध्ययन कैसे करेगा ? और वेद का उच्चारण करने पर शूद्र की जिह्वा काटनी चाहिए। वेद को कण्ठस्थ करने पर शरीर का भेदन-छेदन करना चाहिये, ऐसी भी स्मृतियाँ हैं। इसी से शूद्र के लिए वेदार्थ का ज्ञान और अनुष्ठान अर्थात् निषिद्ध होते हैं, और शूद्र को मति (वेदार्थ का ज्ञान) नहीं देना चाहिए। वेद का अध्ययन, यज्ञ और दान द्विजों के धर्म हैं, इत्यादि भी स्मृति हैं। परन्तु विदुर, धर्मव्याध आदिकों को पूर्व जन्म कृत श्रवणादि के संस्कारों से ज्ञान उत्पत्ति हुई या होती है, उनके ज्ञान के फल की प्राप्ति का प्रतिषेध नहीं कर सकते हैं, ज्ञान का फल ऐकान्तिक अवश्यंभावी अव्यभिचरित होता है। एवं जिन शूद्रों को पूर्व के संस्कार से ज्ञान नहीं हो और वे साधक जिज्ञासु हों, उनके लिए (चारों वर्ण को श्रवण करना चाहिये) इस महाभारत के कथनानुसार इतिहास पुराणादि के श्रवण द्वारा ज्ञान में चारों वर्ण के अधिकार का कथन है। वेदपूर्वक ज्ञान में शूद्रों का अधिकार नहीं है, यह स्थिर सिद्धान्त है।

(न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्राह्मणं पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्। म०भा०शा० १८८/१०)

(सर्व एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रः) यह महाभाष्य का वचन है। इस प्रकार पारमार्थिक रूप में अनादि कोई जाति शूद्र नहीं है और न हो सकता है। जानश्रुति प्रथम स्वभाव शूद्र रहा हो उस आशय से रैक्व ऋषि ने शूद्र कहा था, और राज्य मिलने पर उसमें क्षात्र स्वभाव आया, और राज्य प्राप्ति के उत्तर काल में उस क्षत्रियत्व की अवगति से चैत्र (चित्र अद्भुत) रथ के साथ सम्बन्ध द्वारा लिङ्ग से व्यक्त हुआ वह स्वभाव समझा गया इत्यादि। किसी महात्मा ने भी कहा है कि—

सरल सुशुद्ध सुजान सिख, समझै गुरुवर बैन।
सो पावै सुखसुयश अति, मुक्ती अविचल चैन ।। ३८ ।।

कम्पनाधिकरण (१०)

जगत्कम्पनकृत्प्राणोऽशनिवायुरुतेश्वरः।
अशनिर्भयहेतुत्वाद्वायुर्वा देहचालनात् ।।
वेदनादमृतत्वोक्तेरीशोऽन्तर्यामिरूपतः।
भयहेतुश्चालनन्तु सर्वशक्तियुतत्वतः ।।

कम्पन का हेतु रूप सुना गया प्राण, अशनि है, या वायु, अथवा ईश्वर। ऐसा संशय हाने पर पूर्वपक्ष है कि भय का हेतु होने से अशनि है, अथवा देह के चालन से वायु हो सकता है। सिद्धान्त है कि उसके ज्ञान से मुक्ति कही गई है, इससे ईश्वर है, और यही अन्तर्यामीरूप से भ्रम का हेतु है, एवं सर्वशक्ति युक्त होने से चालन भी करता है ।। १-२ ।।

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

अवसितः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः। प्रकृतामेवेदानीं वाक्यार्थविचारणां प्रवर्तयिष्यामः। 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्, महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (का० २।६।२) इति एतद्वाक्यम् 'एजृ कम्पने' इति धात्वर्थानुगमाल्लक्षितम्। अस्मिन् वाक्ये सर्वमिदं जगत्प्राणाश्रयं स्पन्दते, महच्च किञ्चिद्भयकारणं वज्रशब्दितमुद्यतं, तद्विज्ञानाच्चामृतत्वप्राप्तिरिति श्रूयते। तत्र कोऽसौ प्राणः, किञ्च तद्भयानकं वज्रमित्यप्रतिपत्तेर्विचारे क्रियमाणे प्राप्तं तावत्प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिर्वायुः प्राण इति। प्रसिद्धेरेव चाशनिर्वज्रं स्यात्। वायोश्चेदं माहात्म्यं सङ्कीर्त्यते। कथम्? सर्वमिदं जगत्पञ्चवृत्तौ वायौ प्राणशब्दिते प्रतिष्ठायैजति। वायुनिमित्तमेव च महद्भयानकं वज्रमुद्यम्यते। वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्नुवृष्ट्यशनयो विवर्तन्त इत्याचक्षते। वायुविज्ञानादेव चेदममृतत्वम्। तथाहि श्रुत्यन्तरम्—'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' इति। तस्माद्वायुरयमिह प्रतिपत्तव्य इति।

प्रसंग से प्राप्त अधिकार का विचार अवसित (समाप्त) हो गया। अब इस समय (प्रारब्ध) ही वाक्यार्थ का विचार फिर प्रवृत्त करेंगे, (जो कुछ यह सब जगत है, वह प्राण के रहते ही चलता है, प्राण से ही निःसृत (उत्पन्न) हुआ। वह प्राण महाभय का हेतु उद्यत वज्र के समान है, जो इसको जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। इस सूत्र से श्रुति वाक्य लक्षित (बोधित) हुआ है, 'एजृ कम्पने' एजृ धातु काँपने अर्थ में है, इस धातु के अर्थ का इस वाक्य में अनुगम (ज्ञान) होता है, इससे यह वाक्य लक्षित हुआ है। इस वाक्य में सुना जाता है कि यह सब जगत् प्राणाश्रित रह कर चेष्टा करता है। और कोई महान् भय का कारण वज्र शब्दार्थ उद्यत है। वहाँ वह प्राण क्या है, वह भयानक वज्र क्या है इसका निश्चय ज्ञान नहीं होने से विचार करने पर पाँच वृत्तिवाला प्राण प्रथम प्रसिद्धि से प्राप्त होता है। एवं प्रसिद्धि से ही अशनि वज्र होगा और वायु का ही यह माहात्म्य कहा जाता है, क्योंकि यह सब जगत् प्राणशब्दार्थ पञ्चवृत्ति वाले वायु में स्थिति पाकर प्राण के रहते ही चलता है। वायु निमित्तक ही महा भयानक वज्र उद्यत होता है। वायु के ही मेघ विशेष रूप से विवर्तित (परिणत) होने पर विद्युत्, मेघ, वृष्टि और वज्र परिणत होते हैं, ऐसा कहते हैं। वायु के विज्ञान से ही यह अमृतत्व भी होता है। क्योंकि जैसी दूसरी श्रुति है कि (वायु ही व्यष्टि है, वायु ही समष्टि है। जो इस प्रकार जानता है सो अपमृत्यु को जीत लेता है) जिससे यहाँ प्राण शब्द का अर्थ वायु को ही समझना चाहिए।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम्। कुतः? पूर्वोत्तरालोचनात्।

पूर्वोत्तरयोर्हि ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे। इहैव कथमकस्मादन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि। पूर्वत्र तावत्—

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ (का० २।६।१)

इति ब्रह्म निर्दिष्टं, तदेवेहापि संनिधानात् जगत्सर्वं प्राण एजतीति च लोकाश्रयत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते। प्राणशब्दोऽप्ययं परमात्मन्येव प्रयुक्तः 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) इति दर्शनात्। एजयितृत्वमपीदं परमात्मन एवोपपद्यते न वायुमात्रस्य, तथाचोक्तम्—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ (का० २।५।५) इति।

उत्तरत्रापि—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ (का० २।६।३)

इति ब्रह्मैव निर्देक्ष्यते न वायुः। सवायुकस्य जगतो भयहेतुत्वाभिधानात्। तदेवेहापि सन्निधानान्महद्भयं वज्रमुद्यतमिति च भयहेतुत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते। वज्रमुद्यतमिति च भयहेत्वसामान्यात्प्रयुक्तः, यथाहि वज्रमुद्यतं ममैव शिरसि निपतेद्यद्यहमस्य शासनं न कुर्यामित्यनेन भयेन जनो नियमेन राजादिशासने प्रवर्तते। एवमिदमग्निवायुसूर्यादिकं जगदस्मादेव ब्रह्मणो बिभ्यन्नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तत इति भयानकं वज्रोपमितं ब्रह्म। तथाच ब्रह्मविषयं श्रुत्यन्तरम्—

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ (तै० ८।१।) इति।

अमृतत्वफलश्रवणादपि ब्रह्मैवेदमिति गम्यते। ब्रह्मज्ञानाद्ध्यमृतत्वप्राप्तिः, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।१५) इति मन्त्रवर्णात्। यत्तु वायुविज्ञानात्क्वचिदमृतत्वमभिहितं तदापेक्षिकम्। तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन परमात्मानमभिधाय 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४) इति वाय्वादेरार्तत्वाभिधानात्। प्रकरणादप्यत्र परमात्मनिश्चयः।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥

(का० १।२।१४) इति परमात्मनः पृष्टत्वात्॥ ३९॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं कि यहाँ यह प्राणादि रूप ब्रह्म ही समझना चाहिए, क्योंकि पूर्वोत्तर के आलोचन से ऐसा ही सिद्ध होता है, पूर्वोत्तर के ग्रन्थ भाग में निर्दिश्यमान (कथित) ब्रह्म का ही ज्ञान करते हैं, तो फिर यहाँ ही

मध्य में निर्हेतुक निादश्यमान वायु को कैसे समझ सकते हैं। इस वाक्य से पूर्व में (वही संसार का मूल शुक्र स्वयंप्रकाश शुद्ध है, वह ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है, उसी के आश्रित सब लोक हैं, उसका उल्लंघन कोई नहीं करता है) इस प्रकार ब्रह्म निर्दिष्ट है। यहाँ भी 'प्राण के रहते सब जगत् चलता है' इस प्रकार आश्रयत्व की प्रत्यभिज्ञा से और सन्निधान से वही ब्रह्म निर्दिष्ट है, ऐसी प्रतीति होती है। एवं (प्राणस्य प्राणम्) प्राण का प्राण है, इस प्रकार के ब्रह्म विषयक प्रयोग देखने से यह प्राणशब्द भी परमात्मा में ही प्रयुक्त हुआ है, और यह जगत् कम्पन चेष्टा हेतुत्व भी परमात्मा का ही सिद्ध हो सकता है, वायुमात्र का नहीं। वैसे ही कहा भी है कि (कोई मनुष्य प्राण वा अपान से नहीं जीता है, किन्तु जिसके आश्रित प्राण और अपान हैं, उस इतर से सब जीते हैं) और आगे भी (इसके भय से अग्नि तपती है, सूर्य तपता है, इन्द्र और वायु इसके भय से अपने कर्तव्य करते हैं, तथा पञ्चम मृत्यु भय से धावता है) इस प्रकार ब्रह्म ही कहा जाता है वायु नहीं। क्योंकि वायु सहित जगत् का भय में हेतुत्व कहा गया है, वही भय हेतु सन्निधान से और भय हेतुत्व की प्रत्यभिज्ञा से यहाँ भी महद् भय उद्यत वज्ररूप निर्दिष्ट है ऐसी प्रतीति होती है। यह वज्र शब्द भी भय हेतुत्व समानता से ब्रह्म में प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि यदि मैं इसका शासन नहीं करूँगा (आज्ञा नहीं मानूँगा) तो उद्यत वज्र मेरे ही सिर पर गिरेगा, इस प्रकार के भय से मनुष्य नियमपूर्वक राजा आदि के शासन में रहता है और उसकी आज्ञा मानने में प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार यह अग्नि, वायु, सूर्यादि रूप जगत् इस ब्रह्म से ही डरता हुआ नियमपूर्वक अपने व्यापार में प्रवृत्त होता है इससे वज्र के समान ब्रह्म भयानक है। इसी प्रकार की ब्रह्मविषयक दूसरी श्रुति है कि (इसके भय से वायु चलता है, सूर्य उगता है, अग्नि, इन्द्र अपने काम करते हैं। पञ्चम मृत्यु दौड़ती है) और अमृतत्व फल के श्रवण से भी यह ब्रह्म ही है, यह समझा जाता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। उस ब्रह्मात्मा को जान करके ही अतिमृत्यु (मोक्ष) पाता है, मोक्ष के लिए अन्य मार्ग नहीं है। एवं जो कहीं वायु के ज्ञान से अमृतत्व कहा गया है, वह आपेक्षिक है। क्योंकि वहाँ ही प्रकरणान्तर का करण पूर्वक परमात्मा का कथन करके (इससे अन्य आर्त है) इस प्रकार वायु आदि के आर्तत्व (विनाशित्व) को कहा है। तथा प्रकरण से भी यहाँ परमात्मा का निश्चय होता है, क्योंकि (धर्माधर्म इस कार्य कारण भूतभावी आदि से अन्य जिसको जानते हो उसे कहो) इस प्रकार परमात्मा ही पूछा गया है॥ ३९॥

ज्योतिरधिकरण (११)

परं ज्योतिस्तु सूर्यस्य मण्डलं ब्रह्म वा भवेत्।
समुत्थायोपसम्पद्येत्युक्त्यास्याद्रविमण्डलम् ॥
समुत्थानं त्वम्पदार्थशुद्धिर्वाक्यार्थबोधनम्।
सम्पत्तिरुत्तमत्वोक्तेर्ब्रह्म स्यादक्षिसाक्षितः॥

(शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते) इस श्रुति में परं ज्योति सूर्य का मण्डल है, वा ब्रह्म हो सकता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि शरीर से निकल कर प्राप्ति के कथन से रविमण्डल हो सकता है। सिद्धान्त है कि यहाँ समुत्थान का अर्थ शरीर से निकलना नहीं है किन्तु त्वं पद के अर्थ की शुद्धि विवेक ज्ञान समुत्थान है और देहाभिमान के त्यागपूर्वक वाक्यार्थ का ज्ञान ब्रह्मात्मा के एकत्व का अपरोक्ष ज्ञान ही सम्पत्ति प्राप्ति है, एवं उत्तमत्व की उक्ति तथा अक्षि की साक्षिता से परं ज्योति ब्रह्म है।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरारीत्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छां० ८।१२।३) इति श्रूयते। तत्र संशय्यते, किं ज्योतिःशब्दं चक्षुर्विषयं तमोपहं तेजः किंवा परं ब्रह्मेति। किं तावत्प्राप्तम्। प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति। कुतः? तत्र ज्योतिःशब्दस्य रूढत्वात्। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (ब्र० सू० १।१।२४) इत्यत्र हि प्रकरणाज्ज्योतिःशब्दः स्वार्थं परित्यज्य ब्रह्मणि वर्तते। न चेह तद्वत्किञ्चित्स्वार्थपरित्यागे कारणं दृश्यते। तथा च नाडीखण्डे—'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छां० ८।६।५) इति मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता। तस्मात्प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति।

यह संप्रसाद (जीव) इस शरीर के अभिमान को छोड़कर अपने स्वरूप से अभिव्यक्त सिद्ध होकर पर ज्योति को प्राप्त करता है, यह सुना जाता है। वहाँ संशय होता है कि ज्योतिः शब्द का अर्थ नेत्र का विषय तम को नाश करने वाला तेज है, अथवा परब्रह्म है? वहाँ प्रसिद्ध तेज ही ज्योतिः शब्द का अर्थ है, यह पहले पहल प्राप्त होता है, क्योंकि उस तेज अर्थ में ज्योति रूढ है। (ज्योतिश्चरणाभिधानात्) यहाँ तो ब्रह्म के प्रकरणादि से ज्योतिःशब्द अपने अर्थ को त्याग कर ब्रह्म में वर्तता है। यहाँ उसके समान स्वार्थ के त्याग में कोई कारण नहीं दीखता है और इसी प्रकार (ता वा एता हृदयस्य नाड्यः) इस नाडी खण्ड में मुमुक्षु को आदित्य की प्राप्ति कही गई है कि (वारण काल में बाह्य विज्ञान के लुप्त होने पर जब इस शरीर से ऊपर निकलता है, तो उस काल में नाड़ियों में मिली हुई इन सूर्य की किरणों द्वारा ऊपर जाता है सूर्य को प्राप्त करता है) इत्यादि जिससे प्रसिद्ध ही तेज ज्योतिः शब्द का अर्थ है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्। कस्मात्? दर्शनात् तस्य हीह प्रकरणे वक्तव्यत्वेनानुवृत्तिर्दृश्यते, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छां० ८।७।१) इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकस्यात्मनः प्रकरणादावन्वेष्टव्यत्वेन विजिज्ञासितव्यत्वेन च प्रतिज्ञानात् 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छां० ८।९।३)

इति चानुसंधानात्। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छां० ८।१२।१) इति चाशरीरतायै ज्योतिःसम्पत्तेरस्याभिधानात् ब्रह्मभावाच्चान्यत्राशरीरतानुपपत्तेः 'परं ज्योतिः' 'स उत्तमः पुरुषः' (छां० ८।१२।२) इति च विशेषणात्। यत्तूक्तं—मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता—इति, नासावात्यन्तिको मोक्षो गत्युत्क्रान्तिसम्बन्धात्। न ह्यात्यन्तिके मोक्षे गत्युत्क्रान्ती स्त इति वक्ष्यामः ॥ ४० ॥

ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं कि यहां पर ब्रह्म ही ज्योति शब्द का अर्थ है, क्योंकि ब्रह्म ही का प्रकरण देखा जाता है। अर्थात् इस प्रकरण में ब्रह्म की ही वक्तव्य रूप से अनुवृत्ति देखी जाती है (जो आत्मा पापरहित है) इस प्रकार अपहतपाप्मत्वादि गुण वाला आत्मा का प्रकरण के आदि में अन्वेषणीय और विचारणीय रूप से प्रतिज्ञा की गई है उपदेश दिया गया है। एवं (इसी का मैं फिर तेरे लिए व्याख्यान करूंगा) इस प्रकार पूर्व का अनुसन्धान (सम्बन्ध) किया है। (शरीर रहित को प्रिय अप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं) इस रीति से कथित अशरीरता के लिए ज्योतिःसम्पत्ति के कथन से और ब्रह्मभाव के बिना अन्यत्र अशरीरता की असिद्धि से (परं ज्योतिः स उत्तमः पुरुषः) परमज्योति है, वह उत्तम पुरुष है। इत्यादि विशेषण से ज्योतिशब्दार्थ ब्रह्म है। एवं जो यह कहा है कि मुमुक्षु को आदित्य की प्राप्ति कही गई है, वह गति और उत्क्रमण के सम्बन्ध से आत्यन्तिक मोक्ष नहीं है, आत्यन्तिक मोक्ष में गति तथा उत्क्रान्ति नहीं होती है, वह आगे कहेंगे ॥ ४० ॥

अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरण (१२)

वियद्वा ब्रह्म वाकाशो वै नामेति श्रुतं वियत्।
अवकाशप्रदानेन सर्वनिर्वाहकत्वतः ॥
निर्वोढत्वं नियन्तृत्वं चैतन्यस्यैव तत्त्वतः।
ब्रह्म स्याद्वाक्यशेषे च ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दतः ॥

नाम-रूप से आकाश में अर्थान्तरत्व भिन्नत्व के कथनादि से नाम-रूप निर्वाहक आकाश नाम रूप से रहित ब्रह्म है, नाम-रूपात्मक भूताकाश नहीं है। तो भी समान दृष्टि से संशय है कि वह आकाश वियत् (भूताकाश) है, अथवा ब्रह्म है ? पूर्वपक्ष है कि 'वै नाम' इत्यादि शब्द से सुना गया वियत् ही है। और अवकाश प्रदान द्वारा उसी को सर्वनिर्वाहकत्व है। सिद्धान्त है कि निर्वाहकत्व नियन्तृत्व रूप है, वह वस्तुतः चेतन का ही धर्म है। इससे नाम-रूप का निर्वाहक ब्रह्म ही आकाश शब्द का अर्थ हो सकता है, तथा वाक्य शेष में ब्रह्म आत्मा इत्यादि शब्दों के श्रवण से भी आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म है।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छां० ८।१४।१) इति श्रूयते। तत्किमाकाशशब्दं परं ब्रह्म किं वा

प्रसिद्धमेव भूताकाशमिति विच.।रे भूतपरिग्रहो युक्तः, आकाशशब्दस्य तस्मिन् रूढत्वात्, नामरूपनिर्वहणस्य चावकाशदानद्वारेण तस्मिन् योजयितुं शक्यत्वात्। स्रष्टृत्वादेश्च स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्याश्रवणादिति।

एवं प्राप्त इदमुच्यते—परमेव ब्रह्मेहाकाशशब्दं भवितुमर्हति, कस्मात् ? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्, 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' इति हि नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतमाकाशं व्यपदिशति। न च ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तरं सम्भवति, सर्वस्य विकारजातस्य नामरूपाभ्यामेव व्याकृतत्वात्। नामरूपयोरपि निर्वहणं निरङ्कुशं न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्भवति। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२) इत्यादिब्रह्मकर्तृकत्वश्रवणात्। ननु जीवस्यापि प्रत्यक्षं नामरूपविषयं निर्वोढत्वमस्ति। बाढमस्ति, अभेदस्त्विह विवक्षितः। नामरूपनिर्वहणाभिधानादेव च स्रष्टृत्वादि ब्रह्मलिङ्गमभिहितं भवति। 'तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छां० ८।१४) इति च ब्रह्मवादस्य लिङ्गानि। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १।१।२२) इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः।

(आकाश नाम रूप का धारण करने वाला है, और वे नाम रूप जिसके अन्तर्गत है, वह ब्रह्म है, अमृत है, आत्मा है) यह सुना जाता है। वहाँ वह आकाश शब्द का वाच्य परब्रह्म है अथवा प्रसिद्ध ही भूताकाश आकाशशब्द का वाच्यार्थ है ? इस प्रकार विचार करने पर, आकाश शब्द के भूताकाश में रूढ होने से भूताकाश का आकाश शब्द से परिग्रहण करना युक्त (उचित) भासता है और अवकाशदान के द्वारा उस भूताकाश में ही नाम रूप निर्वहण (धारण) का सम्बन्ध करना हो सकता है। क्योंकि (आकाशस्तल्लिङ्गात्) इस सूत्र में वर्णित सृष्टिकर्तृत्वादि स्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग का यहाँ अश्रवण है। ऐसा प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि परब्रह्म ही यहाँ आकाश शब्द का अर्थ होने योग्य है, क्योंकि भूताकाशादि से प्रकृत आकाश को अर्थान्तरत्वादि का कथन है, जिससे (वे नाम रूप जिसके अन्तर्गत हैं वह ब्रह्म है) इस प्रकार नाम रूप से अर्थान्तर स्वरूप आकाश को श्रुति कहती है, और ब्रह्म से अन्य वस्तु नाम रूप से अर्थान्तर (भिन्न) होने का सम्भव नहीं है। क्योंकि सब विकार समूह नामरूप से ही व्याकृत (व्यक्त किये गये) हैं। एवं नाम रूप का निरंकुश (स्वतन्त्र) निर्वहण (धारण नियन्त्रण) भी ब्रह्म से अन्य में नहीं बन सकता है। क्योंकि (इस जीवात्मा रूप से प्रविष्ट होकर नाम और रूप को मैं व्यक्त करूँगा) इत्यादि वाक्यों में नामरूप अभिव्यक्तीकरण में ब्रह्म को कर्तृत्व सुना जाता है। शंका होती है कि श्रुति के अनुसार जीव रूप से नामरूप की अभिव्यक्ति होती है, इससे जीव को भी प्रत्यक्ष नामरूप विषयक निर्वाहकता है। उत्तर है कि जीव की निर्वाहकता सत्य है, परन्तु यहाँ, 'अनेन जीवेन' इस जीव से, इस कथन में जीव को ब्रह्म से अभेद विवक्षित है, और ब्रह्माभिन्न रूप से जीव नामरूप का निर्वाहक है,

साक्षात् नहीं। तथा नामरूप के निर्वहण के कथन से ही सृष्टि कर्तृत्वादि ब्रह्मलिङ्ग कथित होता है। (वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है) यह भी ब्रह्म वाचकत्व के लिङ्ग हैं, और वस्तुतः (आकाशस्तल्लिङ्गात्) इसी का यह विस्तार है।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण (१३)

स्याद्विज्ञानमयो जीवो ब्रह्म वा जीव इष्यते।
आदिमध्यावसानेषु संसारप्रतिपादनात् ॥
विविच्य लोकसंसिद्धं जीवं प्राणाद्युपाधितः।
ब्रह्मत्वमन्यतोऽप्राप्तं बोध्यते ब्रह्म नेतरत् ॥

सुषुप्ति और मरणकाल में जीवात्मा से भेदपूर्वक विज्ञानात्मा के कथन से (विज्ञानमयः प्राणेषु) यहाँ विज्ञानमयशब्द का अर्थ ब्रह्म है, जीव नहीं। ऐसे स्थल में सामान्यदृष्टि से संशय होता है कि विज्ञानमय जीव है वा ब्रह्म ? पूर्वपक्ष है कि आदि मध्य और अन्त में उस वाक्य के अन्दर प्राण अवस्थादि रूप संसार का प्रतिपादन है, इससे विज्ञान शब्द का अर्थ संसारी जीव इष्ट है। सिद्धान्त है कि लोक से अत्यन्तसिद्ध जीव को प्राणादि उपाधि रूप संसार से विवेक द्वारा पृथक् करके उसकी ब्रह्मरूपता को श्रुति बोध कराती है, इससे लोकसिद्ध जीव का अनुवाद करके अन्य से अप्राप्त ब्रह्म का ही बोध कराती है अन्य का नहीं।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

व्यपदेशादित्यनुवर्तते। बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके 'कतम आत्मेति, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्रपञ्चः कृतः। तत्किं संसारिस्वरूपमात्रान्वाख्यानपरं वाक्यमुतासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम् ? संसारिस्वरूपमात्रविषयमेवेति। कुतः उपक्रमोपसंहाराभ्याम्। उपक्रमे 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शारीरलिङ्गात्, उपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति तदपरित्यागात्, मध्येऽपि बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेन तस्यैव प्रपञ्चनादिति।

पूर्व सूत्र के 'व्यपदेशात्' इस पद की अनुवृत्ति होती है। बृहदारण्यक के षष्ठ प्रपाठक (अध्याय) में (अहं बुद्धि के विषय में यह आत्मा कौन है, इस प्रकार जनक जी के प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य जी बोले कि जो यह प्राणों में विज्ञानमय है, हृदय के अन्दर ज्योतिःस्वरूप है, और वस्तुतः पुरुष 'पूर्ण' है, वह बुद्धि प्राणादि से भिन्न आत्मा है) इस प्रकार आरम्भ करके आत्म विषयक विचार का बहुत विस्तार किया है। यहाँ संशय होता है कि वह विस्तृत वाक्य संसारी जीवात्मा के स्वरूप मात्र का उपदेशपरक है अथवा असंसारी स्वरूप का प्रतिपादनपरक ? विमर्श होता है कि पहले क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्ष है कि संसारी स्वरूपमात्रविषयक ही

है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार से संसारी का स्वरूप ही भासता है। उपक्रम में (जो यह विज्ञानमय प्राणों में है) इस प्रकार जो संसारी का चिह्न इन्द्रियादि है, उपसंहार में (वही यह महान् अज आत्मा है, जो यह प्राणों में विज्ञानमय है) उस उक्त संसारित्व के लिङ्ग का त्याग नहीं किया गया है और मध्य में भी बुद्धान्त (जाग्रदवस्था) आदि अवस्थाओं के कथन से उस संसारी स्वरूप का ही प्रपञ्च किया है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वरोपदेशपरमेवेदं वाक्यं न शारीरमात्रान्वाख्यानपरम्। कस्मात् ? सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद्भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात्। सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इति शारीराद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्र पुरुषः शारीरः स्यात्तस्य वेदितृत्वात् बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेधसम्भवात्। प्राज्ञः परमेश्वरः सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात्। तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याति' (बृ० ४।३।३५) इति जीवाद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्रापि शारीरो जीवः स्याच्छरीरस्वामित्वात्। प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वरः। तस्मात्सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात्परमेश्वर एवात्र विवक्षित इति गम्यते। यदुक्तम्—आद्यन्तमध्येषु शारीरलिङ्गात्तत्परत्वमस्य वाक्यस्य–इति। अत्र ब्रूमः। उपक्रमे तावत् 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति न संसारिस्वरूपं विवक्षितं, किं तर्हि ? अनूद्य संसारिस्वरूपं परेण ब्रह्मणास्यैकतां विवक्षति, यतो 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्येवमाद्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिः संसारिधर्मनिराकरणपरा लक्ष्यते। तथोपसंहारेऽपि यथोपक्रममेवोपसंहरति—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु संसारी लक्ष्यते स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर एवास्माभिः प्रतिपादित इत्यर्थः। यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात्संसारिस्वरूपविवक्षां मन्यते, स प्राचीमपि दिशं प्रस्थापितः प्रतीचीमपि दिशं प्रतिष्ठेत, यतो न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनावस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षितं, किं तर्ह्यवस्थारहितत्वमसंसारित्वं च विवक्षति। कथमेतदवगम्यते। यत् 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति पदे पदे पृच्छति, यच्च 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४। ३।१४, १५) इति पदे पदे प्रतिवक्ति। 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' (बृ० ४।३।२२) इति च। तस्मादसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम्।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि परमेश्वर का उपदेशपरक यह वाक्य है, जीव मात्र का कथनपरक नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति काल में और उत्क्रान्ति (मरण) काल में जीव से भेदपूर्वक परमेश्वर का कथन किया गया है। पहले सुषुप्ति में भेद का कथन है कि (यह जीवात्मा रूप पुरुष सुषुप्ति में प्राज्ञात्मा परमात्मा के साथ एक रूप से

मिलकर बाहर वा अन्दर की किसी वस्तु को नहीं जानता है) इस प्रकार जीव से भेद-पूर्वक परमेश्वर का निर्देश श्रुति करती है। इस वाक्य में पुरुष जीव कहा गया है शरीर नहीं, क्योंकि उसी को ज्ञातृत्व हो सकता है, उसी को बाहर भीतर के ज्ञान का प्रसंग रहते, उसके प्रतिषेध का सम्भव है। प्राज्ञ परमेश्वर है, सर्वज्ञत्वरूप प्रज्ञा से उसको सदा अवियोग (संबन्ध) रहता है। इसी प्रकार मरण काल में जीव से भेद पूर्वक परमेश्वर का कथन श्रुति करती है कि (यह जीवात्मा प्राज्ञात्मा से अधिष्ठित होकर आर्त शब्द करता हुआ जाता है) यहाँ भी शारीर जीव कहा गया है, क्योंकि वह शरीर का स्वामी है। प्राज्ञ तो वही परमेश्वर है। इस सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में भेदपूर्वक निर्देश से परमेश्वर ही यहाँ विवक्षित है, यह यहाँ समझा जाता है। एवं जो यह कहा है कि आदि अन्त और मध्य में जीव के लिङ्ग से जीवपरत्व इस वाक्य को है, यहाँ कहते हैं कि प्रथम उपक्रम में (जो यह विज्ञानमय प्राण में है) इस वाक्य में संसारी का स्वरूप नहीं विवक्षित है, तो क्या है कि संसारी के स्वरूप का अनुवाद करके उसका परब्रह्म के साथ एकता की विवक्षा करते हैं, जिससे बुद्धि के ध्यान काल में ध्याता के समान उसके संचलन-दीपन काल में गन्ता आदि के समान आत्मा होता है) इत्यादि उत्तर ग्रन्थ की प्रवृत्ति संसारी धर्म के निराकरणपरक देखी जाती है। इसी प्रकार उपसंहार में भी उपक्रम के अनुसार ही उपसंहार श्रुति करती है कि (वही यह विज्ञान-मय महान् अज आत्मा है, जो प्राणों में विज्ञानमय है) उसका अर्थ है कि जो यह विज्ञानमय प्राणों में संसारी दीखता है, वही महान् अज आत्मा परमेश्वर ही हम से प्रतिपादित किया गया है। और जो कोई मध्य में जाग्रदादि अवस्थाओं के कथन से संसारी स्वरूप की विवक्षा मानते हैं वे लोग पूर्व दिशा में भेजे गये पश्चिम दिशा में भी मानो जायँगे। जिससे जाग्रद्रादि के कथन से अवस्थावत्त्व वा संसारित्व विवक्षित नहीं है, किन्तु है क्या कि अवस्थारहितत्व और असंसारित्व की विवक्षा करते हैं। यदि कहो कि यह कैसे समझा जाता है, तो कहते हैं कि जिससे (इस विवेक के बाद मोक्ष के ही लिये कहिये, इस प्रकार जनक राजा पद २ (वाक्य २) में पूछता है। और जिससे (इस अवस्था धर्म से आत्मा अनन्वागत अस्पृष्ट रहता है क्योंकि यह असंग है) इस प्रकार याज्ञवल्क्य जी पद २ में उत्तर देते हैं, इससे समझा जाता है कि असंसारित्व की विवक्षा करते हैं। एवं (यह आत्मा पुण्य-पाप से अस्पृष्ट है, और उस सुषुप्ति काल में हृदय गत सब शोकों से रहित जीव हो जाता है) इससे भी असंसारी आत्मा कहा गया है। शोकादि मन के धर्म हैं आत्मा के नहीं, इससे असंसारी स्वरूप का प्रतिपादनपरक ही यह वाक्य है, ऐसा समझना चाहिये।

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

इतश्चासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम्। यदस्मिन् वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारिस्वरूपप्रतिपादनपराः संसारिस्वभावप्रति-

षेधनाश्च भवन्ति । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इत्येवंजातीयका असंसारिस्वभावप्रतिपादनपराः । 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इत्येवंजातीयकाः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाः । तस्मादसंसारी परमेश्वर इहोक्त इत्यवगम्यते ॥ ४३ ॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी असंसारी स्वरूप का प्रतिपादनपरक ही यह वाक्य है, ऐसा मानना चाहिये, जिससे इस वाक्य में पति आदि शब्द असंसारी स्वरूप के प्रतिपादनपरक और संसारीस्वभाव के प्रतिषेधक हैं। यहाँ (सब को स्ववश करने वाला स्वतन्त्र है, सबका नियन्ता है, सब का स्वामी है) इस प्रकार के शब्द असंसारी स्वभाव के प्रतिपादनपरक हैं। (वह पुण्य कर्म से बड़ा नहीं होता है, न पाप कर्म से छोटा होता है) इस प्रकार के शब्द संसारी स्वभाव के प्रतिषेधक हैं। इससे असंसारी परमेश्वर यहाँ कहा गया है, यह समझा जाता है ॥ ४३ ॥

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

[अत्र प्रधानविषयत्वेन संदिह्यमानानामव्यक्ताजादिपदानां चिन्तनम् ।]

आनुमानिकाधिकरण (१)

महतः परमव्यक्तं प्रधानमथवा वपुः ।
प्रधानं सांख्यशास्त्रोक्ततत्त्वानां प्रत्यभिज्ञया ॥
श्रुतार्थप्रत्यभिज्ञानात्परिशेषाच्च तद्वपुः ।
सूक्ष्मत्वात्कारणावस्थमव्यक्ताख्यां तदर्हति ॥

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम्—"जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२) इति तल्लक्षणं प्रधानस्यापि समानमित्याशङ्क्य तदशब्दत्वेन निराकृतम्—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इति । गतिसामान्यं च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति विद्यते न प्रधानकारणवादं प्रतीति प्रपञ्चितं गतेन ग्रन्थेन । इदं त्विदानीमवशिष्टमाशङ्क्यते—यदुक्तं प्रधानस्याशब्दत्वं तदसिद्धं, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां श्रूयमाणत्वात् । अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते । तद्यावत्तेषां शब्दानामन्यपरत्वं न प्रतिपाद्यते तावत्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादितमप्याकुलीभवेत्, अतस्तेषामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः सन्दर्भः प्रवर्तते । आनुमानिकमप्यनुमाननिरूपितमपि प्रधानमेकेषां शाखिनां शब्दवदुपलभ्यते । काठके हि पठ्यते—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' (१।३।११) इति । तत्र य एव यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिसिद्धास्त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते । तत्राव्यक्तमिति स्मृतिप्रसिद्धेः शब्दादिहीनत्वाच्च न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तिसम्भवात् स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमभिधीयतेऽतः तस्य शब्दवत्त्वादशब्दत्वमनुपपन्नम् । तदेव च जगतः कारणं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्य इति चेत् ?

'महतः परमव्यक्तम्' इस वाक्य में अव्यक्त शब्द का अर्थ प्रधान है अथवा शरीर है, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष होता है कि सांख्यशास्त्र में पठित महत्तत्व अव्यक्त पुरुष की प्रत्यभिज्ञा से अव्यक्त शब्द का अर्थ प्रधान होगा। पूर्वश्रुत अर्थ की प्रत्यभिज्ञा से और परिशेष से अव्यक्त शरीर है, कारणावस्था में प्राप्त शरीर भी सूक्ष्म होने से वह अव्यक्त नाम के योग्य होता है यह सिद्धान्त है।

'आनुमानिकम्-अपि-एकेषाम्-इति-चेत्-न-शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः-दर्शयति-च', इस सूत्र में नौ पद हैं। संक्षिप्त अर्थ है कि (महतः परमव्यक्तमित्याद्युक्तेः केषाञ्चिदेकेषां

शाखिनामानुमानिकमपि शब्दप्रतिपाद्यमुपलभ्यत इति चेन्न शरीरं यद्रूपके विन्यस्तं तस्यैवाऽव्यक्तशब्देन गृहीतेस्तद्रूपकादिकं च दर्शयति श्रुतिरिति) महत्तत्त्व से पर अव्यक्त है, इत्यादि कथन से अनुमान से कल्पित प्रधान भी श्रुति से प्रतिपादित समझा जाता है, कोई शाखा वाले उसका प्रतिपादन करते हैं, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि रूपक में जो शरीर पढ़ा है, उसी का यहाँ अव्यक्त शब्द से ग्रहण होता है, और वह रूपकादि श्रुति दिखलाती है।

ब्रह्म जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करके (जन्माद्यस्य यतः) इससे ब्रह्म का लक्षण कहा गया है वह लक्षण प्रधान का भी तुल्य है इस प्रकार आशंका करके, अशब्दता वैदिक शब्दशून्यता से वह प्रधान निराकृत किया गया है कि (ईक्षण के श्रवण से प्रधान कारण नहीं है) और वेदान्त वाक्य का गतिसामान्य ब्रह्मकारणवाद के प्रति है, और प्रधान कारणबाद के प्रति गति सामान्य नहीं है, यह गत ग्रन्थ से विस्तारपूर्वक कहा गया है। इस समय यह फिर अवशिष्ट (बाकी) शंका की जाती है, ईक्षति अधिकरण का आक्षेप किया जाता है कि जो प्रधान को अशब्दत्व कहा है, वह असिद्ध है, क्योंकि किसी शाखाओं में प्रधान के सम्यक् बोध करनेवाले कारणत्व समझनेवाले रूप से आभासित होते हुए शब्द सुने जाते हैं। इससे वेद सिद्ध ही प्रधान के कारणत्व का महान् कपिलादि परम ऋषियों ने ग्रहण किया है, ऐसी प्राप्ति होती है, इससे जब तक उन शब्द के प्रधान से अन्यार्थत्व का प्रतिपादन नहीं किया जाता है, तब तक सर्वज्ञ ब्रह्म का कारण है, यह प्रतिपादित भी ब्रह्मकारणत्व व्याकुल (व्यस्त-सन्दिग्ध) सा होगा, अतः उन्हें अन्यपरत्व दर्शाने के लिए आगे का ग्रन्थ प्रवृत्त होता है (आरम्भ किया जाता है) कि, आनुमानिक (कार्यालिङ्गक अनुमान से निरूपित साधित) प्रधान भी एक शाखावाले के शब्द से कथित, प्रतिपादित, उपलब्ध (प्रतीत) होता है, इससे ब्रह्मकारणवाद के समान प्रधानकारणवाद भी वेद सम्मत है। कठ प्रोक्त उपनिषद् में वाक्य पढ़ा है कि (महत् से पर अव्यक्त है, और अव्यक्त से पर (श्रेष्ठ) पुरुष है) यहाँ जिस नामवाले, जिस क्रमवाले जो ही महत्-अव्यक्त और पुरुष सांख्य स्मृति से सिद्ध हैं, वे ही यहाँ प्रत्यभिज्ञात होते हैं, उनकी यहाँ प्रत्यभिज्ञा होती है। यहाँ अव्यक्त इस शब्द से स्मृति में प्रसिद्ध प्रधान कहा जाता है, क्योंकि उस अर्थ में अव्यक्त शब्द की सांख्य में प्रसिद्धि है, और शब्दादि से रहित होने के कारण न व्यक्त है इससे अव्यक्त है ऐसी व्युत्पत्ति (ज्ञान) के सम्भव होने से अव्यक्त कहना ठीक है। इससे प्रधान को वैदिक अव्यक्त शब्द का अर्थ होने से उसको अशब्दत्व अयुक्त असिद्ध है, इससे अशब्द कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार प्रधान के अशब्द के असिद्धि होने पर (अजामेकाम् श्वे० ४।२ हेतुः प्रकृतिरुच्यते। भ०गी०१३/२०) इत्यादि श्रुति स्मृति, अनुमान और प्रसिद्धि से वह अव्यक्त नामक प्रधान ही जगत् का उपादान कारण है।

नैतदेवम्। न ह्येतत्काठकं वाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्तयोरस्तित्वपरम्।

न ह्यत्र यादृशं स्मृतिप्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं तादृशं प्रत्यभिज्ञायते, शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते। स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिकत्वादन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते, न चायं कस्मिंश्चिद्रूढः। या तु प्रधानवादिनां रूढिः सा तेषामेव पारिभाषिकी सती न वेदार्थनिरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते। नच क्रममात्रसामान्यात्समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने. न ह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति। प्रकरणनिरूपणायां चात्र न परपरिकल्पितं प्रधानं प्रतीयते, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः। शरीरं ह्यत्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते। कुतः प्रकरणात्परिशेषाच्च। तथा ह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रथिरथादिरूकपक्लृप्तिं दर्शयति—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ (का० १।३। ३-४) इति।

तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैः संसारमधिगच्छति। संयतैस्त्वध्वः पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोतीति दर्शयित्वा, किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायां तेभ्य एव प्रकृतेभ्य इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानमध्वनः पारं विष्णोः परमं पदं दर्शयति—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(का० १।३।१०, ११) इति। 'तत्र य एवेन्द्रियादयः पूर्वस्यां रथरूपककल्पनायामश्वादिभावेन प्रकृतास्त एवेह परिगृह्यन्ते प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियापरिहाराय। तत्रेन्द्रियमनोबुद्धयस्तावत्पूर्वत्रेह च समानशब्दा एव, अर्थास्तु, ये शब्दादयो विषया इन्द्रियहयगोचरत्वेन निर्दिष्टाः तेषां चेन्द्रियेभ्यः परत्वम्, 'इन्द्रियाणां ग्रहत्वं, विषयाणामतिग्रहत्वम्' (बृ० ३।२) इति श्रुतिप्रसिद्धेः। विषयेभ्यश्च मनसः परत्वं, मनोमूलत्वाद्विषयेन्द्रियव्यवहारस्य। मनसस्तु परा बुद्धिः, बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भोक्तारमुपसर्पति। बुद्धेरात्मा महान् परो यः स 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इति रथित्वेनोपक्षिप्तः। कुतः? आत्मशब्दात् भोक्तुश्च भोगोपकरणात्परत्वोपपत्तेः। महत्त्वं चास्य स्वामित्वादुपपन्नम्।

इस प्रकार यदि कोई कहे तो कहा जाता है कि यह प्रधान को वैदिक शब्द वाच्यत्व नहीं है, क्योंकि यह कठ श्रुति का वाक्य स्मृति प्रसिद्ध महत् और अव्यक्त के अस्तित्व

(सत्ता) परक (बोधक) नहीं है, जिससे स्वतन्त्र कारणरूप तीन गुणवाला जैसा प्रधान सांख्य स्मृति में प्रसिद्ध है, वैसा प्रधान यहाँ प्रत्यभिज्ञात (स्मृत) नहीं होता है। यहाँ श्रुति में अव्यक्त इस शब्द मात्र की प्रत्यभिज्ञा होती है अर्थ की नहीं। वह अव्यक्त शब्द तो न व्यक्त होने से अव्यक्त कहा जाता है। इस प्रकार यौगिक होने से प्रधान से अन्य भी सूक्ष्म दुर्ज्ञेय अर्थ में प्रयुक्त होता है, इससे यह अव्यक्त शब्द किसी अर्थ में रूढ़ नहीं है। और जो प्रधान वादी रूढ़ि है, वह उनकी ही पारिभाषिकी (संकेत जन्य) होने से वेदार्थ के निरूपण में कारणता को नहीं प्राप्त हो सकती है। पदार्थ के स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा के बिना क्रममात्र की तुल्यता से तुल्यार्थ का ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि अश्व के स्थान में गौ को देखता हुआ मोह-भ्रान्ति-रहित मनुष्य यह अश्व है ऐसा निश्चय नहीं करता है। प्रकरण को देखने विचारने पर यहाँ अन्य से परिकल्पित प्रधान नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि जो शरीर रूपक (रथ सादृश्य) रूप से विन्यस्त (कथित) हुआ है उसी का यहाँ अव्यक्त शब्द से गृहीति (ज्ञान) होता है। शरीर ही यहाँ रथ रूपक रूप से विन्यस्त है, वही अव्यक्त शब्द से ज्ञात होता है, और इस ज्ञान में प्रकरण और परिशेष हेतु है। एवं इस ज्ञान के अनुकूल ही अनन्तर अतीत ग्रन्थ भी आत्मा और शरीरादि को रथी रथ आदि रूपक (सादृश्य) की क्लृप्ति (कल्पना) को दिखलाता है—

(जीवात्मा को रथ का स्वामी जानो, शरीर को रथ ही जानो, बुद्धि को सारथि जानो, मन को लगाम जानो) इन्द्रियों को अश्व, उनके विषयों को गोचर (मार्ग) समझो। और शरीर इन्द्रिय मन सहित जीवात्मा को विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं। एवं असंयत (अवश) उन इन्द्रियादिकों द्वारा यह जीव जन्मादि रूप संसार को प्राप्त करता है और संयत (वशीभूत) उन इन्द्रियादि द्वारा ससार मार्ग से पर पार उस विष्णु के परम पद को प्राप्त होता है, ऐसा दिखलाकर, संसार मार्ग से पर पार वह विष्णु का परमपद (स्वरूप) क्या है ? ऐसी आकाङ्क्षा जिज्ञासा होने पर, उन प्रकृत इन्द्रियादिकों से ही परत्वेन (पररूप से) पर आत्मा को ही संसार मार्ग से पार विष्णु के परम पद को श्रुति दिखलाती है—

इन्द्रियों से, इन्द्रियों के अर्थ शब्दादि विषय पर (श्रेष्ठ) प्रबल हैं। विषयों से प्रबल मन है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, व्यष्टि बुद्धि से महानात्मा समष्टि बुद्धि जीवात्मा श्रेष्ठ है, उस महान् से श्रेष्ठ अव्यक्त है, अव्यक्त से श्रेष्ठ पुरुष है, पुरुष से पर कुछ नहीं है, पुरुष ही परत्व की काष्ठा (सीमा) रूप है, और वही परम गति (मुक्ति आश्रय) स्वरूप है। वहाँ जो ही इन्दियादि प्रथम रथ की रूपक कल्पना में अश्वादि रूप से प्रकृत हैं, वर्णित हैं वे ही प्रकृत हान और अप्रकृत प्रक्रिया की प्रसक्ति (प्राप्ति) का वारण के लिए यहाँ गृहीत होते हैं, इनमें इन्दिय, मन और बुद्धि तो पूर्व और यहाँ उत्तर वाक्य में समान शब्द वाले ही हैं, तुल्य (एक-एक) शब्द से

कहे गये हैं, इन्द्रियों के गोचर (मार्ग) रूप से निर्दिष्ट (कथित) जो शब्दादि विषय रूप अर्थ हैं, उनको यहाँ इन्द्रियों से परत्व कहा गया है, क्योंकि इन्द्रियों को ग्रहत्व है, और विषयों को अतिग्रहत्व है, यह बृहदारण्यक श्रुति में प्रसिद्ध है। एवं मनोमूलक विषय इन्द्रियों के व्यवहारों के होने से मन को विषयों से परत्व है, और मन से पर-बुद्धि है, जिससे बुद्धि में आरूढ (स्थिर-निश्चित) हो करके ही भोग्य समूह भोक्ता को प्राप्त होते हैं, और जो बुद्धि से पर महान् आत्मा है, उस (आत्मा को रथी जानो) इस प्रकार रथी रूप से उपक्षिप्त (निर्दिष्ट बोधित) हुआ है। क्योंकि आत्मशब्द से आत्मा ही उपक्षिप्त (प्राप्त) होता है। भोक्ता को भोग के उपकरण (साधन) से परत्व होना युक्त भी है, और स्वामित्व से इसको महत्त्व सिद्ध है।

अथवा—

मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः।
प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते ॥ इति स्मृतेः,

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। (श्वे० ६।१८) इति च श्रुतेर्या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासां बुद्धीनां परमा प्रतिष्ठा, सेह महानात्मेत्युच्यते। सा च पूर्वत्र बुद्धिग्रहणेनैव गृहीता सती हिरुगिहोपदिश्यते, तस्या अप्यस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोपपत्तेः। एतस्मिंस्तु पक्षे परमात्मविषयेणैव परेण पुरुषग्रहणेन रथिन आत्मनो ग्रहणं द्रष्टव्यम्, परमार्थतः परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदाभावात् तदेवं शरीरमेवैकं परिशिष्यते तेषु। इतराणीन्द्रियादीनि प्रकृतान्येव परमपददिदर्शयिषया समनुक्रामन् परिगम्यते। शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां रथादिरूपककल्पनया संसारमोक्षगतिनिरूपणेन प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता। तथा च—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (का० १।३।१२)

इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा तदवगमार्थं योगं दर्शयति—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

(का० २।३।१३) इति। एतदुक्तं भवति—वाचं मनसि संयच्छेत्, वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत। मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेन ज्ञानशब्दोदितायां बुद्धावध्यवसायस्वभावायां धारयेत्। तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तर्यग्र्यायां वा बुद्धौ सूक्ष्मतापादनेन नियच्छेत्, महान्तं त्वात्मानं शान्त आत्मनि प्रकरणवति परस्मिन् पुरुषे परस्यां काष्ठायां

प्रतिष्ठापयेदिति। तदेवं पूर्वापरालोचनायां नास्त्यत्र परपरिकल्पितस्य प्रधान-स्यावकाशः।

अथवा (मनन शक्ति रूप मन, व्यापिनी शक्ति महान्, भाविनिश्चयरूप मति, जीवात्मारूप ब्रह्मा, भोग्याश्रयरूप पुर, तात्कालिकज्ञानरूप बुद्धि, कीर्तिशक्ति, नियमन-शक्ति, त्रैकालिकप्रज्ञा, सम्वित्, चिति, स्मृति, इन रूपों से समष्टि बुद्धि कही जाती है) इस स्मृति कथन से, और (जो प्रथम ब्रह्मा को सिद्ध उत्पन्न करता है, और उनकी बुद्धि में वेदों को प्रकट करता है) इस श्रुति कथन से जो प्रथम उत्पन्न होने वाले हिरण्यगर्भ की बुद्धि है वह सब व्यष्टि बुद्धियों का परम आश्रय है, वही यहाँ महानात्मा कही गयी है वह भी अप्रकृत नहीं है, किन्तु प्राथमिक बुद्धि के ग्रहण से ही गृहीत होती हुई, यहाँ पृथक् उपदिष्ट होती है। उसको भी हमलोगों की बुद्धियों से परत्व उत्पन्न (युक्तसिद्ध) होता है। परन्तु इस पक्ष में परमात्मविषयक सबसे परपुरुष के ग्रहण से ही रथी आत्मा का भी ग्रहण समझना चाहिए, क्योंकि वास्तविक स्वरूप में परमात्मा और विज्ञानात्मा को भेद का अभाव है। इस प्रकार पूर्वकथित उन छः पदार्थों में से वह एक शरीर ही ग्रहण में अवशिष्ट रहता है, यहाँ परम पद को दिखलाने की इच्छा से पूर्व प्रकृत शरीर से भिन्न इन्द्रियादिकों का ही सम अनुक्रमण (क्रम से ग्रहण-अनुसरण) करनेवाला गुरु यम है। यहाँ परिशिष्ट अन्तिम अव्यक्त शब्द से परिशिष्ट प्रकृत शरीर को ही दिखलाते हैं, ऐसी प्रतीति होती है। और शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय वेदना (भोग) से संयुक्त अविद्या वाला भोक्ता जीव के शरीरादि को रथादि रूपक कल्पना द्वारा संसार और मोक्ष की प्राप्ति के निरूपण से यहाँ प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूप से अवगति (ज्ञान) विवक्षित है। यहाँ कहते हैं कि (सब भूतों में गूढ (छिपा हुआ) यह आत्मा प्रकाशता (अनुभूत होता) नहीं है, परन्तु आप्त (शुद्ध) सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सूक्ष्म दर्शियों से देखा समझा जाता है) इस प्रकार वैष्णव परपद के दुर्ज्ञेयत्व को कहकर, उसके ज्ञान के लिए योग दिखलाते हैं कि (बुद्धिमान् पुरुष वाक् का मन में लय करे, मन का ज्ञान प्रकाश रूप बुद्धि में लय करे, बुद्धि का समष्टि बुद्धि महान् में लय करे, उसका शान्त स्वरूप आत्मा में लय करे) इत्यादि। इससे यह कहा गया है कि वाक् को मन में संयत (बद्ध) करे। अर्थात् वागादि बाह्य इन्द्रियों के व्यापारों को त्याग कर मनोमय रूप से स्थिर होवे। विषयों के विकल्प के लिए अभिमुख (प्रवृत्त) मन को भी विकल्पजन्य दोषों के दर्शन द्वारा ज्ञान शब्द से कथित निश्चय स्वभाववाली बुद्धि में धारण करे। फिर उस बुद्धि को भी महानात्मा भोक्ता में अथवा आप्त बुद्धि में सूक्ष्मता का सम्पादन द्वारा लय करे। महानात्मा को प्रकरणप्राप्त परम सीमारूप शान्तात्मा पर पुरुष में प्रतिष्ठा स्थिति लय करे! इस प्रकार पूर्वापर के आलोचना करने पर अन्य से कल्पित प्रधान का यहाँ अवकाश नहीं है।

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

उक्तमेतत्प्रकरणपरिशेषाभ्यां शरीरमव्यक्तशब्दं न प्रधानमिति। इदमिदानीमाशङ्क्यते—कथमव्यक्तशब्दार्हत्वं शरीरस्य, यावता स्थूलत्वात्स्पष्टतरमिदं शरीरं व्यक्तशब्दार्हमस्पष्टवचनस्त्वव्यक्तशब्द इति।

अत उत्तरमुच्यते—सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः, यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९।४।६।४) इति। श्रुतिश्च—तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् (बृ० १।४।७) इति। इदमेव व्याकृतनामरूपविभिन्नं जगत्प्रागवस्थायां परित्यक्तव्याकृतनामरूपं बीजशक्त्यवस्थमव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति।

यह कहा गया है कि प्रकरण और शेषरूप हेतु से अव्यक्त शब्द का अर्थ शरीर है, प्रधान नहीं। यहाँ यह आशंका होती है कि शरीर को अव्यक्त शब्द के योग्यत्व कैसे होगा ? जब कि स्थूल होने से यह शरीर अत्यन्त स्पष्ट व्यक्त शब्दार्थ है और अस्पष्ट का वाचक अव्यक्त शब्द है। उत्तर में कहा जाता है कि यहाँ कारण रूप से सूक्ष्म शरीर अव्यक्त शब्द से विवक्षित होता है, क्योंकि सूक्ष्मशरीर को अव्यक्त शब्द की योग्यता है। यद्यपि यह स्थूल शरीर स्वयं अव्यक्त शब्द के योग्य नहीं है, तथापि उसका आरम्भक भूतों का सूक्ष्मांश तो अव्यक्त के योग्य है ही। यदि कहो कि कारण का वाचक शब्द कार्य को कैसे कहेगा तो कहा जाता है कि कार्य कारण में अभेद दृष्टि से कारण वाचक शब्द का विकार (कार्य) में प्रयोग देखा गया है। जैसे कि (गौ के दूध से मत्सर-सोम को मिश्रित करे) यहाँ दूध अर्थ में गौ शब्द का प्रयोग किया गया है और व्यक्त को ही कारणावस्था में श्रुति अव्यक्त कहती है कि (पूर्वावस्था में प्रसिद्ध यह जगत् अव्याकृत था) इससे यह व्याकृत नामरूप से भेदयुक्त जगत् को ही पूर्वावस्था में व्यक्त नामरूपरहित बीजशक्ति संस्काररूप में स्थिर को अव्यक्त शब्द योग्य श्रुति दिखलाती है।

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

अत्राह—यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिज्ञायेत, स एव तर्हि प्रधानकारणवाद एवं सत्यापद्येत। अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाभ्युपगमात्—इति।

अत्रोच्यते। यदि वयं स्वतन्त्रां काञ्चित्प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम्। परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः

प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा। सा चावश्याभ्युपगन्तव्या, अर्थवती हि सा। नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति, शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः। कुतः? विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (बृ० ३।८।११) इति श्रुतेः। क्वचिदक्षरशब्दोदितम्—'अक्षरात्परतः परः' (मु० २।१) इति श्रुतेः। क्वचिन्मायेति सूचितम्—''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) इति मन्त्रवर्णात् अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्। तदिदं 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तमव्यक्तप्रभवत्वात्महतः, यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्महान्। यदा तु जीवो महांस्तदाप्यव्यक्ताधीनत्वाज्जीवभावस्य महतः परमव्यक्तमित्युक्तम्। अविद्या ह्यव्यक्तम्, अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः संव्यवहारः सन्ततो वर्तते। तच्चाव्यक्तगतं महतः परत्वमभेदोपचारात्तद्विकारे शरीरे परिकल्प्यते। सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोपचारादव्यक्तशब्देन ग्रहणम्, इन्द्रियादीनां स्वशब्दैरेव गृहीतत्वात्परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य।

यहाँ शंका होती है, कि यदि व्यक्त नामरूप रहित बोजात्मक पूर्वावस्था पन्न यह जगत् अव्यक्त शब्द के योग्य माना जाय, और उस बीजात्मक स्वरूप से शरीर को भी अव्यक्त शब्द योग्यत्व की प्रतिज्ञा की जाय, तो इस प्रकार सूक्ष्मावस्था के स्वीकार होने पर वही प्रधान कारणवाद प्राप्त होगा। क्योंकि इस जगत् की ही पूर्वावस्था को प्रधान (त्रिगुण की साम्यावस्था) रूप से माना जाता है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि, यदि हम किसी स्वतन्त्र जगत् की पूर्वावस्था को जगत् के कारण रूप से स्वीकार करें तो प्रधान कारणवाद की प्राप्ति कर सकते हैं। परन्तु हम लोग तो परमेश्वराधीन इस जगत् की पूर्वावस्था को मानते हैं, स्वतन्त्र नहीं। और वह अवस्था अवश्य मानने योग्य है, क्योंकि वह अर्थवती (सफला) है। उसके बिना कूटस्थ निर्विकार परमेश्वर को स्रष्टृत्व (सृष्टि कर्तृत्व) नहीं सिद्ध हो सकता है। शक्तिरहित उस परमात्मा की सृष्टि विषयक प्रवृत्ति की असिद्धि से स्रष्टृत्व की असिद्धि होगी और बीजशक्ति को मानने पर बन्ध मोक्ष की व्यवस्था होती है, इससे मुक्तात्माओं की फिर उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि विद्या से उस जन्म के हेतु बीजशक्ति का दाह नाश हो जाता है, जिससे जन्मादि का हेतुरूप वह बीजशक्ति अविद्या स्वरूप अव्यक्त शब्द से निर्देश के योग्य परमेश्वराश्रित लौकिक मातातुल्य महासुषुप्ति स्वरूपा है, जिसमें स्वरूप के ज्ञान से रहित संसारी जीव सब

मोहनिद्रा में सोते हैं, उसके कार्यादि में आसक्त होते और अभिमान करते हैं। अतः यह अव्यक्त कहीं आकाश शब्द से कहा गया है कि (हे गार्गि इस अविनाशी आत्मा में आकाशादि का कारण रूप आकाश ओत-प्रोत है) इस प्रकार श्रुति से अव्यक्त आकाश शब्दार्थ सिद्ध होता है (पर अक्षर से पर परब्रह्म है)। यहाँ अव्यक्त अक्षर शब्द से कहा गया है, अन्यत्र भी अक्षर शब्द से कथित होता है। और कहीं माया इस शब्द से अव्यक्त सूचित हुआ है। (माया को जगत् की प्रकृति (उपादान) रूप कारण समझे, और माया जिसके अधीन है, उस मायी को जगत् का महान् ईश्वर समझे) इन मन्त्राक्षरों से वह सूचना होती है। और वह माया अव्यक्त है, क्योंकि वह तत्त्व (सत्य ब्रह्म स्वरूपत्व) और ब्रह्मान्यत्व उभयरूप में किसी रूप से निरूपण के योग्य नहीं है, शक्ति होने से ब्रह्म से अन्य नहीं है, सर्वथा अभिन्न में शक्ति-शक्तिमद्भाव नहीं हो सकने से सर्वथा अभिन्न नहीं है। वही अक्षर माया आदि शब्द का अर्थ अव्यक्त (महत् से पर अव्यक्त है) इस प्रकार कहा गया है। एवं यह महत् पर अव्यक्त उस अवस्था में कहा गया है कि जब हिरण्यगर्भ की बुद्धि महत् शब्द का अर्थ है। जब जीव महत् शब्द का अर्थ है, तब भी जीवभाव के अव्यक्ताऽधीन होने से महत् से अव्यक्त है, यह कहा गया है, जिससे अविद्या ही अव्यक्त है। और अविद्यावत्ता रूप से ही जीव के सब सांसारिक व्यवहार निरन्तर होते हैं। वह जो अव्यक्त में महत् से परत्व है, उसका कार्यकारण में अभेद के व्यवहार से शरीर में कल्पना की जाती है और शरीर के समान इन्द्रियादि को भी उस अव्यक्त के विकारत्व तुल्य होते हुए भी अभेद के उपचार व्यवहार से शरीर का ही अव्यक्त शब्द से ग्रहण होता है, अन्य का नहीं, क्योंकि इन्द्रियादि वहाँ स्ववाचक शब्दों से ही गृहीत हैं, और शरीर को ही परिशिष्टत्व है।

अन्ये तु वर्णयन्ति—द्विविधं हि शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च। स्थूलं यदिदमुपलभ्यते। सूक्ष्मं यदुत्तरत्र वक्ष्यते—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (ब्र० ३।१।१) इति। तच्चोभयमपि शरीरमविशेषात्पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितम्, इह तु सूक्ष्ममव्यक्तशब्देन परिगृह्यते सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। तदधीनत्वाच्च बन्धमोक्षव्यवहारस्य जीवात्तस्य परत्वम्, यथाऽर्थाधीनत्वादिन्द्रियव्यापारस्येन्द्रियेभ्यः परत्वमर्थानामिति।

तैस्त्वेतद्वक्तव्यम्, अविशेषेण शरीरद्वयस्य पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितत्वात्समानयोः प्रकृतत्वपरिशिष्टत्वयोः कथं सूक्ष्ममेव शरीरमिह गृह्यते न पुनः स्थूलमपीति। आम्नातस्यार्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामो नाम्नातं पर्यनुयोक्तुम्, आम्नातं चाव्यक्तपदं सूक्ष्ममेव प्रतिपादयितुं शक्नोति नेतरद्व्यक्तत्वात्तस्येति चेत्? न, एकवाक्यताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः। नहीमे पूर्वोत्तरे आम्नाते एकवाक्यतामनापद्य कञ्चिदर्थं प्रतिपादयतः, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। नचाकाङ्क्षामन्तरेणैकवाक्यताप्रतिपत्तिरस्ति, तत्राविशिष्टायां शरीरद्वयस्य ग्राह्यत्वाकाङ्क्षायां यथा-

काङ्क्षं सम्बन्धेऽनभ्युपगम्यमान एकवाक्यतैव बाधिता भवति कुत आम्नातस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः। नचैवं मन्तव्यं–दुःशोधत्वात्सूक्ष्मस्यैव शरीरस्येह ग्रहणं, स्थूलस्य तु दृष्टबीभत्सतया सुशोधत्वादग्रहणम्–इति। यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद्विवक्ष्यते। न ह्यत्र शोधनविधायि किञ्चिदाख्यातमस्ति, अनन्तरनिर्दिष्टत्वात्तु किं तद्विष्णोः परमं पदमितीदमिह विवक्ष्यते। तथाहीदमस्मात्परमिदमस्मात्परमित्युक्त्वा 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' इत्याह। सर्वथापि त्वानुमानिकनिराकरणोपपत्तेस्तथानामास्तु, न नः किञ्चिच्छिद्यते।

अन्य आचार्य उक्त दो सूत्रों के अर्थ का इस प्रकार वर्णन करते हैं कि स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार के शरीर हैं, स्थूल तो वह है जो प्रत्यक्ष उपलब्ध (ज्ञात) होता है, और सूक्ष्म वह है, जिसको आगे कहेंगे कि (मृत्यु के बाद शरीरान्तर लोकान्तर में प्राप्ति के समय यह जीव भूतों के सूक्ष्मांश सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध हो जाता है वह प्रश्न और प्रत्युत्तर से समझा जाता है) वह दोनों शरीर अविशेषता से प्रथम रथरूप से संकीर्तित हुआ है। और यहाँ आगे तो सूक्ष्म को अव्यक्त शब्द के योग्य होने से सूक्ष्म ही अव्यक्त शब्द से परिगृहीत होता है। उस सूक्ष्म शरीर के अधीन जीव के बन्धमोक्ष का व्यवहार होता है, इससे उस सूक्ष्म को जीव से परत्व है, जैसे कि इन्द्रियों के व्यापारों को अर्थ के अधीन होने से इन्द्रियों से परत्व अर्थों को कहा गया है। इस रीति से सूत्रार्थ करने वाले के प्रति भाष्यकार कहते हैं कि उन्हें यह कहना चाहिए कि प्रथम अविशेष (अभिन्न समान) रूप से दोनों शरीरों को रथरूप से संकीर्तितत्व होने से दोनों में प्रकृतत्व और परिशिष्टत्व भी तुल्य है, इस अवस्था में सूक्ष्म शरीर ही अव्यक्त शब्द से कैसे गृहीत है, और फिर स्थूल भी क्यों नहीं गृहीत होता है। यदि आप कहो कि वेद से कथित अर्थ को समझने के लिए हम समर्थ हैं, कथित को पर्यनुयोग करने को (आज्ञा करने को) समर्थ नहीं हैं, कि तुम ऐसे नहीं रहकर अन्य स्वरूप बन जाओ। एवं कथित अव्यक्तपद तो सूक्ष्म को ही प्रतिपादन के लिए समर्थ है, अन्य को प्रतिपादन करने के लिए वह समर्थ नहीं है, क्योंकि उस स्थूल को व्यक्तत्व है। भाष्यकार कहते हैं कि यह आपका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कथित पद वाक्य के अर्थ की प्रतीति भी केवल पद वाक्य मात्र से ही नहीं हो जाती है, किन्तु एकार्थबोधक पदों की परस्पर की आकांक्षा से एक बुद्धि विषयत्व रूप एकवाक्यता के अधीन वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। ये पूर्वोत्तर आम्नात (पठित) वाक्य एकवाक्यता को प्राप्त हुए बिना किसी अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं, क्योंकि एकवाक्यता के बिना शरीर शब्द से रूढि वृत्ति द्वारा प्रकृत स्थूल शरीर के ग्रहण का हान (त्याग) होगा, और अप्रकृत भूतसूक्ष्मादि का अव्यक्त शब्द से ग्रहण रूप प्रक्रिया की प्राप्ति होगी। और आकांक्षा के बिना एकवाक्यता का ज्ञान नहीं होता है, और आकांक्षा से वाक्यैकवाक्यत्व के होने पर और दोनों शरीर को तुल्य ग्राह्यत्वाकांक्षा होने पर आकांक्षा के अनुसार सम्बन्ध को नहीं मानने पर एक-

वाक्यता बाधित होगी फिर वेदार्थ का ज्ञान कैसे होगा ? ऐसा भी नहीं मानना चाहिये कि सूक्ष्म शरीर के दुःशोध्य होने से अर्थात् दुर्विवेच्य होने से आत्मा के साथ एक रूप से गृहीत उस सूक्ष्म का शोधन विवेचन के लिए सूक्ष्म का ही ग्रहण है। और स्थूल शरीर तो दृष्ट बीभत्सता (विकृतता) से सुशोध्य है, इसके आत्मभिन्नत्व का ज्ञान सुलभ है, इसलिए अव्यक्त शब्द से स्थूल का अग्रहण है इत्यादि। इससे यहाँ किसी का शोधन विवक्षित नहीं है, क्योंकि शोधन का विधायक कोई आख्यात (क्रियावाचक पद) यहाँ नहीं है। किन्तु अनन्तर निर्दिष्ट होने से (वह विष्णु का परम पद क्या है) यही यहाँ विवक्षित है। जैसे कि वह इससे पर है, यह इससे पर है, इस प्रकार इन्द्रियादि से पर पुरुष को कहकर (पुरुष से पर कुछ नहीं है) इस विष्णु के परपद (स्वरूप) को श्रुति कहती है कि जिससे पर कुछ नहीं है। एवं आनुमानिक के निराकरण की सिद्धि तो सर्वथा होती है, इससे वैसे व्याख्यान भी हो, उससे हमारी कुछ हानि नहीं है।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः, नहि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति। क्वचिच्च विभूतिविशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति। नचेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते, पदमात्रं ह्यव्यक्तशब्दः, नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति। नचानुपदिष्टं पदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं प्रतिपत्तुम्। तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधानमभिधीयते। अस्माकं तु रथरूपकक्लृप्तशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम्।

त्रिगुण रूप प्रधान से भिन्न पुरुष ज्ञान से अर्थात् प्रधान पुरुष के विवेक रूप भेद ज्ञान से मोक्ष कहने वाले सांख्यवादी प्रधान को ज्ञेय रूप से स्मरण (चिन्तन कथन) करते हैं, क्योंकि गुणमय प्रधान के स्वरूप को जाने बिना गुणों से पुरुष का भेद जाना नहीं जा सकता है, और कहीं विभूति (अणिमादि ऐश्वर्य) विशेष की प्राप्ति के लिए प्रधान ज्ञेय उपास्यादि है ऐसा कहते हैं। यहाँ यह अव्यक्त ज्ञेय रूप से नहीं कहा जाता है, पदमात्र ही अव्यक्त शब्द है। अव्यक्त जानने योग्य है, वा उपास्य है, ऐसा वाक्य यहाँ नहीं है। उपदिष्ट (करने के लिए विहित) ज्ञानध्यानादि सफल होते हैं, अनुपदिष्ट (अविहित) पदार्थज्ञान पुरुषार्थ रूप सफल है, ऐसा नहीं मान सकते हैं, न समझ सकते हैं। और उस ज्ञेयत्वावच्छिन से भी यहाँ अव्यक्त से प्रधान नहीं कहा जाता है। हमारे मत में तो शरीर के ज्ञेयत्व की अनुक्ति होते हुए भी रथरूपक (सादृश्य) रूप से सिद्ध शरीरादि के अनुसरण (अवलम्बन) द्वारा विष्णु का ही परमपद को दर्शाने के लिए यह उपन्यास (वाक्योपक्रम-रचना) है। इससे दोषरहित सफल है।

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

अत्राह सांख्यः—'ज्ञेयत्वावचनात्' इत्यसिद्धम् ? कथम् ? श्रूयते ह्युत्तरत्राव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

(का० २।३।१५) इति । अत्र हि यादृशं शब्दादिहीनं प्रधानं महतः परं स्मृतौ निरूपितं तादृशमेव निचाय्यत्वेन निर्दिष्टं, तस्मात्प्रधानमेवेदं, तदेव चाव्यक्तशब्दनिर्दिष्टमिति ।

यहाँ सांख्यवादी कहते हैं कि, ज्ञेयत्वावचनात्, यह जो हेतु कहा गया वह असिद्ध है, क्योंकि उत्तर वाक्य में अव्यक्त शब्द से कथित प्रधान को ज्ञेयत्ववचन (कथन) सुना जाता है कि (शब्दस्पर्शरूपरहित, अव्यय (अविनाशी) तथा रसरहित, नित्य, गन्धरहित, अनादि, अनन्त, महत से पर, ध्रुव (निश्चल) जो तत्त्व है, उस आत्मा को जान कर मृत्यु के मुख से प्रमुक्त होता है) जैसे शब्दादिरहित प्रधान स्मृति में महत् से पर निरूपित है वैसे ही यहाँ भी निचाय्यत्व (ज्ञेयत्व) रूप से निर्दिष्ट है। उससे यह प्रधान ही निर्दिष्ट है, और वही अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट (कथित) है।

अत्र ब्रूमः—नेह प्रधानं निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्, प्राज्ञो हीह परमात्मा निचाय्यत्वेन निर्दिष्ट इति गम्यते। कुतः ? प्रकरणात्। प्राज्ञस्य हि प्रकरणं विततं वर्तते 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इत्यादिनिर्देशात्। 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इति च दुर्ज्ञानत्ववचनेन तस्यैव ज्ञेयत्वाकाङ्क्षणात्। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इति च तज्ज्ञानायैव वागादिसंयमस्य विहितत्वात्, मृत्युमुखप्रमोक्षणफलत्वाच्च। नहि प्रधानमात्रं निचाय्य मृत्युमुच्यते इति साङ्ख्यैरिष्यते। चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्युमुखात्प्रमुच्यते इति तेषामभ्युपगमः सर्वेषु वेदान्तेषु प्राज्ञस्यैवात्मनोऽशब्दादिधर्मत्वमभिलप्यते। तस्मान्न प्रधानस्यात्र ज्ञेयत्वमव्यक्तशब्दनिर्दिष्टत्वं वा।

यहाँ सिद्धान्त कहते हैं कि यहाँ ज्ञेयत्व रूप से प्रधान नहीं निर्दिष्ट हुआ है। यहाँ प्राज्ञ परमात्मा ही ज्ञेयत्व रूप से निर्दिष्ट है, ऐसा यहाँ ज्ञान होता है, क्योंकि परमात्मा का प्रकरण है। प्राज्ञ का ही विस्तृत प्रकरण वर्तमान है कि (पुरुष से पर कुछ नहीं है, वह परत्व की सीमा है पर गति है) इत्यादि कथन से पुरुष का प्रकरण है। क्योंकि (सब भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा नहीं प्रकाशता है) इस प्रकार दुर्ज्ञेयत्व कथन से उस आत्मा ही के ज्ञेयत्व की आकांक्षा होती है। (बुद्धिमान् वाक् को मन में लीन करे) इत्यादि वचनों से उस आत्मा के ज्ञान के लिए ही वागादि का संयम विहित है, और मृत्यु मुख से प्रमोक्षणरूप फलवाला होने से भी यह आत्मज्ञान

का प्रकरण है। क्योंकि प्रधान मात्र को जानकर मृत्यु के मुख से मुक्त होता है, यह सांख्यवादी को भी इष्ट नहीं है। चेतनात्मा के विज्ञान से ही मृत्यु के मुख से मुक्त होता है, यह उनका भी स्वीकृत सिद्धान्त है। एवं सब वेदान्त में प्राज्ञ आत्मा की ही अशब्दादि धर्मता कही जाती है। जिससे यहाँ प्रधान को न ज्ञेयत्व है, न अव्यक्त शब्द से निर्दिष्टत्व है।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

इतश्च न प्रधानस्याव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा। यस्मात्त्रयाणामव पदार्था-नामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन् ग्रन्थे कठवल्लीपु वरप्रदानसामर्थ्याद्वक्तव्यतयोप-न्यासो दृश्यते, तद्विषय एव च प्रश्नः, नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वास्ति। तत्र तावत्—

स त्वमग्नि स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्।

(का० १।१।१३) इत्यग्निविषयः प्रश्नः।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥

(का० १।१।२०) इति जीवविषयः प्रश्नः।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥

(का० १।२।१४) इति परमात्मविषयः। प्रतिवचनमपि–

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। (का०१।१।१५) इत्यग्निविषयम्।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ (का० २।५।६, ७) इति।

व्यवहितं जीवविषयम्। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (का० १।२।१८) इत्यादि बहुप्रपञ्चं परमात्मविषयम्। नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति अपृष्टत्वाद-नुपन्यसनीयत्वं तस्येति।

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी प्रधान को अव्यक्त शब्द वाच्यत्व अथवा ज्ञेयत्व नहीं है कि जिससे इस ग्रन्थ में वरप्रदान के सामर्थ्य से कठवल्लियों में अग्निजीव परमात्मा रूप तीन पदार्थों का ही वक्तव्य रूप से उपन्यास (उपक्रम कथन) दीखता है, और उन तीन पदार्थ विषयक ही प्रश्न हैं। उन तीन से अन्य का प्रश्न वा उपन्यास नहीं है। वहाँ प्रथम अग्नि विषयक प्रश्न है कि (वह मुझे वर देने वाले आप स्वर्ग का हेतु अग्नि का स्मरण करते हो, हे मृत्युदेव! उस अग्नि आदि विषयक श्रद्धायुक्त मेरे

लिए उस अग्नि का उपदेश करो) और जीवविषयक प्रश्न है कि (मनुष्य के मरने पर जो यह संशय होता है कि शरीर के अतिरिक्त जीवात्मा अब भी है ? कोई कहते हैं कि मरने पर नहीं है। यह आत्मतत्त्व कैसा है ? इस अर्थ को मैं आप से उपदेश पा कर समझूंगा, वरों में यह तीसरा वर है) और ('धर्म अधर्म कार्य कारण भूत भविष्यत् वर्तमान से अन्य जिसको आप जानते हो, उसे कहो') यह परमात्मविषयक प्रश्न है। एवं प्रतिवचन भी अग्निविषयक है कि (लोकों का हेतु विराट् रूप से उपास्य उस अग्नि को मृत्यु ने नचिकेता के लिए कहा। और अग्नि-चयन के लिए जिस स्वरूप वाली जितनी ईंटें होनी चाहिए यह कहा, तथा चयन का प्रकार कहा) तथा 'हन्त इस समय, तेरे लिए यह गुप्त सनातन ब्रह्म कहूँगा' इस प्रकार ब्रह्म विषयक प्रतिज्ञा करके, और (हे गौतम ! मरण को प्राप्त होकर जैसा होता है वह भी कहूँगा) इस प्रकार जीव विषयक प्रतिज्ञा करके, और ब्रह्म विषयक प्रतिज्ञा से व्यवधानयुक्त जीव विषयक उत्तर है कि 'कोई देही मरण पा कर फिर शरीर ग्रहण के लिए कर्म और ज्ञान के अनुसार योनि में प्राप्त होते हैं, उनसे अन्य स्थावर में प्राप्त होते हैं और सर्वज्ञ परमात्मा जन्मता मरता नहीं है' इत्यादि वचनों से बहुत विस्तारपूर्वक परमात्मविषयक प्रतिवचन है। इस प्रकार प्रधान विषयक प्रश्न नहीं है, और अपृष्ट होने से उस प्रधान का उपन्यास होना भी योग्य नहीं है, वह अव्यक्त है।

अत्राह—योऽयमात्मविषयः प्रश्नो 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ती'ति, किं स एवायम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इति पुनरनुकृष्यते, किंवा ततोऽन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इति। किंचातः ? स एवायं प्रश्नः पुनरनुकृष्यत इति यद्युच्येत, तदा द्वयोरात्मविषययोः प्रश्नयोरेकतापत्तेरग्निविषय आत्मविषयश्च द्वावेव प्रश्नावित्यतो न वक्तव्यं त्रयाणां प्रश्नोपन्यासाविति। अथान्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इत्युच्यते ततो यथैव वरदानव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोषः, एवं प्रश्नव्यतिरेकेणापि प्रधानोपन्यासकल्पनायामदोषः स्यादिति।

यहाँ शंका होती है कि जो यह आत्मविषयक प्रश्न है कि 'जो यह मनुष्य के मरने पर संशय होता है' इत्यादि, क्या यही प्रश्न (अन्यत्र धर्मात्) इत्यादि रूप से फिर अनुकृष्ट (सम्बद्ध) होता है ? अथवा उससे अन्य यह अपूर्व प्रश्न खड़ा किया जाता है। यदि कहा जाय कि इस विचार में क्या फल है ? तो कहा जाता है कि इस विचार का यह फल है कि यदि कहा जाय कि वह पूर्व का ही प्रश्न यहाँ फिर अनुकृष्ट होता है, तो आत्मविषयक दोनों प्रश्नों की एकता की प्राप्ति से अग्निविषयक और आत्मविषयक दो ही प्रश्न सिद्ध होते हैं, इससे तीन का प्रश्न और उपन्यास है, यह नहीं कहना होगा। और यदि यह अन्य अपूर्व प्रश्न उठाया जाता है, इस प्रकार कहा

जाता है, तो जैसे वर प्रदान के बिना प्रश्न की कल्पना में अदोष है, इसी प्रकार प्रश्न के बिना भी प्रधान के उपन्यास की कल्पना में अदोष होगा।

अत्रोच्यते। नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कंचित्कल्पयामः, वाक्योपक्रमसामर्थ्यात्। वरप्रदानोपक्रमा हि मृत्युनचिकेतःसंवादरूपा वाक्यप्रवृत्तिरासमाप्तेः कठवल्लीनां लक्ष्यते। मृत्युः किल नचिकेतसे पित्रा प्रहिताय त्रीन् वरान् प्रददौ, नचिकेताः किल तेषां प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वव्रे, द्वितीयेनाग्निविद्याम्, तृतीयेनात्मविद्याम्, 'येयं प्रेते' इति 'वराणामेष वरस्तृतीयः' (का० १।१।२०) इति लिङ्गात्। तत्र 'यद्यन्यत्र धर्मा' दित्यन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्येत ततो वरप्रदानव्यतिरेकेणापि प्रश्नकल्पनाद्वाक्यं बाध्येत।

यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि वाक्य के उपक्रम के सामर्थ्य से हम यहाँ वरदान के बिना किसी प्रश्न की कल्पना नहीं करते हैं। जिसके आरम्भ में वर प्रदान का वर्णन है, ऐसी मृत्यु और नचिकेता के सम्वाद रूप वाक्य की प्रवृत्ति कठवल्लियों की समाप्ति पर्यन्त देखी जाती है। पिता से प्रहित (प्रेषित-भेजे गये) नचिकेता के लिए मृत्यु ने तीन वर दिए। नचिकेता ने उन तीनों वरों में से प्रथम वर द्वारा पिता की प्रसन्नता मांगी, द्वितीय वर से अग्निविद्या मांगी, तृतीय से आत्मविद्या मांगी। इसलिए 'योऽयं प्रेते' इत्यादि पूर्वक 'वरों में यह तीसरा वर है' इस हेतु से समझा जाता है। इस प्रकार के वाक्यारम्भ होते, यदि (अन्यत्र धर्मात्) इत्यादि से यह अपूर्व प्रश्न उत्थित किया जाय तो वर प्रदान के बिना भी कल्पना से वाक्य बाधित होगा।

ननु प्रष्टव्यभेदादपूर्वोऽयं प्रश्नो भवितुमर्हति, पूर्वो हि प्रश्नो जीवविषयः 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति नास्ती'ति विचिकित्साभिधानात्, जीवश्च धर्मादिगोचरत्वान्नान्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति। प्राज्ञस्तु धर्माद्यतीतत्वादन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हतीति। प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते, पूर्वस्यास्तित्वनास्तित्वविषयत्वादुत्तरस्य धर्माद्यतीतवस्तुविषयत्वात्, तस्मात्प्रत्यभिज्ञानाभावात्प्रश्नभेदः, न पूर्वस्यैवोत्तरत्रानुकर्षणमिति चेत्? न, जीवप्राज्ञयोरेकत्वाभ्युपगमात्। भवेत्प्रष्टव्यभेदो यद्यन्यो जीवः प्राज्ञात्स्यात्, न त्वन्यत्वमस्ति 'तत्त्वमसी'त्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः इह चान्यत्र धर्मादित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति जन्ममरणप्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति। सति हि प्रसङ्गे प्रतिषेधो भागी भवति। प्रसङ्गश्च जन्ममरणयोः शरीरसंस्पर्शाच्छारीरस्य भवति न परमेश्वरस्य।

यहाँ शंका होती है कि जीव और ईश्वर रूप प्रष्टव्य (प्रश्न के विषय) के भेद से 'अन्यत्र धर्माद्' इत्यादि स्वरूप यह प्रश्न अपूर्व होने के योग्य है। क्योंकि जो यह संशय

होता है कि कोई कहता है कि शरीर से भिन्न है कोई कहता है कि नहीं है। इस प्रकार संशय का कथन किया गया है, और धर्मादि के गोचर (आश्रय-अधीन) होने से अन्यत्र धर्माद् इस प्रश्न के योग्य जीव नहीं हो सकता है। धर्मादि से अतीत (रहित) होने से प्राज्ञ (ईश्वर) तो (अन्यत्र धर्माद्) इस प्रश्न के योग्य है और प्रश्नों की छाया (कान्ति स्वरूप) भी तुल्य नहीं दीखती है, क्योंकि प्रथम प्रश्न मरण के बाद अस्तित्व नास्तित्व विषयक है। और उत्तर (पीछे का) प्रश्न धर्मादि से रहित वस्तु विषयक है। इससे पूर्व के उत्तर में प्रत्यभिज्ञा के अभाव से प्रश्न का भेद है, इससे पूर्व प्रश्न का ही उत्तर (आगे) अनुकर्षण नहीं है। यदि ऐसा कोई कहे तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीव और प्राज्ञ को एक मानने से दोनों प्रकार के प्रश्न एक वस्तु विषयक होने से एक हैं। प्रष्टव्य (प्रश्न विषय) के भेद से प्रश्न का भेद तब होता यदि प्राज्ञ से जीव भिन्न होता। परन्तु (तत्त्वमसि) वही तुम हो, इत्यादि श्रुत्यन्तर से जीव को प्राज्ञ से अन्यत्व (भेद) नहीं है। और यहाँ भी 'अन्यत्र धर्माद्' इत्यादि प्रश्न का 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादि वचन से जन्ममरणादि के प्रतिषेध द्वारा प्रतिपादित किया गया प्रतिवचन (उत्तर) भी जीवेश्वर के अभेद को दिखलाता है। क्योंकि प्रसंग (प्राप्ति) के रहते ही प्रतिषेध भागी (युक्त) होता है। शरीर के साथ सम्बन्ध से जन्म मरण का प्रसङ्ग जीव को होता है, परमेश्वर को जन्म मरण का प्रसंग नहीं होता है।

तथा—स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ (का० २।४।४)

इति स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्वविशेषणस्य मननेन शोकविच्छेदं दर्शयन्न प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति। प्राज्ञविज्ञानाद्धि शोकविच्छेद इति वेदान्तसिद्धान्तः। तथाग्रे—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ (का० २।१।१०)

इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति। यथा जीवविषयस्यास्तित्वनास्तित्वप्रश्नस्यानन्तरम् 'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व' इत्यारभ्य मृत्युना तैस्तैः कामैः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल, तदैनं मृत्युरभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च 'विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त' (का० १।२।४) इति प्रशस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशंसन् यदुवाच—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

(का० १।२।१२) इति, तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते। यत्प्रश्ननिमित्तां च प्रशंसां महतीं मृत्योः प्रत्यपद्यत नचिकेता यदि तं विहाय

प्रशंसानन्तरमन्यमेव प्रश्नमुपक्षिपेदस्थान एव सा सर्वा प्रशंसा प्रसारिता स्यात्, तस्मात् 'येयं प्रेते' प्रश्नस्यैतदनुकर्षणम् 'अन्यत्र धर्मात्' इति।

इसी प्रकार 'स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था इन दोनों को जिस साक्षिस्वरूप आत्मा द्वारा जीव देखता है, उस महान् विभु आत्मा को जानकर विद्वान् सोचता नहीं है' इस वाक्य से स्वप्न जाग्रत के द्रष्टा जीव का ही महत्त्व विभुत्व विशेषणयुक्त रूप से मनन द्वारा शोक विच्छेद को दिखलाते हुए गुरु जीव प्राज्ञ से अन्य नहीं है, यह दिखलाते हैं, क्योंकि प्राज्ञ के विज्ञान से शोक का विच्छेद होता है, यह वेदान्त का सिद्धान्त है। इसी प्रकार आगे (जो यहाँ है, वही चेतन अन्यत्र परलोक सूर्यादि में है, वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है जो इसमें नाना के समान देखता है) इस वचन से जीव और प्राज्ञ में भेद-दृष्टि का अपवाद (निन्दा) करते हैं। इसी प्रकार जीव विषयक अस्तित्व नास्तित्व के प्रश्न के अनन्तर (बाद, हे नचिकेता ! अन्य वर मांगो) इस प्रकार आरम्भ करके मृत्यु से तत्तत् कामों (विषयों) द्वारा लोभायमान (प्रलोभित किया गया) भी नचिकेता जब लुब्ध विचलित नहीं हुआ, तब मृत्यु से अभ्युदय (स्वर्गादि) और निःश्रेयस (मोक्ष) के विभाग का प्रदर्शन पूर्वक, तथा विद्या और अविद्या के विभाग का प्रदर्शन पूर्वक उसको कहा कि (बहुत काम तुम्हें लोलुप नहीं कर सके इससे तुम नचिकेता को विद्या-भीप्सी (विद्यार्थी) मानता हूँ। इस प्रकार उसकी प्रशंसा करके, उसके प्रश्न की भी प्रशंसा करते हुए मृत्यु बोले कि (उस दुर्ज्ञेय, माया में गूढ़ (छिपा हुआ) अत एव उसमें अनुप्रविष्ट बुद्धिरूप गुहा में स्थिर शरीर में स्थिर अनादि देव को अध्यात्मयोग की प्राप्ति द्वारा समझ कर विद्वान् हर्षशोक को त्यागता है)। उस कथन से जीव और प्राज्ञ का यहाँ अभेद ही विवक्षित प्रतीत होता है। और जिस प्रश्न निमित्तक महती प्रशंसा को नचिकेता ने यम से प्राप्त किया, यदि प्रशंसा के बाद उस प्रश्न को त्याग कर अन्य प्रश्न को उपक्षेप (उपस्थित) करेगा, तो सब प्रशंसा कुस्थान (अपात्र) में प्रसारित होगी अर्थात् अनवसर में कृत होगी। जिससे (येयं प्रेते) इसी प्रश्न का यह अनुकर्षण है—(अन्यत्र धर्मात्) इत्यादि।

यत्तु प्रश्नच्छायावैलक्षण्यमुक्तं तददूषणम्, तदीयस्यैव विशेषस्य पुनः पृच्छ्यमानत्वात्। पूर्वत्र हि देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वं पृष्टमुत्तरत्र तु तस्यैवासंसारित्वं पृच्छ्यत इति। यावद्ध्यविद्या न निवर्तते तावद्धर्मादिगोचरत्वं जीवस्य जीवत्वं च न निवर्तते। तन्निवृत्तौ तु प्राज्ञ एव 'तत्त्वमसी'ति श्रुत्या प्रत्याय्यते। नचाविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुनः कश्चिद्विशेषोऽस्ति। यथा कश्चित्सन्तमसे पतितां काञ्चिद्रज्जुमहिं मन्यमानस्ततो भीतो वेपमानः पलायते, तं चापरो ब्रूयान्मा भैषीर्नायमही रज्जुरेवेति, स च तदुपश्रुत्याहिकृतं भयमुत्सृजेद्वेपथुं पलायनं च, न त्वहिबुद्धिकाले तदपगमकाले च वस्तुनः कश्चिद्विशेषः स्यात्, तथैवैतदपि द्रष्टव्यम्। ततश्च 'न जायते म्रियते वा' इत्येवमाद्यपि भवत्यस्तित्वप्रश्नस्य प्रतिवचनम्। सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया

योजयितव्यम् । एकत्वेऽपि ह्यात्मविषयस्य प्रश्नस्य प्रायेणावस्थायां देहव्यतिरिक्तास्तित्वमात्रविचिकित्सनात्कर्तृत्वादिसंसारस्वभावानपोहनाच्च पूर्वस्य पर्यायस्य जीवविषयत्वमुत्प्रेक्ष्यते, उत्तरस्य तु धर्माद्यत्ययसङ्कीर्तनात्प्राज्ञविषयत्वमिति, ततश्च युक्ताग्निजीवपरमात्मकल्पना । प्रधानकल्पनायां तु न वरप्रदानं न प्रश्नो न प्रतिवचनमिति वैषम्यम् ॥ ६ ॥

जो प्रश्न की छाया में विलक्षणता कहा है, वह दूषण नहीं है, क्योंकि पूर्वप्रश्न का ही विशेष फिर पूछा गया है । जिससे प्रथम देहादि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व (सत्ता) पूछा है । और उत्तर में उसी आत्मा का असंसारित्व पूछा गया है । जिससे जब तक अविद्या नहीं निवृत्त होती है, तभी तक जीव को धर्मादि के आश्रयत्व और जीवत्व भी नहीं निवृत्त होते हैं, उस अविद्या की निवृत्ति होने पर तो जीव प्राज्ञ ही हो जाता है, यह (तत्त्वमसि) इत्यादि श्रुति से समझाया जाता है, एवं प्रत्यक्ष अनुभव कराया जाता है । अविद्यावत्व (अविद्या की वर्तमानता) से और अविद्या के अपगम (निवृत्ति) से आत्मवस्तु को कुछ विशेष (भेद हानिलाभ) नहीं होता है, इससे जीव का स्वरूप ब्रह्मरूपता आगन्तुक नहीं है । जैसे सन्तमस (व्याप्तसमान अन्धकार) में पड़ी हुई किसी रज्जु (रस्सी) को सर्प मान कर और उससे डरकर काँपता हुआ कोई भागता हो, और उसको अन्य कोई कहे कि मत डरो 'यह सर्प नहीं है यह तो रज्जु ही है' तो वह भागनेवाला उस वचन को सुनकर सर्पकृत भय, कम्प और भागना रूप क्रिया इन तीनों को त्याग देता है, परन्तु सर्पज्ञान काल में और उस ज्ञान के निवृत्तिकाल में रज्जुरूप वस्तु को कुछ विशेष नहीं होता है, वैसे यहाँ भी समझना चाहिये । इस प्रकार प्रश्न की एकता से (न जायते म्रियते वा) न जन्मता है न मरता है, इत्यादिक भी अस्तित्व प्रश्न का उत्तर है कि जन्मादि रहित होने से आत्मा सदा एक रस रहता है, उसका कभी अभाव नहीं होता है इत्यादि । परन्तु जीव ब्रह्म के एक होने पर (त्रयाणाम्) यह सूत्र कैसे संगत हो सकता है, इस आशय से कहते हैं कि अविद्या से कल्पित जीव ब्रह्म के भेद की अपेक्षा से सूत्र की योजना (वाक्यार्थ) करना चाहिये । आत्मविषयक प्रश्न को एकत्व होते हुए भी मरणकाल में देह से भिन्न आत्मा के अस्तित्वमात्र के संशय होने से और कर्तृत्वादि संसार धर्म की अनिवृत्ति से प्रथम पर्याय (प्रकार) वाले प्रश्न को जीवविषयत्व की उत्प्रेक्षा (बुद्धि) की जाती है । धर्मादि के अत्यय (अतिक्रमण) के संकीर्तन से उत्तर पर्याय (प्रकार) को प्राज्ञविषयत्व की उत्प्रेक्षा की जाती है । जिससे अग्नि जीव और परमात्मा की कल्पना भी युक्त है । प्रधान की कल्पना में यह विषमता है कि न प्रधान विषयक वर प्रदान है, न प्रश्न है, न प्रतिवचन है ।

महद्वच्च ॥ ७ ॥

यथा महच्छब्दः साङ्ख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वैदि-

केपि प्रयोगेऽभिधत्ते, 'बुद्धेरात्मा महान् परः' (का० १।३।१०), 'महान्तं विभुमात्मानम्' (का० १।२।२२), 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३।८) इत्येवमादावात्मशब्दप्रयोगादिभ्यो हेतुभ्यः, तथाव्यक्तशब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभिधातुमर्हति । अतश्च नास्त्यानुमानिकस्य शब्दवत्त्वम् ॥७॥

जैसे सांख्यवादी लोग महत् शब्द को प्रथम उत्पन्न प्रकृति का प्रथम कार्य सत्तामात्र महत्तत्व अर्थ ही में प्रयोग करते हैं, वैदिक प्रयोग में भी महत् शब्द से उस सत्तामात्र को नहीं कहा जाता है । इसलिए (बुद्धि से महान् विभु आत्मा को मानकर धीर नहीं सोचता है । मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ) इत्यादि वाक्यों में जैसे आत्मशब्द प्रयोगादिरूप हेतुओं से समझा जाता है, वैसे ही अव्यक्त शब्द भी वैदिक प्रयोगों में प्रधान को नहीं कह सकता है, इससे सिद्ध हुआ कि आनुमानिक प्रधान को श्रुति शब्द से प्रतिपाद्यत्व नहीं है ।

चमसाधिकरण (२)

अजा हि साङ्ख्यप्रकृतिस्तेजोऽबन्नात्मिकाऽथवा ।
रज आदौ लोहितादिलक्ष्येऽसौ साङ्ख्यशास्त्रगा ॥
लोहितादिप्रत्यभिज्ञा तेजोऽबन्नादिलक्षणाम् ।
प्रकृतिं गमयेच्छ्रौतीमजाक्लृप्तिमधुत्ववत् ॥

'चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इस श्रुति में कथित चमस के समान (अजामेकाम्) इत्यादि श्रुति में विशेष के ज्ञान नहीं होने से संशय होता है कि यह अजा सांख्य की त्रिगुणात्मिका स्वतन्त्र प्रकृति है अथवा श्रुति कथित तेज, जल, अन्न (भूमि) रूप प्रकृति का वाचक ? पूर्वपक्ष है कि लोहितादि शब्दों के लक्ष्यरूप रजोगुणादि में पठित वह सांख्यशास्त्रगत अजा शब्द है । इससे सांख्य की प्रकृति अजा है । सिद्धान्त है कि छान्दोग्य में पठित तेज आदि की यहाँ लोहितादि शब्दों से प्रत्यभिज्ञा होती है, जिससे तेज आदिरूप श्रुति सिद्ध प्रकृति का ही अजा शब्द बोध करता है । सूर्य में मधु के समान तेज आदि में अजा की कल्पना होती है ।

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

पुनरपि प्रधानवाद्यशब्दत्वं प्रधानस्यासिद्धिमित्याह, कस्मात् ? मन्त्रवर्णात्—
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ (श्वे० ४।५) इति । अत्र हि मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णाशब्दै रजःसत्त्वतमांस्यभिधीयन्ते । लोहितं रजो रञ्जनात्मकत्वात्, शुक्लं सत्त्वं प्रकाशात्मकत्वात्, कृष्णं तम आवरणात्मकत्वात् । तेषां साम्यावस्थाऽवयवधर्मैर्व्यपदिश्यते लोहितशुक्लकृष्णेति । न जायत इति चाजा स्यात्, 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' इत्यभ्युपगमात् । नन्वजाशब्दश्छागायां रूढः । बाढम् । सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या,

विद्याप्रकरणात्। सा च बह्वीः प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति, तां प्रकृतिमज एकः पुरुषो जुषमाणः प्रीयमाणः सेवमानो वानुऽशेते। तामेवाविद्ययात्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकितया संसरति, अन्यः पुनरजः पुरुष उत्पन्नविवेकज्ञानो विरक्तो जहात्येनां प्रकृतिं भुक्तभोगां कृतभोगापवर्गां परित्यजति मुच्यत इत्यर्थः। तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादिकल्पना कापिलानामिति।

प्रधानवादी फिर भी कहता है कि प्रधान के अशब्दत्व को असिद्धि है, क्योंकि मन्त्रवर्ण से प्रधान सिद्ध होता है कि (समानरूपवाली बहुत प्रजा को उत्पन्न करनेवाली रजःसत्त्वतमोगुणवाली एक अजा अनादि प्रकृति को सेवन करता हुआ एक अज पुरुष उसको भजता है, उसका अनुसरण करता है, और अन्य अज जिससे भोग मिला है ऐसी उस अजा को त्याग देता है)। इस मन्त्र में लोहितशुक्लकृष्ण शब्दों से रजःसत्त्वतम कहे जाते हैं। उनमें रञ्जनात्मक होने से रजोगुण लोहित है। प्रकाशात्मक होने से सत्त्वगुण शुक्ल है। आवरणात्मक होने से तमोगुण कृष्ण है। उन गुणों की साम्यावस्था अवयव के धर्मों से लोहितशुक्लकृष्ण कही जाती है, और जन्मती नहीं है इससे अजा हो सकती है। एवं ऐसा अभ्युपगम (स्वीकार) भी किया गया है कि (सबका मूलरूप जो प्रकृति है, वह किसी की विकृति कार्य नहीं है) रूढियोग से प्रबल होती है इस आशय से शंका होती है कि अजा शब्द तो बकरा अर्थ में रूढ़ है, फिर प्रकृति का वाचक कैसे हो सकता है? उत्तर है कि लोक में रूढि सत्य ही है परन्तु विद्या का प्रकरण होने से यहाँ उस रूढि का आश्रयण नहीं किया जा सकता है, और वह अजा प्रकृति सुख-दुःख मोहरूप त्रैगुण्य से युक्त बहुत महदादि कार्यरूप प्रजा को उत्पन्न करती है, उस अजा प्रकृति को एक अज पुरुष जुषमाण अर्थात् उसमें प्रेमयुक्त उससे प्रसन्नरूप प्रियमाण होता हुआ अथवा उसका सेवन करता हुआ अनुशयन करता है। अविद्या को उस अजा को ही आत्मारूप से समझकर और अविवेक से 'मैं सुखी-दुःखी मूढ़ हूँ' इस प्रकार समझता हुआ संसार चक्र में पड़ता है। और जिसको विवेकज्ञान उत्पन्न हो गया है, वह अन्य विरक्त अजपुरुष, भुक्तभोगी अर्थात् जो भोग और मोक्ष का सम्पादन कर चुकी है, ऐसी इस प्रकृति को सर्वथा त्याग करता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है। यह उक्त श्रुति का अर्थ है, जिससे कपिलमतानुयायियों की श्रुतिमूलक ही प्रधान की कल्पना है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः— नानेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्वं साङ्ख्यवादस्य शक्यमाश्रयितुम्। न ह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कञ्चिदपि वादं समर्थयितुमुत्सहते। सर्वत्रापि यया कयाचित्कल्पनयाऽजात्वादिसम्पादनोपपत्तेः, साङ्ख्यवाद एवेहाभिप्रेत इति विशेषावधारणकारणाभावात्। चमसवत्। यथाहि 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' (बृ० २।२।३) इत्यस्मिन्मन्त्रे स्वातन्त्र्येणायं नामासौ चमसोऽभिप्रेत इति न

शक्यते निरूपयितुम्, सर्वत्रापि यथाकथंचिदर्वाग्बिलत्वादिकल्पनोपपत्तेः। एवमिहाप्यविशेषोऽजामेकामित्यस्य मन्त्रस्य, नास्मिन्मन्त्रे प्रधानमेवाजाभिप्रेतेति शक्यते नियन्तुम्।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि इस मन्त्र से सांख्यवाद को श्रुतिमत्त्व का आश्रयण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यह मन्त्र स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी वाद का समर्थन करने के लिए उत्साह नहीं करता है। और सर्वत्र ही जिस किसी कल्पना से अजात्वादि के सम्पादन की सिद्धि हो सकती है। सांख्यवाद ही यहाँ अभिप्रेत (अभिप्राय का विषय) है, इस विशेष के अवधारण (निश्चय) के कारण अभाव से यह चमस के समान है। जैसे कि (अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः) जिसके नीचे बिल है, ऊपर गोल है वह यज्ञपात्र चमस है। इस मन्त्र में यह वह प्रसिद्ध चमस अभिप्रेत है, इस प्रकार स्वतन्त्रता से निरूपण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि सर्वत्र ही जिस किसी प्रकार में अर्वाग्बिलत्वादि कल्पना की सिद्धि हो सकती है। इसी प्रकार यहाँ भी अजामेकाम् इस मन्त्र को अविशेषता है। इससे इस मन्त्र में प्रधान ही अभिप्रेत है, ऐसा नियम नहीं कर सकते हैं।

तत्र तु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इति वाक्यशेषाच्चमसविशेषप्रतिपत्तिर्भवति, इह पुनः केयमजा प्रतिपत्तव्येति, अत्र ब्रूमः—

ज्योतिरुपक्रमा तु यथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या। तुशब्दोऽवधारणार्थः। भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया न गुणत्रयलक्षणा। कस्मात् ? तथा ह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति। तान्येवेह तेजोबन्नानि प्रत्यभिज्ञायन्ते, रोहितादिशब्दसामान्यात्, रोहितादीनाञ्च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वाद्भाक्तत्वाच्च गुणविषयत्वस्य। असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते। तथेहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किंकारणं ब्रह्म' (श्वे० १।१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १।३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्। वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति। 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' (श्वे० ४।१०, ११) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित्प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम्। प्रकरणात्तु सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोः प्रागवस्थानेनापि मन्त्रेणाम्नायत इत्युच्यते। तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम्।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि उस चमस विषयक तो वचन है कि (यह शिर ही वह

चमस रूप है कि जिसमें मुख रूप नीचे विल है और ऊपर गोल है ऐसा यह चमस है) इस वाक्य शेष रूप वचन में चमस विशेष का ज्ञान हो जाता है, परन्तु यहाँ इस अजा से क्या समझना चाहिए ? तो यहाँ कहते हैं कि ज्योति जिसमें प्रमुख (प्रथम) है, ऐसा तेज, जल, अन्न स्वरूप और अजादि चारों प्रकार के प्राणी समूह की जो प्रकृति (जननी) स्वरूप है, यही अजा जानने योग्य है, वह परमेश्वर से प्रथम उत्पन्न हुई है, इससे जन्मरहित होने से अजा नहीं कहाती है । सूत्र में 'तु' शब्द अवधारण (निश्चय) अर्थ में है, इससे अर्थ है कि तेज, जल, अन्न स्वरूप ही यह अजा जानने योग्य है । रजः सत्त्वादि तीन गुण स्वरूप इसे नहीं समझना चाहिये, क्योंकि एक शाखा वाले छान्दोग्य में तेज, जल, अन्न की परमेश्वर से उत्पत्ति कह कर, उनकी ही रोहित (लोहित) आदि रूपता का कथन करते हैं कि (जो अग्नि का रक्त रूप है, वह तेज का रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का है, जो अग्नि का कृष्ण (काला) रूप है वह अन्न का है । रोहितादि शब्दों की तुल्यता से (अजामेकाम्) इस श्रुति में उनकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है, और रोहितादि शब्दों को रूप विशेषों में मुख्यत्व है, अर्थात् रूप विशेषों के ये वाचक हैं, इससे रूप वाले तेज आदि को लक्षणा से कह सकते हैं । एवं रञ्जनीयत्वादि गुण योग से गुणविषयत्व भाक्त (गौण) है । भाक्त से मुख्य वृत्ति बली होती है । और सब शाखाओं का समन्वय होने से असन्दिग्ध शाखान्तर द्वारा सन्दिग्ध शाखान्तर का निगमन (अवबोधन) निश्चय करना न्याययुक्त मानते हैं। शाखान्तर के समान इस श्वेता-श्वतर में भी त्रिगुण प्रधान का बोधक प्रकरण नहीं है, क्योंकि (ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि कारण रूप ब्रह्म कौन है) इस प्रकार आरम्भ करके लिखा है कि (उन ब्रह्म-वादी लोगों ने ध्यान रूप योग से समाहित ब्रह्म में प्रविष्ट होकर अपने गुणों से आवृत परमात्मा के आत्मस्वरूप शक्ति को देखा । अर्थात् उन्होंने योग से परमात्मा की शक्ति को समझा) इस प्रकार समस्त जगत् को सिद्ध उत्पन्न करने वाली परमेश्वर की शक्ति का वाक्य के आरम्भ में ज्ञान होता है । वाक्यशेष में भी (माया को जगत् की प्रकृति जानो, माया को स्वाधीन रखने वाले को महेश्वर जानो) और (जो महेश्वर एक होता हुआ भी प्रकृति के अनन्त अंश रूप सब योनियों—कारणों का अधिष्ठाता है) इन श्रुतियों से भी उसी शक्ति का ज्ञान होता है । इससे प्रधान नाम वाली स्वतन्त्र कोई प्रकृति अजा मन्त्र से कही जाती है, यह नहीं कह सकते हैं । और प्रकरण से अव्याकृत नाम रूप वाली नाम रूप की पूर्वावस्था रूप वही दैवी (ईश्वरीय) शक्ति (अजाम्) इस मन्त्र से भी कही जाती है, इस प्रकार कहा जाता है । एवं उसके विकारों के आश्रित रहने वाली जो त्रिरूपता है, अर्थात् तेज आदि में जो त्रिरूपता है, उससे वह भी तीन रूप वाली कही जाती है ।

कथं पुनस्तेजोबन्नानां त्रैरूप्येण त्रिरूपाजा प्रतिपत्तु शक्यते, यावता न तावत्तेजोबन्नेष्वजाकृतिरस्ति, नच तेजोबन्नानां जातिश्रवणादजातिनिमित्तोऽप्यजाशब्दः संभवतीति । अत उत्तरं पठति—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

नायमजाकृतिनिमित्तोऽजाशब्दः, नापि यौगिकः, किं तर्हि ? कल्पनोपदेशोऽयम्, अजारूपकक्लृप्तिस्तेजोबन्नलक्षणायाश्चराचरयोनेरुपदिश्यते । यथाहि लोके यदृच्छया काचिदजा रोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद्बहुबर्करा सरूपबर्करा च, तां च कश्चिदजो जुषमाणोऽनुशयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्, एवमियमपि तेजोबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा बहु सरूपं चराचरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते, विदुषा च परित्यज्यत इति । नचेदमाशङ्कितव्यम्—एकः क्षेत्रज्ञोऽनुशेतेऽन्यो जहातीत्यतः क्षेत्रज्ञभेदः पारमार्थिकः परेषामिष्टः प्राप्नोति—इति । नहीयं क्षेत्रज्ञभेदप्रतिपिपादयिषा किन्तु बन्धमोक्षव्यवस्थाप्रतिपिपादयिषा त्वेषा । प्रसिद्धं तु भेदमनूद्य बन्धमोक्षव्यवस्था प्रतिपाद्यते, भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिकः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिश्रुतिभ्यः । मध्वादिवत्, यथा 'आदित्यस्यामधुनो मधुत्वम्' (छां० ३।१), 'वाचश्चाधेनोर्धेनुत्वम्' (बृ० ५।८), 'द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम्' (बृ० ८।२।९) इत्येवंजातीयकं कल्प्यते, एवमिदमनजाया अजात्वं कल्प्यत इत्यर्थः, तस्मादविरोधस्तेजोबन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य ।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि तेज, जल, अन्न की त्रिरूपता से तीन रूप वाली तेज आदि स्वरूपा ही अजा कैसे समझी जा सकती है, जब कि तेज, जल और अन्न में अजा की आकृति (आकार जाति) नहीं है । और श्रुति में इनके जन्म के श्रवण से अजाति (अनुत्पत्ति) निमित्तक भी (न जायत इति अजा) न उत्पन्न हो वह अजा, इस प्रकार भी अजा शब्द के प्रयोग का इनमें सम्भव नहीं है । इससे सूत्रकार उत्तर पढ़ते हैं कि—श्रुति में यह अजा शब्द बकरा की आकृति निमित्तक रूढ नहीं है, न अजन्म निमित्तक यौगिक ही है, तो क्या कल्पना से यह उपदेश है ? चराचर की योनि (कारण) तेज, जल, भूमि की अजासदृशता की कल्पना का उपदेश दिया जाता है, जैसे लोक में यदृच्छा (दैवयोग) से कोई बकरी लाल, श्वेत, कृष्ण रंग वाली हो, बहुत बच्चों वाली हो । समान रूप युक्त बच्चों वाली हो । और कोई अज बच्चा बकरा उसमें प्रेम रख कर उसको सेवन करता हुआ उसके पीछे चले । एवं कोई अज बकरा उससे दूध भोगने के बाद उसको त्याग दे । इसी प्रकार यह भी तेज, जल, अन्न स्वरूप भूतों की प्रकृति तीन वर्ण वाली है, और समान रूप वाले चराचर स्वरूप बहुत विकार समूह को उत्पन्न करती है, तथा अज्ञ क्षेत्रज्ञ जीव से भोगी जाती है, ज्ञानी से सर्वथा त्यागी जाती है । अब इस कथन से यह शंका नहीं करना कि जब एक क्षेत्रज्ञ प्रकृति का सेवन करता हुआ उसके साथ सोता है, और अन्य उसको त्यागता है, तब तो अन्यवादी का इष्ट पारमार्थिक (सत्य) क्षेत्रज्ञ भेद की प्राप्ति होती है । क्योंकि यह अजारूपक कल्पना क्षेत्रज्ञ के भेदों के

प्रतिपादन की इच्छा से नहीं की गई है, किन्तु बन्धमोक्ष की व्यवस्था के प्रतिपादन की इच्छा से यह कल्पना की गई है। यदि कहा जाय कि बंधमोक्ष की व्यवस्था के लिए भी यदि वेद से भेद का प्रतिपादन हुआ तो वह वेदप्रतिपादित अर्थ सत्य होगा तो इसका समाधान है कि वेद से यहाँ भेद का प्रतिपादन नहीं किया जाता है, किन्तु अन्य प्रमाणादि से प्रसिद्ध भेद का अनुवाद करके बन्धमोक्ष की व्यवस्थामात्र का यहाँ प्रतिपादन किया जाता है। एवं वह भेद उपाधि निमित्तक मिथ्याज्ञान अविवेकादि से कल्पित है, सत्य नहीं है, वह (एकदेव सब भूतों में छिपा है, सब में व्यापक है, सब भूतों का अन्तरात्मा है) इत्यादि श्रुतिवचन से सिद्ध होता है। वह अजा सादृश्य की कल्पना मधु आदि की कल्पना के समान है। जैसे कि मधु से भिन्न आदित्य की उपासना के लिए मधुरूप से कल्पना की जाती है। अधेनुवाक् की धेनुत्वरूप से कल्पना होती है, अग्निभिन्नद्युलोकादि की अग्निरूप से कल्पना होती है। एवं इस प्रकार की अन्य भी कल्पना की जाती हैं, इसी प्रकार यह अजाभिन्न की अजारूप से कल्पना की जाती है यह सूत्र का अर्थ है। इससे तेज, जल, अन्न में अजाशब्द के प्रयोग को किसी से विरोध नहीं है।

संख्योपसंग्रहाधिकरण (३)

पञ्च पञ्चजनाः सांख्यतत्त्वान्याहो श्रुतीरिताः।
प्राणाद्याः सांख्यतत्त्वानि पञ्चविंशतिभासनात् ॥
न पञ्चविंशतेर्भानमात्माकाशातिरेकतः।
संज्ञा पञ्चजनेत्येषा प्राणाद्याः संज्ञिनः श्रुताः ॥

श्रुतिगत (पञ्चपञ्चजन) शब्द से सांख्यवादी के मान्य पच्चीस तत्त्व की संख्या के उपसंग्रह से भी सांख्यगत पदार्थ श्रुतिसम्मत नहीं समझे जा सकते हैं, क्योंकि वहाँ पाँच पँचे पचीस का ही बोध नहीं होता है, क्योंकि एक तो नानाभाव है, अर्थात् पाँच-पाँचमात्र में अनुगत धर्म नहीं है। यद्यपि इन्द्रियादि में अनुगत धर्म है, तथापि अव्यक्त अहङ्कार पुरुषादि पांच में अनुगत धर्म नहीं है। और आकाश तथा आत्मा से अधिक संख्या की प्राप्ति होती है। यहाँ संशय होता है कि पंचपंचजन सांख्य कथित तत्त्व हैं, अथवा श्रुति कथित प्राणादि हैं ? पूर्वपक्ष है कि पचीस संख्या की प्रतीति होने से सांख्य के तत्त्व ही पंचपंचजन हैं। सिद्धान्त है कि आत्मा आकाश के अतिरिक्त कथन से पचीस का ज्ञान श्रुति में नहीं होता है, इससे पंचजन यह संज्ञा है और प्राणादि संज्ञा हैं, उनकी ही यहां प्रतीति होती है।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात्सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते।

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ (बृ० ४।४।१७) इति।

अस्मिन्मन्त्रे पञ्च पञ्चजना इति पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या श्रूयते पञ्चशब्दद्वयदर्शनात्। त एते पञ्चपञ्चकाः पञ्चविंशतिः संपद्यन्ते। तया

पञ्चविंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकाङ्क्षयन्ते तावन्त्येव च तत्त्वानि सांख्यैः संख्यायन्ते—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ (सांख्यका० ४)

इति। तथा श्रुतिप्रसिद्धया पञ्चविंशतिसंख्यया तेषां स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात्प्राप्तं पुनः श्रुतिमत्त्वमेव प्रधानादीनाम्।

इस पूर्ववर्णित रीति से अजापदयुक्त मन्त्र से सांख्यवाद का परिहार (निवारण) करने पर भी फिर भी अन्य मन्त्र के बल से सांख्यवादी प्रतिपक्षी होते हुए शंका करते हैं कि (जिस आत्मा में प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न, मन रूप पाँच पंचजन नाम वाले स्थिर हैं, जिनमें अन्न विराट् रूप है और चार सूत्रात्मा रूप हैं, उनके कारणरूप आकाश (अव्यक्त) जिसमें स्थिर है, उस आत्मा को मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ, उसके मनन से विद्वान् मैं अमृत हूँ) इस मन्त्र में, 'पञ्च पञ्चजनाः' इस प्रकार दो पञ्चशब्द के देखने से एक पञ्चसंख्याविषयक, दूसरे संख्येय-परक हैं, ये पाँच पञ्चक मिलकर पचीस सिद्ध होते हैं। और उस पचीस संख्या से जितनी संख्येय (संख्यावाली) वस्तु की आकांक्षा होती है उतने ही तत्त्व सांख्यवादियों से कहे और गिने जाते हैं। सब का परमूल रूप प्रकृति (कारण प्रधान) किसी की विकृति (कार्य) नहीं है, और महत्तत्त्व, अहंकार, पाँच तन्मात्रा ये सात महदादि प्रकृति और विकृति (कारण कार्य—उभयस्वरूप हैं) उनमें महत्तत्त्व प्रधान का कार्य है, और अहंकार का कारण। अहंकार तामस रूप से शब्दादि तन्मात्राओं का कारण है, सात्त्विक अहंकार ग्यारह इन्द्रियों का कारण है। पञ्चतन्मात्रायें पञ्चमहाभूतों के क्रम से कारण हैं, और पञ्चमहाभूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ केवल विकार (कार्य) स्वरूप हैं, किसी तत्त्वान्तर के कारण नहीं हैं, पुरुष एवं आत्मा प्रकृति-विकृति से विलक्षण (उदासीन, है। उक्त उस श्रुतिप्रसिद्ध पचीस संख्या से स्मृतिप्रसिद्ध उन पचीस तत्त्वों का उपसंग्रह (ज्ञान) होने से फिर भी प्रधानादि को श्रुतिमत्त्व (वेदप्रतिपाद्यत्व) ही प्राप्त होता है।

ततो ब्रूमः—न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्त्वं प्रत्याशा कर्तव्या। कस्मात्? नानाभावात्। नाना ह्येतानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि, नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणो धर्मोऽस्ति, येन पञ्चविंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्च संख्या निविशेरन्, नह्येकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु द्वित्वादिकाः संख्या निविशन्ते। अथोच्येत—पञ्चविंशतिसंख्यैवेयमवयवद्वारेण लक्ष्यते, यथा 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः' इति, द्वादशवार्षिकीमनावृष्टिं कथयन्ति तद्वत्–इति। तदपि नोपपद्यते। अयमेवास्मिन् पक्षे दोषो यल्लक्षणाश्रयणीया स्यात्। परश्चात्र पञ्चशब्दो जनशब्देन समस्तः पञ्चजना

इति, पारिभाषिकेण स्वरेणैकपदत्वानिश्चयात्। प्रयोगान्तरे च 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तै० १।६।२।२) इत्यैकपद्यैकस्वर्यैकविभक्तिकत्वावगमात्। समस्तत्वाच्च न वीप्सा पञ्च पञ्चेति। न च पञ्चकद्वयग्रहणं पञ्चपञ्चेति। न च पञ्चसंख्याया एकस्याः पञ्चसंख्यया परया विशेषणं पञ्चपञ्चका इति, उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात्। नन्वापन्नपञ्चसंख्याका जना एव पुनः पञ्चसंख्यया विशेष्यमाणाः पञ्चविंशतिः प्रत्येष्यन्ते। यथा पञ्च पञ्चपूल्य इति पञ्चविंशतिः पूलाः प्रतीयन्ते तद्वत्। नेति ब्रूमः। युक्तं यत्पञ्चपूलीशब्दस्य समाहाराभिप्रायत्वात्कतीति सत्यां भेदाकाङ्क्षायां पञ्च पञ्चपूल्य इति विशेषणम्, इह तु पञ्चजना इत्यादित एव भेदोपादानात्कतीत्यसत्यां भेदाकाङ्क्षायां न पञ्च पञ्चजना इति विशेषणं भवेत्। भवदपीदं विशेषणं पञ्चसंख्याया एव भवेत्, तत्र चोक्तो दोषः। तस्मात्पञ्चजना इति न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम्।

उससे कहते हैं—कि संख्या के उपसंग्रह से भी प्रधानादि के श्रुतिप्रतिपाद्यत्व के प्रति आशा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वह आशा की अकर्तव्यता नानाभाव से सिद्ध होती है। जिससे ये सांख्योक्त पचीस तत्त्व नाना पृथक्-पृथक्) हैं। इनके पञ्च पञ्च में इतर से व्यावृत्त साधारण धर्म नहीं हैं। यद्यपि ज्ञानकरणत्व, कर्मकरणत्व, स्थूलभूतप्रकृतत्व तीन पंचक में साधारण मिल सकते हैं, तथापि साधारण धर्मयुक्त अन्य दो पञ्चक सिद्ध नहीं होते हैं, कि जिस धर्म से पचीस के अन्तर में अन्य पाँच-पाँच संख्या का निवेश हो। क्योंकि किसी एक निबन्धन-संग्राहक हेतु धर्म के बिना नानास्वरूप पदार्थ में द्वित्वादि संख्या का निवेश (प्रवेश) नहीं होता है। अर्थात् (दो अश्वी हैं, सात ऋषि हैं, आठ वसु हैं), जो सप्तदश हैं, इस प्रकार महासंख्या में द्वित्वादि संख्या का प्रवेश होता है, अन्यथा नहीं। यदि सांख्यवादी कहे कि महासंख्या के अन्दर अल्प संख्या के निवेश की यहाँ चर्चा ही नहीं है, किन्तु जैसे "पाँच और सात वर्ष इन्द्र नहीं बरसा" इस वाक्य से बारह वर्ष की अनावृष्टि कहते हैं, वहाँ पाँच और सात पद स्ववाच्यसंख्या का व्यापक बारह संख्या के लक्षणा से बोधक होते हैं। वैसे ही पाँच-पाँच अवयव (एकदेश) की संख्या द्वारा पचीस संख्या लक्षित (लक्षणा से बोधित) होती है, तो वह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि इस पक्ष में प्रथम तो यही दोष है जो लक्षणा का आश्रय करना पड़ता है, और यहाँ उत्तर का पञ्चशब्द जन पद के साथ समस्त होकर (मिलकर) पञ्चजनाः यह एकपद हो गया है, और उस एकपदत्व का पारिभाषिक स्वर से निश्चय होता है। अर्थात् यहाँ पञ्चजनशब्द में (समासस्य) इस सूत्र से उदात्त स्वर अन्तविहित हुआ है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इस सूत्र से अन्त्य से भिन्न को अनुदात्त हुआ है, और इसी प्रकार के पारिभाषिक स्वर से एकपदत्व समझा जाता है। एवं (हे आज्य पाँच पञ्चजन नामक देव के

लिए मैं तेरा ग्रहण करता हूँ) यहाँ प्रयोगान्तर में भी एकपदता, एकस्वरता, एक विभक्तिकत्वरूप समास के चिह्न-लिंग अवगत होते हैं। समस्त होने ही से पञ्च-पञ्च यह वीप्सा (व्याप्ति इच्छा अर्थ में द्वित्व) नहीं है। और पञ्च-पञ्च इस प्रकार दो पञ्चक का ग्रहण भी नहीं है, ऐसा होने से दशसंख्या की ही प्रतीति होगी। और पूर्व की एक पञ्चसंख्या का एक परवर्ती पञ्चसंख्या के साथ विशेषणता रूप सम्बन्ध भी नहीं है कि पाँच पञ्चक हैं। क्योंकि पंचजन में जो पंच है, वह उपसर्जन (गौण) है, और जन प्रधान है। उपसर्जन का विशेषण के साथ सम्बन्ध नहीं होता है, यह नियम है। यदि कहा जाय कि पञ्चत्व को प्राप्त जन अर्थात् पाँच-संख्याविशिष्ट जन को फिर पाँच संख्या से अन्वय होने पर दो बार पाँच से विशिष्ट होने के कारण जनशब्द ही पचीस संख्या का बोध करायेगा, क्योंकि पञ्चजन का विशेषण होता हुआ पञ्च, पंचजन के विशेषण पंच का भी विशेषण होगा, इससे पचीस संख्या की प्रतीति होगी, जैसे कि पञ्चपूली पाँच हैं, ऐसा कहने से पचीस पूलों का बोध होता है, वहाँ कहते हैं कि (पाँच पंचपूली) के समान (पाँच पंचजन) पचीस संख्या का बोध नहीं करा सकता है, क्योंकि पंचपूली शब्द में समाहार (समूह) का अभिप्राय होने से, अर्थात् समाहार अर्थ में समास होने से समूह में एकत्व की प्रतीति के बाद फिर आकांक्षा होती है कि पंचपूली कितनी हैं, वहाँ पंच विशेषण उचित है। और यहाँ पंचजन में तो प्रथम से ही भेद का ग्रहण होने से कितने हैं इस प्रकार के भेद की आकांक्षा होने पर पञ्च पञ्चजन हैं, इस प्रकार विशेष्य-विशेषणभाव नहीं हो सकता है, अर्थात् पाँच जन हैं, ऐसा ज्ञान होने पर, कितने हैं, ऐसी आकांक्षा ही नहीं होती है कि जिससे फिर पञ्च विशेषण का सम्बन्ध हो सके। यदि कहा जाय कि जन निराकांक्ष है, इससे उसके साथ पञ्च विशेषण का सम्बन्ध हो नहीं सकता, तो उसका विशेषण पञ्चत्व का विशेषण हो सकता है, क्योंकि पञ्चत्व कितने हैं, ऐसी आकांक्षा हो सकती है। वहाँ कहा जाता है कि इस रीति से विशेषण होता हुआ भी यह विशेषण जनगत पञ्चसंख्या ही का होगा। परन्तु इस पक्ष में भी प्रथम दोष कहा जा चुका है कि उपसर्जन का विशेषण से सम्बन्ध नहीं होता है, प्रधान के साथ ही विशेषण सम्बद्ध होता है इत्यादि, उससे, पञ्च पञ्चजनाः, यह शब्द पचीस तत्त्व के अभिप्राय से नहीं है।

अतिरेकाच्च न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम्। अतिरेको हि भवत्यात्माकाशाभ्यां पञ्चविंशतिसंख्यायाः। आत्मा तावदिह प्रतिष्ठां प्रत्याधारत्वेन निर्दिष्टः, यस्मिन्निति सप्तमीसूचितस्य 'तमेव मन्य आत्मानम्' इत्यात्मत्वेनानुकर्षणात्। आत्मा च चेतनः पुरुषः, स च पञ्चविंशतावन्तर्गत एवेति न तस्यैवाधारत्वमाधेयत्वं च युज्यते। अर्थान्तरपरिग्रहे च तत्त्वसंख्यातिरेकः सिद्धान्तविरुद्धः प्रसज्येत। तथा 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्याकाशस्यापि पञ्चविंशतावन्तर्गतस्य

न पृथगुपादानं न्याय्यम्। अर्थान्तरपरिग्रहे चोक्तं दूषणम्। कथं च संख्यामात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहः प्रतीयेत, जनशब्दस्य तत्त्वेष्वरूढत्वात्, अर्थान्तरोपसंग्रहेऽपि संख्योपपत्तेः। कथं तर्हि पञ्च पञ्चजना इति? उच्यते—'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (पा० सू० २।१।५०) इति विशेषस्मरणात्संज्ञायामेव पञ्चशब्दस्य जनशब्देन समासः, ततश्च रूढत्वाभिप्रायेणैव केचित्पञ्चजना नाम विवक्ष्यन्ते न सांख्यतत्त्वाभिप्रायेण, ते कतीत्यस्यामाकाङ्क्षायां पुनः पञ्चेति प्रयुज्यते। पञ्चजना नाम ये केचित्ते च पञ्चैवेत्यर्थः। सप्तर्षयः सप्तेति यथा।

संख्या की अधिकता से भी यह पद पचीस तत्त्वविषयक अभिप्राय वाला नहीं है, जिससे आत्मा और आकाश द्वारा पचीस संख्या से अधिक संख्या की सिद्धि हो, क्योंकि आत्मा तो यहाँ प्रतिष्ठा (स्थिति) के प्रति आधार रूप से कहा गया है, जिससे (तस्मिन्) इस सप्तमी-विभक्तियुक्त पद से सूचित का ही (उसी आत्मा को मानता हूँ) यहाँ आत्मरूप से अनुकर्षण सम्बन्ध होता है, इससे आत्मा ही आधाररूप कहा गया है, और वह आत्मा चेतन पुरुष है, वह पचीस तत्त्व के अन्तर्गत ही है, इससे उसी को आधारत्व (आश्रयत्व) और आधेयत्व (आश्रितत्व) दोनों प्राप्त हैं, वह युक्त नहीं है। इसी प्रकार आकाश भी उसमें प्रतिष्ठित—स्थिर है, इस प्रकार पचीस के अन्तर्गत आकाश का भी पृथक् ग्रहण न्याय्य (युक्त) नहीं है, और उक्त आधार एवं आकाश को पचीस से भिन्न अर्थान्तर स्वीकार करो तो दोष कहा गया है कि अधिक संख्या हो जाती है। यहाँ पचीस संख्या की सिद्धि मानने से संख्यामात्र के श्रवण होने पर भी अश्रुत-अपठित पचीस तत्त्वों का उपसंग्रह (ग्रहण) कैसे प्रतीत हो सकता है। यदि जनशब्द से तत्त्वों का ग्रहण कहा जाय तो वह नहीं बन सकता है, क्योंकि जनशब्द तत्त्वों में रूढ नहीं है। यदि संख्या के बल से तत्त्वों का ग्रहण कहा जाय तो वह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि अर्थान्तर के ग्रहण करने पर भी कथित संख्या की सिद्धि होती है। जिज्ञासा हुई कि जिस अर्थान्तर के ग्रहण से संख्या की सिद्धि होती है, वह पदार्थान्तर पञ्चजन कैसे हैं? तो कहा जाता है कि—(दिशा और संख्यावाचक शब्दों का संज्ञा अर्थ में उत्तर सुबन्त के साथ समास होता है) समास-विधायक इस प्रकार के विशेष सूत्र से संज्ञा अर्थ में ही पञ्चशब्द का जन पद के साथ समास (एकता) है। उससे रूढता के ही तात्पर्य से कोई पदार्थ 'पञ्चजनाः' नाम से विवक्षित है, सांख्य के तत्त्वों के अभिप्राय से कुछ भी विवक्षित नहीं है। वे 'पञ्चजन' नाम वाले कितने हैं? इस आकांक्षा के होने पर फिर इसका प्रयोग होता है कि 'पञ्चजन' नाम वाले जो कोई पदार्थ हैं, वे पाँचे ही हैं, यह अर्थ जैसे कि 'सप्तर्षि' नाम वाले सात हैं, इस प्रयोग में होता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये।

के पुनस्ते पञ्चजना नामेति, तदुच्यते—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यत उत्तरस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः' इति। तेऽत्र वाक्यशेषगताः संनिधानात् पञ्चजना विवक्ष्यन्ते। कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः? तत्त्वेषु वा कथं जनशब्दप्रयोगः? समाने तु प्रसिद्ध्यतिक्रमे वाक्यशेषवशात् प्राणादय एव ग्रहीतव्या भवन्ति, जनसंबन्धाच्च प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति। जनवचनश्च पुरुषशब्दः प्राणेषु प्रयुक्तः 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छां० ३।१३।६) इत्यत्र, 'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' (छां० ७।१५।१) इत्यादि च ब्राह्मणम्। समासबलाच्च समुदायस्य रूढत्वमविरुद्धम्। कथं पुनरसति प्रथमप्रयोगे रूढिः शक्याश्रयितुम्? शक्योद्भिदादिवदित्याह—प्रसिद्धार्थसंनिधाने ह्यप्रसिद्धार्थः शब्दः प्रयुज्यमानः समभिव्याहारात्तद्विषयो नियम्यते, यथा 'उद्भिदा यजेत' 'यूपं छिनत्ति' 'वेदीं करोति' इति, तथाऽयमपि पञ्चजनशब्दः समासान्वाख्यानादवगतसंज्ञाभावः संज्ञाकाङ्क्षी वाक्यशेषसमभिव्याहृतेषु प्राणादिषु वर्तिष्यते। कैश्चित्तु देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसि च पञ्च पञ्चजना व्याख्याताः। अन्यैश्च चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः परिगृहीताः। क्वचिच्च 'यत्पाञ्चजन्यया विशा' (ऋ० सं० ८।५।३।७) इति प्रजापरः प्रयोगः पञ्चजनशब्दस्य दृश्यते, तत्परिग्रहेऽपीह न कश्चिद्विरोधः। आचार्यस्तु न पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामिह प्रतीतिरस्तीत्येवंपरतया 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इति जगाद।

फिर वे पञ्चजन नाम वाले कौन हैं? ऐसी आकांक्षा होने पर वे कहते हैं कि—(जिसमें पाँच पञ्चजन हैं) इसके उत्तर मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप के निरूपण के लिए प्राणादि पाँच कहे गये गये हैं कि (प्राण का भी प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का भी जो मन उसको जो जानते हैं, अर्थात् प्राणादि का साक्षी आत्मा को जो जानते हैं, वह ब्रह्म को जानते हैं) वे वाक्यशेषगत प्राणादि यहाँ समीपता द्वारा पञ्चजन शब्द से विवक्षित हैं। यहाँ शंका होती है कि संज्ञा अर्थ में समास होने पर भी मनुष्य जाति के पुरुष का नाम पञ्चजन शब्द है, तो फिर यहाँ प्राणादि अर्थ में (जनशब्द) याने पञ्चजन शब्द का प्रयोग कैसे हुआ है? यह सांख्यवादी का प्रश्न है। सिद्धान्ती का कथन है कि आपके मत में अथवा तत्त्वों में ही कैसे (जनशब्द) पंचजनशब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि तत्त्वों का वाचक भी पंचजन शब्द नहीं है, और जिस जन अर्थ में पंचजनशब्द रूढ़ है, प्रसंग के अनुसार उसका ग्रहण हो नहीं सकता है, इससे चाहे तत्त्वों का ग्रहण करो वा प्राणादि का, प्रसिद्धि (रूढि) का अतिक्रमण

तुल्य होता है, अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग मानना पड़ता है। वहाँ वाक्यशेष के बल से प्राणादिक ही ग्रहण के योग्य होते हैं, और जन (पञ्चजन) के साथ सम्बन्ध से भी प्राणादि जनशब्द (पञ्चजनशब्द) के भागी (योग्य) होते हैं। एवं जनवाचक पुरुष-शब्द अन्यत्र प्राणों में प्रयुक्त है कि (वे प्राण ही ये पाँच ब्रह्म के पुरुष हैं) यहाँ प्राण में पुरुष शब्द का प्रयोग है। इसी प्रकार (प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है।) इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ है। समास के बल से समुदाय को जन अर्थ में रूढता अविरुद्ध है, इससे योगादि द्वारा तत्त्वों का वाचक नहीं हो सकता है। यद्यपि अमरकोश में (पुमांसः पञ्चजनाः) यह प्रयोग है, तथापि लोक में अति प्रसिद्धि के अभाव की दृष्टि से शंका है कि प्रथमप्रयोग के नहीं रहने पर भी रूढि कैसे मानी जा सकती है ? उत्तर है कि उद्भिदादि के समान रूढि का आश्रयण स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि प्रथम पञ्चजनशब्द की लक्षणा प्राणादि में कही गई है, तथापि अब उद्भिद के समान रूढि कही जाती है कि प्रसिद्धार्थक शब्द के सम्बन्ध-सामीप्य रहते प्रयुक्त अप्रसिद्धार्थक शब्द-समभिव्याहार (साथ पाठ) से तद्विषयक नियमित (रूढ) होता है जैसे कि (उद्भिद द्वारा पशु की इच्छा वाला यज्ञ से पशु की प्राप्ति करे) यहाँ संशय होता है कि उद्भिद पद किसी विधेय गुण का वाचक है या याग का नाम है ? वहाँ भूमि को उद्भेदन करने वाले खनती आदि में प्रसिद्धि से गुणविधि के प्राप्त होने पर सिद्धान्त होता है कि—प्रसिद्धार्थक याग के साथ समानाधिकरणता से याग का नाम है कि (उद्भिदानामकेन यागेन पशुं सम्पादयेत्) उद्भिद नाम वाला याग से पशु को सिद्ध करे—प्राप्त करे। और फल का उद्भेदन—साधन होने से याग उद्भिद कहाता है। तथा "यूप का छेदन करता है" इस वाक्य में प्रसिद्धार्थ छेदन के साथ पाठ से अप्रसिद्धार्थक यूप शब्द का लकड़ी अर्थ समझा जाता है (वेद बना कर वेदी बनाता है) यहाँ बनाना क्रिया के सम्बन्ध से उसके योग्य स्थान का बोध होता है। वेदी के सम्बन्ध से उसके आच्छादनयोग्य दर्भमुष्टि का वेद शब्द से बोध होता है। इसी प्रकार यह पंचजनशब्द भी समास के अन्वाख्यान (शक्ति) से संज्ञाभाव (संज्ञात्व) को अवगत (ज्ञात–प्राप्त) होने पर संज्ञी की आकांक्षा वाला होकर वाक्यशेष में समभिव्याहृत (पठित) प्राणों में रहेगा। अर्थात् प्रसिद्धार्थक प्राणादिशब्द के समभि-व्याहार से प्राणादिवाचकता पंचजनशब्द को निश्चित होती है। किसी आचार्य ने देव, पितर, गन्धर्व, असुर, राक्षस इनको पंचजन कहा है। अन्य किसी ने चार वर्ण और पञ्चम निषाद को पंचजनशब्द से ग्रहण किया है। और कहीं (जो पाञ्चजन्या प्रजारूप विश से इन्द्र की स्तुति के लिए शब्द हुआ) प्रजापरक पंचजन शब्द का प्रयोग देखा जाता है. उसका ग्रहण करने पर भी यहाँ कोई विरोध नहीं है, आचार्य तो पचीस तत्त्व की प्रतीति यहाँ नहीं है, इस अर्थ के तात्पर्य से (प्राणादयो वाक्यशेषात्) यह कहते हैं।

भवेयुस्तावत् प्राणादयः पञ्चजना माध्यन्दिनानां, येऽन्नं प्राणादिष्वामनन्ति। काण्वानां तु कथं प्राणादयः पंचजना भवेयुर्येऽन्नं प्राणादिषु नाऽऽमनन्तीति। अत उत्तरं पठति—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

असत्यपि काण्वानामन्ने ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्येत। तेऽपि हि 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यतः पूर्वस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योतिरधीयते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति। कथं पुनरुभयेषामपि तुल्यवदिदं ज्योतिः पठ्यमानं समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया केषांचिद् गृह्यते केषांचिन्नेति? अपेक्षाभेदादित्याह। माध्यन्दिनानां हि समानमन्त्रपठितप्राणादिपञ्चजनलाभान्नास्मिन् मन्त्रान्तरपठिते ज्योतिष्यपेक्षा भवति। तदलाभात्तु काण्वानां भवत्यपेक्षा अपेक्षाभेदाच्च समानेऽपि मन्त्रे ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे तथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात् षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे तद्वत्। तदेवं न तावच्छ्रुतिप्रसिद्धिः काचित् प्रधानविषयास्ति, स्मृतिन्यायप्रसिद्धी तु परिहरिष्येते।

यहाँ शंका होती है कि जो माध्यन्दिन शाखा वाले प्राणादि में अन्न को पढ़ते हैं, उनके यहाँ प्राणादि पंचजन हो सकते हैं, परन्तु जो काण्व शाखा वाले प्राणादि में अन्न को नहीं पढ़ते हैं, उनको प्राणादि कैसे पंचजन होंगे, इस शंका के होने से उत्तर कहते हैं कि—काण्व शाखा वालों के ग्रन्थ में अन्न के पाठ नहीं रहते हुए भी पठित ज्योतिः से उन्हें पंच संख्या की पूर्णता होगी। क्योंकि वे काण्व शाखा वाले भी (जिसमें पाँच पंचजन हैं) इससे पूर्वमन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण के लिए ही ज्योतिः का अध्ययन (पाठ) करते हैं कि (सूर्यादि ज्योतियों की ज्योति उस ब्रह्म की उपासना देव करते हैं) यहाँ शंका होती है कि माध्यन्दिन शाखा वाले और काण्व शाखा वाले दोनों की शाखा से यह ज्योति शब्द तुल्यतायुक्त पठित है फिर भी समान (एक) मन्त्रगत पंच संख्या से एक शाखा में ज्योति गृहीत होती है, और किसी अन्य की शाखा में क्यों नहीं गृहीत होती है? उत्तर है कि अपेक्षा (आकांक्षा) के भेद से यह भेद होता है, जिससे माध्यन्दिनों को एक मन्त्र में पठित प्राणादि पंचजन के लाभ से इस मन्त्रान्तर में पठित ज्योतिर्विषयक उनको आकांक्षा नहीं है, और अन्न के अभाव द्वारा पंचजन के एक मन्त्र में अलाभ (अप्राप्ति) से कारणों की अपेक्षा होती है। और अपेक्षा के भेद से एक मन्त्र में भी ज्योति का ग्रहण तथा अग्रहण होते हैं जैसे कि एक अतिरात्र नामक याग में भी वचन के भेद से षोडशि नामक पात्र का ग्रहण और अग्रहण होता है, वैसे ही यहां भी ज्योति के ग्रहणाग्रहण को समझना चाहिये। उससे इस पूर्ववर्णित रीति से प्रधानविषयक कोई श्रुति-प्रसिद्धि नहीं है, यह बात पहले सिद्ध हुई, स्मृति और न्याय प्रसिद्धि का परिहार आगे करेंगे।

कारणत्वाधिकरण (४)

समन्वयो जगद्योनौ न युक्तो युज्यतेऽथवा ।
न युक्तो वेदवाक्येषु पस्परविरोधतः ॥
सर्गक्रमविवादेऽपि नासौ स्रष्टरि विद्यते ।
अव्याकृतमसत्प्रोक्तं युक्तोऽसौ कारणे ततः ॥

जिस प्रकार एक वेदान्त में ईश्वर कारणत्वेन व्यपदिष्ट (कथित) हुआ है, वैसे ही सर्वत्र की उक्ति से आकाशादि कार्यों में विरोध होने पर भी ब्रह्मात्मा ईश्वर में वेदान्त का समन्वय है । यहाँ पहले संशय होता है कि जगद्योनिविषयक पूर्वोक्त समन्वय युक्त है, अथवा अयुक्त ? पूर्व पक्ष है कि वेदवाक्यों में विरोध होने से परस्पर विरुद्धार्थ कथन से समन्वय युक्त नहीं है । सिद्धान्त है कि सृष्टि के क्रमविषयक वेदवचन में विरोध होने पर भी वह विरोध स्रष्टा (सृष्टिकर्ता) विषयक नहीं है । यदि कोई कहे कि कहीं असत् से सृष्टि कही गई है इससे स्रष्टा में भी विरोध है, तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ भी अव्याकृत (अव्यक्त) सत् कारण को ही असत् कहा गया है, इससे कारणविषयक समन्वय युक्त है ।

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणम् । प्रतिपादितं च ब्रह्मविषयं गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानाम् । प्रतिपादितं च प्रधानस्याऽशब्दत्वम् । तत्रेदमपरमाशङ्क्यते—न जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो ब्रह्मविषयं वा गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानां प्रतिपत्तुं शक्यम् । कस्मात् ? विगानदर्शनाद्, प्रतिवेदान्तं ह्यन्याऽन्या सृष्टिरुपलभ्यते क्रमादिवैचित्र्यात् । तथाहि—क्वचित् 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० ५।१) इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते । क्वचित् तेज आदिका—'तत्तेजोऽसृजत' (छां०६।२।३) इति, क्वचित् प्राणादिका—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६।४) इति, क्वचिदक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिराम्नायते—'स इमाँल्लोकानसृजत अम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० उ० ४।१।२) इति, यथा क्वचिदसत्पूर्विका सृष्टिः पठ्यते—'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै० २।७) इति, 'असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' (छां० ३।१९।१) इति च । क्वचिदसद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया प्रतिज्ञायते—'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छां० २।२।१, २) इति, क्वचित्स्वयंकर्तृकैव व्याक्रिया जगतो निगद्यते–'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृ० १।४।७) इति । एवमनेकधा विप्रतिपत्तेर्वस्तुनि च विकल्पस्यानुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां जगत्कारणावधारणपरता न्याय्या। स्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्यां तु कारणान्तरपरिग्रहो न्याय्य इति।

ब्रह्म का लक्षण प्रतिपादित हो चुका, और वेदान्तवाक्यों का ब्रह्मविषयक गतिसामान्य एवं प्रधान का अशब्दत्व भी प्रतिपादित हो चुका है । वहाँ यह

दूसरी आशंका की जाती है कि ब्रह्म और जगत् के जन्मादि-कारणत्वरूप लक्षण को तथा वेदान्तवाक्यों के ब्रह्मविषयक गतिसामान्य को नहीं माना जा सकता है, अर्थात् इसका ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि विगान (विरुद्ध कथन) देखा जाता है कि प्रत्येक वेदान्त में क्रमादि की विचित्रता से अन्य अन्य सृष्टि की उपलब्धि (ज्ञान) होती है। जैसे कहीं तो (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार जिसके आदि में आकाश होता है, ऐसी सृष्टि कही जाती है और कहीं (उस ब्रह्म ने तेज को रचा) इस प्रकार तेजपूर्वक सृष्टि कही जाती है। एवं कहीं (उसने प्राण को रचा, प्राण से श्रद्धा हुई) इस प्रकार प्राणपूर्वक सृष्टि कही गई है। तथा कहीं (उस परमात्मा ने इन लोकों को रचा, जलमय शरीर वाला (अम्भ) स्वर्ग को, सूर्यकिरणों से व्याप्त मरीचि (अन्तरिक्ष) को मरणशील मनुष्यलोक को, और जलमय पाताल को रचा) इस प्रकार क्रम के बिना ही सृष्टि कही गई है। इसी प्रकार कहीं असत्पूर्वक सृष्टि पढ़ी जाती है कि (यह सब जगत् पहले असत् ही था, उसी से सत् उत्पन्न हुआ। अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त हुआ) (यह पहले असत् ही था, वह सत् था, फिर वह सम्यक् व्यक्त हुआ) कहीं असत्-वाद का निराकरण पूर्वक सत्पूर्वक प्रक्रिया (सृष्टि) की प्रतिज्ञा की जाती है कि (इस कारणविषयक किसी का कथन है कि यह सब जगत् असत् कारणरूप ही था) इस प्रकार आरम्भ करके, कहा है कि (हे सोम्य ! इस प्रकार कैसे हो सकता है, यह पिता ने पुत्र से कहा कि असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा, इससे हे सोम्य ! यह जगत् पहले सत्स्वरूप ही था) और कहीं जगत् की व्याक्रिया (अभिव्यक्ति-सृष्टि) अन्य कर्ता के बिना स्वकर्तृक कही जाती है कि पूर्व काल में यह जगत् अव्याकृत कारणस्वरूप ही था वह नाम से व्याकृत—व्यक्त हुआ है, इस प्रकार से अनेक प्रकार की विप्रतिपत्ति (विरोध) एवं वस्तु में विकल्प की अनुपपत्ति (असिद्धि) से वेदान्तवाक्यों की जगत्कारणावधारणपरता न्याययुक्त नहीं है, किन्तु स्मृतिप्रसिद्धि और न्यायप्रसिद्धि से सिद्ध कारणान्तर का ही वेदान्तवाक्यों से भी परिग्रहण करना न्याययुक्त है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्वाकाशादिषु क्रमादिद्वारके विगाने न स्रष्टरि किंचिद्विगानमस्ति। कुतः ? यथाव्यपदिष्टोक्तेः। यथाभूतो ह्येकस्मिन् वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्ट-स्तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते। तद्यथा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति। अत्र तावज्ज्ञानशब्देन परेण च तद्विषयेण कामयितृ-त्ववचनेन चेतनं ब्रह्म न्यरूपयदपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरं कारणमब्रवीत्। तद्विषयेणैव परेणात्मशब्देन शरीरादिकोशपरम्परया चान्तरानुप्रवेशनेन सर्वेषामन्तः प्रत्य-गात्मानं निरधारयत्। 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति चात्मविषयेण बहुभवनानुशंसनेन सृज्यमानानां विकाराणां स्रष्टुरभेदमभाषत, तथा 'इदं

सर्वमसृजत यदिदं किंच' (तै० २।६) इति समस्तजगत्सृष्टिनिर्देशेन प्राक्सृष्टेरद्वितीयं स्रष्टारमाचष्टे।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्रत्येक वेदान्त में सृज्यमान (कार्य) आकाशादि-विषयक क्रमादि द्वारा विगान (विरोध-विप्रतिपत्ति) रहने पर भी स्रष्टा (सृष्टिकर्ता) विषयक कुछ भी विरोध नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार एक वेदान्त में स्रष्टा व्यपदिष्ट (कथित) है, उसी प्रकार सब वेदान्त में उसकी उक्ति (कथन) है। जिससे एक वेदान्त में जिस स्वरूप वाली सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वात्मा, एक अद्वितीय वस्तु जगत् के कारण रूप से कही गई है, वैसे ही स्वरूप वाली अन्य वेदान्तों में कही जाती है। ब्रह्म का सर्वज्ञत्वादि इस प्रकार निरूपित है कि वह सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप है। यहाँ पहले ज्ञान शब्द से और आगे ब्रह्मविषयक कामयितृत्व शब्द से चेतन ब्रह्म का निरूपण और परप्रयोज्यता के अभाव—स्वतन्त्रता से ईश्वररूप कारण का कथन किया गया है। उस ब्रह्मस्वरूप ईश्वरविषय का ही आगे प्रयुक्त आत्म शब्द से तथा शरीरादिरूप कोश-परम्परा द्वारा अन्तर में अनुप्रवेश से सबके अन्तःकरण में—अन्तर में अन्तरात्मा का निर्धारण (निर्णय) किया गया है। एवं (बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ) इस आत्मविषयक बहुभवन के अनुशंसन (उपदेश) से सृज्यमान विकारों का स्रष्टा ईश्वर से अभेद कहा है। इसी प्रकार (ये जो कुछ हैं, इन सबको प्रथम रचा) इस समस्त जगत् की सृष्टि के कथन से सृष्टि से प्रथम अद्वितीय स्रष्टा को तैत्तिरीय श्रुति कहती है।

तदत्र यल्लक्षणं ब्रह्म कारणत्वेन विज्ञातं तल्लक्षणमेवान्यत्रापि विज्ञायते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत' (छां० ६।२।१, ३) इति, तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् स ऐक्षत लोकान्नु सृजै' (ऐ० उ० ४।१।१, २) इति च, एवंजातीयकस्य कारणस्वरूपनिरूपणपरस्य वाक्यजातस्य प्रतिवेदान्तमविगीतार्थत्वात्। कार्यविषयं तु विगानं दृश्यते क्वचिदाकाशादिका सृष्टिः क्वचित्तेजआदिकेत्येवंजातीयकम्। नच कार्यविषयेण विगानेन कारणमपि ब्रह्म सर्ववेदान्तेष्वविगीतमधिगम्यमानमविवक्षितं भवितुमर्हतीति शक्यते वक्तुम्, अतिप्रसङ्गात्। समाधास्यति चाचार्यः कार्यविषयमपि विगानं 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१) इत्यारभ्य। भवेदपि कार्यस्य विगीतत्वमप्रतिपाद्यत्वात्, नह्ययं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः। नहि तत्प्रतिबद्धः कश्चित्पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा, नच कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात्। दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्—'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' (छां० ६।८।४) इति।

मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाभेदं वदितुं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते। तथा च सम्प्रदायविदो वदन्ति—

यह ब्रह्म जिस लक्षण वाला यहाँ कारण रूप से विज्ञात हुआ है, उसी लक्षण वाला ही अन्य (छान्दोग्य) वेदान्त में भी विज्ञात होता (समझा जाता) है कि (हे सोम्य ! यह सब जगत् पहले सत् ही था, एक ही था, अद्वितीय था। उसने आलोचना किया कि बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ, उसने तेज को उत्पन्न किया।) इसी प्रकार ऐतरेय उपनिषद् में है कि—(यह सब जगत् पहले एक आत्मस्वरूप ही था, अन्य कुछ क्रियायुक्त नहीं था) उसने आलोचन-विचार किया कि लोकों की सृष्टि करूँ। इस प्रकार के कारण के स्वरूप के निरूपणपरक वाक्यसमूह की अविरुद्धार्थता से स्रष्टा के स्वरूपादि में विरोध नहीं है, कार्यविषयक विरोध तो देखा जाता है कि कहीं आकाशपूर्वक सृष्टि का कथन है, तो कहीं तेजपूर्वक है, इस प्रकार का विरोध है। परन्तु कार्यविषयक विरोध से सब वेदान्त में अविगीत (अविरुद्ध) रूप से प्रतीत होने वाला ज्ञातकारण ब्रह्म भी अविवक्षित होने योग्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अन्यविषयक विरोध से अन्य की अविवक्षा मानने पर स्वप्न के विषयों में विरोध से स्वप्नद्रष्टा में अविवक्षा आदि की अतिप्रसक्ति होगी। वस्तुतः कार्यविषयक भी विरोध नहीं है, जो विरोध सा प्रतीत होता है, उसका (न वियदश्रुतेः) इस सूत्र से आरम्भ करके आचार्य समाधान करेंगे। एवं अप्रतिपादनीय होने से कार्यों को विरुद्धत्व हो तो भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि यह सृष्टि आदि का विस्तार श्रुति से प्रतिपादन की इच्छा का विषय नहीं है, जिससे सृष्टि आदि के ज्ञान बिना नहीं होने वाला और सृष्टि आदि के ज्ञान से होने वाला कोई पुरुषार्थ न देखा जाता है, न सुना ही जाता है, और न किसी पुरुषार्थ की कल्पना ही की जा सकती है। क्योंकि सृष्टिवाक्यों के उपक्रम एवं उपसंहार से वहाँ ब्रह्मविषयक वाक्यों के साथ सृष्टि-वाक्यों की एकवाक्यतारूप से ज्ञान होता है, इससे सृष्टिसम्बन्धी न पुरुषार्थ (फल) है, और न उसकी कल्पना हो सकती है। श्रुति भी सृष्टि आदि विस्तार को ब्रह्मज्ञानार्थकता दिखलाती है कि (हे सोम्य ! अन्नरूप कार्यात्मक लिंग से जलरूप कारण को जानो, जलरूप कार्य से तेजरूप मूल को समझो, तेजरूप कार्य से सत् ब्रह्मरूप मूल को जानो) और मृदादि दृष्टान्तों के द्वारा कार्य का कारण के साथ अभेद करने के लिए सृष्टि आदि का प्रपंच सुनाया जाता है, ऐसी प्रतीति होती है। इसी प्रकार वेदान्त सम्प्रदाय के ज्ञानी कहते हैं :—

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन॥

(माण्डू० ३।२५) इति। ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१)' 'तरति शोकमात्मवित्' (छां० ७।३१) 'तमेव

विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (श्वे० ३।८) इति च । प्रत्यक्षावगमं चेदं फलम् 'तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वव्यावृत्तेः ।

मिट्टी, लोहा, चिनगारी आदि के दृष्टान्तों द्वारा जो अन्य-अन्य प्रकार से सृष्टि कही है, वह ब्रह्मज्ञान का हृदय में अवतरण (प्राप्ति) के लिए उपायरूप है । इससे उपाय में भेद होते हुए भी उपाय से प्राप्य ज्ञान और उसके विषय ब्रह्मात्मा में किसी प्रकार भी भेद नहीं है, प्राप्ति के साधन-मार्गादि के भेद से ग्रामादि का भेद नहीं होता है । उक्त रीति से सृष्टिसम्बन्धी वा उसके ज्ञानसम्बन्धी कोई पुरुषार्थ फल नहीं होते हुए भी ब्रह्म-ज्ञान से प्रतिबद्ध (प्राप्य) फल सुना जाता है कि ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है, आत्मज्ञानी शोकरहित हो जाता है, उस आत्मा को जान करके ही अतिमृतिमुक्ति पाता है इत्यादि । (तत्त्वमसि) इत्यादि उपदेशों से असंसारी आत्मत्व के ज्ञान होने पर संसारी आत्मत्व की निवृत्ति से प्रत्यक्ष अवगम (ज्ञान) का विषय यह फल है, इससे निश्चित प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय ब्रह्मज्ञान का फल है, सृष्टि आदि का नहीं ।

यत्पुनः कारणविषयं विगानं दर्शितम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते--

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७) इति नात्रासन्निरात्मकं कारणत्वेन श्राव्यते यतः 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्, अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यसद्वादापवादेनास्तित्वलक्षणं ब्रह्मान्नमयादिकोशपरम्परया प्रत्यगात्मानं निर्धार्य 'सोऽकामयत' इति तमेव प्रकृतं समाकृष्य सप्रपंचां सृष्टिं तस्माच्छ्रावयित्वा 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इति चोपसंहृत्य 'तदप्येष श्लोको भवति' इति तस्मिन्नेव प्रकृतेऽर्थे श्लोकमिममुदाहरति–'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति । यदि त्वसन्निरात्मकमस्मिञ्छ्लोकेऽभिप्रेयेत ततोऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसम्बद्धं वाक्यमापद्येत । तस्मान्नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्मासदिवासीदित्युपचर्यते ।

कारणविषयक विरोध जो दिखलाया गया था कि–यह पहले असत् ही था, इत्यादि। उसका परिहार (निवारण) करना चाहिये, इसलिए यहाँ कहा जाता है कि—(असत् ही यह पहले था) इस कथन से यहाँ निरात्मक (स्वरूपशून्य) असत् कारणरूप से नहीं सुना जाता है, जिससे वह असत् ही होता है । यदि ब्रह्म असत् है, ऐसा जानता है, और यदि ब्रह्म है, इस प्रकार से जानता है, तो विद्वान् लोग उसको सत् ब्रह्मरूप ही जानते हैं । इस प्रकार से असत्वाद का अपवाद (निन्दा) पूर्वक अस्तित्व लक्षण वाले ब्रह्म का अन्नमयादि कोशों को परम्परा द्वारा प्रत्यगात्मा रूप से निर्धारण (निर्णय-निश्चय) करके (वह इच्छा किया) इस प्रकार उस प्रकृत सत् ब्रह्म का ही समाकर्षण

सम्बन्ध करके और उसी से विस्तारसहित सृष्टि सुनाकर उसको सत्य करते हैं। इस प्रकार सत्य सृष्टिवर्णन का उपसंहार करके (इस अर्थ को कहने वाला यह श्लोक मन्त्र है) इस प्रकार उस प्रकृत सद् ब्रह्म अर्थ में यह श्लोक उदाहरण (दृष्टान्त) दिया गया है कि (यह पहले असत् ही था) इससे यह निरात्मक असत् नहीं सुना जाता है। यदि निरात्मक असत् इस श्लोक में अभिप्रेत (अभिप्राय का विषय) किया गया हो, तब तो अन्य सद्ब्रह्म का समाकर्षण रहते अन्य (असत्) का उदाहरण से पूर्वापर वाक्य असम्बद्ध हो जायगा। उससे नाम-रूप से व्याकृत (व्यक्त) वस्तुविषयक प्रायः सत् शब्द प्रसिद्ध है। उससे उस नाम-रूप के पहले व्याकरण (अभिव्यक्ति) के अभाव की अपेक्षा से उत्पत्ति से पहले सत् ही ब्रह्म असत् के समान था। यह उपचार (गौण व्यवहार) किया जाता है।

एषैव 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छां० ३।१९।१) इत्यत्रापि योजना, 'तत्सदासीत्' इति समाकर्षणात्। अत्यन्ताभावाभ्युपगमे हि तत्सदासीदिति किं समाकृष्येत। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (छां ६।२।१) इत्यत्रापि न श्रुत्यन्तराभिप्रायेणायमेकीयमतोपन्यासः, क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पस्यासंभवात्। तस्माच्छ्रुतिपरिगृहीतसत्पक्षदार्ढ्यायैवायं मन्दमतिपरिकल्पितस्यासत्पक्षस्योपन्यस्य निरास इति द्रष्टव्यम्। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १।४।८) इत्यत्रापि न निरध्यक्षस्य जगतो व्याकरणं कथ्यते। 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यध्यक्षस्य जगतो व्याकृतकार्यानुप्रवेशित्वेन समाकर्षात् निरध्यक्षे व्याकरणाभ्युपगमे ह्यनन्तरेण प्रकृतावलम्बिना स इत्यनेन सर्वनाम्ना कः कार्यानुप्रवेशित्वेन समाकृष्येत। चेतनस्य चायमात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशः श्रूयते, अनुप्रविष्टस्य चेतनत्वश्रवणात्, 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इति। अपिच यादृशमिदमद्यत्वे नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं जगत्साध्यक्षं व्याक्रियते एवमादिसर्गेऽपीति गम्यते, दृष्टविपरीतकल्पनानुपपत्तेः। श्रुत्यन्तरमपि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२) इति साध्यक्षामेव जगतो व्याक्रियां दर्शयति। व्याक्रियत इत्यपि कर्मकर्तरि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्तरि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा लूयते केदारः स्वयमेवेति सत्येव पूर्णके सवितरि। यद्वा कर्मण्येवैष लकारोऽर्थाक्षिप्तं कर्तारमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा गम्यते ग्राम इति ॥१५॥

ऐसी ही योजना (असत् ही यह पहले था) यहाँ भी समझना चाहिये, क्योंकि (वह सत् था) वहाँ उसका समाकर्षण होता है। यदि अत्यन्त असत् माना जाय तो (वह सत् था) यहाँ किसका क्या समाकर्षण किया जायगा। (उस सृष्टि से प्रथम संसार के विषय के कुछ लोग कहते हैं कि यह पहले असत् ही था) यहाँ भी दूसरी श्रुति के अभिप्राय से अनेक मतों का कथन नहीं है, क्योंकि क्रिया के समान वस्तु में विकल्प का असंभव है। उस श्रुति से स्वीकृत सत् ब्रह्म पक्ष की

दृढता के लिए ही मन्दमति से परिकल्पित असत् पक्ष का उपन्यास करके यह निरास (निराकरण) किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। (पूर्वकाल में यह जगत् अव्याकृत था) यहां अध्यक्ष कर्ता रहित जगत् का व्याकरण नहीं कहा जाता है, क्योंकि (वह यह आत्मा इस शरीर में नखाग्र पर्यन्त प्रविष्ट है, इस प्रकार अध्यक्ष का व्याकृत नाम-रूप में अनुप्रवेशित्व रूप से समाकर्षण है। निरध्यक्ष व्याकरण के मानने पर अनन्तर पठित 'प्रकृतावलम्बी सः' इस सर्वनाम से कार्यानुप्रवेशी रूप से कौन समनुकृष्ट होगा, और चेतनात्मा का यह अनुप्रवेश सुना जाता है। क्योंकि अनुप्रविष्ट का चेतनत्व सुना जाता है कि (वह देखता हुआ चक्षु (द्रष्टा) कहा जाता है, सुनता हुआ श्रोत्र श्रोता कहा जाता है, मनन कर्ता हुआ मन-मन्ता कहा जाता है) इत्यादि। और दूसरी बात है कि नाम-रूप से व्याकृत-व्यक्त होता हुआ यह जगत् वर्तमान काल में जिस प्रकार साध्यक्ष (अध्यक्ष सहित) व्याकृत होता है, इसी प्रकार आदि सर्ग भी। वह ब्रह्म कार्यत्वरूप हेतु से अनुमान द्वारा समझा जाता है। क्योंकि प्रत्यक्ष दृष्ट से विपरीत की कल्पना नहीं हो सकती है, दृष्टानुसारी ही कल्पना भी हो सकती है। दूसरी श्रुति भी कहती है कि (इस जीवात्मा रूप से अनुप्रवेश करके मैं नाम-रूप का व्याकरण विभाग-अभिव्यक्ति करूँगा) इस प्रकार अध्यक्षसहित ही जगत् की प्रक्रिया (सृष्टि) को श्रुति दिखलाती है। अध्यक्षरूप कर्ता के रहने पर भी व्याकर्ता परमेश्वर अव्याकृत नाम-रूप द्वारा स्वयं व्यक्त होता है। यह कर्म रूप कर्ता अर्थ में प्रयोग भी सुकरता-सुखसाध्यता की दृष्टि से समझना चाहिए, जैसे कि पूर्णक (अखण्ड-समर्थ) लविता (काटने वाला) के रहने पर भी केदार (क्यारी) स्वयं कटता है, ऐसा प्रयोग होता है, इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए। अथवा यह लकार प्रत्यय कर्म में ही है, यह अर्थ से आक्षिप्त कर्ता की अपेक्षा करते हुए कर्म में जाननेयोग्य है, जैसे कि ग्राम प्राप्त किया जाता है। यहाँ कर्म में प्रत्यय होने पर भी कर्ता की अपेक्षा रहती है इत्यादि।

बालाक्यधिकरण (५)

पुरुषाणान्तु कः कर्ता प्राणजीवपरात्मसु। कर्मेति चलने प्राणो जीवोऽपूर्वे विवक्षते।१।
जगद्वाची कर्मशब्दः पुंमात्रविनिवृत्तये। तत्कर्त्ता परमात्मैव न मृषावादिता ततः॥२॥

(यो ह वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्मंस वेदितव्यः) इस श्रुति में कर्म शब्द जगत् का वाचक है, और उस जगत् का परमात्मा कारण है, इससे जगत् के मध्यगतपुरुषों का भी परमात्मा ही कारण है। यहाँ सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि चन्द्रादि में वर्तमान पुरुषों का कर्ता प्राण जीव और परमात्मा में से कौन है? वहाँ पूर्व पक्ष है कि चलन अर्थ में कर्म शब्द के होने से जिस प्राण का यह चलन रूप कर्म-क्रिया है वह पुरुषों का भी कर्ता है। अथवा कर्म शब्द से अपूर्व अदृष्ट-धर्माधर्म की विवक्षा करने पर धर्माधर्म के कर्ता जीव ही पुरुषों का कर्ता होगा। सिद्धान्त है कि

क्रियते इति कर्म, इस प्रकार के उत्पन्न होने वाले सब जगत् का वाचक कर्म शब्द है क्रिया वा अदृष्ट का वाचक नहीं है, इससे केवल पुरुषमात्र के कर्तृत्व की निवृत्ति के लिए जिस का यह जगत् कार्य है, यह कहा गया है, इस प्रकार पुरुषसहित जगत् का कर्ता परमात्मा ही है। ऐसा मानने ही से सत्य के उपदेशक राजा को मृषावादिता नहीं होगी, प्राण वा जीवात्मा के उपदेश देने पर मृषावादिता होगी।

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

कौषीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे श्रूयते—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वै तत्कर्म स वेदितव्यः' (कौ० ब्रा० ४।२९) इति तत्र किं जीवो वेदितव्यत्वेनोपदिश्यते उत मुख्यः प्राण उत परमात्मेति विशयः। किं तावत्प्राप्तम् ?

प्राण इति। कुतः ? 'यस्य वैतत्कर्म' इति श्रवणात्। परिस्पन्दलक्षणस्य च कर्मणः प्राणाश्रयत्वात्, वाक्यशेषे च 'अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इति प्राणशब्ददर्शनात्। प्राणशब्दस्य च मुख्ये प्राणे प्रसिद्धत्वात्। ये चैते पुरस्ताद्बालाकिना 'आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः' इत्येवमादयः पुरुषा निर्दिष्टास्तेषामपि भवति प्राणः कर्ता प्राणावस्थाविशेषत्वादादिदेवतात्मनाम्, 'कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' (बृ० ३।९।९) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः। जीवो वायमिह वेदितव्यतयोपदिश्यते। तस्यापि धर्माधर्मलक्षणं कर्म शक्यते श्रावयितुम् 'यस्य वैतत्कर्म' इति, सोऽपि भोक्तृत्वाद्भोगोपकरणभूतानामेतेषां पुरुषाणां कर्तोपपद्यते। वाक्यशेषे च जीवलिङ्गमवगम्यते। यत्कारणं वेदितव्यतयोपन्यस्तस्य पुरुषाणां कर्तुर्वेददायोपेतं बालाकिं प्रति बुबोधयिषुरजातशत्रुः सुप्तं पुरुषमामन्त्र्यामन्त्रणशब्दाश्रवणात्प्राणादीनामभोक्तृत्वं प्रतिबोध्य यष्टिघातोत्थापनात्प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवं भोक्तारं प्रतिबोधयति। तथा परस्तादपि जीवलिङ्गमवगम्यते—'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति' (कौ० ब्रा० ४।२०) इति। प्राणभृत्त्वाच्च जीवस्योपपन्नं प्राणशब्दत्वम्। तस्माज्जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर इह ग्रहणीयो न परमेश्वरः, तल्लिङ्गानवगमादिति।

कौषीतकि ब्राह्मण में बलाका का पुत्र बालाकी नामक ब्राह्मण और अजातशत्रु नामक राजा के संवाद में सुना जाता है कि (हे बालाके जो इन प्रसिद्ध सूर्य-चन्द्रादि पुरुषों का कर्ता है, तथा जिसका यह जगत् कार्य है वही जानने योग्य है) वहाँ संशय होता है कि यहाँ वेदितव्य (ज्ञेय) रूप से जीव का उपदेश दिया जाता है, अथवा मुख्य प्राण का उपदेश दिया जाता है, अथवा परमात्मा इस उपदेश का विषय है ? विमर्श होता है कि पहले प्राप्त क्या है ? पूर्वपक्ष है कि प्राणप्राप्त है, क्योंकि जिसका

यह कर्म है, इस प्रकार सुना जाता है, और परिस्पन्द (चलन) रूप कर्म को प्राणाश्रयत्व ही है। वाक्य शेष में प्राणशब्द दीखता है कि (सुषुप्ति काल में इन्द्रियों के लीन होने पर द्रष्टा जीव इसे प्राण में एकता को प्राप्त करता है) और प्राणशब्द की प्रसिद्धि मुख्यप्राण में है, इससे प्राण ही पुरुषों का कर्ता है। (आदित्य में पुरुष है, चन्द्रमा में पुरुष है) इत्यादि वचनों द्वारा जो पहले बालाकि से पुरुष निर्दिष्ट हुए हैं, उनका भी प्राण कर्ता होता है, क्योंकि आदित्यादि देवताओं को प्राण की अवस्था विशेष रूपता ही है। वह श्रुत्यन्तर की प्रसिद्धि से सिद्ध होता है। श्रुत्यन्तर की प्रसिद्धि है कि (एक देव कौन है) उत्तर है कि एक देव प्राण है, और प्राण ही ब्रह्म है, प्राण ही त्यद् (परोक्ष सूत्रात्मा है इस प्रकार भी कहते हैं)। अथवा यहाँ वेदितव्य रूप से यह जीव उपदिष्ट होता है, उसके भी धर्माधर्म रूप कर्म (जिसका यह कर्म है) इस श्रुति से सुनाया जा सकता है। वह जीव भी भोक्ता होने से भोग के उपकरण उपकारक साधन रूप इन पुरुषों का कर्ता उत्पन्न सिद्ध हो सकता है। और वाक्य शेष में जीव का लिंग अवगत (ज्ञात) होता है कि जिस कारण से वेदितव्य ज्ञेय रूप से कथित पुरुषों का कर्ता को समझने के लिए पास में प्राप्त बालाकि के प्रति बोध कराने की इच्छा वाला अज्ञात शत्रु ने सोये हुए पुरुष को आमन्त्रित किया मधुर स्वर से पुकारा, फिर आमन्त्रण के शब्द को नहीं सुनने से चलते हुए जाग्रत प्राणादि को अभोक्तृत्व समझाकर कि ये प्राणादि आत्मा नहीं हैं। फिर लाठी के प्रहार से जागने पर प्राणादि से भिन्न भोक्ता जीव का प्रतिबोध कराया। इसी प्रकार आगे भी जीव का लिङ्ग अवगत होता है कि (जैसे श्रेष्ठी प्रधान पुरुष अपने आश्रित भृत्यादि से उपहृत प्राप्त वस्तु का उपभोग करता है, और वे आश्रित लोग उससे भोग पाते हैं। इसी प्रकार प्रज्ञात्मा जीव भी इन सूर्यादि देवताओं से प्रकाशादि द्वारा भोग पाता है, और इसी प्रकार वे देवात्मा सब जीव के आश्रित हवि आदि भोग पाते हैं। इससे पहले और वाक्य शेष में कथित भोक्तृत्व जीव का लिंग है। और जीव को प्राणधारी होने से (प्राण में एक होता है) इत्यादि वाक्य में जीव को प्राणशब्द वाच्यत्व भी उपपन्न (युक्त) होता है। इससे जीव और मुख्यप्राण इन दोनों में से एक यहाँ ग्रहण के योग्य है, परमेश्वर नहीं, क्योंकि उसका लिङ्ग यहाँ अवगत नहीं होता है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवायमेतेषां पुरुषाणां कर्ता स्यात्। कस्मात्? उपक्रमसामर्थ्यात्, इह हि बालाकिरजातशत्रुणा सह 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति संवदितुमुपचक्रमे, स च कतिचिदादित्याद्यधिकरणान् पुरुषानमुख्यब्रह्मदृष्टिभाज उक्त्वा तूष्णीं बभूव, तमजातशत्रुः 'मृषा वै खलु मा संवदिष्टा ब्रह्म ते प्रब्रवाणि' इत्यमुख्यब्रह्मवादितयापोद्य तत्कर्तारमन्यं वेदितव्यतयोपचिक्षेप। यदि सोऽप्यमुख्यब्रह्मदृष्टिभाक् स्यादुपक्रमो बाध्येत, तस्मात्परमेश्वर एवायं भवितुमर्हति।

कर्तृत्वं चैतेषां पुरुषाणां न परमेश्वरादन्यस्य स्वातन्त्र्येणावकल्पते। 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यपि नायं परिस्पन्दलक्षणस्य धर्माधर्मलक्षणस्य वा कर्मणो निर्देशः, तयोरन्यतरस्याप्यप्रकृतत्वात्, असंशब्दितत्वाच्च। नापि पुरुषाणामयं निर्देशः, एतेषां पुरुषाणां कर्तेत्येव तेषां निर्दिष्टत्वात्, लिङ्गवचनविगानाच्च। नापि पुरुषविषयस्य करोत्यर्थस्य क्रियाफलस्य वायं निर्देशः, कर्तृशब्देनैव तयोरुपात्तत्वात्। पारिशेष्यात्प्रत्यक्षसंनिहितं जगत्सर्वनाम्नैतच्छब्देन निर्दिश्यते। क्रियत इति च तदेव जगत्कर्म। ननु जगदप्यप्रकृतमसंशब्दितं च। सत्यमेतत्। तथाप्यसति विशेषोपादाने साधारणेनार्थेन संनिधानेन संनिहितवस्तुमात्रस्यायं निर्देश इति गम्यते न विशिष्टस्य कस्यचित्, विशेषसंनिधानाभावात्। पूर्वत्र च जगदेकदेशभूतानां पुरुषाणां विशेषोपादानादविशेषितं जगदेवेहोपादीयत इति गम्यते। एतदुक्तं भवति। य एतेषां पुरुषाणां जगदेकदेशे भूतानां कर्ता, किमनेन विशेषेण, यस्य कृत्स्नमेव जगदविशेषितं कर्मेति? वाशब्द एकदेशावच्छिन्नकर्तृत्वव्यावृत्त्यर्थः। ये बालाकिना ब्रह्मत्वाभिमताः पुरुषाः कीर्तितास्तेषामब्रह्मत्वख्यापनाय विशेषोपादानम्। एवं ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन सामान्यविशेषाभ्यां जगतः कर्ता वेदितव्यतयोपदिश्यते। परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः॥ १६॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि यह परमेश्वर ही इन पुरुषों का कर्ता हो सकता है, क्योंकि उपक्रम के सामर्थ्य से परमेश्वर ही अवगत होता है, जिससे यहाँ बालाकि ने (तेरे लिए ब्रह्म का वर्णन करूँगा) इस प्रकार अजातशत्रु के साथ संवाद करने के लिए आरम्भ किया। और वह बालाकि आदित्यादि में रहनेवाले अमुख्य ब्रह्मदृष्टि के विषयक अनेक पुरुषों का वर्णन करके चुप हो गया। तब उसको अजातशत्रु ने (मृषा मिथ्या ही संवाद नहीं करो कि मैं तेरे लिए ब्रह्म कहूँगा) इस प्रकार उस बालाकि की अमुख्य ब्रह्मवादिता का अपवाद (निन्दा) करके उन पुरुषों का कर्ता उनसे अन्य को वेदितव्य रूप से ग्रहण किया। यदि वह वेदितव्य भी अमुख्य ब्रह्मदृष्टि-भागी विषय होगा तो उपक्रम बाधित होगा, जिससे यह वेदितव्य वस्तु परमेश्वर ही होने योग्य है। और इन पुरुषों के स्वतन्त्र रूप से कर्तृत्व भी परमेश्वर के सिवाय अन्य को नहीं सिद्ध हो सकता है। (जिसका यह कर्म है) इस प्रकार का यह निर्देश भी परिस्पन्द रूप या धर्माधर्म रूप कर्म का निर्देश कथन नहीं है, क्योंकि वे दोनों या दोनों में से कोई एक यहाँ प्रकृत प्रस्तुत नहीं हैं, एवं असंशब्दित हैं, पास में किसी श्रुति वचन से निर्दिष्ट नहीं है। पुरुषों का भी यह कर्मरूप से निर्देश नहीं है, क्योंकि जो इन पुरुषों का कर्ता है, इस कथन से ही वे पुरुष निर्दिष्ट हो चुके हैं, फिर निर्देश से पुनरुक्ति होगी। लिङ्ग वचन में विरोध होने से भी बहुत पुरुष नपुंसक एक वचन एतत् शब्द से निर्दिष्ट नहीं हो सकते हैं, इसी प्रकार पुरुष विषयक जो 'करोति' धातु का अर्थ पुरुषों का उत्पादन, या उत्पादन

का फल जो पुरुषों का जन्म उसका भी यह एतत् पद से निर्देश नहीं है, क्योंकि क्रिया और उसके फल के बिना कर्तृत्व के असम्भव से कर्तावाचक शब्द से ही क्रिया और क्रिया के फल गृहीत हो जाते हैं, उनके लिए पृथक् निर्देश की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार परिशेषता से प्रत्यक्ष सन्निहित जगत् सर्वनाम एतत् शब्द से निर्दिष्ट होता है। यदि कहा जाय कि जगत् भी अप्रकृत और असंशब्दित है, तो यह कहना यद्यपि सत्य है, तथापि संकोच के हेतु विशेष किसी वस्तु के ग्राह्य नहीं रहने पर साधारण अर्थ के साथ सन्निधान (सम्बन्ध) से सन्निहित वस्तुमात्र का यह निर्देश है, किसी विशेष का निर्देश नहीं है इस प्रकार समझा जाता है। विशेष के अभाव की दशा में सामान्य का स्वाभाविक ज्ञान होता है, क्योंकि विशेष का सानिध्य नहीं है। एवं प्रथम जगत् के एक देशरूप पुरुषों के ग्रहण से अविशेषित (सामान्य जगत् ही यहाँ गृहीत होता है, ऐसा समझा जाता है। यहाँ शंका हुई कि यदि एतत् शब्द से सम्पूर्ण जगत् का ग्रहण किया जाता है, तो पुरुषों के पृथक् ग्रहण के क्या फल हैं? इस शंका की निवृत्ति के लिए कहा जाता है कि यहाँ तात्पर्य से यह रहस्य उक्त होता है कि, जो जगत् के एक देश स्वरूप इन पुरुषों का कर्ता है, ऐसा विशेषण से क्या फल है, जिसका भेदरहित सम्पूर्ण जगत् ही कर्म है, कार्य है, वही ज्ञेय ब्रह्म है, वा शब्द एकदेशावच्छिन्नकर्तृत्व (पुरुष मात्र से निरूपित कर्तृत्व) अर्थात् एकदेशमात्र कर्तृत्व के निवारण के लिए है। एवं बालाकि द्वारा जो ब्रह्म रूप से अभिमत (स्वीकृत) पुरुष कहे गये थे, उन्हें अब्रह्म कथन ज्ञापन के लिए पुरुष-रूप विशेषों का ग्रहण है। इसी प्रकार ब्राह्मण परिव्राजक न्याय से सामान्य विशेष द्वारा जगत् का कर्ता वेदितव्य रूप से उपदिष्ट होता है। परमेश्वर ही सब जगत् का कर्ता रूप से सब वेदान्त में अवधारित (निर्णीत) है। इससे परमेश्वर वेदितव्य है ॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

अथ यदुक्तं—वाक्यशेषगताज्जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तयोरेवान्यतरस्येह ग्रहणं न्याय्यं न परमेश्वरस्य—इति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—परिहृतं चैतत् 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' (ब्र० सू० १।१।३१) इत्यत्र। त्रिविधं ह्यत्रोपासनमेवं सति प्रसज्येत जीवोपासनं मुख्यप्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति। न चैतन्न्याय्यम्, उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि ब्रह्मविषयत्वमस्य वाक्यस्यावगम्यते। तत्रोपक्रमस्य तावद्ब्रह्मविषयत्वं दर्शितम्। उपसंहारस्यापि निरतिशयफलश्रवणाद्ब्रह्मविषयत्वं दृश्यते—'सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद' इति। नन्वेवं सति प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैवेदमपि वाक्यं निर्णीयेत, न निर्णीयते 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यस्य ब्रह्मविषयत्वेन तत्रानिर्धारितत्वात्। तस्मादत्र जीवमुख्यप्राणशङ्का

पुनरुत्पद्यमाना निवर्त्यते। प्राणशब्दोऽपि ब्रह्मविषयो दृष्टः 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छां० ६।८।२) इत्यत्र। जीवलिङ्गमप्युपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मविषयत्वादभेदाभिप्रायेण योजयितव्यम् ॥ १७ ॥

पहले जो यह कहा है कि वाक्य शेषगत जीव-लिङ्ग से और मुख्य प्राण-लिङ्ग से उन दोनों में से ही एक का यहाँ ग्रहण करना न्याययुक्त है, परमेश्वर का ग्रहण न्याययुक्त नहीं, उसका परिहार करना चाहिए। यह शंका परिहृत हो चुकी है कि (नोपासात्रैविध्यादित्यादि) ऐसा मानने पर यहाँ तीन प्रकार की उपासना प्राप्त होगी, जीवोपासना, मुख्यप्राणोपासना और ब्रह्मोपासना। ये तीनों उपासनाएँ कर्तव्य हो जायँगी, और यह त्रैविध्य न्याययुक्त नहीं है, जिसके उपक्रम और उपसंहार से इस वाक्य को ब्रह्मविषयत्व समझा जाता है। उसमें उपक्रम का ब्रह्मविषयत्व पहले दिखलाया गया है, निरतिशय (सर्वोत्तम) फल के श्रवण से उपसंहार को भी ब्रह्मविषयत्व देखा (समझा) जाता है कि (जो इस प्रकार जानता है, वह सब पापों को नष्ट करके सब भूतों में श्रेष्ठता (गुणाधिकता) स्वराज्य (स्वतन्त्रता) और आधिपत्य (स्वामिता) को प्राप्त करता है। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर प्रतर्दन वाक्य के निर्णय से ही यह वाक्य भी निर्णीत हो सकता है, उस पर कहा जाता है कि उसके निर्णय से यह निर्णीत नहीं होता है। क्योंकि (जिसका यह कर्म है) इसका ब्रह्मविषयत्वेन वहाँ निर्णय नहीं हुआ है, और वहाँ इसका अनिर्धारण होने ही से जीव और मुख्य प्राण विषयक शंका पुनः उत्पन्न होने पर यहाँ उसकी निवृत्ति की जाती है, कि प्राण-विषयक लिङ्ग को ब्रह्म-विषयक ही जानना चाहिए, क्योंकि (हे सोम्य मन ! जीव प्राणाधीन है) इस वाक्य में ब्रह्म विषयक प्राण-शब्द देखा गया है। और उपक्रम-उपसंहार के ब्रह्म-विषयक होने से जीव-विषयक लिङ्ग भी जीव ब्रह्म के अभेद अभिप्राय से ब्रह्म-विषयक सम्बन्ध के योग्य है ॥ १६ ॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यं-जीवप्रधानं वेदं वाक्यं स्याद्ब्रह्मप्रधानं वा—इति। यतोऽन्यार्थं जीवपरामर्शं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमस्मिन् वाक्ये जैमिनिराचार्यो मन्यते। कस्मात्? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्। प्रश्नस्तावत्सुप्तपुरुषप्रतिबोधनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबोधिते पुनर्जीवव्यतिरिक्तविषयो दृश्यते—'क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत्कुत एतदागात्' (कौ० ब्रा० ४।१९) इति। प्रतिवचनमपि 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इत्यादि, 'एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ब्रा० ४।२०) इति च। सुषुप्तिकाले च परेण

ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति, परस्माच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा। तस्माद्यत्रास्य जीवस्य निःसम्बोधतास्वच्छतारूपः स्वाप उपाधिजनितविशेषविज्ञानरहितं स्वरूपं यतस्तद्भ्रंशरूपमागमनं सोऽत्र परमात्मा वेदितव्यतया श्रावित इति गम्यते। अपि चैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमाम्नाय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति--'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागात्' (बृ० २।१।१६) इति प्रश्ने प्रतिवचनेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते' इति। आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रयुक्तः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' (छा० ८।१।१) इत्यत्र। 'सर्व एव आत्मनो व्युच्चरन्ति' इति चोपाधिमतामात्मनामन्यतो व्युच्चरणमामनन्तः परमात्मानमेव कारणत्वेनामनन्तीति गम्यते। प्राणनिराकरणस्यापि सुषुप्तपुरुषोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्तोपदेशोऽभ्युच्चयः ॥ १८ ॥

पहले अभेद के अभिप्राय से जीव के लिङ्ग को ब्रह्मसम्बन्धी कहा गया है। अब यहाँ ऐसा विवाद ही नहीं करना चाहिए कि यह वाक्य जीव-प्रधान है या ब्रह्म प्रधान ? 'जिससे जीव के परामर्श (कथनादि) को अन्य प्रयोजन के लिए अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिए' इस वाक्य को जैमिनि आचार्य मानते हैं, क्योंकि प्रश्न और उसके व्याख्यान से यह अर्थ सिद्ध होता है। पहले सोये हुए पुरुष को जगाने के लिए प्राणादि से भिन्न जीव के प्रति बोधन (ज्ञान) कराने पर जीव से व्यतिरिक्त (भिन्न) विषयक प्रश्न दीखता है कि (हे बालाके ! यह पुरुष कहाँ एक भाव से सोया था, और एक भाव से शयन कहाँ हुआ था, और यह आगमन कहाँ से हुआ है ?) प्रतिवचनरूप व्याख्यान भी है कि (जब सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है, तब इस प्राण (ब्रह्म) में ही एक अभिन्न हो जाता है) इत्यादि और (इस आत्मा से ही सब प्राण (इन्द्रियाँ) अपने आश्रय के अनुसार जागने पर, गमन करते हैं, प्रकट होते हैं, प्राणों से देव, देव से लोक विषयादि प्रकट होते हैं) इत्यादि। सुषुप्ति-काल में जीव परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त होता है, और परब्रह्म से ही प्राणादि रूप जगत् उत्पन्न होता है, यह वेदान्त की मर्यादा (स्थिति धारणा) है। जिससे जहाँ इस जीव को विशेष ज्ञान शून्यता (निःसम्बोधता) और स्वच्छता रूप स्वाप (शयन) होता है। तथा उपाधिजनित विशेष विज्ञान से रहित स्वरूप रहता है और जहाँ से उस स्वप्न स्वरूप से पतनरूप आगमन होता है। वही परमात्मा यहाँ वेदितव्य रूप से सुनाया गया है, ऐसी प्रतीति होती है, प्रश्न और व्याख्यान से यही समझा जाता है। प्रश्न व्याख्यान के प्रसंग में वाजसनेयी नामक एक शाखा वाले इसी बालाकि-अजातशत्रु के संवाद में विज्ञानमय शब्द से स्पष्ट जीव का कथन करके उससे भिन्न परमात्मा का कथन करते हैं कि (जो यह विज्ञानमय

पुरुष है, यह सुषुप्ति काल में कहाँ रहा, और कहाँ से इसका यह आगमन हुआ है) इस प्रश्न के होने पर प्रतिवचन में भी कहा है कि (यह जो हृदय के अन्दर आकाश है उसी में सोता है) और आकाश शब्द परमात्मा में प्रयुक्त है, वही (इस हृदय में अन्तराकाश अल्प है) यहाँ प्रयुक्त हुआ है। आत्मा से ही सब प्रकट होते हैं, इस प्रकार उपाधिवाले आत्माओं का अन्य से व्युच्चरण (अभिव्यक्ति) को करते हुए परमात्मा को ही कारणरूप से अन्य शाखा वाले भी कहते हैं, यह समझा जाता है। सुषुप्त पुरुष के उत्थापन द्वारा जो प्राण से भिन्न आत्मा का उपदेश है वही प्राण के निराकरण का भी समुच्चय रूप है। इससे यह वाक्य परमात्मा में समन्वित है, प्राणादि में नहीं ॥ १९ ॥

वाक्यान्वयाधिकरण (६)

आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तः संसारी वा परेश्वरः ।
संसारी पतिजायादिभोगप्रीत्यास्य सूचनात् ॥
अमृतत्वमुपक्रम्य तदन्तेऽप्युपसंहृतम् ।
संसारिणमनूद्यातः परेशत्वं विधीयते ॥ २ ॥

(आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः) आत्मा ही अत्यन्त प्रिय है, इससे अरे मैत्रेयि ! आत्मा प्रत्यक्ष जानने योग्य है, यहाँ पूर्वापर वाक्य के अन्वय से परमात्मा ही द्रष्टव्य कहा गया है। तो भी सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि यहाँ द्रष्टव्य आत्मा को संसारी कहा गया है अथवा परमात्मा को। पूर्वपक्ष है कि यहाँ द्रष्टव्य रूप संसारी आत्मा कहा गया है, क्योंकि पति-जाया आदि के भोगजन्य प्रीति (सुख) से इस जीवात्मा का ही सूचन होता है, और भोगजन्य सुखों का उस वाक्य में वर्णन है ॥ १ ॥

सिद्धान्त है कि इस वाक्य को अमृतत्व से आरम्भ करके अमृतत्व ही में समाप्त किया गया है, और अमृतत्व की प्राप्ति परमात्म दर्शन के बिना हो नहीं सकती है। इससे भोग-प्रीति आदि द्वारा प्रसिद्ध संसारी का अनुवाद करके वस्तुतः सुखस्वरूप में परेशता का ही विधान करते हैं ॥ २ ॥

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणेऽधीयते (१)—'न वा अरे पत्युः कामाय' इत्युपक्रम्य 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४।५।६) इति, तत्रैतद्विचिकित्स्यते—किं विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यश्रोतव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित्परमात्मेति। कुतः पुनरेषा विचिकित्सा ? प्रियसंसूचितेनात्मना भोक्त्रोपक्रमाद्विज्ञानात्मोपदेश इति प्रतिभाति, तथात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशात्परमात्मोपदेश इति। किं तावत्प्राप्तम् ?

विज्ञानात्मोपदेश इति। कस्मात् ? उपक्रमसामर्थ्यात्। पतिजायापुत्रवित्ता-

दिकं हि भोग्यभूतं सर्वं जगदात्मार्थतया प्रियं भवतीति प्रियसंसूचितं भोक्तारमात्मानमुपक्रम्यानन्तरमिदमात्मनो दर्शनाद्युपदिश्यमानं कस्यान्यस्यात्मनः स्यात् ? मध्येऽपि 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन ब्रुवन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयति। तथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहरन्विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्टं दर्शयति। तस्मादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानवचनं भोक्त्रर्थत्वाद्भोग्यजातस्यौपचारिकं द्रष्टव्यमिति।

बृहदारण्यकान्तर्गत मैत्रेयी ब्राह्मण में अध्ययन किया जाता (पढ़ा जाता) है कि (अरे मैत्रेयि ! पति के काम (काम्य-सुखादि) के लिए स्त्री का पति प्रिय नहीं होता है) इस प्रकार आरम्भ करके (अरे मैत्रेयि ! सबके काम के लिए सब प्रिय नहीं होते हैं, किन्तु अपनी आत्मा के काम (प्रयोजन) के ही लिए सब प्रिय होते हैं, इससे आत्मा मुख्य प्रेम का विषय है, और उसके अंग शेष उपकारक रूप से अन्य पदार्थ प्रिय होते हैं; इससे अरे मैत्रेयि ! प्रियतम आत्मा ही द्रष्टव्य (दर्शन योग्य) है और दर्शन के लिए वही श्रवण, मनन, निदिध्यासन (ध्यान) के योग्य है। एवं अरे मैत्रेयि ! आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से यह सब जगत विदित (ज्ञात) हो जाता है। यहां यह संशय किया जाता है कि क्या यह विज्ञानात्मा ही द्रष्टव्यश्रोतव्यादि रूप से उपदिष्ट होती है अथवा परमात्मा उपदिष्ट होता है ? यदि कहा जाय कि यह संशय क्यों होता है—तो कहा जाता है कि प्रिय भोग्य-वस्तु पति-जायादि से संसूचित अनुमित भोक्ता आत्मा से इस वाक्य का उपक्रम होने से यह वाक्य विज्ञानात्मा का उपदेश रूप है, ऐसी प्रतीति होती है। और इसी प्रकार आत्मा के विज्ञान से, सबके विज्ञान के उपदेश से परमात्मा का उपदेश है, ऐसी प्रतीति होती है एवं इस द्वैविध्य से संशय होता है। विमर्श है कि पहले क्या प्राप्त है ? पूर्वपक्ष है कि विज्ञानात्मा का उपदेश प्राप्त होता है, क्योंकि उपक्रम के सामर्थ्य से पूर्वाधिकरण के समान यहाँ जीवात्मा की ही प्रतीति होती है। जिससे पति, जाया, पुत्र, वित्तादि सब भोग्यस्वरूप जगत् आत्मार्थक होने से प्रिय होता है, इस प्रकार प्रिय भोग्यादि से संसूचित भोक्तात्मा का आरम्भ करके उसके अनन्तर (बाद में) जो यह आत्मा के दर्शन, श्रवणादि उपदिश्यमान हुए हैं, वे आत्मा से अन्य किसके होंगे। इससे जीवात्मा के दर्शनादि का ही उपदेश है। और (यह अन्तरात्मा महान् सत्य, अनन्त-अपार विज्ञानघन एक रस होते हुए भी इन भूतों के द्वारा शरीररूप से प्रगट हो कर उन भूतों के नाश से उत्थित रूप से नष्ट हो जाती है, इससे मर कर स्थिर रहने वाले का ज्ञान नहीं होता है।) इस मध्य-वाक्य में भी प्रकृत ही महान सत्य द्रष्टव्य आत्मा का विज्ञानात्मा रूप से भूतों से समुत्थान (जन्म) को कहता हुआ विज्ञानात्मा को ही यह द्रष्टव्यत्व याज्ञवल्क्य जी दिखलाते हैं। इसी प्रकार (अरे ! मैत्रेयि विज्ञाता को

किससे जानेगा ?) यहाँ पर कर्ता वाचक विज्ञाता शब्द द्वारा उपसंहार करते हुए मुनि विज्ञानात्मा को ही उपदिष्ट करते हैं । इससे आत्मविज्ञान से सबके विज्ञान विषयक वचन को भोग्य समूह के भोक्ता के लिए होने से औपचारिक (गौण) समझना चाहिए ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मोपदेश एवायम् । कस्मात् ? वाक्यान्वयात् । वाक्यं हीदं पौर्वापर्येणावेक्ष्यमाणं परमात्मानं प्रति अन्वितावयवं लक्ष्यते । कथमिति ? तदुपपाद्यते—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' इति याज्ञवल्क्यादुपश्रुत्य 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' इत्यमृतत्वमाशासानाया मैत्रेय्या याज्ञवल्क्य आत्मविज्ञानमिदमुपदिशति । नचान्यत्र परमात्मविज्ञानादमृतत्वमस्तीति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति । तथाचात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुच्यमानं नान्यत्र परमकारणविज्ञानान्मुख्यमवकल्पते । न चैतदौपचारिकमाश्रयितुं शक्यं, यत्कारणमात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायानन्तरेण ग्रन्थेन तदेवोपपादयति—'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादिना । यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगदात्मनोऽन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति ते मिथ्यादर्शिनं तदेव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत्पराकरोतीति भेददृष्टिमपोद्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति सर्वस्य वस्तुजातस्यात्मव्यतिरेकमवतारयति । दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च (बृ० ४।५।८) तमेवाव्यतिरेकं द्रढयति । 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० ४।५।११) इत्यादिना च प्रकृतस्यात्मनो नामरूपकर्मप्रपञ्चकारणतां व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति । तथैवैकायनप्रक्रियायामपि (बृ० ४।५।१२) सविषयस्य सेन्द्रियस्य सान्तःकरणस्य प्रपञ्चस्यैकायनमनन्तरमबाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघनं व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति, तस्मात्परमात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति गम्यते ॥ १९ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि यह परमात्मा ही का उपदेश है, क्योंकि वाक्य के अन्वय से परमात्मा की ही प्रतीति होती है । जिससे पूर्व पर के सहित विचार्यमाण यह वाक्य परमात्मा के प्रति अन्वित (सम्बद्ध) अवयववाला लक्षित (ज्ञात) होता हैं, और कैसे लक्षित होता है ? उसका उपपादन (प्रतिपादन) करते हैं कि (वित्त से साध्य कर्म से मोक्ष की आशा नहीं है) इस प्रकार याज्ञवल्क्य जी से सुन कर, मैत्रेयी बोली कि (जिससे मैं अमृतमुक्त नहीं होऊंगी, उससे मैं क्या करूंगी, जो अमृत का साधन है भगवान् यदि आप जानते हों वही मेरे लिए कहिए) इस प्रकार अमृतत्व की आशा करने वाली मैत्रेयी को याज्ञवल्य जी ने यह आत्मज्ञान का उपदेश किया है । और परमात्म-ज्ञान के बिना अमृतत्व नहीं प्राप्त होता है, यह श्रुति-स्मृति आदि के बहुत से वचन कहते हैं । इसी प्रकार आत्म विज्ञान से कहा गया सबका विज्ञान भी परमकारण के विज्ञान के बिना मुख्य नहीं सिद्ध हो सकता, और न सब विज्ञान को औपचारिक आश्रयण कर सकते हैं । इसी कारण आत्मविज्ञान से सर्व विज्ञान

की प्रतिज्ञा करने के अनन्तर ग्रन्थ के द्वारा उसी सर्वविज्ञान का प्रतिपादन सिद्ध करते हैं कि (उसको ब्रह्मत्व जाति पराभव करती है कि जो अन्य ब्राह्मणत्व को समझता है) इत्यादि वचन से सर्वज्ञान का उपपादन किया गया है कि जो कोई ब्रह्मक्षत्रादि रूप जगत् को आत्मा से अन्यत्र स्वतन्त्र रूप से प्राप्त सत्ता वाला देखता है, उस मिथ्यादर्शी को वही मिथ्यादृष्ट ब्रह्म क्षत्रादि रूप जगत् पराजय-पराभव करता है, श्रेय मार्ग से गिराता है। इसलिए भेद दृष्टि का अपवाद (तिरस्कार) करके (जो कुछ यह है सो सब आत्मा है) इस प्रकार सब वस्तु समूह को आत्मा से अव्यतिरेक (अभेद) समझाते हैं। एवं दुन्दुभी आदि दृष्टान्तों द्वारा उसी अभेद को दृढ़ करते हैं। तथा (इस महान् सत्यात्मा का निःश्वास ऋग्वेद है) इत्यादि वचनों से प्रकृत आत्मा की नाम-रूप-कर्म के प्रपञ्च (विस्तार) आकारता का व्याख्यान करते हुए ऋषि इससे इस परमात्मा का ही बोध कराते हैं। इसी प्रकार सबका एकायन (एकाश्रय) प्रक्रिया में भी विषय-इन्द्रिय-अन्तः-करण सहित प्रपञ्च (संसार) के बाह्याभ्यन्तर भेदरहित कृत्स्न (पूर्ण) प्रज्ञानघन (निरन्तर प्रज्ञानस्वरूप) एक सर्वाश्रय का व्याख्यान करते हुए मुनि इस सर्वाश्रय को परमात्मा समझते हैं। इससे परमात्मा के दर्शनादि का ही यह उपदेश है—ऐसा निश्चय होता है ॥ १९ ॥

यत्पुनरुक्तं—प्रियसंसूचितोपक्रमाद्विज्ञानात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति, अत्र ब्रूमः—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः॥ २० ॥

अस्त्यत्र प्रतिज्ञा 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति, इदं सर्वं यदयमात्मा' इति च, यस्याः प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यत्प्रियसंसूचितस्यात्मनो द्रष्टव्यत्वादिसङ्कीर्तनम्। यदि हि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽन्यः स्यात्ततः परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञात इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं यत्प्रतिज्ञातं तद्धीयेत। तस्मात्प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २० ॥

यहाँ जो कहा था कि पति, जाया आदि प्रिय से संसूचित अनुमित जीवात्मा से वाक्य के प्रारम्भ होने से जीवात्मा के दर्शनादि का ही यह उपदेश है। यहाँ कहते हैं कि यह श्रुतिपठित प्रतिज्ञा है कि (आत्मा के विज्ञात होने पर यह सब जगत् विज्ञात हो जाता है) और (जो यह सब जगत् है वह इस आत्मस्वरूप है) उस प्रतिज्ञा की सिद्धि को यह लिङ्ग (हेतु) सूचित करता है कि जो लिङ्ग प्रिय से संसूचित जीवात्मा के द्रष्टव्यत्वादि का संकीर्तन स्वरूप है। क्योंकि यदि जीवात्मा परमात्मा से अन्य होता, तब तो परमात्मा के विज्ञात होने पर भी जीवात्मा विज्ञात नहीं होता, और ऐसा होने पर, जो प्रतिज्ञा की गई थी कि एक के विज्ञान से सबका विज्ञान होता है। उस प्रतिज्ञा की हानि होती—वह प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती, इससे प्रतिज्ञा के विषय प्रतिज्ञात वस्तु भी

त्यागी जाती। इससे प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए जीवात्मा और परमात्मा के अभेदांश से वाक्य का उपक्रमण (आरम्भ) हुआ है। इस प्रकार आश्मरथ्याचार्य मानते हैं। इनके मत में भेदाभेद स्वीकार है ॥२०॥

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातोपाधिसम्पर्कात्कलुषीभूतस्य ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् सम्प्रसन्नस्य देहादिसङ्घातादुत्क्रमिष्यतः परमात्मैक्योपपत्तेरिदमभेदेनोपक्रमणमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। श्रुतिश्चैवंभवति'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छां० ८।२।३) इति। क्वचिच्च जीवाश्रयमपि नामरूपं नदीनिदर्शनेन ज्ञापयति—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(मुण्ड० ३।२।८) इति। यथा लोके नद्यः स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय समुद्रमुपयन्त्यैवं जीवोऽपि स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय परं पुरुषमुपैतीति हि तत्रार्थः प्रतीयत दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यतायै ॥ २१ ॥

देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के संघातरूप उपाधि के सम्बन्ध से कलुषीभूत (मलिन के समान) और ज्ञान-ध्यानादि साधनों के अनुष्ठान से सम्प्रसन्न (अत्यन्त स्वच्छ) होकर देहादि संघात से उत्क्रमण करने वाले विज्ञानात्मा को मोक्ष दशा में परमात्मा के साथ एकता की सिद्धि से यह अभेद दृष्टि से आरम्भ हुआ है। इस प्रकार औडुलोमि आचार्य मानते हैं। इस प्रकार की श्रुति भी है कि (यह सम्प्रसाद जीव इस शरीर से निकल कर अपने शुद्ध स्वरूप से सिद्ध होकर परम ज्योति को प्राप्त करता है) और यह जीव का संसार औपाधिक होने के कारण मिथ्या है, इसको सदा परमात्मा के साथ वस्तुतः अभेद है यह बात नहीं है, किन्तु संसार दशा में स्वाभाविक भेद है, मोक्ष दशा में ही अभेद होता है, इसीसे कहीं श्रुति भी नदी के दृष्टान्त द्वारा जीवाश्रित भी नाम रूप को समझाती है कि—

जैसे बहती हुई नदियाँ अपने आश्रित नाम और रूप को त्याग कर समुद्र में अस्त (विलय) होती हैं, वैसे ही नाम रूप से विमुक्त विद्वान् पर से, पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है। जैसे लोक में नदियाँ स्वाश्रय नाम रूप को त्याग कर समुद्र को प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार जीव भी स्वाश्रय नाम रूप को त्याग कर पर पुरुष को प्राप्त होता है, दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की तुल्यता के लिये यही अर्थ उस श्रुति में प्रतीत होता है ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदेनोप-

क्रमणमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते। तथा च ब्राह्मणम्—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२) इत्येवंजातीयकं परस्यैवात्मनो जीवभावेनावस्थानं दर्शयति। मन्त्रवर्णश्च—'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७) इत्येवंजातीयकः। न च तेजःप्रभृतीनां सृष्टौ जीवस्य पृथक्सृष्टिः श्रुता येन परस्मादात्मनाऽन्यस्तद्विकारो जीवः स्यात् काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्। आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात् कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते। औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवाऽवस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्यते। तत्र कासकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते, प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवं च सति तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पते, विकारात्मकत्वे हि जीवस्याभ्युपगम्यमाने विकारस्य प्रकृतिसम्बन्धे प्रलयप्रसङ्गान्न तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पेत, अतश्च स्वाश्रयस्य नामरूपस्यासम्भवादुपाध्याश्रयं नामरूपं जीव उपचर्यते। अत एवोत्पत्तिरपि जीवस्य क्वचिदग्निविस्फुलिङ्गोदाहरणेन श्राव्यमाणोपाध्याश्रयैव वेदितव्या।

इस परमात्मा का ही इस विज्ञानात्मा रूप से भी अवस्थान (स्थिति) से अभेद द्वारा यह विज्ञानात्मा का उपक्रामण (आरम्भ) है, इस प्रकार काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं। एवं इस प्रकार का ब्राह्मण ग्रन्थ है कि (इस जीवात्मा रूप से तेज आदि में प्रवेश करके नाम रूप का विभाग करूं) इस प्रकार के ब्राह्मण ग्रन्थ परमात्मा ही का जीव रूप से अवस्थान दिखलाते हैं। मन्त्र वर्ण भी है कि (धीर-सर्वज्ञ परमात्मा ही सब रूपों को विरच कर और उनके नाम द्वारा बुद्धि आदि में पैठ कर नामों के अभिवदनादि कर रहा है। एवं उसको जानने वाला विद्वान् अमृत होता है) इस प्रकार का मन्त्र जीव ब्रह्म की एकता दिखलाता है, तेज आदि की सृष्टि प्रकरण में जीव की पृथक् सृष्टि नहीं सुना गई है कि जिससे परमात्मा से अन्न और उसका विकार जीव हो सके, इससे काशकृत्स्नाचार्य का मत है कि अविकृत परमेश्वर ही जीव है, परमेश्वर से अन्य कभी नहीं है। एवं आश्मरथ्याचार्य को तो यद्यपि जीव का परमात्मा से अनन्यत्व (अभेद) अभिप्रेत (इष्ट) है, तथापि प्रतिज्ञासिद्धेः, इस सापेक्षत्व के कथन से जीवेश्वर में कार्यकारणभाव है, कारण के ज्ञान से, कार्य के ज्ञान से प्रतिज्ञा की सिद्धि है, इससे अभेद के समान कुछ भेद भी अभिप्रेत है, सर्वथा अभेद नहीं तथा औडुलोमि के सिद्धान्त में तो स्पष्ट ही अवस्थान्तर की अपेक्षा वाले भेद और अभेद दोनों प्रतीत होते हैं। इन मतों में काशकृत्स्न का मत श्रुति अनुसारी प्रतीत होता है। क्योंकि (तत्त्वमसि) वह तू है, इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादन की इच्छा के विषय रूप, अभीष्ट जो अर्थ है, उस अर्थ के अनुसार काशकृत्स्नाऽऽचार्य का

मत है और काशकृत्स्न मत के अनुसार सत्य अभेद और कल्पित संसार के होने पर ही उस अभिन्नात्म ज्ञान से अमृत सिद्ध होता है। जीव को विकार स्वरूप मानने पर तो विकार को प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने पर विकार का प्रलय की प्राप्ति से प्रकृति के ज्ञान से विकार को अमृतत्व नहीं सिद्ध हो सकता है, इससे जीव में स्वाश्रय नाम-रूप के अभाव से उपाधि के आश्रित नाम-रूप का जीव में उपचार होता है। जीव की स्वाभाविक उत्पत्ति होने पर मोक्ष के असम्भव से ही जो कहीं अग्नि के विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) रूप उदाहरण (दृष्टान्त) के द्वारा जीव की उत्पत्ति भी श्रुति में सुनाई गई है, उस उत्पत्ति को उपाधि के आश्रित ही समझना चाहिये।

यदप्युक्तं—प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन दर्शयन् विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयति—इति, तत्रापीयमेव त्रिसूत्री योजयितव्या। 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः'। इदमत्र प्रतिज्ञातम्—'आत्मनि विदिते सर्वं विदितं च भवति' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (वृह० २।४।६) इति च, उपपादितं च सर्वस्य नामरूपकर्मप्रपञ्चस्यैकप्रसवत्वादेकप्रलयत्वाच्च दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च कार्यकारणयोरव्यतिरेकप्रतिपादनात् तस्या एव प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यन्महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन कथितमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते। अभेदे हि सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातमवकल्पत इति। 'उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः'। उत्क्रमिष्यतो विज्ञानात्मनो ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात्संप्रसन्नस्य परेणात्मनैक्यसम्भवादिदमभेदाभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः'। अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदाभिधानमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते।

यह भी जो पहले कहा था कि प्रकृत ही महान् सत्य द्रष्टव्य का विज्ञानात्मा रूप से भूतों द्वारा समुत्थान को दिखलाते हुये मुनि विज्ञानात्मा को ही यह द्रष्टव्यत्व दिखलाते हैं। वहाँ भी इन्हीं तीनों सूत्रों की योजना (सम्बन्ध) करनी चाहिए कि 'प्रतिज्ञासिद्धेः' इत्यादि। यहाँ यह प्रतिज्ञा की गई है कि आत्मा के विदित होने से यह सब विदित (ज्ञात) होता है। (जो यह सब है सो आत्म स्वरूप है) इति। एवं नाम-रूप विस्तार का एक से प्रसव (उत्पत्ति) होने से तथा एक में प्रलय होने से और दुन्दुभी आदि दृष्टान्तों से कार्य कारण के अभेद प्रतिपादन के द्वारा उक्त प्रतिज्ञात वस्तु प्रतिज्ञा उपपादित भी हुई है, एवं उसी प्रतिज्ञा की सिद्धि को यह लिङ्ग भी सूचित (प्रतिज्ञा) करता है कि जो महान् सत्य द्रष्टव्य का विज्ञानात्मा रूप से भूतों से समुत्थान कहा गया है। इस प्रकार आश्मरथ्याचार्य मानते हैं। क्योंकि अभेद रहते ही एक के विज्ञान से प्रतिज्ञात सर्व विज्ञान सिद्ध हो सकता है। (उत्क्रमिष्यतः) उत्क्रमण करने वाले ज्ञान ध्यानादि के सामर्थ्य से सम्प्रसन्न विज्ञानात्मा की परमात्मा

के साथ एकता के सम्भव से यह अभेद का कथन है, इस प्रकार औडुलोमि आचार्य मानते हैं। (अवस्थितः) इस परमात्मा को ही इस विज्ञानात्मा रूप से स्थिति के कारण यह अभेद का कथन युक्त है इस प्रकार काशकृत्स्नाचार्य मानते हैं।

ननूच्छेदाभिधानमेतत्—'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृह० २।४।१२)—इति कथमेतदभेदाभिधानम्? नैष दोषः। विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं नात्मोच्छेदाभिप्रायम्। 'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति। पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्यार्थान्तरस्य दर्शितत्वात्—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इति। एतदुक्तं भवति—कूटस्थनित्य एवायं विज्ञानघन आत्मा नास्योच्छेदप्रसङ्गोऽस्ति, मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवति, संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावान्न प्रेत्य संज्ञास्तीत्युक्तमिति। यदप्युक्तम्—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहाराद्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यम्—इति, तदपि काशकृत्स्नीयेनैव दर्शनेन परिहरणीयम्।

यहाँ शंका होती है कि (इन भूतों से समुत्थित होकर और उन भूतों के नाश के बाद यह जीवात्मा नष्ट हो जाता है। मर कर स्थिर रहने का ज्ञान नहीं रहता है) यह उच्छेद नाश का कथन है, फिर परमात्मा के साथ अभेद का कथन कैसे हो सकता है? उत्तर है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि यह विनाश का कथन विशेष ज्ञान के विनाश के अभिप्राय से है, आत्मा के उच्छेद के अभिप्राय से नहीं। क्योंकि (मृत की संज्ञा (ज्ञान) नहीं रहती है, इस वाक्य में हे भगवन् आपने मुझे मोहित किया है) इस प्रकार पर्यनुयोग (आशंकामय प्रश्न) करके श्रुति से स्वयं अर्थान्तर का प्रदर्शन कराया गया है कि (अरे मैत्रेयि ! मैं मोह का हेतु रूप वाक्य नहीं कह रहा हूँ। अरे ! यह आत्मा निश्चय अविनाशी है, और नाशक के अभाव से अनुच्छित्ति (नाश रहितता) रूप धर्म वाली है। परन्तु शरीर से समुत्थान काल में इसका विषय इन्द्रियादि से सम्बन्ध नहीं है, इसलिए विशेष ज्ञान का अभाव रहता है। इससे यह कहा गया है कि कूटस्थ नित्य ही और विज्ञानघन स्वरूप ही यह आत्मा है, उसके उच्छेद का कोई प्रसङ्ग, अवसर कभी है ही नहीं, परन्तु भूतेन्द्रिय स्वरूप अविद्याकृत मात्राओं के साथ इसका विद्या से असंसर्ग (सम्बन्धाभाव) होता है, और संसर्ग के अभाव होने पर सम्बन्धकृत विशेष ज्ञान के भी अभाव होने के कारण कहा गया है कि मरने के बाद संज्ञा नहीं है, और पहले जो यह कहा था कि (अरे मैत्रेयि ! विज्ञाता को किससे जाना जायगा) इस प्रकार विज्ञातारूप कर्ता के वाचक शब्द द्वारा उपसंहार होने से विज्ञानात्मा ही यहाँ द्रष्टव्य स्वरूप है, इसका भी काशकृत्स्न के सिद्धान्त विज्ञान से ही परिहार कर्तव्य है।

अपि च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१३) इत्यारभ्याविद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणं विशेषविज्ञानं प्रपञ्च्य 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिना विद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणस्य विशेषविज्ञानस्याभावमभिदधाति। पुनश्च विषयाभावेऽपि आत्मानं विजानीयात् इत्याशङ्क्य 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्याह। ततश्च विशेषविज्ञानाभावोपपादनपरत्वाद्वाक्यस्य विज्ञानधातुरेव केवलः सन् भूतपूर्वगत्या कर्तृवचनेन तृचा निर्दिष्ट इति गम्यते। दर्शित तु पुरस्तात् काशकृत्स्नीयस्य पक्षस्य श्रुतिमत्त्वम्, अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिक इत्येषोऽर्थः सर्वैर्वेदान्तवादिभिरभ्युपगन्तव्यः।

दूसरी बात यह है कि (जहाँ द्वैत के समान रहता है वहाँ अन्य पुरुषादि अन्य पुरुषादि को स्वप्न के समान सत्य ही देखता है) यहाँ से आरम्भ करके अविद्या काल में उस विज्ञाता के ही दर्शनादि रूप विशेष ज्ञान का प्रपञ्च (विस्तार) करके (जिस अवस्था और काल में इस विज्ञाता के सब आत्मा ही हो गये उस काल में किससे किसको देखे) इत्यादि वचनों द्वारा उसी विज्ञानात्मा के विद्याकाल में दर्शनादिरूप विशेष ज्ञान के अभाव को कहते हैं। एवं विषयों के अभाव होने पर भी आत्मा को कौन जानेगा ऐसी शंका फिर से करके (अरे मैत्रेयि ! विज्ञाता को किससे जाना जायगा) यह कहते हैं। इससे मोक्षावस्था में विशेष ज्ञानों के अभाव का प्रतिपादन परक वाक्य के होने से, मोक्ष काल में स्थिर केवल विज्ञान स्वरूप ही भूतपूर्व गति (अज्ञान-कालिक दृष्टि) से कर्ता वाचक तृच् प्रत्यय से निर्दिष्ट हुआ है, ऐसा समझा जाता है। इससे वस्तुतः कर्ता शब्द से उपसंहार नहीं है और काशकृत्स्नाचार्य के पक्ष को पहले श्रुतिमत्त्व (श्रुतिअनुसारित्व) दिखलाया गया है अतः इस श्रुतिमत्ता से यह अर्थ सब वेदान्तवादियों को समझना चाहिये कि विज्ञानात्मा और परमात्मा का भेद अविद्यादि से प्रत्युपस्थापित (प्राप्त) नामरूप से रचित देहादिरूप उपाधि निमित्तक है, इससे भेद मिथ्या है पारमार्थिक सत्य नहीं।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६।२।१) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छां० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मुण्ड० २।२।११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३।८।११) इत्येवंरूपाभ्यः श्रुतिभ्यः, स्मृतिभ्यश्च 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७।१९), 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३।२), 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी० १३।२७) इत्येवंरूपाभ्यः। भेददर्शनापवादाच्च 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' (बृ० १।४।१०), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इत्येवंजातीयकात्।

हे सोम्य ! यहाँ संसार सृष्टि से पहले सत् एक और अद्वितीयरूप ही था। (ये सब आत्मा ही है), (ये सब ब्रह्म ही हैं), (जो यह आत्मा है यह सब है), (इस आत्मा से अन्य द्रष्टा नहीं है), इससे अन्य द्रष्टृ नहीं है), इस प्रकार के स्वरूप वाली श्रुतियों से उक्त पारमार्थिक भेदों का अभाव सिद्ध होता है। एवं (सब का वासस्थान देव सर्वात्मा है), हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जानो) (सब भूतों में सम निर्विशेष रूप से वर्तमान परमेश्वर को जो देखता है वह सत्य को देखता है) इस प्रकार की स्मृतियों से भी पारमार्थिक भेद का अभाव सिद्ध होता है। एवं (वह परमात्मा मुझसे अन्य है, मैं परमात्मा से अन्य हूँ) इस प्रकार जो जानता है वह नहीं जानता है, वह जैसा पशु हो वैसा है) (वह मृत्यु के बाद बार-बार मृत्यु को प्राप्त करता है कि जो इस आत्मा में नाना के समान देखता है) इस प्रकार की श्रुतियों से भेददर्शन का अपवाद (निन्दा) से भी भेद पारमार्थिक नहीं है।

'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) इति चात्मनि सर्वविक्रियाप्रतिषेधात्, अन्यथा च मुमुक्षूणां निरपवादविज्ञानानुपपत्तेः, सुनिश्चितार्थत्वानुपपत्तेश्च। निरपवादं हि विज्ञानं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमात्मविषयमिष्यते, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मुण्ड० ३।२।६) इति च श्रुतेः, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) इति च। स्थितप्रज्ञलक्षणस्मृतेश्च (गी० २।५४)। स्थिते च क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वविषये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमात्मेति नाममात्रभेदात् क्षेत्रज्ञोऽयं परमात्मनो भिन्नः परमात्मायं क्षेत्रज्ञाद्भिन्न इत्येवंजातीयक आत्मभेदविषयो निर्बन्धो निरर्थकः। एको ह्ययमात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाभिधीयत इति, नहि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै० २।१) इति काञ्चिदेवैकां गुहामधिकृत्यैतदुक्तम्। न च ब्रह्मणोऽन्यो गुहायां निहितोऽस्ति, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेव प्रवेशश्रवणात्। ये तु निर्बन्धं कुर्वन्ति ते वेदान्तार्थं बाधमानाः श्रेयोद्वारं सम्यग्दर्शनमेव बाधन्ते, कृतकमनित्यं च मोक्षं कल्पयन्ति, न्यायेन च न संगच्छन्त इति।

(वह यह आत्मा महान्, अज, (जन्मरहित) जरारहित, मृत्युरहित, नित्य मुक्त अभय ब्रह्म स्वरूप है) इस प्रकार आत्मा में सब विकारों का निषेध से भेद सत्य नहीं है। अन्यथा भेद के सत्य रहते मुमुक्षुओं को अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) यह ज्ञान निरपवाद (बाधक रहित) नहीं होगा। एवं सुनिश्चितार्थकत्व के ज्ञान में असिद्धि होगी, इससे भेद मिथ्या है। एवं भेद के अभाव से निरपवाद ही आत्मविषयक ज्ञान सर्वाकांक्षा का निवर्तक माना जाता है, आकांक्षा का निवंतक रूप से इष्ट समझा ाता है। यह (वेदान्त के विज्ञान से सुनिश्चित अर्थ वाले परिमुक्त होते हैं) इस ति से सिद्ध होता है। एवं (एकत्व को देखने वाले को उस एकत्व के दर्शन काल

में और उस आत्मा में कौन मोह और कौन शोक हो सकता है) अर्थात् निश्चित ज्ञान से अज्ञानमूलक मोहादि का अभाव हो जाता है। इस श्रुति वचन से और स्थितप्रज्ञ के लक्षणरूप स्मृति से भी निरपवाद निश्चित ज्ञान से सब आकांक्षादि निवृत्त होते हैं। क्षेत्रज्ञ परमात्मा के एकत्वविषयक सम्यक् ज्ञान के निश्चितरूप से स्थिर होने पर क्षेत्रज्ञ और परमात्मा में नाममात्र के भेद रहने से, यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा से भिन्न है या यह परमात्मा क्षेत्रज्ञ से भिन्न है इस प्रकार का आत्मभेद विषयक निर्बंध (आग्रह नियम) निरर्थक निष्प्रयोजन है। यह एक ही आत्मा नाममात्र के भेद से बहुत प्रकार से कहा जाता है। और (सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है उसको जो बुद्धिरूप गुहा में निहित स्थित जानता है, वह सब भोग को भोगता है) यह कथन जीव के स्थानों से भिन्न किसी एक गुहा के अधिकार (प्रकरण उद्देश करके नहीं है और ब्रह्म से अन्य गुहा में निहित नहीं है। क्योंकि (वह ब्रह्म ही संसार एवं शरीरादि को रचकर इसमें प्रवेश करता है) इस प्रकार स्रष्टा का ही प्रवेश सुना गया है, इससे सब गुहा में एक ब्रह्म प्रविष्ट है,वही जीव है, इससे भेद का आग्रह निरर्थक है, क्योंकि भेद मिथ्या है, एवं जो लोग सत्य भेद का आग्रह करते हैं, वे वेदान्तार्थ सत्य अभेद को बाधित (निषेध) करते हुए मोक्ष का द्वार सम्यग्दर्शन ज्ञान को बाधित (नष्ट) करते हैं। एवं ज्ञान को नष्ट करके कर्म-जन्य कार्यरूप अनित्य मोक्ष की कल्पना करते हैं तथा न्यायपथ से गमन नहीं करते हैं, अर्थात् ज्ञान से अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक नित्यमुक्त स्वरूप की अभिव्यक्तिरूप मुक्ति को नहीं मानते हैं, अतः ये न्याय से संगत नहीं होते हैं।

प्रकृत्यधिकरण (७)

निमित्तमेव ब्रह्म स्यादुपादानं च वीक्षणाद् ।
कुलालवन्निमित्तं तन्नोपादानं मृदादिवत् ॥ १ ॥
बहु स्यामित्युपादानभावोऽपि श्रुत ईक्षितुः ।
एकबुद्धया सर्वधीश्च तस्माद्ब्रह्मोभयात्मकः ॥ २ ॥

भावी ईश्वर माया शक्ति द्वारा जगत् की प्रकृति (उपादानकरण) भी है। ऐसा ही होने पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अनुपरोध (अवाध-अनिवारण) है। यहाँ संशय होता है कि ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण ही है, या उपादान भी। पूर्वपक्ष है कि वीक्षण के श्रवण से चेतन कुलालादि के समान निमित्त कारण ही है मृदादि के समान उपादान नहीं। सिद्धान्त है कि ईक्षणकर्ता ईश्वर की उपादानता भी (बहु स्याम्) इस श्रुति में सुनी गई है, एवं एक ब्रह्म के ज्ञान से सबका ज्ञान सुना गया है, अतः वह उपादान के बिना हो नहीं सकता, अर्थात् ब्रह्मनिमित्त और उपादान उभय (दोनों) कारण स्वरूप हैं।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

यथाभ्युदयहेतुत्वाद्धर्मो जिज्ञास्य एवं निःश्रेयसहेतुत्वाद्ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्, ब्रह्म च 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२) इति लक्षितम्। तच्च लक्षणं घटरुचकादीनां मृत्सुवर्णादिवत्प्रकृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिवन्निमित्तत्वे च

समानामित्यतो भवति विमर्शः—किमात्मकं पुनर्ब्रह्मणः कारणत्वं स्यात्--इति। तत्र निमित्तकारणमेव तावत्केवलं स्यादिति प्रतिभाति। कस्मात्? ईक्षापूर्वककर्तृत्वश्रवणात् ईक्षापूर्वकं हि ब्रह्मणः कर्तृत्वमवगम्यते—'स ईक्षांचक्रे' (प्र० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। ईक्षापूर्वकं च कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु दृष्टम्। अनेककारकपूर्विका च क्रियाफलसिद्धिर्लोके दृष्टा।

अभ्युदय रूप स्वर्गादि के हेतु होने से जैसे धर्म जिज्ञास्य (विचारणीय) है। इसी प्रकार मोक्ष का हेतु होने से ब्रह्म भी जिज्ञास्य है, यह पहले कहा गया है। एवं (जन्माद्यस्य यतः) इससे ब्रह्म का लक्षण कहा गया है। वह लक्षण, घट और रुचक (भूषण विशेष) आदि के जैसे मिट्टी, सुवर्णादि उपादान कारण होते हैं, वैसे ही ब्रह्म में जगत् प्रकृतित्व (उपादानत्व दशा में, कुम्हार, सोनार के समान निमित्तत्व दशा में तुल्य है। इससे भेद ज्ञान के लिए विमर्श (विचार से संशय) होता है कि ब्रह्म की कारणता किस स्वरूप से हो सकती है? वहां पहले भासता है कि ब्रह्म केवल निमित्तकारण ही हो सकता है, क्योंकि ईक्षण आलोचनपूर्वक कर्तृता सुनी गई है। इससे ईक्षापूर्वक ही ब्रह्म के कर्तृत्व अवगत ज्ञात होते हैं (वह ईक्षण क्रिया) और (वह प्राण की सृष्टि क्रिया) इत्यादि श्रुतियों से उक्तार्थ ही सिद्ध होता है। लोक में भी ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व-निमित्त कारणरूप कुम्भकारादि में ही देखा गया है। अनेक कारकपूर्वक क्रियाफल की सिद्धि लोक में देखी गई है। अर्थात् निमित्त और उपादान रूप भिन्न कारण से घटादि की सिद्धि देखी गई है।

स च न्याय आदिकर्तर्यपि युक्तः संक्रमयितुम्। ईश्वरत्वप्रसिद्धेश्च। ईश्वराणां हि राजवैवस्वतादीनां निमित्तकारणत्वमेव केवलं प्रतीयते तद्वत्परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वमेव युक्तं प्रतिपत्तुम्। कार्यं चेदं जगत्सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यं, कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनाद् ब्रह्म च नैवंलक्षणमवमन्यते 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः। पारिशेष्याद्ब्रह्मणोऽन्यदुपादानकारणमशुद्ध्यादिगुणकं स्मृतिप्रसिद्धमभ्युपगन्तव्यम्। ब्रह्मकारणत्वश्रुतेर्निमित्तत्वमात्रे पर्यवसानादिति।

यही लौकिक न्याय आदि कर्ता ईश्वर में भी संक्रम (प्राप्ति) कराने योग्य है। अर्थात् ईश्वर भी स्वभिन्न उपादान सहित होकर जगत् रचता है, अकेला नहीं। एवं ईश्वरत्व की प्रसिद्धि से भी ईश्वर उपादान रूप नहीं है, किन्तु केवल निमित्त रूप है। जिससे राजा और वैवस्वतमनु आदि रूप ईश्वरों को केवल निमित्त कारणत्व ही प्रतीत होता है, वैसे ही परमेश्वर का भी निमित्त कारणत्व ही समझने योग्य है। यह जगत् रूप कार्य सावयव अचेतन और अशुद्ध दीखता है। उसका उपादान कारण भी वैसा

ही होना चाहिये, क्योंकि कार्य और उपादान कारण में समान रूपता (तुल्यता) देखी जाती है। ब्रह्म इस प्रकार वाला (सावयवादि स्वरूप वाला) अवगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि (ब्रह्म निरवयव क्रिया रहित परिणामादि रहित निर्दोष तमः परिवर्जित है) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म में सावयवता आदि का अभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार ब्रह्म को जगत् के सदृश नहीं हो सकने पर ब्रह्म से अन्य अशुद्धि आदि गुण वाला सांख्य स्मृति में प्रसिद्ध ही उपादान कारण परिशेषता से मानने योग्य है, और ब्रह्म के कारणत्व विषयक श्रुति का ब्रह्म के निमित्त कारणत्व मात्र में पर्यवसान (समाप्ति तात्पर्य) होने से विरोध नहीं है। उक्त परिशेष से कारणत्व की सिद्धि होती है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'प्रकृतिश्च' उपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव। कस्मात् ? प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते। प्रतिज्ञा तावत्—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छां० ६।१।२) इति। तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते, तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य, निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति, लोके तक्ष्णः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात्। दृष्टान्तोऽपि—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्युपादानकारणगोचर एवाम्नायते तथा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' 'एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्' (छां० ६।१।४,५,६) इति च। तथान्यत्रापि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।२) इति प्रतिज्ञा, 'यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति' (मुण्ड० १।१।७) इति दृष्टान्तः, तथा 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्' इति प्रतिज्ञा, 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' (बृ० ४।५।६,८) इति दृष्टान्तः।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं कि प्रकृतिश्च। ब्रह्म को उपादान कारण और निमित्त कारण भी मानना चाहिये, केवल निमित्त कारण ही नहीं, क्योंकि निमित्त और उपादान उभयस्वरूप ब्रह्म को ही मानने पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अनुपरोध (अबाध) होता है। अर्थात् ब्रह्म को उभय कारण मानने से श्रुति में वर्णित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त उपरुद्ध (बाधित) नहीं होते हैं। पहले प्रतिज्ञा है कि (तुमने क्या उस उपदेश को भी गुरु से पूछा था, कि जिस उपदेश के सुनने से अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, जिसके मनन से मनन रहित भी मनन का विषय हो जाता है, और जिसके विज्ञान से अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है) उस प्रतिज्ञा में एक के विज्ञात होने से अन्य सब अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है। इस अर्थ की प्रतीति

होती है वह उपादान कारण के विज्ञान से सबका विज्ञान होना सम्भव है, क्योंकि उपादान कारण से कार्य का अभेद होता है, और निमित्त कारण से अभेद तो कार्य का नहीं होता है क्योंकि प्रासाद (महल) को बनाने वाले तक्षा (बढ़ई) को लोक में प्रासाद से भेद देखा जाता है। दृष्टान्त भी उपादान कारण विषयक ही कहा जाता है कि (हे सोम्य ! जैसे ज्ञात एक मृत् पिण्ड से मिट्टी के सब कार्य विज्ञात होते हैं, क्योंकि वाक से आरम्भ जिसका होता है, ऐसा नाम मात्र विकार कार्य है, मृत्तिका ही सत्य है) इसी प्रकार (एक लोहमणिसुवर्णपिण्ड से सब लौह सुवर्णमय कार्य विज्ञात होता है) और (एक नख निकृन्तन (नहरनी) का हेतु लौहपिण्ड से लौह के कार्य सब ज्ञात होते हैं) ऐसे ही अन्यत्र भी प्रतिज्ञा है कि (हे भगवन् किसके विज्ञात होने से यह सब जगत् विज्ञात होता है) और दृष्टान्त है कि जैसे भूमि में औषधियाँ होती हैं। इसी प्रकार प्रतिज्ञा है कि (अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही के दृष्ट श्रुत मत और विज्ञात होने पर यह सब विदित (ज्ञात) हो जाता है। अन्य दृष्टान्त है कि (कारण से पृथक् कार्य गृहीत नहीं होता है, जैसे बजाई जाती हुई दुन्दुभी के बाह्य शब्दों का ग्रहण नहीं कर सकते हैं, परन्तु दुन्दुभि के ग्रहण से या दुन्दुभि को बजाने वाले के ग्रहण से सब दुन्दुभि के शब्द गृहीत होते हैं।

एवं यथासम्भवं प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ प्रकृतित्वसाधनौ प्रत्येतव्यौ। यत इतीयं पञ्चमी 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० सू० १।४।३०) इति विशेषस्मरणात्प्रकृतिलक्षण एवापादने द्रष्टव्या। निमित्तत्वं त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्तव्यम्। यथाहि लोके मृत्सुवर्णादिकमुपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीनधिष्ठातॄनपेक्ष्य प्रवर्तते नैवं ब्रह्मण उपादानकारणस्य समोऽन्योऽधिष्ठातापेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेरेकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्। अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेवोदितो वेदितव्यः। अधिष्ठातरि ह्युपादानादन्यस्मिन्नभ्युपगम्यमाने पुनरप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्यासंभवात्प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोध एव स्यात्। तस्मादधिष्ठात्रन्तराभावादात्मनः कर्तृत्वमुपादानान्तराभावाच्च प्रकृतित्वम् ॥ २३ ॥

प्रत्येक वेदान्त में इसी प्रकार के प्रकृतित्व (उपादानत्व) के साधनरूप प्रतिज्ञा और दृष्टान्त को यथासम्भव (सम्भव के अनुसार) समझना चाहिए। एवं (जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि अर्थ को कहने वाली श्रुति में (यतः) यह पञ्चमी विभक्तियुक्त पद है, वहाँ (जनिकर्तुः प्रकृतिः) इस विशेष सूत्र से प्रकृति रूप उपादान अर्थ में ही पञ्चमी विभक्ति समझनी चाहिये। इस प्रकार ब्रह्म को जगत् प्रकृतित्व होने पर भी अन्य अधिष्ठाता के अभाव से निमित्त कारणत्व भी ब्रह्म में समझना चाहिये जिससे लोक में मिट्टी सुवर्णादि रूप उपादान कारण, कुलाल (कुम्भकार) सुवर्णकारादि रूप अधिष्ठाता की अपेक्षापूर्वक कार्य सिद्धि के लिए

प्रवृत्त होता है, स्वयं नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म को उपादान कारण होने पर भी अन्य अधिष्ठाता अपेक्षित नहीं है, क्योंकि जगत् की उत्पत्ति से पहले एक ही अद्वितीय था, इस प्रकार अवधारण (नियम) किया गया है। और प्रतिज्ञा दृष्टान्त के अनुरोध रूप हेतु से ही अन्य अधिष्ठाता का अभाव भी उक्त ही समझना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मस्वरूप उपादान से अन्य अधिष्ठाता का स्वीकार करने पर, फिर भी एक के विज्ञान से सबके विज्ञान का असम्भव होने से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का बध ही होगा। इससे अन्य अधिष्ठाता के अभाव से आत्मा को ही कर्तृत्व है और अन्य उपादान के अभाव से प्रकृतित्व है। यहाँ अभिप्राय यह है कि—(तदधीनत्वादर्थवत्) इस सूत्र में स्वतन्त्र प्रकृति का निषेधपूर्वक ईश्वराधीन जगत् के बीज शक्तिरूप प्रकृति का स्वीकार किया ही गया है। एवं (मायां तु प्रकृतिं विद्यात्) इत्यादि श्रुति में स्पष्ट ही मायारूप शक्ति को प्रकृति कहा गया है, इससे परमात्मा को कूटस्थनित्यतादि का स्वीकार से परमात्मा में परिणामी उपादानता सर्वथा असम्भव है, तथापि शक्तिमान् का अवेद की दृष्टि से तथा माप की भिन्न सत्ता आदि के अभावादि की दृष्टि से प्रकृतिरूप माया की उपादानता तथा परिणाम को ब्रह्म में कल्पित ब्रह्ममात्र ही मानकर यह अधिकरण प्रवृत्त हुआ है ॥ २३ ॥

कुतश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे--

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

अभिध्योपदेशश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति च। तत्राभिध्यानपूर्विकायाः स्वातन्त्र्यप्रवृत्तेः कर्तेति गम्यते, बहु स्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वाद्बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते ॥ २४ ॥

एवं अन्य किस हेतु से आत्मा को कर्तृत्व और प्रकृतित्व है—

अभिध्या (सृष्टि संकल्प) भी आत्मा के कर्तृत्व और प्रकृतित्व दोनों के बोध कराते हैं--कि (उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ और उत्पन्न होऊँ) वहाँ अभिध्यानपूर्वक स्वाधीन प्रवृत्ति से कर्ता है ऐसी प्रतीति होती है और बहुत होऊँ, इस प्रकार बहुभवन के अभियान को प्रत्यगात्मविषयत्व से ब्रह्मात्मा प्रकृति है, यह भी समझा जाता है ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

प्रकृतित्वस्यायमभ्युच्चयः। इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं साक्षाद्ब्रह्मैव कारणमुपादायोभौ प्रभवप्रलयावाम्नायेते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छां० १।९।१) इति। यद्धि यस्मात्प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तत्तस्योपादानं प्रसिद्धम्, यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी :

साक्षादिति चोपादानान्तरानुपादानं दर्शयत्याकाशादेवेति। प्रत्यस्तमयश्च नोपादानादन्यत्र कार्यस्य दृष्टः ॥ २५ ॥

इस सूत्र में च शब्द से ब्रह्म के प्रकृतित्व का अभ्युच्चय (समुच्चय) किया गया है, अर्थात् ब्रह्म के प्रकृतित्व में दूसरा हेतु बताया गया है कि, इस कारण से भी ब्रह्म प्रकृति है जिस कारण से साक्षात् ब्रह्मरूप कारण का ग्रहण स्वीकार करके उत्पत्ति और प्रलय दोनों कहे जाते हैं कि (प्रसिद्ध ये सब ही भूत आकाश (विभु) परमात्मा से ही समुत्पन्न होते हैं, और आकाश ही में लीन होते हैं) एवं जो जिससे उत्पन्न होता है जिसमें लीन होता है, वह उसका उपादान होता है, यह प्रसिद्ध है। जैसे कि धान, जौ आदि का पृथिवी उपादान है। एवं सूत्रगत साक्षात् पद से दूसरे उपादान के अग्रहण को सूत्रकार दिखलावे वह 'आकाशादेव' इस श्रुति में एवकार से सूचित होता है। कार्य का प्रलय भी उपादान से अन्यत्र नहीं देखा गया है, इससे लयाधार ब्रह्म उपादान कारण है ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मप्रक्रियायाम् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।७) इत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति, आत्मानमिति कर्मत्वं, स्वयमकुरुतेति कर्तृत्वम्। कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं संपादयितुम्, परिणामादिति ब्रूमः। पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति। विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्धः, स्वयमिति च विशेषणान्निमित्तान्तरानपेक्षत्वमपि प्रतीयते। परिणामादिति वा पृथक्सूत्रम्। तस्यैषोऽर्थः—इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म यत्कारणं ब्रह्मण एव विकारात्मनायं परिणामः सामानाधिकरण्येनाम्नायते 'सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च' (तै० २।६) इत्यादिनेति ॥२६॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी ब्रह्म प्रकृति है कि जिस कारण से ब्रह्म सम्बन्धी सृष्टि के प्रकरण में (वह आत्मा को स्वयं संसार रूप बनाया) इस प्रकार आत्मा को कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों श्रुति दिखलाती है। (आत्मानम्) इस पद से कर्मत्व तथा 'स्वयमकुरुत' इससे कर्तृत्व। यहाँ शंका होती है कि क्रिया का आश्रयसिद्ध पदार्थ कर्ता होता है, और क्रियाजन्य साध्य पदार्थ कर्म होता है, वहाँ कर्ता रूप से व्यवस्थित (निश्चित) अत एव पूर्वसिद्ध सत्यात्मा में क्रियाजन्यत्व रूप कर्मत्व का सम्पादन (सिद्धि) कैसे कर सकते हैं? उत्तर है कि परिणाम से जिससे पूर्वसिद्ध होता हुआ भी आत्मा मायिक विकारात्मक विशेषरूप से अपनी मायामय आत्मा को परिणत कर दिया। मिट्टी आदि रूप प्रकृति में विकार रूप से परिणाम उपलब्ध (प्रत्यक्ष) है और स्वयम्, इस विशेषण से अन्य निमित्त की अनपेक्षता भी प्रतीत होती है। अथवा (परिणामात्) यह पृथक् सूत्र है, उसका यह अर्थ है कि इस कारण से भी ब्रह्म

प्रकृति है कि ब्रह्म का ही यह विकार (कार्य) रूप से परिणाम समानाधिकरणता के द्वारा कहा जाता है कि (वह ब्रह्म सत् प्रत्यक्ष, भूमि, जल, तेज, रूप और त्यत् परोक्ष वायु आकाश रूप तथा निर्वचन योग्य और निर्वचन के अयोग्य रूप हो गया) इत्यादि मे विकार को ब्रह्म के साथ समानाधिकरणता (एक विभक्ति वाच्य अभिन्नता) है इससे विकार की प्रकृतिता सिद्ध होती है ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्म योनिरित्यपि पठ्यते वेदान्तेषु 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' (मुण्ड० ३।१।३) इति, 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मुण्ड० १।१।६) इति च। योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके 'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्' इति। स्त्रीयोनेरप्यस्त्येवावयवद्वारेण गर्भं प्रत्युपादानकारणत्वम्। क्वचित्स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः—योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि' (ऋ० सं० १।१०४।१) इति। वाक्यशेषात्त्वत्र प्रकृतिवचनता परिगृह्यते 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (मु० १।१।७) इत्येवंजातीयकात्। तदेव प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम्। यत्पुनरिदमुक्तम्—ईक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु लोके दृष्टं नोपादानेषु—इत्यादि, तत्प्रत्युच्यते—न लोकवदिह भवितव्यम्, नह्ययमनुमानगम्योऽर्थः। शब्दगम्यत्वात्त्वस्यार्थस्य यथाशब्दमिह भवितव्यम्। शब्दश्चोक्षितुरीश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयतीत्यवोचाम। पुनश्चैतत्सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः ॥ २७ ॥

इस हेतु से भी ब्रह्म प्रकृति है कि वेदान्तों में ब्रह्म योनि है। इस प्रकार भी पढ़ते हैं कि (कर्ता नियन्ता पूर्ण ब्रह्म योनि वा ब्रह्मा की योनि प्रकृति) वा (भूत योनि को धीर लोग ध्यान से देखते हैं) यहाँ योनि शब्द प्रकृति का वाचक है यह लोक में समधिगत (प्रसिद्ध) है कि (औषधि वनस्पति की पृथिवी योनि है) इत्यादि। स्त्री की योनि को भी शोणित रूप अवयव द्वारा गर्भ के प्रति उपादानकारणत्व है ही। कहीं स्थान का वाचक भी योनि शब्द देखा गया है, जैसे कि (हे इन्द्र! तेरे निषद-स्थिति के लिए मैंने स्थान बनाया है) परन्तु वाक्य शेष से यहाँ प्रकृति वाचकता परिगृहीत की जाती है (जैसे मकड़ी तन्तु को रचती है और ग्रहण करती है) इस प्रकार के वाक्य शेष हैं। उनसे प्रकृति का ग्रहण होता है। इस प्रकार वह ब्रह्म का प्रकृतित्व प्रसिद्ध हुआ और जो पहले यह कहा था कि लोक में ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व कुलालादि निमित्त कारणों में ही देखा गया है, उपादानों में नहीं, उसके प्रति कहा जाता है कि यहाँ लोक के समान नहीं होना चाहिये। क्योंकि लोक के उदाहरणादि द्वारा अनुमान से गम्य (ज्ञेय) यह अर्थ नहीं है, कुलालादि तुल्य अनुमेय यदि ईश्वर होगा, तो कुलालादि के समान तटस्थ शरीरीआदि स्वरूप ही होगा। इससे इस अर्थ को शब्द प्रमाण से गम्य (ज्ञेय) होने से यहाँ शब्द के अनुसार अर्थादि होना चाहिये और शब्द

ईश्वर के प्रकृतित्व का प्रतिपादन करता है, यह कहा जा चुका है। फिर भी विस्तार से इन सब अर्थों को आगे कहेंगे ॥ २७ ॥

सर्वव्याख्यानाधिकरण (८)

अण्वादेरपि हेतुत्वं श्रुतं ब्रह्मण एव वा।
वटधानादिदृष्टान्तादण्वादेरपि तच्छ्रुतम् ॥ १ ॥
शून्याण्वादिष्वेकबुद्ध्या सर्वबुद्धिर्न युज्यते।
स्युर्ब्रह्मण्यपि धानाद्यास्ततो ब्रह्मैव कारणम् ॥ २ ॥

इस प्रधान कारणवाद का निराकरण से ही वेद विरुद्ध सब का निराकरण रूप व्याख्यान हो चुका है। सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि परमाणु शून्यादि को भी श्रुति में जगत् का कारणत्व सुनाया गया है, अथवा ब्रह्म का ही कारणत्व सुना गया है? पूर्वपक्ष है कि छान्दोग्य में बट बीज का दृष्टान्त जगत् के कारण को समझाने के लिये दिया गया है, और एक बट बीज को अत्यन्त पीस देने से अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण जो कुछ नहीं दीखता है, उसी को महान् बटवृक्ष का हेतु बताकर उसी प्रकार का जगत् कारण को समझा गया है, इससे अणु कारण वाद और शून्य कारणवाद भी सिद्ध होता है, क्योंकि वहाँ कहा गया है कि कुछ नहीं दीखता है, उससे कार्य होता है अणु से कार्य होता है इत्यादि। (अणोरणीयान्-असदेवेदमग्र आसीत्) इत्यादि श्रुति से भी अणु-वादादि की सिद्धि होती है। सिद्धान्त है कि शून्य अणुवादादि में एक ज्ञान से सबका ज्ञान नहीं हो सकता है, और इन्द्रिय की अविषयता सूक्ष्मता से बट-बीजादि का दृष्टान्त ब्रह्मविषयक ही है, इससे ब्रह्म ही कारण है ॥ १–२ ॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५) इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेवं पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन् प्रतिभान्तीति। स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य। देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः, तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो नाण्वादिकारणवादप्रतिषेधे तेऽपि तु ब्रह्मकारणवादपक्षस्य प्रतिपक्षत्वात्प्रतिषेद्धव्याः। तेषामप्युपोद्बलकं वैदिकं किंचिल्लिङ्गमापातेन मन्दमतीन् प्रतिभायादिति। अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति--एतेन प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेऽण्वादिकारणवादा अपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता वेदितव्याः। तेषामपि प्रधानवदशब्दत्वाच्छब्दविरोधित्वाच्चेति। व्याख्याता व्याख्याता इति पादाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥

—०—

ईक्षतेर्नाशब्दम्, यहाँ से आरम्भ करके सूत्रों द्वारा ही प्रधान कारणवाद की बार-बार आशंका करके सूत्रों से ही प्रधान कारणवाद निराकृत किया गया है। जिससे उस पक्ष के साधक पुष्टिकारक लिङ्गाभास (असत् लिंग) मन्दमति वालों को वेदान्तों में सामान्य दृष्टि से भासते हैं। एवं कार्यकारण के अभेद के स्वीकार से वह प्रधान कारणवाद वेदान्तवाद के प्रत्यासन्न (अतिसमीपवर्ती) है। देवल आदि कितने धर्मसूत्रकारों ने अपने ग्रन्थों में प्रधान कारणवाद का आश्रयण किया है। इस कारण से प्रधान कारणवाद के प्रतिषेध में अत्यधिक यत्न किया गया है। और अणु आदि कारणवाद के निषेध में यत्न नहीं किया गया है। परन्तु वे अणु आदि कारणवाद भी ब्रह्मकारणवाद रूप पक्ष (सिद्धान्त) के प्रतिपक्षत्व (विरोधिता) से प्रतिषेध के योग्य हैं। जब उनका भी प्रवर्द्धक (पोषक) कोई वैदिक लिङ्ग सामान्य दृष्टि से मन्दमति वालों को भासेगा, और भास सकता है। इससे प्रधान (मुख्य) मल्ल (योद्धा) निबर्हण (निवारण-विजय) न्याय से अतिदेश करते हैं (सादृश्य रूप से निषिद्ध दिखलाते हैं) कि इस प्रधान कारणवाद के निषेध रूप न्याय समूह से सब अणु आदि कारणवादों को भी प्रतिषिद्ध रूप से व्याख्यात (निराकृत) समझना चाहिये। क्योंकि उनको भी प्रधान के समान अशब्दत्व और शब्द से विरोधित्व है (व्याख्याता व्याख्याता:) यह पद का अभ्यास अध्याय की समाप्ति का द्योतक (प्रकाशक) है ॥ २८ ॥

मङ्गलं मङ्गलानां यज्ज्ञानानां ज्ञानमव्ययम्।
सत्यं सत्यस्वरूपाणां प्राणप्राणं नमाम्यहम् ॥ १ ॥
यस्मिन् मायामनोयोगाद् विविधाः सृष्टयो भृताः।
तं नौमि सच्चिदानन्द स्वात्मानमभयं विभुम् ॥ २ ॥
कार्यकारणताहीनं कार्यकारणतां गतम्।
मायया न स्वरूपेण तं ब्रह्मात्मानमाश्रये ॥ ३ ॥
यस्मिञ्ज्ञाते भवेज्ज्ञातं सर्वं सदसदात्मकम्।
द्वन्द्वजालं विनश्येत तं रामं सर्वगं भजे ॥ ४ ॥
जिज्ञासा ब्रह्मणः पुण्या लक्षणं पुण्यमुत्तमम्।
समन्वयोऽतिपुण्यात्मा सविशेषोऽत्र विद्यते ॥ ५ ॥
प्रकृतेः परपारस्य प्रकृतित्वं तु मायया।
इन्द्रो मायाभिरित्युक्ते विवर्तस्याश्रयो हरिः ॥ ६ ॥
प्रकृतिं स्वां ह्यधिष्ठाय संभवामीति चोक्तितः।
निर्विकारः सदा रामः सच्चिदानन्दलक्षणः ॥ ७ ॥
नैदाघकिरणे वारि यथा यस्मिन्निदं जगत्।
निर्मलं निर्विकारं तमात्मानं संस्मराम्यहम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये समन्वयाख्यः प्रथमोध्यायः।

[illegible]

अथ द्वितीयोऽध्यायः

[द्वितीये अविरोधाख्याध्याये सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च वेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारः]

स्मृत्यधिकरण (१)

प्रथमेऽध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणं मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम्। उत्पन्नस्य जगतो नियन्तृत्वेन स्थितिकारणं, मायावीव मायायाः। प्रसारितस्य च जगतः पुनः स्वात्मन्येवोपसंहारकारणम्, अवनिरिव चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य। स एव च सर्वेषां न आत्मेत्येतद्वेदान्तवाक्यसमन्वयप्रतिपादनेन प्रतिपादितम्। प्रधानादिकारणवादाश्चाशब्दत्वेन निराकृताः। इदानीं स्वपक्षे स्मृतिन्यायविरोधपरिहारः, प्रधानादिवादानां च न्यायाभासोपबृंहितत्वं, प्रतिवेदान्तं च सृष्ट्यादिप्रक्रियाया अविगीतत्वमित्यस्यार्थजातस्य प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते। तत्र प्रथमं तावत्स्मृतिविरोधमुपन्यस्य परिहरति—

नित्यानन्दस्वरूपाय निर्गुणाय समात्मने।
सर्वाविरुद्धमानाय रामाय गुरवे नमः॥

प्रथमाध्याय में वेदान्त वाक्यों के समन्वय के प्रतिपादन द्वारा यह प्रतिपादित हुआ है कि जैसे घट रुचकादि की उत्पत्ति के कारण मृत्तिका सुवर्णादि हैं, वैसे ही जगत् की उत्पत्ति का कारण सर्वज्ञ सर्वेश्वर है और जैसे उत्पन्न मायामय वस्तु का नियन्ता रूप से मायावी उसकी स्थिति का कारण होता है वैसे उत्पन्न जगत् का नियन्ता रूप से सर्वज्ञ सर्वेश्वर उसकी स्थिति का कारण है। पृथिवी जैसे अण्डजादि चारों प्रकार के भूत (प्राणी) के शरीर समूह को अपने में उपसंहार (विलय) का कारण है। वैसे ही प्रसारित विस्तृत जगत् का फिर अपने में उपसंहार का कारण सर्वज्ञ सर्वेश्वर है, और वही हम सब की आत्मा है। और अशब्दता से प्रधानाधिकारणवाद निराकृत हो चुके हैं। अर्थात् ये वाद सब श्रुतिसिद्ध नहीं हैं, इससे उनका निराकरण किया गया है। अब इस समय अपने पक्ष (सिद्धान्त) में स्मृति और न्याय के विरोधों का परिहार (निवारण), प्रधानादि कारणवादों की न्यायाभासजन्यता भ्रममूलकता, और प्रत्येक वेदान्त में सृष्टि आदि प्रक्रिया की अविरोधिता (श्रेष्ठता) इत्यादि अर्थ समूह के प्रतिपादन के लिए दूसरे अध्याय का आरम्भ किया जाता है। उनमें भी सबसे प्रथम स्मृति विरोध का प्रदर्शन कराकर उसका निवारण करते हैं कि—

सांख्यस्मृत्यास्ति संकोचो न वा वेदसमन्वये।
धर्मे वेदः सावकाशः संकोचोऽनवकाशता॥

प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिर्मन्वादिस्मृतिभिः स्मृतिः ।
अमूला कापिली बाध्या न संकोचोऽनया ततः ॥

पुरुषप्रधानादि का मोक्षोपयोगी विवेकादिमात्र के लिए प्रतिपादन करने वाली स्मृति की अनवकाशता (निष्प्रयोजनता) दोष की प्राप्ति से वेदान्त का ब्रह्ममें समन्वय ठीक नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रधानादि को मानने पर भी अन्य स्मृति की अनवकाशता दोष प्राप्त होता है। सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि वेदान्त का ब्रह्मविषयक समन्वय में सांख्यस्मृति से संकोच, तदन्यविषयत्व होता है वा नहीं। पूर्वपक्ष है कि वेदवेदान्त धर्मोपासनादि अर्थ में सावकाश हैं इससे अनवकाश स्मृति से उसका संकोच होता है। सिद्धान्त है कि प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक मनु आदि स्मृतियों से मूलरहित सांख्यस्मृतिबाधित निषिद्ध हो जाती है, जिससे वेदान्त के ब्रह्मविषयक समन्वय का संकोच नहीं हो सकता है ॥ १—२ ॥

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष-प्रसङ्गात् ॥ १ ॥

यदुक्तं—ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणम्—इति, तदयुक्तम् । कुतः ? स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् । स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता शिष्टपरिगृहीता, अन्याश्च तदनुसारिण्यः स्मृतयः, एवं सत्यनवकाशाः प्रसज्येरन् । तासु ह्यचेतनं प्रधानं स्वतन्त्रं जगतः कारणमुपनिबध्यते । मन्वादिस्मृतयस्तावच्चोदनालक्षणेनाग्निहोत्रादिना धर्मजातेनापेक्षितमर्थं समर्पयन्त्यः सावकाशा भवन्ति । अस्य वर्णस्यास्मिन् कालेऽनेन विधानेनोपनयनम् । ईदृशश्चाचारः इत्थं वेदाध्ययनम्, समावर्तनम्, इत्थं सहधर्मचारिणीसंयोग इति । तथा पुरुषार्थांश्च वर्णाश्रमधर्मान्नानाविधान् विदधति, नैवं कपिलादिस्मतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति । मोक्षसाधनमेव हि सम्यग्दर्शनमधिकृत्य ताः प्रणीताः । यदि तत्राप्यनवकाशाः स्युरानर्थक्यमेवासां प्रसज्येत । तस्मात्तदविरोधेन वेदान्ता व्याख्यातव्याः ।

पहले जो यह कहा गया है कि सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है, वह कहना अयुक्त (अनुचित) है, क्योंकि ऐसा मानने से स्मृति की अनवकाशतारूप दोष की प्राप्ति होती है। तन्त्र (शास्त्र) नाम वाली परमऋषि कपिल से प्रणीत (रचित) शिष्ट पुरुषों से गृहीत स्मृति है, और उसके अनुसारा अन्य भी स्मृतियाँ हैं। इस प्रकार ब्रह्म को कारण मानने पर अनवकाश (निरर्थक सिद्ध होगा) क्योंकि उन स्मृतियों में अचेतन स्वतन्त्र प्रधान जगत् का कारण स्वीकृत किया गया है। मनु आदि स्मृतियाँ तो विधिरूप अग्निहोत्रादिधर्म समूह से अपेक्षित अर्थ का समर्पण (बोध) कराती हुई सावकाश होती हैं। इस अमुक वर्ण का इस काल में इस विधि से उपनयन होना चाहिए, इस प्रकार का आचार होना चाहिए, इस प्रकार वेद का अध्ययन करना चाहिए, इस प्रकार समावर्तन (गृहस्थाश्रम में प्रवेश) होना चाहिए।

धर्माचरण करने वाली स्त्री के साथ इस प्रकार संयोग होना चाहिए। इन सब अर्थों को मनु आदि स्मृतियाँ बोध कराती हैं। केवल विधिरूप यागादि से अपेक्षित अर्थ का ही नहीं बोध कराती है, किन्तु इसी प्रकार वर्णाश्रम के लौकिक धर्मरूप नाना प्रकार के पुरुषार्थों (प्रयोजनों) का भी विधान करती हैं। कपिलादि स्मृतियों में इस प्रकार से अनुष्ठेय (कर्तव्य) विषय (कर्म) में अवकाश (सार्थकता) नहीं है। जिससे मोक्ष का साधन सम्यग्दर्शन (विवेकज्ञान) को ही लक्ष्य उद्देश्य करके वे स्मृतियाँ रची गई हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शन का प्रारम्भ करके सम्यग्दर्शन के अधिकारियों के लिए रची गयी हैं। यदि वहाँ भी अनवकाश होगो, (स्वतन्त्रप्रधानादि का बोध नहीं करा सकेंगी) तो इनको अनर्थकता ही प्राप्त होगी। जिससे उन स्मृतियों के साथ अविरोधपूर्वक वेदान्त का व्याख्यान कर्तव्य है।

कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमित्यवधारितः श्रुत्यर्थः स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेन पुनराक्षिप्यते। भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्र-प्रज्ञानाम्, परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकासु स्मृतिष्ववलम्बेरन्। तद्बलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन्। अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु। कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५।२) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं सम्भावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन चैतेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति। तस्मादपि स्मृति-बलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः।

यहाँ शंका होती है कि ईक्षणादि रूप हेतुओं से सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है इस वेदार्थ के अवधारित (निर्णीत होने पर फिर वह अवधारित अर्थ स्मृति अनवकाशता रूप दोष के प्रसंग से आक्षिप्त कैसे हो सकता है? अर्थात् श्रुति से विरुद्ध स्मृति अप्रमाण होती है। उसके साथ अविरोधपूर्वक वेदान्त का व्याख्यान करना चाहिए यह पूर्वपक्ष नहीं बन सकता है। ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि स्वतन्त्र बुद्धि वालों के लिए यह आक्षेप, (पूर्वपक्ष) नहीं हो सकता है। अर्थात् जो स्वतन्त्रतापूर्वक श्रुति के अर्थ को विचार सकते हैं, उनके लिए यह पूर्वपक्ष नहीं है। परन्तु मनुष्य प्रायः परतन्त्र बुद्धि वाले होते हैं, इससे स्वतन्त्रतापूर्वक श्रुति के अर्थ के अवधारण (निर्णय) करने के लिए असमर्थ होकर प्रख्यात प्रणेताओं से रचित स्मृतियों में अवलम्बित (श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त) होंगे, और उन स्मृतियों के बल से श्रुतियों के अर्थ को जानना चाहेंगे, एवं स्मृति के रचयिता में बहुमान (आदर-प्रतिष्ठा) होने से हमसे किए गये व्याख्यानों में विश्वास नहीं करेंगे। कपिलादि का आर्ष (वैदिक) अप्रतिहत (अविनाशी) ज्ञान कहा जाता है। और श्रुति भी है कि (जो परमात्मा सृष्टि के आदि-काल में जायमान (उत्पन्न होते हुए) कपिल ऋषि को उत्पन्न करता

है। और स्थिति काल में प्रसूत (उत्पन्न) उस ऋषि को जो ज्ञानों से पालन-पोषण करता है। उस परमात्मा को देखना चाहिए) इससे इन कपिलादि के मत अयथार्थ हैं, ऐसी सम्भावना नहीं कर सकते हैं। और ये लोग तर्क का अवलम्ब लेकर प्रधानादि अर्थ का प्रतिपादनादि रूप स्थापन करते हैं, इससे भी स्मृति बल से वेदान्त व्याख्यान के योग्य हैं यह फिर आक्षेप है।

तस्य समाधिः नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन्। ता उदाहरिष्यामः—'यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्' इति परं ब्रह्म प्रकृत्य 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह। तथान्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषं ब्रह्मन्निर्गुणं संप्रलीयते' इत्याह।

इस आक्षेप का समाधान है कि कपिल स्मृति के अनुसार वेदान्त का व्याख्यान हो नहीं सकता है, क्योंकि ऐसा करने से कपिल स्मृति से अन्य स्मृतियों की अनवकाशता रूप दोष की प्राप्ति होगी। यदि स्मृति के अनवकाशरूप दोष के प्रसंग से ईश्वर कारणवाद आक्षिप्त (अनादृत-त्यक्त) होगा तो इसी प्रकार ईश्वर को कारण कहने वाली अन्य स्मृतियाँ अनवकाशसिद्ध होंगी। और इस प्रकार अनवकाश होने वाली स्मृतियों का अभी उदाहरण देंगे कि (जो वह सूक्ष्म विशेषरूप से जानने के अयोग्य है) इस प्रकार परब्रह्म के निरूपण का आरम्भ करके (वही प्राणियों की अन्तरात्मा है और वही क्षेत्र कहा जाता है) इस प्रकार कह कर (हे द्विजसत्तम ! उससे तीन गुण वाला अव्यक्त उत्पन्न हुआ) इस प्रकार कहते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थान में भी (हे ब्रह्मन् ! निर्गुण पुरुष में अव्यक्त संप्रलीन होता है) इस प्रकार कहते हैं, ये इतिहास की बातें रहीं।

अतश्च संक्षेपमिमं श्रृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः।
स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः॥

इति पुराणे। भगवद्गीतासु च—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

(भ० गी० ७।६) इति। परमात्मानमेव च प्रकृत्यापस्तम्बः पठति—

तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः। (ध० सू० १।८।२३।२) इति। एवमनेकशः स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते। स्मृतिबलेन प्रत्यवतिष्ठमानस्य स्मृतिबलेनैवोत्तरं वक्ष्यामीत्यतोऽयमन्यस्मृत्यनवकाशदोषोपन्यासः दर्शितं तु श्रुतीनामीश्वरकारणवादं प्रति तात्पर्यम्। विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणमनपेक्ष्या इतराः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—

'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १।३।३) इति। नचातीन्द्रियानर्थान् श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभत इति शक्यं सम्भावयितुं निमित्ताभावात्।

पुराण में भी कहा है कि (इससे यह संक्षेप सुनो कि यह सब जगत् पुराण अनादि नारायण-सर्वाधिष्ठानस्वरूप है और वही नारायण सृष्टिकाल में सबको उत्पन्न करता है। और फिर प्रलयकाल में सबको अपने में लीन करता है।

भगवद्गीता में कहा है कि (मैं ही सब जगत् का प्रभव-उत्पादक और प्रलयाधार हूं) और—

परमात्मा का प्रसंग करके ही आपस्तम्ब पढ़ते (कहते) हैं कि (उस ईश्वर से ब्रह्मा आदि नाम वाले सब शरीर उत्पन्न होते हैं, इससे वह निमित्त कारण है, और वही सबका मूल=उपादान कारण है, और उपादान होते हुए भी शाश्वतिक सदा एक रस रहने वाला निर्विकार कूटस्थ है, अत एव नित्य अविनाशी है। इस प्रकार अनेक बार पुनः पुनः स्मृतियों में भी निमित्त कारण रूप से और उपादान रूप से ईश्वर प्रकाशित (उपदिष्ट) हैं। यद्यपि श्रुति विरोध से ही अनीश्वरवादी स्मृति का निराकरण हो सकता था, तथापि स्मृतिविरोध से स्मृतिबल से प्रत्यवस्थान (प्रतिपक्षविरोध) करने वाले को स्मृतिबल से ही उत्तर कहूँगा, इस विचार से यह अन्य स्मृति का अनवकाशरूप दोष कहा गया है। स्मृतियों का परस्पर विरोध होते हुए भी तत्त्व निर्णय का हेतु रूप श्रुतियों का ईश्वर कारणवाद के प्रति तात्पर्य को पहले दर्शित (प्रकट) कराया गया है। स्मृतियों की परस्पर विप्रतिपत्ति (विरोध) दशा में दोनों में से एक का त्याग अन्य का ग्रहण अवश्य कर्तव्य होने से श्रुति के अनुसारिणी ईश्वर की कारणादि मानने वाली स्मृतियाँ प्रमाण होने से ग्रहण योग्य हैं, और स्मृतियाँ अनपेक्ष्य (त्याज्य) अप्रमाण हैं। पूर्वमीमांसा के प्रमाण लक्षण (अध्याय) में कहा है कि (श्रुति से विरोध होने पर स्मृति अनपेक्ष (अप्रमाण त्याज्य) होती है, विरोध के नहीं रहने पर उसके मूलरूप श्रुति का अनुमान होता है) और श्रुति के बिना धर्मादि रूप अतीन्द्रिय अर्थों को कोई जानता है ऐसी सम्भावना नहीं कर सकते हैं, क्योंकि श्रुति के बिना अतीन्द्रिय अर्थ के ज्ञान के निमित्त कारण का अभाव रहता है।

शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वादिति चेत्? न। सिद्धेरपि सापेक्षत्वात्। धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः। स च धर्मश्चोदनालक्षणः। ततश्च पूर्वसिद्धायाश्चोदनाया अर्थो न पश्चिमसिद्धपुरुषवचनवशेनातिशङ्कितुं शक्यते। सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात्सिद्धानां प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृतिविप्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुतिव्यपाश्रयादन्यन्निर्णयकारणमस्ति। परतन्त्रप्रज्ञस्यापि नाकस्मात्स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः। कस्यचित्क्वचित्पक्षपाते सति पुरुषमतिवैश्वरूप्येण तत्त्वाव्यवस्थानप्रसङ्गात्। तस्मात्तस्यापि स्मृतिविप्रतिपत्त्यु-

पन्यासेन स्मृत्यनुसाराननुसारविषयविवेचनेन च सन्मार्गे प्रज्ञा संग्रहणीया। या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यं, कापिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्। भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्' (तै० सं० २२।१०।२) इति।

शंका होती है कि अप्रतिहत (अकुंठित) ज्ञान होने से कपिलादि सिद्धों को श्रुति के बिना भी अतीन्द्रिय अर्थों के ज्ञान की सम्भावना की जा सकती है। वहाँ कहा जाता है कि यदि ऐसे कोई शंका करे, तो वह कहना नहीं बन सकता, क्योंकि ईश्वर से अन्य की सिद्धि भी सापेक्ष कारणजन्य होती है, जिससे धर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा वाली धर्मजन्य सिद्धि होती है, और वह धर्म (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः) इस सूत्र के अनुसार विधिरूप लक्षण वाला पाप के सम्बन्ध से रहित होता है, इससे सिद्धि से पहले सिद्ध चोदना (विधि) रूप श्रुति का अर्थ पश्चात् सिद्ध पुरुष के वचन के वश से अतिशंकित (उल्लंघित) नहीं किया जा सकता है। अर्थात् श्रुति के मुख्यार्थ को त्याग कर गौणार्थता की शंका नहीं कर सकते हैं। सिद्धों के वचन का आश्रयण करके वेदार्थ की कल्पना मानने पर भी सिद्धों के बहुत होने से और पूर्वप्रदर्शित प्रकार (रीति) से सिद्धि की उक्त रूप स्मृतियों को भी विप्रतिपत्ति (विरोध) होने पर श्रुति के आश्रयण से अन्य निर्णय का कारण नहीं है, अर्थात् श्रुतिरूप आश्रय के बिना सिद्धोक्ति मात्र तत्त्व निर्णय का कारण नहीं है, इससे श्रुति को आश्रयण करने वाले मनु आदि से श्रुति के अर्थ का निर्णय हो सकता है अन्य से नहीं। इससे परतन्त्र बुद्धि वाले को भी अकस्मात् (निर्हेतुक) किसी स्मृतिविशेषविषयक पक्षपात होना युक्त नहीं है, किन्तु विचारादि कर्तव्य है, क्योंकि विचारादि के बिना किसी का कहीं पक्षपात होने पर पुरुष की बुद्धि ही विश्वरूपता (विचित्रता अनन्तता) से तत्त्व का अव्यवस्थान (अनिश्चय) प्राप्त होगा। इससे उस परतन्त्र बुद्धि वाले को भी स्मृतियों की विप्रतिपत्ति के उपन्यास (कथनादि) द्वारा श्रुति के अनुसार विषय का और श्रुतिविरुद्ध विषय का विवेचनपूर्वक श्रुति के अनुसार विषय (प्रतिपाद्यार्थ) वाली स्मृति कथित सन्मार्ग में बुद्धि संग्रहणीय (प्राप्त और स्थिर करने योग्य) हैं। और कपिल के ज्ञानातिशय (ज्ञानाधिक्य) को प्रदर्शन (बोध) कराने वाली जो श्रुति पहले प्रदर्शित करायी गई है, उससे श्रुतिविरुद्ध भी कपिलमत श्रद्धा के योग्य नहीं हो सकता है। क्योंकि (कपिलम्) यह श्रुति सामान्य मात्र है। अर्थात् श्रुतिकथित कपिल नाम समान (एकतुल्य) है, और कपिल नाम वाले अनेक हैं, इससे श्रुतिवर्णित सांख्य का कर्ता नहीं हैं, उस सांख्य कर्ता से अन्य सगर पुत्रों के प्रदाहक वासुदेव नामक कपिल का स्मृति में वर्णन है, इससे उनके ही ज्ञानातिशय का श्रुति में भी प्रदर्शित कराया

गया है, सांख्यकर्ता का नहीं। और दूसरी बात यह है कि (जो कपिल को ज्ञान से पोंछता है उसको देखना चाहिए, इस श्रुति में ईश्वर के दर्शन का विधान है, उसके अङ्ग (शेष) रूप से कपिल और उनके ज्ञान का अनुवादमात्र है, इससे प्रमाणान्तर से प्राप्ति रहित जो अन्यार्थक दर्शन (अनुवाद) है, वह अर्थ का असाधक है, उससे सर्वज्ञत्वादि की सिद्धि नहीं हो सकती है। मनु की महिमा को प्रख्यात करने वाली अन्य श्रुति है कि (मनु ने जो कुछ कहा है सो औषध है) और—

मनुना च—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ (१२।९१)

इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्द्यत इति गम्यते। कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते, आत्मभेदाभ्युपगमात्। महाभारतेऽपि च 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' इति विचार्य 'बहवः पुरुषा राजन्सांख्ययोगविचारिणाम्' इति परपक्षमुपन्यस्य तद्व्युदासेन—

बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते।
तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥

इत्युपक्रम्य—

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ॥
विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः।
एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥

इति सर्वात्मतैव निर्धारिता। श्रुतिश्च सर्वात्मतायां भवति—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ई० ७) इत्येवंविधा। अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारिमनुवचनविरुद्धं च, न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति। वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये। पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृस्मृतिव्यवहितं चेति विप्रकर्षः। तस्माद्वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः ॥ १ ॥

मनु ने तो—सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को देखता हुआ आत्मयाजी (ब्रह्मार्पण कर्ता) स्वयंप्रकाश मोक्षानन्द को प्राप्त करता है।

इस रीति से सर्वात्म दर्शन की प्रशंसा करते हुए कपिल मत की निन्दा की है, ऐसी प्रतीति होती है, आत्मा में भेद के स्वीकार से सर्वात्मत्व दर्शन (ज्ञान) को कपिल नहीं मानते हैं। और महाभारत में भी (हे ब्रह्मन् पुरुष आत्मा बहुत हैं, अथवा वे एक ही

है) इस प्रकार विचार कर (हे राजन् सांख्य योग के अनुसार विचार करने वालों के मत में आत्मा बहुत है) इस अन्य के पक्ष का कथन करके, उसका व्युदास (निषेध) द्वारा—

जैसे बहुत पुरुषाकार देहों की एक भूमियोनि उपादान कारण कही जाती है, वैसे ही सर्वज्ञत्वादि अधिक गुण वाला सर्वविश्वात्मक उस पुरुष को कहूँगा।

इस प्रकार आरम्भ करके--

जो मेरी अन्तरात्मा है, और तेरी अन्तरात्मा है, और जो अन्य देहों में स्थिर अन्तरात्मायें हैं, वह पुरुष सब अन्तरात्माओं का साक्षी स्वरूप है, (किसी से कहीं ग्रहण के योग्य नहीं है) और संसारी के सब शिर भुजा, पाद, आँख, नाक उसी के हैं। वह भूतों में अकेला विचरता है (प्रकाशता है और स्वतन्त्र सुखस्वरूप है) इस प्रकार महाभारत में भी सर्वात्मत्व ही निर्धारित किया गया है। सर्वात्माविषयक श्रुति भी है कि--

जिस ज्ञानकाल में सब प्राणी आत्म स्वरूप ही निश्चित हो गये, उस काल में उस विज्ञानी की एकत्वदर्शी को कौन मोह और कौन शोक रह सकता है ?

इस प्रकार की श्रुति है, इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा में भेद की कल्पना से भी कपिल का तन्त्र (शास्त्र) वेद और वेदानुसारि मनुवचन से विरुद्ध है, केवल स्वतन्त्र प्रकृति की कल्पना ही से वेदादि में विरुद्ध है ऐसी बात नहीं है। रूप के प्रकाशन में सूर्य के समान वेद को अपने अर्थ में निरपेक्ष (स्वतः) प्रमाणता है, और पुरुष के वचनों को मूलान्तरापेक्ष प्रमाणता होती है। वक्ता के स्मरण से व्यवहित प्रमाणता होती है, अर्थात् वक्ता मूलार्थ स्मरण करता है। वहाँ यदि स्मरण यथार्थ होता है, तो स्मरणजन्य वचन प्रमाण होता है, अन्यथा नहीं, इससे श्रुति की अपेक्षा स्मृति की प्रमाणता विप्रकर्ष (दूर) है, श्रुति स्मृति में यही भेद है। वेद से विरुद्ध विषय में स्मृति की अनवकाशता की प्राप्ति दोष नहीं है ॥ १ ॥

कुतश्च स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः—

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके वोपलभ्यन्ते। भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम्। अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते। यदपि क्वचित्तत्परमिव श्रवणमवभासते तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० १।४।१) इत्यत्र। कार्यस्मृतेरप्रामाण्यात्कारणस्मृतेरप्यप्रामाण्यं युक्तमित्यभिप्रायः। तस्मादपि न स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो दोषः। तर्कावष्टम्भं तु 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र० २।१।४) इत्यारभ्योन्मथिष्यति ॥ २ ॥

किस हेतु से स्मृति का अनवकाशप्रसंग दोष नहीं है—

प्रधान से भिन्न प्रधान के परिणाम रूप से जो स्मृति में कल्पित हैं, वे महत्तत्वाहंकारादि लोक वा वेद में नहीं उपलब्ध (ज्ञान-प्राप्त) होते हैं। जिससे भूत और इन्द्रियाँ तो लोक और वेद में प्रसिद्धता से स्मृति में प्रतिपादित (स्मृत) हो सकते हैं। परन्तु लोक वेद में प्रसिद्धता से बाह्य षष्ठ (छठें) इन्द्रियार्थ के समान महत्तत्वादि की स्मृति नहीं हो सकती है। अर्थात् जैसे श्रोत्रादि पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रिय प्रसिद्ध हैं, और शब्दादि पाँच इन्द्रियार्थ प्रसिद्ध हैं। इनसे भिन्न बाह्यज्ञान इन्द्रिय और उसका विषय अप्रसिद्ध है, वैसे ही महत्तत्वादि अप्रसिद्ध हैं, उनका स्मृति से प्रतिपादन ठीक नहीं है। जो कहीं (महतः परमव्यक्तम्) इत्यादि वाक्य में महत्तत्वादि के प्रतिपादनपरक के समान श्रवण प्रतीत होते हैं, वे भी अन्यार्थपरक हैं, जिनके (आनुमानिकम्) इत्यादि सूत्र में व्याख्यान हो चुके हैं। इस प्रकार महत्तत्वादि कार्य-विषयक स्मृति के अप्रमाण होने से कारणरूप प्रधानविषयक स्मृति भी अप्रमाण है, इससे इसकी अप्रमाणता युक्त है, यह इस सूत्र का अभिप्राय है। इससे भी स्मृति का अनवकाशप्रसंग दोष नहीं है, सांख्य के तर्क का अवलम्बन करें तो (न विलक्षणत्वात्) इस सूत्र से आरम्भ करके खण्डन करेंगे ॥२॥

योगप्रत्युक्त्यधिकरण (२)

योगस्मृत्यास्ति संकोचो न वा योगो हि वैदिकः।
तत्त्वज्ञानोपयुक्तश्च ततः संकुच्यते तया ॥
प्रमापि योगे तात्पर्यादतात्पर्यान्न सा प्रमा।
अवैदिके प्रधानादावसंकोचस्तयाप्यतः ॥

इस सांख्य के खंडन से ही श्रुति से विरुद्धांश में योग का भी खण्डन हो गया। शंका होती है कि योगरूप स्मृति से वेदान्त के समन्वय का संकोच होता है कि नहीं ? पूर्वपक्ष है कि योग वैदिक पदार्थ है और तत्त्वज्ञान में उपयुक्त (सहायक हेतु) है, इससे इस योग स्मृति से समन्वय संकुचित होता है। सिद्धान्त है कि योग स्मृति का योग में तात्पर्य है, इसलिए वह योगविषयक प्रमा (प्रमाण) रूप है। अवैदिक प्रधानादि में उसका तात्पर्य नहीं है, इसलिए प्रधानादि अर्थ में वह प्रमाण नहीं है, इससे उससे भी समन्वय का संकोच नहीं होता है ॥ १-२ ॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति। तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते। नन्वेवं सति समानन्यायत्वात्पूर्वेणैवैतद्गतं किमर्थं पुनरतिदिश्यते ? अस्ति ह्यत्राभ्यधिका शङ्का। सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५) इति। 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे० २।८) इत्यादिना चासनादिकल्प-

नापुरःसरं बहुप्रपञ्चं योगविधानं श्वेताश्वतरोपनिषदि दृश्यते। लिङ्गानि च वैदिकानि योगविषयाणि सहस्रश उपलभ्यन्ते 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' (का० २६।११) इति। 'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्' (का० २।६।१८) इति चैवमादीनि। योगशास्त्रेऽपि 'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः' इति सम्यग्दर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते। अतः संप्रतिपन्नार्थैकदेशत्वादष्टकादिस्मृतिवद्योगस्मृतिरप्यनपवदनीया भविष्यतीति। इयमप्यधिका शङ्काऽतिदेशेन निवर्त्यते, अर्थैकदेशसंप्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्तेः पूर्वोक्ताया दर्शनात्। सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु सांख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः। सांख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेनोपबृंहितौ–'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे० ६।१३) इति। निराकरणं तु न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेयसमधिगम्यत इति।

इस सांख्य स्मृति के प्रत्याख्यान से योग स्मृति भी प्रत्याख्यात (खण्डित) हो गई, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार यहाँ पूर्वन्याय का अतिदेश करते हैं। क्योंकि उस योग में भी श्रुति के विरोधपूर्वक स्वतन्त्र ही प्रधान रूप कारण और लोक वेद में अप्रसिद्ध महत्तत्त्वादि कार्य काल्पनिक माने जाते हैं। यहाँ शंका होती है कि यदि सांख्ययोग की ऐसी तुल्यता है तो समान (एक) न्याय दोनों के लिए होने से पूर्वाधिकरण से ही यह गतार्थ हो चुका है, किस प्रयोजन के लिए फिर यहाँ अतिदेश किया जाता है। उत्तर है कि पूर्व की अपेक्षा यहाँ अधिक आशंका है, उसकी निवृत्ति के लिए अतिदेश है, अधिक आशंका यह है कि सम्यग्दर्शन का श्रेष्ठ उपायरूप योग वेद में विहित है कि (आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिये) श्रवण मनन योग के साधन हैं और निदिध्यासन योग है। (उर-ग्रीवा-शिर ये तीनों जिसमें उन्नत (ऊँचे) हों ऐसे शरीर को सम सीधा स्थिर करके मन से इन्द्रियों को रोक कर विद्वान् संसार सागर को तरे) इत्यादि वचनों द्वारा आसनादि की कल्पनापूर्वक बहुत विस्तारयुक्त योग का विधान श्वेताश्वतर उपनिषद् में देखा जाता है, और योग विषयक हजारों लिङ्ग (हेतुरूप अर्थवाद) उपलब्ध होते हैं। जैसे कि (उस इन्द्रियों की स्थिर धारणा को योगवेत्ता योग मानते हैं) (उक्त इस ब्रह्मविद्या को और सम्पूर्ण योगविधि को गुरुकृपा से प्राप्त करके नचिकेता ने ब्रह्म को प्राप्त किया) इत्यादि योग के ज्ञापक लिंग हैं। और योगशास्त्र में भी (अथ तत्त्वज्ञान का उपाय योग कहा जाता है)। इस रीति से सम्यग्दर्शन का उपाय रूप से ही योग का स्वीकार किया जाता है, इससे संप्रतिपन्न (अविरुद्ध प्रामाणिक) एकदेश (योगांश) वाली होने से (अष्टकाः कर्तव्याः) अष्टका कर्तव्य है इत्यादि स्मृति के समान योगस्मृति भी अपवाद (निन्दा निषेध) के योग्य नहीं होगी, उससे स्वतन्त्र प्रधानादि अंश में भी स्वीकार के योग्य होना चाहिये। यह अधिक शंका अतिदेश से निवृत्त की जाती है, क्योंकि योग रूप अर्थ के एकदेश में

सम्प्रतिपत्ति होते भी अर्थ के एकदेश में पूर्वोक्त विप्रतिपति (विरुद्धता) देखी जाती है। यद्यपि अध्यात्मविषयक बहुत स्मृतियाँ हैं तथापि उनके रहते हुए भी उनका निराकरण नहीं करके सांख्य और योग स्मृति के ही निराकरण में यत्न किया गया है, जिससे सांख्य और योग परम पुरुषार्थं (मोक्ष) के साधन रूप से लोक में प्रसिद्ध हैं। और शिष्ट (सत्यादि धर्मपरायण) से गृहीत (स्वीकृत) हैं, एवं वैदिक लिंग से प्रवर्धित पुष्ट हैं वैदिक लिङ्ग है कि (उस प्रसिद्ध सब कार्य के कारण और सांख्य और योग से प्राप्त होने योग्य देव को जानकर अविद्यादि सब बन्धन से मुक्त होता है।) वेद की अपेक्षा के बिना सांख्य ज्ञान से या योग मार्ग से मोक्ष नहीं प्राप्त होता है इसलिए यहाँ निराकरण किया गया है।

श्रुतिर्हि वैदिकादात्मैकत्वविज्ञानादन्यन्निःश्रेयससाधनं वारयति 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) इति। द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च नात्मैकत्वदर्शिनः। यत्तु दर्शनमुक्तं–तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्–इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते प्रत्यासत्तेरित्यवगन्तव्यम्। येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम्। तद्यथा—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१६) इत्येवमादिश्रुतिप्रसिद्धमेव पुरुषस्य विशुद्धत्वं निर्गुणपुरुषनिरूपणेन सांख्यैरभ्युपगम्यते। तथा च योगैरपि 'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः' (जाबा० ५) इत्येवमादि श्रुतिप्रसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं प्रव्रज्याद्युपदेशेनानुगम्यते। एतेन सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि। तथापि तर्कोपपत्तिभ्यां तत्त्वज्ञानायोपकुर्वन्तीति चेदुपकुर्वन्तु नाम। तत्त्वज्ञानं तु वेदान्तवाक्येभ्य एव भवति 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३।९।२६) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ॥ ३ ॥

वैदिक आत्म एकत्व के विज्ञान से अन्य मोक्ष साधन का श्रुति वारण (निषेध) करती है कि (उस एक आत्मा को ही जानकर मृत्युमय संसार से रहित हो सकता है। मोक्ष के लिए अन्य मार्ग नहीं है) और वे सांख्य और योग दर्शन वाले द्वैतवादी हैं, आत्म-एकत्ववादी नहीं हैं, और जो (सांख्ययोगाभिपन्नम्) यह वैदिक लिंग का दर्शन कहा है, वहाँ भी समीपता से वैदिक ज्ञान और ध्यान ही सांख्य और योग शब्द से कहा जाता है, ऐसा समझना चाहिए, और जितने अंश में सांख्य और योग श्रुति से विरुद्ध नहीं होते हैं, उतने अंशों में सांख्य योग स्मृति को सावकाशत्व (प्रमाणत्व) इष्ट है, सो सावकाशत्व इस प्रकार है कि (यह पुरुष आत्मा असङ्ग है) इत्यादि श्रुतियों में जैसे आत्मा विशुद्ध प्रसिद्ध है, उसी पुरुष के प्रसिद्ध विशुद्धत्व को निर्गुण पुरुष के निरूपण से सांख्यवादी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार योगवादी भी (संन्यासी कषाय वस्त्रधारी मुण्डित परिग्रह रहित रहे) इत्यादि श्रुति में विहित प्रसिद्ध ही निवृत्तिनिष्ठत्व को संन्यासादि के उपदेश से अनुसरण करते हैं। इस श्रुति विरोध से सब तर्कात्मक

स्मृति श्रुति विरुद्धांश में प्रति वक्तव्य (खण्डनार्ह) हैं। वे भी यदि तर्क (अनुमान) और युक्ति द्वारा तत्त्व ज्ञान के लिए उपकार करते हों तो उपकार करें, उस उपकारकांश का प्रतिषेध नहीं है। परन्तु तत्त्वज्ञान तो वेदान्त वाक्यों से ही होता है, केवल तर्कादि से नहीं, यह सिद्धान्त (वेदज्ञ से भिन्न उस विभु ब्रह्मात्मा को नहीं जानता है। उस उपनिषद् मात्र से ज्ञेय आत्मा को आप से पूछता हूँ) इत्यादि श्रुति कथनों से सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

विलक्षणत्वाधिकरण (३)

वैलक्षण्याख्यतर्केण बाध्यतेऽथ न बाध्यते।
बाध्यते साम्यनियमात्कार्यकारणवस्तुनोः॥
मृद्घटादौ समत्वेऽपि दृष्टं वृश्चिककेशयोः।
स्वकारणेन वैषम्यं तर्काभासो न बाधकः॥

(अस्य जगतो ब्रह्म वैलक्षण्यान्नैतद् ब्रह्मप्रकृतिकम्, वैलक्षण्यं च शब्दादगम्यते) इस जगत् में ब्रह्म से विलक्षणता है, इसलिए यह ब्रह्म रूप प्रकृति वाला नहीं है, और वह विलक्षणता श्रुति से प्रतीत होती है। यह पूर्वपक्षरूप सूत्र है। संशय होता है कि ब्रह्म और जगत् में विलक्षणता नामक तर्क (अनुमान हेतु) से समन्वय बाधित होता है, अथवा नहीं। पूर्वपक्ष है कि उपादान कारण और कार्य में समता का नियम है, इससे समन्वय बाधित होता है। सिद्धान्त है कि मिट्टी घटादिरूप कारण और कार्य में समता होते हुए भी वृश्चिक (विच्छू) और केश को अपने कारण के साथ विलक्षणता देखी जाती है, अर्थात् जड़ गोबर से चेतन विच्छू उत्पन्न होता है, चेतन शरीर से जड़ केश उत्पन्न होता है, इससे तर्काभास (असत्तर्क) समन्वय का बाधक नहीं है ॥ १–२ ॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥

ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्याक्षेपः स्मृतिनिमित्तः परिहृतः। तर्कनिमित्त इदानीमाक्षेपः परिह्रियते। कुतः पुनरस्मिन्नवधारित आगमार्थे तर्कनिमित्तस्यावकाशः। ननु धर्म इव ब्रह्मण्यप्यनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति। भवेदयमवष्टम्भो यदि प्रमाणान्तरानवगाह्य आगममात्रप्रमेयोऽयमर्थः स्यादनुष्ठेयरूप इव धर्मः। परिनिष्पन्नरूपं तु ब्रह्मावगम्यते। परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणामस्त्यवकाशो यथा पृथिव्यादिषु। यथा च श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते, एवं प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयेत। दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते। विप्रकृष्यते तु श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात्। अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमविद्याया निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयेष्यते।

इस जगत् का ब्रह्म निमित्त कारण है, और प्रकृति (उपादान कारण) भी ब्रह्म ही है, इस पक्ष के स्मृति निमित्तक आक्षेप का परिहार (निवारण) किया गया। अब

इस समय तर्क निमित्तक (तर्कजन्य) आक्षेप का परिहार किया जाता है। यहाँ शंका होती है कि स्वतः प्रमाणरूप वेद से अवधारित (निश्चित) इस वेदार्थ में पुनः तर्क निमित्तक आक्षेप का अवकाश किससे हो सकता है कि जिसका परिहार किया जाता है। यदि कहा जाय कि तर्क भी वेदार्थ के निर्णय में सहायक माना गया है, अतः तर्क से आक्षेप भी हो सकता है, तथापि आशंका होती है कि शक्ति तात्पर्यादि के ज्ञान के लिए तर्क की अपेक्षा होने पर भी जैसे धर्म में वेद तर्कादि की अपेक्षा बिना स्वतः प्रमाण है, वैसे ही ब्रह्म में भी अनपेक्ष प्रमाण होने योग्य है। इस शंका का पूर्वपक्षसाधक उत्तर है कि यह धर्म का अवष्टम्भ (दृष्टान्त) तब होता है कि जब यह ब्रह्म स्वरूप वेदार्थ भी प्रमाणान्तर से अग्राह्य वेदमात्र से प्रमेय और धर्म के समान अनुष्ठेय (साध्य) स्वरूप होता, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि परिनिष्पन्न (सिद्ध) स्वरूप ब्रह्म वेद से जाना जाता है, और सिद्ध वस्तु पृथिवी आदि के समान सिद्ध ब्रह्म में प्रमाणान्तर का भी अवकाश है। जैसे श्रुतियों का परस्पर विरोध होने पर एक प्रधान श्रुति के अनुसार दूसरी अप्रधान अर्थवादादि श्रुतियाँ प्राप्त की जाती हैं, निरवकाश श्रुति के अनुसार सावकाश श्रुतियों का अर्थ किया जाता है, वैसे ही प्रमाणान्तर से विरोध होने पर भी उस प्रमाणान्तरवश से उसके अनुसार ही श्रुति प्राप्त होगी। दृष्ट अनुभूत अर्थ की समता (दृष्टान्त) से अदृष्ट अर्थ का समर्थन (प्रतिपादन) करती हुई युक्ति अनुभव के निकटवर्ती है, उससे शीघ्र अनुभव होता है। ऐतिह्य (परम्पराश्रुत) मात्र से अपने अर्थ को परोक्षरूप से कहने से श्रुति अनुभव से दूर सिद्ध होती है। और अविद्या का नाशक मोक्ष का साधन ब्रह्म विज्ञान दृष्टफलता से अनुभव रूप अवसान (सीमा) वाला इष्ट माना जाता है, क्योकि अनुभव के बिना परोक्ष ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति आदि नहीं हो सकती है।

श्रुतिरपि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्कमप्यत्रादर्तव्यं दर्शयति। अतस्तर्कनिमित्तः पुनराक्षेपः क्रियते 'न विलक्षणत्वादस्य' इति। यदुक्तं—चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिः–इति। तन्नोपपद्यते। कस्मात्? विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः। इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते। ब्रह्म च जगद्विलक्षणं चेतनं शुद्धं च श्रूयते। नच विलक्षणत्वे प्रकृतिविकारभावो दृष्टः नहि रुचकादयो विकारा मृत्प्रकृतिका भवन्ति शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतिकाः। मृदैव तु मृदन्विता विकाराः क्रियन्ते सुवर्णेन च सुवर्णान्विताः। तथेदमपि जगदचेतनं सुखदुःखमोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुःखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हतीति न विलक्षणस्य ब्रह्मणः। ब्रह्मविलक्षणत्वं चास्य जगतोऽशुद्धयचेतनत्वदर्शनादवगन्तव्यम्। अशुद्धं हि जगत्सुखदुःखमोहात्मकतया प्रीतिपरितापविषादादिहेतुत्वात्स्वर्गनरकाद्युच्चावचप्रपञ्चत्वाच्च। अचेतनं चेदं जगत्,

चेतनं प्रति कार्यकारणभावेनोपकरणभावोपगमात् । नहि साम्ये सत्युपकार्योपकारकभावो भवति नहि प्रदीपौ परस्परस्योपकुरुतः ।

'श्रोतव्यो मन्तव्यः' आत्मा श्रवण और मनन योग्य है । इस प्रकार की यह श्रुति भी श्रवण से भिन्न रूप से मनन का विधान करती हुई तर्क को भी आदरार्ह दिखलाती है, क्योंकि मनन तर्क विशेषरूप ही है । इस प्रकार तर्क का प्रवेश होने से तर्क निमित्तक पुनः आक्षेप किया जाता है कि (न विलक्षणत्वादस्य) इति । जो पहले कहा है कि चेतन ब्रह्म जगत् का प्रकृतिरूप कारण है, यह नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इस जगत् रूप विकार (कार्य) को ब्रह्मस्वरूप प्रकृति से विलक्षणत्व है । जिससे ब्रह्म के कार्यरूप अभिप्रेत स्वीकृत यह जगत् ब्रह्म से विलक्षण अचेतन और अशुद्ध दीखता है । जगत् से विलक्षण ब्रह्म चेतन और शुद्ध सुना जाता है, और विलक्षणता के रहते प्रकृति विकारभाव नहीं देखा गया है । रुचकादि भूषणरूप विकार मृत्तिका प्रकृति वाले नहीं होते हैं, अथवा शरावादि सुवर्ण प्रकृति (उपादान) वाले नहीं होते हैं । मृत्तिकायुक्त विकार मृत्तिका से किये जाते हैं । सुवर्ण युक्त विकार सुवर्ण से किये जाते हैं । उसी प्रकार अचेतन सुखदुःख मोहयुक्त होता हुआ यह जगत् भी सुखदुःखमोहात्मक अचेतन ही कारण का कार्य होने योग्य है, और जगत् से विलक्षण ब्रह्म का कार्य होने योग्य जगत् नहीं है । इस जगत् की ब्रह्म से विलक्षणता को जगत् में अशुद्धि अचेतनत्व के दर्शन से समझना चाहिये । और प्रीति (सुख) परिताप (शोक) विषाद (भ्रम) और रागद्वेषादि के हेतु होने से तथा स्वर्गनरकादि रूप उच्चावच (अनेक प्रकार के) विस्तार रूप होने से, यह जगत् सुखदुःखमोहात्मक त्रिगुणात्मक है ब्रह्मात्मक नहीं है । सुखदुःखमोहात्मक (त्रिगुणस्वरूप) होने से यह जगत् अशुद्ध है और चेतन के प्रति कार्यकरण (शरीर इन्द्रिय) भाव से साधनभाव के उपगम (प्राप्ति) से यह जगत् अचेतन है, क्योंकि समता होने पर उपकार्य उपकारक भाव नहीं हो सकता है । यहाँ चेतन उपकार्य (भोगादि उपकार के योग्य) है, और शरीरादि अचेतन भोगादि में उपकारक हैं, यदि दोनों ब्रह्मस्वरूप हों तो यह व्यवस्था नहीं बन सकती है, क्योंकि दो प्रदीप परस्पर उपकार नहीं करते हैं ।

ननु चेतनमपि कार्यकारणं स्वामिभृत्यन्यायेन भोक्तुरुपकरिष्यति । न । स्वामिभृत्ययोरप्यचेतनांशस्यैव चेतनं प्रत्युपकारकत्वात् । यो ह्येकस्य चेतनस्य परिग्रहो बुद्ध्यादिचेतनभागः स एवान्यस्य चेतनस्योपकरोति नतु स्वयमेव चेतनश्चेतनान्तरस्योपकरोत्यपकरोति वा । निरतिशया ह्यकर्तारश्चेतना इति साङ्ख्या मन्यन्ते । तस्मादचेतनं कार्यकरणम् । न च काष्ठलोष्टादीनां चेतनत्वे किंचित्प्रमाणमस्ति । प्रसिद्धश्चायं चेतनाचेतनविभागो लोके । तस्माद्ब्रह्मविलक्षणत्वान्नेदं जगत्तत्प्रकृतिकम् ।

यदि कहा जाय कि चेतन भी शरीर और इन्द्रिय स्वामी और भृत्य की रीति से

भोक्ता के उपकार करेंगे, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि स्वामी और भृत्य में भी अचेतन शरीरादि अंश को ही चेतन के प्रति उपकारकत्व होता है। जिससे एक चेतन का जो बुद्धि आदि रूप अचेतन भागरूप परिग्रह (परिवार) रहता है, वही अन्य चेतन का उपकार करता है, स्वयं एक चेतन ही दूसरे चेतन का उपकार या अपकार नहीं करता है, क्योंकि सांख्यवादी मानते हैं कि अतिशय (उत्कर्षता) से रहित अकर्ता अनन्त चेतन हैं और उस उपकारकता से शरीर इन्द्रिय अचेतन हैं, काठ, लोष्ठ आदि की चेतनता में कोई प्रमाण नहीं है। एवं यह चेतन और अचेतन का विभाग लोक में प्रसिद्ध है। इससे ब्रह्म की विलक्षणता से सिद्ध होता है कि यह जगत् ब्रह्म प्रकृति वाला नहीं है।'

योऽपि कश्चिदाचक्षीत श्रुत्या जगतश्चेतनप्रकृतिकतां तद्बलेनैव समस्तं जगच्चेतनमवगमयिष्यामि, प्रकृतिरूपस्य विकारेऽन्वयदर्शनात्। अविभावनं तु चैतन्यस्य परिणामविशेषाद्भविष्यति। यथा स्पष्टचैतन्यानामप्यात्मनां स्वापमूर्च्छाद्यवस्थासु चैतन्यं न विभाव्यत एवं काष्ठलोष्टादीनामपि चैतन्यं न विभावयिष्यते। एतस्मादेव च बिभावितत्वाविभावितत्वकृताद्विशेषाद्रूपादिभावाभावाभ्यां च कार्यकरणानामात्मनां च चेतनत्वाविशेषेऽपि गुणप्रधानभावो न विरोत्स्यते। यथा च पार्थिवत्वाविशेषेऽपि मांससूपौदनादीनां प्रत्यात्मवर्तिनो विशेषात्परस्परोपकारित्वं भवत्येवमिहापि भविष्यति। प्रविभागप्रसिद्धिरप्यत एव न विरोत्स्यत इति।

जो कोई कहे कि जगत् की चेतन प्रकृतिता को सुन कर उस बल से ही समस्त जगत् को चेतन समझूँगा, और सिद्ध करूँगा। क्योंकि प्रकृति के स्वरूप का विकार में सम्बन्ध देखा जाता है, और जगत् में चेतनता की अनभिव्यक्ति अप्रतीति तो परिणाम विशेष से हो सकती है। अर्थात् सर्वत्र चेतनता के तुल्य रहते हुए भी अन्तःकरण से अन्य में चेतनता की अप्रतीति परिणाम की विलक्षणता से होती है। जैसे कि स्पष्ट चेतनता वाले आत्माओं की भी चेतनता सुषुप्ति, मूर्च्छादि अवस्थाओं में नहीं प्रतीति होती है। इसी प्रकार काष्ठ लोष्ठ आदि की चेतनता भी नहीं प्रतीत होगी। चेतनता के इस व्यक्तत्व अव्यक्तत्व कृत विशेष (भेद) से, तथा रूपादि के भाव और अभाव से देहेन्द्रियों का और आत्माओं को चेतनत्व के तुल्य होने पर भी गुणप्रधान भाव विरुद्ध नहीं होगा। और मांस, सूप (दाल) और ओदन (भात) आदि में पार्थिवत्व (पृथिवी कार्यत्व) के तुल्य रहते हुए भी प्रत्येक के स्वरूपवर्ती विशेषों से परस्पर उपकारित्व होता है। इसी प्रकार यहां चेतनमय संसार में भी परस्पर उपकारित्व होगा। एवं इस चैतन्य की अभिव्यक्ति अनभिव्यक्ति से ही जड़ चेतन का प्रविभाग की प्रसिद्धि विरुद्ध नहीं होगी।

तेनापि कथंचिच्चेतनाचेतनत्वलक्षणं विलक्षणत्वं परिह्रियेत। शुद्ध्याशुद्धित्वलक्षणं तु विलक्षणत्वं नैव परिह्रियते। नचेतरदपि विलक्षणत्वं परिहर्तुं शक्यत

इत्याह—तथात्वं च शब्दादिति। अनवगम्यमानमेव हीदं लोके समस्तस्य वस्तुनश्चेतनत्वं चेतनप्रकृतिकत्वश्रवणाच्छब्दशरणतया केवलयोत्प्रेक्ष्यते, तच्च शब्देनैव विरुध्येते। यतः शब्दादपि तथात्वमवगम्यते। तथात्वमिति प्रकृतिविलक्षणत्वं कथयति। शब्द एव 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' (तै० २।६) इति कस्यचिद्विभागस्याचेतनतां श्रावयच्चेतनाद्ब्रह्मणो विलक्षणमचेतनं जगच्छ्रावयति॥ ४॥

इस प्रकार कहने वाले से भी चेतनत्व अचेतनत्वरूप विलक्षणत्व किसी प्रकार परिहृत (निवारित) हो सकता है, परन्तु शुद्धित्व अशुद्धित्व रूप विलक्षणत्व तो उससे भी परिहृत नहीं होता है। वस्तुतः इतरत् (चेतनत्व अचेतनत्व) रूप विलक्षणत्व का भी परिहार नहीं किया जा सकता, इस आशय से कहते हैं कि (तथात्वं च शब्दादिति) लोक में समस्त पदार्थ चेतन नहीं प्रतीत होते हैं, इससे यह समस्त वस्तु के चेतनत्व सर्वथा अनवगम्यमान (अज्ञात) ही है। वह भी श्रुति में चेतन प्रकृतिजन्यता के श्रवण से और केवल श्रुतिरूप शब्द की शरणता (आश्रयता) से जगत् में चेतनता की उत्प्रेक्षा (कल्पना) की जाती है, तो भी शब्द (श्रुति) के साथ ही विरोधी सिद्ध होती है, जिससे शब्द से तथात्व समझा जाता है, तथात्व इस शब्द से प्रकृति विलक्षणत्व को कहते हैं। एवं (विज्ञानं चाविज्ञानं च) विज्ञान (चेतन) और अविज्ञान (जड) स्वरूप सत्य ब्रह्म हुआ यह शब्द (श्रुति) ही किसी विभाग की अचेतनता को सुनाता हुआ चेतन ब्रह्म से विलक्षण अचेतन जगत् का श्रवण करता है।

ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते, यथा 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' (श० प० ब्रा० ६।१।३।२।४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छां ६।२।३,४) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः, इन्द्रियविषयापि 'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः' (बृ० ६।१।७) इति, 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति' (बृ० १।३।२) इत्येवमाद्येन्द्रियविषयेति। अत उत्तरं पठति—

उक्तार्थ में शंका होती है कि यद्यपि अविज्ञान शब्द से ब्रह्मजन्य जगत् को ब्रह्म से विलक्षण अचेतन श्रुति कहती है, परन्तु कहीं श्रुति ही में अचेतनरूप से स्वीकृत भूत और इन्द्रियों को चेतनत्व भी सुना जाता है, जैसे कि (मृत्तिका बोली, जल बोला) (वह तेज देखा, जल देखा) इत्यादि रूप की भूत विषयक चेतनता बोधक श्रुतियाँ हैं। इन्द्रिय विषयक भी हैं कि (प्रसिद्ध ये प्राण-इन्द्रिय) सब अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करते हुए ब्रह्मा के पास में गये) (वे प्राणरूप देवों ने वाणी से कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान-उद्गातृकर्म करो) इस प्रकार की इन्द्रिय विषयक श्रुति है, इससे उक्त चेतनाचेतन का विभाग गौण है, ऐसी शंका उपस्थित हुई है इससे अब सांख्यवाद का उत्तर पढ़ते हैं कि—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

तुशब्द आशङ्कामपनुदति। न खलु मृदब्रवीदित्येवंजातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वमाशङ्कनीयम्, यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः। मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते न भूतेन्द्रियमात्रम्। कस्मात्? विशेषानुगतिभ्याम्। विशेषो हि भोक्तॄणां भूतेन्द्रियाणां च चेतनाचेतनप्रविभागलक्षणः प्रागभिहितः। सर्वचेतनतायां चासौ नोपपद्येत। अपि च कौषीतकिनः प्राणसंवादे करणमात्राशङ्काविनिवृत्तयेऽधिष्ठातृचेतनपरिग्रहाय देवताशब्देन विशिषन्ति— 'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति। 'ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' (२।१४) इति च।

सूत्रगत तुशब्द शंका का निवारण करता है कि (मृत्तिका बोली) इत्यादि श्रुतियों से भूत और इन्द्रियों के चेतनत्व की शंका नहीं करनी चाहिये, जिससे यह भूतेन्द्रिय के वस्तुतः चेतनरूप अभिमानी अधिष्ठातृ देवों का निर्देश (कथन) है। अर्थात् मृत्तिकादि के अभिमानी और वाक् आदि के अभिमानी देव सब, वदन (कथन) और संवदन (विवाद) आदि रूप चेतन के योग्य व्यवहारों में कर्तारूप से कहे जाते हैं, केवल जड़ भूतेन्द्रियमात्र नहीं कहे जाते हैं। क्योंकि विशेष और अनुगति से ऐसा ही सिद्ध होता है। जिससे भोक्ताओं और भूतेन्द्रियों का चेतन अचेतन का प्रविभाग स्वरूप विशेष (भेद) पहले कहा गया है, और सबकी चेतनता दशा में वह प्रविभागरूप विशेष नहीं सिद्ध हो सकेगा। दूसरी बात है कि कौषीतकी शाखा वाले प्राणों के संवाद के प्रकरण में करण (इन्द्रिय) मात्र की आशंका की निवृत्ति के लिये, और अधिष्ठाता चेतन देवों का परिग्रहण (ज्ञान) के लिए प्राणों को देवता विशेषणयुक्त पढ़ते हैं कि (ये प्राणादि देवता सब अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करते हुए ब्रह्मा के पास गये)। और (विवादयुक्त ये सब देव प्राण में निःश्रेयस श्रेष्ठता जानकर प्राण के अधीन हुए)।

अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽवगम्यन्ते। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२।४) इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां दर्शयति। प्राणसंवादवाक्यशेषे च 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' (छां० ५।१।७) इति श्रेष्ठत्वनिर्धारणाय प्रजापतिगमनं, तद्वचनाच्चैकैकोत्क्रमणेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रैष्ठ्यप्रतिपत्तिः। 'तस्मै बलिहरणम्' (बृ० ६।१।१३) इति चैवंजातीयकोऽस्मदादिष्विव व्यवहारोऽनुगम्यमानोऽभिमानिव्यपदेशं द्रढयति 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यपदिश्यत इति द्रष्टव्यम्। तस्माद्विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत्, विलक्षणत्वाच्च न ब्रह्मप्रकृतिकमित्याक्षिप्ते प्रतिविधत्ते ॥ ५ ॥

इस विशेषण रूप विशेष से भी अभिमानी देव का उक्त श्रुतियों में कथन है। और मन्त्र अर्थवाद इतिहास पुराणादि से सब में अनुगत (व्यापक) अभिमानी चेतन देव अवगत (प्रतीत) होते हैं, क्योंकि (अग्निदेव वाक् होकर मुख में प्रवेश किया) इस प्रकार की श्रुति कारणों में इन्द्रियों के अनुग्राहक देवता को अनुगत दिखलाती है। प्राण संवाद के वाक्य शेष में (वे प्राण प्रजापति रूप पिता के पास में जाकर बोले) इस प्रकार श्रेष्ठता का निर्धारण के लिए प्रजापति के पास जाना, और प्रजापति के वचन से एक-एक के उत्क्रमण के द्वारा अन्वय और व्यतिरेक से प्राण की श्रेष्ठता का निश्चय ज्ञान, और (उस प्राण के लिए बलिहरण उपहार भेट ले जाना) इस प्रकार का जो हम लोगों के समान व्यवहार प्रतीत होता है, वह अभिमानी के व्यपदेश को दृढ़ करता है और (वह तेज विचार किया) यह भी ईक्षणादि अपने विकारों में अनुगत अधिष्ठाता परदेव का ही कहा जाता है, ऐसा समझना चाहिये। इससे यह जगत् ब्रह्म से विलक्षण ही है, और विलक्षण होने से ब्रह्मरूप प्रकृति वाला नहीं है।

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृतिकम्–इति। नायमेकान्तः। दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम्। नन्वचेतनान्येव च पुरुषादिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि, अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्याणीति। उच्यते। एवमपि किंचिदचेतनं चेतनस्यायतनभावमुपगच्छति किंचिन्नेत्यस्त्येव वैलक्षण्यम्। महांश्चायं पारिणामिकः स्वभावविप्रकर्षः पुरुषादीनां केशनखादीनां च स्वरूपादिभेदात्। तथा गोमयादीनां वृश्चिकादीनां च। अत्यन्तसारूप्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत।

इस उक्त रीति से ब्रह्म प्रकृतिता के आक्षिप्त (खण्डित) होने पर उसका प्रतिविधान (समाधान) करते हैं कि—तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति (निवारण) करता है कि जो यह कहा है कि विलक्षणता से यह जगत् ब्रह्मरूप प्रकृति वाला नहीं है। वहाँ कहा जाता है कि यह एकान्त (व्यापक नियम) नहीं है कि सदृश ही में प्रकृति-विकृतिभाव होता है, जिससे लोक में चेतनरूप से प्रसिद्ध पुरुषादि से विलक्षण केश-नखादि की उत्पत्ति देखी जाती है और अचेतन रूप से प्रसिद्ध गोमय (गोबर) आदि से चेतन बिच्छू आदि की उत्पत्ति देखी जाती है। यहाँ शंका होती है कि अचेतन ही पुरुष आदि के शरीरादि अचेतन केश नखादि के कारण होते हैं, और अचेतन ही बिच्छू आदि के शरीर अचेतन गोमयादि के कार्य होते हैं। वहाँ उत्तर कहा जाता है कि ऐसा होने पर भी कोई अचेतन चेतन के आश्रयत्व रूप आयतनत्व को प्राप्त करता है, कोई चेतन के आयतन को नहीं प्राप्त करता है, इस प्रकार की विलक्षणता है ही।

और स्वरूपादि के भेद से पुरुषादि को और केशनखादि को यह महान् परिणामकृत स्वभाव का विप्रकर्ष है (अर्थात् परिणामात्मक स्वभाव का भेद है) इसी प्रकार गोमयादि और वृश्चिकादि को भी परिणामात्मक स्वभाव की विलक्षणता दूरता है। क्योंकि अत्यंत सदृशता में तो प्रकृति विकारभाव ही नष्ट हो जायगा।

अथोच्येत—अस्ति कश्चित्पार्थिवत्वादिस्वभावः पुरुषादीनां केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां वृश्चिकादिषु—इति। ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते। विलक्षणत्वेन च कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता किमशेषस्य ब्रह्मस्वभावस्याननुवर्तनं विलक्षणत्वमभिप्रेयत उत यस्य कस्यचिदथ चैतन्यस्येति वक्तव्यम्। प्रथमे विकल्पे समस्तप्रकृतिविकारोच्छेदप्रसङ्गः। नह्यसत्यतिशये प्रकृतिविकार इति भवति। द्वितीये इत्युक्तम्। तृतीये तु दृष्टान्ताभावः, किं हि यच्चैतन्येनानन्वितं तदब्रह्मप्रकृतिकं दृष्टमिति ब्रह्मवादिनं प्रत्युदाह्रियेत, समस्तस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वाभ्युपगमात्। आगमविरोधस्तु प्रसिद्ध एव, चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यागमतात्पर्यस्य प्रसाधितत्वात्।

यदि कोई कहे कि जैसे पुरुषादि शरीरों के कुछ पार्थिवत्वादि स्वभाव केशनखादि में अनुवर्तमान हैं, इसी प्रकार गोमयादि के कुछ स्वभाव पार्थिवत्वादि वृश्चिकादि में अनुगत होकर वर्तमान हैं, तो उनसे कहा जाता है कि ब्रह्म का सत्तारूप स्वभाव आकाशादि में अनुवर्तमान दीखता है और विलक्षणता रूप कारण से जगत् के ब्रह्म-प्रकृतित्व को दोषयुक्त कहने वाले को क्या सम्पूर्ण ब्रह्म के स्वभाव की अननुवृत्ति (अगमन-अप्राप्ति) रूप विलक्षणत्व अभिप्रेत (अभिप्राय का विषय) है, अथवा जिस किसी स्वभाव की अननुवृत्ति, अथवा चेतनता की अनुवृत्ति, यहाँ प्रथम पक्ष में ब्रह्म के सब स्वभावों की अनुवृत्ति के अभाव से यदि ब्रह्म के जगत्प्रकृतित्व को दोषयुक्त कहा जायगा तो समस्त प्रकृति विकार का उच्छेद अभाव की प्राप्ति होगी, अर्थात् ऐसे कार्य कारण कहीं मिलेंगे ही नहीं। क्योंकि अतिशय (कुछ भी विलक्षणता) के नहीं रहने पर यह प्रकृति है, यह विकार है, इस प्रकार के व्यवहारादि नहीं हो सकते हैं, और दूसरे विकल्प में असिद्धता है। क्योंकि सत्ता रूप ब्रह्म के स्वभाव की आकाशादि में अनुवृत्ति है, यह पहले कहा गया है और सत्ता की अनुवृत्ति दीखने पर ब्रह्म के किसी भी स्वभाव की अनुवृत्ति नहीं होने से जगत् ब्रह्म से विलक्षण है, यह सिद्ध नहीं हो सकता है। एवं ब्रह्म की चेतनता जगत् में नहीं है इससे जगत् ब्रह्म प्रकृतिक नहीं है, इस तृतीय कल्प में दृष्टान्त का अभाव है, क्योंकि वेदान्त में सब कार्य ही ब्रह्मप्रकृतिक हैं, इससे चैतन्य से अयुक्त कौन ऐसी वस्तु है कि जो ब्रह्मवादी के प्रति उदाहरण दिया जायगा कि अमुक वस्तु चैतन्य से अयुक्त होने से ब्रह्मप्रकृतिक नहीं है, वैसे ही जगत् भी ब्रह्म-

प्रकृतिक नहीं है, जब समस्त वस्तु समूह ही ब्रह्मप्रकृतिक माना गया है, तो सब पक्ष है, दृष्टान्त भिन्न होना चाहिये वह असिद्ध है। माया अनादि है वह भी दृष्टान्त नहीं हो सकता है। प्रत्येक कल्प में आगम से विरोध तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि चेतन ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण और प्रकृति है, इस आगम (शास्त्र) के तात्पर्य को पहले प्रतिपादन किया है।

यत्तूक्तं—परिनिष्पन्नत्वाद्ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयुः—इति। तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत्। तथा च श्रुतिः– 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (का० १।२।९) इति। 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' (ऋ० सं० १।३०।६) इति चैते ऋचौ सिद्धानामपीश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः। स्मृतिरपि भवति—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति। अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (गी० २।२५) इति च।

जो यह कहा है कि सिद्ध वस्तु होने से ब्रह्म में प्रमाणान्तर भी प्रवृत्त हो सकेंगे, इससे प्रमाणान्तर की सम्भावना है, वह भी मनोरथमात्र है, क्योंकि रूपादि के अभाव से यह ब्रह्मात्मरूप अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है। लिङ्गादि के अभाव से अनुमानादि का विषय भी नहीं है, किन्तु धर्म के समान आगममात्र से सम्यक् जानने योग्य यह अर्थ है। इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (हे प्रेष्ठ ! यह ब्रह्मात्मविषयक मतिज्ञान, केवल तर्क से प्राप्ति संपादन के योग्य या निवारण के योग्य नहीं है, किन्तु नास्तिक कुतर्की से अन्य आचार्य से कथित यह मति सुन्दर अनुभव के लिए होती है) (यह विविध प्रकार की सृष्टि जिससे हुई है सर्वत्र व्याप्त है। उसको तत्त्वतः साक्षात् कौन जानता है, या कौन कहा है, या कौन उसका प्रवचन कर सकता है) यह दोनों ऋग् मन्त्र सिद्ध अणिमादि ऐश्वर्य वालों के लिए भी जगत् कारण की दुर्बोधता को दिखलाते हैं और इस अर्थ को कहने वाली स्मृति भी है कि (जो पदार्थ निश्चित अचित्त हैं उन्ह तर्क से किसी के साथ योजना के लिए नहीं यत्न करे, किन्तु गुरुशास्त्र से असंग समझे) (यह आत्मा अव्यक्त-अचिन्त्य और अविकार्य कहा जाता है) अर्थात् सब इन्द्रियों क अविषय होने से अव्यक्त है, और अव्यक्त होने से अचिन्त्य (अनुमान का अविषय) है और निरवयेव होने से विकाररहित कहा जाता है।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ (गी० १०।२)

इति चैवंजातीयका। यदपि—श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयति—इत्युक्तम्। नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः सम्भवति, श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते। स्वप्नान्तबुद्धान्त-

योरुभयोरितरेतरव्यभिचारादात्मनोऽनन्वागतत्वं, संप्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना सम्पत्तेर्निष्प्रपञ्चसदात्मत्वं, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात्कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इत्येवंजातीयकः। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० २।१।११) इति च केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति। योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षेत तस्यापि 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतनविभागश्रवणं विभावनाविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम् परस्यैव त्विदमपि विभागश्रवणं न युज्यते। कथम्? परमकारणस्य ह्यत्र समस्तजगदात्मना समवस्थानं श्राव्यते 'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' इति। तत्र यथा चेतनस्याचेतनभावो नोपपद्यते विलक्षणत्वात्, एवमचेतनस्यापि चेतनभावो नोपपद्यते। प्रत्युक्तत्वात्तु विलक्षणत्वस्य यथाश्रुत्येव चेतनं कारणं ग्रहीतव्यं भवति ॥ ६ ॥

(मेरे जन्म या प्रभाव को देवगण या महर्षि लोग नहीं जानते हैं, क्योंकि मैं देव और महर्षियों का सर्वथा कारण हूँ) इस प्रकार की अन्य भी स्मृतियाँ हैं। और जो यह कहा था कि श्रवण से भिन्न मनन का विधान करता हुआ शब्द ही तर्क को भी आदर योग्य दिखलाता है, वहाँ कहा जाता है कि इस मनन विधि के मिष (व्याज) से श्रुति की अपेक्षा रहित शुष्क तर्क का यहाँ आत्मलाभ (स्वरूप सिद्धि) नहीं हो सकता है। श्रुति से अनुगृहीत श्रुति के अनुकूल ही तर्क का यहाँ अनुभव के अङ्गरूप से आश्रयण किया जाता है कि स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं को परस्पर व्यभिचार (सह वृत्तित्व के अभाव) होने से सब अवस्था में व्यभिचारी आत्मा को उन अवस्थाओं से अनन्वागतत्व (असङ्गत्व) है और सुषुप्ति में सब प्रपञ्च के त्याग से सत्स्वरूपता की प्राप्ति होती है, इसी से उस काल में निष्प्रपञ्च सदात्मता (सत्स्वरूपता) की सिद्धि होती है। प्रपञ्च के ब्रह्मजन्य होने से तथा कार्यकारण की अनन्यता (अभेद) रूप न्याय से प्रपञ्च को ब्रह्म से अभेद है, इस प्रकार के तर्कों का आश्रयण किया जाता है। केवल तर्क को (तर्काप्रतिष्ठानात्) इससे विप्रलम्भकत्व (भ्रामकत्व) दिखलायेंगे और जो कोई चेतन कारण के श्रवणरूप बल से ही जगत् की चेतनता की उत्प्रेक्षा कल्पना करते हैं, उनके मत में भी चेतनता की अभिव्यक्ति अनभिव्यक्ति से (विज्ञानं चाविज्ञानं च) यह चेतन और अचेतन का विभाग श्रवण की योजना की जा सकती है। परन्तु यह विभाग श्रवण पर भी (अन्य) सांख्यवादी के ही मत में युक्त नहीं होता है, क्योंकि (सत्य ब्रह्म ही विज्ञान और अविज्ञान स्वरूप हुआ) इस प्रकार परम कारण को ही समस्त जगत् रूप से स्थिति सुनाई जाती है, वहाँ विलक्षणता से जैसे चेतन को अचेतनत्व नहीं सिद्ध हो सकता, इसी प्रकार अचेतन प्रधान को चेतनत्व भी नहीं सिद्ध हो सकता है। व्यभिचारादि से विलक्षणत्व हेतु के प्रत्याख्यात होने से श्रुति के अनुसार ही चेतन कारण ग्रहण योग्य है ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येत, असत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत, अनिष्टं चैतत्सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत्? नैष दोषः। प्रतिषेधमात्रत्वात्। प्रतिषेधमात्रं हीदं नास्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति, नह्ययं प्रतिषेधः प्रागुत्पत्तेः सत्त्वं कार्यस्य प्रतिषेद्धुं शक्नोति। कथम्? यथैव हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सदेवं प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते। नहीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रमेवास्ति, 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६) इत्यादिश्रवणात्। कारणात्मना तु सत्त्वं कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरविशिष्टम्। ननु शब्दादिहीनं ब्रह्म जगतः कारणम्। बाढम्। नतु शब्दादिमत्कार्यं कारणात्मना हीनं प्रागुत्पत्तेरिदानीं वास्ति, तेन न शक्यते वक्तुं प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यमिति। विस्तरेण चैतत्कार्यकारणानन्यत्ववादे वक्ष्यामः ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त अर्थ में शंका होती है कि यदि शब्दादिरहित और शुद्ध चेतन ब्रह्म को उससे विपरीत शब्दादि वाला अचेतन अशुद्ध कार्य का कारण इष्ट माना जायगा, तो उत्पत्ति से पूर्वकाल में कार्य असत् प्राप्त होगा, उत्पत्ति से प्रथम कार्य की सत्ता नहीं सिद्ध होगी, और सत् कार्यवादी तेरे लिए अनिष्ट है। इस शंका का उत्तर है कि यह पूर्वकाल में कार्य की असत्ता की प्राप्ति दोष नहीं है, क्योंकि यह कथन सत् का प्रतिषेध मात्र है, और जिस लिए यह सत् का प्रतिषेध मात्र है, इसीलिए इस प्रतिषेध का प्रतिषेध योग्य विषय नहीं है, अर्थात् सत् उसी को कहते हैं कि जिसका कभी निषेध नहीं हो और जब कार्य सृष्टिकाल में सत् मान लिया, उसकी सत्ता अनुभूत हो चुकी, तो उसका अभाव कभी नहीं हो सकता है, उत्पत्ति से पूर्वकाल में भी उसकी सत्ता रहती है। भगवान् कहते हैं कि (असत् का कभी भाव नहीं होता है, और सत् का कभी अभाव नहीं होता है) इस प्रकार इस सत् प्रतिषेध का विषय के नहीं होने से यह प्रतिषेध उत्पत्ति से पूर्वकाल में भी कार्य के सत्त्व का प्रतिषेध नहीं कर सकता है, क्योंकि जैसे ही यह कार्य स्वरूप से असत् वाचारम्भण नामधेयमात्र होते हुए भी कारण स्वरूप से सत् है वैसे ही उत्पत्ति से पूर्व काल में भी कारण स्वरूप से सत् रहता है, ऐसी प्रतीति रूप अनुमान होता है। यह कार्य रूप जगत् इस वर्तमान काल में कारणरूपता के बिना स्वतन्त्र सत् नहीं है, (उसका सब परामय करता है कि जो आत्मा से अन्य सबको जानता है) इत्यादि से कारण स्वरूपता के बिना स्वतन्त्र कार्य का अभाव सिद्ध होता है। और कारणरूप से कार्य की सत्ता तो वर्तमान के अविशिष्ट (तुल्य) ही उत्पत्ति से प्रथम भी रहती है, अर्थात् वर्तमान काल में पार्थिव पदार्थ घटपटादि की सत्ता पृथिवी स्वरूप है, पृथिवी की सत्ता स्वकारण जल स्वरूप है, जल की सत्ता स्वकारण तेजः स्वरूप है, तेज की सत्ता

स्वकारण वायु स्वरूप है, वायु की सत्ता स्वकारण आकाश स्वरूप है, आकाश की सत्ता बीजशक्ति रूप माया विशिष्ट सत् शब्द का मुख्यार्थ ईश्वर परब्रह्म स्वरूप है, इस प्रकार परम मूलकारण की ही सत्ता साक्षात् परम्परा से सब में वर्तमान है। शंका होती है कि उक्त रीति से मूल कारणरूप ब्रह्म शब्दादि से रहित है, और शब्दादियुक्त जगत् का कारण है, इससे उत्पत्तियुक्त जगत् की असत्ता ही सिद्ध होती है। उत्तर है कि शब्दादि-रहित ब्रह्म जगत् का कारण यह कहना सत्य है, परन्तु शब्दादियुक्त कार्यरूप यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व या वर्तमान काल में कभी भी उस ब्रह्मस्वरूप कारणरूपता से रहित नहीं रहता है, जिससे उत्पत्ति से पहले कार्य असत् रहता है, यह नहीं कह सकते हैं। और कार्य कारण के अनन्यत्व (अभेद) वाद में इस तत्त्व को विस्तार से कहेंगे ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

अत्राह—यदि स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्ध्यादिधर्मकं कार्यं ब्रह्मकारणमभ्युपगम्येत तदपीतौ प्रलये प्रतिसंसृज्यमानं कार्यं कारणाविभागमापद्यमानं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यस्येवाशुद्ध्यादिरूपप्रसङ्गात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्कारणमित्यसमञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम्। अपि च समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद्भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसम्। अपि च भोक्तॄणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं गतानां कर्मादिनिमित्तप्रलयेऽपि पुनरुत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम्। अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेव ब्रह्मणावतिष्ठेत, एवमप्यपीतिश्च न सम्भवति, कारणाव्यतिरिक्तं च कार्यं न सम्भवतीत्यसमञ्जसमेवेति ॥ ८ ॥

यहाँ कोई पूर्वपक्षी कहता है कि यदि स्थूलता, सावयवता, अचेतनता, परिच्छिन्नता, अशुद्धि आदि धर्म वाला कार्य को ब्रह्मरूप कारण (उपादान) वाला माना जायगा, तो प्रलयकाल में उस कार्य को अपीति (कारण में विलय) होने पर, कारण में प्रति संसृज्यमान (मिला हुआ) कारण के साथ अविभाग (अभेद) को प्राप्त वह कार्य अपने धर्मों से कारण को भी दूषित करेगा, इस प्रकार प्रलयकाल में कारण रूप ब्रह्म का भी कार्य के समान अशुद्धि आदि की प्राप्ति से सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है, इस प्रकार का यह औपनिषद (उपनिषद से ज्ञेय) दर्शन (ज्ञान सिद्धान्त) असमञ्जस (अनुचित-अयुक्त) है। और दूसरी बात यह है कि समस्त विभाग (कार्य) को प्रलय में एक ब्रह्म के साथ अविभाग (अभेद) की प्राप्ति से फिर उत्पत्ति करने में नियम कारण के अभाव से भोक्ता भोग्यादि के विभाग पूर्वक उत्पत्ति नहीं प्राप्त होती है, इस प्रकार भी असमञ्जस है और प्रलय में परब्रह्म के साथ अविभाग (एकता) को प्राप्त

भोक्ताओं की कर्मादि निमित्त कारण के प्रलय होने पर भी फिर उत्पत्ति मानने पर मुक्तों की भी फिर उत्पत्ति की प्राप्ति से असमञ्जस है। एवं यदि प्रलयकाल में भी यह जगत् परब्रह्म से विभक्त (भिन्न) स्थिर वर्तमान रहे, तो इस प्रकार मानने पर भी प्रलय का सम्भव नहीं होता है, और कारण से अभिन्न कार्य का सम्भव नहीं होता है इस प्रकार असमञ्जस ही है ॥ ८ ॥

अत्रोच्यते—

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

नैवास्मदीये दर्शने किञ्चिदसामञ्जस्यमस्ति। यत्तावदभिहितं—कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेत्—इति, तददूषणम्। कस्मात्? दृष्टान्तभावात्। सन्ति हि दृष्टान्ता यथा कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण न दूषयति। तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थायामुच्चावचमध्यमप्रभेदाः पुनः प्रकृतिमपिगच्छन्तो न तामात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतौ न सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। त्वत्पक्षस्य तु न कश्चिद्दृष्टान्तोऽस्ति। अपीतिरेव हि न सम्भवेद्यदि कारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत। अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं नतु कारणस्य कार्यात्मत्वम् 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इति वक्ष्यामः (ब्र० सू० २।१।१।१४)। अत्यल्पं चेदमुच्यते—कार्यमपीतावात्मीयेन धर्मेण कारणं संसृजेत्—इति। स्थितावपि समानोऽयं प्रसङ्गः, कार्यकारणयोरनन्यत्वाभ्युपगमात्। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छां० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां० ३।१४।१) इत्येवमाद्याभिर्हि श्रुतिभिरविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य कारणानन्यत्वं श्राव्यते। तत्र यः परिहारः—कार्यस्य तद्धर्माणां चाविद्याध्यारोपितत्वान्न तैः कारणं संसृज्यत—इति, अपीतावपि स समानः।

इस शंका के होने पर यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—हमारे दर्शन में कुछ भी असमञ्जस नहीं है। पहले जो यह कहा है कि कारण में अपिगच्छत् (लीन होता हुआ) कार्य कारण को भी अपने धर्म से दूषित करेगा वह दूषण नहीं है, क्योंकि अदूषकता में दृष्टान्त की सत्ता है। जिससे दृष्टान्त है कि कारण में लीन होता हुआ भी कार्य जिस प्रकार अपने धर्म से कारण को दूषित नहीं करता है। वे दृष्टान्त इस प्रकार के हैं कि जैसे शरावादि मृत्तिका के कार्य रूप विकार विभागावस्थारूप स्थिति काल में छोटे मध्यम अभेद वाले होते हुए भी फिर अपने कारण में लीन होते हुए उस कारण को अपने धर्म से संसृष्ट युक्त नहीं करते हैं। इसी प्रकार रुचकादि सुवर्ण के विकार भी लीन होने पर अपने धर्म विशिष्टरूप से सुवर्ण की संसृष्टि उत्पत्ति नहीं करते हैं। एवं पृथिवी के विकार रूप चार प्रकार के भूत (प्राणी) समूह की संसृष्ट नहीं करती

है। लय होने पर भी कार्य कारण को विकृत करता है, इस तुम्हारे पक्ष का कोई दृष्टान्त नहीं। यदि कार्य अपने धर्म सहित कारण में अवस्थित वर्तमान रहेगा तब तो प्रलय का ही असम्भव होगा। यद्यपि कार्य कारण को अनन्यत्व (अभेद) है इससे एक स्वरूपता है, तथापि कार्य को कारण स्वरूपत्व है, और कारण को कार्य स्वरूपत्व नहीं है, इससे सत्कार्यवाद में कार्य का दोष कारण में नहीं प्राप्त होता है, इस अर्थ को (आरम्मण) इत्यादि सूत्र में कहेंगे। और यह अत्यन्त अल्प दूषण कहा जा रहा है कि प्रलय में कार्य अपने धर्म से कारण को संसृष्ट करेगा, क्योंकि स्थिति काल में भी कार्य कारण की अनन्यता के स्वीकार से यह दोष का प्रसंग (सम्बन्ध) तुल्य है। और (जो कुछ यह दृश्य जगत् है वह सब आत्मा ही है, आत्मा ही सब जगत् स्वरूप है, अमृत स्वरूप ब्रह्म ही पूर्व है, यह सब अवश्य ब्रह्म स्वरूप है) इस प्रकार के अर्थ वाली श्रुतियों से सामान्य रूप से तीनों काल में कार्य के कारण से अनन्यत्व (अभेद) का श्रवण कराया जाता है। वहाँ दोष का जो परिहार (निवारणोपाय) है कि कार्य और धर्मों को अविद्या माया से अध्यारोपित (अध्यस्त मिथ्या) होने से उनसे कारण संसृष्ट नहीं होता है, वही परिहार प्रलय में भी तुल्य है।

अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शनमायया न संस्पृश्यते प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात्, एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते। मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति। अत्रोक्तं वेदान्तार्थसंप्रदायविद्भिराचार्यैः—

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं वुध्यते तदा॥ (गौडपा० कारि० १।१६) इति।

तत्र यदुक्तम्—अपीतौ कारणस्यापि कार्यस्येव स्थौल्यादिदोषप्रसङ्ग—इति, एतदयुक्तम्। यत्पुनरेतदुक्तं–समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनर्विभागेनोत्पत्तौ नियमकारणं नोपपद्यत–इति। अयमप्यदोषः, दृष्टान्तभावादेव। यथा हि सुषुप्तिसमाध्यादावपि सत्यां स्वाभाविक्यामविभागप्राप्तौ मिथ्याज्ञानस्यानपोदितत्वात्पूर्ववत्पुनः प्रबोधे विभागो भवत्येवमिहापि भविष्यति। श्रुतिश्चात्र भवति—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति' (छां० ६।९।२, ३) इति। यथा ह्यविभागेऽपि परमात्मनि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धो विभागव्यवहारः स्वप्नवदव्याहतः स्थितो दृश्यते, एवमपीतावपि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धैव विभागशक्तिरनुमास्यते। एतेन मुक्तानां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्यापोदित-

त्वात्। यः पुनरयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षितः–अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेत–इति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव प्रतिषिद्धः तस्मात्समञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम् ॥ ९ ॥

यह दूसरा दृष्टान्त भी है कि अवस्तु (मिथ्या) होने से, स्वयं प्रसारित (फैलाई) माया से मायावी संस्पृष्ट (लिप्त) नहीं होता है, तीनों काल में उससे असंग रहता है, इसी प्रकार परमात्मा भी संसाररूप माया से तीनों काल में संस्पृष्ट नहीं होता है। जैसे एक स्वप्नद्रष्टा स्वप्नदर्शनरूप माया से संस्पृष्ट नहीं होता है, क्योंकि जाग्रत और सुषुप्ति में उस स्वप्न दर्शन से अनन्वागत (असंग) रहता है, इसी प्रकार तीनों अवस्था के अव्यभिचारी (व्यापक) एक साक्षी व्यभिचारी (परिच्छिन्न) तीन अवस्थाओं से संस्पृष्ट नहीं होता है। और जैसे रज्जु की सर्पादिरूप से प्रतीति होती है, वैसे ही जो यह परमात्मा की अवस्थात्रय (तीन अवस्था) रूप से प्रतीति है वह माया मात्र (मिथ्या) है। यहाँ वेदान्तार्थ के सम्प्रदाय को जानने वाले आचार्य ने कहा है कि—

(अनादि माया मोह से सोया हुआ जीव जब जागता है मोह को नष्ट करता है, तब जन्म निद्रा स्वप्न और द्वैतरहित स्वरूप को समझता है) इस उक्त रीति से परमात्मा में अवस्थाओं के असम्बन्ध होते हुए भी जो पहले कहा है कि प्रलय में कार्य के समान कारण को भी स्थूलता आदि दोष की प्राप्ति होगी, वह कथन अयुक्त है। और फिर जो यह कहा है कि प्रलयकाल में समस्त विभाग के अविभाग की प्राप्ति से फिर विभाग पूर्वक उत्पत्ति में नियम का कारण नहीं सिद्ध होता है। यहाँ कहा जाता है कि दृष्टान्त के रहने से ही यह भी दोष नहीं है, क्योंकि जैसे सुषुप्ति समाधि आदि अवस्थाओं में स्वाभाविक अविभाग की प्राप्ति होने पर भी मिथ्या ज्ञान अज्ञान की निवृत्ति नहीं होने के कारण जागने पर फिर पूर्व के समान प्रविभाग होता है, इसी प्रकार यहाँ भी सृष्टिकाल में प्रविभाग होगा। सुषुप्ति में एक होने पर भी अज्ञान के रहने से प्रविभाग होता है इस अर्थ में श्रुति प्रमाण है कि (ये सब प्रजा सुषुप्ति काल में सत् ब्रह्म में सम्प्राप्त होकर भी, यह नहीं जानती है कि सत में प्राप्त हूँ) इस कारण से वे जीव यहाँ सुषुप्ति से पहले जो सिंह, वृक, वराह, कीट, पतंग, दंश, मशक, जो जो रहते हैं, सुषुप्ति से जागने पर फिर तत्तद्रूप ही विभक्त होते हैं। जैसे सुषुप्ति में सब कार्यों का परमात्मा में अविभाग होने पर भी अज्ञान मिथ्याज्ञान से प्रतिबद्ध (सिद्ध सम्मिलित) विभाग का व्यवहार स्वप्न के समान अव्याहृत (अविनष्ट) स्थित दीखता है, इसी प्रकार प्रलय में भी मिथ्या ज्ञान सहित ही विभाग शक्ति अनुमित होगी, अर्थात्–अनुमान से समझी जायगी। और उक्त अज्ञान के अभाव से मुक्तों के फिर उत्पत्तिका प्रसंग खण्डित हो जाता है, क्योंकि सम्यक् आत्मज्ञान से मिथ्याज्ञान समूल नष्ट हो जाता है। तथा अन्त में जो फिर यह अन्य विकल्प (पक्ष) उत्प्रेक्षित (कल्पित सिद्ध) किया गया है कि

यदि यह जगत् प्रलय में भी परब्रह्म से विभक्त ही अवस्थित रहेगा इत्यादि। तो वह अस्वीकार से ही प्रतिषिद्ध है। इससे यह औपनिषद् दर्शन समञ्जस (युक्त) उचित है।

स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः प्रादुःष्युः। कथमित्युच्यते? यत्तावदभिहितं–विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृतिकम्–इति, प्रधानप्रकृतिकतायामपि समानमेतत्, शब्दादिहीनात्प्रधानाच्छब्दादिमतो जगत उत्पत्त्यभ्युपगमात्। अत एव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात्समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवादप्रसङ्गः। तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणविभागाभ्युपगमात्तद्वत्प्रसङ्गोऽपि समानः। तथा मृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावविभागात्मतां गतेष्विदमस्य पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक्प्रलयात्प्रतिपुरुषं ये नियता भेदा न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते कारणाभावात्। विनैव च कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभावसाम्यान्मुक्तानामपि पुनर्बन्धप्रसङ्गः। अथ केचिद्भेदा अपीतावविभागमापद्यन्ते केचिन्नेति चेत्, ये नापद्यन्ते तेषां प्रधानकार्यत्वं न प्राप्नोतीत्येवमेते दोषाः साधारणत्वान्नान्यतरस्मिन्पक्षे चोदयितव्या भवन्तीत्यदोषतामेवैषां द्रढयति, अवश्याश्रयितव्यत्वात् ॥ १० ॥

वेदान्त के समन्वय में सांख्यवादी से पूर्व वर्णित ये दोष प्रतिवादी के अपने पक्ष में साधारण (तुल्य) अभिव्यक्त होंगे। कैसे होंगे वह कहा जाता है कि जो पहले प्रतिवादी ने कहा है कि विलक्षण होने से यह जगत् ब्रह्मात्मक प्रकृति वाला नहीं है, जगत् की प्रधानात्मक प्रकृति जन्यता में भी यह विलक्षणत्व तुल्य है, क्योंकि शब्दादि रहित प्रधान से शब्दादि वाला जगत् की उत्पत्ति को प्रतिवादी ने स्वीकार किया है। और इस विलक्षण कार्य की उत्पत्ति के स्वीकार से ही उत्पत्ति से पहले असत्कार्यवाद की प्राप्ति भी तुल्य ही है। तथा प्रलय में कार्य का कारण से अविभाग मानने से कार्य के समान प्रधान को रूपादिमत्ता रूप तद्वत्प्रसङ्ग दोष भी तुल्य ही है। इसी प्रकार प्रलय में विनष्ट सब विशेष वाले विकारों के अविभागता (प्रधान में एकता) प्राप्त होने पर यह कर्मादि इस पुरुष का उपादान (उपादेय भोग्य) है, यह अमुक का भोग्य है इस प्रकार जो प्रलय से पहले नियमित भेद रहते हैं, प्रत्येक पुरुष के भोग साधनादि विभक्त रहते हैं, प्रलय के बाद फिर उत्पत्ति में वैसे ही नियम के कारण के अभाव से वैसे ही नियम युक्त भेद नहीं किये जा सकते हैं। एवं यदि कारण के बिना ही भोग भोग्यादि का नियम माना जाय तो कारणभाव की तुल्यता से मुक्तों को भी फिर बन्ध का प्रसङ्ग होगा। यदि बन्ध मोक्ष की व्यवस्था के लिए मानो कि प्रलय में भी मुक्तों के संघातादि रूप कोई विशेष प्रधान में अविभाग पाते हैं (लीन होते हैं) और कोई विशेष (बद्ध जीवों के संघात) नहीं लीन होते हैं, तो जो भेद प्रलय में भी प्रधान के साथ अभिन्न नहीं होते हैं उन्हें पुरुष के समान प्रधान का कार्यत्व भी नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार

इन दोषों के साधारण होने से किसी एक पक्ष में शंका के योग्य नहीं हैं, इससे इनकी अदोषता को सूत्रकार दृढ़ करते हैं, क्योंकि वे अवश्य आश्रयणीय मन्तव्य है।

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥

तर्काप्रतिष्ठानात् अपि-अन्यथा-अनुमेयम्-इति-चेत्-एवम्-अपि-अविमोक्षप्रसङ्गः। इस प्रकार इस सूत्र में नव पद हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (केवलस्य तर्कस्याऽप्रतिष्ठितत्वादपि तेन समन्वयो नाऽऽशङ्कितव्यो भवति, यदि अन्यथा अन्यप्रकारेण समन्वये दोषादिकं किञ्चिद-नुमेयं मन्यसे तर्ह्येवमपि नाप्रतिष्ठादोषाद्विमुक्तिः सिद्ध्यतीति) श्रुति सद्विचारादिरहित तर्क के निःसीमस्थितिरहित होने से उस तर्क द्वारा समन्वय शंका के योग्य नहीं है। यदि तर्क से नहीं किसी अन्य प्रकार से किसी ऋषि मुनि के वचनादि से समन्वय में किसी दोषादि को अनुमेय मानते हो तो भी अप्रतिष्ठा दोष से छुटकारा नहीं है। ऋषि आदि के वचनादि भी प्रतिष्ठा रहित हैं, महाभारत में लिखा है कि (नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्) इससे प्रतिष्ठारहित मुनिवचनादि से संसारबन्धन से भी अविमोक्ष की प्राप्ति होती है, जिससे मुमुक्षु को श्रुति सद्विचार सत्सङ्गादि का शरण लेना चाहिए।

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्, यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात्। तथाहि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं, पुरुषमतिवैरूप्यात्। अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत, एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव। प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्। अथोच्येत अन्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति, नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्, एतदपि हि तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते। केषांचित्तर्काणामप्रतिष्ठितत्वदर्शनेनान्येषामपि तज्जातीयकानां तर्काणामप्रतिष्ठितत्वप्रकल्पनात्। सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः। अतीतवर्तमानाध्वसाम्येन ह्यनागतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तमानो लोको दृश्यते। श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्केणैव वाक्यवृत्तिनिरूपणरूपेण क्रियते।

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी आगममात्र से ज्ञेय अर्थ में केवल तर्क से प्रत्यवस्थान (प्रतिपक्ष-विरोध) नहीं करना चाहिये कि जिससे आगमरहित पुरुष की उत्प्रेक्षा (उत्कृष्ट दृष्टि-कल्पनाशक्ति) मात्र निमित्तक तर्क अप्रतिष्ठित (स्थिति रहित) होते हैं। क्योंकि उत्प्रेक्षा को निरंकुश स्वतन्त्रता है। जैसे कि सावधान किसी तार्किक विद्वान् से यत्नपूर्वक उत्प्रेक्षित (कल्पित) तर्क उससे कुशल विद्वान् द्वारा आभास (असत्) ठहराया गया देखा जाता है, इसी प्रकार उन कुशलों से कल्पित तर्क उनसे

भी कुशल विद्वान् द्वारा आभास किया जाता है, इससे तर्क की स्थिति का आश्रयण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि तर्क का हेतु पुरुष की बुद्धि में विविधरूपता होती है। यदि किसी प्रसिद्ध महिमा वाले कपिल वा अन्य किसी के समस्त तर्क को प्रतिष्ठित माना जाय, तो ऐसा मानने पर भी तर्क की स्थिरता नहीं है। क्योंकि प्रसिद्ध महिमा वाले माने गये शास्त्रकर्ता कपिल कणाद आदि का परस्पर विरोध देखा जाता है। यदि कोई कहे कि हम अन्य प्रकार से अनुमान करेंगे जिससे अप्रतिष्ठा दोष नहीं प्राप्त होगा। प्रतिष्ठित तर्क ही नहीं है, यह तो कह नहीं सकते हैं, क्योंकि यह तर्क के अप्रतिष्ठितत्व भी तर्क से ही स्थिर सिद्ध किया जाता है, और कितने तर्कों को अप्रतिष्ठितत्व युक्त देखने से उनके सजातीयता युक्त अन्य तर्कों में भी अप्रतिष्ठितत्व की कल्पना होती है। परन्तु सब तर्क की अप्रतिष्ठा होने पर तो लोक के सब व्यवहारों का उच्छेद (नाश) प्राप्त होगा। क्योंकि भूत और वर्तमान अध्व (काल वा मार्ग) की समता से भावी काल और मार्ग में सुखदुःख की प्राप्ति और निवारण के लिये प्रवृत्त लोग देखे जाते हैं। अर्थात् भूत वर्तमान विषय व्यवहार के समान अनुमान से भावी विषय व्यवहार को समझ कर उसमें प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, तर्क के सर्वथा अप्रतिष्ठित होने पर यह व्यवहार नहीं होगा। और श्रुतियां के अर्थ में विरोध होने पर अर्थाभाव (मिथ्या अर्थ) का निराकरण पूर्वक सत्यार्थ का निर्धारण निश्चय वाक्य की वृत्ति (शक्ति तात्पर्य) का निरूपण रूप पूर्वोत्तर मीमांसात्मक तर्क से ही किया जाता है।

मनुरपि चैवं मन्यते—

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ इति।
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (१२।१०५, १०६)

इति च ब्रुवन्। अयमेव तर्कस्यालङ्कारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम। एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति। नहि पूर्वजो मूढ आसीदित्यात्मनि मूढेन भवितव्यमिति किंचिदस्ति प्रमाणम्। तस्मान्न तर्काप्रतिष्ठानं दोष इति चेत्? एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः। यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते तथापि प्रकृते तावद्विषये प्रसज्यत एवाप्रतिष्ठितत्वदोषादविमोक्षस्तर्कस्य। नहीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्। रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनामिति चावोचाम।

मनु भी कुछ तर्क प्रतिष्ठित हैं ऐसा ही मानते हैं, क्योंकि कहते हैं कि—
धर्म की शुद्धि (अधर्म से विवेक पूर्वक ज्ञान) चाहने वाले को प्रत्यक्ष अनुमान और

विविध प्रकार के धर्मशास्त्रादि रूप आगमात्मक शास्त्र ये तीनों सुविदित ज्ञात करना चाहिये। आर्ष ऋषि दृष्ट वेद और धर्म का उपदेश रूप धर्मशास्त्र को जो तदनुकूल तर्क द्वारा विचारता है वही शुद्ध धर्म को जानता है, अन्य नहीं।

ऐसा कहते हुए मनु तर्क को स्वीकार करते हैं और तर्क को जो अप्रतिष्ठितत्व है वही सत्तर्क के लिये अलंकार (भूषण) है। पूर्वोत्तर पक्ष से तर्क शोभा पाता है, और तर्क के अप्रतिष्ठित होने ही से दोषयुक्त तर्कों का परित्याग करके निर्दोष तर्क प्राप्त करने योग्य होता है। पूर्वज मूढ थे इससे अपने भी मूढ होना चाहिये इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इससे तर्काप्रतिष्ठान रूप दोष नहीं है, इस प्रकार यदि कोई कहे, तो भी प्रकृत में अप्रतिष्ठितत्व से अविमोक्ष का प्रसङ्ग है ही। यद्यपि किसी विषय में तर्क को प्रतिष्ठितत्व दीखता है, तथापि प्रकृत समन्वय विषय में तर्क को अप्रतिष्ठितत्व दोष से अविमोक्ष ही प्राप्त होता है। क्योंकि अतिगम्भीर यह भाव (जगत्कारण) का यथार्थ अद्वैत मुक्ति का अवलम्बन स्वरूप वस्तु आगम के बिना कल्पना से तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता है, जिससे रूपादि के अभाव से यह अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है, और लिङ्गादि के अभाव से अनुमानादि का भी विषय नहीं है— यह पहले कह चुके हैं।

अपिच सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः। तच्च सम्यग्ज्ञानमेकरूपं वस्तुतन्त्रत्वात्। एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः। लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते, यथाग्निरुष्ण इति। तत्रैवं सति सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना। तर्कज्ञानानां त्वन्योन्यविरोधात्प्रसिद्धा विप्रतिपत्तिः। यद्धि केनचित्तार्किकेणेदमेत्र सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपादितं तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितं ततोऽपरेण व्युत्थाप्यत इति च प्रसिद्धं लोके। कथमेकरूपानवस्थितविषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत्। नच प्रधानवादी तर्कविदामुत्तम इति, सर्वैस्तार्किकैः परिगृहीतो येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि। नच शक्यन्तेऽतीतानागतवर्तमानास्तार्किका एकस्मिन्देशे काले च समाहर्तुं येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात्। वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेस्तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम्। अतः सिद्धमस्यैवौपनिषदस्य ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम्। अतोऽन्यत्र सम्यग्ज्ञानत्वानुपपत्तेः संसाराविमोक्ष एव प्रसज्येत। अत आगमवशेनागमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम्॥ ११॥

दूसरी बात यह है कि सम्यक् ज्ञान से मोक्ष होता है, यह सब मोक्षवादियों का अभ्युपगम (सिद्धान्त) है, और ज्ञान के वस्तु तन्त्र होने से वह सम्यक् ज्ञान है जो एक वस्तु विषयक सबका ज्ञान एक स्वरूप वाला है, और एक स्वरूप से सदा स्थिर जो पदार्थ

है, वह परमार्थ सत्य है। लोक में उस परमार्थ विषयक ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। जैसे सदा उष्ण रहने वाली अग्नि का उष्ण ऐसा ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। इस प्रकार एक स्वरूप वाला पदार्थ का एक स्वरूप वाला ज्ञान के यथार्थ होने पर उस यथार्थ ज्ञान से पुरुषों की विप्रतिपत्ति (विरोध) अयुक्त है। तर्कजन्य ज्ञान वालों को तथा उनके ज्ञानों को तो परस्पर विरोध से विप्रतिपत्ति (विपक्षिता) प्रसिद्ध है। जिससे जिस ज्ञान को किसी एक तार्किक ने प्रतिपादन किया कि यही ज्ञान सम्यक् ज्ञान है, उसको अन्य तार्किक व्युत्थापित बाधित करता है। इससे वह व्युत्पत्ति बाधित निषिद्ध होता है, फिर उससे प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित) ज्ञान अन्य किसी से निषिद्ध होता है यह लोक में प्रसिद्ध है। इस प्रकार अनवस्थित (अनिश्चित) विषय वाला तर्कजन्य ज्ञान सम्यक् ज्ञान कैसे होगा ? और प्रधानवादी सब तर्कवेत्ताओं में उत्तम हैं इस प्रकार भी सब तार्किकों से प्रधानवादी नहीं स्वीकृत हैं, कि जिससे उनका मत सम्यक् ज्ञान स्वरूप है, इस प्रकार समझलें। एवं भूतभावी वर्तमान सब तार्किक एक देश एक काल में साथ मिल नहीं सकते कि जिससे एक अर्थ विषयक एक स्वरूप वाली उनकी मति (बुद्धि ज्ञान) सम्यङ्मति है ऐसा निश्चय हो सके। और वेद को तो नित्यत्व और विज्ञानोत्पत्ति के हेतुत्व होने पर व्यवस्थित अर्थ विषयत्व की सिद्धि से वेदजन्य ज्ञान की यथार्थता का भूतभावी वर्तमान सब तार्किकों से भी अपह्नव (अपलाप निवारण) नहीं किया जा सकता है। इससे इस औपनिषद ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञानत्व सिद्ध हुआ, और इससे अन्य ज्ञान में सम्यक्ज्ञानत्व की असिद्धि से संसार से अविमोक्ष की प्राप्ति होगी। इस नित्य आगम के बल से तथा आगमानुसारी तर्क के बल से चेतन ब्रह्म जगत् का कारण और प्रकृति है यह स्थित हुआ ॥ ११ ॥

सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि परमाणु आदि कारणवादि मतों से समन्वय का बोध होता है, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि जिससे न्यून परिमाण वाले तन्तुओं से जन्य उनसे बड़ा पट देखा जाता है, इससे मतों द्वारा समन्वय का बाध होता है अर्थात् विभु ब्रह्म से जगत् नहीं होता है किन्तु परमाणु आदि से होता है। सिद्धान्त है कि श्रुति सत्तर्क के बल से शिष्टों की इष्ट स्मृति भी छोड़ दी गई है, तो शिष्ट त्यक्त को त्यागने में कौन ऐसी बात है कि जिससे वह नहीं छोड़ा जा सके। इससे बाध नहीं होता है और विवर्त रूप कार्य में कारण की न्यूनता का नियम नहीं है।

शिष्टापरिग्रहाधिकरण (४)

बाधोस्ति परमाण्वादिमतैर्नो वा यतः पटः।
न्यूनतन्तुभिरारब्धो दृष्टोऽतो बाध्यते मतैः॥
शिष्टैष्टापि स्मृतिस्त्यक्ता शिष्टत्यक्तमतं किमु।
नातो बाधा विवर्ते तु न्यूनत्वनियमो नहि॥

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद्गुरुतरतर्कबलोपेतत्वाद्वेदानुसारिभिश्च केश्चिच्छिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतत्वात्प्रधानकारणवादं तावद्व्यपाश्रित्य

यस्तर्कनिमित्त आक्षेपो वेदान्तवाक्येषूद्भावितः स परिहृतः। इदानीमण्वादिवादव्यपाश्रयेणापि कैश्चिन्मन्दमतिभिर्वेदान्तवाक्येषु पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप आशङ्क्यते इत्यतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति। परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः न परिग्रहा अपरिग्रहाः शिष्टानामपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः, एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन, शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः। तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य नात्र पुनराशङ्कितव्यं किञ्चिदस्ति। तुल्यमत्रापि परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं तर्कस्य चाप्रतिष्ठितत्वमन्यथानुमानेऽप्यविमोक्ष आगमविरोधश्चेत्येवं जातीयकं निराकरणकारणम् ॥१२॥

वैदिक दर्शन के समीप होने से अर्थात् सत्यकार्यत्व आत्मासङ्गत्वादि अंश में वेदान्त से सम्मिलित होने से और गम्भीर प्रबल तर्कों से युक्त होने से तथा वेदानुसारी किसी-किसी शिष्टों द्वारा किसी अंश में परिगृहीत होने से प्रथम प्रधान कारणवाद का आश्रयण करके जो तर्कनिमित्तक आक्षेप वेदान्त वाक्यों में प्रकट किया गया था वह परिहृत (निवारित) हो चुका। अब इस समय अणु आदि वाद का आश्रयण करके भी किसी मन्दमति से फिर तर्कनिमित्तक आक्षेप वेदान्त वाक्यों में आशंका से किया जाता है। इससे प्रधानमल्लनिर्वहणन्याय से अतिदेश करते हैं कि, जो परिगृहीत हों (स्वीकृत हों) वे परिग्रह करते हैं उनसे भिन्न अपरिग्रह कहाते हैं, शिष्टों का अपरिग्रह शिष्टापरिग्रह है। और इस प्रकृत, प्रधानकारणवाद के निराकरण के कारण से, शिष्ट मनु व्यास आदि द्वारा किसी अंश से भी ग्रहण के अविषय जो परमाणु आदि कारणवाद हैं वे भी प्रतिषिद्ध रूप से व्याख्यात निराकृत हो गये ऐसा समझना चाहिये। निराकरण के कारण के तुल्य होने से यहाँ फिर कुछ समन्वय में शंका योग्य नहीं है। यहाँ भी परमगम्भीर जगत् कारण को तर्क से अग्राह्यत्व तुल्य है, और तर्क को अप्रतिष्ठितत्व है। अनुमान करने पर भी अविमोक्ष और आगम विरोध है, इस प्रकार के यहाँ भी निराकरण के कारण हैं ॥१२॥

भोक्त्रापत्त्यधिकरण (५)

अद्वैतं बाध्यते वा नो भोक्तृभोग्यविशेषतः।
प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धो भेदोऽसावन्यबाधकः ॥१॥
तरङ्गफेनभेदेऽपि समुद्रेऽभेद इष्यते।
भोक्तृभोग्याविभेदेऽपि ब्रह्माद्वैतं तथास्तु तत् ॥२॥

यह अद्वैतवाद में शंका होती है कि भोक्ता भोग्यादि रूप सब जगत् यदि ब्रह्म से अभिन्न है, तो भोक्ता से अभिन्न ब्रह्म भोक्तृरूपता की प्राप्ति द्वारा भोग्य को भी भोक्तृरूपता की प्राप्ति होती है, क्योंकि तदभिन्नाऽभिन्न को तदभिन्नत्व की प्राप्ति स्वाभाविक है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है, लोक के समान यह भेद रहेगा। गन्ध से अभिन्न भूमि के रूपादि भूमि से अभिन्न होते हुए भी गन्ध से अभिन्न नहीं होते हैं, तथा भूमि भी गन्ध से अभिन्न होती हुई भी गन्धस्वरूप नहीं होती है, ऐसे ही ब्रह्म और भोग्य भोक्ता नहीं होगे

कल्पित भेद रहेगा। यहाँ संशय होता है कि भोक्ता भोग्य के भेद से अद्वैत बाधित होता है, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध भेद अद्वैत का बाधक है। सिद्धान्त है कि जैसे समुद्र के फेनतरङ्गादि का परस्पर भेद होते हुए भी समुद्र में अभेद माना जाता है, वैसे ही भोक्ता भोग्य का विभेद होते हुए भी ब्रह्म का सबके साथ अभेद भी है, इससे अभेद का बाधक नहीं होता है ॥ १–२ ॥

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

अन्यथा पुनर्ब्रह्मकारणवादस्तर्कबलेनैवाक्षिप्यते। यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति तथापि प्रमाणान्तरेण विषयापहारेऽन्यपरा भवितुमर्हति, यथा मन्त्रार्थवादौ। तर्कोऽपि हि स्वविषयादन्यत्राप्रतिष्ठितः स्यात् यथा धर्माधर्मयोः। किमतः ? यद्येवम्, अत इदमयुक्तं यत्प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थबाधनं श्रुतेः। कथं पुनः प्रमाणान्तरप्रसिद्धोऽर्थः श्रुत्या बाध्यत इति ? अत्रोच्यते—प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके–भोक्ता चेतनः शारीरो भोग्याः शब्दादयो विषया—इति, यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति, तस्य च विभागस्याभावः प्रसज्येत यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत, भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत। तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वात्प्रसज्येत। नचास्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम्। यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः। तस्मात्प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यविभागस्याभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणम्।

फिर भी ब्रह्म कारणवाद का तर्क के बल द्वारा ही अन्य प्रकार से आक्षेप किया जाता है। यद्यपि श्रुति अपने विषय में प्रमाण है कि जो विषय प्रमाणान्तर के अयोग्य हैं, तथापि प्रमाणान्तर के विषय भूमि जलादि में प्रमाणान्तर से अभेदरूप विषय का जहाँ अपहरण (बाध) होता है, वहाँ अपहरण होने पर श्रुति अन्यार्थपरक हो जाती है, जैसे कि मन्त्र और अर्थवाद अन्यार्थपरक होते हैं, अर्थात् जैसे (आदित्यो यूपः) इत्यादि वाक्य यूप के स्तुति परक गौणार्थक हैं, वैसे ही ब्रह्माद्वैतता की बोधक श्रुति भी गौणार्थक स्तावकमात्र है। जिससे तर्क भी अपने विषय भेदादि से अन्यत्र अप्रतिष्ठित हो सकता है, जैसे कि धर्माधर्म में तर्क अप्रतिष्ठित होता है। शंका होती है कि यदि इस प्रकार श्रुति के समान तर्क भी अपने विषय में प्रतिष्ठित है, तो इससे क्या फल हुआ ? पूर्वपक्षी समाधान करता है कि इससे यह हुआ कि प्रमाणान्तर से प्रसिद्ध द्वैतादि अर्थ का जो श्रुति से बाधन किया जाता है वह अयुक्त है, यदि कहो कि प्रमाणान्तर से प्रसिद्ध अर्थ का श्रुति से बाध कैसे किया जाता है, तो यहाँ कहा जाता है कि भोक्ता और भोग्य वस्तु का विभाग भेद यह लोक में प्रसिद्ध है भोक्ता चेतन जीव है, भोग्य शब्दादि विषय हैं, जैसे कि भोक्ता देवदत्त है, और भोज्य (खाने योग्य)

ओदन (भात) है इत्यादि । इस विभाग का अभाव प्राप्त होगा कि यदि भोक्ता भोग्य रूपता को प्राप्त हो, वा भोग्य भोक्ता रूपता को प्राप्त हो । और परम कारण ब्रह्म के साथ इन भोक्ता भोग्य पदार्थों की अनन्यता (एकता) से इनको परस्पर भी इतरेतरभाव (अभेद) की प्राप्ति प्रसक्त (प्राप्त) होगी, इससे भेद बाधित होगा, और यह प्रसिद्ध विभाग (भेद का बाध) होना युक्त नहीं है । जिस प्रकार अभी वर्तमान काल में भोक्ता और भोग्य का भेद प्रसिद्ध है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसी प्रकार भूत भावी काल में भी कल्पना योग्य अनुमान से ज्ञेय है, इससे अनादि अविनाशी और प्रसिद्ध इस भोक्ता भोग्य के विभाग के अभाव के प्रसंग से यह ब्रह्म कारणता का अवधारण अयुक्त है ।

इति चेत् कश्चिच्चोदयेत्तं प्रतिब्रूयात्—स्याल्लोकवदिति । उपपद्यत एवायमस्मत्पक्षेऽपि विभागः एवं लोके दृष्टत्वात् । तथाहि—समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभागः इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते । न च समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति, न च तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति, एवमिहापि । न च भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः, न च परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति । यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकारः 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्यास्त्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरङ्गादिन्यायेनेत्युक्तम् ॥ १३ ॥

इस उक्त रीति से यदि कोई शंका करे, तो उसके प्रति कहना चाहिये कि यह विभाग लोकवत् होगा । अर्थात् यह विभाग हमारे पक्ष में भी उपपन्न (सिद्ध) होता है, क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है । जैसे कि जल स्वरूप समुद्र से उसके विकार फेनवीची तरङ्ग बुद्बुदादि को अनन्यत्व (अभेद) होते हुए भी परस्पर विभाग और संश्लेष (सम्बन्ध) रूप व्यवहार उपलब्ध होता है (देखा जाता है) और जलात्मक समुद्र से उसके विकार फेनतरङ्गादि को अभिन्न होते हुए भी परस्पर इतरेतरभाव (अभेद) की प्राप्ति नहीं होती है, तथा उनको इतरेतरभाव (अभेद) की असिद्धि होते भी समुद्र से अन्यत्व (भेद) उनको नहीं होता है । इसी प्रकार यहाँ भी भोक्ता और भोग्य को इतरेतरभाव की प्राप्ति नहीं होगी, परब्रह्म से अन्यत्व (भेद) भी नहीं होगा । यद्यपि भोक्ता ब्रह्म का विकार नहीं है, क्योंकि (वह परब्रह्म स्वरूप आत्मा इस जगत् को रचकर इसमें अनुप्रवेश किया) इस कथन से अविकृत स्रष्टा का ही कार्य में अनुप्रवेश द्वारा भोक्तृत्व सुना जाता है । तथापि कार्य में अनुप्रवेशनिमित्तक विभाग है, जैसे कि घटादि उपाधि निमित्तक आकाश का विभाग होता है, वैसा यह भोक्ता का विभाग है ।

इससे परम कारण ब्रह्म से अनन्य होने पर भी समुद्र तरङ्गादि न्याय से भोक्ता भोग्य स्वरूप विभाग उपपन्न (सिद्ध) होता है, यह कहा गया है ॥ १३ ॥

आरम्भणाधिकरण (६)

भेदाभेदौ तात्त्विकौ स्तां यदि वा व्यावहारिकौ ।
समुद्रादाविव तयोर्बाधाभावेन तात्त्विकौ ॥
बाधितौ श्रुतियुक्तिभ्यां तावेतौ व्यावहारिकौ ।
कार्यस्य कारणाभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम् ॥

सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि पूर्वोक्त कारणरूप से अभेद विकाररूप के भेद ये दोनों तात्त्विक (सत्य) हैं कि व्यावहारिक हैं—अर्थात् मिथ्या हैं ? पूर्वपक्ष है कि किसी पदार्थ के बाध से उसका मिथ्यात्व समझा जाता है और प्रकृत में समुद्र उसके विकार में भेदाभेद के समान कारणरूप ब्रह्म जगतरूप विकार के भेदाभेद का बाध नहीं होता है, कारणरूप से अभेद और कार्यरूप से भेद सत्य ही भासता है, इससे भेदाभेद सत्य ही हैं । सिद्धान्त है कि यद्यपि प्रत्यक्ष दृष्टान्तादि से भेदाभेद अबाधित प्रतीत होते हैं, तथापि सर्वथा अद्वैत बोधक श्रुति और भेदाभेद के विरोधादिरूप युक्ति से ये भेदाभेद बाधित हैं, इससे व्यावहारिक भेदाभेद हैं । और कार्य को प्रकृतिरूप कारण के साथ अभेद होने से अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है ॥ १–२ ॥

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति परिहारोऽभिहितः, न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात्तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते । कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात्कारणात्परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते । कुतः ? आरम्भणशब्दादिभ्यः । आरम्भणशब्दस्तावत् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते- 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छां० ६।१।४) इति ।

आरम्भण शब्दादि से कार्य जगत् को कारण ब्रह्म से सर्वथा अभेद है, यह कथनमात्र मिथ्या भेद है । और मिथ्या ही भेद की दृष्टि से पहले समुद्र का दृष्टान्त दिया गया है । इस व्यावहारिक भोक्ता और भोग्यरूप विभाग का स्वीकार करके (लोकवत् व्यवहार होगा) यह परिहार (शंका का उत्तर) कहा गया है । परन्तु यह भोक्ता और भोग्य का विभाग परमार्थरूप से नहीं है, जिससे कार्यकारण (जगत ब्रह्म) का अनन्यत्व (अभेद) अवगत होता है समझा जाता है । वहाँ आकाशादिक बहुत विस्तारयुक्त जगत् का कार्य है और परब्रह्म कारण है, उस कारण से परमार्थरूप से अनन्यत्व (अभेद) और ब्रह्म के बिना कार्य जगत् का अभाव समझा जाता है, ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि आरम्भण शब्दादि से ऐसा ही ज्ञान होता है । पहले आरम्भण शब्द

इस प्रकार है कि एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त की अपेक्षा होने पर कहा जाता है कि (हे सोम्य) जैसे ज्ञात एक मृत्पिण्ड से सब मृत्तिका के विकार विज्ञात होते हैं, क्योंकि वाक् से जन्म नाममात्र ही विकार है मृत्तिका ही सत्य है।

एतदुक्तं भवति—एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत्, यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते - विकारो घटः शराव उदञ्चनं च—इति, ननु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति, नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति। एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः। तत्र श्रुताद्वाचारम्भणशब्दाद्दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभाव इति गम्यते। पुनश्च तेजोबन्नानां ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोबन्नकार्याणां तेजोबन्नव्यतिरेकेणाभावं ब्रवीति—'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (छां० ६।४।१) इत्यादिना। आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि' (छां० ६।७), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मु० २।२।११), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छां० ७।२५।२), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९) इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनपरं वचनजातमुदाहर्तव्यम्। न चान्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं संपद्यते। तस्माद्यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथाच मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति।

इससे यह कहा गया है कि परमार्थरूप से मृदाऽत्मक (मिट्टी स्वरूप) एक मृत्तिका के पिण्ड के विज्ञात होने से मृत्तिका के विकार घट शराव उदञ्चनादि सब मृत्तिकारूपता की अविशेषता (तुल्यता) से ज्ञात हो जाते हैं, कि ये सब मिट्टीमात्र हैं। जिससे वाक् से आरभ्यमाण (जन्य) नामधेय (नाम) मात्र विकार वाक् से ही केवल हैं इस प्रकार आरब्ध जन्य होते हैं कि विकार रूप घट शराव उदञ्चन हैं, और वस्तु वृत्त (स्वभाव चरित्र) से विकार नामक कोई पदार्थ नहीं है, यह नामधेय मात्र मिथ्या है। विकारों में भी मृत्तिका इस शब्द का अर्थ ही सत्य है, यह श्रुति में ब्रह्म का दृष्टान्त कहा गया है। वहाँ सुना गया वाचारम्भण शब्द से दार्ष्टान्तिक में ब्रह्म से भिन्न ब्रह्म के बिना कार्य समूह का अभाव प्रतीत होता है, फिर भी तेज जल अन्न को ब्रह्म के कार्य स्वरूप कह कर, तेज जल और अन्न के कार्यों का तेज जल और अन्न के बिना अभाव को श्रुति कहती है कि (अग्नि का धर्म अग्नित्व अग्नि से गया अग्नित्व नहीं रहा। क्योंकि विकार नामधेय मात्र है, वाचारम्भण है। तेज जल अन्न ये तीन कारण रूप ही सत्य हैं) इत्यादि। (आरम्भण शब्दादिभ्यः) इस सूत्रगत आदि शब्द से (इस परम सूक्ष्म कारण स्वरूप सब जगत् है। और वही कारण

सत्य है वह आत्मा है वही तुम हो। यह सब जो कुछ है वह आत्मा है। ब्रह्म ही सब जगत्स्वरूप है। आत्मा ही सब स्वरूप है। इसमें नाना कुछ नहीं है) इत्यादिक भी आत्मा के एकत्व के प्रतिपादन परक वचनसमूह उदाहरण के योग्य हैं, अन्यथा (उक्त एकता के बिना) एक के विज्ञान से सबका विज्ञान नहीं सिद्ध हो सकता है उससे जैसे घट कमण्डलु आदि के आकाशों को महाकाश से अनन्यत्व (अभेद) रहता है। जैसे मृगतृष्णिका के उदकादि (ऊषरादि में मिथ्या भासने वाले जलादि) को ऊषरादि से अभेद रहता है। क्योंकि वे दृष्ट प्रातिभासिक और नष्ट (अनित्य) स्वरूप वाले होते हैं, और इसी से अपने स्वरूप से सत्तादि शून्य अनिर्वाच्य होते हैं, इससे उन्हें ऊषरादि अनन्यता रहती है। इसी प्रकार इस भोग्य भोक्तादि रूप प्रपञ्च समूह का ब्रह्म के स्वरूप से अतिरिक्त अभाव है।

नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म, अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव। यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति नानात्वम्। यथा च समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम्। यथाच मृदात्मनैकत्वं घटशरावाद्यात्मना नानात्वम्। तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति। नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति। एवञ्च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति। नैवं स्यात्, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्। वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात्। दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात्, 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शरीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात्। स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यम्। अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं संपद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम्। बाधिते च शरीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्ध्ये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत। दर्शयति च—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम्।

यहाँ शंका होती है कि एक कारण स्वरूप अद्वैत ब्रह्म सत्य है और अन्य सब मिथ्या है ऐसी स्थिति नहीं है किन्तु ब्रह्म अनेकात्मक अनेक स्वरूप है और अनेक स्वरूप से सत्य है, क्योंकि जैसे वृक्ष अनेक शाखा वाला होता है, इसी प्रकार अनेक शक्तियों द्वारा जो अनन्त परिणाम भेदादि रूप प्रवृत्ति उन प्रवृत्तियों से युक्त ब्रह्म है, इससे ब्रह्म में एकत्व और नानात्व दोनों सत्य ही है और वृक्ष स्वरूप से वृक्ष में एकता है और शाखा इत्याकारक स्वरूप से नानात्व है। जैसे समुद्र स्वरूप से एकत्व है, फेन तरंगादि

रूप से नानात्व है। और जैसे मृत्तिका रूप से एकत्व है, घट शराबादि रूप से नानात्व है। वहाँ ब्रह्म का एकत्वांश कारण स्वरूप है, नानात्वांश कार्य स्वरूप उक्त दृष्टान्तों के समान है, वहाँ एकत्वांश के सहित ब्रह्म के ज्ञान से मोक्षरूप व्यवहार सिद्ध होगा। और नानात्वांश से कर्म को आश्रयण करने वाले लौकिक वैदिक व्यवहार सिद्ध होंगे। इसी प्रकार मृदादि दृष्टान्त भी दार्ष्टान्तिक के अनुरूप (तुल्य) होगा। उत्तर है कि इस प्रकार नहीं हो सकता है, क्योंकि मृतिका ही सत्य है इस प्रकार प्रकृति मात्र की सत्यता का अवधारण (नियम) दृष्टान्त में किया गया है। और वाचारम्भण शब्द से विकार समूह की अनृतता (मिथ्यात्व) कही गई है। दार्ष्टान्तिक में भी (एतदात्म-स्वरूप ही यह सब है। और जिस स्वरूप वाला सब है वह सत्य है) इस प्रकार एक परम कारण की ही सत्यता का अवधारण किया गया है। और (हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा है और तुम उस आत्मा के स्वरूप हो) इस प्रकार जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश दिया गया है। संसार और भेद सत्य हो तो यह उपदेश नहीं बन सकता है, और यह उपदिष्ट एकता कर्मादि साध्य नहीं है किन्तु यह जीव के स्वयं प्रसिद्ध ब्रह्मात्मत्व का उपदेश दिया जाता है, और इस स्वतः सिद्ध ब्रह्मात्म के उपदेश होने से ही यह शास्त्रीय (शास्त्रगम्य) ब्रह्मात्मा की एकता अवगत (अनुभूत) होने पर स्वाभाविक (प्राकृतिक) जीवात्मता का बाधक सिद्ध होता है। जैसे कि रज्जु आदि के ज्ञान रज्जु आदि में कल्पित सर्पादि ज्ञान के बाधक होते हैं, वैसे यहाँ बाधक सिद्ध होता है, और जीवात्मा के बाधित होने पर उसके आश्रित रहने वाला वह स्वाभाविक समस्त व्यवहार बाधित होता है, जिसकी सिद्धि के लिये ब्रह्म के एकत्व से अन्य नानात्वांश की कल्पना करनी पड़ती। जैसे (जिस काल में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस काल में किससे किसको देखें) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्मात्मा के ज्ञानी के प्रतिक्रिया कारक फल स्वरूप सब व्यवहारों का अभाव दिखलाया जाता है।

न चायं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषनिबद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात्। तस्करदृष्टान्तेन चानृताभिसन्धस्य बन्धनं सन्धाभिसन्धस्य च मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति (छां० ६।१६) मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्। उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसन्ध इत्युच्यते। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इति च भेददृष्टिमपवदन्नेतदेव दर्शयति। न चास्मिन्दर्शने ज्ञानान्मोक्ष इत्युपपद्यते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनानभ्युपगमात्। उभयसत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते।

यह व्यवहार का अभाव मोक्षादि अवस्थाविशेष सम्बन्धी कहा जाता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, (वह ब्रह्म तू है) इस प्रकार उपदिष्ट ब्रह्मात्वभाव को जिससे

अवस्थाविशेष सम्बन्धित्व नहीं है, किन्तु नित्य सिद्ध ब्रह्मरूपता का उपदेश है, इससे भेद-रूप संसार मिथ्या सिद्ध होता है। और चोर के दृष्टान्त से मिथ्याभावी असत्यासक्त का बन्धन और सत्यभाषी सत्यासक्त का मोक्ष दिखलाता हुआ गुरु एक एकत्व को ही पारमार्थिक सत्य दिखलाता है, और मिथ्याज्ञान के कार्य विस्ताररूप नानात्व को दिखलाता है। यदि भेद और अभेद एक और नाना दोनों स्वरूप ब्रह्म में सत्यता हो तो नानात्व व्यवहार का गोचर (आश्रय) भी जन्तु (प्राणी) अनृतभाषी असत्य का प्रेमी कैसे कहा जा सकता है। और (वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है, जो इस ब्रह्मात्मा में नाना के समान देखता है) इस प्रकार भेद का अपवाद (निराकरण-निषेध) करता हुआ गुरु इस एक पारमार्थिक को ही दिखलाता है। इस भेदाभेद के सत्यता दर्शनपक्ष में ज्ञान से मोक्ष नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान से विनाश के योग्य संसार के कारण-रूप कोई मिथ्याज्ञान इस दर्शन में नहीं माना गया है। और एकत्व नानात्व दोनों की सत्यता दशा में एकत्व के ज्ञान से नानात्व ज्ञान निवृत्त विनष्ट किया जाता है, यह कैसे कहा जा सकता है, और एकत्वमात्र के सत्य होने पर एकत्वज्ञान से नानात्व ज्ञान की निवृत्ति कही जा सकती है, क्योंकि वह मिथ्या है।

नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात्प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि। तथा विधिप्रति-षेधशास्त्रमपि भेदोपेक्षत्वात्तदभावे व्याहन्येत। मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासि-त्रादिभेदोपेक्षत्वात्तदभावे व्याघातः स्यात्। कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रति-पादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति। अत्रोच्यते। नैष दोषः सर्वव्यवहारा-णामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृत-त्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते, विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा, तस्मा प्राग्ब्रह्मात्म-ताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः। यथा सुप्तस्य प्राकृ-तस्य जनस्य स्वप्ने उच्चावचान्भावान् पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक्प्रबोधात्, न च प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले भवति, तद्वत्। कथं त्वसत्येव वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत. नहि रज्जुसर्पेण दष्टो म्रियते, नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादिप्रयोजनं क्रियत इति। नैषः दोषः। शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः। स्वप्न-दर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात्। तत्कार्यमप्यनृतमेवेति चेद्ब्रूयात्। अत्र ब्रूमः। यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्य-मनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलं, प्रतिबुद्धस्याप्यबाध्यमानत्वात्। नहि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मन्यमानस्तदवग-

तिमपि मिथ्येति मन्यते कश्चित् । एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधनेन देहमात्रात्म वादो दूषितो वेदितव्यः ।

यहाँ शंका होती है कि एकत्व का एकान्त (नियत कैवल्य) मानने पर, अर्थात् केवल एकत्व को ही मानने पर नानात्व (भेद) के अभाव से निर्विषयता के कारण प्रत्यक्षादि लौकिक भेद विषयक प्रमाण व्याहत (अप्रमाण) हो जायेंगे, जैसे कि स्थाणु आदि में पुरुषादि के ज्ञान अप्रमाण होते हैं, वैसे ही प्रत्यक्षादि सब हो जायेंगे, और इसी प्रकार भेद सापेक्ष होने से विधि प्रतिषेध रूप शास्त्र भी एकत्व एकान्त पक्ष में अप्रमाण होंगे। और शिष्य शासिता (उपदेश पात्र गुरु) आदि रूप भेद सापेक्ष होने से उस भेद के अभाव होने पर मोक्ष शास्त्र का भी व्याघात (बाध) होगा। यदि कल्पित शास्त्र गुरु शिष्यादि और कल्पित उनके भेदों को मानकर उन शास्त्रों की कल्पित प्रमाणता को माना जाय तो भी अनृत (कल्पित मिथ्या) मोक्षशास्त्र से प्रतिपादित आत्मा की एकता को सत्यत्व कैसे सिद्ध होगा? अप्रमाणजन्य ज्ञान के अप्रमा होने से उसका विषय एकत्व भी मिथ्या ही सिद्ध होगा। और भेदाभेद दोनों को सत्य मानने से यह दोष नहीं प्राप्त होता है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि जागने से पहले स्वप्न के व्यवहार जैसे सत्य रहते, वैसे ही ब्रह्मात्मता के विज्ञान से पहले सब व्यवहारों को भी सत्यत्व की सिद्धि रहती है। क्योंकि जबतक सत्य एकात्मत्व का ज्ञान नहीं होता है, तबतक प्रमाण प्रमेय फलस्वरूप विकारों में किसी को मिथ्यात्व बुद्धि नहीं उत्पन्न होती है। किन्तु विकारों को ही अविद्या से सब प्राणी आत्मरूप से और आत्मसम्बन्धी रूप में मेरा इस प्रकार स्वाभाविक ब्रह्मता को त्याग कर समझता है। उससे ब्रह्मात्मता के ज्ञान से पहले लौकिक और वैदिक सब व्यवहार उपपन्न सिद्ध होता है, जैसे सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में अनेक प्रकार के पदार्थों को देखता हुआ साधारण मनुष्य को जगाने से पहले प्रत्यक्षरूप से अभिमत (स्वीकृत) वह स्वप्न कालिक ज्ञान निश्चित ही होता है, उस स्वप्नकाल में उस ज्ञानविषयक प्रत्यक्षाभास (असत्प्रत्यक्ष) का अभिप्राय (आशय-निश्चय) उसको नहीं होता है, वैसे ही व्यवहार काल में आत्मैकत्व ज्ञान से पहले व्यावहारिक ज्ञान में असत्यता बुद्धि नहीं होती है। फिर शंका होती है कि व्यावहारिक प्रमाण से व्यवहार की सिद्धि होनेपर भी असत्य वेदांत वाक्य से सत्य ब्रह्मात्मत्व का ज्ञान कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि रज्जु में कल्पित सर्प से डसा हुआ नहीं मरता है, न भ्रमतृष्णा के जल से पान स्नानादि प्रयोजन किया जाता है, उत्तर है कि यह भी दोष नहीं है, क्योंकि प्रथम तो वेदान्त वाक्य से जन्य वृत्तिरूप ज्ञान भी सत्य अविनाशी नहीं है। यदि मान भी लो, तो भी असत्य से भी सत्य उत्पन्न होता है, क्योंकि शंका भ्रम के विषय कल्पित विषादि निमित्त कारण से मरणादिरूप कार्यकी उपलब्धि होती है इससे असत्य से सत्य नहीं उत्पन्न होता है यह नियम नहीं है। और स्वप्न का दर्शनरूप अवस्था वाले को भी मिथ्या सर्प और जल से सर्प दर्शन और

उदक स्नानादि कार्य देखा जाता है। इससे असत् से भी कार्य होता है। यदि कहा जाय कि वह कार्य भी असत्य ही होता है, असत्य से सत्य कार्य नहीं हो सकता; तो उसका उत्तर है कि यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्था वाले के सर्पदंश उदक स्नानादि कार्य मिथ्या (तात्कालिक प्रातिभासिक) होते हैं, तथापि उनकी अवगति–अनुभूति उनकी अपेक्षा सत्य होती है, क्योंकि जागने पर भी वह अबाधित रहती है। इसीसे स्वप्न से उठा जागा हुआ कोई भी पुरुष स्वप्न में देखे गये सर्पदंश उदक स्नानादि कार्यों को मिथ्या मानता हुआ भी उनकी अवगति (ज्ञान) को मिथ्या नहीं मानता है। इस स्वप्नद्रष्टा के ज्ञान के अबाध से देहमात्र आत्मवाद दूषित समझना चाहिये, क्योंकि यदि देहमात्र आत्मा हो तो स्वप्न का ज्ञान स्वप्नकालिक कल्पित देह का धर्म होगा। इससे जाग्रत देह को उस ज्ञान का अनुसन्धान नहीं होगा। इसलिए सब व्यभिचारी देह में जाग्रत स्वप्नकालिक आत्मा देहों से भिन्न एक है।

तथा च श्रुतिः—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ (छां० ५।२।९)

इत्यसत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति। तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा 'अथ स्वप्नाः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेनासत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति। प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यते ईदृशेनासाध्वागमः इति। तथाऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः। अपि चान्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नातः परं किञ्चिदाकाङ्क्ष्यमस्ति। यथाहि लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते नैवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्ते किञ्चिदन्यदाकाङ्क्ष्यमस्ति, सर्वात्मैकत्वविषयत्वावगतेः। सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेऽर्थ आकाङ्क्षा स्यात्, न त्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणावशिष्यमाणोऽन्योऽर्थोऽस्ति य आकाङ्क्ष्येत। न चेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति शक्यं वक्तुम्, 'तद्धास्य विजज्ञौ' (छां० ६।१६।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अवगतिसाधनानां च श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात्। न चेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम्, अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तराभावाच्च। प्राक्चात्मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम। तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादिते आत्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनस्य भेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नानेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति।

असत्य से भी सत्य की उत्पत्ति होती है इस अर्थ को श्रुति कहती है कि (सकाम कर्मों के अनुष्ठान काल में यदि स्वप्न में स्त्री को देखता है, तो स्वप्न निदर्शन निमित्तक उस कर्म में समृद्धि सफलता समझनी चाहिये) इस प्रकार असत्य स्वप्नदर्शन से सत्य

समृद्धि (सम्पत्ति) को दिखलाती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानों में किसी अरिष्ट (मरण के चिह्न, अशुभ) के उत्पन्न होने पर (यह चिरकाल तक नहीं जीवित रहेगा इस प्रकार समझना चाहिये) ऐसे कह कर (इसके बाद स्वप्न कहे जाते हैं कि यदि स्वप्न में काले दांतों से युक्त काला पुरुष देखता है, तो वह इसकी हिंसा करता है) इत्यादि वचनों द्वारा उस असत्य स्वप्नदर्शन से ही सत्य मरण सूचित होता है, यह श्रुति प्रदर्शित करती है और अन्वयव्यतिरेक के विचारादि में कुशलों को इस लोक में भी प्रसिद्ध है कि ऐसे स्वप्न के दर्शन से साधु (सज्जन शुभ) का आगमन प्राप्ति सूचित होता है, और ऐसे स्वप्न के दर्शन से असज्जन अशुभ का आगमन सूचित होता है। इसी प्रकार रेखा (लिपि लेख) रूप मिथ्या अक्षर के ज्ञान से अकारादि सत्य अक्षर का ज्ञान देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि आत्मा की एकता का प्रतिपादक यह वेदान्तरूप प्रमाण अन्तिम है, इस को नानात्वांश से कोई जरूरत नहीं है, अतः इसके बाद कुछ भी आकाङ्क्षणीय नहीं रहता है। जैसे कि लोक में 'यज्ञ से इष्ट को प्राप्त करें इस प्रकार कहने पर किस इष्ट फल को प्राप्त करे, किस साधन से प्राप्त करे, किस प्रकार प्राप्त करे इस प्रकार की आकाङ्क्षा की जाती है। इसी प्रकार (वह तू है, मैं ब्रह्म हूं) इस उपदेश को अधिकारी के प्रति कहने से कुछ भी आकाङ्क्षणीय नहीं रहता है, क्योंकि सर्वात्मा के एकत्व विषयत्व इस अवगति (ज्ञान) को है। अन्य अर्थ के अवशेष रहने पर कोई आकाङ्क्षा हो सकती थी, परन्तु आत्म एकत्व से भिन्न अवशिष्ट अन्य अर्थ है नहीं कि जो आकाङ्क्षित हो सके। यदि कहो कि प्रत्यक्षादि के विरोध से यह ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है, तो यह नहीं कह सकते हो, क्योंकि (उस आत्मतत्त्व को पिता के वाक्य से श्वेतकेतु ने जाना) इत्यादि श्रुतियों से ज्ञान की उत्पत्ति कही गई है। और ज्ञान के साधन श्रवणादि का तथा वेदानुवचनादि का विधान किया गया है, इससे ज्ञान के साधन सामग्री के रहने पर ज्ञान अवश्य उत्पन्न होता है, अनधिकारी को ज्ञान नहीं होता है, उससे उसको आकाङ्क्षा भले ही हो सकती है कि मैं कैसे ब्रह्म हूं इत्यादि। एवं यह अवगति सर्वान्त में होने से अनर्थक है वा भ्रान्ति स्वरूप है यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उसकी उत्पत्ति समकालिक अविद्या की निवृत्तिरूप फल देखा जाता है, इससे सार्थक है और बाधकान्तर के अदर्शन से भ्रम नहीं है। इस आत्मएकत्व के ज्ञान से पूर्वकाल में सब सत्य और मिथ्या के लौकिक और वैदिक व्यवहार अव्याहत (अबाधित) रहते हैं, यह पहिले कह चुके हैं, इसलिए अन्तिम प्रमाण से आत्मा की एकता के प्रतिपादित होने पर समस्त पूर्वकालिक भेदव्यवहार के बाधित होने से अनेकात्मक ब्रह्म की कल्पना का अवकाश (अवसर) नहीं है।

ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात्परिणामवद्ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति। नेत्युच्यते, 'स वा एष

महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात् । नह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम् । स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत् । न । कूटस्थस्येति विशेषणात् । नहि नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं संभवति । कूटस्थं च (नित्यं) ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम । नच यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनमेवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित्फलायाभिप्रेयेत, प्रमाणाभावात् कूटस्थब्रह्मात्मत्वविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्–'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्य 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इत्येवंजातीयकम् ।

यहाँ शंका होती है कि मृत्तिकादि दृष्टान्त की रचना से परिणाम वाला ब्रह्म शास्त्र का अभिमत है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि परिणामी ही मृत्तिका आदि पदार्थ लोक में समधिगत (उपलब्ध) होते हैं। उत्तर है कि ऐसा नहीं कह सकते हैं (वह यह आत्मा महान् अजन्मा जरा मरणरहित नित्यमुक्त अभय ब्रह्म है। आत्मा बाह्य किसी दृश्य रूप नहीं है, स्थूल नहीं है, अणु नहीं हैं इत्यादि सब विकारों के निषेध रूप श्रुतियों से ब्रह्म को कूटस्थ नित्यत्व अवगत होता है। एवं एक ही ब्रह्म को परिणाम रूप धर्म वाला और उससे रहित कूटस्थ स्वरूप नहीं समझ सकते हैं। शंका होती है कि जैसे एक ही मनुष्यादि में काल भेद से स्थिति और गति होती है, वैसे ही ब्रह्म में काल भेद से परिणाम और कूटस्थता दोनों हो सकते हैं। उसका समाधान है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म का कूटस्थ नित्य विशेषण है, विशेषण की अभाव दशा में विशेषणाभावनिमित्तक विशिष्टाभाव हो जायगा। अर्थात् अग्नि का उष्ण विशेष स्वरूप के समान ब्रह्म का नित्य कूटस्थ स्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं हो सकता है, इससे कूटस्थ ब्रह्म को स्थिति गति के समान अनेक धर्म के आश्रयत्व का सम्भव नहीं है। सब विकार का श्रुति में निषेध से नित्य शाश्वत कूटस्थ ब्रह्म है, यह पहिले कहा जा चुका है। एवं जैसे ब्रह्म की आत्मा के साथ एकता का ज्ञान मोक्ष का साधन है। इस प्रकार जगत् रूप से ब्रह्म के परिणामित्व का ज्ञान भी किसी फल के लिए स्वतन्त्र ही नहीं अभिप्रेत होता है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। जिससे कूटस्थ ब्रह्मरूपता के विज्ञान से ही शास्त्र फल दिखलाता है कि (नेति नेति जो कहा गया वह यह आत्मा है) इस प्रकार आरम्भ करके कहा है कि (हे जनक निश्चित अभय को प्राप्त हुए हो) इस प्रकार के शास्त्र हैं।

तत्रैतत्सिद्धं भवति—ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत्तत्राफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद्ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिवत्, न तु स्वतन्त्रं

फलाय कल्प्यत इति। नहि परिणामवत्त्वविज्ञानात्परिणामवत्त्वमात्मनः फलं स्यादिति वक्तुं युक्तं, कूटस्थनित्यत्वान्मोक्षस्य। ननु कूटस्थब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभावे ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत्। न। अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात्सर्वज्ञत्वस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वराज्जगज्जनिस्थितिप्रलयाः, नाचेतनात्प्रधानादन्यस्माद्वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।४) इति। सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव न तद्विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते।

शास्त्र में यह सिद्ध होता है कि सब धर्म और विशेष रहित ब्रह्म के दर्शन से फल की सिद्धि होने पर भी जो उस ब्रह्म के प्रकरण में फलरहित ब्रह्म के जगत् रूप से परिणामादि सुने जाते हैं, वह ब्रह्मज्ञान के उपाय रूप से ही विनियुक्त (सम्बद्ध-सफल) होते हैं, जैसे कि फलवान याग के समीप में फलरहित प्रयाजादि सफल के अंग होते हैं, उन्हीं के समान यहाँ भी समझना चाहिए। इससे ब्रह्म के परिणामादि वा उसका ज्ञान स्वतन्त्र फल के लिए नहीं समर्थ होता है, जिससे ब्रह्म के परिणामवत्ता के विज्ञान से आत्मा की परिणामवत्तारूप फल की प्राप्ति होगी, यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि मोक्ष को कूटस्थ नित्यता है, यह (ब्रह्मविदाप्नोति परम्) इत्यादि से सिद्ध होता है। यहाँ शंका होती है कि कूटस्थ ब्रह्मात्मवादी के मत में एकत्व के नित्य होने से ईशिता (नियन्ता) और ईशितव्य (नियम्य) के अभाव होने पर ईश्वररूप कारण की जो प्रथम प्रतिज्ञा की गई है, उससे विरोध होता है। यदि ऐसी शंका हो तो कहा जाता है कि विरोध नहीं है, क्योंकि अविद्यारूप माया शक्ति स्वरूप, चिदात्मा में लीन, नामरूपात्मक बीज के व्याकरण (अभिव्यक्ति) सृष्टि की अपेक्षा से कल्पित ईश्वरत्व सर्वज्ञत्वादि हैं, और स्वरूप नित्य एकत्वादि हैं। (उस इस मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थ से प्रतिपाद्य आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि से सिद्ध होता है कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप वाला सर्वज्ञ सर्वशक्तियुक्त ईश्वर से जगत् के जन्मस्थिति और प्रलय होते हैं। अचेतन प्रधान वा अन्य से जगत् के जन्मादि नहीं होते हैं, यह अर्थ (जन्माद्यस्ययतः) इस सूत्र से प्रतिज्ञात हुआ है (निश्चित प्रतिज्ञा का विषय हुआ है), वह प्रतिज्ञा उसी अवस्था वाली वैसी ही है। फिर यहाँ उससे विरुद्ध अर्थ नहीं कहा जाता है।

कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता? शृणु यथा नोच्यते—सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते, ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः 'आकाशो वै नाम नामरूप-

योर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छां० ८।१४।१) इति श्रुतेः। 'नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७), 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' (श्वे० ६।१२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधी। स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातानुरोधिनो जीवाख्यान्विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये। तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते। तथाचोक्तम्—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छां० ७।२४।१) इति, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादि च। एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे।

शंका होती है कि आत्मा के अत्यन्त एकत्व और अद्वितीयत्व (द्वैत भेद रहितत्व) को यहाँ कहते हुए पूर्व प्रतिज्ञा से विरोध को कैसे नहीं कहते हो ? उत्तर है कि जिस प्रकार विरुद्ध नहीं कहा जा रहा है वह सुनो :—सर्वज्ञ ईश्वर के आत्मस्वरूप के समान अविद्या से कल्पित (सिद्ध) सत्यासत्यरूप से अनिर्वचनीय संसार के बीजस्वरूप नाम और रूप ही सर्वज्ञ ईश्वर की मायारूप शक्ति और प्रकृति इस शब्द से श्रुति और स्मृति में कहे जाते हैं, उन नाम और रूप दोनों से अन्य सर्वज्ञ ईश्वर है, क्योंकि (आकाश परमात्मा नाम और रूप का निर्वाह पालनादि करने वाला है, वे नाम रूप जिसके अन्दर हैं, वह ब्रह्म परमात्मा है।) (नाम रूप की अभिव्यक्ति-विभाग करूँ) (यह जो परमात्मा सब रूपों को रचकर और नामकरण करके बुद्ध आदि उपाधिवाला होकर नामों का कथन करता हुआ वर्तमान है।) (एक माया रूप बीज को जो बहुत प्रकार से करता है) इत्यादि श्रुतियों से ईश्वर को नाम रूप से अन्यत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार अविद्याकृत नाम रूप के अनुरोधी (अनुसारी) ईश्वर होता है, जैसे घट कमण्डलु आदि उपाधि के अनुरोधी आकाश होता है। और वह ईश्वर घटाकाशतुल्य, अविद्याजन्य नामरूपकृत कार्यकरण (शरीरेन्द्रिय) के अनुरोधी स्वात्मरूप ही जीवनामक विज्ञानात्माओं के प्रति व्यवहार के विषय में अनुशासन करता है, जिससे इस प्रकार अविद्यात्मक उपाधिकृत परिच्छेद (मिथ्याभेद) की अपेक्षाजन्य ही ईश्वर का ईश्वरत्व है और सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्व भी भेद सापेक्ष हैं, एवं विद्या से विनष्ट सर्वोपाधि वाला स्वरूपयुक्त आत्मा में परमार्थ स्वरूप से ईशिता ईशितव्य सर्वज्ञत्वादि व्यवहार नहीं सिद्ध होते हैं। उसी प्रकार परमार्थरूप द्वैत के अभाव को श्रुति में कहा है कि (जिस स्वरूप में न अन्य को देखता है, न सुनता है, न जानता है वह ब्रह्म है।) और (जिस काल या अवस्था में इस ज्ञानी का सब

आत्मा ही हो गया, उस काल में किसको देखे) इत्यादि। इस प्रकार परमार्थ अवस्था में सब वेदान्त सब व्यवहार के अभाव को कहते हैं।

तथेश्वरीगीतास्वपि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (गी० ५।१४-१५)

इति परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते। व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) इति। तथाचेश्वरगीतास्वपि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (गी० १८।६१) इति।

सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह। व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति। अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति॥ १४॥

इस प्रकार भगवद्गीता में भी परमार्थ व्यवस्था में ईशिता ईशितव्य आदि व्यवहारों के अभाव का प्रदर्शन कराया गया है कि (लोक के कर्तृत्व को और कर्तृत्वाधीन लोक के साध्य कर्मों को और कर्माधीन कर्म फल के संयोग को परमात्मा नहीं रचता है किन्तु अविद्या माया रूप स्वभाव करता कराता हुआ प्रवृत्त होता है। परमात्मा किसी भक्त के पाप का भी ग्रहण (नाश) नहीं करता है, न समर्पित पुण्य का स्वीकार करता है, किन्तु अज्ञान से ज्ञान के आवृत्त रहने के कारण जीव मोहित होते हैं कि परमात्मा सब कर्ता है) इत्यादि। व्यवहार अवस्था में श्रुति में भी ईश्वरादि का व्यवहार कहा है कि (यह परमात्मा सब का ईश्वर नियन्ता है, यह प्राणियों का अधिष्ठाता है, यह प्राणियों का पालनकर्ता है, और यह लोकों का असंभेद विवेक पृथक् ता के लिए विधारण कर्ता सेतु है)। इसी प्रकार भगवद्गीता में भी है कि (हे अर्जुन देहाभिमान से देहरूप यन्त्र पर आरुढ सब प्राणी को अपनी माया से भ्रमण कराते हुए ईश्वर सब प्राणी के हृदय देश में अन्तर्यामी रूप से स्थिर रहते हैं) और सूत्रकार भी परमार्थ के अभिप्राय से (तदनन्यत्वम्) कार्य को कारण से अभेद है इस प्रकार कहते हैं, और व्यवहार के अभिप्राय से तो (स्याल्लोकवत्) लोक के समान विभाग होगा। इस प्रकार महासमुद्र के तुल्य ब्रह्म को कहते हैं, और सगुण उपासनाओं में उपयोग होगा इस दृष्टि से कार्यप्रपञ्च का प्रत्याख्यान (निषेध) नहीं करके और परिणाम की प्रक्रिया का आश्रयण करते हैं॥ १४॥

भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्यमुपलभ्यते नाभावे। तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते सत्सु च तन्तुषु पट उपलभ्यते। नच नियमेनान्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा, नह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते। नच कुलालभाव एव घट उपलभ्यते, सत्यपि निमित्तनैमित्तिकभावेऽन्यत्वात्। नन्वन्यस्य भावेऽप्यन्यस्योपलब्धिर्नियता दृश्यते, यथाग्निभावे एव धूमस्येति। नेत्युच्यते। उद्वापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटिकादिधारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात्। अथ धूमं कयाचिदवस्थया विशिष्यादीदृशो धूमो नासत्यग्नौ भवतीति। नैवमपि कश्चिद्दोषः, तद्भावानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे हेतुं वयं वदामः। न चासावग्निधूमयोर्विद्यते। भावाच्चोपलब्धेरिति वा सूत्रम्। न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं, प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः। भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे। तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोऽशुंषु तदवयवाः। अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि ततो वायुमात्रमाकाशमात्रं चेत्यनुमेयम् (छां० ६।४), ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं तत्र सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम ॥ १५ ॥

इस वक्ष्यमाण कारण हेतु से भी कार्य को कारण से अनन्यत्व (अभेद) है कि जिस कारण से भाव (सत्ता) रहने का कार्य उपलब्ध होता है कारण के अभाव रहते कार्य नहीं उपलब्ध होता है, जैसे मृत्तिका के रहते ही घट उपलब्ध होता है, तन्तुओं के रहते पट उपलब्ध होता है। अन्य पदार्थ की सत्ता रहते ही नियम से उससे अन्य की उपलब्धि नहीं देखी गई है, गौ से अन्य होता हुआ अश्व गौ के रहते ही नियम से नहीं उपलब्ध होता है। और निमित्त नैमित्तिक भाव के रहते भी अन्यत्व से कुलाल के भाव रहते ही घट नहीं उपलब्ध होता है। यद्यपि सूत्र का भावार्थ है कि उपादान कारण की उपलब्धि (ज्ञान) के रहते ही उपादेय कार्य की उपलब्धि होती है, इससे अनन्यता है और ऐसा नियम धूमाग्नि में नहीं है पर्वतादि में अग्नि के बिना भी धूम का ज्ञान होता है, तथापि सूत्राक्षर के अनुसार शंका होती है कि अन्य के भाव रहते हुए भी अन्य की नियतोपलब्धि देखी जाती है, जैसे कि अग्नि की सत्ता रहते हुए ही धूम की उपलब्धि होती है। उत्तर है कि अग्नि के रहते ही धूम उपलब्ध होता है यह नियम नहीं है, क्योंकि अग्नि के उद्वापित (शान्तनिवृत्त) होने पर भी गोपाल की घुटिका (घुठना) आदि द्वारा गृहीत धूम देखा जाता है, अर्थात् किसी पात्र में धूम को भर कर और उसके मुख को घुटिका आदि से दबा कर रखने से अग्नि के बुझ जाने पर भी वह धूम उपलब्ध होता है। यदि धूम को किसी अविच्छिन्न मूलरेखा

आदि रूप अवस्थात्मक विशेषण युक्त कहो कि ऐसा धूम अग्नि के रहते ही उपलब्ध होता है तो ऐसा विशेषण देने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि तद्भाव (कारण भाव-कारणरूपता) से अनुरक्त (मिश्रित) कार्य की बुद्धि को हम कार्यकारण की अनन्यता में हेतु कहते हैं। ऐसी बुद्धि मृद्घटः (मृत्तिकात्मक घट है) इत्यादि होती है, अग्नि-धूमः (अग्निस्वरूप धूम है) इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती है, इससे हेतु में व्यभिचार दोष नहीं है, क्योंकि अग्नि धूम में यह बुद्धि नहीं है। अथवा (भावाच्चोप-लब्धेः) ऐसा सूत्र है, अर्थ है कि केवल शब्द (श्रुति) से ही कार्य कारण का अभेद नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष उपलब्धि के भाव (सत्ता से भी कार्य कारण का अभेद है, जिससे कार्यकारण का अभेदविषयक प्रत्यक्षज्ञान होता है। जैसे तन्तुओं के संस्थान (आकार सन्निवेश) रचना विशेषरूप पट में तन्तु के बिना तन्तु से भिन्न पट नामक कार्य नहीं उपलब्ध होता है किन्तु आतान वितान (दीर्घता विस्तार तानी भरनी वाले केवल तन्तु ही प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार तन्तुओं में अंशु (सूक्ष्मांश) और अंशुओं में भी उनके अवयव उपलब्ध होते हैं। इस प्रत्यक्ष उपलब्धि से तत्तत्कार्य में कारण मात्र को जान कर फिर श्रुति के अनुसार अनुमान से लोहित शुक्ल और कृष्ण इन तीन रूप को जान कर उनसे आगे वायुमात्र और आकाशमात्र क्रम से अनुमेय हैं, इससे पर एक ही अद्वितीय परब्रह्म शेष रहता है, उसी में सब प्रमाणों की निष्ठा को सब वेदान्त के तात्पर्य को कह चुके हैं ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

इतश्च कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं यत्कारणं प्रागुत्पत्तेः कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छां० ६।२।१), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० आ० २।४।१।१) इत्यादाविदंशब्द-गृहीतस्य कार्यस्य कारणेन सामानाधिकरण्यात्। यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम्, तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्य-नन्यदेव कारणात्कार्यमित्यवगम्यते। यथाच कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येवं कार्यमपि जगत्त्रिषु सत्त्वं न व्यभिचरति। एकं च पुनः सत्त्वमतो-ऽप्यनन्यत्वं कारणात्कार्यस्य ॥ १६ ॥

इस वक्ष्यमाण कारण से भी कार्य का कारण से अभेद है कि जिस कारण से उत्पत्ति से पूर्वकाल में कारण स्वरूप से ही अवरकालीन (पाश्चात्कालिक) कार्य का सत्त्व सुना जाता है कि (हे सोम्य! यह जगत् उत्पत्ति से पहिले सत्स्वरूप ही था। यह जगत् पूर्वकाल में एक आत्मस्वरूप ही था) इत्यादि श्रुतियों में इदं शब्द से गृहीत कार्य को कारण के साथ समानाधिकरण्य (अभेदता) से कारणरूप से सत्त्व सुना जाता है, और सत्त्व की सिद्धि होती है, क्योंकि जो जिस रूप से जहाँ नहीं है, वह उससे उत्पन्न भी नहीं होता है। जैसे कि सिकता से तेल नहीं होता है। जिससे उत्पत्ति

से पूर्वकाल में कार्य को कारण से अभिन्न होने से उत्पन्न भी कार्य कारण से अभिन्न ही रहता है, ऐसा निश्चय होता है। एवं जैसे कारणरूप ब्रह्म तीनों काल में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता है, इसी प्रकार कार्यरूप जगत् भी तीनों काल में सत्ता से व्यभिचरित (रहित) नहीं होता है। वह सत्त्व एक है, इससे भी कार्य को कारण से अभेद है, अर्थात् एक मूल कारण की ही सर्वत्र सत्ता है, उस रूप से सत्य है, अन्य स्वरूप से असत् है इत्यादि ॥ १६ ॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य व्यपदिशति श्रुतिः—'असदेवेदमग्र आसीत्' (छां० ३।१९।१) इति, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७।१) इति च। तस्मादसद्व्यपदेशान्न प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमिति चेत्। नेति ब्रूमः। न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः, किं तर्हि ? व्याकृतनामरूपत्वाद्धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणानन्यस्य। कथमेतदवगम्यते ? वाक्यशेषात्, यदुपक्रमे संदिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते। इह च तावत् 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत्तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि 'तत्सदासीत्' इति। असतश्च पूर्वापरकालासम्बन्धादासीच्छब्दानुपपत्तेश्च। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यत्रापि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम्। तस्माद्धर्मान्तरेणैवायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य। नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम्। अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणादसदिवासीदित्युपचर्यते ॥ १७ ॥

पूर्वोक्तार्थ में शंका होती है कि कहीं उत्पत्ति से पूर्वकाल में कार्य की असत्ता को भी श्रुति कहती है कि (यह जगत् उत्पत्ति से पूर्वकाल में असत् ही था। निश्चित असद् रूप यह पहिले था) इत्यादि। उस श्रुति के असत् कथन से सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पहिले कार्य का सत्त्व नहीं था, ऐसी यदि शंका हो तो कहते हैं कि उक्त श्रुति से असत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि उस श्रुति में उत्पत्ति से पहिले कार्य का असत्त्व कथन कार्य की अत्यन्त असत्ता के अभिप्राय से नहीं है। तो किस अभिप्राय से है ? इसका समाधान है कि व्याकृत (व्यक्तकृत) नाम रूपत्वात्मक धर्म से अव्याकृत नाम रूपत्व धर्मान्तर (अन्य धर्म) है, उस धर्मान्तर की दृष्टि से कारणरूप से सत्य ही और कारण से अभिन्न ही कार्य को उत्पत्ति से पहिले असत् कहा गया है। यदि कहो कि यह अभिप्राय कैसे समझा जाता है। तो कहते हैं कि वाक्यशेष से क्योंकि जो वाक्य उपक्रम में (आरम्भ में) सन्दिग्ध अर्थ वाला रहता है, वह उसके शेष (अङ्ग) रूप वाक्य से निश्चितार्थक होता है। और यहाँ पहिले (यह उत्पत्ति से पूर्व काल में असत् ही था) इस प्रकार आरम्भ में जो असत् शब्द से निर्दिष्ट-कथित

है उसी का फिर तत् शब्द से परामर्श (सम्बन्धस्मरण) करके (वह सत् था) तत्सदासीत् इस प्रकार उस असत् का सत् विशेषण श्रुति कहती है, इससे असत् का उक्त अभिप्राय समझा जाता है। एवं असत् स्वरूप रहित को पूर्वापर काल के साथ असम्बन्ध होने से असत् था इस शब्द की भी असिद्धि से उक्त तात्पर्य समझा जाता है। (निश्चित असत् रूप यह पहिले था) यहाँभी (उस परमात्मा ने स्वयं अपने को जगत् रूप से किया) इस वाक्य शेष में अपने आत्मा को जगत् रूप कृतता विशेषण से असत् शब्द का अत्यन्त असत्यता अर्थ नहीं है। इससे यह असत् का व्यपदेश धर्मान्तर (अव्यक्तता) की दृष्टि से की है कि उत्पत्ति से पहिले कार्य असत् था। क्योंकि नाम रूप से व्याकृत (व्यक्त) ही वस्तु लोक में सत् शब्द के योग्य प्रसिद्ध है, इससे नाम रूप के व्याकरण (अभिव्यक्ति) से पूर्व असत् के समान जगत् था इस प्रकार उपचार (गौण व्यवहार) किया जाता है ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

युक्तेश्च प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते, शब्दान्तराच्च। युक्तिस्तावद्वर्ण्यते—दधिघटरुचकार्थिभिः प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिकासुवर्णादीन्युपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते। नहि दध्यर्थिभिर्मृत्तिकोपादीयते न घटार्थिभिः क्षीरं तदसत्कार्यवादे नोपपद्यते। अविष्टे हि प्रागुत्पत्तेः सर्वत्र सर्वस्यासत्त्वे कस्मात्क्षीरादेव दध्युत्पद्यते न मृत्तिकायाः, मृत्तिकाया एव च घट उत्पद्यते न क्षीरात्। अथाविशिष्टेऽपि प्रागसत्त्वे क्षीरे एव दध्नः कश्चिदतिशयो न मृत्तिकायां, मृत्तिकायामेव च घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीर इत्युच्येत, तर्ह्यतिशयवत्त्वात्प्रागवस्थाया असत्यकार्यवादहानिः सत्कार्यवादसिद्धिश्च। शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्याऽसतो वा कार्यं नियच्छेत्, असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च। तस्मात्कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्। अपि च कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाश्वमहिषवद्भेदबुद्ध्यभावात्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्।

युक्ति से भी उत्पत्ति से पूर्वकाल में कार्य का सत्त्व और कारण से अनन्यत्व (अभेद) समझा जाता है, ऐसे ही शब्दान्तर (अन्य श्रुतियों) से पता चलता है। वहाँ पहिले युक्ति का वर्णन किया जाता है कि दधि, घट, रुचक आदि की इच्छा वालों से दूध मृत्तिका सुवर्णादिरूप प्रतिनियत कारणों का ग्रहण लोक में किया जाता है, इससे कार्यार्थियों द्वारा नियत ही कारण उपादीयमान (गृहीत) देखे जाते हैं। दधि की इच्छा वालों से दधि के लिए मृत्तिका नहीं गृहीत होती है, घट की इच्छा वाले दूध का ग्रहण नहीं करते हैं। यह नियम असत्कार्यवाद में नहीं सिद्ध होगा। और उत्पत्ति से पूर्व सब कार्य का सर्वत्र असत्त्व के अविशिष्य (तुल्य) रहते, दूध से ही क्यों दधि उत्पन्न होता है, मृत्तिका से क्यों नहीं ? और मृत्तिका से ही क्यों

घट उत्पन्न होता है, दूध से घट क्यों नहीं उत्पन्न होता है। यदि कार्यासद्वादी कहें कि उत्पत्ति से पहिले कार्य की असत्ता के सर्वत्र तुल्य रहते हुए भी दूध में ही दधि का कोई अतिशय शक्ति विशेष रहता है, मृत्तिका में दधि का अतिशय नहीं रहता है। और मृत्तिका में ही घट का कोई अतिशय रहता है, दूध में घट का अतिशय नहीं रहता है। वहाँ कहा जाता है कि यदि वह अतिशय का धर्म है, तो उत्पत्ति से कार्य की पूर्वावस्था को अतिशयरूप धर्मवाली होने से असत्कार्यवाद की हानि होगी, और सत्कार्यवाद की सिद्धि होगी। क्योंकि धर्मी के बिना पहिले धर्म रह नहीं सकता है। एवं यदि उस अतिशय को कारण का धर्म मानो, तो कारण को कार्य नियमार्थक कल्पित शक्ति भी कार्य कारण से अन्य वा असत् होने पर असत्त्व अन्यत्व के तुल्य होने से कार्य का नियम नहीं करेगा, अर्थात् दधि की शक्ति दूध में है, और दूध से अन्य है, तो दूध से अन्य घट पटादि के समान दधि का नियामक नहीं होगी, और यदि असत् है तो नृश्रृङ्गादि के समान नियामक नहीं होगी। इससे कारण की आत्मस्वरूप शक्ति है, और शक्ति का आत्मस्वरूप कार्य है। अर्थात् कारणरूप से लीन कार्य ही अभिव्यक्ति का नियामक शक्ति है, जिससे सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है। और दूसरी बात है कि कार्य और कारण में; तथा द्रव्य और गुणादि में अश्व और महिष के समान इनके भेद की बुद्धि के अभाव से इनका तादात्म्य (अभेद) मानने योग्य है। यदि कोई कहे कि कार्य कारणादि को तादात्म्य नहीं है किन्तु भेद है तो भी अश्व महिष तुल्य भेद बुद्धि नहीं होने में कारण यह है कि कार्य कारण का समवाय नामक नित्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार गुण क्रिया आदि को गुणी आदि के साथ समवाय सम्बन्ध है, अश्व महिष का समवाय नहीं है।

समवायकल्पनायामपि समवायस्य समवायिभिः सम्बन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्यान्योन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः, अनभ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः। अथ समवायः स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैवापरं सम्बन्धं सम्बध्यते, संयोगोऽपि तर्हि स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैव समवायं सम्बध्येत, तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्यगुणादीनां समवायकल्पनानर्थक्यम् कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तेत, किं समस्तेष्ववयवेषु वर्तेतोत प्रत्यवयवम्। यदि तावत्समस्तेषु वर्तेत ततोऽवयव्यनुपलब्धिः प्रसज्येत, समस्तावयवसंनिकर्षस्याशक्यत्वात्। नहि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते। अथावयवशः समस्तेषु वर्तेत, तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणावयविनोऽवयवाः कल्प्येरन् यैरारम्भकेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत। कोशावयवव्यतिरिक्तैर्ह्यवयवैरसिः कोशं व्याप्नोति। अनवस्था चैवं प्रसज्येत, तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात्। अथ प्रत्यवयवं वर्तते तदैकत्र व्यापारेऽन्यत्राव्यापारः स्यात्, नहि देवदत्तः स्रुघ्ने संनिधीय-

मानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि संनिधीयते युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात् देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्नपाटलिपुत्रनिवासिनोः। गोत्वादिवत्प्रत्येकं परिसमाप्तेर्न दोष इति चेत्। न। तथा प्रतीत्यभावात्। यदि गोत्वादिवत्प्रत्येकं परिसमाप्तोऽवयवी स्याद्यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति प्रत्यक्षं गृह्यते एवमवयव्यपि प्रत्यवयवं प्रत्यक्षं गृह्येत, नचैवं नियतं गृह्यते। प्रत्येकपरिसमाप्तौ चावयविनः कार्येणाधिकारात्तस्य चैकत्वाच्छृङ्गेणापि स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम्। नचैवं दृश्यते।

समवाय की कल्पना करने पर भी उस समवाय का समवायी (समवाय वाले) कार्यादि के साथ समवाय सम्बन्ध के स्वीकार करने पर तत्तत् समवायों को अन्य-अन्य समवाय सम्बन्ध कल्पना से मानना होगा। तब अनवस्था की प्राप्ति होगी और समवाय के सम्बन्ध को नहीं मानने पर विच्छेद (कार्यकारण द्रव्यगुणादि में सम्बन्धाभाव) की प्राप्ति होगी। स्वयं सम्बन्धरहित समवाय अन्य की सम्बद्ध बुद्धि नहीं करा सकेगा। यदि कहो कि सम्बन्ध स्वरूप होने से दूसरे सम्बन्ध की अपेक्षा के बिना ही समवाय समवायी से सम्बन्ध वाला होता है, अपनी अन्य की सम्बद्ध विशिष्ट बुद्धि करता है, तो संयोग भी स्वयं सम्बन्ध रूप होने से सम्बन्धान्तर रूप समवाय की अपेक्षा के बिना ही संयोगी से सम्बद्ध होगा, और विशिष्ट बुद्धि करायेगा। द्रव्यगुणादि का तादात्म्य की प्रतीति से समवाय की कल्पना अनर्थक है। और समवाय को मानने पर भी अवयव द्रव्य रूप कारणों में वर्तमान अवयवी कार्यरूप द्रव्य किस प्रकार से वर्तता रहता है, क्या समस्त अवयवों में रहता है अथवा प्रत्येक अवयव में? यदि समस्त अवयवों में रहेगा, तो अवयवी की अनुपलब्धि प्राप्त होगी, क्योंकि समस्त अवयवों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं हो सकता है, जैसे कि समस्त आश्रय में वर्तमान बहुत्व त्रित्वादि का व्यस्त (पृथक् एक) आश्रय के ग्रहण से नहीं ग्रहण होता है। यदि कहो कि समस्त अवयवों में अवयवी अवयवों द्वारा वर्तता है। अर्थात् किसी अवयव में अवयवी का ऊर्ध्वांश रहता है, किसी में मध्यांश किसी में नीचे का अंश रहता है, इसी प्रकार बाह्यांश अन्तांशादि रूप से अवयवी सब अवयवों में रहता है वहाँ सब अवयव के ज्ञान बिना भी सन्मुख बाह्यांश के ज्ञान से अवयवी का ज्ञान होता है। तो कहा जाता है कि अंश भी अवयव को ही कहते हैं, इससे इस प्रकार मानने पर अवयवी के आरम्भक अवयवों से भिन्न अवयवी के अवयव कल्पित होंगे कि जिनके द्वारा आरम्भक अवयवों में अवयवी अवयवशः (अंशशः) रहेगा जैसे कि कोश के अवयवों से भिन्न अवयवों द्वारा ही तरवार कोश को व्याप्त करता है, वैसे ही यहाँ भी होगा, और इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होगी। क्योंकि तत्तत् अवयवों में अवयवी के रहने के लिए अन्य अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी और यदि प्रत्येक अवयव में अवयवी रहेगा, तो प्रत्येक अवयव में भिन्न-भिन्न अवयवी के होने से एक तन्तु में जिस समय एक पट

रहेगा, उसी समय वह पट दूसरे तन्तु में नहीं रहेगा, इससे एक तन्तु में पटके कोई स्थिति आकर्षणादि रूप व्यापार होने पर अन्य तन्तु में पट का व्यापार नहीं होगा, क्योंकि स्रुघ्न में वर्तमान देवदत्त उसी दिन पटना में वर्तमान नहीं रहता है, और एक काल में अनेक तन्तु में पट के रहने पर अनेक पट की प्रसक्ति है, जैसे कि स्रुघ्न और पटना के निवासी देवदत्त यज्ञदत्त में अनेकता रहती है। यदि कहो कि जैसे गोत्व जाति एक काल में अनेक व्यक्ति में रहती है तथा प्रत्येक व्यक्ति में परिसमाप्त (पूर्ण) रहती है, तो भी उसमें भेद की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही अवयवी की प्रत्येक अवयव में परिसमाप्ति से भेद के प्रसंगादिरूप दोष नहीं हैं, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि गोत्व के समान अवयवी की प्रतीति का अभाव है। यदि गोत्वादि के समान प्रत्येक अवयव में अवयवी परिसमाप्त हो तो जैसे गोत्व जाति प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्यक्ष गृहीत होती है, इसी प्रकार अवयवी भी प्रत्येक अवयवों में प्रत्यक्ष गृहीत होता, परन्तु इस गोत्व के समान अवयवों में व्यक्ति नियम से नहीं गृहीत होता है। और यदि प्रत्येक अवयव में अवयवी की परिसमाप्ति पूर्णता हो तो अवयवी को कार्य के साथ अधिकार (सम्बन्ध) होने से और प्रत्येक अवयव में परिसमाप्त होने पर भी गोत्व के समान उस अवयवी के एक होने से गौ अपने सींग से भी स्तन का कार्य करने लगेगी, उर से पीठ का कार्य करेगी, ऐसा होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता हुआ देखा नहीं जाता है।

प्रागुत्पत्तेश्च कार्यस्यासत्त्व उत्पत्तिकरकर्तृका निरात्मिका च स्यात्। उत्पत्तिश्च नाम क्रिया, सा लकर्तृकैव भवितुमर्हति गत्यादिवत्, क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिपिध्येत। घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना न घटकर्तृका किं तर्ह्यन्यकर्तृकेति कल्प्या स्यात्। तथा कपालादीनामप्युत्पत्तिरुच्यमानान्यकर्तृकैव कल्प्येत, तथा च सति घट उत्पद्यत इत्युक्ते कुलालादीनि कारणान्युत्पद्यन्त इत्युक्तं स्यात्। नच लोके घटोत्पत्तिरित्युक्ते कुलादीनामप्युत्पद्यमानता प्रतीयते, उत्पन्नताप्रतीतेश्च। अथ स्वकारणसत्तासम्बन्ध एवोत्पत्तिरात्मलाभश्च कार्यस्येति चेत्, कथमलब्धात्मकं सम्बध्येतेति वक्तव्यम्। सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः संभवति न सदसतोरसतोर्वा। अभावस्य च निरुपाख्यत्वात्प्रागुत्पत्तेरिति मर्यादाकरणमनुपपन्नम्, सतां हि लोके क्षेत्रगृहादीनां मर्यादा दृष्टा नाभावस्य। नहि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक्पूर्णवर्मणोऽभिषेकादित्येवंजातीयकेन मर्यादाकरणेन निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भविष्यतीति वा विशेष्यते। यदि च वन्ध्यापुत्रोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वमभविष्यत्तत इदमप्युपापत्स्यत कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं भविष्यतीति। वयं तु पश्यामो वन्ध्यापुत्रस्य कार्याभावस्य चाभावत्वाविशेषाद्यथा वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यत्येवं कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यतीति।

कहते हैं कि उत्पत्ति क्रिया है, सब क्रिया कर्ता से जन्य होती है वहाँ यदि उत्पत्ति से पहिले कार्य की असत्ता है तो उत्पत्तिरूप क्रिया कर्ता के बिना और निरात्मक होगी, उत्पत्ति प्रसिद्धि क्रिया है, वह गति आदि के समान सकर्तृक ही होने योग्य है। क्रिया भी नाम हो और वह कर्ता रहित हो यह विरुद्ध है, और कही गई घट की उत्पत्ति घट कर्तृक नहीं हैं, किन्तु अन्य कर्तृक है, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। इसी प्रकार कही गई कपालादि की उत्पत्ति भी कपालादि से अन्यकर्तृक ही कल्पना करनी पड़ेगी। ऐसा होने पर घट उत्पन्न होता है ऐसा कहने से कुलालादि कारण उत्पन्न होते हैं ऐसा विरुद्ध कथन सिद्ध होगा। परन्तु लोक में घटोत्पत्ति इस प्रकार कहने पर कुलालादि की उत्पद्यमानता उत्पत्ति नहीं प्रतीति होती है। और पहिले की उत्पन्नता कुलादि में प्रतीत होती है। अर्थात् कुलालादि में वर्तमान उत्पत्ति क्रिया की आश्रयता नहीं भासती है, किन्तु सिद्धता कारण तो भासती है। यदि कहो कि अपने कारण के साथ और सत्ता के साथ कार्य का सम्बन्ध होना ही कार्य की उत्पत्ति है, और उसका आत्मलाभ (स्वरूप की सिद्धि) है। वहाँ कहा जाता है कि पहिले आत्मलाभ रहित अलब्ध आत्मा वाला कार्य कारण के साथ वा सत्ता के साथ कैसे सम्बन्ध वाला होगा यह कहना चाहिये, क्योंकि दो विद्यमान सत् पदार्थों का सम्बन्ध सम्भव होता है, एक सत् और एक असत् का वा दो असत् का सम्बन्ध नहीं होता है, और अभाव (असत्) के निरुपाख्य (वचन धर्मादि के अयोग्य) होने से उत्पत्ति से पूर्व असत् कार्य रहता है यह मर्यादा करना भी अयुक्त है क्योंकि निरुपाख्य असत् का काल के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, लोक में सत् गृह क्षेत्रादि की ही काल देशादि कृत मर्यादा देखी गई है, अभाव (असत्) की मर्यादा (सीमा) नहीं देखी गई है। पूर्णवर्मा के राज्याभिषेक से पहिले बन्ध्या का पुत्र राजा हुआ था इस प्रकार की मर्यादा के करने के द्वारा निरुपाख्य बन्ध्या पुत्र राजा हुआ वा होता है वा होगा इस प्रकार का भेद नहीं किया जाता है। और यदि बन्ध्या का पुत्र भी कारक के व्यापार के बाद होता तो यह भी उपपन्न (सिद्ध) होता कि कार्याभाव (असत्कार्य) भी कारक व्यापार के बाद उत्पन्न होता है। और हम तो देखते हैं कि वन्ध्यापुत्र और कार्य का अभाव (असत् कार्य) दोनों के तुल्य होने से जैसे बन्ध्या पुत्र कारक व्यापार के बाद में नहीं हो सकता है, इसी प्रकार कार्याभाव (असत्कार्य) भी कारक के व्यापार के बाद में नहीं हो सकता है, क्योंकि (नासतो विद्यते भावः) असत् का भाव नहीं होता है, यह भगवद्वचन भी है।

नन्वेवं सति कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्येत। यथैव हि प्राक्सिद्धत्वात्कारणस्य स्वरूपसिद्धये न कश्चिद्व्याप्रियन्ते, एवं प्राक्सिद्धत्वात्तदनन्यत्वाच्च कार्यस्य स्वरूपसिद्धयेऽपि न कश्चिद्व्याप्रियेत, व्याप्रियते च, अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वाय मन्यामहे प्रागुत्पत्तेरभावः कार्यस्येति। नैष दोषः, यतः कार्याकारेण कारणं व्यवस्थापयतः कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वमुपपद्यते। कार्याका-

रोऽपि कारणस्यात्मभूत एवानात्मभूतस्यानारभ्यत्वादित्यभाणि। नच विषदर्शन-मात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति। नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति, स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। तथा प्रतिदिनमनेकसंस्थानानामपि पित्रादीनां न वस्त्वन्यत्वं भवति, मम पिता मम भ्राता मम पुत्र इति प्रत्यभिज्ञानात्।

यहाँ शंका होती है कि कारक व्यापार से पहिले भी यदि कार्य के उपादान कारण में सत्ता है तो कारक का व्यापार अनर्थक प्राप्त होता है। जिससे पूर्वसिद्ध कारण के स्वरूप की सिद्धि के लिए कोई भी व्यापार (क्रिया) नहीं करता है। इसी प्रकार पूर्व काल में ही सिद्ध होने से और पूर्व से सिद्ध कारण से अनन्य (अभिन्न) होने से कार्य के स्वरूप की सिद्धि के लिये कोई व्यापार नहीं करेगा, न करना चाहिये, परन्तु लोग कार्य सिद्धि के लिये व्यापार करते हैं, इससे कारक के व्यापारों की सार्थकता के लिये मानते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व काल में कार्य का अभाव रहता है (कार्य की असत्ता रहती है)। उत्तर है कि सत्कार्यवाद में यह कारक व्यापार की अनर्थकता की प्राप्ति रूप दोष नहीं है। जिससे कारण को कार्याकार से व्यवस्थित (व्यक्त-सिद्ध) करता हुआ कारक व्यापार को सार्थकता उपपन्न (सिद्ध) होती है। अर्थात् उत्पत्ति से पहिले तिल में तैल के समान मृत्तिकादि में घटादि भी वर्तमान रहते हैं, परन्तु अव्यक्त रहते हैं कारण रूप से रहते हैं, वहाँ जैसे तिल के पीड़न से तैल व्यक्त होता है, इसी प्रकार तत्तत् कार्योचित व्यापार से तत्तत् कार्य व्यक्त होते हैं इत्यादि। और वह कार्याकार रूप अभिव्यक्ति भी कारण का आत्मस्वरूप ही होती है, अर्थात् घट की अभिव्यक्ति भी मृत्तिका स्वरूप ही है, क्योंकि कारण का अनात्म स्वरूप (असत् कार्य) आरम्भ के योग्य नहीं है, यह कहा जा चुका है, इससे अभिव्यक्ति सहित कार्य कारण स्वरूप है। यहाँ अभिव्यक्ति को भी सत् मानने पर तदर्थक व्यापार की अनर्थकता की शंका होने पर अनिर्वचनीय मायामात्र अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति सिद्ध होती है, वह माया परम कारण की शक्ति अनादि अचिन्त्य है, इससे अनवस्था आदि की शंका उचित नहीं है। और कार्य में व्यक्ताव्यक्त अवस्था के भेद होने पर भी कार्य के स्वरूप में भेद नहीं होता है क्योंकि अवस्था विशेष के दर्शन मात्र से वस्तु में अन्यत्व (भेद) की प्रतीति नहीं होती है। संकुचित हाथ, पैर वाला और फैलाये हुये हाथ पैर वाला देवदत्त यद्यपि विशेष (भिन्न) रूप वाला दीखता है तथापि वस्तु का भेद नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि वह वही है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। इसी प्रकार प्रतिदिन अनेक संस्थान (आकार) वाले भी आदि को वस्तु अन्यत्व नहीं होता है, क्योंकि मेरा पिता, मेरा भ्राता, मेरा पुत्र है इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है।

जन्मोच्छेदानन्तरितत्वात्तत्र युक्तं नान्यत्रेति चेत्। न। क्षीरादीनामपि दध्याद्याकार संस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात्। अदृश्यमानानामपि वटधानादीनां समानजातीयावयवान्तरोपचितानामङ्कुरादिभावेन दर्शनगोचरतापत्तौ जन्मसंज्ञा, तेषामेवावय-

वानामपचयवशाददर्शनापत्तावुच्छेदसंज्ञा। तत्रेदृग्जन्मोच्छेदान्तरितत्वाच्चेदसतः सत्त्वापत्तिस्तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसङ्गः। तथा च बाल्ययौवनस्थाविरेष्वपि भेदप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारलोपप्रसङ्गश्च। एतेन क्षणभङ्गवादः प्रतिपादितव्यः। यस्य पुनः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं तस्य निर्विषयः कारकव्यापारः स्यात्, अभावस्य विषयत्वानुपपत्तेराकाशस्य हननप्रयोजनखड्गाद्यनेकायुधप्रसक्तिवत्। समवायिकारणविषयः कारकव्यापारः स्यादिति। चेत्। न अन्यविषयेण कारकव्यापारेणान्यनिष्पत्तेरतिप्रसङ्गात्। समवायिकारणस्यैवात्मातिशयः कार्यमिति चेत्। न। सत्कार्यतापत्तेः। तस्मात्क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनावतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत्कार्यं वर्षशतेनापि शक्यं निश्चेतुम्। तथा मूलकारणमेवान्त्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। एवं युक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते।

यहाँ शंका होती है कि पिता, भ्राता आदि के जन्म, मरण (नाश) के व्यवधान रहित होने से वहाँ प्रत्यभिज्ञा से भेद का अभाव एकता युक्त है। परन्तु दार्ष्टान्तिक कार्य कारण में दूध के नाश से दधि होता है, तिल के नाश से तैल होता है, इससे कारण का नाश और कार्य की उत्पत्ति से अन्तरित (व्यवहित) कार्य कारण हो जाते हैं, इसीसे इनका अभेद भी नहीं हो सकता है। वहाँ कहा जाता है कि कारण का नाश नहीं होता है, क्योंकि दूध आदि का ही दधि आदि के आकार से सम्यक् स्थिति सन्निवेश का प्रत्यक्ष होता है। और समान जाति वाले अवयवान्तर से वृद्धि को प्राप्त अदृश्य बट बीजादि को अंकुरादि रूप से दर्शन की विषमता की प्राप्ति होने पर उनकी जन्म संज्ञा होती है। और उन्हीं अवयवों के अपचय क्षय के वश से जब अदर्शनता की प्राप्ति होती है तब नाश संज्ञा होती है। वस्तुतः वहाँ भी बट बीजादि का कार्य में अन्वय है, कारण का नाश और असत् कार्य की उत्पत्ति वहाँ भी नहीं है, अवयव के उपचय, अपचयमात्र से जन्मनाश का नाममात्र होता है। वहाँ इस प्रकार के जन्म और विनाश से अन्तरित (व्यवहित) होने से यदि असत् कार्य की सत्ता की प्राप्ति हो, और सत् कारण की विनाश रूप असत्ता की प्राप्ति हो, तो ऐसा होने पर गर्भ में रहने वाला और जन्म के बाद बाहर उत्तान सोने वाला बच्चा में भी भेद की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार बाल्य, यौवन और स्थाविर (वृद्धत्व) में भी भेद की प्राप्ति होगी, और ऐसा होने पर पिता आदि व्यवहार का लोप (अभाव) प्राप्त होगा। इस प्रकार कारण की कार्य में अन्वय द्वारा कार्य के नित्यत्व के साधन से क्षणभङ्गवाद को प्रत्याख्यात समझना चाहिये। जिसके मत में उत्पत्ति से पूर्वकाल में कार्य असत् है, उसके मत में कर्ता आदि रूप कारक का व्यापार (उत्पादन-क्रिया) निर्विषय होगा, क्योंकि अभाव (असत् कार्य) को कारक व्यापार विषयत्व इस प्रकार अनुपपन्न है कि जैसे आकाश

को हनन रूप में प्रयोजन के लिये खड्गादि अनेक आयुध की प्रसक्ति (प्राप्ति) अनुपपन्न होती है। यदि असत्कार्यवादी कहें कि कार्य के समवायी कारण विषयक कारक का व्यापार होगा, इससे निर्विषय नहीं होगा, तो यह कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि अन्य (समवायी) विषयक व्यापार से अन्य (कार्य) की निष्पत्ति (सिद्ध) मानने से अतिप्रसक्ति होगी (कार्य से अन्य की उत्पत्ति प्राप्त होगी)। यदि कहो कि समवायी कारण को ही स्वरूप का अतिशय रूप कार्य है, इस लिए तद्विषयक व्यापार से कार्यसिद्ध होता है, और अतिव्याप्ति नहीं होती है, तो सत्कार्यवाद की प्राप्ति होगी। यतः दूध आदि रूप द्रव्य ही दधि आदि रूप से स्थिर होकर कार्य संज्ञा का लाभ करते हैं, इस लिए कारण से अन्य कार्य को सौ वर्ष द्वारा भी निश्चय नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार मूल कारण ही अन्त्य कारण तक तत्तत् कार्य रूप से नट के समान सब व्यवहार के आश्रयत्व को प्राप्त होता है। इस प्रकार युक्ति से उत्पत्ति से पूर्व काल में कार्य का सत्त्व को और कारण से अभेद को समझा जाता है।

शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते। पूर्वसूत्रेऽसद्व्यपदेशिनः शब्दस्योदाहृतत्वात्ततोऽन्यः सद्व्यपदेशी शब्दः शब्दान्तरम्–'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र असीत्' इति चासत्पक्षमुपक्षिप्य 'कथमसतः सज्जायेत' इत्याक्षिप्य 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छां० ६।२।१) इत्यवधारयति। तत्रेदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सच्छब्दवाच्येन कारणेन सामानाधिकरण्यस्य श्रूयमाणत्वात्सत्त्वानन्यत्वे प्रसिध्यतः। यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्यात्पश्चाच्चोत्पद्यमानं कारणे समवेयात्तदान्यत्कारणास्यात्, तत्र 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा ६।१।३) इतोयं प्रतीज्ञा पीड्येत। सत्त्वानन्यत्वावगतेस्त्वियं प्रतिज्ञा समर्थ्यते॥ १८॥

शब्दान्तर से भी यह समझा जाता है। पूर्वसूत्र में असत् व्यपदेशी (उत्पत्ति से प्रथम कार्य को असत् कहने वाला) शब्द का उदाहरण दिया गया है, उससे अन्य सत् व्यपदेशी शब्द शब्दान्तर है कि (हे सोम्य! यह जगत् पहले सत्य और एक ही था। द्वैत रहित था) इत्यादि। और (कोई कहते हैं कि यह प्रसिद्ध जगत् प्रथम असत् ही था) इस प्रकार असत् पक्ष का उत्थान करके (असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा) इस प्रकार उस पक्ष का आक्षेप करके (हे सोम्य! यह प्रथम सत् ही था) इस प्रकार अवधारण कराते हैं। वहाँ 'इदम्' शब्द का वाच्यार्थ कार्य की उत्पत्ति से प्रथम सत् शब्द का वाचार्य कारण के साथ सामानाधिकरणता के श्रूयमाण होने से कार्य को सत्त्व और अभेद सिद्ध करता है। और यदि उत्पत्ति से प्रथम कार्य असत् हो और पीछे उत्पन्न होकर कारण में समवेत (समवाय से सम्बद्ध) हो तो कारण से अन्य कार्य होगा। फिर उस अवस्था में (जिस कारण के श्रुत होने से अश्रुत भी कार्य श्रुत होता है) यह प्रतिज्ञा बाधित होगी। कार्य के सत्त्व और कारण से अनन्यत्व की अवगति से तो यह प्रतिज्ञा समर्थित (सिद्ध) होती है॥ १८॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

यथा च संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते किमयं पटः किं वान्यद्द्रव्यमिति, स एव प्रसारितो यत्संवेष्टितं द्रव्यं तत्पट एवेति प्रसारणेनाभिव्यक्तो गृह्यते। यथाच संवेष्टनसमये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तरो गृह्यते, स एव प्रसारणसमये विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते न संवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति। एवं तन्त्वादिकारणावस्थं पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापारादिभिर्व्यक्तं स्पष्टं गृह्यते। अतः संवेष्टितप्रसारितपटन्यायेनैवान्यत्कारणात्कार्यमित्यर्थः ॥ १९ ॥

जैसे संवेष्टित (समेटकर वस्त्रान्तर से बांधा हुआ) पट व्यक्त प्रत्यक्ष नहीं गृहीत ज्ञात होता है कि यह पट है, वा अन्य द्रव्य है और वहीं बन्धन खोल कर फैलाने से अभिव्यक्त प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि जो संवेष्टित द्रव्य था वह यह फैलाया हुआ पट ही है ? और जैसे संवेष्टन के समय पट इस प्रकार से ज्ञात होने पर भी भिन्न दीर्घता और विस्तार (लम्बाई आदि) वाला नहीं गृहीत होता है और फैलाने के समय में वही विशेष दीर्घतायुक्त विस्तारयुक्त गृहीत होता है। एवं यह नहीं गृहीत होता कि संवेष्टित रूप वाला से अन्य यह भिन्न (दूसरा) पट है। इसी प्रकार तन्तु आदि रूप कारणावस्था वाला पटादि रूप कार्य अस्पष्ट गृहीत होता है, इससे संवेष्टित प्रसारित पट के समान ही कारण से कार्य अभिन्न है—यह सूत्र का अर्थ है ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्ररूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते नाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यान्तरम्। तेष्वेव प्राणभेदेषु पुनः प्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चनप्रसारणादिकमपि कार्यान्तरं निर्वर्त्यते। न च प्राणभेदानां प्रभेदवतः प्राणादन्यत्वं, समीरणस्वभावाविशेषात्। एवं कार्यस्य कारणादन्यत्वम्। अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात्तदनन्यत्वाच्च सिद्धैषा श्रौती प्रतिज्ञा 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छां० ६।१।१) इति ॥ २० ॥

और जैसे लोक में प्राण अपान आदि प्राण भेदों के प्राणयाम से निरुद्ध होने पर, कारणमात्र रूप से उन प्राणापानादि के वर्तमान रहने पर जीवनमात्र रूप कार्य सिद्ध होता है, आकुञ्चन प्रसारण (अङ्गों को समेटना फैलाना) आदि रूप अन्य कार्य नहीं होता है। उन्हीं प्राणों के निरोध के बाद फिर प्रवृत्त व्यापारयुक्त होने पर जीवन से अधिक आकुञ्चन प्रसारणादिक भी अन्य कार्य सिद्ध होते हैं। और फिर भिन्न रूप से प्रवृत्त होने पर भी उन भिन्न प्राणों को निरुद्ध अवस्था में सब प्रभेद वाला एक प्राण

से अन्यत्व (भेद) नहीं रहता है, क्योंकि दोनों अवस्था में समीरण (वायु) स्वभाव तुल्य है। इसी प्रकार कार्य को कारण से अनन्यता है। और इसी से सम्पूर्ण जगत् के ब्रह्म कार्यत्व और ब्रह्मानन्यत्व से यह श्रुति की प्रतिज्ञा सिद्ध हुई कि (जिससे अश्रुत श्रुत होता है, अमत मत होता है, और अविज्ञात विज्ञात होता है) ॥ २० ॥

इतरव्यपदेशाधिकरण (७)

हिताक्रियादि स्यान्नो वा जीवाभेदं प्रपश्यतः।
जीवाहितक्रिया स्वार्था स्यादेषा नहि युज्यते ॥ १ ॥
अवस्तु जीवसंसारस्तेन नास्ति मम क्षतिः।
इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागता ॥ २ ॥

संशय है कि जीव से अपने अभेद को जानने वाले ईश्वर में दुखःमय संसार की रचना से हित का अकरन और अहित का कर्ता रूप अनौचित्य दोष की प्राप्ति होती है अथवा नहीं होती है। पूर्वपक्ष है कि जीव के लिए की गयी अहित क्रिया अभिन्नता से स्वार्थक होगी, ऐसी यह क्रिया युक्त नहीं है। सिद्धान्त है कि माया अविद्यामय मिथ्या जीव का संसार है, इससे मेरी कोई क्षति (हानि) नहीं है इस प्रकार जानने वाले ईश्वर को हिताहित दोष की भागिता नहीं है। भाव है कि रागद्वेषादि के बिना ईश्वर साधारण कारण है, हिताहित के विशेष हेतु जीव के हो अविद्या काम कर्मादि हैं और औपाधिक भेद है इससे ईश्वर दोष का आश्रय नहीं होता है ॥ १–२ ॥

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते। चेतनाद्धि जगत्प्रक्रियायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते। कुतः? इतरव्यपदेशात्। इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति प्रतिबोधनात्। यद्वा इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शरीरात्मत्वप्रदर्शनात्। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२) इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती न ब्रह्मणो भिन्नः शरीर इति दर्शयति। तस्माद्यद्ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति। अतः स स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवात्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम्।

जीव का जीव से इतर (भिन्न) ब्रह्म रूप से श्रुति में निर्देश से ब्रह्मकृत जीव का अहित आत्मकृत ही सिद्ध होता है, वहाँ अपने लिए हित का अकरणादि दोष प्राप्त है। इससे सर्वात्मा चेतन ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, यह पूर्वपक्ष सूत्र है।

अन्य प्रकार से फिर चेतन कारणवाद का आक्षेप किया जाता है कि चेतन से जगत् की सृष्टि को स्वीकार करने पर हिताकरणादि दोष प्राप्त होंगे क्योंकि इतर का

इतर रूप से व्यपदेश है। अर्थात् इतर जीव के ब्रह्म स्वरूप को श्रुति कहती है कि (वह ब्रह्म आत्मा है और श्वेतकेतो ! तुम वही हो) इस प्रकार प्रतिबोधन से जीव को ब्रह्म रूप श्रुति कहती है। अथवा इतर ब्रह्म के जीव स्वरूपत्व को कहती है कि (वह ब्रह्म सृष्टि करके उसमें प्रवेश किया) इस प्रकार अविकृत सृष्टिकर्ता ब्रह्म का ही कार्य में अनुप्रवेश द्वारा जीवात्मा का दर्शन होता है। और (इस जीवात्मा रूप से अनुप्रवेश करके नाम और रूप का व्याकरण विभाग करूँ) इस प्रकार जीव को आत्मशब्द से कहती हुई परादेवता जीवब्रह्म से भिन्न नहीं है यह दिखलाती है। अतः जो ब्रह्म को सृष्टि का कर्तृत्व है वह जीव का ही है। इससे वह जीव स्वतन्त्र कर्ता होकर अपना हित ही मन को प्रसन्न करने वाला सुख का हेतु कार्य करेगा, और अपना अहित रूप, जन्ममरण, जरा-रोग आदि अनेक अनर्थ समूह को नहीं करेगा !

नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वानुप्रविशति। न च स्वयमत्यन्तनिर्मलः सन्नत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात्, कृतमपि कथञ्चिद्यद्दुःखकरं तदिच्छया जह्यात्, सुखकरं चोपाददीत, स्मरेच्च मयेदं जगद्बिम्बं विचित्रं विरचितमिति, सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा स्मरति मयेदं कृतमिति। यथा-च मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयानायासेनैवोपसंहरति एवं शारीरोऽपीमां सृष्टिमुपसंहरेत्, स्वकीयमपि तावच्छरीरं शारीरो न शक्नोत्यनायासेनोपसंहर्तुम्। एवं हितक्रियाद्यदर्शनादन्याय्या चेतनाज्जगत्प्रक्रियेति गम्यते ॥ २१ ॥

कोई अपरतन्त्र (स्वतन्त्र) अपने लिए बन्धन गृह बनाकर उसमें प्रवेश नहीं करता है, और स्वयं अत्यन्त निर्मल होते हुए अत्यन्त मलिन देह को आत्मरूप से नहीं प्राप्त करेगा। किसी प्रकार प्राप्त करने पर भी जो दुःखकर है, उसको इच्छा के अनुसार त्याग देगा और सुखकारक का इच्छा के अनुसार ग्रहण करेगा, एवं स्मरण करेगा कि इस विचित्र जगत् रूप बिम्ब (मण्डल-विस्तार) को मैंने बनाया है। क्योंकि सब लोग कार्य करके स्पष्ट (स्फुट) स्मरण करते हैं कि हमने यह कार्य किया है। जैसे मायावी स्वयं प्रसारित माया को इच्छा से अनायास ही उपसंहार (निवृत्ति) करता है, इसी प्रकार यह जीव भी इस सृष्टि का उपसंहार करता है। यह जीव अपने शरीर का भी अनायास से सहज में उपसंहार नहीं कर सकता है। इस प्रकार हित क्रियादि के नहीं देखने से चेतन से जगत् की सृष्टि अन्याय है, ऐसी प्रतीति होती है ॥ २१ ॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः। न तस्मिन् हिताकरणादयो दोषा प्रसज्यन्ते, नहि तस्य हितं किंचित्कर्तव्यमस्त्यहितं वा परिहर्त्तव्यं, नित्यमुक्तस्वभावत्वात्। न च तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति, सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वाच्च। शारीरस्त्वनेवंविधस्तस्मिन्प्रसज्यन्ते हिता-

करणादयो दोषाः, न तु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः। कुत एतत्? भेदनिर्देशात्, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः')' (छां० ८।७।१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छां० ६।८।१।), 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' (बृ० ४।३।३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति।

तु शब्द पूर्वपक्ष का निवारण करता है कि जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिवाला, नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध नित्यमुक्त स्वभाववाला जीव से अधिक (अन्य) ब्रह्म है, उस ब्रह्म को जगत् का स्रष्टा (कर्ता) कहते हैं। जिस ब्रह्म में हिताकरणादि दोष नहीं प्राप्त होते हैं, उस ब्रह्म को कुछ हित कर्तव्य नहीं है, और अहित परिहर्तव्य (त्यागार्ह) नहीं है। जिससे उसको नित्यमुक्त स्वभावता है। एवं उसके ज्ञान का प्रतिबन्ध (निरोध) वा शक्ति का प्रतिबन्ध कहीं नहीं है, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व से उक्त प्रतिबन्धाभाव है। जीवात्मा तो इस प्रकार का नहीं है। उसमें हिताकरणादि दोष प्राप्त होते हैं। परन्तु हम उस जीव को जगत् का स्रष्टा (सृष्टिकर्ता) नहीं कहते हैं कि जिससे दोष हो। यदि कहो कि स्रष्टा जीव से भिन्न है, तो यह कैसे सिद्ध होता है? इसका उत्तर है कि भेद के निर्देश से यह सिद्ध होता है (अरे मैत्रेयि! आत्मा दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन (ध्यान) के योग्य है, अतः उसके दर्शनादि करना चाहिए) (वह आत्मा अन्वेष्टव्य खोज के योग्य और विजिज्ञासितव्य विचारादि के योग्य है। हे सोम्य! उस सुषुप्ति काल में यह जीव सत् ब्रह्म के साथ मिल जाता है) (मरण काल में जीवात्मा परमात्मा से अधिष्ठित होकर आर्त शब्द करता हुआ जाता है) इस प्रकार का कर्ता कर्मादि वेद का निर्देश जीव से अधिक ब्रह्म को दर्शाता है।

नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः, कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम्। नैष दोषः। आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्। अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाभेदनिर्देशेनाभेदः प्रतिबोधितो भवत्यपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वं, समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। तत्र कुत एव सृष्टिः कुतो वा हिताकरणादयो दोषाः। अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिर्हिताकरणादिलक्षणः संसारो न तु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृदवोचाम जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यभिमानवत्। अबाधिते तु भेदव्यवहारे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्येवंजातीयकेन वेदनिर्देशेनावगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि॥ २२॥

यहाँ शंका होती है कि वह तू है। इस प्रकार का अभेद निर्देश भी दिखलाया गया है वहाँ विरुद्ध भेद और अभेद कैसे सम्भव हो सकते हैं? उत्तर है कि यह दोष

नहीं है। क्योंकि महाकाश और घटाकाश के न्याय (दृष्टान्त) से भेद और अभेद दोनों के सम्भव का तत्तत् स्थानों में प्रतिपादन किया गया है। दूसरी बात है कि जब (वह तू है) इस प्रकार के अभेद निर्देश से अभेद प्रतिबोधित अनुभूत होता है, तब जीव का संसारित्व और ब्रह्म का स्रष्टृत्व निवृत्त हो जाता है। क्योंकि मिथ्या ज्ञान का विस्तार कार्यरूप समस्त भेद व्यवहार का सम्यग् ज्ञान से बोध हो जाता है, फिर उस अवस्था में किससे सृष्टि हो सकती है, और किससे हिताकरणादि दोष हो सकते हैं? क्योंकि अविद्या से प्रत्युपस्थापित (प्रकटित) नाम रूप से किये गये शरीर इन्द्रिय का समूहरूप उपाधि के अविवेक कृत भ्रान्ति (मिथ्याज्ञान) ही हिताकरणादि स्वरूप संसार है, परमार्थ से संसार नहीं है। यह अनेक बार कह चुके हैं कि आत्मा में जन्म मरण छेदन भेदनादि के मिथ्या अभिमान के समान ही सब संसार है। और अज्ञान काल में भेद व्यवहार के अबाधित रहते (वह आत्मा अन्वेषण योग्य है, विजिज्ञास्य योग्य है) इस प्रकार के भेद निर्देश से अवगत का अधिकत्व हिताकरणादि दोष की प्रसक्ति का निरोध करता है ॥ २२ ॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां केचिन्महार्हाः मणयो वज्रवैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः श्ववायसप्रक्षेपणार्हाः पाषाणा इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते। यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि बीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यं चन्दनकिंपाकादिषूपलक्ष्यते। यथा चैकस्याप्यन्नरसस्य लोहितादीनि केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्याणि भवन्ति। एवमेकस्यापि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इत्यतस्तदनुपपत्तिः परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः। श्रुतेश्च प्रामाण्याद्विकारस्य च वाचारम्भणमात्रत्वात्। स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्यवच्चेत्यभ्युच्चयः ॥ २३ ॥

और जैसे लोक में पृथिवीत्व सामान्य (जाति) से अन्वित (युक्त) भी पत्थरों में कोई महाश्रेष्ठ हीरा वैडूर्यादि बहुमूल्य मणि हैं, उनसे अन्य सूर्यकान्तादि, मध्यम वीर्य (तेज) वाले हैं। उनसे अन्य अत्यन्त हीन कुत्ते कौओं पर फेंकने योग्य पत्थर हैं। इस प्रकार पत्थर में अनेक प्रकार की विचित्रता देखी जाती है। एवं जैसे एक पृथिवी में बोये गये बीजों के बहुत प्रकार की पत्र-पुष्प, फल, गन्ध, रस आदि की विचित्रता चन्दन और तार आदि में देखी जाती है। और जैसे एक ही अन्नरस के रुधिरादि और केशलोमादि विचित्र कार्य होते हैं। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म के जीव और प्राज्ञ (ईश्वर) रूप पृथक्त्व और कार्य विचित्रत्व उपपन्न (सिद्ध) होते हैं। इससे इसकी अनुपपत्ति है, अर्थात् प्रतिवादी से कल्पित दोष की अनुपपत्ति है, यह सूत्र का अर्थ है। सूत्र में चकार से इस अर्थ का अभ्युच्चय (समुच्चय-सम्बन्ध) किया गया है कि जीवगत

दोष वाला अभिन्नता से ब्रह्म है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म में दोषवत्ता श्रुति से बाधित है और श्रुति की प्रमाणता से ही विकार वाचारम्भणमात्र है और स्वप्न काल में एक स्वप्नद्रष्टा में पदार्थ की विचित्रता के समान एक ब्रह्म जगत् की विचित्रता है ॥ २३ ॥

उपसंहारदर्शनाधिकरण (८)

न सम्भवेत्संभवेद्वा सृष्टिरेकाद्वितीयतः ।
नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न सम्भवि ॥ १ ॥
अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तत्त्वविद्यासहायवत् ।
नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः ॥ २ ॥

शंका होती है कि एक अद्वैत ब्रह्म जगत्कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि लोक में कार्य के लिए अनेक निमित्त उपादान सहाय का कारणों का उपसंहार (संमेलन-संग्रह) देखा जाता है, उत्तर है कि जैसे अकेला दूध कुछ देर में विकृत होकर अन्यस्वरूप हो जाता है, ऐसे माया विशिष्ट एक ब्रह्म जगत् का कारण होता है। सामान्य दृष्टि से संशय है कि एक अद्वितीय ब्रह्म से सृष्टि का असम्भव अथवा सम्भव है ? पूर्वपक्ष है कि नाना प्रकार के कारणों के क्रम से नाना प्रकार के कार्य क्रम से होते हैं, इससे भेद क्रमादि-रहित एक ब्रह्म से नाना प्रकार के कार्यों का क्रम से जन्म का सम्भव नहीं है। सिद्धान्त है कि तत्वतः ब्रह्म अद्वैत है, परन्तु वह अविद्यात्मक मायारूप सहायक वाला होकर नाना कार्य को करने वाला होता है, और अविद्या में स्थिर अनन्त वासनादि रूप शक्तियों से कार्य का क्रम होता है ॥ १-२ ॥

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते। कस्मात् ? उपसंहारदर्शनात् । इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्दण्डचक्र-सूत्राद्यनेककारकोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते। ब्रह्म चासहायं तवाभिप्रेतं तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्यते। तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत् ।

नैष दोषः । यतः क्षीरवद्द्रव्यस्वभावविशेषादुपपद्यते। यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं तथेहापि भविष्यति । ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधन-मौष्ण्यादिकं कथमुच्यते क्षीरवद्धीति। नैष दोषः। स्वयमपि हि क्षीरं यां च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वार्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय। यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि बलाद्दधिभावमापद्येत। नहि वायुराकाशो वौष्ण्यादिना बलाद्दधिभावमापद्यते। साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता सम्पाद्यते। परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म न तस्यान्येन केनचित्पूर्णता सम्पादयितव्या। श्रुतिश्च भवति—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

(श्वे० ६।२) इति । तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात्क्षीरादिवद्विचित्रपरिणाम उपपद्यते ॥ २४ ॥

चेतन एक अद्वितीय ब्रह्म जगत का कारण है, यह जो प्रथम कहा है, वह उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो सकता है, क्योंकि लोक में उपसंहार देखा जाता है। जिससे इस लोक में कुलालादि रूप घटादि के कर्ता मिट्टी दण्ड चक्र सूत्र आदि रूप अनेक कारण के उपसंहार (संग्रह संमेलन) द्वारा संगृहीत साधन वाले होकर तत्तत् कार्यों को करते हुए देखे जाते हैं। ब्रह्म अद्वैतवादी के मत में असहाय अभिप्रेत स्वीकृत है, तो उस ब्रह्म को साधनान्तर के उपसंग्रह नहीं रहते स्रष्टृत्व कैसे सिद्ध होगा ? इससे ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, ऐसा यदि कोई कहे तो कहते हैं कि यह दोष नहीं है। क्योंकि दूध के समान द्रव्य के स्वभाव विशेष से कार्य सिद्ध होगा। जैसे लोक में दूध वा जल स्वयं ही बाह्यसाधन की अपेक्षा के बिना दधिरूप से और हिमरूप से परिणत होता है, वैसे यहाँ ब्रह्म में भी कार्य होगा ? शंका होती है कि दधि आदि रूप से परिणत होता हुआ दूध आदि भी बाह्यसाधन उष्णता आदि की अपेक्षा करता ही है, फिर कैसे कहा जाता है कि क्षीर के समान होगा। तो कहते हैं कि यह दोष नहीं है। क्योंकि दूध स्वयं ही जिस और जितनी परिणाम की मात्रा (परिणाम) को अनुभव करता (प्राप्त होता) है, उष्णता आदि से भी उतनी ही परिणाम मात्रा प्राप्त होती है। परन्तु उन उष्णतावादियों से दधिरूपता में त्वरा (शीघ्रता) की जाती है। और यदि दूध में स्वयं दधि रूप होने का स्वभाव न हो तो उष्णादि से भी बलात्कार दधि रूपता नहीं प्राप्त की जा सकती है। जैसे वायु वा आकाश उष्णता से बलात्कारपूर्वक दधिरूप से नहीं प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार दधि आदि कार्य के लिए दूध आदि में स्वयं शक्ति है, तथापि साधन सामग्री से उष्णादि से उस कारण की पूर्णता सिद्ध की जाती है कि जिससे कार्य सुन्दर होता है, और ब्रह्म तो अपने कार्य के लिए परिपूर्ण शक्ति वाला है इससे उसकी पूर्णता अन्य किसी से संपादन के योग्य नहीं है। श्रुति भी है कि (उस ईश्वर के शरीर और इन्द्रिय नहीं हैं, न उसके समान ही कोई है न उससे अधिक है, और उसकी अनेक प्रकार की परा उत्तम शक्ति सुनी जाती है। एवं स्वाभाविक ज्ञानक्रिया तथा स्वाभाविक बल क्रिया सुनी जाती है।) (अर्थात् उसके तुल्यादि श्रुति में नहीं देखे सुने जाते हैं, परन्तु सृष्टि आदि की परिपूर्ण शक्ति सुनी जाती है) इससे एक ब्रह्म का भी विचित्र शक्ति के सम्बन्ध से दूध के समान विचित्र परिणाम सिद्ध होता है ॥ २४ ॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

स्यादेतत्, उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनानामनपेक्ष्यापि बाह्यं साधनं दध्या-

दिभावः, दृष्टत्वात्, चेतनाः पुनः कुलालादयः साधनसामग्रीमपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमाना दृश्यन्ते, कथं ब्रह्म चेतनं सदसहायं प्रवर्तेतेति। देवादिवदिति ब्रूमः। यथा लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किञ्चिद्बाह्यं साधनमैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि च रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात्। तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून् सृजति, बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते पद्मिनी चानपेक्ष्य किञ्चित्प्रस्थान-साधनं सरोन्तरात्सरोन्तरं प्रतिष्ठते एवं चेतनमपि ब्रह्मानपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव जगत्स्रक्ष्यति। स यदि ब्रूयाद्य एते देवादयो ब्रह्मणो दृष्टान्ता उपात्तास्ते दार्ष्टान्तिकेन ब्रह्मणा न समाना भवन्ति, शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादेन उपादानं न तु चेतन आत्मा, तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भवति। बलाका च स्तन-यित्नुरवश्रवणाद्गर्भं धत्ते। पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सत्यचेतनेनैव शरीरेण सरोन्त-रात्सरोन्तरमुपसर्पति वल्लीव वृक्षं, नतु स्वयमेवाचेतना सरोन्तरोपसर्पणे व्या-प्रियते, तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ता इति। तं प्रति ब्रूयान्नायं दोषः कुलालादि-दृष्टान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षितत्वादिति। यथा हि कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, तथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनमपेक्षिष्यत इत्येतावद्वयं देवाद्युदाहरणेन विव-क्षामः। तस्माद्यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्हतीति नास्त्येकान्त इत्यभिप्रायः।

यह क्षीर का दृष्टान्त अचेतन कारण के लिए ठीक है। और अचेतन क्षीरादि को बाह्य साधन की अपेक्षा के बिना दधि आदि रूपता को प्राप्ति उपपन्न हो सकती है, क्योंकि यह ऐसा देखा जाता है। परन्तु चेतन कुलालादि तो साधन सामग्री की अपेक्षा करके ही तत्तत् कार्यों के लिए प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं। तो फिर चेतन होता हुआ ब्रह्म सहाय रहित होकर कार्य के लिए कैसे प्रवृत्त होगा? उत्तर है कि देवादि के समान सहाय रहित होते हुए भी कार्य के लिए प्रवृत्त होगा। जैसे कि (लोक्यते ज्ञायतेऽनेनेति लोकः शास्त्रम्) जिससे अर्थ का ज्ञान हो उस शास्त्र को लोक कहते हैं। उस शास्त्रादि रूप लोक में देव पितर ऋषि इत्यादि महाप्रभाव वाले चेतन भी होते बाह्य किसी साधन की अपेक्षा किए बिना ही ऐश्वर्यविशेष के सम्बन्ध से और केवल अभिध्यान (संकल्प) द्वारा स्वयं आप ही नाना आकार वाले बहुत शरीर और प्रासाद (महल) और रथादि का निर्माण करने वाले मन्त्र अर्थवाद इतिहास और पुराणादि की प्रमाणता से उपलब्ध ज्ञात होते हैं। और मकड़ा किसी साधन के बिना स्वयं तन्तु को रचता है, बलाका शुक्र (वीर्य) के बिना गर्भ का धारण करती है, पद्मिनी किसी गमन साधन की अपेक्षा किये बिना एक तालाब से अन्य तालाब में जाती है इसी प्रकार चेतन भी ब्रह्म बाह्य साधन

की अपेक्षा किये बिना स्वतः आप ही जगत् की सृष्टि करेगा। यहाँ पूर्वपक्षी यदि कहे कि जो ये देवादि ब्रह्म के दृष्टान्त उपात्त (गृहीत) हुए हैं, वे दार्ष्टान्तिक ब्रह्म के तुल्य नहीं हैं, क्योंकि उन देवादि के अचेतन शरीर ही शरीरान्तरादि रूप विभूति के उत्पादन में उपादान का कारण होता है, चेतन आत्मा उपादान कारण नहीं होता है। और तन्तुनाभ (मकड़ा) क्षुद्र प्राणी का भक्षण करता है उससे जन्य उसका लार कठिनता को प्राप्त करके तन्तु होता है। बलाका मेघ के शब्द को सुनकर गर्भ धारण करती है, और पद्मिनी चेतन से प्रयुक्त (प्रेरित) होकर अचेतन शरीर से ही एक तालाब से दूसरे तालाब में जाती है, जैसे कि लता एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाती है। अचेतना पद्मिनी स्वयं दूसरे तालाब में गमनार्थक व्यापार नहीं करती है। इसलिए ये ब्रह्म के दृष्टान्त नहीं हैं। इस प्रकार कहनेवाले पूर्वपक्षी के प्रति कहना चाहिये कि यह दोष नहीं है। क्योंकि कुलालादि दृष्टान्त से विलक्षणता देवादि दृष्टान्त में विवक्षित है कि जैसे कुलालादि और देवादि का चेतनत्व तुल्य है तो भी कुलालादि कार्य के आरम्भ में बाह्य साधन की अपेक्षा करते हैं, और देवादि बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं करते हैं, इस प्रकार देवादि के समान चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं करेगा। यह इतना ही अर्थ हम देवादि के उदाहरण द्वारा कहना चाहते हैं। इससे जैसा एक का सामर्थ्य देखा गया है वैसा ही सबका होना चाहिए यह नियम नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ २६ ॥

कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण (९)

न युक्तो युज्यते वास्य परिणामो न युज्यते।
कार्त्स्न्याद्ब्रह्मानित्यताप्तेरंशान् सावयवं भवेत् ॥१॥
मायाभिर्बहुरूपत्वं न कार्त्स्न्यान्नापि भागतः।
युक्तोऽनवयवस्यापि परिणामोऽत्र मायिकः ॥२॥

निरवयव ब्रह्म का क्षीर तुल्य परिणाम मानने पर ब्रह्म स्वरूप मात्र की अनित्य जगत् रूपता की प्राप्ति होगी, अवयव द्वारा परिणाम मानने पर ब्रह्म को निरवयव कहने वाली श्रुति से विरोध होगा। यहाँ संशय है कि ब्रह्म का परिणाम होना अयुक्त है, अथवा युक्त ? पूर्वपक्ष है कि संपूर्ण ब्रह्म के परिणाम से अनित्यता की प्राप्ति होगी, और अंश के परिणाम होने पर ब्रह्म सावयव होगा, इससे ब्रह्म का परिणाम युक्त नहीं है। सिद्धान्त है कि ब्रह्म को मायाशक्ति से बहु रूपत्व है न कृत्स्न स्वरूप से और न भाग (अंश) से है। और यहाँ निरवयव का भी मायिक परिणाम युक्त है ॥ १–२ ॥

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम्, शास्त्रार्थपरिशुद्धये तु पुनराक्षिपति–कृत्स्नप्रसक्तिः, कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति, निरवयवत्वात्। यदि ब्रह्म पृथिव्यादिवत्सावयवमभविष्यत्ततोऽस्यैकदेशः पर्यणंस्यदेकदेशश्चावास्थास्यत्, निरवयवं तु ब्रह्म श्रुतिभ्योऽवगम्यते—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं

निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२), 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृ० २।४।१२), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविशेषप्रतिषेधिनीभ्यः। ततश्चैकदेशपरिणामासम्भवात्कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलोच्छेदः प्रसज्येत। द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यं चापन्नमयत्नदृष्टत्वात्कार्यस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य च ब्रह्मणोऽसम्भवात्, अजत्वादिशब्दकोपश्च। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया सावयवमेव ब्रह्माभ्युपगम्येत, तथापि ये निरवयवत्वस्य प्रतिपादकाः शब्दा उदाहृतास्ते प्रकुप्येयुः। सावयवत्वे चानित्यत्वप्रसङ्ग इति सर्वथायं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्याक्षिपति ॥ २६ ॥

एक अद्वैत चेतन ब्रह्म क्षीरादि और देवादि के समान बाह्य साधन की अपेक्षा किये बिना स्वयं परिणत होता हुआ जगत् का कारण है, यह स्थित (निश्चित) हो चुका है। यहाँ इस शास्त्रार्थ की परिशुद्धि (परिणाम का निराकरण पूर्वक वितर्क की दृढ़ता) आदि के लिए फिर आक्षेप करते हैं कि कृत्स्न ब्रह्म की कार्यरूपता की प्राप्ति होगी। अर्थात् ब्रह्म के निरवयव होने से परिणाम मानने पर सम्पूर्ण ब्रह्म स्वरूप का कार्यरूप से परिणाम प्राप्त होता है। क्योंकि यदि ब्रह्म पृथिवी आदि के समान सावयव सांश होता, तो इस ब्रह्म का एकदेश कुछ अवयव जगत् रूप परिणामरूपता को प्राप्त होता, और एकदेश कुछ अवयव परिणाम रहित स्थिर रहता। परन्तु श्रुतियों से तो निरवयव ब्रह्म अवगत (ज्ञात) होता है कि (निरवयव निष्क्रिय शान्त निर्दोष निर्मल ब्रह्म है। दिव्य आकार रहित बाहर भीतर एकरस वर्तमान अजन्मा ही वह पुरुष आत्मा है। यह परब्रह्म महा सत्यस्वरूप अनन्त अपार निरन्तर विज्ञान स्वरूप है। यह नहीं वह नहीं इस प्रकार अनात्मा के निषेध से ज्ञेय यह आत्मा है। ब्रह्मात्मा स्थूल अणु से भिन्न है) सब भेद के प्रतिषेधक श्रुतियों से निरवयव ही आत्मा ब्रह्म समझा जाता है। इससे ब्रह्म के एकदेश के परिणाम के असम्भव से कृत्स्न, सम्पूर्ण, ब्रह्म के परिणाम की प्राप्ति होने पर मूलोच्छेद (ब्रह्म का विनाश) की प्राप्ति होगी और ब्रह्म की द्रष्टव्यता का उपदेश की अनर्थकता (निष्प्रयोजनता) सिद्ध होगी। क्योंकि कार्यरूपता को प्राप्त ब्रह्म यत्न के बिना ही दृष्ट (प्रत्यक्ष) है, और उस कार्य से भिन्न ब्रह्म का असम्भव (अभाव) है और ब्रह्म का परिणामरूप से जन्म मानने पर ब्रह्म के अजत्व (जन्म रहितत्व) आदि के बोधक जो शब्द (श्रुति) हैं, उनसे विरोध होगा, उनका बाध होगा। और यदि इस दोष के परिहार की इच्छा से सावयव ही ब्रह्म को मानो, तो भी जो निरवयत्व के प्रतिपादक शब्द—प्रथम उदाहृत हुए हैं उदाहरणरूप कहे गये हैं, वे सब प्रकृत विरुद्ध होंगे। और सावयवत्व होने पर अनित्यता की प्राप्ति होगी इससे यह पक्ष सर्वथा संघटित युक्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार पूर्वपक्षी आक्षेप करता है ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति। न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति। न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति। कुतः ? श्रुतेः। यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात् 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२) इति,

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

(छां० ३।१२।६) इति चैवंजातीयकात्। तथा हृदयायतनत्ववचनात्सत्सम्पत्तिवचनाच्च। यदि च कृत्स्नं ब्रह्म कार्यभावेनोपयुक्तं स्यात् 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छां० ६।८।१) इति सुषुप्तिगतं विशेषणमनुपपन्नं स्यात्, विकृतेन ब्रह्मणा नित्यं सम्पन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात्, तथेन्द्रियगोचरत्वप्रतिषेधाद्ब्रह्मणो विकारस्य चेन्द्रियगोचरत्वोपपत्तेः, तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म। न च निरवयवत्वशब्दकोपोऽस्ति, श्रूयमाणत्वादेव निरवयवत्वस्याप्यभ्युपगम्यमानत्वात्। शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम्। शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च। लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते, ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्तेऽस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्तय इति। किमुताचिन्त्यप्रभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत।

सूत्रगत 'तु' शब्द से आक्षेप का परिहार करते हैं कि हमारे पक्ष में कोई भी दोष नहीं है, यह निश्चित बात है। वहाँ प्रथम सम्पूर्ण ब्रह्म को कार्यरूपता की प्राप्ति रूप दोष नहीं है, क्योंकि श्रुति से दोषरहित ब्रह्म समझा जाता है, जिससे जिस प्रकार ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति सुनी जाती है, इसी प्रकार विकार के बिना ब्रह्म की अवस्थिति सुनी जाती है, क्योंकि प्रकृति और विकार का भेदपूर्वक व्यपदेश (व्यवहार कथन) किया गया है कि (उस पर ब्रह्म देव ने सोचा विचारा कि मैं इस समय इस जीवात्मा रूप से इन तेज आदि रूप तीनों देवों में अनुप्रवेश करके नाम रूप का विस्तार करूँगा। उतनी इसकी महिमा है, पुरुष उससे बहुत बड़ा है। इसके एक पादरूप सब भूत हैं, इसके त्रिपाद अमृत स्वरूप स्वयं प्रकाश स्वरूप में स्थिर है) इस प्रकार के व्यपदेश से प्रकृति और विकार का भेद कहा गया है। इसी प्रकार ब्रह्म को हृदयरूप आयतन वाला कहा गया है। और सुषुप्ति में सत् की सम्पत्ति कही गई है। इससे भी विकार से भिन्न ब्रह्म सिद्ध होता है। और यदि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्यरूप से उपयुक्त (समास)

हो गया हो तो (हे सोम्य ! उस सुषुप्ति काल में जीवात्मा सत् ब्रह्म के साथ एक होता है) इस प्रकार सुषुप्तिगत विशेषण अनुपपन्न होगा, क्योंकि विकृत ब्रह्म के साथ नित्य (सदा) सम्पन्न (मिलित) रहने से और विकाररहित ब्रह्म के अभाव से सुषुप्ति में सम्पन्न होना उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो सकता है। और इसी प्रकार ब्रह्म को इन्द्रिय विषयता का प्रतिषेध है, और विकार की इन्द्रिय विषयता सिद्ध है, जिससे विकार से अन्य अविकृत ब्रह्म है। और निरवयवत्व शब्द का भी बाध (विरोध) नहीं है, क्योंकि श्रुति में श्रूयमाण होने ही से निरवयवत्व का भी स्वीकार किया जाता है। और शब्दमूलक ब्रह्म है। अर्थात् शब्द प्रमाणक (शब्द प्रमाण से ज्ञेय) है। इन्द्रिय प्रमाणक ब्रह्म नहीं है। इन्द्रियों से नहीं जाना जाता है, इससे शब्द के अनुसार ब्रह्म स्वीकार के योग्य है। शब्दरूप प्रमाण, ब्रह्म के अकृत्स्न प्रसक्ति (सम्पूर्ण ब्रह्म की विकारता की अप्राप्ति) और निरवयवत्व इन दोनों का प्रतिपादन करता है। लौकिक मणि मन्त्र औषधादि की भी देश-काल और निमित्त की विचित्रतावश से विरुद्ध अनेक कार्यविषयक शक्तियाँ देखी जाती हैं। यहाँ वे शक्तियां भी प्राथमिक उपदेश के बिना केवल तर्क से नहीं समझी जा सकती हैं कि इस वस्तु की इतनी इस सहायकवाली एतद्विषयक और इस प्रयोगवाली शक्तियाँ हैं। ऐसा होने पर यदि अचिन्त्य प्रभाव वाला ब्रह्म का रूप (स्वरूप) श्रुति के बिना नहीं निरूपित हो सके तो इसमें आश्चर्य क्या है और क्या कहना है ?

तथाचाहुः पौराणिका :—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥ इति ॥

तस्माच्छब्दमूल एवातीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः।

ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं निरवयवं च ब्रह्म परिणमते नच कृत्स्नमिति। यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव परिणमेत। कृत्स्नमेव वा परिणमेत। अथ केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिच्चावतिष्ठेतेति रूपभेदकल्पनात्सावयवमेव प्रसज्येत। क्रियाविषये हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येवंजातीयकायां विरोधप्रतीतावपि विकल्पाश्रयणं विरोधपरिहारकारणं भवति पुरुषतन्त्रत्वाच्चानुष्ठानस्य। इह तु विकल्पाश्रयणेनापि न विरोधपरिहारः सम्भवत्यपुरुषतन्त्रत्वाद्वस्तुनः तस्माद्दुर्घटमेतदिति।

इसी प्रकार पौराणिक भी कहते हैं कि जो पदार्थ अचिन्त्य हैं, उनको तर्क से निषेध नहीं करे। जो प्रकृतियों प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु स्वभावों, से पर विलक्षण है, वही शास्त्र से ज्ञेय अचिन्त्य का स्वरूप है। इससे शब्दमूलक ही अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान (यथार्थ अनुभव) होता है, अन्यथा नहीं। यहाँ शंका होती है कि शब्द भी

विरुद्ध अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता है कि निरवयव ब्रह्म परिणत विकृत होता है, परन्तु सम्पूर्ण नहीं परिणत होता है, इत्यादि। क्योंकि शब्दजन्य बोध में भी योग्यता कारण होती है, अयोग्य अर्थ का शब्द से भी नहीं ज्ञान होता है। इससे यदि निरवयव ब्रह्म होगा, तो परिणत (परिणामी) नहीं होगा, अथवा सम्पूर्ण परिणत होगा। यदि किसी रूप से परिणत होगा, और किसी रूप से स्थिर रहेगा तो सावयव ही प्रसक्त होगा, रूपभेद की कल्पना से अवयव वाला सिद्ध होगा। एक ब्रह्म में सावयवता निरवयवता का विकल्प मान नहीं सकते हैं, क्योंकि क्रिया के विषय में (अतिरात्र याग में षोडशिमात्र का ग्रहण करे। अतिरात्र में षोडशि का ग्रहण नहीं करे) इस प्रकार के विरोध की प्रतीति होने पर विकल्प का आश्रयण विरोध के परिहार का कारण होता है, जिससे अनुष्ठान (कर्म) पुरुष के अधीन है और यहाँ विकल्प आश्रयण से भी विरोध परिहार का सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्तु में पुरुषाधीनता नहीं है। इसलिए ब्रह्म का कारणत्व दुर्घट है।

नैष दोषः। अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्। नह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु संपद्यते। नहि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति। नचेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्। सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्। 'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्याह—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इति। तस्मादस्मत्पक्षे न कश्चिदपि दोषप्रसङ्गोऽस्ति॥ २७॥

शंका का उत्तर है कि यह दुर्घटता रूप दोष नहीं है। क्योंकि अविद्या कल्पित (सिद्ध) ब्रह्म के रूपभेद का स्वीकार किया जाता है। अविद्या कल्पित रूपभेद से ब्रह्मस्वरूपवस्तु वस्तुतः सावयव नहीं सिद्ध होती है, जिससे तिमिररूप दोष से उपहत दूषित नेत्र से अनेक के समान दीखता हुआ भी चन्द्रमा वस्तुतः अनेक ही नहीं हो जाता है। और अविद्या से परिकल्पित तत्त्व अन्यत्व (सत्त्व असत्त्व) रूप से अनिर्वचनीय व्याकृत अव्याकृत स्वरूप नामरूपात्मक रूपभेद से परिणामादि सब व्यवहारों के आश्रयत्व को ब्रह्म प्राप्त होता है। एवं पारमार्थिक स्वरूप से सब व्यवहारों से रहित परिणामरहित स्थिर रहता है, और अविद्या से परिकल्पित नामरूपात्मक भेद के वाचारम्भण मात्र होने से ब्रह्म का निरवयवत्व विरुद्ध नहीं होता है। जो यह परिणाम विषयक श्रुति है, वह परिणाम के निरूपण के लिए नहीं है, किन्तु अविद्यादि से सिद्ध सृष्टि का

अनुवाद रूप है। क्योंकि उसके ज्ञान में किसी फल का अवगम (अनुभव) नहीं होता है, अर्थात् परिणाम के ज्ञान से फल की प्राप्ति नहीं होती है। अतः यह श्रुति सब व्यवहार से रहित ब्रह्मात्मभाव का प्रतिपादन के लिए है, जिससे उस ब्रह्मात्मभाव के ज्ञान में फल का अवगम (अनुभव लाभ) होता है (वह आत्मा यह नहीं वह नहीं) इस प्रकार आरम्भ करके (हे जनक ! तुम निश्चय अभय ब्रह्म को प्राप्त हो) इससे हमारे पक्ष में कोई दोष का प्रसङ्ग नहीं है ॥ २७ ॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन् ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः स्यादिति, यत आत्मन्यप्येकस्मिन् स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादिना। लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते, तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति ॥ २८ ॥

दूसरी बात यह है कि यह अर्थ विषयक विवाद कभी नहीं करना चाहिये कि एक ब्रह्म में स्वरूप के उपमर्द (नाश) के हुए बिना ही अनेक आकार वाली सृष्टि कैसे होगी ? इत्यादि। जिससे स्वप्नद्रष्टा एक आत्मा में भी स्वरूप के नाश हुए बिना ही अनेक आकार वाली सृष्टि पढ़ी जाती है कि (उस स्वप्न में रथ-रथ जुटने वाले अश्वादि और मार्ग नहीं रहते हैं किन्तु स्वप्नद्रष्टा रथादि की सृष्टि करता है) इत्यादि श्रुतियों से आत्मा में सृष्टि पढ़ी गई है और लोक में भी देव आदि में और मायावी आदि में स्वरूप के नाश हुए बिना ही विचित्र हस्ती अश्व आदि की सृष्टि देखी जाती है। इसी प्रकार एक ब्रह्म में भी स्वरूप के नाश हुए बिना ही अनेक आकार वाली सृष्टि होगी ॥२८॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

परेषामप्येषः समानः स्वपक्षे दोषः, प्रधानवादिनोऽपि हि निरवयवमपरिच्छिन्नं शब्दादिहीनं प्रधानं सावयवस्य परिच्छिन्नस्य शब्दादिमतः कार्यस्य करणमिति स्वपक्षः, तत्रापि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वात्प्रधानस्य प्राप्नोति निरवयवत्वाभ्युपगमकोपो वा। ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युपगम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि हि त्रयो गुणा नित्यास्तेषां साम्यावस्था प्रधानं तैरेवावयवैस्तत्सावयवमिति। नैवंजातीयकेन सावयवत्वेन प्रकृतो दोषः परिहर्तुं पार्यते यतः सत्त्वरजस्तमसामप्येकैकस्य समानं निरवयवत्वम्, एकैकमेव चेतरद्वयानुगृहीतं सजातीयस्य प्रपञ्चस्योपादानमिति समानत्वात्स्वपक्षदोषप्रसङ्गस्य। तर्काप्रतिष्ठानात्सावयवत्वमेवेति चेत् ? एवमप्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः। अथ शक्तय एव कार्यवैचित्र्यसूचिता अवयवा इत्यभिप्रायः, तास्तु ब्रह्मवादिनोऽप्यविशिष्टाः, तथाणुवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवयवत्वाद्यदि कार्त्स्न्येन संयुज्येत ततः

प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गः । अथैकदेशेन संयुज्येत तथापि निरवयवत्वाभ्युपगमकोप इति स्वपक्षेऽपि समान एष दोषः । समानत्वाच्च नान्यतरस्मिन्नेव पक्षे उपक्षेप्तव्यो भवति । परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः ॥ २९ ॥

परवादियों के अपने पक्ष में भी यह पूर्वोक्त दोष तुल्य है, क्योंकि प्रधानवादी का भी अपना पक्ष है कि निरवयव अपरिच्छिन्न (विभु) शब्दादिरहित प्रधान, सावयव परिच्छिन्न शब्दादि वाले कार्यों का कारण है । वहाँ भी प्रधान के निरवयव होने से सम्पूर्ण प्रधान को कार्यरूपता की प्राप्ति होती है । अथवा प्रधान की निरवयवता के स्वीकार का बाध होता है । यहाँ शंका होती है कि प्रधानवादी तो प्रधान को निरवयव ही नहीं मानते हैं, जिससे सत्व, रज और तम ये तीन नित्य गुण हैं, और उन गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान है, वह उन गुणों में ही सावयव है । उत्तर है कि इस प्रकार सावयवता से प्रकृत दोष का परिहार नहीं किया जा सकता है, जिससे सत्त्व, रज तम में भी प्रत्येक को निरवयवत्व तुल्य है । और इतर दो गुण से अनुगृहीत सहकृत होकर एक ही गुण सजातीय प्रपंच का उपादान है । इससे स्वपक्ष में उक्त दोष के प्रसंग की समानता है । यदि कहो कि गुणों में निरवयवत्व के साधक तर्कों के अप्रतिष्ठित होने से गुणों की सावयवता ही है, इससे एकदेश द्वारा परिणाम होगा और एकदेश स्थिर रहेंगे सम्पूर्ण को कार्यरूपता की प्राप्तिरूप दोष नहीं होगा, तो इस प्रकार मानने पर अनित्यत्वादि दोष की प्राप्ति होगी, अर्थात् सावयव होने पर अनित्य होंगे और मूलकारण नहीं हो सकेंगे । यदि कहो कि गुणों के अवयव नहीं हैं कि जिससे अनित्यत्वादि दोष हों किन्तु कार्य की विचित्रता से सूचित (अनुमित) शक्तियाँ ही अवयव हैं ऐसा अभिप्राय है, तो वे शक्तियाँ तो ब्रह्मवादी को भी तुल्य हैं, शक्ति से ब्रह्म सावयव तुल्य होता है । इसी प्रकार अणुवादी का अणु भी दूसरे अणु के साथ संयुक्त होता हुआ निरवयवता के कारण यदि सम्पूर्ण रूप से संयुक्त होगा, तो प्रथिमा (पृथुत्व अधिक परिमाण) की अनुपपत्ति असिद्धि से कार्यों में अणुमात्रता की प्राप्ति होगी । और यदि एकदेश द्वारा सयुक्त होगा तो भी सावयवता की प्राप्ति से निरवयवत्व स्वीकार का बोध होगा । इस प्रकार स्वपक्ष में भी समान ही यह दोष है । और समान होने से दोनों में से किसी एक पक्ष में उपक्षेप (फेंकने) के योग्य दोष नहीं होता है । और ब्रह्मवादी तो अपने पक्ष में दोप का परिहार कर चुके हैं ॥ २९ ॥

सर्वोपेताधिकरण (१०)

नाशरीरस्य मायाऽस्ति यदि वाऽस्ति न विद्यते ।
ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिणः ॥ १ ॥
बाह्यहेतुमृते यद्वन्मायया कार्यकारिता ।
ऋतेऽपि देहे मायैवं ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणतः ॥ २ ॥

शास्त्र के देखने से सिद्ध होता है कि परमात्मा सर्वशक्तियुक्त है तो भी संशय होता है कि शरीरादिरहित परमात्मा की माया शक्ति है अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि

परमात्मा में माया शक्ति नहीं है, क्योंकि लोक म जो मायावी होते हैं, वे सब शरीरी होते हैं, और परमात्मा शरीरी नहीं है। सिद्धान्त है कि जैसे बाह्य साधन के बिना मायावी देवादि में कार्य को कर्तृता होती है, वैसे ही ब्रह्म में देह के बिना श्रुति प्रमाण से माया सिद्ध होती है ॥ १२ ॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तम्, तत्पुनः कथमवगम्यते विचित्रशक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति, तदुच्यते—सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। सर्वशक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुतः? तद्दर्शनात्। तथाहि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगं परस्या देवतायाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' (छां० ३।१४।४), 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छां० ८।७।१), 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयका ॥ ३० ॥

एक ब्रह्म का भी विचित्र शक्ति के सम्बन्ध से विचित्र विकार का विस्तार सिद्ध होता है, यह प्रथम कहा गया है। वहाँ शंका होती है कि विचित्र शक्ति युक्त ब्रह्म है, वह कैसे अवगत (ज्ञात) होता है। इसका समाधान है कि वह सर्वशक्ति से युक्त है, वह शास्त्र के देखने से ज्ञात होता है। अर्थात् सर्वशक्तियुक्त परा (उत्तमा) देवता रूप परमात्मा है, इस प्रकार समझना चाहिए। क्योंकि ऐसे ही देवता शास्त्र के देखने से ज्ञात होता है, इस प्रकार ही परदेवता के सर्वशक्ति सम्बन्ध को श्रुति दिखाती है कि (परमात्मा सर्व कर्म वाला सर्व जगत् का कर्ता है। और दोषरहित सब काम इच्छावाला है, सर्वसुखद गन्ध और रस वाला है, और इस सब जगत् को सर्वथा व्याप्त किया है। तथा वागादि इन्द्रिय शून्य और निष्काम है। सत्यकाम और सत्य संकल्प वाला है जो सर्वज्ञ सर्ववेत्ता है। हे गार्गि! इसी अविनाशी परमात्मा के शासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष वारण युक्त वर्तमान हैं।) इस प्रकार की श्रुतियां परमात्मा में सर्वशक्ति दिखाती हैं ॥ ३० ॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

स्यादेतत्, विकरणां परां देवतां शास्ति शास्त्रम्—'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनाः' (बृ० ३।८।८) इत्येवंजातीयकम्, कथं सा सर्वशक्तियुक्तापि सती कार्याय प्रभवेत्, देवादयो हि चेतनाः सर्वशक्तियुक्ता अपि सन्त आध्यात्मिककार्यकरणसम्पन्ना एव तस्मै तस्मै कार्याय प्रभवन्तो विज्ञायन्ते, कथं च 'नेति नेति' (बृ० ३।९।२६) इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषाया देवतायाः सर्वशक्तियोगः सम्भवेदिति चेत्!

यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम्। श्रुत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्। न च यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथान्यस्यापि सामर्थ्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्तीति प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्यापि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः सम्भवतीत्येवमप्यविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेनोक्तमेव। तथा च शास्त्रम्—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३।१९) इत्यकरणस्यापि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति ॥ ३१ ॥

शंका होती है कि पूर्व कथित रीति से परमात्मा को यह सर्वशक्तियुक्तत्व हो, वह भी कारण रहित परा देवता का उपदेश शास्त्र करता है कि (वह नेत्ररहित, श्रोत्र-रहित वाक् और मन रहित है) इत्यादि। वहाँ संशय होता है कि सर्वशक्तियुक्त होते हुए भी वह देवता कार्य के लिए कैसे समर्थ होगा? क्योंकि चेतन देवादि सर्वशक्ति युक्त होते हुए भी आध्यात्मिक (अपने) कार्य करण (शरीरेन्द्रिय) से सम्पन्न युक्त हो करके ही तत्तत् कार्यों के लिए समर्थ समझे जाते हैं और नेति-नेति इस श्रुति से जिसके सब विशेष भेदादि निषिद्ध हैं, उस देवता को सर्वशक्ति का सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है? यदि ऐसा कोई कहे तो उसका उत्तर है कि जो इस विषय के वक्तव्य का उत्तर है, वह प्रथम ही कहा जा चुका है कि यह अति गम्भीर ब्रह्म सत्त्व श्रुति से अवगाहन (अन्वेषण-थाह पाने योग्य समझने योग्य) है, केवल तर्क से समझने योग्य नहीं है। और जैसा एक किसी का सामर्थ्य देखा गया है, वैसा ही अन्य का भी सामर्थ्य होना चाहिए, यह नियम नहीं है। इससे प्रतिषिद्ध सर्व विशेष वाले ब्रह्म को भी सर्व शक्ति के साथ सम्बन्ध का सम्भव है, वह भी अविद्या कल्पित रूप भेद के कथन से ही यह कहा जा चुका ही है और इसी प्रकार शास्त्र भी करण रहित भी ब्रह्म का सर्व सामर्थ्य के साथ सम्बन्ध दिखाता है कि (हाथ रहित ग्रहण कर्ता, पैर रहित वेग से गमन कर्ता, नेत्र रहित द्रष्टा, कान रहित श्रोता परमात्मा है)। इत्यादि ॥ ३१ ॥

प्रयोजनवत्त्वाधिकरण (११)

तृप्तोऽस्रष्टाऽथवा स्रष्टा न स्रष्टा फलवाञ्छने।
अतृप्तः स्यादवाञ्छायामुन्मत्तनरतुल्यता ॥
लीलाश्वासवृथाचेष्टा अनुद्दिश्य फलं यतः।
अनुन्मत्तैर्विरच्यन्ते तस्मात्तृप्तस्तथा सृजेत् ॥

लोक में प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है, इससे संशय होता है कि नित्यतृप्त ईश्वर जगत् का स्रष्टा है, अथवा अस्रष्टा है। पूर्वपक्ष है कि ईश्वर स्रष्टा (सृष्टि कर्ता) नहीं है, क्योंकि यदि सृष्टि की इच्छा होगी और उस इच्छा से सृष्टि करे तो अतृप्त सिद्ध होगा, और फलेच्छा के बिना प्रवृत्त होने पर ईश्वर में उन्मत्ततुल्यता सिद्ध होगी। सिद्धान्त है कि ला... (क्रीडा), श्वास-प्रश्वास और व्यर्थ चेष्टा जिससे फल के

उद्देश के बिना उन्माद रहितों से भी स्वाभाविक की जाती है। इससे तृप्त ईश्वर की लीला आदि के समान सृष्टि करेगा ॥ १–२ ॥

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृत्वं जगत आक्षिपति, न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्बिम्बं विरचयितुमर्हति। कुतः? प्रयोजनवत्त्वात् प्रवृत्तीनाम्। चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत्प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः किमुत गुरुतरसंरम्भाम्। भवति च लोकप्रसिद्ध्यनुवादिनी श्रुतिः—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (वृ० २।४।४) इति। गुरुतरसंरम्भा चेयं प्रवृत्तिर्यदुच्चावचप्रपञ्चं जगद्बिम्बं विरचयितव्यम्। यदीयमपि प्रवृत्तिश्चेतनस्य परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगिनी परिकल्प्येत परितृप्तत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, प्रयोजनाभावे वा प्रवृत्त्यभावोऽपि स्यात् अथ चेतनोऽपि सन्नुन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरेणैवात्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा परमात्मापि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत। तथा सति सर्वज्ञत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, तस्मादश्लिष्टा चेतनात्सृष्टिरिति ॥ ३२ ॥

चेतन की कर्तृता का पूर्वपक्षी फिर अन्य प्रकार से आक्षेप करता है कि चेतन परमात्मा इस जगत् के विस्तार को विरचने-बनाने के योग्य नहीं है। क्योंकि प्रवृत्तियों को प्रयोजनवत्ता होती है। अर्थात् प्रवृत्ति प्रयोजनवाली होती है, जिससे बुद्धि विवेकपूर्वक कर्म करने वाले कर्म में प्रवृत्त होते हुए चेतन पुरुष लोक में, मन्दोपक्रमा, अल्प आरम्भ वाली, अनायास साध्य भी अपने प्रयोजन (फल) में अनुपयोगी प्रवृत्ति को आरम्भ करते हुए नहीं देखे गये हैं। फिर अति गुरु महान् आरम्भ वाली प्रवृत्ति को बुद्धि पूर्वक कार्य कर्ता नहीं आरम्भ करते हैं, इसमें कहना ही क्या है। और इस लोक प्रसिद्धि का अनुवाद करने वाली श्रुति भी है कि (अरे मैत्रेयि! सब के काम प्रयोजन के लिए सब नहीं प्रिय होते हैं किन्तु अपने ही काम के लिए सब प्रिय होते हैं) और जो अनेक प्रकार के प्रपञ्च युक्त जगत् के विस्तार को विरचित सिद्ध करता है। यह प्रवृत्ति तो अत्यन्त गुरु संरंभ वाली (अत्यन्त प्रयत्न से साध्य) है। यदि ऐसी कल्पना की जाय कि यह प्रवृत्ति भी चेतन परमात्मा के अपने प्रयोजन में उपयोग वाली होती है तो परमात्मा का तृप्तत्व बाधित होगा। अथवा प्रयोजन का अभाव होने पर प्रवृत्ति का अभाव भी होगा और जैसे उत्पन्न चेतन भी बुद्धि के अपराध अविवेक रूप दोष से अपने प्रयोजन के बिना भी प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है, वैसे ही परमात्मा भी प्रयोजन के बिना प्रवृत्त होगा, इस प्रकार यदि कहे, तो ऐसा होने पर श्रुति में सुनी गई परमात्मा की सर्वज्ञता बाधित होगी। अतः चेतन से सृष्टि होना अयुक्त है ॥३२॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति । यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किञ्चित्प्रयोजनमभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय बाह्यं किञ्चित्प्रयोजनं स्वभावादेव सम्भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति । न हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति, नच स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते । यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बरचना गुरुतरसंरम्भेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयं, अपरिमितशक्तित्वाद् । यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित्सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत तथापि नैवात्र किञ्चित्प्रयोजनमुत्प्रेक्षितं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः । नाप्यप्रवृत्तिरुन्मत्तप्रवृत्तिर्वा सृष्टिश्रुतेः, सर्वज्ञत्वश्रुतेश्च । नचेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम् ॥ ३३ ॥

तु शब्द से आक्षेप का परिहार करते हैं कि जैसे लोक में प्राप्त पूर्ण कामना वाले किसी राजा की वा राजा के मन्त्री की भिन्न किसी प्रयोजन के अनुसंधान (चिन्तन) के बिना ही क्रीडा रूप विहार के स्थान में केवल लीला रूप प्रवृत्तियाँ होती हैं। और बाह्य किसी प्रयोजन के अनुसंधान-चिन्तन के बिना ही उच्छ्वास प्रश्वासादि जैसे स्वभाव (प्रारब्ध) से होते हैं । इसी प्रकार किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा किये बिना माया रूप स्वभाव से ही केवल लीला रूप प्रवृत्ति होगी । क्योंकि न्याय वा श्रुति से विचार्यमाण ईश्वर के प्रयोजनान्तर नहीं सिद्ध होते हैं, इससे प्रयोजनान्तर का सम्भव नहीं है । और स्वभाव के ऊपर पर्यनुयोग आज्ञा नहीं की जा सकती है । न कहा जा सकता है कि ऐसा स्वभाव क्यों है ? और यद्यपि हमें यह जगत् विस्तार की रचना गुरुतर संरंभ (अति कठिन आरंभ) वाली के समान भासती है, तथापि परमेश्वर की तो यह केवल लीला मात्र ही है, क्योंकि वह अपरिमित शक्ति वाला है । यदि लोक में प्रसिद्ध लीलाओं में भी किसी सूक्ष्म प्रयोजन की उत्प्रेक्षा (संभावना-कल्पना) की जाय तो भी ईश्वरविषयक आप्तकाम श्रुति से यहाँ किसी भी प्रयोजन की उत्प्रेक्षा नहीं को जा सकती है और सृष्टि की श्रुति से अप्रवृत्ति भी नहीं कही जा सकती है । सर्वज्ञत्व श्रुति से उन्मत्त प्रवृत्ति भी नहीं कही जा सकती है और यह सृष्टिविषयक श्रुति परमार्थ विषयक नहीं है । क्योंकि यह अविद्या से कल्पित नाम और रूप के व्यवहार-विषयक है, और ब्रह्मात्मभाव के प्रतिपादनपरक है, इस तत्त्व को भी नहीं भूलना चाहिये ॥ ३३ ॥

वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण (१२)

वैषम्याद्यापतेन्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः।
सृजन्विषम ईशः स्यान्निर्घृणश्चोपसंहरन् ॥
प्राण्यनुष्ठितधर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते ।
नातो वैषम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चादिमान् ॥

प्राणियों के कर्मवासनादि के अनुसार सृष्टि करने से ईश्वर में विषमता-राग, द्वेषादि नहीं है, न निर्घृणता (निर्दयता-क्रूरता) है, ऐसा ही शास्त्र भी दिखाता है। सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि विषमता आदि दोष ईश्वर में प्राप्त होता है, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि मनुष्यों के भेद से तथा अनेक योनि आदि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख-दुःखादि को रचता हुआ ईश्वर विषम होगा, और सब का उपसंहार-प्रलय करने से क्रूर भी होगा। सिद्धान्त है कि प्राणियों के अनुष्ठित (आचरित) धर्मादि की अपेक्षापूर्वक ही ईश्वर प्रवृत्त होता है। इससे विषमता निर्घृणता नहीं है। यदि कहो कि सबसे प्रथम वाली सृष्टि में विषम रचना से विषमता है, तो वह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संसार आदि वाला नहीं है—अनादि है ॥ १-२ ॥

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ३४ ॥

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याक्षिप्यते स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य दृढीकरणाय। नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते। कुतः ? वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात्। कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्, कांश्चिदत्यन्तदुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः श्रुतिस्मृत्यवधारितस्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत। तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात्सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत। तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमिति।

स्थूणानिखनन न्याय से प्रतिज्ञात ईश्वर कारणतावाद को दृढ करने के लिए फिर ईश्वर के जगत् के जन्मादिहेतुत्व का आक्षेप करते हैं कि ईश्वर जगत् का कारण नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि कारण होने पर विषमता-क्रूरता की प्राप्ति होती है। जिससे ईश्वर किसी देवादि को अत्यन्त सुखोपभोक्ता करता है। किसी पशु आदि को अत्यन्त दुःखोपभोक्ता करता है। किसी मनुष्य आदि को मध्यम भोगभागी करता है। इससे इस प्रकार की विषमसृष्टि का निर्माण (रचना) करते हुए ईश्वर को पृथग्जन (पामर-नीच) के समान राग-द्वेष की उपपत्ति सिद्धि से श्रुति स्मृति से अवधारित (निर्णीत-निश्चित) स्वच्छत्वादि रूप ईश्वर-स्वभाव का विलोप (अभाव) प्राप्त होगा। इसी प्रकार दुःख सम्बन्ध का विधान (साधन) और सब प्रजा के उपसंहार—नाश से

खल जनों से भी निन्दित निर्घृणत्व-अतिक्रूरत्व प्राप्त होगा। जिससे-वैषम्य—नैर्घृण्य की प्राप्ति से-ईश्वर कारण नहीं है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः। वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। कस्मात्? सापेक्षत्वात्। यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यं च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति, सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्? धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। यथाहि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्त्येवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति। कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमध्यमोत्तमं संसारं निर्मिमीत इति। तथा दर्शयति श्रुतिः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ब्रा० ३।८) इति। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० ३।२।१३) इति च। स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेवेश्वरस्यानुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वं च दर्शयति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इत्येवंजातीयका॥ ३४॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि विषमता-निर्घृणता ईश्वर को नहीं प्राप्त होती है। क्योंकि ईश्वर को सापेक्षता है। यदि कर्मादि निरपेक्ष केवल ईश्वर विषम सृष्टि का निर्माण करता, तो ये वैषम्य और नैर्घृण्यरूप दोनों दोष होते, परन्तु निरपेक्ष ईश्वर को निर्माणकर्तृत्व नहीं है, सापेक्ष ही ईश्वर विषमसृष्टि का निर्माण करता है। यदि कहो कि ईश्वर किसकी अपेक्षा करता है? तो उत्तर है कि धर्म और अधर्म की। इससे सृज्यमान (रचे जाते हुए) प्राणियों के धर्माधर्म की अपेक्षा से विषम सृष्टि होती है, यह ईश्वर का अपराध नहीं है। सृष्टि में ईश्वर पर्जन्य (मेघ) के समान साधारण कारण है ऐसा समझना चाहिए कि व्रीहि-यव आदि की सृष्टि में जैसे मेघ साधारण कारण होता है और व्रीहि-यवादि की विषमता में तो तत्तत् बीजगत असाधारण विशेष सामर्थ्य ही। कारण होते हैं, इसी प्रकार देव-मनुष्यादि की सृष्टि में ईश्वर साधारण कारण होता है। देवादि की विषमता में तो तत्तत् जीवगत असाधारण कर्म ही कारण होते हैं। इस प्रकार सापेक्ष होने से वैषम्य और नैर्घृण्य से ईश्वर दूषित नहीं होता है। यदि कहो कि कैसे समझा जा सकता है कि धर्मादि सापेक्ष ईश्वर नीच मध्यम और उत्तम संसार की रचना करता है? तो कहा जाता है कि श्रुति ही इस अर्थ को दिखाती है कि (यह परमात्मा ही जिसको इन लोकों से ऊपर प्राप्त कराना चाहता है, उसको साधु पुण्य कर्म करवाता है।

और जिसको नीचे प्राप्त कराना चाहता है, उसको असाधु पाप कर्म करवाता है। पुण्य कर्म से पुण्यात्मा पवित्र होता है, पाप कर्म से पापात्मा होता है) स्मृति भी प्राणी के कर्म विशेष की अपेक्षापूर्वक ही ईश्वर के अनुग्रहकर्तृत्व और निग्रह (दण्ड) कर्तृत्व को दिखाती है कि (जो जिस प्रकार मुझे प्राप्त होते भजते हैं। मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ उसके भजनानुसार अनुग्रहादि करता हूँ) इत्यादि ॥ ३४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६।२१) इति प्राक्सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः स्यात्। सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत। अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम, प्राग्विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात्तुल्यैवाद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत् ?

नैष दोषः। अनादित्वात्संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान् संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते ॥ ३५ ॥

(हे सोम्य ! यह संसार सृष्टि के पूर्वकाल में सत् स्वरूप एक द्वैत रहित ही था) इस प्रकार सृष्टि से प्रथम अविभाग (अभेद) के अवधारण-निश्चय से कर्म ही नहीं है कि जिसकी अपेक्षा से विषमसृष्टि होगी जिससे सृष्टि के उत्तर काल में शरीरादि विभाग की अपेक्षापूर्वक कर्म होता है और कर्म की अपेक्षापूर्वक शरीरादि का विभाग होता है, इससे इतरेतराश्रयता प्राप्त होगी। इससे विभाग के बाद कर्मापेक्ष ईश्वर भले ही प्रवृत्त हो सकते हैं, परन्तु विभाग से पूर्व विचित्रता के निमित्त कर्म के अभाव से तुल्य ही आद्य (पहिली) सृष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार यदि कोई दोष कहे तो कहते हैं कि यह दोष नहीं है क्योंकि संसार को अनादित्व है। यह उक्त दोष तब होता कि यदि आदि वाला संसार होता। और अनादि संसार में तो बीज अंकुर के समान हेतु-हेतुमद्भाव (कारण-कारणवद्भाव) से कर्म और विषमसृष्टि की प्रवृत्ति में कोई विरोध नहीं होता है ॥ ३५ ॥

कथं पुनरवगम्यतेऽनादिरेष संसार इति। अत उत्तरं पठति—

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

उपपद्यते च संसारस्यानादित्वम्। आदिमत्त्वे हि संसारस्याकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुखदुःखादिवैषम्यस्य निर्निमित्तत्वात्। न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम्। नचाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम्, एकरूपत्वात्। रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या

वैषम्यकरी स्यात् । न च कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति, न च शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीतीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः । अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति । उपलभ्यते च संसारस्यानादित्वं श्रुतिस्मृत्योः । श्रुतौ तावत् 'अनेन जीवेनात्मना' (छां० ६।३।२) इति सर्गप्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाभिलपन्नादिः संसार इति दर्शयति । आदिमत्त्वे तु प्रागनवधारितप्राणः सन् कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभिलप्येत । न च धारयिष्यतीत्यतोऽभिलप्येत, अनागताद्धि सम्बन्धादतीतः सम्बन्धो बलवान् भवति, अभिनिष्पन्नत्वात् । 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० सं १०।१९०।३) इति च मन्त्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति । स्मृतावप्यनादित्वं संसारस्योपलभ्यते—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा' । (गी० १५।३) इति । पुराणे चातीतानामनागतानां च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम् ॥ ३६ ॥

यह संसार अनादि है, यह कैसे समझा जाता है इस प्रकार की फिर भी जिज्ञासा हुई, इसके उत्तर में कहते हैं कि—

संसार की अनादिता युक्ति से सिद्ध होती है। जिससे संसार के आदि वाला होने पर अकस्मादुद्भूति (निष्कारण उत्पत्ति) होने से मुक्तों का भी फिर जन्मादि संसार उत्पन्न होगा, अर्थात् मुक्त को संसार की प्राप्ति होगी, और अकृत का अभ्यागम (प्राप्ति) रूप दोष का प्रसंग (सम्बन्ध) होगा। क्योंकि संसार की प्रथमोत्पत्ति-काल में सुख-दुःखादि की विषमता को निर्हेतुकत्व होगा। क्योंकि साधारण कारण होने से ईश्वर विषमता का कारण नहीं है यह प्रथम कहा गया है। केवल अविद्या भी एकरूप होने से विषमता का कारण नहीं है। किन्तु राग, द्वेष, मोह रूप क्लेश की वासनाओं से आक्षिप्त (प्राप्त) धर्माधर्मादि की अपेक्षा वाली क्लेश कर्म सहित अविद्या तो विषमता करने वाली होती है, इससे अविद्या माया के सहायक क्लेश-कर्मादि का प्रवाह अनादि है। सृष्टि के सादि होने पर प्रथम के कर्म के बिना शरीर नहीं हो सकता है, और शरीर के बिना कर्म का सम्भव भी नहीं है। इससे इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष की प्राप्ति होती है। और संसार के अनादित्व होने पर तो बीजांकुर न्याय से कर्म-शरीर दोनों की उत्पत्ति (सिद्धि) होती है, इससे अकृताभ्यागम अन्योन्याश्रय कोई दोष नहीं प्राप्त होता है। और श्रुति-स्मृति में संसार की अनादिता उपलब्ध (ज्ञात) होती है। श्रुति में उपलब्ध होती है कि (इस जीवात्मा रूप से तेज आदि में पैठकर नामरूप का व्याकरण करूँ) इस प्रकार सृष्टि के प्रमुख (आरम्भ) में शरीर आत्मा को प्राण-धारणनिमित्तक जीवशब्द से कहता हुआ परमात्मा संसार अनादि है, इस अर्थ को दिखाता है। संसार के आदि वाला होने पर तो प्रथम अगृहीत प्राण वाला होता हुआ जीव सृष्टि के आरम्भकाल में प्राणधारण-निमित्तक जीवशब्द से

कैसे कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि आगे प्राण का धारण करेगा इससे जीवशब्द से कहा जा सकता है, उसका उत्तर है कि अनागत (भावी) सम्बन्ध से अतीत सम्बन्ध, अभिनिष्पन्न (सिद्ध) होने से बली होता है। और (परमात्मा ने सूर्य और चन्द्रमा को पूर्वसमान ही रचा) यह मन्त्र वर्ण भी पूर्वकल्प के सद्भाव को दिखाता है। स्मृति में भी संसार की अनादिता उपलब्ध होती है कि (इस संसार वृक्ष का रूप गुरु आदि के बिना उपलब्ध-ज्ञात नहीं होता है कि यह सत्य है वा मिथ्या इत्यादि। और ज्ञान के बिना इसके आदि और अन्त भी नहीं उपलब्ध होते हैं, न मध्य काल में सम्प्रतिष्ठा-स्थिति उपलब्ध होती है) इत्यादि। और पुराणों में अतीत-अनागत कल्पों का परिमाण नहीं है, यह स्थापित किया है ॥ ३६ ॥

सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण (१३)

नास्ति प्रकृतिता यद्वा निर्गुणस्यास्ति नास्ति सा।
मृदादेः सगुणस्यैव प्रकृतित्वोपलम्भनात् ॥ १ ॥
भ्रमाधिष्ठानताऽस्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते।
निर्गुणेप्यस्ति जात्यादौ सा ब्रह्म प्रकृतिस्ततः ॥ २ ॥

जगत् की कारणता के योग्य सब धर्म की उपपत्ति से ब्रह्म जगत् का कारण है। यहाँ संशय है कि निर्गुण ब्रह्म को प्रकृतिता नहीं है, अथवा है ? पूर्वपक्ष है कि सगुण मृत्तिका आदि के ही प्रकृतित्व के उपलम्भ से निर्गुण ब्रह्म प्रकृति नहीं है। सिद्धान्त है कि हम भ्रम की अधिष्ठानता को प्रकृतिता मानते हैं, वह निर्गुण जाति गुण आदि में भी है, इससे ब्रह्म प्रकृति है ॥ १–२ ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ७ ॥

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्ता-विलक्षणत्वादीन् दोषान् पर्यहार्षीदाचार्यः, इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणं प्रारिप्समानः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति। यस्मादस्मिन् ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' इति, तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनमिति ॥ ३७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यशङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरक-मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ १ ॥

चेतन ब्रह्म कारण है और प्रकृति है, इस अवधारित वेदार्थ में अन्य से आक्षिप्त (कल्पित) विलक्षणत्वादि दोषों का परिहार आचार्य सूत्रकार ने किया है। इस समय

परपक्ष का प्रतिषेध जिसमें प्रधान है ऐसे प्रकरण के आरम्भ की इच्छा वाले आचार्य स्वपक्ष का परिग्रह जिसमें प्रधान है उस प्रकरण का उपसंहार करते हैं कि जिससे इस ब्रह्म रूप कारण के परिग्रह (स्वीकार) करने पर पूर्व-प्रदर्शित रीति से कारण के सब धर्म उपपन्न (सिद्ध) होते हैं कि (सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त और महामाया वाला ब्रह्म है) इत्यादि, इससे यह उपनिषद् से ज्ञेय दर्शन शंका द्वारा अतिक्रमण के योग्य नहीं है।

सिद्धः शुद्धगुणोपेतः सगुणो निर्गुणोऽथवा ।
कारणं वै परो देवो देवानां देव ईश्वरः ॥ १ ॥

सर्वशक्तिसमायोगान्मायागुणव्यपाश्रयात् ।
कारणं सगुणो देवो निर्गुणः साक्षितां गतः ॥ २ ॥

नास्ति स्वरूपभेदोऽत्र माया भेदकरी मृषा ।
तृषां त्यक्त्वा भजन्नीशं निर्गुणत्वाय कल्पते ॥ ३ ॥

आद्यन्तादिविनिर्मुक्तं सर्वेषां शरणं परम् ।
वन्दे तं परमात्मानमात्मानं सर्वदेहिनाम् ॥ ४ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः

[अत्र पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम्]

रचनानुपपत्त्यधिकरण (१)

प्रधानं जगतो हेतुर्न वा सर्वे घटादयः।
अन्विताः सुखदुःखाद्यैर्यतो हेतुरतो भवेत् ॥ १ ॥
न हेतुर्योग्यरचनाप्रवृत्त्यादेरसम्भवात् ।
सुखाद्या अन्तरा बाह्या घटाद्यास्तु कुतोऽन्वयः ॥ २ ॥

जड़ अनुमान-सिद्ध प्रधान मात्र से जगत् की रचना की असिद्धि से प्रधान जगत् का कारण नहीं है। यहाँ प्रथम संशय होता है कि त्रिगुण की साम्यावस्था रूप प्रधान जगत् का हेतु है, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि सब घटादिपदार्थ सुख-दुःख और मोह से समन्वित (युक्त) हैं, जिससे सुख-दुःख मोहात्मक हैं, इससे त्रिगुणरूप सुख-दुःख मोहात्मक प्रधान इनका हेतु है। भाव है कि रूप-कुल-शीलादि-सम्पन्न स्त्री अपने स्वामी के लिए सुखरूप होती है, सपत्नी के लिए दुःखरूप होती है। कामी पुरुषान्तर भी उसे चाहते हैं, परन्तु उन्हें नहीं मिलने से उनके मोह का हेतु होती है। इसी प्रकार संसार के सब पदार्थ जिसके सुख के हेतु हैं उसके लिए सुखरूप हैं, जिसके दुःख के हेतु हैं, उसके लिए दुःखरूप हैं, जिसके चिन्ता-अविवेक-मोह के हेतु हैं, उसके लिए मोहरूप हैं। और उपादान कारण के गुण कार्य में अन्वित होते हैं, इससे सुख-दुःख और मोह से समन्वित सब जगत् सुख-दुःख मोहात्मक प्रधानजन्य है इससे प्रधान हेतु है। (शब्दस्पर्शविहीनं तं रूपादिभिरसंयुतम् । त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम् ॥ विष्णु पु०) शब्दादि से रहित रूपादि से असंयुक्त वह त्रिगुण-प्रधान जगत् का उपादान है और आदि-उत्पत्ति-नाश-से रहित है। सिद्धान्त है कि प्रधान स्वतन्त्र हेतु नहीं है, क्योंकि जड़ प्रधान से चेतन तो होने योग्य कर्मादिक के अनुसार रचना तो दूर रही देश-कालादि के अनुसार रचना आदि के लिए प्रवृत्ति आदि का भी असम्भव है। और घटादि बाह्य पदार्थ वा शरीरादि अध्यात्म पदार्थ स्त्री-पुत्रादि, सुख-दुःख और मोह के हेतु-निमित्त कारण भले ही हैं परन्तु सुखादि स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि सुखादि शरीर के अन्तर्वर्ती-अन्तःकरण के धर्मरूप से प्रसिद्ध हैं और घटादि बाह्य पदार्थ हैं तो इन घटादिकों को देश-भिन्न होने से सुखादि के साथ अन्वय भी कैसे हो सकता है ? ॥ १–२ ॥

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं न तर्कशास्त्रवत्केवलाभिर्युक्तिभिः कञ्चित्सिद्धान्तं साधयितुं वा प्रवृत्तम्, तथापि वेदान्तवाक्यानि

व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थः परः पादः प्रवर्तते। वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात्तन्निर्णयेन स्वपक्षस्थापनं प्रथमं कृतं तद्ध्यभ्यर्हितं परपक्षप्रत्याख्यानादिति। ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण। बाढमेवम्, तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत्केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसम्भवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते। ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५), 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू० १।१।१८) 'एतेन सर्वे व्याख्याताः' (ब्र० सू० १।४।२८) इति च पूर्वत्रापि सांख्यादिपक्षप्रतिक्षेपः कृतः, किं पुनः कृतकरणेनेति। तदुच्यते। सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते, तेषां यद्व्याख्यानं तद्व्याख्यानाभासं न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत्पूर्वं कृतम्। इह तु वाक्यनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियते इत्येष विशेषः।

इस परपक्ष प्रतिषेध रूप पाद के आरम्भ में ही शंका होती है कि यद्यपि यह दर्शन शास्त्र वेदान्त-वाक्यों के ऐदम्पर्यं (तात्पर्य) के निरूपण के लिए प्रवृत्त हुआ है। तर्कशास्त्र के समान केवल युक्तियों से किसी सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए वा दूषित ठहराने के लिये नहीं प्रवृत्त हुआ है। वहाँ तात्पर्य के निश्चयादि प्रथम हो चुके हैं। इससे व्यर्थ इस पाद का आरम्भ भासता है, तथापि स्वपक्ष की स्थिरता, उसमें श्रद्धा आदि के लिए वेदान्त वाक्यों के व्याख्यानकर्ताओं का सम्यक् ज्ञान के प्रतिपक्ष (विरोधी) रूप सांख्यादि दर्शनों का निराकरण भी कर्तव्य होता है। उसके लिए यह पर—दूसरा प्रवृत्त (आरब्ध) हुआ है। और वेदान्त के अर्थ के निर्णय को सम्यग् दर्शनार्थक होने से उसके निर्णय द्वारा अपने पक्ष का स्थापन प्रथम किया गया है। क्योंकि परपक्ष के प्रत्याख्यान से वह अभ्यर्हित (पूज्य-श्रेष्ठ) है। शंका होती है कि मुमुक्षुओं के मोक्ष के साधन रूप होने से सम्यग् दर्शन के निरूपण के लिए केवल स्वपक्ष का स्थापन करना ही युक्त है, परपक्ष का निराकरण रूप पर के साथ द्वेष करने का क्या फल है ? उत्तर है कि यह कहना सत्य है, तो भी महाजनों से परिगृहीत महान् सांख्यादि शास्त्रों के सम्यग् दर्शन के अपदेश (व्याज) से प्रवृत्त होने से उन्हें प्राप्त करके देखकर किसी मन्दमति को अपेक्षा (विचार) हो सकती है कि ये भी सम्यग् दर्शन के लिए उपादेय हैं। इसी प्रकार युक्ति की दृढ़ता के सम्भव से सर्वज्ञजन से भाषितत्व (कथितत्व) की कल्पना द्वारा उन दर्शनों में श्रद्धा भी हो सकती है, इससे उनकी असारता का प्रतिपादन के लिए यत्न किया जाता है। फिर शङ्का होती है कि (ईक्षतेर्नाशब्दम्) इत्यादि सूत्र द्वारा पूर्व

ही सांख्यादि पक्षों का प्रतिक्षेप (निराकरण) किया गया है, फिर यह कृत-प्रतिक्षेप के करने से क्या फल है ? ऐसी शङ्का होने पर पुनः प्रतिक्षेप करने का फल कहा जाता है कि सांख्यादिवादियों ने अपने पक्षों की स्थापना के लिए वेदान्त वाक्यों का उदाहरण देकर और स्वपक्ष के अनुसार से ही उन वाक्यों की योजना (सम्बन्ध) करते हुए उनका व्याख्यान किया है और करते हैं। उनका जो यह व्याख्यान है, वह व्याख्यानाभास (असद्-व्याख्यान) है, इतने अर्थ का प्रदर्शन प्रथम कराया गया है। यहाँ वाक्य की अपेक्षा किए बिना स्वतन्त्र उनकी पंक्तियों का निषेध किया जाता है यह विशेष (भेद) है।

तत्र सांख्या मन्यन्ते-यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनान्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयान्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति। यत्तत्-सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत्त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्तत इति। तथा परिमाणादि-भिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधानमनुमिमते।

तत्र वदामः। यदि दृष्टान्तबलेनैवैतन्निरूप्येत नाचेतनं लोके चेतनान-धिष्ठितं स्वतन्त्रं किञ्चिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान्विकारान्विरचयद् दृष्टम्। गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते, तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नाना-कर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रति-नियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः सम्भावित-तमैः शिल्पिभिर्मनसाप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत्। लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात्। मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत्प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसङ्गः। न च मृदाद्यु-पादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण मूलकारणमवधारणीयं, न बाह्यकुम्भकारादि-व्यपाश्रयेणेति किञ्चिन्नियामकमस्ति। न चैवं सति किञ्चिद्विरुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते चेतनकारणसमर्पणात्। अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाचेतनं जग-त्कारणमनुमातव्यं भवति। अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति च-शब्देन हेतोरसिद्धिं समु-च्चिनोति। नहि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयान्वय उप-पद्यते, सुखादीनां चान्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः, तन्निमित्तत्व-प्रतीतेश्च। शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषात्सुखादिविशेषोपलब्धेः। तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्ग-पूर्वत्वप्रसङ्गः परिमितत्वाविशेषात्। कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षापूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद्बाह्याध्यात्मिकानां भेदानाम-चेतनपूर्वकत्वं कल्पयितुम् ॥ १ ॥

सांख्यवादी मानते हैं कि जैसे घट-शरावादि रूप भेद (विकार-कार्य) मृत्तिका के स्वरूप से अन्वित हैं, वे मृत्तिकारूप सामान्य (साधारण) कारणपूर्वक लोक में देखे गये हैं, इसी प्रकार वाह्य घटादि और आध्यात्मिक शरीरादिरूप भेद (विकार) भी सुख-दु:ख-मोहस्वरूपता से अन्वित हैं। जिसके सुख के हेतु जो पदार्थ हैं, उसके लिए सुख रूप हैं, जिसके दु:ख के हेतु हैं, उसके लिए दु:खरूप हैं, जिसके चिन्ता-शोकादि के हेतु हैं, उसके लिए मोहरूप हैं। इस प्रकार सब पदार्थ सुखादि से समन्वित हैं इससे सुख-दु:ख मोहात्मक साधारण कारणपूर्वक होने योग्य हैं। जो वह सुख-दु:ख मोहस्वरूप सामान्य साधारण कारण है, वही त्रिगुणप्रधान है, और वह मृत्तिका के समान अचेतन है। वह चेतन पुरुष के भोग और अपवर्ग रूप अर्थ (प्रयोजन) को सिद्ध करने के लिए विचित्र स्वभाव से ही विचित्र कार्य विकार रूप से प्रवृत्त व्यक्त होता है। इसी प्रकार परिणामादि लिङ्गों से उस प्रधान का ही अनुमान करते हैं कि महदादियों के परिमाण (परिमित) होने से उसका कारण अव्यक्त प्रधान है, जैसे परिमित घट की अपेक्षा घटरूप से अव्यक्त मृत्पिण्ड घट का कारण होता है और कारण की शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति सिद्धि होती है। इससे सब कार्य की शक्ति वाला प्रधान है, जैसे तेल की शक्ति वाला तिल तैल का कारण होता है। अनन्त स्वरूप वाले कार्य का सृष्टिकाल में कारण से विभाग होता है, प्रलय में सब कार्य का कारण से अविभाग होता है, इससे इस विभाग और अविभाग से भी अव्यक्त प्रधान कारणरूप सिद्ध है, जैसे सुवर्ण भूषणों का कारण होता है। वहाँ कहते हैं कि दृष्टान्तों के बल से ही इस प्रधान का निरूपण किया जाता हो, तो चेतन से अनधिष्ठित स्वतन्त्र अचेतन किसी विशिष्ट (श्रेष्ठ) पुरुषार्थ (प्रयोजन) के साधन में समर्थ विकारों को रचता हुआ लोक में नहीं देखा गया है। गृह, महल, शय्या, आसन, क्रीडा के स्थानादि जो समय के अनुसार सुख-प्राप्ति और दु:ख के निवारण के योग्य होते हैं वे लोक में बुद्धिमान् शिल्पियों से ही रचे हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार जो यह नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म-सुख, दु:ख, फल और उसके साधनरूप उपभोगभोग्य पदार्थात्मक पृथिवी आदि रूप सम्पूर्ण बाह्य जगत् है और अनेक कर्मफल-भोगों के अधिष्ठान आश्रयरूप जो प्रत्यक्ष दृश्यमान नानाजातियुक्त प्रतिनियत (असाधारण) अवयव विन्यास (रचना) वाले आध्यात्मिक शरीरादि रूप जगत् है, वह सम्भावितत्तम (अत्यन्त श्रेष्ठ) बुद्धिमान् शिल्पियों के मन से भी चिन्तन के अयोग्य होता हुआ अचेतन प्रधान से कैसे रचा जायगा ? क्योंकि अचेतन लोष्ट-पाषाणादि में रचनाकर्तृत्व नहीं देखा जाता है। कुम्भकारादि से अधिष्ठित मृदादि में ही विशिष्ट आकारवाली रचना देखी जाती है इससे प्रधान को भी मृत्तिकादि के समान कार्य के करने में चेतनान्तर से अधिष्ठितत्व का प्रसङ्ग (अवसर) प्राप्त होता है। मृत्तिका आदि-समन्वित उपादान कारणस्वरूप का आश्रयण करके उसके आश्रित रहने वाले धर्म द्वारा ही मूल कारण का अवधारण करना चाहिये, और बाह्य कुम्भकारादि के आश्रयण द्वारा उसके समान

अधिष्ठाता चेतन कर्ता का अवधारण नहीं करना चाहिये, इसमें कोई नियामक हेतु नहीं है। और कुलालादि के समान मूल कारण प्रधान का चेतन अधिष्ठाता मानने पर कुछ विरुद्ध भी नहीं होता है कि जिसके भय से चेतन अधिष्ठाता नहीं माना जाय, उलटा चेतन अधिष्ठाता को मानने पर श्रुति अनुगृहीत होती है, क्योंकि वह चेतन कारण का समर्पण-बोधन कराती है। इससे और रचना की अनुपपत्तिरूप हेतु से अचेतन जगत् का कारण अनुमान के योग्य नहीं है, और जिस अन्वयादिरूप हेतु से प्रधान का अनुमान सांख्यवादी करते हैं, उस अन्वयादि की अनुपपत्ति से भी प्रधान का अनुमान नहीं हो सकता है, इस प्रकार च शब्द से हेतु की असिद्धि का समुच्चय (सम्बन्ध) सूत्रकार करते हैं कि, बाह्य और आध्यात्मिक विकारों को सुख-दुःख-मोहात्मकता रूप से समन्वय नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि सुखादि को आन्तरत्व प्रतीति होती है। और शब्दादि को तद्रूपत्व की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु अतद्रूपत्व की प्रतीति होती है। तथा उस सुखादि के निमित्तत्व की प्रतीति शब्दादि में होती है निमित्त-नैमित्तिक का भेद लोक में प्रसिद्ध है। शब्दादि के सुखादि स्वरूप नहीं होने से तथा सुखादि के निमित्त मात्र होने ही से शब्दादि के एकतुल्य रहते हुए भी प्राणी की भावना वासना के भेद से सुखादि विशेष कार्य की उपलब्धि होती है। अन्यथा सबको एक सी उपलब्धि होनी चाहिए। इसी प्रकार मूल-अंकुरादि रूप परिमित विकारों को संसर्गपूर्वकत्व देख कर बाह्य आध्यात्मिक सब विकारों को परिमितत्व हेतु से संसर्ग-पूर्वकत्व का अनुमान करने वाले को सत्त्व, रज और तमोगुण को भी संसर्गपूर्वकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि इनमें भी अंकुरादि के समान ही परिमितत्व है। और विचारपूर्वक निर्मित शय्या-आसनादि का भी कार्य-कारण भाव देखा गया है। इससे कार्य-कारण भाव से बाह्य आध्यात्मिक विकारों की अचेतनपूर्वकता की कल्पना नहीं कर सकते हैं। इससे चेतनाधिष्ठित मायाजन्य संसार है ॥ १ ॥

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

आस्तां तावदियं रचना, तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते, दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः, अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा। सत्यमेतत्, तथापि चेतनसंयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। न त्वचेतनसंयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। किं पुनरत्र युक्तम्? यस्मिन्प्रवृत्तिर्दृष्टा तस्य सेति यत्संप्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सेति। ननु यस्मिन्दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सेति युक्तमुभयोः प्रत्यक्षत्वात्, नतु प्रवृत्त्याश्रयत्वेन

केवलश्चेतनो रथादिवत्प्रत्यक्षः। प्रवृत्त्याश्रयदेहादिसंयुक्तस्यैव तु चेतनस्य सद्भावसिद्धिः केवलाचेतनरथादिवैलक्षण्यं जीवद्देहस्यैव दृष्टमिति। अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसति चादर्शनाद्देहस्यैव चैतन्यमपीति लोकायतिकाः प्रतिपन्नाः। तस्मादचेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति। तदभिधीयते। न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति, भवतु तस्यैव सा, सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः। तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात् यथा काष्ठादिव्यपाश्रयापि दाहप्रकाशलक्षणा विक्रियाऽनुपलभ्यमानापि च केवले ज्वलने ज्वलनादेव भवति, तत्संयोगे दर्शनात्तद्वियोगे चादर्शनात्तद्वत्। लोकायतिकानामपि चेतन एव देहोऽचेतनानां रथादीनां प्रवर्तको दृष्ट इत्यविप्रतिषिद्धं चेतनस्य प्रवर्तकत्वम्।

इस रचना की बात को तो रहने दो, उस रचना की सिद्धि के लिए जो प्रलयकालिक त्रिगुण के साम्यावस्थान (स्थिति) से प्रच्युति (वैषम्यप्राप्ति), उसके बाद सत्त्व-रज और तमो गुण को अङ्गाङ्गिभाव (शेषशेषिभाव) रूपता की प्राप्ति, और उसके बाद विशिष्ट (विशेषतायुक्त) कार्यों के अभिमुख (कार्यों के उत्पादन) में प्रवृत्तितारूप प्रवृत्ति है, वह भी स्वतन्त्र अचेतन प्रधान को नहीं सिद्ध हो सकती है, क्योंकि अचेतन मृत्तिकादि में और रथादि में स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। और जिससे अचेतन मृत्तिकादि वा रथादि स्वयं अचेतन होते हुए, चेतन कुलालादि वा अश्वादि से अनधिष्ठित होकर विशिष्ट कार्य के अभिमुख प्रवृत्ति वाले नहीं देखे जाते हैं, और दृष्ट हेतु से अदृष्ट साध्य की सिद्धि होती है तथा प्रत्यक्षदृष्ट दृष्टान्त से अदृष्ट की सिद्धि मानी जाती है। अदृष्ट प्रधान दृष्ट-दृष्टान्त सदृश ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए प्रवृत्ति की असिद्धिरूप हेतु से भी अचेतन जगत् का कारण अनुमान के योग्य नहीं है। यहाँ सांख्यवादी शंका करते हैं कि केवल अचेतन की प्रवृत्ति जैसे नहीं देखी गई है, वैसे ही केवल चेतन की भी प्रवृत्ति नहीं देखी गई है और प्रवृत्ति देखी जाती है तो किसको मानी जाय? सिद्धान्ती कहते हैं कि केवल चेतन की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है यह कथन सत्य ही है, तो भी चेतनसंयुक्त रथादि अचेतन की प्रवृत्ति देखी गई है, इससे चेतनसंयुक्त जड़ में प्रवृत्ति मानने योग्य है। इस वेदान्त के सिद्धान्त का सांख्यवादी खण्डन करते हैं कि अचेतनसंयुक्त चेतन की प्रवृत्ति तो नहीं देखी गई है किन्तु सब प्रवृत्ति अचेतन के आश्रित ही देखी जाती है, अचेतन सम्बन्ध से भी चेतनाश्रित नहीं देखी जाती है, जिससे जगत् की सृष्टि चेतन से नहीं होती है। इस प्रकार उभय पक्ष के प्राप्त होने पर विमर्श होता है कि यहाँ युक्त क्या है? अर्थात् अचेतन के संयोग से (प्रवृत्ति होने से) चेतन की प्रवृत्ति समझी जाय; या जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है उसी की समझी जाय (इससे जिसमें प्रवृत्ति देखी गई उसी की वह प्रवृत्ति है, वा जिसके सम्बन्ध से हुई उसकी प्रवृत्ति है) सांख्यवादी कहते हैं कि जिसमें प्रवृत्ति दीखती है, उसी की वह है ऐसा मानना उचित है। क्योंकि प्रवृत्ति और उसका

आश्रय दोनों प्रत्यक्ष हैं। केवल चेतन तो रथादि के समान प्रवृत्ति के आश्रय रूप से प्रत्यक्ष नहीं है, और अप्रत्यक्ष होते भी प्रवृत्ति के आश्रय देहादि से संयुक्त ही चेतन के सद्भाव (सत्ता) की सिद्धि होती है। क्योंकि केवल अचेतन रथादि से विलक्षणता जीवित देह को देखी जाती है। और इस अप्रत्यक्षता से रथादि से विलक्षणता से ही प्रत्यक्ष देह के रहते प्रवृत्ति चेतनता दीखती है। और देह के नहीं रहने पर प्रवृत्ति चेतनता नहीं दीखती है इससे देह का ही चेतनता धर्म है, इस प्रकार लोकायतिक निश्चय किये हैं। उससे अचेतन की ही प्रवृत्ति है। उस प्रवृत्ति विषय में अब सिद्धान्त कहा जाता है कि हम यह नहीं कहते हैं कि जिस अचेतन में प्रवृत्ति देखी गई है, उसकी वह प्रवृत्ति नहीं है, वह प्रवृत्ति उसी की हो, परन्तु वह प्रवृत्ति चेतन से होती है। यह हम कहते हैं, क्योंकि चेतन की सत्ता रहते प्रवृत्ति की सत्ता रहती है, चेतन की सत्ता के अभाव होने पर प्रवृत्ति का अभाव होता है, जैसे कि काष्ठादि के आश्रित भी दाह प्रकाश-रूप विकार (कार्य) होते हैं, और केवल अग्नि में उपलब्ध नहीं भी होते हैं, तो भी अग्नि से ही होते हैं। क्योंकि अग्नि के संयोग रहते दाहादि देखे जाते हैं। और अग्नि के वियोग होने पर काष्ठादि में दाहादि नहीं देखे जाते हैं। इसी प्रकार चेतन संयोग से अचेतन में प्रवृत्ति दीखती है, संयोग के अभाव से प्रवृत्ति का अभाव होता है। लोकायत (चार्वाक) के मत में भी चेतन ही देह अचेतन रथादि का प्रवर्तक देखी मानी गई है। इससे चेतन का प्रवर्तकत्व धर्म सबसे अविरुद्ध है।

ननु तव देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत्। न। अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः। यथाऽयस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति, एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम्। एकत्वात्प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति चेत्। न। अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रत्युक्तत्वात्। तस्मात्संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे न त्वचेतनकारणत्वे ॥ २ ॥

यहाँ शङ्का होती है जो प्रवर्तक होता है वह स्वयं भी प्रवृत्ति वाला होता है। और तुम्हारे मत में तो देह से संयुक्त आत्मा को भी विज्ञानस्वरूपमात्र से भिन्न प्रवृत्ति की असिद्धि से उस निर्विकार निर्गुण आत्मा का प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है। यदि ऐसी शङ्का हो तो कहा जाता है कि प्रवर्तकत्व अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि चुम्बक के समान और रूपादि के समान स्वयं प्रवृत्तिरहित को भी प्रवर्तकत्व की सिद्धि होती है। जैसे चुम्बक रूप मणि स्वयं प्रवृत्तिरहित होते हुए भी लोहा का प्रवर्तक होता है। अथवा जैसे रूपादि विषय स्वयं प्रवृत्तिरहित भी नेत्रादि के प्रवर्तक होते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्तिरहित भी ईश्वर सर्वगत (व्यापक) सर्वात्मा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होता हुआ सबको प्रवृत्त

करे, यह युक्त है। यदि कहो कि सर्वात्मास्वरूप एक होने के कारण प्रवर्त्य (प्रवृत्ति योग्य) के अभाव रहने पर प्रवर्तकत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) है। तो यह कहना ठोक नहीं है, क्योंकि अविद्या से प्रकटित नाम-रूपाऽऽत्मक माया के साथ आवेश (सम्बन्ध) के वश से उसमें कल्पित भेदादि सिद्ध होते हैं, इस प्रकार उक्त अनुपपत्ति का अनेक बार निराकरण हो चुका है। उससे सर्वज्ञ-कारणत्व पक्ष में प्रवृत्ति का सम्भव है। और अचेतन-कारणत्व पक्ष में असम्भव है ॥ २ ॥

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

स्यादेतत्, यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्धयर्थं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दत एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्तिष्यत इति।

नैतत्साधूच्यते। यतस्तत्रापि पयोम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिमीमहे, उभयवादिप्रसिद्धे रथादावचेतने केवले प्रवृत्त्यदर्शनात्। शास्त्रं च 'योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो योऽपोऽन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।४) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' (बृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयकं समस्तस्य लोकपरिस्पन्दितस्येश्वराधिष्ठिततां श्रावयति, तस्मात्साध्यपक्षनिक्षिप्तत्वात्पयोम्बुवदित्यनुपन्यासः। चेतनायाश्च धेन्वाः स्नेहेच्छया पयसः प्रवर्तकत्वोपपत्तेः, वत्सचोषणेन च पयस आकृष्यमाणत्वात्। न चाम्बुनोऽप्यत्यन्तमनपेक्षा, निम्नभूम्याद्यपेक्षत्वात्स्यन्दनस्य। चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम्। 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इत्यत्र तु बाह्यनिमित्तनिरपेक्षमपि स्वाश्रयं कार्यं भवतीत्येतल्लोकदृष्टया निर्दशितम्। शास्त्रदृष्टया तु पुनः सर्वत्रैवेश्वरापेक्षत्वमापद्यमानं न पराणुद्यते ॥ ३ ॥

फिर शंका होती है कि इस अचेतन-कारणत्व पक्ष में भी यह रचना प्रवृत्ति आदि कथंचित् सिद्ध हो सकते हैं, जैसे कि अचेतन क्षीर स्वभाव से ही वत्स की वृद्धि के लिए प्रवृत्त होता है। और जैसे अचेतन जल स्वभाव से ही नदियों में लोक के उपकार के लिए बहता है। इसी प्रकार अचेतन प्रधान स्वभाव से ही पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होगा। सिद्धान्ती कहते हैं, कि यह वचन ठीक सुन्दर नहीं कहा जा रहा है, जिससे वहाँ भी पय-जल में भी चेतन से अधिष्ठित ही पय और जल की प्रवृत्ति का अनुमान हम लोग करते हैं। क्योंकि दोनों वादी को प्रसिद्ध केवल चेतनानधिष्ठित अचेतन रथादि में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है (जो जलों में रहता हुआ जल का अन्तरात्मा है, जो अन्तरात्मा होकर जल-देव का भी नियन्त्रण करता है) (हे गार्गि ! इसी अक्षर परमात्मा के अनुशासन में रह कर पूर्व के तरफ अन्य नदियाँ बहती हैं) इत्यादि शास्त्र भी समस्त लोक परिस्पन्दित-(व्यवहार-क्रिया) को

ईश्वररूप अधिष्ठाता की अधीनता का श्रवण कराता है, जिससे दूध जल की प्रवृत्ति भी साध्यवाले पक्ष में प्राप्त होने से पक्ष की तुल्यता से हेतु के व्यभिचार के लिए यह उपन्यास (दृष्टान्त) नहीं है कि जलादि के समान स्वभाव से प्रधान प्रवृत्त होगा, चेतन अधिष्ठाता की आवश्यकता नहीं है। अन्तर्यामी तो सर्वत्र प्रवर्तक है ही, दूध का प्रवर्तकत्व तो चेतन धेनु की स्नेहजन्य इच्छा द्वारा है। और वत्स के चोषण से भी दूध के आकृष्यमाण (आकृष्ट) होने से दूध में प्रवृत्ति होती है। जल को भी प्रवृत्ति में अन्य की अत्यन्त अनपेक्षा (स्वतन्त्रता) नहीं है। क्योंकि जल के स्पन्दन (बहना) रूप प्रवृत्ति को नीची भूमि आदि की अपेक्षा होती ही है, और अनुमान तथा शास्त्र से प्रथम उपदर्शित कराया गया है, दर्शाया गया है कि प्रवृत्ति में सर्वत्र चेतन की अपेक्षा है (उपसंहारदर्शनात्) इत्यादि सूत्र में तो लोकदृष्टि से इतना अर्थ दर्शाया गया है कि बाह्य साधन की अपेक्षा बिना भी दूध में स्वाश्रय कार्य परिणाम होता है। और शास्त्रदृष्टि से तो सर्वत्र ईश्वर की अपेक्षा है, उस प्राप्त ईश्वरापेक्षा का निषेध नहीं किया जाता है। इससे पूर्वापर सूत्र में विरोध नहीं है ॥ ३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

साङ्ख्यानां त्रयो गुणा साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम्, न तु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद्बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति, पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानम्, अनपेक्षत्वाच्च कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत इत्येतदयुक्तम्। ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्येते ॥ ४ ॥

सांख्यवादियों के मत में समरूप से वर्तमान स्थिर तीन गुण प्रधान कहा जाता है, उससे भिन्न ईश्वर वा धर्माधर्मादिरूप कर्म उस प्रधान का प्रवर्तक वा निवर्तक बाह्य कोई अपेक्षणीय स्थिर वस्तु नहीं है, कर्म है तो भी वह प्रधान स्वरूप ही है, सदा रहने वाला नहीं है। और पुरुष उदासीन है, इससे प्रवर्तक वा निवर्तक नहीं है। इस हेतु से प्रधान सर्वत्र अनपेक्ष है, सृष्टि आदि के लिए प्रवृत्ति आदि में प्रधान को किसी सहायकादि की अपेक्षा नहीं है। - कर्म प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक को भले ही दूर करते हैं, प्रवृत्ति में नहीं अपेक्षित हैं। इस प्रकार अनपेक्ष होते भी प्रधान कभी महदादि कार्य रूप से प्रवृत्त होता है, परिणत होता है। और कभी नहीं परिणत होता है, यह अयुक्त है, अर्थात् आगन्तुक किसी वस्तु की अपेक्षारहित प्रधान की सदा साम्य रूप से स्थिति वा सदा प्रवृत्ति प्राप्त होती है, और ऐसा होता नहीं है, इससे प्रधान कारणवाद अयुक्त है और ईश्वर को तो सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व महामायायुक्तत्व होने से प्रवृत्ति अप्रवृत्ति भी कर्मादि की अपेक्षापूर्वक सिद्ध होते हैं, विरुद्ध नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

स्यादेतत् । यथा तृणपल्लवोदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणमत एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति । कथं च निमित्तान्तरनिरपेक्षं तृणादीति गम्यते ? निमित्तान्तरानुपलम्भात् । यदि हि किंचिन्निमित्तमुपलभेमहि ततो यथाकामं तेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयेमहि, नतु संपादयामहे । तस्मात्स्वाभाविकस्तृणादेः परिणामस्तथा प्रधानस्यापि स्यादिति ।

अत्रोच्यते—भवेत्तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्यापि परिणामो यदि तृणादेरपि स्वाभाविकः परिणामोऽभ्युपगम्येत, न त्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धेः । कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः ? अन्यत्राभावात्, धेन्वैव ह्युपभुक्तं तृणादि क्षीरीभवति न प्रहीणमनडुदाद्युपभुक्तं वा । यदि हि निर्निमित्तमेतत्स्याद्धेनुशरीरसम्बन्धादन्यत्रापि तृणादि क्षीरीभवेत् । न च यथाकामं मानुषैर्न शक्यं सम्पादयितुमित्येतावता निर्निमित्तं भवति । भवति हि किंचित्कार्यं मानुषसम्पाद्यं किंचिद्दैवसम्पाद्यम् । मनुष्या अपि शक्नुवन्त्येवोचितेनोपायेन तृणाद्युपादाय क्षीरं सम्पादयितुम्, प्रभूतं हि क्षीरं कामयमानाः प्रभूतं घासं धेनुं चारयन्ति, ततश्च प्रभूतं क्षीरं लभन्ते । तस्मान्न तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्य परिणामः ॥ ५ ॥

फिर भी प्रधानवादी शंका करते हैं कि यह प्रधान भी किसी प्रकार कारण हो सकता है कि जैसे तृण-पल्लव जलादि निमित्तान्तर की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही दूध आदि रूप से परिणत होते हैं, इसी प्रकार प्रधान भी महत् आदि रूप से परिणाम को प्राप्त हो सकता है । तृणादि निमित्तान्तर की अपेक्षा किए बिना क्षीरादिरूप से परिणत होते हैं, यह कैसे समझा जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर सांख्यवादी कहते हैं कि निमित्तान्तर के अनुपलम्भ (अप्राप्ति) से ऐसा समझा जाता है । क्योंकि यदि किसी निमित्त को प्राप्त करते तो तृणादि को लेकर उस निमित्त से इच्छा के अनुसार क्षीर का सम्पादन (उत्पादन) करते । परन्तु इच्छा के अनुसार नहीं सम्पादन करते हैं, इससे स्वाभाविक तृणादि का परिणाम होता है, इसी प्रकार प्रधान का भी स्वाभाविक परिणाम होगा । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि तृणादि के समान प्रधान का भी स्वाभाविक परिणाम होता कि यदि तृणादि का भी स्वाभाविक परिणाम अभ्युपगत होता । परन्तु तृणादि का स्वाभाविक परिणाम नहीं अभ्युपगत (ज्ञात) होता है, क्योंकि निमित्तान्तर की उपलब्धि (ज्ञान) होती है । यदि कहो कि निमित्तान्तर की उपलब्धि कैसे होती है, तो कहा जाता है, गो आदि से खाये गये तृणादि से अन्य तृणादि में दूधरूप परिणाम के अभाव से समझा जाता है कि गो आदि में कोई निमित्त है कि जिससे दूधरूप परिणाम होता है । जिससे धेनु गौ से ही उपभुक्त तृणादि दूधरूप से

परिणत होता है और प्रहीण (नष्ट) वा अन्य पशु से उपभुक्त तृणादि क्षीर रूप से नहीं परिणत होता है। यदि यह दूध बिना निमित्त के होता, तो धेनु के शरीर सम्बन्ध से अन्यत्र भी तृणादि दूध बन जाता है। ओर मनुष्य इच्छा के अनुसार दूध का सम्पादन नहीं कर सकते, इससे निर्निमित्त दूध नहीं हो सकता है। क्योंकि कोई कार्य मनुष्य से सम्पादन-योग्य होते हैं। और कोई दैव (ईश्वर) से ही सम्पादन योग्य होते हैं। और मनुष्य भी तृणादि लेकर उचित उपाय से क्षीर के सम्पादन के लिए समर्थ हो ही सकते हैं। जिससे बहुत दूध की इच्छा वाले बहुत घास धेनु को खिलाते हैं, उससे बहुत अधिक क्षीर का लाभ करते हैं। उससे तृणादि के समान प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं है ॥ ५ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

स्वाभाविकी प्रधानप्रवृत्तिर्न भवतीति स्थापितम्, अथापि नाम भवतः श्रद्धामनुरुध्यमानाः स्वाभाविकीमेव प्रधानस्य प्रवृत्तिमभ्युपगच्छेम तथापि दोषोऽनुषज्येतैव। कुतः? अर्थाभावात्। यदि तावत्स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किंचिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्यते ततो यथैव सहकारि किंचिन्नापेक्षत एवं प्रयोजनमपि किंचिन्नापेक्षिष्यते इत्यतः प्रधानं पुरुषस्यार्थं साधयितुं प्रवर्त्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स यदि ब्रूयात्सहकार्येव केवलं नापेक्षते न प्रयोजनमपीति तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यं भोगो वा स्यादपवर्गो वोभयं वेति। भोगश्चेत्कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च। अपवर्गश्चेत्प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात्प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्, शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च। उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। न चौत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः, नहि प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्यं सम्भवति। न च पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम्। दृक्शक्तिसर्गशक्तिवैयर्थ्यभयाच्चेत्प्रवृत्तिः तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत्सर्गशक्त्यनुच्छेदात्संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। तस्मात्प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिरित्येतदयुक्तम् ॥ ६ ॥

प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती है, यह स्थापित (निश्चित) किया जा चुका है। उसके बाद भी यदि आप सांख्यवादी की प्रधान के स्वाभाविक परिणाम-विषयक श्रद्धा-प्रेमादि का अनुरोध (अनुसरण) करते हुए प्रधान की स्वाभाविकी ही प्रवृत्ति मान लें, तो भी दोष की प्राप्ति होती ही है। क्योंकि अर्थ (प्रयोजन) के अभाव से दोष रहता है। अर्थात् यदि प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है, इसी से इस प्रवृत्ति में प्रधान प्रथम किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता है, यह कहा जाता है तो कहा जा सकता है कि जैसे ही प्रधान प्रवृत्ति में किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं करता है इसी प्रकार किसी प्रयोजन की भी अपेक्षा नहीं करेगा। इससे यह दोष होगा कि प्रधान पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होता है यह सांख्य की प्रतिज्ञा नष्ट हो

जायगी । वे सांख्यवादी यदि कहें कि केवल सहकारी की ही अपेक्षा प्रधान नहीं करता है, प्रयोजन की भी अपेक्षा नहीं करता है, यह बात नहीं है, प्रयोजन की अपेक्षा करता है, इससे प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती है । तो भी कहा जाता है कि प्रधान की प्रवृत्ति के प्रयोजन (फल) का विवेक-विचार कर्तव्य है कि वह प्रयोजन भोग हो सकता है, अथवा मोक्ष हो सकता है, अथवा भोग-मोक्ष दोनों प्रयोजन हैं । यदि भोग प्रयोजन कहा जाय तो सुखादिरूप अतिशय (विशेष गुण) का जिसमें आधान (स्थापनादि) नहीं किया जा सकता, उस पुरुष को भोग कैसा होगा, यह विवेक कर्तव्य है और भोगमात्र के लिए प्रवृत्ति के होने पर मोक्ष का अभाव प्राप्त होगा । यदि प्रवृत्ति का प्रयोजन मोक्ष कहा जाय तो प्रवृत्ति से प्रथम भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति अनर्थक सिद्ध होगी । और शब्दादि की अनुपलब्धि प्राप्त होगी । और उभयार्थक प्रवृत्ति मानने पर भी भोग के योग्य प्रधान के कार्यरूप मात्रा (विषयों) के अनन्त होने से अनिर्मोक्ष की प्राप्ति होगी ही । और उत्सुकता (इच्छा विशेष) की निवृत्ति के लिए भी प्रधान की प्रवृत्ति को नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अचेतन प्रधान को उत्सुकता का सम्भव नहीं है । और निर्मल निष्कल (निरवयव) प्राणादिरहित पुरुष में भी औत्सुक्य नहीं हो सकता है । और पुरुष की दृक्शक्ति और प्रधान की सर्वशक्ति की व्यर्थता के भय से यदि प्रधान की प्रवृत्ति मानी जाय तो दृक्शक्ति और सर्गशक्ति के अनुच्छेद से संसार का भी अनुच्छेद (अविनाश) से मोक्षाभाव की ही प्राप्ति होगी । इससे प्रधान की पुरुष-प्रयोजन के लिए प्रवृत्ति है, यह कथन अयुक्त है ।। ६ ।।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ।। ७ ।।

स्यादेतत् । यथा कश्चित्पुरुषो दृक्शक्तिसम्पन्नः प्रवृत्तिशक्तिविहीनः पङ्गुरपरं पुरुषं प्रवृत्तिशक्तिसंपन्नं दृक्शक्तिविहीनमन्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति, यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा (१) स्वयमप्रवर्तमानोऽप्ययः प्रवर्तयति, एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयिष्यतीति दृष्टान्तप्रत्ययेन पुनः प्रत्यवस्थानम् ।

अत्रोच्यते—तथापि नैव दोषान्निर्मोक्षोऽस्ति । अभ्युपेतहानं तावद्दोष आपतति प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात् । कथं चोदासीनः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयेत् । पङ्गुरपि ह्यन्धं पुरुषं वागादिभिः प्रवर्तयति, नैवं पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तनव्यापारोऽस्ति, निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च । नाप्ययस्कान्तवत्संनिधिमात्रेण प्रवर्तयेत्, संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गात् । अयस्कान्तस्य त्वनित्यसंनिधेरस्ति स्वव्यापारः संनिधिः, परिमार्जनाद्यपेक्षा चास्यास्तीत्यनुपन्यासः पुरुषाश्मवदिति । तथा प्रधानस्याचैतन्यात्पुरुषस्य चौदासीन्यात्तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावात्संबन्धानुपपत्तिः । योग्यतानिमित्ते च सम्बन्धे योग्यतानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः पूर्ववच्चेहाप्यर्थाभावो विकल्पयितव्यः । परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयमौदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वमित्यस्त्यतिशयः ।। ७ ।।

फिर भी सांख्यानुयायी शंका करता है कि यह प्रधान की प्रवृत्ति आदि कथञ्चित् हो सकती है कि जैसे कोई पुरुष दृष्टिशक्ति से सम्पन्न हो, नेत्र अच्छे हों, परन्तु प्रवृत्ति (गमन) शक्ति से विहीन पङ्गु हो। और दूसरा कोई पुरुष प्रवृत्ति शक्ति से सम्पन्न हो परन्तु दृष्टिहीन-अन्ध हो तो वह पंगु अन्धे के कन्धे पर स्थिर होकर उसे गमनादि में प्रवृत्त कराता है। अथवा जैसे चुम्बक पत्थर स्वयं प्रवृत्ति के बिना भी लोहे को प्रवृत्त करता है, इसी प्रकार पुरुष स्वयं प्रवृत्तिरहित भी प्रधान को प्रवृत्त करायेगा। इस प्रकार दृष्टान्त रूप हेतु से फिर पूर्वपक्ष होता है। यहाँ उत्तर दिया जाता है कि इस दृष्टान्त को स्वीकार करने पर भी दोष से छुटकारा नहीं है। क्योंकि प्रथम तो स्वीकृत सिद्धान्त का हान (त्याग) रूप दोष प्राप्त होता है जिससे स्वतन्त्र प्रधान की प्रवृत्ति स्वीकृत है, और पुरुष का प्रवर्तकत्व अस्वीकृत है। पंगु-अन्ध के दृष्टान्त से इन दोनों स्वीकृति का त्याग होगा। और उदासीन पुरुष प्रधान को प्रवृत्त भी किस प्रकार करायेगा, पंगु भी अन्ध पुरुष को वाक् आदि से कुछ कहकर प्रवृत्त कराता है। इस पुरुष के निर्गुण और निष्क्रिय होने से इस प्रकार का प्रवर्तना (प्रवृत्ति का हेतु) रूप कोई भी व्यापार पुरुष का नहीं है। चुम्बक के समान सन्निधिमात्र से भी पुरुष प्रवृत्ति नहीं करा सकता है, क्योंकि सन्निधि के नित्य होने से प्रवृत्ति की नित्यता प्राप्त होगी। अनित्य संनिधिवाला चुम्बक का तो सन्निधिरूप ही अपना व्यापार है। इस चुम्बक को परिमार्जन, सम्मुख स्थापनादि की अपेक्षा भी है। इससे वह परिमार्जनादि द्वारा लोहे की प्रवृत्ति का हेतु हो सकता है, पुरुष में कोई व्यापार नहीं है इससे प्रवृत्ति का हेतु हो नहीं सकता है, इससे पुरुषाश्मवत् यह दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त नहीं है। इसी प्रकार प्रधान के अचेतन होने से और पुरुष के उदासीन होने से और उन दोनों का सम्बन्ध कराने वाले तृतीय पदार्थ के अभाव से सम्बन्ध की अनुपपत्ति है। सम्बन्ध के योग्यता-निमित्तक स्वाभाविक सम्बन्ध को मानने पर योग्यता की अनिवृत्ति से अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग होता है, क्योंकि द्रष्टृत्व दृश्यत्वरूप योग्यता नित्य है तन्निमित्तक सम्बन्ध नित्य होने से मोक्ष नहीं हो सकता है। स्वतन्त्र प्रधान प्रवृत्ति पक्ष को प्रथम जैसे फलाभाव से दूषित ठहराया गया है, वैसे ही यहाँ पुरुषाधीन प्रवृत्ति-पक्ष में भी अर्थाभाव का विकल्प कर्तव्य है, इस प्रवृत्ति से भोग फल होता है, या मोक्ष होता है, इत्यादि। सब प्रकार से प्रयोजन के अभाव से प्रवृत्ति निरर्थक है इत्यादि। परमात्मा को तो स्वरूपाश्रित उदासीनता है। मायानिमित्तक प्रवर्तकत्व है, यह अतिशय श्रेष्ठता है ॥ ७ ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

इतश्च न प्रधानस्य प्रवृत्तिरवकल्पते, यद्धि सत्त्वरजस्तमसामन्योन्यगुण-प्रधानभावमुत्सृज्य साम्येन स्वरूपमात्रेणावस्थानं सा प्रधानावस्था, तस्याम-

वस्थायामनपेक्षस्वरूपाणां स्वरूपप्रणाशभयात्परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः। बाह्यस्य च कस्यचित्क्षोभयितुरभावाद् गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात् ॥ ८ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी प्रधान की प्रवृत्ति नहीं सिद्ध हो सकती है कि जिससे सत्त्व रजः और तमोगुण का जो परस्पर गुण-प्रधानभाव है, उसे त्याग कर समता-रूप से स्वरूपमात्र से जो स्थिति है वह प्रधानावस्था है। वहाँ उस निर्विकार अवस्था में गुणों की परस्पर निरपेक्ष स्थितिरूप उस अवस्था के होने से विषमता से स्वरूप-नाश के भय से गुणों को परस्पर के प्रति अङ्गाङ्गिभाव की अनुपत्ति से, प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, और बाह्य किसी क्षोभक हेतु के अभाव से गुण की विषमता-निमित्तक महद् आदि की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है ॥ ८ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

अथापि स्यादन्यथा वयमनुमिमीमहे यथा नायमनन्तरो दोषः प्रसज्येत। न ह्यनपेक्षस्वभावा कूटस्थाश्चास्माभिर्गुणा अभ्युपगम्यन्ते प्रमाणाभावात्। कार्यवशेन तु गुणानां स्वभावोऽभ्युपगम्यते, यथा यथा कार्योत्पाद उपपद्यते तथा तथैषां स्वभावोऽभ्युपगम्यते, चलं गुणवृत्तमिति चास्त्यभ्युपगमः। तस्मा-त्साम्यावस्थायामपि वैषम्योपगमयोग्या एव गुणा अवतिष्ठन्ते इति। एवमपि प्रधानस्य ज्ञशक्तिवियोगाद्रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषास्तदवस्था एव। ज्ञशक्तिमपि त्वनुमिमानः प्रतिवादित्वान्निवर्तेत, चेतनमेकमनेकप्रपञ्चस्य जगत उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसङ्गात्। वैषम्योपगमयोग्या अपि गुणाः साम्यावस्थायां निमित्ताभावान्नैव वैषम्यं भजेरन्, भजमाना वा निमित्ताभावाविशेषात्सर्वदैव वैषम्यं भजेरन्निति प्रसज्यत एवायमनन्तरोऽपि दोषः ॥ ९ ॥

अथापि (उक्त रीति से साम्यावस्थापन्न निरपेक्ष गुणों में अङ्गाङ्गिभाव नहीं होने पर भी) वक्ष्यमाण रीति से स्यात् (अङ्गाङ्गिभाव होगा) वह रीति क्या है कि हम अन्यथा अनुमान करेंगे कि जिस प्रकार से यह अनन्तरोक्त दोष नहीं प्राप्त होगा, अर्थात् निरपेक्ष गुणों के अनुमान से उनमें अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता है। इससे निरपेक्ष से अन्यथा सापेक्ष का अनुमान करेंगे क्योंकि निरपेक्ष स्वभाव वाले और कूटस्थ गुण को हम लोग नहीं मानते हैं। जिससे वैसे गुण में प्रमाण का अभाव है, और प्रयोजन के वश से गुणों का स्वभाव माना जाता है, इससे जिस जिस प्रकार से कार्य की उत्पत्ति सिद्ध हो सकेगी, उस उस प्रकार से इन गुणों का स्वभाव माना जाता है और गुणों का स्वभाव चल (स्थिति रहित) है, यह स्वीकार किया गया है। जिससे साम्यावस्था में भी विषमता की प्राप्ति के योग्य ही गुण रहते हैं। इस प्रकार पूर्व पक्ष होने पर कहते हैं कि इस प्रकार अनुमान करने पर भी प्रधान को ज्ञातृत्व शक्ति के अभाव से,

प्रधानावस्था में बुद्धिरूपता के भी वियोग से रचना की अनुपपत्ति आदि रूप पूर्वोक्त दोष ज्यों का त्यों वर्तमान ही है। कार्यानुपपत्ति से प्रधान में ज्ञातृत्व शक्ति का अनुमान करता हुआ प्रतिवादी प्रतिवादित्व से रहित हो जायगा, क्योंकि एक चेतन अनेक प्रपञ्चरूप जगत् का उपादान है, यह ब्रह्मवाद है, जगत् का एक उपादानरूप प्रधान में ज्ञान-ज्ञातृत्वादि मान लेने पर नाममात्र का भेद रहेगा और शेष ब्रह्मवाद की ही प्राप्ति हो जायगी और साम्यावस्था में विषमता की प्राप्ति के योग्य भी गुण, विषमता के निमित्त के अभाव से विषमता को नहीं प्राप्त होंगे। अथवा विषमता को प्राप्त होंगे भी तो निमित्ताभाव की अविशेषता (तुल्यता) से सर्वदा ही विषमतायुक्त रहेंगे, इस प्रकार अन्यथा अनुमान करने पर भी यह अनन्तरोक्त दोष प्राप्त होता ही है ॥ ९ ॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः। क्वचित्सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश, तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहङ्कारात्, तथा क्वचित्त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति क्वचिदेकमिति। प्रसिद्ध एव तु श्रुत्येश्वरकारणवादिन्या विरोधस्तदनुवर्तिन्या च स्मृत्या। तस्मादप्यसमञ्जसं सांख्यानां दर्शनमिति।

और सांख्यों का अभ्युपगम (सिद्धान्त-मत) परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि कहीं सात इन्द्रिय मानते हैं कि त्वक् मात्र ही ज्ञानेन्द्रिय है, वही अनेक शब्दादि के ज्ञान का कारण है और पांच कर्मेन्द्रिय हैं और एक मन है, इस प्रकार सात इन्द्रियाँ हैं। कहीं ग्यारह इन्द्रिय मानते हैं कि पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन है। इसी प्रकार कहीं महत्तत्त्व से तन्मात्राओं की सृष्टि का उपदेश करते हैं, और कहीं अहङ्कार से तन्मात्रा की सृष्टि कहते हैं। इसी प्रकार कहीं बुद्धि, अहंकार और मनरूप तीन अन्तःकरण का वर्णन करते हैं, कहीं एक बुद्धि का ही वर्णन करते हैं और एक ईश्वरवादिनी श्रुति तथा उस श्रुति की अनुवर्तिनी (अनुसारिणी) स्मृति से तो विरोध प्रसिद्ध ही है। इससे भी सांख्यों का दर्शन (आलोकन विचार) अयुक्त है।

अत्राह। नन्वौपनिषदानामप्यसमञ्जसमेव दर्शनं तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावानभ्युपगमात्। एकं हि ब्रह्म सर्वात्मक सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमभ्युपगच्छतामेकस्यैवात्मनो विशेषौ तप्यतापकौ न जात्यन्तरभूतावित्यभ्युपगन्तव्यं स्यात्। यदि चैतौ तप्यतापकावेकस्यात्मनो विशेषौ स्यातां स ताभ्यां तप्यतापकाभ्यां न निर्मुच्यत इति तापोपशान्तये सम्यग्दर्शनमुपदिशच्छास्त्रमनर्थकं स्यात्। न ह्यौष्ण्यप्रकाशधर्मकस्य प्रदीपस्य तदवस्थस्यैव ताभ्यां निर्मोक्ष उपपद्यते। योऽपि जलतरङ्गवीचीफेनाद्युपन्यासः, तत्रापि जलात्मन एकस्य वीच्यादयो विशेषा आविर्भावतिरोभावरूपेण नित्या एवेति समानो जलात्मनो

बीच्यादिभिरनिर्मोक्षः। प्रसिद्धश्चायं तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावो लोके। तथाहि—अर्थी चार्थश्चान्योन्यभिन्नौ लक्ष्येते, यद्यर्थिनः स्वतोऽन्योऽर्थो न स्यात्, यस्यार्थिनो यद्विषयमर्थित्वं स तस्यार्थो नित्यसिद्ध एवेति तस्य तद्विषयमर्थित्वं न स्यात्, यथा प्रकाशात्मनः प्रदीपस्य प्रकाशाख्योऽर्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं भवति, अप्राप्ते ह्यर्थेऽर्थिनोऽर्थित्वं स्यादिति। तथार्थस्याप्यर्थत्वं न स्यात्, यदि स्यात्स्वार्थत्वमेव स्यात्, न चैतदस्ति। संबन्धिशब्दौ ह्येतावर्थी चार्थश्चेति द्वयोश्च संबन्धिनोः संबन्धः स्यान्नैकस्यैव। तस्माद्भिन्नावेतावर्थार्थिनौ, तथानर्थानर्थिनावपि। अर्थिनोऽनुकूलोऽर्थः प्रतिकूलोऽनर्थस्ताभ्यामेकपर्यायेणोभाभ्यां संबध्यते, तत्रार्थस्याल्पीयस्त्वाद्भूयस्त्वाच्चानर्थस्योभावप्यर्थानर्थावनर्थ एवेति तापकः स उच्यते, तप्यस्तु पुरुषो य एकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यत इति तयोस्तप्यतापकयोरेकात्मतायां मोक्षानुपपत्तिः। जात्यन्तरभावे तु तत्संयोगहेतुपरिहारात्स्यादपि कदाचिन्मोक्षोपपत्तिरिति।

यहाँ सांख्यवादी शंका करते हैं कि उपनिषद् को प्रमाण मानने वालों का दर्शन भी अयुक्त है, क्योंकि त्रिविध ताप से तप्त (दुःखी) होने वाला तप्य जीव और उसको तापक दुःख देने वाला संसार के जात्यन्तर भाव (विलक्षणता-भेद) के अस्वीकार से अयुक्तता है। जिससे एक ब्रह्म सर्वात्मक (सबका आत्मा) और सब प्रपञ्च का कारण है, इस प्रकार मानने वालों के मत में एक आत्मा ही के विशेष स्वरूप तप्य और तापक हैं, जात्यन्तर स्वरूप नहीं हैं। इस प्रकार उस मत में मानना होगा। और यदि ये तप्य और तापक एक आत्मा के विशेष स्वरूप होंगे, तो वह आत्मा उन तप्य और तापकों से कभी निर्मुक्त-रहित नहीं हो सकता है। इससे ताप की निवृत्ति के लिए सम्यग्दर्शन (ज्ञान) का उपदेश देनेवाला शास्त्र अनर्थक होगा, क्योंकि उष्णता और प्रकाशरूप धर्म वाले प्रदीप को प्रदीप रूप से स्थिर रहते, कभी उष्णता और प्रकाश से निर्मोक्ष नहीं हो सकता है, वैसे ही आत्मा कभी तप्य-तापक से निर्मुक्त नहीं हो सकता है। और जो जलतरङ्ग वीची-फेनादि का दृष्टान्त है, वहाँ भी एक जल स्वरूप के बीची आदि विशेष स्वरूप हैं, वह भी प्रकट गुप्तस्वरूप से नित्य ही हैं, इससे जल के स्वरूप को भी बीची आदि से अनिर्मोक्ष दीप के समान ही है। और लोक में यह तप्य-तापक का जात्यन्तर भाव (भेद) प्रसिद्ध है, उसे नहीं मानने से लोक से विरोध है और उस भेद की प्रसिद्धि इस प्रकार है कि तप्य अर्थी और तापक अर्थ परस्पर भिन्न दीखते हैं। यदि अर्थी (अर्थेच्छुक) से अर्थ स्वतः स्वरूप से भिन्न नहीं हो, तो जिस अर्थी को जिस विषयक अर्थित्व (इच्छा) है, वह अर्थ उस अर्थी को नित्य सिद्ध ही है। इससे उसको उस अर्थविषयक अर्थित्व नहीं होगा। जैसे प्रकाशस्वरूप प्रदीप को प्रकाशनामक अर्थ नित्यसिद्ध ही है, इससे

प्रदीप को प्रकाशविषयक अर्थित्व नहीं होता है। क्योंकि अप्राप्त-अर्थविषयक अर्थी को अर्थित्व (काम) होता है। इसी प्रकार अर्थ को भी अर्थत्व नहीं होगा, यदि होगा भी तो स्वार्थत्व ही होगा, और यह स्वार्थत्व है नहीं। क्योंकि अर्थी और अर्थ ये दोनों सम्बन्धी के वाचक शब्द हैं, केवल स्वरूपवाचक नहीं हैं। और दो सम्बन्धी को सम्बन्ध होगा, एक को ही सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इससे ये अर्थ अर्थी भिन्न हैं। इसी प्रकार अनर्थ और अनर्थी भी भिन्न हैं। अर्थी के अनुकूल इच्छा के विषय वस्तु को अर्थ कहते हैं, अर्थी के प्रतिकूल अनर्थ होता है। वहाँ एक प्राणी को क्रम से दोनों के साथ सम्बन्ध होता है। उनमें अर्थों की अल्पता से अनर्थों की अधिकता से अर्थ और अनर्थ दोनों अनर्थ ही हैं। उपार्जन-रक्षणादिरूप अनर्थ-क्लेश के मध्य में प्राप्त होने से अर्थ भी अनर्थरूप हो जाता है। और इस प्रकार वह अर्थ भी तापक कहा जाता है और तप्य पुरुष है कि जो एक पुरुष अर्थ-अनर्थ दोनों के साथ क्रम से सम्बन्ध वाला होता है। वहाँ तप्य-तापक दोनों को एक ब्रह्मस्वरूपता होने पर मोक्ष की अनुपपत्ति है। तप्य-तापक का जात्यन्तर भाव (भेद) रहने पर तो उस ताप का हेतुरूप संयोग के कारण अविवेक का परिहाररूप विवेक से कभी मोक्ष की सिद्धि हो सकती है। अर्थात् बुद्धिगत मोक्ष का पुरुष में उपचार हो सकता है, यों तो नित्यमुक्तस्वरूप पुरुष है ॥

अत्रोच्यते। न एकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः। भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम्, न त्वेतदस्त्येकत्वादेव। न ह्यग्निरेकः सन्स्वमात्मानं दहति प्रकाशयति वा सत्यप्यौष्ण्यप्रकाशादिधर्मभेदे परिणामित्वे च, किमु कूटस्थे ब्रह्मण्येकस्मिंस्तप्यतापकभावः संभवेत्। क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति? उच्यते—किं न पश्यसि कर्मभूतो जीवद्देहस्तप्यस्तापकः सवितेति। ननु तप्तिर्नाम दुःखं सा चेतयितुर्नाचेतनस्य देहस्य, यदि देहस्यैव तप्तिः स्यात्सा देहनाशे स्वयमेव नश्यतीति तन्नाशाय साधनं नैषितव्यं स्यादिति। उच्यते। देहाभावेऽपि केवलस्य चेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा। न च त्वयापि तप्तिर्नाम विक्रिया चेतयितुः केवलस्येष्यते। नापि देहचेतनयोः संहतत्वम्, अशुद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात्। न च तप्तेरेव तप्तिमभ्युपगच्छसि कथं तवापि तप्यतापकभावः। सत्त्वं तप्यं तापकं रज इति चेत्। न। ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः। सत्त्वानुरोधित्वाच्चेतनोऽपि तप्यत इत्यापतत्तीवशब्दप्रयोगात्। न चेत्तप्यते नेवशब्दो दोषाय। नहि डुण्डुभः सर्प इवेत्येतावता सविषो भवति सर्पो वा डुण्डुभ इवेत्येतावता निर्विषो भवति। अतश्चाविद्याकृतोऽयं तप्यतापकभावो न पारमार्थिक इत्यभ्युपगन्तव्यमिति, नैवं सति ममापि किंचिद् दुष्यति। अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्वमभ्युपगच्छसि तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रस-

ज्येत, नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य। तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि सनिमित्तसंयोगापेक्षत्वात्तप्तेः संयोगनिमित्तादर्शननिवृत्तावात्यन्तिकः संयोगोपरमः, ततश्चात्यन्तिको मोक्ष उपपन्न इति चेत्। न। अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात्। गुणानां चोद्भवाभिभवयोरनियतत्वादनियतः संयोगनिमित्तोपरम इति वियोगस्याप्यनियतत्वात्सांख्यस्यैवानिर्मोक्षोऽपरिहार्यः स्यात्। औपनिषदस्य त्वात्मैकत्वाभ्युपगमादेकस्य च विषयविषयिभावानुपपत्तेर्विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वश्रवणादनिर्मोक्षशङ्का स्वप्नेऽपि नोपजायते। व्यवहारे तु यत्र यथा दृष्टस्तप्यतापकभावस्तत्र तथैव स इति न चोदयितव्यः परिहर्तव्यो वा भवति ॥ १० ॥

इस शंका का उत्तर यहाँ कहा जाता है, कि पारमार्थिक स्वरूप में एकता से ही वस्तुतः तप्य-तापकभाव की अनुपपत्ति से यह दोष नहीं है, यह दोष तब होता कि जब एकस्वरूपता में तप्य और तापक परस्पर के विषयविषयिभाव को प्राप्त होते, परन्तु एकत्व से ही परमार्थ एकस्वरूपता में वह तप्य-तापकादिभाव है नहीं। उष्णता और प्रकाशादि धर्मभेद के रहते तथा परिणामित्व रहते भी एक होती हुई अग्नि अपनी आत्मा को न दग्ध करती-जलाती है, न प्रकाशित ही करती है, फिर कूटस्थ एक ब्रह्म में तप्य-तापकभाव का सम्भव कैसे हो सकता है। यदि कहो कि एक आत्मा में तप्य-तापकभाव नहीं है, तो यह तप्य-तापकभाव कहाँ है? तो कहा जाता है कि व्यवहार में जहाँ देखा जाता है, वहाँ है, इससे क्या प्रत्यक्ष ही नहीं देखते हो कि ताप का कर्म स्वरूप जीवित देह तप्य है, और सूर्य तापक है। यहाँ शंका होती है कि दुःख का तप्ति (ताप) नाम है, वह ताप चेतयिता (चेतन) का धर्म है, अचेतन देह का नहीं। यदि देह को ही ताप होता, तो देह के नाश से वह ताप स्वयं नष्ट होता है। इससे उस ताप के नाश के लिए साधना का अन्वेषण स्वीकार नहीं करना होगा। उत्तर कहा जाता है कि देह के अभाव रहते भी केवल चेतन का ताप नहीं देखा गया है। केवल चेतन का तापरूप विकार सांख्यवादी को भी इष्ट नहीं है, इससे चेतनमात्र का विकार नहीं माना जाता है। देह चेतन के संघात का धर्म ताप माना जाय वह भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अशुद्धि-संगादि दोष के प्रसंग से चेतन और देह को संहतत्व भी नहीं है। ताप के ही ताप को भी नहीं मानते हो, तो तुम्हारे मत में भी तप्य-तापक भाव कैसे है। यदि कहो कि सत्त्वगुण तप्य है, और रजोगुण तापक है, तो भी उनके साथ चेतन पुरुष के संहतत्व की अनुपपत्ति से पुरुष में बन्धन का अभाव है। इससे मोक्ष का उपदेशरूप शास्त्र का आरम्भ नहीं होना चाहिए। यदि कहो कि सत्त्वगुण के अनुरोधी होने से स्वच्छता द्वारा तप्यसत्त्व में प्रतिबिम्बित होने से और अविवेक से असंग चेतन भी तापयुक्त के (इव) समान होता है। इससे अविवेक की निवृत्ति के लिए शास्त्र सार्थक है। तो कहा जाता है कि इव शब्द के प्रयोग से यह

प्राप्त (सिद्ध) होता है कि पुरुष परमार्थरूप से तापयुक्त नहीं होता है। जब आत्मा तप्त नहीं होता है, तभी इव शब्द दोष के लिए नहीं है। अन्यथा दोष के लिए मिथ्या हो जायगा, और आत्मा में तापरूप दोष की प्राप्ति होगी। परन्तु इव का सत्य प्रयोग रहते ऐसा होता नहीं है, क्योंकि डुण्डुभ (राजिल नाम सर्पतुल्य प्राणी) सर्प के समान है ऐसा कहने से वह सविष सत्य सर्प नहीं होता है, वा सर्प डुण्डुभ के समान है, ऐसा कहने से सर्प विषरहित नहीं सिद्ध होता है। इससे यहाँ भी पुरुष तपते हुए के समान होता है, ऐसा कहने से वास्तविक ताप नहीं सिद्ध होने से यह तप्यतापकभाव अविद्याकृत है पारमार्थिक नहीं है, ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए और ऐसा मानने पर मेरा भी कुछ दूषित नहीं होता है, किन्तु इष्ट सिद्ध होता है। यदि सत्कार्यवादी हो कर तप्य-तापकभाव को मिथ्या मानने पर सिद्धान्त-त्याग के भय से चेतन के पारमार्थिक ही तप्यत्व को मानोगे, तो तुझे अत्यन्त मोक्षाभाव की प्राप्ति होगी क्योंकि तापक रजोगुण को भी नित्य मानते हो, इससे नित्य ही ताप भी होगा। यदि कहो कि तप्यतापक शक्ति, सत्त्वानुसारी पुरुष और रजोगुण के नित्य होते भी, ताप को संयोग के निमित्त अविवेक सहित संयोग (बुद्धि-पुरुष का सम्बन्ध) की अपेक्षा होने से अर्थात् संयोगपूर्वक ताप की सिद्धि होने से, संयोग के निमित्त अदर्शन (अविवेक) की विवेक से निवृत्ति होने पर संयोग का अत्यन्ताभाव होता है, इससे आत्यन्तिक मोक्ष सिद्ध होता है। वहाँ कहा जाता है कि अदर्शनरूप तमोगुण को नित्य मानने से विवेक से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि कहो कि तम की निवृत्ति नहीं होने पर भी, विवेक से वह स्वकार्य से उपरत होता है इससे संयोगाभाव से मुक्ति होती है, तो कहा जाता है कि गुणों के उद्भव, अभिभव (उत्पत्ति-लय) के अनियतरूप होने से संयोग के निमित्त की उपरति भी अनियत है इससे वियोग को भी अनियत होने से सांख्यवादी को अनिर्मोक्ष अनिवार्य होगा। अर्थात् मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकेगी। उपनिषत् मत में तो एकत्व के स्वीकार से, और एक की विषयविषयिभाव की असिद्धि से और विकार-भेद को वाचारम्भण-मात्र सुनने से अनिर्मोक्ष की शंका स्वप्न में भी नहीं होती है। व्यवहार में जहाँ जैसा तप्य-तापकभाव देखा गया है वहाँ वह वैसा ही है। उसकी तत्त्वज्ञान से निवृत्ति होती है। इससे यहाँ शंका-समाधान का अवसर नहीं है ॥

महद्दीर्घाधिकरण (२)

नास्ति काणाददृष्टान्तः किं वास्त्यसदृशोद्भवे।
नास्ति शुक्लः पटः शुक्लात्तन्तोरेव हि जायते ॥१॥
अणु द्व्यणुकमुत्पन्नमनणोः परिमण्डलात्।
अदीर्घाद् द्व्यणुकाद्दीर्घं त्र्यणुकं तन्निदर्शनम् ।।२।।

ह्रस्व द्व्यणुक से महत्त्र्यणुक के समान और परिमण्डल (परम अणु) से दीर्घ-द्व्यणुक के समान चेतन ब्रह्म से विलक्षण जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। वहाँ संशय है कि कारण के असदृश कार्य की उत्पत्ति में कणादमुनि-सम्मत कोई दृष्टान्त है अथवा नहीं है। पूर्वपक्ष है कि जिससे शुक्ल तन्तु से ही शुक्ल पट होता है, इससे दृष्टान्त नहीं

है। सिद्धान्त है कि अणुभिन्न परिमण्डल से अणु उत्पन्न होता है और अदीर्घद्व्यणुक से दीर्घत्र्यणुक उत्पन्न होता है। इससे दृष्टान्त है। यद्यपि सांख्यमत के निराकरण के बाद परमाणुवाद का निराकरण करना चाहिए, तथा स्वमत-स्थापन पूर्वपाद में ही करना चाहिए तथापि प्रधान के गुण-सुखादि के जगत् में अनन्वय से प्रधान जगत् का कारण नहीं है, यह प्रथम कहा गया है, वैसे ही ब्रह्म गुण चैतन्य का जगत् में अन्वय नहीं होने से ब्रह्म भी कारण नहीं होगा इत्यादि प्रसंग से, तथा स्वमत स्थापनयुक्त परमतनिषेधात्मक इस पाद के होने से स्वमत स्थापन किया गया है ॥ १–२ ॥

प्रधानकारणवादो निराकृतः। परमाणुकारणवाद इदानीं निराकर्तव्यः। तत्रादौ तावद्योऽणुवादिना ब्रह्मवादिनि दोष उत्प्रेक्ष्यते स प्रतिसमाधीयते। तत्रायं वैशेषिकाणामभ्युपगमः—कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते, शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लस्य पटस्य प्रसवदर्शनात्तद्विपर्ययादर्शनाच्च। तस्माच्चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्यं समवेयात्, तददर्शनात्तु न चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं भवितुमर्हति-इति। इममभ्युपगमं तदीययैव प्रक्रियया व्यभिचारयति—

प्रधान कारणवाद निराकृत हो चुका। अब इस समय परमाणु कारणवाद का निराकरण कर्तव्य है। यहाँ आदि (प्रारम्भ) में प्रथम जो अणुवादी से ब्रह्मवादी में दोष की उत्प्रेक्षा (कल्पना) की जाती है, उस दोष का प्रतिसमाधान (निवारण) किया जाता है। वहाँ वैशेषिक (विशेषपदार्थवादी) परमाणुवादियों का यह अभ्युपगम (स्वीकृत सिद्धान्त) है कि कारण द्रव्य में समवायी (समवाय सम्बन्ध से वर्तमान) गुण कार्य द्रव्य में अपने समान जाति वाले गुणान्तर का आरम्भ करते हैं। क्योंकि शुक्ल तन्तुओं से शुक्ल पट की उत्पत्ति देखी जाती है, और उसके विपर्यय (उलटा विपरीत) नील-पीतादि की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। इससे चेतन ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर कार्यरूप जगत् में भी चैतन्य को समवाय सम्बन्ध से वर्तमान होना चाहिये। वह जगत् में समवेत चैतन्य देखा नहीं जाता है, उस चेतना के अदर्शन से ही निश्चय होता है कि चेतन ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होने योग्य नहीं है, परमाणुवादी के इस अभ्युपगम (स्वीकृति) को, उनकी ही प्रक्रिया से व्यभिचारसहित (नियम व्याप्तिरहित) सूत्रकार ठहराते हैं कि—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥

एषा तेषां प्रक्रिया। परमाणवः किल कञ्चित्कालमनारब्धकार्या यथायोगं रूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाश्च तिष्ठन्ति, ते च पश्चाददृष्टादिपुरःसराः संयोगसचिवाश्च सन्तो द्व्यणुकादिक्रमेण कृत्स्नं कार्यजातमारभन्ते, कारणगुणाश्च कार्ये गुणान्तरम्। यदा द्वौ परमाणू द्व्यणुकमारभेते तदा परमाणुगता

रूपादिगुणविशेषाः शुक्लादयो द्वचणुके शुक्लादीनपरानारभन्ते । परमाणुगुणविशेषस्तु पारिमाण्डल्यं न द्वचणुके पारिमाण्डल्यमपरमारभते, द्वचणुकस्य परिमाणान्तरयोगाभ्युपगमात् । अणुत्वह्रस्वत्वे हि द्वचणुकवर्तिनी परिमाणे वर्णयन्ति । यदापि द्वे द्वचणुके चतुरणुकमारभेते तदापि समानं द्वचणुकसमवायिनां शुक्लादीनामारम्भकत्वम् । अणुत्वह्रस्वत्वे तु द्वचणुकसमवायिनी अपि नैवारभेते, चतुरणुकस्य महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणयोगाभ्युपगमात् । यदापि बहवः परमाणवो बहूनि वा द्वचणुकानि द्वचणुकसहितो वा परमाणुः कार्यमारभते तदापि समानैषा योजना । तदेवं यथा परमाणोः परिमण्डलात्सतोऽणु ह्रस्वं च द्वचणुकं जायते महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि न परिमण्डलम्, यथा वा द्वचणुकादणोर्ह्रस्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते नाणु नो ह्रस्वम्, एवं चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनं जगज्जनिष्यत इत्यभ्युपगमे किं तव च्छिन्नम् ।

उन अणुवादियों की यह वक्ष्यमाण प्रक्रिया (पदार्थ-प्रतिपादन की रीति) है कि कुछ समय प्रलयावधि तक कार्य के आरम्भ से रहित परमाणु यथायोग्य रूपादि वाले और पारिमण्डल्य परिणाम वाले स्थिर रहते हैं, अर्थात् पृथिवी के परमाणु रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवाले रहते हैं, जल के परमाणु गन्धरहित रूपादि वाले रहते हैं, तेज के परमाणु रूप और स्पर्श वाले रहते हैं, वायु के परमाणु केवल स्पर्श वाले रहते हैं, और परमाणुमात्रवृत्ति परिमाण को पारिमाण्डल्य कहते हैं, परमाणु को परिमण्डल कहते हैं । प्रलय की अवधि के बीतने पर सृष्टि के आरम्भ काल में फिर वे परमाणु अदृष्ट दिक्-कालादिपूर्वक संयोगपूर्वक होकर द्वचणुक (दो परमणुजन्य कार्य) आदि की सृष्टि के क्रम से सम्पूर्ण कार्यसमूह का आरम्भ करते हैं । कारण के रूपादि गुण कार्य में स्वसजातीय गुणान्तर का आरम्भ करते हैं । जिस समय दो परमाणु अदृष्टयुक्त आत्मा के संयोग से द्वचणुक का आरम्भ करते हैं, उसी समय परमाणुगत शुक्लादि-स्वरूप रूपादिगुण विशेष द्वचणुक में अन्य शुक्लादि विशेष गुणों का आरम्भ करते हैं । परन्तु परमाणु के गुण विशेष रूप पारिमण्डल्य द्वचणुक में दूसरा पारिमण्डल्य का आरम्भ नहीं करता है, क्योंकि द्वचणुक का परिमाण्डल्य से अन्य परिमाण के साथ सम्बन्ध माना गया है । जिससे अणुत्व और ह्रस्वत्वरूप द्वचणुक वृत्ति परिमाणों का अणुवादी वर्णन करते हैं । जिस समय दो-दो द्वचणुक, अर्थात्, द्वित्ववाले दो द्वचणुक याने चार द्वचणुक जब चतुरणुक का आरम्भ करते हैं, वे भी सजातीय गुणान्तर का आरम्भ करते हैं । परन्तु द्वचणुकों में समवेत भी अणुत्व और ह्रस्वत्व स्वसजातीय गुण का आरम्भ नहीं करते हैं, क्योंकि चतुरणुक का महत्त्व और दीर्घत्व रूप परिमाणान्तर के साथ सम्बन्ध माना गया है और जिस समय बहुत परमाणु वा बहुत द्वचणुक वा द्वचणुकसहित परमाणु कार्य का आरम्भ करते हैं,

तब भी यह योजना तुल्य है। अर्थात् वहाँ भी कारण के शुक्लादिगुण कार्य में शुक्लादि का आरम्भ करते हैं, परन्तु कारणगत परिमाण परिमाणान्तर का आरम्भ नहीं करता है, किन्तु कारणगत बहुत्व संख्या में परिमाण का आरम्भ होता है, यह प्रक्रिया पूर्व के तुल्य है। वहाँ इस पूर्ववर्णित रीति से जैसे परमाणु के परिमण्डल रूप होते भी अणु-ह्रस्वस्वरूप द्व्यणुक उससे उत्पन्न होता है, और महत् तथा दीर्घ त्र्यणुकादि होते हैं, परिमण्डल नहीं होता है। अथवा जैसे अणु और ह्रस्व द्व्यणुक के होते भी उससे महान् और दीर्घ त्र्यणुक उत्पन्न होता है, न अणु होता है, न ह्रस्व होता है। इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न होगा इस प्रकार मानने पर तेरा क्या नष्ट होता है कि जिससे इसका निषेध करते हो।

अथ मन्यसे—विरोधिना परिमाणान्तरेणाक्रान्तं कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादीत्यतो नारम्भकाणि कारणगतानि पारिमण्डल्यादीनीत्यभ्युपगच्छामि, न तु चेतनाविरोधिना गुणान्तरेण जगत आक्रान्तत्वमस्ति, येन कारणगता चेतना कार्ये चेतनान्तरं नारभेत, न ह्यचेतना नाम चेतनाविरोधी कश्चिद्गुणोऽस्ति, चेतनाप्रतिषेधमात्रत्वात्, तस्मात्पारिमाण्डल्यादिवैषम्यात्प्राप्नोति चेतनाया आरम्भकत्वम्—इति। मैवं मंस्थाः। यथा कारणे विद्यमानानामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेव चैतन्यस्यापीत्यस्यांशस्य समानत्वात्। न च परिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारणं, प्राक्परिमाणान्तरारम्भात्क्षणमात्रमगुणं तिष्ठतीत्यभ्युपगमात्। न च परिमाणान्तरारम्भे व्यग्राणि पारिमाण्डल्यादीनीत्यतः स्वसमानजातीयं परिमाणान्तरं नारभन्ते परिमाणान्तरस्यान्यहेतुत्वाभ्युपगमात्। 'कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्' (वै० सू० ७।१।९) 'तद्विपरीतमणु' (७।१।१०) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' (७।१।१७) इति हि काणभुजानि सूत्राणि। न च संनिधानविशेषात्कुतश्चित्कारणबहुत्वादीन्येवारभन्ते न पारिमाण्डल्यादीनीत्युच्येत, द्रव्यान्तरे गुणान्तरे वाऽऽरभ्यमाणे सर्वेषामेव कारणगुणानां स्वाश्रयसमवायाविशेषात्, तस्मात्स्वभावादेव पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वं, तथा चेतनाया अपीति द्रष्टव्यम्। संयोगाच्च द्रव्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात्समानजातीयोत्पत्तिव्यभिचारः। द्रव्ये प्रकृते गुणोदाहरणमयुक्तमिति चेत्। न। दृष्टान्तेन विलक्षणारम्भमात्रस्य विवक्षितत्वात्। न च द्रव्यस्य द्रव्यमेवोदाहर्तव्यं गुणस्य वा गुण एवेति कश्चिन्नियमे हेतुरस्ति। सूत्रकारोऽपि भवतां द्रव्यस्य गुणमुदाजहार—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात्संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते' (वै० सू० ४।२।२) इति, यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोर्भूम्याकाशयोः समवयन्संयोगोऽप्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेषु पञ्चसु भूतेषु समवयच्छरीरमप्रत्यक्षं स्यात्, प्रत्यक्षं हि

शरीरम् । तस्मान्न पाञ्चभौतिकमिति । एतदुक्तं भवति—गुणश्च संयोगो द्रव्यं शरीरम् । 'दृश्यते तु' (ब्र० सू० २।१।६) इति चात्रापि विलक्षणोत्पत्तिः प्रपञ्चिता । नन्वेवं सति तेनैवैतद्गतम् । नेति ब्रूमः, तत्सांख्यं प्रत्युक्तम्, एतत्तु वैशेषिकं प्रति । नन्वतिदेशोऽपि समानन्यायतया कृतः 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याता' (ब्र० सू० २।१।१२) इति । सत्यमेतत् । तस्यैव त्वयं वैशेषिकप्रक्रियारम्भे तत्प्रक्रियानुगतेन निदर्शनेन प्रपञ्चः कृतः ॥ ११ ॥

यदि मानते हो कि विरोधी परिमाणान्तर से कार्य द्रव्य द्व्यणुकादि आक्रान्त (अभिव्याप्त) हैं, इससे कारणगत पारिमाण्डल्यादि परिमाण के आरम्भक नहीं होते हैं, यह मैं मानता हूँ। और चेतना (चेतनता) से विरोधी गुणान्तर से तो जगत् अभिव्याप्त नहीं है कि जिससे कारणगत चेतना कार्य में चेतनान्तर का आरम्भ नहीं कर सके, यदि कहो कि अचेतना चेतना का विरोधी है, तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अचेतना नामक चेतना का विरोधी कोई गुण नहीं है, चेतना का प्रतिषेधमात्र अचेतना है। उससे पारिमाण्डल्यादि से विषमता के कारण चेतना को आरम्भकत्व की प्राप्ति होती है। यहाँ कहा जाता है कि ऐसा नहीं मानो, क्योंकि जैसे कारण में विद्यमान भी पारिमाण्डल्यादि को अनारम्भकत्व है, इसी प्रकार चैतन्य को भी अनारम्भकत्व है, इतने अंश की दोनों में तुल्यता है। कार्य को परिमाणान्तर से आश्रितत्व, पारिमाण्डल्यादि के अनारम्भकत्व में कारण नहीं है, क्योंकि परिमाणान्तर के आरम्भ से पूर्वकाल में पारिमाण्डल्यादि को आरम्भकत्व की उपपत्ति सिद्ध हो सकती है, जिससे आरब्ध (उत्पन्न) भी कार्य रूप द्रव्य गुण की उत्पत्ति से पूर्वकाल में एक क्षणमात्र गुण रहित रहता है, यह वैशेषिक का अभ्युपगम (सिद्धान्त) है. और यह भी नहीं कह सकते कि परिमाणान्तर के आरम्भ में पारिमाण्डल्यादि व्यग्र (लगे) रहते हैं, इससे स्वसजातीय परिमाणान्तर का आरम्भ नहीं करते हैं, क्योंकि परिमाणान्तर का हेतुत्व अन्य को माना गया है कि (कारणरूप) द्व्यणुक के बहुत्व से त्र्यणुक में महत्त्व होता है, मृत्तिका-तन्तु आदि के महत्त्व से घट-पटादि में महत्त्व होता है, तूलादि में प्रचय (संयोग) विशेष से महत्त्व होता है। और उस महत्त्व से विपरीत द्व्यणुकगत अणुत्व है वह परमाणुगत द्वित्व संख्या से होता है। इसी प्रकार महत्त्व के कारण ही महत्त्व के समान दीर्घत्व का कारण है, और अणुत्व के कारण ही अणुत्व के समान ह्रस्वत्व का कारण है। इससे महत्त्व-अणुत्व के व्याख्यान से दीर्घत्व-ह्रस्वत्व का व्याख्यान भी समझना चाहिये। ये कणाद ऋषि के सूत्रार्थ हैं। और यह भी नहीं कह सकते हो कि किसी सामीप्य विशेष से कारणगत बहुत्वादिक ही अणुत्व-महत्त्वादि का आरम्भ करते हैं, और समीपता के अभाव से पारिमाण्डल्यादि स्वसजातीय परिमाणान्तर का आरम्भ नहीं करते हैं, क्योंकि द्रव्यान्तर वा गुणान्तर के आरम्भकाल में सभी कारण के गुणों का अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध तुल्य ही रहता है। उससे स्वभाव

से ही पारिमाण्डल्लादि को अनारम्भकत्व है, इसी प्रकार चेतना के अनारम्भकत्व को भी समझना चाहिये। और अवयवादि का संयोगरूप कारण से भी द्रव्यादिरूप विलक्षण कार्य की उत्पत्ति देखने से कारण से स्वसमानजातीय की उत्पत्ति का व्यभिचार है—नियम नहीं है। यदि कहो कि द्रव्य के प्रकृत प्रस्तुत रहते, गुण का उदाहरण देना अयुक्त है, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि इस दृष्टान्त से विलक्षण का आरम्भ मात्र विवक्षित है कि संयोगरूप गुण से द्रव्य के समान चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। और द्रव्य का द्रव्य ही उदाहरण देना चाहिये, गुण का गुण ही उदाहरण होना चाहिये ऐसे नियम में कोई हेतु नहीं है। और आप के सूत्रकार ने भी द्रव्य का गुण उदाहरण दिया है कि (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष से संयोग का अप्रत्यक्ष होने से शरीर पांचभौतिक नहीं है किन्तु केवल पार्थिव है, इससे प्रत्यक्ष है) अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भूमि और आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला संयोग अप्रत्यक्ष होता है, इसी प्रकार प्रत्यक्षाप्रत्यक्षस्वरूप पांचभूतों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला शरीर भी अप्रत्यक्ष होगा, और शरीर प्रत्यक्ष ही है, उससे पाञ्चभौतिक नहीं है। इससे यह कहा गया है कि संयोग गुण है और शरीर द्रव्य है, और शरीर के उदाहरण रूप संयोग को सूत्रकार ने कहा है इससे द्रव्य का द्रव्य ही उदाहरण होता है यह नियम नहीं है। (दृश्यते तु) इस सूत्र के भाष्य में भी विलक्षण की उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन किया गया है। यदि कहो कि ऐसा होने पर उसी से यह गतार्थ है, तो कहा जाता है कि गतार्थ नहीं है, क्योंकि वह सांख्यों के प्रति कहा गया है, और यह वैशेषिक के प्रति कहा गया है। यदि कहो कि समान-न्यायता से अतिदेश भी प्रथम किया गया है (इससे शिष्टों से अपरिगृहीत भी प्रत्याख्यातरूप से व्याख्यात हो गये) तो यह कहना सत्य है, परन्तु उसी अतिदेश का वैशेषिक प्रक्रिया के आरम्भ में उस प्रक्रिया में अनुगत दृष्टान्त से यह प्रपञ्च-विस्तार किया गया है।

परमाणुजगदकारणत्वाधिकरण (३)

जनयन्ति जगन्नो वा संयुक्ताः परमाणवः।
आद्यकर्मजसंयोगाद् द्व्यणुकादिक्रमाज्जनिः ॥ १ ॥
सनिमित्तानिमित्तादिविकल्पेष्वाद्यकर्मणः ।
असम्भवादसंयोगे जनयन्ति न ते जगत् ॥ २ ॥

प्रलयकालिक परमाणुओं में सहेतुक वा निर्हेतुक दोनों प्रकार से कर्म नहीं हो सकते हैं, और कर्म के अभाव से संयोग का भी अभाव सिद्ध होता है, इससे सृष्टि का अभाव सिद्ध होता है। यहाँ संशय है कि परस्पर संयुक्त परमाणु जगत् की सृष्टि करते हैं, अथवा नहीं करते हैं, पूर्वपक्ष है कि जीवों के कर्मानुसार ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में आद्य कर्म होता है, उससे जन्य संयोग द्वारा द्व्यणुकादि-क्रम से संसार की उत्पत्ति होती है। सिद्धान्त है कि ईश्वरादि साधारण कारण हैं, जीव के कर्मों का भी परमाणु के साथ सम्बन्ध नहीं है, प्रलय-काल में अन्य भी कोई कर्म के हेतु हैं नहीं, इससे कारणजन्य कर्म नहीं हो सकता है, और अहेतुक कर्म मानें तो प्रलयाभाव की

प्राप्ति होगी, इस प्रकार आद्यकर्म के असम्भव से संयोग के नहीं सिद्ध हो सकने से परमाणु जगत् को नहीं उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १–२ ॥

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

इदानीं परमाणुकारणवादं निराकरोति। स च वाद इत्थं समुत्तिष्ठति। पटादीनि हि लोके सावयवानि द्रव्याणि स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तन्त्वादिभिर्द्रव्यैरारभ्यमाणानि दृष्टानि, तत्सामान्येन यावत्किञ्चित्सावयवं तत्सर्वं स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तैस्तैर्द्रव्यैरारब्धमिति गम्यते। स चायमवयवावयविविभागो यतो निवर्तते सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः, सर्वं चेदं जगद्गिरिसमुद्रादिकं सावयवं, सावयवत्वाच्चाद्यन्तवत्, न चाकारणेन कार्येण भवितव्यमित्यतः परमाणवो जगतः कारणमिति कणभुगभिप्रायः। तानीमानि चत्वारि भूतानि भूम्युदकतेजःपवनाख्यानि सावयवान्युपलभ्य चतुर्विधाः परमाणवः परिकल्प्यन्ते। तेषां चापकर्षपर्यन्तगतत्वेन परतो विभागासम्भवाद्विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्तो विभागो भवति स प्रलयकालः। ततः सर्गकाले च वायवीयेष्वणुविदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते, तत् कर्म स्वाश्रयमण्वन्तरेण संयुनक्ति, ततो द्व्यणुकादिक्रमेण वायुरुत्पद्यते, एवमग्निरेवमाप एवं पृथिवी, एवमेव शरीरं सेन्द्रियमिति, एवं सर्वमिदं जगदणुभ्यः सम्भवति, अणुगतेभ्यश्च रूपादिभ्यो द्व्यणुकादिगतानि रूपादीनि सम्भवन्ति तन्तुपटन्यायेनेति काणादा मन्यन्ते।

सांख्य के निराकरण के बाद प्रासङ्गिक कथा करके अब इस समय सूत्रकार परमाणु-कारणवाद का निराकरण करते हैं। और वह वाद इस प्रकार समुपस्थित (अनुमित सिद्ध) होता है कि जिससे लोक में पटादि सावयव द्रव्य, अपने में अनुगत प्रविष्ट और संयोगसहित तन्तु आदि द्रव्यों से ही आरम्यमाण (विरचित) देखे जाते हैं। इससे उनकी समानता द्वारा यह समझा जाता है कि जो कुछ पृथिवी आदि सावयव वस्तु हैं वे सब ही स्वस्वरूप में अनुगत (प्रविष्ट) और संयोगसहित तत्तत् अवयवरूप द्रव्यों से ही आरब्ध (जन्य) हैं, प्रकृति वा ब्रह्म वा अन्य अभावादि से नहीं जन्य हैं। वह अवयव-अवयवी का विभाग जिससे निवृत्त हो जाता है, अर्थात् परमसूक्ष्म स्वरूप जिसमें सावयवता का अनुमान नहीं किया जा सकता है, वह अपकर्ष (न्यून परिमाण) के पर्यन्त (अवसान) को गत (प्राप्त) पदार्थपरमाणु है। गिरि, समुद्रादि रूप यह सब जगत् सावयव है, सावयव होने से जगत् आदि-अन्त (उत्पत्ति-नाश) वाला पटादि के समान है। कारणरहित स्वाभाविक कार्य नहीं हो सकता है। इससे नित्यमूल-कारणरूप परमाणु हैं यह कणाद ऋषि का अभिप्राय है। और उन सावयव, भूमि, जल, तेज, पवन, नामवाले इन चार भूतों को समझ कर, इनके चार प्रकार के परमाणु परिकल्पित-अनुमित होते हैं। न्यूनता की सीमागत

होने से उनके आगे विभाग के असम्भव से नाश होनेवाले पृथिवी आदि का भी परमाणु पर्यन्त ही अवयवों का विभाग होता है, और वह परमाणुपर्यन्त विभाग ही प्रलयकाल है। फिर सृष्टिकाल में वायु के परम अणुओं में अदृष्ट सापेक्ष-कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म अपने आश्रय अणु परमाणु को दूसरे परमाणु से संयुक्त करता है, तब द्वयणुकादि-क्रम से वायु उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न होती है, जल उत्पन्न होता है, इसी प्रकार पृथिवी उत्पन्न होती है, तथा ऐसे ही इन्द्रिय-शरीर उत्पन्न होते हैं। और इस प्रकार यह सब जगत् अणुओं से होता है। और परमाणुगत रूपादि से द्वयणुकादिगत रूपादि सब होते हैं, तन्तु से पट और तन्तु के रूपादि से पट के रूपादि की रीति से ही परमाणु से जगत् होता है, इस प्रकार कणाद ऋषि के अनुयायी मानते हैं।

तत्रेदमभिधीयते। विभागावस्थानां तावदणूनां संयोगः कर्मापेक्षोऽभ्युपगन्तव्यः, कर्मवतां तन्त्वादीनां संयोगदर्शनात्, कर्मणश्च कार्यत्वान्निमित्तं किमप्यभ्युपगन्तव्यम्। अनभ्युपगमे निमित्ताभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्, अभ्युपगमेऽपि यदि प्रयत्नोऽभिघातादिर्वा यथादृष्टं किमपि कर्मणो निमित्तमभ्युपगम्येत तस्यासम्भवान्नैवाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्, नहि तस्यामवस्थायामात्मगुणः प्रयत्नः सम्भवति शरीराभावात्। शरीरप्रतिष्ठे हि मनस्यात्मनः संयोगे सत्यात्मगुणः प्रयत्नो जायते। एतेनाभिघाताद्यपि दृष्टं निमित्तं प्रत्याख्यातव्यम्। सर्गोत्तरकालं हि तत्सर्वं नाद्यस्य कर्मणो निमित्तं सम्भवति। अथादृष्टमाद्यस्य कर्मणो निमित्तमित्युच्येत तत्पुनरात्मसमवायि वा स्यादणुसमवायि वा? उभयथापि नादृष्टनिमित्तमणुषु कर्मावकल्पेत, अदृष्टस्याचेतनत्वात्। न ह्यचेतनं चेतनेनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रवर्तते प्रवर्तयति वेति साङ्ख्यप्रक्रियायामभिहितम्। आत्मनश्चानुत्पन्नचैतन्यस्य तस्यामवस्थायामचेतनत्वात्। आत्मसमवायित्वाभ्युपगमाच्च नादृष्टमणुषु कर्मणो निमित्तं स्यादसम्बन्धात्। अदृष्टवता पुरुषेणास्त्यणूनां सम्बन्ध इति चेत्। सम्बन्धसातत्यात् प्रवृत्तिसातत्यप्रसङ्गो नियामकान्तराभावात्। तदेवं नियतस्य कस्यचित्कर्मनिमित्तस्याभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्, कर्माभावात्तन्निबन्धनः संयोगो न स्यात्, संयोगाभावाच्च तन्निबन्धनं द्वयणुकादि कार्यजातं न स्यात्। संयोगश्चाणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा? सर्वात्मना चेदुपचयानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गो दृष्टविपर्ययप्रसङ्गश्च, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्। एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः। परमाणूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्युरिति चेत्। कल्पितानामवस्तुत्वादवस्त्वेव संयोग इति वस्तुनः कार्यस्यासमवायिकारणं न स्यात्, असति चासमवायिकारणे द्वयणुकादिकार्यद्रव्यं नोत्पद्येत। यथा चादिसर्गे निमित्ताभावात्संयोगोत्पत्त्यर्थं कर्म नाणूनां सम्भवत्येवं महाप्रलयेऽपि विभागोत्पत्त्यर्थं कर्म नैवाणूनां सम्भवेत्। नहि तत्रापि किंचिन्नियतं

तन्निमित्तं दृष्टमस्ति। अदृष्टमपि भोगप्रसिद्धयर्थं न प्रलयप्रसिद्धयर्थमित्यतो निमित्ताभावान्न स्यादणूनां संयोगोत्पत्त्यर्थं विभागोत्पत्त्यर्थं वा कर्म, अतश्च संयोगविभागाभावात्तदायत्तयोः सर्गप्रलययोरभावः प्रसज्येत। तस्मादनुपपन्नोऽयं परमाणुकारणवादः ॥ १२ ॥

वहाँ यह कहा जाता है कि कर्म (क्रिया) वाले तन्तुओं के संयोग को देखने से विभागावस्था वाले प्रलयकालिक परमाणुओं के संयोग को भी कर्मापेक्ष (कर्मजन्य) स्वीकार करना होगा। और कर्म को भी कार्यरूप होने से कर्म का भी कोई निमित्त मानना होगा, कर्म के निमित्त को नहीं मानने पर निमित्त के अभाव से आद्य (आदि काल में होने वाला) कर्म नहीं हो सकेगा। परमाणुओं में आद्य क्रिया नहीं होगी। कर्म के निमित्त को मानने पर भी व्यवहार में जैसा देखा जाता है, उसके अनुसार प्रयत्न वा अभिघातादि कोई कर्म का निमित्त मानना होगा। परन्तु उसके असम्भव से अणुओं में आद्य कर्म नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि उस समय शरीर के अभाव से आत्मा के गुणरूप प्रयत्न का सम्भव नहीं है, जिससे शरीर में स्थिर मन में आत्मा के संयोग होने पर आत्मा का गुणरूप प्रयत्न उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। इस प्रयत्न के असम्भव से ही अभिघातादि रूप भी कर्म के दृष्ट निमित्त प्रलयावस्था में प्रत्याख्यान के योग्य हैं, सृष्टि के उत्तरकाल में होने वाले वे सब आद्य कर्म का निमित्तरूप नहीं हो सकते हैं। और आद्य कर्म का निमित्त यदि अदृष्ट को कहा जाय। वहाँ भी समझना होगा कि वह कर्म का निमित्त अदृष्ट आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है अथवा परमाणुओं में समवेत रहता है। और इन दोनों प्रकार से भी परमाणुओं में अदृष्टनिमित्तक कर्म नहीं सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि अदृष्ट अचेतन है। और चेतन अधिष्ठातारहित अचेतन स्वतन्त्र प्रवृत्त नहीं हो सकता है। न प्रवृत्त करा सकता है। और सृष्टि से प्रथम वैशेषिक मत में आत्मा भी अचेतन है। इससे वह अधिष्ठाता नहीं हो सकता है, चेतन अधिष्ठाता-रहित अचेतन की अप्रवृत्ति का कथन सांख्य की प्रक्रिया में किया गया है। और उस अवस्था में चेतनता की उत्पत्ति से रहित अदृष्ट सहित भी उस आत्मा को अचेतनत्व रहता है, इससे उसको अधिष्ठातृत्व नहीं हो सकता है। और अदृष्ट को आत्मा में समवेत मानने से भी अदृष्ट के साथ परमाणुओं का सम्बन्ध के अभाव से अदृष्ट परमाणुओं के कर्म का निमित्त नहीं हो सकता है। यदि कहो कि अदृष्ट वाला पुरुष आत्मा के साथ परमाणु का सम्बन्ध है इसी से कर्म होगा, तो किसी नियामक के अभाव से सम्बन्ध की सदा स्थिति से प्रवृत्ति की भी सदा प्राप्ति होगी। उससे इस प्रकार नियत किसी कर्मनिमित्त के अभाव से परमाणुओं में आद्य कर्म नहीं होगा। और कर्म के अभाव से कर्मनिमित्तक संयोग नहीं होगा, और संयोग के अभाव से संयोग-निमित्तक द्वयणुकादि कार्य समूह नहीं होंगे। ईश्वर भी सदा रहने वाला है, वह विशेष नियामक नहीं है। मान है कि वायु से रेतीली भूमि में रेत के समान परमाणुओं में कथंचित् कर्म द्वारा संयोग होगा

भी तो संयोगमात्र से अनन्त वैचित्र्ययुक्त संसार नहीं हो सकता है। इससे इस अनन्त विचित्रता आदि के लिए अनन्त मायिक शक्ति सर्वात्मा ईश्वर में माननी ही होगी, उसी से स्वप्न-सृष्टि के समान जाग्रत्-सृष्टि भी परमाणु आदि के बिना ही सिद्ध हो सकती है। इससे परमाणु और उनके संयोगादि की कल्पना निष्प्रामाणिक और निष्प्रयोजन है। और कथंचित् संयोग होने पर भी एक परमाणु को दूसरे परमाणु के साथ वह संयोग सर्वस्वरूप से होगा वा एकदेश से होगा। यदि सर्वस्वरूप से व्याप्त होकर संयोग होगा, तो एक परमाणु दूसरे में प्रविष्ट होकर तद्रूप ही हो जायगा, इसके कार्य में प्रचय (पृथुत्व) की असिद्धि से सब कार्य को अणुमात्रता की प्राप्ति होगी। और संयोग जैसा देखा जाता है, उससे विपरीतता की भी प्राप्ति होगी, क्योंकि अवयव वाले द्रव्य को अवयव वाले द्रव्यान्तर के साथ संयोग देखा जाता है। वह एकदेश से संयोग देखा जाता है। सर्वस्वरूप से संयोग मानने पर उससे विरोध होगा। और यदि परमाणु के संयोग को एकदेश द्वारा मानो तो परमाणु को सावयवता की प्राप्ति होगी। यदि दिशा के भेद से परमाणु में कल्पित अवयव होंगे ऐसा मानो, तो कल्पित के अवस्तु मिथ्या होने से मिथ्या अवयवों का संयोग भी मिथ्या ही होगा। इससे वस्तु रूप कार्य का असमवायी कारणरूप नहीं होगा, और असमवायी कारणरूप संयोग के असत् होने पर-नहीं रहने पर द्व्यणुकादिरूप कार्य द्रव्य नहीं उत्पन्न होंगे। और जैसे सृष्टि में निमित्त के नहीं रहने से संयोग की उत्पत्ति के लिए परमाणुओं के कर्म नहीं हो सकते। इसी प्रकार महाप्रलय में भी परमाणुओं के विभाग की उत्पत्ति के लिए भी कर्म का सम्भव नहीं हो सकता है। क्योंकि उस प्रलय में भी अनन्त परमाणुओं का वियोग के लिए कोई नियत उसका निमित्त दृष्ट नहीं है। और अदृष्ट (धर्माधर्म) भी जीव के भोग की प्रसिद्धि (प्राप्ति) के लिए होता है। प्रलय की प्रसिद्धि के लिए नहीं होता है। इस प्रकार निमित्त के अभाव से परमाणुओं के संयोग की उत्पत्ति के लिए वा विभाग की उत्पत्ति के लिए कर्म नहीं होगा। और इसी से संयोग और विभाग का अभाव होने से तदधीन सृष्टि और प्रलय का भी अभाव प्राप्त होगा, उससे यह परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ॥ १२ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति प्रकृतेनाणुवादनिराकरणेन सम्बध्यते। द्वाभ्यां चाणुभ्यां द्व्यणुकमुत्पद्यमानमत्यन्तभिन्नमणुभ्यामण्वोः समवैतीत्यभ्युपगम्यते भवता, न चैवमभ्युपगच्छता शक्यतेऽणुकारणता समर्थयितुम्। कुतः? साम्यादनवस्थितेः। यथैव ह्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद् द्व्यणुकं समवायलक्षणेन सम्बन्धेन ताभ्यां सम्बध्यते, एवं समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन् समवायलक्षणेनान्येनैव सम्बन्धेन समवायिभिः सम्बध्येतात्यन्तभेदसाम्यात्, ततश्च तस्य तस्यान्योन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव प्रसज्येत।

नन्विह प्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसम्बद्ध एव समवायिभिर्गृह्यते नासम्बद्धः सम्बन्धान्तरापेक्षो वा, ततश्च न तस्यान्यः सम्बन्धः कल्पयितव्यो येनानवस्था प्रसज्येतेति । नेत्युच्यते । संयोगोऽप्येवं सति संयोगिभिर्नित्यसम्बद्ध एवेति समवायवन्नान्यं सम्बन्धमपेक्षेत । अथार्थान्तरत्वात् संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षते, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात्सम्बन्धान्तरमपेक्षेत । न च गुणत्वाद् संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षते न समवायोऽगुणत्वादिति युज्यते वक्तुम्, अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्, गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात्, तस्मादर्थान्तरं समवायमभ्युपगच्छतः प्रसज्येतैवानवस्था । प्रसज्यमानायां चानवस्थायामेकासिद्धौ सर्वासिद्धेर्द्वाभ्यामणुभ्यां द्व्यणुकं नैवोत्पद्येत । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १३ ॥

समवाय सम्बन्ध के स्वीकार से भी उस अणुकारणवाद का अभाव (असम्भव) है । इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'तदभाव' इस पद का सम्बन्ध होता है, उसका प्रकृत अणुवादनिराकरण के साथ सम्बन्ध होता है कि समवाय के स्वीकार से अनवस्था दोष की प्राप्ति से भी यह वाद सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि आप अणुवादी सब मानते हो कि दो परमाणुओं से उत्पन्न हुआ द्व्यणुक परमाणुओं से अत्यन्त भिन्न होता हुआ दोनों परमाणु में समवाय सम्बन्ध से रहता है । और इस प्रकार मानने वालों से अणुकारणता का समर्थन (प्रतिपादन) नहीं किया जा सकता है । क्योंकि समता से अनवस्था की प्राप्ति होती है । जिससे जैसे ही दो परमाणु से अत्यन्त भिन्न होता हुआ द्व्यणुक समवायरूप सम्बन्ध से दोनों परमाणु के साथ सम्बन्ध वाला होता है । इसी प्रकार समवाय भी अपने आश्रय समवायियों से अत्यन्त भिन्न होता हुआ अन्य समवाय रूप सम्बन्ध द्वारा ही समवायी परमाणुओं से सम्बन्ध वाला होगा, क्योंकि द्व्यणुक और समवाय दोनों को परमाणुओं से अत्यन्त भेद तुल्य है । उससे तत्तत् समवायों के अन्य २ समवाय की कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था ही की प्राप्ति होगी । यदि कहो कि इस तन्तु में पट है, इस पट में रूप है, इत्यादि प्रतीति से ग्राह्य अर्थात् ऐसे ज्ञानों का विषय रूप समवाय, अपने समवायी आश्रय से नित्य सम्बद्ध ही गृहीत (ज्ञान) होता है, सम्बन्धरहित वा सम्बन्धान्तर की अपेक्षा वाला नहीं गृहीत होता है । उससे उस समवाय का अन्य-अन्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं करनी पड़ती है, कि जिससे अनवस्था की प्राप्ति हो । यहाँ कहा जाता है कि ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि ऐसा होने पर संयोग भी संयोगियों के साथ नित्य सम्बद्ध ही रहता है, इससे वह भी समवाय के समान सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं करेगा । और यदि संयोगी से अर्थान्तर होने से संयोग सम्बन्धान्तर की अपेक्षा करता है, तो समवाय भी समवायी से अर्थान्तर होने से सम्बन्धान्तर की अपेक्षा करेगा । यह भी कहना युक्त नहीं हो सकता है कि गुण होने से संयोग सम्बन्धान्तर की अपेक्षा करता है, और समवाय सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि यह अगुण (गुणभिन्न) है । जिससे भिन्नतारूप अपेक्षा का कारण संयोग

और समवाय दोनों में तुल्य है। और गुण की परिभाषा (संकेत) इस संबंध में अतन्त्र (अहेतु) है जिससे कर्मादि का भी समवाय माना जाता है। उससे समवाय को अर्थान्तर मानने वाले को अनवस्था की प्राप्ति होती ही है। और अनवस्था की प्राप्ति होने पर एक समवाय की असिद्धि से सब समवाय के अधीन सिद्ध होने वाले परमाणु के संयोग द्वयणुकादि सबकी असिद्धि से दो परमाणु से द्वयणुक नहीं उत्पन्न हो सकता है। उससे भी परमाणु-कारणवाद अनुपपन्न है ॥ १३ ॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

अपि चाणवः प्रवृत्तिस्वभावा वा निवृत्तिस्वभावा वोभयस्वभावा वाऽनुभयस्वभावा वाऽभ्युपगम्यन्ते गत्यन्तराभावात्, चतुर्धापि नोपपद्यते। प्रवृत्तिस्वभावत्वे नित्यमेव प्रवृत्तेर्भावात्प्रलयाभावप्रसङ्गः। निवृत्तिस्वभावत्वेऽपि नित्यमेव निवृत्तेर्भावात्सर्गाभावप्रसङ्गः। उभयस्वभावत्वं च विरोधादसमञ्जसम्। अनुभयस्वभावत्वे तु निमित्तवशात्प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभ्युपगम्यमानयोरदृष्टादेर्निमित्तस्य नित्यसन्निधानान्नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, अतन्त्रत्वेऽप्यदृष्टादेर्नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १४ ॥

और यह भी विचारार्थ विषय है कि परमाणु प्रवृत्ति स्वभाव वाले हैं, वा निवृत्ति स्वभाव वाले हैं, अथवा प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों स्वभाव वाले हैं, यद्वा अनुभव स्वभाव वाले, दोनों स्वभाव से रहित हैं। परन्तु अदृष्ट कालादि निमित्त के अधीन प्रवृत्ति वाले हैं। ये चार के सिवा अन्य गति मार्ग प्रकार नहीं है। और इन चारों प्रकार से परमाणु कारणवाद उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि प्रवृत्ति स्वभाव के रहने पर नित्य ही प्रवृत्ति के भाव से प्रलय का अभाव प्राप्त होता है। निवृत्ति-स्वभावत्व होने पर नित्य ही निवृत्ति के भाव से सृष्टि का अभाव प्राप्त होता है। और उभय स्वभाव तो विरोध से ही अयुक्त है। और अनुभयस्वभावत्व होने पर तो निमित्त के वश से प्रवृत्ति निवृत्ति को मानने पर अदृष्टादि निमित्त के नित्य सन्निधान से नित्य प्रवृत्ति का प्रसंग होता है। और अदृष्टादि सन्निहित होते भी यदि प्रवृत्ति में तन्त्र (हेतु) नहीं हो तो भी नित्य अप्रवृत्ति की प्राप्ति होती है, जिससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ॥ १४ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो न सम्भवति ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद् वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव, यतो रूपादिमत्त्वात्परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत, परमकारणापेक्षया स्थूलत्वमनित्यत्वं च तेषामभिप्रेतविपरीतमापद्येतेत्यर्थः। कुतः ? एवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोके रूपादिमद्वस्तु तत्स्वकारणापेक्षया स्थूलमनित्यं च दृष्टम्, तद्यथा पटस्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च भवति, तन्तव-

श्चांशूनपेक्ष्य स्थूला अनित्याश्च भवन्ति, तथा चामी परमाणवो रूपादिमन्तस्तैरभ्युपगम्यन्ते, तस्मात्तेऽपि कारणवन्तस्तदपेक्षया स्थूला अनित्याश्च प्राप्नुवन्ति। यच्च नित्यत्वे कारणं तैरुक्तम्—'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० सू० ४।१।१) इति, तदप्येवं सत्यणुषु न सम्भवति, उक्तेन प्रकारेणाणूनामपि कारणवत्त्वोपपत्तेः।

अवयव द्वारा विभक्त (विभागयुक्त) होते हुए अवयव वाले द्रव्यों का जिससे पर-आगे विभाग नहीं हो सकता है। वे ही चार प्रकार के रूपादि वाले परमाणु हैं, जो चार प्रकार के रूपादि वाले भूत-भौतिक पदार्थों के आरम्भक-उत्पादक और नित्य हैं, इस प्रकार जो वैशेषिक मानते हैं, वह उनका मानना निराधार-विषय-प्रमाणादि रहित मिथ्या ही है। जिससे परमाणुओं को रूपादिमत्ता से घटादि के समान अणुत्व और नित्यत्व के विपर्यय की प्राप्ति होगी, परम कारण की अपेक्षा से स्थूलत्व और अनित्यत्व भी उन परमाणु को अभिप्रेत से विपरीत प्राप्त होंगे यह अर्थ है। क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा जाता है। जिससे लोक में जो रूपादिवाली वस्तु हैं, वे अपने कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य देखी गई हैं उससे जैसे पट तन्तुओं की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य होता है, और तन्तु भी अंशुओं की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य होते हैं। इसी प्रकार ये परमाणु भी रूपादि वाले उन वैशेषिकों से माने जाते हैं, जिससे वे परमाणु भी कारण वाले और उसकी अपेक्षा से स्थूल तथा अनित्य प्राप्त होते हैं। और जो उन लोगों ने नित्यत्व में कारण कहा है कि (कारणरहित सत्तावाला भाववस्तु नित्य है।) प्रागभाव कारणरहित है परन्तु अभाव है, इससे उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति तो नहीं होती है, परन्तु इस पूर्व में कही रीति से परमाणुओं के भी कारणवत्त्व की सिद्धि से परमाणुओं में सदकारणवत्त्व का सम्भव नहीं होता है।

यदपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम्—'अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधाभावः' (वै० ४।१।४) इति, तदपि नावश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधयति, असति हि यस्मिन्कस्मिंश्चिन्नित्ये वस्तुनि नित्यशब्देन नञः समासो नोपपद्यते, न पुनः परमाणुनित्यत्वमेवापेक्ष्यते, तच्चास्त्येव नित्यं परमकारणं ब्रह्म। न च शब्दार्थव्यवहारमात्रेण कस्यचिदर्थस्य प्रसिद्धिर्भवति, प्रमाणान्तरसिद्धयोः शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात्। यदपि नित्यत्वे तृतीयं कारणमुक्तम्–'अविद्या च' (वै०४।१।५) इति, तद्यद्येवं विव्रीयते सतां परिदृश्यमानकार्याणां कारणानां प्रत्यक्षेणाग्रहणमविद्या - इति, ततो द्व्यणुकनित्यताऽप्यापद्येत। अथाद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत तथाप्यकारणवत्त्वमेव नित्यतानिमित्तमापद्येत, तस्य च प्रागेवोक्तत्वात् 'अविद्या च' इति पुनरुक्तं स्यात्। अथापि कारणविभागात्कारणविनाशाच्चान्यस्य तृतीयस्य विनाशहेतोरसम्भवोऽविद्या सा परमाणूनां नित्यत्वं ख्यापयतीति व्याख्यायेत, नावश्यं विनश्यद्वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्यां विनष्टुमर्हतीति नियमोऽस्ति, संयोगसचिवे ह्यनेकस्मिंश्च द्रव्ये द्रव्यान्तरस्यारम्भकेऽभ्युपगम्यमान एतदेवं स्यात्। यदा त्वपास्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमान-

मारम्भकमभ्युपगम्यते, तथा घृतकाठिन्यविलयनवन्मूर्त्यवस्थाविलयनेनापि विनाश उपपद्यते। तस्माद्रूपादिमत्त्वात्स्यादभिप्रेतविपर्ययः परमाणूनाम्, तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १५ ॥

जो नित्यत्व में दूसरा कारण कहा है कि (अनित्यम् -इस प्रयोग-प्रतीति से ही विशेष नित्य के प्रतिषेध का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि नित्य के बिना नित्य को प्रतिषेधरूप अनित्य भी नहीं सिद्ध हो सकता है) वह कारण का कथन भी परमाणु की नित्यता को अवश्य निश्चित रूप से नहीं साधता है, क्योंकि जिस किसी नित्य वस्तु के नहीं रहने पर नित्य शब्द के साथ न शब्द का समास नहीं सिद्ध हो सकेगा, इससे समास के लिये किसी नित्य की अपेक्षा है, परन्तु वहाँ परमाणु का ही नित्यत्व अपेक्षित नहीं होता है। और वह अपेक्षित नित्य परम कारणरूप ब्रह्म है ही, इससे परमाणु की नित्यता के बिना नञ् समास की उपपत्ति नहीं है। और प्रमाणान्तर के बिना शब्दार्थ के व्यवहारमात्र से किसी अथ की प्रसिद्धि (सत्यता) नहीं होती है, किन्तु प्रमाणान्तर से सिद्ध शब्द और अर्थ में सत्य व्यवहार सिद्ध होता है, प्रमाण के बिना मिथ्या भी नित्यत्वादि के व्यवहार होते हैं। और जो परमाणु के नित्यत्व में तृतीय कारण कहा है कि (अविद्या भी नित्यत्व में हेतु है) उसका यदि ऐसा विवरण व्याख्यान किया जाय कि परिदृश्यमान (प्रत्यक्ष) कार्य वाले वर्तमान कारणों का प्रत्यक्ष प्रमाण से अग्रहण-अविद्या है, तो द्वयणुक में भी नित्यता की प्राप्ति होगी, वह भी प्रत्यक्ष से अग्राह्य है, और प्रत्यक्ष कार्य वाला है। और यदि द्वयणुक में अतिव्याप्ति का वारण के लिए अद्रव्य होते, अर्थात् आरम्भक द्रव्य से रहित होते, ऐसा विशेषण दिया जाय, तो भी अकारणवत्ता ही नित्यता का निमित्त सिद्ध होगा, उसका प्रथम ही कथन हो चुका है, यह सूत्र व्यर्थ होगा, और पुनरुक्त (कथित का कथन) हो जायगा। और यदि व्याख्यान किया जाय कि कारण के विभाग और कारण के विनाश से कार्य का नाश होता है, निरवयव कारणरहित परमाणुओं का इन दोनों से तो नाश नहीं हो सकता है, और इनसे अन्य किसी तृतीय हेतु से नाश कहा जाय, तो तृतीय विनाश-हेतु का असम्भवरूप अविद्या है, अर्थात् द्रव्य के नाश के दो ही कारण हैं, तीसरा है नहीं, इससे वह तीसरा का असम्भव परमाणु के नित्यत्व का प्रबोध कराता है, वहाँ कहा जाता है कि अवश्य विनष्ट होनेवाली वस्तु दो ही हेतुओं से विनाश के योग्य होती है, यह नियम नहीं है, अर्थात् कार्यारम्भ माना जाय तो यह नियम हो सकता है, किन्तु तन्तु में तन्तु से अत्यन्त भिन्न पट के आरम्भ में कोई प्रमाण नहीं है, इससे कारण ही किसी विशेषावस्था को प्राप्त होकर कार्य कहाता है, फिर अवस्थान्तर की प्राप्ति से कार्य का नाश कहा जाता है, इससे संयोगसहित अनेक तन्तु आदिरूप द्रव्य में पटादिरूप द्रव्यान्तर के आरम्भ को मानने पर तो यह नियम इस प्रकार हो सकता है कि दो ही हेतु से कार्य का नाश होता है। और जब परिणामवाद में विशेषावस्थादि से रहित

सामान्य स्वरूपवाला कारण विशेषवाला अवस्थान्तर को प्राप्त होता हुआ आरम्भक होता है, यह मानते हैं, तब तो घृतादि की कठिनता का विलय के समान मूर्ति अवस्था के विलय से भी विनाश सिद्ध होता है। उससे परमाणुओं को रूपादिमान होने से अभिप्रेत नित्यत्व का विपर्यय होगा, अवयव विभाग के बिना भी अवस्थान्तर की प्राप्ति रूप विनाश होगा, उससे भी परमाणु-कारणवाद अनुपपन्न है ॥ १५ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

गन्धरसरूपस्पर्शगुणा स्थूला पृथिवी, रूपरसस्पर्शगुणाः सूक्ष्मा आपः, रूपस्पर्शगुणं सूक्ष्मतरं तेजः, स्पर्शगुणः सूक्ष्मतमो वायुरित्येवमेतानि चत्वारि भूतान्युपचितापचितगुणानि स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमतारतम्योपेतानि च लोके लक्ष्यन्ते, तद्वत्परमाणवोऽप्युपचितापचितगुणाः कल्प्येरन्न वा? उभयथापि च दोषानुषङ्गोऽपरिहार्य एव स्यात्। कल्प्यमाने तावदुपचितापचितगुणत्व उपचितगुणानां मूर्त्युपचयादपरमाणुत्वप्रसङ्गः। न चान्तरेणापि मूर्त्युपचयं गुणापचयो भवतीत्युच्येत, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात्। अकल्प्यमाने तूपचितापचितगुणत्वे परमाणुत्वसाम्यप्रसिद्धये यदि तावत्सर्वे एकैकगुणा एव कल्प्येरंस्ततस्तेजसि स्पर्शस्योपलब्धिर्न स्यात् अप्सु रूपस्पर्शयोः पृथिव्यां च, रसरूपस्पर्शानां, कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यगुणानाम्। अथ सर्वे चतुर्गुणा एव कल्प्येरन्, ततोऽप्स्वपि गन्धस्योपलब्धिः स्यात्, तेजसि गन्धरसयोः, वायौ गन्धरूपरसानाम्। न चैवं दृश्यते। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १६ ॥

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुणवाली पृथिवी स्थूल है। रूप, रस और स्पर्श गुण वाला जल सूक्ष्म है। रूप और स्पर्श गुणवाला तेज सूक्ष्मतर है। स्पर्श गुणवाला वायु सूक्ष्मतम है। इस प्रकार उपचित (समृद्ध अधिक) और अपचित (अल्प) गुण वाले ये चारों भूत स्थूल, सूक्ष्म सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतमतारूप तारतम्ययुक्त लोक में देखे जाते हैं, इसी प्रकार इनके परमाणु भी उपचित अपचित गुणवाले कल्पित होंगे, वा नहीं होंगे, दोष तो दोनों प्रकार से अनिवार्य ही है, प्रथम उपचितापचित-गुणत्व की परमाणुओं में कल्पना करने पर उपचित गुण वालों को मूर्ति के उपचय (स्वरूप की स्थूलता) से अपरमाणुत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहो कि मूर्ति के उपचय के बिना ही गुण का उपचय होता है, तो वह नहीं कह सकते, क्योंकि कार्यरूप भूतों में गुण का उपचय होने पर मूर्ति का भी उपचय देखा जाता है। और उपचित अपचित गुणत्व की कल्पना परमाणुओं में नहीं करने पर परमाणुत्व रूप समता की प्रसिद्धि के लिए यदि सब परमाणु को एक गुण वाला ही कल्पना करो-मानो, तो तेज में स्पर्श की उपाधि नहीं होगी। इसी प्रकार जल में रूप और स्पर्श की उपलब्धि नहीं होगी, भूमि में रूप, रस और स्पर्श की उपलब्धि नहीं होगी। क्योंकि कारण के गुण पूर्वक कार्य के गुणों की

उत्पत्ति मानी गयी है । और यदि सब परमाणु को चार-चार गुणों से युक्त कल्पना करो, तो जल में भी गन्ध की उपलब्धि होनी चाहिए । तेज में गन्ध और रस की उपलब्धि होनी चाहिए । और वायु में रूप, गन्ध तथा रस की उपलब्धि होनी चाहिए । परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है, उससे भी परमाणु-कारणवाद अनुपपन्न है ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवनाभिप्रायेणोपनिबद्धः । अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभिः ।

अपि च वैशेषिकास्तन्त्रार्थभूतान्षट्पदार्थान्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यानत्यन्तभिन्नान् भिन्नलक्षणानभ्युपगच्छन्ति, यथा मनुष्योऽश्वः शश इति । तथात्वं चाभ्युपगम्य तद्विरुद्धं द्रव्याधीनत्वं शेषाणामभ्युपगच्छन्ति । तन्नोपपद्यते । कथम् ? यथा हि लोके शशकुशपलाशप्रभृतीनामत्यन्तभिन्नानां सतां नेतरेतराधीनत्वं भवति, एवं द्रव्यादीनामत्यन्तभिन्नत्वान्नैव द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां भवितुमर्हति ।

मनु आदि कितने वेद-वेत्ताओं ने भी सत्कार्यत्वादि वैदिक सिद्धान्तांश का उपजीवन (स्वीकार-आश्रयण) के अभिप्राय से प्रधान कारणवाद का उपनिबन्ध (लेख) किया है । अर्थात् सत्कार्यत्व आत्मा के असङ्गत्व चिद्रूपत्व-नित्यमुक्तत्वादि आदि अंश में प्रधान-कारणवादी वेद का आश्रय लेते हैं, इससे वेद-वेत्ताओं ने उन अंशों में प्रधान कारणवाद का कथन किया है । परन्तु यह परमाणु-कारणवाद तो किसी भी शिष्ट से किसी अंश द्वारा भी गृहीत-स्वीकृत नहीं हुआ है, इस कारण से यह वेदवादियों से अत्यन्त ही अनादरणीय है ।

दूसरी बात है कि वैशेषिकवादी लोग अपने तन्त्र (शास्त्र) से प्रतिपाद्य पदार्थ स्वरूप ६ पदार्थ को मानते हैं । अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नाम वाले अत्यन्त भिन्न और भिन्न लक्षण वाले ६ पदार्थ को मानते हैं । वहाँ गुण-क्रियावत्त्वं वा समवायिकारणता द्रव्य का लक्षण कहते हैं । द्रव्य कर्म से भिन्न होते सामान्य (जाति) मत्ता गुण का लक्षण कहते हैं । संयोग-विभाग के निरपेक्ष कारण को कर्म कहते हैं । नित्यानेकानुगत को सामान्य (जाति) कहते हैं, नित्य द्रव्यवृत्ति विशेष को मानते हैं, और नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं, इन ६ पदार्थों के भेद को इस प्रकार से मानते हैं कि जैसे मनुष्य, अश्व और शश का परस्पर भेद रहता है । तथात्व (अत्यन्तभिन्नत्व) मानकर फिर उससे विरुद्ध द्रव्याधीनत्व द्रव्य से अन्य सबको मानते हैं । अतः अत्यन्त भिन्न को द्रव्याधीनत्व सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि जैसे लोक में अत्यन्त भिन्न रूप से वर्तमान शश, कुश, पलाशादि को परस्पर अधीनत्व नहीं होता है

इसी प्रकार द्रव्यादि का अत्यन्त भिन्नत्व होने से गुणादि का द्रव्याधीनत्व होना योग्य नहीं है।

अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां, ततो द्रव्यभावे भावाद् द्रव्याभावे चाऽभावाद् द्रव्यमेव संस्थानादिभेदादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति । यथा देवदत्त एक एव सन्नवस्थान्तरयोगादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति तद्वत् । तथा सति साङ्ख्यसिद्धान्तप्रसङ्गः स्वसिद्धान्तविरोधश्चापद्येयाताम् । नन्वग्नेरन्यस्यापि सतो धूमस्याग्न्यधीनत्वं दृश्यते । सत्यं दृश्यते, भेदप्रतीतेस्तु तत्राग्निधूमयोरन्यत्वं निश्चीयते, इह तु शुक्लः कम्बलो रोहिणी धेनुर्नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तस्य तेन तेन विशेषेण प्रतीयमानत्वान्नैव द्रव्यगुणयोरग्निधूमयोरिवभेदप्रतीतिरस्ति, तस्माद् द्रव्यात्मकता गुणस्य । एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता । गुणादीनां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादिति यदुच्यते, तत्पुनरयुतसिद्धत्वमपृथग्देशत्वं वा स्यादपृथक्कालत्वं वाऽपृथक्स्वभावत्वं वा, सर्वथापि नोपपद्यते । अपृथग्देशत्वे तावत्स्वाभ्युपगमो विरुध्येत । कथम् ? तन्त्वारब्धो हि पटस्तन्तुदेशोऽभ्युपगम्यते न पटदेशः, पटस्य तु गुणाः शुक्लत्वादयः पटदेशा अभ्युपगम्यन्ते न तन्तुदेशाः । तथा चाहुः—'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (वै० १।१।१०) इति । तन्तवो हि कारणद्रव्याणि कार्यद्रव्यं पटमारभन्ते, तन्तुगताश्च गुणाः शुक्लादयः कार्यद्रव्ये पटे शुक्लादिगुणान्तरमारभन्त इति हि तेऽभ्युपगच्छन्ति । सोऽभ्युपगमो द्रव्यगुणयोरपृथग्देशत्वेऽभ्युपगम्यमाने बाध्येत । अथापृथक्कालत्वमयुतसिद्धत्वमुच्येत, सव्यदक्षिणयोरपि गोविषाणयोरयुतसिद्धत्वं प्रसज्येत । तथाऽपृथक्स्वभावत्वे त्वयुतसिद्धत्वे न द्रव्यगुणयोरात्मभेदः सम्भवति, तस्य तादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वात् ।

यदि गुणादि को द्रव्याधीनत्व होता है । उससे द्रव्य का भाव (सत्ता) रहते उनका भाव होता है, और द्रव्य के अभाव होने पर उनका अभाव होता है तो इससे सिद्ध होता है कि कल्पित भेदवाला वस्तुतः द्रव्य ही संस्थान (आकार-सन्निवेश) आदि के भेद से अनेक शब्द और प्रत्यय का भागी विषय होता है । जैसे देवदत्त एक होता हुआ भी अवस्थान्तर के सम्बन्ध से अनेक शब्द और प्रत्यय का भागी होता है, वैसे ही द्रव्य भी अनेक शब्द-प्रत्यय का भागी होता है । परन्तु ऐसा होने पर सांख्य (वेदान्त) का ही प्रसंग प्राप्त होगा । और वैशेषिक को अपने सिद्धान्त से विरोध प्राप्त होगा । शंका होती है कि अग्नि से अन्य धूम को भी अग्नि के अधीनत्व देखा जाता है, ऐसे गुणादि को द्रव्याधीनत्व हो सकता है । उत्तर है कि धूम का अधीनत्व सत्य ही देखा जाता है । परन्तु वहाँ भेद की प्रतीति से अग्नि और धूम में अन्यत्व (भेद का निश्चय) किया जाता है और यहाँ तो शुक्ल कम्बल है, लाल गौ है, नील कमल है, इत्यादि वाक्यों में

तत्तत् विशेष रूप से प्रतीति का विषय होने से द्रव्य और गुण को अग्नि और धूम के समान भेद की प्रतीति नहीं होती है, उससे गुण को द्रव्यरूपता है। इसी से कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय को भी द्रव्यात्मकता व्याख्यात हो गई। द्रव्य और गुणादि के अयुतसिद्धत्व से जो गुणादि को द्रव्याधीनत्व कहते हैं कि गुणादि द्रव्य से अभिन्न नहीं हैं, किन्तु द्रव्यसे अयुतसिद्ध हैं, इससे द्रव्य के अधीन हैं। वहाँ वह अयुतसिद्धत्व, अपृथग्देशत्व है, वा अपृथक्कालत्व है, वा अपृथग्भावत्व है, सर्वथा ही यह सिद्ध नहीं होता है, द्रव्य और गुणादि को यदि अपृथक् सिद्ध मानें तो अपने अभ्युपगम से विरोध होगा। क्योंकि तन्तु से आरब्ध (जन्य) पट को तन्तु देश में मानते हैं पट देश वाला पट को नहीं माना जाता है। और पट के शुक्लादि गुण तो पट देश वाले पटवृत्ति माने जाते हैं, तन्तुवृत्ति नहीं माने जाते हैं, इससे पृथग्देशत्व ही सिद्ध होता है। इसो प्रकर कहते हैं कि (अवयव द्रव्य अवयवी द्रव्य का आरम्भ करते हैं, अवयव के गुण अवयवी के गुणान्तर को आरम्भ करते हैं) तन्तु कारण द्रव्य है, वह कार्य द्रव्य पट का आरम्भ करते हैं। और तन्तु के शुक्लादि गुण का द्रव्य रूप पट में शुक्लादि गुणान्तर का आरम्भ करते हैं। इस प्रकार वे लोग मानते हैं। द्रव्य और गुण को अपृथग्देशत्व मानने पर वह अभ्युपगम बाधित हो जायगा। और यदि अपृथक्कालत्व अयुतसिद्धत्व कहें तो गौ के बाँये दहिने सींग को भी अयुतसिद्धत्व प्राप्त होगा, इसी प्रकार अपृथक् स्वभावत्व यदि अयुतसिद्धत्व हो, तो द्रव्य और गुण का स्वरूप-भेद नहीं सम्भव होता है, स्वरूप को ही स्वभाव भी कहते हैं। इस प्रकार जिस गुण को तादात्म्य (द्रव्य के साथ अभिन्न) रूप से ही प्रतीत होने से द्रव्य गुण का भेद सम्भव नहीं है।

युतसिद्धयोः सम्बन्धः संयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपगमो मृषैव तेषां, प्राक्सिद्धस्य कार्यात्कारणस्यायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। अथान्यतरापेक्ष एवायमभ्युपगमः स्यादयुतसिद्धस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्धः समवाय इति। एवमपि प्रागसिद्धस्यालब्धात्मकस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्धो नोपपद्यते द्वयायत्तत्वात्सम्बन्धस्य। सिद्धं भूत्वा सम्बध्यत इति चेत्, प्राक्कारणसम्बन्धात् कार्यस्य सिद्धावभ्युपगम्यमानायामयुतसिद्ध्यभावात् 'कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते' इतीदं दुरुक्तं स्यात्। यथा चोत्पन्नमात्रस्याक्रियस्य कार्यद्रव्यस्य विभुभिराकाशादिभिर्द्रव्यान्तरैः सम्बन्धः संयोग एवाभ्युपगम्यते न समवायः, एवं कारणद्रव्येणापि सम्बन्धः संयोग एव स्यान्न समवायः। नापि संयोगस्य समवायस्य वा सम्बन्धस्य सम्बन्धिव्यतिरेकेणास्तित्वे किञ्चित्प्रमाणमस्ति। सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययदर्शनात्तयोरस्तित्वमिति चेत्। न। एकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयानेकशब्दप्रत्ययदर्शनात्। यथैकोऽपि सन् देवदत्तो लोके स्वरूपं सम्बन्धिरूपं चापेक्ष्यानेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति—मनुष्यो ब्राह्मणः श्रोत्रियो बालो वा स्थविरः पिता पुत्रः

पौत्रो भ्राता जामाता–इति, यथा चैकापि सती रेखा स्थानान्यत्वेन निविशमानैकदशशतसहस्रादिशब्दप्रत्ययभेदमनुभवति, तथा सम्बन्धिनोरेव सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययार्हत्वं न व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वेन, इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरभावो वस्त्वन्तरस्य। नापि सम्बन्धिविषयत्वे सम्बन्धशब्दप्रत्यययोः सततभावप्रसङ्गः, स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयेत्युक्तोत्तरत्वात्। तथाऽण्वात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः सम्भवति, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगदर्शनात्। कल्पिताः प्रदेशा अण्वात्ममनसां भविष्यन्तीति चेत्। न। अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात्, इयानेवाविद्यमानो विरुद्धोऽविरुद्धोऽवार्थः कल्पनीयो न ततोऽधिक इति नियमहेत्वभावात्, कल्पनायाश्च स्वायत्तत्वात्प्रभूतत्वसम्भवाच्च। न च वैशेषिकैः कल्पितेभ्यः षड्भ्यः पदार्थेभ्योऽन्येऽधिकाः शतं सहस्रं वार्था न कल्पयितव्या इति निवारको हेतुरस्ति, तस्माद्यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्तत्सिद्ध्येत्।

युत सिद्ध (पृथक्सिद्ध) पदार्थों का सम्बन्ध संयोग है। और अयुतसिद्ध का सम्बन्ध समवाय है। यह भी उनका सिद्धान्त मिथ्या ही है, क्योंकि कार्य से पूर्व काल में सिद्ध कारण को अयुतसिद्धत्व की अनुपपत्ति है। अर्थात् कार्य के योग बिना कारण की असिद्धि नहीं है। और यदि ऐसा कहो कि कार्य-कारण दोनों की अपेक्षा से अयुतसिद्धि नहीं मानी जाती है किन्तु अन्यतर (एक) कार्य की अपेक्षा से मानी जाती है। और कार्य कारण के साथ युक्त हुए बिना असिद्ध है, इससे अयुतसिद्ध कार्य का कारण के साथ समवाय सम्बन्ध हो सकता है। तो इस प्रकार भी प्रथम असिद्ध अलब्धात्मा वाला कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि सम्बन्ध दो के अधीन होता है। यदि कहो कि कार्य प्रथम सिद्ध होकर फिर कारण से सम्बन्ध वाला होता है, तो कारण-सम्बन्ध से प्रथम कार्य की सिद्धि मानने पर अयुतसिद्धि के अभाव से (कार्य और कारण का संयोग और विभाग नहीं होता है) यह कथन दुरुक्त हो जायगा और जैसे उत्पन्न मात्र क्रियारहित कार्य द्रव्य का विभु द्रव्यान्तररूप आकाशादि के साथ संयोग सम्बन्ध ही माना जाता है, समवाय नहीं माना जाता है, इसी प्रकार सिद्ध कार्य का कारण द्रव्य के साथ भी संयोग ही सम्बन्ध होगा समवाय नहीं होगा। और संयोग वा समवाय सम्बन्ध की सम्बन्धी से पृथक् अस्तित्व सत्ता में कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि कहो कि सम्बन्धी के वाचक शब्द और सम्बन्धी का ज्ञान उससे भिन्न संयोग, समवाय, शब्द और ज्ञान के प्रत्यक्ष अनुभव से उन दोनों सम्बन्धों का अस्तित्व सिद्ध होता है, तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि एकत्व होते भी स्वरूप और बाह्यरूप की अपेक्षा से अनेक शब्द प्रत्यय का अनुभव होता है, जैसे लोक में एक भी होता हुआ देवदत्त स्वरूप और सम्बन्धी रूप की अपेक्षा करके अनेक शब्द और प्रत्ययों का भागी (होता है) स्वरूप से मनुष्य सामान्य होते भी जाति से ब्राह्मण, विद्या से श्रोत्रिय, अवस्था

से बाल, युवा, वृद्ध और अन्य की अपेक्षा से पिता, पुत्र, भ्राता, जामाता इत्यादि शब्द और प्रत्यय का भागी होता है। और जैसे एक भी होती हुई रेखा (लेख लिपि) स्थान की अन्यता से (भेद से) तत्तत् स्थानों में निवेशित-योजित होने पर एक, दश, शत (सौ) और सहस्रादि शब्द और प्रत्यय के भेद का अनुभव करती है। अनुभव का विषय होती है। इसी प्रकार सम्बन्धियों को ही सम्बन्धिवाचक शब्द और सम्बन्धिविषयक ज्ञान से भिन्न संयोग समवाय शब्द और ज्ञान के योग्यत्व होता है, भिन्न वस्तु के अस्तित्व से संयोग, समवाय, शब्द और ज्ञान नहीं होते हैं। इस प्रकार उपलब्धि (भिन्नज्ञान) रूप लिङ्ग से प्राप्त वस्त्वन्तर रूप संयोगादि की भिन्न रूप से अनुपलब्धि से वस्त्वन्तर का अभाव है। अर्थात् सम्बन्धी ही संयोगादि प्रत्यय का भी विषय होता है इससे संयोगादि सम्बन्धी से भिन्न वस्तु नहीं है। यदि कहो कि सम्बन्धिमात्रविषयक सम्बन्ध शब्द और प्रत्यय हों तो सम्बन्धी के स्वरूप रहते स्वरूप के शब्द-प्रत्यय के समान सम्बन्ध के शब्द-प्रत्यय भी सदा होना चाहिए, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप और बाह्यरूप की अपेक्षा से अनेक प्रकार के शब्द और प्रत्यय होते हैं, यह प्रथम ही प्रत्युत्तर कहा जा चुका है। इसी प्रकार परमाणु आत्मा और मन को अप्रदेशवाला (निरवयव) होने से इनके संयोग का सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रदेश वाले द्रव्य का प्रदेश वाले द्रव्यान्तर के साथ संयोग देखा जाता है। यदि कहो कि परमाणु आत्मा और मन के भी कल्पित अवयव हो सकेंगे, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अविद्यमान अर्थ की कल्पना से सिद्धि हो, तो, सब अर्थ की कल्पना से सिद्धि की प्राप्ति होगी, जिससे इतना ही अविद्यमान विरुद्ध वा अविरुद्ध अर्थ कल्पना के योग्य हैं, इससे अधिक कल्पना के योग्य नहीं हैं, इस नियम में हेतु का अभाव है, तथा कल्पना स्वाधीन है। कल्पना के प्रभूतत्व (बहुलत्व) निरयवित्व का सम्भव है। और वैशेषिकों से कल्पित ६ पदार्थों से अन्य अधिक सौ वा सहस्र पदार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिए, इस प्रकार निवारक कोई हेतु नहीं है। इसलिए जिस-जिस को जो-जो रुचता है वा रुचिकर होगा, वह सब कल्पना से सिद्ध होगा।

अन्यो वा व्यसनी मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत्, कस्तयोर्निवारकः स्यात्। किंचान्यत्। द्वाभ्यां परमाणुभ्यां निरवयवाभ्यां सावयवस्य द्व्यणुकस्याकाशेनेव संश्लेषानुपपत्तिः, न ह्याकाशस्य पृथिव्यादीनां च जतुकाष्ठवत्संश्लेषोऽस्ति। कार्यकारणद्रव्ययोराश्रिताश्रयभावोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यवश्यं कल्प्यः समवाय इति चेत्। न। इतरेतराश्रयत्वात्। कार्यकारणयोर्हि भेदसिद्धावाश्रिताश्रयभावसिद्धिराश्रिताश्रयभावसिद्धौ च तयोर्भेदसिद्धिः कुण्डबदरवदितीतरेतराश्रयता स्यात्। न हि कार्यकारणयोर्भेद आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तवादिभिरभ्युपगम्यते, कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्। किंचान्यत्। परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद्यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा तावद्भिरवयवैः सावयवास्ते स्युः

सावयवत्वादनित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो बाध्येत । यांस्त्वं दिग्भेद-भेदिनोऽवयवान्कल्पयसि त एव मम परमाणव इति चेत् । न । स्थूलसूक्ष्मतार-तम्यक्रमेणापरमकारणाद्विनाशोपपत्तेः । यथा पृथिवी द्वयणुकाद्यपेक्षया स्थूलतमा वस्तुभूतापि विनश्यति, ततः सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च पृथिव्येकजातीयकं विनश्यति ततो द्वयणुकं, तथा परमाणवोऽपि पृथिव्येकजातीयकत्वाद्विनश्येयुः । विनश्यन्तोऽप्यव-यवविभागेनैव विनश्यन्तीति चेत् । नायं दोषः । यतो घृतकाठिन्यविलयनवदपि विनाशोपपत्तिमवोचाम । यथा हि घृतसुवर्णादीनामविभज्यमानावयवानामप्यग्नि-संयोगाद् द्रवभावापत्त्या काठिन्यविनाशो भविष्यति, तथा कार्यारम्भाऽपि नाव-यवसंयोगेनैव केवलेन भवति, क्षीरजलादीनामन्तरेणाप्यवयवसंयोगान्तरं दधि-हिमादिकार्यारम्भदर्शनात्, तदेवमसारतरतर्कसंदृब्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्ध-त्वाच्छ्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवानपेक्षास्मिन्परमाणु-कारणवादे कार्या श्रेयोर्थिभिरिति वाक्यशेषः ॥ १७ ॥

कोई कृपालु कल्पना करेगा कि प्राणियों के दुःख से पूर्ण बहुत दुःख वाला यह संसार ही नहीं हो । अन्य व्यसनी कामी मुक्तों की भी पुनः उत्पत्ति की कल्पना करेगा, यहाँ उन दोनों का निवारक कौन होगा । दूसरा दूषण यह है कि जैसे निरवयव आकाश के साथ द्वयणुक का संश्लेष नहीं होता है वैसे निरवयव दो परमाणु के साथ भी साव-यव द्वयणुक के संश्लेष (संग्रह) की अनुपपत्ति होगी कि जिस संश्लेष से द्वयणुक के आकर्षण से परमाणु का आकर्षण होता है । क्योंकि निरवयव आकाश और सावयव पृथिवी आदि को जतु, लाक्षा और काठ के समान संश्लेष नहीं है । यदि कहो कि कार्य-कारणरूप द्रव्य को सम्बन्ध के बिना आश्रित आश्रयभाव नहीं हो सकता है, इससे समवाय अवश्य कल्पना के योग्य है, तो यह भी नहीं कह सकते हो । क्योंकि अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होती है, जिससे प्रथम कार्यकारण का भेद सिद्ध हो, तो आश्रिताश्रयभाव सिद्ध हो और आश्रिताश्रयभाव सिद्ध हो तो उस कार्यकारण को कुण्ड बैर के समान भेद सिद्ध हो, इस प्रकार अन्योन्याश्रयता होगी । वेदान्तवादी लोग तो कारण का ही आकारान्तर मात्र कार्य है, इस प्रकार मानने से कार्यकारण के भेद को वा आश्रित आश्रयभाव को नहीं मानते हैं । अन्य भी दूषण हैं कि परमाणुओं को घटादि के समान परिच्छिन्न होने से जितनी छः वा आठ वा दश दिशायें हैं, उतने अवयवों से वे परमाणु सावयव होंगे, अर्थात् उतने अवयवों द्वारा ही उन दिशाओं के साथ सम्बन्ध वाले होंगे और सावयव होने से अनित्य होंगे, इससे नित्यत्व निरवयवत्व का अभ्युपगम बाधित होगा । यदि कहो कि दिशाओं के भेद वाले जिन परमाणु के अवयवों की तुम कल्पना करते हो, वे ही मेरे मत में परमाणु हैं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म के तारतम्य के क्रम से अपरिच्छिन्न मूल कारण पर्यन्त के विनाश की सिद्धि होती है अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म का न्यूनाधिक भाव होते भी स्थूल के नाशपूर्वक क्रम से सब सूक्ष्म का भी नाश होता है, मूल कारण का ही नाश नहीं होता है, और परमाणु मूलकारण नहीं हैं क्योंकि

परिच्छिन्नत्व पृथिवीत्वादि से उसमें भी कार्यत्वादि का अनुमान होता है। जैसे कि द्वयणुकादि की अपेक्षा से अत्यन्त स्थूल वस्तुस्वरूप भी पृथिवी नष्ट होती है, उसके बाद में सूक्ष्म और सूक्ष्मतर भी पृथिवी का एक जातीयता वाला नष्ट होता है, उसके बाद द्वयणुक तुम्हारे मत में नष्ट होता है, इसी प्रकार परमाणु भी पृथिवी की एकजातीयकता से विनष्ट होंगे, यदि कहो कि विनष्ट होने वाले भी अवयव के विभाग से ही विनष्ट होते हैं और परम सूक्ष्म परमाणु में अवयव विभाग की सम्भावना है नहीं तो उनका कैसे नाश होगा, तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, परमाणु का नाश अशक्य नहीं है, जिससे अवयव विभाग के बिना भी घृत काठिन्य के विलयन के समान भी नाश की सिद्धि को कह चुके हैं, इससे जैसे घृत सुवर्णादि के अवयव विभाग नहीं होने पर भी अग्नि संयोग के द्वारा द्रव भाव की प्राप्ति से कठिनता का विनाश होता है, इसी प्रकार परमाणु को भी परम कारण भाव की प्राप्ति से मूर्ति आदि का विनाश होगा। इसी प्रकार कार्य का आरम्भ भी केवल (मुख्य) अवयव संयोग से ही नहीं होता है, क्योंकि क्षीर जलादि के अन्य अवयव संयोग के बिना भी दधि हिमादि कार्यों का आरम्भ देखा जाता है, इस पूर्व वर्णित रीति से अत्यन्त असार तर्कों से संग्रन्थित होने से तथा ईश्वर कारणवादी श्रुतियों से विरुद्ध होने से और श्रुति परायण शिष्ट मनु आदि से अपरिगृहीत होने से श्रेयः के अर्थियों-इच्छुकों को इस परमाणु कारणवाद में अत्यन्त ही अनपेक्षा कर्तव्य है ऐसा यहाँ वाक्य शेष है ॥ १७ ॥

समुदायाधिकरण (४)

समुदायावुभौ युक्तावयुक्तौ वाऽणुहेतुकः।
एकोऽपरः स्कन्धहेतुरित्येवं युज्यते द्वयम् ॥ १ ॥
स्थिरचेतनराहित्यात्स्वयं चाचेतनत्वतः।
न स्कन्धानामणूनां वा समुदायोऽत्र युज्यते ॥ २ ॥

परमाणु और स्कन्ध उभय हेतुक बाह्यान्तर समुदाय में उस समुदायत्व की असिद्धि है, क्योंकि समुदाय का कोई योग्य हेतु नहीं है। यहाँ संशय है कि अणु हेतुक एक बाह्य समुदाय और स्कन्ध हेतुक दूसरा आन्तर समुदाय इस प्रकार के दो समुदाय युक्त हैं, अथवा युक्त नहीं हैं, पूर्वपक्ष है कि जब दो प्रकार के कारण हैं, तो दोनों समुदाय भी युक्त हैं। सिद्धान्त है कि संघ और संघी से भिन्न स्थिर चेतन के अभाव से और संघ-संघी के स्वयं अचेतन होने से स्कन्ध वा परमाणु का समुदाय (संघ) यहाँ नहीं युक्त हो सकता है ॥ १–२ ॥

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम्, सोऽर्धवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात्सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य इतीदमिदानीमुपपादयामः। स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा। तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति—केचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद् विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति। तत्र ये सर्वास्ति-

त्ववादिनो बाह्यमान्तरं च वस्त्वभ्युपगच्छन्ति भूतं भौतिकं च चित्तं चैत्तं च, तांस्तावत्प्रतिब्रूमः। तत्र भूतं पृथिवीधात्वादयः। भौतिकं रूपादयश्चक्षुरादयश्च। चतुष्टये च पृथिव्यादिपरमाणवः खरस्नेहोष्णेरणस्वभावास्ते पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते। तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्च स्कन्धाः। तेऽप्यध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते (सर्वद० सं० पृ० २३ पं० १०)।

तत्रेदमभिधीयते—योऽयमुभयहेतुक उभयप्रकारः समुदायः परेषामभिप्रेतोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः स्कन्धहेतुकश्च पञ्चस्कन्धीरूपः, तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभिप्रेयमाणे तदप्राप्तिः समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः। कुतः? समुदायिनामचेतनत्वात्। चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्ध्यधीनत्वात्, अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य संहन्तुरनभ्युपगमात् निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्, आशयस्याप्यन्यत्वानन्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात्। क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च निर्व्यापारत्वात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तस्मात्समुदायानुपपत्तिः। समुदायानुपपत्तौ च तदाश्रया लोकयात्रा लुप्येत॥ १८॥

दुर्युक्ति के सम्बन्ध से वेद विरोध से और शिष्टापरिग्रह से वैशेषिक सिद्धान्त ग्रहण के योग्य नहीं है, यह कहा गया है। परिमाण भेद से देहादि का शीघ्र नाश मानने से वह अर्द्ध वैनाशिक है, इससे वैनाशिकत्व की समता से स्मृत सर्व वैनाशिक का सिद्धान्त अत्यन्त अनपेक्षणीय है इस अर्थ का इस समय उपपादन सिद्ध करते हैं। वह सर्व वैनाशिक कालादि के भेद द्वारा प्रतिपत्ति (ज्ञान) के भेद से वा शिष्य के भेद से बहुत प्रकार का है। उसमें ये तीन वादी होते हैं, कोई सबको अस्तित्ववादी होते हैं, कोई विज्ञान का अस्तित्वमात्रवादी होते हैं। उन दोनों से अन्य सर्वशून्यवादी होते हैं। उनमें जो सर्वास्तित्ववादी बाह्य भूत भौतिक वस्तु को और आन्तर चित्त चैत्त (कामादि) वस्तु को मानते हैं, प्रथम उनके प्रति कहते हैं, उनका प्रतिषेध करते हैं, उनमें पृथिवीरूप महाभूतादि भूत हैं, और रूपादि नेत्रादि भौतिक हैं। खर (कठिन) स्नेह (स्निग्ध) उष्ण और ईरण (चलन) स्वभाव वाले चार प्रकार के पृथिवी आदि के परमाणु हैं, वे पृथिवी आदि भाव से संहत होते हैं। अर्थात् समूहरूप होकर परमाणु ही पृथिवी आदि महाभूतरूपता को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वे लोग मानते हैं। इसी प्रकार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार नाम वाले पाँच स्कन्ध हैं, इनमें विषय सहित इन्द्रियरूप स्कन्ध है। अहम् इस बुद्धि का प्रवाह विज्ञान स्कन्ध है, सुखादि का अनुभव वेदना स्कन्ध है। नाम सहित सविकल्पक ज्ञान संज्ञा स्कन्ध है और राग-द्वेष धर्माधर्म संस्कार स्कन्ध हैं, उनमें विज्ञान स्कन्ध को चित्त और आत्मा कहते हैं। अन्य को चैत्त कहते हैं। ये पाँचों स्कन्ध भी आत्मसम्बन्धी अध्यात्म सब व्यवहार के आश्रयरूप से संहत होते (मिलते) हैं, ऐसा मानते

हैं। यहाँ यह कहा जाता है कि जो यह उभय हेतुक और उभय प्रकार वाला समुदाय अन्य को अभिप्रेत स्वीकृत है, जो समुदाय अणुहेतुक (परमाणु जन्य) तो भूत भौतिक संहति (समूह) रूप है, और स्कन्ध हेतुक पाँचों स्कन्ध का समाहार रूप है, उस उभय हेतुक समुदाय के अभिप्रेत होने पर भी उसकी अप्राप्ति होगी, समुदाय की अप्राप्ति होगी, अर्थात् समुदाय भाव की अनुपपत्ति होगी, यह सूत्रार्थ है। क्योंकि समुदाय जिनका होता है उनको अचेतनता है, सृष्टि के आदि काल में परमाणु और स्कन्ध सब चेतनता रहित रहते हैं, और चित्त के अभिज्वलन (विज्ञान) को भी समुदाय की सिद्धि का अधीनत्व है, अन्य स्थिर चेतन भोक्ता वा प्रशासिता (ईश्वर) रूप संघातकर्ता का स्वीकार नहीं किया जाता है और यदि कर्ता की अपेक्षा के बिना अणु और स्कन्ध में प्रवृत्ति मानें तो प्रवृत्ति का कभी अभाव नहीं होगा और प्रवृत्ति के अनुपरम से मोक्षाभाव की प्राप्ति होगी। यदि कहो कि आलयविज्ञान का सन्तान अहमहम् इस रूप से विज्ञानधारारूप आशय संघातकर्ता होगा, तो वह सन्तान भी सन्तानी से अन्यत्व और अनन्यत्वरूप से निरूपण के अयोग्य है, क्योंकि सन्तान को सन्तानी से भिन्न और स्थिर मानने पर नामान्तर से वेदान्त-सम्मत आत्मा का स्वीकार प्राप्त होगा और क्षणिक को स्वीकार करने पर उसे उत्पत्ति-नाश के अतिरिक्त व्यापाररहित होने के कारण उससे प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है, उस प्रवृत्ति की अनुपपत्ति से समुदाय की अनुपपत्ति है और समुदाय की अनुपपत्ति होने पर समुदाय के आश्रित होने वाली लोकयात्रा (उपाय व्यवहार) लुप्त हो जायगी।

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

यद्यपि भोक्ता प्रशासिता वा कश्चिच्चेतनः संहन्ता स्थिरो नाभ्युपगम्यते, तथाप्यविद्यादीनामितरेतरकारणत्वादुपपद्यते लोकयात्रा। तस्यां चोपपद्यमानायां न किञ्चिदपरमपेक्षितव्यमस्ति। ते चाविद्यादयोऽविद्या संस्कारो विज्ञानं नाम रूपं षडायतनं स्पर्शो वेदना तृष्णा उपादानं भवो जातिर्जरा मरणं शोकः परिदेवना दुःखं दुर्मनस्तेत्येवंजातीयका इतरेतरहेतुकाः सौगते समये क्वचित्संक्षिप्ता निर्दिष्टा, क्वचित्प्रपञ्चिताः, सर्वेषामप्ययमविद्यादिकलापोऽप्रत्याख्येयः। तदेवमविद्यादिकलापे परस्परनिमित्तनैमित्तिकभावेन घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानेऽर्थाक्षिप्त उपपन्नः सङ्घात इति चेत्।

तन्न। कस्मात्? उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। भवेदुपपन्नः संघातो यदि संघातस्य किञ्चिन्निमित्तमवगम्येत, न त्ववगम्यते। यत इतरेतरप्रत्ययत्वेऽप्यविद्यादीनां पूर्वम्पूर्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रनिमित्तं भवद्भवेन्न तु सङ्घातोत्पत्तेः किञ्चिन्निमित्तं सम्भवति। नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते सङ्घात इत्युक्तम्। अत्रोच्यते। यदि तावदयमभिप्रायः–अविद्यादयः सङ्घातमन्तरेणात्मानमलभमाना अपेक्षन्ते सङ्घातम्–इति, ततस्तस्य सङ्घातस्य निमित्तं वक्तव्यम्, तच्च

नित्येष्वप्यणुष्वभ्युपगम्यमानेष्वाश्रयाश्रयिभूतेषु च भोक्तृषु सत्सु न सम्भवतीत्युक्तं वैशेषिकपरीक्षायाम्, किमङ्ग पुनः क्षणिकेष्वप्यणुषु भोक्तृरहितेष्वाश्रयाश्रयिशून्येषु वाभ्युपगम्यमानेषु सम्भवेत्। अथायमभिप्रायः–अविद्यादय एव सङ्घातस्य निमित्तम्–इति, कथं तमेवाश्रित्यात्मानं लभमानास्तस्यैव निमित्तं स्युः। अथ मन्यसे–सङ्घाता एवानादौ संसारे सन्तत्यानुवर्तन्ते तदाश्रयाश्चाविद्यादय–इति, तदपि सङ्घातात्सङ्घातान्तरमुत्पद्यमानम् नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत, अनियमेन वा सदृशं विसदृशं वोत्पद्येत, नियमाभ्युपगमे मनुष्यपुद्गलस्य देवतिर्यग्योनिनारकप्राप्त्यभावः प्राप्नुयात्, अनियमाभ्युपगमेऽपि मनुष्यपुद्गलः कदाचित्क्षणेन हस्ती भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेदिति प्राप्नुयात्, उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम्। अपि च यद्भोगार्थः सङ्घातः स्यात्स नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगमः, ततश्च भोगो भोगार्थ एव स नान्येन प्रार्थनीयः तथा मोक्षो मोक्षार्थ एवेति मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम्। अन्येन चेत्प्रार्थ्येतोभयं भोगमोक्षकालावस्थायिना तेन भवितव्यम्, अवस्थायित्वे क्षणिकत्वाभ्युपगमविरोधः। तस्मादितरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद्भवतु नाम न तु सङ्घातः सिद्ध्येत् भोक्त्रभावादित्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

शंका है कि यद्यपि भोक्ता वा प्रशासिता किसी चेतन स्थिर संघातकर्ता का स्वीकार नहीं किया जाता है, तथापि अविद्यादि को ही परस्पर प्रत्यय (कारण) होने से लोकयात्रा सिद्ध होती है, अर्थात् अविद्यादि के ही घटीयन्त्र की तरह। बीजाङ्कुर की भांति वर्तमान रहने से संघात की भी अर्थात् सिद्धि होती है और सब व्यवहार की सिद्धि होती है। इस प्रकार जिस लोकयात्रा व्यवहार के सिद्ध होने पर अन्य कुछ अपेक्षितव्य (प्रयोजन के लिए आकांक्षित) नहीं रहता है, वे अविद्यादि ये हैं कि पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान इन छः से उत्पन्न होने वाले देहों में अहं ममादि बुद्धि तथा क्षणिक में स्थिर बुद्धि अविद्या है, राग-द्वेष मोह संस्कार हैं, उससे वस्तु का विज्ञान होता है, जो गर्भ में ही आद्य विज्ञानरूप होता है, उससे पृथिवी आदि चार होते हैं, वे हो नाम के आश्रय होने से नाम हैं, उनसे शुक्रादिरूप होते हैं, नामरूप से मिश्रित इन्द्रिय षडायतन हैं। अर्थात् विज्ञान चार भूत और रूप ये षडायतन हैं, नामरूप और इन्द्रियों का परस्पर संयोग स्पर्श है। उससे सुख दुःखादि रूप वेदना होती है, फिर विषय की तृष्णा होती है, उससे प्रवृत्ति रूप उपादान होता है उससे जन्मादि का हेतुरूप भव धर्माधर्म होते हैं, उससे जाति (जन्म) होती है जो पाँच स्कन्ध का समुदाय है। स्कन्धों का परिपाक जरा है, उनका विनाश मरण है। मरणकाल में स्नेहजन्य शोक होता है, उससे ही पुत्र इत्यादि प्रलापरूप परिवेदना होती है। अनिष्ट का अनुभव दुःख है, मानस दुःख दुर्मनस्ता है। इस प्रकार के मानापमानादि भी क्लेश हैं, सो सब परस्पर हेतुक हैं। बुद्ध सिद्धान्त में कहीं संक्षिप्तरूप से निर्दिष्ट हैं,

कहीं प्रपञ्चित (विस्तारयुक्त) निर्दिष्ट हैं। ये अविद्यादि केवल बुद्धों के ही नहीं सम्मत हैं किन्तु यह अविद्या आदि का संघात सब वादियों से प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। जिससे इस प्रकार अविद्यादि समूह के परस्पर निमित्त नैमित्तिक (कारण कार्य) भाव से घटीयन्त्र की तरह निरन्तर वर्तमान रहने पर अर्थ (प्रयोजन) से आक्षिप्त संघात उनसे ही उपपन्न होता है। संघात के बिना अविद्यादि का कार्य नहीं हो सकता, इससे अविद्या आदि संघात का आक्षेप (प्राप्ति) करते हैं। इस प्रकार यदि शंका हो तो कहा जाता है कि यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अविद्यादि को इस प्रकार परस्पर उत्पत्ति-मात्र का निमित्तत्व सिद्ध होता है, संघात का निमित्तत्व नहीं सिद्ध होता है। और संघात तब उपपन्न होता, कि जब कोई संघात का निमित्त अवगत (ज्ञात-प्राप्त) होता। परन्तु संघात का निमित्त तो नहीं अवगत होता है, जिससे अविद्यादि का परस्पर प्रत्य-यत्व (कारणत्व) होने पर भी पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर की उत्पत्तिमात्र का निमित्त होता हुआ परस्पर कारण होगा। परन्तु तो भी संघात की उत्पत्ति का कोई निमित्त नहीं सिद्ध होता है। यदि कहो कि अविद्यादि से अर्थतः संघात आक्षिप्त होता है, यह कहा जा चुका है, तो इस विषय में कहा जाता है कि यहाँ आक्षेप शब्द का क्या अर्थ है? यदि आक्षेप का यह अभिप्राय (अर्थ) हो कि अविद्यादि संघात के बिना अपने स्वरूप के लाभ (प्राप्ति) में असमर्थ होते हुए संघात की अपेक्षा करते हैं, संघात का गमक बोधक होते हैं, स्वकारणरूप से संघात का अनुमान कराते हैं, तो उस संघात का निमित्त कहना चाहिए। परन्तु वह संघात का निमित्त परमाणुओं को नित्य मानने पर और भोक्ताओं को आश्रय आश्रयि स्वरूप (अदृष्टाश्रय) होने पर भी ज्ञान के अभाव-मात्र से सम्भव (सिद्ध) नहीं हो सकता है, यह वैशेषिक परीक्षा में कहा गया है। फिर आश्रयाश्रयिरहित वा भोक्तारहित क्षणिक परमाणु को मानने पर हे अङ्ग! वह निमित्त क्या सम्भव होगा और यदि यह अभिप्राय हो कि अविद्या आदिक ही संघात के निमित्त हैं, तो संघात का ही आश्रयण करके आत्मलाभ करने वाले सिद्ध होने वाले अविद्यादि संघात के ही निमित्त कैसे होंगे और यदि ऐसा मानते हो कि अनादि संसार में अनन्त संघात ही सन्तति (प्रवाह) रूप से अनुवर्तमान हैं और उनके आश्रित अविद्यादि हैं, तो वह भी संघात से उत्पन्न होने वाला अन्य संघात नियम से या तो सदृश ही उत्पन्न होगा अथवा अनियम से सदृश वा विसदृश उत्पन्न होगा। वहाँ नियम मानने पर मनुष्य पुद्गल (देह) को देव तिर्यग् योनि और नरक समूह में प्राप्ति का अभाव प्राप्त होगा। अनियम मानने पर भी मनुष्य शरीर कभी क्षण में हाथी होकर अथवा देव होकर फिर मनुष्य होगा, ऐसा प्राप्त होता है। यह दोनों बात सिद्धान्त से विरुद्ध है। दूसरी बात है कि जिसके भोग के लिए संघात होगा, वह स्थिर भोक्ता नहीं है, यह तेरा सिद्धान्त है। जिससे भोग भोगार्थक ही है, अन्य से प्रार्थनीय (अन्य की इच्छा का विषय) नहीं है। इसी प्रकार मोक्ष भी मोक्षार्थक ही है, अन्य मुमुक्षु होने के योग्य नहीं है। यदि भोग और मोक्ष दोनों

अन्य से प्रार्थित हों, अन्य की प्रार्थना के विषय हों, याचित हों, तो उस याचना करने वाले को भोग और मोक्ष काल में अवस्थायी स्थितिशील होना चाहिये। अवस्थायित्व होने पर क्षणिकत्वाभ्युपगम से विरोध होता है जिससे यदि अविद्यादि को परस्परोत्पत्ति-मात्र का निमित्तत्व होता हो, तो हो सकता है, परन्तु संघात नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि स्थिर भोक्ता का अभाव है, यह अभिप्राय है ॥ १९ ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

उक्तमेतदविद्यादीनामुत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वान्न सङ्घातसिद्धिरस्तीति, तदपि तूत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वं न सम्भवतीतीदमिदानीमुपपाद्यते। क्षणभङ्गवादिनोऽयमभ्युपगमः उत्तरस्मिन्क्षण उत्पद्यमाने पूर्वः क्षणो निरुध्यत-इति। न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्हेतुफलभावः शक्यते सम्पादयितुम्, निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याभावग्रस्तत्वादुत्तरक्षणहेतुत्वानुपपत्तेः। अथ भावभूतः परिनिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तरक्षणस्य हेतुरित्यभिप्रायस्तथापि नोपपद्यते, भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसम्बन्धप्रसङ्गात्। अथ भाव एवास्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि नैवोपपद्यते, हेतुस्वभावानुपरक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसम्भवात्। स्वभावोपरागाभ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभङ्गाभ्युपगमत्यागप्रसङ्गः। विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छतः सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसङ्गः। अपि चोत्पादनिरोधौ नाम वस्तुतः स्वरूपमेव वा स्यातामवस्थान्तरं वा वस्त्वन्तरमेव वा सर्वथापि नोपपद्यते। यदि तावद्वस्तुनः स्वरूपमेवोत्पादनिरोधौ स्यातां ततो वस्तुशब्द उत्पादनिरोधशब्दौ च पर्यायाः प्राप्नुयुः। अथास्ति कश्चिद्विशेष इति मन्येत, उत्पादनिरोधशब्दाभ्यां मध्यवर्तिनो वस्तुनः आद्यन्ताख्ये अवस्थे अभिलप्येते इति, एवमप्याद्यन्तमध्यक्षणत्रयसम्बन्धित्वाद्वस्तुनः क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिः। अथात्यन्तव्यतिरिक्तावेवोत्पादनिरोधौ वस्तुनः स्यातामश्वमहिषवत्, ततो वस्तु उत्पादनिरोधाभ्यामसंमृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः। यदि च दर्शनादर्शने वस्तुन उत्पादनिरोधौ स्याताम्, एवमपि द्रष्टृधर्मौ तौ न वस्तुधर्माविति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्ग एव। तस्मादप्यसङ्गतं सौगतं मतम् ॥ २० ॥

प्रथम यह कहा गया है कि अविद्यादि की परस्पर उत्पत्तिमात्र का निमित्त होने से संघात की सिद्धि नहीं है। अब इस समय यह सिद्ध किया जाता है कि वह उत्पत्तिमात्र का निमित्तत्व भी असम्भव है। क्षणभङ्गवादियों का यह अभ्युपगम (सिद्धान्त) है कि उत्तर क्षण (क्षणिक पदार्थ) के उत्पद्यमान (उत्पत्ति) काल में पूर्वकालिक क्षणिक पदार्थ निरुद्ध (नष्ट) हो जाता है। इस प्रकार मानने वाले से पूर्वोत्तर-कालिक क्षणिक पदार्थों में हेतुफलभाव (कारणता कार्यता) नहीं सम्पादन (सिद्ध) किया जा सकता है। क्योंकि निरुध्यमान (नष्ट होता हुआ) वा निरुद्ध (विनष्ट)

पूर्वकाल के क्षणिक पदार्थ को अभाव से ग्रस्त होने से, उत्तर के क्षणिक कार्य के हेतुत्व की अनुपपत्ति है। यदि यह अभिप्राय हो कि भावभूत (सत्स्वरूप) परिनिष्पन्न (सिद्ध) अवस्था वाला पूर्व का क्षणिक पदार्थ उत्तर के क्षणिक का हेतु है, तो भी नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि भावभूत के फिर व्यापारान्तर की कल्पना करने पर क्षणान्तर के साथ सम्बन्ध का प्रसंग होगा। यदि यह अभिप्राय हो, कि पूर्वकालिक क्षणिक पदार्थ का भाव (उत्पत्ति) ही इसका व्यापार है, तो भी क्षणिक को कारणत्व नहीं उपपन्न होता है, क्योंकि हेतु के स्वभाव से अनुपरक्त फल (कार्य) की उत्पत्ति का असम्भव है, घटादि मृत्तिका स्वभाव से उपरक्त युक्त ही देखे जाते हैं। यदि हेतु के स्वभाव का कार्य में उपराग (सम्बन्ध), मानो तो हेतु स्वभाव के फलकाल में अवस्थायित्व होने पर क्षणभंग अभ्युपगम के त्याग का प्रसंग होगा। अथवा कारण के स्वभाव के उपराग के बिना ही हेतुफलभाव को मानने वाले को सर्वत्र ही उस हेतुफलभाव की प्राप्ति से अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् स्वभाव के उपराग मानने पर तो जिस कार्य में जिसके स्वभाव का उपराग हो यह उसका हेतु है, यह नियम होता है। स्वभावोपराग के बिना यह नियम नहीं होगा। क्षणभंगवाद में प्रसिद्ध उत्पत्ति और विनाश चाहे वस्तु के स्वरूप ही हों, या अवस्थान्तर हों या वस्त्वन्तर (भिन्न वस्तु) ही हों, परन्तु सर्वथा उपपन्न (सिद्ध) नहीं होते हैं। क्योंकि यदि वस्तु के स्वरूप ही उत्पत्ति विनाश हों, तो वस्तु वाचक शब्द और उत्पत्ति विनाश शब्द पर्याय (एकार्थक) प्राप्त होंगे। यदि मानें कि कुछ विशेष (भेद) है, अर्थ में एकता नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति विनाश शब्द से मध्यवर्ती वस्तु की आदि और अन्त नाम वाली दो अवस्थायें कहीं जाती हैं, तो ऐसा मानने पर भी आदि, अन्त और मध्यरूप तीन क्षण के सम्बन्धित्व से वस्तु के क्षणिकत्वाभ्युपगम की हानि होगी। यदि वस्तु से अत्यन्त भिन्न ही वस्तु के उत्पत्ति विनाश अश्व महिषादि के समान होंगे, तो उनसे वस्तु असंसृष्ट (असंग) सिद्ध होगा, उत्पत्ति विनाश से रहित वस्तु सिद्ध होगा, इससे वस्तु को नित्यत्व की प्राप्ति होगी। यदि वस्तु का दर्शन वस्तु की उत्पत्ति है और वस्तु का अदर्शन विनाश है, ऐसा मानो तो भी वे दर्शन और अदर्शन द्रष्टा के धर्म हैं, वस्तु के नहीं। इससे वस्तु नित्यता का ही प्रसंग होगा, इससे भी सौगत मत (बुद्धमत) असंगत है।

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

क्षणभङ्गवादे पूर्वक्षणो निरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवतीत्युक्तम्। अथासत्येव हेतौ फलोत्पत्तिं ब्रूयात्, ततः प्रतिज्ञोपरोधः स्यात्, चतुर्विधान्हेतून्प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत, निर्हेतुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धात्सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत। अथोत्तरक्षणोत्पत्तिर्यावत्तावदवतिष्ठते पूर्वक्षण इति ब्रूयात्ततो यौगपद्यं हेतुफलयोः स्यात्, तथापि प्रतिज्ञोपरोध एव स्यात्, क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इतीयं प्रतिज्ञोपरुध्येत ॥ २१ ॥

क्षणभंगवाद में पूर्व के क्षणिक पदार्थ विनाश से ग्रस्त होने से उत्तर के क्षणिक का हेतु नहीं होता है यह कहा गया है। और यदि हेतु की असत्ता रहते ही फल की उत्पत्ति कहैं, तो प्रतिज्ञा का त्याग बाध होगा, क्योंकि विषय, करण, सहकारी और संस्काररूप चार प्रकार के हेतु को प्रतीत्य (प्राप्त करके) चित्त और चैत्त (विज्ञान और सुख दुःख कामादि) उत्पन्न होते हैं, यह प्रतिज्ञा नष्ट हो जायगी, यहाँ शब्दादि विषय और इन्द्रियरूप विज्ञान के कारण प्रसिद्ध ही हैं, रूप के विज्ञान में आलोक सहकारी होता है, अव्यवहित पूर्व प्रत्यय को संस्कार कहते हैं, ये सब विज्ञान के हेतु हैं, विज्ञानादि द्वारा सुखादि के भी हेतु हैं, चित्तमय होने से सुखादि को चैत्त कहते हैं। निर्हेतुक उत्पत्ति मानने पर प्रतिबन्ध के अभाव से सब कार्य सर्वत्र उत्पन्न होगा। यदि कहैं कि उत्तर क्षणिक कार्य की उत्पत्ति काल तक पूर्व का क्षणिक कार्य स्थिर रहता है, तो हेतुफल को यौगपद्य सह-वृत्तित्व होगा, तथापि प्रतिज्ञा का उपरोध नाश ही होगा, क्योंकि सब संस्कार (उत्पत्ति नाश वाले पदार्थ) क्षणिक हैं यह प्रतिज्ञा उपरुद्ध (बद्ध) हो जायगी ॥ २१ ॥

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकं चेति। तदपि च त्रयं प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते। त्रयमपि चैतदवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते। बुद्धिपूर्वकः किल विनाशो भावानां प्रतिसङ्ख्यानिरोधो नाम भाष्यते, तद्विपरीतोऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधः, आवरणाभावमात्रमाकाशमिति। तेषामाकाशं परस्तात्प्रत्याख्यास्यति, निरोधद्वयमिदानीं प्रत्याचष्टे। प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधयोरप्राप्तिः असम्भव इत्यर्थः। कस्मात्? अविच्छेदात्। एतौ हि प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधौ सन्तानगोचरौ वा स्यातां भावगोचरौ वा? न तावत्सन्तानगोचरौ सम्भवतः, सर्वेष्वपि सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात्। नापि भावगोचरौ सम्भवतः नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः सम्भवति, सर्वास्वप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञानबलेनान्वय्यविच्छेददर्शनात्। अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद् दृष्टेनान्वय्यविच्छेदेनान्यत्रापि तदनुमानात्। तस्मात्परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः ॥ २२ ॥

और भी वैनाशिक कल्पना करते हैं कि बुद्धि से बोध्य (सब प्रमेय पदार्थ) तीन तुच्छ से अन्य संस्कृत (उत्पाद्य-कार्य) स्वरूप हैं और क्षणिक हैं। और तीन तुच्छ भी प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाशरूप हैं, इस प्रकार वे कहते हैं। ये तीनों भी अवस्तु हैं, अभावमात्र हैं, निरुपाख्य (निःस्वरूप) हैं, ऐसा मानते हैं। बुद्धिपूर्वक भावों (पदार्थों) के विनाश का प्रतिसंख्यानिरोध नाम कहते हैं। अर्थात् मैं इस सत् वर्तमान वस्तु को असत् नष्ट कर दूँ, ऐसी भाव की विरोधी बुद्धि को प्रति-

संख्या कहते हैं और उस बुद्धि से होने वाले नाश को प्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं, उससे विपरीत अबुद्धिपूर्वक नाश अप्रतिसंख्यानिरोध है। आवरण का अभावमात्र आकाश है, ऐसा मानते हैं। उनमें आकाश का प्रत्याख्यान आगे सूत्रकार करेंगे, दोनों निरोधों का अभी प्रत्याख्यान करते हैं कि प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या निरोध की अप्राप्ति है, अर्थात् असम्भव है यह अर्थ है। क्योंकि भाव का विच्छेद नाश नहीं हो सकता है। जिससे ये प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्यारूप निरोध सन्तान (प्रवाह) गोचर (विषयक) होंगे, वा भाव (सन्तानी) गोचर होंगे, वहाँ प्रथम सन्तान गोचर तो हो नहीं सकते हैं, क्योंकि सब सन्तानों में सन्तानियों के अविच्छिन्न हेतुफलभाव से सन्तान के विच्छेद का असम्भव है। भाव है कि हेतुफलभाव का प्रवाह सन्तान है, उसमें सन्तानी हेतुफल के नाश से ही सन्तान का नाश हो सकता है, परन्तु सन्तानी का नाश नहीं हो सकता है। क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही इस मत में सत्त्व है, जो सन्तानी किसी को उत्पन्न किये बिना नष्ट होगा, उसकी असत्ता प्राप्त होगी उससे अवश्य अन्य उत्पन्न करके ही सन्तानी नष्ट होता है, इससे सन्तान का विच्छेद नहीं हो सकता है और भाव गोचर भी दोनों निरोध नहीं हो सकते हैं, जिससे भावों का निरन्वय निरुपाख्य विनाश सम्भव नहीं है। अर्थात् मृत्तिका के नाश से मृत्तिका के सम्बन्ध से रहित घट की उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि घटादि कार्य में मृत्तिकादि अन्वित भासते हैं, इससे कारण का निरन्वय नाश अत्यन्त अभाव नहीं होता है, जिससे मृत्तिका की चूर्ण, पिण्ड, घटादि सब अवस्थाओं में मृत्तिका की प्रत्यभिज्ञा बल से (यह मृत्तिकात्मक ही है, ऐसा अनुभव बल से) अनुभव के सामर्थ्य से कार्य में अन्वयी कारण का अविच्छेद देखा जाता है। जहां कहीं बीजांकुरादि अवस्थाओं में कारण की कार्य में स्पष्ट प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है कि बीज ही अंकुररूप हुआ है इत्यादि, वहाँ कहीं देखे गये अन्वयी कारण के अविच्छेद से अनुमान द्वारा वह अविच्छेद समझा जाता है, अर्थात् मृत्तिका सुवर्णादि का कार्य में अन्वय देखने से अन्य अदृष्ट स्थान में भी अन्वय का अनुमान होता है। इससे अन्य से परिकल्पित दोनों निरोधों की अनुपपत्ति है ॥ २२ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

योऽयमविद्यादिनिरोधः प्रतिसंख्यानिरोधान्तःपाती परपरिकल्पितः, स सम्यग्ज्ञानाद्वा सपरिकरात्स्यात्स्वयमेव वा। पूर्वस्मिन्विकल्पे निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रसङ्गः। उत्तरस्मिंस्तु मार्गोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। एवमुभयथापि दोषप्रसङ्गादसमञ्जसमिदं दर्शनम् ॥ २३ ॥

प्रतिसंख्यानिरोध के अन्तर्गत जो यह अविद्यादि का निरोध पर से परिकल्पित है, सो यमनियमादिरूप परिकर (परिवार-साधन समूह) सहित सम्यक् ज्ञान से होता है अथवा स्वयम् ही होता है। यदि प्रथम विकल्प (पक्ष) को मानें कि साधन

सामग्रीसहित ज्ञान से निरोध होता है, तो निर्हेतुक विनाश के स्वीकार की हानि का प्रसङ्ग होगा और दूसरे पक्ष में अविद्यादि के नाश के लिए मार्ग साधनोपदेश की अनर्थकता का प्रसंग होगा। इस प्रकार दोनों प्रकार से दोष के प्रसंग (सम्बन्ध) से यह दर्शन अयुक्त है ॥ २३ ॥

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

यच्च तेषामेवाभिप्रेतं निरोधद्वयमाकाशं च निरुपाख्यमिति, तत्र निरोधद्वयस्य निरुपाख्यत्वं पुरस्तान्निरस्तम्, आकाशस्येदानीं निराक्रियते। आकाशे चायुक्तो निरुपाख्यत्वाभ्युपगमः, प्रतिसंख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषात्। आगमप्रामाण्यात्तावत् 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१) इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशस्य च वस्तुत्वप्रसिद्धिः। विप्रतिपन्नान्प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्वं वक्तव्यं, गन्धादीनां गुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात्। अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन्सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात्सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनवकाशत्वप्रसङ्गः। यत्रावरणाभावस्तत्र पतिष्यतीति चेत्, येनावरणाभावो विशेष्यते तर्हि वस्तुभूतमेवाकाशं स्यात्, नावरणाभावमात्रम्। अपि चावरणाभावमात्रमाकाशं मन्यमानस्य सौगतस्य स्वाभ्युपगमविरोधः प्रसज्येत। सौगते हि समये 'पृथिवी भगवन् किंसन्निश्रया' इत्यस्मिन्प्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किंसंनिश्रयः' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति 'वायुराकाशसंनिश्रयः' इति, तदाकाशस्यावस्तुत्वे न समञ्जसं स्यात्। तस्मादप्ययुक्तमाकाशस्यावस्तुत्वम्। अपि च निरोधद्वयमाकाशं च त्रयमप्येतन्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं चेति विप्रतिषिद्धम्। न ह्यवस्तुनो नित्यत्वमनित्यत्वं वा सम्भवति, वस्त्वाश्रयत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य। धर्मधर्मिभावे हि घटादिवद्वस्तुत्वमेव स्यान्न निरुपाख्यत्वम् ॥ २४ ॥

और जो उन वैनाशिकों का ही अभिप्रेत स्वीकृत है कि दो निरोध और आकाश निरुपाख्य हैं, उनमें दोनों निरोधों के निरुपाख्यत्व का प्रथम निराकरण किया गया है। आकाश के निरुपाख्यत्व का इस समय निराकरण किया जाता है कि आकाश में भी निरुपाख्यत्व का स्वीकार अयुक्त है, क्योंकि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध में वस्तुत्व प्रतीति के समान आकाश में भी वस्तुत्व की प्रतीति की अविशेषता (तुल्यता) है। प्रथम तो आगम की प्रमाणता से वस्तुत्व की प्रतीति है, क्योंकि (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि कहने वाली श्रुतियों से आकाश के वस्तुत्व की प्रसिद्धि (ज्ञान) होती है। आगम की प्रमाणता में विप्रतिपन्नों (विरोधियों) के प्रति तो शब्दरूप गुण से अनुमान के योग्य आकाश को कहना होगा, क्योंकि गन्धादि गुणों को पृथिवी आदि वस्तु के आश्रितत्व देखा जाता है, वैसे ही शब्द जिसके आश्रित है वह आकाश वस्तु है अवस्तु निरुपाख्य नहीं है। गुण होने से शब्द निराश्रय नहीं

है। श्रोत्रगाह्य होने से पृथिवी आदि का गुण शब्द नहीं है इत्यादि। और दूसरी बात है कि जो आवरण का अभावमात्र आकाश को मानते हैं, उनके मन में एक पक्षी के आकाश में उड़ने पर उससे आवरण की वर्तमानता से उड़ने की इच्छा वाले दूसरे पक्षी को अनवकाशता की प्राप्ति होगी। अर्थात् मूर्तद्रव्यशून्यता को निरावरण कहा जाता है, एक पक्षी के उड़ने पर मूर्तद्रव्यशून्यता के अभाव से मानों आकाश का ही अभाव हो गया दूसरे पक्षी को उड़ने के लिए अवकाश नहीं मिलेगा। यदि कहो कि जहाँ आवरण का अभाव है, वहाँ दूसरा पक्षी उड़ेगा, तो जिस देश विशेष का आवरण के अभाव के विशेषणरूप से कथन करते हो, वही वस्तुस्वरूप आकाश सिद्ध होगा कि जिसमें पक्षी के उड़ने पर भी आवरण का अभाव रहता है, आवरणाभाव का अधिकरण आवरणाभावमात्र नहीं हो सकता है। दूसरी बात है कि आकाश को आवरणाभावमात्र मानने वाले सौगत को अपने अभ्युपगम से भी विरोध प्राप्त होगा। जिससे सौगत मत में (हे भगवन्! पृथिवी किस सम्यक् निश्चय आश्रय वाली है। इस प्रकार के प्रश्नोत्तर के प्रवाह में पृथिवी आदि के अन्त में (वायु किस सम्यक् आश्रय वाला है) इस प्रश्न का उत्तर है कि वायु आकाशरूप सम्यक् आश्रय वाला है। यह उत्तर आकाश में अवस्तुत्व होने पर समञ्जस (युक्त) नहीं हो सकता है, इससे भी आकाश को अवस्तुत्व अयुक्त है। दो निरोध तथा आकाश ये तीनों निरुपाख्य अवस्तु और नित्य हैं। यह कथन विरुद्ध है, जिससे अवस्तु को नित्यत्व वा अनित्यत्व का सम्भव नहीं है। क्योंकि धर्म-धर्मी व्यवहार को वस्तु का आश्रयत्व होता है। इससे धर्म-धर्मिभाव के रहने पर घटादि के समान निरोध और आकाश को वस्तुत्व ही होगा, निरुपाख्यत्व नहीं होगा ॥ २४ ॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

अपि न वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात्। न च सा सम्भवति। अनुस्मृतेः। अनुभवमुपलब्धिमनूत्पद्यमानं स्मरणमेवानुस्मृतिः सा चोपलब्ध्येककर्तृका सती सम्भवति, पुरुषान्तरोपलब्धिविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्शनात्। कथं ह्यहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नसति प्रत्ययः स्यात्। अपि च दर्शनस्मरणयोः कर्तर्येकस्मिन्प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य प्रसिद्धोऽहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति। यदि हि तयोर्भिन्नः कर्ता स्यात्ततोऽहं स्मराम्यद्राक्षीदन्य इति प्रतीयात्, नत्वेवं प्रत्येति कश्चित्। यत्रैवं प्रत्ययस्तत्र दर्शनस्मरणयोर्भिन्नमेव कर्तारं सर्वलोकोऽवगच्छति, स्मराम्यहमसावदोऽद्राक्षीदिति। इह त्वहमदोऽद्राक्षमिति दर्शनस्मरणयोर्वैनाशिकोऽप्यात्मानमेवैकं कर्तारमवगच्छति, न नाहमित्यात्मनो दर्शनं निर्वृत्तं निह्नुते यथाग्निरनुष्णोऽप्रकाश इति वा। तत्रैवं सत्येकस्य दर्शनस्मरणक्षणद्वयसंबन्धे क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिरपरिहार्या वैना-

शिकस्य स्यात्, तथाऽनन्तरामनन्तरामात्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन्नेककर्तृकामोत्तमादुच्छ्वासादतीताश्च प्रतिपत्तीरा जन्मन आत्मैककर्तृका प्रसिसंदधानः कथं क्षणभङ्गवादी वैनाशिको नापत्रपेत।

और भी सब वस्तु की क्षणिकता को मानता हुआ वैनाशिक उपलब्धा (ज्ञाता) की भी क्षणिकता को मानेगा। परन्तु वह ज्ञाता की क्षणिकता अनुस्मृति से सम्भव (होने योग्य) नहीं है। जिससे प्रमाणजन्य अनुभवरूप उपलब्धि के बाद उत्पन्न होने वाला स्मरण ही अनुस्मृति है, सो उपलब्धि के साथ एक कर्ता वाली होती हुई उत्पन्न होती है। क्योंकि पुरुषान्तर की उपलब्धि के विषय में उससे अन्य पुरुष की स्मृति नहीं देखी जाती है। क्षणिक आत्मवाद में पूर्वोत्तर द्रष्टा के एक नहीं रहने पर मैंने उसको देखा था, और अब इसको देखता हूँ, यह ज्ञान कैसे हो सकेगा। अर्थात् भिन्नकालिक दो ज्ञान का अनुसंधान क्षणिकवाद में नहीं हो सकेगा। दर्शन तथा स्मरण का एक कर्ता में प्रत्यक्षरूप प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सब लोक को प्रसिद्ध है कि मैंने उसको देखा था और इसको देखता हूँ इत्यादि। इससे जो पूर्वकाल में देखा था वही पूर्व का स्मरणकर्ता है, वर्तमान का दर्शनकर्ता है और स्मरण दर्शन का भी प्रत्यभिज्ञा ज्ञान वाला है। यदि दर्शन और स्मरण का भिन्न कर्ता होता तो मैं स्मरणकर्ता हूँ, अन्य किसी ने देखा था, ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु इस प्रकार कोई नहीं समझता है। जहाँ इस प्रकार का ज्ञान होता है, वहाँ दर्शन और स्मरण के भिन्न कर्ता को ही सब लोग समझते हैं कि मैं स्मरण करता हूँ कि इसने उसको देखा था। यहाँ तो मैंने उसको देखा था, इस प्रकार वैनाशिक भी दर्शन और स्मरण का कर्ता एक आत्मा ही को समझता है। मैंने नहीं देखा था इस प्रकार अपने निर्वृत्त (सिद्ध) पूर्व दर्शन का अपलाप निषेध नहीं करता है। जैसे कि अग्नि उष्ण है वा प्रकाशरहित है, ऐसा अपलाप नहीं करता है। इस प्रकार द्रष्टा स्मरणकर्ता के एक होने पर एक आत्मा का दर्शन स्मरण लक्षण वाले दो क्षण के साथ सम्बन्ध होने पर वैनाशिक के क्षणिकत्वाभ्युपगम की हानि अपरिहार्य होगी। इसी प्रकार वर्तमानकाल से अन्तिम श्वास मरणपर्यन्त एककर्तृक अनन्तर-अनन्तर वर्तमान अपनी प्रतिपत्ति (ज्ञान) को प्रत्यभिज्ञापूर्वक जानता हुआ तथा जन्म से लेकर वर्तमान काल तक आत्मा ही एक जिनका कर्त्ता है, ऐसी अतीत प्रतिपत्तियों का प्रतिसंधान स्मरणादि करता हुआ क्षणभंगवादी वैनाशिक लज्जित कैसे नहीं होगा।

स यदि ब्रूयात्—सादृश्यादेतत्संपत्स्यत इति। तं प्रतिब्रूयात्, तेनेदं सदृशमिति द्वयायत्तत्वात्सादृश्यस्य क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोर्ग्रहीतुरेकस्याभावात् सादृश्यनिमित्तं प्रतिसन्धानमिति मिथ्याप्रलाप एव स्यात्, स्याच्चेत्पूर्वोत्तरयोः क्षणयोः सादृश्यस्य ग्रहीतैकः तथासत्येकस्य क्षणद्वयावस्थानात्क्षणिकत्वप्रतिज्ञा पीड्येत। तेनेदं सदृशमिति प्रत्ययान्तरमेवेदं न पूर्वोत्तरक्षणद्वय-

ग्रहणनिमित्तमिति चेत् । न । तेनेदमिति भिन्नपदार्थोपादानात् । प्रत्ययान्तरमेव मेव चेत्सादृश्यविषयं स्यात्तेनेदं सदृशमिति वाक्यप्रयोगोऽनर्थकः स्यात्, सादृश्यमित्येव प्रयोगः प्राप्नुयात् । यदा हि लोकप्रसिद्धः पदार्थः परीक्षकैर्न परिगृह्यते तदा स्वपक्षसिद्धिः परपक्षदोषो वोभयमप्युच्यमानं परीक्षकाणामात्मनश्च यथार्थत्वेन न बुद्धिसन्तानमारोहति । एवमेवैषोऽर्थ इति निश्चितं यत्तदेव वक्तव्यम्, ततोऽन्यदुच्यमानं बहुलापित्वमात्मनः केवलं प्रख्यापयेत् । न चायं सादृश्यात्संव्यवहारो युक्तः, तद्भावावगमात्तत्सदृशभावानवगमाच्च । भवेदपि कदाचिद्बाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसंभवात्तदेवेदं स्यात्तत्सदृशं वेति सन्देहः, उपलब्धरि तु सन्देहोऽपि न कदाचिद्भवति-स एवाहं स्यां तत्सदृशो वा-इति । य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चितात्तद्भावोपलम्भात् । तस्मादप्यनुपपन्नो वैनाशिकसमयः ॥ २५ ॥

यदि वह कहे कि सदृशता से यह आत्मा में प्रत्यभिज्ञान होता है, जैसे दीप, दीपशिखा आदि में होता है, तो उसके प्रति कहना चाहिये कि, उसके सदृश वह है, इस प्रकार सादृश्य दो के अधीन होता है । क्षणभंगवादी को दो सदृश वस्तु के एक ग्राहक (ज्ञाता) के अभाव से सादृश्यनिमित्तक प्रतिसंधान है । यह मिथ्या प्रलाप ही होगा और यदि पूर्वोत्तरक्षण वृत्ति वस्तु को सदृशता का ग्रहीता अनुसंधान करने वाला एक होगा तो ऐसा होने पर एक को दो क्षण में स्थिति से क्षणिकत्व की प्रतिज्ञा पीड़ित नष्ट होगी । यदि कहो कि उसके सदृश यह है, ऐसा ज्ञान भी पूर्वोत्तर दो क्षण दो वस्तु का ग्रहण निमित्तक नहीं है कि जिससे स्थिरता की प्राप्ति हो, किन्तु सदृश ज्ञान से ज्ञानान्तर ही यह ज्ञान अपने आकार को ही बाहर के सदृश ग्रहण करता हुआ क्षणान्तर का असम्बन्धी विकल्परूप है । वहाँ कहा जाता है कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उसके साथ यह सदृश है इस ज्ञान में ज्ञान का स्वरूपमात्र नहीं भासता है (उस–यह–सदृश) इन पदार्थों का इस ज्ञान में विषयरूप से ग्रहण होता है । तत्ता, इदन्ता, सदृशता तीनों भासते हैं । यदि प्रत्ययान्तर ही सादृश्य विषयक हो, और वस्तु की सदृशता को वह नहीं ग्रहण करता हो, स्वरूप का ग्रहण करता हो, तो उसके सदृश यह ऐसा वाक्य का प्रयोग अनर्थक होगा, सादृश्य है, इतना ही प्रयोग प्राप्त होगा । जब लोक प्रसिद्ध सादृश्यादि पदार्थ परीक्षकों से नहीं गृहीत (स्वीकृत) होगा, अर्थात् स्थिरात्मता के भय से यदि (तेन इदं सदृशम्) उससे यह सदृश है । इस ज्ञान से प्रकाशित तीन पदार्थ को नहीं मानेंगे, किन्तु क्षणिक विज्ञानमात्र ही को मानेंगे, तो परस्पर की वार्ता के अनभिज्ञ उन क्षणिकपरीक्षकों के बुद्धि सन्तान (प्रवाह) में स्वपक्ष सिद्धि वा परपक्ष दोष दोनों कहे गये भी आरूढ़ (निश्चित) नहीं होंगे । इसी प्रकार अपना दोष और परपक्ष की सिद्धि दोनों कहने पर भी अपने बुद्धि सन्तान में यथार्थरूप से नहीं आरूढ होंगे । अर्थात् प्रसिद्ध पदार्थ को माने बिना दृष्टान्तादि के

अभाव से कथित भी स्वपक्ष सिद्धि परपक्ष दोष परीक्षकों के या अपने बुद्धि संतान में यथार्थरूप से नहीं निश्चित होंगे। इसलिए प्रमाण से जो निश्चित हो कि यह अर्थ ऐसा है, उस प्रमाण से निश्चित को ही कहना चाहिए। उस प्रमाण निश्चित से अन्य कुछ भी कथित वस्तु केवल अपने प्रलापित्व (अनर्थक भाषित्व) को ही प्रख्यात कराता है। और आत्मा में जो यह प्रत्यभिज्ञारूप सोऽहम्, इत्यादि सम्यक् व्यवहार (शब्द प्रयोग) है, सो सादृश्य से होना युक्त नहीं है, क्योंकि मैं वह हूँ, इस प्रकार तद्भाव, भूत, वर्तमान काल में ऐक्यभाव का ज्ञान होता है, और उसके सदृश हूँ इस प्रकार सदृशता का ज्ञान नहीं होता है। बाह्य वस्तु में विप्रलम्भ (विसंवाद) के सम्भव से कभी संदेह हो सकता है कि वही यह है वा उसके सदृश अन्य है, उपलब्धा ज्ञाता में तो कभी संदेह भी नहीं होता है कि मैं वही हूँ वा उसके सदृश हूँ। क्योंकि जो मैंने पूर्वकाल में पूर्वदिन में देखा था वही मैं आज स्मरण करता हूँ इस प्रकार निश्चित तद्रूपता एकता की उपलब्धि होती है। अतः वैनाशिक का सिद्धान्त अनुपपन्न है ॥ २५ ॥

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायि कारणमनभ्युपगच्छतामभावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते। दर्शयन्ति चाभावाद्भावोत्पत्तिम्—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इति। विनष्टाद्धि किल बीजादङ्कुर उत्पद्यते, तथा विनष्टात्क्षीराद्दधि, मृत्पिण्डाच्च घटः। कूटस्थाच्चेत्कारणात्कार्यमुत्पद्येताविशेषात्सर्वं सर्वत उत्पद्येत। तस्मादभावग्रस्तेभ्यो बीजादिभ्योऽङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वादभावाद्भावोत्पत्तिरिति मन्यन्ते। तत्रेदमुच्यते—'नासतोऽदृष्टत्वात्' इति। नाभावाद्भाव उत्पद्यते, यद्यभावाद्भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात्कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात्। नहि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याभावस्य शशविषाणादीनां च निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन बीजादेवाङ्कुरो जायते क्षीरादेव दधीत्येवंजातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान्स्यात्। निर्विशेषस्य त्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन्, न चैवं दृश्यते। यदि पुनरभावस्यापि विशेषोऽभ्युपगम्येतोत्पलादीनामिव नीलत्वादिस्ततो विशेषवत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत्प्रसज्येत, नाप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः स्यात्, अभावत्वादेव शशविषाणादिवत्। अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्वितमेव सर्वं कार्यं स्यात्, न चैवं दृश्यते। सर्वस्य च वस्तुनः स्वेन स्वेन रूपेण भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात्। न च मृदन्विताः शरावादयो भावास्तन्त्वादिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। मृद्विकारानेव तु मृदन्वितान्भावांल्लोकः प्रत्येति।

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी वैनाशिक सिद्धान्त अनुपपन्न है कि जिससे स्थिर अनुयायी (कार्यान्वयी) कारण को नहीं मानने वालों के मत में अभाव से भाव की उत्पत्ति

होती है, यह प्रसंग प्राप्त होता है। वे लोग स्वयं अभाव से भाव की उत्पत्ति दर्शाते हैं कि कारण का उपमर्द नाश हुए बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है इससे विनष्ट बीज से ही अंकुर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विनष्ट दूध से दधि होता है और विनष्ट मृत्पिण्ड से घट होता है। यदि कूटस्थ (नाशरहित) कारण से कार्य उत्पन्न हो, तो अविशेषता से सब से सब उत्पन्न होने लगेगा। अर्थात् नित्य कार्योत्पादन में विशेषता बिना समर्थ होने से एक कारण सब कार्य को उत्पन्न कर देगा और विनष्ट से उत्पन्न होने पर तो कारण को विनष्ट करता हुआ ही एक कार्य उत्पन्न होता है इससे अन्य कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि कारण को स्थिर मानें और सहकारी के अधीन क्रम से कार्यों की उत्पत्ति मानें तो सहकारी को सहकारी की अपेक्षा होने पर अनवस्था की प्राप्ति होगी इत्यादि। उससे अभाव (ध्वंस) से ग्रस्त (विनष्ट) बीजादि से अंकुरादि की उत्पत्ति होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार वैनाशिक मानते हैं। वहाँ यह कहा जाता है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि अभावमात्र से उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। अर्थात् अभाव से भाव नहीं उत्पन्न होता है और यदि अभाव से भाव उत्पन्न हो तो अभावत्व के अविशेष (सामान्य) होने से बीज के अभाव को सर्वत्र तुल्य रहने से सर्वत्र अंकुर की उत्पत्ति होगी फिर अंकुर के लिए कारणविशेष का स्वीकार संग्रह अनर्थक होगा। क्योंकि नष्ट हो गये जो बीजादि उनका जो अभाव, उस अभाव को और शशश्रृङ्गादि को निःस्वभावत्व (स्वरूप रहितत्व) के तुल्य होने से अभाव में कोई विशेष (भेद) नहीं है, कि जिससे बीज से ही अंकुर उत्पन्न होता है और क्षीर से ही दधि होता है, इस प्रकार के कारणविशेष का स्वीकार सार्थक हो। निर्विशेष अभाव को कारणत्व (कारण स्वरूप) मानने पर शशश्रृङ्गादि से भी कार्य उत्पन्न होंगे, ऐसा देखा नहीं जाता है, जैसे कमल के नीलत्व, रक्तत्वादि विशेष (भेद) होते हैं, वैसे ही अभाव का भी विशेष मानो, तो विशेष वाला होने ही से अभाव को भी कमल आदि के समान भावत्व की प्राप्ति होगी। विशेषरहित अभाव, अभावत्व से ही शशश्रृङ्ग आदि के समान किसी की उत्पत्ति का हेतु नहीं हो सकता है। अभाव से यदि भाव की उत्पत्ति होती, तो सब कार्य अभाव से अन्वित (युक्त) ही होता, ऐसा देखा नहीं जाता है। सब वस्तु अपने-अपने भाव स्वरूप से ही उपलब्ध होते हैं और भावरूप से उपलब्ध होने से भावान्वित कार्य अभाव का विकार (कार्य) नहीं हो सकते। क्योंकि मृत्तिका से अन्वित घट, शराव आदि भावरूप पदार्थ, भावरूप तन्तु आदि के विकार हैं, ऐसे भी किसी से नहीं माने जाते हैं, फिर अभाव के विकार कैसे माने जा सकते हैं। मृत्तिका से अन्वित भावों को मृत्तिका के कार्य ही लोग समझते हैं, अभावादि के नहीं।

यत्तूक्तं–स्वरूपोपमर्दमन्तरेण कस्यचित्कूटस्थस्य वस्तुनः कारणत्वानुपपत्तेरभावाद्भावोत्पत्तिर्भवितुमर्हति–इति। तद् दुरुक्तम्, स्थिरस्वभावानामेव सुवर्णा-

दीनां प्रत्यभिज्ञायमानानां रुचकादिकार्यकारणभावदर्शनात्, येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमर्दो लक्ष्यते तेष्वपि नाऽसावुपमृद्यमाना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारणमभ्युपगम्यते, अनुपमृद्यमानानामेवानुयायिनां बीजाद्यवयवानामङ्कुरादिकारणभावाभ्युपगमात्, तस्मादसद्भ्यः शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात् सद्भ्यश्च सुवर्णादिभ्यः सदुत्पत्तिदर्शनादनुपपन्नोऽयमभावाद् भावोत्पत्त्यभ्युपगमः। अपि च चतुर्भिश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते, परमाणुभ्यश्च भूतभौतिकलक्षणः समुदाय उत्पद्यत इत्यभ्युपगम्य पुनरभावाद्भावोत्पत्तिं कल्पयद्भिरभ्युपगतमपह्नुवानैर्वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते ॥ २६ ॥

जो यह कहा है कि स्वरूप नाश के बिना किसी कूटस्थ वस्तु को कारणत्व की अनुपपत्ति से अभाव से ही भाव की उत्पत्ति होने योग्य है, यह कथन अयुक्त है। क्योंकि स्थिर स्वभाव वाले प्रत्यभिज्ञायमान (वही है ऐसी प्रतीति का विषय) सुवर्णादि को ही रुचकादि कार्यों का कारण रूप देखा जाता है, और सहकारी अग्नि आदि की समीपता के अनुसार क्रम से कार्य के हेतु प्रत्यक्ष दीखते हैं, इससे अनवस्था आदि दोष नहीं हैं। और जिन बीज आदिकों में स्वरूप का नाश दीखता है, उनमें भी विनष्ट होती हुई वह पूर्वावस्था (बीजरूपता) उत्तरावस्था (अंकुररूपता) का कारण नहीं मानी जाती है। किन्तु विनाशरहित कार्य में अनुगत होने वाले बीज आदि के अवयवों को ही अंकुरादि के कारण स्वरूप माना जाता है। जिससे असत् शशशृंग आदि से सत् की उत्पत्ति को नहीं देखने से तथा सत् सुवर्णादि से सत् की उत्पत्ति देखने से, यह अभाव से भाव की उत्पत्ति का अभ्युपगम (स्वीकार) अनुपपन्न (अयुक्त) है। और चार हेतुओं से चित्त और चैत्त उत्पन्न होते हैं और परमाणुओं से भूत भौतिक स्वरूप समुदाय उत्पन्न होता है, इस प्रकार मानकर फिर अभाव से भाव की उत्पत्ति की कल्पना करने वाले और स्वीकृत का अपलाप करने वाले वैनाशिकों से सब लोक व्याकुल किया जाता है।

उदासीनानामपि चवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

यदि चाभावाद्भावोत्पत्तिरभ्युपगम्येत, एवंसत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमतसिद्धिः स्यात्, अभावस्य सुलभत्वात्। कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रयतमानस्यापि सस्यनिष्पत्तिः स्यात्, कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याप्यमत्रोत्पत्तिः, तन्तुवायस्यापि तन्तूनतन्वानस्यापि तन्वानस्येव वस्त्रलाभः। स्वर्गापवर्गयोश्च न कश्चित्कथंचित्समीहेत। न चैतद्युज्यतेऽभ्युपगम्यते वा केनचित्। तस्मादप्यनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः ॥ २७ ॥

और यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति स्वीकार करें, तो ऐसा होने पर उदासीन चेष्टारहित जनों के भी अभिमत (इष्ट) कार्यों की सिद्धि होगी। क्योंकि अभाव रूप साधन सबको सर्वत्र सुलभ है। खेती कर्म वाले कृषक (किसान) को खेती कर्म में यत्न नहीं करने पर भी सस्य (फल-अन्न) की सिद्धि होगी। और मृत्तिका के संस्कार में यत्नरहित कुम्हार को भी अमत्र (घटादि रूप पात्र) की उत्पत्ति होगी। और जुलाहे

को भी तन्तुओं के ताना भरना नहीं करने पर भी ताना भरना करने वाले के समान वस्त्र का लाभ होगा। और स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए कोई किसी प्रकार चेष्टा नहीं करेगा। अभाव से ही स्वर्गादि की प्राप्ति समझेगा। परन्तु यह युक्त उचित नहीं हो सकता है, या ऐसा किसी से स्वीकार भी नहीं किया जाता है। अतः यह अभाव से भाव की उत्पत्ति का अभ्युपगम अनुपपन्न है ॥ २७ ॥

अभावाधिकरण (५)

विज्ञानस्कन्धमात्रत्वं युज्यते वा न युज्यते।
युज्यते स्वप्नदृष्टान्ताद् बुद्ध्यैव व्यवहारतः ॥ १ ॥
अबाधात्स्वप्नवैषम्यं बाह्यार्थस्तूपलभ्यते।
बहिर्वदिति तेप्युक्तिर्नातो धीरर्थरूपभाक् ॥ २ ॥

योगाचार नामक बुद्धमत में बुद्धि से भिन्न बाह्य अर्थ का अभाव कहते हैं परन्तु बाह्य अर्थ का अभाव नहीं है, यह बाह्य अर्थ की उपलब्धि से सिद्ध होता है ॥ प्रथम पंच स्कन्ध का वर्णन हुआ है, तदन्तरगत विज्ञान स्कन्धमात्रता ही सब बाह्याभ्यन्तर प्रपञ्च की युक्त हो सकती है अथवा नहीं हो सकती है, यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि स्वप्न के दृष्टान्त से बुद्धिमात्रता ही सब को युक्त हो सकती है, और स्वप्न के व्यवहार सदृश ही बुद्धि से ही जाग्रत् के सब व्यवहार होने के कारण व्यवहार का भी लोप नहीं होता है। स्वप्न के व्यवहार का बाध होता है जाग्रत् के व्यवहार का बाध नहीं होता है, इससे जाग्रत् को स्वप्न से विषमता है, और बुद्धि से भिन्न बाहर के अर्थ उपलब्ध होते हैं, इससे इनका अभाव नहीं है, तुम भो कहते हो, कि बुद्धि बाहर के सदृश भासती है, इससे उपमान रूप से तुम्हारी उक्ति में भी बाहर के अर्थ भासते हैं इससे असत् पदार्थ उपमान उपमेयादि भी नहीं हो सकते हैं। इससे बुद्धि अर्थरूपता को धारण करने वाली नहीं है ॥ वेदान्त में मायाशक्ति सहित अखंड ब्रह्म बाह्याभ्यन्तर जगत् का कारण है, और जगत् कारण रूप से सत् और स्वरूप से असत् है, तो भी व्यवहार में बाह्य अर्थ उपलब्धि के अनुसार बाहर है स्थिर है, स्वप्न के अर्थ इससे विपरीत हैं, और योगाचार का मत इस वेदान्त सिद्धान्त से विपरीत है ॥ १–२ ॥

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञानवादी बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठते। केषांचित्किल विनेयानां बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनुरोधेन बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता, नासौ सुगताभिप्रायः, तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एवाभिप्रेतः। तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेणान्तःस्थ एव प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः सर्व उपपद्यते। सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात्। कथं पुनरवगम्यतेऽन्तःस्थ एवायं सर्वव्यवहारो न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति, तदसंभवादित्याह। स हि बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यमानः परमाणवो वा स्युस्तत्समूहा वा स्तम्भा-

दयः स्युः। तत्र न तावत्परमाणवः स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्ति परमाण्वाभासज्ञानानुपपत्तेः। नापि तत्समूहाः स्तम्भादयः, तेषां परमाणुभ्यो-ऽन्यत्वानन्यत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात्। एवं जात्यादीनपि प्रत्याचक्षीत। अपि चानुभवमात्रेण साधारणात्मनो ज्ञानस्य जायमानस्य योऽयं प्रतिविषयं पक्षपातः स्तम्भज्ञानं कुड्यज्ञानं घटज्ञानं पटज्ञानमिति, नासौ ज्ञानगतविशेष-मन्तरेणोपपद्यत इत्यवश्यं विषयसारूप्यं ज्ञानस्याङ्गीकर्तव्यम्। अङ्गीकृते च तस्मिन्विषयाकारस्य ज्ञानेनैवावरुद्धत्वादपार्थिका बाह्यार्थसद्भावकल्पना। अपि च सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोरापतति, न ह्यनयोरेकस्यानुपलम्भे-ऽन्यस्योपलम्भोऽस्ति, नचैतत्स्वभावविवेके युक्तं प्रतिबन्धकारणाभावात्, तस्मादप्यर्थाभावः। स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथाहि स्वप्नमायामरीच्युदक-गन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्यग्राहकाकारा भवन्ति, एवं जाग-रितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्तीत्यवगम्यते, प्रत्ययत्वाविशेषात्। कथं पुनरसति बाह्यार्थे प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते, वासनावैचित्र्यादित्याह। अनादौ हि संसारे बीजांकुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यं न विप्रतिषिध्यते। अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव ज्ञानवैचित्र्यमित्यवगम्यते, स्वप्नादिष्वन्तरेणाप्यर्थं वासनानिमित्तस्य ज्ञानवैचि-त्र्यस्योभाभ्यामप्यावाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात् अन्तरेण तु वासनामर्थनिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्य मयानभ्युपगम्यमानत्वात्, तस्मादप्यभावो बाह्यार्थस्येति।

इस पूर्व रीति से बाह्य अर्थवाद का आश्रयण करके समुदाय को अप्राप्ति आदि रूप दोषों को उद्भावित (प्रकटित) करने पर, विज्ञानवादी बौद्ध अब इस समय प्रति-वादी रूप से उपस्थित होता है कि कितने शिष्यों का बाह्य वस्तु में ही अभिनिवेश (आग्रह) देख कर उसके अनुरोध (अनुवर्तन) से उनकी इष्ट सिद्धि के लिए यह बाह्यार्थवाद की प्रक्रिया बिरचित हुई है। वस्तुतः यह सुगत (बुद्ध) का अभिप्राय नहीं है, उस सुगत को तो विज्ञान रूप एक स्कन्धवाद ही अभिप्रेत है। और उस विज्ञानवाद में बाह्यार्थ के बिना ही बुद्धि में आरूढ़ (स्थिर) रूप से अन्तर में स्थिर ही प्रमाण प्रमेय और फल इन सबका व्यवहार उपपन्न सिद्ध होता है। अर्थात् विज्ञान ही अवभा-सन शक्ति रूप से प्रमाण होता है, कल्पित वस्तु रूप से प्रमेय होता है, अवभास रूप से प्रमाण का फल होता है, शक्ति का आश्रय रूप से प्रमाता होता है इससे सब व्यवहार सिद्ध होता है। क्योंकि बाह्य अर्थ के रहने पर भी उन्हें बुद्धि में आरूढ़ (प्राप्त स्थिर) हुए बिना प्रमाणादि का व्यवहार नहीं होता है। अर्थात् बुद्धि में आरूढ़ ही बाह्यार्थ प्रमेय होता है, तब उसके अधीन प्रमाणादि का व्यवहार होता है। अन्यथा व्यवहार का अवतार (जन्म) नहीं होता है। यदि कोई कहे कि यह कैसे समझा जाता है कि अन्तरस्थ ही यह सब व्यवहार है, और विज्ञान से भिन्न बाह्य अर्थ नहीं है, तो कहते हैं कि बाह्य अर्थ को असम्भव से समझा जाता है। जिससे माना गया हुआ वह बाह्य

अर्थ परमाणु स्वरूप ही होगा, अथवा परमाणुओं के समूह स्तम्भादि स्वरूप होगा। उनमें प्रथम परमाणु स्तम्भादि ज्ञान के परिच्छेद्य (विषय) होने योग्य नहीं है, क्योंकि परमाणु का आभास हो जिसमें ऐसा परमाणु के आकार वाले ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, परमाणु अतीन्द्रिय हैं, इससे परमाणु रूप से स्तम्भादि का इन्द्रियजन्य ज्ञान अनुपपन्न है। परमाणुओं के समूहरूप भी स्तम्भादि नहीं हैं, क्योंकि परमाणु से भिन्न रूप से वा अभिन्न रूप से उन समूहों का निरूपण करना अशक्य है, क्योंकि परमाणु से अभिन्न होंगे तो परमाणुरूप ही होंगे, इससे प्रत्यक्ष नहीं हो सकेंगे, और कथञ्चित् प्रतीति भी होगी तो उसे परमाणु आकारवाली होनी चाहिए। और परमाणु से अत्यन्त भिन्न होने पर गो अश्व के समान परमाणु और उसके समूह में अत्यन्त विलक्षणता होने से तादात्म्य नहीं होगा। और इसी प्रकार विज्ञानवादी जाति आदि का भी प्रत्याख्यान करेगा कि जाति आदि का धर्मी से अत्यन्त अभेद वा अत्यन्त भेद मानने पर धर्म धर्मी भाव नहीं हो सकता है। इससे जाति आदि नहीं हैं। और पदार्थ का अनुभव-मात्र रूप से साधारण स्वरूप वाले जायमान (उत्पन्न) ज्ञान का जो यह प्रत्येक विषय में, स्तम्भज्ञान, कुडयज्ञान, घटज्ञान, पटज्ञान, इस प्रकार का पक्षपात (विषययुक्त व्यवहार) होता है, वह ज्ञानगत विशेष के बिना उपपन्न नहीं हो सकता है। इससे ज्ञान की विषयस्वरूपता को अवश्य अंगीकार (स्वीकार) करना होगा, और उस ज्ञान में विषयाकार को अङ्गीकार करने पर, विषयाकार ज्ञान से ही विषय के अवरुद्ध आच्छादित होने से बाह्यार्थ के सद्भाव (सत्ता) की कल्पना निरर्थक है। और साथ ही ज्ञान के नियम से भी क्षणिक विषय और विज्ञान को अभेद, प्राप्त, सिद्ध होता है, जिससे इन दोनों में से एक का अनुपलम्भ (अज्ञान) रहते अन्य का उपालम्भ नहीं होता है। और विषय और विज्ञान के स्वभाव (स्वरूप) का भेद रहते ऐसा होना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्ध कारण का अभाव है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषय और विज्ञान की प्रतीति में प्रतिबन्धक के नहीं रहते भी साथ उपलब्धि के नियम से भी बाह्य अर्थ का अभाव है। और इस जाग्रत् कालिक विज्ञान को स्वप्न आदि ज्ञान के समान बाह्य विषयादि से रहित समझना चाहिये कि जैसे स्वप्न, माया, मरीचिजल, गंधर्वनगर, आदि के ज्ञान बाह्य अर्थ के बिना ही ग्राह्यग्राहक (विषय ज्ञान) आकार वाले होते हैं, इसी प्रकार ज्ञानत्व की तुल्यता से जाग्रत्कालिक भी स्तम्भादि के ज्ञान बाह्यार्थ के बिना ही होने के योग्य हैं ऐसा समझा जाता है। यदि कोई कहे कि बाह्यार्थ के नहीं रहने पर ज्ञान की विचित्रता कैसे सिद्ध होती है, तो विज्ञानवादी कहता है कि वासना की विचित्रता से ज्ञान में विचित्रता होती है। जिससे अनादि संसार में बीज और अंकुर के समान विज्ञानों और वासनाओं का परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर विचित्रता प्रतिषिद्ध नहीं होती है। और दूसरी बात यह है कि वासना निमित्तक ही ज्ञान की विचित्रता अन्वय व्यतिरेक द्वारा भी अवगत (अनुभूत)

होती है। क्योंकि स्वप्नादि में अर्थ के बिना भी वासना निमित्तक ज्ञान की विचित्रता को वादी प्रतिवादी दोनों मानते हैं, इससे वह दोनों से स्वीकृत है। और वासना के बिना अर्थनिमित्तक ज्ञान की विचित्रता को मैं नहीं मानता हूँ, इससे वह हम से अस्वीकृत है, इससे भी बाह्य अर्थ का अभाव है ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'नाभाव उपलब्धेः' इति। न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते। कस्मात्? उपलब्धेः। उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति, न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति। यथा हि कश्चिद्भुञ्जानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयान्नाहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रियसंनिकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन्कथमुपादेयवचनः स्यात्। ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति, किं तूपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि। बाढमेवं ब्रवीषि निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य, न तु युक्त्युपेतं ब्रवीषि, यत उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याभ्युपगन्तव्य उपलब्धेरेव। नहि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते, उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन्सर्वे लौकिका उपलभन्ते। अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासत इति। तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धां बहिरवभासमानां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारं कुर्वन्ति, इतरथा हि कस्माद्बहिर्वदिति ब्रूयुः। नहि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत। तस्माद्यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुं न तु बहिर्वदवभासत इति।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (नाभाव उपलब्धेः) इति। बाह्य अर्थ के अभाव का अध्यवसाय निश्चय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि बाह्यार्थ की उपलब्धि से बाह्यार्थ सिद्ध होता है, जिससे प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ, कुड्य, घट, पट इत्यादि बाह्यार्थ उपलब्ध ज्ञात होता है, और उपलभ्यमान का ही अभाव होने योग्य नहीं है और जैसे कोई भोजन करता हुआ और भोजन से साध्य (जन्य) तृप्ति को स्वयं अनुभव करता हुआ अर्थात् अनुभूत तृप्ति के वर्तमान रहते भी इस प्रकार कहे कि मैं भोजन नहीं करता हूँ, वा तृप्त नहीं होता हूँ। इसी प्रकार इन्द्रियों के सम्बन्ध द्वारा बाह्यार्थ को स्वयं जानता अनुभव करता हुआ ही मैं बाह्य अर्थ को नहीं जानता हूँ, और वह बाह्य अर्थ नहीं है, इस प्रकार कहता हुआ वह किस प्रकार से उपादेय (ग्राह्य) वचन वाला होगा। और यदि वह कहे कि मैं इस प्रकार नहीं कहता हूँ कि मैं किसी अर्थ को नहीं जानता हूँ; किन्तु यह कहता हूँ कि ज्ञान से भिन्न अर्थ को नहीं जानता हूँ। तो उससे कहा जाता है कि तुम इस प्रकार सत्य कहते हो, क्योंकि तेरा तुण्ड (मुख)

निरंकुश (स्वतन्त्र) है, परन्तु युक्तियुक्त नहीं कहते हो, जिससे उपलब्धि से ही अर्थ का उपलब्धि से व्यतिरेक (भेद) भी बलात् (अवश्य) अवगम करने योग्य है, समझने लायक है। क्योंकि कोई भी ज्ञान को ही स्तम्भ कुडच नहीं समझता है, किन्तु सब लौकिक पुरुष ज्ञान के विषय रूप से ही स्तम्भ कुडचादि को जानते हैं। और इस वक्ष्यमाण हेतु से भी इसी प्रकार ज्ञान के विषय रूप से ही बाह्य अर्थ को सब लौकिक पुरुष जानते हैं कि जिससे बाह्य अर्थ का प्रत्याख्यान (निषेध) करने वाले भी बाह्य अर्थ का ही व्याख्यान करते हैं कि जो अन्तर में ज्ञेय रूप वस्तु विज्ञान है, सो बाहर घटपटादि के समान भासता है इत्यादि। वे प्रत्याख्यान करने वाले भी सर्वलोक प्रसिद्ध बाहर प्रकाशमान संविद (उपलब्धि) को जानते हुए और उसके प्रत्याख्यान के लिए इच्छा भी करते हुए बाह्य अर्थ को वहिर्वत् इस प्रकार कहते हुए वत्कार करते हैं, निषेध के लिए बाह्यार्थ विज्ञान को बाह्य सदृश कहते हैं। अन्यथा यदि सर्व लोक प्रसिद्ध बाह्य बुद्धि का अनुभव उन्हें नहीं होता, तो बहिर्वद् इस प्रकार किस हेतु से कहते। क्योंकि विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्र के समान भासता है, ऐसा कोई नहीं कहता है, इसलिए अनुभव के अनुसार सत्त्व (पदार्थ) को मानने वालों को बाहर ही पदार्थ भासता है ऐसा मानना स्वीकार करना युक्त है, बाहर के समान भासता है, ऐसा मानना युक्त नहीं है।

ननु बाह्यस्यार्थस्यासंभवाद्बहिर्वदवभासत इत्यध्यवसितम्। नायं साधुरध्यवसायो यतः प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवाववधार्येते न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती। यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेनापि प्रमाणेनोपलभ्यते तत्संभवति, यत्तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते तन्न संभवति। इह तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पैर्न संभवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव। न च ज्ञानस्य विषयसारूप्याद्विषयनाशो भवति, असति विषये विषयसारूप्यानुपपत्तेः, बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य। अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुक इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अपि च घटज्ञानं पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न विशेष्यस्य ज्ञानस्य, यथा शुक्लो गौः कृष्णो गौरिति शौक्ल्यकार्ष्ण्ययोरेव भेदो न गोत्वस्य, द्वाभ्यां च भेद एकस्य सिद्धो भवत्येकस्माच्च द्वयोः, तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः। तथा घटदर्शनं घटस्मरणमित्यत्रापि प्रतिपत्तव्यम्, अत्रापि हि विशेष्ययोरेव दर्शनस्मरणयोर्भेदो न विशेषणस्य घटस्य। यथा क्षीरगन्धः क्षीररस इति विशेष्ययोरेव गन्धरसयोर्भेदो न विशेषणस्य क्षीरस्य तद्वत्। अपि च द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः स्वसंवेदनेनैवोपक्षीणयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः, ततश्च विज्ञानभेदप्रतिज्ञा क्षणिकत्वादिधर्मप्रतिज्ञा स्वलक्षणसामान्यलक्षणवास्यवासकत्वाविद्योपप्लवसदसद्धर्मबन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च स्वशास्त्रगतास्ता हीयेरन्। किंचान्यत्, विज्ञानं विज्ञानमित्यभ्युपगच्छता बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुडयमित्येवंजातीयकः कस्मान्नाभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम्। विज्ञानमनुभूयत

इति चेत् । बाह्योऽप्यथाऽनुभूयत एवेति युक्तमभ्युपगन्तुम् । अथ विज्ञानं प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपवत्स्वयमेवानुभूयते न तथा बाह्योऽप्यर्थ इति चेत् । अत्यन्तविरुद्धां स्वात्मनि क्रियामभ्युपगच्छस्यग्निरात्मानं दहतीतिवत्, अविरुद्धं तु लोकप्रसिद्धं स्वात्मव्यतिरिक्तेन विज्ञानेन बाह्योऽर्थोऽनुभूयत इति नेच्छस्यहो पाण्डित्यं महद्शितम् । न चार्थाव्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादेव ।

यदि कहो कि बाह्य अर्थ का असम्भव से, बाहर के समान विज्ञान भासता है यह निश्चय किया गया है । तो कहा जाता है कि यह अध्यवसाय साधु (चारु-सुन्दर) नहीं है, जिससे प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पूर्वक प्रमाणाधीन पदार्थ के सम्मव (सत्यत्व) और असम्मव (असत्यत्व) अवधारित (निश्चित) किये जाते हैं । पदार्थ के सम्मव असम्मव पूर्वक प्रमाण की प्रवृत्ति अप्रवृत्ति अवधारित नहीं होती है । प्रत्यक्षादि प्रमाणों में किसी एक प्रमाण से भी जो उपलब्ध (ज्ञात) होता है वह सत्य है जो किसी प्रमाण से भी नहीं उपलब्ध होता है उसका सम्मव (सत्ता) नहीं है । यहाँ बाह्य देश में तो अपने अपने स्वरूप के अनुसार सभी प्रमाणों से उपलभ्यमान बाह्य पदार्थ हैं, स्वकारण से व्यतिरेक अव्यतिरेक (भेदाभेद) आदि विकल्पों के द्वारा उनका सम्मव नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है, उपलब्धि से ही ऐसा नहीं कहा जा सकता है । ज्ञान की विषयसरूपता से विषय का नाश नहीं होता है, विषय के नहीं रहने पर ज्ञान में विषय सरूपता की अनुपपत्ति से विषयाकार ज्ञान का विषय हेतु है, उसके नहीं रहते तदाकार ज्ञान ही नहीं हो सकता और विषय की बाहर उपलब्धि होती है, इससे विषय अन्तर्वर्ती विज्ञान रूप नहीं हो सकता है । जिससे ज्ञान और विषय का भेद अनुमव सिद्ध है इसी से ज्ञान और विषय के साथ उपलब्धि का नियम भी उपाय उपेय माव हेतुक है, ऐसा समझना चाहिए, अभेद हेतुक है ऐसा नहीं समझना चाहिए । दूसरी बात है कि घटज्ञान-पटज्ञान, यहाँ विशेषण घट पट का ही भेद है, विशेष्य ज्ञान का भेद नहीं है, जैसे कि शुक्ल गौ-कृष्ण गौ, यहाँ शुक्लता कृष्णता का भेद है, गोत्व का भेद नहीं है । दो से एक का भेद सिद्ध होता है, तथा एक से दो का भेद सिद्ध होता है, इससे अर्थ और ज्ञान का भेद है । इसी प्रकार घटदर्शन-घटस्मरण, यहाँ भी समझना चाहिए कि यहाँ भी विशेष्य दर्शन और स्मरण का ही भेद है, विशेषण घट का भेद नहीं है । जैसे कि क्षीरगन्ध-क्षीररस, यहाँ विशेष्य गन्ध और रस का ही भेद है, विशेषण क्षीर का भेद नहीं है, ऐसा समझना चाहिए । और पूर्वोत्तर काल में वर्तमान दो विज्ञानों को स्वप्रकाश होने से स्वमात्र के संवेदन से ही क्षणिकत्व के कारण उपक्षीण नष्ट होने से परस्पर ग्राह्यत्व ग्राहकत्व की अनुपपत्ति है, ग्राह्य ग्राहक भाव स्वीकृत भी नहीं है । इससे पूर्वोत्तर कालिक विज्ञान के भेद की प्रतिज्ञा स्थायी ज्ञाता बिना नहीं वन सकती है । इसी प्रकार साध्यहेतु दृष्टादि के ज्ञान के बिना क्षणिकत्वादि धर्म की प्रतिज्ञा नहीं बन सकती है । और सबसे व्यावृत्त व्यक्ति मात्रत्व रूप स्वलक्षण की, और

अनेकानुगत अतद् व्यावृत्त रूप सामान्य की, उत्तरज्ञान रूप वास्य और पूर्वज्ञान रूप वासक की, अविद्या के उपप्लव (सम्बन्ध) से सत् और असत् धर्म की, अज्ञान से बन्ध की, और ज्ञान से मोक्ष की इत्यादि अनेक के ज्ञानाधीन होनेवाली स्वशास्त्रगत प्रतिज्ञाएँ नहीं सिद्ध हो सकती हैं। इससे ये सब प्रतिज्ञाएँ नष्ट होंगी, अतः ग्राहकादि का भेद मानना चाहिए। भेद में अन्य कारण है कि विज्ञान मात्र ही विषय रहित विज्ञान है, इस प्रकार मानने वाला, स्तम्भ कुडच इत्यादि रीति से भिन्न भासने वाले बाह्य पदार्थों को किस हेतु से नहीं मानता है यह उसे कहना चाहिए। यदि कहे कि विज्ञान अनुभूत होता है, इससे विज्ञान को मानते हैं, तो कहा जाता है कि बाह्य अर्थ भी अनुभूत ही होते हैं, इससे उनका भी स्वीकार करना युक्त है। यदि कहे कि प्रदीप के समान प्रकाशात्मक होने से विज्ञान स्वयं अनुभूत होता है, बाह्य अर्थ वैसे अनुभूत नहीं होता है। तो उससे कहा जाता है कि अग्नि अपने को जलाती है। इसके समान अत्यन्त विरुद्ध आत्मा में प्रकाश क्रिया मानते हो। अविरुद्ध तथा लोकप्रसिद्ध, वस्तुस्वरूप से भिन्न विज्ञान से बाह्य अर्थ अनुभूत होता है इस वचन को नहीं मानना चाहते हो। इससे आश्चर्य स्वरूप महत् पाण्डित्य को तुमने प्रदर्शित किया है। स्वात्मा में क्रिया के विरोध से ही अर्थ से अभिन्न भी विज्ञान स्वयं ही नहीं अनुभूत होता है।

ननु विज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तग्राह्यत्वे तदप्यन्येन ग्राह्यं तदप्यन्येनेत्यनवस्थां प्राप्नोति। अपि च प्रदीपवदवभासात्मकत्वाज्ज्ञानस्य ज्ञानान्तरं कल्पयतः समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तेः कल्पनानर्थक्यमिति। तदुभयमप्यसत्। विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिणो ग्रहणाकांक्षानुत्पादादनवस्थाशङ्कानुपपत्तेः, साक्षिप्रत्यययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्ध्रुपलभ्यभावोपपत्तेः स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्। किंचान्यत् प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथत इति ब्रुवता प्रमाणागम्यं विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात्, शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत्। बाढमेवम्, अनुभवरूपत्वात्तु विज्ञानस्येष्टो नः पक्षस्त्वयाऽनुज्ञायत इति चेत्। न। अन्यस्यावगन्तुश्चक्षुःसाधनस्य प्रदीपादिप्रथनदर्शनात्, अतो विज्ञानस्याप्यवभास्यत्वाविशेषात्सत्येवान्यस्मिन्नवगन्तरि प्रथनं प्रदीपवदित्यवगम्यते। साक्षिणोऽवगन्तुश्च स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाश्रित इति चेत्। न, विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात्। अतः प्रदीपवद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम् ॥ २८ ॥

यदि कहो कि विज्ञान स्वयं नहीं अनुभूत होगा तो अन्य से ग्राह्यत्व (अनुभूतत्व) होने पर वह अन्य भी किसी अन्य से ग्राह्य होगा, फिर वह भी किसी अन्य से ग्राह्य होगा, तो अनवस्था की प्राप्ति होगी। दूसरी बात है कि प्रदीप के समान ज्ञान को अवभास (प्रकाश) स्वरूप होने से ज्ञान विषयक ज्ञानान्तर की कल्पना करने वालों के ज्ञानों

की समता से अवभास्य अवभासक भाव की असिद्धि से कल्पना में अनर्थकता होगी, तो कहा जाता है कि अनवस्था और समता से अनर्थकता रूप दोनों ही दोष शंका असत् हैं, नहीं हैं। क्योंकि विज्ञान के साक्षी को विज्ञान के ग्रहण मात्र होने पर ग्रहण की आकाङ्क्षा की अनुत्पत्ति से अनवस्था शंका की अनुपपत्ति है। साक्षी और ज्ञान को स्वभाव की विषमता से, उपलब्धा (ज्ञाता) और उपलभ्य (ज्ञेय) भाव की उपपत्ति (सिद्धि) है। स्वयं सिद्ध नित्य साक्षी प्रत्याख्यान का विषय नहीं हो सकता है। दूसरी बात है कि प्रदीप के समान विज्ञान अन्य अवभासक की अपेक्षा के बिना ही स्वयं प्रकाशता है इस प्रकार कहनेवाले से यह कथन सिद्ध होगा कि विज्ञान प्रमाण से अगम्य है और अवगन्ता रहित है। इस प्रकार प्रमाण प्रमाता से रहित होने से शिला-घन (संघात) के मध्यस्थ दीप सहस्र के प्रकाशों के तुल्य है, अर्थात् असत् है। यदि कहो कि इस प्रकार से विज्ञान को प्रमाण प्रमाता शून्य होना सत्य ही है। प्रमाता आदि के बिना भी स्वयं अनुभव रूप होने से वह सत्य है। इस विज्ञान रूप को शिलादीप प्रथन तुल्य प्रमाणादि रहित मानने वाले तुमने हमारे इष्ट पक्ष का स्वीकार किया है, तो कहा जाता है कि यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि चक्षु आदि साधन वाला दीप से अन्य अवगन्ता (ज्ञाता) को प्रदीपादि प्रकाश का दर्शन ज्ञान होता। प्रदीप को प्रदीप का दर्शन नहीं होता है। इस उत्पत्ति नाशवाले विज्ञान को भी अवभास्यत्व की तुल्यता से अन्य अवगन्ता साक्षी के रहते ही दीप के समान प्रकाश होता है, ऐसी प्रतीति होती है। यदि कहो कि अवगन्ता साक्षी की स्वयंसिद्धता का उपक्षेप (अंगीकार) करते हुए तुमने विज्ञान स्वयं प्रकाशता है, इस मेरे ही पक्ष का वाक् सम्बन्धी अन्य युक्ति (योजना) से आश्रयण किया है। अर्थात् शब्दान्तर से मेरे ही पक्ष को तुमने माना है, तो ऐसा कहना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि तुम विज्ञान को उत्पत्तिध्वंस अनेकत्वादि विशेष (भेद) वाला मानते हो। इसी से प्रदीप के समान भिन्न से अवभास्यत्व को हमने सिद्ध किया है। अर्थात् वृत्तिरूप विज्ञान को क्षणिक नहीं मानकर भी उसकी उत्पत्ति को हम भी मानते हैं, उसका प्रकाशक साक्षी प्रसाधित किया गया है ॥ २८ ॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

यदुक्तं—बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादि-प्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषात्–इति, तत्प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते। न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम–इति, न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। न

चैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्, स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि नोपलभे उपलब्धुमिच्छामीति। तत्रैवंसति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात्स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता। न च स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिर्युक्तः कर्तुम्। अपि चानुभवविरोधप्रसङ्गाज्जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुमशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्याद् वक्तुमिष्यते। नहि यो यस्य स्वतो धर्मो न संभवति सोऽन्यस्य साधर्म्यात्तस्य संभविष्यति। न ह्यग्निरुष्णोऽनुभूयमान उदकसाधर्म्याच्छीतो भविष्यति। दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः ॥ २९ ॥

बाह्य अर्थ का अपलाप करने वाले (अभाव कहने वाले) ने जो कहा है कि स्वप्नादि ज्ञान के समान, जाग्रत् काल के भी स्तम्भादि के ज्ञान, ज्ञानरूपता की अविशेषता (तुल्यता) से बाह्य अर्थ के बिना ही होंगे, उसका प्रत्युत्तर कहना चाहिए, इससे यहाँ कहा जाता है कि स्वप्नादि ज्ञान के समान जाग्रत् के ज्ञान होने योग्य नहीं हैं। क्योंकि दोनों में वैधर्म्य (विरोधी धर्मवत्ता) है, जिससे जाग्रत् स्वप्न को वैधर्म्य होता ही है। यदि कहो कि वैधर्म्य क्या है तो कहते हैं कि बाध और अबाध वैधर्म्य है। जिससे स्वप्न से जागे हुए को स्वप्न में उपलब्ध (ज्ञात) वस्तु बाधित होती है कि मुझे स्वप्न में महाजन का समागम मिथ्या उपलब्ध (ज्ञात-प्राप्त) हुआ था, मुझे महाजन का समागम नहीं है, किन्तु निद्रा से ग्लान (क्षीण) मेरा मन हुआ था, इससे यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई थी। इसी प्रकार माया आदि में भी यथायोग्य बाध होता है। जाग्रत् काल में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तु किसी अवस्था में इस प्रकार बाधित नहीं होती है। और जो यह स्वप्न दर्शन है, वह संस्कार जन्य होने से स्मृति तुल्य है, जाग्रत् का ज्ञान उपलब्धि (प्रमाणजन्य) है। स्मृति और उपलब्धि में अर्थ का विप्रयोग और संप्रयोग स्वरूप अन्तर (भेद) प्रत्यक्ष स्वयं अनुभव किया जाता है कि इष्ट पुत्र का स्मरण करता हूँ, उपलम्भ नहीं करता हूँ, उपलम्भ करना चाहता हूँ इत्यादि। वहां जाग्रत् स्वप्न का इस प्रकार भेद होते और उन दोनों के भेद को स्वयं अनुभव करते हुए पुरुष नहीं कह सकते कि जागरित काल की उपलब्धि, उपलब्धि होने से स्वप्नोपलब्धि के समान मिथ्या है। क्योंकि प्राज्ञमानी (पण्डितमानी) लोगों से अपने अनुभव का अपलाप करना युक्त नहीं है। दूसरी बात है कि अनुभव के साथ विरोध के भय से विरोध की प्राप्ति से, जागरित ज्ञानों की निरालम्बनता (विषयशून्यता) स्वतः नहीं कह सकने पर स्वप्न ज्ञान की तुल्यता से कहना चाहते हैं, यदि जाग्रत ज्ञान को निरालम्बनता प्रत्यक्ष होती तो दृष्टान्त की जरूरत नहीं होती। जिससे अग्नि को दृष्टान्त से उष्ण नहीं सिद्ध किया जाता है। दृष्टान्त का ग्रहण करने पर भी जो

धर्म जिसका स्वतः सम्भव नहीं होगा, वह अन्य के साधर्म्य से भी उसका धर्म नहीं हो सकता है। क्योंकि उष्ण अनुभूयमान अग्नि किसी अंश में जल के साथ साधर्म्य से शीत नहीं हो सकती है। स्वप्न जाग्रत के बाध और अबाध रूप वैधर्म्य प्रदर्शित करा चुके हैं ॥ २९ ॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

यदप्युक्तं—विनाप्यर्थेन ज्ञानवैचित्र्यं वासनावैचित्र्यादेवावकल्प्यत-इति, तत्प्रतिवक्तव्यम् । अत्रोच्यते । भावो वासनानामुपपद्यते त्वत्पक्षेऽनुपलब्धेर्बाह्यानामर्थानाम् । अर्थोपलब्धिनिमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासना भवन्ति, अनुपलभ्यमानेषु किंनिमित्ता विचित्रा वासना भवेयुः, अनादित्वेऽप्यन्धपरम्परान्यायेनाप्रतिष्ठैवानवस्था व्यवहारविलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः । यावप्यन्वयव्यतिरेकावर्थापलापिनोपन्यस्तौ वासनानिमित्तमेवेदं ज्ञानजातं नार्थनिमित्तमिति, तावप्येवंसति प्रयुक्तौ द्रष्टव्यौ, विनाऽर्थोपलब्ध्या वासनानुत्पत्तेः । अपि च विनापि वासनाभिरर्थोपलब्ध्युपगमाद्विना त्वर्थोपलब्ध्या वासनोत्पत्त्यनभ्युपगमादर्थसद्भावमेवान्वयव्यतिरेकावपि प्रतिष्ठापयतः । अपि च वासना नाम संस्कारविशेषाः, संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते, एवं लोके दृष्टत्वात्, न च तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

और जो यह भी कहा है कि अर्थ के विना भी वासना की विचित्रता से ही ज्ञान में विचित्रता की सिद्धि हो सकती है, उसका प्रत्युत्तर कहना चाहिये, इससे यहाँ कहा जाता है कि तेरे पक्ष में वाह्य अर्थ की अनुपलब्धि से वासनाओं का भाव नहीं उपपन्न (सिद्ध) हो सकता है। जिससे अर्थ की उपलब्धि निमित्तक ही प्रत्येक अनुभूत अर्थ विषयक नानारूप वाली वासनायें होती हैं, अर्थों के अनुपलभ्यमान (अज्ञात) रहते किस निमित्त से विचित्र वासनायें होंगी। यदि बाह्य अर्थ की उपलब्धि के बिना भी बीजांकुर के समान वासना और ज्ञान की विचित्रता का अनादि प्रवाह माना जाय, तो वासना के और प्रवाह के अनादि होने पर भी अन्धपरम्परान्याय से व्यवहार लोप करने वाली निर्मूल सीमारहित अनवस्था ही होगी, और अभिप्राय नहीं सिद्ध होगा। अर्थात् बीज से अंकुर की उत्पत्ति देखी जाती है, इससे अदृष्ट बीजांकुर में भी कार्य कारण भाव की कल्पना होती है, यहाँ तो उपलब्धि के बिना अर्थ ज्ञान रहित को वासना की उत्पत्ति नहीं देखी गई है, इससे उपलब्धि निरपेक्ष वासना सर्वथा कल्पित है, उससे ज्ञानगत विचित्रता नहीं सिद्ध हो सकती है, बाह्य अर्थ का अपलाप करने वाले ने जो स्वप्न के दृष्टान्त के अन्वय और व्यतिरेक का उपन्यास (कथन) किया है कि स्वप्न के समान वासना निमित्तक यह ज्ञान समूह होता है, वासना के नहीं रहने पर अर्थ निमित्तक ज्ञान नहीं होता है। सो अन्वय व्यतिरेक भी वासना के बाह्यार्थानुभवजन्यत्व सिद्ध होने पर प्रत्याख्यात (खण्डित) हो गया ऐसा समझना चाहिए क्योंकि

अर्थोपलब्धि के बिना वासना की उत्पत्ति नहीं होती है। प्रथम अनुपलब्ध नवीन अपूर्व अर्थ का वासनाओं के बिना भी ज्ञान प्राप्त होने से और अर्थ की उपलब्धि के बिना वासना की उत्पत्ति की अप्राप्ति से अन्वय व्यतिरेक भी अर्थ की सत्ता को ही स्थिर करते हैं। और संस्कार विशेष रूप वासना प्रसिद्ध है, और आश्रय के बिना वेगादि रूप संस्कार सिद्ध नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा जाता है। तेरे मत में प्रमाण से अनुपलब्धि के कारण कोई आश्रय नहीं है ॥ ३० ॥

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

यदप्यालयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं तदपि क्षणिकत्वाभ्युपगमादनवस्थितस्वरूपं सत्प्रवृत्तिविज्ञानवन्न वासनानामधिकरणं भवितुमर्हति। न हि कालत्रयसंबन्धिन्येकस्मिन्नन्वयिन्यसति कूटस्थे वा सर्वार्थदर्शिनि देशकालनिमित्तापेक्षवासनाधानस्मृतिप्रतिसन्धानादिव्यवहारः संभवति। स्थिरस्वरूपत्वे त्वालयविज्ञानस्य सिद्धान्तहानिः। अपि च विज्ञानवादेऽपि क्षणिकत्वाभ्युपगमस्य समानत्वाद्यानि बाह्यार्थवादे क्षणिकत्वनिबन्धनानि दूषणान्युद्भावितानि 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्येवमादीनि तानीहाप्यनुसन्धातव्यानि। एवमेतौ द्वावपि वैनाशिकपक्षौ निराकृतौ बाह्यार्थवादिपक्षो विज्ञानवादिपक्षश्च। शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते। न ह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभावे उत्सर्गप्रसिद्धेः ॥ ३१ ॥

और अहम् इस प्रकार वाला आत्मा रूप जो आलय विज्ञान नाम भी वासनाओं के आश्रय रूप से परिकल्पित है, सो भी क्षणिकत्व के स्वीकार से अनवस्थित स्वरूप होता हुआ प्रवृत्ति विज्ञान (घट पटादि का ज्ञान) के समान वासनाओं का अधिकरण होने योग्य नहीं है। क्योंकि तीनों काल के साथ सम्बन्ध वाला एक अन्वयी सर्वार्थदर्शी कूटस्थ वा स्थायी के नहीं रहने पर, देश, काल और निमित्त की अपेक्षा पूर्वक वासना का आधान (स्थापन) और वासनामूलक स्मृति तथा प्रतिसंधान (प्रत्यभिज्ञा) और तन्मूलक व्यवहार नहीं हो सकते हैं। विज्ञान का संतान भी कोई वस्तु नहीं है कि जिसमें वासना आदि रह सकें। आलय विज्ञान के स्थिरस्वभावत्व को स्वीकार करने पर सिद्धान्त की हानि होगी। विज्ञानवाद में भी क्षणिकत्वाभ्युपगम (स्वीकृति) की तुल्यता से क्षणिक बाह्यार्थवाद में जो क्षणिकत्वनिमित्तक दूषण उद्भावित (प्रकटित) किये गये हैं, सिद्ध हो चुके हैं कि (उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्) इत्यादि। उनका यहाँ भी अनुसंधान कर्तव्य है। वे सब दूषण यहाँ लागू होते हैं। इस प्रकार बाह्यार्थवादी का पक्ष और विज्ञानवादी का पक्ष रूप ये दोनों ही वैनाशिकपक्ष निराकृत किये गये। शून्यवादी का पक्ष तो सब प्रमाणों से विरुद्ध है, इससे उसके निराकरण के लिए आदर (यत्न) नहीं किया जाता है। (सूत्रान्तर का आरम्भ नहीं किया जाता

है) किन्तु इन सूत्रों से ही उसका भी प्रत्याख्यान समझा। क्योंकि सब प्रमाणों से प्रसिद्ध यह लोक व्यवहार अन्य तत्त्व अधिगम (प्राप्ति स्वीकार) किए बिना अपह्नव-अपलाप के योग्य नहीं है, इससे इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है, अपवाद के अभाव की दशा में उत्सर्ग की प्रसिद्धि से शून्य का अभाव होने पर प्रमाण से प्रतीति के अनुसार लोक व्यवहार सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

किं बहुना सर्वप्रकारेण यथा यथाऽयं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते तथा तथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एव, न कांचिदप्यत्रोपपत्तिं पश्यामः, अतश्चानुपपन्नो वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः। अपि च बाह्यार्थ-विज्ञान-शून्यवादत्रयमितरेतर-विरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति। सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगत-समयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥

बहुत कथन का यहाँ कोई फल नहीं है, जितना कहा गया है वही बहुत है, क्योंकि जिस प्रकार (ज्यों ज्यों) यह वैनाशिक सिद्धान्त उपपत्तिमत्ता (युक्तता) के लिए परीक्षित (विचारित) होता है, त्यों त्यों सिकता (बालू) में खोदे गये कूप के समान विदीर्ण ही होता है। इसमें कोई उपपत्ति नहीं देखते हैं। इससे वैनाशिक तंत्र (दर्शन) का व्यवहार अयुक्त है। दूसरी बात है कि बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद रूप परस्पर विरुद्ध तीन वादों का उपदेश करते हुए सुगत ने अपने असम्बद्ध प्रलापित्व को प्रकट किया है। अथवा विरुद्ध अर्थ के ज्ञान से यह प्रजा विमोहित हो, इस प्रकार के प्रजा विषयक विद्वेष को प्रकट किया है। इससे श्रेयोऽर्थी से यह सुगत का सिद्धान्त सर्वथा ही अनादरणीय है यह अभिप्राय है ॥ ३२ ॥

एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण (६)

सिद्धिः सप्तपदार्थानां सप्तभङ्गीभयान्न वा।
साधकन्यायसद्भावात्तेषां सिद्धो किमद्भुतम् ॥
एकस्मिन्सदसत्त्वादिविरुद्धप्रतिपादनात् ।
अपन्यायः सप्तभङ्गी न च जीवस्य सांशता ॥ २ ॥

जैन मत में सब पदार्थ के सात-सात भङ्ग (अवस्था) सदा माने जाते हैं। अर्थात् (स्यादस्ति। स्यान्नास्ति। स्यादस्ति च नास्ति च। स्यादवक्तव्यम्। स्यादस्ति चावक्तव्यश्च। स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च। स्यादस्ति च स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च) इस प्रकार के सात माने जाते हैं। यहाँ स्यात् अव्यय है, उसका कथञ्चित् अर्थ है, इससे तात्पर्यार्थ है कि घट कथञ्चित् किसी प्रकार से है, अर्थात् घटत्वरूप से वर्तमानत्वरूप से वर्तमान काल में है। वर्तमान काल में पटत्वरूप से भूतत्वादि रूप से नहीं रहने से कथञ्चित् नहीं भी है, यह घट की दूसरी अवस्था प्रथमावस्था के साथ ही है। घट में क्रम से घटत्व पटत्व उभय रूपता की वा वर्तमानत्व भूतत्व उभयरूपता की विवक्षा करने पर कहा जाता है

कि कथञ्चित् अस्ति घटत्व वर्तमानत्व रूप से है। कथञ्चित् नास्ति पटत्व भूतत्व रूप से नहीं है, यह घट की तृतीयावस्था भी पूर्व की दोनों अवस्थाओं के साथ घट में वर्तमान है। क्रम के बिना एक काल में घट में घटत्व पटत्व वर्तमानत्व भूतत्व की विवक्षा में कथञ्चित् अवक्तव्य, अवस्था घट की होती है, वह पूर्ववर्ती तीनों के साथ रहती है। घटत्व रूप की विवक्षा तथा युगपद् उभय (घटत्व पटत्व) की विवक्षा करने पर (कथञ्चित् है और कथञ्चित् अवक्तव्य है) यह भी पूर्व की चारों अवस्थाओं के साथ घट में रहता है। घट में घटत्व के अभाव की और घटत्व पटत्व उभयरूपता की युगपद् विवक्षा करने पर (कथञ्चित् नास्ति घटत्वाभाव वाला घट नहीं है। कथञ्चित् अवक्तव्य है) घटत्व पटत्व उभय रूप से कहने के अयोग्य है। यह षष्ठी अवस्था है। क्रम से घटत्व पटत्व की विवक्षा और युगपद् उभय विवक्षा में सप्तम भंग होता है। यहाँ कहा जाता है कि किसी एक वस्तु में ये विरुद्ध सात अवस्थाएँ समकाल में रह नहीं सकती हैं, घट में घटत्व का अभाव है, पटत्व रूप से घट का अभाव नहीं है, क्योंकि पटत्व रूप वाला कभी घट होता नहीं है। प्रतियोगी की प्रसिद्धि के बिना अभाव की प्रतीति नहीं हो सकती, इससे यह सप्तभङ्ग की कल्पना निर्मूल है, सत्यात्मा है, सो सर्वथा सदा वर्तमान है। उसका तो किसी प्रकार किसी रूप से कभी अभाव हो ही नहीं सकता इत्यादि। विशेष अन्यत्र द्रष्टव्य है। संशय है कि सात भंग के समूह रूप सप्तभंगी न्याय से जैनों के मान्य सात पदार्थों की सिद्धि हो सकती है। अथवा नहीं हो सकती है, अर्थात् सप्त संख्या में भी स्यान्नास्ति कथञ्चित् नहीं है, इस भंग की प्राप्ति होने से सात पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकते हैं। पूर्वपक्ष है कि सप्तभङ्गी न्याय के रहते भी उससे भिन्न सात पदार्थ को सिद्ध करने वाले साधक न्यायों के सद्भाव से पदार्थ की सिद्धि में आश्चर्य क्या है। अन्य प्रमाणों से पदार्थ की सिद्धि होती है। सिद्धान्त है कि एक अर्थ में सत्त्वासत्त्वादि विरुद्ध धर्म का प्रतिपादन करने से यह सप्तभंग का समूह अपन्याय (दुष्टन्याय) है, इससे प्रमाणान्तर से सिद्ध में भी संशय जनन द्वारा सात पदार्थ को भी निश्चित रूप से नहीं सिद्ध होने देगा। और जीव की सांशता युक्त भी नहीं है, और सप्तभंगी से भी वह निश्चित रूप से नहीं हो सकती है ॥ १–२ ॥

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

निरस्तः सुगतसमयः, विवसनसमय इदानीं निरस्यते। सप्त चैषां पदार्थाः संमता जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम। संक्षेपतस्तु द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाख्यौ। यथायोगं तयोरेवेतरान्तर्भावादिति मन्यन्ते। तयोरिममपरं प्रपञ्चमाचक्षते, पञ्चास्तिकाया नाम—जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायश्चेति। सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रभेदान् बहुविधान्स्वसमयपरिकल्पितान्वर्णयन्ति। सर्वत्र चेमं सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिच नास्ति च, स्यादवक्तव्यः,

स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति। एवमेवैकत्वनित्यत्वादिष्वपीमं सप्तभंगीनयं योजयन्ति।

सुगत (बुद्ध) का सिद्धान्त निराकृत हो चुका, विवसन (दिगम्बर) जैनसिद्धान्त का इस समय निराकरण किया जाता है। इन जैनों के, जीव (मोक्ता) अजीव (भोग्य) आस्रव (इन्द्रिय की विषयाभिमुखप्रवृत्ति) संवर (उस प्रवृत्ति का निरोधक यमनियमादि) निर्जर (सम्यक् प्रवृत्ति तप आदि) बन्ध (बन्धन हेतु कर्म) मोक्ष (कर्मनिवृत्ति) ये सात पदार्थ सम्मत हैं। और संक्षेप से तो जीव अजीव नामक दो ही पदार्थ सम्मत (स्वीकृत) हैं। उन जीव जड़ दोनों में ही यथा योग्य अन्य सब का अन्तर्भाव है इस प्रकार मानते हैं। उस जीव जड़ का ही यह अन्य विस्तार कहते हैं कि पाँच अस्तिकाय (पदार्थ) प्रसिद्ध हैं। उनमें बद्ध मुक्तादि अनेक प्रकार का एक जीवरूप अस्तिकाय (पदार्थ) है। दूसरा पूर्ण नष्ट होनेवाला पुद्गल (शरीर) रूप अस्तिकाय है। तीसरा धर्म है, चौथा अधर्म है, पञ्चम आकाशरूप अस्तिकाय (पदार्थ) है। इन सब के भी अपने सिद्धान्त में परिकल्पित बहुत प्रकार के अवान्तर (अन्तरगत) भेदों का वर्णन करते हैं। सब पदार्थों में इस वक्ष्यमाण सप्तभङ्गीनय नामक न्याय का अवतरण (योजना) करते हैं कि सब पदार्थ स्यात् (कथञ्चित्) है, कथञ्चित् नास्ति (नहीं) है। क्रम से अस्तित्व नास्तित्व की विवक्षा में कथञ्चित् है कथञ्चित् नहीं है। अस्तित्व नास्तित्व की समकाल में विवक्षा होने पर कथञ्चित् अवक्तव्य है, क्योंकि दोनों बातें एक समय कही नहीं जा सकती हैं। आद्य और चतुर्थ भंग की सह विवक्षा में पञ्चम भंग है। द्वितीय चतुर्थ की सह विवक्षा में षष्ठभंग है। तृतीय चतुर्थ की विवक्षा में सप्तम है। इसी प्रकार एकत्व नित्यत्वादि में भी सप्तभंगी नय की योजना करते हैं कि स्यादेकः, स्यादनेकः, स्यदेकोऽनेकश्च, इत्यादि, तथा स्यान्नित्यः स्यादनित्यः। इत्यादि, अर्थात् सब पदार्थ किसी प्रकार एक अनेकादि स्वरूप हैं, नित्य अनित्यादि स्वरूप हैं, जैसे दो अस्ति नास्ति से सप्तभंग की कल्पना होती है। वैसे एकत्व अनेकत्व से और नित्यत्व अनित्यत्व दो-दो कोटि से ही सात-सात भंगों की कल्पना होती है। और कहते हैं कि पदार्थ के अनेक रूप होने से ही व्यवहार होता है, एक रूप होने पर व्यवहार नहीं हो सकता।

अत्राचक्ष्महे। नायमभ्युपगमो युक्त इति। कुतः? एकस्मिन्नसम्भवात्। न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत्। य एते सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः। इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्। नन्वनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति। नेति ब्रूमः। निरङ्कुशं ह्यनैकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वविशेषात्स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात्। एवं निर्धार

यितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता स्याच्च पक्षे नास्तितेति। एवं सति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थंकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात्। कथं वा तदभिप्रायानुसारिणस्तदुपदिष्टेऽर्थेऽनिर्धारितरूपे प्रवर्तेरन्। ऐकान्तिकफलत्वनिर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुलः प्रवर्तते नान्यथा, अतश्चानिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन्मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनः स्यात्। तथा पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्वसंख्यास्ति वा नास्ति वेति विकल्प्यमाना स्यात्तावदेकस्मिन्पक्षे, पक्षान्तरे तु न स्यादित्यतो न्यूनसंख्यात्वम् अधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात्। न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवात्, अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्, उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्। उच्यमानाश्च तथैवावधार्यन्ते नावधार्यन्ते इति च, तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनमस्ति वा नास्ति वा, एवं तद्विपरीतमसम्यग्दर्शनमप्यस्ति वा नास्ति वेति प्रलपन्मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव स्यान्न प्रत्ययितव्यस्य पक्षस्य। स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाभावस्तथा नित्यता पक्षे चानित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः। एवं जीवादिषु पदार्थेष्वेकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोरसंभवात्सत्त्वे चैकस्मिन्धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्यासम्भवादसत्त्वे चैव सत्त्वस्यासंभवादसंगतमिदमार्हतं मतम्। एतेनैकानेकनित्यानित्यव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताद्यनेकान्ताभ्युपगमा निराकृता मन्तव्याः। यत्तु पुद्गलसंज्ञकेभ्योऽणुभ्यः संघाताः संभवन्तीति, कल्पयन्ति तत्पूर्वेणैवाणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवतीत्यतो न पृथक्तन्निराकरणाय प्रयत्यते॥ ३३॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि यहाँ हम कहते हैं कि यह अभ्युपगम युक्त नहीं है, क्योंकि एक में सात सात रूपता का असम्भव है, जिससे एक धर्मी के विरुद्ध सदसत्वादि रूपता का एक काल में सन्निवेश शीतोष्णादि के समान सम्भव नहीं है। इससे जो सत्यात्मा है, वह सदा सर्वथा सर्वत्र है ही, जो शशशृङ्गादि असत् हैं सो सदा सर्वथा असत्य ही हैं। और संसार सदसद् से विलक्षण होने पर भी एक व्यावहारिक स्वरूप वाला है। अनेकान्त स्वरूप नहीं है। जो ये सात पदार्थ निर्धारित हुए हैं, वे पदार्थ इतना इसी प्रकार के स्वरूप वाले और उसी प्रकार वाले होंगे, वा उस प्रकार वाले नहीं होंगे, इस प्रकार एक ही पक्ष सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इतरथा (इससे अन्यथा) होने पर या तो जैसे कहे गये हैं वैसे होंगे, अथवा अन्य प्रकार के होंगे इस प्रकार अनिर्धारित स्वरूप वाले संशय ज्ञान के समान अप्रमाण ही ज्ञान होगा। यदि कहो कि वस्तु अनेकात्मक (सत्यासत्यादि अनेक स्वरूप) है, इस प्रकार निर्धारित (निश्चित) स्वरूप वाला ही उत्पद्यमान ज्ञान संशय ज्ञान के समान अप्रमाण होने योग्य नहीं है। तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं

हो सकता है, संशयरूपता की प्राप्ति होती ही है। जिससे निरंकुश (स्वतन्त्र-सर्वगत) अनेकान्तत्व (अनेकात्मकत्व) को मानने वाले सब वस्तु में निरंकुश अनेकात्मता की प्रतिज्ञा करने वाले के निर्धारण को भी वस्तुत्व की अविशेषता तुल्यता से उस निर्धारण में भी कथंचित् है, कथंचित् नहीं है इत्यादि विकल्पों का उपनिपात (प्राप्ति-सम्बन्ध) होगा, इससे निर्धारण को अनिर्धारणरूपता ही होगी। इसी प्रकार निर्धारण कर्ता और निर्धारण के फल की एक पक्ष में अस्तिता (सत्ता) और अन्य पक्ष में नास्तिता होगी। ऐसा होने पर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति इन सबके अनिर्धारित होने पर तीर्थंकर भी प्रमाणभूत (प्रामाणिक) होता हुआ उपदेश के लिए कैसे समर्थ होगा। अथवा उस गुरु के अभिप्राय के अनुसार प्रवृत्त होने वाले शिष्य उस गुरु से उपदिष्ट अनिर्धारित स्वरूप वाले अर्थ में प्रवृत्त कैसे होंगे। ऐकान्तिक (निश्चित) फलवत्त्व के निर्धारण होने ही पर, उस फल के साधनों का अनुष्ठान (आचरण) के लिए सब लोक अनाकुल (अव्याकुल) होकर प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। इससे अनिर्धारित अर्थ वाला, शास्त्र की रचना करने वाला मत्त उन्मत्त के समान अनुपादेय (अग्राह्य) वचन वाला होगा। इसी प्रकार पञ्च अस्तिकायों (पदार्थों) की पञ्चत्व संख्या क्या तो है या नहीं है, इस प्रकार विकल्प का विषय होने पर, एक पक्ष में पञ्चत्व संख्या होगी, पक्षान्तर में पञ्चत्व संख्या नहीं होगी। इससे न्यून संख्यात्व या अधिक संख्यात्व की प्राप्ति होगी। और इन पदार्थों को अवक्तव्यत्व का संभव नहीं है, अर्थात् प्रामाणिक अभ्रान्त पुरुष को सत् में असत्त्व की विवक्षा, असत् में सत्त्व की विवक्षा और एक वस्तु में क्रम से सत्त्वासत्त्व की विवक्षा नहीं हो सकती। किन्तु अनुभव के अनुसार एक ही निश्चित विवक्षा हो सकती है। इससे कथंचित् यह कथन सर्वथा अयुक्त है। इन तीन मूलरूप भंगों के नहीं हो सकने पर अवक्तव्य भंग का सर्वथा असम्भव है, जो हो हो नहीं सकता, उसकी विवक्षा ही क्यों होगी। इससे इन पदार्थों को अवक्तव्यत्व नहीं है। यदि ये पदार्थ अवक्तव्य होते तो कहे नहीं जाते। और कहे जाते हैं, और अवक्तव्य हैं, यह विरुद्ध कथन है। कहे गये ये पदार्थ जिस प्रकार कहे गये हैं वैसे ही अवधारित होते हैं, और नहीं अवधारित होते हैं, यह कथन भी विरुद्ध है। इसी प्रकार उस अवधारण का फल रूप सम्यक् दर्शन क्या तो है, अथवा नहीं है। इसी प्रकार उससे विपरीत असम्यक् दर्शन भी क्या तो है (कथंचित् है) अथवा नहीं है। इसी प्रकार प्रलाप करता हुआ पुरुष मत्त-उन्मत्त पक्ष का ही सम्बन्धी होगा, अनाप्त होगा। अनाप्त के अन्तर्गत होगा। विश्वास का पात्र आप्त पक्ष का नहीं होगा। स्वर्ग तथा मोक्ष का भी पक्ष में भाव होगा, और पक्ष में अभाव होगा। इसी प्रकार स्वर्गादि को पक्ष में नित्यता, और पक्ष में अनित्यता होगी, इस प्रकार अनवधारण होने पर प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होगी। अपने शास्त्र द्वारा अवधृत (निश्चित) स्वभाव वाले अनादि सिद्ध जीवादि को भी वे वैसे अवधृत स्वभाव वाले नहीं हैं, ऐसा प्रसंग पक्ष में प्राप्त होगा। इस प्रकार

जीवादि पदार्थगत एक एक धर्मी में सत्त्व असत्त्वरूप विरुद्ध धर्मों के असम्भव से और सत्तारूप एक धर्म के रहते असत्तारूप धर्मान्तर के असम्भव से। इसी प्रकार असत्ता के रहते सत्ता के असम्भव से, इन्हें सहवृत्तिता कहने वाला यह आर्हत दर्शन असंगत है। इस सत्त्व असत्त्व की एकत्र वृत्तिता के निषेध से ही एक-अनेक, नित्य-अनित्य, व्यतिरिक्त-अव्यतिरिक्त, आदि अनेकान्त अभ्युपगम को भी निराकृत समझना चाहिए। और पुद्गल-संज्ञक अणुओं से संघात होते हैं, ऐसी जो कल्पना करते हैं, सो पूर्ववर्णित अणुवाद के निराकरण से ही निराकृत होता है, इससे उसके निराकरण के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं किया जाता है ॥ ३३ ॥

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ॥ ३४ ॥

यथैकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मासंभवो दोषः स्याद्वादे प्रसक्त एवमात्मनोऽपि जीवस्याकात्स्न्र्यमपरो दोषः प्रसज्येत। कथम्? शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्यन्ते। शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नोऽसर्वगतः परिच्छिन्न आत्मेत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वान्मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुनः केनचित्कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्, पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत। समान एष एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः। स्यादेतत्, अनन्तावयवो जीवस्तस्य त एवावयवा अल्पे शरीरे संकुचेयुर्महति च विकसेयुरिति। तेषां पुनरनन्तानां जीवावयवानां समानदेशत्वं प्रतिहन्यते वा न वेति वक्तव्यम्। प्रतिघाते तावन्नानन्तावयवाः परिच्छिन्ने देशे संमीयेरन्। अप्रतिघातेऽप्येकावयवदेशत्वोपपत्तेः सर्वेषामवयवानां प्रथिमानुपपत्तेर्जीवस्याणुमात्रत्वप्रसङ्गः स्यात्। अपि च शरीरमात्रपरिच्छिन्नानां जीवावयवानामानन्त्यं नोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् ॥ ३४ ॥

जैसे एकधर्मी में विरुद्ध धर्मों का असम्भव दोष स्याद्वाद में प्राप्त हुआ है, इसी प्रकार आत्मारूप जीव का भी अकात्स्न्र्य (मध्यम परिमाणत्व) रूप दूसरा दोष प्राप्त होता है, कि जिससे अनित्यता की प्राप्ति होगी। क्योंकि आर्हत (अर्हन्देव के उपासक) जैन लोग, जीव शरीर तुल्य परिमाण वाला है ऐसा मानते हैं। शरीर तुल्य परिमाणता के होने पर तो अकृत्स्न याने असर्वगत परिच्छिन्न आत्मा है, यह सिद्ध होता है। इससे घटादि के समान आत्मा को अनित्यत्व भी प्राप्त होगा। शरीरों के अनवस्थित (अनियत और विनश्वर) परिमाणत्व से मनुष्य शरीरगत जीव मनुष्य शरीर के तुल्य परिमाण वाला होकर फिर किसी कर्म के विपाक (अभिव्यक्ति) से हस्ती-जन्म को प्राप्त होता हुआ सम्पूर्ण हस्ती शरीर में व्याप्त नहीं होगा, इससे अकृत्स्नता होगी, हस्ती शरीर का कुछ भाग निर्जीव सिद्ध होगा। और पुत्तिका (पतङ्गिका) जन्म को प्राप्त करने पर सम्पूर्ण जीव पुत्तिका शरीर में नहीं समायेगा, देह से बाहर

भी जीव रह जायगा। एक शरीर में भी बाल्य, यौवन, वृद्धत्व अवस्था में यह दोष समान (तुल्य) है। यदि कहो कि यह जीव को देह परिमाणवत्त्व हो सकता है, क्योंकि अनन्त अवयव वाला जीव है, उसके वे ही अवयव अल्प (छोटे) शरीर में दीपप्रभा के समान संकुचित हो जायेंगे और महान् बड़े शरीर में प्रभातुल्य ही विकसित होंगे। यहाँ कहा जाता है कि दीप की प्रभा विनश्वर है, अल्प देश में दीप के जाने से महान् देश की प्रभा नष्ट हो जाती है, इससे यह कहना चाहिये कि अनन्त उन जीव के अवयवों का समान देशत्व प्रतिहत (प्रतिघात युक्त-विरुद्ध) होता है अथवा नहीं होता है। प्रथम पक्ष प्रतिघात के होने पर अनन्त अवयव परिछिन्न अल्पदेश में नहीं समा सकेंगे, और अप्रतिघात होने पर भी सब अवयवों को एकदेश वृत्तित्व परमाणुदेश मात्र स्थिरता की सिद्धि से और प्रथिमा (पृथुत्व) की अनुपपत्ति से जीव को अणुमात्रत्व का प्रसंग होगा। शरीरमात्र से परिच्छिन्न परिमित जीव के अवयवों के परिमित होने ही से उनकी अनन्तता की उत्प्रेक्षा (ऊहा-कल्पना) भी नहीं की जा सकती है ॥ ३४ ॥

अथ पर्यायेण बृहच्छरीरप्रतिपत्तौ केचिज्जीवावयवा उपगच्छन्ति तनुशरीर-प्रतिपत्तौ च केचिदपगच्छन्तीत्युच्येत, तत्राप्युच्यते—

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

न च पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमाभ्यामेतद्देहपरिमाणत्वं जीवस्याविरोधेनोपपादयितुं शक्यते। कुतः? विकारादिदोषप्रसङ्गात्। अवयवोपगमापगमाभ्यां ह्यनिशमापूर्यमाणस्यापक्षीयमाणस्य च जीवस्य विक्रियावत्त्वं तावदपरिहार्यम्, विक्रियावत्त्वे च चर्मादिवदनित्यत्वं प्रसज्येत, ततश्च बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत, कर्माष्टकपरिवेष्टितस्य जीवस्यालाबुवत्संसारसागरे निमग्नस्य बन्धनोच्छेदादूर्ध्वगामित्वं भवतीति। किञ्चान्यत् आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामागमापायधर्मवत्त्वादेवानात्मत्वं शरीरादिवत्। ततश्चावस्थितः कश्चिदवयव आत्मेति स्यात्, न च स निरूपयितुं शक्यतेऽयमसाविति। किञ्चान्यत् आगच्छन्तश्चैते जीवावयवाः कुतः प्रादुर्भवन्त्यपगच्छन्तश्च क्व वा लीयन्त इति वक्तव्यम्। न हि भूतेभ्यः प्रादुर्भवेयुर्भूतेषु न निलीयेरन्, अभौतिकत्वाज्जीवस्य। नापि कश्चिदन्यः साधारणोऽसाधारणो वा जीवानामवयवाधारो निरूप्यते प्रमाणाभावात्। किञ्चान्यत्, अनवधृतस्वरूपश्चैवंसत्यात्मा स्यात्, आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामनियतपरिमाणत्वात्, अत एवमादिदोषप्रसङ्गान्न पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमावात्मन आश्रयितुं शक्येते।

यदि कहें कि क्रम से बड़े शरीर की प्राप्ति काल में कोई जीव के अवयव पास में प्राप्त होते हैं, और तनु (अल्प छोटे) शरीर की प्राप्ति होने पर कोई अवयव दूर चले जाते हैं। यहाँ भी कहा जाता है कि—

क्रम से अवयवों का उपगम (आगमन) और अपगम (निवृत्ति) द्वारा भी यह जीव का देहपरिमाणत्व अविरोधपूर्वक उपपादन (सिद्ध) नहीं किया जा सकता है। क्योंकि विकारादि दोषों का प्रसंग होता है जिससे अनिश (सदा) अवयवों के उपगम और अपगम से आपूर्ण और अपक्षीण (वृद्धिह्रासयुक्त) होते हुए जीव को विकारवत्त्व अपरिहार्य (अवश्य) होगा और विकार वाला होने पर चर्मादि के समान अनित्यत्व की प्राप्ति होगी। इससे बन्ध और मोक्ष का अभ्युपगम बाधित होगा। वह बन्ध मोक्ष का अभ्युपगम इस प्रकार है कि, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय नाम वाले ज्ञानादि का आवरण करने वाले और चतुर्थ विघ्नरूप ये चार प्रकार के घाती कर्म कहाते हैं। वेदनीय, नामिक, गोत्रिक, आयुष्क, नाम वाले, ज्ञान, नाम, गोत्र, विषयक अभिमानरूप तथा शरीर की स्थिति के लिए कर्मरूप ये चार प्रकार के अघाती कर्म कहाते हैं। इन कर्माष्टक से वेष्टित संसार सागर में निमग्न जीव के उन कर्मरूप बन्धनों के उच्छेदन-नाश से ऊर्ध्वगमन होता है वही मोक्ष है। जैसे तुम्बा में पत्थर बांध कर पानी में देने से वह डूबता है, परन्तु बन्ध के कटने पर वह ऊर्ध्वगमन करता है, वैसे ही आठ प्रकार के कर्म से जीव संसारी होता है। कर्म रहित होने से मुक्त होता है। यह सिद्धान्त जीव के अनित्य होने पर बाधित होगा। अन्य दूषण है कि आने जाने वाले अवयवों के आगमन और अपाय (अपगमन) रूप धर्म वाले होने से ही शरीरादि के समान अनात्मत्व उनमें सिद्ध होता है, इससे दुर्ज्ञेय कोई स्थिर अवयव आत्मा है, ऐसा मानना होगा। उसका निरूपण नहीं किया जा सकता है कि वह यह है। दूसरी बात है कि आने वाले ये जीव के अवयव कहाँ से प्रकट होते हैं। अपगत होने पर किसमें लीन होते हैं, यह कहना होगा। जीव के अभौतिक होने से भूतों से इसके अवयव नहीं प्रकट हो सकते हैं, न भूतों में लीन हो सकते हैं। अन्य भी कोई सब जीवों के लिए साधारण या प्रत्येक जीव के लिये असाधारण जीव के अवयवों को आधार प्रमाण के अभाव से निरूपित सिद्ध नहीं हो सकता है। अन्य दूषण है कि इस प्रकार आगमापायी अवयव वाला होने पर अनवधृत (अनिश्चित) स्वरूप वाला आत्मा होगा, क्योंकि आने-जाने वाले अवयवों को अनियत परिमाणत्व है। इससे इस प्रकार के दोषों के प्रसंग से क्रम से भी आत्मा के अवयवों के उपगम और अपगम का आश्रयण नहीं कर सकते हैं।

अथवा पूर्वेण सूत्रेण शरीरपरिमाणस्यात्मन उपचितापचितशरीरान्तरप्रतिपत्तावकार्त्स्न्यप्रसञ्जनद्वारेणानित्यतायां चोदितायां पुनः पर्यायेण परिमाणानवस्थानेऽपि स्रोतःसन्ताननित्यतान्यायेनात्मनो नित्यता स्यात्, यथा रक्तपटादीनां विज्ञानानवस्थानेऽपि तत्सन्ताननित्यता तद्वद्विसिचामपीत्याशङ्क्यानेन सूत्रेणोत्तरमुच्यते। सन्तानस्य तावदवस्तुत्वे नैरात्म्यवादप्रसङ्गः, वस्तुत्वेऽप्यात्मनो विकारादिदोषसङ्गादस्य पक्षस्यानुपपत्तिरिति ॥ ३५ ॥

अथवा पूर्व सूत्र से शरीर प्रमाण वाले आत्मा को उपचितापचित (स्थूल सूक्ष्म) शरीरान्तर की प्राप्ति होने पर, अकृत्स्नता की प्राप्ति द्वारा अनित्यता की शंका होने पर फिर पर्याय से शरीर व्यक्ति भेद से परिमाण के अनवस्थिर होने पर भी स्रोत (प्रवाह) रूप आत्म व्यक्ति संतान को नित्यतारूप न्याय से आत्मा को नित्यता होगी, जैसे कि रक्तपटादि बौद्धों के मत में विज्ञान के अनवस्थित रहते भी विज्ञान संतान की नित्यता मानी जाती है, वैसे ही वस्त्ररहित दिगम्बरों के मत में सन्तान की नित्यता होगी। इस प्रकार आशंका करके इस सूत्र से उत्तर कहा जाता है कि पर्याय (व्यक्तिगत संतान) से भी आत्मनित्यत्व का अविरोध नहीं है, क्योंकि विकारादि से सन्तान को भी अनित्यत्व होगा, यदि सन्तान वस्तु है, तो उसके भी विकारादि होंगे। सन्तान के अवस्तु होने पर निरात्मभाव की प्राप्ति होगी। सन्तानी से अतिरिक्त वस्तु संतान को मानने पर कूटस्थ आत्मवाद की प्राप्ति होगी, सन्तानी से अभिन्न सन्तान को मानने पर जन्मादि दोष की प्राप्ति होगी इससे इस पक्ष की अनुपपत्ति है ॥ ३५ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

अपि चान्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वमिष्यते जैनैः, तद्वत् पूर्वयोरप्याद्यमध्यमयोर्जीवपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादविशेषप्रसङ्गः स्यात्, एकशरीरपरिमाणतैव स्यान्नोपचितापचितशरीरान्तरप्राप्तिः। अथ वान्त्यस्य जीवपरिमाणस्यावस्थितत्वात्पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवःस्यात्, ततश्चाविशेषेण सर्वदैवाणुर्महान्वा जीवोऽभ्युपगन्तव्यो न शरीरपरिमाणः, अतश्च सौगतवदार्हतमपि मतमसंगतमित्युपेक्षितव्यम् ॥ ३६ ॥

और दूसरी बात है कि मोक्ष अवस्था में रहने वाले जीव के अन्तिम परिमाण का नित्यत्व जैनों को इष्ट है। उसी के समान पूर्वकाल में होने वाले आद्य और मध्यकालिक जीव के परिमाणों को नित्यत्व की प्राप्ति से सर्वदा अविशेषता की (नित्यता की) प्राप्ति होती है। शरीरतुल्य अनित्य परिमाणता कभी नहीं हो सकती है। इससे एक शरीर के परिमाण वाला ही आत्मा होगा, स्थूल, सूक्ष्म शरीरान्तर को नहीं प्राप्त कर सकेगा। अथवा जीव के अन्तिम परिमाण की अवस्थिरता से पूर्वावस्थाओं में भी जीव अवस्थित परिमाण वाला ही होगा। इससे सदा ही भेदरहित तुल्यस्वरूप वाला अणु वा महान् विभु जीव को मानना चाहिये, शरीर परिमाण वाला नहीं और इस शरीर परिमाणता के स्वीकार से सौगत मत के समान आर्हत मत भी असंगत है। इससे यह उपेक्षा (त्याग) के योग्य है ॥ ३६ ॥

पत्यधिकरण (७)

तटस्थेश्वरवादो यः स युक्तोऽथ न युज्यते।
युक्तः कुलालदृष्टान्तान्नियन्तृत्वस्य सम्भवात् ॥ १ ॥
न युक्तो विषमत्वादिदोषाद्वैदिक ईश्वरे।
अभ्युपेते तटस्थत्वं त्याज्यं श्रुतिविरोधतः ॥ २ ॥

प्रथम निमित्तोपादान उभय स्वरूप ईश्वर को माना गया है। सर्वात्मा होने से जल

के समान साधारण कारण कहा गया है, विशेष कारण जीवों के अदृष्टादिक बीज के समान हैं। जगत् की रचना आदिक माया लीलामात्र जीवकर्म सापेक्ष अनादि बीजांकुर न्याय से है। इससे ईश्वर में वैषम्य नैर्घृण्यादि दोष नहीं है। यदि ईश्वर कुलालादि के समान तटस्थ कारण होगा तो कुलालादि के समान विशेष ही कारण होगा, काल-देशादि के भेद से भिन्न-भिन्न स्वरूप विशेष वाला होकर विशेष कार्यों को करेगा। इससे उसमें रागद्वेषादि की प्राप्ति से ईश्वरता में असमञ्जस (अयुक्तता) होगा, इससे तटस्थेश्वरवाद ठीक नहीं है, उपासना के लिए कल्पितमात्र है। संशय है कि जो तटस्थेश्वर-वाद है, सो युक्त है अथवा नहीं है। पूर्वपक्ष है कि कुलाल के दृष्टान्त से और नियन्तृता के संभव से युक्त है। सिद्धान्त है कि तटस्थता के होने पर विषयत्वादि दोष से तटस्थेश्वरवाद युक्त नहीं है। इससे वैदिक ईश्वर के स्वीकृत होने पर श्रुति विरोध से तट-स्थता त्याग के योग्य है ॥ १–२ ॥

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

इदानीं केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवादः प्रतिषिध्यते। तत्कथमवगम्यते? 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' 'अभिध्योपदेशाच्च' (ब्र० १।४।२३, २४) इत्यत्र प्रकृतिभावेनाधिष्ठातृभावेन चोभयस्वभावस्येश्वरस्य स्वयमेवाचार्येण प्रतिष्ठापितत्वात्। यदि पुनरविशेषेणेश्वरकारणवादमात्रमिह प्रतिषिध्येत पूर्वोत्तरविरोधाद्व्याहताभिव्याहारः सूत्रकार इत्येतदापद्येत। तस्मादप्रकृतिरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इत्येष पक्षो वेदान्तविहितब्रह्मैकत्वप्रतिपक्षत्वाद्यत्नेनात्र प्रतिषिध्यते। सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनानेकप्रकारा। केचित्तावत्सांख्ययोगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति–प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतरविलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वरा–इति। माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः, पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति। तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथंचित्स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति।

इस समय केवल अधिष्ठाता ईश्वर कारणवाद का प्रतिषेध किया जाता है, यदि कहें कि सामान्य ईश्वर कारणवाद का निषेध नहीं है, तटस्थवाद का निषेध है, यह कैसे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि (प्रकृतिश्च) इत्यादि, तथा (अभिध्योपदेशाच्च)इस सूत्र में प्रकृतिरूप से तथा अधिष्ठातारूप से उभय (दोनों) स्वभाव वाले ईश्वर का आचार्य ने स्वयं प्रतिपादन किया है इससे उक्तार्थ समझा जाता है। यदि फिर अविशेष(सामान्य) रूप से ईश्वर कारणवाद मात्र का यहाँ निषेध किया जाय तो पूर्वोत्तर में विरोध से व्याहत (विरुद्ध) व्यवहार (वचन) वाले सूत्रकार हैं, यह ऐसा दोष प्राप्त होगा। इससे अप्रकृति स्वरूप केवल अधिष्ठाता निमित्त कारण ईश्वर है। इस प्रकार का यह पक्ष, वेदान्त में विहित ब्रह्म की एकता का प्रतिपक्षी (विरोधी) है, इससे यहाँ यत्न-

पूर्वक उस पक्ष का प्रतिषेध किया जाता है। वह वेदान्त विरोधी है अतएव वेदबाह्य यह ईश्वर की कल्पना अनेक प्रकार वाली है। कोई सेश्वर सांख्ययोग का आश्रयण करने वाले कल्पना करते हैं कि प्रधान और पुरुष का अधिष्ठाता केवल निमित्तकारण ईश्वर है। प्रधान, पुरुष और ईश्वर ये तीनों परस्पर विलक्षण हैं, इस सिद्धान्त की कल्पना करने वाले हिरण्यगर्भ पतञ्जलि आदि हैं। महेश्वर से कथित आगम के अनुगामी माहेश्वर कहे जाते हैं। वे माहेश्वर लोग मानते हैं कि (१) महत्तत्वादिरूप कार्य, (२) ईश्वर प्रधानरूप कारण, (३) धारणा-ध्यान समाधिरूप योग, (४) धर्मार्थक व्यापाररूप विधि और (५) मोक्षरूप दुःखान्त, ये पाँच पदार्थ हैं सो पशुपतिरूप ईश्वर से जीवरूप पशु के बन्धनरूप पाशों के विमोक्षण (नाश) के लिये उपदिष्ट (कथित) हैं और पशुपतिरूप ईश्वर निमित्त कारण है। इस प्रकार वे लोग वर्णन करते हैं। इस सिद्धान्त को मानने वाले, (१) शैव, (२) पाशुपत, (३) कारुणिक सिद्धान्ती और (४) कापालिक —ये चार हैं। इसी प्रकार कोई वैशेषिक नैयायिकादि भी किसी प्रकार अपनी-अपनी प्रक्रियाओं के अनुसार निमित्त कारण ईश्वर है, इस प्रकार वर्णन करते हैं कि ईश्वर कुम्भकार के समान निमित्त कारण ही है, कर्म फलदाता है।

अत उत्तरमुच्यते — 'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति। पत्युरीश्वरस्य प्रधानपुरुषयोरधिष्ठातृत्वेन जगत्कारणत्वं नोपपद्यते, कस्मात् ? असामञ्जस्यात्। किं पुनरसामञ्जस्यम् ? हीनमध्यमोत्तमभावेन हि प्राणिभेदान्विदधत ईश्वरस्य रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत। प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेत्। न। कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। नानादित्वादिति चेत्। न। वर्तमानकालवदतीतेष्वपि कालेष्वितरेतराश्रयदोषाविशेषादन्धपरम्परान्यायापत्तेः। अपि च 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' (न्यायसूत्र १।१।१८) इति न्यायवित्समयः। नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थे प्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तत इत्येवमप्यसामञ्जस्यं, स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्। पुरुषविशेषत्वाभ्युपगमाच्चेश्वरस्य पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमादसामञ्जस्यम् ॥ ३७ ॥

इससे उत्तर कहा जाता है कि (पत्युरसामञ्जस्यात्) पतिरूप ईश्वर को प्रधान और पुरुष के अधिष्ठातारूप से जगत् का कारणत्व उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि ऐसा कारण होने में असामञ्जस्य (अयुक्तता) है। यदि कहो कि वह असामञ्जस्य क्या है, तो कहा जाता है कि विशेष कारण होते हीनादि रचना के दोषगुणादि के ज्ञाता होते, हीन, मध्यम और उत्तमरूप से प्राणी के भेदों का विधान (सिद्धि) करते हुए ईश्वर को रागद्वेषादि दोषों की प्राप्ति से हम लोगों के समान अनीश्वरता की प्राप्ति होगी। यदि कहो कि प्राणियों के कर्मों की अपेक्षापूर्वक प्राणी कर्म से प्रेरित होकर विषम कर्म फलों को सिद्ध करता है। तो ऐसा कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि कर्म जड़ है, ईश्वर

के प्रेरक नहीं हो सकते हैं। यदि कहो कि ईश्वर से प्रेरित कर्म ईश्वर की प्रेरणा करता है तो कर्म और ईश्वर को परस्पर प्रवर्त्य और प्रवर्तयिता होने से अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होगी। यदि कहो कि अतीत कर्म ईश्वर की प्रेरणा करता है, उससे प्रेरित होकर ईश्वर वर्तमान कर्म के लिए प्रेरणा करता है क्योंकि संसार कर्मप्रवाह को अनादिता है, इससे अन्योन्याश्रय दोष नहीं है, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वर्तमान कर्म के समान अतीत कर्मों में भी जड़ता के कारण वे ईश्वर के प्रेरक नहीं हो सकते हैं, इससे ईश्वर से प्रेरित होकर ईश्वर की प्रेरणा करेंगे, तो वर्तमानकाल के समान अतीत कालों में भी अन्योन्याश्रय के तुल्य होने से कर्मकृत प्रेरणा के मानने पर अन्ध परम्परा न्याय की ही प्राप्ति होगी। दूसरी बात है कि (प्रवर्तना प्रवृत्ति जनकत्वरूप लक्षण वाले रागद्वेष मोहरूप दोष होते हैं) इससे प्रवर्तकत्व दोष का हेतु है लिङ्ग है। यह न्यायवेत्ता का सिद्धान्त है। इससे न्यायमत के अनुसार प्रवर्तक ईश्वर में रागादि दोषों की प्राप्ति होती है। दोष से असम्बद्ध अप्रेरित कोई भी स्वार्थ वा परार्थ में प्रवृत्त होता हुआ नहीं देखा जाता है, किन्तु स्वार्थप्रयुक्त (स्वार्थ से संयोजित) ही सब जन परार्थ में भी प्रवृत्त होता है। इस प्रकार भी असामञ्जस्य है, क्यों कि इस प्रकार ईश्वर को स्वार्थ वाला होने से अनीश्वरता की प्राप्ति होती है। सांख्य योग में ईश्वर को पुरुष मानने से और पुरुष को उदासीन मानने से प्रवर्तकत्व में असामञ्जस्य है। तटस्थ कारणता निमित्तक विशेष कारणता से ये सब दोष हैं, अभिन्न निमित्तोपादानता पक्ष में सामान्य कारणता से, श्रुति बल से और (स्वभावस्तु प्रवर्तते) इस शास्त्रोक्त माया आदि रूप-स्वभाव-बल से कोई दोष नहीं प्राप्त होते हैं। यह भाव है ॥ ३७ ॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

पुनरप्यसामञ्जस्यमेव, नहि प्रधानपुरुषव्यतिरिक्त ईश्वरोऽन्तरेण संबन्धं प्रधानपुरुषयोरीशिता। न तावत्संयोगलक्षणः संबन्धः संभवति, प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वान्निरवयवत्वाच्च। नापि समवायलक्षणः संबन्धः, आश्रयाश्रयिभावानिरूपणात्। नाप्यन्यः कश्चित्कार्यगम्यः संबन्धः शक्यते कल्पयितुं, कार्यकारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धत्वात्। ब्रह्मवादिनः कथमिति चेत्। न। तस्य तादात्म्यलक्षणसंबन्धोपपत्तेः। अपि चागमबलेन ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूपं निरूपयतीति नावश्यं तस्य तथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमिति नियमोऽस्ति, परस्य तु दृष्टान्तबलेन कारणादिस्वरूपं निरूपयतो यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमित्ययमस्त्यतिशयः। परस्यापि सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावात्समानमागमबलमिति चेत्। न। इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादागमप्रत्ययात्सर्वज्ञत्वसिद्धिः सर्वज्ञप्रत्ययाच्चागमसिद्धिरिति। तस्मादनुपपन्ना सांख्ययोगवादिनामीश्वरकल्पना। एवमन्यास्वपि वेदबाह्यास्वीश्वरकल्पनासु यथासंभवमसामञ्जस्यं योजयितव्यम् ॥ ३८ ॥

फिर भी अन्य असामञ्जस्य कहा जाता है कि प्रधान और पुरुष से भिन्न ईश्वर सम्बन्ध के बिना प्रधान और पुरुष का नियन्ता नहीं हो सकता है। संयोगरूप सम्बन्ध का सम्भव नहीं है। क्योंकि परिच्छिन्न सावयव वस्तु का संयोग होता है। प्रधाम, पुरुष तथा ईश्वर इन तीनों को सर्वगतत्व और निरवयवत्व है। गुण-गुणी आदि के समान इनमें आश्रयआश्रयिभाव के अनिरूपण (असिद्धि) से समवायरूप सम्बन्ध नहीं हो सकता है। कार्यकारणभाव से गम्य (अनुमेय) अन्य भी कोई सम्बन्ध कल्पना के योग्य नहीं है कि जिसकी कल्पना हो सके। क्योंकि अभी कार्यकारणभाव ही असिद्ध है। अर्थात् प्रधान के साथ सम्बन्ध की सिद्धि के बिना ईश्वर से प्रेरित प्रधान का महत्तत्त्वादि जगत् कार्य है, इस प्रकार कार्यकारणभाव असिद्ध है। यदि कहो कि ब्रह्मवादी के मत में भी माया और ब्रह्म के विभु और निरवयव होने से संयोग नहीं हो सकता है, समवाय माना नहीं जाता है, कार्यकारणभाव असिद्ध है, इससे कार्यगम्य योग्यतारूप सम्बन्ध के अभाव से ब्रह्म और माया को अधिष्ठान-अधिष्ठेयभाव कैसे होगा, तो कहा जाता है कि यहाँ यह दोष नहीं है, उस ब्रह्म को माया के साथ अनिर्वाच्य तादात्म्य सम्बन्ध की सिद्धि (देवात्मशक्तिम्) इत्यादि श्रुति से होती है। दूसरी बात है कि ब्रह्मवादी आगम के बल से कारण आदि के स्वरूप का निरूपण करता है, इससे उसको दृष्ट के अनुसार ही अवश्य सब मानना चाहिए यह नियम नहीं है। दृष्टान्त के बल से कारणादि के स्वरूप का निरूपण करने वाले अन्य लोगों को दृष्ट के अनुसार ही सब मानना चाहिए यह अतिशय (अत्यन्त भेद) है। यदि कहो कि अन्य को भी सर्वज्ञरचित आगम के रहने से आगम बलतुल्य ही है, तो सो कहना ठीक नहीं है क्योंकि आगमरूप हेतु से उसमें विश्वास से सर्वज्ञत्व की सिद्धि होती है, और सर्वज्ञत्वरूप हेतु से सर्वज्ञता में विश्वास से आगम में प्रमाणता की सिद्धि होती है, इससे अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होती है। वेदान्त में तो आगम ईश्वर के अनादि होने से अन्योन्याश्रयता नहीं है। इससे सांख्ययोगवादी की ईश्वर कल्पना अनुपपन्न है। इसी प्रकार अन्य भी वेद-वाह्य ईश्वर कल्पनाओं में यथासम्भव असामञ्जस्य की योजना कर्त्तव्य है ॥ ३८ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। स हि परिकल्प्यमानः कुम्भकार इव मृदादीनि प्रधानादीन्यधिष्ठाय प्रवर्तयेत्। न चैवमुपपद्यते। न ह्यप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं सम्भवति, मृदादिवैलक्षण्यात् ॥ ३९ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी तार्किकों से परिकल्पित ईश्वर को असिद्धि है। जिससे परिकल्पित वह ईश्वर, जैसे कुम्भकार मृत्तकादि को अधिष्ठाय (ग्रहण करके) घटादि

कार्य के लिए प्रवृत्त होता है, वैसे ही प्रधानादि को ग्रहण करके उसे कार्यरूप से प्रवृत्त करेगा, परन्तु यह सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि अप्रत्यक्ष रूपादि से रहित प्रधान ईश्वर का भी अधिष्ठेय (वशवर्त्ती) नहीं हो सकता है जिससे उस प्रधान में मृत्तिकादि से विलक्षणता है। मृत्तिकादि कुम्भकारादि दृष्टान्त से ही तार्किक ईश्वर को सिद्ध करते हैं, इससे दृष्टान्त से विषमता के कारण मृत्तिकादि के समान प्रधान ईश्वर से ग्राह्य-प्रेर्य अधिष्ठेय नहीं हो सकता है ॥ ३९ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

स्यादेतत्, यथा करणग्रामं चक्षुरादिकमप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च पुरुषोऽधितिष्ठत्येवं प्रधानमपीश्वरोऽधिष्ठास्यतीति। तथापि नोपपद्यते। भोगादिदर्शनाद्धि करणग्रामस्याधिष्ठितत्वं गम्यते। न चात्र भोगादयो दृश्यन्ते। करणग्रामसाम्ये वाभ्युपगम्यमाने संसारिणामिवेश्वरस्यापि भोगादयः प्रसज्येरन्।

पूर्वोक्त अर्थ में शंका होती है कि यह प्रधान अप्रत्यक्ष-रूप रहित होते भी ईश्वर से अधिष्ठेय हो सकता है, जैसे करण समूह नेत्रादि अप्रत्यक्ष और रूपादिरहित होते भी पुरुष से अधिष्ठेय होते हैं, पुरुष उनका अधिष्ठाता होता है, इसी प्रकार ईश्वर भी प्रधान का अधिष्ठाता होगा। तो कहा जाता है कि इस प्रकार इन्द्रियों के समान भी ईश्वर प्रधान का अधिष्ठाता नहीं सिद्ध हो सकता है, जिससे इन्द्रियों द्वारा पुरुष के भोगादि को देखने से अनुमान द्वारा करण समूह को पुरुष से अधिष्ठितत्व समझा जाता है। इस ईश्वर में प्रधान द्वारा भोगादि नहीं दीखते हैं। न इन्द्रियों द्वारा भोगादि दीखते हैं, कि जिससे प्रधानादि के अधिष्ठातृत्व का अनुमान किया जाय। इन्द्रिय समूह के तुल्य प्रधान को मानकर पुरुष के समान ईश्वर प्रधान का अधिष्ठाता है, ऐसा मानो, तो प्रधान को करण समूह के तुल्य होने पर ईश्वर को भी संसारी के समान भोगादि की प्राप्ति होगी। क्योंकि अतीन्द्रिय करणों के अधिष्ठाता में भोगादि देखे जाते हैं, इससे इन्द्रिय तुल्य प्रधान के अधिष्ठाता ईश्वर में भी भोगादि का अनुमान होगा। जिससे अनीश्वरत्व की प्राप्ति होगी। अनीश्वर ही रूपादिरहित, अप्रत्यक्ष, स्वभोगहेतु इन्द्रियों का अधिष्ठाता देखा गया है॥

अन्यथा वा सूत्रद्वयं व्याख्यायते। 'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च'। इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। साधिष्ठानो हि लोके सशरीरो राजा राष्ट्रस्येश्वरो दृश्यते न निरधिष्ठानः, अतश्च तद्दृष्टान्तवशेनादृष्टमीश्वरं कल्पयितुमिच्छत ईश्वरस्यापि किंचिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात्, न च तद्वर्णयितुं शक्यते। सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः। निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः एवं लोके दृष्टत्वात्। 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः'। अथ लोकदर्शनानुसारेणेश्वरस्यापि किंचित्करणानामायतनं शरीरं

कामेन कल्प्येत' एवमपि नोपपद्यते। सशरीरत्वे हि सति संसारिवद्भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत ॥ ४० ॥

अथवा इन दोनों सूत्रों का अन्यप्रकार से व्याख्यान किया जाता है कि अधिष्ठान (आश्रय-शरीर) की अनुपपत्ति से कुलालतुल्य तटस्थ कर्ता नहीं हो सकता है। इस हेतु से भी तार्किक से कल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति है कि जिससे लोक में साधिष्ठान अर्थात् शरीर सहित राजा ईश्वर (नियन्ता) दीखता है। निरधिष्ठान (शरीररहित) नियन्ता नहीं दीखता है। इससे उस राजा के दृष्टान्त वश से अदृष्ट ईश्वर की कल्पना की इच्छा वाले को ईश्वर के भी इन्द्रियों के आश्रयरूप कोई शरीर का वर्णन करना होगा। उस शरीर का वर्णन नहीं किया जा सकता है। क्योंकि सृष्टि के उत्तर काल में शरीर के होने से, सृष्टि से पूर्वकाल में शरीर की अनुपपत्ति है। निरधिष्ठानत्व, शरीर रहितत्व रहते ईश्वर को प्रवर्तकत्व की अनुपपत्ति है, क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा गया है। इसी से यदि ईश्वर का भी करणवत् (करण का आश्रय शरीर) मानो तो भोगादि की प्रसक्ति से अनीश्वरता की प्राप्ति होती है। अर्थात् लोकदृष्टि के अनुसार से यदि ईश्वर का भी कोई करणों का आश्रयरूप शरीर काम से कल्पित सिद्ध करो, कि ईश्वर इच्छा से शरीर रच लेता है, तो ऐसी कल्पना करने पर भी ईश्वरत्व नहीं उपपन्न होता है, जिससे शरीर सहित होने पर संसारी के समान भोगादि की प्राप्ति से ईश्वर को भी अनीश्वरत्व की प्राप्ति होगी ॥ ४० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। स हि सर्वज्ञस्तैरभ्युपगम्यतेऽनन्तश्च, अनन्तं च प्रधानमनन्ताश्च पुरुषा मिथो भिन्ना अभ्युपगम्यन्ते। तत्र सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्ता परिच्छिद्येत वा न वा परिच्छिद्येत, उभयथापि दोषोऽनुषक्त एव। कथम्? पूर्वस्मिंस्तावद्विकल्पे इयत्तापरिच्छिन्नत्वात्प्रधानपुरुषेश्वराणामन्तवत्त्वमवश्यं भाव्येवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोक इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु घटादि तदन्तवद्दृष्टं तथा प्रधानपुरुषेश्वरत्रयमपीयत्तापरिच्छिन्नत्वादन्तवत्स्यात्। संख्यापरिमाणं तावत्प्रधानपुरुषेश्वरत्रयरूपेण परिच्छिन्नम्, स्वरूपपरिमाणमपि तद्गतमीश्वरेण परिच्छिद्यतेति। पुरुषगता च महासङ्ख्या। ततश्चेयत्तापरिच्छिन्नानां मध्ये ये संसारिणः संसारान्मुच्यन्ते तेषां संसारोऽन्तवान्संसारित्वं च तेषामन्तवत्, एवमितरेष्वपि क्रमेण मुच्यमानेषु संसारस्य संसारिणां चान्तवत्त्वं स्यात्। प्रधानं च सविकारं पुरुषार्थमीश्वरस्याधिष्ठेयं संसारित्वेनाभिमतं तच्छून्यतायामीश्वरः किमधितिष्ठेत्, किंविषये वा सर्वज्ञतेश्वरते स्याताम्। प्रधानपुरुषेश्वराणां चैवमन्तवत्त्वे सत्यादिमत्त्वप्रसङ्गः, आद्यन्तवत्त्वे च शून्यवादप्रसङ्गः। अथ मा भूदेष दोष इत्युत्तरो विकल्पोऽभ्युपगम्येत-न प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्तेश्वरेण परि-

च्छिद्यत-इति, तत ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाभ्युपगमहानिरपरो दोषः प्रसज्येत। तस्मादप्यसङ्गतस्तार्किकपरिगृहीत ईश्वरकारणवादः ॥ ४१ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी तार्किक से परिकल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति है। जिससे उन तार्किकों से वह ईश्वर सर्वज्ञ और अनन्त माना जाता है। अनन्त ही प्रधान माना जाता है, तथा अनन्त पुरुष माने जाते हैं। ये सब परस्पर भिन्न माने जाते हैं। यहाँ देश काल वस्तुकृत अन्तरहित होने वाला अनन्त एक ही हो सकता है, अनेक नहीं हो सकता है। वास्तविक विभुतारूप अनन्तता त्रिविध परिच्छेद रहितता ही है, जो एक वस्तु दूसरी वस्तु के अन्दर सर्वथा प्रविष्ट है, वह रज्जु सर्प के समान मिथ्या है। वही अन्तवाली है, प्रधान पुरुष यदि ईश्वर के स्वरूप में प्रविष्ट है, तो अन्त वाले मिथ्या हैं। ईश्वर भी यदि इनके स्वरूप में सर्वथा प्रविष्ट है इनसे भिन्न देशकाल वाला नहीं है, तो वह भी अन्त वाला मिथ्या है, अत एव असर्वज्ञ अनीश्वर है। दूसरी बात है कि ईश्वर प्रधान और पुरुष के अनन्त होने पर सर्वज्ञ ईश्वर से प्रधान की, पुरुष की और अपनी इयत्ता (संख्या और परिमाण) परिच्छिन्न (अनुभूत) होती हो अथवा नहीं होती हो। दोनों प्रकार से भी दोष की प्राप्ति होती ही है। क्योंकि प्रथम विकल्प (पक्ष) में इयत्ता परिच्छिन्न (संख्या परिमाणयुक्त) होने से प्रधान पुरुष और ईश्वर को अन्तवत्त्व अवश्य होगा, क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा जाता है। जैसे लोक में जो इयत्ता से परिच्छिन्न वस्तु घटादि हैं, सो अन्तवाले देखे गये हैं, वैसे ही प्रधान पुरुष और ईश्वर इन तीनों को भी इयत्ता से परिच्छिन्न होने से ये तीनों अन्त वाले होंगे। प्रथम संख्यापरिमाण (संख्यास्वरूप) प्रधान, पुरुष और ईश्वर इन तीन रूपों से परिच्छिन्न है। उन प्रधानादिगत स्वरूप परिमाण भी ईश्वर से परिच्छिन्न होगा। पुरुषगत महासंख्या भी ईश्वर से परिच्छिन्न होगी। इससे इयत्ता से परिच्छिन्न के मध्य में वर्तमान जो संसारी संसार से मुक्त होंगे, उनका संसार अन्तवाला होगा, और उनका संसारित्व अन्तवाला होगा। इसी प्रकार अन्य के भी क्रम से मुक्त होने पर संसार और संसारित्व को अन्तवत्त्व होगा। विकारसहित प्रधान पुरुष का प्रयोजन के लिए ईश्वर के अधिष्ठेय (वशवर्ती) संसारीरूप से अभिमत है। उस संसारी से शून्यता की प्राप्ति होने पर ईश्वर किसका अधिष्ठान (नियमन) करेगा। वा किस विषयक उस ईश्वर की ईश्वरता और सर्वज्ञता होगी। इस प्रकार प्रधान पुरुष और ईश्वर के अन्तवाले होने पर आदिमत्ता की भी प्राप्ति होगी। इन सब के आदि अन्त वाले होने पर शून्यवाद का प्रसङ्ग होगा। यह दोष नहीं प्राप्त हो इसलिए यदि उत्तर विकल्प का स्वीकार करें कि प्रधान पुरुष और ईश्वर की इयत्ता ईश्वर से परिच्छिन्न नहीं होती है, तो ईश्वर की सर्वज्ञता के अभ्युपगम की हानिरूप दूसरा दोष प्राप्त होगा, यदि इयत्ता नहीं होती तब तो उस के अज्ञान निमित्तक असर्वज्ञता भी नहीं होती, परन्तु भेदरूप विशेषवत्ता से अन्य द्रव्य के समान इयत्ता अवश्य है ही। इससे भी तार्किक से परिगृहीत ईश्वर कारणवाद असङ्गत है ॥ ४१ ॥

उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण (८)

जीवोत्पत्त्यादिकं पाञ्चरात्रोक्तं युज्यते न वा।
युक्तं नारायणव्यूहतत्समाराधनादिवत् ॥ १ ॥
युज्यतामविरुद्धोंऽशो जीवोत्पत्तिर्न युज्यते।
उत्पन्नस्य विनाशित्वे कृतनाशादिदोषतः ॥ २ ॥

पञ्चरात्र मत में जीव की उत्पत्ति ईश्वर से मानी जाती है। परन्तु बीजाङ्कुर न्याय से अनादि शरीर कर्म प्रवाह का आश्रय ईश्वराभिन्न कल्पित भेदवाले जीव को उत्पत्ति असम्भव से यह मत भी अयुक्त है। यहाँ संशय है कि पञ्चरात्र में कहे गये जीव के उत्पत्ति आदि युक्त हैं। अथवा अयुक्त हैं। पूर्वपक्ष है कि नारायण का व्यूह (अनेक रूप से स्थिति) समूह, और नारायण के सम्यक् आराधना आदि के कथन समान जीवोत्पत्ति का कथन भी युक्त है। सिद्धान्त है कि श्रुति से अविरुद्ध अंशरूप व्यूहादि युक्त हो सकते हैं। परन्तु जीव की उत्पत्ति युक्त नहीं है। क्योंकि उत्पन्न जीव के विनाशित्व भी होने से कृत कर्म का नाश होगा, और नवीन उत्पन्न जीव को अकृत कर्मफल की प्राप्तिरूप दोष प्राप्त होंगे ॥ १–२ ॥

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥

येषामप्रकृतिरधिष्ठाता केवलनिमित्तकारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यातः, येषां पुनः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चोभयात्मकं कारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यायते। ननु श्रुतिसमाश्रयणेनाप्येवंरूप एवेश्वरः प्राङ्निर्धारितः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चेति, श्रुत्यनुसारिणी च स्मृतिः प्रमाणमिति स्थितिः, तत्कस्य हेतोरेष पक्षः प्रत्याचिख्यासित इति। उच्यते। यद्यप्येवंजातीयकोंऽशः समानत्वान्न विसंवादगोचरो भवत्यस्ति त्वंशान्तरं विसंवादस्थानमित्यतस्तत्प्रत्याख्यानायारम्भः। तत्र भागवता मन्यते—भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वं, स चतुर्धाऽऽत्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेवव्यूहरूपेण संकर्षणव्यूहरूपेण प्रद्युम्नव्यूहरूपेणानिरुद्धव्यूहरूपेण च। वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते। संकर्षणो नाम जीवः। प्रद्युम्नो नाम मनः। अनिरुद्धो नामाहंकारः। तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम्। तमित्थंभूतं परमेश्वरं भगवन्तमभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत-इति।

जिनको अप्रकृति स्वरूप अधिष्ठाता केवल निमित्त कारण स्वरूप ईश्वर अभिमत है, उनके पक्ष का प्रत्याख्यान हो चुका। जिनको प्रकृति और अधिष्ठाता दोनों कारणरूप ईश्वर अभिमत है, उनके पक्ष का अब प्रत्याख्यान किया जाता है। यदि कहा जाय कि श्रुति का आश्रयण करके भी इस प्रकार के स्वरूप वाला ही ईश्वर पूर्व निर्धारित हुआ है कि ईश्वर प्रकृति और अधिष्ठाता उभय स्वरूप है। श्रुति की अनुसारिणी (अविरुद्ध)

स्मृति प्रमाण होती है, ऐसी स्थिति (मर्यादा) है। तो फिर किस हेतु से यह पक्ष प्रत्याख्यान की इच्छा का विषय होता है। तो कहा जाता है कि यद्यपि इस प्रकार का अंश (स्मृतिभाग) समान होने से विसंवाद का विषय नहीं है (विरोध प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है) किन्तु अन्य अंश विसंवाद विवाद का स्थान है, इससे उसका प्रत्याख्यान के लिए आरम्भ किया जाता है। उस ईश्वर के विषय में भागवत (भगवदुपासक) मानते हैं कि वासुदेव निरञ्जन ज्ञानस्वरूप एक भगवान् ही परमार्थतत्त्व है, सो अपने आत्मा को चार रूप से प्रविभक्त करके, वासुदेव मूर्तिरूप से, संकर्षण मूर्तिरूप से, प्रद्युम्न मूर्तिरूप से और अनिरुद्ध मूर्तिरूप से प्रतिष्ठित है। वहाँ वासुदेव इस नाम से परमात्मा कहा जाता है। संकर्षण नाम से जीव कहा जाता है। प्रद्युम्न नाम वाला मन है और अनिरुद्ध नाम वाला अहंकार है। इनमें वासुदेव परा प्रकृतिरूप हैं। उनसे भिन्न संकर्षणादि कार्य हैं। इस प्रकार के परमेश्वर उस भगवान को उनके मन्दिर में अभिगमन, पूजा के हेतु द्रव्य का उपार्जनरूप उपादान, इज्या (पूजा) मन्त्रपाठ, और योग (ध्यान) द्वारा सौ वर्ष पूजकर क्षीण क्लेशवाला अविद्यादिरहित होकर जीव उस भगवान को ही प्राप्त होता है।

तत्र यत्तावदुच्यते–योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनाऽऽत्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित–इति, तन्न निराक्रियते, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छां० ७।२६।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधा भावस्याधिगतत्वात्। यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते, तदपि न प्रतिषिध्यते, श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्। यत्पुनरिदमुच्यते–वासुदेवात्संकर्षण उत्पद्यते संकर्षणाच्च प्रद्युम्नः प्रद्युम्नाच्चानिरुद्ध–इति। अत्र ब्रूमः। न वासुदेवसंज्ञकात्परमात्मनः संकर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः संभवति, अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्, ततश्च नैवास्य भगवत्प्राप्तिर्मोक्षः स्यात्, कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलयप्रसङ्गात्। प्रतिषेधिष्यति चाचार्यो जीवस्योत्पत्तिम्–'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० सू० २।३।१७) इति। तस्मादसङ्गतैषा कल्पना ॥ ४२ ॥

वहाँ जो यह कहा जाता है कि जो वह नारायण अव्यक्त से पर प्रसिद्ध सर्वात्मा परमात्मा है, सो अपने से अपने को अनेक प्रकार से रचकर अवस्थित है, इसका निराकरण नहीं किया जाता है। क्योंकि (वह एकधा होता है, त्रिधा होता है) इत्यादि श्रुति वाक्यों से परमात्मा के भी अनेक प्रकार के भाव (सत्ता स्वभाव) अधिगत (ज्ञात) होता है। जो भी उस भगवान् को अनन्यचित्तरूप से सदा अभिगमनादिरूप आराधन अभिप्रेत मन्तव्य है, उसका भी प्रतिषेध नहीं किया जाता है। क्योंकि श्रुति स्मृति में ईश्वर के प्रणिधान (भक्ति ध्यानादि) की प्रसिद्धि है। परन्तु जो यह कहा जाता है कि वासुदेव से संकर्षण उत्पन्न होता है। संकर्षण से प्रद्युम्न,

तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध उत्पन्न होता है । यहाँ कहते हैं कि वासुदेव संज्ञक परमात्मा से संकर्षण संज्ञक जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि उत्पत्ति होने पर जीव में अनित्यत्व कृत हानि अकृत प्राप्ति आदि दोषों की प्राप्ति होगी। और उत्पत्ति वाला होने से जब अनित्यत्वादि दोष जीव को प्राप्त होंगे, तो उसी से इस जीव को भगवान् की प्राप्ति रूप मोक्ष नहीं होगा, क्योंकि कार्य को कारण में प्राप्ति होने पर प्रविलय (नाश) का प्रसङ्ग होता है । सूत्रकार आचार्य जीव की उत्पत्ति का प्रतिषेध करेंगे कि (नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः) उत्पत्ति प्रकरण में उत्पत्ति की अश्रुति से और अजत्वादि के बोधक श्रुतियों से आत्मा को नित्यत्व है । नित्यत्व से आत्मा उत्पन्न नहीं होता है । इससे यह उत्पत्ति की कल्पना असङ्गत है ॥ ४२ ॥

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

इतश्चासंगतैषा कल्पना, यस्मान्न हि लोके कर्तुर्देवदत्तादेः करणं परश्वाद्युत्पद्यमानं दृश्यते । वर्णयन्ति च भागवताः—कर्तुर्जीवात्संकर्षणसंज्ञकात्करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञकमुत्पद्यते कर्तृजाच्च तस्मादनिरुद्धसंज्ञकोऽहंकार उत्पद्यत-इति । न चैतद्दृष्टान्तमन्तरेणाध्यवसातुं शक्नुमः, न चैवंभूतां श्रुतिमुपलभामहे ॥ ४३ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी यह कल्पना असंगत है कि जिससे करण के प्रयोगकाल में लोक में कर्ता देवदत्तादि से परशु आदि करण उत्पन्न होता हुआ नहीं देखा जाता है, जीव सदा मन का प्रयोक्ता है सब कार्य में उसका करण मन है, करणान्तर के बिना मन को कैसे उत्पन्न करेगा, और यदि बिना करण के मन को उत्पन्न करेगा तो सब कार्य मन के बिना भी कर सकेगा, मन की उत्पत्ति व्यर्थ होगी । ऐसा होते भी भागवत लोग वर्णन करते हैं कि संकर्षण संज्ञक कर्ता जीवसे प्रद्युम्न संज्ञक करणरूप मन उत्पन्न होता है । और कर्ता से जन्य उस मन से अनिरुद्ध संज्ञक अहंकार उत्पन्न होता है । यह दृष्टान्त के बिना निश्चय नहीं कर सकते हैं, न इस प्रकार की श्रुति को देखते हैं ॥ ४३ ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

अथापि स्यान्न चैते संकर्षणादयो जीवादिभावेनाभिप्रेयन्ते, किं तर्हि ? ईश्वरा एवैते सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वरैर्धर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते वासुदेवा एवैते सर्वे निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्चेति, तस्मान्नायं यथावर्णित उत्पत्त्यसंभवो दोषः प्राप्नोतीति । अत्रोच्यते । एवमपि तदप्रतिषेध उत्पत्त्यसंभवस्याप्रतिषेधः प्राप्नोत्येव । अयमुत्पत्त्यसंभवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः । कथम् ? यदि तावदयमभिप्रायः परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मकत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यम्, एकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः । सिद्धान्तहानिश्च, भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमित्यभ्युपगमात् । अथायमभिप्रायः—एकस्यैव भगवत एते चत्वारो व्यूहास्तु-

ल्यधर्माणः—इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्त्यसंभवः। न हि वासुदेवात्संकर्षणस्योत्पत्तिः संभवति संकर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्य, अतिशयाभावात्। भवितव्यं हि कार्यकारणयोरतिशयेन यथा मृद्घटयोः। न ह्यसत्यतिशये कार्यं कारणमित्यवकल्पते। न च पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिष्वेकेकस्मिन्सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादितारतम्यकृतः कश्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते। न चैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसंख्यायामेवावतिष्ठेरन् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात् ॥ ४४ ॥

और यदि ऐसा अभ्युपगम हो कि, संकर्षणादि जीवादिभाव से अभिप्रेत नहीं है, वासुदेवादि से संकर्षणादि उत्पन्न नहीं होते हैं। तो ये क्या हैं कि ये सब ईश्वर ही हैं। इससे ज्ञान और ऐश्वर्य की आन्तरशक्ति शरीर सम्बन्धी बल, शौर्यरूप वीर्य, प्रागल्भ्य रूप तेजःस्वरूप ईश्वरीय धर्मों से युक्त ये माने जाते हैं, ये सब वासुदेव ही हैं। इससे रागादि दोषों से शून्य, उपादानरूप अधिष्ठान रहित और निरवद्य (अनित्यत्वादि दोष शून्य) हैं। इससे यह पूर्व वर्णित उत्पत्ति का असम्भव रूप दोष नहीं प्राप्त होता है। यहाँ कहा जाता है कि ऐसा मानने पर भी उस दोष का अप्रतिषेध है। अर्थात् उत्पत्ति के असम्भव का अप्रतिषेध प्राप्त होता ही है, परन्तु यह उत्पत्ति का असम्भव अवं अन्य प्रकार से प्राप्त होता है, यह अभिप्राय है। यदि कहो कि कैसे प्राप्त होता है, वहाँ कहा जाता है कि ये सब ईश्वर ही हैं। इस कथन का यदि यह अभिप्राय हो कि ये वासुदेवादि चारों परस्पर भिन्न हो तुल्य धर्मवाले ईश्वर हैं, इनको एकात्मता नहीं है : तब तो अनेक ईश्वर की कल्पना में अनर्थकता है। क्योंकि एक ईश्वर से ही ईश्वर का कार्य सिद्ध होता है। और सिद्धान्त की भी हानि होगी। क्योंकि एक भगवान् वासुदेव ही परमार्थ तत्त्व है, यह आप का अभ्युपगम (सिद्धान्त) है। यदि यह अभिप्राय हो कि ये चारों तुल्य धर्मवाले एक भगवान् के ही व्यूह (मूर्तिविकार) हैं, तो उत्पत्ति असम्भव रूप दोष पूर्व के समान है। क्योंकि तुल्य धर्मवाले होने से अतिशय के अभाव रहते, वासुदेव से संकर्षण की उत्पत्ति का सम्भव नहीं है। न संकर्षण से प्रद्युम्न की न प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति का सम्भव है। कार्य और कारण में अवश्य अतिशय (भेद औत्कर्ष) होना चाहिए। जैसे मृत्तिका और घट में अतिशय होता है। अतिशय के नहीं रहते यह कार्य है, यह कारण है ऐसा पृथक् व्यवहार नहीं हो सकता है, पञ्चरात्र के सिद्धान्त को मानने वाले वासुदेवादिकों में से एक में वा सब में ज्ञान और ऐश्वर्य आदि को तारतम्य (न्यूनाधिक्य) से अन्य किसी भेद को नहीं मानते हैं। क्योंकि ये सब व्यूहनिर्विशेष वासुदेव ही हैं ऐसा इनका मन्तव्य है। परन्तु ये भगवान् के व्यूह चार संख्या में ही स्थिर रहनेवाले नहीं हैं। क्योंकि ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त समस्त ही जगत् को भगवान् के व्यूहत्व (मूर्तित्व) का अवगम (स्वीकार) है ॥ ४४ ॥

विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

विप्रतिषेधश्चास्मिञ्छास्त्रे बहुविध उपलभ्यते गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः। ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाः, आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवा इत्यादि-दर्शनात्। वेदविप्रतिषेधश्च भवति, चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानित्यादिवेदनिन्दादर्शनात्। तस्मादसङ्गतैषा कल्पनेति सिद्धम् ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरक-मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥

—: ० :—

और पञ्चरात्रशास्त्र में बहुत प्रकार का विरोध उपलब्ध होता है, सो विरोध गुणगुणित्व के कल्पनादि स्वरूप है। क्योंकि ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज ये भगवान् के गुण हैं। ज्ञानादि ये सब आत्मा ही हैं, भगवान् वासुदेव स्वरूप ही हैं, इत्यादि देखने से विरोध सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रद्युम्न, अनिरुद्ध को भगवान् से भिन्न मानकर भगवान् स्वरूप मानना विरुद्ध है। यद्यपि वेदान्त में जैसे सत्तारूप से सब ब्रह्म स्वरूप है, और औपाधिक मायिरूप से भिन्न भी है, क्योंकि श्रुति ही कहती है कि यह सब ब्रह्मस्वरूप है, इन्द्र माया से बहुरूप होता है इत्यादि, तथापि इस भागवत मत में एक सत्ता और माया मानी नहीं गई है, इससे उक्त दोष है। एक सत्ता माया को मानने पर सिद्धान्त की हानि होगी। वेद से विरोध भी इस शास्त्र में है कि चार वेदों में परंश्रेयः को नहीं लाभ (प्राप्त) करके शाण्डिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त किया, इत्यादि वेद की निन्दा देखने से वेद से विरोध सिद्ध होता है, इससे यह कल्पना असङ्गत है। यह सिद्ध हुआ ॥ ४५ ॥

स्वतन्त्रान्न प्रधानाद्वा न चाणोर्वै जगज्जनिः।
नाभावान्न तटस्थाद्वा महेश्वराद्धि जायते ॥ १ ॥
तस्मात् सर्वात्मकादीशाज्जगज्जन्मादिकल्पना।
जल्पनामात्ररूपैव न जीवस्यास्ति सापि हि ॥ २ ॥
अनन्तं सच्चिदानन्दं ब्रह्म जीवात्मना स्थितम्।
अज्ञानात् सोऽस्ति संसारी ज्ञानात् कैवल्यमश्नुते ॥ ३ ॥
यदात्मना जगन्नित्यं यं विहाय न किञ्चन।
तं वन्दे परमानन्दं सर्वतः सर्वदा स्थितम् ॥ ४ ॥
अनन्ताय विमुक्ताय निर्गुणाय निजात्मने।
नमोऽस्तु परमानन्दरूपाय परमात्मने ॥ ५ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनं नाम द्वितीयः पादः।

—: ० :—

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

[अत्र पादे पञ्चमहाभूतजीवादिश्रुतीनां विरोधपरिहारः]

वियदधिकरण (१)

व्योम नित्यं जायते वा हेतुत्रयविवर्जनात् ।
गतिश्रुतेश्च गौणत्वान्नित्यं व्योम न जायते ॥ १ ॥
एकज्ञानात्सर्वबुद्धेर्विभक्तत्वाज्जनिश्रुतेः ।
विवर्ते कारणैकत्वाद् ब्रह्मणो व्योम जायते ॥ २ ॥

पूर्वपाद के अन्त में जीव की उत्पत्ति का विचार हुआ है। उसके प्रसंग से इस पाद के आदि में आकाश की उत्पत्ति का विचार किया जाता है। यहाँ प्रथम एकदेशी मत पूर्वपक्ष से अधिकरण का आरम्भ है कि छान्दोग्य श्रुति में आकाश की उत्पत्ति के अश्रवण से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ यह सूत्रार्थ है ॥ संशय है कि आकाश नित्य है, अथवा उत्पन्न होता है। पूर्वपक्ष है कि कार्य की उत्पत्ति में समवायी, असमवायी और निमित्त ये तीन हेतु होते हैं। यहाँ ससंग सावयव द्रव्य के अवयव समवायी कारण होते हैं उनका संयोग असमवायी कारण होता है। उन दोनों से भिन्न निमित्त कारण होता है। असंगता से आत्मा के समान निरवयवता के अनुमान होने पर तीनों कारण का अभाव सिद्ध होता है, इससे आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है। इससे तैत्तिरीयश्रुति में जो आकाश की उत्पत्तिश्रुति है सो गौण है, गुण की उत्पत्ति से आकाश की उत्पत्ति कही गई है। सिद्धान्त है कि एक ब्रह्म के ज्ञान से सब के ज्ञान की श्रुति से, तथा आकाश को अन्य भूतादि से विभक्त होने, ब्रह्मात्मा के समान सर्वात्मा नहीं होने से और उत्पत्ति की श्रुति से आकाश के भी अवयव अनुमित हो सकते हैं। अति सूक्ष्मता से असङ्गता भी हो सकती है। दूसरी बात है कि विवर्तरूप कार्य में कारण की एकता रहती है। इससे एक ब्रह्म से आकाश उत्पन्न होता है ॥ १–२ ॥

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते। केचिदाकाशस्योत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न। तथा केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न। एवं जीवस्य प्राणानां च। एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषूपलक्ष्यते। विप्रतिषेधाच्च परपक्षाणामनपेक्षितत्वं स्थापितं तद्वत्स्वपक्षस्यापि विप्रतिषेधादेवानपेक्षितत्वमाशङ्क्येतेत्यतः सर्ववेदान्तगतसृष्टिश्रुत्यर्थनिर्मलत्वाय परः पप्रञ्च आरभ्यते। तदर्थनिर्मलत्वे च फलं यथोक्ताशङ्कानिवृत्तिरेव। तत्र प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यते किमस्याकाशस्योत्पत्तिरस्त्युत नास्तीति। तत्र तावत्प्रतिपाद्यते—'न वियदश्रुतेः' इति। न खल्वाकाशमुत्पद्यते। कस्मात्? अश्रुतेः, न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति। छान्दोग्ये हि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (६।२।१) इति सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म प्रकृत्य 'तदैक्षत'

'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति च पञ्चानां महाभूतानां मध्यमं तेज आदि कृत्वा त्रयाणां तेजोबन्नानामुत्पत्तिः श्राव्यते। श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ, न चात्र श्रुतिरस्त्याकाशस्योत्पत्तिप्रतिपादिनी, तस्मान्नास्योत्पत्तिरिति ॥ १ ॥

वेदान्त में तत्तत् स्थानों श्रुतियों में भिन्न-भिन्न गति रीति वाली उत्पत्ति विषयक श्रुतियाँ सुनी जाती हैं उपलब्ध होती हैं। कोई श्रुतियाँ आकाश की उत्पत्ति का कथन करती हैं, कोई उत्पत्ति का कथन नहीं करती हैं। इसी प्रकार कोई श्रुति वायु की उत्पत्ति कहती हैं, कोई नहीं कहती हैं। इसी प्रकार (सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति। एतस्माज्जायते प्राणः) इत्यादि श्रुतियाँ जीव और प्राणों की भी उत्पत्ति कहती हैं। इसी प्रकार क्रम आदि द्वारा विरोध भी अन्य श्रुतियों में देखा जाता है। अर्थात् कहीं आकाशपूर्वक सृष्टि कही जाती है, कहीं तेजपूर्वक कही जाती है। कहीं क्रम बिना ही सृष्टि कही जाती है। विरोध से परपक्षों (अन्य सिद्धान्तों) को अनपेक्षितत्व स्थापित किया है कि परस्पर विरुद्ध होने से तथा पूर्वापर विरुद्ध होने से ये उपेक्ष्य (त्याज्य) हैं। इसी प्रकार स्वपक्ष को भी विरोध से ही अनपेक्षितत्व (त्याज्यत्व) की शंका की जा सकती है। इस कारण से सब वेदान्त में गत (प्राप्त) सृष्टि विषयक श्रुतियों के अर्थ की निर्मलता (अविरोधिता) के लिए आगे का प्रपञ्च विस्तार (दो पाद) आरम्भ किये जाते हैं। श्रुत्यर्थ के निर्मलत्व का फल उक्त शंका की निवृत्ति ही है। उस निर्मलता के लिए प्रथम आदि में आकाश को आश्रयण (विचार का विषय) करके चिन्ता (विचार) की जाती है कि इस आकाश की उत्पत्ति होती है, या नहीं होती है, वहाँ अविरोध के ही लिए सिद्धान्त के एकदेशी से प्रथम प्रतिपादन किया जाता है कि (न वियदश्रुतेः) निश्चय है कि आकाश नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि उत्पति प्रकरण में इस आकाश के अश्रवण से उसकी अनुत्पत्ति का निश्चय होता है। उत्पत्ति प्रकरण में आकाश का श्रवण नहीं है। जिससे छान्दोग्य श्रुति में (हे सोम्य ! यह जगत् सृष्टि से प्रथम सन्मात्र ही था, एक अद्वितीय ही था) इस प्रकार सत् शब्द का वाच्यार्थ ब्रह्म निरूपण का आरम्भ कर के लिखा है कि (उस ब्रह्म ने ईक्षण विचार किया) फिर (उसने तेज को उत्पन्न किया) इस प्रकार पाँचों भूतों के मध्यम (मध्यदेशगत) तेज को आदि स्थान में करके तेज जल और अन्न (भूमि) इन तीनों की उत्पत्ति सुनाई जाती है। अतीन्द्रिय परोक्ष भूत भावी आदि अर्थों के विज्ञान की उत्पत्ति के लिए श्रुति ही हमें प्रमाण है। इस छान्दोग्य में आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाली श्रुति नहीं है। इससे आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

अस्ति तु ॥ २ ॥

तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे। सा नामाकाशस्य छान्दोग्ये भूदुत्पत्तिः, श्रुत्यन्तरे त्वस्ति। तैत्तिरीयका हि समामनन्ति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति प्रकृत्य

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति । ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधः क्वचित्तेजःप्रमुखा सृष्टिः क्वचिदाकाशप्रमुखेति । नन्वेकवाक्यतानयोः श्रुत्योर्युक्ता । सत्यम् । सा युक्ता न तु सावगन्तुं शक्यते । कुतः ? 'तत्तेजोऽसृजत' (छां० ६।२।३) इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयेन संबन्धानुपपत्तेः 'तत्तेजोऽसृजत' 'तदाकाशमसृजत' इति । ननु सकृच्छ्रुतस्यापि कर्तुः कर्तव्यद्वयेन संबन्धो दृश्यते; यथा सूपं पक्त्वौदनं पचतीति, एवं तदाकाशं सृष्ट्वा तत्तेजोऽसृजतेति योजयिष्यामि । नैवं युज्यते, प्रथमजत्वं हि छान्दोग्ये तेजसोऽवगम्यते तैत्तिरीयके चाकाशस्य, न चोभयोः प्रथमजत्वं संभवति । एतेनेतरश्रुत्यन्तरविरोधोऽपि व्याख्यातः । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यत्रापि 'तस्मादाकाशः संभूतस्तस्मात्तेजः संभूतमि'ति सकृच्छ्रुतस्यापादानस्य संभवनस्य च वियत्तेजोभ्यां युगपत्संबन्धानुपपत्तेः । 'वायोरग्निः' (तै० २।१) इति च पृथगाम्नानात् ॥ २ ॥

तु शब्द पक्षान्तर के परिग्रह (स्वीकार) अर्थ में है कि छान्दोग्य में आकाश की उत्पत्ति का श्रवण न होने पर भी अन्य श्रुति में तो आकाश की उत्पत्ति का वर्णन है । जिससे तैत्तिरीयक शाखावाले कहते हैं कि (सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है) इस प्रकार आरम्भ करके कहते हैं कि (उस मन्त्र से प्रतिपादित और इस ब्राह्मण से प्रतिपादित ब्रह्मात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इससे दोनों श्रुति का विरोध है कि कहीं तेजःप्रमुखा (तेजपूर्वक) सृष्टि है, तो कहीं आकाशपूर्वक सृष्टि वर्णित है । शंका होती है कि विरोध से अप्रमाणता की प्राप्ति होती है । इससे इन दोनों श्रुतियों की किसी प्रकार एकवाक्यता का अविरोध होना युक्त है । वहाँ कहा जाता है कि वह एकवाक्यता युक्त है, यह बात तो सत्य है । परन्तु वह एकवाक्यता समझी नहीं जा सकती है । क्योंकि (उसने तेज को रचा) इस प्रकार एक बार सुना गया स्रष्टा (सृष्टि कर्ता) का स्रष्टव्य (कार्य) दो के साथ सम्बन्ध की अनुपपत्ति है । अर्थात् उसने तेज को रचा, उसने आकाश को रचा, इस प्रकार का सम्बन्ध एकवाक्यता के लिए नहीं हो सकता है । शंका होती है कि एक बार सुने गये हुए कर्ता का भी दो कर्तव्य कार्य के साथ क्रम से सम्बन्ध देखा जाता है, जैसे कि सूप (दाल) पकाकर ओदन (भात) पकाता है । इसी प्रकार (उसने आकाश को रचकर तेज को रचा) ऐसी योजना (एकवाक्यता) करेंगे । वहाँ कहा जाता है कि ऐसी योजना हो नहीं सकती है । क्योंकि छान्दोग्य में तेज का प्रथमजत्व (ज्येष्ठत्व) अवगत होता है कि उत्पन्न होने वाले सब पदार्थों से प्रथम तेज उत्पन्न हुवा । तैत्तिरीयक में आकाश का प्रथमजत्व अवगत होता है । दोनों के प्रथमजत्व का सम्भव नहीं है । इस छान्दोग्य का तैत्तिरीय के साथ विरोध-प्रदर्शन से ही, तैत्तिरीय का छान्दोग्य के साथ अन्य श्रुत्यन्तर-विरोध भी व्याख्यात हो गया कि (उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) यहाँ भी (उस

से आकाश उत्पन्न हुआ, उससे तेज उत्पन्न हुआ) इस प्रकार एक बार सुना गया उपादान कारण का और सम्भव (उत्पत्तिक्रिया) का एक काल में आकाश और तेज के साथ सम्बन्ध की अनुपपत्ति से एकवाक्यता नहीं हो सकती। छान्दोग्य में तेज का उपादान सत्यात्मा सुना जाता है। तैत्तिरीय में आत्मा से पृथक् वायु का तेज के उपादान रूप से कथन है कि वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, इससे भी एकवाक्यता नहीं हो सकती है ॥ २ ॥

अस्मिन्विप्रतिषेधे कश्चिदाह—

गौण्यसंभवात् ॥ ३ ॥

नास्ति वियत उत्पत्तिरश्रुतेरेव। या त्वितरा वियदुत्पत्तिवादिनी श्रुतिरुदाहृता सा गौणी भवितुमर्हति। कस्मात्? असंभवात्। न ह्याकाशस्योत्पत्तिः संभावयितुं शक्या श्रीमत्कणभुगभिप्रायानुसारिषु जीवत्सु। ते हि कारणसामग्र्यसंभवादाकाशस्योत्पत्तिं वारयन्ति। समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि किल सर्वमुत्पद्यमानं समुत्पद्यते। द्रव्यस्य चैकजातीयकमनेकं च द्रव्यं समवायिकारणं भवति। न चाकाशस्यैकजातीयकमनेकं च द्रव्यमारम्भकमस्ति, यस्मिन्समवायिकारणे सत्यसमवायिकारणे च तत्संयोगे आकाश उत्पद्येत। तदभावात्तु तदनुग्रहप्रवृत्तं निमित्तकारणं दूरापेतमेवाकाशस्य भवति। उत्पत्तिमतां च तेजःप्रभृतीनां पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभाव्यते प्रागुत्पत्तेः प्रकाशादिकार्यं न बभूव पश्चाच्च भवतीति। आकाशस्य पुनर्न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यते। किं हि प्रागुत्पत्तेरनवकाशमसुषिरमच्छिद्रं बभूवेति शक्यतेऽध्यवसातुम्। पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च विभुत्वादिलक्षणादाकाशस्याजत्वसिद्धिः। तस्माद्यथा लोक आकाशं कुरु आकाशो जात इत्येवंजातीयको गौणः प्रयोगो भवति, यथा च घटाकाशः करकाकाशो गृहाकाश इत्येकस्याप्याकाशस्यैवंजातीयको भेदव्यपदेशो गौणो भवति, वेदेऽपि 'आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्' इति, एवमुत्पत्तिश्रुतिरपि गौणी द्रष्टव्या ॥ ३ ॥

इस प्रकार विरोध के निश्चित होने पर प्रथम सूत्र-वर्णित कोई एकदेशी कहता है कि—

छान्दोग्य में उत्पत्ति के अश्रवण से ही आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है। और जो अन्य आकाश की उत्पत्ति को कहने वाली श्रुति उदाहृत हुई है— कही गई है। वह गौणी उत्पत्तिपरक होने योग्य है क्योंकि आकाश की मुख्य उत्पत्ति का असम्भव है। जिससे श्रीमान् कणादजी के अभिप्रायानुसारियों के जीवित रहते आकाश की उत्पत्ति को संभावना भी नहीं की जा सकती है। जिससे वे लोग कारणसामग्री के असम्भव से आकाश की उत्पत्ति का वारण (निषेध) करते हैं। उनका निश्चय है कि उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ समवायी असमवायी और निमित्त इन तीन कारणों से ही उत्पन्न होते हैं। एकद्रव्य के एकजाति वाले

अनेक द्रव्य समवायी कारण होते हैं। आकाश के एक जाति वाले अनेक द्रव्य आरम्भक कारण नहीं हैं कि जिस समवायी कारण के रहने पर और उनके संयोग रूप असमवायी कारण के रहने पर आकाश उत्पन्न हो। और उन समवायी आदि के अभाव से ही उनके अनुग्रह के लिए प्रवृत्त आकाश के निमित्त कारण दूरापेत (दूरसे त्यक्त) ही होता है। जो तेज आदि उत्पत्ति वाले हैं, उनके पूर्व और उत्तरकाल में विशेष की सम्भावना रहती है कि तेज आदि की उत्पत्ति से प्रथम महाप्रलय में प्रकाशादि कार्य नहीं होते रहे, जैसे कि अभी तेज आदि के बिना प्रकाशादि कार्य नहीं होते हैं। सृष्टि के बाद उनसे प्रकाशादि कार्य होते हैं। और आकाश के पूर्वोत्तर काल में विशेष (भेद अनुभव अर्थ क्रिया में विलक्षणता) की सम्भावना नहीं की जा सकती है। क्या आकाश की उत्पत्ति से प्रथम अनवकाश (स्थूलाश्रयरहित) असुषिर (अणु आश्रय रहित) अच्छिद्र (सूक्ष्माश्रयरहित) था, ऐसा अध्यवसाय (निश्चय) किया जा सकता है। पृथिवी आदि से विरोधी धर्म विभुत्वादि स्वरूप वाला होने से आकाश को अजत्व (जन्मरहितत्व) की सिद्धि होती है। इससे जैसे लोक में छिद्रादि करने अर्थ में कहा जाता है कि आकाश करो, छिद्र होने पर कहा जाता है कि आकाश उत्पन्न हुआ, इस प्रकार के गौण प्रयोग होते हैं। जैसे घटाकाश, करकाकाश, गृहाकाश, इस प्रकार एक आकाश के भी गौण भेद का व्यवहार होता है, तथा वेद में भी (आकाशों में आरण्य पशुओं का आलम्भ करे) यहाँ एक आकाश में गौण बहुत्व का प्रयोग होता है। इसी प्रकार उत्पत्ति श्रुति को भी गौणी समझना चाहिये ॥ ३ ॥

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

शब्दः खल्वाकाशस्याजत्वं ख्यापयति। यत आह—'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' (बृ० २।३।३) इति न ह्यमृतस्योत्पत्तिरुपपद्यते। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति चाकाशेन ब्रह्म सर्वगतत्वनित्यत्वाभ्यां धर्माभ्यामुपमिमान आकाशस्यापि तौ धर्मौ सूचयति। न च तादृशस्योत्पत्तिरुपपद्यते। 'स यथानन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा वेदितव्यः' इति चोदाहरणम्, 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२), 'आकाश आत्मा' (तै० १।७।१) इति च। न ह्याकाशस्योत्पत्तिमत्त्वे ब्रह्मणस्तेन विशेषणं संभवति नीलेनेवोत्पलस्य। तस्मान्नित्यमेवाकाशेन साधारणं ब्रह्मेति गम्यते ॥ ४ ॥

केवल तर्क से ही आकाश को अजत्व नहीं है किन्तु शब्द (श्रुति) भी आकाश की अजता का कथन करती है। इससे गौणी उत्पत्ति नहीं मानने पर श्रुति से विरोध होगा जिससे श्रुति कहती है कि (वायु और अन्तरिक्ष अमृत हैं), अमृत की उत्पत्ति नहीं सिद्ध हो सकती है। (ब्रह्मात्मा आकाश के समान सर्वगत तथा नित्य है) इत्यादि सर्वगतत्व नित्यत्व धर्मों द्वारा ब्रह्म को आकाश की उपमा देती हुई श्रुति आकाश के भी वे दोनों धर्म हैं यह सूचित करती है। तादृश (नित्य सर्वगत) की उत्पत्ति नहीं सिद्ध हो सकती

है। (जैसे यह आकाश अनन्त है, वैसे वह आत्मा अनन्त जानने योग्य है) यह शब्द (श्रुति) भी यहाँ उदाहरण है। (आकाशरूप शरीर वाला ब्रह्म है) ये भी उदाहरण हैं। आकाश के उत्पत्ति वाला होने पर उस आकाश से ब्रह्म का विशेषण सम्भव नहीं हो सकता है। इससे नित्य ही आकाशरूप आत्मा नील से कमल के समान के तुल्य ब्रह्म है। ऐसी प्रतीति होती है ॥ ४ ॥

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

इदं पदोत्तरं सूत्रम्। स्यादेतत्। कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य 'यस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजःप्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति। अत उत्तरमुच्यते—स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद्गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत्। यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' (तै० ३।२) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोग आनन्दे च मुख्यः। यथा च तपसि ब्रह्मविज्ञानसाधने ब्रह्मशब्दो भक्त्या प्रयुज्यतेऽञ्जसा तु विज्ञेये ब्रह्मणि तद्वत्। कथं पुनरनुत्पत्तौ नभसः 'एकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६।२।१) इतीयं प्रतिज्ञा समर्थ्यते। ननु नभसा द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्राप्नोति कथं च ब्रह्मणि विदिते सर्वं स्यादिति। यदुच्यते। एकमेवेति तावत्स्वकार्यापेक्षयोपपद्यते। यथा लोके कश्चित्कुम्भकारकुले पूर्वेद्युर्मृद्दण्डचक्रादीनि चोपलभ्यापरेद्युश्च नानाविधान्यमत्राणि प्रसारितान्युपलभ्य ब्रूयान्मृदेवैकाकिनी पूर्वेद्युरासीदिति। स च तयावधारणया मृत्कार्यजातमेव पूर्वेद्युर्नासीदित्यभिप्रेयान्न दण्डचक्रादि तद्वत्। अद्वितीयश्रुतिरधिष्ठात्रन्तरं वारयति यथा मृदोऽमत्रप्रकृतेः कुम्भकारोऽधिष्ठाता दृश्यते नैवं ब्रह्मणो जगत्प्रकृतेरन्योऽधिष्ठातास्तीति।

यह सूत्र पदोत्तर (पद विषयक शंका का उत्तर) रूप है, यहाँ प्रथम शंका है कि, शब्द से आकाश को नित्यत्व होने पर भी श्रुति में पठित (उस इस आत्मा से आकाश संभूत—उत्पन्न—हुआ) इस एक अधिकार (प्रकरण) में एक संभूत शब्द को आगे के तेज आदि के उत्पत्ति-विधायक वाक्यों में अनुवृत्ति होने पर कैसे मुख्यत्व का संभव होता है। आकाश में कैसे गौणत्व होता हैं। इससे उत्तर कहा जाता है कि ब्रह्म शब्द के समान एक ही संभूत शब्द का विषय विशेष (भेद) के वश से गौण और मुख्य प्रयोग हो सकता है। जैसे एक ही ब्रह्म शब्द को (तप से ब्रह्म की जिज्ञासा—जानने की इच्छा करो, तप ब्रह्म है) इस एक प्रकरण में (अन्नं ब्रह्म) इत्यादि वाक्यों में अन्नादि अर्थ में ब्रह्म शब्द का गौण प्रयोग है, और (आनन्दो ब्रह्म) यहाँ आनन्द अर्थ में मुख्य प्रयोग है। जैसे ब्रह्म विज्ञान के साधनरूप तप में भाक्त (अभेदोपचार रूप गौण) ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया जाता है। तप से विज्ञेय ब्रह्म में तो अञ्जसा (मुख्य तत्त्वतः) प्रयोग किया जाता है। वैसे ही सम्भूत शब्द के प्रयोग को भी

समझना चाहिये। यहाँ मुख्य सिद्धान्ती शंका करते हैं कि इस प्रकार आकाश की गौणी उत्पत्ति और वस्तुतः अनुत्पत्ति मानने पर (एक अद्वितीय ब्रह्म था) वह प्रतिज्ञा कैसे समर्थित (सार्थक) होगी। क्योंकि आकाशरूप दूसरी वस्तु से द्वैत सहित ब्रह्म प्राप्त होता है। आकाश नित्य हो तो, एक ब्रह्म के विदित (ज्ञात) होने से सब विदित कैसे हो सकता है। क्योंकि कारण के ज्ञान से कार्य ज्ञात होता है, अन्य नहीं। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि एक ही था यह प्रतिज्ञा तो अपने कार्यों की अपेक्षा से सिद्ध होती है कि जैसे लोक में कुम्भकार के कुल (घर) में पूर्व के दिन में मृत्तिका, दण्ड चक्रादि को देख कर फिर एक दूसरे दिन में नाना प्रकार अमत्र (पात्र) को फैलाये हुए देखकर कोई कहे कि अकेली (केवल) मृत्तिका ही पूर्व के दिन में थी। तो वह उस अवधारणा (निश्चय) से मृत्तिका के कार्यसमूहविषयक ही अभिप्राय वाला होगा कि पूर्व के दिन में मृत्तिका का कार्यसमूह नहीं था। ऐसा उसका अभिप्राय नहीं हो सकता है कि पहले दिन दण्ड-चक्रादि भी नहीं थे। इसी प्रकार अवधारण एकत्व के निश्चय से सृष्टि से पूर्वकाल में कार्य रूप तेज आदि का निषेध किया जाता है। नित्य आकाशादि का नहीं। अद्वितीय श्रुति अन्य अधिष्ठाता का वारण (निषेध) करती है कि जैसे घटादि पात्रों की प्रकृति रूप मृत्तिका का कुम्भकार अधिष्ठाता होता है, यह देखा जाता है। जगत् की प्रकृति रूप ब्रह्म का इस प्रकार का कोई अधिष्ठाता नहीं है।

न च नभसापि द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्रसज्यते। लक्षणान्यत्वनिमित्तं हि नानात्वम्, न च प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मनभसोर्लक्षणान्यत्वमस्ति, क्षीरोदकयोरिव संसृष्टयोर्व्यापित्वामूर्तत्वादिधर्मसामान्यात्। सर्गकाले तु ब्रह्म जगदुत्पादयितुं यतते स्तिमितमितरत्तिष्ठति, तेनान्यत्वमवसीयते। तथा च 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।६२) इत्यादिश्रुतिभ्योऽपि ब्रह्माकाशयोरभेदोपचारसिद्धिः। अत एव च ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः। अपि च सर्वं कार्यमुत्पद्यमानमाकाशेनाव्यतिरिक्तदेशकालमेवोत्पद्यते, ब्रह्मणा चाव्यतिरिक्तदेशकालमेवाकाशं भवतीति, अतो ब्रह्मणा तत्कार्येण च विज्ञातेन सह विज्ञातमेवाकाशं भवति। यथा क्षीरपूर्णे घटे कतिचिदब्बिन्दवः प्रक्षिप्ताः सन्तः क्षीरग्रहणेनैव गृहीता भवन्ति. नहि क्षीरग्रहणादब्बिन्दुग्रहणं परिशिष्यते। एवं ब्रह्मणा तत्कार्यैश्चाव्यतिरिक्तदेशकालत्वाद् गृहीतमेव ब्रह्मग्रहणेन नभो भवति। तस्माद्भाक्तं नभसः सम्भवश्रवणमिति ॥ ५ ॥

दूसरी बात है कि द्वितीय आकाश से भी ब्रह्म द्वैतसहित नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि लक्षण के अन्यत्व (भेद) निमित्तक नानात्व (द्वैत) होता है। संसार की उत्पत्ति से प्रथम ब्रह्म और आकाश में लक्षण का भेद नहीं रहता है, क्योंकि दूध और जल के समान संसृष्ट (मिलित) ब्रह्म और आकाश की सृष्टि से प्रथम व्यापित्व (व्यापकत्व)

और अमूर्तत्वादि तुल्य ही धर्म रहते हैं। फिर सृष्टिकाल में जगत् के उत्पादन के लिए ब्रह्म यत्न करता है। इतर (आकाश) स्तिमित (यत्न व्यापार रहित) निश्चल रहता है, उससे भेद का निश्चय किया जाता है। इसी प्रकार (आकाश शरीर जिसका है वह ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्म और आकाश में भेद रहते भी अभेद के उपचार (गौण व्यवहार) की सिद्धि होती है। इस अभेद के उपचार से ही ब्रह्म के विज्ञान से सबके विज्ञान की सिद्धि होती है। दूसरी बात है कि उत्पन्न होते हुए सब कार्य आकाश के साथ अभिन्न देशकाल वाले ही उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म के साथ अभिन्न देश-काल वाला ही आकाश रहता है, इससे विज्ञान ब्रह्म और उसके कार्य के साथ आकाश विज्ञात ही होता है। जैसे कि दूध से पूर्ण, भरे हुए, घट में कुछ जल के बिन्दु डाले गये हों तो दूध के ग्रहण से ही वे जलबिन्दु भी गृहीत होते हैं। दूध के ग्रहण से जलबिन्दुओं का ग्रहण बाकी नहीं रह जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म और उसके कार्यों के साथ अभिन्न देश-काल वाला होने से ब्रह्म के ग्रहण से आकाश गृहीत (ज्ञात) ही होता है, उससे आकाश के जन्म का श्रवण भाक्त (गौण) है ॥ ५ ॥

एवं प्राप्त इदमाह—

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छां० ६।१।१) इति, 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४।५।६) इति, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।३) इति, 'न काचन मद्बहिर्धा विद्यास्ति' इति चैवंरूपा प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञा विज्ञायते। तस्याः प्रतिज्ञाया एवमहानिरनुपरोधः स्यात्, यद्यव्यतिरेकः कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य विज्ञेयाद् ब्रह्मणः स्यात्। व्यतिरेके हि सत्येकविज्ञानेन सर्वं विज्ञायत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स चाव्यतिरेक एवमुपपद्यते यदि कृत्स्नं वस्तुजातमेकस्माद् ब्रह्मण उत्पद्येत। शब्देभ्यश्च प्रकृतिविकाराव्यतिरेकन्यायेनैव प्रतिज्ञासिद्धिरवगम्यते। तथाहि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इति प्रतिज्ञाय मृदादिदृष्टान्तैः कार्यकारणाभेदप्रतिपादनपरैः प्रतिज्ञैषा समर्थ्यते, तत्साधनायैव चोत्तरे शब्दाः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६।२।१), 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' (छां० ६।२।३) इति, एवं कार्यजातं ब्रह्मणः प्रदर्श्याव्यतिरेकं प्रदर्शयन्ति—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छां० ६।८।७) इत्यारभ्याप्रपाठकपरिसमाप्तेः, तद्यद्याकाशं न ब्रह्मकार्यं स्यान्न ब्रह्मणि विज्ञाते आकाशं विज्ञायेत, ततश्च प्रतिज्ञाहानिः स्यात्।

इस पूर्ववर्णित रीति से आकाश की उत्पत्ति नहीं होने पर भी एकदेशी मत से श्रुतियों का अविरोध प्राप्त होने पर, अब मुख्य सिद्धान्ती यह कहते हैं कि—

(जिस ब्रह्म के श्रवणादि से अश्रुत भी श्रुत होता है) और (अमत भी मत, तथा

अविज्ञात भी विज्ञात होता है), (अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही के दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात होने से यह सब अनात्म वस्तु विदित होती है) (हे भगवन् किसके विज्ञात होने से यह सब विज्ञात होता है) (मुझसे बहिर्धा बाह्य स्थितिवाली कोई विद्या वस्तु नहीं है) इस प्रकार के स्वरूप वाली सब वेदसम्बन्धी प्रत्येक वेदान्त में प्रतिज्ञा विज्ञात होती है, उस प्रतिज्ञा की इस प्रकार अहानि (अबाध) होगी कि यदि विज्ञेय ब्रह्म से सम्पूर्ण वस्तुसमूह को अव्यतिरेक (अभेद) होगा, जिससे व्यतिरेक (भेद) रहने पर एक के विज्ञान से सब विज्ञात होता है, यह प्रतिज्ञा नष्ट होगी । वह अभेद इस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि यदि सम्पूर्ण वस्तुसमूह एक ब्रह्म में उत्पन्न हो । यद्यपि ब्रह्मस्वरूप जीव और ब्रह्म की शक्तिरूप माया की उत्पत्ति के बिना भी ब्रह्म से अभेद है, तथापि उन से अन्य का प्रकृति-विकार न्याय से ही प्रतिज्ञा की सिद्धि शब्दों से भी अवगत (ज्ञात) होती है । जिससे वैसी ही श्रुति है कि (जिससे अश्रुत भी श्रुत होता है) इस प्रकार प्रतिज्ञा करके कार्य कारण के अभेदप्रतिपादनपरक मृत्तिका आदि रूप दृष्टान्तों के द्वारा यह प्रतिज्ञा समर्थित (सिद्ध) की जाती है । उस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने ही के लिए आगे के शब्द हैं कि (हे सोम्य ! यह जगत् प्रथम सत् ही था एक अद्वितीय ही था। उसने विचारा । उसने तेज को रचा) इस प्रकार कार्यसमूह को ब्रह्म से उत्पन्न दिखाकर, ब्रह्म से अभेद को (इसी स्वरूप वाला यह सब जगत् है) यहां से आरम्भ करके षष्ठप्रपाठक (अध्याय) की समाप्ति पर्यन्त शब्द दिखाते हैं, इससे यदि आकाश ब्रह्म का कार्य नहीं होगा तो ब्रह्म के विज्ञात होने पर आकाश विज्ञात भी नहीं होगा । और इससे प्रतिज्ञा की हानि होगी, उससे वेद में अप्रमाणता होगी ।

न च प्रतिज्ञाहान्या वेदस्याप्रामाण्यं युक्तं कर्तुम् तथाहि—प्रतिवेदान्तं ते ते शब्दास्तेन तेन दृष्टान्तेन तामेव प्रतिज्ञां स्थापयन्ति 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) इत्येवमादयः । तस्माज्ज्वलनादिवदेव गगनमप्युत्पद्यते । यदुक्तम्—अश्रुतेर्न वियदुत्पद्यत—इति, तदयुक्तं, वियदुत्पत्तिविषयश्रुत्यन्तरस्य दर्शितत्वात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति । सत्यं दर्शितम्, विरुद्धं तु 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यनेन श्रुत्यन्तरेण, न एकवाक्यत्वात्सर्वश्रुतीनाम् । भवत्वेकवाक्यत्वमविरुद्धानाम्, इह तु विरोध उक्तः, सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धासंभवाद् द्वयोश्च प्रथमजत्वासंभवाद्विकल्पासंभवाच्चेति । नैष दोषः । तेजःसर्गस्य तैत्तिरीयके तृतीयत्वश्रवणात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः' (तै० २।१) इति । अशक्या हीयं श्रुतिरन्यथा परिणेतुम्, शक्या तु परिणेतुं छान्दोग्यश्रुतिः 'तदाकाशं वायुं च स्रष्ट्वा तत्तेजोऽसृजत' इति । न हीयं श्रुतिस्तेजोजनिप्रधाना सती श्रुत्यन्तरप्रसिद्धामाकाशस्योत्पत्तिं वारयितुं शक्नोति । एकस्य वाक्यस्य व्यापारद्वयासंभवात् ।

स्रष्टा त्वेकोऽपि क्रमेणानेकं स्रष्टव्यं सृजेत्, इत्येकवाक्यत्वकल्पनायां संभवन्त्यां न विरुद्धार्थत्वेन श्रुतिर्हातव्या। न चास्माभिः सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वय-सम्बन्धोऽभिप्रेयते श्रुत्यन्तरवशेन स्रष्टव्यान्तरोपसंग्रहात्। यथा च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छां० ३।१४।१) इत्यत्र साक्षादेव सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न प्रदेशान्तरविहितं तेजःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयति, एवं तेजसोऽपि ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न श्रुत्यन्तरविहितं नभःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयितुमर्हति।

प्रतिज्ञा की हानि द्वारा वेद की अप्रमाणता करना युक्त नहीं है। जिससे उसी प्रकार प्रत्येक वेदान्त में वे-वे उस-उस दुन्दुभी आदि दृष्टान्तों द्वारा उसी प्रतिज्ञा की स्थापना करते हैं कि (यह आत्मा ही सब इस जगत् स्वरूप है) यह अमृत ब्रह्म ही पूर्वदृष्ट वस्तु स्वरूप है) इत्यादि वे शब्द हैं। इससे अग्नि आदि के समान ही आकाश उत्पन्न होता है। जो यह कहा था कि छान्दोग्य में आकाश की उत्पत्ति के अश्रवण से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है। यह कहना अयुक्त है। क्योंकि आकाश की उत्पत्तिविषयक अन्य श्रुति का प्रदर्शन कराया गया है कि (उस इस ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ)। यदि कोई यहाँ कहे कि श्रुति प्रदर्शित कराई गई है, यह बात सत्य है, परन्तु वह (उसने तेज को रचा) इस अर्थ वाली दूसरी श्रुति से विरुद्ध है। इससे स्वार्थ में अप्रमाण है, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सब श्रुतियों की एकवाक्यता है। यदि कहो कि अविरुद्ध श्रुतियों की एकवाक्यता हो, परन्तु यहाँ तो विरोध कहा जा चुका है कि एक बार सुना हुआ स्रष्टा का दो स्रष्टव्य (कार्य) के साथ सम्बन्ध के असम्भव से और दोनों को प्रथमजत्व के असम्भव से और वस्तु में विकल्प के अभाव से एकवाक्यता नहीं हो सकती है। यहाँ मुख्य सिद्धान्ती कहते हैं कि यह दोष नहीं है, क्योंकि तैतिरीय श्रुति में तेज की सृष्टि को तृतीयत्व सुनने से कि (इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न हुई) प्रकृति अर्थ में पंचमी विभक्ति क्रमादि के सुनने से यह श्रुति बलवती है। इससे ही यह श्रुति अन्य प्रकार से परिणत करने के अशक्य है। क्रमादि के श्रवण से रहित छान्दोग्य श्रुति अन्यथा परिणत की जा सकती है कि (उस ब्रह्म ने आकाश और वायु को रचकर तेज को रचा) इससे दोनों श्रुति की एकवाक्यता होती है। यह छान्दोग्य श्रुति तेज की उत्पत्तिरूप प्रधान अर्थ वाली होती हुई अन्य श्रुति से प्रसिद्ध आकाश की उत्पत्ति का वारण नहीं कर सकती है, क्योंकि वाक्यभेद के प्रसंग से एक वाक्य के दो व्यापार (तेज का उत्पत्ति विधान और आकाशोत्पत्ति का निषेध) का असम्भव है। यदि कहो कि एक वाक्य अनेक अर्थ को नहीं बोध करा सकता तो एक स्रष्टा अनेक स्रष्टव्य के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है तो कहा जाता है कि स्रष्टा तो एक भी क्रम से अनेक स्रष्टव्य को उत्पन्न कर सकता है। अर्थात् एक

कर्ता विराम लेकर क्रम से अनेक कार्य करता है, वाक्य विराम लेकर अनेक अर्थ का बोध नहीं करता है। इससे एकवाक्यता की कल्पना के सम्भव रहते विरुद्धार्थत्व के द्वारा श्रुति त्याग के योग्य नहीं है। यदि कहो कि आवृत्ति रूप वाक्यभेद के बिना एक शब्द यदि अनेक अर्थ का बोध नहीं कराता है, तो (तत्तेजोऽसृजत) इस छान्दोग्य गत (असृजत) पद की आकाश वायु के साथ सम्बन्ध के लिए आवृत्ति करनी पड़ेगी यह एकवाक्यता पक्ष में दोष है, तो कहा जाता है कि हम लोग एक बार श्रुत स्रष्टा का दो स्रष्टव्य के साथ सम्बन्ध नहीं मानते हैं कि जिससे उसने आकाश सृजा इस प्रकार आवृत्ति करनी पड़े। किन्तु दूसरी श्रुति के बल से स्रष्टव्यान्तर आकाशादि का उपसंग्रह करते हैं। इससे श्रुत्यन्तर के अनुसार वाक्यान्तर की कल्पना होती है कि उसने आकाश को उत्पन्न किया इत्यादि। जैसे (यह सब निश्चित ब्रह्मस्वरूप है, उसी में उत्पत्ति लय चेष्टा वाला है) यहाँ सब वस्तुसमूह को साक्षात् ब्रह्मजन्यत्व सुना गया भी दूसरे स्थान में विहित तेज पूर्वक उत्पत्ति क्रम का वारण नहीं करता है। इसी प्रकार तेज को श्रुत ब्रह्मजत्व भी श्रुत्यन्तर में विहित आकाशपूर्वक उत्पत्ति क्रम का वारण करने के योग्य नहीं है।

ननु शमविधानार्थमेतद्वाक्यम् 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुतेः नैतत्सृष्टिवाक्यं, तस्मादेतन्न प्रदेशान्तरप्रसिद्धं क्रममुपरोद्धुमर्हति, 'तत्तेजोऽसृजत' इत्येतत्सृष्टिवाक्यम्, तस्मादत्र यथाश्रुति क्रमो ग्रहीतव्य इति। नेत्युच्यते। नहि तेजःप्राथम्यानुरोधेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो वियत्पदार्थः परित्यक्तव्यो भवति, पदार्थधर्मत्वात्क्रमस्य। अपि च 'तत्तेजोऽसृजत' इति नात्र क्रमस्य वाचकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। अर्थात्तु क्रमोऽवगम्यते, स च 'वायोरग्निः' इत्यनेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेन क्रमेण निवार्यते। विकल्पसमुच्चयौ तु वियत्तेजसोः प्रथमजत्वविषयावसंभवानभ्युपगमाभ्यां निवारितौ। तस्मान्नास्ति श्रुत्योर्विप्रतिषेधः। अपि च छान्दोग्ये 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्येतां प्रतिज्ञां वाक्योपक्रमे श्रुतां समर्थयितुमसमाम्नातमपि वियदुत्पत्तावुपसंख्यातव्यं, किमङ्ग पुनस्तैत्तिरीयके समाम्नातं नभो न संगृह्यते। यच्चोक्तम्—आकाशस्य सर्वेणानन्यदेशकालत्वाद् ब्रह्मणा तत्कार्यैश्च सह विदितमेव तद्भवत्यतो न प्रतिज्ञा हीयते, न च 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिकोपो भवति, क्षीरोदकवद् ब्रह्मनभसोरव्यतिरेकोपपत्तेः—इति। अत्रोच्यते। न क्षीरोदकन्यायेनेदमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नेतव्यम्। मृदादिदृष्टान्तप्रणयनाद्धि प्रकृतिविकारन्यायेनैवेदं सर्वविज्ञानं नेतव्यमिति गम्यते। क्षीरोदकन्यायेन च सर्वविज्ञानं कल्प्यमानं न सम्यग् विज्ञानं स्यात्। न हि क्षीरज्ञानगृहीतस्योदकस्य सम्यग्विज्ञानगृहीतत्वमस्ति। न च वेदस्य पुरुषाणामिव मायालीकवञ्चनादिभिरर्थावधारणमुपपद्यते। सावधारणा चेयम् 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः। क्षीरोदकन्यायेन नीयमाना पीड्येत। न च स्वकार्यापेक्षयेदं वस्त्वेकदेशविषयं सर्वविज्ञानमेकमेवाद्वितीयतावधारणं चेति न्याय्यं,

मृदादिष्वपि हि तत्संभवान्न तदपूर्ववदुपन्यसितव्यं भवति 'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छां० ६।१।१) इत्यादिना। तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

यदि कहो कि (तज्जलानिति शान्त उपासीत) इस प्रकार सुनने से यह वाक्य शम की विधि के लिए है। इससे यह सृष्टिविधायक वाक्य नहीं है, जिससे यह वाक्य दूसरे स्थान में प्रसिद्ध क्रम का उपरोध (निवारण) नहीं कर सकता है। (तत्तेजोऽसृजत) यह सृष्टि का विधायक वाक्य है जिससे यहाँ श्रुति के अनुसार क्रम ग्रहण के योग्य है। तो कहा जाता है कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि तेज की प्रथमता के अनुरोध से दूसरी श्रुति में प्रसिद्ध आकाशरूप पदार्थ परित्याग योग्य नहीं हो सकता है क्योंकि क्रम पदार्थ का धर्म है। धर्म से धर्मी पदार्थ प्रधान होता है, इससे धर्म-धर्मी के विरोध में धर्म के अनुसार किया जाता है। दूसरी बात है कि (तत्तेजोऽसृजत) इस छान्दोग्य श्रुति में क्रम का वाचक कोई शब्द नहीं है, किन्तु अर्थ से क्रम समझा जाता है। और वह क्रम (वायु से अग्नि उत्पन्न हुई) इस दूसरी श्रुति में प्रसिद्ध क्रम से निवारित होता है। अकाश तेज के प्रथमजन्यत्व-विषयक विकल्प और समुच्चय तो असम्भव और अनभ्युपगम से निवारित (अप्राप्त) हैं। क्योंकि वस्तु में विकल्प नहीं हो सकता है। (वायोरग्निः) इस श्रुति से तेज के प्रथमजत्व के बाधित होने से प्रथमजन्यत्वों का समुच्चय भी नहीं होता है। इससे श्रुतियों का विरोध नहीं है। दूसरी बात है कि छान्दोग्य में वाक्य के आरम्भ में (जिसके सुनने से अश्रुत भी श्रुत होता है) इस सुनी हुई प्रतिज्ञा को समर्थन (सिद्ध) करने के लिए उत्पत्ति प्रकरण में अपठित भी आकाश उपसंख्यान (उपसंग्रह) के योग्य है तो हे अङ्ग ! (प्यारे) फिर तैत्तिरीयक में पठित आकाश क्यों नहीं संग्रहीत किया जायगा। और जो यह कहा है कि आकाश को सबके साथ अभिन्न देश-काल वाला होने से ब्रह्म और उसके कार्यों के साथ में आकाश भी विदित (ज्ञात) ही हो जाता है। इससे आकाश की उत्पत्ति नहीं होने पर भी प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती है। (एकमेवाद्वितीयम्) इस श्रुति का भी कोप (विरोध) नहीं होता है क्योंकि दूध जल के समान ब्रह्म और आकाश के अभेद की सिद्धि होती है। यहाँ कहा जाता है कि क्षीरोदक न्याय (दूध-जलतुल्यता) से यह एक के विज्ञान से सबका विज्ञान प्राप्त करने योग्य नहीं है, जिससे मृत्तिकादि दृष्टान्तों की रचना से प्रकृति-विकार न्याय (प्रकृति से विकृति की अभेद दृष्टि) से ही यह सबका विज्ञान प्राप्त करने योग्य है, ऐसी प्रतीति होती है। क्षीरोदक न्याय से कल्पित यह सर्वविज्ञान, सम्यग् विज्ञान नहीं होगा क्योंकि क्षीरविज्ञान (बुद्धि) से गृहीत जल को सम्यग् विज्ञान से गृहीतत्व (ज्ञातत्व) नहीं है क्योंकि वह ज्ञान भ्रान्तिरूप है। और वेद को भ्रांतादि पुरुषों के समान भ्रांतिरूप मायाजन्य मिथ्या भाषण रूप अलीक द्वारा वंचना आदिपूर्वक अर्थ का अवधारण सिद्ध नहीं हो सकता है अर्थात् भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा आदि से पुरुष के समान वेद मिथ्या-भ्रम ज्ञान का हेतु

नहीं है। (एक अद्वितीय है) यह अवधारणयुक्त श्रुति का कथन है, क्षीरोदक न्याय से नीयमान (प्राप्त) गौण होने पर श्रुति पीडित (बाधित) होगी। अर्थात् सर्वद्वैत-निषेधपरक श्रुति का सर्वद्वैतनिषेध के बिना बाध होगा। जो यह कहा था कि अपने कार्यों की अपेक्षा से अद्वैतादि का कथन है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अपने कार्यों की अपेक्षा से वस्तु के एकदेशविषयक सर्वविज्ञान और एक अद्वितीयता का अवधारण (निश्चय) यह न्याययुक्त नहीं है। जिससे मृत्तिका आदि में भी उस स्वकार्यापेक्षा से अद्वैत सर्वविज्ञान के सम्भव से, वह अपूर्व के समान कथन के योग्य नहीं हो सकता है कि (हे श्वेतकेतो हे सोम्य !) जो तुम यह महामना अनूचानमानी (अपने को सांग वेदाध्यायी विनतीमानी) और स्तब्ध (अनम्र) हो, क्या उस उपदेश को भी तुमने गुरु से पूछा है कि जिससे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है। इत्यादि वचनों से अपूर्व के समान कथन किया गया है, जिससे सबको ब्रह्म कार्यत्व की अपेक्षा (दृष्टि) से अशेष वस्तु-विषयक ही यह सर्वविज्ञान कहा जाता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यत्पुनरेतदुक्तमसंभवाद्गौणी गगनस्योत्पत्तिश्रुतिरिति, तत्र ब्रूमः—

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

तुशब्दोऽसम्भवाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। न खल्वाकाशोत्पत्तावसम्भवाशङ्का कर्तव्या, यतो यावत्किञ्चिद्विकारजातं दृश्यते घटघटिकोदञ्चनादि वा कटककेयूर-कुण्डलादि वा सूचीनाराचनिस्त्रिंशादि वा तावानेव विभागो लोके लक्ष्यते, न त्वविकृतं किञ्चित्कुतश्चिद्विभक्तमुपलभ्यते। विभागश्चाकाशस्य पृथिव्यादि-भ्योऽवगम्यते, तस्मात्सोऽपि विकारो भवितुमर्हति। एतेन दिक्कालमनःपरमा-ण्वादीनां कार्यत्वं व्याख्यातम्। नन्वात्माप्याकाशादिभ्यो विभक्त इति तस्यापि कार्यत्वं घटादिवत्प्राप्नोति। न। 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २१) इति श्रुतेः। यदि ह्यात्मापि विकारः स्यात्तस्मात्परमन्यन्न श्रुतमित्याकाशादि सर्वं कार्यं निरात्मकमात्मनः कार्यत्वे स्यात्। तथाच शून्यवादः प्रसज्येत। आत्म-त्वाच्चात्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः। न ह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्, स्वयंसि-द्धत्वात्। न ह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति। तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्धप्रमेयसिद्धय उपादीयन्ते। न ह्याकाशादयः पदार्थाः प्रमाणनिर-पेक्षाः स्वयंसिद्धाः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं सम्भवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते, तथाहमेवेदानीं जानामि वर्तमानं वस्त्वहमेवातीतमतीततरं चाज्ञासिषमहमेवानागतमनागततरं च ज्ञास्यामीत्यती-तानागतवर्तमानभावेनाऽन्यथा भवत्यपि ज्ञातव्ये न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति, सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात्। तथा भस्मीभवत्यपि देहे नात्मन उच्छेदो

वर्तमानस्वभावादन्यथास्वभावत्वं वा न सम्भावयितुं शक्यम्। एवमप्रत्याख्येयस्वभावत्वादेवाकार्यत्वमात्मनः कार्यत्वं चाकाशस्य।

जो यह कहा है कि आकाश की उत्पत्ति के असम्भव से आकाश की उत्पत्ति-विषयक श्रुति गौणी हैं, वहाँ कहते हैं कि—

लोक के समान विकार का व्याप्य अवयव स्वरूपादि का विभाग है। इससे जहाँ विभाग है, वहाँ विकारत्व (कार्यत्व) अवश्य है। इसलिए आकाश की उत्पत्ति के असम्भव की आशंका की व्यावृत्ति के लिए सूत्र में तु शब्द पढ़ा गया है, कि यहाँ असम्भव की आशंका भी नहीं हो सकती, निश्चय तो दूर रहा। इसीसे आकाश की उत्पत्ति में असम्भव की आशंका भी नहीं करनी चाहिए। जिससे घट, घटिका, उदञ्चन आदि वा कटक केयूर, कुण्डल आदि, वा सुई, बाण, तरवार आदि जो कुछ मृत्तिका, सुवर्ण, लोहे आदि के विकार जितने दीखते हैं, उतना ही विभाग लोक में देखा जाता है। विकाररहित कुछ भी किसी से विभक्त (विभाग वाला) नहीं उपलब्ध होता है। अर्थात् घट कारण रूप से मृत्तिका में रहते भी जब तक विकाररूपता को नहीं प्राप्त होता है, तब तक मृत्तिका से विभक्त रूप से नहीं प्रतीत होता है। आकाश को पृथिवी आदि से विभाग अवगत (ज्ञात) होता है। सत्य आत्मा के समान आकाश सर्वरूप नहीं भासता है। तथा भूमि में यह आकाश का प्रदेश है, इत्यादि रूप से आकाश के प्रदेश अवयव भासते हैं, जिससे वह आकाश भी भूमि घटादि के समान विकार होने के योग्य है। इस विभक्तरूपता से ही दिशा, काल, मन, परमाणु आदि के कार्यत्व भी व्याख्यात (कथित) हो गये। यद्यपि आत्मा के निरवयव, निर्गुण, निष्क्रिय, सर्वात्मा, सत्तारूप से सर्वस्वरूप होने से उसको वस्तुतः आकाशादि से विभक्तत्व नहीं है, तथापि सामान्य दृष्टि से शंका होती है कि आत्मत्व रूप से आत्मा भी आकाशादि से विभक्त है, इससे उसको भी घटादि के समान कार्यत्व प्राप्त होता है। वहाँ आत्मा से अन्यत्व होते विभक्तत्व ही कार्यत्व का बोधक होता है इस आशय से कहा जाता है कि (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इस श्रुति से आत्मा को कार्यत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। धर्मिसमसत्ताक विभाग से कार्यत्व की सिद्धि होती है। आत्मा में कल्पित विभाग है। और वस्तुतः यह विभाग रूप हेतु आत्मभिन्न द्रव्यों के कार्यत्व का अनुमापक है। इससे अज्ञान और उसके सम्बन्धादि में भी कार्यत्व की प्राप्ति नहीं होती है। यदि आत्मा भी विकार होगा तो उससे पर (श्रेष्ठ कारण) अन्य श्रुति में सुना नहीं गया है, इससे आत्मा के कार्यत्व होने पर आकाशादि सब कार्य निरात्मक (निरुपादान) होंगे। ऐसा होने से श्रुति से निषिद्ध शून्यवाद की प्राप्ति होगी। आत्मत्व से ही आत्मा के निराकरण की आशंका की अनुपपत्ति है, अग्नि अपने को आप नहीं जलाती है। वैसे ही अपने से अपना निराकरण नहीं हो सकता है। आत्मा किसी कारण का आगन्तुक (कार्यस्वरूप) नहीं है कि जिससे कारण में विलय अप्रकाशादि रूप निराकरण हो सके क्योंकि आत्मा स्वयंसिद्ध (अनादि

स्वयं प्रकाश स्वरूप) है। इसीसे प्रमाणों की अपेक्षापूर्वक प्रमाणाधीन आत्मा की सिद्धि नहीं होती है, जिससे प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति इन सबकी सिद्धि होती है उस की सिद्धि के लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं हो सकती। इससे श्रुति से भी आत्मा स्वयं प्रकाशादि कहा जाता है। तो भी आत्मसम्बन्धी प्रत्यक्षादि प्रमाण अप्रसिद्ध प्रमेयों की सिद्धि (ज्ञान) के लिए गृहीत होते हैं। क्योंकि आकाशादि रूप अनात्मक पदार्थ प्रमाणों की अपेक्षा के बिना स्वयं सिद्ध किसी से नहीं माने जाते हैं, इससे प्रमाणों की भी सफलता है। आत्मा की सिद्धि प्रमाणाधीन इसलिए नहीं है कि जिससे प्रमाणादि व्यवहारों के आश्रयरूप होने से प्रमाणादि के व्यवहारों से पूर्व ही सर्वसाक्षी रूप आत्मा सिद्ध प्रकाश स्वरूप वर्तमान रहता है। इस प्रकार निराकरण का भी प्रकाशादि स्वरूप ऐसे आत्मा के निराकरण का सम्भव नहीं है। जिससे आगन्तुक कार्य रूप जड़वस्तु का निराकरण किया जाता है। साक्षी स्वरूप का नहीं। जिससे जो ही निराकरण करने वाला है, वह जिस आत्मा का निराकरण कर्ता है वह उसका स्वरूप है। इससे वह अपना निराकरण आप कर नहीं सकता है। जैसे कि अग्नि की उष्णता अग्नि से नहीं निराकृत होती है। इसी प्रकार मैं ही इस समय वर्तमान वस्तु को जानता हूँ। मैं ने ही अतीत (भूत) और अति अतीत को समझा था। मैं ही भावी और अतिभावी को समझूंगा। इस प्रकार भूत-भावी-वर्तमान रूप से ज्ञातव्य अनात्म वस्तु के अन्यथा भाव (भेद) होने पर भी ज्ञाता आत्मा का अन्यथा भाव नहीं होता है। सर्वदा वर्तमान स्वभावत्व से अन्यथाभाव से रहित आत्मा रहता है। इसी प्रकार देह के भस्मीभूत (नष्ट) होने पर भी आत्मा के वर्तमान स्वभावत्व से उसके उच्छेद (नाश) वा अन्यथा भाव (मिथ्यात्व) की सम्भावना नहीं की जा सकती है। इस पूर्व कही रीति से आत्मा के प्रत्याख्यान के अयोग्य स्वभाव वाला होने से उसको अकार्यत्व है। मायाशक्ति सहित आत्मा ही आकाश की उत्पत्ति की हेतु-सामग्री रूप है, इससे आकाश को कार्यत्व है।

यत्तूक्तं—समानजातीयमनेकं कारणद्रव्यं व्योम्नो नास्ति—इति, तत्प्रत्युच्यते। न तावत्समानजातीयमेवारभते न भिन्नजातीयमिति नियमोऽस्ति। नहि तन्तूनां तत्संयोगानां च समानजातीयत्वमस्ति, द्रव्यगुणत्वाभ्युपगमात्। न च निमित्तकारणानामपि तुरीवेमादीनां समानजातीयत्वनियमोऽस्ति। स्यादेतत्। समवायिकारणविषय एव समानजातीयत्वानभ्युपगमो न कारणान्तरविषय इति। तदप्यनैकान्तिकम्। सूत्रगोवालैर्ह्यनेकजातीयैरेका रज्जुः सृज्यमाना दृश्यते। तथा सूत्रैरूर्णादिभिश्च विचित्रान्कम्बलान्वितन्वते। सत्त्वद्रव्यत्वाद्यपेक्षया वा समानजातीयत्वे कल्प्यमाने नियमानर्थक्यं, सर्वस्य सर्वेण समानजातीयकत्वात्। नाप्यनेकमेवारभते नैकमिति नियमोऽस्ति, अणुमनसोराद्यकर्मारम्भाभ्युपगमात्। एकैको हि परमाणुर्मनश्चाद्यं स्वकर्मारभते न द्रव्यान्तरैः संहत्येत्यभ्युपगम्यते। द्रव्यारम्भे एवानेकारम्भकत्वनियम इति

चेत्। न। परिणामाभ्युपगमात्। भवेदेष नियमो यदि संयोगसचिवं द्रव्यं द्रव्यान्तरस्यारम्भकमभ्युपगम्यते। तदेव तु द्रव्यं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानं कार्यं नामाभ्युपगम्यते। तच्च क्वचिदनेकं परिणमते मृद्बीजाद्यङ्कुरादिभावेन, क्वचिदेकं परिणमते क्षीरादि दध्यादिभावेन। नेश्वरशासनमस्त्यनेकमेव कारणं कार्यं जनयतीति। अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद् ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते। तथा चोक्तम्—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इति।

जो यह कहा था कि द्रव्य की उत्पत्ति में समानजातीय अनेक द्रव्य कारण होता है, वह आकाश के कारण रूप सजातीय अनेक द्रव्य नहीं हैं, उसके प्रति कहा जाता है कि समान (एक) जाति वाला कारण ही आरम्भ करता है, भिन्न जाति वाला आरम्भ नहीं करता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि तन्तु और उसके संयोग में द्रव्यत्व और गुणत्व के स्वीकार से उनमें समानजातीयत्व नहीं है। संयोगसहित तन्तु पट का आरम्भ करते हैं। और पट के निमित्त कारण तुरी-वेमादि को भी समान जातीयत्व नहीं है। यदि कहो कि असमवायी और निमित्त कारण में यह सजातीयता का अभाव हो सकता है, क्योंकि समवायिकारणविषयक ही सजातीयत्व का अभ्युपगम (स्वीकार) है, अन्य कारणविषयक नहीं। तो कहा जाता है कि वह समवायि कारण में भी सजातीयत्व अनैकान्तिक है, सर्वत्र नहीं है, क्योंकि अनेक जाति वाले सूत्र (तन्तु) और गो-बालों के द्वारा बनाई गई एक रज्जु देखी जाती है। इसी प्रकार सूत्र और ऊन आदि के द्वारा विचित्र कम्बलों की रचना करते हैं। सत्त्व-द्रव्यत्वादि की दृष्टि से समानजातीयत्व की कल्पना करने पर नियम की अनर्थकता होती है, क्योंकि सत्त्वादि रूप से सब द्रव्य को सबके साथ समानजातीयत्व है। और यह भी नियम नहीं है कि अनेक ही समवायि कारण आरम्भ करता है, एक कारण कार्य का आरम्भ नहीं करता है। क्योंकि परमाणु और मन के आद्य कर्म का आरम्भ माना गया है और माना जाता है कि अन्य द्रव्यों के साथ मिले बिना ही एक-एक परमाणु और मन अपने आद्य कर्म का आरम्भ करते हैं। यदि कहो कि द्रव्य के आरम्भ में ही अनेक के आरम्भकत्व का नियम है, तो कहा जाता है कि परिणाम के स्वीकार से यह नियम नहीं हो सकता है। यह नियम होता, यदि संयोगसहित द्रव्य को द्रव्य का आरम्भक माना जाता, परन्तु ऐसा नहीं माना जाता है, अतः यह नियम नहीं है। किन्तु वही कारण रूप द्रव्य विशेष वाला अवस्थान्तर को प्राप्त होने पर कार्य नाम स्वीकार किया जाता है, वे कहीं अनेक द्रव्य मृत्तिका और बीजादि अङ्कुर आदि रूप से परिणत होते हैं। कहीं एक क्षीरादि दधि आदि रूप से परिणत होता है। ईश्वर का शासन नहीं है कि अनेक ही कारण कार्य को उत्पन्न करते हैं। इससे एक ब्रह्म से आकाशादि महाभूतों की उत्पत्ति के क्रम से जगत् उत्पन्न हुआ इस प्रकार श्रुति की प्रमाणता से निश्चय किया

जाता है। इसी प्रकार सूत्रकार ने कहा है कि (कार्य की उत्पत्ति में अनेक साधन का उपसंहार संग्रह देखा गया है, इससे साधन संग्रह रहित ब्रह्म से जगत् नहीं हो सकता यदि ऐसा कहो, तो वह ठीक नहीं क्षीर के समान सहाय रहित ब्रह्म जगत् का कारण है)।

यच्चोक्तम्–आकाशस्योत्पत्तौ न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यत-इति। तदयुक्तम्। येनैव हि विशेषेण पृथिव्यादिभ्यो व्यतिरिच्यमानं नभः स्वरूपवदिदानीमध्यवसीयते स एव विशेषः प्रागुत्पत्तेर्नासीदिति गम्यते। यथा च ब्रह्म न स्थूलादिभिः पृथिव्यादिस्वभावैः स्वभाववत्, 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः, एवमाकाशस्वभावेनापि न स्वभाववदनाकाशमिति श्रुतेरव-गम्यते। तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनाकाशमिति स्थितम्। यदप्युक्तं–पृथिव्यादिवैधर्म्यादा-काशस्याजत्वम्-इति। तदप्यसत्। श्रुतिविरोधे सत्युत्पत्त्यसंभवानुमानस्याभास-त्वोपपत्तेः, उत्पत्त्यनुमानस्य च दर्शितत्वात्, अनित्यमाकाशमनित्यगुणाश्रयत्वाद्घ-टादिवदित्यादिप्रयोगसंभवाच्च। आत्मन्यनैकान्तिकमिति चेत्। न। तस्यौपनिषदं प्रत्यनित्यगुणाश्रयत्वासिद्धेः। विभुत्वादीनां चाकाशस्योत्पत्तिवादिनं प्रत्यसिद्ध-त्वात्। यच्चोक्तमेतच्छब्दाच्चेति, तत्रामृतत्वश्रुतिस्तावद्वियत्यमृता दिवौकस इतिवद् द्रष्टव्या। उत्पत्तिप्रलययोरुपपादितत्वात् 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यपि प्रसिद्धमहत्त्वेनाकाशेनोपमानं क्रियते निरतिशयमहत्त्वाय नाकाशसमत्वाय, यथेषुरिव सविता धावतीति क्षिप्रगतित्वायोच्यते नेषुतुल्यगतित्वाय तद्वत्। एते-नानन्तत्वोपमानश्रुतिर्व्याख्याता। 'ज्यायानाकाशात्' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ब्रह्मण आकाशस्योनपरिमाणत्वसिद्धिः। 'न तस्य प्रतिमास्ति' (श्वे० ४।१९) इति च ब्रह्मणोऽनुपमानत्वं दर्शयति, 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति च ब्रह्मणो-ऽन्येषामाकाशादीनामार्तत्वं दर्शयति। तपसि ब्रह्मशब्दवदाकाशस्य जन्मश्रुते-र्गौणत्वमित्येतदाकाशसंभवश्रुत्यनुमानाभ्यां परिहृतम्। तस्माद् ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम् ॥ ७ ॥

जो यह कहा है कि आकाश की उत्पत्ति में पूर्व और उत्तरकाल में विशेष की सम्भावना नहीं की जा सकती है, वह भी कहना अयुक्त है, क्योंकि जिस शब्दाश्रयत्व रूप विशेष से पृथिवी आदि से व्यतिरिच्यमान (व्यतिरिक्त भिन्न) आकाश स्वरूप वाला इस समय निश्चित होता है, वही विशेष उत्पत्ति से प्रथम नहीं था, यह समझा जाता है। (अस्थूलमनणु) इत्यादि श्रुतियों से जैसे स्थूलादि पृथिवी आदि के स्वभावों से युक्त स्वभाव वाला ब्रह्म नहीं है। इसी प्रकार (अनाकाशम्) इस श्रुति से आकाश के स्वभाव से युक्त स्वभाव वाला भी ब्रह्म नहीं है। ऐसा समझा जाता है। (आकाश-शरीरं ब्रह्म) इस श्रुति का असंगता आदि रूप आकाशसदृशता में तात्पर्य है। इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि (आकाशशरीरं ब्रह्म) इस श्रुति से आकाश स्वभाव

वाला ब्रह्म है, इससे आकाश भी ब्रह्म के समान नित्य ही है, इत्यादि। इससे
आकाश की उत्पत्ति से पूर्वकाल में अनाकाश (आकाशरहित) ब्रह्म था, यह स्थित
(निश्चित) हुआ। इसीसे, जो यह भी कहा था कि पृथिवी आदि से विरोधी धर्म
विभुत्वादि वाला आकाश के होने से अजत्व है, वह भी कथन अयुक्त है। श्रुति से
विरोध रहते आकाश की उत्पत्ति के असम्भव के अनुमान को आभासत्व (मिथ्यात्व)
सिद्ध होता है। आकाश की उत्पत्ति का अनुमान प्रदर्शित कराया गया है कि विभक्त
होने से आकाश पृथिवी आदि के समान कार्य है। अनित्य गुण का आश्रय होने से
घटादि के समान आकाश अनित्य है। इत्यादि प्रयोग (अनुमान) का भी संभव
होने से आकाश की उत्पत्ति सिद्ध होती है, क्योंकि धर्मी में विकार के बिना गुण का
नाश नहीं हो सकता है। वस्तुतः गुणवान् सब अनित्य हैं, निर्गुण आत्मा ही नित्य है।
इससे यदि कहो कि आत्मा में यह अनित्य गुणवत्त्व वा गुणवत्त्व हेतु अनेकान्तिक
(व्यभिचारी) है, अनित्यता के बिना कामादि अनित्य गुण वाला आत्मा है। तो वह
कहना वेदान्तवादी के प्रति नहीं बन सकता है, क्योंकि उस आत्मा को उपनिषद्-
वादी के प्रति अनित्यगुणादि के आश्रयत्व की असिद्धि है। आकाश की उत्पत्तिवादी
के प्रति आकाश के विभुत्वादि की असिद्धि से आकाश का नित्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता
है। वेदान्त में सर्वस्वरूपत्व ही विभुत्व है, वह आत्मा से अन्य में नहीं रह सकता है।
जो यह कहा है कि (एतदमृतम्) इस शब्द से आकाश नित्य है। वहाँ आकाश
विषयक अमृतत्व की श्रुति को स्वर्गवासी देव अमृत हैं इसके समान चिरस्थायिता के
तात्पर्य से समझना चाहिये, क्योंकि आकाश के उत्पत्ति और प्रलय का उपपादन
(प्रतिपादन) किया गया है। आकाश के समान आत्मा सर्वगत नित्य है, यह श्रुति-
कथन भी प्रसिद्ध महत्त्व वाला आकाश द्वारा आत्मा में निरतिशय महत्त्व समझाने के
लिये उपमान किया जाता है, आकाश की तुल्यता समझाने के लिये नहीं। जिससे
आत्मा और आकाश के विभुत्वादि तुल्य नहीं हैं (ज्यायानाकाशात्) आकाश से
अत्यन्त बड़ा आत्मा है, यह श्रुति का कथन है। इससे जैसे बाण के समान सूर्य
दौड़ता है, यह कथन शीघ्रगामिता को समझाने के लिए होता है, बाणतुल्यगतित्व
समझाने के लिए नहीं, इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। और इस आकाश के
कार्यत्व अनित्यत्व के व्याख्यान से ही (स यथाऽनन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा)
जैसे यह प्रसिद्ध आकाश अनन्त है, इसी प्रकार आत्मा अनन्त है। यह अनन्तत्व-
विषयक उपमान श्रुति भी व्याख्यात हो गई, अर्थात् यह श्रुति प्रसिद्ध अनन्तता द्वारा
मुख्य निरतिशय अनन्तता का आत्मा में बोध कराती है, तुल्य अनन्तता में तात्पर्य
नहीं है। जिससे (ज्यायानाकाशात्) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म से आकाश के न्यून-
परिमाणत्व की सिद्धि होती है। और (उस ब्रह्म के प्रतिमा-उपमा नहीं है) यह वचन
ब्रह्म को उपमानरहितत्व दिखाता है। (अतोऽन्यदार्तम्) यह वचन ब्रह्म से अन्य
आकाशादि को आर्तत्व (अनित्यत्व) दिखाता है। और तप में ब्रह्म शब्द के समान

आकाश के जन्म श्रुति को गौणत्व है, इसका आकाश की उत्पत्ति श्रुति और अनुमान से परिहार (खण्डन) किया गया है। इससे ब्रह्म का कार्य आकाश है। यह सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

मातरिश्वाधिकरण (२)

वायुर्नित्यो जायते वा छान्दोग्येऽजन्मकोर्तनात् ।
सैषानस्तमिता दैवतेत्युक्तेर्नच जायते ॥ १ ॥
श्रुत्यन्तरोपसंहाराद्गौण्यनस्तमवश्रुतिः ।
वियद्वज्जायते वायुः स्वरूपं ब्रह्म कारणम् ॥ २ ॥

मातरिश्वा वायु को कहते हैं, वह नित्य है; या उत्पन्न होता है, यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि छान्दोग्य श्रुति में वायु के जन्म के अकथन से, और वृहदारण्यक में तो यह वायु अनस्तमित (अविनाशी) देवता है, इस कथन से वायु नहीं उत्पन्न होता है। सिद्धान्त है कि छान्दोग्य में वायु के जन्म का अश्रवण होते भी तैत्तिरीयक श्रुति में श्रुत जन्म का छान्दोग्य में भी उपसंहार (ग्रहण) करने से वायु की अविनाश-श्रुति चिरस्थायित्व दृष्टि से गौणी है, इससे आकाश के समान वायु भी उत्पन्न होता है। और सर्वात्मा ब्रह्म आकाश स्वरूप से वायु का कारण है ॥ १—२ ॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अतिदेशोऽयम् । एतेन वियद्व्याख्यानेन मातरिश्वापि वियदाश्रयो वायुर्व्याख्यातः । तत्राप्येते यथायोगं पक्षा रचयितव्याः । न वायुरुत्पद्यते छान्दोगानामुत्पत्तिप्रकरणेऽनाम्ननादित्येकः पक्षः । अस्ति तु तैत्तिरीयाणामुत्पत्तिप्रकरणे आम्नानम् 'आकाशाद्वायुः' (तै० २।१) इति पक्षान्तरम् । ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधे सति गौणी वायोरुत्पत्तिश्रुतिरसंभवादित्यपरोऽभिप्रायः । असंभवश्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२) इत्यस्तमयप्रतिषेधात्, अमृतत्वादिश्रवणाच्च । प्रतिज्ञानुपरोधाद्यावद्विकारं च विभागाभ्युपगमादुत्पद्यते वायुरिति सिद्धान्तः । अस्तमयप्रतिषेधोऽपरविद्याविषय आपेक्षिकः, अग्न्यादीनामिव वायोरस्तमयाभावात् । कृतप्रतिविधानं चामृतत्वादिश्रवणम् । ननु वायोराकाशस्य च तुल्ययोरुत्पत्तिप्रकरणे श्रवणाश्रवणयोरेकमेवाधिकरणमुभयविषयमस्तु किमतिदेशेनासति विशेष इति । उच्यते । सत्यमेवमेतत् । तथापि मन्दधियां शब्दमात्रकृताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयमतिदेशः क्रियते । संवर्गविद्यादिषु ह्युपास्यतया वायोर्महाभागत्वश्रवणात्, अस्तमयप्रतिषेधादिभ्यश्च भवति नित्यत्वाशङ्का कस्यचिदिति ॥ ८ ॥

यह सूत्र अतिदेश रूप है, पूर्व के सादृश्य का बोधक है, कि इस पूर्वोक्त आकाश के व्याख्यान से मातरिश्वा भी—आकाशाश्रय वाला वायु भी व्याख्यात ही हो गया। इससे वह वायुविषयक भी ये वक्ष्यमाण पक्ष यथायोग्य रचना के योग्य हैं। यहाँ छान्दोग्य शाखा वालों के उत्पत्ति प्रकरण में वायु के अकथन से वायु की उत्पत्ति नहीं होती है, यह

एक पक्ष है। और तैत्तिरीयों के उत्पत्ति प्रकरण में (आकाश से वायु होता है) इस प्रकार उत्पत्ति का कथन है, यह दूसरा पक्ष है। दो प्रकार के कथन से श्रुतियों का विरोध होने पर और वायु की उत्पत्ति के असम्भव से अर्थात् अस्तमय के प्रतिषेध से उत्पत्ति के अभाव से वायु की उत्पत्तिविषयक श्रुति गौणी है। यह अन्य अभिप्राय (तीसरा पक्ष) है। (जो यह वायु है वह अनस्तमित देवता है) इस प्रकार नाश के प्रतिषेध से तथा अमृतत्वादि के श्रवण से उत्पत्ति का असम्भव है। और गौणी उत्पत्ति से श्रुतियों का अविरोध है। और वायु की उत्पत्ति से ही एक के ज्ञान से सबके ज्ञान-विषयक प्रतिज्ञा के अनुपरोध (अबाध) से तथा विकारमात्र में विभाग के स्वीकार से वायु उत्पन्न होता है, यह सिद्धान्त है। और वायु के विनाश का जो प्रतिषेध है, वह अपरविद्या (उपासना) विषयक अर्थवाद (स्तुति) रूप और आपेक्षिक है, जिससे अग्नि आदि के समान वायु का शीघ्र विनाश नहीं होता है। अमृतत्वादि श्रुतियों का समाधान प्रथम किया जा चुका है। यहाँ शंका होती है कि वायु और आकाश के उत्पत्ति-प्रकरण में श्रवण और अश्रवण के तुल्य रहते दोनों विषयक एक ही अधिकरण होना चाहिए। विशेष (भेद) के नहीं रहने पर अतिदेश से क्या फल है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि यह तुल्यता सत्य ही है, तो भी मन्द बुद्धि वालों को अर्थ को समझे बिना शब्दमात्र से जन्य शंकाओं की निवृत्ति के लिए अतिदेश किया गया है। जिससे संवर्गादि विद्याओं में उपास्य रूप से वायु के महाभाग्यत्व के श्रवण से, तथा विनाश के प्रतिषेधादि से वायु के नित्यत्व की आशंका किसी को होती है। इत्यादि ॥ ८ ॥

असम्भवाधिकरण (३)

सद्ब्रह्म जायते नो वा कारणत्वेन जायते।
यत्कारणं जायते तद्वियद्वाय्वादयो यथा ॥ १ ॥
असतोऽकारणत्वेन खादीनां सत उद्भवात्।
व्याप्तेरजादिवाक्येन बाधात्सन्नैव जायते ॥ २ ॥

अनुपपत्ति से सत् की उत्पत्ति का असम्भव है, अर्थात् अनवस्था आदि दोष से और सत् शब्दार्थत्व की अनुपपत्ति विकारत्व की अनुपपत्ति से सत् का असम्भव जन्माभाव है। तो भी सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि (नित्यो नित्यानाम्। सतः सत्यम्) इत्यादि में कथित जैसे अन्य नित्य सत्यशब्द के अर्थ उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सत्य शब्द का अर्थरूप ब्रह्म उत्पन्न होता है कि नहीं उत्पन्न होता है। पूर्वपक्ष है कि जो-जो आकाशादि कारण हैं, वह सब जैसे उत्पन्न होते हैं, वैसे ब्रह्म भी कारण है। इससे ब्रह्म उत्पन्न होता है, अर्थात् कारण रूप से आकाशादि सब सत्य ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इनका आरम्भ नहीं होता है, यह सिद्धान्त है। यहाँ सत्स्वरूप आकाशादि की अवस्थान्तर की प्राप्ति रूप जैसे उत्पत्ति होती है, वैसे ही ब्रह्म को भी अवस्थान्तर की प्राप्ति होती है। सिद्धान्त है कि अवस्थान्तर की प्राप्ति जो अन्य कारण के द्वारा होती है, वह उत्पत्ति कहलाती है। और ब्रह्म की अवस्थान्तर की प्राप्ति में असत् कारण

नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति कहती है कि (कथमसतः सज्जायेत) असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा। और आकाशादि की सत् से उत्पत्ति होती है। ये उस सत् की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकते, और (स वा एष महानज आत्मा) इत्यादि वाक्यों से कारणत्वगत जन्यत्व की प्राप्ति के बाध से सत् ब्रह्म नहीं उत्पन्न होता है, अन्य कारणाधीन अवस्थान्तर को नहीं प्राप्त होता है इत्यादि ॥ १–२ ॥

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

वियत्पवनयोरसम्भाव्यमानजन्मनोरप्युत्पत्तिमुपश्रुत्य ब्रह्मणोऽपि भवेत्कुतश्चिदुत्पत्तिरिति स्यात्कस्यचिन्मतिः। तथा विकारेभ्य एवाकाशादिभ्य उत्तरेषां विकाराणामुत्पत्तिमुपश्रुत्याकाशस्यापि विकारादेव ब्रह्मण उत्पत्तिरिति कश्चिन्मन्येत, तामाशङ्कामपनेतुमिदं सूत्रम्—'असम्भवस्तु' इति। न खलु ब्रह्मणः सदात्मकस्य कुतश्चिदन्यतः सम्भव उत्पत्तिराशङ्कितव्या, कस्मात् ? अनुपपत्तेः। सन्मात्रं हि ब्रह्म, न तस्य सन्मात्रादेवोत्पत्तिः सम्भवति, असत्यतिशये प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः। नापि सद्विशेषाद्, दृष्टविपर्ययात्। सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते मृदादेर्घटादयो, न तु विशेषेभ्यः सामान्यम्। नाप्यसतो निरात्मकत्वात्, 'कथमसतः सज्जायेत' (छां० ८।७।१) इति चाक्षेपश्रवणात्। 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति च ब्रह्मणो जनयितारं वारयति। वियत्पवनयोः पुनरुत्पत्तिः प्रदर्शिता न तु ब्रह्मणः सास्तीति वैषम्यम्। न च विकारेभ्यो विकारान्तरोत्पत्तिदर्शनाद् ब्रह्मणोऽपि विकारत्वं भवितुमर्हतीति, मूलप्रकृत्यनभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। या मूलप्रकृतिरभ्युपगम्यते तदेव च नो ब्रह्मेत्यविरोधः ॥ ९ ॥

अमृतत्वादि के सुनने से महत्त्व विभुत्वादि की प्रसिद्धि से जिनकी उत्पत्ति असम्भाव्यमान (असम्भवस्वरूप) है। उन आकाश और वायु की उत्पत्ति को सुनकर, असम्भव जन्म वाले ब्रह्म की भी किसी से उत्पत्ति सिद्ध होगी, ऐसी किसी की बुद्धि हो सकती है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व विकार रूप ही आकाशादि से उत्तर-उत्तर विकारों की उत्पत्ति को सुनकर आकाश की उत्पत्ति भी विकार रूप ब्रह्म से ही होती है, ऐसा भी कोई समझेगा। अर्थात् बीजाङ्कुर न्याय से सबमें कार्यत्व की शंका से युक्त होगा। इस शंका की निवृत्ति के लिए यह सूत्र है कि (असम्भवस्तु) इत्यादि। सत् स्वरूप ब्रह्म का किसी अन्य से सम्भव (उत्पत्ति) की आशंका करने योग्य नहीं है। क्योंकि अनुपपत्ति से ब्रह्म का सम्भव (जन्म) नहीं होता है। जिससे सत्मात्र ब्रह्म है, जिस सत्मात्र सत्सामान्य की सत्मात्र से ही उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि अतिशय (भेद) बिना प्रकृति विकारभाव की असिद्धि होती है। दृष्ट विपर्यय रूप दोष से किसी सत् विशेष से भी सत् सामान्य रूप ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, जिससे सामान्य स्वरूप मृत्तिकादि से विशेष रूप घटादि उत्पन्न होते देखे जाते हैं। और विशेषों

से उत्पन्न होता हुआ समान्य नहीं देखा जाता है। और निरात्म होने से तथा असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा, इस प्रकार श्रुति में आक्षेप सुनने से असत् से भी सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। और (वह कारण है, तथा इन्द्रियों के स्वामीरूप जीवों का भी स्वामी है, और उसका कोई जनयिता पिता वा स्वामी नहीं है) यह श्रुति ब्रह्म के जनयिता का वारण करती है। और आकाश तथा वायु की उत्पत्ति प्रदर्शित कराई गई है, और ब्रह्म की वह उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इससे कारणत्व होने पर भी यह विषमता है। इस प्रकार की विषमता से ही विकारों से विकारान्तर की उत्पत्ति देखनेमात्र से ब्रह्म को भी विकारत्व नहीं होने के योग्य है। क्योंकि ब्रह्म को विकाररहित मूल प्रकृति नहीं मानने पर अनवस्था की प्राप्ति होगी, इससे ब्रह्म को विकार मानने पर भी अनवस्था का निवारण के लिए जो मूल प्रकृति मानी जायगी, वही हमारा मन्तव्य ब्रह्म है। इससे विरोध नहीं है। भाव है कि सत्य कार्य कारणभाव हो तो बीजाङ्कुर न्याय से अनवस्थायुक्त होने पर भी दुष्ट नहीं हो सकता है, परन्तु कल्पित कार्यकारण भाव सत् अधिष्ठान के बिना असम्भव है। इससे सर्वाधिष्ठान ब्रह्म है वह सत्य उत्पत्तिरहित है। सतः सत्त्वान्न वै जन्म नासतोऽपि ह्यसत्त्वतः। जनिमत्त्वं तु जन्यस्य मायिकत्वसमर्पकम् ॥ १ ॥ नाधिष्ठानं विहायात्र माया क्वापि प्रदृश्यते। अनिर्वाच्या ततो माया नित्यं ब्रह्माश्रिता स्थिता ॥ २ ॥ मायया प्रकृतिर्ब्रह्म तयाऽवस्थान्तरं व्रजेत्। स्वयं नान्यवशं गत्वा स्वरूपेणातिनिर्मलम् ॥ ३ ॥

तेजोऽधिकरण (४)

ब्रह्मणो जायते वह्निर्वायोर्वा ब्रह्मसंयुतात्।
तत्तेजोऽसृजतेत्युक्तेर्ब्रह्मणो जायतेऽनलः ॥ १ ॥
वायोरग्निरिति श्रुत्या पूर्वश्रुत्येकवाक्यतः।
ब्रह्मणो वायुरूपत्वमापन्नादग्निसंभवः ॥ २ ॥

तेज इस वायु से उत्पन्न होता है, (वायोरग्निः) यह श्रुति इसी प्रकार कहती है। यहाँ संशय है कि ब्रह्म से अग्नि उत्पन्न होती है कि ब्रह्मसंयुक्त वायु से उत्पन्न होती है। यहाँ पूर्वपक्ष है कि वह तेज को रचा इस छान्दोग्य श्रुति के कथनानुसार केवल ब्रह्म से अग्नि उत्पन्न होती है ॥ सिद्धान्त है कि (वायोरग्निः) वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, इस श्रुति के साथ (तत्तेजोऽसृजत) इस पूर्वोक्त श्रुति की एकवाक्यता से सिद्ध होता है कि वायुरूपता को प्राप्त ब्रह्म से अग्नि का सम्भव (जन्म) होता है ॥ १–२ ॥

तेजोऽतस्तथाह्याह ॥ १० ॥

छान्दोग्ये सन्मूलत्वं तेजसः श्रावितं, तैत्तिरीयके तु वायुमूलत्वं, तत्र तेजोयोनिं प्रति श्रुतिविप्रतिपत्तौ सत्यां प्राप्तं तावद् ब्रह्मयोनिकं तेज इति। कुतः? 'सदेव' इत्युपक्रम्य 'तत्तेजोऽसृजत' इत्युपदेशात्, सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च ब्रह्मप्रभवत्वे सर्वस्य सम्भवात्, 'तज्जलान्' (छां० ८।७।१) इति चाविशेषश्रुतेः, 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मुण्ड० २।१।४) इति चोपक्रम्य श्रुत्यन्तरे सर्वस्याविशेषेण ब्रह्मजत्वोपदेशात्। तैत्तिरीयके च 'स तपस्तप्त्वा, इदं सर्वमसृजत,

यदिदं किञ्च' (तै० ३।६।१) इत्यविशेषश्रवणात्। तस्मात् 'वायोरग्निः' इति क्रमोपदेशो द्रष्टव्यो वायोरनन्तरमग्निः सम्भूत इति।

छान्दोग्य में तेज को सन्मूलत्व (सद्ब्रह्ममूलकत्व) सुनाया गया है। और तैत्तिरीय में वायुमूलकत्व सुनाया गया है। वहाँ तेज की योनि (कारण) के प्रति दोनों श्रुतियों को विरोध की प्राप्ति होने पर अप्रमाणता की शङ्कापूर्वक, प्रथम ब्रह्म योनि वाला तेज प्राप्त होता है। क्योंकि (सदेव) इस प्रकार सद्ब्रह्म का उपक्रम (प्रस्ताव) करके (वह ब्रह्म तेज को रचा) यह उपदेश है, सबको ब्रह्मजन्यत्व ही होने पर ब्रह्म के ज्ञान से सबके ज्ञान की प्रतिज्ञा का सम्भव है। (तज्जलान्) इस श्रुति में भी सामान्य रूप से सबके जन्म लय चेष्टा को ब्रह्मजन्यत्व सुना जाता है। और इस ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है, इस प्रकार अन्य श्रुति में उपक्रम करके सबके ब्रह्मजन्यत्व का अविशेष (तुल्य) रूप से उपदेश है। तैत्तिरीयक में (वह तप ज्ञान करके सबको रचा कि जो कुछ यह जगत् है) इस प्रकार अविशेष (तुल्य सामान्य) सुना जाता है इससे तेज की उत्पत्ति तो ब्रह्म ही से होती है। परन्तु (वायोरग्निः) यह क्रममात्र का उपदेश है ऐसा समझना चाहिए कि वायु के अनन्तर (अव्यवहित उत्तरकाल में) ब्रह्म से अग्नि उत्पन्न हुई।

एवं प्राप्ते उच्यते। तेजोऽतो मातरिश्वनो जायत इति। कस्मात्? तथा ह्याह—'वायोरग्निः' इति। अव्यवहिते हि तेजसो ब्रह्मजत्वे सत्यसति वायुजत्वे वायोरग्निरितीयं श्रुतिः कदर्थिता स्यात्। ननु क्रमार्थैषा भविष्यतीत्युक्तम्, नेति ब्रूमः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१।१) इति पुरस्तात्सम्भवत्यपादानस्यात्मनः पञ्चमीनिर्देशात्, तस्यैव च सम्भवतेरिहाधिकारात्, परस्तादपि च तदधिकारे 'पृथिव्या ओषधयः' (तै० २।१।१) इत्यपादानपञ्चमीदर्शनाद्वायोरग्निरित्यपादानपञ्चम्येवैषेति गम्यते। अपि च वायोरूर्ध्वमग्निः सम्भूत इति कल्प्य उपपदार्थयोगः, क्लृप्तस्तु कारकार्थयोगो वायोरग्निः सम्भूत इति। तस्मादेषा श्रुतिर्वायुयोनित्वं तेजसोऽवगमयति। नन्वितरापि श्रुतिर्ब्रह्मयोनित्वं तेजसोऽवगमयति 'तत्तेजोऽसृजत' इति। न। तस्याः पारम्पर्यजत्वेऽप्यविरोधात्। यदापि ह्याकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायुभावापन्नं ब्रह्म तेजोऽसृजतेति कल्प्यते, तदापि ब्रह्मजत्वं तेजसो न विरुध्यते। यथा 'तस्याः शृतं दधि तस्या आमिक्षे'त्यादि। दर्शयति च ब्रह्मणो विकारात्मनावस्थानं 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।७।१) इति। तथा चेश्वरस्मरणं भवति—'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः' (भ० गी० १०।४) इत्याद्यनुक्रम्य 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (भ० गी० १०।५) इति। यद्यपि बुद्ध्यादयः स्वकारणेभ्यः प्रत्यक्षं भवन्तो दृश्यन्ते तथापि सर्वस्य भावजातस्य साक्षात्प्रणाड्या वेश्वरवंश्यत्वात्। एतेनाक्रमवत्सृष्टिवादिन्यः श्रुतयो व्याख्याताः, तासां सर्वथोपपत्तेः। क्रमवत्सृष्टिवादिनीनां त्वन्यथानुपपत्तेः प्रतिज्ञापि सद्वंश्यत्वमात्रमपेक्षते नाव्यवहितजन्यत्वमित्यविरोधः ॥ १० ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहा जाता है कि तेज इस मातरिश्वा से उत्पन्न होता है, क्योंकि (वायोरग्निः) यह श्रुति इसी प्रकार कहती है। और तेज को अव्यवहित (साक्षात्) ब्रह्मजन्यत्व होने पर और वायुजन्यत्व नहीं होने पर (वायोरग्निः) यह श्रुति कदर्थित (बाधितार्थक) होगी। यदि कहा जाय कि यह श्रुति क्रमार्थक होगी यह कहा जा चुका है। तो कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है। जिससे (इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इस पूर्व वाक्य में सम्भवति (उत्पत्ति) क्रिया का अपादान कारक रूप आत्मा का पञ्चमी विभक्ति से कथन है। उस सम्भव रूप सम्भूति का ही (वायोरग्निः) इस वाक्य में भी अधिकार (सम्बन्ध) है। और आगे भी उसी सम्भवति के अधिकार में (पृथिवी से औषधियाँ उत्पन्न हुईं) इस प्रकार अपादान पञ्चमी के देखने से (वायोरग्निः) यहाँ अपादान अर्थ में ही पञ्चमी है ऐसी प्रतीति होती है। दूसरी बात है कि (वायोरग्निः) इसको क्रमविधायक मानने पर, ऊर्ध्वं वा अनन्तरम्, इत्यादि किसी पद की कल्पना के बिना पञ्चमी विभक्तिमात्र से क्रम की प्रतीति नहीं होती है, इससे (वायु के ऊर्ध्वकाल में अग्नि उत्पन्न हुई) इस प्रकार उपपद का अर्थ कल्पना से सिद्ध कर्तव्य है कि जिसके साथ सम्बन्ध से उपपद विभक्ति होगी, इससे उप पदार्थ का योग भी कल्पना से ही साध्य है, साक्षात् श्रुत नहीं है। और वायु से अग्नि हुई, इस प्रकार अपादान कारक को क्रिया के साथ सम्बन्ध से उपपद क्लृप्त (सिद्ध) है, साध्य से सिद्ध बली होता है, तथा उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवती होती है, यह वैयाकरण का सिद्धान्त है, इससे यह श्रुति तेज के वायुयोनित्व का बोध कराती है। यद्यपि (तत्तेजोऽसृजत) यह अन्य श्रुति तेज के ब्रह्मयोनित्व का बोध कराती है, तथापि परम्परा से ब्रह्मजन्यत्व होने पर भी उसका अविरोध है, दोनों श्रुति की एकवाक्यता है। इससे दोष नहीं है, क्योंकि जब ऐसी भी कल्पना करते हैं कि आकाश और वायु की सृष्टि करके वायुरूपता को प्राप्त ब्रह्म ने तेज की सृष्टि की, तब भी तेज के ब्रह्मजन्यत्व विरुद्ध (बाधित) नहीं होता है। जैसे कि (उस धेनु का कार्य शृत (तप्त) क्षीर है उसी का कार्य दधि है। और तप्त क्षीर में दधि के देने से सिद्ध आमिक्षा भी उस धेनु का कार्य है वहाँ क्षीर साक्षात् कार्य है, दधि आदि परम्परा से कार्य है इत्यादि। और ब्रह्म की विकार रूप से स्थिति को श्रुति दिखाती है कि (वह ब्रह्म स्वयं अपने को विकार रूप किया) और इसी प्रकार की ईश्वरस्मृति (भगवद्गीता) है कि (बुद्धि, बोधसामर्थ्य, ज्ञान-बोध और असंमोह विवेकपूर्वक प्रवृत्ति) हमसे होते हैं, इस प्रकार आरम्भ करके (भूतों के नाना प्रकार के भाव-कार्य विशेष मुझसे ही होते हैं) यहाँ यद्यपि बुद्धि आदि अपने कारण अन्तःकरणादि से होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, तो भी सब भाव समूह को साक्षात् वा प्रणाली (परम्परा) से ईश्वरवंश्यत्व (ईश्वरजन्यत्व) है। इसीसे कहा गया है कि सब मुझसे ही होते हैं। इसीसे क्रम के बिना सृष्टि को कहने वाली श्रुतियां भी व्याख्यात हो गई। जिससे साक्षात् वा परम्परा ब्रह्मजन्यत्वमात्र से उन श्रुतियों की भी उपपत्ति (युक्तता) होती है। और क्रम वाली सृष्टि को कहने वाली श्रुतियों की

अन्यथा (परम्परा के बिना) अनुपपत्ति से तेज की परम्परा ब्रह्मजन्यता से ही उसकी उपपत्ति हो सकती है। एक ब्रह्म के विज्ञान से सबके विज्ञान की प्रतिज्ञा भी सद्ब्रह्म-वंश्यत्व (जन्यत्व) मात्र की अपेक्षा करती है, अव्यवहित ब्रह्मजन्यत्व की अपेक्षा नहीं करती है, इससे उसको क्रम श्रुति के साथ विरोध नहीं है ॥ १० ॥

अबधिकरण (५)

ब्रह्मणोऽपां जन्म किंवा वह्नेर्नाग्नेर्जलोद्भवः।
विरुद्धत्वान्नीरजन्म ब्रह्मणः सर्वकारणात् ॥ १ ॥
अग्नेराप इति श्रुत्या ब्रह्मणो वह्न्युपाधिकात्।
अपां जनिर्विरोधस्तु सूक्ष्मयोर्नाग्निनीरयोः ॥ २ ॥

जल का जन्म इस तेज से होता है, जिससे (अग्नेरापः) यह श्रुति इसी प्रकार कहती है। यह सूत्रार्थ है। संशय है कि साक्षात् ब्रह्म से जल का जन्म होता है, अथवा अग्नि से होता है। पूर्वपक्ष है कि विरुद्ध स्वभाव होने से नाश्य-नाशकता से अग्नि से जल का जन्म नहीं होता है, किन्तु सबके कारणरूप ब्रह्म से जल का जन्म होता है। सिद्धान्त है कि अग्नेरापः, इस श्रुति के अनुसार अग्निरूप उपाधि वाला ब्रह्म से जल की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म अग्नि तथा जल का विरोध नहीं है, इससे अपञ्चीकृत अग्नि से अपञ्चीकृत जल उत्पन्न होता है, फिर पञ्चीकरण होने पर विरोध होता है ॥ १–२ ॥

आपः ॥ ११ ॥

'अतस्तथाह्याह' इत्यनुवर्तते। आपोऽतस्तेजसो जायन्ते, कस्मात्? तथाह्याह—'तदपोऽसृजत' इति 'अग्नेरापः' इति च। सति वचने नास्ति संशयः। तेजसस्तु सृष्टिं व्याख्याय पृथिव्या व्याख्यास्यन्नपोऽन्तरयामीत्याप इति सूत्रयाम्बभूव ॥ ११ ॥

पूर्व सूत्र से (अतस्तथा ह्याह) इस भाग की इस सूत्र में अनुवृत्ति होती है। इससे अर्थ है कि आप इस तेज से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (उसने जल को रचा) और (अग्नि से जल हुआ) वचन के रहने से ही सूक्ष्म तेज जल में विरोध का संशय नहीं है, तथा परम्परा ब्रह्मजन्यत्व से श्रुतियों में विरोध का संशय नहीं है। इस प्रकार संशय विरोध के नहीं रहते भी इस सूत्र का आरम्भ इसलिए किया गया है कि तेज की सृष्टि का व्याख्यान करके पृथिवी का व्याख्यान करना है, यहाँ व्याख्यान के बिना जल का अन्तराय (व्यवधान) को प्राप्त होगा। महाभूतों के व्याख्यान में जल का अतिक्रमण हो जायगा, वह अतिक्रमण नहीं हो। (आप एवाग्र आसुः) इत्यादि वचनों से जल की प्रथम सत्ता सुनने से (अग्नेरापः) यह गौणी सृष्टिविधायक है, इस मन्दमति की शंका की निवृत्ति के लिए भी यह सूत्र रचा गया है ॥ ११ ॥

पृथिव्यधिकाराधिकरण (६)

ता अन्नमसृजन्तेति श्रुतमन्नं यवादिकम्।
पृथिवी वा यवाद्येव लोकेऽन्नत्वप्रसिद्धितः ॥ १ ॥

भूताधिकारात् कृष्णस्य रूपस्य श्रवणादपि।
तथाऽद्भ्यः पृथिवीत्युक्तेरन्नं पृथ्व्यन्नहेतुतः ॥ २ ॥

भूतों की उत्पत्ति का अधिकार (प्रकरण) और कृष्ण रूप का श्रवण तथा अन्य श्रुति से (ता अन्नमसृजन्त) इस छान्दोग्य श्रुति में अन्न शब्द पृथिवी का बोधक होता है। यहाँ संशय है कि यह श्रुत अन्न यवादि है। अथवा पृथिवी है। पूर्वपक्ष है कि लोक में अन्नत्व प्रसिद्धि से यवादिक ही अन्न शब्द का अर्थ है। सिद्धान्त है कि भूतों के प्रकरण से कृष्ण रूप के श्रवण से और (अद्भ्यः पृथिवी) इस उक्ति से भी अन्न का हेतु होने से पृथिवी अन्न शब्द से कही गई है ॥ १–२ ॥

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त' (छां० ६।२।४) इति श्रूयते। तत्र संशयः—किमनेनान्नशब्देन व्रीहियवाद्यभ्यवहार्यं वौदनाद्युच्यते किं वा पृथिवीति। तत्र प्राप्तं तावद् व्रीहियवाद्योदनादि वा परिग्रहीतव्यमिति, तत्र ह्यन्नशब्दः प्रसिद्धो लोके, वाक्यशेषोऽप्येतमर्थमुपोद्बलयति 'तस्माद्यत्र क्वच वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवतीति'। व्रीहियवाद्येव हि सति वर्षणे बहु भवति न पृथिवीति।

(वे आप-जल-सोचने लगे कि हम बहुत होयँ और बहुत होने के लिये बहुत रूप से उत्पन्न होयँ, फिर वे अन्न को उत्पन्न किये) यह सुना जाता है। यहाँ संशय होता है कि क्या इस अन्न शब्द से व्रीहि यवादि कहे जाते हैं, अथवा अभ्यवहार्य (भक्ष्य) ओदनादि कहे जाते हैं। यद्वा पृथिवी कही जाती है। वहाँ प्रथम प्राप्त व्रीहि-यवादि वा ओदनादि ग्रहण के योग्य हैं। जिससे उन अर्थों में अन्न शब्द लोक में प्रसिद्ध है। और वाक्यशेष भी इसी अर्थ को व्यक्त दृढ़ करता है कि (इससे जहाँ कहीं वृष्टि होती है, तदेव वहाँ ही अधिक अन्न होता है) जिससे वृष्टि होने पर यवादिक ही बहुत होते हैं, पृथिवी नहीं, इससे यह वाक्यशेष अन्न यवाद्यर्थकता को दृढ़ करता है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः। पृथिव्येवेयमन्नशब्देनाद्भ्यो जायमाना विवक्ष्यत इति। कस्मात्? अधिकाराद्रूपाच्छब्दान्तराच्च। अधिकारस्तावत् 'तत्तेजोऽसृजत' 'तदपोऽसृजत' इति महाभूतविषयो वर्तते। तत्र क्रमप्राप्तां पृथिवीं महाभूतं विलङ्घ्य नाकस्मात् व्रीह्यादिपरिग्रहो न्याय्यः। तथा रूपमपि वाक्यशेषे पृथिव्यनुगुणं दृश्यते 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति, न ह्योदनादेरभ्यवहार्यस्य कृष्णत्वनियमोऽस्ति, नापि व्रीह्यादीनाम्। ननु पृथिव्या अपि नैव कृष्णत्वनियमोऽस्ति, पयःपाण्डुरस्याङ्गाररोहितस्य च क्षेत्रस्य दर्शनात्। नायं दोषः। बाहुल्यापेक्षत्वात्। भूयिष्ठं हि पृथिव्याः कृष्णं रूपं न तथा श्वेतरोहिते। पौराणिका अपि पृथिवीच्छायां शर्वरीमुपदिशन्ति, सा च कृष्णाभासेत्यतः कृष्णं रूपं पृथिव्या इति श्लिष्यते। श्रुत्यन्तरमपि समानाधिकारमद्भ्यः पृथिवीति भवति, 'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' (बृ०

१।२।२) इति च। पृथिव्यास्तु व्रीह्यादेरुत्पत्तिं दर्शयति—'पृथिव्या ओषधय ओषधीभ्योऽन्नम्' इति च। एवमधिकारादिषु पृथिव्याः प्रतिपादकेषु सत्सु कुतो व्रीह्यादिप्रतिपत्तिः। प्रसिद्धिरप्यधिकारादिभिरेव बाध्यते। वाक्यशेषोऽपि पार्थिवत्वादन्नाद्यस्य तद्द्वारेण पृथिव्या एवाद्भ्यः प्रभवत्वं सूचयतीति द्रष्टव्यम्। तस्मात्पृथिवीयमन्नशब्देति ॥ १२ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि जल से जायमान (उत्पन्न होनेवाली) यह पृथिवी ही अन्न शब्द से विवक्षित (अभिप्रेत) है। क्योंकि अधिकार, रूप और शब्दान्तर से यह विवक्षा अभिप्राय प्रतीत होता है। प्रथम महाभूतविषक अधिकार (प्रकरण) है कि (उसने तेज को रचा। उसने जल को रचा) वहाँ क्रम से प्राप्त पृथिवी रूप महाभूत का उल्लंघन (त्याग) करके अकस्मात् व्रीहि आदि का परिग्रह न्याययुक्त नहीं है। इसी प्रकार वाक्यशेष में पृथिवी के अनुकूल ही रूप का वर्णन भी दिखाई पड़ता है कि (जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है) जिससे भक्ष्य ओदनादि के कृष्णत्व का नियम नहीं है, न व्रीहि आदि के ही कृष्णत्व का नियम है। इससे कृष्ण रूप पृथिवी का है। यदि कहा जाय कि पृथिवी के भी कृष्णत्व का नियम नहीं है, जिससे दूध के समान पाण्डुर (श्वेत) और अङ्गार के समान रोहित (रक्त) क्षेत्र (खेत) का भी दर्शन (ज्ञान) होता है। तो कहा जाता है कि बहुलता की अपेक्षा से यह दोष नहीं है जिससे पृथिवी का बहुत अधिक कृष्ण रूप रहता है। इस प्रकार के श्वेत और रक्त नहीं रहते हैं। और पौराणिक भी पृथिवी की छाया रूप रात्रि को कहते हैं, उपदेश करते हैं। वह रात्रि कृष्ण आभास (प्रतीति) का विषय है। इससे पृथिवी का कृष्ण रूप है। यह मानना युक्त है। महाभूत की सृष्टिविषयक तुल्य अधिकार (प्रकरण) वाली दूसरी श्रुति भी है कि (अद्भ्यः पृथिवी) जल से पृथिवी उत्पन्न हुई। (ततः उस सृष्टिकाल में जो जल का शर दधि का पूर्वरूप तुल्य था, वह संगठित कठिन हुआ, वह पृथिवी हुई) यह भी श्रुत्यन्तर का कथन है। और पृथिवी से व्रीहि आदि की उत्पत्ति को श्रुति दिखाती है कि (पृथिवी से ओषधियाँ, और औषधियों से अन्न उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार प्रकरण, लिङ्ग और स्थान रूप तीनों पृथिवी के बोधक हैं, यहाँ पृथिवी के प्रतिपादक प्रकरणादि के रहते व्रीहि आदि की प्रतिपत्ति (अनुभूति) किस प्रकार से हो सकती है। लौकिक प्रसिद्धि भी अधिकारादि से ही बाधित हो जाती है। शंका होती है कि वृष्टिजन्यत्व लिङ्गसहित वाक्यशेष रूप अन्न-श्रुति का प्रकरणादि से बाध नहीं हो सकता है, क्योंकि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या इन सब में सबसे श्रुति बलवती होती है, इसमें भी लिंगसहित होने से अन्न-श्रुति अतिबलवती है, यहां कहा जाता है कि वाक्यशेषसहित अन्न-श्रुति का बाध नहीं होता है। किन्तु वाक्यशेष भी प्रकरणादि बहुत के अनुरोध से तथा (तद्यदपां शरः) इत्यादि श्रुति के अनुरोध से, और व्रीहि आदि अन्नों के तथा आद्य (भक्ष्य) ओदनादि के पार्थिवत्व

(पृथिवीजन्यत्व) होने के कारण, उस अन्न के कथन द्वारा पृथिवी को ही जल से जन्यत्व का सूचन करता है, यह समझना चाहिये, इससे यह अन्न शब्द से कही गई पृथिवी है ॥ १२ ॥

तदभिध्यानाधिकरण (७)

व्योमाद्याः कार्यकर्तारो ब्रह्म वा तदुपाधिकम् ।
व्योम्नो वायुर्वायुतोऽग्निरित्युक्तेः खादिकर्तृता ॥
ईश्वरोन्तर्यमयतीत्युक्तेर्व्योमाद्युपाधिकम् ।
ब्रह्म वाय्वादिहेतुः स्यात्तेज आदीक्षणादपि ॥ २ ॥

केवल आकाशादि से वा आकाशादि के अभिमानी देव से सृष्टि नहीं होती है, अर्थात् (आकाशाद्वायुः) इत्यादि श्रुति से आकाशादि मात्र से सृष्टि नहीं कही जाती है, किन्तु उस ईश्वर के अभिध्यान से ही सृष्टि समझाई जाती है कि आकाशादि उपाधि वाला ब्रह्म से वायु आदि उत्पन्न होते हैं। इससे वह कर्ता है, वह अन्तर्यामी श्रुतिगत लिंगों से समझा जाता है। संशय है कि आकाशादि कार्यकर्ता हैं, अथवा आकाशादि उपाधि वाला ब्रह्म कारण है। पूर्वपक्ष है कि आकाश से वायु हुआ, वायु से अग्नि हुई इत्यादि कथन से आकाशादिकर्तृता है। अर्थात् जड़ से रचना की अनुपपत्ति होते भी आकाशादि के अभिमानी देव विशेष सृष्टि के निमित्त कारण हैं। सिद्धान्त है कि ईश्वर देवादि सब का अन्तर्यामी है, इस कथन से आकाशादि रूप उपाधि वाला ब्रह्म वायु आदि का हेतु है। और तेज आदि के ईक्षण से भी ईश्वर कारण है ॥ १–२ ॥

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥

किमिमानि वियदादीनि भूतानि स्वयमेव स्वविकारान्सृजन्त्याहोस्वित्परमेश्वर एव तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति सन्देहे सति प्राप्तं तावत्स्वयमेव सृजन्तीति। कुतः? 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' इत्यादिस्वातन्त्र्यश्रवणात्। नन्वचेतनानां स्वतन्त्राणां प्रवृत्तिः प्रतिषिद्धा। नैष दोषः। 'तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त' (छां० ६।२।४) इति च भूतानामपि चेतनत्वश्रवणादिति।

क्या ये आकाशादिरूप भूत स्वयं ही अपने विकारों को रचते हैं, अथवा परमेश्वर ही उस-उस रूप से स्थिर होकर अभिध्यान-चिन्तन करता हुआ तत्तद् विकारों को रचता है, इस प्रकार सन्देह होने पर, प्राप्त हुआ कि आकाशादि स्वयम् ही रचते हैं, क्योंकि (आकाश से वायु और वायु से अग्नि हुई) इत्यादि स्वतन्त्रता के श्रवण से आकाशादि में कारणत्व सिद्ध होता है। यहाँ शंका होती है कि रचना की अनुपपत्ति से स्वतन्त्र अचेतनों की प्रवृत्ति प्रतिषिद्ध हो चुकी है। इससे देव भले हो सकते हैं, भूतमात्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इस शंका का पूर्वपक्षी उत्तर देता है कि यह रचना की अनुपपत्ति और प्रवृत्ति असम्भव रूप दोष नहीं है। क्योंकि (उस तेज ने

विचार किया, उस जल ने विचार किया) इस रीति से भूताभिमानी देवों के भी चेतनत्व के श्रवण से तत्तत् देव तत्तत् कार्य के कर्ता हो सकते हैं।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते। स एव परमेश्वरस्तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति। कुतः? तल्लिङ्गात्। तथाहि शास्त्रम्—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।३) इत्येवंजातोयकं साध्यक्षाणामेव भूतानां प्रवृत्तिं दर्शयति। तथा 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति प्रस्तुत्य 'सच्च त्यच्चाभवत्, तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।६।१) इति च तस्यैव च सर्वात्मभावं दर्शयति। यत्त्वीक्षणश्रवणमप्तेजसोस्तत्परमेश्वरावेशवशादेव द्रष्टव्यम् 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इतीक्षित्रन्तरप्रतिषेधात्, प्रकृतत्वाच्च सत ईक्षितुः 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यत्र ॥ १३ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहा जाता है कि वह परमेश्वर तत्तत् स्वरूपों से स्थिर होता हुआ और तत्तत् कार्यों का अभिध्यान करता हुआ तत्तत् विकारों को रचता है। अर्थात् कोई देव भी किसी कार्य का स्वतन्त्र कर्ता नहीं है, सर्वत्र स्वतन्त्रता ईश्वर को ही कर्माद्यपेक्ष है। कर्मादि के कर्ता भी देवादि ईश्वराधीन ही कर सकते हैं। क्योंकि वह ईश्वर के स्वतन्त्रकर्तृत्व सर्वनियन्तृत्व रूप लिङ्ग से अवगत होता है। इसी प्रकार प्रकरणगत शास्त्र कहता है कि (जो पृथिवी में स्थिर होता हुआ, पृथिवी के अन्तरात्मा स्वरूप है। इससे जिसको पृथिवी नहीं जानती है, जिसका पृथिवी शरीर है। और जो पृथिवी का अन्तरात्मा होता हुआ पृथिवी का नियन्त्रण करता है) इस प्रकार के शास्त्र अध्यक्षसहित ही भूतों की प्रवृत्ति को दिखाता है। स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार (वह इच्छा किया कि बहुत होऊं, उत्पन्न होऊं) ऐसा आरम्भ करके (वह सत्-मूर्त, और त्यत्-अमूर्त हुआ। कार्य कारण, प्रत्यक्ष परोक्ष हुआ। वह स्वयं अपने आपको उत्पन्न किया) यह शास्त्र भी उस परमात्मा का ही सर्वात्मभाव दिखाता है। इससे जो जल और तेज का ईक्षण सुना जाता है, वह भी परमेश्वर के अन्तर्यामी रूप से आवेश (सम्बन्ध) वश से ही समझना चाहिये जिससे (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इस श्रुति से अन्य ईक्षिता का निषेध है। और (उसने सोचा कि बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ) यह सत् ईक्षित के प्रकृतत्व है, प्रकरण है। इससे जलादि का ईक्षण ईश्वर के आवेशनिमित्तक ही सिद्ध होता है ॥ १३ ॥

विपर्ययाधिकरण (८)

सृष्टिक्रमो लये ज्ञेयो विपरीतक्रमोऽथवा।
क्लृप्तं कल्प्याद्वरं तेन लये सृष्टिक्रमो भवेत् ॥ १ ॥
हेतावसति कार्यस्य न सत्त्वं युज्यते ततः।
पृथिव्यप्स्विति चोक्तत्वाद्विपरीतक्रमो लये ॥ २ ॥

इस सृष्टिक्रम से उल्टा प्रलय का क्रम होता है, क्योंकि वैसा ही उपपन्न (सिद्ध) हो सकता है और लोक-पुराणादि में प्रसिद्ध है। यहाँ सामान्य दृष्टि से संशय है कि

सृष्टि का क्रम लय में समझना चाहिये, अथवा उससे विपरीत क्रम समझना चाहिए। पूर्वपक्ष है कि क्लृप्त (सिद्ध-निर्णीत) कल्पनीय से श्रेष्ठ होता है, इससे सृष्टि के लिए क्लृप्त क्रम प्रलय में होगा। सृष्टिक्रम से प्रलय मानने पर मूल कारण के नाशपूर्वक कार्य का नाश होगा यह असम्भव है। हेतु के नष्ट होने पर निराश्रय कार्य की सत्ता नहीं रह सकती, इससे प्रलय में उत्पत्ति क्रम का असम्भव है। पुराण में पृथिवी का जल में लय कहा है, इससे लय में विपरीत क्रम है ॥ १–२ ॥

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १४ ॥

भूतानामुत्पत्तिक्रमश्चिन्तितः, अथेदानीमप्ययक्रमश्चिन्त्यते, किमनियतेन क्रमेणाप्यय उतोत्पत्तिक्रमेणाथवा तद्विपरीतेनेति। त्रयोऽपि चोत्पत्तिस्थितिप्रलया भूतानां ब्रह्मायत्ताः श्रूयन्ते—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।१।१) इति। तत्रानियमोऽविशेषादिति प्राप्तम्। अथवोत्पत्तेः क्रमस्य श्रुतत्वात्प्रलयस्यापि क्रमाकाङ्क्षिणः स एव क्रमः स्यादिति।

भूतों की उत्पत्ति का क्रम चिन्तित (विचारित) हो चुका। अब इस समय प्रसंग से प्रलय के क्रम का विचार किया जाता है कि क्या अनियत क्रम से प्रलय होता है या उत्पत्ति क्रम से होता है। अथवा उत्पत्ति की अपेक्षा विपरीत क्रम से प्रलय होता है। यदि कोई कहे कि भूतों का प्रलय ही नहीं होता है, इससे उसके क्रम की चिन्ता निरर्थक है, तो कहा जाता है कि भूतों के ब्रह्माधीन उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों ही श्रुति में सुने जाते हैं, लय का क्रम श्रुति में नहीं सुना गया है। इससे क्रम की चिन्ता सार्थक है। उत्पत्ति आदिविषयक श्रुति है कि (जिससे ये सब भूत जन्मते हैं, जन्म लेकर जिससे जीते हैं, और प्रलय के समय जिसमें लीन होते हैं वह ब्रह्म है) यहाँ क्रम की अविशेषता से विशेष विधि के अभाव से अनियम है यह प्राप्त होता है। अथवा उत्पत्ति का क्रम श्रुत है, और प्रलय भी क्रम की आकांक्षा वाला है, उसका वही उत्पत्ति-क्रम ही हो सकता है।

एवं प्राप्तं ततो ब्रूमः—विपर्ययेण तु प्रलयक्रमोऽत उत्पत्तिक्रमाद्भवितुमर्हति। तथाहि—लोके दृश्यते येन क्रमेण सोपानमारूढस्ततो विपरीतेन क्रमेणावरोहतीति, अपि च दृश्यते मृदो जातं घटशरावाद्यप्ययकाले मृद्भावमप्येत्यद्भ्यश्च जातं हिमकरकाद्यब्भावमप्येतीति। अतश्चोपपद्यत एतत् यत्पृथिव्यद्भ्यो जाता सती स्थितिकालव्यतिक्रान्तावपोऽपीयादापश्च तेजसो जाताः सत्यस्तेजोऽपीयुः, एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चानन्तरमनन्तरतरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माप्येतीति वेदितव्यम्। न हि स्वकारणव्यतिक्रमेण कारणकारणे कार्याप्ययो न्याय्यः। स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाप्ययक्रमस्तत्र तत्र दर्शितः—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥ इत्येवमादौ ।

उत्पत्तिक्रमस्तूत्पत्तावेव श्रुतत्वान्नाप्यये भवितुमर्हति, न चासावयोग्यत्वादप्ययेनाकांक्ष्यते, न हि कार्ये ध्रियमाणे कारणस्याप्ययो युक्तः कारणाप्यये कार्यस्यावस्थानानुपपत्तेः । कार्याप्यये तु कारणस्यावस्थानं युक्तं मृदादिष्वेवं दृष्टत्वात् ॥ १४ ॥

इस प्रकार प्राप्त होता है । तब कहते हैं कि इस वर्णित उत्पत्ति-क्रम से विपरीत स्वरूप वाला प्रलय का क्रम होने के योग्य है, जिससे वैसा ही लोक में देखा जाता है, कि मनुष्य जिस क्रम से सोपान (आरोहण सीढ़ी) पर चढ़ता है, ऊपर प्राप्त होता है, उससे विपरीत क्रम से उतरता है, नीचे आता है । देखा जाता है कि मृत्तिका से उत्पन्न घट-शराब आदि प्रलय-नाश काल में मृत्तिकारूपता को प्राप्त होते हैं । जल से उत्पन्न बर्फ करका (करक-वर्षोपल) आदि अपने विलयकाल में जलरूपता को प्राप्त होते हैं । इससे यह भी उपपन्न (सिद्ध) होता है कि जलसे उत्पन्न होकर स्थितिकाल में वर्तमान पृथिवी स्थिति-काल के व्यतिक्रान्त (अन्त) होने पर जलरूपता को प्राप्त होती है, जल में लीन हो जाती है । और तेज से उत्पन्न होकर वर्तमान जल अन्त में तेज रूप होता है । इसी प्रकार क्रम से, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर (अतिसूक्ष्म) जो अनन्तर और अनन्तरतर (अतिअनन्तर) कारण हैं, उनकी रूपता को प्राप्त होकर, उनमें लीन होकर सब कार्य-समूह, परम कारण और परम सूक्ष्म ब्रह्म में लीन होते हैं ऐसा समझना चाहिये । यद्यपि ब्रह्म सर्व जगत् का कारण है, तथापि सबका साक्षात् कारण नहीं है, इससे अपने कारण में विलय के बिना उसका व्यतिक्रमण उल्लंघन करके सब कारणों के कारण ब्रह्म में कार्य का विलय न्याययुक्त नहीं है । अन्यथा घट के नाश होने पर मृत्तिका की उपलब्धि नहीं होगी, अर्थात् घट-पटादि भी ब्रह्म में ही विलीन होंगे और ऐसा होता नहीं है । इससे उक्त क्रम से विलय न्याय्य है । स्मृति में भी उत्पत्ति क्रम से विपरीत रूप से ही प्रलय का क्रम तत्तत् स्थानों में दर्शित कराया गया है कि (हे देव ऋषि ! नारद ! जगत् —सब प्राणी का आश्रय भूमि जल में प्रलीन होती है, जल तेज में लीन होता है, तेज वायु में प्रलीन होता है, वायु आकाश में लीन होता है । और वह आकाश अव्यक्त (कारण ब्रह्म) में लीन होता है इत्यादि । और उत्पत्तिक्रम तो उत्पत्ति में ही श्रुत है, वह क्रम प्रलय में होने योग्य नहीं है । अयोग्यता से ही वह उत्पत्ति क्रम प्रलय से आकांक्षित नहीं होता है । कारण के नष्ट होने पर आश्रय के बिना कार्य की स्थिति की अनुपपत्ति से कार्य के ध्रियमाण (वर्तमान) रहते कारण का प्रलय युक्त नहीं है । कार्य के लय होने पर तो कारण की स्थिति युक्त है, जिससे मृत्तिका आदि में ऐसा देखा जाता है ॥ १४ ॥

अन्तराविज्ञानाधिकरण (९)

किमुक्तक्रमभङ्गोऽस्ति प्राणाद्यैर्नास्ति वास्ति हि ।
प्राणाक्षमनसां ब्रह्मवियतोर्मध्य ईरणात् ॥
प्राणाद्या भौतिका भूतेष्वन्तर्भूताः पृथक् क्रमम् ।
नेच्छन्त्यतो न भङ्गोऽस्ति प्राणादौ न क्रमः श्रुतः ॥

(एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी) इस आत्मा से प्राणादि और आकाशादि उत्पन्न होते हैं । इस श्रुति के अनुसार संशय होता है कि (विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानम्) जिससे पदार्थ को समझा जाय उसको विज्ञान कहें । ऐसे ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि हैं । वहाँ इस श्रुति के अनुसार ये विज्ञान और मन तथा प्राण आकाशादि की उत्पत्ति से प्रथम आत्मा से उत्पन्न होते हैं । इससे आत्मा और आकाशादि के अन्तरा (मध्य) में उत्पन्न होते हैं, इसी से उक्त उत्पत्ति क्रम का प्राणादि से भङ्ग होता है । अथवा नहीं होता है । पूर्वपक्ष है कि प्राणादि का मध्य में कथन से भंग होता है और उस भंग की सिद्धि इन्द्रियों की सिद्धि उक्त श्रुति और (बुद्धिं तु सारथिं विद्धि) इत्यादि श्रुति रूप लिङ्गों से होती है । सिद्धान्त है कि प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और मन ये सब भौतिक हैं इससे भूतों से अविशेष (अभिन्न) होने से भूतों के अन्तर्भूत हैं । इसी से भूतों के क्रम से ही इनका क्रम सिद्ध है, ये पृथक् क्रम नहीं चाहते हैं और उक्त श्रुति में पञ्चमी विभक्ति आदि द्वारा प्राणादि में क्रम नहीं सुना गया है, किन्तु केवल उत्पत्ति सुनी गई है, इससे पूर्वोक्त भूतोत्पत्ति क्रम का बाध नहीं होता । सूत्रार्थ भी इसी से गतार्थ है ॥ १–२ ॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

भूतानामुत्पत्तिप्रलयावनुलोमप्रतिलोमक्रमाभ्यां भवत इत्युक्तम्, आत्मादिरुत्पत्तिः प्रलयश्चात्मान्त इत्यप्युक्तम्, सेन्द्रियस्य तु मनसो बुद्धेश्च सद्भावः प्रसिद्धः श्रुतिस्मृत्योः, 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहुः' (कठ० ३।३) इत्यादिलिङ्गेभ्यः । तयोरपि कस्मिंश्चिदन्तराले क्रमेणोत्पत्तिप्रलयावुपसंग्राह्यौ, सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वाभ्युपगमात् । अपि चाथर्वणे उत्पत्तिप्रकरणे भूतानामात्मनश्चान्तराले करणान्यनुक्रम्यन्ते—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ (मुण्ड० २।१।३) इति ।

तस्मात्पूर्वोक्तोत्पत्तिप्रलयक्रमभङ्गप्रसङ्गो भूतानामिति चेत् ।

न । अविशेषात् । यदि तावद्भौतिकानि करणानि ततो भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्यामेवैषामुत्पत्तिप्रलयौ भवत इति नैतयोः क्रमान्तरं मृग्यम् । भवति च भौतिकत्वे लिङ्गं करणानाम् 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छां० ६।५।४) इत्येवं जातीयकम् । व्यपदेशोऽपि क्वचिद्भूतानां करणानां च ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन नेतव्यः । अथ त्वभौतिकानि करणानि तथापि भूतोत्पत्तिक्रमो न करणैर्विशेष्यते प्रथमं करणान्युत्पद्यन्ते चरमं भूतानि प्रथमं वा भूता-

न्युत्पद्यन्ते चरमं वा करणानीति। आथर्वणे तु समाम्नायक्रममात्रं करणानां भूतानां च न तत्रोत्पत्तिक्रम उच्यते। तथान्यत्रापि पृथगेव भूतक्रमात्करणक्रम आम्नायते–'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्स आत्मानमैक्षत स मनोऽसृजत तन्मन एवासीत्तदात्मानमैक्षत तद्वाचमसृजत' इत्यादिना। तस्मान्नास्ति भूतोत्पत्तिक्रमस्य भङ्गः ॥ १५ ॥

अनुलोम और प्रतिलोम क्रम द्वारा भूतों की उत्पत्ति और प्रलय होते हैं यह कहा गया है। यह भी कहा गया है कि आत्मस्वरूप आदि वाली उत्पत्ति है। अर्थात् आत्मा से उत्पत्ति का आरम्भ होता है, आत्मस्वरूप अन्त वाला प्रलय है। आत्मा में प्रलय की समाप्ति होती है। और (बुद्धि को सारथि जानो, मन को लगाम समझो, इन्द्रियों को अश्व कहते हैं) इत्यादि लिङ्गों से इन्द्रिय सहित मन और बुद्धि श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध हैं। इन्द्रियादि की सत्ता श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है। यहाँ अन्यार्थपरक शब्दों को लिङ्ग कहा गया है। यहाँ ब्रह्म से उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सहित मन और बुद्धि इन दोनों के भी किसी अन्तराल (मध्य) में उत्पत्ति और प्रलय का उपसंग्रह (ग्रहण) करने के योग्य है। क्योंकि सब वस्तु समूह की ब्रह्म से ही उत्पत्ति मानी गयी है। यदि आकांक्षा हो कि किस अन्तराल में इनकं उत्पत्ति और प्रलय गृहीत हों, तो आथर्वण (मुण्डक) उत्पत्ति क्रम में भूत और आत्मा के अन्तराल (मध्य) में इन्द्रियों का अनुक्रम (ग्रहण) किया गया है कि (इस आत्मा से प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और सब प्राणियों को धारण करनेवाली पृथिवी, ये सब उत्पन्न होते हैं) जिससे भूतों के पूर्वोक्त उत्पत्ति और प्रलय के क्रमों में भंग (अभाव) की प्राप्ति होती है। इससे तैत्तिरीय और मुण्डक श्रुति को विरोध भी प्राप्त होता है। यदि कोई ऐसा कहे तो कहते हैं कि यह क्रम का भंग और विरोधादि नहीं है।. जिससे इन्द्रियों को भूतों से अविशेष है (भेद नहीं है) जिससे यदि इन्द्रिय भौतिक (भूतों के कार्य) हैं तो भूतों के उत्पत्ति प्रलय से ही इनके भी उत्पत्ति प्रलय होते हैं, इनके क्रमान्तर अन्वेषणीय-नहीं हैं। इन्द्रियों के भौतिकत्व में लिंग भी है कि (हे सोम्य ! अन्नमय मन है, जलमय प्राण है, तेजोमयी वाक् है) अर्थात् अन्नादि के विकार रूप मन आदि हैं। इस प्रकार के वचन करणों के भौतिकत्व में प्रमाण हैं। ऐसा होने पर भी जो मुण्डक आदि में कही भूतों और करणों के पृथक् जन्म का व्यपदेश-कथन है, वह ब्राह्मण-परिव्राजक न्याय से नेतव्य (स्वीकार के योग्य) है। और यदि करण भौतिक नहीं हैं, तो भी भूतोत्पत्ति का क्रम करणों से विशिष्ट-भिन्न— नष्ट नहीं होता है। जिससे प्रथम करण उत्पन्न होते हैं, अन्त में भूत उत्पन्न होते हैं, अथवा प्रथम भूत उत्पन्न होते हैं, अन्त में करण उत्पन्न होते हैं। मुण्डक में करणों का और भूतों का पाठक्रम मात्र है, उसमें उत्पत्ति का क्रम नहीं कहा जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भूतक्रम से पृथक् ही करण क्रम पढ़ा जाता है कि (यह स्थूल भूत उत्पत्ति से पूर्वकाल में सूक्ष्म भूतात्मक प्रजापति स्वरूप ही था। सूत्रात्मा स्वरूप था। उसने सूक्ष्म भूतात्मक अपने को समझा, फिर मन को रचा, फिर वह मन रूप ही था और उसने

अपने को मन रूप समझा फिर उस मन ने वाक् को रचा) इत्यादि से सूक्ष्म भूत स्वरूप प्रजापति की सृष्टि प्रथम भासती है, उससे मन आदि की सृष्टि भासती है, इससे यह क्रम है, जिससे भूतोत्पत्तिक्रम का भङ्ग नहीं है ॥ १५ ॥

चराचरव्यपाश्रयाधिकरण (१०)

जीवस्य जन्ममरणे वपुषो वात्मनो हि ते।
जातो मे पुत्र इत्युक्तेर्जातकर्मादितस्तथा ॥ १ ॥
मुख्ये ते वपुषो भाक्ते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि।
जातकर्म च लोकोक्तिर्जीवापेतेति शास्त्रतः ॥ २ ॥

लौकिक उस जीव के जन्म मरण का व्यपदेश (व्यवहार) चराचर देहाश्रय तो मुख्य होता है और जीव में भाक्त (गौण) व्यवहार होता है, क्योंकि उस देह के होने ही से जीव में व्यवहार होता है। संशय है कि जीव के जन्म मरण होते हैं, वा देह के होते हैं। पूर्वपक्ष है कि मेरा पुत्र जन्मा है इस लौकिक व्यवहार से तथा शास्त्र में जातकर्मादि के विधान से जीवात्मा के ही वे जन्म मरण होते हैं। सिद्धान्त है कि शरीर के वे जन्म मरण मुख्य हैं और जीव के ये जन्म मरण भाक्त हैं। देह गत जन्म मरण का देह के साथ सम्बन्ध होने से जीव में गौण व्यवहार होता है और उस भाक्त की अपेक्षा करके ही लोकोक्ति होती है, जात कर्म होता है। जिससे (जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते) इस शास्त्र से जीव के जन्मादि का अभाव सुना जाता है ॥ १–२ ॥

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ।

स्तो जीवस्याप्युत्पत्तिप्रलयौ, जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इत्येवंजातीयकाल्लौकिकव्यपदेशात् जातकर्मादिसंस्कारविधानाच्चेति स्यात्कस्यचिद्भ्रान्तिस्तामपनुदामः। न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः, शास्त्रफलसंबन्धोपपत्तेः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्। श्रूयते च—जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' (छां० ६।११।३) इति। ननु लौकिको जन्ममरणव्यपदेशो जीवस्य दर्शितः। सत्यं दर्शितः। भाक्तस्त्वेष जीवस्य जन्ममरणव्यपदेशः। किमाश्रयः पुनरयं मुख्यो यदपेक्षया भाक्त इति। उच्यते। चराचरव्यपाश्रयः। स्थावरजङ्गमशरीरविषयौ जन्ममरणशब्दौ। स्थावरजङ्गमानि हि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ते चातस्तद्विषयौ जन्ममरणशब्दौ मुख्यौ सन्तौ तत्स्थे जीवात्मन्युपचर्येते, तद्भावभावित्वात्। शरीरप्रादुर्भावतिरोभावयोर्हि सतोर्जन्ममरणशब्दौ भवतो नासतोः। नहि शरीरसंबन्धादन्यत्र जीवो जातो मृतो वा केनचिल्लक्ष्यते। 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' (बृ० ४।३।८) इति च शरीरसंयोगवियोगनिमित्तावेव जन्ममरणशब्दौ दर्शयति। जातकर्मादिविधानमपि देहप्रादुर्भावापेक्षमेव द्रष्टव्यम्। अभावाज्जीवप्रादुर्भावस्य। जीवस्य परस्मादात्मन उत्पत्तिर्वियदा-

दीनामिवास्ति नास्ति वेत्येतदुत्तरेण सूत्रेण वक्ष्यति। देहाश्रयौ तावज्जीवस्य स्थूलावुत्पत्तिप्रलयौ न स्त इत्येतदनेन सूत्रेणावोचत् ॥ १६ ॥

देवदत्त जन्मे, देवदत्त मर गये, इस प्रकार के लौकिक व्यवहार से, और जातकर्मादि संस्कार के विधान से किसी को भ्रान्ति हो सकती है कि जीव के जन्म मरण होते हैं, अर्थात् उत्पत्ति प्रलय होते हैं। उस भ्रम का निवारण करते हैं कि जीव के उत्पत्ति प्रलय नहीं होते हैं, जिससे उत्पत्ति प्रलय के नहीं होने पर ही शास्त्र से विहित कर्म आदि के फलों की जन्मान्तर में उपपत्ति हो सकती है। अन्यथा संस्कारादि विधि भी निरर्थक होंगे। जिससे शरीर के अनुसार विनाश के स्वभाव वाला जीव के होने पर शरीरान्तरगत इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति और निवृत्ति के लिए किये गये विधि और निषेध दोनों अनर्थक हो जायेंगे। सुना जाता है कि (जीव को छोड़कर यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता है)। यदि कहा जाय कि जीव के जन्म मरण का लौकिक व्यवहार दर्शित कराया गया है, तो कहा जाता है कि दर्शित कराया गया है, सो सत्य है, परन्तु वह जीव के जन्म मरण का व्यवहार भाक्त है। यदि कहा जाय कि कहीं मुख्य के बिना गौण व्यवहार नहीं होता है, यह व्यवहार मुख्य किसमें है, कि जिसकी अपेक्षा से जीव में गौण है, तो कहा जाता है कि चराचर देहाश्रित मुख्य व्यवहार है। स्थावर जंगम शरीर विषयक जन्म मरण शब्द मुख्य हैं। जिससे स्थावर जंगम भूत (शरीर) जन्मते हैं, मरते हैं। इससे तद्विषयक जन्म मरण शब्द मुख्य होते हुए, उस देह में स्थित आत्मा में उपचरित होते हैं। जिससे शरीर के जन्म मरण के भाव से ही जन्म मरण शब्द भाव वाले (सत्तायुक्त) होते हैं, शरीर के प्रादुर्भाव और तिरोभाव (प्रकट गुप्त) होने पर जन्म मरण शब्द होते हैं, शरीर के प्रकट गुप्त हुए बिना नहीं होते हैं। शरीर सम्बन्ध से रहित किसी अन्य स्थान में जीव उत्पन्न हुआ, मर गया इस प्रकार किसी से नहीं समझा जाता है। (वही यह पुरुष शरीर को प्राप्त होने पर जायमान कहा जाता है। शरीर से उत्क्रमण करने पर म्रियमाण कहा जाता है) यह श्रुति शरीर के संयोग और वियोग निमित्तक ही जन्म मरण शब्द को दिखाती है। जातकर्मादि के विधान को भी देह के प्रादुर्भाव की अपेक्षा वाला ही समझना चाहिये, जीव के प्रादुर्भाव के अभाव से देह के प्रादुर्भाव निमित्तक समझना ही उचित है। आकाशादि के समान जीवात्मा की उत्पत्ति परमात्मा से होती है, वा नहीं, वह आगे के सूत्र से कहेंगे। प्रथम देहाश्रित स्थूल प्रकट जन्म मरण रूप उत्पत्ति प्रलय जीव के नहीं हैं, इस अर्थ को सूत्रकार ने इस सूत्र से कहा है ॥ १६ ॥

आत्माधिकरण (११)

कल्पादौ ब्रह्मणो जीवो वियद्वज्जायते न वा।
सृष्टेः प्रागद्वयत्वोक्तेर्जायते विस्फुलिङ्गवत् ॥ १ ॥
ब्रह्माद्वयं जातबुद्धौ जीवत्वेन विशत्स्वयम्।
औपाधिकं जीवजन्म नित्यत्वं वस्तुतः श्रुतम् ॥ २ ॥

उत्पत्तिप्रकरण में जीवात्मा की उत्पत्ति के अश्रवण से जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता है और नित्यत्व के बोधक उन श्रुतियों से जीवात्मा की नित्यता से भी वह नहीं उत्पन्न होता है। संशय है कि कल्प के आदि में आकाश के समान जीव भी उत्पन्न होता है वा नहीं उत्पन्न होता है। पूर्वपक्ष है कि सृष्टि के पूर्वकाल में अद्वयता की श्रुति से विस्फुलिङ्ग के समान जीव उत्पन्न होता है। सिद्धान्त है कि सृष्टि के आदि काल में उत्पन्न बुद्धि में जीव रूप से स्वयं अद्वय ब्रह्म प्रवेश करता है, जिससे उपाधिनिमित्तक कल्पित जीव का जन्म है। और वस्तुतः नित्यत्व सुना गया है ॥ १–२ ।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसंबन्धी। स किं व्योमादिवदुत्पद्यते ब्रह्मण आहोस्विद्ब्रह्मवदेव नोत्पद्यत इति श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विषयः। कासुचिच्छ्रुतिष्वग्निविस्फुलिङ्गादिनिदर्शनैर्जीवात्मनः परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तिराम्नायते, कासुचित्त्वविकृतस्यैव परस्य ब्रह्मणः कार्यप्रवेशेन जीवभावो विज्ञायते न चोत्पत्तिराम्नायत इति। तत्र प्राप्तं तावदुत्पद्यते जीव इति। कुतः? प्रतिज्ञानुपरोधादेव। 'एकस्मिन्विदिते सर्वमिदं विदितम्' इतीयं प्रतिज्ञा सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रभवत्वे सति नोपरुध्येत, तत्त्वान्तरत्वे तु जीवस्य प्रतिज्ञेयमुपरुध्येत। न चाविकृतः परमात्मैव जीव इति शक्यते विज्ञातुं, लक्षणभेदात्। अपहतपाप्मत्वादिधर्मको हि परमात्मा, तद्विपरीतो हि जीवः, विभागाच्चास्य विकारत्वसिद्धिः। यावान्ह्याकाशादिः प्रविभक्तः स सर्वो विकारस्तस्य चाकाशादेरुत्पत्तिः समधिगता, जीवात्मापि पुण्यापुण्यकर्मा सुखदुःखयुक्प्रतिशरीरं प्रविभक्त इति तस्यापि प्रपञ्चोत्पत्त्यवसर उत्पत्तिर्भवितुमर्हति। अपि च 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २।१।२०) इति प्राणादेर्भोग्यजातस्य सृष्टिं शिष्ट्वा 'सर्व एव आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति भोक्तॄणामात्मनां पृथक्सृष्टिं शास्ति। 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० २।१।१) इति च जीवात्मनामुत्पत्तिप्रलयावुच्येते। सरूपवचनात्। जीवात्मानो हि परमात्मना सरूपा भवन्ति चैतन्ययोगात्। न च क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं वारयितुमर्हति। श्रुत्यन्तरगतस्याप्यविरुद्धस्याधिकस्यार्थस्य सर्वत्रोपसंहर्तव्यत्वात्। प्रवेशश्रुतिरप्येवं सति विकारभावापत्त्यैव व्याख्यातव्या, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादिवत्। तस्मादुत्पद्यते जीव इति।

शरीर इन्द्रिय रूप पञ्जर (पिञ्जर) का अध्यक्ष कर्मफल का सम्बन्धी (भोक्ता) जीवनाम वाला आत्मा है। वह जीवात्मा क्या आकाश आदि के समान ब्रह्म से उत्पन्न होता है। अथवा ब्रह्म के समान ही नहीं उत्पन्न होता है। इस प्रकार श्रुतियों के विरोध से विशय (संशय) होता है। कितनी श्रुतियों में अग्नि के विस्फुलिङ्गादि

दृष्टान्तों द्वारा जीवात्मा की परब्रह्म से उत्पत्ति कही जाती है। कितनी श्रुतियों में अविकृत परब्रह्म का ही कार्य में प्रवेश द्वारा जीवभाव विज्ञात होता है और उत्पत्ति नहीं कही जाती है। वहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि जीव उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रतिज्ञा के अनुपरोध से ही ऐसा सिद्ध होता है (एक के विदित होने से यह सब जगत् विदित होता है) यह प्रतिज्ञा सब वस्तु समूह के ब्रह्मजन्यत्व होने पर उपरुद्ध (बाधित) नहीं होती है। जीव के तत्वान्तर होने पर तो यह प्रतिज्ञा बाधित होगी। लक्षण के भेद से अविकृत परमात्मा ही जीव है, यह भी नहीं समझ सकते हैं कि जिस समझ से प्रतिज्ञा का बाध नहीं प्रतीत हो। अपहतपाप्मत्वादि धर्म वाला परमात्मा है, और उससे विपरीत जीव है, यह लक्षण का भेद है। विभाग से भी इस जीव के विकारत्व की सिद्धि होती है। जितने आकाशादि प्रविभक्त हैं, वे सब विकार हैं, उस आकाशादि की उत्पत्ति समधिगत हुई है, समझी गयी है। पुण्य अपुण्य कर्मवाला सुख दुःख युक्त जीवात्मा भी प्रत्येक शरीर में प्रविभक्त है, इससे प्रपञ्च की उत्पत्ति के समय उस जीवात्मा की भी उत्पत्ति होने योग्य है। दूसरी बात है कि (जैसे अग्नि से तुच्छ विस्फुलिंग उत्पन्न होते फैलते हैं इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार प्राणादि भोग्य समूह की सृष्टि का उपदेश करके (सभी आत्मायें व्युच्चरित (व्यक्त उत्पन्न) होती हैं। इस प्रकार भोक्ता आत्मा की पृथक् सृष्टि का शासन (उपदेश) श्रुति करती है और (हे सोम्य! जैसे सुदीप्त अग्नि से हजारों विस्फुलिंग समान रूप वाले उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से अनेक प्रकार के भाव (जीव) उत्पन्न होते हैं, और उसी में लीन होते हैं) यह श्रुति भी दृष्टान्तगत सरूप वचन से जीवात्मा के ही उत्पत्ति प्रलय को कहती है, जिससे चेतनता के योग्य (सम्बन्ध) से जीवात्मा ही परमात्मा के समान (तुल्य) रूप वाले होते हैं, यद्यपि तैत्तिरीयक श्रुति के उत्पत्ति प्रकरण में जीव का अश्रवण है, तथापि कहीं उत्पत्ति का अश्रवण अन्यत्र श्रुत उत्पत्ति वचन का वारण नहीं कर सकता है। जिससे अन्य श्रुतिगत भी अविरुद्ध अधिक अर्थ सब श्रुति में उपसंहार (ग्रहण) के योग्य होता है। इस प्रकार जीवात्मा के विकार (कार्य) रूप होने पर जीव भाव से परमात्मा के कार्य में प्रवेश बोधक श्रुति भी (उसने विकार प्रपञ्च रूप से अपने आत्मा को स्वयं किया) इत्यादि के अनुसार विकार भाव की प्राप्ति रूप से ही व्याख्यान के योग्य है कि विकारात्मक जीव रूप से प्रवेश किया। उससे जीव उत्पन्न होता है। जीव के अजत्व बोधक श्रुति कल्प के मध्य में जन्माभाव विषयक है (तत्त्वमसि) इत्यादि भी मृद्घटः, इत्यादि के समान कार्यकारण में अभेद दृष्टि से है॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नात्मा जीव उत्पद्यत इति। कस्मात्? अश्रुतेः। न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति भूयःसु प्रदेशेषु। ननु क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं न वारयतीत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। उत्पत्तिरेव त्वस्य न संभवतीति

वदामः। कस्मात्? नित्यत्वाच्च ताभ्यः। चशब्दादजत्वादिभ्यश्च। नित्यत्वं ह्यस्य श्रुतिभ्योऽवगम्यते, तथाजत्वमविकारित्वमविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवात्मनावस्थानं ब्रह्मात्मना चेति। न चैवंरूपस्योत्पत्तिरुपपद्यते। ताः काः श्रुतयः? 'न जीवो म्रियते' (छां ६।११।३), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२२), 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ० २।१८), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ० २।१८), 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां ६।३।२), 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' (बृ० १।४।७), 'तत्त्वमसि' (छां० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०), 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९) इत्येवमाद्या नित्यत्ववादिन्यः सत्यो जीवस्योत्पत्तिं प्रतिबध्नन्ति। ननु प्रविभक्तत्वाद्विकारो विकारत्वाच्चोत्पद्यत इत्युक्तम्। अत्रोच्यते। नास्य प्रविभागः स्वतोऽस्ति, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इति श्रुतेः। बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसंबन्धनिमित्तम्। तथाच शास्त्रम्—'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' (बृ० ४।४।५) इत्येवमादि ब्रह्मण एवाविकृतस्य सतोऽस्यैकस्यानेकबुद्ध्यादिमयत्वं दर्शयति। तन्मयत्वं चास्य तद्विविक्तस्वरूपानभिव्यक्त्या तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जाल्म इत्यादिवद् द्रष्टव्यम्। यदपि क्वचिदस्योत्पत्तिप्रलयश्रवणं तदप्यत एवोपाधिसंबन्धान्नेतव्यम्। उपाध्युत्पत्त्यास्योत्पत्तिस्तत्प्रलयेन च प्रलय इति। तथा च दर्शयति—'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृ० ४।५।१३) इति। तथोपाधिप्रलय एवायं नात्मविलय इत्येतदप्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपदन्न वा अहमिमं विजानामि न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृ० ४।५।१४) इति। प्रतिज्ञानुपरोधोऽप्यविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावाभ्युपगमात्। लक्षणभेदोऽप्यनयोरुपाधिनिमित्त एव। 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' (बृ० ४।३।१५) इति च प्रकृतस्यैव विज्ञानमयस्यात्मनः सर्वसंसारधर्मप्रत्याख्यानेन परमात्मभावप्रतिपादनात्। तस्मान्नैवात्मोत्पद्यते प्रविलीयते चेति ॥ १७ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि जीवात्मा नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि उत्पत्ति प्रकरण में जीवात्मा की उत्पत्ति का अश्रवण है। बहुत प्रदेशों में उत्पत्ति प्रकरण में इस जीव का श्रवण नहीं है। यदि कहो कि कहीं का अश्रवण अन्यत्र श्रुत का वारण नहीं करता है, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि कहा सत्य गया है, परन्तु

इस जीवात्मा की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है यह हम कहते हैं, क्योंकि उन श्रुतियों से जीवात्मा के नित्यत्व का बोध होता है। सूत्र गत च शब्द आजत्वादि का बोधक होता है कि अजत्व अमरत्व अभयत्वादि श्रुति से भी जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं होती है। इस जीवात्मा का नित्यत्व श्रुतियों से अवगत होता है, इसी प्रकार अजत्व अविकारित्व अविकृत ब्रह्म का ही जीवात्मा रूप से और ब्रह्मात्मा रूप से अवस्थान (स्थिति) अवगत होता है, और इस प्रकार के स्वरूप वाले की उत्पत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती है। वे कौन श्रुतियाँ हैं कि जिनसे नित्यत्वादि अवगत होते हैं। ऐसी आकांक्षा हो तो सुनो (जीव नहीं मरता है। प्रथम कथित विज्ञान मय यह आत्मा महान्, अज, अजर, अमर, अमृत, अभय और ब्रह्म है। विपश्चित् मेधावी विद्वान् न जन्मता है न मरता है। यह आत्मा अज नित्य शाश्वत (सनातन अपक्षय रहित) पुराण (एक रस) है। वह ब्रह्म ही कार्य को रचकर जीव रूप से फिर प्रविष्ट हुआ। उस ब्रह्म ने विचार किया कि इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके नाम और रूप का व्याकरण विभाग करूँ। और इस शरीर में नखाग्र पर्यन्त प्रविष्ट हुआ। वह सत्य ब्रह्म स्वरूप तुम हो। मैं ब्रह्म हूँ। यह आत्मा ब्रह्म है सबका अनुभव कर्ता है) नित्यत्वादि को कहने वाली होती हुई इस प्रकार की श्रुतियाँ जीव की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध निवारण करती हैं। यदि कहो कि प्रविभक्त होने से जीवात्मा विकार रूप है, और विकार होने से उत्पन्न होता है, यह प्रथम कहा गया है, तो यहाँ उत्तर कहा जाता है कि इस जीवात्मा का स्वतः स्वरूप से विभाग नहीं है। इससे विकार बोधक हेतु का अभाव है, क्योंकि (एक देव सब भूतों में गूढ—छिपा है, सर्वव्यापी, सब भूत का अन्तरात्मा है) इस श्रुति से वस्तुतः अविभाग सुना जाता है। इससे घटादि उपाधिनिमित्तक आकाश के प्रविभाग के समान बुद्धि आदि उपाधिनिमित्तक इसके प्रविभाग का प्रतिभान (प्रतीति) होता है। ऐसा ही शास्त्र है कि (यह आत्मा ब्रह्म है, और विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय है) इत्यादि शास्त्र अविकृत एक सत् ब्रह्म को ही अनेक बुद्धि आदि मयत्व (बुद्धि आदि रूपत्व) दिखाता है। इस ब्रह्म का बुद्धि आदि मयत्व यह है कि बुद्धि आदि से विविक्त भिन्न स्वरूप की अनभिव्यक्ति से बुद्धि आदि से उपरक्त (ग्रस्त) रंजित स्वरूपत्व है। जैसे जाल्म (असमीक्ष्यकारी) कामी स्त्रीमय है, इत्यादि व्यवहार होता है, वैसे ही इन बुद्धिमय आदि वचनों को समझना चाहिये, अर्थात् यहाँ विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय नहीं है कि जिससे ब्रह्म विकारत्व नहीं मानने पर भी बुद्धि आदि के विकारत्व जीव को प्राप्त हों। किन्तु प्रचुरार्थ में मयट् है, उसका तदधीना अर्थ है। जो कहीं इस जीव के उत्पत्ति प्रलय का श्रवण होता है, वह भी इस उपाधि सम्बन्ध से ही नेतव्य (गौण ज्ञातव्य) है कि उपाधि की उत्पत्ति से इसकी उत्पत्ति कही जाती है, और उपाधि के प्रलय से इसका प्रलय समझा जाता है। वैसा ही श्रुति दिखाती है कि (विज्ञानघन ही आत्मा इन भूत रूप देहों से समुत्थित (जन्मवान्) होकर उन देहों के विनाश के अनुसार विनष्ट भासता है, इससे मरण के

बाद संज्ञा नहीं रहती है) इसी प्रकार यह प्रलय भी उपाधि का ही होता है, आत्मा का विलय नहीं होता है, इस तत्त्व को भी यहाँ ही प्रश्नपूर्वक शास्त्र प्रतिपादन करता है कि (मुझे आप भगवान् ने मोह के मध्य (भ्रान्ति) में डाला है, मरने पर संज्ञा नहीं रहती है, इस अर्थ को मैं नहीं जानती हूँ) यह मैत्रेयी का प्रश्न है कि इस अज्ञात अर्थ को कहिये । उत्तर है कि (अरे मैत्रेयि ! मैं मोहजनक वाक्य नहीं कहता हूँ, यह आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा अपरिणामी है, परन्तु शरीर रहित अवस्था में मात्रा (विषय) से इसका सम्बन्ध नहीं होता है, इससे प्रेत्य संज्ञा नहीं है । ऐसा कहा जाता है, उस समय विशेष ज्ञान का अभाव रहता है) और अविकृत ब्रह्म के ही जीवभाव के स्वीकार से प्रतिज्ञा का भी बाध नहीं होता है, इसलिए जीव के जन्म मानने की जरूरत नहीं है, और जीव ब्रह्म के लक्षण भेद भी उपाधि निमित्तक ही हैं, (इसके बाद विमोक्ष ही के लिये कहो) इत्यादि प्रश्न और उत्तर द्वारा प्रकृत विज्ञानमय आत्मा के सब संसार धर्म का प्रत्याख्यान करके परमात्मरूपता के प्रतिपादन से औपाधिक लक्षण का भेद सिद्ध होता है, अतः वस्तुतः जीवात्मा नहीं उत्पन्न होता है, न प्रलीन नष्ट होता है ॥ १७ ॥

ज्ञाधिकरण (१२)

अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपो जीवोचिद्रूप इष्यते ।
चेदभावात्सुषुप्त्यादौ जाग्रच्चिन्मनसाकृता ॥ १ ॥
ब्रह्मत्वादेव चिद्रूपश्चित्सुषुप्तौ न लभ्यते ।
द्वैतादृष्टिर्द्वैतलोपान्नहि द्रष्टुरिति श्रुतेः ॥ २ ॥

इस उक्त उत्पत्ति आदि रहित ब्रह्मरूपता से ही जीव ज्ञाता नित्य चेतन स्वरूप है । वहाँ वादियों की विप्रतिपत्ति से संशय होता है कि जीव अचेतन रूप है अथवा चेतन स्वरूप है । न्यायादि मत के अनुसार पूर्व पक्ष है कि आत्मा अचेतन स्वरूप माना जाता है, परन्तु ज्ञानशक्ति वाला है, अचित्स्वरूप होने से सुषुप्ति मूर्च्छा आदि में ज्ञान का अभाव रहता है और ज्ञानशक्ति के रहने से मन के साथ संयोग से जाग्रत् में ज्ञान कृत (जन्य) होता है । सिद्धान्त है कि पूर्वोक्त रीति से जीवात्मा के नित्य ज्ञान स्वरूप ब्रह्म स्वरूप ही होने से जीवात्मा नित्य चित् स्वरूप है, सुषुप्ति में चित्स्वरूप नहीं लुप्त होता है, अन्यथा जागने पर सुषुप्ति के सुख का स्मरण नहीं होना चाहिए कि मैं सुखपूर्वक सोया था इत्यादि । यदि कहे कि ज्ञान रूप रहते उस समय द्वैत का ज्ञान क्यों नहीं होता है, तो कहा जाता है कि द्वैत का लोप अभाव से उस समय द्वैत का ज्ञान नहीं होता है, अर्थात् उतनी देर के लिए बाह्य भोगप्रद कर्मों के उपरत हो जाने से इन्द्रियादि का अपने कारणों में विलय हो जाता है, मन, बुद्धि की स्फुरणा शक्ति तमोगुण से आच्छादित हो जाती है, इन्द्रियजन्य विशेष वृत्ति रूप ज्ञान नहीं होते हैं और साक्षी स्वरूप वृत्ति सहित अविद्या का प्रकाशक आत्मा उस समय भी चिद्रूप ही रहता है, वह (नहि द्रष्टु-र्दृष्टेः परिलोपो भवति) इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है ॥ १-२ ॥

ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥

स किं कणभुजानामिवागन्तुकचैतन्यः स्वतोऽचेतन आहोस्वित्सांख्यानामिव नित्यचैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः। किं तावत्प्राप्तम्। आगन्तुकमात्मनश्चैतन्यमात्ममनःसंयोगजमग्निघटसंयोगजरोहितादिगुणवदिति प्राप्तम्। नित्यचैतन्यत्वे हि सुप्तमूर्च्छितग्रहाविष्टानामपि चैतन्यं स्यात्। ते पृष्टाः सन्तो न किंचिदयमचेतयामहीति जल्पन्ति स्वस्थाश्च चेतयमाना दृश्यन्ते। अतः कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्य आत्मेति।

वह जीवात्मा कणादमतवादियों की मति के अनुसार आगन्तुक अनित्य कार्य रूप चैतन्य (ज्ञान) वाला और स्वतः स्वरूप से अचेतन है, अथवा सांख्यों की मति के अनुसार नित्य चैतन्य स्वरूप ही है। वादियों की विप्रतिपत्ति से यह संशय होता है, वहाँ क्या प्राप्त है ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि अग्नि और घट के संयोग से जन्य घट के रक्त रूपादि गुण के समान आत्मा और मन के संयोग से जन्य आगन्तुक आत्मा के चैतन्य (ज्ञान) गुण है, यह प्राप्त होता है। जिससे नित्य चैतन्यत्व होने पर, सुप्त, मूर्च्छित, ग्रहाविष्टों को भी चैतन्य होगा। उन्हें चेतनता होती नहीं है, जागने पर तथा मूर्च्छा रहित स्वस्थ होने पर पूछने से वे लोग कहते हैं, हम उस समय की बातें कुछ भी नहीं समझते थे न स्मरण करते हैं। स्वस्थ होकर वर्तमानकाल में चेतयमान ज्ञाता दीखते हैं। इससे कादाचित्क (किसी काल में साधन से होने वाली) चेतनता वाला होने से आगन्तुक चेतनता वाला आत्मा है॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते। ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्मात एव यस्मादेव नोत्पद्यते परमेव ब्रह्माविकृतमुपाधिसंपर्काज्जीवभावेनावतिष्ठते। परस्य हि ब्रह्मणश्चैतन्यस्वरूपत्वमाम्नातम्—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१), अन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३), इत्यादिषु श्रुतिषु। तदेव चेत्परं ब्रह्म जीवस्तस्माज्जीवस्यापि नित्यचैतन्यस्वरूपत्वमग्न्यौष्ण्यप्रकाशवदिति गम्यते। विज्ञानमयप्रक्रियायां च श्रुतयो भवन्ति—'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' (बृ० ४।३।११।) 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४।३।९) 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० ४।३।३०) इत्येवंरूपाः। 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणी'ति 'स आत्मा' (छां० ८।१२।४) इति च सर्वैः करणद्वारैरिदं वेदेदं वेदेति विज्ञानेनानुसंधानात्तद्रूपत्वसिद्धिः। नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेन्न। गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्, तथाहि दर्शयति—'गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि। यत्तु सुप्तादयो न चेतयन्त इति तस्य श्रुत्यैव परिहारोऽभिहितः। सुषुप्तं प्रकृत्य 'यद्वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्, (बृ० ४।३।२३) इत्यादिना। एतदुक्तं

भवति। विषयाभावादियमचेतयमानता न चैतन्याभावादिति। यथा वियदाश्रयस्वप्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात्तद्वत्। वैशेषिकादितर्कश्च श्रुतिविरोधे आभासीभवति। तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवात्मेति निश्चिनुमः॥ १८॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है। अत एव इस पूर्वोक्त हेतु से ही यह आत्मा 'ज्ञ' नित्य चैतन्य स्वरूप है अर्थात् जिससे उत्पन्न नहीं होता है, अविकृत पर ब्रह्म ही उपाधि सम्बन्ध से जीव रूप से स्थिर होता है। इससे नित्य चैतन्य स्वरूप है। (विज्ञान आनन्द स्वरूप ब्रह्म है। सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है। अन्तर बाह्य भेद रहित पूर्ण ज्ञान घन ही है) इत्यादि श्रुतियों में परब्रह्म को ही चैतन्य स्वरूपत्व कहा है। वही परब्रह्म ही जिससे जीव है उससे जीव को भी अग्नि की उष्णता और प्रकाश के समान नित्य चैतन्य स्वरूपत्व है यह प्रतीत होता है, समझा जाता है। और (योऽयं विज्ञानमयः) इस विज्ञानमय के प्रकरण में श्रुतियाँ हैं कि (स्वयं असुप्त होता हुआ सुप्तों को प्रकाशित करता है) यहाँ स्वप्न में यह पुरुष स्वयं ज्योति होता है। विज्ञाता के विज्ञान का अभाव–नाश नहीं होता है। इत्यादि इनसे साक्षात् चिद्रूपता सिद्ध होती है। और जो जानता है कि इस वस्तु को सूंघता हूँ वह आत्मा है। इस प्रकार सब करणों द्वारा इसको जानता है, इसको जानता है, इस विज्ञान द्वारा अनुसंधान से उस विज्ञान रूपत्व की सिद्धि होती है। नित्य विज्ञान रूप के बिना अनित्य विज्ञानों का अनुसंधान नहीं हो सकता है। यदि कोई कहे कि नित्य चैतन्य स्वरूपत्व के होने पर घ्राणादि रूप ज्ञान के हेतु इन्द्रियों की अनर्थकता होगी तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि गन्धादि रूप विषय विशेष के पृथक्-पृथक् वृत्ति ज्ञान रूप परिच्छेदार्थक घ्राणादि हैं। जिससे इसी प्रकार श्रुति दिखाती है कि (गन्ध विषय ज्ञान के लिए घ्राण है) इत्यादि। सुप्त मूर्च्छितादि नहीं जानते हैं, चैतन्य होने पर कहते हैं कि कुछ नहीं जाना इत्यादि। इससे जो आत्मा की अचेतनता का संशय होता है, उसका परिहार (निवारणोपाय) श्रुति से ही कहा गया है, जैसे कि सुषुप्त का आरम्भ करके (जो वह सुषुप्ति में नहीं देखता है वह स्वरूप चैतन्य से देखता हुआ ही अन्तःकरण के लीन हो जाने से अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा नहीं देखता है, अविनाशी होने से द्रष्टा की दृष्टि–ज्ञान का परिलोप नहीं होता है, परन्तु वहाँ उससे अन्य विभक्त द्वितीय वस्तु नहीं है कि जिसको वह देखे जाने) इत्यादि से परिहार किया गया है। इससे यह उक्त होता है कि विषय के अभाव से यह अज्ञातृता है, चेतनता के अभाव से नहीं। जैसे आकाश के आश्रित प्रकाश की प्रकाश करने योग्य वस्तु के अभाव से अभिव्यक्ति नहीं होती है, स्वरूप के अभाव से नहीं जिससे रात्रि के समय प्रकाश योग्य चन्द्रमा को प्राप्त होकर प्रकाश अभिव्यक्त होता है, अन्यथा नहीं, इसी प्रकार यहाँ चिद् अभिव्यक्ति में समझना चाहिए। श्रुति के विरोध होने पर वैशेषिकादि के तर्क आभास (मिथ्या) हो जाते हैं, इससे नित्य चैतन्य स्वरूप ही आत्मा है, यह निश्चित करते हैं॥

उत्क्रान्तिगत्यधिकरण (१३)

जीवोऽणुः सर्वगो वा स्यादेषोऽणुरिति वाक्यतः ।
उत्क्रान्तिगत्यागमनश्रवणाच्चाणुरेव सः ॥
साभासबुद्ध्याणुत्वेन तदुपाधित्वतोऽणुता ।
जीवस्य सर्वगत्वं तु स्वतो ब्रह्मत्वतः श्रुतम् ॥

जीव के मध्यम परिमाण का प्रथम निषेध किया गया है, तो भी संशय है कि मध्यम परिमाण नहीं होने पर भी जीव अणु होगा अथवा सर्वगत होगा, पूर्वपक्ष है कि श्रुति में मरणकालिक उत्क्रमण (शरीर का त्याग) फिर लोकान्तर में गमन और लोकान्तर से आगमन के श्रवण से, तथा (एषोऽणुरात्मा) इस श्रवण से जीव अणु ही है ॥ सिद्धान्त है कि आभास सहित बुद्धि के अणु होने से और उपाधि वाला व्यावहारिक जीव के होने से, उस व्यावहारिक जीव को उस उपाधिवाला होने ही से अणुता (सूक्ष्मता) है, और स्वतः स्वरूप से तो जीव को ब्रह्मत्वतः (ब्रह्मरूपता) से विभुत्व श्रुत है ॥ १–२ ॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

इदानीं तु किंपरिमाणो जीव इति चिन्त्यते, किमणुपरिमाण उत मध्यमपरिमाण आहोस्विन्महापरिमाण इति । ननु नात्मोत्पद्यते नित्यचैतन्यश्चायमित्युक्तम्, अतश्च पर एवात्मा जीव इत्यापतति परस्य चात्मनोऽनन्तत्वमाम्नातं, तत्र कुतो जीवस्य परिमाणचिन्तावतार इति । उच्यते । सत्यमेतत् । उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति । स्वशब्देन चास्य क्वचिदणुपरिमाणत्वमाम्नायते । तस्य सर्वस्यानाकुलत्वोपपादनायायमारम्भः । तत्र प्राप्तं तावदुत्क्रान्तिमत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नोऽणुपरिमाणो जीव इति । उत्क्रान्तिस्तावत्—'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' (कौषीत० ३।३) इति । गतिरपि 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषीत० १।२) इति । आगतिरपि 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति । आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति । न हि विभोश्चलनमवकल्पत इति । सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्यार्हतपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते ॥ १९ ॥

अब इस समय विचार किया जाता है कि जीव किस परिमाण वाला है, क्या अणु परिमाण वाला है, अथवा मध्यम परिमाण वाला है । या महापरिमाण वाला विभु है । परन्तु यहाँ शंका होती है कि (नात्माऽश्रुतेः) इत्यादि सूत्रों से कहा जा चुका है कि आत्मा उत्पन्न नहीं होता है, और यह आत्मा नित्य चैतन्य स्वरूप है । इसीसे परमात्मा ही जीव है, यह प्राप्त–सिद्ध होता है । परमात्मा को अनन्तत्व आम्नात

(वेद प्रतिपादित) है, वहाँ जीव के परिमाण की चिन्ता का अवसर कहाँ से आया। इस शंका का उत्तर कहा जाता है कि पारमार्थिक जीव को अनन्त ब्रह्मरूपता है, यह बात सत्य है, परन्तु व्यावहारिक जीव के उत्क्रान्ति गति आगति के श्रवण जीव के परिच्छेद (परमात्मा से भेद, परिच्छिन्नता) को प्राप्त (बोध) कराते हैं। कहीं स्वशब्द से भी श्रुति इस जीव के अणुत्व को कहती है, अणु वाचक शब्द से साक्षात् अणुत्व का वर्णन करती है। उन सबके अनाकुलत्व (अव्यस्तता-अविरुद्धता) उपपादन (साधन) के लिये यह आरम्भ है, इस आरम्भ में प्रथम प्राप्त होता है कि उत्क्रमण, गति और आगति के श्रवण से परिच्छित अणुपरिमाण वाला जीव है। प्रथम उत्क्रान्ति का श्रवण है कि (वह जीव जिस काल में इस शरीर से उत्क्रमण करता है, इससे निकलता है, इसे त्यागता है, उस समय इन इन्द्रिय बुद्धि आदि के साथ निकलता है) गति की भी श्रुति है कि (जो कोई इस लोक से प्रयाण—यात्रा करते हैं, वे सब चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं—चन्द्रलोक में जाते हैं) आगति भी सुनी जाती है कि (उस चन्द्रलोक से फिर इस लोक के प्रति कर्मानुष्ठान के लिये आते हैं) इन उत्क्रान्ति गति आगतियों के श्रवण से जीव परिच्छिन्न है, यह पक्ष प्रथम प्राप्त होता है, जिससे विभु का चलन नहीं सिद्ध हो सकता है। और परिच्छेद के सिद्ध होने पर शरीर तुल्य मध्यम परिमाणता के आर्हत (जैन) परीक्षा में निरस्त होने से आत्मा अणु है, ऐसा सिद्ध होता है ॥१९॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥

उत्क्रान्तिः कदाचिदचलतोऽपि ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवद्देहस्वाम्यनिवृत्त्या कर्मक्षयेणावकल्पते। उत्तरे तु गत्यागती नाचलतः संभवतः। स्वात्मना हि तयोः संबन्धो भवति, गमेः कर्तृस्थक्रियात्वात्। अमध्यमपरिमाणस्य च गत्यागती अणुत्व एव संभवतः। सत्योश्च गत्यागत्योरुत्क्रान्तिरप्यपसृप्तिरेव देहादिति प्रतीयते, न ह्यनपसृप्तस्य देहाद्गत्यागती स्याताम्, देहप्रदेशानां चोत्क्रान्तावपादानत्ववचनात् 'चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४।४।२) इति। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' (बृ० ४।४।१), 'शुक्रमादाय पुनरैति स्थानम्' (बृ० ४।३।११) इति चान्तरेऽपि शरीरे शारीरस्य गत्यागती भवतः। तस्मादप्यस्याणुत्वसिद्धिः ॥ २० ॥

उत्क्रान्ति मरण—शरीर के त्याग को कहते हैं। वह मरण शरीर का त्याग तो कभी नहीं चलने वाले का भी ग्राम की स्वामिता की निवृत्ति के समान कर्मक्षय के द्वारा देह की स्वामिता की निवृत्ति से मन मात्र के गमन से अभिमान के नष्ट होने से सिद्ध हो सकता है परन्तु उत्क्रान्ति के उत्तर—बाद में होने वाली गति और आगति अचल आत्मा के असम्भव हैं, चलने के बिना गति आगति की सिद्धि नहीं हो सकती है, जिससे गति और आगति को स्वात्मा कर्ता के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि गमन को कर्तृस्थ क्रियात्व है। इससे गमनादि वाले आत्मा को अणुत्व है। और मध्यम परिमाण-

रहित आत्मा के अणुत्व होने ही पर गमनागमन हो सकते हैं। और गमनागमन के होने पर उत्क्रान्ति भी देह से निर्गमन रूप ही होती है ऐसी प्रतीति है। क्योंकि देह से निर्गमन रहित के गमनागमन नहीं हो सकते हैं, स्थूल देह सहित चन्द्र लोक में जाना, वहाँ से आना नहीं हो सकता है। देह के प्रदेशों (अवयवों) की उत्क्रान्ति में अपादानत्व के कथन से भी निर्गमन की सिद्धि होती है। प्रदेश का कथन है कि (नेत्र से वा मूर्धा-शिर से वा अन्य मुखादि शरीर के प्रदेशों से यह आत्मा उत्क्रमण करता है)। वह आत्मा इन इन्द्रिय रूप तेजो मात्रा-तेज के अवयवों का ग्रहण करता हुआ हृदय में ही अनुगमन करता है। और इन्द्रियरूप तेजोमय शुक्र प्रकाश को लेकर फिर जागरित स्थान में आता है। इस प्रकार देह के अन्तर में भी जीव के गमनागमन होते हैं। इससे भी अणुत्व की सिद्धि होती है ॥ २० ॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २१ ॥

अथापि स्यान्नाणुरयमात्मा। कस्मात्? अतच्छ्रुतेः। अणुत्वविपरीतपरिमाणश्रवणादित्यर्थः। 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।१२), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत्।

नैषः दोषः। कस्मात्? इतराधिकारात्। परस्य ह्यात्मनः प्रक्रियायामेषा परिमाणान्तरश्रुतिः, परस्यैवात्मनः प्राधान्येन वेदान्तेषु वेदितव्यत्वेन प्रकृतत्वात्। विरजः पर आकाशादित्येवंविधाच्च परस्यैवात्मनस्तत्र तत्र विशेषाधिकारात्। ननु 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति शारीर एव महत्त्वसंबन्धित्वेन प्रतिनिर्दिश्यते। शास्त्रदृष्ट्या त्वेष निर्देशो वामदेववद्द्रष्टव्यः। तस्मात्प्राज्ञविषयत्वात्परिमाणान्तरश्रवणस्य न जीवस्याणुत्वं विरुध्यते ॥ २१ ॥

उक्त हेतुओं से आत्मा की अणुता की सिद्धि होने पर भी यदि शंका होती हो कि यह आत्मा अणु नहीं है, क्योंकि अतत् श्रुति से अर्थात् अणुत्व से विपरीत परिमाण के श्रवण से शंका होती है कि (जो यह प्राणों में विज्ञानमय आत्मा है, वह यह निश्चित आत्मा महान् और अज है। आकाश के समान सर्वगत और नित्य है। सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है) इस प्रकार की श्रुतियाँ आत्मा के अणुत्व होने पर बाधित हो जायँगी। तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ जीव से अन्य का अधिकार (प्रकरण) है। परमात्मा के प्रकरण में यह अणु परिमाण से भिन्न परिमाण की श्रुति है, वेदान्तों में प्रधान रूप से परमात्मा को ही वेदितव्य (ज्ञेय) रूप से प्रकृतत्व (प्रकरण) है। और (आकाश से पर विरज—निर्दोष है) इस प्रकार के परमात्मा ही के तत्तत् स्थानों में अधिकार है, इससे दोष नहीं है। यदि कहो कि (प्राणों में यह विज्ञानमय आत्मा है) यह विज्ञानमय श्रुति से जीव ही महत्त्व के सम्बन्धी रूप से प्रतिनिर्दिष्ट (कथित) होता है, कहा जाता है। तो अणु जीवात्मा के ब्रह्म के साथ भेदाभेद के स्वीकार से शास्त्र-दृष्टि द्वारा वामदेव के समान इस निर्देश को ब्रह्माभेद अंश से समझना

चाहिए। जिससे परिमाणान्तर श्रवण के प्राज्ञ (ईश्वर) विषयक होने से जीव के अणुत्व विरुद्ध नहीं होता है ॥ २१ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥

इतरश्चाणुरात्मा यतः साक्षादेवास्याणुत्ववाची शब्दः श्रूयते—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मुण्ड० ३।१।९) इति। प्राण-संबन्धाच्च जीव एवायमणुरभिहित इति गम्यते। तथोन्मानमपि जीवस्याणिमानं गमयति—'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वे० ८।८) इति। 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) इति चोन्मा-नान्तरम् ॥ २२ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी आत्मा अणु है कि जिससे साक्षात् ही इस आत्मा के अणुत्व का वाचक शब्द सुना जाता है कि (यह आत्मा अणु है, चित्त से जानने योग्य है कि जिसमें पांच प्रकार के प्राण संविष्ट—प्रविष्ट हैं) और प्राण के सम्बन्ध से यह जीव ही अणु अभिहित (उक्त) हुआ है, यह प्रतीत होता है। इसी प्रकार उन्मान (उद्धरण पूर्वक उपमा रूप मान) अत्यन्त अपकृष्ट परिमाण भी जीव की अणुता का बोध कराते हैं। और (बाल (केश) के अग्रभाग के सौ भाग करके उसके एक भाग के फिर सौ भाग करने पर जो अत्यन्त सूक्ष्म कल्पित भाग होता है, उसके समान अत्यन्त सूक्ष्म वह जीव जानने योग्य है। अवर जीव भी आरा के अग्र मात्र ही दृष्ट है) ये दो प्रकार के उन्मान हैं ॥ २२ ॥

नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्यते, दृश्यते च जाह्नवीह्रदनिमग्नानां सर्वाङ्गशैत्योपलब्धिर्निदाघसमये च सकलशरीरपरितापोपलब्धि-रिति, अत उत्तरं पठति—

शंका होती है कि जीव के अणुत्व होने पर एक देश में स्थिर जीव को सम्पूर्ण देहगत शीत उष्णादि की उपलब्धि विरुद्ध होती है। गङ्गा के ह्रद (अगाध जल) में निमग्नों (गोता लगाने वालों) को सर्वाङ्ग में शीतलता की उपलब्धि देखी जाती है। और निदाघ—उष्ण ग्रीष्म काल में सम्पूर्ण शरीर में ताप की उपलब्धि देखी जाती है। इससे उत्तर रूप सूत्र पढ़ते हैं कि—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

यथाहि हरिचन्दनविन्दुः शरीरैकदेशसम्बद्धोऽपि सन्सकलदेहव्यापिनमाह्लादं करोत्येवमात्मापि देहैकदेशस्थः सकलदेहव्यापिनीमुपलब्धिं करिष्यति। त्वक्सम्ब-न्धाच्चास्य सकलशरीरगता वेदना न विरुध्यते, त्वगात्मनोर्हि सम्बन्धः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते, त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति ॥ २३ ॥

जैसे शरीर के एकदेश में सम्बन्ध वाला होता हुआ भी हरिचन्दन का विन्दु सम्पूर्ण

देह में व्यापक आनन्द को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार देह के एक देश में स्थिर आत्मा भी सम्पूर्ण देह में व्यापक उपलब्धि को उत्पन्न करेगा। आत्मा के एक देश में रहते भी आत्मा का त्वक् के साथ सम्बन्ध होता है, और आत्मा के सम्बन्ध युक्त त्वक् सम्पूर्ण देह में व्यापी है, इससे त्वक् सम्बन्ध से इसको सम्पूर्ण देहगत ज्ञान विरुद्ध नहीं होता है। क्योंकि त्वक् और आत्मा का सम्बन्ध सम्पूर्ण त्वक् में व्यापक रहता है। और त्वक् सम्पूर्ण देह में व्यापक रहता है, क्योंकि आत्मा के संयोग युक्त अवयवी रूप त्वक् एक होता है ॥ २३ ॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥ २४ ॥

अत्राह यदुक्तमविरोधश्चन्दनवत्—इति, तदयुक्तं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरतुल्यत्वात्। सिद्धे ह्यात्मनो देहैकदेशस्थत्वे चन्दनदृष्टान्तो भवति, प्रत्यक्षं तु चन्दनस्यावस्थितिवैशेष्यमेकदेशस्थत्वं सकलदेहाह्लादनं च, आत्मनः पुनः सकलदेहोपलब्धिमात्रं प्रत्यक्षं नैकदेशवर्तित्वम्। अनुमेयं तु तदिति यदप्युच्येत। न चात्रानुमानं सम्भवति। किमात्मनः सकलशरीरगता वेदना त्वगिन्द्रियस्येव सकलदेहव्यापिनः सतः किंवा विभोर्नभस इवाहोस्विच्चन्दनबिन्दोरिवाणोरेकदेशस्थस्येति संशयानतिवृत्तेरिति।

अत्रोच्यते नायं दोषः। कस्मात्? अभ्युपगमात्। अभ्युपगम्यते ह्यात्मनोऽपि चन्दनस्येव देहैकदेशवृत्तित्वमवस्थितिवैशेष्यम्। कथमित्युच्यते। हृदि ह्येष आत्मा पठ्यते वेदान्तेषु—'हृदि ह्येष आत्मा' (प्रश्न० ३।६), 'स वा एष आत्मा हृदि' (छा० ८।३।३), 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।६) इत्याद्युपदेशेभ्यः। तस्माद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरवैषम्याद्युक्तमेवैतदविरोधश्चन्दनवदिति ॥ २४ ॥

यहाँ कहते हैं कि चन्दन के समान जो अविरोध कहा गया है, वह दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक की अतुल्यता से अयुक्त है। जिससे आत्मा के देह के एक देह में स्थिरत्व के सिद्ध होने पर चन्दन दृष्टान्त हो सकता है, वह आत्मा के देह के एकदेशस्थत्व सिद्ध नहीं है, और चन्दन की तो अवस्थिति की विशेषता एकदेशस्थत्व और सम्पूर्ण देह में आह्लादन आनन्द प्रत्यक्ष है। आत्मा की सम्पूर्ण देह में उपलब्धि मात्र प्रत्यक्ष है, एकदेशवर्त्तित्व प्रत्यक्ष नहीं है, इससे कार्य रूप उपलब्धि को शरीर में व्यापकता से शरीर में व्यापक ही आत्मा सिद्ध होता है, इसीसे यदि ऐसा भी कहें कि वह आत्मा के देह के एकदेशस्थत्व अनुमेय (अनुमान से ज्ञेय) है। तो यहाँ अनुमान का सम्भव नहीं है, जिससे यह आत्मा की सकल शरीरगत वेदना (ज्ञान) त्वक् इन्द्रिय के समान सम्पूर्ण देह में व्यापक होने से है। अथवा आकाश के समान विभु होने से है, या चन्दन विन्दु के समान अणु एकदेशस्थ का है इस संशय की अनतिवृत्ति अनिवृत्ति से अनुमान का असम्भव है। यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है,

क्योंकि अभ्युपगम से देह के एक देश हृदय में आत्मा की स्थिति सिद्ध है। जिससे चन्दन के समान आत्मा के देह के एक देश में वृत्तित्व रूप अवस्थिति विशेष माना जाता है, श्रुति से सिद्ध है, कैसे माना जाता है, सो कहा जाता है कि वेदान्तों में यह आत्मा हृदय में पढ़ा जाता है, जैसे कि (हृदय में यह आत्मा रहता है। सो यह आत्मा निश्चय हृदय में रहता है। कौन आत्मा है ऐसा पूछने पर उत्तर है कि जो यह विज्ञानमय प्राणों में है सो हृदय के अन्तर में ज्योतिः स्वरूप पुरुष आत्मा है) इत्यादि उपदेशों से ही हृदयवृत्ति आत्मा सिद्ध होता है, जिससे दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक की अविषमता से अविरोधश्चन्दनवत् यह युक्त ही है ॥ २४ ॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

चैतन्यगुणव्याप्तेर्वाऽणोरपि सतो जीवस्य सकलदेहव्यापि कार्यं न विरुध्यते। यथा लोके मणिप्रदीपप्रभृतीनामपवरकैकदेशवर्तिनामपि प्रभाऽपवरकव्यापिनी सती कृत्स्नेऽपवरके कार्यं करोति तद्वत्। स्यात्कदाचिच्चन्दनस्य सावयवत्वात्सूक्ष्मावयवविसर्पणेनापि सकलदेहे आह्लादयितृत्वं न त्वणोर्जीवस्यावयवाः सन्ति यैरयं सकलदेहं विप्रसर्पेदित्याशङ्क्य गुणाद्वा लोकवदित्युक्तम् ॥

अथवा जीव के अणु होते भी चैतन्य गुण की सम्पूर्ण देह में व्याप्ति से देहमात्र में व्यापक उपलब्धि रूप कार्य विरुद्ध नहीं होता है। जैसे लोक में अपवरक (अपवारक-आच्छादक) गृहादि के एकदेश में वर्तमान भी दीप, मणि आदि की प्रभा अपवरक में व्यापक होकर सम्पूर्ण अपवरक में कार्य करती हैं, वैसे ही एकदेशस्थ आत्मा के सम्पूर्ण देह में व्यापक चैतन्य गुण कार्य करेगा। चन्दन के सावयव होने से सूक्ष्म अवयवों की गति द्वारा फैलने से कभी सम्पूर्ण शरीर में आह्लादजनकत्व चन्दनबिन्दु को हो सकता है, और अणु जीव को तो अवयव नहीं हैं कि जिनके द्वारा यह जीव सम्पूर्ण देह में फैल सकेगा, ऐसी शंका करके गुणाद्वा लोकवत् यह कहा गया है ॥ २५ ॥

कथं पुनर्गुणो गुणिव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तेत, नहि पटस्य शुक्लो गुणः पटव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तमानो दृश्यते। प्रदीपप्रभावद्भवेदिति चेत्। न। तस्या अपि द्रव्यत्वाभ्युपगमात्। निबिडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः, प्रविरलावयवं तु तेजोद्रव्यमेव प्रभेति। अत उत्तरं पठति—

यहाँ शंका होती है कि फिर भी यह दोष है कि गुणी आत्मा के बिना गुण रूप चैतन्य अन्य देश में कैसे रह सकता है। प्रभा तो द्रव्य है वह फैल सकता है। परन्तु पट का शुक्लगुण पट के बिना अन्यत्र वर्तमान नहीं देखा जाता है। यदि प्रदीप की प्रभा के समान अन्यत्रवृत्तिता कहो, तो उसको द्रव्य मानने से कहना नहीं बन सकता है। जिससे निबिड (घनीभूत) अवयव वाला तेज रूप द्रव्य प्रदीप होता है और प्रविरल अवयव वाला तेज रूप द्रव्य ही प्रभा कहा जाता है, ऐसी शंका होने पर फिर उत्तर पढ़ते हैं कि—

व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

यथा गुणस्यापि सतो गन्धस्य गन्धवद्द्रव्यव्यतिरेकेण वृत्तिर्भवति। अप्राप्तेष्वपि कुसुमादिषु गन्धवत्सु कुसुमगन्धोपलब्धेः, एवमणोरपि सतो जीवस्य चैतन्यगुणव्यतिरेको भविष्यति, अतश्चानेकान्तिकमेतद् गुणत्वाद्रूपादिवदाश्रयविश्लेषानुपपत्तिरिति, गुणस्यैव सतो गन्धस्याश्रयविश्लेषदर्शनात्। गन्धस्यापि सहैवाश्रयेण विश्लेष इति चेत्। न। यस्मान्मूलद्रव्याद्विश्लेषस्तस्य क्षयप्रसङ्गात्। अक्षीयमाणमपि तत्पूर्वावस्थातो गम्यते, अन्यथा तत्पूर्वावस्थैर्गुरुत्वादिभिर्हीयेत। स्यादेतत्। गन्धाश्रयाणां विश्लिष्टानामवयवानामल्पत्वात्सन्नपि विशेषो नोपलक्ष्यते, सूक्ष्मा हि गन्धपरमाणवः सर्वतो विप्रसृता गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति नासिकापुटमनुप्रविशन्त इति चेत्। न। अतीन्द्रियत्वात्परमाणूनां, स्फुटगन्धोपलब्धेश्च नागकेसरादिषु। न च लोके प्रतीतिर्गन्धवद्द्रव्यमाघ्रातमिति, गन्ध एवाघ्रात इति तु लौकिकाः प्रतियन्ति। रूपादिष्वाश्रयव्यतिरेकानुपलब्धेर्गन्धस्याप्ययुक्त आश्रयव्यतिरेक इति चेत्। न। प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्तेः। तस्माद्यद्यथा लोके दृष्टं तत्तथैवानुमन्तव्यं निरूपकैर्नान्यथा। नहि रसो गुणो जिह्वयोपलभ्यत इत्यतो रूपादयोऽपि गुणा जिह्वयैवोपलभ्येरन्निति नियन्तुं शक्यते ॥ २६ ॥

जैसे गुण होते भी गन्धवाले द्रव्य के बिना गन्ध की वृत्ति (स्थिति) होती है, और गन्धवाले पुष्पादि द्रव्यों के अप्राप्त रहते भी पुष्पादि के गन्ध की उपलब्धि से द्रव्य के बिना गन्ध की वृत्ति है यह समझी जाती है। इसी प्रकार जीव के अणु होते भी उसके चैतन्य गुण का व्यतिरेक होगा, आत्मा के बिना भी चैतन्य गुण रहेगा। इससे यह अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेतु है कि रूपादि के समान गुण होने से चैतन्य गुण को आश्रय आत्मा से विश्लेष वियोग की अनुपपत्ति है। जिससे गुण होते भी गन्ध को आश्रय से वियोग विभाग देखा जाता है, इससे गुण का आश्रय से अवियोग का नियम नहीं है। यदि गन्ध का भी आश्रय सहित ही विश्लेष विभाग माना जाय तो ठीक नहीं हो सकता है, क्योंकि जिस मूल द्रव्य से विश्लेष विभाग होगा, उसका क्षय (नाश) की प्राप्ति होगी। गन्ध के निरन्तर विभाग होने पर भी वह मूल द्रव्य पूर्वावस्था से अक्षीयमाण (अक्षीण) ही प्रतीत होता है, अन्यथा क्षीण होने पर तो उस पूर्वावस्था वाले गुरुत्वादि से हीन हो जाता। यहाँ शंका होती है कि अवयव के विश्लेष होने पर भी यह अक्षीणता हो सकती है, जिससे गन्ध के आश्रय विश्लिष्ट (वियुक्त) अवयवों के अल्प होने से तथा अवयवान्तर के प्रवेश से होता हुआ भी विश्लेष (विभाग) उपलक्षित (ज्ञात) नहीं होता है, सूक्ष्म ही गन्धयुक्त परमाणु सर्वत्र फैलकर नासिका पुट में प्रवेश करते हुए गन्धबुद्धि को उत्पन्न कराते हैं। यदि ऐसी शंका हो तो युक्त नहीं है, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं, और नागकेसरादि में स्फुट गन्ध की उपलब्धि

होती है। और लोक में ऐसी प्रतीति नहीं होती है कि गन्ध वाले द्रव्य को सूंघा है, किन्तु गन्ध को ही हमने सूंघा है इस प्रकार लौकिक जन समझते हैं। यदि कहा जाय कि रूपादि में आश्रय से व्यतिरेक (विभाग) की अनुपलब्धि से गन्ध को भी आश्रय से व्यतिरेक अयुक्त है, तो सो कहना भी नही बन सकता है, क्योंकि व्यतिरेक की प्रत्यक्षता से अनुमान की प्रत्यक्ष से बाधित अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इससे जो वस्तु लोक में जैसा दृष्ट है, परीक्षकों से वह उसी प्रकार मन्तव्य है। अन्यथा नहीं। जिससे रस गुण जिह्वा से उपलब्ध होता है, समझा जाता है। इससे रूपादि गुण भी जिह्वा से ही उपलब्ध होना चाहिये। ऐसा नियम नहीं कर सकते हैं ॥ २६ ॥

तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वं चात्मनोऽभिधाय तस्यैव 'आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' (छा० ८।८।१) इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्यापित्वं दर्शयति ॥ २७ ॥

आत्मा को हृदय रूप आयतन (आश्रय-स्थान) वाला और अणु परिमाण वाला कह कह कर उसी आत्मा के चैतन्य गुण द्वारा समस्त शरीर में व्यापित्व (व्यापकत्व) को श्रुति दर्शाती है कि (लोम पर्यन्त और नखाग्र पर्यन्त आत्मा है) ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० ३।६) इति चात्मप्रज्ञयोः कर्तृकरणभावेन पृथगुपदेशाच्चैतन्यगुणेनैवास्य शरीरव्यापिता गम्यते। 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति च कर्तुः शारीरात्पृथग्विज्ञानस्योपदेश एतमेवाभिप्रायमुपोद्बलयति तस्मादणुरात्मेति ॥ २८ ॥

(प्रज्ञा से शरीर में समारूढ़ (स्थिर) हो कर शरीर से सुख दुःख को प्राप्त करता है) इस प्रकार आत्मा और प्रज्ञा का कर्ता और करण रूप से पृथक् उपदेश से चैतन्य गुण द्वारा ही इस आत्मा के शरीर में व्यापित्व प्रतीत होता है। और (उस सुषुप्ति काल में यह आत्मा चैतन्य गुण रूप विज्ञान द्वारा इन्द्रियों के विज्ञान शक्ति का ग्रहण करके सोता है) इस प्रकार कर्ता जीव से पृथक् विज्ञान का उपदेश भी इस चैतन्य गुण की व्याप्ति विषयक अभिप्राय को ही व्यक्त करता है, इससे आत्मा अणु है ॥ २८ ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्त्यणुरात्मेति। उत्पत्त्यश्रवणाद्धि परस्यैव तु ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात्तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम्। परमेव चेद्ब्रह्म जीवस्तस्माद्यावत्परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति, परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम्, तस्माद्विभुर्जीवः। तथाच 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं

विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इत्येवंजातीयका जीवविषया विभुत्ववादाः श्रौताः स्मार्तांश्च समर्थिता भवन्ति। न चाणोर्जीवस्य सकलशरीरगता वेदनोपपद्यते । त्वक्सम्बन्धात्स्यादिति चेत् । न । त्वक्कण्टकतोदनेऽपि सकलशरीरगतैव वेदना प्रसज्येत, त्वक्कण्टकयोर्हि संयोगः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति। पादतल एव तु कण्टकतुन्नां वेदनां प्रतिलभन्ते। न चाणोर्गुणव्याप्तिरुपपद्यते, गुणस्य गुणिदेशत्वात्। गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत। प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम्। गन्धोऽपि गुणत्वाभ्युपगमात्साश्रय एव सञ्चरितुमर्हति, अन्यथा गुणत्वहानिप्रसङ्गात्। तथाचोक्तं द्वैपायनेन—

उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद्ब्रूयुरनैपुणाः।
पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रितम् ॥ इति ॥

इस पूर्व कही रीति से आत्मा के अणुत्व और विभुत्व विषयक श्रुतियों के विरोध भासने पर जीव के अणुत्व और ईश्वर के विभुत्व प्रतिपादक एकदेशी मत के प्राप्त होने पर कहते हैं कि—

परमात्मा के अणुत्वादि के समान जीव के भी उक्त अणुत्वादि का व्यपदेश कथन, उस अणु बुद्धि के गुणों के सारत्व (प्रधानत्व) दृष्टि से है स्वरूप दृष्टि से नहीं। सूत्रगत तु शब्द पूर्वपक्ष का व्यावृत्ति निवारण करता है कि आत्मा अणु है यह समझ ठीक नहीं है। जिससे उत्पत्ति के अश्रवण से, और परब्रह्म ही का जीवरूप से प्रवेश श्रवण से, और अयमात्मा ब्रह्म, यह आत्मा ब्रह्म है, इत्यादि तादात्म्य उपदेश (कार्य कारणभाव के बिना अभेदोपदेश) से परब्रह्म ही जीव है, यह कहा जा चुका है। जिससे परब्रह्म ही जीव है इससे जिस परिमाण वाला परब्रह्म है, उस परिमाण वाला ही जीव होने योग्य है। परब्रह्म का विभुत्व वेद में कथित है जिससे जीव विभु है। इस प्रकार (सो यह आत्मा महान् और अजन्मा है, जो यह प्राणों में विज्ञानमय है। इस प्रकार के जीवविषयक श्रौत और स्मार्त्त (श्रुति स्मृति में श्रुत) विभुत्ववाद (विभुत्व का कथन) समर्थित (संगत सिद्ध) होते हैं। अणु जीव को सम्पूर्ण शरीरगत वेदना (सुख दुःख और उनका अनुभव) उपपन्न नहीं हो सकता है। यदि कहो कि अणु आत्मा के त्वक् के साथ सम्बन्ध से सम्पूर्ण शरीरगत वेदना होगी, तो सो कहना अयुक्त है, ऐसा मानने पर त्वक् को कण्टक से एक देश में वेधन होने पर भी सम्पूर्ण शरीरगत ही वेदना प्राप्त होगी। क्योंकि त्वक् और कण्टक का संयोग सम्पूर्ण त्वक् में रहता है, और त्वक् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। कण्टक से पादतल (अधोभाग) में वेधनव्यथा वाले लोग पादतल में वेदना का अनुभव करते हैं। इससे अल्प और महान् का संयोग महद् में व्यापी नहीं होता है, यह सिद्ध होता है। इससे अणु जीव सम्पूर्ण शरीर में सुखादि का अनुभव नहीं कर सकता है। अणुरूप जीव के ज्ञानगुण की व्याप्ति भी नहीं उत्पन्न हो सकती है। जिससे गुण को गुणीरूप देश-

वत्त्व होता है, अर्थात् गुण गुणी में ही रहता है। गुणी के आश्रयण के बिना स्थिति से तो गुण का गुणत्व ही नष्ट हो जायगा। स्वतन्त्र वृत्तिता से वह द्रव्य कहलायेगा। इसीसे दीप प्रभा को द्रव्यान्तरत्व प्रथम व्याख्यात हो चुका है। गुणत्व के अभ्युपगम से गन्ध भी आश्रय सहित ही संचार गमन कर सकता है। अन्यथा गुणत्व की हानि प्राप्त होगी। इसी प्रकार महर्षि द्वैपायन ने कहा है कि—

जो कोई जल में गन्ध का अनुभव होने से जल में गन्ध कहते हैं सो अनिपुण (अविवेकी) हैं। जल और वायु में संश्रित उस गन्ध को भी पृथिवी में ही समझना चाहिये। इसीसे प्रत्यक्ष से आश्रय के अनुमान का बाध कहा था सो अनुचित है क्योंकि जल आदि में गन्ध के प्रत्यक्ष होने पर भी निराश्रयत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु भ्रम से जल वायु आदि के आश्रित प्रत्यक्ष होता है, परन्तु वहाँ भी श्रुति स्मृति के अनुसार सूक्ष्म भूमि में ही गन्ध रहता है।

यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयान्नाणुर्जीवः स्यात्। चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ, नात्र गुणगुणिविभागो विद्यत इति। शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम्। परिशेषाद्विभुर्जीवः कथं तर्ह्यणुत्वादिव्यपदेश इत्यत आह,तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः—इति। तस्या बुद्धेर्गुणास्तद्गुणा इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्येवमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्यात्मनः संसारित्वे सम्भवति स तद्गुणसारस्तस्य भावस्तद्गुणसारत्वम्। नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति, बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः तस्मात्तद्गुणसारत्वाद्बुद्धिपरिमाणेनास्य परिमाणव्यपदेशः। तदुत्क्रान्त्यादिभिश्चास्योत्क्रान्त्यादिव्यपदेशो न स्वतः।

इससे यदि जीव का चैतन्य समस्त शरीर में व्याप्त होता तो जीव अणु नहीं होगा। जिससे वस्तुतः अग्नि के उष्णता और प्रकाश स्वरूप के समान इस जीव के चैतन्य ही स्वरूप है। इस जीव और चैतन्य में गुण गुणो विभाग नहीं है। जीव के शरीर परिमाणत्व प्रत्याख्यात हो चुका है, परिशेष से विभु पारमार्थिक जीव का स्वरूप है, जिज्ञासा हुई कि विभु होते भी अणुत्वादि का व्यपदेश (व्यवहार) कैसे होता है। इससे कहते हैं कि (उस बुद्धि गुण की सारता से वह अणुत्वादि व्यपदेश होता है) उस बुद्धि के गुण को तद्गुण कहते हैं। सो बुद्धि के गुण इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इत्यादि हैं। जिस आत्मा का संसारित्व अवस्था में तद्गुण ही सार प्रधान होता है, सो आत्मा तद्गुणसार कहाता है, उस आत्मा का भाव तद्गुणसारत्व है। जिससे बुद्धि के गुणों के बिना केवल आत्मा को संसारित्व नहीं है। सत्य आत्मा के अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी और नित्यमुक्त होते भी बुद्धिरूप उपाधि के धर्मों के आत्मा में अध्यास निमितक ही कर्तृत्व भोक्तृत्वादि स्वरूप संसारित्व आत्मा को है। इस तद्गुण सारत्व से

बुद्धि के परिमाण द्वारा इस आत्मा के परिमाण का भी व्यपदेश होता है। उस बुद्धि के उत्क्रान्ति आदि से इस आत्मा के उत्क्रान्ति आदि का व्यपदेश होता है, स्वतः नहीं।

तथाच—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ (श्वे० ५।९)

इत्यणुत्वं जीवस्योक्त्वा तस्यैव पुनरानन्त्यमाह। तच्चैवमेव समञ्जसं स्याद्यद्यौपचारिकमणुत्वं जीवस्य भवेत्पारमार्थिकं चानन्त्यम्। नह्युभयं मुख्यमवकल्पेत। न चानन्त्यमौपचारिकमिति शक्यं विज्ञातुं, सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मात्मभावस्य-प्रतिपिपादयिषितत्वात्। तथेतरस्मिन्नप्युन्माने 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ६।८) इति च बुद्धिगुणसम्बन्धेनैवाराग्रमात्रतां शास्ति न स्वेनैवात्मना। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड० ३।१।९) इत्यत्रापि न जीवस्याणुपरिमाणत्वं शिष्यते, परस्यैवात्मनश्चक्षुराद्यनवग्राह्यत्वेन ज्ञानप्रसादगम्यत्वेन च प्रकृतत्वात्। जीवस्यापि च मुख्याणुपरिमाणत्वानुपपत्तेः। तस्माद्दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायमिदमणुत्ववचनमुपाध्यभिप्रायं वा द्रष्टव्यम्। तथा 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० ३।६) इत्येवंजातीयकेष्वपि भेदोपदेशेषु बुद्ध्यैवोपाधिभूतया जीवः शरीरं समारुह्येत्येवं योजयितव्यम्। व्यपदेशमात्रं वा, शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादिवत्। नह्यत्र गुणगुणिविभागोऽपि विद्यत इत्युक्तम्। हृदयायतनत्ववचनमपि बुद्धेरेव तदायतनत्वात्। तथोत्क्रान्त्यादीनामप्युपाध्यायत्ततां दर्शयति—'कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति' (प्रश्न० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इति। उत्क्रान्त्यभावे हि गत्यागत्योरप्यभावो विज्ञायते, नह्यनपसृप्तस्य देहाद्गत्यागती स्याताम्। एवमुपाधिगुणसारत्वाज्जीवस्याणुत्वादिव्यपदेशः प्राज्ञवत्, यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः सगुणेषूपासनेषूपाधिगुणत्वादणीयस्त्वादिव्यपदेशः—'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' (छा० ३।१।१४।२) 'मनोमयः प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ३।१४।२) इत्येवंप्रकारस्तद्वत्॥ २९॥

इसी प्रकार (बाल के अग्रभाग के सौ भाग में से एक भाग के कल्पित सौ भाग में से एक भाग के तुल्य जीव जानने योग्य है। सो अनन्तता के लिये समर्थ होता है)। यहाँ जीव के अणुत्व को कह कर, फिर उसी जीव की अनन्तता को श्रुति कहती है। सो इसी प्रकार समञ्जस (युक्त) होगा, कि यदि जीव के अणुत्व गौण होगा, और अनन्तता पारमार्थिक होगी, जिससे दोनों मुख्य नहीं सिद्ध हो सकते हैं। सब उपनिषदों में जीवात्मा के ब्रह्मात्म भाव का प्रतिपादन अभिलषित है, इससे अनन्तता औपचारिक है, ... ऐसा नहीं समझ सकते हैं। इसी प्रकार अन्य उन्मान में भी (बुद्धि

के) गुणनिमित्तक आत्मा में कल्पित गुण से ही आराग्रमात्र और अवर (हीन) जीवात्मा समझा जाता है। इस कथन से भी बुद्धि के गुणों के सम्बन्ध द्वारा ही आराग्रमात्रता का उपदेश श्रुति करती है, निजात्म स्वरूप से ही नहीं। (यह अणु आत्मा चित्त से जानने योग्य है) यहाँ भी जीव के अणु परिमाणत्व का उपदेश नहीं दिया जाता है, क्योंकि (न चक्षुषा गृह्यते) इत्यादि वचनों से चक्षु आदि द्वारा अनवग्राह्यरूप से तथा ज्ञान की स्वच्छता द्वारा गम्य प्राप्य रूप से परमात्मा ही प्रकृत है। जीव को भी उपाधि के बिना मुख्य अणु परिमाणत्व की अनुपपत्ति है, इस स्वरूप से अणु नहीं है। इससे इस अणुत्व वचन का दुर्ज्ञानत्वाभिप्राय वाला वा उपाधिविषक अभिप्राय वाला समझना चाहिये। इसी प्रकार (प्रज्ञा से शरीर में प्राप्त होकर शरीर से सुखादि का अनुभव करता है) इत्यादि भेदोपदेशों में भी बुद्धि रूप उपाधि द्वारा ही शरीर में प्राप्त होकर सुखादि का अनुभव करता है। इस प्रकार वाक्य की योजना करनी चाहिये। अथवा शिलामूर्ति का शरीर है इत्यादि के समान व्यपदेश (विकल्प) मात्र है, क्योंकि यहाँ गुण गुणी विभाग भी नहीं है, यह कहा जा चुका है। बुद्धि का ही हृदय आयतन (आश्रय) है, इससे बुद्धि उपाधि वाला जीव को भी हृदय आयतनवत्त्व है। इसी प्रकार उत्क्रान्ति आदि को उपाधि अधीनता श्रुति दर्शाती है कि (किसके उत्क्रान्त होने से निकलने से, मैं शरीर से उत्क्रान्त होऊँगा, निकलूंगा वा किसके प्रतिष्ठित स्थिर रहने से प्रतिष्ठित रहूँगा) इस प्रकार विचार करके (वह आत्मा उत्क्रान्ति आदि के साधन प्राण को रचा) और वास्तविक उत्क्रान्ति के अभाव होने पर गति आगति का भी अभाव समझा जाता है, क्योंकि देह से अनिर्गत के गमनागम नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार उपाधिसारत्व से प्राज्ञ के समान जीव के अणुत्वादि का व्यपदेश है। जैसे प्राज्ञ परमात्मा के सगुण उपासनाओं में उपाधि गुणसारत्व से अति अणुत्वादि का व्यपदेश है कि (व्रीहि से वा यव से वा अणीयान् हैं।) मनोमय, प्राण शरीर वाला, सब गन्ध और सब रसवाला, सत्यकाम और सत्यसंकल्प वाला है।) इत्यादि रीति से प्राज्ञ का निर्देश है। वैसा ही जीव का औपाधिक निर्देश है ॥ २९ ॥

स्यादेतद्यदि बुद्धिगुणसारत्वादात्मनः संसारित्वं कल्प्येत, ततो बुद्ध्यात्मनोर्भिन्नयोः संयोगावसानमवश्यंभावीत्यतो बुद्धिवियोगे सत्यात्मनो विभक्तस्यानालक्ष्यत्वादसत्त्वमसंसारित्वं वा प्रसज्येतेति अत उत्तरं पठति—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

नेयमनन्तरनिर्दिष्टदोषप्राप्तिराशङ्कनीया। कस्मात्? यावदात्मभावित्वाद्बुद्धिसंयोगस्य। यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति। यावदव चायं बुद्ध्युपाधिसंबन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च। परमार्थतस्तु न जीवो

नाम बुद्ध्युपाधिसंबन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति। नहि नित्यमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ' (छा० ६।८।७), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।१।६), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।७) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। कथं पुनरवगम्यते–यावदात्मभावी बुद्धिसंयोग–इति। तद्दर्शनादित्याह। तथाहि शास्त्रं दर्शयति—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।४) इत्यादि। तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति। प्रदेशान्तरे 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' इति विज्ञानमयस्य मन आदिभिः सह पाठात्। बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाभिप्रेयते, यथा लोके स्त्रीमयो देवदत्त इति स्त्रीरागादिप्रधानोऽभिधीयते तद्वत्। 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इति च लोकान्तरगमनेऽप्यवियोगं बुद्ध्या दर्शयति, केन समानस्तयैव बुद्ध्येति गम्यते संनिधानात्। तच्च दर्शयति–'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इति। एतदुक्तं भवति—नायं स्वतो ध्यायति, नापि चलति, ध्यायन्त्यां बुद्धौ ध्यायतीव चलन्त्यां बुद्धौ चलतीवेति। अपि च मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसम्बन्धः। न च मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद्ब्रह्मात्मतानवबोधस्तावदयं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धो न शाम्यति। दर्शयति च—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इति ॥ ३० ॥

यहाँ शंका होती है कि यह परमात्मा के मनोमयत्वादि हो सकते हैं। परन्तु यदि बुद्धिसारत्व से जीवात्मा के संसारित्व कल्पित सिद्ध होगा तो बुद्धि और आत्मा के परस्पर भिन्न होने से इनके संयोग का अवसान (अन्त) अवश्य होने वाला होगा, इससे बुद्धि के वियोग होने पर विभक्त आत्मा के अनालक्ष्य (अज्ञेय) होने से उसका असत्त्व वा असंसारित्व की प्राप्ति होगी। इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

यह अनन्तरनिर्दिष्ट दोष की प्राप्ति आशंका योग्य नहीं है, क्योंकि बुद्धि का संयोग यावदात्मभावी है। संयोग को यावदात्मभावित्व है। अर्थात् जब तक यह आत्मा संसारी रहता है, जब तक सम्यक् दर्शन से इसके संसारित्व नहीं निवृत्त होता है, तब तक इसकी बुद्धि के साथ का संयोग शान्त नहीं होता है। जब तक यह बुद्धिरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध है, तब तक जीव का जीवत्व और संसारित्व है। परमार्थ स्वरूप से तो बुद्धिरूप उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से भिन्न जीव नामक वस्तु नहीं है। जिससे वेदान्तार्थ के निरूपण (विचारादि) करने पर नित्यमुक्त स्वरूप सर्वज्ञ ईश्वर से अन्य दूसरा चेतन पदार्थ नहीं उपलब्ध होता है। (इस परमात्मा से अन्य द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता नहीं है। इससे अन्य द्रष्टृ आदि नहीं है। उस

सत्य ब्रह्म स्वरूप तुम हो। मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से दूसरा चेतन पदार्थ का अभाव सिद्ध होता है। फिर भी यदि कहो कि यावदात्मभावी बुद्धि का संयोग रहता है, यह कैसे समझा जाता है, तो कहते हैं कि शास्त्र में उसके दर्शन से समझा जाता है। जिससे इसी प्रकार शास्त्र दर्शन कराता समझाता है कि (जो यह प्राणों में विज्ञानमय हृदय के अन्तर्वर्ती ज्योतिरूप पुरुष है, सो बुद्धि के समान होता हुआ दोनों लोक में गमन करता है। कभी मानो ध्यान करता है, कभी मानो दीप्त चंचल होता है) इत्यादि, यहां विज्ञानमय इस पद से बुद्धिमय यह वस्तु उक्त (कथित) है, यदि कहो कि विज्ञानरूप ब्रह्म है। ब्रह्ममय ब्रह्म का विकाररूप अणु जीव है, तो सो कहना नहीं बन सकता है। जिससे प्रदेशान्तर (अन्य स्थान) में (विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय) इस प्रकार विज्ञानमय का मन आदि के साथ पाठ से बुद्धिमय ही अर्थ हो सकता है। बुद्धिमयत्व तद्गुणसारत्व रूप ही अभिप्रेत होता है। जैसे लोक में स्त्रीमय देवदत्त है, ऐसे कहने से स्त्रीविषयक रागादि प्रधानता वाला कहा जाता है, स्त्री का विकार नहीं कहा जाता है। वैसा ही बुद्धिमय में समझना चाहिये। (वह समान हो कर दोनों लोक में गमन करता है) यह श्रुति लोकान्तर के गमन में भी बुद्धि के साथ आत्मा के अवियोग को दर्शाती है। किसके साथ समान (तुल्य) होकर गमन करता है, ऐसी आकांक्षा होने पर, संनिधान से समझा जाता है कि उस बुद्धि के साथ समान होकर गमन करता है। उसी बुद्धि के सदृशता को (ध्यायतीव लेलायतीव) यह श्रुति दर्शाती है कि बुद्धि के ध्यानादि आत्मा में भासते हैं। इस श्रुति से यह तत्त्व उक्त होता है कि यह आत्मा स्वतः ध्यान नहीं करता है। न स्वतः चलता है, किन्तु बुद्धि के ध्यानावस्था में ध्यानस्थ के समान और उसकी चञ्चलतावस्था में चंचल के समान आत्मा भासता है। दूसरी बात है कि मिथ्याज्ञान-पूर्वक अज्ञानमूलक यह आत्मा का बुद्धि आदि रूप उपाधियों के साथ सम्बन्ध है। सम्यक् ज्ञान के विना मिथ्याज्ञान अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। इससे जब तक आत्मा का अनवबोध अज्ञान है तब तक यह बुद्धिरूप उपाधि का सम्बन्ध शान्त निवृत्त नहीं होता है। सो श्रुति दर्शाती है कि (स्वयं प्रकाश तम से असम्बद्ध महान् इस पुरुष को मैं जानता हूँ। उसी को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है। मोक्ष के लिए अन्य मार्ग नहीं है) ॥ ३० ॥

ननु सुषुप्तप्रलययोर्न शक्यते बुद्धिसम्बन्ध आत्मनोऽभ्युपगन्तुम् 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति वचनात्, कृत्स्नविकारप्रलयाभ्युपगमाच्च। तत्कथं यावदात्मभावित्वं बुद्धिसंबन्धस्येत्यत्रोच्यते--

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

यथा लोके पुंस्त्वादीनि बीजात्मना विद्यमानान्येव बाल्यादिष्वनुपलभ्यमानान्यविद्यमानवदभिप्रेयमाणानि यौवनादिष्वाविर्भवन्ति, नाविद्यमानान्युत्पद्यन्ते

षण्ढादीनामपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्, एवमयमपि बुद्धिसंबन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोधप्रसवयोराविर्भवति एवं ह्येतद्युज्यते, नह्याकस्मिकी कस्यचिदुत्पत्तिः संभवति, अतिप्रसङ्गात् । दर्शयति च सुषुप्तादुत्थानमविद्यात्मक-बीजसद्भावकारितम्--'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह' इति, त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' (छा० ६।९।३) इत्यादिना । तस्मात्सिद्धमेतद्यावदात्मभावी बुद्ध्या-द्युपाधिसंबन्ध इति ॥ ३१ ॥

उक्त यावदात्मभावित्व की असिद्धि की शंका होती है कि सुषुप्ति और प्रलयकाल में आत्मा का बुद्धि के साथ सम्बन्ध को अभ्युपगम (स्वीकार) नहीं कर सकते हैं। क्योंकि (हे सोम्य! उस सुषुप्ति में सत् शब्दार्थ देव के साथ पुरुष सम्पन्न (सद्गत एक) हो जाता है । स्व सत् स्वरूप को प्राप्त हो जाता है) इस वचन से, और प्रलय में सब विकार का प्रलय के स्वीकार से आत्मा और बुद्धि का सम्बन्ध नहीं रह सकता है, जिससे बुद्धि के रहते सत् की प्राप्ति और प्रलय का असम्भव है। तो फिर बुद्धि सम्बन्ध को यावदात्मभावित्व कैसे है । ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि—

जैसे लोक में पुंस्त्व (प्रजोत्पादनशक्ति) आदि बीजरूप से विद्यमान ही रहते बाल्यादि अवस्थाओं में अनुपलभ्यमान (अप्रत्यक्ष) होने से अविद्यमान के तुल्य अभिप्रेत भी यौवनादि अवस्था में आविर्भूत (प्रकट) होते हैं, प्रथम सर्वथा अविद्यमान रहते पीछे नहीं उत्पन्न होते हैं। अन्यथा षण्ढ (नपुंसक) आदि को भी उनकी उत्पत्ति प्राप्त होगी । इसी प्रकार यह बुद्धि सम्बन्ध भी सुषुप्ति और प्रलय में शक्तिरूप से विद्यमान ही रहता हुआ जाग्रत् और सृष्टि काल में आविर्भूत प्रकट होता है । इस प्रकार ही यह युक्त हो सकता है । किसी उत्पत्ति आकस्मिकी (निर्हेतुक) सम्भव नहीं है, अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा, सर्वत्र सबकी उत्पत्ति प्राप्त होगी । सुषुप्ति से उत्थान को अविद्यात्मक बीज के सद्भाव से कारित (उत्पादित) श्रुति दर्शाती है कि (सुषुप्ति में सत् से एक होकर भी नहीं जानते हैं कि हम सत् के साथ एकत्व को प्राप्त हैं। इससे इस लोक में जो बाघ-सिंह रहते हैं वही फिर वे होते हैं) इत्यादि से अविद्या निमित्तक उत्थान दर्शाया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यावदात्मभावी बुद्धि आदि रूप उपाधि का सम्बन्ध है ॥ ३१ ॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

तच्चात्मन उपाधिभूतमन्तःकरणं मनो बुद्धिर्विज्ञानं चित्तमिति चानेकधा तत्र तत्राभिलप्यते । क्वचिच्च वृत्तिविभागेन संशयादिवृत्तिकं मन इत्युच्यते, निश्चयादिवृत्तिकं बुद्धिरिति । तच्चैवंभूतमन्तःकरणमवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा ह्यनभ्युपगम्यमाने तस्मिन्नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः स्यात्, आत्मेन्द्रि-यविषयाणामुपलब्धिसाधनानां संनिधाने सति नित्यमेवोपलब्धिः प्रसज्येत । अथ सत्यपि हेतुसमवधाने फलाभावस्ततो नित्यमेवानुपलब्धिः प्रसज्येत, नचैवं

दृश्यते। अथवान्यतरस्यात्मन इन्द्रियस्य वा शक्तिप्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः। नचात्मनः शक्तिप्रतिबन्धः संभवति, अविक्रियत्वात्। नापीन्द्रियस्य, नहि तस्य पूर्वोत्तरयोः क्षणयोरप्रतिबद्धशक्तिकस्य सतोऽकस्माच्छक्तिः प्रतिबध्येत, तस्माद्य-स्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः। तथाच श्रुतिः—'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (बृ० १।५।३) इति, 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (बृ० १।५।३) इति। कामादयश्चास्य वृत्तय इति दर्शयति 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी-रित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति। तस्माद्युक्तमेतत् 'तद्‍गुणसारत्वात्त-द्व्यपदेशः' इति ॥ ३२ ॥

वह आत्मा का उपाधिरूप अन्तःकरण, तत्तत् स्थानीय श्रुतियों में मन, बुद्धि, विज्ञान और चित्त इत्यादि अनेक प्रकार से कहा जाता है। कहीं वृत्ति (परिणाम) के विभाग द्वारा संशय संकल्प विकल्पादि वृत्ति वाला अन्तःकरण मन इस शब्द से कहा जाता है। निश्चयादि प्रमाणजन्य वृत्ति वाला अन्तःकरण बुद्धि कहा जाता है। सो इस प्रकार का अन्तःकरण अवश्य है। ऐसा मानना चाहिये, अन्यथा, उस अन्तःकरण को नहीं मानने पर नित्य उपलब्धि अथवा नित्य अनुपलब्धि का प्रसङ्ग होगा। वहाँ आत्मा, इन्द्रिय और विषय इन तीनों अनेक विषयों की उपलब्धि के साधनों के सन्निधान रहने पर नित्य ही अनेक विषयों की उपलब्धि की प्राप्ति होगी। अर्थात् अनेक ज्ञानेन्द्रिय से अनेक विषय के सम्बन्ध रहते सम्बन्ध काल में सब विषय का सदा ज्ञान प्राप्त होगा। यदि आत्मा, इन्द्रिय और विषय के सम्बन्धरूप हेतु के समवधान (स्थिति) रहते भी फलाभाव होगा, तो नित्य ही अनुपलब्धि प्राप्त होगी। ऐसा देखा नहीं जाता है। इससे कादाचित्क (कभी होने वाली) उपलब्धि का नियामक हेतु रूप अन्तः करण मन मानने योग्य है। अथवा प्रतिबन्धक मणिमन्त्रादि से जैसे अग्नि की शक्ति का प्रतिबन्ध होता है वैसे ही आत्मा और इन्द्रिय दोनों में से किसी एक की शक्ति का प्रतिबन्ध मानने योग्य है। परन्तु अविकारी होने से आत्मा की शक्ति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता है। प्रतिबन्धक के अभाव से इन्द्रियों की शक्ति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता है। एक काल में अनेक विषय के ज्ञान नहीं होने पर भी पूर्वोत्तर काल में इन्द्रिय द्वारा अनेक विषयों के क्रम से ज्ञान होने से पूर्वोत्तर क्षण में अप्रतिबद्ध शक्ति वाली इन्द्रिय के होते मध्य में अकस्मात् उसकी शक्ति प्रतिबद्ध नहीं होती है। इससे जिसके अवधान (बोधेच्छा सम्बन्ध सावधानता) और अनवधानता से उपलब्धि और अनुपलब्धि समयविशेष में होती है, वह मन है। इसी प्रकार श्रुति है कि (अन्यत्र मन वाला मैं था, इससे नहीं देखा, अन्यत्र मनवाला था नहीं सुना) और (मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है)। (काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय, ये सब मन ही है)। इस प्रकार कामादि को मन की वृत्ति (परिणाम) रूप श्रुति दर्शाती है, इससे कामादि के

आश्रय रूप से भी मन सिद्ध होता है। इससे (तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः) यह युक्त है ॥ ३२ ॥

कर्त्रधिकरण (१४)

जीवोऽकर्ताऽथवा कर्ता धियः कर्तृत्वसम्भवात्।
जीवकर्तृतया किं स्यादित्याहुः सांख्यमानिनः॥
करणत्वान्न धीः कर्त्री यागश्रवणलौकिकाः।
व्यापारा न विना कर्त्रा तस्माज्जीवस्य कर्तृता॥

शास्त्र की अर्थवत्ता से व्यावहारिक जीवात्मा कर्त्ता है। यहाँ मतभेद से संशय होता है कि जीव अकर्ता अथवा कर्ता है। सांख्य मत के अनुसार पूर्वपक्ष है कि आत्मा असंग और उदासीन है इससे सर्वथा अकर्ता है, और बुद्धि परिणाम और संगवाली है इससे बुद्धि के कर्तृत्व के सम्भव होने से जीवात्मा की कर्तृता से क्या फल होना है इस प्रकार सांख्यवादी कहते हैं। परन्तु कारण होने से बुद्धि कर्त्री नहीं हो सकती है, और कर्ता के बिना पूर्वकाण्ड वेदविहित याग, वेदविहित श्रवणादि और लोक सिद्ध कृषि आदि व्यापार नहीं सिद्ध हो सकते हैं इससे जीव को कर्तृता है ॥ १–२ ॥

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

तद्गुणसारत्वाधिकारेणैव वापरोऽपि जीवधर्मः प्रपञ्च्यते। कर्ता चायं जीवः स्यात्। कस्मात्? शास्त्रार्थवत्त्वात्। एवञ्च 'यजेत' 'जुहुयात्' 'दद्यात्' इत्येवंविधं विधिशास्त्रमर्थवद्भवति। अन्यथा तदनर्थकं स्यात्। तद्धि कर्तुः सतः कर्तव्यविशेषमुपदिशति। नचाऽसति कर्तृत्वे तदुपपद्यते। तथेदमपि शास्त्रमर्थवद्भवति 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्र० ५।९) इति ॥ ३३ ॥

तद्गुणसारत्व के प्रसङ्ग से ही अन्य भी जीव के धर्म विस्तार से कहे जाते हैं कि यह जीव कर्ता होगा। अर्थात् पूर्वोक्त मन के करणरूप से सिद्ध होने पर कर्ता की आकांक्षा होती है, वहाँ आकांक्षा का विषय कर्तृत या जीव सिद्ध होता है, क्योंकि कर्ता की सिद्धि शास्त्र के अर्थवत्ता से भी होती है, और इस प्रकार जीव के कर्ता होने हीसे (याग करे, हवन करे, दान दे) इस प्रकार के विधिशास्त्र सार्थक होता है, अन्यथा कर्ता के बिना वह शास्त्र अनर्थक होगा। जिससे वह शास्त्र कर्ता के रहते कर्तव्य विशेष का उपदेश देता है। कर्ता के नहीं रहने पर वह उपदेश सम्पन्न नहीं हो सकता है। इसी प्रकार कर्ता के रहने पर यह शास्त्र भी अर्थवत् (सार्थक) होता है कि (यह विज्ञानात्मा पुरुष द्रष्टा, श्रोता, मन्ता बोद्धा और कर्ता है) इत्यादि ॥ ३३ ॥

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायां संध्ये स्थाने विहारमुपदिशति— 'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१२) इति, 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २।१।१८) इति च ॥ ३४ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी इस जीव को कर्तृत्व है जिससे जीव के प्रकरण में संध्य-स्थान (स्वप्न) में जीव के विहार (संचार-क्रिया) का श्रुति उपदेश करती है कि (सो अमृत स्वरूप आत्मा जिस विषयक इच्छा होती है, वहाँ जाता है। अपने शरीर में यथेष्ट इच्छा के अनुसार सर्वथा वर्तमान रहता है।) इत्यादि ॥ ३४ ॥

उपादानात् ॥ ३५ ॥

इतश्चास्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायामेव करणानामुपादानं संकीर्तयति—'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २१।१।१७) इति, 'प्राणान्गृहीत्वा' (बृ० २।१।१८) इति च ॥ ३५ ॥

इस हेतु से भी जीव को कर्तृत्व है कि जिससे जीव के प्राण में ही करणों के उपादान (ग्रहण) का श्रुति संकीर्तन करती है कि (उस सुषुप्ति काल में यह जीवात्मा अन्तः करणगत विज्ञान से इन्द्रियरूप प्राणों के विज्ञान शक्ति का ग्रहण करके सोता है) और (प्राणों का ग्रहण करके वासनादि के अनुसार यथेष्ट अनुभव करता है) इत्यादि वहाँ कर्तृता के बिना ग्रहणादि नहीं हो सकते हैं, इससे जीव कर्ता है ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यदस्य लौकिकीषु वैदिकीषु च क्रियासु कर्तृत्वं व्यपदिशति शास्त्रम्—'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै० २।५।१) इति। ननु विज्ञानशब्दो बुद्धौ समधिगतः कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यत इति। नेत्युच्यते। जीवस्यैवैष निर्देशो न बुद्धेः। न चेज्जीवस्य स्यान्निर्देश-विपर्ययः स्यात्, विज्ञानेनेत्येवं निरदेक्ष्यत्। तथा ह्यन्यत्र बुद्धिविवक्षायां विज्ञानशब्दस्य करणविभक्तिनिर्देशो दृश्यते 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञा-नमादाय' (बृ० २।१।१७) इति। इह तु 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २।५।१) इति कर्तृसामानाधिकरण्यनिर्देशाद्बुद्धिव्यतिरिक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं सूच्यत इत्यदोषः ॥ ३६ ॥

इस हेतु से भी जीव को कर्तृत्व है कि जिससे लौकिक और वैदिक क्रियाओं में इस जीव के कर्तृत्व का शास्त्र व्यपदेश (कथन) करता है कि (विज्ञानात्मा जीव यज्ञ का विस्तार करता है, और कर्मों का भी विस्तार करता है) यदि कोई कहे कि विज्ञान शब्द बुद्धि अर्थ में अन्यत्र समधिगत (निश्चित) है, यहाँ इस विज्ञान शब्द से जीव के कर्तृत्व कैसे सूचित (ज्ञात) होता है। तो कहा जाता है कि यहाँ विज्ञान शब्द से बुद्धि का निर्देश नहीं है किन्तु जीव का ही निर्देश है जिससे बुद्धि का निर्देश यहाँ बन नहीं सकता है। इससे यहाँ यदि जीव का निर्देश नहीं होगा, तो बुद्धि का निर्देश के लिये निर्देश का विपर्यय होगा। अर्थात् प्रथमाविभक्ति का निर्देश से विपर्यय रूप तृतीया

विभक्ति द्वारा (विज्ञानेन), विज्ञान द्वारा, ऐसा निर्देश किया गया होता। जिससे अन्य स्थान में बुद्धि की विवक्षा रहने पर इसी प्रकार विज्ञान शब्द सम्बन्धी करण विभक्ति का निर्देश देखा जाता है, अर्थात् करण विभक्ति द्वारा विज्ञान शब्द का निर्देश देखा जाता है कि (उस सुषुप्ति में इन्द्रियों के विज्ञान शक्ति को बुद्धि से ग्रहण करके सोता है) और यहाँ तो (विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है) इस प्रकार कर्ता के वाचक तिङ् विभक्ति के साथ विज्ञान पद के समाधिकरणता (अभेद) के निर्देश से बुद्धि से भिन्न जीवात्मा के ही कर्तृत्व सूचित होता है इससे कोई दोष नहीं है ॥ ३६ ॥

अत्राह—यदि बुद्धिव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता स्यात्स स्वतन्त्रः सन्प्रियं हितं चैवात्मनो नियमेन सम्पादयेन्न विपरीतम्। विपरीतमपि तु संपादयन्नुपलभ्यते। न च स्वतन्त्रस्यात्मन ईदृशी प्रवृत्तिरनियमेनोपपद्यत इति। अत उत्तरं पठति—

यहाँ कोई कहता है कि बुद्धि से भिन्न जीव यदि कर्ता हो, तो (स्वतन्त्रः कर्ता) इस सूत्र के अनुसार स्वतन्त्रता के बिना कर्ता नहीं हो सकता, इससे वह स्वतन्त्र होता हुआ अपना प्रिय और हित का ही नियम से सम्पादन (सिद्ध) करे, और विपरीत (अप्रिय, अहित) नहीं करे। परन्तु विपरीत का भी सम्पादन करता हुआ उपलब्ध होता है देखा जाता है, और स्वतन्त्र आत्मा की ऐसी अनियम से प्रवृत्ति युक्त नहीं सिद्ध हो सकती है। इस हेतु से उत्तर पढ़ते हैं कि—

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

यथायमात्मोपलब्धिं प्रति स्वतन्त्रोऽप्यनियमेनेष्टमनिष्टं चोपलभत एवमनियमेनैवेष्टमनिष्टं च संपादयिष्यति। उपलब्धावप्यस्वातन्त्र्यमुपलब्धिहेतूपादानोपलम्भादिति चेत्। न। विषयप्रकल्पनामात्रप्रयोजनत्वादुपलब्धिहेतूनाम्। उपलब्धौ त्वनन्यापेक्षत्वमात्मनश्चैतन्ययोगात् अपि चार्थक्रियायामपि नात्यन्तमात्मनः स्वातन्त्र्यमस्ति देशकालनिमित्तविशेषापेक्षत्वात्। न च सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं निवर्तते। भवति ह्येवोदकाद्यपेक्षस्यापि पक्तुः पक्तृत्वम्। सहकारिवैचित्र्याच्चेष्टानिष्टार्थक्रियायामनियमेन प्रवृत्तिरात्मनो न विरुध्यते ॥

जैसे यह उपलब्धि के प्रति स्वतन्त्र होता हुआ भी अनियम से इष्ट और अनिष्ट को जानता है प्राप्त करता है, इसी प्रकार अनियम से इष्ट और अनिष्ट का सम्पादन करेगा। यदि कहो कि उपलब्धि के हेतु इन्द्रियों के उपादान (ग्रहण) के उपलम्भ (ज्ञान) से सिद्ध होता है कि यह जीव उपलब्धि में भी स्वतन्त्र नहीं है, तो सो कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उपलब्धि के हेतु रूप इन्द्रियों का विषयों की कल्पना (जीवात्मा के साथ सम्बन्ध) मात्र प्रयोजन (फल) होने से चेतन आत्मा की उपलब्धि में स्वतन्त्रता ही है। चेतनता के सम्बन्ध से उपलब्धि में आत्मा को अन्य की अपेक्षा

नहीं है। यदि कहो कि आत्मा को विषय के साथ सम्बन्ध के लिए भी इन्द्रिय की अपेक्षा होने पर उपलब्धि में स्वतन्त्रता नहीं है, तब यह बात कही जाती है कि अर्थ-साधक क्रिया में कर्तारूप भी आत्मा को अत्यन्त स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि विशेष देश-विशेष काल और विशेष निमित्त की सब क्रिया मे अपक्षा होती है। इससे सहाय की अपेक्षा वाला कर्त्ता के कर्तृत्व (स्वातन्त्र्य) नहीं निवृत्त होता है, अन्यथा कर्मसापेक्ष जगत् कर्ता ईश्वर में भी नहीं स्वतन्त्रता सिद्ध होगी फिर अन्य की तो कथा ही दूर रह जायगी। लकड़ी, जल आदि सापेक्ष पाचक में भी पाक कर्तृत्व होता है, इससे स्वात्मा से अन्य की अनपेक्षतारूप स्वतन्त्रता कर्तृता का अर्थ नहीं है, किन्तु स्वान्य कारक का प्रेरक होता हुआ, कारकान्तर से अप्रेरित होना ही स्वतन्त्रता है। इससे स्वतन्त्र (कर्ता) आत्मा को भी सहकारी की विचित्रता से इष्ट-अनिष्ट क्रिया में अनियम से प्रवृत्ति विरुद्ध नहीं होती है, अज्ञान, भ्रम, प्रमाद, अशक्ति आदि वश विपरीत प्रवृत्ति स्वतन्त्र की भी होती है इत्यादि ॥ ३७ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

इतश्च विज्ञानव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता भवितुमर्हति। यदि पुनर्विज्ञानशब्द-वाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात्ततः शक्तिविपर्ययः स्यात्। करणशक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चापद्येत। सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाहंप्रत्ययविषयत्वमभ्यु-पगन्तव्यम्। अहङ्कारपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः सर्वत्र दर्शनात्, अहं गच्छाम्यह-मागच्छाम्यहं भुञ्जेऽहं पिबामीति च। तस्याश्च कर्तृशक्तियुक्तायाः सर्वार्थकारि-करणमन्यत्कल्पयितव्यम्, शक्तोऽपि हि सन्कर्ता करणमुपादाय क्रियासु प्रवर्त-मानो दृश्यते इति। ततश्च संज्ञामात्र विवादः स्यान्न वस्तुभेदः कश्चित्, करण-व्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वाभ्युपगमात् ॥ ३८ ॥

इस हेतु से भी विज्ञान (बुद्धि) से भिन्न जीव कर्ता होने योग्य है। कि यदि विज्ञान शब्द का वाच्यार्थ बुद्धि ही कर्त्री होगी, तो शक्ति का विपर्यय होगा। बुद्धि की करण शक्ति निवृत्त हो जायगी, उसमें कर्तृशक्ति प्राप्त होगी, और बुद्धि की कर्तृशक्ति होने पर, उस बुद्धि को ही अहंप्रत्यय (ज्ञान) विषयत्व मानना होगा, जिससे, मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं भोजन करता हूँ और मैं पानी पीता हूँ। इस प्रकार अहंपूर्वक ही सर्वत्र प्रवृत्ति का ज्ञान होता है, इससे इस प्रवृत्ति वाली बुद्धि आत्मा सिद्ध होगी, परन्तु उस बुद्धि के कर्ता सिद्ध होने पर कर्तृशक्तियुक्त उस बुद्धि के सब अर्थ को करने वाला अन्य करण की कल्पना करनी पड़ेगी। जिससे समर्थ होता हुआ भी कर्ता करण का ग्रहण करके ही क्रियाओं में प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है। ऐसा होने पर संज्ञा-मात्र में विवाद रहेगा, कोई वस्तु का भेद नहीं होगा, करण से व्यतिरिक्त कर्तृत्व के अभ्युपगम से ऐसा ही होगा ॥ ३८ ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

योऽप्ययमौपनिषदात्मप्रतिपत्तिप्रयोजनः समाधिरुपदिष्टो वेदान्तेषु— 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मुण्ड० २।२।६) इत्येवंलक्षणः, सोऽप्यसत्यात्मनः कर्तृत्वे नोपपद्येत, तस्मादप्यस्य कर्तृत्वसिद्धिः ॥ ३९ ॥

और वेदान्तों में उपनिषद् से ज्ञातव्य आत्मा की प्रतिपत्ति (ज्ञान) रूप प्रयोजन (फल) वाले समाधि आदि ज्ञान के साधन उपदिष्ट हैं कि (अरे मैत्रेयि ! आत्मादर्शन के योग्य है, और दर्शन के लिए श्रवण मनन और निदिध्यासन कर्तव्य है। श्रवणादि द्वारा वह अन्वेषण के योग्य है, जिज्ञासा के योग्य है) (उस आत्मा को ओंकार द्वारा ध्यान चिन्तन करो) इस प्रकार के समाधि आदि उपदिष्ट हैं। सो आत्मा के अकर्ता होने पर (उपपन्न नहीं होंगे)। अर्थात् शास्त्र से विहित कर्मादि का फल कर्ता को मिलता है, यह शास्त्र का अटल सिद्धान्त है, इससे बुद्धि कर्त्री हो, और पुरुष फल भोक्ता हो, ऐसा नहीं हो सकता है। और बुद्धि के जड़ होने से उसको फल भोक्तृत्व का असम्भव है। इससे चेतनात्मा फल भोक्ता है जिससे कर्ता भी वही है, इस प्रकार मुक्ति फल का भोक्ता इस जीवात्मा को कर्तृत्व की सिद्धि होती है ॥ ३९ ॥

तक्षाधिकरण (१५)

कर्तृत्वं वास्तवं किं वा कल्पितं वास्तवं भवेत्।
यजेतेत्यादिशास्त्रेण सिद्धस्यावाधितत्वतः॥
असङ्गो हीति तद्बाधात्स्फटिके रक्तेव तत्।
अध्यस्तं धीचक्षुरादिकरणोपाधिसंविधेः॥

जैसे तक्षा (बढ़ही) तक्षण क्रिया के साधनों से युक्त रहने पर तक्षण क्रिया का कर्ता होता है, साधन रहित होने पर कर्ता नहीं होता है। वैसे ही जीवात्मा भी अज्ञान दशा में बुद्धि आदि साधन सहित रहने पर कर्ता होता है, मोक्षदशा में अकर्ता होता है, इससे इसका औपाधिक कर्तृत्व है। संशय है कि जीव के कर्तृत्व वास्तविक है अथवा कल्पित है। पूर्वपक्ष है कि, यजेत, यज्ञ करे, इत्यादि शास्त्र से सिद्ध यज्ञादि कर्तृत्व को अबाधित होने से कर्तृत्व वास्तविक है। सिद्धान्त है कि (असङ्गो ह्ययं पुरुषः) इत्यादि श्रुति से वास्तविक कर्तृत्व के बाधित होने से स्फटिक में रक्तता के समान बुद्धि आदि की समीपता से वह अध्यस्त कर्तृत्व है ॥ १–२ ॥

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

एवं तावच्छास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः कर्तृत्वं शारीरस्य प्रदर्शितं, तत्पुनः स्वाभाविकं वा स्यादुपाधिनिमित्तं वेति चिन्त्यते। तत्रैतैरेव शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकं कर्तृत्वमपवादहेत्वभावादिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः। न

स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। कर्तृत्वस्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वान्निर्मोक्षः संभवति, अग्नेरिवौष्ण्यात्। न च कर्तृत्वादनिर्मुक्तस्यास्ति पुरुषार्थसिद्धिः, कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात्। ननु स्थितायामपि कर्तृत्वशक्तौ कर्तृत्वकार्यपरिहारात्पुरुषार्थः सेत्स्यति, तत्परिहारश्च निमित्तपरिहारात्, यथाग्नेर्दहनशक्तियुक्तस्यापि काष्ठवियोगाद्दहनकार्याभावस्तद्वत्। न निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन सम्बन्धेन सम्बद्धानामत्यन्तपरिहारासम्भवात्। ननु मोक्षसाधनविधानान्मोक्षः सेत्स्यति। न। साधनायत्तस्यानित्यत्वात्। अपि च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मप्रतिपादनान्मोक्षसिद्धिरभिमता। तादृगात्मप्रतिपादनं च न स्वाभाविके कर्तृत्वेऽवकल्पेत, तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम्। तथा च श्रुतिः—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इति। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कण्ठ० ३।४) इति चोपाधिसंपृक्तस्यैवात्मनो भोक्तृत्वादिविशेषलाभं दर्शयति। नहि विवेकिनां परस्मादन्यो जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिश्रवणात्। पर एव तर्हि संसारी कर्ता भोक्ता च प्रसज्येत, परस्मादन्यश्चेच्चितिमाञ्जीवः कर्ता बुद्ध्यादिसङ्घातव्यतिरिक्तो न स्यात्। न। अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः।

इस पूर्व वर्णित रीति से प्रथम शास्त्र के अर्थवत्त्वादिरूप हेतुओं द्वारा जीव के कर्तृत्व को प्रदर्शित कराया गया है। जिससे सांख्य के बुद्धिकर्तृत्ववाद का निषेध सिद्ध हुआ है। अब आत्मा के असंगता आदि के बोधक श्रुतियों को स्तावकमात्र मान कर आत्मा के वास्तव कर्तृत्ववाद का निरास के लिए चिन्तन किया जाता है कि वह प्रदर्शित कर्तृत्व स्वाभाविक हो सकता है अथवा उपाधि निमित्तक है। यहाँ पूर्वपक्ष है कि पूर्वोक्त उस शास्त्र के अर्थवत्त्वादिरूप हेतुओं से ही और अपवाद के हेतु के अभाव से स्वाभाविक कर्तृत्व है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि अनिर्मोक्ष की प्राप्ति से आत्मा के स्वाभाविक कर्तृत्व का सम्भव नहीं है। जिससे आत्मा के कर्तृत्व स्वभाव होने पर, उष्णता से अग्नि के समान आत्मा को कर्तृता से निर्मोक्ष का सम्भव नहीं है। यही स्वाभाविक कर्तृता का बाधक है, और कर्तृत्व से अनिर्मुक्त को कर्तृत्व की दुःखरूपता से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं है। यदि कहा जाय कि कर्तृत्व शक्ति (क्रिया शक्ति) के रहते भी कर्तृशक्ति के कार्य की निवृत्ति से पुरुषार्थ की सिद्धि हो सकेगी, उसकी निवृत्ति अज्ञानजन्य धर्माधर्मादि के त्याग और निवृत्ति से होगी। जैसे दहनशक्तियुक्त अग्नि के भी काष्ठ के वियोग से दहनरूप कार्य का अभाव होता है, उसी के समान समझना चाहिए। यह कहना ठीक नहीं, शक्ति के रहने पर शक्तिरूप सम्बन्ध से सम्बन्ध वाले निमित्तों की अत्यन्त निवृत्ति असम्भव है। शक्तिरूप सम्बन्ध से निमित्त के रहने पर अन्य कार्य भी अनिवार्य हैं। यदि कहो कि कर्तृत्व शक्ति रहते भी मोक्ष के साधनों के विधान से मोक्ष की सिद्धि होगी, जैसे देवत्वादि की सिद्धि मनुष्य को होती है। तो

साधनाधीन सिद्ध वस्तु की अनित्यता से नित्य मोक्ष की इस प्रकार भी सिद्धि नहीं हो सकती है। दूसरी बात है कि नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त आत्मा के प्रतिपादन (प्रबोधन-प्रतिपत्ति) से मोक्ष की सिद्धि अभिमत है। ऐसे मोक्ष के प्रतिपादक अनेकों श्रुतियाँ स्तावक नहीं हो सकती हैं। उस नित्यशुद्धत्वादि स्वरूप वाला आत्मा का प्रतिपादन कर्तृत्व के स्वाभाविक रहने पर नहीं सिद्धि हो सकता है। उससे उपाधि के धर्म के अध्यास द्वारा ही आत्मा को कर्तृत्व है, स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है। (मानो ध्यान करता है, या क्रियायुक्त दीख-सा होता है) यह श्रुति इसी प्रकार औपाधिक कर्तृत्व को कहती है। (शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त को विद्वान् लोग भोक्ता इस शब्द से कहते हैं) यह भी उपाधिसंयुक्त ही आत्मा के भोक्तृत्वादि विशेष लाभ को दर्शाती है। अर्थात् दोनों श्रुति आत्मा के संसारित्व को औपाधिक कहती हैं। और विवेकियों की दृष्टि में परमात्मा से अन्य कर्ता-भोक्ता प्रसिद्ध जीव नहीं है, क्योंकि (इस परमात्मा से अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि सुना जाता है। यहाँ शंका होती है कि बुद्धि आदि संघात से भिन्न परमात्मा से अन्य चेतनावाला कर्ता जीव यदि नहीं होगा तो परमात्मा ही संसारी और कर्ता-भोक्ता प्राप्त सिद्ध होगा। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि ऐसा दोष नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अविद्या से जन्य होने से अविद्यारहित शुद्ध परमात्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। किन्तु अविद्या उपाधि में प्रतिबिम्बित बुद्धि आदि संघात से भिन्न परमात्मा से अभिन्न होते भी भिन्न जीवभाव के प्राप्त को ही बन्ध-मोक्षादि होते हैं।

तथा च शास्त्रम्—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४) इत्यविद्यावस्थायां कर्तृत्वभोक्तृत्वे दर्शयित्वा विद्यावस्थायां त एव कर्तृत्वभोक्तृत्वे निवारयति—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४) इति। तथा स्वप्नजागरितयोरात्मन उपाधिसम्पर्ककृतं श्रमं श्येनस्येवाकाशे विपरिपततः श्रावयित्वा तदभावं सुषुप्तौ प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तस्य श्रावयति—'तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इत्यारभ्य 'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः' (बृ० ४।३।३२) इत्युपसंहारात्। तदेतदाहाचार्यः—यथा च तक्षोभयथा—इति। त्वर्थे चायं चः पठितः। नैवं मन्तव्यं—स्वाभाविकमेवात्मनः कर्तृत्वमग्नेरिवौष्ण्यम्—इति। यथा तु तक्षा लोके वास्यादिकरणहस्तः कर्ता दुःखी भवति स एव स्वगृहं प्राप्तो वियुक्तवास्यादिकरणः स्वस्थो निर्वृतो निर्व्यापारः सुखी भवत्येवमविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतसंपृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयोः कर्ता दुःखी भवति, स तच्छ्रमापनुत्तये स्वमात्मानं परं ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्यकरणसङ्घातोऽकर्ता सुखी भवति सम्प्रसादावस्थायाम्। तथा मुक्त्यवस्थायामप्यविद्याध्वान्तं विद्याप्रदीपेन विधूयात्मैव केवलो निर्वृतः सुखी भवति। तक्षदृष्टान्तश्चैतावतांऽशेन द्रष्टव्यः। तक्षा हि विशिष्टेषु तक्षणादिव्यापारेष्वपेक्ष्यैव प्रतिनियतानि करणानि वास्यादीनि कर्ता भवति, स्वशरीरेण त्वकर्तैव। एवमय-

भात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव मन आदीनि करणानि कर्ता भवति, स्वात्मना त्वकर्तेवेति, न त्वात्मनस्तक्ष्ण इवावयवाः सन्ति यैर्हस्तादिभिरिव वास्यादीनि तक्षा मन आदीनि करणान्यात्मोपाददीत न्यस्येद्वा ।

इसी प्रकार शास्त्र कहता है कि (जिस काल में द्वैत के समान जिससे होता है, उससे उस काल में इतर-इतर को देखता है) इस प्रकार अविद्या अवस्था में कर्तृत्व-भोक्तृत्व को दिखाकर, विद्या अवस्था में उसी कर्तृत्व-भोक्तृत्व का शास्त्र निवारण करता है कि (जिस काल में इस ज्ञानी के सब आत्मा हो गया उस काल में किससे किसको देखे), इसी प्रकार आकाश में उड़ने वाला श्येन पक्षी के श्रम के समान स्वप्न और जागरित काल में उपाधि के सम्बन्ध से कृत (जन्य) आत्मा के श्रम को सुना कर सुषुप्ति में प्राज्ञात्मा के साथ सम्पृक्त सम्बद्ध के उस श्रम के अभाव को श्रुति दिखाती है कि (उस ज्योतिस्वरूप का यह आप्तकाम आत्मकाम अतएव अकाम शोकशून्य स्वरूप है) ऐसा आरम्भ करके (यह परम अद्वैत है इसकी परम गति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यही इसका परम लोक है और यही इसका परम आनन्द है) इस उपसंहार से उक्त श्रमाभाव को ही श्रुति दिखाती है। उस औपाधिक श्रम, संसार और उपाधि के बिना श्रम के अभाव को यह आचार्य कहते हैं कि (यथा च तक्षोभयथा) इति। यह सूत्रगत च शब्द तु शब्द के अर्थ में पठित है। अर्थ है कि—अग्नि की उष्णता के समान आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक ही है ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु लोक में जैसे बढ़ई वसुला आदि साधनयुक्त हाथ वाला होने पर वह क्रिया का कर्ता और श्रान्त दुःखी होता है और वही अपने गृह में प्राप्त होकर, बसुला आदि साधनों से वियुक्त होकर, स्वस्थ निर्व्यापार सुखी सिद्ध होता है। इसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित (प्रकटित) द्वैत से अविविक्त आत्मा स्वप्न और जागरित अवस्था में कर्ता दुःखी होता है, वही सुषुप्ति अवस्था में उस श्रम की निवृत्ति के लिए स्वात्मारूप परब्रह्म में प्रवेश करके कार्य-करण रूप संघात से रहित होकर अकर्ता सुखी होता है। इसी प्रकार विद्यारूप प्रदीप से अविद्यारूप अन्धकार को निवृत्त करके मोक्ष अवस्था में केवल आत्मा ही सुखी सिद्ध होता है। यद्यपि तक्षा (बढ़ई) को हस्तादि करण साधन रहता है, और आत्मा को कोई करण नहीं माना जाता है इससे दृष्टान्त विषम है तथापि तक्षा का दृष्टान्त इतना ही अंश मे समझना चाहिये कि तक्षा विशिष्ट (भिन्न) तक्षण (छिलना) आदि रूप व्यापारों में प्रतिनियत बसुला आदि साधनों की अपेक्षा (ग्रहण) करके ही कर्ता होता है, अपने शरीरमात्र से तो उस कर्म का अकर्ता ही रहता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी सब व्यापारों में मन आदि करणों की अपेक्षा करके ही कर्ता होता है, स्वरूप से तो अकर्ता ही रहता है, आत्मा के तक्षा के समान अवयव नहीं हैं कि जिनके द्वारा वह मन आदि करणों का ग्रहण करेगा वा त्याग करेगा, जैसे कि बढ़ई हाथ आदि के द्वारा बसुला आदि का ग्रहण करता है। इससे इस अंश में दृष्टान्त नहीं है।

यत्तूक्तं—शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वम्—इति। तन्न। विधिशास्त्रं तावद्यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति। न च स्वाभाविकमस्य कर्तृत्वमस्ति ब्रह्मात्मत्वोपदेशादित्यवोचाम। तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते। 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष' इत्येवंजातीयकमपि शास्त्रमनुवादरूपत्वाद्यथाप्राप्तमेवाविद्याकृतं कर्तृत्वमनुवदिष्यति। एतेन विहारोपादाने परिहृते, तयोरप्यनुवादरूपत्वात्। ननु संध्ये स्थाने प्रसुप्तेषु करणेषु स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते इति विहार उपदिश्यमानः केवलस्यात्मनः कर्तृत्वमावहति। तथोपादानेऽपि 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति करणेषु कर्मकरणविभक्ती श्रूयमाणे केवलस्यात्मनः कर्तृत्वं गमयत इति। अत्रोच्यते। न तावत्संध्ये स्थानेऽत्यन्तमात्मनः करणविरमणमस्ति, 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' (बृ० ४।३।७) इति तत्रापि धीसम्बन्धश्रवणात्।

जो यह कहा था कि शास्त्रार्थवत्त्वादि हेतुओं से आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व है, वह ठीक नहीं है जिससे विधिशास्त्र लोक-व्यवहारादि द्वारा जैसा कर्तृत्व प्राप्त रहता है। उसी कर्तृत्व का ग्रहण करके कर्तव्यविशेषमात्र का उपदेश करता है, आत्मा के कर्तृत्व का प्रतिपादन नहीं करता है। इस आत्मा को स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है। ब्रह्मरूपता के उपदेश से स्वाभाविक कर्तृत्व का अभाव है, वह कहा जा चुका है। इससे अविद्याकृत कर्तृत्व का ग्रहण करके विधिशास्त्र प्रवृत्त होगा, इससे विधिशास्त्र से स्वाभाविक कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। (विज्ञानात्मा पुरुष कर्ता है) इस प्रकार का शास्त्र भी अनुवादरूप होने से यथाप्राप्त अविद्याकृत कर्तृत्व का ही अनुवाद करेगा। इसी से स्वाभाविक विहार और उपादान भी परिहृत-निवारित हो गये, जिससे उन दोनों को भी अनुवादरूपत्व है। यहाँ शंका होती है कि स्वप्न में करणों के प्रसुप्त-लीन होने पर अपने शरीर में यथेष्ट परितः वर्तमान रहता है। इस प्रकार उपदिश्यमान उपदिष्ट विहार केवल आत्मा के कर्तृत्व को सिद्ध करता है इसी प्रकार उपादान में भी (वह इन्द्रियों के विज्ञान शक्ति का बुद्धि से ग्रहण रके सोता है) इस प्रकार करणों में सुनी गई कर्म और करण विभक्ति केवल आत्मा के कर्तृत्व का बोध कराते हैं कि बुद्धि आदि से भिन्न आत्मा बुद्धि द्वारा इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति का ग्रहण करता है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि प्रथम स्वप्न में तो आत्मा के करणों का विराम-विलय अत्यन्त नहीं होता है, जिससे (बुद्धिसहित स्वप्न होकर इस लोक का अतिक्रमण करता है) इस प्रकार उस स्वप्न में भी बुद्धि का सम्बन्ध सुना जाता है।

तथा च स्मरन्ति—

इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरते यदि।
सेवते विषयानेव तद्विद्यात्स्वप्नदर्शनम्॥ इति।

'कामादयश्च मनसो वृत्तयः' इति श्रुतिः, ताश्च स्वप्ने दृश्यन्ते, तस्मात्समना एव स्वप्ने विहरति। विहारोऽपि च तत्रत्यो वासनामय एव न तु पारमार्थिकोऽस्ति। तथा च श्रुतिरिवाकारानुबद्धमेव स्वप्नव्यापारं वर्णयति—'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्' (बृ० ४।३।१३) इति। लौकिका अपि तथैव स्वप्नं कथयन्ति—आरुरुक्षमिव गिरिशृङ्गमद्राक्षमिव वनराजिम्—इति। तथोपादानेऽपि यद्यपि करणेषु कर्मकरणविभक्तिनिर्देशस्तथापि तत्संपृक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं द्रष्टव्यम्, केवले कर्तृत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात्। भवति च लोकेऽनेकप्रकारा विवक्षा—योधा युध्यन्ते योधै राजा युध्यते—इति। अपि चास्मिन्नुपादाने करणव्यापारोपरममात्रं विवक्ष्यते न स्वातन्त्र्यं कस्यचिदबुद्धिपूर्वकस्यापि स्वापे करणव्यापारोपरमस्य दृष्टत्वात्। यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शितः 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इति, स बुद्धेरेव कर्तृत्वं प्रापयति, विज्ञानशब्दस्य तत्र प्रसिद्धत्वात् मनोऽनन्तरं पाठाच्च। 'तस्य श्रद्धैव शिरः' (तै० २।४) इति च विज्ञानमयस्यात्मनः श्रद्धाद्यवयवत्वसङ्कीर्तनात्, श्रद्धादीनां च बुद्धिधर्मत्वप्रसिद्धेः, विज्ञानं देवाःसर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते' (तै० २।५।१) इति च वाक्यशेषात् ज्येष्ठत्वस्य च प्रथमजत्वस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वात्। 'स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः' इति च श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य वाग्बुद्धिसाध्यत्वावधारणात्। न च बुद्धेः शक्तिविपर्ययः करणानां कर्तृत्वाभ्युपगमे भवति। सर्वकारकाणामिव स्वस्वव्यापारेषु कर्तृत्वस्यावश्यंभावित्वात्। उपलब्ध्यपेक्षं त्वेषां करणानां करणत्वं, सा चात्मनः। न च तस्यामप्यस्य कर्तृत्वमस्ति, नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात्। अहङ्कारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धुर्भवितुमर्हति, अहङ्कारस्याप्युपलभ्यमानत्वात्। नचैवं सति करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः, बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात्। समाध्यभावस्तु शास्त्रार्थवत्त्वेनैव परिहृतः 'यथाप्राप्तमेव कर्तृत्वमुपादाय समाधिविधानात्। तस्मात्कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति स्थितम् ॥

इसी प्रकार स्मृतिकर्त्ता भी कहते हैं कि (इन्द्रियों के उपरत होने पर भी यदि मन उपरत-निवृत्त न हो, और मन द्वारा विषयों का ही सेवन करे तो उसको स्वप्नदर्शन समझना-चाहिये) और (कामादि मन की वृत्तियाँ हैं) इस प्रकार श्रुति कहती है। वह कामादि स्वप्न में दीखते हैं, जिससे मनसहित ही स्वप्न में विहार करता है, केवल नहीं। स्वप्न में होने वाला विहार भी वासनामय ही होता है। पारमार्थिक (सत्य) तो वह है नहीं। इसी प्रकार इनकार (सादृश्य) से अनुबद्ध (युक्त) ही स्वप्न के व्यापार को श्रुति वर्णन करती है कि (स्त्रियों के साथ भी रमण-आनन्द करता हुआ के समान, मित्रों के साथ हँसता के समान, भयों को देखता हुआ के समान रूप को करता है) लौकिक मनुष्य भी स्वप्न को इसी प्रकार कहते हैं। (मैं गिरिशिखर पर मानो चढ़ा था। वनपंक्ति को मानों देखता था)। इसी प्रकार उपादान में भी यद्यपि कारणों में कर्म और कारण विभक्तिका निर्देश है, तथापि उन कारणों से युक्त आत्मा के ही कर्तृत्व

को समझना चाहिये, जिससे केवल आत्मा में कर्तृत्व के असम्भव को दर्शित कराया जा चुका है। यदि कहो कि करणसहित ही आत्मा में यदि कर्तृत्व होता है, तो करणों में भी कर्तृत्व होना चाहए, तो कहा जाता है कि विवक्षा लोक में अनेक प्रकार की होती है। योद्धा युद्ध करते हैं। योद्धाओं द्वारा राजा युद्ध करता है, इत्यादि;इससे कहीं करणों में भी कर्तृत्व होता ही है। और दूसरी बात है कि इस उपादान में कारण के व्यापारों का उपरम (निवृत्ति) मात्र विवक्षित होता है, किसी की स्वतन्त्रता नहीं विवक्षित होती है। क्योंकि स्वप्न में अबुद्धिपूर्वक (ज्ञान इच्छा के बिना) भी करण (इन्द्रिय) के व्यापारों का उपरम (निवृत्ति) देखा जाता है। ज्ञानादि के बिना भी स्वप्न-निद्रादि होते हैं। जो यह व्यपदेश (व्यवहार) दिखाया था कि (विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है) इससे आत्मा कर्ता है इत्यादि, यहाँ भी वह निर्देश बुद्धि के ही कर्तृत्व का ज्ञापन (बोध) कराता है। अर्थात् उससे बुद्धि उपाधि वाला व्यावहारिक जीव में कर्तृत्व का बोध होता है, शुद्धात्मा का नहीं। क्योंकि विज्ञान शब्द की बुद्धि अर्थ में प्रसिद्धि है। यहाँ इस वचन का मन के अनन्तर पाठ है तथा (उस विज्ञानमय का श्रद्धा ही शिर है) विज्ञानमय रूप आत्मा के श्रद्धा आदि रूप अवयवों के संकीर्तन से, और श्रद्धादिकों में बुद्धि के धर्मत्व की प्रसिद्धि से और (देव सब विज्ञान की ज्येष्ठब्रह्म रूप से उपासना करते हैं) इस वाक्य शेष से और ज्येष्ठत्व प्रथमजत्व की बुद्धि में प्रसिद्धि से—अर्थात् (महद् यक्षं प्रथमजम्) इस श्रुति में महापूज्य हिरण्यगर्भ की बुद्धि है, वह इन्द्रियरूप देवों से उपास्य है। इत्यादि हेतुओं से विज्ञान-शब्दार्थ बुद्धि ही है। (वाक् तथा चित्त बुद्धि का जो उत्तर-उत्तर उपक्रम गति है वही यह यज्ञ है) अर्थात् चित्तसे ध्यान करके वाक् से मन्त्रोचारण द्वारा यज्ञ सिद्ध होता है। इससे चित्त और वाक् का पूर्वोत्तरभाव-रूप यज्ञहै। इस प्रकार अन्य श्रुति में यज्ञ को वाक् और बुद्धि-साध्यत्व के अवधारण से भी (विज्ञानं यज्ञं तनुते) इस श्रुति में यज्ञकर्तारूप बुद्धि ही सिद्ध होती है। करणों के कर्तृत्व को स्वीकार करने से बुद्धि की करण शक्ति का विपर्यय नहीं होता है क्योकि सभी करणों को अपने-अपने व्यापारों में कर्तृत्व अवश्यंभावी है। जिससे काष्ठ ज्वलित होता है। इत्यादि प्रयोग देखा जाता है। इस प्रकार बुद्धि और इन्द्रियों को भी अपने-अपने व्यापारों में कर्ता होते भी विषयोंकी उपलब्धि की अपेक्षा से इन बुद्धि इन्द्रियरूप करणों को करणत्व है, जैसे कि काष्ठों को अपने व्यापार में कर्ता होते भी पाक में करणत्व है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। जिस उपलब्धि के बुद्धि और इन्द्रिय करण हैं, वह उपलब्धि जीवात्मा का व्यापार है। उस उपलब्धि में भी इस शुद्धात्मा को कर्तृत्व नहीं है, अर्थात् उपलब्धि का भी स्वाभाविक कर्तृत्व आत्मा को नहीं है, क्योंकि शुद्धात्मा नित्य उपलब्धि (ज्ञान) स्वरूप है। इससे व्यावहारिक जीवात्मा चित्प्रतिभासित वृत्ति-रूप उपलब्धि का कर्ता है। इसी प्रकार अहंकारपूर्वक कर्तृत्व भी व्यावहारिक आत्मा को ही है। शुद्ध उपलब्धा (आत्मा) को अहङ्कारपूर्वक कर्तृत्व नहीं हैं, क्योंकि अहङ्कार भी उपलभ्यमान (दृश्य) है। उसको स्वयं प्रकाश साक्षी स्वरूपत्व नहीं हो सकता है।

ऐसा होने पर, अर्थात् बुद्धि को विज्ञान-शब्दार्थं कर्तारूप होने पर करणान्तर की कल्पना रूप दोष का प्रसंग भी नहीं है, क्योंकि अहंबुद्धि का विषय बुद्धिविशिष्ट व्यावहारिकात्मा विज्ञान-शब्दार्थरूप कर्ता है। उसमें विशेषणरूप बुद्धिमात्र को करण मानने से करणान्तर की कल्पना का प्रसङ्ग नहीं होता है केवल बुद्धि के सांख्य रीति से कर्त्री मानने पर करणान्तर का प्रसंग अवश्य होगा। समाधि के अभाव तो शास्त्र के अर्थवत्त्व से ही परिहृत हो चुका है। प्रथाप्राप्त (लोकसिद्ध) कर्तृत्व का ग्रहण करके समाधि के विधान से दोष परिहृत होता है। इससे आत्मा का कर्तृत्व धर्म भी उपाधि-निमित्तक ही है। यह स्थित (निश्चित) हुआ ॥ ४० ॥

परायत्ताधिकरण (१६)

प्रवर्तकोऽस्य रागादिरीशो वा रागतः कृषौ।
दृष्टा प्रवृत्तिवैषम्यमीशस्य प्रेरणे भवेत् ॥ १ ॥
सस्येषु वृष्टिवज्जीवेष्वीशस्याविषयत्वतः।
रागोन्तर्याम्यधीनोऽत्त ईश्वरोऽस्य प्रवर्तकः ॥ २ ॥

वह जीवकर्तृत्व श्रुती से परमात्मनिमित्तक है, स्वतन्त्र नहीं है। वहाँ संशय है की इस जीव का प्रवर्तक रागादि है वा इश्वर है। पूर्वपक्ष है कि कृषि में राग से प्रवृत्ति दे गयी है, इससे राग ही प्रवर्तक है, ईश्वर की प्रेरणा होने पर ईश्वर में विषमता कीप्राप्ति होगी। सिद्धान्त है कि सस्यों में वृष्टि जैसे साधारण कारण होता है, वह विषमता का हेतु नहीं होता किन्तु बीजादि विषमता के हेतु हैं, वैसे ही जीवों में ईश्वर को अविषमता हैं, कर्म वासनादि के अनुसार विषमफल होते हैं, और ईश्वर साधारण कारण है। रागादि भी अन्तर्यामी ईश्वर के अधीन प्रवर्तक होते हैं। इससे ईश्वर इस व्यावहारिक जीव का प्रवर्तक है ॥ १–२ ॥

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥४१॥

यदिदमविद्यावस्थायामुपाधिनिबन्धनं कर्तृत्वं जीवस्याभिहितं तत्किमनपेक्ष्येश्वरं भवत्याहोस्विदीश्वरापेक्षमिति भवति विचारणा। तत्र प्राप्तं तावन्नेश्वरमपेक्षते जीवः कर्तृत्व इति। कस्मात्? अपेक्षाप्रयोजनाभावात्। अयं हि जीवः स्वयमेव रागद्वेषादिदोषप्रयुक्तः कारकान्तरसामग्रीसम्पन्नः कर्तृत्वमनुभवितुं शक्नोति। तस्य किमीश्वरः करिष्यति। न च लोके प्रसिद्धिरस्ति कृष्यादिकासु क्रियास्वनडुहादिवदीश्वरोऽपेक्षितव्य इति। क्लेशात्मकेन च कर्तृत्वेन जन्तून्संसृजत ईश्वरस्य नैर्घृण्यं प्रसज्येत। विषमफलं चैषां कर्तृत्वं विदधतो वैषम्यम्। ननु 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (ब्र० १।४।१७) इत्युक्तम्। सत्यमुक्तं सति त्वीश्वरस्य सापेक्षत्वसम्भवे। सापेक्षत्वं चेश्वरस्य सम्भवति सतोर्जन्तूनां धर्माधर्मयोः, तयोश्च सद्भावः सति जीवस्य कर्तृत्वे। तदेव चेत्कर्तृत्वमीश्वरापेक्षं स्यात्किंविषयमीश्वरस्य सापेक्षत्वमुच्येत। अकृताभ्यागमश्चैवं जीवस्य प्रसज्येत। तस्मात्स्वत एवास्य कर्तृत्वमिति। एतां प्राप्तिं तुशब्देन

व्यावर्त्य प्रतिजानीते—'परात्' इति। अविद्यावस्थायां कार्यकरणसङ्घाताविवेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात्सर्वभूताधिवासात्साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः, तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति। कुतः? तच्छ्रुतेः। यद्यपि रागादिदोषप्रयुक्तः सामग्रीसंपन्नश्च जीवः, यद्यपि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु नेश्वरकारणत्वं प्रसिद्धं, तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिष्वीश्वरो हेतुकर्तेति श्रुतेरवसीयते! तथाहि श्रुतिर्भवति—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौषी० ३।८) इति, 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयका ॥ ४१ ॥

अविद्यावस्था में जो यह उपाधिनिमित्तक जीव के कर्तृत्व का कथन किया गया है, वह कर्तृत्व क्या ईश्वर की अपेक्षा के बिना होता है। अथवा ईश्वर की अपेक्षापूर्वक होता है। यह विचारणा (चर्चा) जिज्ञासामूलक होती है। वहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि जीव अपने कर्तृत्व में ईश्वर की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि ईश्वर की अपेक्षा के प्रयोजन का अभाव है। जिससे यह जीव स्वयं ही राग-द्वेषादि दोषों से प्रेरित होकर और कारकान्तररूप सामग्री से सम्पन्न होता हुआ कर्तृत्व का अनुभव कर सकता है फिर ईश्वर उसका क्या करेगा। लोक में कृषि आदि क्रियाओं में बैल आदि के समान ईश्वर भो अपेक्षितव्य (प्राप्तव्य) है, ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। यदि ईश्वर कर्तृत्व का हेतु होगा भी तो क्लेशात्मक कर्तृत्व के साथ जन्तुओं-प्राणियों के संसर्ग (सम्बन्ध) को रचने वाले ईश्वर को निघृंणता (क्रूरता) की प्राप्ति होगी। इन जन्तुओं के विषम फल वाले कर्तृत्व को सिद्ध करने वाले ईश्वर को विषमता की प्राप्ति होगी। यद्यपि जीव के धर्माधर्म-सापेक्ष ईश्वर कर्ता है, इससे विषमता निघृंणता ईश्वर में नहीं है, यह प्रथम कहा गया है, वह सत्य ही कहा गया है, कि यदि ईश्वर को सापेक्षत्व सिद्ध हो। वह सापेक्षत्व ही नहीं सिद्ध होता है यहाँ यह तात्पर्य है, क्योंकि प्राणियों के धर्माधर्म रहने पर ईश्वर को सापेक्षत्व सिद्ध होगा। उस धर्माधर्म का सद्भाव जीव के कर्तृत्व रहने पर होगा। वह कर्तृत्व ही यदि ईश्वराधीन होगा, तो किस विषयक ईश्वर का सापेक्षत्व कहा जायगा। अर्थात् ईश्वराधीन कर्तृत्व की सिद्धि से धर्माधर्म की सिद्धि होगी, धर्माधर्म के सिद्ध होने पर धर्माधर्म-सापेक्ष ईश्वर के प्रवर्तकत्व की सिद्धि होगी, फिर प्रवर्तकत्व से कर्तृत्व की सिद्धि होगी तो इस प्रकार चक्रक दोष से एक भी नहीं सिद्ध होगा। इस प्रकार कर्मानिपेक्ष प्रवर्तक होने पर जीव को अकृताभ्यागम की प्राप्ति होगी, ईश्वर अपनी इच्छा के अनुसार कर्मों के बिना भी जीवों के सुख-दुःख का हेतु होगा। इससे इस जीव को स्वतःकर्तृत्व है। इस तरह प्राप्त पूर्वपक्ष का तु शब्द से निवारण करके सूत्रकार प्रतिज्ञा करते हैं कि (परात्) इति, अविद्यावस्था में कार्य-करण के

संघात से अपने को अभिन्न-अपृथक् समझने वाला अविद्यारूप अन्धकार से अन्ध होता हुआ जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप संसार की सिद्धि कर्माध्यक्ष (कर्मद्रष्टा) सर्वभूतों का अधिष्ठान सर्वनिवासी अन्तर्यामी चेतयिता सर्वज्ञ साक्षी ईश्वररूप परमात्मा से और उसकी अनुज्ञा (अनुमति) से होती है। उस परमात्मा के अनुग्रहरूप हेतु से जन्य विज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि होने के योग्य है, क्योंकि वैसा ही श्रुति से सिद्ध होता है। यद्यपि रागादि दोषों से प्रेरित और सामग्रियों से सम्पन्न जीव है, और यद्यपि लोक में कृषि आदि कर्मों में ईश्वर की कारणता प्रसिद्ध नहीं है। तथापि सभी प्रवृत्तियों में ईश्वर हेतु-प्रयोजक स्वरूप कर्ता है, यह श्रुति से निश्चय किया जाता है। जिससे इसी प्रकार की श्रुति है कि (वह परमात्मा ही उससे पुण्य कर्म करवाता है कि जिसको इन नीचे के लोकों से ऊपर उत्तम लोक में ले जाना चाहता है। वही उससे पाप करवाता है कि जिसको इन लोकों से नीचे ले जाना चाहता है) (जो आत्मा में रहकर अन्तरात्मारूप से आत्मा का नियन्त्रण करता है) इस प्रकार की श्रुति सब क्रिया को ईश्वराधीन दिखाती है। इससे श्रुति-बल से जीव का कर्तृत्व ईश्वराधीन सिद्ध होता है ॥ ४१ ॥

नन्वेवमीश्वरस्य कारयितृत्वे सति वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामकृताभ्यागमश्च जीवस्येति, नेत्युच्यते—

यहाँ शंका होती है कि ईश्वर के कारयिता (प्रेरक) होने पर विषमता निर्घृणता होगी। जीव को अकृताऽभ्यागम होगा। तो कहा जाता है कि ये सब दोष नहीं हैं, तथाहि—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥

तुशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। कृतो यः प्रयत्नो जीवस्य धर्माधर्मलक्षणस्तदपेक्ष एवैनमीश्वरः कारयति। ततश्चैते चोदिता दोषा न प्रसज्यन्ते। जीवकृतधर्माधर्मवैषम्यापेक्ष एव तत्तत्फलानि विषमं विभजते पर्जन्यवदीश्वरो निमित्तत्वमात्रेण। यथा लोके नानाविधानां गुच्छगुल्मादीनां व्रीहियवादीनां चासाधारणेभ्यः स्वस्वबीजेभ्यो जायमानानां साधारणं निमित्तं भवति पर्जन्यः, न ह्यसति पर्जन्ये रसपुष्पपलाशादिवैषम्यं तेषां जायते, नाप्यसत्सु स्वस्वबीजेषु, एवं जीवकृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वरस्तेषां शुभाशुभं विदध्यादिति श्लिष्यते। ननु कृतप्रयत्नापेक्षत्वमेव जीवस्य परायत्ते कर्तृत्वे नोपपद्यते। नैष दोषः। परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः, कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति। अपि च पूर्वप्रयत्नमपेक्ष्येदानीं कारयति पूर्वतरं च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयदित्यनादित्वात्संसारस्येत्यनवद्यम्। कथं पुनरवगम्यते कृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वर इति? विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य इत्याह। एवं हि 'स्वर्गकामो यजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'

इत्येवंजातीयकस्य विहितस्य प्रतिषिद्धस्य चावैयर्थ्यं भवति, अन्यथा तदनर्थकं स्यात्, ईश्वर एव विधिप्रतिषेधयोर्नियुज्येत, अत्यन्तपरतन्त्रत्वाज्जीवस्य। तथा विहितकारिणमप्यनर्थेन संसृजेत्प्रतिषिद्धकारिणमप्यर्थेन, ततश्च प्रामाण्यं वेदस्यास्तमियात्। ईश्वरस्य चात्यन्तानपेक्षत्वे लौकिकस्यापि पुरुषकारस्य वैयर्थ्यं, तथा देशकालनिमित्तानां, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गश्चेत्येवंजातीयकं दोषजातमादिग्रहणेन दर्शयति ॥ ४२ ॥

तु शब्द आशंकित उक्त दोषों की व्यावृत्ति के लिये है। कि जीव का जो धर्माधर्म स्वरूप यत्न किया हुआ रहता है, उसकी अपेक्षापूर्वक ही ईश्वर इस जीव को करवाता है, प्रेरणा करता है इत्यादि। इससे ये शंकित उक्त दोष नहीं प्राप्त होते हैं। जीव के कृत (पूर्वोपार्जित) धर्म और अधर्म की अपेक्षा वाला ही ईश्वर निमित्तत्व मात्र रूप से पर्जन्य के समान तत्तत् फलों का विषम विभाग करता है। अर्थात् जैसे बीजादि विशेष कारण के रहते भी सामान्य कारण पर्जन्य की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार राग-द्वेषादि के रहते भी कर्तृत्वादि में सामान्य कारणरूप ईश्वर की अपेक्षा होती है। इससे जैसे लोक में असाधारण (विशेष) अपने-अपने बीजों से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के गुच्छ-गुल्मादिकों का और व्रीहि-यवादिकों का साधारण निमित्त कारण पर्जन्य होता है। जिससे पर्जन्य (वृष्टि) के नहीं होने पर उन गुच्छादि व्रीहि आदि के रस पुष्प-पत्तों के वैषम्य नहीं होते हैं, न अपने-अपने बीजों की असत्ता में होते हैं। इससे पर्जन्य और बीज दोनों कारण हैं। इसी प्रकार पर्जन्य के समान ईश्वर जीवकृत प्रयत्न की अपेक्षापूर्वक उन जीवों के शुभाशुभ का विधान संपादन करेगा यह युक्त होता है। यदि कहो कि जीव के पराधीन कर्तृत्व होने पर ईश्वर को कृतप्रयत्नापेक्षत्व ही नहीं सिद्ध होता है। तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है। जिससे पराधीन कर्तृत्व के होने पर भी जीव करता ही है, और करते हुए ही जीव को ईश्वर करवाता है, प्रेरणा करता है। दूसरी बात है कि पूर्व के प्रयत्न की अपेक्षा करके इस समय करवाता है, और उससे पूर्वकृत पूर्वतर प्रयत्न की अपेक्षा करके पूर्वकाल में करवाया था। इस प्रकार संसार की अनादिता से जीव के कर्तृत्व और ईश्वर के प्रेरकत्व बीजाङ्कुर न्याय से अनवद्य (निर्दोष) है। यदि कहो कि कैसे समझा जाता है कि ईश्वरकृत प्रयत्नापेक्ष कारक होता है, कहा जाता है, कि (विहित प्रतिषिद्ध के अव्यर्थता आदि से समझा जाता है) जिससे इस प्रकार ईश्वर के सापेक्ष होने ही से (स्वर्ग की इच्छा वाला यज्ञ से स्वर्ग को प्राप्त करे) (ब्राह्मण हन्तव्य नहीं है, इससे ब्राह्मण का हनन नहीं करे) इस प्रकार के विहित और प्रतिषिद्ध की अव्यर्थता होती है। अन्यथा ईश्वर के निरपेक्ष होने पर कर्म अनर्थक होगा। और विधि-प्रतिषेध (पुण्य-पाप) के स्थान में ईश्वर ही नियुक्त होगा। जीव के अत्यन्त परतन्त्रता से पुण्य-पाप कार्य को ईश्वर ही करेगा। ऐसा होने से निरपेक्ष ईश्वर के अधीन जीव के होने से शास्त्र अनर्थक होगा।

अनर्थकता हो नहीं किन्तु विपरीतता की प्राप्ति होगी कि विहित करने वाले को भी अनर्थ के साथ सम्बन्ध करावेगा, और प्रतिषिद्ध करने वाले को भी अर्थ के साथ सम्बन्ध करावेगा। इससे वेद की प्रमाणता अस्त नष्ट हो जायगी। ईश्वर के अत्यन्त अनपेक्ष होने पर लौकिक व्यापार पुरुषकार (प्रयत्न) भी अनर्थक होगा, इसी प्रकार देश, काल और निमित्तों की अनर्थकता होगी। और पूर्वोक्त अकृताभ्यागम दोष की प्राप्ति होगी। इस प्रकार के दोषसमूह को सूत्र में आदिग्रहण से सूत्रकार दिखाते हैं ॥ ४२ ॥

अंशाधिकरण (१७)

किं जीवेश्वरसांकर्यं व्यवस्था वा श्रुतिद्वयात्।
अभेदभेदविषयात्सांकर्यं न निवार्यते ॥ १ ॥
अंशोऽवच्छिन्न आभास इत्योपाधिककल्पनैः।
जीवेशयोर्व्यवस्था स्याज्जीवानां च परस्परम् ॥

श्रुति में कहीं जीव का ईश्वर से नाना (भेद) का व्यपदेश से और कहीं दासकित-वादिरूपता का भी ब्रह्म अध्ययन करते हैं। इससे एक के मत से अन्यथा (ईश्वर से अभिन्न) भी जीव है, वहाँ भेदाभेद के विरुद्ध होने से वास्तव में अभेद और कल्पित भेद वाला अंशतुल्य जीव सिद्ध होता है। वहाँ संशय है कि अभेद और भेद विषयक दो श्रुति के सुनने से जीव और ईश्वर का सांकर्य है। अव्यवस्थित स्वरूप है वा कोई व्यवस्था है। पूर्वपक्ष है कि दो प्रकार की श्रुति से जो सांकर्य है, वह निवारण नहीं किया जा सकता है। सिद्धान्त है कि औपाधिक कल्पनाओं से अंश अवच्छिन्न आभास इत्यादि भेद का कथन होता है। स्वरूप से एक कहा जाता है इससे जीव और ईश्वर की व्यवस्था है। तथा जीवों की परस्पर व्यवस्था असांकर्य है, औपाधिकरूप से सब जीव भिन्न-भिन्नहैं, पारमार्थिक स्वरूप से एक अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप है ॥ १–२ ॥

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकित-वादित्वमधीयत एके ॥ ४३ ॥

जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः। स च सम्बद्धयोरेव लोके दृष्टो यथा स्वामिभृत्ययोर्यथा वाग्निविस्फुलिङ्गयोः ततश्च जीवेश्वरयोरप्युपकार्योपकार-कभावाभ्युपगमात्किं स्वामिभृत्यवत्सम्बन्ध आहोस्विदग्निविस्फुलिङ्गवदित्यस्यां विचिकित्सायामनियमो वा प्राप्नोति। अथवा स्वामिभृत्यप्रकारेष्वेवेशित्रीशित-व्यभावस्य प्रसिद्धत्वात्तद्विध एव सम्बन्ध इति प्राप्नोति। अतो ब्रवीत्यंश इति। जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गः। अंश इवांशो नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति। कस्मात्पुनर्निरवयवत्वात्स एव न भवति? नानाव्यपदेशात्। सोऽन्वेष्टव्यः विजिज्ञासितव्यः' (छ० ८।८।१) 'मृतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवं-जातीयको भेदनिर्देशो नासति भेदे युज्यते। ननु चायं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्यसारूप्ये युज्यत इत्यत आह—अन्यथा चापीति। न च नाना-

व्यपदेशादेव केवलादंशत्वप्रतिपत्तिः। किं तर्ह्यन्यथा चापि व्यपदेशो भवत्य- नानात्वस्य प्रतिपादकः। तथाहि एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—'ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इत्या- दिना। दाशा य एते कैवर्ताः प्रसिद्धाः, ये चामी दासाः स्वामिष्वात्मानमुपक्षि- पन्ति, ये चान्ये कितवा द्यूतकृतस्ते सर्वे ब्रह्मैवेति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसङ्घातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाह। तथाऽन्यत्रापि ब्रह्मप्रक्रियायामेवायमर्थः प्रपञ्च्यते—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

(श्वे० ४।३) इति।

सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते। इति च। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यश्चास्यार्थस्य सिद्धिः। चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाऽग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्। अतो भेदाभेदा- वगमाभ्यामंशत्वावगमः॥ ४३॥

जीव और ईश्वर का परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव प्रथम कहा गया है कि जीव उपकार का पात्र है। ईश्वर उसका पर्जन्य के समान उपकारक है। वह उपकार्य-उप- कारक भाव लोक में सम्बन्ध वालों में ही देखा गया है। जैसे कि स्वामी और सेवक का उपकार्य-उपकारक भाव देखा गया है या जैसे अग्नि और स्फुलिंगों (चिनगियों) का देखा गया है, इससे जीव और ईश्वर का भी उपकार्य-उपकारक भाव के स्वीकार से संशय होता है कि इनको स्वामी-सेवक के समान सम्बन्ध है। अथवा अग्निविस्फुलिंग के समान है। इस संशय के होने पर या तो अनियम प्राप्त होता है, अनेक प्रकार की श्रुति से कोई निश्चय नहीं होता है अथवा स्वामी और सेवक सदृशों में ही ईशिता- ईशितव्य (नियन्ता-नियम्य) भाव के प्रसिद्ध होने से स्वामी-भृत्य के समान ही सम्बन्ध प्राप्त होता है। इससे कहते हैं कि (अंश इत्यादि) जैसे अग्नि का विस्फुलिंग अंश है वैसे ईश्वर का अंश जीव होने योग्य है। परन्तु वह भी अंश के समान होने से अंश कहा जाता है। जिससे निरवयव ईश्वर के मुख्य अवयव का सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि निरवयव होने से यदि ईश्वर मुख्य अवयव अंश जीव नहीं हो सकता है, तो वह ईश्वर ही जीव क्यों नहीं होता है अर्थात् निरवयव होने से अभेदबोधक श्रुति के अनुसार ईश्वररूप ही जीव को क्यों नहीं माना जाता है। अंश तुल्य क्यों कहते हैं। तब कहा जाता है कि नाना (भेद) का भी निर्देश से ईश्वर स्वरूप ही नहीं कह कर अंशतुल्य कहते हैं। (वह अन्वेषण करने योग्य है, जिज्ञासा करने योग्य है। इसीको जानकर मुनि होता है। जो आत्मा में रहता हुआ अन्तरा- त्मारूप होकर आत्मा का नियन्त्रण करता है) इस प्रकार का भेदनिर्देश भेद के नहीं रहने पर नहीं युक्त हो सकता है। शंका होती है कि यदि भेद के

व्यपदेश से अंश माना जाता है। तो यह नाना व्यपदेश स्वामी-भृत्यरूपता में अत्यन्त युक्त होगा, अधिक उचित होगा, इससे कहते हैं कि (अन्यथा चापि) इत्यादि। केवल नाना व्यपदेश से ही अंशत्व की प्रतीति नहीं होती है। किन्तु अनानात्व (अभेद) का प्रतिपादक अन्यथा भी व्यपदेश (कथन) होता है, जिससे एक अथर्वण शाखा वाले ब्रह्म के दाशकितव आदि भाव को भी ब्रह्मसूक्त में पढ़ते है, कि (ब्रह्म ही दाश हैं, ब्रह्म ही दास है, और ब्रह्म ही ये कितव हैं) इत्यादि वचनों से अन्यथा व्यपदेश है। जो ये प्रसिद्ध कैवर्त हैं वह दास कहाते हैं। जो ये अपनी आत्मा (शरीर) को स्वामी की सेवा में अर्पण करते हैं, वह दास हैं। जो ये उनमें अन्य द्यूतकृत (जुआरी) हैं, वे सभी ब्रह्म ही हैं। इस प्रकार हीन प्राणियों के उदाहरण द्वारा, नाम और रूप से किये गये कार्य (शरीर) और करणों (इन्द्रियों) के संघातों में प्रविष्ट सभी जीवों के ब्रह्मत्व को कहते हैं कि सब ब्रह्म हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी ब्रह्म के प्रकरण में ही इस अर्थ का विस्तार से वर्णन किया जाता है कि (तुम आनन्दात्मा ब्रह्म ही स्त्री और पुरुष बुद्धि का विषय होते हो तुम ही कुमार अथवा कुमारी होते हो। वृद्ध होकर तुम ही दण्ड के सहारा लेकर गमन करते हो। जात उत्पन्न होकर सब तरफ मुख वाला होते हो) (सब रूपों-कार्यों को रच कर, नामों को सिद्ध करके उनका कथन करता हुआ जो वर्तमान है, उसको जानने वाला धीर (विद्वान्) अमृत होता है) इत्यादि श्रुतियों से भी इस अभेदरूप अर्थ की सिद्धि होती है। जैसे अग्नि और स्फुलिंग में उष्णता तुल्य है, वैसे ही जीव और ईश्वर में चेतनता तुल्य है इससे औपाधिक भेद और स्वरूप से अभेद के ज्ञान से अंशत्व का अवगम (ज्ञान) होता है ॥ ४३ ॥

कुतश्चांशत्वावगमः—

मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

मन्त्रवर्णश्चैतमर्थमवगमयति 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां० ३।१२।६) इति। अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजङ्गमानि निर्दिशति 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः इति प्रयोगात्। अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरम्। तस्मादप्यंशत्वावगमः ॥ ४४ ॥

कुतश्चांशत्वावगमः—

किस हेतु से जीव में अंशत्व का अवगम होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि—

मन्त्रवर्ण भी इस अर्थ का अवगम कराता है कि (इस सहस्र सिर वाले पुरुष की तावान्—प्रपञ्चमात्र महिमा विभूति है, पुरुष उस प्रपञ्च से बहुत बड़ा है। सब प्राणी उसका एक पाद भाग स्वरूप हैं, इसके अमृत तीन पाद स्वयंप्रकाश स्वरूप में

वर्तमान हैं) यहाँ भूत शब्द से जीव जिसमें प्रधान है, ऐसे स्थावर जंगमों का श्रुति निर्देश करती है। (तीर्थों से अन्यत्र सब भूतों की हिंसा नहीं करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है) इस प्रयोग से भूत शब्द से प्राणी का ग्रहण होता है क्योंकि प्राणी की ही हिंसा का संभव है कि जिसका निषेध हो सकता है, पृथिवी आदि की हिंसा का सम्भव नहीं है। अंश, पाद, भाग, ये शब्द एकार्थक हैं। इससे भी अंशत्व का अवगम होता है ॥ ४४ ॥

और किस हेतु से अंशत्व का अवगम होता है, कि—

अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥

ईश्वरगीतास्वपि चेश्वरांशत्वं जीवस्य स्मर्यते—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (१५।७) इति। तस्मादप्यंशत्वावगमः। यत्तूक्तं—स्वामिभृत्यादिष्वेवेशित्रीशितव्यभावो लोके प्रसिद्ध—इति, यद्यप्येषा लोके प्रसिद्धिस्तथापि शास्त्रात्त्वत्रांशांशित्वमीशित्रीशितव्यभावश्च निश्चीयते। निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो निहीनोपाधिसम्पन्नाञ्जीवान्प्रशास्तीति न किंचिद्विप्रतिषिध्यते ॥ ४५ ॥

ईश्वर-गीता (भगवद्गीता) में भी जीव के ईश्वरांशत्व का स्मरण किया जाता है कि (जीवलोक-संसार में सनातन जीव स्वरूप मेरा ही अंश है) इससे भी अंशत्व का अवगम होता है। जो यह कहा है कि स्वामी-भृत्य आदि में ईशिता-ईशितव्य भाव लोक में प्रसिद्ध है, वहाँ कहा जाता है कि यद्यपि लोक में यह प्रसिद्धि है, तथापि शास्त्र से तो अंश-अंशित्व और ईशिता-ईशितव्य भाव निश्चय किया जाता है। निरतिशय (सर्वोत्तम) उपाधि से सम्पन्न-युक्त ईश्वर, निहीन (अत्यन्त हीन) शरीरादि उपाधि वाले जीवों का प्रशासन करता है इससे कुछ विरुद्ध नहीं होता है ॥ ४५ ॥

अत्राह—ननु जीवस्येश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखोपभोगेनांशिन ईश्वरस्यापि दुःखित्वं स्यात्, यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमाङ्गगतेन दुःखेनाङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वं तद्वत्, ततश्च तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्नुयात्, अतो वरं पूर्वावस्थः संसार एवास्त्विति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः स्यादिति। अत्रोच्यते—

यहाँ कोई कहता है कि जीव और ईश्वर के अंश-अंशीभाव के स्वीकार करने पर जैसे लोक में हाथ, पैर आदि किसी एक अंशगत दुःख से अङ्गवाले देवदत्त को दुःखित्व होता है। वैसे उस अंशरूप जीव के संसार-सम्बन्धी दुःख के उपभोग से अंशीरूप ईश्वर को भी दुःखित्व होगा, और इससे उसको ज्ञान, भक्ति आदि द्वारा प्राप्त प्राणियों को अति महान् दुःख प्राप्त होगा, इससे पूर्वावस्था वाला संसार ही श्रेष्ठ है वही रहे, इस प्रकार सम्यग्दर्शन की अनर्थकता का प्रसंग होगा, यह किसी का कथन है, यहाँ कहा जाता है कि—

प्रकाशादिवन्नवं परः ॥ ४६ ॥

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे। जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते, नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वास्ति। जीवस्याप्यविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो न तु पारमार्थिकोऽस्ति। यथा च स्वदेहगतदाहच्छेदादिनिमित्तं दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवानुभवति तथा पुत्रमित्रादिगोचरमपि दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवानुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येवं स्नेहवशेन पुत्रमित्रादिष्वभिनिविशमानः। ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते—मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति। व्यतिरेकदर्शनाच्चैवमवगम्यते। तथाहि—पुत्रमित्रादिमत्सु बहुषूपविष्टेषु तत्सम्बन्धाभिमानिष्वितरेषु च पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्घोषिते येषामेव पुत्रमित्रादिमत्त्वाभिमानस्तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्यते नाभिमानहीनानां परिव्राजकादीनाम्। अतश्च लौकिकस्यापि पुंसः सम्यग्दर्शनार्थवत्त्वं दृष्टं, किमुत विषयशून्यादात्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमपश्यतो नित्यचैतन्यमात्रस्वरूपस्येति। तस्मान्नास्ति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रकाशादिवदिति निदर्शनोपन्यासः। यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसम्बन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तत्तद्भावमिव प्रतिपद्यमानोऽपि न परमार्थतस्तद्भावं प्रतिपद्यते। यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशरावादिकम्पनात्तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेपि न तद्वान्सूर्यः कम्पते- एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते। जीवस्यापि तु दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तम्। तथा चाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः 'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः, तस्मान्नास्ति जैवेन दुःखेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गः ॥ ४६ ॥

जैसे जीव संसार दुःख का अनुभव करता है, इस प्रकार पर-ईश्वर नहीं अनुभव करता है। यह प्रतिज्ञा करते हैं। जिससे अविद्या के आवेश के वश से देहादि में आत्मभाव के समान प्राप्त होकर, अविद्या कर्मादिवश देहादि में आत्मता के अभिमान, मोह, ममतादि करके, उस देहकृत दुःख से मैं दुःखी हूँ ऐसा अभिमान करके अविद्या से कृत दुःख के उपभोग को जीव मानता है—समझता है। ईश्वर को इस प्रकार देहादि में आत्मभाव वा दुःख का अभिमान नहीं है। जीव को भी अविद्याकृत नामरूप से निर्वृत्त (सिद्ध) देह इन्द्रिय आदि रूप उपाधि के अविवेकजन्य-भ्रमनिमित्तक ही दुःखाभिमान है, पारमार्थिक नहीं है, और जैसे स्वदेहगत दाह-छेदनादिनिमित्तक

दुःख का उस देह में अभिमानरूप भ्रान्ति से ही अनुभव करता है, इसी प्रकार पुत्र-मित्रादिगत दुःख को भी उनमें अभिमानरूप भ्रान्ति से ही अनुभव करता है, कि मैं ही पुत्र हूँ; मैं ही मित्र हूँ इस प्रकार स्नेहवश से पुत्र-मित्र में अभिनिवेश (अभिमान) करता हुआ दुःख का अनुभव करता है, उनके दुःखों से स्वयं भी दुःखी होता है। इससे यह निश्चित समझा जाता है कि मिथ्याभिमान भ्रमनिमित्तक ही दुःखानुभव होता है। अभिमान भ्रान्ति के व्यतिरेक (अभाव) रहते दुःख के व्यतिरेक (अभाव) देखने से भी ऐसा समझा जाता है कि अभिमान भ्रममूलक दुःख है। जिससे जहाँ बहुत पुत्र-मित्रादि वाले बैठे हों, कि जिनमें उन पुत्र-मित्रादि के सम्बन्ध के अभिमानी भी हों, उनसे इतर अभिमानशून्य लोग भी बैठे हों, वहाँ यदि कोई उद्घोषणा करे—कहे कि पुत्र मर गया, मित्र मर गया, तो ऐसी उद्घोषणा होने पर, जिनको पुत्र-मित्रादिमत्त्व का अभिमान रहता है, उनको ही उस मरण-श्रवणनिमित्तक, दुःख होता है, अभिमानरहित संन्यासी आदि को दुःख नहीं होता है। इससे लौकिक (तत्त्वज्ञान शून्य) पुरुष के भी सम्यग्दर्शन (विवेकज्ञान) की अर्थवत्ता देखी गई है, फिर विषय-शून्य (अविषयस्वरूप) आत्मा से अन्य वस्त्वन्तर को नहीं देखते हुए नित्य चैतन्यमात्र स्वरूप के सम्यग्दर्शन की अर्थवत्ता में तो वक्तव्य ही क्या है। इससे सम्यग्दर्शन में अनर्थकता की प्राप्ति नहीं है। प्रकाशादिवत्; यह सूत्र में निदर्शन (दृष्टान्त) का कथन है कि जैसे सूर्य वा चन्द्रमा का प्रकाश आकाश को व्याप्त करके स्थिर होता हुआ भी अङ्गुली आदि उपाधियों के सम्बन्ध से उनके ऋजु-वक्रादि भाव के प्राप्त होने पर, वह प्रकाश भी तत्तत् भाव को प्राप्त होता हुआ के समान होने पर भी परमार्थ से तत्तत् ऋजु-वक्रादि भाव को नहीं प्राप्त होता है। जैसे घटादि के चलने पर तद्वत् आकाश भी चलता हुआ के समान प्रतीत होने पर भी परमार्थ से नहीं चलता है। जैसे उदकयुक्त शरावादि के काँपने से तद्वत् सूर्य के प्रतिबिम्ब के काँपने पर भी उस प्रतिबिम्ब वाला सूर्य नहीं काँपता है। इसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित (प्राप्त) बुद्धि आदि उपाधि वाला जीवनामक अंश के दुःखी होने पर भी उस अंशवाला ईश्वर दुःखी नहीं होता है। अर्थात् जीव में स्वदुःख का अनुभव होने पर भी ईश्वर अपने दुःख का अनुभव नहीं करता है। वस्तुतः जीव को भी दुःख की प्राप्ति अविद्या निमित्तक ही है, यह कहा जा चुका है, ऐसा होने ही से (तत्त्वमसि) इत्यादि वेदान्त अविद्यानिमित्तक जीव भाव के व्युदास (निषेध) द्वारा जीव के ब्रह्मभाव का ही प्रतिपादन करते हैं। इससे जीव-सम्बन्धी दुःख से परमात्मा को दुःखित्व प्रसंग नहीं है ॥ ४६ ॥

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति।

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः।
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ।
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥ इति ।

चशब्दात्समामनन्ति चेति वाक्यशेषः । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (श्वे० ४।६) इति 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (कठ० ५।११) इति च ।

जिस प्रकार जीव के दुःख से परमात्मा निजदुःख का अनुभव नहीं करता है, वह व्यासादि स्मरण करते हैं कि (उस जीव और परमात्मा में जो परमात्मा है, वह नित्य निर्गुण कहा गया है । वह कर्मफलों से लिप्त नहीं होता है, जैसे कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता है । उससे अन्य जो वह कर्मात्मा कर्माश्रय जीव है, वह मोक्ष और बन्धनों से युक्त होता है । वही एकादश इन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि रूप सप्तदश के राशि (समूह) से भी युक्त होता है ।) सूत्र में च शब्द से (समामनन्ति) श्रुतियाँ कहती हैं ऐसा वाक्य शेष समझना चाहिए । (जीव ईश्वर दोनों में से अन्य एक जीव स्वादु कर्मफल को भोगता है । एक ईश्वर भोगे बिना प्रकाश करता है । जैसे सूर्य प्रकाश्य दोषों से लिप्त नहीं होता है । इसी प्रकार सब भूत का एक अन्तरात्मा लोकों के दुःखों से लिप्त नहीं होता है, क्योंकि वह सबसे बाह्य असंग है ।)

अत्राह—तदि तर्ह्येक एव सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स्यात्कथमनुज्ञापरिहारौ स्यातां लौकिकौ वैदिकौ चेति । ननु चांशो जीव ईश्वरस्येत्युक्तम्, तद्भेदाच्चानुज्ञापरिहारौ तदाश्रयावव्यतिकीर्णावुपपद्येते किमत्र चोद्यत इति । उच्यते—नैतदेवम् । अनंशत्वमपि हि जीवस्याभेदवादिन्यः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) इत्येवंजातीयकाः । ननु भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वं सिद्ध्यतीत्युक्तम् । स्यादेतदेवं यद्युभावपि भेदाभेदौ प्रतिपिपादयिषितौ स्याताम्, अभेद एव त्वत्र प्रतिपिपादयिषितो ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ पुरुषार्थसिद्धेः स्वभावप्राप्तस्तु भेदोऽनूद्यते । न च निरवयवस्य ब्रह्मणो मुख्योंऽशो जीवः संभवतीत्युक्तम् । तस्मात्पर एवैकः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेनावस्थित इत्यतो वक्तव्याऽनुज्ञापरिहारोपपत्तिः ॥ ४७ ॥

यहाँ प्रतिवादी कहता है कि यदि सब प्राणी का अन्तरात्मा एक ही हो, तो लौकिक और वैदिक अनुज्ञा (स्वीकृति विधि) और परिहार (त्याग) कैसे हो सकते हैं । यदि कहा जाय कि जीव ईश्वर का अंश है । यह कहा जा चुका है, उस अंश के भेद से उसके आश्रित अव्यतिकीर्ण (सांकर्य रहित) अनुज्ञा और परिहार होंगे । यहाँ संशय क्या किया जा सकता है । तो कहा जाता है कि यह इस प्रकार नहीं सिद्ध हो

सकता है। जिससे जीव और ईश्वर का अभेद को कहने वाली श्रुतियाँ ईश्वर के अनंशत्व (अंशभिन्नत्व) का भी प्रतिपादन करती हैं कि (वह ब्रह्मात्मा उस जगत् को रचकर उसमें प्रवेश किया। उससे अन्य द्रष्टा नहीं है। वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस में नाना के समान देखता है। तुम उस ब्रह्मस्वरूप हो। मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकार की श्रुतियाँ अनंशत्व का प्रतिपादन करती हैं। यदि कहा जाय कि भेद और अभेद के अवगम से अंशत्व की सिद्धि होती है, यह कहा जा चुका है। वहाँ कहा जाता है कि यह इस प्रकार हो सकता है कि यदि भेद और अभेद दोनों प्रतिपादन की इच्छा के विषय होते। परन्तु यहाँ तो ब्रह्मात्मत्व के ज्ञान होने पर पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि से अभेद ही प्रतिपादन की इच्छा का विषय है, निर्गुण एकात्मा में अविद्या रूप स्वभाव से प्राप्त भेद का तो श्रुति से अनुवाद किया जाता है। निरवयव निर्गुण ब्रह्म का मुख्य अंश हो नहीं सकता है। उससे सब भूतों के अन्तरात्मा स्वरूप एक परमात्मा ही जीवरूप से अवस्थित वर्तमान है। इससे अनुज्ञा और परिहार की उपपत्ति (सिद्धि) वक्तव्य है ॥ ४७ ॥

तां ब्रूमः—

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' इत्यनुज्ञा। 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' इति परिहारः। तथा 'अग्नीषोमीयं पशुं संज्ञपयेत्' इत्यनुज्ञा। 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति परिहारः। एवं लोकेऽपि 'मित्रमुपसेवितव्यमि'त्यनुज्ञा। 'शत्रुः परिहर्तव्य' इति परिहारः। एवं प्रकारावनुज्ञापरिहारावेकत्वेऽप्यात्मनो देहसम्बन्धात्स्याताम्। देहैः सम्बन्धो देहसम्बन्धः। कः पुनर्देहसम्बन्धः? देहादिरयं संघातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः। दृष्टा च सा सर्वप्राणिनामहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहमन्धोऽहमनन्धोऽहं मूढोऽहममूढ इतीत्येवमात्मिका। नह्यस्याः सम्यग्दर्शनादन्यन्निवारकमस्ति। प्राक्तु सम्यग्दर्शनात्प्रततैषा भ्रान्तिः सर्वजन्तुषु। तदेवमविद्यानिमित्तदेहाद्युपाधिसम्बन्धकृताद्विशेषादैकात्म्याभ्युपगमेऽप्यनुज्ञापरिहाराववकल्प्येते। सम्यग्दर्शिनस्तर्ह्यनुज्ञापरिहारानर्थक्यं प्राप्तम्। न। तस्य कृतार्थत्वान्नियोज्यत्वानुपपत्तेः। हेयोपादेययोर्हि नियोज्यो नियोक्तव्यः स्यात्। आत्मनस्त्वतिरिक्तं हेयमुपादेयं वा वस्त्वपश्यन्कथं नियुज्येत। न चात्मात्मन्येव नियोज्यः स्यात्। शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव नियोज्यत्वमिति चेत्। न। तत्संहतत्वाभिमानात्। सत्यं व्यतिरेकदर्शिनो नियोज्यत्वं तथापि व्योमादिवद्देहाद्यसंहतत्वमपश्यत एवात्मनो नियोज्यत्वाभिमानः। नहि देहाद्यसंहतत्वदर्शिनः कस्यचिदपि नियोगो दृष्टः। किमुतैकात्म्यदर्शिनः। न च नियोगाभावात्सम्यग्दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसङ्गः। सर्वत्राभिमानस्यैव प्रवर्तकत्वादभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः। तस्माद्देहसम्बन्धादेवानुज्ञापरिहारौ। ज्योतिरा-

दिवत् । यथा ज्योतिष एकत्वेऽप्यग्निः क्रव्यात्परिह्रियते नेतरः । यथा च प्रकाश एकस्यापि सवितुरमेध्यदेशसम्बद्धः परिह्रियते नेतरः शुचिभूमिष्ठः । यथा भौमाः प्रदेशा वज्रवैडूर्यादय उपादीयन्ते, भौमा अपि सन्तो नरकलेवरादयः परिह्रियन्ते । यथा मूत्रपुरीषं गवां पवित्रतया परिगृह्यते, तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते तद्वत् ॥ ४८ ॥

उस उपपत्ति को कहते हैं कि

(ऋतुकाल में स्वभार्या के प्रति गमन करे ।) यह अनुज्ञा है (गुरुभार्या के प्रति गमन नहीं करे) यह परिहार है (अग्नि सोम देवता को पशु का संज्ञयन देवार्पण करे) यह अनुज्ञा है । (सब प्राणी की हिंसा को त्यागे) यह परिहार है । इसी प्रकार लोक में भी (मित्र उपसेवन योग्य है) यह अनुज्ञा है (शत्रु त्याग योग्य है) यह परिहार है । इस प्रकार के अनुज्ञा और परिहार आत्मा के एकत्व होते भी देह सम्बन्ध से हो सकते हैं । देहों के साथ सम्बन्ध देहसम्बन्ध है । परन्तु कूटस्थ परिणाम रहित नित्य आत्मा का देह के साथ संयोग समवायादि सम्बन्ध हो नहीं सकता । इससे प्रश्न होता है कि आत्मा को देहों के साथ सम्बन्ध क्या है । उत्तर है कि सत्य सम्बन्ध कोई नहीं है किन्तु देहादिरूप यह संघात मैं ही हूँ इस प्रकार की आत्मविषयक विपरीतज्ञान की उत्पत्ति ही सम्बन्ध है । अर्थात् इस बुद्धि का विषय कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध देहों के साथ आत्मा का है । वह प्रतीति, मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं अन्ध हूँ, मैं अनन्ध हूं, मैं मूढ हूँ, मैं अमूढ हूँ, इत्यादि रूप से सब प्राणियों की देखी गयी है । अर्थात् शरीर के गमनादि का इन्द्रिय के अन्धत्वादि का बुद्धि के मूढत्वादि का आत्मा में भ्रमादि मूलक सम्बन्ध सब प्राणी में भासते हैं । सम्यग् दर्शन से अन्य इस भ्रान्ति का निवारक कोई नहीं है, इसीसे तो यह भ्रान्ति सम्यग् दर्शन से पूर्वकाल में सब प्राणियों में प्रतत (संतत) रहती है । इससे एकात्मता से स्वीकार करने पर भी इस प्रकार अविद्या-निमित्तक देहादि उपाधि के सम्बन्धकृत विशेष (भेद) से अनुज्ञा और परिहार सिद्ध होते हैं । शंका होती है कि अज्ञान जन्य देहसम्बन्धकृत अनुज्ञा परिहार है तो सम्यग्दर्शी ज्ञानी के प्रति अनुज्ञापरिहार अनर्थक प्राप्त (सिद्ध) होते हैं । तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, ज्ञानी के लिये अनुज्ञा परिहार को अनर्थक होना इष्ट ही है कृतार्थ होने से उस ज्ञानी को नियोज्यत्व (विधिनिषेध विषयत्व) अनुपपन्न है । जिसके हेय वा उपादेय वस्तु में ही नियोज्य (दास-भृत्य) भी नियोक्तव्य (आज्ञा का विषय होता है) तो आत्मा से भिन्न हेय वा उपादेय वस्तु को नहीं देखने वाला अद्वैतात्मा को देखता हुआ कैसे नियोज्य (प्रेर्य) होगा । आत्मा ही में नियोज्य हो, ऐसा नहीं हो सकता है ! जिससे भिन्न हेय उपादेय विषयक ही प्रवृत्ति के लिए नियोक्ता से नियोज्य प्रेरित होता है । यदि कहो कि शरीर से भिन्न आत्मदर्शी विवेकी को ही पारलौकिक फलार्थक कर्मों में नियोज्यत्व होता है । इसी प्रकार आत्मज्ञ को भी नियोज्य होना चाहिये, तो वह

कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्म में नियोज्य पुरुष शरीर से भिन्न आत्मा को परोक्ष रूप से जानता है, और इस देहादि संहतत्व का अभिमान इसीसे उसको बना रहता है, कि जिससे वर्णाश्रमादि के अभिमान पूर्वक वह कर्मों में प्रवृत्त होता है। इससे व्यतिरेक (शरीर में आत्मत्व का भेद) दर्शी को नियोज्यत्व यद्यपि सत्य है। तथापि आकाश के समान देहादि से असंहत (असंग) आत्मा को नहीं जानने वाला देहाभिमानी भ्रान्त को ही आत्मा के नियोज्यत्व का अभिमान होता है। क्योंकि परोक्ष व्यतिरेक ज्ञान अपरोक्ष भ्रम का निवारण नहीं करता है। देहादि असंहतत्वदर्शी (संहतत्वदर्शन रहित-भेदबुद्धिरहित सुषुप्त) किसी का भी नियोग नहीं देखा गया है। फिर एकात्मतादर्शी के अनियोग में कहना ही क्या है ? नियोग (विधि) के अभाव होने से सम्यग्दर्शी को यथेष्टाचार प्राप्त होगा ऐसा कुतर्क नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभिमान के ही सर्वत्र प्रवर्तक होने से और सम्यग्दर्शी को अभिमान के अभाव से यथेष्टाचार में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु ज्ञानार्थक अभ्यस्त विरागादि से रागादि रहित ज्ञानी की प्रारब्धानुसारसंग आसक्ति रहित प्रवृत्ति होती है, आसक्ति आदि से अज्ञ का यथेष्टाचार होता है। इससे देह सम्बन्ध से ही अनुज्ञा और परिहार ज्योति आदि के समान होता है। ज्योति (तेज) के एक होते भी क्रव्याद (मांसाशी) श्मशानाग्नि को त्यागा जाता है। अन्य को नहीं। एक ही सूर्य का अपवित्र देश सम्बन्धी प्रकाश त्यागा जाता है। शुचिभूमि में वर्तमान अन्य नहीं। जैसे भूमि के ही अवयव हीरा वैडूर्यमणि आदि गृहीत होते हैं, भूमि के अवयव होते भी मृतमानव देहादि नहीं गृहीत होते हैं। उल्टे त्यागे जाते हैं। जैसे गौ के मुत्रपुरीष पवित्रता से परिगृहीत होते हैं, अन्य जाति में वही त्यागे जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

स्यातां नामानुज्ञापरिहारावेकस्याप्यात्मनो देहविशेषयोगात्। यस्त्वयं कर्मफलसम्बन्धः स चैकात्म्याभ्युपगमे व्यतिकीर्येत स्वाम्यैकत्वादिति चेत्। नैतदेवम्। असन्ततेः। नहि कर्तुर्भोक्तुश्चात्मनः सन्ततः सर्वैः शरीरैः सम्बन्धोऽस्ति। उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्। उपाध्यसन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तानः। ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ॥ ४९ ॥

शंका होती है कि देहविशेष के योग (सम्बन्ध) से, आत्मा के एक होते भी उस सम्बन्ध के भेद से ही अनुज्ञा परिहार हो सकते हैं, स्थूलदेह के धर्मों का आत्मा में अध्यास से विधि निषेध का विषय आत्मा भास सकता है। तो भी जो यह कर्मफल का सम्बन्ध रूप भोग है, वह आत्मा के एक होने पर व्यतिकीर्ण (संकीर्ण) हो जायगा, क्योंकि स्वामी रूप शरीर आदि से आविष्ट आत्मा एक है, उसीको भोग होना है। इससे भोक्ता का भेद मानना चाहिये। ऐसी शंका होने पर कहते हैं, कि सर्वथा शुद्धात्मा कर्ता भोक्ता नहीं है, स्थूल से भिन्न सूक्ष्म बुद्धि आदि विशिष्ट ही आत्मा कर्ता

भोक्ता है, और उस आत्मा की असन्तति (सब शरीर में अव्याप्ति) से प्रत्येक शरीर में भिन्नता से इस प्रकार का यह भोग का सांकर्य रूप दोष नहीं है। कर्ता भोक्ता आत्मा का सब शरीरों के साथ सन्तत (नित्य-निरन्तर) सम्बन्ध नहीं है। जिससे उपाधि के अधीन कर्ता भोक्ता जीव है, यह कहा जा चुका है। उपाधि के असन्तान (असंतति विच्छेद) से सर्वत्र जीव का संतान (सम्बन्ध) नहीं है। उससे कर्म का व्यतिकर वा फल का व्यतिकर (सांकर्य) नहीं होगा ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥ ५० ॥

आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात्। नापि वस्त्वन्तरम्। अतश्च यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः। एवमप्यव्यतिकर एव कर्मफलयोः। आभासस्य चाविद्याकृतत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति, तद्व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः। येषां तु बहव आत्मानस्ते च सर्वे सर्वगतास्तेषामेवैष व्यतिकरः प्राप्नोति। कथम्? बहवो विभवश्चात्मानश्चैतन्यमात्रस्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च तदर्थं साधारणं प्रधानं तन्निमित्तैषां भोगापवर्गसिद्धिरिति सांख्याः। सति बहुत्वे विभुत्वे च घटकुड्यादिसमाना द्रव्यमात्रस्वरूपाः स्वतोऽचेतना आत्मानस्तदुपकरणानि चाणूनि मनांस्यचेतनानि। तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां च संयोगान्नवेच्छादयो वैशेषिका आत्मगुणा उत्पद्यन्ते। ते चाव्यतिकरेण प्रत्येकमात्मसु समवयन्ति स संसारः। तेषां नवानामात्मगुणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति काणादाः। तत्र सांख्यानां तावच्चैतन्यस्वरूपत्वात्सर्वात्मनां संनिधानाद्यविशेषाच्चैकस्य सुखदुःखसम्बन्धे सर्वेषां सुखदुःखसंबन्धः प्राप्नोति। स्यादेतत्। प्रधानप्रवृत्तेः पुरुषकैवल्यार्थत्वाद् व्यवस्था भविष्यति। अन्यथा हि स्वविभूतिख्यापनार्था प्रधानप्रवृत्तिः स्यात्। तथा चानिर्मोक्षः प्रसज्येतेति। नैतत्सारम्। नह्यभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम्, उपपत्त्या तु कयाचिद् व्यवस्थोच्येत। असत्यां पुनरुपपत्तौ कामं मा भूदभिलषितं पुरुषकैवल्यं, प्राप्नोति तु व्यवस्थाहेत्वभावाद् व्यतिकरः। काणादानामपि यदैकेनात्मना मनः संयुज्यते तदात्मान्तरैरपि नान्तरीयकः संयोगः स्यात्संनिधानाद्यविशेषात्। ततश्च हेत्वविशेषात्फलाविशेष इत्येकस्यात्मनः सुखदुःखयोगे सर्वात्मनामपि समानं सुखदुःखित्वं प्रसज्येत ॥ ५० ॥

वस्तुतः (रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव) इत्यादि श्रुति के अनुसार जलगत सूर्य के प्रतिबिम्बादि के समान परमात्मा का बुद्धि आदि में आभास (दीप्ति परमात्मा की

अभिव्यक्ति) रूप प्रतिबिम्ब ही जीव समझने योग्य है । अनुपहित साक्षात् वह परमात्मा ही व्यावहारिक जीव नहीं है । न सर्वथा उससे भिन्न वस्त्वन्तर रूप जीव है । इससे जैसे एक जलगत सूर्य के प्रतिबिम्बित के कांपने से, दूसरा जलगत सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं कांपता है, इसी प्रकार एक जीव के कर्मफल सम्बन्धी होने से अन्य जीव को उसी फल का सम्बन्ध नहीं होता है । इस प्रकार भी कर्म और फल का अव्यतिकर ही है । आभास के अविद्याकृत (औपाधिक) होने से तदाश्रित संसार को भी अविद्याकृतत्व की उपपत्ति (सिद्ध) है । इसमें उस अविद्या के विशेष द्वारा पारमार्थिक ब्रह्मात्मभाव का उपदेश की उपपत्ति होती है जिनके मत में बहुत आत्मा है । सब आत्मा सर्वगत है । उनके ही मत में यह कर्म और फल का व्यतिकर प्राप्त होता है । क्योंकि विभु-चैतन्यमात्र स्वरूप वाले निर्गुण निरतिशय बहुत आत्माएँ हैं । उन सब के लिए प्रधान साधारण है । उस प्रधान निमित्तक ही उन आत्मा के भोग और अपवर्ग की सिद्धि होती है । इस प्रकार सांख्यवादी मानते हैं । बहुत्व विभुत्व के होते भी घट कुड्य आदि के समान (जड़) द्रव्यमात्र स्वरूप वाले स्वतः (स्वरूप से) अचेतन आत्मायें हैं । उनके उपकरण (साधन) अणुस्वरूप अचेतन मन हैं । वहाँ आत्मस्वरूप द्रव्यों के और मन स्वरूप द्रव्यों के संयोग से, इच्छा, बुद्धि, सुख, दुःख, द्वेष,प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना (संस्कार) रूप नवसंख्यक इच्छादि आत्मा विशेष (असाधारण-) गुण उत्पन्न होते हैं, और वे गुण अव्यतिकर (असांकर्य) पूर्वक प्रत्येक आत्माओं में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, वहीं संस्कार है । उन नवों आत्मगुणों की अत्यन्त अनुत्पत्ति मोक्ष है । इस प्रकार कणादऋषि के अनुयायी कहते हैं । तहाँ प्रथम सांख्यों के मत में सब आत्माओं के चैतन्य स्वरूपत्व से और सन्निधानादि के अविशेष से एक के सुख-दुःख सम्बन्ध होने पर सबको सुख-दुःख का सम्बन्ध प्राप्त होता है सांख्यवादी शंका करते हैं कि यह महापुरुषों को प्रधानादि के साथ सान्निध्य आदि के अविशेष हो, तो भी प्रधान की प्रवृत्ति के पुरुष के कैवल्यार्थक होने से व्यवस्था होगी । अर्थात् प्रधान ही नियम पूर्वक तत्तत् पुरुषों को भोग देकर मुक्त करेगी इससे व्यतिकर नहीं होगा । अन्यथा (ऐसा नियम नहीं करने पर) अपनी विभूति के ख्यापनार्थक प्रधान की प्रवृत्ति सिद्ध होगी, और इस प्रकार अनिर्मोक्ष की प्राप्ति होगी । परन्तु यह सांख्यों का कथन सार (सत्य) नहीं है । क्योंकि जड़ प्रधान की अचेतनता आदि होते भी अपने अभिलषित की सिद्धि निमित्तक व्यवस्था नहीं समझी जा सकती है, किसी उपपत्ति(वृत्ति) से तो कहना चाहिये, और कही जा सकती है । उपपत्ति के नहीं रहने पर अभिलषित पुरुष का कैवल्य यथेष्ट नहीं हो सकता है । व्यवस्था के हेतु के अभाव से व्यतिकर भी प्राप्त होता है । काणादों के मत में भी जब एक आत्मा के साथ एक मन संयुक्त होता है, तब आत्मान्तरों के साथ भी उस मन का नान्तरीयक (अवश्य) संयोग होगा । क्योंकि सन्निधानादि सब के साथ तुल्य है । इससे मन के संयोग रूप हेतु के अविशेष होने से सुख-दुःखादि रूप फल भी सब आत्माओं को अविशेष (तुल्य) ही होगा । इस

प्रकार एक आत्मा के साथ सुख-दुःख के योग (सम्बन्ध) होने पर सब आत्माओं को भी तुल्य ही सुखित्व दुःखित्व प्राप्त होगा ॥ ५० ॥

स्यादेतत्, अदृष्टनिमित्तो नियमो भविष्यतीति, नेत्याह—

शङ्का होती है कि यह मन का संयोग सर्वात्म साधारण हो, परन्तु अदृष्ट निमित्तक सुख दुःखादि का नियम होगा। यहां कहते हैं कि ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि—

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

बहुष्वात्मस्वाकाशवत्सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण संनिहितेषु मनोवाक्कायैर्धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपार्ज्यते। सांख्यानां तावत्तदनात्मसमवायिप्रधानवर्तिप्रधानसाधारण्यान्न प्रत्यात्मं सुखदुःखोपभोगस्य नियामकमुपपद्यते। काणादानामपि पूर्ववत्साधारणेनात्ममनःसंयोगेन निर्वर्तितस्यादृष्टस्याप्यस्यैवात्मन इदमदृष्टमिति नियमे हेत्वभावादेष एव दोषः ॥ ५१ ॥

आकाश के सम सर्वगत बहुत आत्माओं के प्रत्येक शरीर में बाहर भीतर भेद के बिना तुल्य रूप से सन्निहित (संबद्ध) रहते मन वाक् और शरीर द्वारा अदृष्ट (धर्माधर्म) उपार्जित होता है। धर्माधर्म स्वरूप अदृष्ट सब आत्माओं की तुल्य वर्तमानता रहते ही उपार्जित किया जाता है। सांख्यों के मत में वह अदृष्ट आत्मा में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है, इससे अनात्मा में समवायि है। अर्थात् प्रधान के कार्य रूप बुद्धि में वर्तमान होने से वह अदृष्ट प्रधानवर्ति (प्रधान में रहने वाला) होता है। प्रधान की सब आत्माओं के प्रति साधारणता से प्रत्येक आत्माओं के सुख दुःख के उपभोग का वह नियामक नहीं उपपन्न हो सकता है। काणादों के मत में भी पूर्ववर्णित मन का संयोग के समान साधारण आत्मा और मन के संयोग से सिद्ध अदृष्ट के विषय में भी यह इसी आत्मा का अदृष्ट है इस प्रकार के नियम में हेतु के अभाव से व्यवस्था का अभाव रूप यह दोष है ही ॥ ५१ ॥

स्यादेतत्, अहमिदं फलं प्राप्नवानीदं परिहराणीत्थं प्रयतं इत्थं करवाणीत्येवंविधा अभिसंध्यादयः प्रत्यात्मं प्रवर्तमाना अदृष्टस्यात्मनां च स्वस्वामिभावं नियंस्यन्तीति, नेत्याह—

शंका होती है कि यह अदृष्ट साधारण हो, परन्तु रागद्वेषादि से नियम होगा, क्योंकि मैं इस फल को प्राप्त करूँगा ! इस अनिष्ट का परिहार त्याग नाश करूँगा। (इत्थं प्रयते) इस प्रकार प्रयत्न करूँगा, इस प्रकार करूँगा। इस प्रकार के जो अभिसन्धि (चिन्तन संकल्प) आदि प्रत्येक आत्मा में वर्तमान हैं, वे ही अदृष्ट आत्माओं के स्वस्वामीभाव का नियम करेंगे। वहां कहते हैं कि ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि—

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

अभिसन्ध्यादीनामपि साधारणेनैवात्ममनःसंयोगेन सर्वात्मसंनिधौ क्रियमाणानां नियमहेतुत्वानुपपत्तेरुक्तदोषानुषङ्ग एव ॥ ५२ ॥

साधारण आत्ममनःसंयोग से ही सब आत्माओं के सन्निधि में किये गये अभिसन्धि आदि को भी नियम हेतुत्व की अनुपपत्ति से उक्त अनियम रूप दोष का अनुषङ्ग (सम्बन्ध) है ही ॥ ५२ ॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥

अथोच्येत—विभुत्वेऽप्यात्मनः शरीरप्रतिष्ठेन मनसा संयोगः शरीरावच्छिन्न एवात्मप्रदेशे भविष्यति, अतः प्रदेशकृता व्यवस्थाऽभिसंध्यादीनामदृष्टस्य सुखदुःखयोश्च भविष्यतीति। तदपि नोपपद्यते। कस्मात्? अन्तर्भावात् विभुत्वाविशेषाद्धि सर्व एवात्मानः सर्वशरीरेष्वन्तर्भवन्ति। तत्र न वैशेषिकैः शरीरावच्छिन्नोऽप्यात्मनः प्रदेशः कल्पयितुं शक्यः। कल्प्यमानोऽप्ययं निष्प्रदेशस्यात्मनः प्रदेशः काल्पनिकत्वादेव न पारमार्थिकं कार्यं नियन्तुं शक्नोति। शरीरमपि सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानमस्यैवात्मनो नेतरेषामिति न नियन्तुं शक्यम्। प्रदेशविशेषाभ्युपगमेऽपि च द्वयोरात्मनोः समानसुखदुःखभाजोः कदाचिदेकेनैव तावच्छरीरेणोपभोगसिद्धिः स्यात्। समानंप्रदेशस्यापि द्वयोरात्मनोरदृष्टस्य सम्भवात्। तथाहि—देवदत्तो यस्मिन्प्रदेशे सुखदुःखमन्वभूत्तस्मात्प्रदेशादपक्रान्ते तच्छरीरे यज्ञदत्तशरीरे च तं प्रदेशमनुप्राप्ते तस्यापीतरेण समानः सुखदुःखानुभवो दृश्यते स न स्याद्यदि देवदत्तयज्ञदत्तयोः समानप्रदेशमदृष्टं न स्यात्। स्वर्गाद्यनुपभोगप्रसङ्गश्च प्रदेशवादिनः स्यात्। ब्राह्मणादिशरीरप्रदेशेष्वदृष्टनिष्पत्तेः प्रदेशान्तरवर्तित्वाच्च स्वर्गाद्युपभोगस्य। सर्वगतत्वानुपपत्तिश्च बहूनामात्मनां, दृष्टान्ताभावात्। वद तावत्त्वं के बहवः समानप्रदेशाश्चेति। रूपादय इति चेत्। न। तेषामपि धर्म्यंशेनाभेदाल्लक्षणभेदाच्च। न तु बहूनामात्मनां लक्षणभेदोऽस्ति। अन्त्यविशेषवशाद् भेदोपपत्तिरिति चेत्। न। भेदकल्पनाया अन्त्यविशेषकल्पनायाश्चेतरेतराश्रयत्वात्। आकाशादीनामपि विभुत्वं ब्रह्मवादिनोऽसिद्धं कार्यत्वाभ्युपगमात्। तस्मादात्मैकत्वपक्ष एव सर्वदोषाभाव इति सिद्धम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

यदि विभु अनन्त आत्मवादी कहें कि आत्मा से विभुत्व होते भी शरीर में प्रतिष्ठित स्थिर मन के साथ शरीरावच्छिन्न (शरीरमात्रवृत्ति) आत्मप्रदेश में ही आत्मा का संयोग होगा। इससे प्रदेश कृत, अभिसंध्यादि की अदृष्ट की और सुख दुःख की

व्यवस्था होगी । मन के संयोग युक्त तत्तत् प्रदेशों के अभिसन्धि आदि तत्तदात्माओं के कहायेंगे तो वह भी कहना उपपन्न नहीं हो सकता है । क्योंकि सब आत्माओं का सब शरीरों के अन्तर (मध्य प्रदेश) में भाव (सत्ता) है । जिससे विभुत्व की अविशेषता (तुल्यता) से सब आत्मा सब शरीर के अन्तर में रहते हैं । सब आत्माओं के सब शरीरों में एक रस रहने से जिस निष्प्रदेश (निरवयव) आत्मा में वैशेषिकों से शरीरावच्छिन्न (शरीरपरिमित) आत्मा के प्रदेशों की कल्पना नहीं की जा सकती है । निष्प्रदेश आत्मा के कल्प्यमान (कल्पित) भी प्रदेश काल्पनिकत्व से (मिथ्यात्व से) ही पारमार्थिक कार्य का नियम नहीं कर सकता है । सब आत्माओं के सन्निधि में उत्पन्न होने वाला शरीर भी इस आत्मा ही का है अन्य का नहीं है, इस नियम का विषय नहीं किया जा सकता है, इससे शरीर द्वारा भी भोगादि की व्यवस्था नहीं हो सकती है । प्रदेश विशेष को मानने पर भी समान सुख दुःख के भोक्ता दो आत्मा को भी कभी एक शरीर से ही उपभोग की सिद्धि होगी । क्योंकि समान प्रदेश वाला भी दो आत्माओं के अदृष्टों का सम्भव है । जैसे कि जिस प्रदेश में देवदत्त ने सुख और दुःख का अनुभव किया, उस प्रदेश से उसके शरीर के हट जाने पर और यज्ञदत्त के शरीर के उसी देश में पीछे प्राप्त होने पर उस यज्ञदत्त को भी इतर (देवदत्त) के समान सुख दुःख का अनुभव देखा जाता है वह सुख दुःख का अनुभव नहीं होता, यदि देवदत्त और यज्ञदत्त का समान देश वाला अदृष्ट नहीं होता । इससे आत्मा के भेद से प्रदेश के भेद मानने पर भी प्रदेशों के एक देह में अन्तर्भाव होने से साङ्कर्य की प्राप्ति है । सावयव आत्मवाद की प्राप्ति होती है । आत्मा के प्रदेशवादियों को स्वर्गादि के अनुपभोग की प्राप्ति होती है, क्योंकि ब्राह्मणादि शरीर सम्बन्धी प्रदेश में अदृष्ट की उत्पत्ति है और वह अदृष्ट उसी प्रदेश में अचल स्थिर रहता है । स्वर्गादि के उपभोग को उससे प्रदेशान्तरवर्तित्व होता है । इससे प्रदेश का भेद व्यवस्था का हेतु नहीं है । दृष्टान्त के अभाव से बहुत आत्माओं के सर्वगतत्व की अनुपपत्ति है । प्रथम तुम ही तो कहो कि कौन बहुत पदार्थ समान प्रदेश वाले हैं । यदि कहो कि अनेक रूप रस गन्धादि फलादि में समान देश वाले हैं । तो कहना असत्य है, क्योंकि वे भी समान देशवाले नहीं हैं, क्योंकि फलादि में तेज जल भूमि आदि के अंश हैं । वहाँ उन रूपादिकों को भी अपने धर्मी अंशों के साथ अभेद है । अर्थात् रूप तेजोमात्र स्वरूप है । रस जलमात्र है, और गन्ध भूमिमात्र स्वरूप है । तेज आदि तत्त्व स्वरूप ही फलादि हैं । रूपादि के लक्षणों का भी भेद है । जिससे उनका भेद सिद्ध होता है । बहुत आत्माओं के लक्षण का भेद नहीं है । आत्मता मात्र एक स्वरूप है । इससे आत्मा का भेद असिद्ध है । यदि कहो कि स्वयं व्यावृत्त नित्य द्रव्यमात्र वृत्ति वैशेषिकों से स्वीकृत अन्त्य विशेष पदार्थ के वश से आत्मा के भेद की उपपत्ति होती है इससे भेद के लिए अन्य लक्षण भेद की आवश्यकता नहीं है । विशेषरूप लक्षणभेद से ही आत्मा का भेद सिद्ध होता है । तो वह कहना भी नहीं बन सकता है; क्योंकि भेदकल्पना और विशेषकल्पना को अन्योन्याश्रय प्राप्त होता है । क्योंकि

अनात्मा से भेद ज्ञान के लिए तो अन्त्यविशेष की कल्पना नहीं हो सकती है, आत्मत्व से ही अनात्म भेद सिद्ध है; आत्माओं के परस्पर भेद ज्ञान के लिए भी उसकी कल्पना नहीं हो सकती जिससे आत्मा के भेद असिद्ध है। अभी सर्वसम्मत आत्मभेद नहीं है, इससे आत्मभेद के ज्ञान होने पर आत्माओं में विशेष भेद की सिद्धि होगी। विशेष भेद की सिद्धि होने पर आत्मा में भेद का ज्ञान होगा। यह अन्योन्याश्रय है। यदि आकाश काल दिशा के दृष्टान्त से बहुत विभु आत्मा के समदेश वृत्तित्व विभुत्व कहो, तो आकाशादि के कार्यत्व के अभ्युपगम से ब्रह्मवादी के प्रति आकाशादि के भी विभुत्व असिद्ध है। इससे आत्मा के एकत्व पक्ष में ही सब दोषों का अभाव है। यह सिद्ध हुआ ॥ ५३ ॥

अद्वैतानन्दबोधाय निर्गुणाय निजात्मने।
सत्याय सर्वरूपाय ह्यरूपाय नमोनमः ॥ १ ॥

शारीरकमीमांसाभाष्य के द्वितीय अध्याय का तृतीय पाद समाप्त ॥

द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः

[अत्र पादे लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः]

प्राणोत्पत्त्यधिकरण (१)

किमिन्द्रियाण्यनादीनि सृज्यन्ते वा परात्मनः ।
सृष्टेः प्रागृषिनाम्नैषां सद्भावोक्तेरनादिता ॥
एकबुद्ध्या सर्वबुद्धेर्भौतिकत्वाज्जनिश्रुतेः ।
उत्पद्यन्तेऽथ सद्भावः प्रागवान्तरसृष्टितः ॥ २ ॥

आकाशादि के समान प्राण भी उत्पन्न होते हैं। क्योंकि (एतस्माज्जायते प्राणः) इस परमात्मा से प्राण भी उत्पन्न होता है। इत्यादि श्रुतियाँ साक्षाद् उत्पत्ति को कहने वाली हैं॥ तो भी तैत्तिरीय श्रुति में सृष्टि से प्रथम प्राणों की सत्ता सुनने से संशय होता है कि इन्द्रियाँ अनादि हैं, अथवा परमात्मा से रची जाती हैं। पूर्वपक्ष है कि सृष्टि से पूर्वकाल में इन इन्द्रियों का ऋषि नाम से सद्भाव (वर्तमानता) कहा गया है, इससे इन्द्रियों को अनादिता है। सिद्धान्त है कि एक ब्रह्म के ज्ञान से सब के ज्ञान का श्रवण से, तथा इन्द्रियों में भौतिकत्व (भूत कार्यत्व) के श्रवण से, और जन्म के श्रवण से, इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। और सृष्टि से पूर्वकाल में जो इन्द्रियों के सद्भाव का श्रवण है, वह अवान्तर सृष्टि से पूर्वकालिक सद्भाव विषयक है॥ १-२ ॥

तथा प्राणाः ॥ १ ॥

वियदादिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधस्तृतीयेन पादेन परिहृतः। चतुर्थेनेदानीं प्राणविषयः परिह्रियते। तत्र तावत् 'तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो० ६।२।३) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तैत्ति० २।१।१) इति चैवमादिषूत्पत्तिप्रकरणेषु प्राणानामुत्पत्तिर्नाम्नायते। क्वचिच्चानुत्पत्तिरेवैषामाम्नायते 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७) 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्, तदाहुः के ते ऋषय इति, 'प्राणा वाव ऋषयः' इत्यत्र प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणात्। अन्यत्र तु प्राणानामप्युत्पत्तिः पठ्यते— 'यथाग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इति, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुण्ड० २।१।३) इति, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २।१।८) इति, 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्' (प्र० ६।४) इति चैवमादिप्रदेशेषु। तत्र तत्र श्रुतिविप्रतिषेधादन्यतरनिर्धारणकारणानिरूपणाच्च प्रतिपत्तिः प्राप्नोति। अथवा प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद् गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति प्राप्नोति। अत उत्तरमिदं पठति—'तथा प्राणाः' इति।

आकाशादिविषयक जो श्रुतियों का विरोध था, वह तृतीय पाद से परिहृत (निवारित) हो चुका है। इस समय चतुर्थ पाद से प्राणविषयक श्रुति विरोध का परिहार किया जाता है। इन्द्रियों की उत्पत्ति, संख्या, स्वरूप विषयक श्रुति का जो परस्पर विरोध भासता है, उसका निवारण किया जाता है। वहाँ प्रथम श्रुति कहती है कि (वह सत् ब्रह्म तेज को रचा) (उस ब्रह्मात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि उत्पत्ति प्रकरणों में प्राणों की उत्पत्ति नहीं कही गई है और कहीं प्राणों की अनुत्पत्ति ही कही जाती है कि (यह जगत् प्रथम असत्-अव्याकृत नाम रूप वाला) ही था। वहाँ कोई कहते हैं कि (वह असत् किस स्वरूप का था) उत्तर है कि वे ऋषि उस असत् स्वरूप थे। वहाँ कहते हैं कि ऋषि कौन हैं। उत्तर है कि प्राण ही ऋषि हैं। इस स्थान में उत्पत्ति से प्रथम प्राणों के सद्भाव श्रवण से उत्पत्ति श्रुति के साथ विरोध है, क्योंकि अन्यत्र प्राणों की उत्पत्ति पढ़ी जाती है कि (जैसे प्रज्वलित अग्नि से तुच्छ स्फुलिंग निकलते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण होते हैं। इस आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है, मन उत्पन्न होता है, सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। उस आत्मा से पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक् तथा मन रूप सात इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वह प्राण को रचा प्राण से श्रद्धा आकाश वायु तेज जल पृथिवी इन्द्रिय मन अन्न को रचा) इत्यादि प्रदेशों में उत्पत्ति पढ़ी जाती है। इस प्रकार तत्तत् स्थानों में श्रुतियों के विरोध से, और इन में से अन्यतर (एक पक्ष) के निर्धारण के कारण का अनिरूपण (अदर्शन) से अप्रतिपत्ति (अनिश्चय) प्राप्त होता है। अथवा जगत् की उत्पत्ति से पूर्वकाल में प्राणों के सद्भाव के श्रवण से गौणी प्राणों की उत्पत्ति श्रुति है ऐसा प्राप्त होता है॥ इससे यह उत्तर पढ़ते हैं कि (तथा प्राणाः) इति।

कथं पुनरत्र तथेत्यक्षरानुलोम्यम्, प्रकृतोपमानाभावात्। सर्वगतात्मबहुत्ववादिदूषणमतीतानन्तरपादान्ते प्रकृतं तत्तावन्नोपमानं संभवति, सादृश्याभावात्। सादृश्ये हि सत्युपमानं स्यात्—यथा सिंहस्तथा बलवर्मेति। अदृष्टसाम्यप्रतिपादनार्थमिति यद्युच्येत, यथाऽदृष्टस्य सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानस्यानियतत्वमेवं प्राणानामपि सर्वात्मनः प्रत्यनियतत्वमिति। तदपि देहानियमेनैवोक्तत्वात्पुनरुक्तं भवेत्। न च जीवेन प्राणा उपमीयेरन्सिद्धान्तविरोधात्। जीवस्य ह्यनुत्पत्तिराख्याता, प्राणानां तूत्पत्तिर्व्याचिख्यासिता। तस्मात्तथेत्यसंबद्धमिव प्रतिभाति। न। उदाहरणोपात्तेनाप्युपमानेन सम्बन्धोपपत्तेः। अत्र प्राणोत्पत्तिवादिवाक्यजातमुदाहरणम्—'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवास्सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' (बृ० २।१।२०) इत्येवंजातीयकम्। तत्र यथा लोकादयः परस्माद् ब्रह्मण उत्पद्यन्ते तथा प्राणा अपीत्यर्थः। तथा—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ (मुण्ड० २।१।३)

इत्येवमादिष्वपि खादिवत्प्राणानामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् । अथवा 'पानव्यापच्च तद्वत्' (जै० अ० ३।४।१५) इत्येवमादिषु व्यवहितोपमानसम्बन्धस्याप्याश्रितत्वात् । यथाऽतीतानन्तरपादाद्युक्ता वियदादयः परस्य ब्रह्मणो विकाराःसमधिगतास्तथा प्राणा अपि परस्य ब्रह्मणों विकारा इति योजयितव्यम् । कः पुनः प्राणानां विकारत्वे हेतुः ? श्रुतत्वमेव । ननु केषु चित्प्रदेशेषु न प्राणानामुत्पत्तिः श्रूयत इत्युक्तम् । तदयुक्तम् । प्रदेशान्तरेषु श्रवणात्, । नहि क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं निवारयितुमुत्सहते । तस्माच्छ्रुतत्वाविशेषादाकाशादिवत्प्राणा अप्युत्पद्यन्त इति सूक्तम् ॥ १ ॥

यहाँ शंका होती है कि सूत्रगत तथा अक्षर शब्द का आनुलोम्य (आञ्जस्य) उपमेय बोधकत्व कैसे हो सकता है, क्योंकि कोई प्रकृत उपमान नहीं है कि जिसके सदृश उपमेय प्राण का बोध हो सके। भूत अनन्तर पूर्वपाद के अन्त में सर्वगत आत्मबहुत्ववादी का दूषण प्रकृत है, वह प्रथम उपमान नहीं हो सकता है; क्योंकि सदृशता का अभाव है। सादृश्य के रहते ही उपमान होता है कि जैसा सिंह होता है वैसा बलवर्मा है। यदि अदृष्ट के साथ साम्य (सादृश्य) का प्रतिपादन के लिए तथा शब्द को कहो कि जैसे सब आत्माओं के सन्निधि में उत्पन्न होने वाला अदृष्ट को अनियतत्व रहता है, इसी प्रकार प्राणों को भी सब आत्माओं के प्रति अनियतत्व है, तो वह प्राण का अनियतत्व देह के अनियम से ही उक्त होने से पुनरुक्त होगा। सिद्धान्त के विरोध से जीव के साथ प्राण उपमित (सदृश) नहीं हो सकते हैं, जिससे जीव की अनुत्पत्ति कही जा चुकी है और प्राणों की तो उत्पत्ति व्याख्यान की इच्छा का विषय है। जिससे तथा यह पद असंबद्ध के समान प्रतीत होता है। उत्तर है कि असम्बद्ध नहीं है। उदाहरण वाक्य में उपात्त (गृहीत) उपमान के साथ सम्बन्ध की उपपत्ति से यह पद सम्बद्ध हो जाता है। प्राण की उत्पत्ति को कहने वाले वाक्य समूह यहाँ उदाहरण हैं। वह वाक्य (इस आत्मा से सब प्राण सब लोक सब देव सब भूत प्रकट होते हैं) इस प्रकार के हैं, वहाँ जैसे लोकादि परब्रह्म से उत्पन्न होते हैं, वैसे प्राण भी उत्पन्न होता है, यह अर्थ है। इसी प्रकार (इस आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है, और मन सब इन्द्रियाँ, तथा आकाश वायु तेज जल विश्व को धारण करने वाली भूमि सब आत्मा से उत्पन्न होते हैं) इत्यादि वाक्यों में भी आकाशादि के समान प्राणों की उत्पत्ति होती है, यह समझना चाहिये। दार्ष्टान्तिक के पास में दृष्टान्त कहना चाहिए, इस नियम को स्वीकार करके उदाहरणगत दृष्टान्त कहे गये हैं। उस नियम को नहीं मानने पर कहते हैं कि (पान व्यापच्च[1] तद्वत्) इत्यादि स्थानों में व्यवहित उपमान के साथ

१. यहाँ भाव है कि (वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति, यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वरुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्) इस श्रुति से यद्यपि प्रतीत होता है कि जो अश्व का दान लेता है उसको वरुण (जलोदर) रोग होता है, इससे अश्व का

सम्बन्ध को भी आश्रितत्व (स्वीकृत) होने से, जैसे अतीत अनन्तर पाद के आदि में कहे गये आकाशादि परब्रह्म के विकार समधिगत (ज्ञात स्वीकृत) हैं, इसी प्रकार प्राण भी ब्रह्म के विकार हैं। इस प्रकार सूत्र की योजना कर्त्तव्य है। यदि फिर भी जिज्ञासा हो कि प्राणों के विकारत्व के ज्ञान में क्या हेतु है, तो कहा जाता है कि विकार रूप से श्रुतत्व ही हेतु है। यदि कहो कि कितने प्रदेशों में प्राणों की उत्पत्ति नहीं सुनी जाती है, उन प्रदेशों के अनुसार अनुत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाय, तो सो कथन अयुक्त है, गुणोपसंहार न्याय से श्रुत के अनुसार अश्रुत का नयन होता है। प्रदेशान्तर में प्राणों की उत्पत्ति का श्रवण है। कहीं का अश्रवण अन्यत्र श्रुत का निवारण करने के लिए उत्साह नहीं कर सकता है, इससे श्रुतत्व की तुल्यता से आकाशादि के समान प्राण भी उत्पन्न होते हैं यह सुन्दर कहा गया है ॥ १ ॥

गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

यत्पुनरुक्तं—प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद् गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिः—इति। तत्प्रत्याह—गौण्यसम्भवादिति। गौण्या असम्भवो गौण्यसम्भवः। नहि प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी सम्भवति, प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात्। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।३) इति ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्साधनायेदमाम्नायते—'एतस्माज्जायते प्राणः' (मुण्ड० २।१।३) इत्यादि। सा च प्रतिज्ञा प्राणादेः समस्तस्य जगतो ब्रह्मविकारत्वे सति प्रकृतिव्यतिरेकेण विकाराभावात्सिद्ध्यति। गौण्यां तु प्राणानामुत्पत्ति-

---

प्रतिग्रह लेने पर जितने अश्व का प्रतिग्रह ले, उतने चतुष्कपाल में सिद्ध हविष का अग्नि में अर्पण करे, परन्तु वरुणदेव को उद्देश्य करके हविष का अर्पण करे। वहाँ पूर्वमीमांसा में फिर विचार किया गया है कि यह वारुणी इष्टि (याग) दाता को करना चाहिए या ग्रहीता को करना चाहिये, वहाँ ग्रहीता को करना चाहिये यथाश्रुत वचन के अनुसार पूर्वपक्ष करके, आरम्भ में दाता के कीर्तन से दाता को करना चाहिये यह सिद्धान्त होने पर फिर विचार है कि लौकिक अश्वदान जन्य दोष की निवृत्ति के लिये यह इष्टि है, या वैदिक दानजन्य दोष की निवृत्ति के लिये है, वहाँ पूर्वपक्ष है कि लौकिक के लिये है, सिद्धान्त है कि वैदिक के लिये है। इस विचार को करके कहा गया है कि (पानव्यापच्चतद्वत्) सोम पान करने पर यदि, व्यापत्, वमन हो जाय तो (एतं सौमेन्द्रश्यामकं चरुं निर्वपेत्) इस वचन से इष्टि विहित है, वहाँ भी विचार है कि लौकिक सोमपान में इष्टि कर्तव्य है या वैदिक सोमपान में कर्तव्य है। पूर्वपक्ष रूप उक्त सूत्र है कि तद्वत् अश्व प्रतिग्रह इष्टि के पूर्वपक्ष के समान लौकिक सोमपान के वमन में इष्टि कर्तव्य है। वहाँ प्रतिग्रहेष्टि के पूर्वपक्षकैकसूत्रों से व्यवहित हैं, उनका जैसे तद्वत् शब्द के साथ में सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार तथा शब्द को व्यवहित विपदादि के साथ सम्बन्ध होगा, इति संक्षेपः।

श्रुतौ प्रज्ञेयं हीयेत। तथा च प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' (मुण्ड० २।१।१०) इति, 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मुण्ड० २।२।११) इति च! तथा 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इत्येवंजातीयकासु श्रुतिष्वेषैव प्रतिज्ञा योजयितव्या। कथं पुनः प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणम्। नैतन्मूलप्रकृतिविषयम्। 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' (मुण्ड० २।१।२) इति मूलप्रकृतेः प्राणादि-समस्तविशेषरहितत्वावधारणात्। अवान्तरप्रकृतिविषयं त्वेतत्स्वविकारापेक्षं प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावावधारणमिति द्रष्टव्यम्। व्याकृतविषयाणामपि भूयसीनामवस्थानां श्रुतिस्मृत्योः प्रकृतिविकारभावप्रसिद्धेः। वियदधिकरणे हि 'गौण्यसम्भवात्' इति पूर्वपक्षसूत्रत्वाद् गौणी जन्मश्रुतिरसम्भवादिति व्याख्यातम्। प्रतिज्ञाहान्या च तत्र सिद्धान्तोऽभिहितः। इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद्गौण्या जन्म-श्रुतेरसम्भवादिति व्याख्यातम्। तदनुरोधेन त्विहापि गौणी जन्मश्रुतिरसम्भ-वादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानिरुपेक्षिता स्यात् ॥ २ ॥

जो यह कहा था कि उत्पत्ति से पूर्वकाल में प्राण की सत्ता के श्रवण से प्राणों की गौणी उत्पत्ति श्रुति है, उसके प्रति कहते हैं कि (गौणी उत्पत्ति के असम्भव से आका-शादि के समान प्राणों की मुख्य ही उत्पत्ति होती है। गौणी के असम्भव को गौण्य-सम्भव कहते हैं। प्राणों की गौणी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि गौणी उत्पत्ति होने पर प्रतिज्ञा की हानि का प्रसंग होगा (हे भगवन्! किसके विज्ञात होने से यह सब जगत् विज्ञात होता है)। इस प्रकार एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की प्रतिज्ञा करके उस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए यह कहा जाता है कि (इससे प्राण उत्पन्न होता है)। वहाँ प्राणादि समस्त जगत् के ब्रह्मविकारत्व होने पर प्रकृति से भिन्नत्व रूप से विकारों के अभाव सें वह प्रतिज्ञा सिद्ध होती है। प्राणों की गौणी उत्पत्ति श्रुति होने पर यह प्रतिज्ञा नष्ट हो जायगी। प्रतिज्ञा के अनुसार ही श्रुति प्रतिज्ञात अर्थ का उपसंहार करती है कि (पुरुष इस सब कर्म, तप, ब्रह्म और पर अमृत है। यह सब वरिष्ठ ब्रह्म ही है)। इसी प्रकार (अरे मैत्रेयि! आत्मा ही के दर्शन श्रवण मनन विज्ञान से यह सब विदित होता है) इस प्रकार की श्रुतियों में यही प्रतिज्ञा योजना के योग्य है, इससे प्रतिज्ञा विषयक गौणत्व की शंका नहीं हो सकती क्योंकि उपक्रमोपसंहारादि से प्रतिज्ञा मुख्य है, इससे प्राणोत्पत्ति भी मुख्य है। यदि कहो कि ऐसा होने पर उत्पत्ति से पूर्वकाल में प्राणों के सद्भाव का श्रवण कैसे है, तो कहा जाता है कि यह श्रवण मूलप्रकृति विषयक महाप्रलय कालिक ही है क्योंकि (परसे भी पर-ब्रह्मात्मा प्राण मन से रहित शुद्ध है) इस प्रकार मूलप्रकृति को प्राणादि समस्त विशेषों से रहितत्व का अवधारण किया गया है। इससे उत्पत्ति से पूर्वकालिक इस प्राणों के सद्भाव का अवधारण को स्वविकारापेक्ष पूर्वावृत्ति विषयक और अनन्तर प्रकृति विषयक समझना चाहिये। अर्थात् अवान्तर प्रलयकालिक हिरण्यगर्भ

नामक अवान्तर प्रकृतिरूप प्राण के सद्भाव विषयक यह श्रुति है। जिससे व्याकृत विषय वाले भी बहुत अवस्थाओं के प्रकृति विकारभाव की प्रसिद्धि (हिरण्यगर्भः समवर्ततांग्रे । आदिकर्ता स भूतानाम्) इत्यादि श्रुति स्मृति में वर्तमान है। इससे अवान्तर प्रकृति विषयक श्रुति हो सकती है। वियत् अधिकरण में (गौण्यसम्भवात्) इस प्रकार के पूर्वपक्ष रूप सूत्र होने से उसका व्याख्यान किया गया है कि मुख्य जन्म के असम्भव से आकाश की जन्मश्रुति गौणी है। प्रतिज्ञा की हानि द्वारा वहाँ सिद्धान्त कहा गया है। यहाँ तो सिद्धान्त सूत्रत्व के कारण, गौणी जन्मश्रुति के असम्भव से मुख्य जन्म है ऐसा व्याख्यान किया गया है। उसके अनुसार से यहां भी (गौणी जन्म श्रुति है, असम्भव से) इस प्रकार व्याख्यान करने वालों से प्रतिज्ञा हानि उपेक्षित होगी। अर्थात् प्रतिज्ञा हानि का निवारण नहीं किया जा सकेगा। इससे यहां वैसा व्याख्यान उचित नहीं है ॥ २ ॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

इतश्चाकाशादीनामिव प्राणानामपि मुख्यैव जन्मश्रुतिः। यज्जायत इत्येकं जन्मवाचिपदं प्राणेषु प्राक्श्रुतं सदुत्तरेष्वप्याकाशादिष्वनुवर्तते । 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २।१।३) इत्यत्राकाशादिषु मुख्यं जन्मेति प्रतिष्ठापितं तत्सामान्यात्प्राणेष्वपि मुख्यमेव जन्म भवितुमर्हति। नह्येकस्मिन्प्रकरण एकस्मिश्च वाक्य एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः सम्बध्यमानः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद्गौण इत्यध्यवसातुं शक्यम्। वैरूप्यप्रसङ्गात्। तथा 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्रश्न० ६।४) इत्यत्रापि प्राणेषु श्रुतः सृजतिः परेष्वप्युत्पत्तिमत्सु श्रद्धादिष्वनुषज्यते। यत्रापि पश्चाच्छ्रुत उत्पत्तिवचनः शब्दः पूर्वैः सम्बध्यते तत्राप्येष एव न्यायः। यथा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' इत्ययमन्ते पठितो व्युच्चरन्तिशब्दः पूर्वैरपि प्राणादिभिः सम्बध्यते ॥ ३ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी आकाशादि के समान प्राणादि का भी मुख्य ही जन्मश्रुति है कि जिससे जायते (उत्पन्न होता है) यह एकही जन्म वाचक पद प्राणादि विषयक पूर्व सुना गया हुआ, उत्तर आकाशादि में वही पद अनुवृत्त (सम्बद्ध) होता है। (इससे प्राण उत्पन्न होता है) इस श्रुति में आकाशादि विषयक जन्म श्रवण को मुख्य जन्मविषयकत्व निश्चित किया जा चुका है, जिसकी समानता से प्राणों में भी मुख्य ही जन्म होने योग्य है। एक प्रकरण में एक वाक्य में एक बार पठित एक शब्द बहुतों के साथ सम्बन्ध वाला होता हुआ कहीं मुख्य और कहीं गौण होता है ऐसा निश्चय नहीं कर सकते हैं क्योंकि इस प्रकार विरूपता (विरुद्ध स्वरूपता) का प्रसंग होता है। इसी प्रकार (वह प्राण को सिरजा, प्राण से श्रद्धा को सिरजा) यहां प्राणों में श्रुत सृजति पद उत्तर के भी उत्पत्ति वाले श्रद्धा आदिकों में सम्बन्ध वाला होता है। जहां पश्चात् श्रुत भी उत्पत्ति वाचक शब्द पूर्व पठितों के साथ सम्बद्ध होता है, वहाँ भी यही न्याय

है। जैसे (सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति) सब प्राणी व्यक्त होते हैं। यहाँ यह अन्त में पढ़ा हुआ व्युच्चरन्ति शब्द पूर्वगठित प्रणाली के साथ भी सम्बन्ध वाला होता है ॥३॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येतस्मिन्प्रकरणे प्राणानामुत्पत्तिर्न पठ्यते, तेजोबन्नानामेव च त्रयाणां भूतानामुत्पत्तिश्रवणात्। तथापि ब्रह्मप्रकृतिकतेजोबन्नपूर्वकत्वाभिधानाद्वाक्प्राणमनसां तत्सामान्याच्च सर्वेषामेव प्राणानां ब्रह्मप्रभवत्वं सिद्धं भवति। तथाहि—अस्मिन्नेव प्रकरणे तेजोबन्नपूर्वकत्वं वाक्प्राणमनसामाम्नायते--'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इति। तत्र यदि तावन्मुख्यमेवैषामन्नादिमयत्वं ततो वर्तत एव ब्रह्मप्रभवत्वम्। अथ भाक्तं तथापि ब्रह्मकर्तृकायां नामरूपव्याक्रियायां श्रवणात् 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।३) इति चोपक्रमात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) इति चोपसंहाराच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धेश्च ब्रह्मकार्यत्वप्रपञ्चनार्थमेव मन आदीनामन्नादिमयत्ववचनमिति गम्यते। तस्मादपि प्राणानां ब्रह्मविकारत्वसिद्धिः ॥४॥

यद्यपि (उस सत् ब्रह्म ने तेज की सृष्टि की) इस प्रकरण में तेज, जल और अन्न इन तीन भूतों की ही उत्पत्ति के श्रवण से प्राणों की उत्पत्ति नहीं पढ़ी गई है, ऐसी प्रतीति होती है। तथापि वाक्, प्राण और मन को ब्रह्मप्रकृतिक (ब्रह्मजन्य) तेज, जल, अन्न-पूर्वकत्व (तेज, जल, अन्न जन्यत्व) के कथन से और अन्य इन्द्रियों में इन्द्रियत्वरूप से वाक् आदि के साथ समानता से सभी प्राणों (इन्द्रियों) को ब्रह्मप्रभवत्व (ब्रह्मजन्यत्व) सिद्ध होता है (अर्थात् सूत्रगत वाक् शब्द प्राण और मन का भी उपलक्षणरूप से बोधक है, इससे वाक् प्राण और मन के तेज आदि जन्यत्व का कथन ही करणत्व रूप सामान्यता से सब इन्द्रियों के ब्रह्मजन्यत्व का बोधक है। जैसे कि इसी तेज आदि की सृष्टि प्रकरण में तेज, जल और अन्नपूर्वकत्व (जन्यत्व) वाक्, प्राण और मन का श्रुति में कहा जाता है कि (हे सोम्य अन्नमय ही मन है, जलमय प्राण है, तेजोमयी वाक् है।) वहाँ यदि ये अन्नादिमयत्व मुख्य हैं, अर्थात् विकारार्थक मयट् प्रत्यय यदि मुख्यार्थक है, तब तो मन आदि सब इन्द्रियों और प्राणों में ब्रह्मजन्यत्व है ही। क्योंकि तेज आदि ब्रह्मजन्य हैं, और तेज आदि से इन्द्रियजन्य है, इससे परम्परा से ब्रह्मजन्य हैं ही। यदि वायुरूप प्राण को जलविकारत्व की अयुक्तता से जल के अधीन प्राण की शरीर में स्थितिमात्र से (आपोमयः प्राणः) जलमय प्राण है इत्यादि भाक्त (गौण) पद हों, तो भी ब्रह्मकर्तृक (ब्रह्मजन्य) नामरूप से व्याकरण (सृष्टि) के प्रकरण में आपोमयादि के श्रवण से, और (जिसके सुनने से अश्रुत भी श्रुत होता है) इस उपक्रम से, और (यह सब जगत् इस ब्रह्म का स्वरूप है) इस उपसंहार से, तथा (स प्राणमसृजत) उसने प्राण को रचा, इस प्रकार

दूसरी श्रुति में स्पष्ट प्राणोत्पत्ति की प्रसिद्धि से, समझा जाता है कि ब्रह्म कार्य को विस्तारपूर्वक समझाने ही के लिए मन आदि के अन्नमयत्वादि का कथन है, इससे भी प्राणों के ब्रह्मविकारत्व की सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

सप्तगत्यधिकरण (२)

सप्तैकादश वाऽक्षाणि सप्त प्राणा इति श्रुतेः ।
सप्त स्युर्मूर्धनिष्ठेषु छिद्रेषु च विशेषणात् ।
अशीर्षण्यस्य हस्तादेरपि वेदे समीरणात् ।
ज्ञेयान्येकादशाक्षाणि तत्तत्कार्यानुसारत: ॥

(सप्त वै शीर्षण्याः) इस प्रकार विशेषितत्व (विशेष कथितत्व) से सात इन्द्रियों की गति (अवगति ज्ञान) होता है. इससे इन्द्रियाँ सात ही हैं, यह पूर्वपक्ष रूप सूत्र है। संशय है कि अक्ष (इन्द्रिय) सात हैं वा ग्यारह हैं। पूर्वपक्ष है कि (सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्) उस ब्रह्म से सात प्राण होते हैं। इस श्रुति से और शिर में रहने वाले गोलकों में विशेषण (वृत्तित्व कथन) से सात इन्द्रियाँ होंगी। शिर में नहीं रहने वाले हाथ आदि का भी वेद में कथन से और ग्रहण, गमनादि तथा दर्शन, श्रवणादि तत्तत् कार्यों के अनुसार ग्यारह इन्द्रियाँ समझनी चाहिए ॥ १–२ ॥

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

उत्पत्तिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधः प्राणानां परिहृतः। संख्याविषय इदानीं परिह्रियते। तत्र मुख्यं प्राणमुपरिष्टाद्वक्ष्यति। संप्रति तु कतीतरे प्राणा इति संप्रधारयति। श्रुतिविप्रतिपत्तेश्चात्र विशयः। क्वचित्सप्त प्राणाः सङ्कीर्त्यन्ते- 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मुण्ड० २।१।८) इति। क्वचिच्चाष्टौ प्राणा ग्रहत्वेन गुणेन सङ्कीर्त्यन्ते—'अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः' (बृ० ३।२।१) इति। क्वचिन्नव--'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' (तै० सं० ५।१।७।१) इति। क्वचिद्दश--नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इति। क्वचिदेकादश–'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३।९।४) इति। क्वचिद् द्वादश—'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्' (बृ० २।४।११) इत्यत्र। क्वचित्त्रयोदश 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' (बृ० ४।८) इत्यत्र।एवं हि विप्रतिपन्नाः प्राणेयत्तां प्रति श्रुतयः। किं तावत्प्राप्तम्? सप्तैव प्राणा इति। कुतः? गतेः। यतस्तावन्तोऽवगम्यन्ते— सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात्' (मुण्ड० २।१।८) इत्येवंविधासु श्रुतिषु। विशेषिताश्चैते 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इत्यत्र। ननु 'प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' (मुण्ड० २।१।८) इति वीप्सा श्रूयते, सा सप्तभ्योऽतिरिक्तान्प्राणान्गमयतीति। नैष दोषः। पुरुषभेदाभिप्रायेयं वीप्सा प्रतिपुरुषं सप्त सप्त प्राणा इति। न तत्त्वभेदाभिप्राया सप्त सप्तान्येऽन्ये प्राणा इति। नन्वष्टत्वादिकापि संख्या प्राणेषूदाहृता कथं सप्तैव स्युः। सत्यमुदाहृता। विरोधात्त्वन्यतमा संख्या-

ध्यवसातव्या। तत्र स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तसंख्याध्यवसानम्। वृत्तिभेदापेक्षं च संख्यान्तरश्रवणमिति मन्यते ॥ ५ ॥

प्राणों की उत्पत्तिविषयक श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया है। संख्या विषयक विरोध का इस समय परिहार किया जाता है। उनमें मुख्य प्राण को सूत्रकार आगे कहेंगे। इस समय मुख्य प्राण से अन्य प्राण (इन्द्रियाँ) कितने हैं, इस अर्थ का संप्रधारण (निश्चय-निर्णय) करते हैं। श्रुति के विरोध से यहाँ विशय (संशय) है। कहीं सात प्राण कहे जाते हैं कि (उस पुरुष से सात प्राण होते हैं) और कहीं आठ प्राण ग्रहत्व (बन्धकत्व) गुण युक्त कहे जाते हैं कि (आठ इन्द्रिय ग्रह हैं, और उनके आठ विषय, आठ अतिग्रह हैं) और कहीं नव कहे जाते हैं कि (सात सिर में रहने वाले प्राण हैं, और दो नीचे के हैं) और कहीं दश कहे जाते हैं कि (दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिका और वाक् ये सात शिर वाले और गुदा, लिङ्ग ये नव पुरुष में प्राण हैं, और नाभि दशमी है) कहीं ग्यारह कहे जाते हैं कि (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय रूप से दश पुरुष में प्राण हैं और आत्मा (मन) ग्यारवाँ है।) कहीं बारह कहे जाते हैं (सब स्पर्शों का त्वक् एक आश्रय है) इस स्थान में बुद्धिसहित उक्त ग्यारह को प्राण (इन्द्रिय) कहे गये हैं। कहीं तेरह कहे गये हैं। (चक्षुश्च द्रष्टव्यं च) इस स्थान में अहंकार सहित उक्त द्वादश को इन्द्रिय कहा गया है। इस प्रकार से प्राणों की इयत्ता (संख्याकृत परिमाण) के प्रति श्रुतियाँ विप्रतिपन्न (परस्पर विरुद्ध) हैं। यहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसा परामर्श होने पर पूर्वपक्ष होता है कि सात हीं प्राण हैं, ऐसा प्राप्त होता है। क्योंकि सबसे प्रथम श्रुति में सात संख्या की गति (अवगति) होती है। जिससे (उस पुरुष में सात प्राण होते हैं) इस प्रकार की श्रुतियों में तावान् (सात) प्राण अवगत (प्रतीत) होते हैं। (सात शीर्षण्य प्राण हैं) इस श्रुति में ये सात प्राण विशेषित हैं कि जो शीर्षण्य सात हैं, वही प्राण है। इससे अवगति और विशेषितत्व रूप हेतु से शिरवृत्ति ही सात प्राण हैं, जो शिरवृत्ति नहीं हैं, वे प्राण नहीं हैं। यद्यपि (सब प्राणी के शरीर वा हृदयरूप गुहा में सुषुप्तिकाल में शयन करने वाले अपने-अपने स्थानों में निहित (स्थापित) प्राण सात-सात हैं। इस वीप्सा की श्रुति होती है, और वह वीप्सा सात से अतिरिक्त (अधिक) प्राण का बोध कराती है। तथापि यह दोष नहीं है, जिससे पुरुषभेद के अभिप्राय से यह वीप्सा है कि प्रत्येक पुरुष (प्राणी) में सात-सात प्राण हैं। तत्त्व (वस्तु) के भेद के अभिप्राय से वीप्सा नहीं है कि सात'सात अन्य अन्य-अन्य प्राण हैं। शंका होती है कि प्राणवृत्ति अष्टत्व आदि संख्या भी उदाहृत (कथित) हो चुकी है, फिर सप्त ही संख्या कैसे निश्चित हो सकती है। तो उत्तर है कि अष्टत्वादि संख्या उदाहृत हुई है, यह बात सत्य है, तथापि परस्पर विरोध से इनमें से अन्यतम (कोई एक) संख्या निश्चित कर्तव्य है, यहाँ स्तोक (अल्प) कल्पना के अनुसार से सात संख्या का निश्चय है। सात की ही वृत्तिभेद की

अपेक्षा से उक्त तेरह संख्या तक का श्रवण है, तथा चित्तरूप वृत्तिभेद से चौदह भी मानने योग्य है। इस प्रकार पूर्वपक्षी मानता है ॥ ५ ॥

अत्रोच्यते—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः श्रूयन्ते—'हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति' (बृ० ३।२।८) इत्येवमाद्यासु श्रुतिषु। स्थिते च सप्तत्वातिरेके सप्तत्वमन्तर्भावाच्छक्यते सम्भावयितुम्। हीनाधिकसंख्याविप्रतिपत्तौ ह्यधिका संख्या संग्राह्या भवति तस्यां हीनान्तर्भवति नतु हीनायामधिका। अतश्च नैवं मन्तव्यं-स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तैव प्राणाः स्युरिति। उत्तरसंख्यानुरोधात्त्वेकादशैव ते प्राणाः स्युः। तथा चोदाहृता श्रुतिः—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३।९।४) इति। आत्मशब्देन चात्रान्तःकरण परिगृह्यते, करणाधिकारात्। नन्वेकादशत्वादप्यधिके द्वादशत्रयोदशत्वे उदाहृते। सत्यमुदाहृते नत्वेकादशभ्यः कार्यजातेभ्योऽधिकं कार्यजातमस्ति यदर्थमधिकं करणं कल्प्येत। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः पञ्च बुद्धिभेदास्तदर्थानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च कर्मभेदास्तदर्थानि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। सर्वार्थविषयं त्रैकाल्यवृत्ति मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्। तदेवं वृत्तिभेदात् क्वचिद्भिन्नवद्व्यपदिश्यते—'मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं च' इति। तथा च श्रुतिः कामाद्या नानाविधा वृत्तीरनुक्रम्याह—'एतत्सर्वं मन एव' (बृ०१।५।३) इति।

यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि—

हस्त (कर) आदिक भी सात से अन्य अतिरिक्त (अधिक) प्राण सुने जाते हैं। कि (हस्त ही ग्रह है, वह आदान (ग्रहण) रूप कर्मात्मक अतिग्रह से गृहीत है, जिससे हाथों से कर्म करता है) इत्यादि श्रुतियों में अधिक प्राण सुने जाते हैं। सप्तत्व से अतिरेक (अधिक) संख्या के स्थिर होने पर, उस अधिक संख्या में अल्प के अन्तर्भाव रूप सेस सत्व की सम्भावना कर सकते हैं। न्यून और अधिक संख्या के विरोध होने पर, अधिक संख्या ही संग्राह्य होती है, और न्यून संख्या अन्तर्गत होतीहै। न्यून में अधिक अन्तर्भूत नहीं हो सकती है। इसी से ऐसा नहीं मानना चाहिये कि अल्पकल्पना के अनुसार से सात ही प्राण हो सकते है। किन्तु उत्तर की संख्या के अनुसार ग्यारह ही वे प्राण हो सकते हैं। इसी प्रकार श्रुति उदाहृत हो चुकी है कि (पुरुष में ये दश प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा है) यहाँ करण के प्रकरणसे आत्म शब्द से मन परिगृहीत होता है। यद्यपि एकादशत्व से भी अधिक द्वादशत्व, त्रयोदशत्व (बारह-तेरह) संख्या उदाहृत हुई है, वह सत्य ही उदाहृत हुई है। तथापि बुद्धि, अहंकार और चित्त एक अन्तःकरण के अवस्थाविशेष, वृत्तिविशेष रूप हैं।

श्रवणादि ग्यारह कार्यसमूह (इन्द्रियों के व्यापार समूह) से अधिक कोई कार्य समूह नहीं हैं कि जिनके लिए अधिक करण (इन्द्रिय) की कल्पना की जाय। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनको विषय करने वाले (प्रकाशने वाले) पाँच प्रकार के ज्ञान होते हैं, इससे शब्दादिविषयक पांच ज्ञान के भेद हैं। उनके लिए पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। वचन (कथन), आदान (ग्रहण), विहरण (गमन), उत्सर्ग (मल का त्याग), आनन्द, ये पाँच कर्मों के भेद हैं। उनके लिये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। सर्वार्थविषयक (बाह्य-भीतर सब पदार्थ को विषय करने वाला) तथा त्रैकालिक वस्तु को अनुमानादि द्वारा विषय करने से त्रैकालिक वस्तुविषयक वृत्ति वाला और अनेक वृत्ति वाला एक मन है। वह मन ही वृत्ति के भेद से कहीं भिन्न के समान कहा जाता है, जैसे कि (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, इस चार रूप से एकही मन कहा जाता है। इसी प्रकार श्रुति भी कामादि नाना प्रकार की वृत्तियों का अनुक्रमण (क्रम से कथन) करके कहती है कि ये कामादि सब मन स्वरूप ही हैं।

अपिच सप्तैव शीर्षण्यान्प्राणानभिमन्यमानस्य चत्वार एव प्राणा अभिमताः स्युः। स्थानभेदाद्ध्येते चत्वारः सन्तः सप्त गण्यन्ते 'द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके एका वाक्' इति। नच तावतामेव वृत्तिभेदा इतरे प्राणा इति शक्यते वक्तुम्, हस्तादिवृत्तीनामत्यन्तविजातीयत्वात्। तथा 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इत्यत्रापि देहच्छिद्रभेदाभिप्रायेणैव दश प्राणा उच्यन्ते न प्राणतत्त्वभेदाभिप्रायेण। नाभिर्दशमीति वचनात्। नहि नाभिर्नाम कश्चित्प्राणः प्रसिद्धोऽस्ति। मुख्यस्य तु प्राणस्य भवति नाभिरप्येकं विशेषायतनमित्यतो नाभिर्दशमीत्युच्यते। क्वचिदुपासनार्थं कतिचित्प्राणा गण्यन्ते क्वचित्प्रदर्शनार्थम्। तदेवं विचित्रे प्राणेयत्ताम्नाने सति क्व किंपरमाम्नानमिति विवेक्तव्यम्। कार्यजातवशात्त्वेकादशत्वाम्नानं प्राणविषयं प्रमाणमिति स्थितम्।

इयमपरा सूत्रद्वययोजना। सप्तैव प्राणाः स्युर्यतः सप्तानामेव गतिः श्रूयते— 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२)। इत्यत्र। ननु सर्वशब्दोऽप्यत्र पठ्यते, तत्कथं सप्तानामेव गतिः प्रतिज्ञायत इति। विशेषितत्वादित्याह। सप्तैव हि प्राणाश्चक्षुरादयस्त्वक्पर्यन्ता विशेषिता इह प्रकृताः 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' (बृ० ४।४।१) 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' (बृ० ४।४।२) इत्येवमादिनानुक्रमणेन। प्रकृतगामी च सर्वशब्दो भवति यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इति ये निमन्त्रिताः प्रकृता ब्राह्मणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते नान्ये। एवमिहापि ये प्रकृताः सप्त प्राणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते नान्य इति। नन्वत्र विज्ञानमष्टममनुक्रान्तं, कथं सप्तानामेवानुक्रमणम्। नैष

दोषः। मनोविज्ञानयोस्तत्त्वाभेदाद् वृत्तिभेदेऽपि सप्तत्वोपपत्तेः। तस्मात्सप्तैव प्राणा इति।

दूसरी बात है कि शिरवृत्ति सात प्राण को ही मानने वालों के चार ही प्राण अभिमत (स्वीकृत) होंगे। स्थान के भेद से ये चार ही प्राण सात-सात गिने जाते हैं कि (दो श्रोत्र हैं, दो नेत्र हैं, दो नासिका हैं, एक वाक् है) कान, नेत्र, नासिका दो-दो गोलकों में इन्द्रिय एक-एक ही हैं, इसका विचार विशेषरूप से न्यायसूत्र और भाष्य आदि में देखने योग्य है, यहाँ इतना ही समझना चाहिये कि विषयादि के भेद से इन्द्रियों के भेद की सिद्धि होती है तथा श्रुति से होती है। यहाँ विषय शब्द एक है, उसके ज्ञान के लिये श्रोत्र इन्द्रिय भी एक है, सावयव है, दोनों स्थान में रहता है। इसी प्रकार नेत्र, नासिका को भी समझना चाहिये। तावत् सात शिरवृत्ति प्राणों के ही वृत्तिभेद रूप अन्य सब प्राण हैं, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि हस्तादि की वृत्तियाँ (व्यापार) अत्यन्त विजातीय हैं, साजात्य में वृत्ति-वृत्तिमद्भाव होता है। इसी प्रकार (पुरुष में नव ही प्राण हैं, नाभि दशमी है) यहाँ भी देह के छिद्रभेद के अभिप्राय से ही दश प्राण कहे गये हैं प्राणवस्तु के भेद के अभिप्राय से नहीं कहे गये हैं, वह नाभि दशमी इस वचन से समझना चाहिये, जिससे नाभिनामक कोई प्राण प्रसिद्ध नहीं है। मुख्य प्राण का तो नाभि भी एक विशेष स्थान है, इससे नाभि दशमी इस प्रकार कही जाती है। कहीं उपासना के लिये कितने प्राण गिने जाते हैं, और कहीं प्रदर्शनार्थक गिनते हैं (सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्) यहाँ उपासना के लिए गणना है। (अष्टौ ग्रहाः) यहाँ प्रदर्शनार्थ (उपलक्षणार्थक) आठ का ग्रहण है। पूर्व कही रीति से इस प्रकार प्राण की इयत्ताविषयक श्रुति के विचित्र होने से कहाँ किस अर्थपरक श्रुति है, यह विवेक करने योग्य है। कार्यसमूह के वश से तो प्राण विषयक एकादशत्व की श्रुति प्रमाण है यह स्थित हुआ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः प्रतीयन्ते-'हस्तो वै ग्रहः' (बृ० ३।२।८) इत्यादिश्रुतिषु। ग्रहत्वं च बन्धनभावो गृह्यते, बध्यते क्षेत्रज्ञोऽनेन ग्रहसंज्ञकेन बन्धनेनेति। स च क्षेत्रज्ञो नैकस्मिन्नेव शरीरे बध्यते, शरीरान्तरेष्वपि तुल्यत्वाद्बन्धनस्य। तस्माच्छरीरान्तरसंचारीदं ग्रहसंज्ञकं बन्धनमित्यर्थादुक्तं भवति। तथा च स्मृतिः—

पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च॥

इति प्राङ्मोक्षाद् ग्रहसंज्ञकेनानेन बन्धनेनावियोगं दर्शयति। आथर्वणे च विषयेन्द्रियानुक्रमणे 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' इत्यत्र तुल्यवद्धस्तादीनीन्द्रियाणि सविषयाण्यनुक्रामति-'हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च' (प्र० ४।८) इति। पायुश्च विसर्जयितव्यं च तथा 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति' (बृ०

३।९।४) इत्येकादशानां प्राणानामुत्क्रान्ति दर्शयति। सर्वशब्दोऽपि च प्राण-शब्देन सम्बध्यमानोऽशेषान्प्राणानभिदधानो न प्रकरणवशेन सप्तस्वेवावस्था-पयितुं शक्यते, प्रकरणाच्छब्दस्य बलीयस्त्वात्। सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्रापि सर्वेषामेवावनिवर्तिनां ब्राह्मणानां ग्रहणं न्याय्यं, सर्वशब्दसामर्थ्यात्। सर्वभोजनासम्भवात्तु तत्र निमन्त्रितमात्रविषया सर्वशब्दस्य वृत्तिराश्रिता। इह तु न किञ्च सर्वशब्दार्थसंकोचने कारणमस्ति। तस्मात्सर्वशब्देनात्राशेषाणां ब्राह्मणानां परिग्रहः। प्रदर्शनार्थं च सप्तानामनुक्रमणमित्यनवद्यम्। तस्मादेका-दशैव प्राणाः शब्दतः कार्यतश्चेति सिद्धम्॥ ६॥

प्रथम के व्याख्यान में यह अरुचि है कि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्-मन में सप्तत्व को अवगति है, और शिरवृत्ति चार को ही विशेषितत्व है, इससे हेतु में व्यधिकरणता है। शिरवृत्ति प्राण की सात संख्या में दोष है, क्योंकि वहाँ सात संख्या है नहीं। इससे भाष्यकार कहते हैं कि उक्त दोनों सूत्रों की यह अन्य योजना (पदान्वय-व्या-ख्यान) है कि सात ही प्राण सिद्ध होंगे, जिससे मरणकाल में जीव के साथ, चक्षु, नासिका, रसना, वाक्, श्रोत्र मन और त्वक्—इन सात की ही गति (उत्क्रान्ति) सुनी जाती है कि (उस जीव के उत्क्रमण करते समय पीछे प्राण भी उत्क्रमण करता है, और प्राण के उत्क्रमण, ऊर्ध्वगमन करने पर सब प्राण, इन्द्रियाँ, ऊर्ध्वगमन करते हैं) यहाँ उन चक्षु आदि सातों की गति सुनी जाती है। यदि कहा जाय कि सर्व शब्द भी यहाँ पढ़ा जाता है, तो सात की ही गति को प्रतिज्ञा कैसे की जा सकती है। तो कहते हैं कि विशेषितत्व से सात की गति की प्रतिज्ञा होती है। जिससे सात ही चक्षु आदि और त्वक् प्राण यहाँ विशेषित (विशेषता युक्त) प्रकृति हैं कि (वह यह चक्षु में रहने वाला सूर्य का अंशरूप पुरुष जिस काल में बाहर देश से निवृत्ति होती है, तब यह जीव ज्ञान से रहित हो जाता है) देवांश के देव से प्रविष्ट होने पर लिंगशरीर के अंशरूप चक्षु हृदय में मन के साथ एक हो जाता है। उस समय पास के लोग कहते हैं कि अब यह नहीं देखता है) इत्यादि अनुक्रमण (अनुकथन रीति) से सात ही विशेषित हैं। सर्व शब्द प्रकृतगामी (बाधक) होता है। जैसे कि सब ब्राह्मण भोजयितव्य (भोजन कराने योग्य) हैं, ऐसा कहने पर जो निमन्त्रित प्रकृत ब्राह्मण रहते हैं, वे ही सर्व शब्द से कहे जाते हैं, अन्य नहीं। इसी प्रकार यहाँ भी जो प्रकृत सात प्राण हैं वे ही सर्व शब्द से कहे जाते हैं अन्य नहीं। शंका होती है कि अष्टम विज्ञान (बुद्धि) भी यहाँ समनुक्रान्त (सहगामी रूप से पठित) है फिर सात ही का अनुक्रमण (अनुगमन) कैसे है। उत्तर है कि मन और विज्ञान में तत्त्व (वस्तु) के अभेद होने से यह दोष नहीं है। एक अन्तःकरण के मन-बुद्धिरूप वृत्ति के भेद रहते भी वस्तुदृष्टि से सप्तत्व की उपपत्ति होती है। इससे सात ही प्राण हैं।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि हाथ आदिक भी सात से अधिक अन्य

प्राण (हस्तो वै ग्रहः) हाथ निश्चित बन्धन का हेतु है। इत्यादि श्रुतियों में प्रतीत होते हैं उनमें ग्रहत्व, बन्धनत्व रूप समझा जाता है। क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इस ग्रह नामक बन्धन से बाँधा जाता है, इससे यह ग्रह है। वह क्षेत्रज्ञ एक ही शरीर में नहीं बाँधा जाता है, जिससे दूसरे शरीरों में भी बन्धन की तुल्यता है। इससे सर्वत्र बाँधा जाता है। इससे उक्त सात चक्षु आदि के समान हाथ आदि भी जीव के साथ शरीरान्तर में संचारी (गमनशील) ये ग्रहसंज्ञक बन्धन हैं, यह अर्थात् उक्त होता है। इसी प्रकार स्मृति कहती है कि (वह जीवात्मा प्राणादिस्वरूप पुर्यष्टक नामक लिङ्ग सूक्ष्म शरीर से युक्त होता है। उस लिंग से बद्ध को संसार बन्धन है, उससे मुक्त को संसार से मुक्ति है) यह स्मृति मोक्ष से पूर्व काल में ग्रह नामक इस बन्धन से अवियोग दर्शाती है। आथर्वण वचन में विषय और इन्द्रियों के अनुक्रमण (अनुगमन) प्रकरण में (चक्षु और द्रष्टव्य स्वापकाल में आत्मा में गमन करते हैं) इस स्थान में चक्षु आदि के साथ तुल्यता वाले विषय सहित हस्तादि इन्द्रियों का अनुक्रमण (अनुकथन) श्रुति करती है कि (हाथ और आदातव्य वस्तु उपस्थ और आनन्दयितव्य वस्तु, पायु (गुदा) और विसर्जयितव्य वस्तु, पाद और गन्तव्य सब स्वापकाल में आत्मगत हो जाते हैं)। इसी प्रकार (पुरुष में ये दश प्राण हैं आत्मा एकादश है। वे जब इस मर्त्य शरीर से उत्क्रमण करते हैं, तब इसके सम्बन्धियों को रुलाते हैं, इससे रुद्र कहाते हैं) यह श्रुति ग्यारहों प्राणों की उत्क्रान्ति दर्शाती है। प्राण शब्द के साथ सम्बध्यमान (सम्बन्धयुक्त) सर्व शब्द भी अशेष (सम्पूर्ण) प्राण को कहता हुआ, प्रकरणवश से सात में ही अवस्थापन (स्थिर) नहीं किया जा सकता है। जिससे प्रकरण से शब्द (श्रुति) को अतिबलवत्त्व होता है (सब ब्राह्मण भोजयितव्य हैं) इस वाक्य में भी भूमिवर्ती सब ब्राह्मणों का ग्रहण ही सर्वशब्द के सामर्थ्य से न्याययुक्त है। किन्तु सबके भोजन के असम्भव से वहाँ निमन्त्रित मात्र विषयक सर्व शब्द की वृत्ति आश्रित होती है, मानी जाती है यहाँ तो सर्व शब्दार्थ के संकोचन में कोई कोई कारण नहीं है। इससे सर्व शब्द से यहाँ अशेष प्राणों का परिग्रह होता है। प्रदर्शन के लिए सात का अनुक्रमण है इससे निर्दोष है। इससे शब्द द्वारा और कार्य द्वारा ग्यारह प्राण हैं, यह सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

प्राणाणुत्वाधिकरण (३)

व्यापीन्यणूनि वाऽक्षाणि सांख्या व्यापित्वमूचिरे।
वृत्तिलाभस्तत्र तत्र देहे कर्मवशाद्भवेत्।
देहस्थवृत्तिमद्भागेष्वेवाक्षत्वं समाप्यताम्।
उत्क्रान्त्यादिश्रुतेस्तानि ह्यणूनि स्युरदर्शनात् ॥

उक्त इन्द्रियाँ अणु (सूक्ष्म परिच्छिन्न) हैं। यहाँ मतभेद से संशय है कि इन्द्रियाँ, व्यापक हैं, वा अणु हैं। पूर्वपक्ष है कि सांख्यवादी अहंकार के कार्यरूप इन्द्रियों को संसार मंडल में व्यापक कहते हैं। तत्तत् देहों में कर्मवश से परिच्छिन्न वृत्ति का लाभ

होता है। सिद्धान्त है कि देहस्थ वृत्तिवाले भागों में ही इन्द्रियत्व समाप्त होता हो तो हो, क्योंकि उत्क्रान्ति आदि के श्रवण से और उत्क्रमण काल में अदर्शन से वे इन्द्रियाँ अणु ही हैं ॥ १–२ ॥

अणवश्च ॥ ७ ॥

अधुना प्राणानामेव स्वभावान्तरमभ्युच्चिनोति। अणवश्चैते प्रकृताः प्राणाः प्रतिपत्तव्याः। अणुत्वं चैषां सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ न परमाणुतुल्यत्वं, कृत्स्नदेहव्यापिकार्यानुपपत्तिप्रसङ्गात्। सूक्ष्मा एते प्राणाः स्थूलाश्चेत्स्युर्मरणकाले शरीरान्निर्गच्छन्तो बिलादहिरिवोपलभ्येरन्म्रियमाणस्य पार्श्वस्थैः परिच्छिन्नाश्चैते प्राणाः सर्वगताश्चेत्स्युरुत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिव्याकोपः स्यात्। तद्गुणसारत्वं च जीवस्य न सिध्येत्। सर्वगतानामपि वृत्तिलाभः शरीरदेशे स्यादिति चेत्। न वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः। यदेव ह्युपलब्धिसाधनं वृत्तिरन्यद्वा तस्यैव नः करणत्वं संज्ञामात्रे विवाद इति करणानां व्यापित्वकल्पना निरर्थिका। तस्मात्सूक्ष्माः परिच्छिन्नाश्च प्राणा इत्यध्यवस्यामः॥ ७॥

अब इस समय प्राणों के अन्य स्वभाव का प्रासङ्गिक कथन सूत्रकार करते हैं। कि ये प्रकृत इन्द्रियरूप प्राण अणु समझने योग्य हैं। इनके अणुत्व, सूक्ष्मत्व(उद्भूतरूप स्पर्शरहितत्व) और परिच्छेद (अल्पत्व) स्वरूप है, परमाणुतुल्यत्व रूप अणुत्व नहीं है। परमाणुतुल्यता होने पर त्वक् इन्द्रिय से सम्पूर्ण देहव्यापि कार्य की अनुपपत्ति का प्रसङ्ग होगा। इससे इन्द्रियाँ परमाणु तुल्य नहीं हैं। ये प्राण सूक्ष्म हैं। यदि स्थूल होते तो मरणकाल में बिल से निकलते हुए सर्पों के समान शरीर से निकलते हुए मरते हुए के पार्श्ववर्ती से उपलब्ध होते, देखे जाते। ये परिच्छिन्न हैं। यदि सर्वगत हों तो उत्क्रान्ति गति और आगति श्रुति का विरोध बाध होगा। जीव के तद्गुणसारत्व (बुद्धि आदि उपाधिकृत अल्पत्वादि) की सिद्धि नहीं होगी। यदि (प्राणाः सर्वेऽनन्ताः) इस वचन के बल से प्राणों को सर्वगत मानकर कहा जाय कि सर्वगत भी इन प्राणों का वृत्तिलाभ शरीर देश में होगा, जिससे तद्गुणसारत्व आदि की सिद्धि होगी, तो वृत्तिमात्र के करणत्व की उपपत्ति से वह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वृत्ति वा वृत्ति से अन्य जो ही ज्ञानादि का साधन है, उसी का करणत्व हमें इष्ट है। संज्ञामात्र में विवाद है। इससे करण को व्यापित्व कल्पना निरर्थक है। इससे सूक्ष्म और परिच्छिन्न प्राण हैं, ऐसा अध्यवसाय करते हैं। अनन्तता की श्रुति उपासनार्थक है, इससे उत्क्रान्ति आदि श्रुति के साथ विरोध नहीं है। यह सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

प्राणश्रेष्ठ्याधिकरण ॥ ४ ॥

मुख्यः प्राणः स्यादनादिर्जायते वा न जायते।
आनीदिति प्राणचेष्टा प्राक्सृष्टेः श्रूयते यतः।
आनीदिति ब्रह्मतत्त्वं प्रोक्तं वातनिषेधनात्।
एतस्माज्जायते प्राण इत्युक्तेरेष जायते॥

श्रेष्ठ (मुख्य) प्राण भी अन्य प्राणों के ही समान उत्पन्न होते हैं, और अणु हैं। यहाँ संशय होता है कि मुख्य प्राण अनादि हैं, अथवा उत्पन्न होते हैं। पूर्वपक्ष है ऋग्वेद में सृष्टि से पूर्वकाल में (एकं ब्रह्म आनीत्) (एक ब्रह्म प्राणयुक्त था) इस कथन से जिससे प्राण की चेष्टा 'व्यापार' सुनी जाती है उससे प्राण नहीं उत्पन्न होता है। क्योंकि 'आनीत्' यह 'अन् प्राणने' इस धातु का रूप है। सिद्धान्त है कि आनीत् के साथ ही 'अवातं' पढ़ा हुआ है, इससे आनीत् इसका प्राण क्रिया युक्त अर्थ नहीं है किन्तु आनीत् का आसीत् अर्थ है, इससे आनीद् यह ब्रह्मतत्त्व कहा गया है। वायु के निषेध से तथा (इससे प्राण उत्पन्न होता है), इस उक्ति से सिद्ध होता है कि यह प्राण उत्पन्न होता है ॥ १-२ ॥

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

मुख्यश्च प्राण इतरप्राणवद्ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति। तच्चाविशेषेणैव सर्वप्राणानां ब्रह्मविकारत्वमाख्यातम्। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुण्ड० २।१।३) इति सेन्द्रियमनोव्यतिरेकेण प्राणस्योत्पत्तिश्रवणात्। 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इत्यादिश्रवणेभ्यश्च। किमर्थः पुनरतिदेशः? अधिकाशङ्कापाकरणार्थः। नासदासीये हि ब्रह्मप्रधाने सूक्ते मन्त्रवर्णो भवति 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' (ऋ० सं० ८।७।१७) इति। आनीदिति प्राणकर्मोपादानात्प्रागुत्पत्तेः सन्तमिव प्राणं सूचयति। तस्मादजः प्राण इति जायते कस्यचिन्मतिः। तामतिदेशेनापनुदति आनीच्छब्दोऽपि न प्रागुत्पत्तेः प्राणसद्भावं सूचयति। अवातमिति विशेषणात्। 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति च मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वस्य दर्शितत्वात्। तस्मात्कारणसद्भावप्रदर्शनार्थ एवायमानीच्छब्द इति। श्रेष्ठ इति च मुख्यं प्राणमभिदधाति—'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा०५।१।१) इति श्रुतिनिर्देशात्। ज्येष्ठश्च प्राणः शुक्रनिषेककालादारभ्य तस्य वृत्तिलाभात्। न चेत्तस्य तदानीं वृत्तिलाभः स्याद्योनौ निषिक्तं शुक्रं पूयेत न सम्भवेद्वा। श्रोत्रादीनां तु कर्णशष्कुल्यादिस्थानविभागनिष्पत्तौ वृत्तिलाभान्न ज्येष्ठत्वम्। श्रेष्ठश्च प्राणो गुणाधिक्यात्, 'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' (बृ० ६।१।१३) इति श्रुतेः ॥८॥

मुख्य प्राण भी अन्य प्राण के समान ब्रह्म का विकार है, इस प्रकार अतिदेश करते हैं। वह ब्रह्मविकारत्व सब गौण-मुख्य प्राणों का अविशेष रूप से ही श्रुति से आख्यात (कथित) है, कि (इस ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है, मन उत्पन्न होता है और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं) इस प्रकार मन सहित इन्द्रियों से भिन्न प्राण की उत्पत्ति

सुनने से अन्य के तुल्य ही प्राण की उत्पत्ति सिद्ध होती है। (उसने प्राण को सिरजा) इत्यादि श्रवण से भी प्राण की उत्पत्ति सिद्ध होती है। शंका होती है कि इन्द्रियों के साथ तुल्य उत्पत्ति के श्रवणादि से प्राण की उत्पत्ति के निश्चित होते फिर अतिदेश किस प्रयोजन के लिये है। उत्तर है कि अधिक शंका के निवारण के लिये अतिदेश है। वह शंका यह है कि (नासदासीन्न सदासीत्) न कार्य था, न कारण था। इस प्रकार आरम्भ करके पठित ब्रह्मप्रधान सूक्त से मन्त्रवर्ण है कि (न मृत्यु था, न देवताओं का भोग्य अमृत था, न उस समय रात्रि और दिन के प्रकेत (चिह्न) स्वरूप चन्द्र-सूर्य ही थे, किन्तु माया रूप स्वधासहित वायुरहित वह एक ब्रह्म था, उससे अन्य पर कुछ नहीं था) इस मन्त्र में आनीत् इस पद से प्राण से कर्म के ग्रहण से जगत् की उत्पत्ति से पूर्व काल में प्राण को विद्यमान के समान मन्त्र सूचित करता है। इससे प्राण अज है, ऐसी किसी की बुद्धि होती है, उस बुद्धि को अतिदेश से निवारण करते हैं कि आनीत् शब्द भी उत्पत्ति से पूर्वकाल में प्राण के सद्भाव की सूचना नहीं करता है। क्योंकि 'अवातम्' इस ब्रह्म के विशेषण से और (ब्रह्मात्मा मन और प्राण से रहित शुभ्र है) इस श्रुति से मूलप्रकृति की प्राणादि समस्त विकार से रहितता के प्रदर्शित होने से प्राणसत्ता की सूचना नहीं हो सकती है। इससे कारण की सत्ता का प्रदर्शनार्थक ही यह आनीत् शब्द है। श्रेष्ठ यह शब्द मुख्य प्राण को कहता है। जिससे (प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है) इस प्रकार श्रुति में निर्देश है। शुक्र (वीर्य) का निषेक (गर्भाधान) काल से ही इस प्राण की वृत्ति के लाभ (प्राप्ति) से प्राण ज्येष्ठ है। यदि उस समय प्राण का वृत्तिलाभ नहीं हो, तो योनि (गर्भाशय) में निषिक्त (प्राप्त) भी वीर्य विनष्ट दूषित हो जाय या गर्भ का सम्भव न हो सकता है। श्रोत्रादि का तो कर्णशष्कुली (कर्णगोलक) आदि स्थानै विभागों की सिद्धि होने पर वृत्तिलाभ होने से, उन्हें ज्येष्ठत्व नहीं है। (तेरे बिना जीवित नहीं रह सकते हैं) इस श्रुति से प्राण में गुण की अधिकता की सिद्धि से प्राण श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

वायुक्रियाधिकरण (५)

वायुर्वाक्षक्रिया वान्यो वा प्राणः श्रुतितोऽनिलः।
सामान्येन्द्रियवृत्तिर्वा सांख्यैरेवमुदीरणात् ॥
भाति प्राणो वायुनेति भेदोक्तेरेकताश्रुतिः।
वायुजत्वेन सामान्यवृत्तिर्नाक्षेष्वतोऽन्यता ॥

मुख्य प्राण चलनादि क्रिया वाला वायु के समान और वायु के कार्य होते भी भूतात्मक वायु रूप ही नहीं है, न अन्य प्राणों के व्यापार रूप है, जिससे वायु और व्यापारों से पृथक् प्राण का उपदेश है। इससे प्राण उनसे भिन्न है। यहाँ संशय होता है कि (यः प्राणः स वायुः) इस श्रुति के अनुसार, प्राण वायु स्वरूप है। वा (सामान्या करणवृत्तिः) इत्यादि सांख्यकारिका के अनुसार इन्द्रियों की क्रियारूप प्राण है। अथवा इन दोनों से अन्य है। पूर्वपक्ष है कि श्रुति से वायुरूप प्राण है।

अथवा सामान्य इन्द्रियों की वृत्ति जीवन रूप ही प्राण है। सिद्धान्त है कि वायु से प्राण भासता है, इस प्रकार भेद के कथन से और इन्द्रियों में सामान्य वृत्ति में अभाव से, प्राण में अन्यता है, और प्राण के वायुजन्य होने से वायु के साथ प्राण की एकता की श्रुति है ॥ १-२ ॥

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

स पुनर्मुख्यः प्राणः किंस्वरूप इतीदानीं जिज्ञास्यते। तत्र प्राप्तं तावच्छ्रुतेर्वायुः प्राण इति। एवं हि श्रूयते—'यः प्राणः स वायुः स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' इति। अथवा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात्समस्तकरणवृत्तिः प्राण इति प्राप्तम्। एवं हि तन्त्रान्तरीया आचक्षते—सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्चेति'।

अत्रोच्यते—वायुः प्राणो नापि करणव्यापारः। कुतः? पृथगुपदेशात्। वायोस्तावत्प्राणस्य पृथगुपदेशो भवति—'प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च, (छान्दो० ३।१८।४) इति। नहि वायुरेव सन् वायोः पृथगुपदिश्यते। तथा करणवृत्तेरपि पृथगुपदेशो भवति, वागादीनि करणान्यनुक्रम्य तत्र तत्र पृथक्प्राणस्यानुक्रमणात्। वृत्तिवृत्तिमतोश्चाभेदात्। नहि करणव्यापार एव सन् करणेभ्यः पृथगुपदिश्यते। तथा 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः' (मु० २।१।३) इत्येवमादयोऽपि वायोः करणेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशाः अनुसर्तव्याः। न च समस्तानां करणानामेका वृत्तिः संभवति, प्रत्येकमेकैकवृत्तित्वात्समुदायस्य चाकारकत्वात्।

वह मुख्य प्राण किस स्वरूप वाला है, यह जिज्ञासा फिर की जाती है। यहाँ श्रुति से प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि वायु स्वरूप प्राण है। जिससे ऐसा सुना जाता है कि (जो प्राण है वह वायु है, और वह प्राणरूप वायु पाँच प्रकार का है, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच प्रकार हैं) अथवा शास्त्रान्तर के अभिप्राय से समस्तकरण की वृत्ति रूप प्राण है, ऐसा प्राप्त होता है। जिससे शास्त्रान्तर के अध्ययन वाले ऐसा कहते हैं कि (प्राण आदि पाँचों वायु करणों की सामान्य वृत्ति (व्यापार) रूप हैं)।

यहाँ कहा जाता है कि प्राण न वायु है, न करणों का व्यापार रूप है। क्योंकि प्राण का पृथक् उपदेश है। प्रथम वायु प्राण का पृथक् उपदेश है कि (वाक्, चक्षु, श्रोत्र की अपेक्षा मनरूप ब्रह्म के प्राण चतुर्थपाद है। वह वायुरूप ज्योति अधिदैव से भासता है, व्यक्त होता है, और व्यक्त होकर तपता है कार्य के लिए समर्थ होता है) यदि प्राण वायु होता तो वायुरूप ही होता हुआ वायु से पृथक् उपदेश का विषय नहीं होता। इसी प्रकार करणों की वृत्ति से भी प्राण का पृथक् उपदेश होता है,

वाक् आदि इन्द्रियों का अनुक्रमण (क्रम से कथन) करके तत्तत् स्थानों में प्राण का पृथक् अनुक्रमण हो वृत्ति से भिन्न प्राण का उपदेश सिद्ध होता है। क्योंकि वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद से वृत्तिमान् के उपदेश से ही वृत्ति का उपदेश सिद्ध हो जाता है। इससे करणों का व्यापार होता हुआ प्राण करणों से पृथक् नहीं उपदिष्ट हो सकता है। इसी प्रकार (इस पुरुष से प्राप्त मन सब इन्द्रिय और आकाश वायु सब उत्पन्न होते है) इत्यादि भी वायु और करणों से प्राण के पृथक् उपदेश अनुसर्तव्य (स्वीकार्य) हैं। समस्त करणों की एक वृत्ति का सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रत्येक करणों को एक-एक वृत्तिमत्त्व है। समुदाय को करणरूप कारकत्व भी नहीं है कि जिससे व्यापार हो ॥

ननु पञ्जरचालनन्यायेनैतद्भविष्यति, यथैकपञ्जरवर्तिन एकादशपक्षिणः प्रत्येकं प्रतिनियतव्यापाराः सन्तः संभूयैकं पञ्जरं चालयन्ति, एवमेकशरीरवर्तिन एकादश प्राणाः प्रत्येकं प्रतिनियतवृत्तयः सन्तः संभूयैकां प्राणाख्यां वृत्तिं प्रतिलप्स्यन्त इति। नेत्युच्यते। युक्तं तत्र प्रत्यक्वृत्तिभिरवान्तरव्यापारैः पञ्जरचालनानुरूपैरेवोपेताः पक्षिणः संभूयैकं पञ्जरं चालयेयुरिति, तथा दृष्टत्वात्। इह तु श्रवणाद्यवान्तरव्यापारोपेताः प्राणा न संभूय प्राण्युरिति युक्तम्, प्रमाणाभावात्। अत्यन्तविजातीयत्वाच्च श्रवणादिभ्यः प्राणनस्य। तथा प्राणस्य श्रेष्ठत्वाद्युद्घोषणं गुणभावोपगमश्च तं प्रति वागादीनां, न करणवृत्तिमात्रे प्राणेऽवकल्पते, तस्मादन्यो वायुक्रियाभ्यां प्राणः। कथं तर्हीयं श्रुतिः 'यः प्राणः स वायुः' इति। उच्यते—वायुरेवायमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनावतिष्ठमानः प्राणो नाम भण्यते न तत्त्वान्तरं नापि वायुमात्रम् अतश्चोभे अपि भेदाभेदश्रुती न विरुध्येते ॥९॥

शंका होती है कि पञ्जर-चालन न्याय से प्रत्येक वृत्तिवृन्त भी यह समुदायवृत्ति भी हो सकती है। जैसे कि एक पिंजड़ा में रहने वाले ग्यारह पक्षी हों तो प्रत्येक प्रतिनियत भिन्न-भिन्न व्यापार वाले होते हुए भी साथ होकर एक पिंजड़े को चलाते, हिलाते हैं। इसी प्रकार एक शरीर में रहने वाली ग्यारह इन्द्रियाँ प्रत्येक दर्शन-श्रवणादि रूप प्रतिनियत-वृत्तिवाली होती हुई भी साथ होकर एक प्राणनामक वृत्ति का प्रतिलाभ करेगी। उत्तर कहा जाता है कि ऐसा हो नहीं सकता है। उस दृष्टान्त में तो युक्त है कि प्रत्येक पक्षिवृत्ति पञ्जरचालनानुकूल-अवान्तर व्यापारों से युक्त पक्षी सब मिल कर एक पिंजड़ा को चलावें क्योंकि वैसा देखा जाता है, और प्रत्यक्षदृष्टत्व से युक्त है। यहाँ दार्ष्टान्तिक में तो श्रवणादिरूप अवान्तर व्यापारों से युक्त इन्द्रियाँ मिल कर प्राणन (जीवन) व्यापार करें, यह युक्त नहीं है। जिससे इस में प्रमाण का अभाव है। श्रवणादिरूप इन्द्रियों का व्यापार अपरिस्पन्द (अलचन) रूप है। प्राण का व्यापार परिस्पन्दरूप है। इससे श्रवणादि से प्राणन को अत्यन्त विजातीयत्व है,

इससे भी इन्द्रियों का प्राणन व्यापार नहीं हो सकता है। इसी प्रकार प्राण के श्रेष्ठत्वादि का कथन और वागादिरूप प्राणों का उस मुख्य प्राण के प्रति गुणभाव (अधीनत्व) का स्वीकार, करणों के वृत्तिमात्ररूप प्राण में नहीं सिद्ध हो सकता है। इससे वायु और क्रिया (करण वृत्ति) से प्राण अन्य है। यदि कहो कि (जो प्राण है वह वायु है) यह श्रुति कैसे युक्त होगी। तो कहा जाता है कि यह वायु ही अध्यात्म (सूक्ष्म शरीरगत) होकर फिर स्थूल देह को प्राप्त होकर, पाँच आकार वाला होकर विशेष स्वरूप से स्थिर होता हुआ प्राण नाम से कहा जा सकता है। इससे न तत्त्वांतर है, न वायुमात्र प्राण है, इससे वायु से प्राण का भेद और अभेद विषयक श्रुतिविरुद्ध नहीं है ॥ ९ ॥

स्यादेतत्। प्राणोऽपि तर्हि जीववदस्मिञ्शरीरे स्वातन्त्र्यं प्राप्नोति, श्रेष्ठत्वाद् गुणभावोपगमाच्च तं प्रति वागादीनामिन्द्रियाणाम्। तथाह्यनेकविधा विभूतिः प्राणस्य श्राव्यते—'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको हि जागर्ति प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः प्राणः संवर्गो वागादीन्संवृंक्ते प्राण इतरान्प्राणान्रक्षति मातेव पुत्रान्' इति। तस्मात्प्राणस्यापि जीववत्स्वातन्त्र्यप्रसंगः। तं परिहरति—

यहाँ शंका होती है कि प्राण करणों की वृत्तिरूप नहीं हो, परन्तु ऐसा होने पर तो प्राण भी इस शरीर में जीव के समान स्वतन्त्रता को प्राप्त होता है। श्रेष्ठत्व से तथा वागादि इन्द्रियों का उसके प्रति गुणभाव (दासत्व-अंगत्व) के स्वीकार से भी प्राण की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इसी प्रकार अनेक प्रकार की प्राण की विभूति सुनाई जाती है कि (वागादि से सुप्त लीन होने पर भी शरीर में एक प्राण जागता रहता है। एक प्राण ही मृत्यु से प्राप्त नहीं किया जाता है। प्राण संवर्गसंहरणकर्ता है, इससे वागादि का संवरण संहरण करता है) (माता जैसे पुत्रों की रक्षा करती है, वैसे प्राण अन्य प्राणों की रक्षा करता है) इससे जीव के समान प्राण की स्वतंत्रता का प्रसंग है। इस प्रसंग का परिहार (निवारण) सूत्रकार करते हैं कि—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्टयादिभ्यः ॥१०॥

तुशब्दः प्राणस्य जीववत्स्वातन्त्र्यं व्यावर्तयति। यथा चक्षुरादीनि राजप्रकृतिवज्जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रत्युपकरणानि न स्वतन्त्राणि, तथा मुख्योऽपि प्राणो राजमन्त्रिवज्जीवस्य सर्वार्थकरत्वेनोपकरणभूतो न स्वतन्त्रः। कुतः ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः। तैश्चक्षुरादिभिः सहैव प्राणः शिष्यते प्राणसंवादादिषु, समानधर्मणां च सह शासनं युक्तं बृहद्रथन्तरादिवत्। आदिशब्देन संहतत्वाचेतनत्वादीन्प्राणस्य स्वातन्त्र्यनिराकरणहेतून्दर्शयति ॥ १० ॥

सूत्रगत तु शब्द जीवतुल्य प्राण की स्वतन्त्रता की व्यावृत्ति करता है कि जैसे चक्षु आदि राजा की प्रकृति (प्रजा, पुरवासी, सेवक) के समान जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के प्रति उपकरण (साधन) रूप हैं। स्वतन्त्र नहीं हैं, उसी प्रकार मुख्य प्राण भी राजमन्त्री के समान जीव के सर्वार्थ के कारक (साधक) रूप से उपकरण स्वरूप हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। ऐसा क्यों है कि उन नेत्रादिकों के साथ उपदेशादि से प्राण उपकरण ही है। उन प्राणादिकों के साथ ही प्राण संवादादि में प्राण उपदिष्ट होता है। समान धर्म वालों का साथ शासन (उपदेश) युक्त होता है। जैसे कि बृहत् साम और रथन्तर साम, सामवेद के भागविशेष हैं। वे सामत्वादि से तुल्य धर्म वाले होने से सर्वत्र साथ पढ़े जाते हैं, वैसे यहाँ समझना चाहिये। सूत्रगत आदि शब्द से संहतत्व अचेतनत्वादि रूप प्राण की स्वतन्त्रता के निराकरण के हेतुओं को दर्शाते हैं॥ १०॥

स्यादेतत्। यदि चक्षुरादिवत्प्राणस्य जीवं प्रति करणभावोऽभ्युपगम्यते, विषयान्तरं रूपादिवत्प्रसज्येत, रूपाद्यालोचनादिभिर्वृत्तिभिर्यथास्वं चक्षुरादीनां जीवं प्रति करणभावो भवति। अपि चैकादशैव कार्यजातानि रूपालोचनादीनि परिगणितानि यदर्थमेकादश प्राणाः संगृहीताः नतु द्वादशमपरं कार्यजातमधिगम्यते यदर्थमयं द्वादशः प्राणः प्रतिज्ञायेतेति अत उत्तरं पठति—

फिर शंका होती है कि यह जीव के प्रति प्राण को उपकरणत्व रहे परन्तु यदि चक्षु आदि के समान जीव के प्रति प्राण को करणत्व माना जाता है, तो चक्षु आदि के रूपादि विषय के तुल्य प्राण का भी विषयान्तर प्राप्त होता है, कि जिसके द्वारा प्राण जीव का उपकार कर सकेगा। जैसे कि रूपादि के प्रदर्शन द्वारा नेत्रादि जीव का उपकार करते हैं। इससे रूपादि के आलोचन (दर्शन) आदि वृत्ति द्वारा ही चक्षु आदि को जीव के प्रति (यथास्वं) अपने-अपने विषयों के अनुसार करणभाव होता है। दूसरी बात है कि रूपादि के आलोचन आदि रूप ग्यारह ही कार्यसमूह परिगणित हैं, कि जिनके लिए ग्यारह प्राण संगृहीत (स्वीकृत) हैं। बारहवाँ अन्य कार्यसमूह नहीं अधिगत (अनुभूत) होते हैं कि जिनके लिए यह बारहवाँ प्राण प्रतिज्ञात (स्वीकृत) हो। अतः उत्तर पढ़ते हैं कि—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति॥ ११॥

न तावद्विषयान्तरप्रसङ्गो दोषः, अकरणत्वात्प्राणस्य। नहि चक्षुरादिवत्प्राणस्य विषयपरिच्छेदेन करणत्वमभ्युपगम्यते। न चास्यैतावता कार्याभाव एव। कस्मात्? तथाहि श्रुतिः प्राणान्तरेष्वसंभाव्यमानं मुख्यप्राणस्य वैशेषिकं कार्यं दर्शयति प्राणसंवादादिषु—'अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे' इत्युपक्रम्य 'यस्मिन्व उत्क्रान्त इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः' (छा०

५।१६।७) इति चोपन्यस्य प्रत्येकं वागाद्युत्क्रमणेन तद्वृत्तिमात्रहीनं यथापूर्वं जीवनं दर्शयित्वा प्राणोच्चिक्रमिषायां वागादिशैथिल्यापत्तिं शरीरपातप्रसङ्गं च दर्शयन्ती श्रुतिः प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियस्थितिं दर्शयति–'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति च। तमेवार्थं श्रुतिराह–'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' (बृ०४।३।१२) इति च सुप्तेषु चक्षुरादिषु प्राणनिमित्तां शरीररक्षां दर्शयति। 'यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति' (बृ० १।३।१९)। 'तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति' इति च प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियपुष्टिं दर्शयति। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' इति; 'स प्राणमसृजत' इति च प्राणनिमित्ते जीवस्योत्क्रान्तिप्रतिष्ठे दर्शयति ॥ ११ ॥

प्राण का विषयान्तर की प्राप्ति रूप दोष तो, प्राण की अकरणता से नहीं है। जिससे विषयों के परिच्छेद (व्यावृत्ति : दर्शनादि ग्रहणादि) से चक्षु आदि को करण (व्यापार वाला असाधारण कारण) मानते हैं। वैसे विषय के परिच्छेद से प्राण के करणत्व नहीं माना जाता है। परन्तु ऐसा करणत्वाभाव होने से इस प्राण के कार्य का ही अभाव नहीं है। क्योंकि इसी प्रकार प्राण के संवादादि में अन्य प्राणों में असम्भव मुख्य प्राण के विशेषतायुक्त श्रेष्ठ कार्य को श्रुति दर्शाती है कि (गुणयुक्त होने पर प्राण सब अपनी श्रेष्ठता के लिये विवाद करने लगे) इस प्रकार उपक्रम करके (तुम सब में जिसके उत्क्रान्त होने से यह शरीर अत्यन्त पापरूप के समान दीख पड़े वह तुम में श्रेष्ठ है) इस प्रकार कह कर, प्रत्येक वाक् आदि के उत्क्रमण से तत्तत् वृत्तिमात्र से रहित मूक आदि रूप से पूर्व के समान जीवन को दर्शा कर, प्राण के उत्क्रमण की इच्छामात्र से वाक् आदि की शिथिलता की प्राप्ति और शरीरपात के प्रसंग को दर्शाती हुई श्रुति, प्राण, निमित्तक शरीर और इन्द्रियों की स्थिति को दर्शाती है कि (उन वाक् आदिकों के प्रति वरिष्ठ अत्यन्त उरु (बड़ा) प्राण ने कहा कि मोह को नहीं प्राप्त हो, मैं ही इस आत्मा को पाँच रूप से प्रविभक्त करके इस कार्य-कारणात्मक शरीर को पकड़ कर धारण करता हूँ) और इसी अर्थ को श्रुति कहती है कि (यह जीव प्राण द्वारा इस अवर नीच निकृष्ट कुलाय देह नामक गृह की रक्षा करता हुआ सोता है) इस प्रकार चक्षु आदि के सुप्त लीन होने पर भी प्राणनिमित्तक शरीर की रक्षा को श्रुति दर्शाती है। (जब जिस किसी अंग से प्राण उत्क्रमण करता है, तभी वह अंग सूख जाता है) और (उस प्राण द्वारा जो जीव खाता है, जो पीता है उससे इतर प्राणों की रक्षा करता है) इस प्रकार भी प्राणनिमित्तक शरीर और इन्द्रियों की पुष्टि को श्रुति दर्शाती है। (किसके उत्क्रान्त होने से मैं उत्क्रान्त होऊँगा वा किसके शरीर में प्रतिष्ठित रहने से प्रतिष्ठित रहूँगा, ऐसा सोच कर उस जीवात्मा ने प्राण को रचा) यह श्रुति भी प्राणनिमित्तक जीव की उत्क्रान्ति और स्थिति को दर्शाती है ॥ ११ ॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

इतश्चास्ति मुख्यस्य प्राणस्य वैशेषिकं कार्यं, यत्कारणं पञ्चवृत्तिरयं व्यपदिश्यते श्रुतिषु 'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' (बृ० १।५।३) इति। वृत्तिभेदश्चायं कार्यभेदापेक्षः। प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा। अपानोऽर्वाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा। व्यानस्तयोः संधौ वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतुः। उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः। समानः समं सर्वेष्वङ्गेषु योऽन्नरसान्नयतीति। एवं पञ्चवृत्तिः प्राणो मनोवत्, यथा मनसः पञ्चवृत्तय एवं प्राणस्यापीत्यर्थः। श्रोत्रादिनिमित्ताः शब्दादिविषया मनसः पञ्च वृत्तयः प्रसिद्धाः, नतु कामः संकल्प इत्याद्याः परिपठिताः परिगृह्येरन्, पञ्चसंख्यातिरेकात्। नन्वत्रापि श्रोत्रादिनिरपेक्षा भूतभविष्यदादिविषयाऽपरा मनसो वृत्तिरस्तीति समानः पञ्चसंख्यातिरेकः। एवं तर्हि 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इति न्यायादिहापि योगशास्त्रप्रसिद्धा मनसः पञ्चवृत्तयः परिगृह्यन्ते 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' (पात० योग० सू० १।१६) नाम। बहुवृत्तित्वमात्रेण वा मनः प्राणस्य निदर्शनमिति द्रष्टव्यम्। जीवोपकरणत्वमपि प्राणस्य पञ्चवृत्तित्वान्मनोवदिति योजयितव्यम् ॥ १२ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी मुख्य प्राण का विशेषतायुक्त कार्य है, कि जिस कारण से पाँच वृत्ति वाला यह प्राण श्रुतियों में कहा जाता है, कि (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) ये सब प्राण के व्यापार रूप और प्राण ही हैं। ये वृत्तियों के भेद कार्यभेद की अपेक्षा से हैं। नासिकादि द्वारा आगे की तरफ वृत्ति वाला ऊर्ध्व श्वासादि क्रिया वाला प्राण है। नीचे की तरफ वृत्ति वाला निश्वासादि क्रिया वाला अपान है। उन दोनों की सन्धि (सन्धान मध्य) में वर्तमान सामर्थ्य वाला कर्म का हेतु व्यान है। ऊर्ध्ववृत्ति वाला उत्क्रान्ति आदि का हेतु उदान है। जो सब अङ्गों में समतापूर्वक अन्न के रसों को यथायोग्य प्राप्त कराता है सो समान है। इस प्रकार मन के समान पाँच वृत्ति (अवस्था) वाला प्राण है। इससे जैसे मन की पाँच वृत्तियाँ हैं, इसी प्रकार प्राण को भी हैं यह अर्थ है। श्रोत्रादि निमित्तक शब्दादि विषयक मन की पांच वृत्तियाँ प्रसिद्ध हैं। पाँच संख्या से अधिक होने से (कामः संकल्प) इत्यादि श्रुति में परिपठित कामादिक पाँच वृत्तियाँ शब्द से नहीं गृहीत हो सकती हैं। यहां शंका होती है कि कामादि रूप श्रुति प्रसिद्ध मनोवृत्ति को नहीं मानने पर भी लोक में प्रसिद्ध भी वर्तमान काल मात्र ग्राही श्रोत्रादिजन्य ज्ञान रूप पाँच ही वृत्तियाँ नहीं हैं; किन्तु लोक में भी प्रसिद्ध ज्ञान श्रोत्रादि निरपेक्ष अतएव भूत भविष्यदादि विषयक अनुमानादिजन्य अपर (पाँच से अन्य) भी मन की वृत्ति रूप है। इससे ज्ञान में भी पाँच से अतिरेक (अधिकता) तुल्य है। ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि यदि ऐसा है तो (अप्रतिषिद्ध परमत भी अनुमत स्वीकृत होता है।) इस न्याय से इस सूत्र में भी योगशास्त्र में प्रसिद्ध

मन की पाँच वृत्तियाँ परिगृहीत होंगी, जो (प्रमाण (प्रमिति) विपर्यय (भ्रम) विकल्प (असत् की कल्पना) तामसी वृत्तिरूप निद्रा और स्मृति नाम वाली वृत्तियाँ हैं) अथवा बहुत वृत्ति वाला होने मात्र से मन प्राण का दृष्टान्त है, मन की पाँच वृत्ति का नियम नहीं है ऐसा समझना चाहिये। मन के समान पाँच वृत्ति वाला होने से प्राण को जीव के प्रति उपकरणत्व भी है, इस प्रकार सूत्र योजना के योग्य है ॥१२॥

श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण (६)

प्राणोऽयं विभुरल्पो वा विभुः स्यात्प्लुष्युपक्रमे ।
हिरण्यगर्भपर्यन्ते सर्वदेहे समोक्तितः ॥ १ ॥
समष्टिव्यष्टिरूपेण विभुरेवाधिदैविकः ।
आध्यात्मिकोऽल्पः प्राणः स्याददृश्यश्च यथेन्द्रियम् ॥ २ ॥

मुख्य प्राण भी अणु (परिच्छिन्न) और सूक्ष्म है। यहाँ संशय है कि यह प्रसिद्ध प्राण विभु है अथवा अल्प (परिच्छिन्न) है। पूर्वपक्ष है कि प्लुषी (पुत्तिका-पतंगा) से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सब देहों में (समःप्लुषिणा) इस श्रुति में सम प्राण के कथन से प्राण विभु होगा। सिद्धान्त है कि समष्टि व्यष्टि रूप से वर्तमान आधिदैविक श्रुति कथित प्राण ही विभु है। आध्यात्मिक प्राण अल्प होगा और इन्द्रिय के समान अदृश्य होगा, और है ॥ १—२ ॥

अणुश्च ॥ १३ ॥

अणुश्चायं मुख्यः प्राणः प्रत्येतव्य इतरप्राणवत्। अणुत्वं चेहापि सौक्ष्म्य-परिच्छेदौ न परमाणुतुल्यत्वम्। पञ्चभिर्वृत्तिभिः कृत्स्नशरीरव्यापित्वात्। सूक्ष्मः प्राणः उत्क्रान्तौ पार्श्वस्थेनानुपलभ्यमानत्वात्, परिच्छिन्नश्चोत्क्रान्ति-गत्यागतिश्रुतिभ्यः। ननु विभुत्वमपि प्राणस्य समाम्नायते—'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण' (बृ० १।३।२२) इत्येवमादिप्रदेशेषु। तदुच्यते—आधिदैविकेन समष्टिव्यष्टिरूपेण हैरण्यगर्भेण प्राणात्मनैवैतद्विभुत्वमाम्नायते नाध्यात्मिकेन। अपि च समः प्लुषिणेत्यादिना साम्यवचनेन प्रतिप्राणिवर्तिनः प्राणस्य परिच्छेद एव प्रदर्श्यते तस्माद-दोषः ॥ १३ ॥

यह मुख्य प्राण अन्य प्राणों के समान अणु समझने योग्य है। यहाँ भी सूक्ष्मता और परिच्छेद रूप ही अणुत्व है। परमाणुतुल्यत्व रूप अणुत्व नहीं है, जिससे पाँच वृत्तियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्यापित्व होने से अणु तुल्यत्व का सम्भव नहीं है। मरण काल में शरीर से उत्क्रान्त प्राण पार्श्वस्थ से अनुपलभ्यमान होने से सूक्ष्म है। उत्क्रान्ति गति आगति की श्रुति से परिच्छिन्न भी है। शंका होती है कि (प्राण प्लुषि के सम है, मशक के सम है, हाथी के सम है, इस तीन लोक के सम है, इस सबके साथ सम तुल्य है) इत्यादि प्रदेशों में प्राण की विभुता भी श्रुति में कही जाती है, फिर अणुता का निश्चय कैसे हो सकता है, उसका उत्तर कहा जाता है कि हिरण्यगर्भ सम्बन्धी आधिदैविक समष्टि प्राण स्वरूप से यह विभुत्व कहा जाता है, आध्यात्मिक रूप से

विभुत्व नहीं कहा जाता है। दूसरी बात है कि 'प्लुषि के समान है' इत्यादि समता के वचन से प्रत्येक प्राणी में रहने वाला प्राण का परिच्छेद ही प्रदर्शित होता है। तीन लोक की तुल्यता विराट दृष्टि से कही गई है, इस सबसे तुल्यता हिरण्यगर्भ दृष्टि से है जिससे दोष नहीं है ॥ १३ ॥

ज्योतिराद्यधिकरण (७)

स्वतन्त्रा देवतन्त्रा वा वागाद्याः स्युः स्वतन्त्रता।
नोचेद्वागादिजो भोगो देवानां स्यान्न चात्मनः ॥ १ ॥
श्रुतमग्न्यादितन्त्रत्वं भोगोऽन्यादेस्तु नोचितः।
देवदेहेषु सिद्धत्वाज्जीवो भुंक्ते स्वकर्मणा ॥ २ ॥

वाक् आदि इन्द्रियों में अग्नि आदि देव के अंश भी अधिष्ठान (अधिष्ठाता) रूप से वर्तमान रहते हैं। जिससे (अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्) इत्यादि श्रुति देवरूप अधिष्ठान का आमनन करती है कथन करती है, इससे अधिष्ठातृ देव सिद्ध होता है। संशय है कि वाक् आदि अपने कार्य के लिए स्वतन्त्र हैं। अथवा देव के अधीन कार्य के लिए समर्थ हो सकते हैं। यहाँ पूर्वपक्ष है कि स्वतन्त्र हैं क्योंकि (वाचा हि नामान्य-मिवदति) इत्यादि श्रुति से वाक् आदि मात्र में तत्तत् क्रियाओं का करणत्व सुना जाता है। (अग्नि वाक् होकर मुख में पैठा) यह कथन जड़ अग्नि में वाक् की उपादानता दृष्टि से है। चेतन जीव के अधिष्ठाता रहते अन्य अधिष्ठाता का कोई फल भी नहीं है। यदि ऐसा नहीं होगा तो वाक् आदि जन्य भोग देवों को होगा. जीवात्मा को नहीं होगा इत्यादि। सिद्धान्त है कि दूरस्थ सूर्य मण्डलादि नेत्रादि के उपादान नहीं हो सकते हैं, इससे मुखादि में प्रवेश श्रुति अधिष्ठातृ दृष्टि से ही है। जीव अनिष्ट का भी दर्शनादि कर्ता है इससे यह अधिष्ठाता नहीं है किन्तु अग्नि के अधीनत्व सुना गया है यह उचित है। अधिष्ठेय वागादि से देव को भोग होना उचित नहीं है, उनके देव देहों में भोग के साधन वागादि स्वयं पृथक् हैं जिनसे देव देह में उत्तम भोग के सिद्ध होने से तुच्छ भोगों की अपेक्षा नहीं है। साधारण जीव अपने कर्मों द्वारा तुच्छ भोगों को भोगता है ॥१–२॥

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥

ते पुनः प्रकृताः प्राणाः किं स्वमहिम्नैव स्वस्मै स्वस्मै कार्याय प्रभवन्त्याहो-स्विद्दैवताधिष्ठिताः प्रभवन्तीति विचार्यते। तत्र प्राप्तं तावद्यथास्वं कार्यशक्तियो-गात्स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति। अपि च देवताधिष्ठितानां प्राणानां प्रवृत्तावभ्युपगम्यमानायां तासामेवाधिष्ठात्रीणां देवतानां भोक्तृत्वप्रसङ्गाच्छा-रीरस्य भोक्तृत्वं प्रलीयेत, अतः स्वमहिम्नैवैषां प्रवृत्तिरिति।

फिर विचार किया जाता है कि वे प्रकृत गौण मुख्य प्राण क्या अपनी-अपनी महिमा सामर्थ्य मात्र से अपने अपने कार्यों के लिए प्रभु (समर्थ) होते हैं अथवा अधिदेव के आश्रित होकर कार्यों के लिए समर्थ होते हैं। यहाँ प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता

है कि अपने-अपने विषयों कार्यों के अनुसार कार्य शक्ति के सम्बन्ध से अपनी-अपनी महिमाओं से ही प्राण सब प्रवृत्त होंगे। दूसरी बात है कि देवताओं से अधिष्ठित प्राणों की प्रवृत्ति मानने पर, उन अधिष्ठातृ देवों को ही भोक्तृत्व की प्राप्ति से, शरीर (जीवात्मा) को भोक्तृत्व प्रलीन हो जायगा (नहीं रहेगा) अतः स्वमहिमा से ही इन प्राणों की प्रवृत्ति होती है।

एवं प्राप्त इदमुच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु इति। तुशब्देन पूर्वपक्षी व्यावर्त्यते। ज्योतिरादिभिरग्न्याद्यभिमानिनीभिर्देवताभिरधिष्ठितं वागादिकरणजातं स्वकार्येषु प्रवर्तत इति प्रतिजानीते। हेतुं व्याचष्टे—तदामननादिति। तथा ह्यामनन्ति—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐत० २।४) इत्यादि। अग्नेश्चायं वाग्भावो मुखप्रवेशश्च देवतात्मनाधिष्ठातृत्वमङ्गीकृत्योच्यते। नहि देवतासम्बन्धं प्रत्याख्यायाग्नेर्वाचि मुखे वा कश्चिद्विशेषसम्बन्धो दृश्यते। तथा 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐत० २।४) इत्येवमाद्यपि योजयितव्यम्। तथान्यत्रापि 'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३।१८।३) इत्येवमादिना वागादीनामग्न्यादिज्योतिष्ट्ववचनेनैतमेवार्थं द्रढयति। 'स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्' (बृ० १।३।१२) इति चैवमादिना वागादीनामग्न्यादिभावापत्तिवचनेनैतमेवार्थं द्योतयति। सर्वत्र चाध्यात्माधिदैवतविभागेन वागाद्यग्न्याद्यनुक्रमणमनयैव प्रत्यासत्त्या भवति।

ऐसा प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि (ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु) इति। तु शब्द से पूर्वपक्ष व्यावृत्त किया जाता है। ज्योति आदि रूप अग्नि आदि के अभिमानी देवताओं से अधिष्ठित वाक् आदि करण समूह अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। यह प्रतिज्ञा करते हैं। हेतु का व्याख्यान (कथन) करते हैं कि-(तदामननात्) इति। जिससे श्रुतियाँ इसी प्रकार कहती हैं कि (अग्नि वाक् होकर मुख में पैठ गई) इत्यादि। अग्नि का यह वाग्भाव (वाकरूपत्व) और मुख में प्रवेश, देवतारूप से अधिष्ठातृत्व का अङ्गीकार करके ही कहा जाता है जिससे देवताभाव से सम्बन्ध को त्याग कर अग्नि का वाक् में वा मुख में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं दीखता है। इसी प्रकार (वायु प्राण होकर नासिकाओं में पैठा) इत्यादि वचन भी योजना के योग्य हैं। इसी प्रकार अन्य स्थान में भी (वाक् ही ब्रह्म का चतुर्थ पाद है, सो अग्निरूप ज्योति से दीप्त होता भासता है, तपता है, स्वकार्य करता है) इत्यादि वाक् आदि के अग्निज्योतिष्ट्व (अग्नि से प्रकाश्यत्व) आदि वचन से भी इस अधिष्ठातृत्व अर्थ को ही श्रुति दृढ करती है। (वह प्राण उद्गीथ रूप कर्म में प्रथमा-प्रधान-वाक् को अनृतादि मृत्यु से मुक्त करके दूर ले गया। वाक् जब मृत्यु से मुक्त हुई तब वह अग्नि स्वरूप हो गई) इत्यादि श्रुति भी वाक् आदि की अग्निरूपता की प्राप्ति के कथन द्वारा इस अर्थ का ही

द्योतन प्रकाशन करती है। (मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः, चक्षुरादित्यम्)। मृत प्राणी की वाक् अग्नि में लीन होती है। प्राण वायु में लीन होता है, नेत्र सूर्य में लीन होता है) इत्यादि सभी स्थानों में अध्यात्म और अधिदैवत के विभाग द्वारा वाक् आदि का और अग्नि आदि का अनुक्रमण (क्रमपूर्वक कथन) इसी अधिष्ठातृ-अधिष्ठेय-भावरूप प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से होता है।

स्मृतावपि— वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदेवतम् ॥

इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं सप्रपञ्चं दर्शितम्। यदुक्तं स्वकार्यशक्तियोगात् स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति। तदयुक्तम्। शक्तानामपि शकटादीनामनडुहाद्यधिष्ठितानां प्रवृत्तिदर्शनात्। उभयथापपत्तौ चागमाद्देवताधिष्ठितत्वमेव निश्चीयते ॥ १४ ॥

स्मृति में भी (तत्त्वदर्शी ब्राह्मण वाक् को अध्यात्म इस शब्द से कहते हैं, और वक्तव्य वस्तु को अधिभूत कहते हैं, और वहाँ अग्नि अधिदैवत है) इत्यादि वचनों द्वारा वाक् आदि को अग्नि आदि देवताओं से अधिष्ठितत्व को विस्तार पूर्वक दर्शित कराया गया है जो यह कहा है कि इन्द्रियों को स्वकार्य में शक्ति के योग से इन्द्रियाँ अपनी महिमा से ही प्रवृत्त होंगी, यह कथन अयुक्त है, क्योंकि शक्तियुक्त भी शकट (गाड़ी) आदि की बैल आदि से अधिष्ठित होने पर प्रवृत्ति देखी जाती है। यद्यपि शकटादि की प्रवृत्ति अधिष्ठित होने पर होती है, क्षीरादि को दधि आदि रूप से प्रवृत्ति अधिष्ठाता के बिना भी देखी जाती है, इससे वाक् आदि की प्रवृत्ति की उभयथा उपपत्ति हो सकती है। तथापि आगमन से देवता से अधिष्ठितत्व ही का निश्चय किया जाता है ॥ १४ ॥

यदप्युक्तं देवतानामेवाधिष्ठात्रीणां भोक्तृत्वप्रसङ्गो न शारीरस्येति तत्परिह्रियते—

प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥

सतीष्वपि प्राणानामधिष्ठात्रीषु देवतासु प्राणवता कार्यकरणसंघातस्वामिना शारीरेणैवैषां प्राणानां सम्बन्धः श्रुतेरवगम्यते। तथाहि श्रुतिः—'अथ यत्रैतदाकाशमनु विषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्' (छा० ८।१२।४) इत्येवंजातीयका शारीरेणैव प्राणानां सम्बन्धं श्रावयति। अपि चानेकत्वात्प्रतिकरणमधिष्ठात्रीणां देवतानां न भोक्तृत्वमस्मिञ्शरीरेऽवकल्पते। एको ह्येवमस्मिञ्शरीरे शारीरो भोक्ता प्रतिसंधानादिसंभवादवगम्यते ॥ १५ ॥

जो यह कहा था कि अधिष्ठात्री देवताओं को ही भोग की प्राप्ति होगी शरीर (जीवात्मा) को भोग नहीं होगा, उसका परिहार किया जाता है कि—

प्राणों के अधिष्ठात्री देवताओं के रहते भी प्राणवाला कार्यकरणरूप संघात का स्वामी शारीर (जीव) के साथ ही इन प्राणों का स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध श्रुति से अवगत होता है। जिससे इस प्रकार की श्रुति है कि (देह में प्राण के प्रवेश के बाद में जिस गोलक में यह आकाश छिद्र मध्यभाग में है, उसमें अनुविषण्ण (प्रविष्ट) चक्षु इन्द्रिय होता है। उस चक्षु में वह चाक्षुष पुरुष आत्मा रहता है, और उसी के रूप के ज्ञान के लिये चक्षु है। जो यह समझता है कि यह सूंघता हूँ वह आत्मा है, गन्ध के ज्ञान के लिए नासिका है। इस प्रकार की श्रुतियाँ शारीर के साथ ही प्राणों के सम्बन्ध का श्रवण कराती हैं। दूसरी बात है कि प्रत्येक करण में अधिष्ठातृदेव के भिन्न होने के कारण अधिष्ठात्री देवताओं की अनेकता से उन अधिष्ठात्री देवताओं को इस अधिष्ठेय शरीर में भोक्तृत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। जो मैंने रूप को देखा था, वह अब मैं शब्द सुनता हूँ इत्यादि प्रतिसंधानादि के सम्भव से इस शरीर में एक ही शारीर भोक्ता अवगत होता है॥ १५॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

तस्य च शारीरस्यास्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वेन नित्यत्वं पुण्यपापोपलेपसंभवात्सुखदुःखोपभोगसंभवाच्च न देवतानाम्। ता हि परस्मिन्नैश्वर्ये पदेऽवतिष्ठमाना न हीनेऽस्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वं प्रतिलब्धुमर्हन्ति श्रुतिश्च भवति—'पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति' (बृ० १।५।२) इति। शारीरेणैव च नित्यः प्राणानां संबन्धः, उत्क्रान्त्यादिषु तदनुवृत्तिदर्शनात्। 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्सतीष्वपि करणानां नियन्त्रीषु देवतासु न शारीरस्य भोक्तृत्वमपगच्छति। करणपक्षस्यैव हि देवता न भोक्तृपक्षस्येति ॥ १६ ॥

देवताओं के शरीर में रहते भी उन्हें इस अधिष्ठेय शरीर से कभी भोक्तृत्व नहीं होता है, जिससे पुण्यपाप के उपलेप (सम्बन्ध) के सम्भव से, और इसी कारण से सुखदुःखों के उपभोग के सम्भव से उस प्राणवाले शरीर को ही इस शरीर में भोक्तृरूप से प्रारब्ध योग पर्यन्त नित्यत्व (भोक्तृरूप से सदा वर्तमानत्व) रहता है, देवताओं की ऐसी वर्तमानता नहीं रहती है। देवता जिससे उत्तम ऐश्वर्य पद में रहने वाली हैं। इससे हीन इस शरीर में भोक्तृत्व को प्राप्त करने योग्य नहीं है। श्रुति भी है कि (प्राजापत्य पद में वर्तमान इस उपासक को पुण्य शुभ ही प्राप्त होता है, देवों को पाप का फल नहीं प्राप्त होता है) और उत्क्रान्ति आदि शरीर आत्मा के साथ प्राणों की अनुवृत्ति (अनुगम) देखने से प्राणों का शरीर के साथ ही नित्य सम्बन्ध है। वह (उस जीव के उत्क्रमण करते ही प्राण पीछे उत्क्रमण करता है। प्राण के उत्क्रमण करते ही फिर सब प्राण (इन्द्रियाँ) उत्क्रमण करते हैं। इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। इससे कारणों के नियन्त्री देवताओं के रहते भी शरीर का भोक्तृत्व

अवगत (निवृत्त) नहीं होता है। इससे प्रदीपादि के समान करणों के उपकारक होने से कारण पक्ष के ही देव हैं, मोक्तृपक्ष के नहीं हैं ॥ १० ॥

इन्द्रियाधिकरण (८)

प्राणस्य वृत्तयोऽक्षाणि प्राणात्तत्वान्तराणि वा।
तद्रूपत्वश्रुतेः प्राणनाम्नोक्तत्वाच्च वृत्तयः ॥ १ ॥
श्रमाश्रमादिभेदोक्तेर्गौणे तद्रूपनामनी।
आलोचकत्वेनान्यानि प्राणो नेताऽक्षदेहयोः ॥ २ ॥

श्रेष्ठ प्राण से अन्य वे वागादि प्राण से मिन्न और इन्द्रिय हैं, श्रेष्ठ प्राण के वृत्तिमात्र नहीं हैं, क्योंकि श्रुति में इस इन्द्रिय नाम से व्यवहार है। यहाँ संशय है कि मुख्य प्राण की वृत्ति (अवस्था) रूप अन्य इन्द्रियाँ हैं या प्राण से तत्वान्तर है। पूर्वपक्ष है कि (हन्तास्यैव सर्वे रूपमसाम) इस श्रुति से प्राणों की मुख्य प्राणरूपता के श्रवण से तथा प्राण नाम द्वारा सब के व्यवहार से मुख्य प्राण की वृत्तिरूप ही वागादि हैं। सिद्धान्त है कि श्रुति में श्रम और श्रम के अभावादि के कथन से, अर्थात् मुख्य प्राण में श्रमादि के अभावादि के अन्य में श्रमादि के भावादि के कथन से भेद का कथन है, इससे तद्रूपता और प्राण नाम गौण हैं। विषयों को आलोचकत्व (प्रदर्शकत्व) रूप से इन्द्रियाँ अन्य हैं। देह और इन्द्रियों का नेता प्राण है ॥ १–२ ॥

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ १७ ॥

मुख्यश्चैक इतरे चैकादश प्राणा अनुक्रान्ताः। तत्रेदमपरं संदिह्यते किं मुख्यस्यैव प्राणस्य वृत्तिभेदा इतरे प्राणा आहोस्वित्तत्वान्तराणीति। किं तावत्प्राप्तं, मुख्यस्यैवेतरे वृत्तिभेदा इति। कुतः ? श्रुतेः। तथाहि श्रुतिमुख्यमितरांश्च प्राणान्संनिधाप्य मुख्यात्मतामितरेषां ख्यापयति—'हन्तास्यैव सर्वं रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ० १।५।२१) इति। प्राणैकशब्दत्वाच्चैकत्वाध्यवसायः। इतरथा ह्यन्याय्यमनेकार्थत्वं प्राणशब्दस्य प्रसज्येत। एकत्र वा मुख्यत्वमितरत्र वा लाक्षणिकत्वमापद्येत। तस्माद्यथैकस्यैव प्राणस्य प्राणाद्याः पञ्च वृत्तय एवं वागाद्या अप्येकादशेति।

एक मुख्य प्राण और ग्यारह अन्य प्राण अनुक्रान्त (अनुक्रम से पठित) हैं। वहाँ यह अन्य कुछ संशय का विषय होता है कि मुख्य ही प्राण के वृत्तिभेद (अवस्थाभेद) रूप अन्य प्राण हैं, अथवा तत्वान्तर हैं। विमर्श होता है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है, पूर्वपक्ष है कि मुख्य प्राण के ही वृत्तिभेद रूप अन्य प्राण हैं। क्योंकि श्रुति से ऐसा ही सिद्ध होता है। जिससे मुख्य प्राण और इतर प्राणों की सन्निधि (पास) में स्थिर करके इतर प्राणों की मुख्य प्राणरूपता का श्रुति इस प्रकार ख्यापन (कथन) करती है कि—(वागादि कहते हैं कि हन्त इस समय हम इस मुख्य प्राण के स्वरूप हो जायं, और ऐसा संकल्प करके वे सब इस प्राण के स्वरूप हो गये) और एक

प्राण शब्दवाली सब इन्द्रियों के होने से, अर्थात् प्राण शब्द का वाच्यत्व होने से भी सब में एक प्राणरूपत्व का अध्यवसाय (निश्चय) होता है। अन्यथा ऐसा नहीं मानते पर अन्याय्यरूप अनेकार्थत्व प्राणशब्द को प्राप्त होगा। अथवा एक में मुख्यत्व, और अन्य अर्थों में लाक्षणिकत्व को प्राण शब्द प्राप्त होगा। उससे जैसे एक प्राण की प्राण अपान आदि पाँच वृत्तियाँ हैं। इसी प्रकार वाक् आदि भी ग्यारह वृत्तियाँ हैं।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्त्वान्तराण्येव प्राणाद्वागादीनीति। कुतः व्यपदेशभेदात्। कोऽयं व्यपदेशभेदः ? ते प्रकृताः प्राणाः श्रेष्ठं वर्जयित्वावशिष्टा एकादशेन्द्रियाणी-त्युच्यन्ते श्रुतावेवं व्यपदेशदर्शनात्। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति ह्येवंजातीयकेषु प्रदेशेषु पृथक्प्राणो व्यपदिश्यते पृथक्चेन्द्रियाणि। ननु मनसोऽप्येवंसति वर्जनमिन्द्रियत्वेन प्राणवत्स्यात्, 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति पृथग्व्यपदेशदर्शनात्। सत्यमेतत्। स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रि-याणीति मनोऽपीन्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत्संगृह्यते, प्राणस्य त्विन्द्रियत्वं न श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धमस्ति। व्यपदेशभेदश्चायं तत्त्वभेदपक्ष उपपद्यते तत्त्वैकत्वे तु 'स एवैकः सन्प्राण इन्द्रियव्यपदेशं लभते न लभते चे'ति विप्रतिषिद्धम्। तस्मात्तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥ १७ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्राण से तत्त्वान्तर रूप ही वागादि हैं, क्योंकि व्यपदेशभेद से ऐसा ही सिद्ध होता है। यह व्यपदेशभेद क्या है, ऐसा प्रश्न का उत्तर है कि श्रेष्ठ के बिना उसे छोड़कर जो वे प्रकृत अवशिष्ट प्राण हैं वे एकादश इन्द्रिय इस शब्द से कहे जाते हैं। यही व्यपदेशभेद है। श्रुति में ऐसा व्यपदेश देखने से अन्यत्र भी व्यपदेश होता है। (इस पुरुष से प्राण उत्पन्न होता है, मन उत्पन्न होता है और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं) इस प्रकार के प्रदेशों में पृथक् प्राण व्यपदिष्ट होता है और पृथक् इन्द्रियाँ व्यपदिष्ट होती हैं। शंका होती है कि इन्द्रियों से पृथक् प्राण के समान मन भी इन्द्रियों से पृथक् निर्दिष्ट है, इससे ऐसा होने पर प्राण के समान मन को भी इन्द्रियत्व धर्म से वर्जन (रहित होना) होगा। मन को भी इन्द्रियों से भेद होगा जिससे (मनः सर्वेन्द्रियाणि च) यह पृथक् निर्देश का दर्शन है। उत्तर है कि यह इन्द्रिय से मन का भेद निर्देशादि सत्य ही है, तो भी स्मृति में (एकादशेन्द्रियाणि) इस वचन में मन भी श्रोत्रादि के समान इन्द्रिय रूप से संगृहीत किया जाता है। प्राण का इन्द्रियत्व तो श्रुति वा स्मृति में प्रसिद्ध नहीं है ! तत्त्वभेद पक्ष में यह व्यपदेश का भेद उपपन्न होता है। और तत्त्व के एकत्व होने पर वही एक प्राण अनेक अवस्था वाला होता हुआ वाक् आदि अवस्था में इन्द्रिय व्यपदेश का लाभ करता है, प्राण, अपान आदि अवस्था मे इन्द्रिय व्यपदेश का नहीं लाभ करता है यह विरुद्ध होगा, जिससे मुख्य प्राण से अन्य प्राण तत्त्वान्तर स्वरूप हैं। तथा (एतस्माज्जायते प्राणः) इत्यादि रूप एक वाक्य में एक प्राण पक्ष में वही प्राण शब्द से कहा जाय, वही प्राण शब्द से नहीं कहा जाय किन्तु इन्द्रिय से कहा जाय यह विरुद्ध है इत्यादि जिससे तत्त्वभेद है ॥१७॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः मुख्यादितरे—

और किस हेतु से मुख्य से अन्य तत्त्वान्तर स्वरूप हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि—

भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

भेदेन वागादिभ्यः प्राणः सर्वत्र श्रूयते—'ते ह वाचमूचुः' (बृ० १।३।२) इत्युपक्रम्य वागादीनसुरपाप्मविध्वस्तानुपन्यस्योपसंहृत्य वागादिप्रकरणम् 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' इत्यसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य पृथगुपक्रमणात्। तथा 'मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत' इत्येवमाद्या अपि भेदश्रुतय उदाहर्तव्याः। तस्मादपि तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥ १८ ॥

वाक् आदि से भेदयुक्त सर्वत्र प्राण सुना जाता है (उन देवों ने वाक् से कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान करो) इस प्रकार आरम्भ करके। असुर रूप पापों से विध्वस्त वाक् आदि का उपन्यास करके वाक् आदि के प्रकरण का उपसंहार (समाप्ति) करके (उसके अनन्तर काल में आस्य मुख में रहने वाले प्राण को सब देवों ने कहा) इस प्रकार असुरों का विध्वंस करने वाला प्राण के पृथक् उपक्रमण से मुख्य से तत्त्वान्तर स्वरूप इन्द्रियाँ हैं। इसी प्रकार (मन, वाक् और प्राण उन तीनों को प्रजापति ने अपने लिए किया) इत्यादि भेदश्रुति भी उदाहरण के योग्य है। जिससे भी मुख्य से अन्य तत्त्वान्तर स्वरूप हैं ॥ १८ ॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः मुख्यादितरे—

और किस हेतु से अन्य प्राण तत्त्वान्तर स्वरूप हैं—

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

वैलक्षण्यं च भवति मुख्यस्येतरेषां च। सुषुप्तेषु वागादिषु मुख्य एको जागर्ति स एव चैको मृत्युनाऽनाप्त आप्तास्त्वितरे। तस्यैव च स्थित्युत्क्रान्तिभ्यां देहधारणपतनहेतुत्वं नेन्द्रियाणाम्, विषयालोचनहेतुत्वं चेन्द्रियाणां न प्राणस्येत्येवंजातीयको भूयांल्लक्षणभेदः प्राणेन्द्रियाणाम्। तस्मादप्येषां तत्त्वान्तरभावसिद्धिः। यदुक्तम्—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ० १।५।२१) इति श्रुतेः प्राण एवेन्द्रियाणि—इति, तदयुक्तम्। तत्रापि पौर्वापर्यालोचनाद्भेदप्रतीतेः। तथाहि—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १।५।२१) इतिवागादीनीन्द्रियाण्यनुक्रम्य 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्' इति च श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्तत्वं वागादीनामभिधाय 'अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः' (बृ० १।५।२१) इति पृथक्प्राणं मृत्युनानभिभूतं तमनुक्रामति। 'अयं वै नः श्रेष्ठः (बृ० १।५।२१) इति च श्रेष्ठतामस्यावधारयति। तस्मात्तदविरोधेन वागादिषु परिस्पन्दलाभस्य प्राणायत्तत्वं तद्रूपभवनं वागादीनामिति मन्तव्यं न तादात्म्यम्। अत एव च प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकत्वसिद्धिः।

तथा च श्रुतिः—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्, तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः' (२।५।२१) इति मुख्यप्राणविषयस्यैव प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकीं वृत्तिं दर्शयति। तस्मात्तत्त्वान्तराणि प्राणादीन्द्रियाणीति ॥ १९ ॥

मुख्य प्राण और इतर प्राण को परस्पर विलक्षणता है। वाक् आदि के सोने पर एक मुख्य प्राण जागता है। वही एक मुख्य प्राण मृत्यु से अगृहीत है, अन्य गृहीत हैं। उसी को स्थिति और उत्क्रान्ति द्वारा देह के धारण और पतन का हेतुत्व है। इन्द्रियों को देह धारणादि का हेतुत्व नहीं है। और विषयों के आलोचन (ज्ञान) का हेतुत्व इन्द्रियों को है, प्राण को नहो, इस प्रकार का प्राण और इन्द्रियों के लक्षण का भेद बहुत है। उससे भी इन इन्द्रियों के तत्त्वान्तरभाव भेद) की सिद्धि होती है। जो यह कहा था कि (वे सब इन्द्रियाँ इस मुख्य प्राण के स्वरूप हो गयीं) इस श्रुति से प्राण ही रूप इन्द्रियाँ हैं यह कथन अयुक्त है क्योंकि वहाँ भी पूर्वापर के आलोचन (विचार दर्शन) से भेद की प्रतीति होती है, वह इस प्रकार है कि (वाक् ने व्रत का निश्चय किया कि मैं बोलूंगी ही, मैं अपने व्यापार से उपरत नहीं हो सकती) इस प्रकार वाक् आदि इन्द्रियों का अनुक्रमण करके (उनको मृत्यु श्रम रूप होकर ग्रहण किया जिससे वाक् श्रान्त होती ही है) इस प्रकार श्रम रूप से मृत्युद्वारा वाक् आदि के ग्रस्तत्व का कथन करके (फिर इसी को मृत्यु नहीं प्राप्त हुआ कि जो यह मध्यम प्राण है) इस प्रकार मृत्यु से अनभिभूत पृथक् उस प्राण का अनुक्रमण श्रुति करती है कि (यह हम सब में श्रेष्ठ है) और इससे श्रेष्ठता का अवधारण कराती है जिससे उस श्रेष्ठता के साथ अविरोधपूर्वक वाक् आदि में परिस्पन्द लाभ को प्राणाधीनत्व वाक् आदि का उस प्राणरूप होना है, ऐसा मानना चाहिए, तादात्म्य (अभेद) नहीं मानना चाहिये। इस प्राणाधीनता से ही प्राण शब्द को इन्द्रियों में लाक्षणिकत्व की सिद्धि होती है और इस प्रकार श्रुति कहती है कि (वे वाक् आदि सब इस मुख्य प्राण के रूप हो गये जिससे ये वाक् आदि इस प्राण से वाचक शब्द से कहे जाते हैं) इस प्रकार यह श्रुति मुख्य प्राणविषयक ही प्राण शब्द की वाक् आदि में लाक्षणिकी वृत्ति को दर्शाती है, जिससे प्राण से इन्द्रियाँ तत्त्वान्तर हैं ॥ १९ ॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण (९)

नामरूपव्याकरणो जीवः कर्ताथ वेश्वरः।
अनेन जीवेनेत्युक्तेर्व्याकर्ता जीव इष्यते ॥ १ ॥
जीवान्वयः प्रवेशेन सन्निधेः सर्वसर्जने।
जीवोऽशक्तः शक्त ईश उत्तमोक्तिस्तथेक्षितुः ॥ २ ॥

उत्पत्ति और उत्पादना दो प्रकार का व्यापार होता है। उत्पत्ति रूप व्यापार कार्य में रहता है। उत्पादना कर्ता में रहता है, इसो को मीमांसक आर्थीभावना कहते हैं। वहाँ जगत् की उत्पत्ति विषयक श्रुति के विरोधों का परिहार अतीत दो पाद से किया गया है। इस समय उत्पादनाविषयक श्रुति विरोध का परिहार करते हैं। वहाँ भी सूक्ष्म भूतों की उत्पादना ईश्वर के व्यापार रूप श्रुतियों में अति प्रसिद्ध है। स्थुल भूतों की

उत्पादना में विरोध है जिसके निवारण के लिए सूत्रकार कहते हैं कि यद्यपि (जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि) इससे प्रतीत होता है कि स्थूल नामरूप का व्याकर विस्तारकर्ता जीव है, परन्तु वहाँ भी (अहं करवाणि) मैं करूँगा इस कथन से तथा अन्य उपदेश से त्रिवृत कर्ता ईश्वर का नाम और रूप की क्लृप्ति (उत्पादना) रूप व्यापार है, जीव का नहीं है। संशय है कि नाम और रूप के व्याकरण में जीव कर्ता है, अथवा ईश्वर कर्ता है। पूर्वपक्ष है कि (अनेन जीवेन) इस कथन से नाम रूप का विस्तारकर्ता जीव इष्ट है। सिद्धान्त है कि जीव का अन्वय (सम्बन्ध) केवल प्रवेश क्रिया के साथ समीपता से है, व्याकरण क्रिया के साथ नहीं है, क्योंकि वहाँ उत्तम पुरुष की उक्ति है कि मैं करूँगा। दूसरी बात है कि सबके सर्जन (उत्पादन) में जीव असमर्थ है. ईश्वर ही समर्थ है ॥ १–२ ॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

सत्प्रक्रियायां तेजोबन्नानां सृष्टिमभिधायोपदिश्यते—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति, तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति' (छा० ६।३।२)। तत्र संशयः—किं जीवकर्तृकमिदं नामरूपव्याकरणमाहोस्वित्परमेश्वरकर्तृकमिति। तत्र प्राप्तं तावज्जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणमिति। कुतः ? 'अनेन जीवेनात्मना' इति विशेषणात्। यथा लोके चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य संकलयानीत्येवंजातीयके प्रयोगे चारकर्तृकमेव सत् सैन्यसंकलनं हेतुकर्तृत्वाद्राजात्मन्यध्यारोपयति संकलयानीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण, एवं जीवकर्तृकमेव सन्नामरूपव्याकरणं हेतुकर्तृत्वाद्देवतात्मन्यध्यारोपयति व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण। अपि च डित्थडवित्थादिषु नामसु घटशरावादिषु च रूपेषु जीवस्यैव व्याकर्तृत्वं दृष्टम्। तस्माज्जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणम्।

सत् ब्रह्म के निरूपण की प्रक्रिया (प्रकरण) में तेज, जल और अन्न (भूमि) की सृष्टि का कथन करके उपदेश दिया गया है कि (सो यह सदात्मा रूप देव ने आलोचन विचार किया कि अब इस समय मैं इन तीनों देवताओं में इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके नाम रूप का विस्तार करूँगा। उन तीनों देवों में से एक एक को विभागपूर्वक संमिश्रण द्वारा तीन तीन रूपों से युक्त करूँगा) वहाँ संशय है कि यह नाम रूप का व्याकरण जीवकर्तृक है, अर्थात् नाम रूप व्याकरण का जीव कर्ता है, अथवा यह व्याकरण ईश्वर कर्तृक है, अर्थात् ईश्वर इसका कर्ता है। वहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि यह नाम और रूप का व्याकरण जीवकर्तृक (जीवकृत) है। क्योंकि (इस जीवात्मा द्वारा नाम रूप का व्याकरण करूँगा) ऐसा सम्बन्ध होने से जीवात्मत्व कर्ता का विशेषण रूप है। इससे जैसे लोक में कोई राजा कहता है कि चार (गूढ पुरुष) द्वारा

मैं पर (शत्रु) की सेना संघ में प्रवेश करके शत्रु की सेना संघ का संकलन (परिगणन) करूंगा। वहां इस प्रकार के प्रयोग में चार कर्तृक ही परसेनासमूह का संकलन होता हुआ भी हेतु (प्रयोजक) रूप कर्ता होने से राजा अपने आत्मा में कर्तृत्व का अध्यारोप करता है, उत्तम पुरुष के प्रयोग से कहता है कि मैं संकलन करूंगा, यह अध्यारोप है। इसी प्रकार नाम रूप व्याकरण के जीवकर्तृक ही होते भी, हेतु रूप कर्ता होने से व्याकरण करूंगा इस प्रकार उत्तम पुरुष के प्रयोग द्वारा सत्यात्मा रूप देवता अपने आत्मा में कर्तृत्व का अध्यारोप करता है। डित्थ डवित्थ आधुनिक नामों में और घट, शराव आदि रूपों में जीव का ही कर्तृत्व दृष्ट (प्रत्यक्ष) है। इन नाम रूपों को कर्ता हुआ जीव प्रत्यक्ष देखा जाता है, जिससे नाम रूप का यह स्पष्ट विस्तार जीव ही का किया हुआ है।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधत्ते—'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु' इति। तुशब्देन पक्षं व्यावर्तयति। संज्ञामूर्तिक्लृप्तिरिति नामरूपव्याक्रियेत्यर्थः। तत् त्रिवृत्कुर्वत इति परमेश्वरं लक्षयति, त्रिवृत्करणे तस्य निरपवादकर्तृत्वनिर्देशात्। येयं संज्ञाक्लृप्तिर्मूर्तिक्लृप्तिश्चाग्निरादित्यश्चन्द्रमा विद्युदिति तथा कुशकाशपलाशादिषु पशुमृगमनुष्यादिषु च प्रत्याकृति प्रतिव्यक्ति चानेकप्रकारा, सा खलु परमेश्वरस्यैव तेजोबन्नानां निर्मातुः कृतिर्भवितुमर्हति। कुतः ? उपदेशात्। तथाहि—'सेयं देवतैक्षत' इत्युपक्रम्य 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपूरुषप्रयोगेण परस्यैव ब्रह्मणो व्याकर्तृत्वमिहोपदिश्यते।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु) इति। यहां तु शब्द से पूर्व की व्यावृत्ति करते हैं। संज्ञामूर्तिक्लृप्ति शब्द का नामरूप का व्याकरण अर्थ है। त्रिवृत् कुर्वतः, यह शब्द परमेश्वर का लक्ष (बोध) कराता है, क्योंकि त्रिवृत् करने में उस परमेश्वर के ही निरपवाद (बाधरहित) कर्तृत्व का श्रुति में निर्देश है। इस से अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत्, इस प्रकार की, तथा कुश, काश, पलाश आदि में और पशु मृग, मनुष्य आदि में जो प्रत्येक आकृति (जाति) में और प्रत्येक व्यक्ति में नाना प्रकार की संज्ञा की क्लृप्ति (अभिव्यक्ति सिद्धि) है। मूर्ति की क्लृप्ति है। इसलिए सब क्लृप्ति तेज जल और अन्न का निर्माता परमेश्वर ही की कीर्ति होने योग्य है। क्योंकि उपदेश से ऐसा ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार का उपदेश है कि (उस देवता ने विचार किया) इस प्रकार उपक्रम करके (व्याकरण करूंगा) इस प्रकार उत्तम पुरुष के प्रयोग से परब्रह्म का ही यहां व्याकरण का कर्तारूप से उपदेश दिया जाता है।

ननु जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकत्वं व्याकरणस्याध्यवसितम्। नैतदेवम्, जीवेनेत्येतदनुप्रविश्येत्यनेन सबध्यते आनन्तर्यात्, न व्याकरवाणीत्यनेन,

तेन हि सम्बन्धं व्याकरवाणीत्ययं देवताविषय उत्तमपुरुष औपचारिकः कल्प्येत, नच गिरिनदीसमुद्रादिषु नानाविधेषु नानारूपेष्वनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरण-सामर्थ्यमस्ति, येष्वपि चास्ति सामर्थ्यं तेष्वपि परमेश्वरायत्तमेव तत्। न च जीवो नाम परमेश्वरादत्यन्तभिन्नश्चार इव राज्ञः, आत्मनेति विशेषणात्, उपाधिमात्रनिबन्धनत्वाच्च जीवभावस्य। तेन तत्कृतमपि नामरूपव्याकरण परमेश्वरकृतमेव भवति, परमेश्वर एव च नामरूपयोर्व्याकर्तेति सर्वोपनिषत्सिद्धान्तः 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८ १४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्परमेश्वरस्यैव त्रिवृत्कुर्वतः कर्मनामरूपयोर्व्याकरणम्, त्रिवृत्करणपूर्वकमेवेदमिह नामरूपव्याकरणं विवक्ष्यते, प्रत्येकं नामरूपव्याकरणस्य तेजोबन्नोत्पत्तिवचनेनैवोक्तत्वात्।

शंका होती है कि जीवेन, इस विशेषण से व्याकरण की कर्तृता जीव को निश्चित हुई है। यहाँ उत्तर है कि यह कर्तृत्व इस प्रकार जीव को नहीं है। अनन्तरता से जीवेन यह पद अनुप्रविश्य इसी क्रिया के साथ सम्बद्ध होता है, व्याकरवाणि, इसके साथ नहीं सम्बद्ध होता है, क्योंकि जीवेन इसको व्याकरवाणि इसके साथ सम्बन्ध होने पर, देवता विषयक उपकरवाणि यह इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग गौण कल्पित (सिद्ध) होगा। देवता गौणकर्ता हो, जीव ही मुख्य कर्ता हो ऐसा हो नहीं सकता है, क्योंकि गिरि (पर्वत), नदी, समुद्रादि नाना प्रकार के नामरूपों के व्याकरण में अनीश्वर जीव को व्याकरणक्रिया की शक्ति नहीं है। जिसमें शक्ति है भी उसमें भी वह सामर्थ्य ईश्वराधीन ही है। शंका होती है कि (अनुप्रविश्य करवाणि) पैठकर करता हूँ। इस प्रकार एक कर्त्ता के रहते पूर्वकालिक क्रिया अर्थ में क्त्वा प्रत्यय होता है, यदि प्रवेश का कर्ता जीव है, व्याकरण का कर्ता देव है, तो क्त्वा नहीं होना चाहिये। इससे उत्तर है कि जैसे राजा से चार अत्यन्त भिन्न होता है, वैसे परमेश्वर से अत्यन्तभिन्न जीव नामवाला नहीं है, इसलिए आत्मना इस विशेषण से सिद्ध होता है। उपाधि मात्र निमित्तक परमेश्वर में हो जीवभाव के होने से भी जीव परमेश्वर से भिन्न नहीं है। इससे उस जीव से किया गया भी नाम रूप का व्याकरण परमेश्वर कृत ही होता है। परमेश्वर ही नाम और रूप का व्याकरण (अभिव्यक्ति) कर्ता है, यह सब उपनिषदों का सिद्धान्त है। अतः (आकाश--विभु ब्रह्मात्मा ही नाम और रूप का निर्वहिता– निर्वाहसिद्धि कर्ता है) इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। इससे त्रिवृत करने वाले परमेश्वर के ही नाम और रूप का व्याकरण रूप कर्म (व्यापार) है। परमेश्वर से अभिन्न होते भी औपाधिक भेदवाले जीव का यह कर्म नहीं हो सकता है। तेज, जल, अन्न की उत्पत्ति के कथन से ही प्रत्येक नाम रूप के उक्त होने से, सूक्ष्म महाभूत सृष्टि के कथित होने से, यहाँ इस व्याकरण वाक्य में त्रिवृत्करणपूर्वक यह भौतिक ही नाम और रूप का व्याकरण विवक्षित होता है।

तच्च त्रिवृत्करणमग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु श्रुतिर्दर्शयति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छा० ६।४।१) इत्यादिना। तत्राग्निरितीदं रूपं व्याक्रियते। सति च रूपव्याकरणे विषयप्रतिलम्भादग्निरितीदं नाम व्याक्रियते। एवमेवादित्यचन्द्रविद्युत्स्वपि द्रष्टव्यम्। अनेन चाग्न्याद्युदाहरणेन भौमाम्भसतैजसेषु त्रिष्वपि द्रव्येष्वविशेषेण त्रिवृत्करणमुक्तं भवति, उपक्रमोपसंहारयोः साधारणत्वात्। तथाह्यविशेषेणैवोपक्रमः—'इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६।३।४) इति। अविशेषेणैव चोपसंहारः—'यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपम्' इत्येवमादिः, 'यदविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति' (छा० ६।४।६।७) एवमन्तः ॥ २० ॥

उस त्रिवृत् करण को अग्नि, आदित्य, चन्द्र और विद्युत में श्रुति दर्शाती है कि (जो अग्नि का रोहित—रक्त रूप है, वह रूप तेज का भाग स्वरूप है, जो अग्नि का शुक्ल रूप है, वह जल का है। जो कृष्ण रूप है वह अन्न (भूमि) का है इत्यादि वचनों से श्रुति दर्शाती है। वहाँ अग्नि इस प्रकार यह अग्नि रूप वस्तु व्याकृत किया जाता है। फिर रूप व्याकरण के होने पर विषय के प्रतिलाभ (प्राप्ति) से अग्नि इस प्रकार नाम व्याकृत किया जाता है। इसी प्रकार आदित्य चन्द्र और विद्युत में भी नाम और रूप का व्याकरण समझना चाहिये। इस अग्नि आदि उदाहरण से ही पार्थिव, जलीय और तैजस तीनों द्रव्यों में अविशेष (तुल्य) रूप से त्रिवृत्करण उक्त होता है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार में साधारणता है, तीनों के त्रिवृत्करण की चर्चा उपक्रम और उपसंहार में है। इस प्रकार अविशेष रूप से उपक्रम है कि (इन तीनों देवताओं में एक-एक त्रिवृत्-त्रिवृत् होती हैं।) अविशेष रूप से ही उपसंहार है कि (विशेष रूप से अगृहीत होने से जो रोहित के समान हुआ विद्वानों को रक्त सा प्रतीत हुआ। वह तेज का रूप है) इत्यादि। जो सर्वथा अविज्ञात अदृष्ट के समान हुआ वह भी इन तीन देवताओं का ही समास (समूह) रूप है। यहाँ तक अविशेष रूप से उपसंहार है।

तासां तिसृणां देवतानां बहिस्त्रिवृत्कृतानां सतीनामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमुक्तम्—'इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६।४।७) इति। तदिदानीमाचार्यो यथाश्रुत्येवोपदर्शयत्याशङ्कितं कञ्चिद्दोषं परिहरिष्यन्—

बाहर त्रिवृत्कृत रूप से वर्तमान उन तीनों देवताओं का शरीर सम्बन्धी अन्य त्रिवृत्करण कहा हुआ है कि (ये तीनों देवता पुरुष (शरीर) को प्राप्त होकर एक-एक त्रिवृत्-त्रिवृत् होती हैं) आशंकित किसी दोष का आगे परिहार करने वाले आचार्य उस शरीर सम्बन्धी त्रिवृत्करण को श्रुति के अनुसार ही उपदर्शाते हैं कि—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः पुरुषेणोपभुज्यमानाया मांसादिकार्यं यथाशब्दं निष्पद्यते। तथाहि श्रुतिः—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः' (छा० ६।५।१) इति। त्रिवृता भूमिरेवैषा व्रीहियवाद्यन्नरूपेणाद्यत इत्यभिप्रायः। तस्याश्च स्थविष्ठं रूपं पुरीषभावेन बहिर्निर्गच्छति। मध्यममध्यात्मं मांसं वर्धयति। अणिष्ठं तु मनः। एवमितरयोरप्तेजसोर्यथाशब्दं कार्यमवगन्तव्यम्। एवं मूत्रं लोहितं प्राणश्चापां कार्यम्। अस्थि मज्जा वाक्तेजस इति ॥ २१ ॥

पुरुष (शरीरी) से उपभुज्यमान उपभुक्त अन्न आदि रूप त्रिवृत्कृत भूमि के मांसादि रूप कार्य शास्त्र के अनुसार सिद्ध होते जिससे इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (उपभुक्त अन्न तीन प्रकार से विभक्त होता है, उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है वह पुरीष-मल, होता है, मध्यम भाग होता है वह मांस होता है, जो अत्यन्त अणु सूक्ष्म धातु (भाग पदार्थ) होता है, वह मन होता है। अभिप्राय है कि त्रिवृत्कृत यह भूमि ही व्रीहियवादि अन्न रूप से सिद्ध होने पर खाई जाती है, और उसका अति स्थूल रूप विष्ठा रूप से बाहर निकलता है। मध्यम रूप शरीर के मांस को बढ़ाता है। सूक्ष्म रूप मन को बढ़ाता है। इसी प्रकार भूमि से अन्य जल और तेज का भी शब्द (श्रुति) के अनुसार कार्य समझना चाहिए कि इसी प्रकार मूत्र, रक्त—रुधिर और प्राण जल के कार्य हैं। हाड़, मज्जा और वाक् तेज के कार्य हैं ॥ २१ ॥

अत्राह—यदि सर्वमेव त्रिवृत्कृतं भूतभौतिकमविशेषश्रुतेः 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' इति, किंकृतस्तर्ह्ययं विशेषव्यपदेशः 'इदं तेज इमा आप इदमन्नम्' इति। तथा 'अध्यात्ममिदमन्नस्याशितस्य कार्यं मांसादि इदमपां पीतानां कार्यं लोहितादि इदं तेजसोऽशितस्य कार्यमस्थ्यादि' इति अत्रोच्यते—

यहाँ कोई कहते हैं (उन देवताओं में से एक एक को त्रिवृत्-त्रिवृत् किया) इस अविशेष (सामान्य) श्रुति से यदि सभी भूत भौतिक वस्तु त्रिवृत्कृत हैं तो यह तेज है, यह जल है, यह अन्न है। यह विशेष भेद का व्यपदेश (व्यवहार) किस हेतु से होता है। इसी प्रकार शरीर सम्बन्धी ये मांसादि भुक्त अन्न के कार्य हैं। ये लोहितादि पीये गये जल के कार्य हैं। ये हाड़ आदि भुक्त घृतादि रूप तेज कार्य हैं, यह भी विशेष व्यपदेश किंकृत (किस हेतुजन्य) होता है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

तु शब्देन चोदितं दोषमपनुदति। विशेषस्य भावो वैशेष्यम्, भूयस्त्वमिति यावत्। सत्यपि त्रिवृत्करणे क्वचित्कस्यचिद्भूतधातोर्भूयस्त्वमुपलभ्यते

'अग्नेस्तेजोभूयस्त्वमुदकस्याब्भूयस्त्वं पृथिव्या अन्नभूयस्त्वम्' इति। व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं चेदं त्रिवृत्करणम्। व्यवहारश्च त्रिवृत्कृतरज्जुवेदकत्वापत्तौ सत्यां न भेदेन भूतत्रयगोचरो लोकस्य प्रसिद्ध्येत्, तस्मात्सत्यपि त्रिवृत्करणे वैशेष्यादेव तेजोबन्नविशेषवादो भूतभौतिकविषय उपपद्यते। तद्वादस्तद्वाद इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्येऽविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ॥

—❀—

तु शब्द से शंकित दोष का निवारण करते हैं। विशेष के भाव को वैशेष्य कहते हैं। अर्थात् भूयस्त्व (आधिक्य) रूप विशेष भाव और वैशेष्य है। त्रिवृत् करण के होने पर भी कहीं किसी भूतरूप धातु (पदार्थ) का भूयस्त्व (आधिक्य) उपलब्ध होता है। जैसे कि अग्नि का तेज आधिक्य, उदक का अबाधिक्य, पृथिवी का अन्नाधिक्य उपलब्ध होता है। त्रिवृत्करण पर भी स्वस्वभाव की विशेषता की गई है, वह इसलिए की गई है कि व्यवहार की प्रसिद्धि के लिये यह त्रिवृत्करण होता है। त्रिवृत्कृत् रज्जु (रस्सी डोरी) के समान तीनों भूतों के एकत्व की प्राप्ति होने पर तीन भूतविषयक भेदपूर्वक लोक का व्यवहार नहीं सिद्ध होगा। इससे त्रिवृत्करण के होने पर भी वैशेष्य से ही तेज, जल और अन्न यह विशेषवाद (भेदव्यवहार) भूतभौतिक पदार्थ विषयक उपपन्न (सिद्ध) होता है (तद्वादः) इस पद का अभ्यास दो बार पाठ अध्याय की परिसमाप्ति का द्योतन करता है ॥ २२ ॥

नमामि सच्चिदानन्दं सर्वात्मानमखण्डितम्। कुर्वाणं स्वप्नवद्विश्वमसङ्गं सर्वदा स्थितम् ॥१॥
सामान्येन विशेषेण समन्वयो यथाविधि। आद्याध्याये ह्यशेषेण वेदान्तानां निरूपितः ॥२॥
द्वितीयाध्याय उक्ता ये पूर्वपक्षास्तथैव च। एकदेशिमतं तद्धि सर्वमन्वयबाधकम् ॥३॥
सिद्धान्तस्तु पुनस्तत्र समन्वयस्य साधकः। इति संक्षेपतश्चात्र सङ्गतिर्बुधसम्मता ॥४॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्येऽविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः।

—

अथ तृतीयोऽध्यायः

[तृतीये साधनाख्याध्याये प्रथमपादे गत्यागतिचिन्ता-वैराग्यनिरूपणविचारश्च]

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण (१)

अवेष्टितो वेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान् व्रजेत् । भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः ॥१॥
बीजानां सुलभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः । पञ्चमाहुतियुक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः ॥२॥

अव्यवहित पूर्वपाद के अन्त में शरीर की चर्चा हुई है, इससे इस सूत्र में तत्शब्द से शरीर का बोध होता है। रहि धातु गति अर्थ में है, और प्रतिपत्ति शब्द का प्राप्ति अर्थ है, सप्तमी विभक्ति निमित्त अर्थ में है। इससे सूत्र का अर्थ है कि एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिये यह जीव भूतों के सूक्ष्मांशयुक्त भूतसूक्ष्मांशमय सूक्ष्म शरीर से वेष्टित ही गमन करता है, यह पञ्चाग्निसम्बन्धी प्रश्न और प्रतिवचन से सिद्ध और अवगत होता है। यहाँ प्रश्न है कि भूतों के सूक्ष्मांश से अवेष्टित अथवा वेष्टित पुमान् (पुरुष—जीवात्मा) गमन कर सकता है। पूर्वपक्ष है कि शरीर के कारण-रूप भूतों के सब लोकादि में सुलभ होने से भूतों से अवेष्टित ही जीव जाता है। सिद्धान्त है कि साधारण भूतों के सर्वत्र होते भी तत्तत्संस्कारादियुक्त अतएव बीज-तुल्य भूतों के सर्वत्र दुर्लभ होने से, तथा निराधार इन्द्रियों की गति के दुर्लभ होने से, असम्भव होने से, तथा पञ्चमाहुतिविषयक श्रुतिगत युक्ति के सूक्ष्मभूत के बिना दुर्लभत्व से भूतसूक्ष्मों से वेष्टित हो जाता है ॥ १—२ ॥

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्न-निरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

द्वितीयेऽध्याये स्मृतिन्यायविरोधो वेदान्तविहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः। परपक्षाणां चानपेक्षत्वं प्रपञ्चितम्। श्रुतिविप्रतिषेधश्च परिहृतः। तत्र च जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि जीवोपकरणानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तम्। अथेदानीमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगतिप्रकारस्तदवस्थान्तराणि ब्रह्म-सतत्त्वं विद्याभेदाभेदौ गुणोपसंहारानुपसंहारौ सम्यग्दर्शनात्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्दर्शनोपायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये निरूपयिष्यते प्रसङ्गागतं च किमप्यन्यत्। तत्र प्रथमे तावत्पादे पञ्चा-ग्निविद्यामाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते वैराग्यहेतोः, 'तस्माज्जुगु-प्सेत' इति चान्ते श्रवणात्। जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्को-ऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत इत्येतदवगतम्,

'अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति' इत्येवमादेः 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते' (बृ० ४।४।१।४) इत्येवमन्तात्संसारप्रकरणस्थाच्छब्दात्, धर्माधर्मफलोपभोगसंभवाच्च । स किं देहः बीजैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो गच्छत्याहोस्वित्संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? असंपरिष्वक्त इति । कुतः ? करणोपादानवद्भूतोपादानस्याश्रुतत्वात् । 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानः' (बृ० ४।४।१) इति ह्यत्र तेजोमात्राशब्देन करणानामुपादानं संकीर्त्तयति, वाक्यशेषे चक्षुरादिसंकीर्तनात् । नैवं भूतमात्रोपादानसंकीर्तनमस्ति, सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्राः, यत्रैव देह आरब्धव्यस्तत्रैव सन्ति ततश्च तासां नयनं निष्प्रयोजनम्, तस्मादसंपरिष्वक्तो यातीति ।

वेदान्तों से विहित ब्रह्मदर्शनविषयक स्मृति और न्याय का विरोध द्वितीय अध्याय में परिहृत (निवारित) किया गया है और परपक्षों के अनपेक्षत्व (अग्राह्यत्व) का विस्तार से वर्णन किया गया है । तथा श्रुतियों के विरोधों का परिहार किया गया है । और उस द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि जीव से भिन्न जीव के उपकरण (भोगादिसाधन) रूप तत्त्व ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं । उसके अनन्तर अब इस समय उक्त उपकरण उपहित (उपकरणों से युक्त) जीव की संसार-गति का प्रकार उस जीव की अन्य अवस्थाएँ, ब्रह्म का तात्त्विक स्वरूप, विद्या का भेद और अभेद, गुणों का उपसंहार और अनुपसंहार, सम्यग्दर्शन से पुरुषार्थ की सिद्धि, सम्यग्दर्शन के उपायों की विधियों का प्रभेद और मुक्तिरूप फल का अनियम इत्यादि अर्थसमूह का निरूपण तृतीय अध्याय में किया जायगा और प्रसंग से प्राप्त अन्य देहात्म-दूषणादि भी कुछ कहा जायगा । यहाँ सबके आदि में प्रथम पाद में वैराग्य का हेतु होने से पञ्चाग्निविद्या का आश्रयण करके संसारगति का प्रभेद प्रदर्शित कराया जाता है । पञ्चाग्निविद्या-प्रदर्शन में संसारगति-प्रदर्शन में (तस्माज्जुगुप्सेत) इस प्रकार अन्त में श्रवण से वैराग्य की स्वर्गहेतुता की प्रतीति होती है (जिससे कर्म का फलरूप स्वर्ग गमनागमनरूप अनर्थात्मक है) इससे कर्मफल में विद्वान् पुरुष जुगुप्सा (घृणा) करे यह अर्थ है । मुख्यप्राण इन्द्रिय और मन सहित तथा अविद्या, कर्म (धर्माधर्म) पूर्वप्रज्ञा (जन्मान्तर के संस्कार) रूप परिग्रह (परिवार) वाला जीव पूर्व देह को त्याग कर अन्य देह में प्राप्त होता है, यह अर्थतत्त्व अवगत होता है । जिससे (इससे मरणकाल में ये वाक् आदि प्राण इस जीवात्मा से हृदय में सम्मिलित होते हैं) यहाँ से आरम्भ करके (अन्य अति नवीन कल्याणतर सुन्दर रूप शरीर करता है) यहाँ तक संसार के प्रकरण में स्थित शब्दों से उक्त अर्थ अवगत होता है तथा अविद्यादिसहित को ही कर्मफल के उपभोग का सम्भव भी है, इससे भी उक्त अर्थ अवगत होता है । यहाँ क्या देहान्तर के बीजरूप भूतों के सूक्ष्मांशों से असंमिलित, असंवेष्टित जीव मरणकाल में गमन करता है, अथवा सूक्ष्म भूतों से सम्मिलित होकर गमन करता है, यह चिन्ता-

विचार किया जाता है। यहाँ प्रथम क्या होता है, ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि असम्मिलित जीव जाता है। क्योंकि गमनकाल में करणों के उपादान (ग्रहण) के समान भूतों के उपादान के अश्रुतत्व से असंमिलित का गमन सिद्ध होता है। (वह जीवात्मा मरणकाल में इन तेजोमात्राओं, ज्ञानशक्तियों का सम्यग् ग्रहण करके गमन करता है) यहाँ तेजोमात्रा शब्द से करणों का ग्रहण संकीर्तित होता है, वह वाक्यशेष में चक्षुआदि के संकीर्तन से समझा जाता है। इस प्रकार भूतमात्राओं के उपादान का संकीर्तन नहीं है। भूतमात्रा सर्वत्र सुलभ भी हैं, जहाँ ही देह का आरम्भ होना है वहाँ ही भूतमात्रा वर्तमान हैं। इससे उन भूतमात्राओं को वहाँ ले जाना निष्प्रयोजन है, इसीलिये भूतमात्राओं से असम्बद्ध जीव अन्य शरीर के लिये गमन करता है।

एवं प्राप्ते पठत्याचार्यः—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति। तदन्तरप्रतिपत्तौ देहात् देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम्। कुतः? प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। तथाहि प्रश्नः—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति। निरूपणं च प्रतिवचनं द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।९।१) इति। तस्मादद्भिः परिवेष्टितो जीवो रंहति व्रजतीति गम्यते। नन्वन्या श्रुतिर्जलूकावत्पूर्वदेहं न मुञ्चति यावन्न देहान्तरमाक्रमतीति दर्शयति—'तद्यथा तृणजलायुका' (बृ० ४।४।३) इति। तत्राप्यपरिवेष्टितस्यैव जीवस्य कर्मोपस्थापितप्रतिपत्तव्यदेहविषयभावनादीर्घीभावमात्रं जलूकयोपमीयत इत्यविरोधः। एवं श्रुत्युक्ते देहान्तरप्रतिपत्तिप्रकारे सति याः पुरुषमतिप्रभवाः कल्पनाः—व्यापिनां करणानामात्मनश्च देहान्तरप्रतिपत्तौ कर्मवशाद् वृत्तिलाभस्तत्र भवति, केवलस्यैवात्मनो वृत्तिलाभस्तत्र भवति, इन्द्रियाणि तु देहवदभिनवान्येव तत्र तत्र भोगस्थान उत्पद्यन्ते, मन एव वा केवलं भोगस्थानमभिप्रतिष्ठेत, जीव एव वोत्प्लुत्य देहाद् देहान्तरं प्रतिपद्यते शुक इव वृक्षाद् वृक्षान्तरम्—इत्येवमाद्याः सर्वा एवानादर्तव्याः श्रुतिविरोधात् ॥ १ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर आचार्य पढ़ते (कहते) हैं कि (तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः इति) तदन्तर की प्रतिपत्ति में अर्थात् गृहीत देह से देहान्तर की प्राप्ति में देह के बीजभूतों के सूक्ष्मांशों से संमिलित जीव गमन करता है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि प्रश्न और प्रतिवचन से ऐसा ही सिद्ध होता है। जिससे प्रश्न इस प्रकार है कि (क्या जानते हो कि जिस प्रकार पञ्चमी आहुति के पूर्ण होने पर हवन के साधनरूप जल ही पुरुष शब्द के वाच्य पुरुषरूप हो जाते हैं) और निरूपण (प्रतिवचन) है कि स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, स्त्रीरूप कल्पित पाँच अग्नियों में श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्यरूप पाँच आहुति (हवनसाधन) को दिखा कर (इस प्रकार पंचमी आहुति में

आप:—जल पुरुष शब्द के वाच्य होते हैं) जिससे जल से परिवेष्टित जीव गमन करता है यह समझा जाता है। भाव है कि श्वेतकेतु पांचालों की सभा में गया, तो प्रवाहण ने उससे उक्त प्रश्न किया। श्वेतकेतु उत्तर नहीं दे सका तो पिता के पास गया। वे भी इस तत्त्व को नहीं जानते थे, इससे श्वेतकेतु के पिता ने ही प्रवाहण के पास में जाकर इस प्रश्न का उत्तर उसीसे पूछा तो उसने श्रद्धापूर्वक, दधि, घृत, दूध आदि जलमय पदार्थ स्वर्ग के लिये अग्नि में हवन किये जाते हैं, उन जल आदि को श्रद्धा शब्द से कह कर उनका स्वर्गरूप अग्नि में हवन बताया। क्योंकि वे संस्कृत जल यजमान के साथ स्वर्ग में जाते हैं। वे ही क्रम से सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्यरूप होकर फिर शरीररूप होते हैं, यह विषय विस्तारपूर्वक छान्दोग्य में द्रष्टव्य है। यहाँ शंका होती है कि (जैसे तृणजलायुका दूसरे तृण को पकड़कर गृहीत देह को त्यागता है, इसी प्रकार जीव भी दूसरी देह को पकड़कर गृहीत देह को त्यागता है) इसी प्रकार की दूसरी श्रुति तृण-जलायुका के समान जब तक देहान्तर में नहीं प्राप्त होता है तब तक पूर्व देह को नहीं त्यागता है, इस अर्थ को दिखाती है। इससे श्रुति में विरोध प्रतीत होता है। उत्तर है कि वहाँ भी जलादि से परिवेष्टित ही जीव के कर्म से उपस्थापित (सिद्ध) प्राप्त करने योग्य देहविषयक वासना का दीर्घीभाव (विस्तार-सम्बन्ध) मात्र ही जलायुका द्वारा उपमित (उपमा से बोधित) होता है, इससे विरोध नहीं है। इस प्रकार श्रुति से उक्त देहान्तर की प्राप्ति के प्रकार के होने पर, जो पुरुषों की मति से जन्य कल्पनाएँ हैं वह सब ही श्रुतिविरोध से अनादर्तव्य हैं। सांख्यों की कल्पना है कि व्यापक करण और आत्मा का देहान्तर की प्राप्ति में कर्मवश उस देहान्तर में वृत्तिलाभ होता है। आत्मा वा इन्द्रिय की गति नहीं होती है। सुगतमत की कल्पना है कि केवल आत्मा ही का इस देहान्तर में वृत्तिलाभ होता है, इन्द्रियाँ तो देह के समान तत्तत् भोग स्थानों में सर्वथा नूतन ही उत्पन्न होती हैं, काणादमत की कल्पना है कि केवल मन ही भोग स्थान में जायगा, इन्द्रियाँ नवीन ही उत्पन्न होंगी। दिगम्बर कहते हैं कि एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर शुक के समान जीव ही एक देह से उछल (कूद) कर दूसरे देह को प्राप्त करता है इत्यादि ॥ १ ॥

ननूदाहृताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां केवलाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो रंहतीति प्राप्नोति, अपशब्दश्रवणसामर्थ्यात्। तत्र कथं सामान्येन प्रतिज्ञायते सर्वैरेव भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहतीति। अत उत्तरं पठति—

उक्तार्थ में शंका होती है कि उदाहृत प्रश्न और प्रतिवचन से केवल जल से परिवेष्टित जीव गमन करता है, यह प्राप्त होता है। क्योंकि प्रश्न और प्रतिवचन दोनों में अपशब्द के श्रवण के सामर्थ्य से अपमात्र से ही परिवेष्टित का गमन सिद्ध होता है। फिर भी उस अर्थ विषयक समानरूप से कैसे प्रतिज्ञा की जाती है कि सब ही भूतों के सूक्ष्म भागों से संवेष्टित जीव गमन करता है। अतः उत्तर पढ़ते हैं कि—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

तुशब्देन चोदितामाशङ्कामुच्छिनत्ति। त्र्यात्मिका ह्यापस्त्रिवृत्करणश्रुतेः। तास्वारम्भिकास्वभ्युपगतास्वितरदपि भूतद्वयमवश्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। त्र्यात्मकश्च देहस्त्रयाणामपि तेजोवन्नानां तस्मिन्कार्योपलब्धेः, पुनश्च त्र्यात्मकस्त्रिधातुत्वात् त्रिभिर्वातपित्तश्लेष्मभिः। न भूतान्तराणि स प्रत्याख्याय केवलाभिरद्भिरारब्धुं शक्यते। तस्माद् भूयस्त्वापेक्षोऽयमापः पुरुषवचस इति। प्रश्नप्रतिवचनयोरप्शब्दो न कैवल्यापेक्षः, सर्वदेहेषु हि रसलोहितादिद्रवद्रव्यभूयस्त्वं दृश्यते। ननु पार्थिवो धातुर्भूयिष्ठो देहेषूपलक्ष्यते। नैष दोषः। इतरापेक्षयाप्यपां बाहुल्यं भविष्यति। दृश्यते च शुक्रशोणितलक्षणेऽपि देहबीजे द्रवबाहुल्यम्। कर्म च निमित्तकारणं देहान्तरारम्भे। कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्रवद्रव्यव्यपाश्रयाणि। कर्मसमवायिन्यश्चापः श्रद्धाशब्दोदिताः सह कर्मभिर्द्युलोकाख्येऽग्नौ हूयन्ते इति वक्ष्यति, तस्मादप्यपां बाहुल्यप्रसिद्धिः। बाहुल्याच्चाप्शब्देन सर्वेषामेव देहबीजानां भूतसूक्ष्माणामुपादानमिति निरवद्यम् ॥ २ ॥

तु शब्द से प्रश्नात्मक शंका का उच्छेद करते हैं कि—त्रिवृत्करण श्रुति से जल तीनभूत स्वरूप है इससे यहाँ शंका का विषय नहीं है। आरम्भक (कारण) रूप से स्वीकृत उस जल में इतर भूमि-तेजरूप भी दो भूत अवश्य अभ्युपगन्तव्य (स्वीकारार्ह) होते हैं। तेज, जल और अन्न इन तीनों के कार्य की इस देह में उपलब्धि से देह तीन भूतात्मक है। पाक, स्वेद, गन्धरूप तीनों भूतों के कार्य देह में उपलब्ध होते हैं। यदि कहो कि प्राण और अवकाश की सभी देह में उपलब्धि से पञ्चात्मदेह को कहना उचित है, तो फिर भी वात, पित्त और श्लेष्मारूप तीन धातुओं से तीन धातुस्वरूप देह है। वह देह भूतान्तर को त्याग कर केवल जल से रचा नहीं जा सकता है। इससे अधिकता की अपेक्षा से (जल—पुरुष वचन वाला होता है) यह कहा गया है। प्रश्न और प्रतिवचन में अप्शब्द केवलता की अपेक्षा से नहीं है। जिससे सब देहों में रस-लोहितादि द्रव (स्यन्दन युक्त) द्रव्य की अधिकता देखी जाती है, इससे अधिकता-दृष्टि से ही प्रश्न-प्रतिवचन में अप्शब्द है। शंका होतो है कि पार्थिव धातु (पदार्थ) मांसादि शरीरों में अधिक उपलक्षित (दृष्ट) होते हैं, उत्तर है कि यह दोष नहीं है, पृथिवी से अन्य तेज-वायु की अपेक्षा से जल की बहुलता होगी। देह के आरम्भ में कर्म निमित्त कारण होता है। अग्निहोत्रादिरूप सब कर्म सोमरस, घृत, पय आदि द्रव द्रव्य के आश्रित सिद्ध होते हैं। श्रद्धा शब्द से कथित कर्म-सम्बन्धी जल कर्मों के साथ द्युलोक नामक अग्नि में हुत—प्रक्षिप्त होते हैं। यह आगे कहेंगे। इससे भी जलों की बहुलता की सिद्धि होती है। बहुलता से अप् शब्द द्वारा सभी देह के बीजरूप भूतों के सूक्ष्मांश का ग्रहण है इससे निर्दोष है ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

प्राणानां च देहान्तरप्रतिपत्तौ गतिः श्राव्यते—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभिः। सा च प्राणानां गतिर्नाश्रयमन्तरेण संभवतीत्यतः प्राणगतिप्रयुक्ता तदाश्रयभूतानामपामपि भूतान्तरोपसृष्टानां गतिरवगम्यते। नहि निराश्रयाः प्राणाः क्वचिद् गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा—जीवतो दर्शनात् ॥ ३ ॥

'उस जीव के उत्क्रमण करते ही प्राण अनुउत्क्रमण करता है, प्राण के अनुउत्क्रमण करते ही सब प्राण अनुउत्क्रमण करते हैं, इत्यादि श्रुतियों से देहान्तर की प्राप्ति में प्राणों की भी गति सुनाई जाती है। वह प्राणों की गति आश्रय के बिना हो नहीं सकती है। अतः प्राणगतिनिमित्तक उस प्राणों के आश्रयरूप अन्यभूतों से सम्मिलित जलों की गति अवगत होती है (समझी जाती है)। जीवित पुरुष के प्राणों की निराश्रय गति के अदर्शन से समझा जाता है कि निराश्रय प्राण कहीं नहीं जाते हैं वा कहीं स्थिर नहीं होते हैं। इससे मरणकाल में भूत-सूक्ष्मादि आश्रयसहित ही गमन करते हैं ॥ ३ ॥

अन्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

स्यादेतत्, नैव प्राणा देहान्तरप्रतिपत्तौ सह जीवेन गच्छन्ति अग्न्यादिगतिश्रुतेः। तथाहि श्रुतिर्मरणकाले वागादयः प्राणा अग्न्यादीन्देवान्गच्छन्तीति दर्शयति—'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः' (बृ० ३।२।१३) इत्यादिनेति चेत्। न। भाक्तत्वात्। वागादीनामग्न्यादिगतिश्रुतिर्गौणी लोमसु केशेषु चादर्शनात्। 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः' (बृ० ३।२।१३) इति हि तत्राम्नायते। नहि लोमानि केशाश्चोत्प्लुत्यौषधीर्वनस्पतींश्च गच्छन्तीति संभवति। न च जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्याने गमनमवकल्प्यते। नापि प्राणैर्विना देहान्तर उपभोग उपपद्यते, विस्पष्टं च प्राणानां सह जीवेन गमनमन्यत्र श्रावितम्, अतो वागाद्यधिष्ठात्रीणामग्न्यादिदेवतानां वागाद्युपकारिणीनां मरणकाल उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन्गच्छन्तीत्युपचर्यते ॥४॥

शंका होती है कि प्राणों की निराश्रय गति नहीं होती है। यह ऐसा हो, परन्तु मरणकाल में वाक् आदि रूप प्राणों की अग्नि आदि में गति के सुनने से सिद्ध होता है कि देहान्तर की प्राप्ति-काल में जीव के साथ प्राण नहीं गमन करते हैं। जिससे मरणकाल में वाक् आदि रूप प्राण, अग्नि आदि देव को प्राप्त होते हैं, उसको श्रुति इस प्रकार दिखाती है कि (जहाँ इस मृत पुरुष की वाक् अग्नि में लीन होती है, प्राण वायु में लीन होते हैं, इत्यादि, उस समय पुरुष कहाँ रहता है।) यह प्रश्न है, इससे मरण के बाद वागादिरहित पुरुष सिद्ध होता है, यदि इस प्रकार कोई कहे, तो यह कहना ठीक

नहीं है, जिससे अग्नि आदि में वाक् आदि की गमन-श्रुति भाक्त है (ओषधियों में मृत पुरुष के लोम प्राप्त होते हैं, वनस्पतियों में केश प्राप्त होते हैं) इस प्रकार भी श्रुति कहती है, परन्तु लोम और केश में ओषधि-वनस्पतिविषयक गमन के नहीं देखने से श्रुति गौणी है। लोम और केश उछल-कूद कर ओषधि और वनस्पति में जाते हैं, यह सम्भव नहीं है और प्राणरूप उपाधि के प्रत्याख्यान-परित्याग करने पर जीव का गमन नहीं सिद्ध हो सकता है, उपाधिरहित जीव का स्वरूप निष्क्रिय है, इसीसे प्राणों के बिना देहान्तर में उपभोग भी नहीं सिद्ध हो सकता है। अन्य स्थानों में प्राणों का जीव के साथ गमन विस्पष्ट सुनाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि मरणकाल में वाक् आदि की अधिष्ठात्री वाक् आदि के उपकारक अग्नि आदि देवताओं के उपकार की निवृत्तिमात्र की अपेक्षा करके वाक् आदि अग्नि में गमन करते हैं, यह उपचार (गौण व्यवहार) किया जाता है ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

स्यादेतत्। कथं पुनः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते, यावता नैव प्रथमेऽग्नावपां श्रवणमस्ति। इह हि द्युलोकप्रभृतयः पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः, तेषां च प्रमुखे 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' (छा० ५।४।१) इत्युपन्यस्य 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' (छा० ५।४।२) इति श्रद्धा हौम्यद्रव्यत्वेनावेदिता। न तत्रापो हौम्यद्रव्यतया श्रुताः! यदि नाम पर्जन्यादिषूत्तरेषु चतुर्ष्वग्निष्वपां हौम्यद्रव्यता परिकल्प्येत परिकल्प्यतां नाम। तेषु होतव्यतयोपात्तानां सोमादीनामब्बहुलत्वोपपत्तेः। प्रथमे त्वग्नौ श्रुतां श्रद्धां परित्यज्याश्रुता आपः परिकल्प्यन्त इति साहसमेतत्। श्रद्धा च नाम प्रत्ययविशेषः प्रसिद्धिसामर्थ्यात्। तस्मादयुक्तः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषभाव इति चेत्। नैष दोषः। हि यतस्तत्रापि प्रथमेऽग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनाभिप्रेयन्ते। कुतः? उपपत्तेः। एवं ह्यादिमध्यावसानसंगादनाकुलमेतदेकवाक्यमुपपद्यते, इतरथा पुनः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्टे प्रतिवचनावसरे प्रथमाहुतिस्थाने यद्यनपो हौम्यद्रव्यं श्रद्धां नामावतारयेत्ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्येकवाक्यता न स्यात्।

प्रथमे-अश्रवणात्-इति-चेत्-न-ता-एव-हि एव-उपपत्तेः। ये नव पद सूत्र में हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (द्वितीयाद्यग्निषु सोमवृष्ट्यादीनां जलरूपाणां श्रवणेऽपि प्रथमे द्युलोकात्मकेऽग्नौ श्रद्धाया होतव्यत्वेन श्रवणादपामश्रवणादपां पञ्चम्याहुतौ पुरुषवचस्त्वमयुक्तमिति चेन्न यत उपपत्तेस्ता आप एव श्रद्धाशब्देन गृह्यन्ते) द्वितीय आदि अग्नियों में हवनयोग्य सोम वृष्टि जलरूप द्रव्य का श्रवण हो तो भी प्रथम स्वर्गलोकरूप अग्नि में हवन के द्रव्यरूप से श्रद्धा के सुनने से जल का अश्रवण है, इससे पञ्चमी आहुति में जल का पुरुष

वाच्यत्व युक्त नहीं है । इस शंका का उत्तर है कि पञ्चमी आहुति में जल की पुरुष-वाच्यता अयुक्त नहीं है, जिससे श्रद्धा का हवन अनुपपन्न है, जल का ही हवन उपपन्न हो सकता है, इससे वह जल ही श्रद्धा शब्द से गृहीत होता है । शंका होती है कि यह गमन श्रुति गौणी हो । फिर भी (पञ्चमी आहुति में अप् पुरुष शब्द का वाच्य हो जाते हैं) यह निर्धारण कैसे पूर्ण किया जा सकता है, जब कि प्रथम अग्नि में जल का श्रवण सर्वथा नहीं है। जिससे यहाँ द्युलोकादि पाँच अग्नियाँ पाँच आहुति के आधार रूप से पढ़ी गयी हैं । उनमें से प्रमुख (प्रथम) में (हे गौतम ! वह स्वर्गलोक ही अग्नि है) इस प्रकार उपन्यास करके (इस स्वर्गरूप इस अग्नि से देव सब श्रद्धा का हवन करते हैं) इस वचन से श्रद्धा होम के लिये द्रव्य-रूप से आवेदित (उक्त) हुई है, वहाँ होम के लिए द्रव्यरूप से जल नहीं सुना गया है । यद्यपि उत्तरवर्ती पर्जन्यादिरूप चार अग्नियों में भी होतव्य द्रव्य जल नहीं है तथापि उनमें होतव्य सोम आदि के जल आधिक्य की उपपत्ति से यदि उन अग्नियों में होतव्यरूप से जल की कल्पना की जाय तो यथेष्ट कल्पना की जा सकती है । परन्तु प्रथम अग्नि में तो श्रुतश्रद्धा का परित्याग करके अश्रुत अप् परिकल्पित होते हैं, यह साहस है । श्रद्धानामक वस्तु प्रसिद्धि के सामर्थ्य से ज्ञानविशेष (विश्वास) रूप है, इससे पञ्चमी आहुति में अप् का पुरुषभाव (पुरुषत्व) अयुक्त है । उत्तर है कि यह दोष नहीं है जिससे इस प्रथमाग्नि में भी वे जल ही श्रद्धा शब्द द्वारा अभिप्रेत होते हैं। क्योंकि उपपत्ति (युक्ति) से ऐसा ही सिद्ध होता है । जिससे इसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त का संगान (संवाद-तुल्यार्थ) ही से आकुलतारहित एकवाक्य यह सिद्ध होता है अन्यथा श्रद्धा शब्द से जल के नहीं अभिप्रेत होने पर, पञ्चमी आहुति में जल के पुरुष-शब्द वाच्यत्व के प्रकार के पूछने पर फिर प्रतिवचन के अवसर में प्रथम आहुति के स्थान में यदि जल से भिन्न श्रद्धानामक होतव्य द्रव्य को उत्तरदाता अवतरण (सिद्ध प्राप्त) करे, तो प्रश्न अन्यथा सिद्ध होगा, और प्रतिवचन उससे अन्यथा सिद्ध होगा, इससे एकवाक्यता नहीं होगी ।

'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति चोपसंहरन्नेतदेव दर्शयति । श्रद्धाकार्यं च सोमवृष्ट्यादिस्थूलीभवदब्बहुलं लक्ष्यते । सा च श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिः । कारणानुरूपं हि कार्यं भवति । नच श्रद्धाख्यः प्रत्ययो मनसो जीवस्य वा धर्मः सन्धर्मिणो निष्कृष्य होमायोपादातुं शक्यते पश्वादिभ्य इव हृदयादीनीत्याप एव श्रद्धाशब्दा भवेयुः । श्रद्धाशब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिक-प्रयोगदर्शनात् 'श्रद्धा वा आपः' इति । तनुत्वं च श्रद्धासारूप्यं गच्छन्त्य आपो देहबीजभूता इत्यतः श्रद्धाशब्दाः स्युः, यथा सिंहपराक्रमो नरः सिंहशब्दो भवति । श्रद्धापूर्वककर्मसमवायाच्चाप्सु श्रद्धाशब्द उपपद्यते, मञ्चशब्द इव पुरुषेषु । श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दोपपत्तिः 'अपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' इति श्रुतेः ॥ ५ ॥

इस प्रकार पञ्चमी आहुति में आपः पुरुष शब्द के वाच्य होते हैं। इस प्रकार उपसंहार करता हुआ उत्तरदाता इस एकवाक्यत्व को ही दिखाता है तथा इस एकवाक्यता के लिये श्रद्धा शब्द के जलार्थकत्व को दिखाता है। इस श्रद्धा-रूप आहुति से सोम होता है, इत्यादि वचन के अनुसार श्रद्धा के कार्यरूप सोमवृष्टि आदि स्थूल होते हुए जल की अधिकतायुक्त देखे जाते हैं। सोम आदि में उत्तरोत्तर जल की अधिकता दीखती है। वही श्रद्धा की जलरूपता में युक्ति है, जिससे कारण के अनुरूप (सदृश) कार्य होता है। जैसे पशु आदि में से हृदयादि का ग्रहण करके उनका हवन करते हैं, वैसे मन का वा जीव का धर्मरूप से वर्तमान श्रद्धा-विश्वास नामक ज्ञान को धर्मी मन वा जीव में से निकाल कर होम के लिये ग्रहण नहीं कर सकते हैं, इस हेतु से जल ही श्रद्धा शब्दार्थ होंगे। श्रद्धा शब्द जल अर्थ में उपपन्न (सिद्ध) होता है। (श्रद्धा निश्चित जल है) ऐसा वैदिक प्रयोग देखने से, श्रद्धा शब्द को जलार्थत्व सिद्ध होता है। देह के बीजरूप जल तनुता (सूक्ष्मता) रूप श्रद्धासारूप्य (तुल्यता) को प्राप्त करते हैं। इससे श्रद्धा शब्दार्थ होंगे। जैसे कि सिंहतुल्य पराक्रम वाला मनुष्य सिंह-शब्दार्थ होता है और श्रद्धापूर्वक कर्म में जल का सम्बन्ध होने से भी जल अर्थ में श्रद्धा शब्द उपपन्न होता है। अर्थात् श्रद्धा को जल द्वारा कर्मसम्बन्धित्व वा कर्महेतुत्व होता है। इससे जल अर्थ में श्रद्धा शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसे कि मञ्च शब्द का मञ्चस्थ पुरुष में सम्बन्धनिमित्तक लाक्षणिक प्रयोग होता है। जल को श्रद्धा का हेतु होने से भी जलार्थ में श्रद्धाशब्द की उपपत्ति होती है। (स्नानादि कर्म के लिये जो जल होते हैं, वे दर्शनमात्र से प्रथम इस पुरुष के हित के लिए श्रद्धा को उत्पन्न करते हैं, वह श्रद्धा फिर पुण्य कर्म के लिए होती है) इस श्रुति से जल में श्रद्धा के हेतुत्व की सिद्धि होती है ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

अथापि स्यात्प्रतिवचनाभ्यां नामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाकारं प्रतिपद्येरन्, नतु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रंहेयुः, अश्रुतत्वात्। न ह्यत्रापामिव जीवानां श्रावयिता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इत्युक्तमिति चेत्। नैष दोषः। कुतः? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (छा० ५।१०।६) इत्युपक्रम्येष्टादिकारिणां धूमादिना पितृयानेन पथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति—'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा' (छा० ५।१०।४) इति, त एवेहापि प्रतीयन्ते तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' (छा० ५।४।२) श्रुतिसामान्यात्। तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात्प्रत्यक्षमेवापः सन्ति। ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुतयोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिण आश्रयन्ति। तेषां च

शरीरं नैधनेन विधानेनान्त्येऽग्नावृत्विजो जुह्वति 'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' इति । ततस्ताः श्रद्धापूर्वककर्मसमवायिन्य आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिणो जीवान्परिवेष्ट्यामुं लोकं फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोतिनाऽभिधीयते–'श्रद्धां जुह्वति' (बृ० ६।२।९) इति । तथा चाग्निहोत्रे षट्प्रश्नीनिर्वचनरूपेण वाक्यशेषेण 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः' इत्येवमादिनाग्निहोत्राहुत्योः फलारम्भाय लोकान्तरप्राप्तिः प्रदर्शिता । तस्मादाहुतीमयीभिरद्भिः संपरिष्वक्ता जीवा रंहन्ति स्वकर्मफलोपभोगायेति श्लिष्यते ॥ ६ ॥

फिर भी शंका होती है कि प्रश्न और प्रतिवचन से प्रसिद्ध जल ही श्रद्धादिक्रम द्वारा पञ्चमी आहुति में पुरुषाकार को प्राप्त करें, यह बात हो सकती है। परन्तु वहाँ अश्रुतत्व से, उनसे परिवेष्टित जीव गमन करें, यह बात नहीं सिद्ध हो सकती है। जिससे यहाँ जलों के समान जीवों को सुनाने वाला कोई शब्द नहीं है। इससे भूतसूक्ष्मों से वेष्टित होकर जीव जाता है, यह प्रथम सूत्रगत प्रतिज्ञा अयुक्त है। यदि ऐसी शंका हो तो कहा जाता है कि यह अयुक्ततारूप दोष नहीं है। क्योंकि इष्ट आदि कर्म करने वाले गमनकर्ता जीवों की प्रतीति वाक्यशेष में होती है कि (फिर जो ये गृहस्थ ग्राम में 'इष्ट' वैदिक 'पूर्त' स्मार्त और 'दत्त' उचितदानरूप कर्म की उपासना–सेवन करते हैं। इसी प्रकार अन्य भी परिचर्या, सेवा आदि करते हैं। वे ज्ञान-रहित होने से धूमाभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उपक्रम करके इष्टादि कर्म करने वालों की धूमादिरूप पितृयान-मार्ग से चन्द्रलोक की प्राप्ति को श्रुति कहती है कि (आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। जो यह सोम-चन्द्रमा है वह राजा है (वे ही इष्टादि करने वाले यहाँ भी प्रतीत होते हैं, जिससे (उस द्युलोकरूप इस अग्नि में श्रद्धारूप सूक्ष्म जल का हवन देव करते हैं, इस आहुति से सोम राजा होता है) इस प्रकार श्रुति की समानता है, इससे यहाँ भी इष्टादिकारी प्रतीत होते हैं। उन इष्टादि कर्ताओं के अग्निहोत्र दर्श और पूर्णमासादि कर्मों के साधनस्वरूप, दधि, पय आदि द्रव द्रव्य की अधिकता से प्रत्यक्ष ही जलस्वरूप हैं। आहवनीय नामक अग्नि में हुत (प्रक्षिप्त) वे सूक्ष्म आहुतियाँ अदृष्टरूप होकर उन इष्टादिकारियों को आश्रयण करती हैं। उनके शरीर की निधन (मरण) सम्बन्धी, मरणनिमित्तक अन्त्येष्टिविधान से ऋत्विक् लोग अन्त्य अग्नि में हवन करते हैं, मन्त्र पढ़ते हैं कि (यह यजमान स्वर्गलोक के लिए गमन करे)। फिर वे श्रद्धापूर्वक किये गये कर्मसम्बन्धी आहुतिमय जल अपूर्वरूप होकर, उन इष्टादिकारियों को परिवेष्टित करके उस स्वर्ग लोक में फलदान के लिये प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार जो अर्थ कहा गया है वही यहाँ जुहोति (हु धातु) से कहा जाता है कि (देव श्रद्धा का हवन करते हैं)। इसी प्रकार अग्निहोत्रविषयक, उत्क्रान्ति आदि छः प्रश्नों का

समूह के निर्वचनरूप (वे दोनों सायं-प्रातःकालिक ये आहुति हुत होने पर उत्क्रमण करते हैं) इत्यादि वाक्यशेष द्वारा अग्निहोत्र आहुतियों की फलारम्भ के लिये लोकान्तर में प्राप्ति प्रदर्शित कराई गई है। इससे आहुतिमय जलों से परिवेष्टित जीव अपने कर्मफल भोग के लिए गमन करते हैं। यह प्रतिज्ञा युक्त होती है ॥ ६ ॥

कथं पुनरिदमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं प्रतिज्ञायते, यावता तेषां धूमप्रतीकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावं दर्शयति— 'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' (छा० ५।१०।४) इति। 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेतांस्तत्र भक्षयन्ति' (बृ० ६।२।१६) इति च समानविषयं श्रुत्यन्तरम्। नच व्याघ्रादिभिरिव देवैर्भक्ष्यमाणानामुपभोगः संभवतीति। अत उत्तरं पठति।

फिर शंका होती है कि इष्टादिकारी का स्वकर्मफलोपभोग के लिए यह गमन होता है, यह प्रतिज्ञा कैसे की जाती है, जब कि धूमरूप अङ्गवाले मार्ग द्वारा चन्द्रलोक में अधिरूढ़ (प्राप्त) उन कर्मकर्ताओं के अन्नभाव (अन्नरूपता) को श्रुति दिखाती है कि (यह सोम राजा होता है, वह देवों का अन्नरूप होता है, उसको देव भक्षण करते हैं) यहाँ यदि कहा जाय कि सोम अन्न होता है; इष्टादिकारी नहीं होता है, तो दूसरी श्रुति स्पष्ट ही कहती है कि (इस चन्द्र को प्राप्त होकर अन्न होते हैं; और वहाँ इन इष्टादिकारियों को देव इस प्रकार भक्षण करते हैं कि जैसे यज्ञ में सोमलतानामक राजा को पुनः-पुनः बढ़ाकर और क्षय करके ऋत्विक् पीते—भक्षण करते हैं) यह श्रुति प्रथम श्रुति के तुल्य विषयवाली है। व्याघ्रादि से भक्ष्यमाण (भक्षित) के समान देवों से भक्ष्यमाणों को उपभोग का सम्भव नहीं है। ऐसी शंका हो सकती है, इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

वाशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। भाक्तमेषामन्नत्वं न मुख्यम्, मुख्ये ह्यन्नत्वे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्येत। चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिकारिणामुपभोगो न स्यात्किमर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः। अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्वसामान्यादनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते, यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति। तस्मादिष्टस्त्रीपुत्रमित्रभृत्यादिभिरिव गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां तदेवैषां भक्षणमभिप्रेतं न मोदकादिवच्चर्वणं निगरणं वा। 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ३।६।१) इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं वारयति। तेषां चेष्टादिकारिणां देवान्प्रति गुणभावोपगतानामप्युपभोग उपपद्यते राजो-

पजीविनामिव परिजनानाम्, अनात्मवित्त्वाच्चेष्टादिकारिणां देवोपभोग्यभाव उपपद्यते। तथाहि श्रुतिरनात्मविदां देवोपभोग्यतां दर्शयति--'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृ० १।४।१०) इति। स चास्मिन्नपि लोक इष्टादिभिः कर्मभिः प्रीणयन्पशुवद्देवानामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी तदादिष्टं फलमुपभुञ्जानः पशुवद् देवानामुपकरोतीति गम्यते।

वा शब्द आशंकित उक्त दोष की व्यावृत्ति के लिये है कि भाक्त ही अन्नत्व का कथन है, मुख्य नहीं है। जिससे मुख्य अन्नत्व होने पर (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे) इस प्रकार के अधिकार श्रुति (फलसम्बन्धबोधक श्रुति) उपरुद्ध (निरुद्ध-बाधित) हो जायगी। चन्द्रमण्डल (बिम्ब-देश) में यदि इष्टादि करने वालों को उपभोग न हो, तो कर्म के अधिकारी लोग अति परिश्रम से साध्य इष्टादि कर्म किस प्रयोजन के लिए करें। अन्न शब्द तो अन्न से भिन्न अर्थ में भी उपभोग के हेतुत्वरूप समता से उपचार (गौण व्यवहार) का विषय देखा जाता है। जैसे कि विश् (वैश्य) राजाओं के अन्न हैं। वैश्यों के पशु अन्न हैं इस प्रकार गौण व्यवहार होता है। इससे इष्ट (प्रिय) स्त्री, पुत्र, मित्र, भृत्यादि के समान गुणभाव (अङ्ग-विशेषण-भाव) को प्राप्त इष्टादिकारियों के साथ जो देवों का सुखपूर्वक विहरण हैं, उनके द्वारा जो विहरण (विहार) है, वही इनका भक्षण अभिप्रेत है, मोदक (लड्डू) आदि के समान चर्वण वा निगरण (चबाना वा निगलना) नहीं अभिप्रेत है। (प्रसिद्ध है कि देव न खाते हैं, न पीते हैं किन्तु इस सूर्यमण्डल में रोहितरूपात्मक अमृत को ही देखकर तृप्त होते हैं) इत्यादि श्रुति देवों के चर्वणादि रूप व्यापार का वारण करती है। देवों के प्रति गुणभाव को प्राप्त उन इष्टादि कर्मकारियों को भी उपभोग उपपन्न (सिद्ध) होता है। जैसे राजा के उपजीवी (आश्रित) राजा के परिजनों को उपभोग होता है। आत्मज्ञान से रहित होने के कारण इष्टादिकारियों को देवों के प्रति उपभोग्य भाव उपपन्न (युक्त) होता है। इससे इसी प्रकार अनात्मज्ञों की देवों के प्रति उपभोग्यता को श्रुति दर्शाती है कि (जो अज्ञ आत्मा से अन्य देवता का सेवन करता है और समझता है कि वह देव अन्य है और मैं उससे अन्य हूँ, वह सत्य को नहीं समझता है, वह तो लोक में जैसे पशु मनुष्यों का उपभोग्य, दोहन, वाहनादि द्वारा होता है, वैसे ही देवों का पशु, उपभोग्य है)। वह इस लोक में भी इष्टादि कर्मों के द्वारा देवों को प्रसन्न, तृप्त करता हुआ पशु के समान देवों का उपकार करता है। परलोक में भी उनका उपजीवी होकर उनसे आदिष्ट (उपदर्शित, आज्ञप्त) फल का उपभोग करता हुआ पशुतुल्य ही उनका उपकार करता है, यह श्रुति से समझा जाता है।

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयतीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो ह्यते केवलकर्मिण इष्टादिकारिणो न ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनः। पञ्चाग्निविद्या-

मिहात्मविद्येत्युपचरन्ति प्रकरणात्, पञ्चाग्निविज्ञानविहीनत्वाच्चेदमिष्टादिकारिणां गुणवादेनान्नत्वमुद्भाव्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रशंसायै। पञ्चाग्निविद्या हीह विधित्सिता, वाक्यतात्पर्यावगमात्। तथाहि श्रुत्यन्तरं चन्द्रमण्डले भोगसद्भावं दर्शयति—'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' (प्र० ५।४) इति। तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम्। 'अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते' (बृ० ४।३।३३) इतीष्टादिकारिणां देवैः सह संवसतां भोगप्राप्तिं दर्शयति। एवं भाक्तत्वादन्नभाववचनस्येष्टादिकारिणोऽत्र जीवा रंहन्तीति प्रतीयते। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इति युक्तमेवोक्तम् ॥ ७ ॥

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति, इस सूत्रांश का दूसरा व्याख्यान है कि इष्टादि करने वाले केवल कर्मी जो हैं, वे ही यहाँ अनात्मवित् हैं। ज्ञानकर्मसमुच्चय (साथ) अनुष्ठान करने वाले; अर्थात् उपासनासहित कर्म करने वाले अनात्मवित् नहीं हैं। प्रकरण से पञ्चाग्निविद्या का आत्मविद्या से उपचार (गौण-व्यवहार) करते हैं। पञ्चाग्निविद्या की प्रशंसा के लिये पञ्चाग्निविज्ञान से विहीनता के कारण गुणवाद के द्वारा इष्टादिकारियों का यह अन्नत्व (उपभोग्यत्व) उद्भावित (प्रकट, व्यक्त) किया जाता है। जिससे यहाँ पञ्चाग्निविद्या विधित्सित (विधान की इच्छा का विषय) है। वह वाक्य के तात्पर्य के अवगम से समझी जाती है। इसी प्रकार दूसरी श्रुति चंद्रमंडल में भोग की सत्ता को दिखाती है कि (वह चन्द्रलोक में विभूति का अनुभव करके फिर यहाँ लौटता है। इसी प्रकार अन्य भी श्रुत्यन्तर (श्रुतिभेद) है कि (कर्म से जिनका लोक जित है उनका जो सौगुना आनन्द है, गन्धर्वलोक में एक आनन्द है, गन्धर्वलोक का सौगुना आनन्द कर्मदेवों का एक आनन्द है। जो कर्म से देवत्व को प्राप्त होते हैं वह कर्मदेव कहाते हैं) यह श्रुति देवों के साथ बसने वाले इष्टादिकारियों के भोग की प्राप्ति को दिखाती है। इस प्रकार अन्नभावबोधक वचन के भाक्त होने से यहाँ इष्टादि करने वाले जीव भोग के लिये गमन करते हैं यह प्रतीत होता है। इससे सूक्ष्मभूतों से संपरिष्वक्त होकर गमन करता है, यह युक्त ही कहा है ॥ ७ ॥

कृतात्ययाधिकरण (२)

स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽथवा। यावत्संपातवचनात् क्षीणानुशय इष्यते ॥१॥
जातमात्रस्य भोगित्वादैकभव्ये विरोधतः। चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरैरयम् ॥२॥

स्वर्गार्थ कृत कर्मजन्य अदृष्ट के स्वर्गसुखभोग से अत्यय (विनष्ट) होने पर भी कर्मान्तरजन्य संचित अदृष्टरूप अनुशय (कर्माशय, वासना) सहित ही जीव स्वर्ग से स्वर्गान्त में लौटता है, यह श्रुति-स्मृति से सिद्ध होता है। लौटते समय कहीं तो

जिस मार्ग से जाता है, उसी से आता है, कहीं उससे विपरीत भिन्न मार्ग द्वारा भी लौटता है। यहाँ संशय होता है कि स्वर्ग से अवरोहण (नीचे आगमन) वाला कर्माशयरूप अनुक्षय के सर्वथा क्षीण होने पर स्वर्गावरोही होता है अथवा अनुशय-सहित अवरोही होता है। पूर्वपक्ष है कि (सम्पतत्यनेनेति संपातः) स्वर्गादि में जिससे गमन करता है, उस कर्म को संपात कहते हैं। श्रुति कहती है कि जबतक संपात कर्म रहता है तब तक स्वर्ग में रहकर लौटता है। इससे क्षीण अनुशय वाला स्वर्गावरोही माना जाता है। सिद्धान्त है कि जातमात्र प्राणी को वर्तमान कर्मादि के बिना सुख-दुःख के भोगित्व होने से, एक ही भव (जन्म) सब कर्म का फलरूप एकभवता (एक भविकता) में विरोध होने से, विरुद्ध कर्मों का एक किसी जन्म में भोग नहीं हो सकने से और चरण श्रुति से भी यह अनुशय सहित ही लौटता है ॥१-२॥

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥

इष्टादिकारिणां धूमादिना वर्त्मना चन्द्रमण्डलमधिरूढानां भुक्तभोगानां ततः प्रत्यवरोह आम्नायते–'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' (छा० ५।१०।५) इत्यारभ्य यावत् 'रमणीयचरणा ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनिम्' इति। तत्रेदं विचार्यते–किं निरनुशया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्सानुशया इति। किं तावत्प्राप्तम्? निरनुशया इति। कुतः? यावत्संपातमिति विशेषणात्। संपातशब्देनात्र कर्माशय उच्यते–संपतन्त्यनेनास्माल्लोकादमुं लोकं फलोपभोगायेति, यावत्संपातमुषित्वेति च कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य तत्रैव भुक्ततां दर्शयति। 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' (बृ० ६।२।१६) इति श्रुत्यन्तरेणैष एवार्थः प्रदर्श्यते। स्यादेतत्, यावदमुष्मिँल्लोक उपभोक्तव्यं कर्म तावदुपभुङ्क्त इति कल्पयिष्यामीति। नैवं कल्पयितुं शक्यते यत्किंचेत्यन्यत्र परामर्शात्। 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति ह्यपरा श्रुतिर्यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शेन कृत्स्नस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयितां दर्शयति। अपिच प्रायणमारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम्, प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेः। तच्चाविशेषाद्यावत्किंचिदनारब्धफलं तस्य सर्वस्याभिव्यञ्जकम्, नहि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति। न ह्यविशिष्टे प्रदीपसंनिधौ घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युपपद्यते। तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीति।

धूमादि मार्ग से चन्द्रलोक में आरूढ़ (प्राप्त) इष्टादिकारियों को वहाँ के भोगों को भोग लेने पर फिर उन भुक्तभोगवालों का इस चन्द्रलोक से प्रत्यवरोह (नीचे अवतरण) श्रुति में कहा जाता है कि (उस चन्द्रलोक में कर्म के भोगकाल तक वस कर फिर जिस मार्ग से गया रहता है, उसी मार्ग से निवृत्त होता (लौटता) है।

यहाँ से आरम्भ करके (सुन्दर आचरणशील वाले ब्राह्मणादि योनि को प्राप्त करते हैं, निन्दित पापरूप आचरण वाले कुत्ता आदि योनि को प्राप्त करते हैं) जब तक यह वचन श्रुति में आया है, तब तक अवतरण की कथा है। यहाँ यह विचार किया जाता है कि क्या अनुशयरूप कर्माशयरहित सब कर्मों को भोग लेने वाले स्वर्ग से उतरते हैं अथवा अवशिष्ट कर्माशयादिसहित उतरते हैं। विमर्श होता है कि प्रथम क्या प्राप्त होता है। पूर्वपक्ष है कि अनुशयरहित उतरता है। क्योंकि 'यावत्संपातम्' जब तक कर्म रहता है, इस विशेषण से निरनुशय की आवृत्ति सिद्ध होती है। संपात शब्द से यहाँ कर्माशय कहा जाता है कि, इस लोक से फल के उपभोग के लिये स्वर्गलोक में जिस कर्म द्वारा प्राप्त होता है, उसको संपात कहते हैं। (जब तक संपात रहता है तब तक स्वर्ग में बस कर लौटता है) यह श्रुति सम्पूर्ण किये हुये उस कर्म की भोग द्वारा उस स्वर्ग में ही समाप्ति दिखाती है। (उन इष्टादिकारियों का वह कर्म जब पर्यवैति; क्षीण होता है तब फिर वे लौटते हैं) इस श्रुत्यन्तर से भी यही अर्थ प्रदर्शित कराया जाता है। वहाँ शंका होती है कि, जब तक स्वर्ग में उपभोग के योग्य कर्म रहता है, तब तक स्वर्गसुख का उपभोग करता है। इस प्रकार उक्त श्रुति के अर्थ की कल्पना करूँगा। यहाँ कहा जाता है कि इस प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती है, जिससे यत्किञ्च, इस प्रकार अन्य श्रुति में परामर्श (स्मरण) है, कि (यह मनुष्य जो कुछ इस लोक में कर्म करता है, उस कर्म का अन्त फल को उपभोग से प्राप्त करके फिर उस लोक से इस लोक की प्राप्ति और कर्म के लिए आता है) यह अन्य श्रुति यत्किञ्च, जो कुछ इस अविशेष सामान्य, परामर्श के द्वारा यहाँ किये गये सम्पूर्ण कर्म की उस स्वर्ग में विनाशिता दिखाती है। दूसरी बात है कि अनारब्धफल (फलारम्भरहित) संचितादि कर्मों के फलारम्भ का प्रायण (मरण) अभिव्यञ्जक है, मरण से प्रथम आरब्ध फलवाले कर्म से प्रतिबद्ध अन्य कर्म की अभिव्यक्ति की अनुपपत्ति से मरणकाल में आरब्ध फलवाले कर्मों के अभाव से प्रतिबन्धकाभावसहित मरण सब कर्म को अभिव्यक्त कर देता है। क्योंकि वह मरण अविशेषता के कारण जो कुछ अनारब्ध फलवाला (फलारम्भरहित) कर्म हैं, उन सबका अभिव्यञ्जक है। जिससे निमित्त कारण के साधारण (सामान्य) रहते नैमित्तिक कार्य असाधारण (विशेष) नहीं होने योग्य है। जिससे प्रदीप की तुल्य समीपता रहते घट अभिव्यक्त—प्रकाशित हो, पर नहीं अभिव्यक्त हो यह नहीं उपपन्न होता है। इस कारण से मरण से अभिव्यक्त सम्पूर्ण कर्मों को स्वर्ग में भोग कर अनुशयरहित जीव स्वर्ग से उतरते हैं।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—कृतात्ययेऽनुशयवानिति। येन कर्मवृन्देन चन्द्रमसमारूढाः फलोपभोगाय तस्मिन्नुपभोगेन क्षयिते तेषां तदम्मयं शरीरं चन्द्रमस्युपभोगायारब्धं तदुपभोगक्षयदर्शनशोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते सवितृकिरणसंपर्कादिव हिमकरकाः। हुतभुगर्चिःसंपर्कादिव च घृतकाठिन्यम्। ततः

कृतात्यये कृतस्येष्टादेः कर्मणः फलोपभोगेनोपक्षये सति सानुशया एवेममवरोहन्ति। केन हेतुना ? दृष्टस्मृतिभ्यामित्याह । तथाहि प्रत्यक्षा श्रुतिः सानुशयानामवरोहं दर्शयति—'यद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा' (छा० ५।१०।७) इति। चरणशब्देनानुशयः सूच्यत इति वर्णयिष्यति । दृष्टश्चायं जन्मनैव प्रतिप्राण्युच्चावचरूप उपभोगः प्रविभज्यमान आकस्मिकत्वासम्भवादनुशयसद्भावं सूचयति, अभ्युदयप्रत्यवाययोः सुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः शास्त्रेणावगमितत्वात् । स्मृतिरपि 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' इति सानुशयानामेवावरोहं दर्शयति । कः पुनरनुशयो नामेति ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (कृतात्ययेऽनुशयवान् इति)। जिस कर्मसमूह से फल के भोग के लिए जीव चन्द्रलोक में प्राप्त होते हैं, उस कर्म के उपभोग से क्षीण, नष्ट होने पर, जो उन जीवों के जलमय शरीर उपभोग के लिये चन्द्रलोक में आरब्ध (उत्पादित) रहते हैं, वह उपभोग के क्षय (विनाश) के दर्शनजन्य शोकरूप अग्नि के सम्पर्क (सम्बन्ध) से विलीन हो जाते हैं । वह इस प्रकार विलीन होते हैं कि जैसे सूर्य की किरणों के सम्बन्ध से हिम और करका (ओला, बनौरी) विलीन होते हैं और अग्नि की ज्वाला के सम्बन्ध से जैसे घृत की कठिनता विलीन होती है। उस शरीर का विलय के कारण, कृत कर्म के अत्यय (विनाश) होने पर, अर्थात् किए हुए इष्टादि कर्मों के फलों के उपभोग से उपक्षय, विनष्ट होने पर अन्य संचित कर्मरूप अनुशय (कर्माशय) सहित ही जीव इस लोक में उतरते, आते हैं । किस हेतु से ऐसा समझा और माना जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर भाष्यकार कहते हैं कि दृष्ट और स्मृतिरूप हेतु से ऐसा माना जाता है, यह सूत्रकार कहते हैं। सूत्रगत दृष्ट शब्द का प्रत्यक्ष उपलब्ध श्रुति अर्थ है, अनुमित नहीं। प्रत्यक्ष श्रुति इस उक्त रीति से ही अनुशय सहित का अवरोह (आगमन) दिखाती है कि (तत्—तिन आनेवाले जीवों में जो इस लोक में रमणीय, सुन्दर आचार वाले अवशिष्ट पुण्य कर्मवाले रहते हैं, वह, 'अभ्याशो ह' अवश्य ही रमणीय योनिरूप ब्राह्मणयोनि वा क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि को प्राप्त करेंगे और करते हैं । जो यहाँ पापकर्म वाले रहते हैं वह अवश्य ही पापयोनिरूप श्वानयोनि, सूकरयोनि वा चाण्डालयोनि को प्राप्त करते हैं) इस श्रुतिगत चरण शब्द से अनुशय सूचित किया जाता है। यह आगे सूत्रकार वर्णन करेंगे। सूत्रगत दृष्ट शब्द का प्रत्यक्ष श्रुति अर्थ किया गया है, दूसरा उसका अर्थ है कि प्रत्येक प्राणी में जन्म से ही न्यून अधिक भेद से नाना प्रकार का प्रविभक्त यह दृष्ट उपभोग, आकस्मिकत्व

(निर्हेतुकत्व) के असम्भव से अनुशय की सत्ता का सूचन करता है, जिससे अभ्युदय (स्वर्गसुखादि) का और प्रत्यवाय (नरकदुःखादि) का सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) क्रम से हेतु हैं। पर हेतुत्व शास्त्र द्वारा सामान्यरूप से अवगमित (बोधित) होता है, जिससे अनुशय सिद्ध होता है। (अपने कर्मों के आचरण में वर्तमान वर्ण और आश्रम वाले मर कर स्वर्गादि में जाकर कर्म फल का अनुभव उपभोग करके फिर अवशिष्ट कर्म द्वारा विशिष्ट (अनुशयानुसार विचित्र) देश, जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत, वृत्त, वित्त, सुख, और मेधा (बुद्धि) वाले होते हुए जन्म प्राप्त करते हैं।) यह स्मृति भी अनुशय सहित के ही अवरोह को दर्शाती है। फिर प्रश्न है कि अनुशय नामक पदार्थ क्या है।

केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुशयो नाम भाण्डानुसारिस्नेहवत्। यथाहि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्येव कश्चित्स्नेहशेषोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽपीति। ननु कार्यविरोधित्वाददृष्टस्य न भुक्तफलस्यावशेषावस्थानं न्याय्यम्। नायं दोषः। नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्व कर्मणः प्रतिजानीमहे। ननु निरवशेषकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमारूढः। वाढम्। तथापि स्वल्पकर्मावशेषमात्रेण तत्रावस्थातुं न लभ्यते। यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणै राजकुलमुपसृप्तश्चिरप्रवासात्परिक्षीणवहूपकरणश्छत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थातुं शक्नोति, एवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्रमण्डलेऽवस्थातुं शक्नोतीति। नचैतद्युक्तमिव, नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषानुवृत्तिरुपपद्यते कार्यविरोधित्वादित्युक्तम्। नन्वेतदप्युक्तम्—न स्वर्गफलस्य कर्मणो निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यति—इति। तदेतदपेशलम्। स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति, न शब्दप्रमाणकानामीदृशी कल्पनाऽवकल्पते। स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्टत्वादुपपद्यते। तथा सेवकस्योपकरणलेशानुवृत्तिश्च दृश्यते, नत्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेशानुवृत्तिर्दृश्यते। नापि कल्पयितुं शक्यते स्वर्गफलत्वशास्त्रविरोधात्।

कोई प्रथम कहते हैं कि जिसके फल का भोग हो गया हो, ऐसे स्वर्गार्थक कर्म का कोई अवशेष भाग अनुशय है, सो भाण्डानुसारी स्नेह (घृतादि) के अनुसार (सदृश) है। जैसे कि घृतादि के भाण्ड (पात्र) को रिच्यमान (स्नेहरहित, खाली) करने पर भी छोटे-बड़े पात्र के अनुसार कुछ स्नेह का अवशेष उसमें रहता ही है इससे सर्वथा स्नेहरहित मृत्तिका रचित पात्र नहीं होता है। इसी प्रकार भोग के बाद अनुशय भी रहता है। यहाँ शंका होती है कि अदृष्ट (धर्माधर्म) को कार्यरूप फलभोग के साथ विरोधिता से जिस अदृष्ट का फल भोगा गया, उसके अवशेष का अवस्थान (स्थिति) रहना न्याययुक्त नहीं है। एकदेशी का उत्तर है कि यह दोष नहीं है, जिससे कर्म का

फल सर्वात्मना (निरवशेष) भुक्त होते (भोगे जाते) हैं। ऐसी प्रतिज्ञा हम नहीं करते हैं। अर्थात् स्वर्ग में निरवशेष कर्म का फल नहीं उपभुक्त होता हैं जिससे अदृष्ट का सर्वथा नाश हो, सावशेष फल के भोग से अदृष्टांश रह जाता है। फिर शंका होती है कि निरवशेष कर्मफल के भोग के लिये जीव चन्द्रमण्डल में आरूढ़ होता हैं। वहाँ निरवशेष फल का भोग नहीं होना अयुक्त है। उत्तर है कि निरवशेषफल भोग के लिए स्वर्गारूढ़ होता है, यह बात सत्य है, तो भी स्वल्प कर्म के अवशेष मात्र से जीव उस स्वर्ग में ठहरने नहीं पाता है। जैसे कोई सेवक राजा की सेवा के योग्य सब उपकरण (साधन) सहित राजकुल में जाकर प्राप्त हो और राजा की सेवा करे, परन्तु चिर-काल के प्रवास (गृहत्यागपूर्वक वास) से सेवा योग्य बहुत साधन उसके परिक्षीण (नष्ट) हो जायँ, और केवल छत्र, पादुका आदि मात्र अवशेष रह जायँ तो वह राजकुल में ठहर नहीं सकता है, इसी प्रकार अनुशयमात्र परिग्रह (मूल साधन) वाला चन्द्रमण्डल में ठहर नहीं सकता है। सिद्धान्ती कहते हैं कि यह उत्तर युक्त सा नहीं है, अर्थात् यह एकदेशी का उत्तर अयुक्त ही है, जिससे कहा जा चुका है कि कार्य के साथ विरोधिता से जिस कर्म का फल भोगा गया हो, उस स्वर्गार्थक कर्म के अवशेष की अनुवृत्ति (पश्चात् स्थिति) उपपन्न नहीं हो सकती है। एकदेशी का कथन है कि यह भी तो कहा जा चुका है कि स्वर्गफल वाला निखिल (निरवशेष) कर्म को स्वर्ग में भुक्तफल-वत्त्व नहीं हो सकता है। सिद्धान्ती का कथन है कि यह कथन अपेशल है (चारु, सुन्दर नहीं है) कि (स्वर्ग ही के लिये किया गया कर्म स्वर्गस्थ ही के सम्पूर्ण स्वर्गफल को नहीं उत्पन्न करता है, स्वर्ग से च्युत के भी कुछ फललेश को उत्पन्न करता है) परन्तु ऐसी कल्पना शब्द (श्रुति) प्रमाण वालों की नहीं सिद्ध हो सकती है। स्नेह भाण्ड में तो स्नेह लेश की अनुवृत्ति दृष्ट होने से उपपन्न होती है। इसी प्रकार सेवक के उपकरण लेश की अनुवृत्ति भी देखी जाती है। परन्तु यहाँ स्वर्गफल वाले कर्म के लेश की अनुवृत्ति उस प्रकार से नहीं देखी जाती है। स्वर्गफल हेतुत्वबोधक शास्त्र के साथ विरोध से अवशेष की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्—न स्वर्गफलस्येष्टादेः कर्मणो भाण्डानुसारि-स्नेहवदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय–इति। यदि हि येन सुकृतेन कर्मणेष्टादिना स्वर्गमन्वभूवस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशयः कल्प्येत ततो रमणीय एवैकोऽनुशयः स्यान्न विपरीतः। तत्रेयमनुशयविभागश्रुतिरुपरुध्येत—'तद्य इह रमणीयचरणा, अथ य इह कपूयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इति। तस्मादामुष्मिकफले कर्म-जातं उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति। यदुक्तं—यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शात्सर्वस्येह कृतस्य कर्मणः फलोपभोगेनान्तं प्राप्य निरनुशया अवरोहन्ति–इति। नैतदेवम्। अनुशयसद्भावस्यावगमित-त्वात्, यत्किंचिदिह कृतमामुष्मिकफलं कर्मारब्धभोगं तत्सर्वं फलोपभोगेन क्षपयित्वेति गम्यते।

इस तत्त्व को इस वक्ष्यमाण रीति से अवश्य समझना चाहिये कि, स्वर्ग जिसका फल है, ऐसा जो इष्टादि कर्म है, उसका माण्डानुसारी स्नेह के समान अनुवर्तमान एकदेशरूप अनुशय नहीं है। क्योंकि जिस सुकृत (पुण्य) रूप इष्टादि कर्म द्वारा जीवों ने स्वर्ग का अनुभव (उपभोग) किया है, यदि उसी कर्म का कोई एकदेश (भाग विशेष) अनुशय कल्पित हो (सिद्ध स्वीकृत हो) तब तो एक रमणीय (सुन्दर पुण्य) ही अनुशय होगा, उससे विपरीत नहीं होगा। ऐसा सिद्ध होने पर (उनमें जो यहाँ रमणीय आचरण वाले हैं, जो यहाँ पापाचरण वाले हैं) यह अनुशय की विभागविषयक श्रुति है वह उपरुद्ध निरुद्ध बाधित हो जायगी। जिससे पारलौकिक फल वाले कर्म समूह के उपभुक्त (भोग द्वारा समाप्त) होने पर, अवशिष्ट इस लोक में फल देने वाला कर्मान्तरों का समूह अनुशय कहा जाता है उस अनुशय वाले चन्द्रलोक से नीचे आते हैं। जो यह कहा था कि यत्किञ्च, इस सामान्य परामर्श से इस लोक में किये गये सब कर्मों के फलों के उपभोग द्वारा उन कर्मों के अन्त को प्राप्त करके अनुशयरहित जीव नीचे आते हैं। वहाँ कहा जाता है कि दूसरी श्रुति से अनुशय के सद्‌भाव (सत्ता) के अवगमित (बोधित) होने से, एतत् (यत्किञ्च) यह पद इस प्रकार का नहीं है, अर्थात् सब कर्म का बोधक नहीं है। किन्तु पारलौकिक फल वाला जो कुछ कर्म यहाँ किया रहता है, परलोक में आरब्ध (उत्पादित) फल वाले उस सब कर्म को भोग द्वारा क्षय करके इस लोक में फिर कर्म के लिये आता है ऐसा प्रतीत होता है।

यदप्युक्तं—प्रायणमविशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्माभिव्यनक्ति, तत्र केनचित्कर्मणाऽमुष्मिल्लोके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न सम्भवति–इति। तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम्। अपि च केन हेतुना प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायते इति वक्तव्यम्। आरब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपशमात्प्रायणकाले वृत्त्युद्भवो भवतीति यद्युच्यते। तत्र वक्तव्यम्। यथैव तर्हि प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरित्येवं प्रायणकालेऽपि विरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासम्भवाद्बलवता प्रतिबद्धस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरिति। न ह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोपभोग्यफलमप्यनेकं कर्मैकस्मिन्प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभत इति शक्यं वक्तुं, प्रतिनियतफलत्वविरोधात्। नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणेऽभिव्यक्तिः कस्यचिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम्। ऐकान्तिकफलत्वविरोधात्। नहि प्रायश्चित्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते।

जो यह भी कहा था कि अविशेषता से अनारब्ध फल वाले सभी कर्मों को मरण कार्य के लिए अभिव्यक्त करता है। यहाँ किसी कर्म से परलोक में फल का आरम्भ किया जाय, किसी से इस लोक में फल का आरम्भ हो। इस विभाग का सम्भव नहीं है।

इससे परलोक में ही सब कर्मफलों को भोग कर अनुशयरहित जीव लौटता है। वह कथन भी अनुशय की सत्ता के प्रतिपादन से ही प्रत्युक्त निराकृत हो गया। दूसरी बात है कि किस हेतु से प्रतिज्ञा करते हो कि मरण अनारब्ध कर्म का अभिव्यञ्जक है। यह कहना चाहिए। यदि कहो कि आरब्ध फल वाले कर्म से प्रतिबद्ध अन्य कर्म की मरण से पूर्वकाल में वृत्ति (व्यापार) की अनुपपत्ति से, उस प्रारब्धकर्मरूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति से मरण काल में सब कर्मों की वृत्ति का उद्भव (जन्म) होता है। तो वहाँ यह वक्तव्य (कहना) है कि जिस प्रकार मरण से पूर्वकाल में आरब्ध फल वाले प्रारब्ध कर्म से प्रतिबद्ध इतर कर्म की वृत्ति के उद्भव की अनुपपत्ति होती है, उसी प्रकार मरण काल में भी विरुद्ध फल वाले अनेक कर्मों के एक काल में फलों के आरम्भ के असम्भव से बलवत् (प्रबल) कर्म से प्रतिबद्ध अन्य कर्म की वृत्ति के उद्भव की अनुपपत्ति है। कर्मों की प्रतिनियत फलता के विरोध से ऐसा नहीं कह सकते हैं कि अनारब्ध फलत्व-रूप समता से जात्यन्तर (अनेक जन्म) में उपभोग्य फल वाले अनेक भी कर्म एक ही मरण में, एक ही काल में अभिव्यक्त होकर एक जाति (जन्म) का आरम्भ करते हैं। (नाभुक्तं क्षीयते कर्म) अभुक्त कर्म नष्ट नहीं होता है, इत्यादि शास्त्र से कर्म के ऐकान्तिक (प्रायश्चित्त ज्ञानादि के बिना निश्चित) फलवत्त्व के विरोध से, यह भी नहीं कह सकते हैं कि किसी प्रबल कर्म की मरणकाल में फल के लिए अभिव्यक्ति होती है और किसी दुर्बल कर्म का मरणमात्र से उच्छेद (नाश) हो जाता है जिससे प्राय-श्चित्तादिरूप हेतुओं के बिना कर्मों के उच्छेद की सम्भावना नहीं की जा सकती है।

स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्य कर्मान्तरस्य चिरमवस्थानं दर्शयति—

कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति।
मज्जमानस्य संसारे यावद् दुःखाद्विमुच्यते॥

—इत्येवंजातीयका। यदि च कृत्स्नमनारब्धफलं कर्मैकस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभेत ततः स्वर्गनरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानवगमाद्धर्माधर्मानुत्पत्तौ निमित्ताभावान्नोत्तरा जातिरुपपद्येत। ब्रह्महत्यादीनां चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्मर्यमाणमुपरुध्येत। नच धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिसमधिगमे शास्त्रादतिरिक्तं कारणं शक्यं सम्भावयितुम्। न च दृष्टफलस्य कर्मणः कारीर्यादेः प्रायणमभिव्यञ्जकं सम्भवतीत्यव्यापिकाऽपीयं प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना। प्रदीपोपन्यासोऽपि कर्मबलाबलप्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः। स्थूलसूक्ष्मरूपाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथाहि प्रदीपः समानेऽपि संनिधाने स्थूलं रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम्, एवं प्रायणं समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजातस्य प्राप्तावसरत्वे बलवतः कर्मणो वृत्तिमुद्भावयति न दुर्बलस्येति। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादश्लिष्टोऽयमशेषकर्माभिव्यक्त्य-

भ्युपगमः। शेषकर्मसद्भावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने संभ्रमः, सम्यग्दर्शनादशेषकर्मक्षयश्रुतेः, तस्मात्स्थितमेतदेवानुशयवन्तोऽवरोहन्तीति। ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति। यथेतमिति यथागतमित्यर्थः। अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः। धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्वन्युपात्तयोरवरोहे संकीर्तनाद्यथेतंशब्दाच्च यथागतमिति प्रतीयते। रात्र्याद्यसंकीर्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयते॥ ८॥

स्मृति भी विरुद्ध फल वाले कर्म से प्रतिबद्ध कर्मान्तर के चिरकाल तक अवस्थान को दर्शाती है कि (संसारसागर में निमग्न जीव का सुकृत कर्म कभी यहाँ तबतक कूटस्थ (व्यापाररहित) रहता है जबतक वह दुःख से विमुक्त होता है।) इस प्रकार की अन्य भी स्मृति है। यदि सम्पूर्ण अनारब्ध फल वाला कर्म एक मरण में ही अभिव्यक्त होकर एक जाति का आरम्भ करे, तो स्वर्ग, नरक, तिर्यग् योनियों में कर्मादि के अधिकारों के अनवगम (अप्राप्ति) से उन योनियों में प्राप्त जीवों के धर्माधर्म की अनुत्पत्ति के कारण धर्मादिरूप निमित्त के अभाव से उन जीवों को आगे की जाति (जन्म) नहीं उपपन्न होगी, किन्तु पूर्व के सर्व कर्मों को देवादि योनियों में भोग लेने पर भी ज्ञान के बिना न मुक्त ही होंगे, न जन्मान्तर को पाएँगे, फिर उनकी अजब अवस्था प्राप्त होगी। ब्रह्महत्या आदि रूप महापापों में से एक-एक पाप कर्म को अनेक जन्म के निमित्तत्व का जो स्मृति में कथन है, वह बाधित होगा। धर्माधर्म के स्वरूप, फल, और साधन आदि के अधिगम (ज्ञान) में शास्त्र से अतिरिक्त कारण की सम्भावना नहीं कर सकते हैं। इससे शास्त्र के अनुसार कर्मफलरूप जन्मादि को समझना चाहिये। दृष्ट फल वाले वर्तमान जन्म में फल के हेतुकारी आदि कर्मों का अभिव्यञ्जक मरण नहीं हो सकता है, इससे मरणसम्बन्धी सर्वकर्माभिव्यञ्जकत्व की यह कल्पना अव्यापक भी है। प्रदीप का दृष्टान्त भी कर्म के बलाबल के प्रदर्शन से ही प्रत्याख्यात हो चुका है। स्थूल तथा सूक्ष्मरूप वाले पदार्थों की दीप से अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति के समान इस मरण से कर्माभिव्यक्ति को समझना चाहिये। कि जैसे तुल्य सन्निधान रहते भी स्थूलरूप वाले को प्रदीप अभिव्यक्त करता है, सूक्ष्म को नहीं अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार अनारब्ध फल वाले कर्मसमूह की अभिव्यक्ति के अवसर काल के तुल्य प्राप्त होने पर भी बली कर्म की वृत्ति को मरण उद्भव करता है, दुर्बल की वृत्ति को उद्भव नहीं करता है जिससे श्रुति, स्मृति और न्याय (युक्ति) से विरुद्ध होने के कारण यह अशेष कर्मों की अभिव्यक्ति का अभ्युपगम (स्वीकार) अयुक्त है। एक भविक को नहीं मानने पर शेष कर्म की स्थिति रहने से अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग होगा, यह भी संभ्रम (संवेग वा भय) अस्थाने (अयुक्त) है। सम्यग् दर्शन से अशेष कर्मों की क्षय की श्रुति से भय वा अनिर्मोक्ष का प्रसंग ही नहीं है, जिससे यही स्थित निश्चित हुआ कि अनुशययुक्त जीव स्वर्ग से आते हैं, और वे चन्द्रलोकरूप स्वर्ग से आने वाले आते समय कहीं तो जिस मार्ग से गये रहते हैं,

उसी मार्ग से लौटते समय आते हैं, और कहीं अनेवं (गमन से भिन्न) मार्ग द्वारा भी आते हैं। यथेतम्, इस पद के यथागतम् (जिस प्रकार, जिस मार्ग द्वारा जाते हैं) यह अर्थ है। अनेवं का अर्थ है कि गमन की अपेक्षा विपरीत मार्ग द्वारा भी आते हैं। यहाँ पितृयान (दक्षिणायन) मार्ग में गृहीत धूम और आकाश के आगमन में भी कीर्तन (कथन) से, यथेतं शब्द से यथागतम् यह प्रतीत होता है। पितृयान मार्ग वर्णित रात्रि आदि के आगम में असंकीर्तन से तथा अधिक अभ्रादि के कथन से अनेवं (विपर्यय) भी प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

अथापि स्यात्—या श्रुतिरनुशयसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता—'तद्य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इति—सा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति नानुशयात्। अन्यच्चरणमन्योऽनुशयः, चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम्। अनुशयस्तु भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्तं कर्माभिप्रतम्। श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' (बृ० ४।४।५) इति, 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' (तै० १।११।२) इति च। तस्माच्चरणाद्योन्यापत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरिति चेत्। नैष दोषः। यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैवैषा चरणश्रुतिरिति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त रीति से अनुशय सहित का अवरोहण सिद्ध होने पर भी यदि शंका हो कि अनुशय की सत्ता के प्रतिपादन के लिए जो श्रुति उदाहृत हुई है, प्रमाणरूप कही गई है कि (उनमें जो यहाँ रमणीय आचरण वाले होते हैं) इत्यादि। वह श्रुति चरण से योनि की प्राप्ति को दर्शाती है, अनुशय से नहीं। चरण और अनुशय दोनों शब्द एकार्थक नहीं हैं। चरण शब्दार्थरूप वस्तु अन्य है, अनुशय शब्दार्थ उससे अन्य है। चरण, चारित्र, आचार और शील ये शब्द अनर्थान्तर (एकार्थक) हैं। (अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः) इस स्मृति के अनुसार तन, मन, वचन द्वारा सर्व प्राणि विषयक द्रोह का अभाव, अनुग्रह और शास्त्रार्थ का ज्ञान शील कहलाता है। अनुशय तो भुक्त फल वाले कर्म से अतिरिक्त कर्म अभिप्रेत है। श्रुति भी कर्म और चरण को भेदपूर्वक कथन करती है कि—(जैसा कर्म करता है, जैसा आचार करता है, वैसा होता है तथा जो अनिन्दित कर्म हैं वे तुम्हें सेवन के योग्य कर्तव्य हैं। अन्य नहीं। जो हमारे (आचार्यों के) सुचरित्र हैं वे ही तुम्हें सेवनीय हैं) इससे चरण से योनि की प्राप्ति की श्रुति से अनुशय की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि ऐसी शंका हो तो कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते हैं कि यह अनुशय की असिद्धिरूप दोष नहीं है जिससे यह चरणश्रुति अनुशय की उपलक्षणार्थक है। अर्थात् सदाचाररूप शील सब सत् कर्मों का अंग है, वह लक्षण द्वारा अङ्गी कर्म का ही

बोधक है, इससे कर्मरूप अनुशय की सिद्धि होती है, यह कार्ष्णाजिनि आचार्य का मत है ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

स्यादेतत्, कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लाक्षणिकोऽनुशयः प्रत्याय्यते। ननु शीलस्यैव तु श्रौतस्य विहितप्रतिषिद्धस्य साध्वसाधुरूपस्य शुभाशुभयोन्यापत्तिः फलं भविष्यति, अवश्यं च शीलस्यापि किंचित्फलमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा ह्यानर्थक्यमेव शीलस्य प्रसज्येतेति चेत्। नैष दोषः। कुतः? तदपेक्षत्वात्। इष्टादि हि कर्मजातं चरणापेक्षम्। नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्, 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादिस्मृतिभ्यः। पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम्। इष्टादौ हि कर्मजाते फलमारभमाणे तदपेक्ष एवाचारस्तत्रैव कंचिदतिशयमारप्स्यते। कर्म च सर्वार्थकारीति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः, तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति कार्ष्णाजिनेर्मतम्। नहि कर्मणि सम्भवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता। नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति ॥ १० ॥

यहाँ शंका होती है कि यहाँ यह प्रश्न वचन उपयुक्त हो सकता है कि, चरण शब्द से श्रुति द्वारा शक्ति वृत्ति से बोधित शील को त्यागकर लाक्षणिक (लक्षणा से बोध्य) अनुशय का प्रत्यय (ज्ञान) किस कारण से होता है और किया जाता है। ननु (भोः) श्रुति से ज्ञात विहित और प्रतिषिद्धरूप साधु (चारु) असाधु (अचारु) शील का ही शुभ और अशुभ योनि की प्राप्तिरूप फल होगा। शील का भी अवश्य कोई फल अभ्युपगन्तव्य (स्वीकारार्ह) है। अन्यथा शील को अनर्थकता की ही प्राप्ति होगी। उत्तर है कि यह अनर्थकता की प्राप्ति रूप दोष लक्षण से अनुशय का बोध होने पर नहीं है। क्योंकि इष्टादि कर्मफल की उत्पत्ति में सदाचारशील की अपेक्षापूर्वक फल को उत्पन्न करते हैं जिससे (वेदास्तदर्थकर्माण्याचारं विना न फलन्ति) वेद और उसके अर्थरूप कर्म सदाचार के बिना सफल नहीं होते हैं। इससे इष्टादि कर्मसमूह अवश्य चरण (आचार) की अपेक्षा वाले हैं। सदाचाररहित कोई इष्टादि कर्म का अधिकारी नहीं हो सकता है, सो (आचारहीन को वेद पवित्र नहीं करते हैं) इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता है। यदि आचार यज्ञार्थक अदृष्टार्थक नहीं माना जाय, स्नानादि के समान पुरुष के संस्कारार्थकरूप से पुरुषार्थक माना जाय, तो आचार के पुरुषार्थकत्व होने पर भी उसकी अनर्थकता नहीं है जिससे इष्टादि कर्मसमूह के फल के आरम्भकाल में, उन इष्टादिकों की अपेक्षापूर्वक ही आचार भी उसी फल में कोई अतिशय (दृढता, उत्कर्ष) को आरम्भ करेगा। स्वतन्त्र आचार ही फलारम्भ नहीं कर सकता, जिससे कर्म सर्वार्थकारी है, इस प्रकार श्रुति और स्मृति में प्रसिद्धि है, इससे शील से उपलक्षित (युक्त) कर्म ही अनुशयस्वरूप होकर योनि में प्राप्ति का कारण है। यह कार्ष्णाजिनि

का मत है। कर्म के सम्भव रहते शील से योनि की प्राप्ति युक्त नहीं है जिससे पैरों से भागने में पारयमाण (समर्थ) होते जानुओं, घुटनों से गमन के लिये योग्य नहीं होता है ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

बादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याय्येते इति मन्यते। चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्। तथाहि—अविशेषेण कर्ममात्रे चरतिः प्रयुज्यमानो दृश्यते। यो हीष्टादिलक्षणं पुण्यं कर्म करोति तं लौकिका आचक्षते धर्मं चरत्येष महात्मेति। आचारोऽपि च धर्मविशेष एव। भेदव्यपदेशस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते। तस्माद्रमणीयचरणाः प्रशस्तकर्माणः, कपूयचरणा निन्दितकर्माण इति निर्णयः ॥ ११ ॥

यद्यपि क्षमा, अक्रोध, अद्रोह, दया, दान और ज्ञानादि विहित साधु (सुन्दर) शील हैं, वह साधारण धर्मरूप हैं, और विशेषरूप वाले कर्मों से भिन्न भी हैं। इसी प्रकार क्रूरता, क्रोध, द्रोह और अनृतादि अविहित असाधुशील हैं। तथापि चरण और आचार शब्द कर्म के ही वाचक हैं, शील के नहीं, इस आशय से कहते हैं कि बादरि आचार्य तो सुकृत और दुष्कृत ही चरण शब्द से बोधित किये (समझाये) जाते हैं, इस प्रकार मानते हैं। चरण, अनुष्ठान, और कर्म ये शब्द अनर्थान्तर (भिन्नार्थक नहीं) हैं, पर्याय वाचक हैं जिससे इसी प्रकार अविशेषरूप से कर्ममात्र में चरति (चर् धातु) प्रयुज्यमान (प्रयुक्त, पठित) देखा जाता है, कि जो कोई इष्टादिरूप पुण्य कर्म को करता है, लौकिक पुरुष उसको कहते हैं कि यह महात्मा धर्म करता है (धर्माचार करता है)। आचार भी धर्मविशेष ही है। (यथाकारी यथाचारी) इत्यादि स्थान में कर्म और आचरण में भेद का व्यवहार तो ब्राह्मण परिव्राजक न्याय से भी उपपन्न हो सकता है। अर्थात् सामान्यविशेषरूप से भेद का व्यवहार होता है। इससे रमणीयचरण प्रशस्त कर्म वाले कहलाते हैं, और कपूय चरण निन्दित कर्म वाले कहलाते हैं, यह निर्णय है ॥ ११ ॥

अनिष्टाधिकार्यधिकरण (३)

चन्द्रं याति न वा पापी ते सर्वं इति वाक्यतः। पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेपि यात्यसौ ॥१॥
भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी। सर्वश्रुतिः सुकृतिनां याम्ये पापिगतिः श्रुता ॥२॥

इष्टादि कर्म नहीं करने वालों की भी चन्द्रलोक में गति होती है। क्योंकि कौषीतकी श्रुति में मरण काल में सामान्यरूप से चन्द्रलोक में गमन सुना गया है। यह इस पूर्वपक्ष सूत्र का अर्थ है। संशय है कि पापी चन्द्र को प्राप्त करता है, वा नहीं। पूर्वपक्ष है कि (वे सब जाते हैं) इस वाक्य से और पञ्चमी आहुति में पुरुषरूपता की प्राप्ति के लिये, पुण्य के अभाव से भोग नहीं मिलने पर भी पापी भी स्वर्ग में जाते हैं। सिद्धान्त है कि चन्द्रलोक में भोग के ही लिए गमन होता है। पञ्चमी आहुति में ही

शरीर होने का नियम नहीं है, इससे शरीर लाभ में आहुति व्यभिचारिणी (अनियत) है, और श्रुति में सर्व पद सुकृतियों के तात्पर्य से है। पापियों की यमलोक में गति सुनी गई है, इससे उनकी चन्द्रलोक में गति नहीं होती है ॥ १–२ ॥

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तम्। ये त्वितरेऽनिष्टादिकारिणस्तेऽपि किं चन्द्रमसं गच्छन्त्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते। तत्र तावदाहुः—इष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीत्येतन्न। कस्मात् ? यतोऽनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रुतम्। तथा ह्यविशेषेण कौषीतकिनः समामनन्ति—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषी० १।२) इति। देहारम्भोऽपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते, पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्। तस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदेयुः। इष्टादिकारिणामितरेषां च समानगतित्वं न युक्तमिति चेत्। न। इतरेषां चन्द्रमण्डले भोगाभावात् ॥ १२ ॥

इष्टादि कर्म करने वाले चन्द्रलोक में जाते हैं, यह कहा गया है। उनसे अन्य जा इष्टादि कर्म नहीं करने वाले हैं, वे भी क्या चन्द्रलोक में जाते हैं अथवा नहीं जाते हैं, यह विचार अब किया जाता है। यहाँ प्रथम कोई कहते हैं कि इष्टादि करने ही वाले चन्द्रलोक में जाते हैं, ऐसे नियम का कोई हेतु नहीं है, क्योंकि जिससे इष्टादि नहीं करने वालों के भी गन्तव्यरूप से चन्द्रमण्डल सुना गया है, जिसमें कौषीतकी शाखा वाले इसी प्रकार समानरूप से कहते हैं कि (मरण काल में जो कोई इस लोक से यात्रा करते हैं वे सब चन्द्रलोक में ही जाते हैं) और फिर जन्मने वालों की देहोत्पत्ति भी चन्द्र प्राप्ति के बिना नहीं सिद्ध हो सकती है, क्योंकि देह की प्राप्ति में पञ्चमी आहुति में पुरुष नाम वाला शरीर होता है, यह नियम है, और चन्द्रादि स्थानों में प्राप्ति के बिना पञ्चमी आहुति नहीं सिद्ध हो सकती है। इससे सभी प्रयाण करने वाले चन्द्रलोक में जायँगे, और जाते हैं। यदि कहा जाय कि इष्टादिकारी और अन्य का समान गतित्व युक्त नहीं है, अन्यथा कर्म की निष्फलता की प्राप्ति होगी, तो कहा जाता है कि अन्य को चन्द्रमण्डल में भोग के अभाव से, भोगप्रद कर्म की निष्फलता नहीं है ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

संयमने-तु-अनुभूय-इतरेषाम्-आरोहावरोहौ-तद्गतिदर्शनात् ये छः पद सूत्र में हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (संयम्यन्ते जना यत्र तत्संयमनं तत्र इतरेषामारोहो भवति ततश्च यातना अनुभूयाऽवरोहो भवति मनुष्यलोके तेषामेताद्दशी गमनागमने भवतो न चन्द्रलोके, यतस्तेषां यमलोक एव श्रुतौ गतिदर्शनादेवं निश्चीयते) जहाँ पापी जन संयत यातना दण्डयुक्त किए जाते हैं, वह संयमन यमालय है। इतर लोग वहाँ जाते हैं, वहाँ से आते

हैं। उनके इस प्रकार के गमनागमन होते हैं, और जिससे उनकी गति की चर्चा श्रुति में देखी जाती है, इससे इस प्रकार निश्चय किया जाता है। अथर्ववेद का मन्त्र है कि (यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत) मनुष्यों में जो प्रथम मरा, और वैवस्वत-जनों के संगन्तव्य इस लोक में पहुँचा, उसने यम राजा की हवि से सपर्या, पूजा की।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति। एतत् कस्मात्। यतो भोगायैव चन्द्ररोहणं न निष्प्रयोजनम्। नापि प्रत्यवरोहायैव, यथा कश्चिद्वृक्षमारोहति पुष्पफलोपादानायैव न निष्प्रयोजनं नापि पतनायैव। भोगश्चानिष्टादिकारिणां चन्द्रमसि नास्तीत्युक्तम्, तस्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रमसमारोहन्ति नेतरे। ते तु संयमनं यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति। एवंभूतौ तेषामारोहावरोहौ भवतः। कुतः? तद्गतिदर्शनात्। तथाहि यमवचनस्वरूपा श्रुतिः प्रयतामनिष्टादिकारिणां यमवश्यतां दर्शयति—

न सांपरायः प्रति भाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

(कठ० २।६) इति 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' इत्येवंजातीयकं च बह्वव यमवश्यताप्राप्तिलिंगं भवति ॥ १३ ॥

सूत्रगत तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि सब चन्द्रलोक में जाते हैं, यह कथन सत्य नहीं है। यह किस हेतु से समझा जाता है कि यह सत्य नहीं है, जबकि श्रुति सब की गति कह रही है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि जिससे भोग के लिए ही चन्द्रलोक में आरोहण होता है, निष्प्रयोजन नहीं होता है, केवल प्रत्यवरोह (उलटे लौटने) के लिए भी आरोहण नहीं होता है। जैसे कोई पुष्प फल के ग्रहण के ही लिए वृक्ष पर चढ़ता है, निष्प्रयोजन नहीं चढ़ता है, न केवल पतन के लिए चढ़ता है। इष्टादि नहीं करने वालों को चन्द्रलोक में भोग नहीं मिलता है, यह कहा जा चुका है। इससे इष्टादि करने ही वाले चन्द्रलोक में जाते हैं अन्य नहीं जाते हैं, इससे उनके चन्द्रलोक में गमन का कथन असत्य है। वे इतर लोग यमालय (यम के गृह रूप) संयमन में प्राप्ति प्रवेश करके और अपने दुष्कृत पापों के अनुसार यमकृत यातना (तीव्र दुःख) का अनुभव (भोग) करके फिर इस लोक के प्रति अवरोह (अवतरण, गमन) करते हैं। इस प्रकार के उनके आरोह-अवरोह होते हैं। क्योंकि वैसी गति देखने से ऐसा निश्चय होता है। इसी प्रकार मर कर जाने वाले इष्टादि कर्मों को नहीं करने वालों की यमवश्यता (यमाधीनता) को यम के वचनरूप श्रुति दर्शाती है कि (धन के मोह से मूढ विवेकरहित प्रमाद करने वाले बाल अज्ञों के प्रति सांपराय, मरने पर सम्यक् प्राप्त करने योग्य संपरायरूप परलोक का साधन नहीं

भासता है, इससे यह स्त्री, पुत्र, वित्तादिरूप लोक ही है, परलोक नहीं है, इस प्रकार माननेवाले मूढ बार-बार मेरे (यम के) वश में प्राप्त होते हैं) और (जनों का वैवस्वत संगमन गन्तव्य स्थान है) और भी इस प्रकार के बहुत ही यमवश्यता प्राप्ति के लिए लिंग हैं ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

अपिच मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः संयमने पुरे यमायत्तं कपूयकर्मविपाकं स्मरन्ति नाचिकेतोपाख्यानादिषु ॥ १४ ॥

और भी मनु, व्यासादि शिष्ट लोग नाचिकेतोपाख्यानादि में, संयमनपुर में पाप कर्म के फल को यमाधीन स्मरण करते हैं। अर्थात् वहाँ यम के अधीन यमयातनारूप पाप के फल को कहते हैं। इससे इष्टादि के बिना यमलोक गति ही सिद्ध होती है ॥ १४ ॥

अपिच सप्त ॥ १५ ॥

अपिच सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः,ताननिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति। कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुरित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

और भी रौरव, महारौरव आदि सात नरकों का पाप के फलों के उपयोग के लिए स्थानरूप से पौराणिक वर्णन करते हैं। इष्टादि नहीं करने वाले उन नरकों को पाते हैं। उनमें प्राप्त होते हैं। फिर वे चन्द्रलोक को कैसे प्राप्त कर सकते हैं। यह अभिप्राय है ॥ १५ ॥

ननु विरुद्धमिदं–यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्ति–इति। यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठातारः स्मर्यन्त इति। नेत्याह—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापाराभ्युपगमादविरोधः। यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते ॥ १६ ॥

शंका है कि पाप कर्म वाले यम के अधीन यातना का अनुभव करते हैं, यह कथन विरुद्ध है। जबकि उन रौरवादिकों में चित्रगुप्त आदि अन्य भी नाना अधिष्ठाता स्मृति में कहे जाते हैं, तो सब को यम की अधीनता का कथन नहीं बन सकता है। सूत्रकार कहते हैं कि विरोध नहीं है, क्योंकि—

उन सात नरकों को भी उस यम के ही अधिष्ठातृत्वरूप व्यापार के अभ्युपगम से विरोध नहीं है जिससे यम से प्रयुक्त (नियुक्त किये गये) चित्रगुप्त आदि अधिष्ठाता स्मृति में कहे गये हैं ॥ १६ ॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।३।३) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे श्रूयते—अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८)। इति तत्रैनयोः पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत्। कस्मात्? प्रकृतत्वात्। विद्याकर्मणी हि देवयानपितृयाणयोः प्रतिपत्तौ पथोः, प्रकृते 'तद्य इत्थं विदुः' इति विद्या तया प्रतिपत्तव्यो देवयानः पन्थाः प्रकीर्तितः। 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (छा० ५।१०।१,३) इति कर्म तेन प्रतिपत्तव्यः पितृयाणः पन्थाः प्रकीर्तितः। तत्प्रक्रियायाम्—'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न' इति श्रुतम्।

पञ्चाग्निविद्या प्रकरण में प्रश्न है कि (जिस कारण से वह स्वर्गलोक नहीं सम्पूर्ण होता है (नहीं भरता है) उस कारण को क्या तुम जानते हो ? इस प्रश्न के प्रतिवचन (उत्तर) के अवसर में सुना जाता है कि (उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों मार्गों के साधनरूप इन विद्या और कर्मरूप दोनों मार्गों में से किसी एक मार्ग विद्या वा कर्म से जो मनुष्य युक्त नहीं हैं, वे ही ये क्षुद्र, तुच्छ, बार-बार जन्मने-मरने वाले कीट पतंगादि प्राणी होते हैं, बार-बार जन्मते-मरते हैं, और यही तृतीय स्थान है, इसी से वह स्वर्गलोक नहीं पूर्ण होता है, अर्थात् पापी चन्द्रलोक में नहीं जाते हैं इसीसे चन्द्रलोक संपूर्ण नहीं होता है। यहाँ श्रुति में एतयोः, पथोः, (इन दोनों मार्गों में) इस कथन से विद्या (उपासना) और कर्म इस अर्थ का ग्रहण होता है। क्योंकि विद्या और कर्म को ही प्रकृतत्व है। जिससे देवयान (उत्तरायण) और पितृयाण (दक्षिणायन) दोनों मार्गों की प्राप्ति में साधनात्मक मार्गरूप विद्या और कर्म प्रकृत हैं। (इनमें जो इस प्रकार जानते हैं) इस वचन से विद्या प्रकृत है और उससे प्राप्त करने योग्य देवयान मार्ग कहा गया है। (इष्ट पूर्त दत्त) इस वचन से कर्म प्रकृत है और उसके द्वारा प्राप्त करने योग्य पितृयान मार्ग कहा गया है। उन दोनों की प्रक्रिया (प्रकरण) में (इन दोनों में से जो किसी से युक्त नहीं है) यह सुना गया है।

एतदुक्तं भवति—ये च न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृता नापि कर्मणा पितृयाणे तेषामेष क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्ती तृतीयः पन्था भवतीति। तस्मादपि नानिष्टादिकारिभिश्चन्द्रमाः प्राप्यते। स्यादेतत्, तेऽपि चन्द्रबिम्बमारुह्य ततोऽवरुह्य क्षुद्रजन्तुत्वं प्रतिपत्स्यन्त इति। तदपि नास्ति। आरोहानर्थक्यात्। अपिच सर्वेषु प्रयत्सु चन्द्रलोकं प्राप्नुवत्स्वसौ लोकः प्रयद्भिः संपूर्येतेत्यतः प्रश्नविरुद्धं प्रतिवचनं प्रसज्येत। तथाहि प्रतिवचनं दातव्यं यथाऽसौ लोको न संपूर्यते। अवरोहाभ्युपगमादसंपूर्णोपपत्तिरिति चेत्। न अश्रुतत्वात्। सत्यमवरोहादप्यसंपूरणमुपपद्यते। श्रुतिस्तु तृतीयस्थानसंकीर्तनेनासंपूरणं

दर्शयति—'एतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति। तेनानारोहादेवासंपूरणमिति युक्तम्। अवरोहस्येष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात्। तुशब्दस्तु शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामशेषगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति, एवं सत्यधिकृतापेक्षः शाखान्तरीये वाक्ये सर्वशब्दोऽवतिष्ठते—ये वै केचिदधिकृता अस्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति—इति॥ १७॥

इससे यह रहस्य उक्त होता है कि जो मनुष्य विद्यारूप साधन द्वारा देवयान मार्ग के लिए अधिकारी नहीं हुए, न कर्म द्वारा पितृयान मार्ग के ही लिए अधिकारी हो सके, उनका यह क्षुद्रजन्तुरूप बार-बार आवृत्ति वाला तीसरा मार्ग होता है। इससे भी इष्टादि नहीं करने वालों से चन्द्रलोक नहीं प्राप्त किया जाता है। शंका होती है कि विद्या और कर्म के बिना यह क्षुद्र जन्तुत्व हो, परन्तु वे भी चन्द्रबिम्ब में आरूढ़, प्राप्त होकर और वहाँ से उतर कर क्षुद्रजन्तुत्व को प्राप्त करेंगे। उत्तर है कि विद्यारहित, कर्मरहित के केवल आरोहण-अवरोहण भी नहीं होते हैं जिससे आरोहण में अनर्थकता की प्राप्ति होती है। दूसरी बात यह है कि मरकर जानेवाले सभी यदि चन्द्रलोक में जायँगे, तो वह लोक जानेवालों से सम्पूर्ण (व्याप्त) होगा। इससे प्रश्न से विरुद्ध प्रतिवचन प्राप्त होगा। प्रश्न के अनुसार इस प्रकार का प्रतिवचन (उत्तर) देना चाहिए कि जिस प्रकार से वह लोक संपूर्ण नहीं सिद्ध हो। यदि कहो कि अवरोह के अभ्युपगम से असंपूर्ण की उपपत्ति होगी, तो अश्रुतत्व से वह कथन युक्त नहीं है। अवरोह से भी असम्पूर्ण उपपन्न होता है, यह कथन सत्य है। परन्तु श्रुति तो तृतीय स्थान के संकीर्तन द्वारा असम्पूर्ण दर्शाती है कि (यह तृतीय स्थान है इससे वह लोक नहीं सम्पूर्ण होता है) इससे इतर के अनारोह से ही असम्पूर्ण होता है। यह युक्त है। यदि अवरोह से ही अपूर्ति हो तो इष्टादिकारी के अवरोह की अविशेषता से तृतीय स्थान कथन की अनर्थकता प्राप्त होगी। अर्थात् इसी यथागत मार्ग से फिर लौटते हैं, इस प्रकार की आवृत्ति का कथन इष्टकारी में है उसी से अनिष्टकारी की आवृत्ति सिद्ध होते तृतीय स्थान का कथन अनर्थक होगा, इससे तृतीय स्थान शब्द तृतीय मार्ग का बोधक है। इससे तृतीय मार्ग वाले चन्द्रलोक में नहीं जाते हैं। इससे सूत्रगत तु शब्द शाखान्तर के वाक्य से जन्य अशेष (सब) के गमन की आशंका का उच्छेद करता है। ऐसा सिद्ध होने पर शाखान्तरगत वाक्य में अधिकारी की अपेक्षा वाला सर्व शब्द अवस्थित निश्चित होता है कि जो कोई इष्टादि के अधिकार द्वारा स्वर्ग के अधिकारी होकर इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोक में ही जाते हैं॥ १७॥

यत्पुनरुक्तं—देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्—इति, तत्प्रत्युच्यते—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादर्तव्यः। कुतः? तथोपलब्धेः। तथा ह्यन्तरेणैवाहुतिसंख्यानियमं वर्णितेन प्रकारेण तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते 'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' (छा० ५।१०।८) इति। अपिच 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिसंख्या संकीर्त्यते न कीटपतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन, पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात्। अपिच पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं प्रतिषिध्यते, वाक्यस्य द्व्यर्थतादोषात्। तत्र येषामारोहावरोहौ सम्भवतस्तेषां पञ्चम्यामाहुतौ देह उद्भविष्यति, अन्येषां तु विनैवाहुतिसंख्यया भूतान्तरोपसृष्टाभिरद्भिर्देह आरप्स्यते ॥ १८ ॥

जो यह कहा था कि पञ्चमी आहुति में पुरुष वचन होता है। इस प्रकार आहुति संख्या के नियम से देहलाभ की उपपत्ति के लिए सब चन्द्रलोक में जाने के योग्य हैं, उसके प्रति उत्तर कहा जाता है कि—

तृतीय स्थान में देह के लाभ के लिए आहुति की पाँच संख्या का नियम आदर (स्वीकार) के योग्य नहीं है, क्योंकि उस स्थान में इसी प्रकार अनियम की उपलब्धि होती है, जिससे इसी प्रकार आहुति संख्या के नियम बिना ही वर्णित रीति से तृतीय स्थान की प्राप्ति उपलब्ध होती है, कि (बार-बार जन्मो-मरो यही तृतीय स्थान है)। दूसरी बात है कि पुरुष शब्द के मनुष्य जाति वाचकत्व होने से (पञ्चमी आहुति में जल पुरुष शब्द का वाच्य होता है। यह मनुष्य शरीर के हेतुरूप से आहुति की संख्या कही जाती है, कीट-पतङ्गादि के शरीर के हेतुरूप से नहीं कही जाती है। यह बात भी है कि पञ्चमी आहुति में जल के पुरुषशब्दवाच्यता का उपदेश दिया जाता है, परन्तु मनुष्य में भी पञ्चमी आहुति के बिना अपञ्चमीं आहुति में पुरुषशब्दवाच्यता का प्रतिषेधन ही किया जाता है। क्योंकि ऐसा करने से वाक्य को दो अर्थबोधकता दोष होगा, अर्थात् विधि और निषेधरूप दो अर्थ वाक्य के होने पर वाक्यभेद की प्राप्ति होगी। इस प्रकार पञ्चमी आहुति का नियम देहधारण के लिए नहीं होने पर, जिनके आरोह-अवरोह का सम्भव है। पञ्चमी आहुति में उनकी देह का उद्भव (जन्म) होगा। अन्य की देह तो आहुतिसंख्यां के नियम के बिना ही भूतान्त से मिश्रित जल के द्वारा आरब्ध (उत्पन्न) होगा ॥ १८ ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

अपिच स्मर्यते लोके द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायोनिजत्वम्। तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयैकाहुतिर्नास्ति। धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्तः। यथा च तत्राहुतिसंख्यानादरो

भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति। बलाकाप्यन्तरेणैव रेतःसेकं गर्भं धत्त इति लोकरूढिः ॥ १९ ॥

और भी यह बात है कि लोक (महाभारतादि) में, भरद्वाज ऋषि के वीर्य से द्रोण में उत्पन्न होने वाले द्रोणाचार्य, अग्नि से उत्पन्न होने वाले धृष्टद्युम्नादि के, और इसी प्रकार भूमि और अग्नि से उत्पन्न होनेवाली सीता और द्रौपदी आदि के अयोनिजत्व का स्मरण किया जाता है। यहाँ द्रोणादिसम्बन्धी एक स्त्रीविषयक आहुति नहीं स्मृत है। धृष्टद्युम्न आदि सम्बन्धी तो पुरुष और स्त्री दोनों विषयक आहुति नहीं स्मृत (कथित) है। जैसे उन द्रोणाचार्यादि में आहुति की संख्या का आदर नहीं होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी संख्या का आदर नहीं होगा। बलाका भी रेतःसेक (वीर्यसेचन) बिना ही गर्भ का धारण करती है ऐसी लोक में रूढि (प्रसिद्धि) है ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

अपि च चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्भिज्जयोरन्तरेणैव ग्राम्यधर्ममुत्पत्तिदर्शनादाहुतिसंख्यानादरो भवति। एवमन्यत्रापि भविष्यति ॥ २० ॥

और भी यह बात है कि जरायु (गर्भवेष्टन चर्म) द्वारा जन्मने वाले जरायुज मनुष्य, पशु आदि, अण्डों द्वारा जन्मने वाले अण्डज, पक्षी आदि, स्वेद से जन्मने वाले स्वेदज, खटमल, यूका आदि और भूमि का उद्भेदन करके जन्मने वाले उद्भिज्जरूप, वृक्षादिरूप चार प्रकार के भूतग्राम (प्राणी के समूह) में स्वेदज और उद्भिज्ज की ग्राम्यधर्म (स्त्रीसंग) के विना ही उत्पत्ति के देखने से आहुति की संख्या का अनादर होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी आहुति की संख्या का अनादर होगा। अर्थात् इष्टादि नहीं करने वालों के लिये पञ्चमी आहुति में शरीर-धारण का नियम नहीं रहेगा ॥ २० ॥

ननु 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इति अत्र त्रिविध एव भूतग्रामः श्रूयते कथं चतुर्विधत्वं भूतग्रामस्य प्रतिज्ञातमिति। अत्रोच्यते—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येतव्यः। उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात्। स्थावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इत्यन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जयोर्भेदवाद इत्यविरोधः ॥ २१ ॥

उक्तार्थ में शंका होती है कि (उन जीवों से आविष्ट इन पक्षी आदि रूप भूतों के

तीन ही बीज, कारण होते हैं। वे कौन हैं कि आण्डज-अण्डज, जीवज-जरायुज और उद्भिज्ज हैं) अर्थात् पूर्व-पूर्व के अण्डजादि से उत्तरोत्तर के अण्डजादि होते हैं, इससे जीवयुक्त देहों के तीन कारण हैं, इस श्रुति में तीन प्रकार से ही भूतग्राम सुने जाते हैं। फिर चार प्रकार के भूतग्राम की प्रतिज्ञा कैसे की गई है। भूतग्राम का चतुर्विधत्व प्रतिज्ञात कैसे हुआ है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

ऐतरेय श्रुति में (अण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च) इस प्रकार से चतुर्विध भूतग्राम के स्वीकार से छान्दोग्य में भी चतुर्विधता का स्वीकार है, परन्तु (अण्डजं, जीवजम्, उद्भिज्जम्) इस वाक्य में तृतीय उद्भिज्ज शब्द से ही स्वेदज का उपसंग्रह किया हुआ समझना चाहिये, क्योंकि स्वेदज, उद्भिज्ज दोनों को भूमि और उदक के उद्भेदनजन्यत्व की तुल्यता है। इससे उद्भिज्ज से दोनों का अवरोध (संग्रह) किया गया है। स्थावर-वृक्षादिकृत उद्भेदन की अपेक्षा से जङ्गमकृत उद्भेदन विलक्षण है। इस तात्पर्य से अन्यत्र श्रुति आदि में स्वेदज और उद्भिज्जविषयक भेदवाद है। सूत्र में संशोक शब्द स्वेद अर्थ में है। शोक से भी स्वेद होता है। इससे कार्य में कारणवाचक शब्द का प्रयोग किया गया है ॥ २१ ॥

साभाव्यापत्त्यधिकरण ॥ ४ ॥

वियदादिस्वरूपत्वं तत्साम्यं वावरोहिणः । वायुर्भूत्वेत्यादि वाक्यात् तत्तद्भावं प्रपद्यते ॥१॥
खवत्सूक्ष्मो वायुवशो युक्तो धूमादिभिर्भवेत् । अन्यस्यान्यस्वरूपत्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥२॥

स्वर्ग से अवरोह काल में यद्यपि जीव की आकाश वायु आदि रूपता की प्राप्ति श्रुति अक्षर के अनुसार प्रतीत होती है, तथापि उपपत्ति से समानस्वभावता की प्राप्ति सिद्ध होती है। संशय है कि अवरोह करने वाले को मार्ग में आकाशादि स्वरूपता की प्राप्ति होती है। अथवा आकाशादितुल्यता की प्राप्ति होती है। पूर्वपक्ष है कि (वायु होकर धूम होता है) इत्यादि वाक्य से सिद्ध होता है कि तत्तत्स्वरूपता को प्राप्त होता है। सिद्धान्त है कि अन्य चेतन जीवात्मा को अन्य आकाशादि स्वरूपत्व मुख्य नहीं उपपन्न हो सकता है, इससे शोकाग्नि से जलमय स्वर्गीय देह के विलीन हो जाने से आकाश के समान सूक्ष्म हो जाते हैं। फिर अत्यन्त सूक्ष्म लिङ्गशरीरयुक्त जीव वायु के वश में होते हैं, फिर वायु के तुल्य होकर धूम आदि से युक्त और धूमादि के सदृश होते हैं, फिर मेघादि तुल्य होकर वृष्टि द्वारा भूमि में आते हैं इत्यादि ॥ १–२ ॥

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसमारुह्य तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ततः सानुशया अवरोहन्तीत्युक्तम्। अथावरोहप्रकारः परीक्ष्यते। तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति— 'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' (छा० ५।१०।५) इति। तत्र संशयः—

किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिपद्यन्ते किंवाऽऽकाशादिसाम्यमिति। तत्र प्राप्तं तावदाकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति। कुतः ? एवं हि श्रुतिर्भवति। इतरथा लक्षणा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तथा च वायुर्भूत्वा धूमो भवतीत्येवमादीन्यक्षराणि तत्तत्स्वरूपोपपत्तावाञ्जस्येनावकल्पन्ते। तस्मादाकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तिरिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशादिसाम्यं प्रतिपद्यन्त इति। चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति ततो वायोर्वशमेति ततो धूमादिभिः संपृच्यत इति। तदेतदुच्यते 'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' (छा० ५।१०।५) इत्येवमादिना। कुतः ? एतदुपपत्तेः। एवं ह्येतदुपपद्यते। नह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते। आकाशस्वरूपप्रतिपत्तौ च वाय्वादिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते। विभुत्वाच्चाकाशेन नित्यसम्बन्धवत्त्वान्न तत्सादृश्यापत्तेरन्यस्तत्सम्बन्धो घटते। श्रुत्यसम्भवे च लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव। अत आकाशादितुल्यतापत्तिरेवात्राकाशादिभाव इत्युपचर्यते ॥ २२ ॥

इष्टादि कर्म करने वाले चन्द्रलोक में प्राप्त होकर कर्मफल के भोगकाल तक उस लोक में निवास करके फिर अनुशय सहित अवतरते, लौटते हैं। यह कहा जा चुका है। अब इसके आगे अवरोह के प्रकार (भेदरीति) की परीक्षा (युक्तायुक्त का विचार) की जाती है। यहाँ यह अवरोहविषयक श्रुति है कि (भोग की समाप्ति होने पर इसी मार्ग को पकड़कर अनुशययुक्त जीव फिर लौटते हैं, जिस मार्ग से गये हुए रहते हैं।) इससे प्रथम आकाश में आते हैं। अर्थात् आकाशतुल्यता को प्राप्त करते हैं, आकाश से वायु में प्राप्त होते हैं। वायुतुल्य होकर धूमतुल्य होते हैं। धूम होकर अभ्र-जल को ग्रहण करने वाले मेघतुल्य होते हैं। फिर वर्षने वाले मेघतुल्य होते हैं, मेघ होकर प्रसर्पते हैं। इत्यादि। वहाँ संशय होता है कि अवरोह करने वाले अर्थात् चन्द्रलोक से आनेवाले क्या आकाशादिस्वरूपता को ही प्राप्त होते हैं। अथवा आकाशादि की समता को प्राप्त करते हैं। वहाँ प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि आकाशादि स्वरूपता को ही प्राप्त करते हैं, क्योंकि ऐसी ही श्रुति है, अर्थात् श्रुत्यक्षर से तद्रूपता की प्राप्ति ही शक्ति वृत्ति द्वारा भासती है, अन्यथा सादृश्य पक्ष में लक्षणा वृत्ति होगी। श्रुति तथा लक्षणा के संशय में श्रुति न्याययुक्त होती है, लक्षणा नहीं। इस प्रकार श्रुति के अनुसार ही वायु होकर धूम होता है, इत्यादि अक्षर (पद) तत्तत्स्वरूप की उपपत्ति में शीघ्रता से अनायास सम्बद्ध होते हैं। इससे सम्यक् उपपन्न होते हैं। इससे अवरोहियों को आकाशादिस्वरूपता की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (समान भाव वाला सभाव कहाता है, और सभावता को साभाव्य कहते हैं। उसका तुल्यता—साम्य अर्थ होता है) इससे अवरोह करने वाले आकाशादि की समता को प्राप्त होते हैं, चन्द्रमण्डल में जलमय शरीर उपभोग के लिए

आरब्ध (उत्पादित) रहता है, वह उपभोग के क्षय होने पर प्रविलीन होता हुआ आकाशतुल्य सूक्ष्म हो जाता है। फिर वायु के वश में प्राप्त होता है, फिर वायु द्वारा धूमादि के साथ सम्पृक्त (सम्बद्ध) होता है, अतः यह समता सम्बन्धादिक ही (गमन के समान आगमन में भी आकाश को प्राप्त करता है, आकाश से वायु को प्राप्त करता है) इत्यादि से कहा जाता है। क्योंकि उपपत्ति से यही साद्दश्यादिक ही भवन (होना) है। इस प्रकार ही यह वायु आदि होना उपपन्न (युक्त) होता है। जिससे अन्य को किसी अन्यभाव (अन्यस्वरूपता) मुख्य नहीं उपपन्न हो सकता है। यदि अवरोही को आकाश-स्वरूपता की प्राप्ति हो, तो वायु आदि क्रम से अवरोह नहीं सिद्ध होगा। आकाश के विभु होने से, आकाश के साथ नित्य सम्बन्ध वाला अनुशयी अवरोही जीव रहता है, इससे आकाशसद्दशता की प्राप्ति से अन्य आकाश के साथ सम्बन्ध संयोगादि नहीं संघटित हो सकता है कि जिससे आकाशरूपतापत्ति की आकाश सम्बन्ध में लक्षणा हो सके। इससे साद्दश्यार्थ में लक्षणा है। श्रुति के असम्भव होने पर लक्षणा का आश्रयण न्याययुक्त ही है। इससे आकाशादि की तुल्यता की प्राप्ति ही यहाँ आकाशादि भाव उपचरित गौण व्यवहृत होता है, कहा जाता है ॥ २२ ॥

नातिचिराधिकरण (५)

व्रीह्यादेः प्राग्विलम्बेन त्वरया वाऽवरोहति। तत्राभिनय एव स्यान्नियामकविवर्जनात् ॥१॥
दुःखं व्रीह्यादिनिर्माणमिति तत्र विशेषितः। विलम्बस्तेन पूर्वत्र स्वरार्थादवसीयते ॥२॥

स्वर्ग से अवतरण में आकाशादि-सद्दशता में अन्य-अन्य के सद्दश होने के समय अतिचिरकाल के द्वारा जीव अन्य-अन्य के सद्दश नहीं होते हैं किन्तु शीघ्र २ रूपान्तर को प्राप्त होते हैं, अतः (अतो वै खलु दुर्निष्प्रतरम्) इस विशेष वचन से सिद्ध होता है कि व्रीहि में प्राप्त होने पर उससे निकलना कठिन होता है, प्रथम नहीं। यहाँ संशय है कि व्रीहि आदि से पूर्व में विलम्ब से अनुशयी जीव उतरता है अथवा शीघ्र उतरता है। पूर्वपक्ष हैं कि नियामक हेतु के अभाव से अवरोह में विलम्ब त्वरा का अनियम ही है। सिद्धान्त है कि व्रीहि से निर्याण (निःसरण) दुःखरूप कष्टसाध्य है, इस प्रकार वहाँ विशेषित (विशेष भेदयुक्त) व्रीहि आदि भाव है, इस हेतु से उस व्रीहि आदि भाव में विलम्ब होता है, अर्थात् उससे पूर्व में त्वरा (शीघ्रता) का निश्चय किया जाता है ॥ १–२ ॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

तत्राकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग्व्रीह्यादिप्रतिपत्तेर्भवति विशयः–किं दीर्घं दीर्घं कालं पूर्वपूर्वसादृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्यं गच्छन्त्युताल्पमल्पमिति। तत्रानियमो नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादिति। एवं प्राप्त इदमाह—नातिचिरेणेति। अल्पमल्पं कालमाकाशादिभावेनावस्थाय वर्षधाराभिः सहेमां भुवमापतन्ति। कुत एतत्? विशेषदर्शनात्। तथाहि व्रीह्यादिभावापत्तेरनन्तरं

विशिनष्टि—'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (छा० ५।१०।६) इति। तकार एकश्छान्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः दुर्निष्क्रमतरं दुर्निष्प्रपतरं दुःखतरमस्माद्व्रीह्यादिभावान्निःसरणं भवतीत्यर्थः। तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतनं दर्शयति। सुखदुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः। तस्मिन्नवधौ शरीरानिष्पत्तेरुपभोगासम्भवात्। तस्माद्व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोहः स्यादिति॥ २३॥

व्रीहि आदि की प्राप्ति से प्रथम उस आकाशादि का प्राप्तिविषयक संशय होता है कि दीर्घ-दीर्घ कालपर्यन्त, पूर्व-पूर्वसदृशतापूर्वक स्थिर हो-होकर, उत्तर-उत्तर सदृशता को अनुशयी प्राप्त होते हैं अथवा अल्प-अल्प काल तक स्थिर होकर प्राप्त होते हैं। पूर्वपक्ष है कि उसमें नियमकारक शास्त्र के अभाव से अनियम है, चिर से कभी प्राप्त होता है, कभी शीघ्र प्राप्त होता है। इस प्रकार प्राप्त होने पर सूत्रकार यह कहते हैं कि नातिचिरेणेति, अल्प-अल्प काल तक आकाशादि सदृशरूप से स्थिर होकर वर्षा की धाराओं के साथ इस भूमि में प्राप्त होते, गिरते हैं। यह अल्प काल का ज्ञान कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर है कि विशेष का दर्शन से ज्ञान होता है। जिससे व्रीहि आदि भाव की प्राप्ति के अनन्तर श्रुति इस प्रकार विशेष का कथन करती है कि (इस व्रीहि आदि भाव से निर्गमन कठिन हो जाता है) दुर्निष्प्रपतरम्, इस पद का एक तकार वैदिक प्रक्रिया में लुप्त हुआ समझना चाहिए। इससे दुर्निष्प्रपतरं, दुर्निष्क्रमतरं इस व्रीहि आदि भाव से निःसरण दुःखतर (अत्यन्त दुःखरूप) होता है, यह अर्थ है। इससे यहाँ दुःखरूप निष्प्रपतन (निःसरण) को प्रदर्शन कराता हुआ, प्रवाहण राजा, पूर्वावस्थाओं में सुखरूप निष्प्रपतन को दिखाता है और निष्प्रपतन को जो यह सुखता और दुःखतारूप विशेष भेद है, वह काल के अल्पत्व और दीर्घत्वरूप निमित्तकृत है। जिससे उस अवधि (काल) में शरीर की असिद्धि से उपभोग के असम्भव से शरीर द्वारा उपभोगजन्य सुख-दुःख उस समय नहीं हो सकते हैं। इससे व्रीहि आदि भाव की प्राप्ति से प्रथम अल्प काल द्वारा ही अवरोह होता है॥ २३॥

अन्याधिष्ठिताधिकरण (६)

व्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत्। जायन्त इति मुख्यत्वात्पशुहिंसादिपापतः॥१॥
वैधान्न पापसंश्लेषः कर्मव्यापृत्यनुक्तितः। श्वविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृतिः श्रुता॥२॥

भोक्ता अन्य जीव से अधिष्ठित भोगाश्रयरूप से स्वीकृत व्रीहि आदि में अनुशयी जीव की साभाव्यापत्ति कही जाती है। उस रूप से जन्म नहीं कहा जाता है। जिससे पूर्वकथित आकाशादि के समान ही कर्म व्यापार के बिना व्रीहि आदि भाव का कथन है। संशय है कि उन अवरोहियों का व्रीहि आदि में भोग के लिए जन्म होगा अथवा आगे प्राप्ति के लिए मार्गरूप व्रीहि आदि में संश्लेष (संबन्ध) मात्र होगा। पूर्वपक्ष है कि श्रुति में 'जायन्ते' इस पद के मुख्यार्थक होने से और इष्टादि कर्म में पशुहिंसादि

रूप पाप के होने से (शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः) इत्यादि स्मृति के अनुसार अनुशयियों का व्रीहि आदि में जन्म होगा। सिद्धान्त है कि यद्यपि जप-ध्यानादिजन्य पुण्य ही पापसम्बन्ध से रहित होता है, अन्य रागीकृत सब कर्म यद्यपि पुण्य-पाप मिश्रित होते हैं, वह (तत्र ध्यानजमनाशयम्) इत्यादि शास्त्र से सिद्ध होता है। तथापि वैध (कर्मविधिसम्बन्धी) हिंसा कर्म से ऐसा पाप का सम्बन्ध नहीं होता है कि जिससे स्थावर भाव की प्राप्ति हो। किन्तु उस पाप का फल स्वर्ग में ही सुख भोग के साथ समय-समय पर दुःख भोगना होता है, जैसे कि इन्द्रादि में भी शत्रुजन्य भयादि का वर्णन है। दूसरी बात है व्रीहिभाव के प्राप्तिकाल में भोगप्रद कर्म के व्यापार की श्रुति में अनुक्ति है। अर्थात् कर्मभोग के लिए वहाँ प्राप्ति का कथन नहीं है, किन्तु आगे जाने के लिए प्राप्ति का कथन है। मार्ग के खतम होने पर श्वान-विप्रादिरूप मुख्य जन्म में चरण की व्यापृति सुनी गई है, इससे व्रीहि आदि में संश्लेषमात्र होता है ॥ १–२ ॥

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

तस्मिन्नेवावरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' (छा० ५।१०।६) इति। तत्र संशयः—किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्वित्क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति। किं तावत्प्राप्तम् ? स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भविष्यन्तीति। कुत एतत् ? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः, स्थावरभावस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्रसिद्धेः। पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः। तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म, श्वादिजन्मवत्। यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति, एवं व्रीह्यादिजन्मापीति।

उसी अवरोह में प्रवर्षण के अनन्तर पढ़ा जाता है कि (वे अनुशयी जीव इस भूमि में व्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल और माष-उड़द) रूप से उत्पन्न होते हैं। यहाँ संशय होता है कि, क्या इस अवधि (वर्षानन्तर काल) में अनुशयी जीव स्थावर जाति को प्राप्त होकर स्थावरसम्बन्धी सुख-दुःख के भोक्ता होते हैं अथवा अन्य क्षेत्रज्ञ (जीव) से अधिष्ठित भोगाश्रयरूप से स्वीकृत स्थावर-शरीरों में संश्लेषमात्र को प्राप्त करते हैं। यहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर, पूर्वपक्षी कहते हैं कि स्थावर जाति को प्राप्त होकर स्थावरसम्बन्धी सुख-दुःख के भोक्ता अनुशयी होते हैं। जिज्ञासा होती है कि यह भोक्तृत्व किस हेतु से निश्चय किया जाता है। उत्तर है कि, जन धातु के मुख्यार्थ की उपपत्ति से और स्थावर भाव को श्रुति और स्मृति में उपभोगस्थानत्व की प्रसिद्धि से भोक्तृत्व का निश्चय किया जाता है।

इष्टादि कर्मसमूह को पशुहिंसादि के साथ सम्बन्ध से अनिष्ट व्रीहि आदि जन्मरूप फल को उपपत्ति से उक्त निश्चय होता है। इससे अनुशयियों का यह व्रीहि आदि रूप जन्म मुख्य ही होता है, जैसे कि श्वान आदि। जैसे, 'श्वयोनिं वा, सूकरयोनिं वा, चाण्डालयोनिं वा' इस वचन के अनुसार अनुशयियों का कुत्ते आदि सम्बन्धी सुख-दुःख से युक्त कुत्ते आदि जन्म मुख्य ही होते हैं। इसी प्रकार व्रीहि आदि जन्म भी मुख्य होते हैं।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति, पूर्ववत्। यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम्, एवं व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम्। कुत एतत्? तद्वदेवेहाप्यभिलापात्। कोऽभिलापस्य तद्वद्भावः? कर्मव्यापारमन्तरेण संकीर्तनम्, यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृशत्येवं व्रीह्यादिजन्मन्यपि। तस्मान्नास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम्। यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिप्रैति परामृशति तत्र कर्मव्यापारं रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति च। अपिच मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमानेषु भज्यमानेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः। यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम्। तत्र व्रीह्यादिभावाद्रेतःसिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलप्येत। अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु भवति। एतेन जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूयादुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य। न च वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावरभावस्यावजानीमहे। भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुपगतानामेतदुपभोगस्थानम्। चन्द्रमसस्त्ववरोहन्तोऽनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे॥ २४॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि अन्य जीवों से अधिष्ठित व्रीहि आदि में अनुशयी जीव संसर्गमात्र प्राप्त करते हैं और उसके सुख-दुःख के भागी नहीं होते हैं। पूर्व काल में आकाशादि के समान यहाँ भी सुखादि रहित रहते हैं। जैसे अनुशयी का वायु धूम आदि भाव उनके साथ सम्बन्धमात्र होता है, इसी प्रकार व्रीहि आदि भाव भी जातिस्थावरों के साथ सम्बन्धमात्र होता है। यह सम्बन्धमात्र किस हेतु से समझा जाता है। उत्तर है कि आकाशादि के समान हो यहाँ भी अभिलाप (कथन) से समझा जाता है। इस अभिलाप को पूर्वाभिलाप के साथ तुल्यता क्या है, उत्तर है कि कर्मव्यापार के बिना व्रीहि आदि भाव संकीर्तन तुल्यता है। जैसे आकाशादि प्रवर्षण पर्यन्त में किसी कर्म-व्यापार का परामर्श (कथन) श्रुति नहीं करती है, इसी प्रकार व्रीहि आदि जन्म में भी कर्म-व्यापार का कथन नहीं करती है। इससे इस व्रीहि आदि भाव में अनुशयियों को सुख-दुःख भोक्तृत्व नहीं है। श्रुति जहाँ सुख-दुःख भोक्तृत्व का अभिप्राय रखती है, वहाँ कर्म के व्यापार का परामर्श करती है, कि रमणीयचरण वाले और कपूयचरणवाले। इत्यादि। दूसरी बात है कि अनुशयियों के व्रीहि

आदि जन्म मुख्य होने पर, व्रीहि आदि काटने, कूटने, पीसने, पकाने और भक्षण करने पर, उनके अभिमानी अनुशयी प्रवास करेंगे (उसे त्याग देंगे) जिससे जो जीव जिस शरीर का अभिमानी होता है, वह उस शरीर के पीड़ित होने पर प्रवास करता है, यह प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रवास होने पर जो व्रीहि आदि भाव से रेत:सिग्भाव (गर्भाधानकारक पुरुषभाव) श्रुति में अनुशयियों का कहा गया है, वह नहीं कहा जाता। अत: अन्य से अधिष्ठित व्रीहि आदि में अनुशयियों का संसर्गमात्र होता है। इस उक्त युक्ति से जन्मश्रुति के गौण होने से जन्म की मुख्यार्थता का और स्थावर भाव की उपयोगस्थानता का प्रतिषेध करना चाहिये। यदि कहा जाय कि (स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति। शरीरजै: कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नर:) इस श्रुति-स्मृति में स्थावर को भोगाश्रय माना गया है, उसका निषेध युक्त नहीं हो सकता। यहाँ कहते हैं कि हम स्थावरभाव के उपभोगस्थानत्व की अवज्ञा, अनादर नहीं करते हैं। अपुण्य के सामर्थ्य से स्थावरभाव को प्राप्त अन्यप्राणी के उपभोग का स्थान यह स्थावर हो। किन्तु चन्द्रलोक से उतरने वाले अनुशयी स्थावरभाव का उपभोग नहीं करते हैं, यह हम कहते हैं।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

इस सूत्र का संक्षिप्तार्थ है कि पाप का फलरूप स्थावर भाव अशुद्ध है। इससे अन्य कर्म की अभिव्यक्ति के बिना पुण्यकर्मानुशयी की उसमें प्राप्ति उचित नहीं है, यदि ऐसी शंका हो। अथवा व्रीहि आदि में यदि अनुशयी जीव रहते हैं, तो उन्हें काटने आदि के समय कष्ट होता होगा, इससे हिंसाजन्य अन्न अशुद्ध है। यदि ऐसी शंका हो, तो युक्त नहीं है। क्योंकि शब्द से उसमें अभिमानरहित अनुशयी की प्राप्ति होती है। भोग के लिये उसमें पापी की प्राप्ति होती है, निरभिमानी अनुशयी उसमें आकाश के समान असंग रहता है, इससे सुख-दु:खादि का भागी नहीं होता है न उसकी हिंसा द्वारा अन्न अशुद्ध होता है इत्यादि अन्यार्थ भाष्यार्थ से ज्ञेय है ॥

यत्पुनरुक्तं—पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मास्तु तत्र गौणी कल्पनानर्थिका—इति, तत्परिह्रियते न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य। अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम् अतीन्द्रियत्वात्तयो:। अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च, यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति, तेन शास्त्रादृते धर्माधर्मविषयं विज्ञानं न कस्यचिदस्ति। शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितं स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम्। ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इत्यवगमयति। बाढम्। उत्सर्गस्तु स:। अयञ्चापवाद: 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति। उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम्। तस्माद्विशुद्धं वैदिकं कर्म, शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनिन्द्यमानत्वाच्च। तेन न तस्य प्रतिरूपं फलं जातिस्थावरत्वम्। नच श्वादिजन्मवदपि व्रीह्या-

दिजन्म भवितुमर्हति। तद्धि कपूयचरणानधिकृत्योच्यते नैवमिह वैशेषिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति। अतश्चन्द्रमण्डलस्खलितानामनुशयिनां व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भाव इत्युपचर्यते ॥ २५ ॥

जो यह भी कहा था कि पशुहिंसादि के सम्बन्ध से आध्वरिक (याज्ञिक) कर्म अशुद्ध है, उसका अनिष्ट फल भी सिद्ध होता है। इससे अनुशयियों का व्रीहि आदि जन्म मुख्य ही हो सकता है, यहाँ गौणी कल्पना अनर्थक है। उसका परिहार किया जाता है कि याज्ञिक कर्म व्रीहि आदि में प्राप्ति (जन्म का हेतु) योग्य अशुद्ध नहीं हैं, क्योंकि धर्माधर्म विज्ञान को शास्त्रहेतुकत्व है। यह धर्म है, यह अधर्म है, इस विज्ञान में शास्त्र ही कारण है। उस धर्माधर्म के अतीन्द्रिय होने से शास्त्र के बिना उनका इन्द्रियों से विज्ञान नहीं हो सकता है और नियत (एक) देश, काल और निमित्त के नहीं होने से भी शास्त्र के बिना सामान्यतो दृष्टानुमान से भी उनका विज्ञान नहीं हो सकता है। जिस शुचि देश प्रातःकाल, सायंकाल और जीवनादि निमित्त के रहते जो अग्निहोत्रादि धर्म किया जाता है, वही अशुचि देश, अर्द्धरात्रि-काल मरणादि निमित्तान्तर में अधर्म हो जाता है, इससे शास्त्र के बिना धर्माधर्म-विषयक विज्ञान किसी को नहीं होता है और शास्त्र से तो हिंसा, अनुग्रहादि स्वरूप ज्योतिष्टोम धर्म है, इस प्रकार निश्चित हुआ है, वह अशुद्ध है यह कैसे कहा जा सकता है। शंका होती है कि (सब भूत की हिंसा नहीं करे) इस प्रकार का शास्त्र ही भूतविषयक हिंसा को अधर्मरूप समझाता है। क्योंकि शास्त्र से निषिद्ध क्रिया को ही अधर्म कहा जाता है। उत्तर है कि निषेध का विषय होने से हिंसा अधर्म है, यह बात सत्य है, परन्तु वह निषेध शास्त्र उत्सर्ग (सामान्य) है और (अग्निसोम-देवताक पशु का आलम्भ करे) यह विशेष शास्त्र होने से अपवाद (बाधक) है। उत्सर्ग तथा अपवाद की व्यवस्थित (भिन्न) विषयत्व है। इससे वैदिक कर्म विशुद्ध है। जिससे शिष्टों से अनुष्ठीयमान अनिन्द्यमान है, अर्थात् शिष्ट इस कर्म का आचरण करते हैं और इसकी निन्दा नहीं करते हैं, इससे भी वह विशुद्ध है। इस हेतु से उसका जाति स्थावरत्व रूप प्रतिरूप (प्रतिकूल, अनिष्ट) फल नहीं होता है और श्वान आदि जन्म के समान भी व्रीहि आदि जन्म नहीं होने योग्य है। क्योंकि वह व्रीहि आदि जन्म पापाचरण वालों का अधिकार करके कहा जाता है। उस प्रकार से यहाँ कोई विशेषाधिकार नहीं है। इससे चन्द्रमण्डल से पतित अनुशयियों का व्रीहि आदि में संश्लेषमात्र ही तद्भाव इस प्रकार उपचार किया जाता है। वस्तुतः बलवदनिष्ट का असम्बन्धी इष्टमात्र कृषि आदि के समान कामी के लिये विधि का विषय होता है। इससे सुख के साथ दुःख भी इष्टादिकारी को भोगना पड़ता है, परन्तु वह इष्टादिसम्बन्धी हिंसादिरूप दोष व्रीहि आदि जन्म का हेतु नहीं होता है, यह सूत्र और भाष्य का तात्पर्य है इत्यादि अन्यत्र ज्ञेय है ॥ २५ ॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

इतश्च व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावो यत्कारणं व्रीह्यादिभावस्यानन्तरमनुशयिनां रेतःसिग्भाव आम्नायते—'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' (छा० ५।१०।६) इति। नचात्र मुख्यो रेतःसिग्भावः सम्भवति। चिरजातो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्भवति। कथमिवानुपचरिततद्भावमद्यमानान्नानुगतोऽनुशयी प्रतिपद्यते। तत्र तावदवश्यं रेतःसिग्योग एव रेतःसिग्भावोऽभ्युपगन्तव्यः। तद्वद्व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादियोग एवेत्यविरोधः ॥ २६ ॥

इस कारण से व्रीहि आदि के साथ सम्बन्धमात्र ही व्रीहि आदि भाव है कि—जिस कारण से व्रीहि भाव के अनन्तर अनुशयियों का रेतःसिग्भाव श्रुति में पढ़ा जाता है कि (जो-जो अन्न खाता है जो वीर्य को योनि में—गर्भाशय में सेचन करता है अनुशयी जीव तद्रूपता को प्राप्त करता है। यहाँ मुख्य रेतःसेक्ता रूपता नहीं हो सकती है, मुख्यरेतःसिग्भाव का असम्भव है। जिससे चिरकाल के उत्पन्न यौवन को प्राप्त पुरुष रेतः का सेचनकर्ता होता है। यहाँ खाये गये अन्न में अनुगत अनुशयी अनुपचरित (मुख्य) तद्भाव (तद्रूपता) किस प्रकार से प्रतिपन्न होगा। इससे वहाँ रेतःसेक्ता के साथ सम्बन्ध ही रेतःसिग्भाव अवश्य मानना होगा, उसी के समान व्रीहि आदि भाव भी व्रीहि आदि के साथ सम्बन्ध ही है, इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता से उपक्रम उपसंहार में विरोध नहीं है।

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

अथ रेतःसिग्भावस्यानन्तरं योनौ निषिक्ते रेतसि योनेरधिशरीरमनुशयिनामनुशयफलोपभोगाय जायत इत्याह शास्त्रम्—'यद्य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इत्यादि। तस्मादप्यवगम्यते नावरोहे व्रीह्यादिभावावसरे तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति। तस्माद् व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रमनुशयिनां तज्जन्मेति सिद्धम् ॥ २७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

फिर रेतःसेक्ता भाव के अनन्तर योनि में वीर्य के निषेक (प्राप्ति) होने पर अनुशय को फल के उपभोग के लिए योनि से आश्रय शरीर उत्पन्न होता है। यह शास्त्र कहता है कि (यहाँ जो रमणीय आचरण वाले होते हैं) इत्यादि। इससे भी यह समझा जाता है कि अवरोह में व्रीहि आदि भाव के समय में सुख-दुःखयुक्त वह व्रीहि आदि शरीर ही नहीं होता है, इससे व्रीहि आदि के साथ सम्बन्धमात्र ही अनुशयी का व्रीहि आदि जन्म होता है, यह सिद्ध हुआ ॥ २७ ॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः

तृतीयाध्याये द्वितीय पादः

[अत्र पादे तत्त्वंपदार्थपरिशोधनविचारः ।]

संध्याधिकरण (१)

सत्या मिथ्याऽथवा स्वप्नश्रुतिः सत्या श्रुतीरणात् । जाग्रद्देशविशिष्टत्वादीश्वरेणैव निर्मिता ॥१॥
देशकालाद्यनौचित्याद्बाधितत्वाच्च सा मृषा । अभावोक्तेर्द्वैतमात्रसाम्याज्जीवानुवादतः ॥२॥

(सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्) इस श्रुति के अनुसार जाग्रत् सुषुप्ति की अपेक्षा संध्यनामक तृतीय स्वप्न स्थान है, इस स्थान में रथादि की सृष्टि होती है । जिससे श्रुति वहाँ की सृष्टि को कहती है । यहाँ संशय होता है कि सृष्टि सत्य आकाशादि की सृष्टि के समान व्यावहारिक है अथवा रज्जु-सर्पादि के समान मिथ्या प्रातिभासिक है । पूर्वपक्ष है कि श्रुतिकथित होने से सत्य है तथा जाग्रत् काल के देश से स्वप्न का देश अविशिष्ट (तुल्य) है । इससे ईश्वर से ही निर्मित है । सिद्धान्त है कि देश, काल के अनौचित्य (व्यावहारिक सृष्टियोग्यता का अभाव) से और बाधितत्व से वह सृष्टि मिथ्या है और (न तत्र रथाः) इत्यादि श्रुति द्वारा व्यावहारिक रथादि के अभाव के कथन से तथा तात्कालिक द्वैत की समता से भी स्वप्न की सृष्टि मिथ्या है । (य एष सुप्तेषु जागर्ति) इस श्रुति में जीव का अनुवाद से ईश्वर स्वप्न का कर्ता नहीं है, किन्तु जीव ही वासना आदि द्वारा कर्ता है ॥ १–२ ॥

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः । इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते । इदमामनन्ति—'स यत्र प्रस्वपिति' (बृ० ४।३।९) इत्युपक्रम्य 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । तत्र संशयः— किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिका सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति । तत्र तावत्प्रतिपाद्यते संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति । संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे, वेदे प्रयोगदर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ० ४।३।९) इति । द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम्, तस्मिन्संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति । कुतः ? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह 'अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । स हि कर्तेति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥ १ ॥

अतिक्रान्त (व्यतीत) पाद में पञ्चाग्निविद्या का उदाहरण (दृष्टान्त) देकर वैराग्य के लिए जीव की संसारगति का प्रभेद प्रपञ्चित (सविस्तर कथन) किया

गया है। अब इस समय उस जीव के ही अवस्थाभेद विवेक के लिए प्रपञ्चित किया जाता है, विस्तारपूर्वक कहा जाता है। प्रथम जाग्रदवस्थासम्बन्धी गति-आगति आदि का वर्णन हुआ है, स्वप्न के विषय में श्रुति यह कहती है कि (वह आत्मा जिस काल में प्रस्वाप करता—सोता है) यहाँ से आरम्भ करके फिर कहा जाता है कि (उस स्वप्न में रथ, रथ में जुटने वाले घोड़े, रथ के मार्ग नहीं रहते हैं। वह आत्मा रथ, घोड़े और मार्ग की सृष्टि करता है) इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि जाग्रत् के समान स्वप्न में भी परमार्थ तत्त्वरूप परमात्मा से होने वाली अतएव पारमार्थिक सृष्टि आकाशादि सृष्टि के समान है, अथवा मायावीकृत सृष्टि के समान माया (अविद्या) मयी है। यहाँ प्रथम पूर्वपक्षरूप से प्रतिपादन किया जाता है कि सन्ध्य में सत्यरूप सृष्टि होती है। सन्ध्य इस पद से स्वप्नस्थान को कहते हैं और वेद में प्रयोग देखने से स्वप्न को सन्ध्य कहा गया है (सन्ध्य तृतीय स्वप्नस्थान है) यह वैदिक प्रयोग है। अर्थात् मुमूर्षु के इस लोक और परलोकरूप स्थान की सन्धि में होता है अथवा जाग्रत् और सुषुप्तिरूप दो स्थान की सन्धि में होता है। इससे स्वप्न को सन्ध्य कहते हैं। इस संध्य स्थान में सत्य स्वरूप ही सृष्टि होने योग्य है। ऐसा क्यों होने योग्य है कि जिससे प्रमाण-स्वरूप श्रुति इस प्रकार कहती है कि (आत्मा रथ, घोड़े और मार्ग की सृष्टि करता है) और (वह आत्मा ही कर्ता है)। इस प्रकार के उपसंहार से सकर्तृकत्व के ज्ञान द्वारा भी ऐसी ही सृष्टि समझी जाती है ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव सन्ध्ये स्थाने कामानां निर्मातारमात्मानमामनन्ति—'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' (क० ५।८) इति। पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रेयन्ते काम्यन्त इति। ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येरन्। न। 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व' (क० १।२३) इति प्रक्रम्यान्ते 'कामानां त्वा कामभाजं करोमि' (क० १।२४) इति प्रकृतेषु (१) तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात्। प्राज्ञं चैनं निर्मातारं प्रकरणवाक्यशेषाभ्यां प्रतीमः। प्राज्ञस्य हीदं प्रकरणम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्यादि, तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—

पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति पूर्वक इस सूत्र का संक्षिप्तार्थ है कि (सन्ध्ये सृष्टिर्भवत्येव हि यतः—एके शाखिनः स्वप्ने कामानां निर्मातारमाहुः पुत्रादयश्च तत्र निर्मातव्या भवन्तीति) सन्ध्य में सृष्टि होती ही है, जिससे एक शाखा वाले ईश्वर को निर्माता कहते हैं और पुत्रादि वहाँ निर्माण के योग्य होते हैं, इससे ईश्वररचित जाग्रत्पुत्रादि की सृष्टि के समान स्वप्न सृष्टि सत्य ही होती है, यह भाव है।

दूसरी बात है कि एक शाखा वाले इसी सन्ध्य स्थान में कामों का निर्माता आत्मा को कहते हैं कि (जो यह पुरुष करणों के सोने पर निर्व्यापार होने पर तत्तत् काम्य

वस्तुओं का निर्माण करता हुआ जागता है) यहाँ (काम्यन्त इति कामाः) जो इच्छा के विषय हों, वे काम कहाते हैं—ऐसा काम पद का अर्थ होने से पुत्रादि कामरूप अभिप्रेत होते हैं। रूढि के अभिप्राय से शंका होती है कि काम शब्द से इच्छाविशेष ही कहे जा सकते हैं, पुत्रादि नहीं। उत्तर है कि प्रकरण से यहाँ काम शब्द काम्य पदार्थ ही हो सकता है, इच्छा नहीं, जिससे (सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्ररूप वर माँगो) इस प्रकार आरम्भ करके अन्त में (कामों का कामभागी कामयोग्य मैं तुम्हें करूँ) इस प्रकार प्रकृत पुत्रादि में ही वहाँ कामशब्द के प्रयुक्त होने से पुत्रादिक ही काम शब्द के अर्थ हैं। प्रकरण तथा वाक्यशेष से इस निर्माता को प्राज्ञ (ईश्वर) समझते हैं। जिससे (धर्म से अन्य है, अधर्म से अन्य है) इत्यादि रूप यह प्राज्ञ का प्रकरण है। उस प्राज्ञविषयक ही वाक्यशेष है कि—

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।। (क० ५।८) इति।

प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया तथा स्वप्नाश्रयापि सृष्टिर्भवितुमर्हति। तथा च श्रुतिः—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' (बृ० ४।३।१४) इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति। तस्मात्तथ्यरूपैवं सन्ध्ये सृष्टिरिति ॥ २ ॥

वह निर्माता ही शुक्र स्वयंप्रकाश शुद्ध है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है, उनके आश्रित सब लोक हैं। उसका उल्लंघन कोई नहीं करता है। प्राज्ञ जिसका कर्त्ता है ऐसी जागरित के आश्रय वाली सृष्टि सत्यरूप वाली समझी गई है, इसी प्रकार स्वप्नाश्रय वाली सृष्टि भी होने योग्य है। इसी प्रकार श्रुति है कि (अन्य लोग भी कहते हैं कि इसका यह जागरित देश है जो स्वप्न है, जिससे जिसको जाग्रत् में देखता है उसी को स्वप्न में देखता है) इस प्रकार स्वप्न और जागरित की समान न्यायता (रीति) को श्रुति दिखाती है, सुनाती है, इससे स्वप्न में सत्य ही सृष्टि होती है ॥ २ ॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह—

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति यदुक्तं सन्ध्ये सृष्टिः पारमार्थिकीति। मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति। कुतः? कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। नहि कार्त्स्न्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः। किं पुनरत्र कार्त्स्न्यमभिप्रेतं देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च। नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते। न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति। नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽवकाशं लभेरन्। स्यादेतत्। बहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति देशान्त-

रितद्रव्यग्रहणात्। दर्शयति च श्रुतिर्बहिर्देहात्स्वप्नं—'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१२) इति। स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च नानिष्क्रान्ते जन्तौ सामञ्जस्यमश्नुवीतेति। नेत्युच्यते। नहि सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितं देशं पर्येतुं विपर्येतुं च ततः सामर्थ्यं संभाव्यते।

इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्याख्यान करते हैं, प्रत्युत्तर देते हैं कि सूत्रगत तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि सन्ध्य में सृष्टि पारमार्थिको होती है। यह जो कहा है, वह सत्य कथन नहीं है, सन्ध्य में जो सृष्टि होती है वह मायारूप अविद्यात्मक अर्थात् भ्रान्तिज्ञानरूप प्रातिभासिक सृष्टिमात्र होती है, उसमें परमार्थ का गन्ध (लेश) भी नहीं रहता है। क्योंकि कृत्स्नस्वरूप से अनभिव्यक्त स्वरूप वाला होने से परमार्थशून्यता का निश्चय होता है। जिससे सम्पूर्णतायुक्त परमार्थ वस्तु के धर्म द्वारा अभिव्यक्त स्वरूप वाला स्वप्न नहीं होता है, प्रश्न है कि यहाँ कात्स्न्र्य, सम्पूर्णता क्या अभिप्रेत है। उत्तर है कि देश, काल और निमित्त की सम्पत्ति (सिद्धि, पूर्णता) और अबाध-कृत्स्नता अभिप्रेत है। परमार्थवस्तुविषयक देश, काल और निमित्त तथा अबाध स्वप्न में सम्भावित नहीं हैं। अर्थात् पारमार्थिक वस्तु सम्बन्धी देशादि की और अबाध की सम्भावना स्वप्न में नहीं की जा सकती है। प्रथम तो स्वप्न में रथादि के उचित (योग्य) देश का सम्भव नहीं है, जिससे संवृत (संकीर्ण) देहदेश में रथादि अवकाश नहीं पा सकते हैं। शंका होती है कि स्वप्न में रथादि को अवकाश मिल सकता है। जिससे देश से अन्तरित (व्यवहित) दूर वर्तमान द्रव्य का स्वप्न में ग्रहण (ज्ञान) होता है, इससे देह से बाहर जाकर रथादि-के योग्य देश में स्वप्न देखेगा। श्रुति भी देह से बाहर स्वप्न को दिखाती है कि (शरीररूप कुलाय, नीड से बाहर स्वप्न काल में वह अमृतात्मा विचरता है, और विचर कर वह अमृतात्मा वहाँ जाता है, जहाँ जाने की इच्छा करता है) स्वप्न काल में जीव के देह से बाहर निष्क्रान्त (निर्गत, प्राप्त) हुए विना बाहर स्थिति और गति के प्रत्यय (ज्ञान) का भेद आञ्जस्य (युक्तता) को नहीं प्राप्त होगा। अर्थात् ज्ञान का भेदयुक्त नहीं होगा। उत्तर है कि स्वप्न काल में बाहर दूर नहीं जाता है यह कहा जाता है, जिससे सुप्त जन्तु (जीव) को क्षणमात्र में सौ योजन से व्यवहित देश में जाने के और वहाँ से लौट आने के सामर्थ्य की संभावना नहीं की जा सकती है।

क्वचिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति "कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रयाऽभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्चे"ति देहाच्चेदपेयात्पञ्चालेष्वेव प्रतिबुध्येत न तानसावभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते। येन चायं देहेन देशान्तरमश्नुवानो मन्यते तमन्ये पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति। यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति। परिधावंश्चेत्पश्येज्जाग्रद्वद्वस्तुभूतमर्थमाकलयेत्। दर्शयति च श्रुतिरन्तरेव देहे स्वप्नम्—'स यत्रैतत्स्वप्नया चरति' इत्युपक्रम्य 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते'

(बृ० २।१।१८) इति । अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिर्गौणी व्याख्यातव्या बहिरिव कुलायादमृतश्चरित्वेति । यो हि वसन्नपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव शरीराद्भवतीति । स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवंसति विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः । कालविसंवादोऽपि च स्वप्ने भवति रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते । तथा मुहूर्तमात्रवर्तिनि स्वप्ने कदाचिद्बहुवर्षपूगानतिवाहयति । निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्धये कर्मणे वोचितानि विद्यन्ते । करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति । रथादिनिर्वर्तनेऽपि कुतोऽस्य निमेषमात्रेण सामर्थ्यं दारूणि वा । बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे । स्वप्न एव चैते सुलभबाधा भवन्ति, आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात् । रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः संपद्यते, मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः । स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति शास्त्रम्—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् ॥ ३ ॥

कहीं स्वप्न से जागने पर स्वप्नद्रष्टा प्रत्यागमन (लौटना) रहित स्वप्न को सुनाता है कि आज मैं इस कुरु देश में सोया हुआ निद्रा से व्याप्त होकर स्वप्न में पंचाल देश में गया था और इस देश में यहाँ जाग गया हूँ । वह यदि देह से निकल कर वहाँ गया होता तो आगमनरहित जागृति होने पर पंचाल देश में ही जागता, वह पंचाल में नहीं गया था । इससे कुरु देश में ही जागता है और यह स्वप्नद्रष्टा जिस देह द्वारा देह सहित अपने को स्वप्न में देशान्तर में प्राप्त समझता है । अन्य पार्श्ववर्ती लोग उस देह को शयन देश में ही देखते हैं । यह स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार के स्वरूप वाले देशान्तरों को स्वप्न में देखता है, वे देशान्तर उसी प्रकार के स्वरूप वाले नहीं रहते हैं । यदि परिधावन् बाहर गमन करता हुआ स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में पदार्थों को देखता, तो जाग्रत् के समान वस्तु के सत्य स्वरूप को ही देखता, समझता । श्रुति देह के अन्दर ही स्वप्न दिखाती, समझाती है कि (जिस काल में यह स्वप्न होता है, उस समय वह आत्मा स्वप्नवृत्ति से रहता है) इस प्रकार से आरम्भ करके (अपने शरीर में यथेष्ट विचरता है) इसी श्रुति और उपपत्ति से विरोध के कारण शरीर से बाहर स्वप्नदर्शन को कहने वाली श्रुति गौणी कहाने योग्य है, कि (अमृतात्मा बाहर के समान विचर कर यथेष्ट गमन करता है), जिससे जो शरीर में बसता हुआ भी उस शरीर से प्रयोजन नहीं करता है, वह शरीर से बाहर के समान होता है । इस प्रकार श्रुति और उपपत्ति (युक्ति) से स्वप्न के शरीर के भीतर में हो सिद्ध होने पर स्थिति और गति विषयक स्वप्नकालिक ज्ञान भेद को भो विप्रलम्भ (विभ्रम) रूप ही मानना चाहिए । स्वप्न में काल का भो विसंवाद (विप्रलंभ) विभ्रम होता है । रात्रि में सोया हुआ भारतवर्ष में दिन समझता है । इसी प्रकार मुहूर्तमात्र (दो घड़ी)

रहने वाला स्वप्न में कभी बहुत वर्षवृन्दों को बिताता है। ज्ञान वा कर्म के लिए स्वप्न में उचित निमित्त भी नहीं रहते हैं। जिससे इन्द्रियों के उपसंहार (विलय) से इस स्वप्नद्रष्टा को रथादि को देखने के लिए, उन रथादिकों के ज्ञान के लिए नेत्रादि नहीं रहते हैं। सत्यरथादि की सिद्धि रचना में भी इसको निमेषमात्र काल द्वारा कहाँ से सामर्थ्य वा लकड़ियाँ हैं। अर्थात् निमेषमात्र में रथादि को रचने के लिए शक्ति और साधन नहीं हैं। स्वप्न में देखे गये ये रथादि प्रबोध (जाग्रत्) में बाधित होते हैं। स्वप्न में भी ये रथादि सुलभ बाध वाले होते हैं। जिससे आदि अन्त में इनका व्यभिचार (अभाव) देखा जाता है, यद्यपि आदि और अन्त में व्यभिचार बुद्धि जाग्रत् में भी होता है, तथापि यह विशेष है कि, स्वप्न में कभी यह रथ है इस प्रकार निर्धारित (निश्चित) ही क्षणमात्र में मनुष्य हो जाता है। यह मनुष्य है ऐसा निर्धारित क्षण में वृक्ष होता है। स्वप्न में रथादि के अभाव को शास्त्र स्पष्ट सुनाता है कि (वहाँ रथ, घोड़े और मार्ग नहीं हैं)। इससे स्वप्नदर्शन मायामात्र है ॥ ३ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

मायामात्रत्वात्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽस्तीति। नेत्युच्यते। सूचकश्च हि स्वप्नो भवति भविष्यतोः साध्वसाधुनोः। तथाहि श्रूयते— 'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' (छा० ५।२।९), तथा 'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्येवमादिभिः स्वप्नैरचिरजीवित्वमावेद्यते इति श्रावयति। आचक्षते च स्वप्नाध्यायविदः—'कुंजरारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि खरयानादीन्यधन्यानि' इति। मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित्स्वप्नाः सत्यार्थगन्धिनो भवन्तीति मन्यन्ते। तत्रापि भवतु नाम सूच्यमानस्य वस्तुनः सत्यत्वं, सूचकस्य तु स्त्रीदर्शनादेर्भवत्येव वैतथ्यं बाध्यमानत्वादित्यभिप्रायः। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम्। यदुक्तम् 'आह हि' इति, तदेवं सति भाक्तं व्याख्यातव्यम्। यथा लाङ्गलं गवादीनुद्वहतीति निमित्तमात्रत्वादेवमुच्यते, नतु प्रत्यक्षमेव लाङ्गलं गवादीनुद्वहति, एवं निमित्तमात्रत्वात्सुप्तो रथादीन्सृजते स हि कर्तेति चोच्यते, नतु प्रत्यक्षमेव सुप्तो रथादीन्सृजति। निमित्तत्वं त्वस्य रथादिप्रतिभाननिमित्तमोदत्रासादिदर्शनात्तन्निमित्तभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोः कर्तृत्वेनेति वक्तव्यम्।

मायामात्र होने से उस स्वप्न में परमार्थ की गन्ध भी नहीं है। यह जो कहा गया है, यहाँ पूर्व पक्ष है कि स्वप्न में परमार्थ का अभाव नहीं है, यह कहा जाता है कि जिससे भावी शुभ और अशुभ का स्वप्न सूचक (बोधक) होता है इससे स्वप्न सत्य है। इसी प्रकार सुना जाता है कि (जब सकाम कर्म में स्वप्न काल में कर्मकर्ता स्त्री को देखता है, तो उस स्वप्नदर्शन के होने पर उसका फल की समृद्धि सिद्धि समझना चाहिए) इसी प्रकार (काले दाँत वाले, काले पुरुष को देखता है, तो वह

पुरुष इस द्रष्टा को मारता है) इत्यादि । इस प्रकार के स्वप्नदर्शनों से अचिरजीवित्व आवेदित, सूचित होता है, यह श्रुति सुनाती है । स्वप्नाध्याय ग्रन्थ को जाननेवाले कहते हैं कि (स्वप्न में हाथी पर चढ़ना आदि धन्य पुण्यमय शुभ) हैं और गदहा पर चढ़कर गमनादि अधन्य है । मन्त्र, देवता, द्रव्यविशेष निमित्तक, मन्त्रादिजन्य कोई स्वप्न सत्यार्थ के गन्ध (सम्बन्ध) वाले होते हैं, ऐसा कोई मानते हैं । इससे स्वप्न सत्य है । इस प्रकार इस सूत्र से पूर्वपक्ष होने पर इसी से निराकरण है कि सूचक होने से उस द्वारा सूच्यमान सूचित वस्तु को सत्यत्व वहाँ भी होता है कि जैसे मिथ्या शुक्ति रूप्य के दर्शन से सत्य हर्ष होता, मिथ्यारज्जु सर्प के दर्शन से सत्य भय होता है । परन्तु बाधित होने से स्त्री-दर्शनादि को मिथ्यात्व होता ही है, इससे श्रुति आदि से सूचक मात्र सिद्ध होता है । सत्य नहीं सिद्ध होता है यह अभिप्राय है । इससे स्वप्न को मायामात्रत्व उपपन्न हुआ । जो यह कहा है कि (श्रुति स्वप्न की सृष्टि को कहती है) वहाँ इस प्रकार स्वप्नसृष्टि को मायामात्र सिद्ध होने पर उस सुप्त के स्रष्टृत्वादि वचन भाक्त (गौण) व्याख्यान के योग्य हैं । जैसे कहा जाता है कि लांगल (हल) गौ आदि का उद्वहन (धारण, जीवन) करता है, वहाँ कृषि द्वारा गो आदि के जीवन की निमित्तमात्रता से हल इस प्रकार जीवनकर्ता कहा जाता है । हल प्रत्यक्ष ही गो आदि का उद्वहन नहीं करता है । इसी प्रकार अदृष्ट द्वारा निमित्त मात्रता से सुप्तपुरुष रथादि को रचता है । वही कर्ता है इस प्रकार कहा जाता है, सुप्तपुरुष प्रत्यक्ष ही रथादि को नहीं रचता है । परन्तु रथादि के प्रतिमान (प्रतीति) निमित्तक हर्ष-भयादि के दर्शन से उन हर्षादिकों के निमित्तस्वरूप पुण्य-पाप के कर्तृत्व द्वारा इस स्वप्नद्रष्टा के निमित्तत्व को कहना चाहिए ।

अपि च जागरिते विषयेन्द्रियसंयोगादादित्यादिज्योतिर्व्यतिकराच्चात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं दुर्विवेचनमिति तद्विवचनाय स्वप्न उपन्यस्तः, यत्र यदि रथादिसृष्टिवचनं श्रुत्या नीयेत तदा स्वयंज्योतिष्ट्वं न निर्णीतं स्यात् । तस्माद्रथाद्यभाववचनं श्रुत्या रथादिसृष्टिवचनं तु भक्त्येति व्याख्येयम् । एतेन निर्माणश्रवणं व्याख्यातम् । यदप्युक्तम्—'प्राज्ञमेनं निर्मातारमामनन्ति' इति । तदप्यसत् । श्रुत्यन्तरे 'स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति' (बृ० ४।३।९) इति जीवव्यापारश्रवणात् । इहापि 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' (क० ५।८) इति प्रसिद्धानुवादाज्जीव एवायं कामानां निर्माता संकीर्त्यते । तस्य तु वाक्यशेषेण तदेव शुक्रं तद्ब्रह्मेति जीवभावं व्यावर्त्य प्रगृह्यभाव उपदिश्यते 'तत्त्वमसि' (छा० ६।९।४) इत्यादिवदिति न ब्रह्मप्रकरणं विरुध्यते । न चास्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यवहारः प्रतिषिध्यते तस्य सर्वेश्वरत्वात्सर्वास्वप्यवस्थास्वधिष्ठातृत्वोपपत्तेः । पारमार्थिकस्तु नायं संध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवदित्येतावत्प्रतिपाद्यते । नच वियदादिसर्गस्याप्यात्यन्तिकं सत्यत्व-

मस्ति, प्रतिपादितं हि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम् । प्राक्तु ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद्वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति । संध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं बाध्यत इति, अतो वैशेषिकमिदं संध्यस्य मायामात्रत्वमुदितम् ॥ ४ ॥

दूसरी बात है कि जागरित काल में, विषय इन्द्रियों के संयोग की वर्तमानता से और आदित्यादिरूप ज्योतियों के व्यतिकर (संमिश्रण) से आत्मा की स्वयं ज्योतिःस्वरूपता का निर्वचन दुष्कर है, इस आशय से उस आत्मा की स्वयंज्योतिःस्वरूपता का निर्वचन के लिए श्रुति में स्वप्न उपन्यस्त (वर्णित) हुआ है। वहाँ यदि सृष्टि आदि का बोधक वचन श्रुत्या (श्रुति के तात्पर्य का विषय रूप से) जागरित तुल्य समझा जायगा, स्वीकृत होगा, तो आत्मा की स्वयं ज्योतिःस्वरूपता नहीं निर्णीत होगी। क्योंकि जाग्रत् के समान ही स्वप्न भी हो जायगा, इससे रथादि का अभाव वचन श्रुति से तात्पर्यविषय मुख्य वृत्ति से है। रथादि की सृष्टि का बोधक वचन भक्ति गौणी वृत्ति से है इस प्रकार व्याख्यान करना चाहिए। इस भाक्त रूप से ही निर्माण श्रुति भी व्याख्यात हो गई। जो यह भी कहा था कि इस स्वप्ननिर्माता को श्रुतियाँ प्राज्ञ कहती हैं) वह भी कथन असत् है। जिससे दूसरी श्रुति में (स्वयं अपने जाग्रत् देह को निहत्य निश्चेष्ट करके स्वयं वासनामय देह का निर्माण करके अपने मनोवृत्तिरूप प्रकाश से और निजचैतन्य रूप से स्वप्न का अनुभव करता है) इस प्रकार जीव के व्यापार के श्रवण से प्राज्ञ स्वप्न का निर्माता नहीं है। इस कठ श्रुति में भी (जो यह इन्द्रियों के सोने पर जागता है) इस प्रसिद्ध के अनुवाद से कामों का निर्माता यह जीव ही कहा जाता है। (वही शुद्ध है वही ब्रह्म है) इस वाक्यशेष के द्वारा तो उसी के जीवभाव को निवृत्त करके ब्रह्मभाव का उपदेश दिया जाता है। वह उपदेश (तत्त्वमसि) इत्यादि के समान है, इससे ब्रह्म प्रकरण-विरुद्ध नहीं होता है। स्वप्न में भी प्राज्ञ के व्यवहार (व्यापार) का प्रतिषेध हम नहीं करते हैं, क्योंकि सर्वेश्वरत्व से सभी अवस्थाओं में प्राज्ञ के अधिष्ठातृत्व की सिद्धि से उसका निषेध नहीं हो सकता है। परन्तु सन्ध्य रूप आश्रय वाला सर्ग (संसार सृष्टि) आकाश आदि के सर्ग के समान पारमार्थिक नहीं है। इतना ही प्रतिपादन किया जाता है। वियदादि सर्ग को भी आत्यन्तिक (मुख्य) सत्यत्व नहीं है। जिससे (तदनन्यत्वम्) इत्यादि सूत्र में समस्त प्रपञ्च (संसार) का मायामात्रत्व प्रतिपादित हो चुका है। परन्तु ब्रह्मात्मत्वदर्शन से पूर्वकाल में आकाश आदि रूप प्रपञ्च व्यवस्थित स्वरूपवाला (बाध रहित) रहता है और संध्यरूप आश्रयवाला प्रपञ्च प्रतिदिन बाधित होता है, इससे विशेष रूप से यह सन्ध्य की मायामात्रता कही गई है ॥ ४ ॥

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥

अथापि स्यात्परस्यैव तावदात्मनोंऽशो जीवोऽग्नेरिव विस्फुलिङ्गः तत्रैवं सति यथाग्निविस्फुलिङ्गयोः समाने दहनप्रकाशनशक्ती भवत एवं जीवेश्वर-

योरपि ज्ञानैश्वर्यशक्ती, ततश्च जीवस्य ज्ञानैश्वर्यवशात्सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिर्भविष्यतीति। अत्रोच्यते। सत्यपि जीवेश्वरयोरंशांशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्येश्वरविपरीतधर्मत्वम्। किं पुनर्जीवस्येश्वरसमानधर्मत्वं नास्त्येव। न नास्त्येव (?)। विद्यमानमपि तत्तिरोहितमविद्यादिव्यवधानात्। तत्पुनस्तिरोहितं सत्परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्। कुतः? ततो हीश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः। ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद्बन्धस्तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः। तथा च श्रुतिः—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥

(श्वे० १।११) इत्येवमाद्या॥ ५॥

पूर्व कथित रीति से स्वप्न के मायामय सिद्ध होने पर भी यदि शंका हो कि परमात्मा ही का उपाधिपरिच्छिन्न अंश जीव अग्नि का अंश विस्फुलिङ्ग के समान है। यहाँ ऐसा होने पर जैसे अग्नि और विस्फुलिङ्ग में दहन और प्रकाशन शक्ति (जलाने और प्रकाशने का सामर्थ्य) तुल्य रहती है। उसी प्रकार जीव और ईश्वर में भी ज्ञान शक्ति और ऐश्वर्य शक्ति तुल्य होगी। जिससे जीव के ज्ञान ऐश्वर्य (ईश्वरता) के वश (बलशक्ति) से स्वप्न में रथादि की सांकल्पिकी (संकल्पजन्य) सृष्टि सत्य ही होगी, जैसे कि ईश्वर से संकल्प से सत्य सृष्टि होती है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि जीव और ईश्वर को अंश और अंशी भाव (अंशांशी रूपता) के रहते भी जीव को ईश्वर से विपरीतधर्मवत्त्व (असत्य संकल्पत्वादि) प्रत्यक्ष ही है। इससे जीव के संकल्प से सृष्टि नहीं हो सकती है। शंका होती है कि विरुद्ध धर्म वाला होने से क्या जीव को ईश्वर के तुल्य धर्मवत्त्व सर्वथा नहीं है। उत्तर है कि सर्वथा ईश्वर के तुल्य धर्मवत्त्व नहीं है, यह बात तो नहीं है, ईश्वर के तुल्य धर्मवत्त्व है भी, परन्तु वह विद्यमान (वर्तमान) भी तुल्य धर्मवत्त्व, अविद्या आदि रूप व्यवधान (परदा) से तिरोहित (आच्छादित) है। (तिरोहित होता हुआ भी वह समान धर्मवत्त्व, परमेश्वर का ध्यान करने वाले संयमादि यत्न करने वाले विनाशित ध्वान्त (मोह, पाप) वाले संसिद्ध (शुद्ध अणिमादि युक्त) किसी प्राणी को ईश्वर की कृपा से वह तिरोहित ज्ञानैश्वर्यशक्ति आविर्भूत (प्रकट) होती है, जैसे कि तिमिर (नेत्ररोग) से तिरस्कृत (आच्छादित) दृष्टिशक्ति ओषधि के बल से प्रकट होती है। स्वभाव से ही सब प्राणियों को ज्ञानैश्वर्य-शक्ति नहीं प्रकट हो सकती है। क्योंकि उस ईश्वररूप हेतु से ही इस जीव के बन्ध-मोक्ष होते हैं। ईश्वर के स्वरूप के अपरिज्ञान (अविद्या) से बन्ध होता है। ईश्वर स्वरूप के परिज्ञान (अनुभव) से मोक्ष होता है और इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (दिव्यात्मा को जान कर स्थिर

ज्ञानी के सब बन्धनों की निवृत्ति होती है, क्षीण हुए क्लेशों द्वारा जन्म-मरण की निवृत्ति होती है। उस देव के ध्यान से प्रारब्ध भोग के अन्त में इस देह के भेदन (नाश) होने पर वह ध्याता मार्ग दो से भिन्न तृतीय विश्वैश्वर्य (सम्पूर्ण ऐश्वर्य) स्वरूप परमात्मा का अनुभव करके अविद्यामय प्रपञ्च से रहित केवल आप्तकाम पूर्णानन्दस्वरूप हो जाता है। इस सूत्र का यह भी स्थूलार्थ हो सकता है कि (तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म) इस श्रुति में कथित जीव का निज स्वरूप पर (अनात्म वस्तु) के ध्यान (चिन्तन) से जाग्रत् में तथा स्वप्न में तिरोहित रहता है, तथा ज्ञानैश्वर्यादि सामर्थ्य तिरोहित रहता है। इसी से इसको निजस्वरूप में भी और स्वप्न में भी मिथ्यादि बन्ध और मोक्ष भी भासता है, ऐसे अन्य भी मायामय प्रतिभास होता है इत्यादि ॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

कस्मात्पुनर्जीवः परमात्मांश एव संस्तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति, युक्तं तु ज्ञानैश्वर्ययोरतिरस्कृतत्वं विस्फुलिङ्गस्येव दहनप्रकाशनयोरिति। उच्यते सत्यमेवैतत्, सोऽपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद्देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद्भवति। अस्ति चात्रोपमा यथाग्नेर्दहनप्रकाशनसम्पन्नस्याप्यरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतो यथा वा भस्मच्छन्नस्य, एवमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतदेहाद्युपाधियोगात्तदविवेकभ्रमकृतो जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावः। वाशब्दो जीवेश्वरयोरन्यत्वाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। नन्वन्य एव जीव ईश्वरादस्तु तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यत्वात्किं देहयोगकल्पनया। नेत्युच्यते, नह्यन्यत्वं जीवस्येश्वरादुपपद्यते 'सेयं देवतैक्षत' (छा० ६।३।२) इत्युपक्रम्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इत्यात्मशब्देन जीवपरामर्शात्। 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।९।४) इति च जीवायोपदिशतीश्वरात्मत्वम्, अतोऽनन्य एवेश्वरो जीवः सन् देहयोगात्तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति, अतश्च न सांकल्पिकी जीवस्य स्वप्ने रथादिसृष्टिर्घटते। यदि च सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिः स्यान्नैवानिष्टं कश्चित्स्वप्नं पश्येत्। नहि कश्चिदनिष्टं संकल्पयते। यत्पुनरुक्तं—जागरितदेशश्रुतिः स्वप्नस्य सत्यत्वं स्थापयतीति—इति, न तत्साम्यवचनं सत्यत्वाभिप्रायं स्वयंज्योतिष्ट्वविरोधात्। श्रुत्यैव च स्वप्ने रथाद्यभावस्य दर्शितत्वात्, जागरितप्रभववासनानिर्मितत्वात्तु स्वप्नस्य तत्तुल्यनिर्भासत्वाभिप्रायं तत्। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ॥ ६ ॥

फिर शंका होती है कि परमात्मा का अंश ही होता हुआ जीव तिरस्कृत ज्ञान और ऐश्वर्य वाला किस हेतु से होता है, इसके ज्ञान और ऐश्वर्य को तो तिरस्कार रहित होना उचित है, जैसे विस्फुलिङ्ग के दहन और प्रकाशन अतिरस्कृत रहते हैं,

ऐसे जीव को ज्ञान और ऐश्वर्य होना चाहिये। उत्तर कहा जाता है कि अग्नि के दहन-प्रकाशन के समान सत्यतिरस्कार के अयोग्य यह ज्ञान और ऐश्वर्य है यह कथन सत्य है, तो भी जीव के ज्ञान और ऐश्वर्य का वह प्रसिद्ध तिरोभाव भी देह के योग से होता है। अर्थात् सूत्रगत देह शब्द के उपलक्षण होने से देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना, आदि के योग से ज्ञान और ऐश्वर्य तिरस्कृत होते हैं। इस विद्यमान के तिरस्कार में उपमा (दृष्टान्त) है कि जैसे दहन-प्रकाशन से सम्पन्न (युक्त) भी काष्ठगत अग्नि के दहन-प्रकाशन व्यापार तिरोहित होते हैं, अथवा जैसे भस्म से आच्छादित के प्रकाशनादि तिरोहित होते हैं। इसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित (साधित) नाम और रूप से कृत देहादि रूप उपाधि के योग से उसके अविवेक और भ्रमकृत जीव के ज्ञानैश्वर्य का तिरोभाव है। सूत्रगत वा शब्द जीव और ईश्वर के भेद की आशंका की निवृत्ति के लिए है। शंका होती है कि तिरस्कृत ज्ञानैश्वर्य वाला होने से ईश्वर से अन्य ही जीव हो सकता है। देहादियोग की कल्पना का क्या फल है। उत्तर है कि ईश्वर से अन्य जीव नहीं हो सकता है, जिससे जीव का ईश्वर से अन्यत्व उपपंन्न नहीं होता है सो (यह देवता ने विचार किया) ऐसा आरम्भ करके (इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके) इस प्रकार आत्म शब्द से जीव के परामर्श से ईश्वरस्वरूप जीव है। और (वह ब्रह्म सत्य है वह आत्मा है हे श्वेतकेतो ! तुम वही हो) इस प्रकार जीव के प्रति ईश्वरात्मता का उपदेश श्रुति करती है, इससे ईश्वर से अनन्य होता हुआ भी जीव देह के योग से तिरोहित ज्ञानैश्वर्य वाला होता है, अतः स्वप्न में जीव के संकल्प से जन्य रथादि की सृष्टि नहीं संघटित होती है। यदि जीव के संकल्प से जन्य स्वप्न में रथादि की सृष्टि हो, तो स्वप्न में कोई अनिष्ट नहीं देखे, जिससे कोई अनिष्ट का संकल्प नहीं करता है। जो यह कहा था कि जागरित देशविषयक श्रुति स्वप्न के सत्यत्व का स्थापन करती है, वहाँ कहा जाता है कि स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्व के साथ विरोध से वह जाग्रत् के साथ स्वप्न की तुल्यता का वचन स्वप्न की सत्यता के अभिप्राय से नहीं है। श्रुति से ही स्वप्न में रथादि के अभाव के दर्शितत्व से उक्त अभिप्राय का अभाव सिद्ध होता है। जागरित अवस्था में उत्पन्न वासना से निर्मित होने से स्वप्न को जागरिततुल्य निर्भासत्व के अभिप्राय से वह वचन है, जिससे स्वप्न को मायामयत्व उपपन्न हुआ। स्थूलार्थ हो सकता है कि अथवा जो बाह्यविरागादिमात्र से अनात्मा का ध्यान बाह्यवस्तु का चिन्तन नहीं करता है, सो भी अविवेक से देह के साथ तादात्म्य का अभिमान करता है, इससे भी बन्ध-मोक्ष भासते हैं इत्यादि ॥ ६ ॥

तदभावाधिकरण (२)

नाडीपुरीतद्ब्रह्मणि विकल्प्यन्ते सुषुप्तये। समुच्चितानि वैकार्थ्याद्विकल्प्यन्ते यवादिवत् ॥१॥
समुच्चितानि नाडीभिरुपसृत्य पुरीतति। हृत्स्थे ब्रह्मणि यात्यैक्यं विकल्पे त्वष्टदोषता ॥२॥

सुषुप्ति का हेतु रूप से उस नाड़ी आदि के श्रवण से उन नाडियों में, और आत्मा में समुच्चितरूप वर्तमान में पूर्वोक्त स्वप्न का अभावरूप सुषुप्ति होती है। संशय है कि श्रुति में सुषुप्ति के लिए सुने गये स्थानरूप नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म विकल्पित होते हैं, अर्थात् कभी नाड़ी, कभी पुरीतत्, कभी ब्रह्म सुषुप्ति का स्थान होता है, अथवा तीनों मिल कर सम काल में सुषुप्ति का स्थान होते हैं। पूर्वपक्ष है कि जैसे, व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्वा यजेत, व्रीहि से याग करे, अथवा यव से याग करे, इन दोनों वचनों से एक याग के लिये व्रीहि और यव का विधान होता है, वहाँ एकार्थता एकप्रयोजनता से विकल्प होता है, कभी व्रीहि के पुरोडाश द्वारा यज्ञ होता है, तो कभी यव के पुरोडाश द्वारा होता है। इसी प्रकार यहाँ भी एक सुषुप्ति के लिए श्रुति में नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म स्थान-रूप से कहे गये हैं, इससे जीव कभी नाड़ी में, कभी पुरीतत् में, कभी ब्रह्म में सोवेगा॥ सिद्धान्त है कि तीनों स्थान विकल्पित नहीं हैं, किन्तु समुच्चित (मिलित) हैं, तीनों सम काल में सुषुप्ति के हेतु हैं, जिससे नाडियों द्वारा गमन करके पुरीतत् के मध्य में हृदयस्थ ब्रह्म में जीव सुषुप्ति काल में एकता को प्राप्त करता है, इससे तीनों समुच्चित स्थान हो जाते हैं। विकल्प मानने पर अष्टदोषता की प्राप्ति होगी। भाव है कि विकल्प मानने पर तीनों प्रकार के वाक्यों को स्वतन्त्रतुल्य प्रमाणरूप मानना होगा। वहाँ एकवचन के अनुसार स्थान को मानने के काल में अन्य वचन के अनुसार प्राप्त स्थान का निषेध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह भी शास्त्र से प्राप्त है, किन्तु उस समय, दूसरे वचन में प्राप्त प्रमाणता को त्यागना होगा, और अप्राप्त अप्रमाणता का स्वीकार करके उसके अनुसार स्थान का स्वीकार नहीं करना होगा। इसी प्रकार उस दूसरे वचन के अनुसार शयन होने पर उस वाक्य की त्यक्तप्रमाणता का फिर स्वीकार करना होगा और गृहीत अप्रमाणता को त्यागना होगा, द्वितीय वाक्य के समान ये ही चारों दोष प्रथम वाक्य में भी प्राप्त होने से अष्ट दोषता होती है सो अन्यत्र प्रसिद्ध है, इससे समुच्चय युक्त है॥ १–२॥

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

स्वप्नावस्था परीक्षिता सुषुप्तावस्थेदानीं परीक्ष्यते। तत्रैताः सुषुप्तिविषयाः श्रुतयो भवन्ति। क्वचिच्छ्रूयते—'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इति। अन्यत्र तु नाडीरेवानुक्रम्य श्रूयते—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति। तथान्यत्र नाडीरेवानुक्रम्य 'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४।१९) इति। तथान्यत्र 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति। तथा 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इति च। तत्र संशयः—किमेतानि नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षाणि भिन्नानि सुषुप्ति-

स्थानान्याहोस्वित्परस्परापेक्षयैकं सुषुप्तिस्थानमिति। किं तावत्प्राप्तं भिन्नानीति। कुतः? एकार्थत्वात्। नह्येकार्थानां क्वचित्परस्परापेक्षत्वं दृश्यते व्रीहियवादीनाम्। नाड्यादीनां चैकार्थता सुषुप्तौ दृश्यते—'नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) 'पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति च तत्र तत्र सप्तमीनिर्देशस्य तुल्यत्वात्। ननु नैवं सति सप्तमीनिर्देशो दृश्यते—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।१।८।१) इति। नैष दोषः, तत्रापि सप्तम्यर्थस्य गम्यमानत्वात्। वाक्यशेषे हि 'तत्रायतनैषी जीवः सदुपसर्पती'त्याह। 'अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवाश्रयते' (छा० ६।८।२) इति प्राणशब्देन च तत्र प्रकृतस्य सत उपादानात्। आयतनं च सप्तम्यर्थः। सप्तमीनिर्देशोऽपि तत्र वाक्यशेषे दृश्यते—'सति संपद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे' (छा० ६।९।२) इति। सर्वत्र च विशेषविज्ञानोपरमलक्षणं सुषुप्तं न विशिष्यते। तस्मादेकार्थत्वान्नाड्यादीनां विकल्पेन कदाचित्किंचित्स्थानं स्वापायोपसर्पतीति।

स्वप्नावस्था परोक्षित हो चुकी, अब इस समय सुषुप्त अवस्था की परीक्षा की जाती है। यहाँ सुषुप्तिविषयक ये श्रुतियाँ हैं। कहीं सुना जाता है कि (उस काल में जहाँ यह स्वप्नमय जीव सुप्त होता है, समस्त (लीनवृत्ति वाला) होता है, अत-एव बाह्य दोष से रहित संप्रसन्न होता है, स्वप्न नहीं देखता है, उस समय यह जीव सूर्य के तेज से पूर्ण इन नाड़ियों में प्रविष्ट, प्राप्त होता है। अन्यत्र नाड़ी का ही अनुक्रम (आरम्भ) करके सुना जाता है कि (उन नाड़ियों के द्वारा गमन करके पुरीतत् में सोता है) फिर नाड़ियों का ही अनुक्रम करके सुना जाता है कि (जिस समय सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है उस समय उन नाड़ियों में रहता है, फिर इस प्राण में ही एक हो जाता है) इसी प्रकार अन्यत्र है कि (जो यह हृदय के अन्तर आकाश है उसमें सोता है) इसी प्रकार अन्यत्र है कि (हे सोम्य! उस समय सत् के साथ मिल जाता है—अपने में लीन हो जाता है) इस प्रकार है कि (प्राज्ञ आत्मा के साथ मिल कर न बाहर की किसी वस्तु को जानता है न अन्तर की वस्तु को जानता है) इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि क्या ये नाड़ी आदि परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्र भिन्न रूप से सुषुप्ति के स्थान हैं। अथवा परस्पर की अपेक्षा द्वारा सब मिल कर एक स्थान हैं। जिज्ञासा होती है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है। पूर्व पक्ष है कि भिन्न स्वतन्त्र स्थान हैं। क्योंकि इन्हें एकार्थत्व (एक प्रयोजनवत्त्व) है। एकार्थवाले व्रीहि-यव आदि को कहीं परस्पर सापेक्षत्व नहीं देखा जाता है। (नाड़ियों में प्रविष्ट होता है। पुरीतत् में सोता है) इस प्रकार तत्तत् स्थानों में सप्तमी निर्देश की तुल्यता से निरपेक्षता है। शंका होती है कि इस प्रकार सत् में तो सप्तमी निर्देश नहीं देखा जाता है। वहाँ (सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति) ऐसा निर्देश है। उत्तर है कि वहाँ भी सप्तमी के अर्थ के गम्यमान (प्राप्त) होने से यह दोष नहीं है जिससे वाक्य शेष में वहाँ यह कहते हैं कि आयतन को खोजनेवाला जीव सत् में जाता

है। (अन्यत्र आश्रय नहीं पाकर प्राण ही का आश्रयण करता है) प्राण शब्द से वहाँ प्रकृत सत् के ग्रहण से सप्तम्यर्थ का लाभ होता है। आयतन सप्तमी का अर्थ है। वहाँ वाक्यशेष में सप्तमी का निर्देश भी देखा जाता है कि (सत् में प्राप्त होकर नहीं जानते कि हम सत् में प्राप्त हैं) नाडी आदि सभी स्थानों में विशेष विज्ञान का उपरम (अभाव) स्वरूप सुषुप्त-भिन्न नहीं होता है, जिससे नाड़ी आदि के एकार्थक होने से विकल्प द्वारा कभी किसी स्थान में जीव सुषुप्ति के लिए जाता है।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—तदभावो नाडीष्वात्मनि चेति। तदभाव इति तस्य प्रकृतस्य स्वप्नदर्शनस्याभावः सुषुप्तमित्यर्थः। नाडीष्वात्मनि चेति समुच्चयेनैतानि नाड्यादीनि स्वापायोपैति न विकल्पेनेत्यर्थः। कुतः? तच्छ्रुतेः। तथाहि—सर्वेषामेव नाड्यादीनां तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वं श्रूयते तच्च समुच्चये संगृहीत भवति, विकल्पे ह्येषां पक्षे बाधः स्यात्। नन्वेकार्थत्वाद्विकल्पो नाड्यादीनां व्रीहियवादिवदित्युक्तम्। नेत्युच्यते। नह्येकविभक्तिनिर्देशमात्रेणैकार्थत्वं विकल्पश्चापतति। नानार्थत्वसमुच्चययोरप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात्प्रासादे शेते पर्यङ्के शेते इत्येवमादिषु, तथेहापि नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च स्वपितीत्येतदुपपद्यते समुच्चयः। तथा च श्रुतिः—'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४।१९) इति समुच्चयं नाडीनां प्राणस्य च सुषुप्तौ श्रावयत्येकवाक्योपादानात्। प्राणस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० १।१।२८) इत्यत्र। यत्रापि निरपेक्षा इव नाडीः सुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति—'आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इति, तत्रापि प्रदेशान्तरप्रतिषेधान्नाडीद्वारेणैव ब्रह्मण्येवावतिष्ठत इति प्रतीयते। न चैवमपि नाडीषु सप्तमी विरुध्यते, नाडीद्वारापि ब्रह्मोपसर्पन्सृप्त एव नाडीषु भवति। यो हि गङ्गया सागरं गच्छति गत एव स गङ्गायां भवति। अपि चात्र रश्मिनाडीद्वारात्मकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्य विवक्षितत्वान्नाडीस्तुत्यर्थं सृप्तिसंकीर्तनम्। 'नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इत्युक्त्वा 'अतस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति' (छा० ८।६।३)। इति ब्रुवन्नाडीः प्रशंसति। ब्रवीति च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुम्—'तेजसा हि तदा संपन्नो भवति' (छा० ८।६।३) इति। तेजसा नाडीगतेन पित्ताख्येनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान्विषयानीक्षत इत्यर्थः।

इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि उस स्वप्न का अभाव नाड़ी, आत्मा और पुरीतत् में होता है, सूत्रगत च से पुरीतत् का ग्रहण होता है। तदभाव इस पद से उस प्रकृत स्वप्नदर्शन का अभावरूप सुषुप्ति अर्थ समझा जाता है। नाड़ियों में और आत्मा में जाता है इससे इन नाड़ी आदि में समुच्चयद्वारा जीव सोने के लिए जाता है, विकल्प से नहीं जाता है यह सूत्र का अर्थ है। ऐसा किस

प्रमाण से समझा जाता है। इस प्रश्न का उत्तर है कि उस समुच्चय का बोधक श्रुति से ऐसा समझा जाता है। जिससे इसी प्रकार नाड़ी आदि सभी को तत्तत् स्थानों में सुषुप्ति का स्थानत्व सुना जाता है, समुच्चय होने पर वह संगृहीत होता है। विकल्प में इनका पक्ष में बाध होगा। यदि कहो कि एकार्थकता से व्रीहि-यव आदि के समान इन नाड़ी आदि का विकल्प कहा जा चुका है, वहाँ कहा जाता है कि यहाँ विकल्प नहीं है, जिससे एक विभक्ति के निर्देशमात्र से एकार्थत्व और विकल्प नहीं प्राप्त होता है। कोठे[1] पर सोता है। पलंग पर सोता है। इत्यादि वाक्यों में नानार्थत्व और समुच्चय के रहते भी एक विभक्ति का निर्देश देखने से इसी प्रकार यहाँ भी नाड़ियों में पुरीतत् और ब्रह्म में सोता है। ऐसा समुच्चय उपपन्न होता है। इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (जिस समय सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है; उस समय उन नाड़ियों में रहता है और इस प्राण में एकरूपता को प्राप्त करता है) इस एक वाक्य में नाड़ी और प्राण के ग्रहण से नाड़ी और प्राण का सुषुप्ति में श्रुति समुच्चय दर्शाती है। 'प्राणस्तथाऽनुगमात्' इस सूत्र में प्राण का ब्रह्मत्व समधिगत हुआ है (समझा गया है) (इन नाड़ियों में उस समय प्रविष्ट होता है) इत्यादिस्थानों में जहाँ भी नाड़ियों को निरपेक्ष के समान सुषुप्ति का स्थान रूप से श्रुति सुनाती है। वहाँ भी प्रदेशान्तर (अन्य स्थान) में प्रसिद्ध ब्रह्म का अप्रतिषेध से नाड़ी द्वारा ही ब्रह्म ही में जीव अवस्थित होता है ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रकार भी नाड़ी में सप्तमी विभक्ति विरुद्ध नहीं होती है, जिससे नाड़ियों द्वारा ब्रह्म में भी जाता हुआ नाड़ियों में जाता ही है। जिससे जो गङ्गा द्वारा समुद्र में जाता है, वह गङ्गा में प्रथम जाता ही है। दूसरी बात है कि इस वाक्य में रश्मियुक्त नाड़ीरूप द्वारात्मक ब्रह्मलोक के मार्ग के विवक्षित होने से नाड़ी की स्तुति के लिए उसमें गति का संकीर्तन है। (नाड़ियों में प्रविष्ट होता है) ऐसा कह कर (उस सत्-सम्पन्न को कोई पाप स्पर्श नहीं करता है) ऐसा कहता हुआ नाड़ी की प्रशंसा करता है। पाप के स्पर्शाभाव में हेतु कहता है कि (उस समय तेज से सम्पन्न होता है) अर्थ है कि नाड़ीगत पित्तनामक तेज से अभिव्याप्त करण (इन्द्रिय) वाला होने से बाहर के विषयों को नहीं देखता है।

अथवा तेजसेति ब्रह्मण एवायं निर्देशः श्रुत्यन्तरे—'ब्रह्मैव तेज एव' (बृ० ४।४।७) इति तेजःशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात्। ब्रह्मणि हि तदा सपन्नो भवति नाडीद्वारेणातस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशतीत्यर्थः। ब्रह्मसंपत्तिश्च पाप्म-स्पर्शाभावे हेतुः समधिगतः—'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष

---

१. कोठा (प्रासाद) पलंग का आधार होता है, और पलंग शयनकर्ता का क्रिया का आधार होता है। इस प्रकार फल भेद रहते भी सप्तमी होती है। व्यवधान और अव्यवधान से शयन-साधनत्व का समुच्चय होता है। इसी प्रकार नाड़ी और पुरीतत् में जीव की गति द्वारा ब्रह्म में प्राप्ति होती है इस प्रकार समुच्चय है।

ब्रह्मलोकः' (छा० ८।४ २) इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवञ्च सति प्रदेशान्तरप्रसिद्धेन ब्रह्मणा सुषुप्तिस्थानेनानुगतो नाडीनां समुच्चयः समधिगतो भवति। तथा पुरीततोऽपि ब्रह्मप्रक्रियायां संकीर्तनात्तदनुगुणमेव सुप्तिस्थानत्वं विज्ञायते—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २।१।१७) इति हृदयाकाशे सुप्तिस्थाने प्रकृते इदमुच्यते 'पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति। पुरीतदिति हृदयपरिवेष्टनमुच्यते। तदन्तर्वर्तिन्यपि हृदयाकाशे शयानः शक्यते पुरीतति शेत इति वक्तुम्। प्राकारपरिक्षिप्तेऽपि हि पुरे वर्तमानः प्राकारे वर्तते इत्युच्यते। हृदयाकाशस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र। तथा नाडीपुरीतत्समुच्चयोऽपि—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इत्येकवाक्योपादानादवगम्यते। सत्प्राज्ञयोश्च प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वमेतासु श्रुतिषु 'त्रीण्येव सुषुप्तिस्थानानि संकीर्तितानि नाड्यः पुरीतद्ब्रह्म चेति' तत्रापि च द्वारमात्रं नाड्यः पुरीतच्च ब्रह्मैव त्वेकं सुषुप्तिस्थानम्।

अथवा दूसरी श्रुति में (ब्रह्म ही है, तेज ही है) इस प्रकार ब्रह्म अर्थ में तेज शब्द के प्रयुक्त होने से तेजसा इस शब्द से यह ब्रह्म ही का निर्देश है। तब अर्थ होगा कि उस सुषुप्तिकाल में नाड़ियों द्वारा ब्रह्म ही में जीव सम्पन्न, प्राप्त हो जाता है अतः उसको कोई पाप स्पर्श नहीं करता है। ब्रह्म की प्राप्ति पाप के स्पर्शाभाव में हेतु है, वह (सब पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं, जिससे यह ब्रह्मस्वरूप लोक अपहतपाप्मा, सब पापरहित है) इत्यादि श्रुति-वचनों से समधिगत (अनुभूत) होता है। ऐसा होने पर प्रदेशान्तर में प्रसिद्ध सुषुप्ति का स्थानरूप ब्रह्म के साथ अनुगत (प्राप्त) नाड़ियों का समुच्चय समधिगत (सम्यक् अनुभूत) होता है (आश्रित होता है)। इसी प्रकार पुरीतत् का भी ब्रह्म के प्रकरण में संकीर्तन (कथन) से उस ब्रह्म के अनुकूल ही पुरीतत् का सुषुप्तिस्थानत्व समझा जाता है कि (जो यह हृदय में आकाश है उसमें सोता है) इस प्रकार सुषुप्ति का स्थानरूप हृदयाकाश के प्रकृत रहते, यह कहा जाता है कि (पुरीतत् में सोता है) वहाँ पुरीतत् इस शब्द से हृदय का परिवेष्टन कहा जाता है। उस वेष्टन के अन्तर्वर्ती भी हृदयाकाश में सोया हुआ पुरीतत् में इस प्रकार कहा जा सकता है, जिससे प्राकार (कोट) से परिक्षिप्त (आवृत, वेष्टित) भी पुर शहर में वर्तमान पुरुष प्राकार में रहता है ऐसा कहा जाता है। (दहर उत्तरेभ्यः) इस सूत्र में दहराकाश का ब्रह्मत्व समधिगत हुआ है। इसी प्रकार नाड़ी और पुरीतत् समुच्चय भी (उन नाड़ियों द्वारा जा कर पुरीतत् में सोता है) यहाँ एक वाक्य में ग्रहण से समझा जाता है। सत् और प्राज्ञ का ब्रह्मत्व प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार इन उक्त श्रुतियों में तीन ही सुषुप्ति के स्थान संकीर्तित हैं, नाड़ी, पुरीतत् और ब्रह्म ये तीन स्थान हैं। उनमें भी नाड़ी और पुरीतत् द्वारमात्र हैं, एक ब्रह्म ही सुषुप्ति का स्थान है।

अपिच नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति तत्रास्य करणानि वर्तन्त इति। नह्युपाधिसम्बन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्याधारः कश्चित्सम्भवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वात्। ब्रह्माधारत्वमप्यस्य सुषुप्ते नैवाधाराधेयभेदाभिप्रायेणोच्यते ? कथं तर्हि तादात्म्याभिप्रायेण। यत आह— 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति। स्वशब्देनात्माभिलप्यते, स्वरूपमापन्नः सुषुप्तो भवतीत्यर्थः। अपि च न कदाचिज्जीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिर्नास्ति स्वरूपस्यानपायित्वात्, स्वप्नजागरितयोस्तूपाधिसंपर्कवशात्पररूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात्सुषुप्ते स्वरूपापत्तिर्विवक्ष्यते। अतश्च सुषुप्तावस्थायां कदाचित्सता संपद्यते कदाचिन्न सम्पद्यत इत्ययुक्तम्। अपिच स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणं तावत्सुषुप्तं न कचिद्विशिष्यते, तत्र सति सम्पन्नस्तावत्तदेकत्वान्न विजानातीति युक्तम्। 'तत्केन कं विजानीयात्।' (बृ० २।४।१४) इति श्रुतेः। नाडीषु पुरीतति च शयानस्य न किंचिदविज्ञाने कारणं शक्यं विज्ञातुं, भेदविषयत्वात्, 'यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।३१) इति श्रुतेः।

यह बात है कि नाड़ी और पुरीतत् जीव के उपाधि सूक्ष्म शरीर के ही आधार होते हैं, उनमें इस जीव के करण रहते हैं। उपाधि सम्बन्ध के बिना जीव का स्वतः कोई आधार ही नहीं हो सकता है, क्योंकि जीव को ब्रह्म से अभेद होने के कारण इसको स्वमहिमा में प्रतिष्ठितत्व है। इस जीव को सुषुप्ति में ब्रह्माधारत्व (ब्रह्माश्रितत्व) भी आधाराधेय के भेद के अभिप्राय से नहीं कहा जाता है, तो कैसे कहा जाता है कि तादात्म्य के अभिप्राय से (अभेद की दृष्टि से) कहा जाता है। जिससे श्रुति कहती है कि (हे सोम्य ! उस समय सत् से एक हो जाता है अपने में लीन हो जाता है) स्वशब्द से आत्मा कहा जाता है, सुषुप्त (सोया हुआ जीव) अपने स्वरूप में प्राप्त होता है यह श्रुति का अर्थ है। दूसरी बात है कि जीव को ब्रह्म के साथ कभी सम्पत्ति (अभेद, तादात्म्य) नहीं है, यह बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इसका स्वरूप है और उस स्वरूप को अनपायित्व (अविनाशित्व) है। किन्तु स्वप्न और जागरित अवस्था में उपाधि (स्थूल-सूक्ष्म शरीर) के सम्बन्ध के बल से पर (भिन्न) औपाधिक स्वरूपापत्ति के समान होता है, उसकी अपेक्षा करके सुषुप्ति में उसके उपशम (निवृत्ति) से स्वरूपापत्ति विवक्षित होता है। इस कारण से भी सुषुप्ति अवस्था में कभी सत् से सम्पन्न होता है, कभी नहीं होता है, यह कथन (विकल्पवाद) अयुक्त है। और भी यह बात है कि सुषुप्ति के स्थान का विकल्प मानने पर भी विशेष विज्ञान का उपरमरूप सुषुप्ति तो कहीं भिन्न नहीं होता है, वहाँ सत् में सम्पन्न तो उस सत् के साथ एकत्व से कुछ नहीं जानता है, यह श्रुति का कथन युक्त है (वह किस कारण से किसको जाने) इस श्रुति के अनुसार भेदाभाव से विज्ञानाभाव सिद्ध

होता है। परन्तु (जहाँ अन्य के समान होता है। वहाँ अन्य-अन्य को देखता है) इस श्रुति से नाड़ी पुरीतत् भेद का विषय (स्थान) है और इस भेदविषयत्व से नाड़ियों में और पुरीतत् में सोये हुए के अविज्ञान (विशेष विज्ञानाभाव) में कोई कारण नहीं समझा जा सकता है।

ननु भेदविषयस्याप्यतिदूरादि कारणमविज्ञाने स्यात्। बाढम् एवं स्याद्यदि जीवः स्वतः परिच्छिन्नोऽभ्युपगम्येत, यथा विष्णुमित्रः प्रवासी स्वगृहं न पश्यतीति, नतु जीवस्योपाधिव्यतिरेकेण परिच्छेदो विद्यते। उपाधिगतमेवातिदूरादि कारणमविज्ञान इति यद्युच्येत तथाप्युपाधेरुपशान्तत्वात्सत्येव सम्पन्नो न विजानातीति युक्तम्। नच वयमिह तुल्यवन्नाड्यादिसमुच्चयं प्रतिपादयामः। नहि नाड्यः सुप्तिस्थानं पुरीतच्चेत्यनेन विज्ञानेन किंचित्प्रयोजनमस्ति, नह्येतद्विज्ञानप्रतिबद्धं किंचित्फलं श्रूयते। नाप्येतद्विज्ञानं फलवतः कस्यचिदङ्गमुपदिश्यते। ब्रह्म त्वनपायि सुप्तिस्थानमित्येतत्प्रतिपादयामः। तेन तु विज्ञानेन प्रयोजनमस्ति जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावधारणं स्वप्नजागरितव्यवहारविमुक्तत्वावधारणं च। तस्मादात्मैव तु सुप्तिस्थानम् ॥ ७ ॥

यदि कोई कहे कि (अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च) इस वचन के अनुभव के अनुसार से अतिदूरता, अतिसमीपता आदिरूप कारण भेदयुक्तविषय के अविज्ञान में भी होगा, तो वह कहना सत्य है, ऐसा होता यदि जीव स्वतः स्वरूप से परिच्छिन्न (एकदेशी) माना जाता। जैसे विष्णुमित्र प्रवासी होने पर परिच्छिन्नता से अपने घर को नहीं देखता है। परन्तु जीव को उपाधि के बिना उपाधि से भिन्न परिच्छेद भेद नहीं है। यदि उपाधिगत ही अतिदूरत्वादि अविज्ञान में कारण है ऐसा कहो, तो भी उपाधि के उपशान्त (निवृत्त) होने ही से सत्सम्पन्न जीव नहीं जानता है, ऐसा मानना युक्त है। अन्यथा अतिदूरादि को नहीं जानने पर भी किसी समीपस्थ के ज्ञान की प्राप्ति से सुषुप्ति का व्याघात होगा इत्यादि। हम यहाँ तुल्यतायुक्त नाड़ी आदि के समुच्चय का (समसमुच्चय का) प्रतिपादन नहीं करते हैं। जिससे नाडियाँ और पुरीतत् सुषुप्ति के स्थान हैं, इस ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं होता है, जिससे इस विज्ञान से सम्बन्ध वाला इससे सिद्ध होने वाला कोई फल नहीं सुना जाता है। यह विज्ञान किसी फलवाला कर्मादि का अङ्गरूप भी नहीं उपदिष्ट होता है, इससे समप्रधानभाव से समुच्चय नहीं है न विकल्प है। ब्रह्म तो अनपायी नित्य सुषुप्ति का स्थान है, इससे इस ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मरूप सुषुप्ति स्थान के उस विज्ञान से तो, जीव के ब्रह्मात्मत्व का अवधारण, और स्वप्न तथा जागरित के व्यवहारों से विमुक्तत्व का अवधारण प्रयोजन होता है। उससे तो आत्मा ही सुषुप्ति का स्थान है ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

यस्माच्चात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणान्नित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते—'कुत एतदागात्' (बृ० २।१।१६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा' (बृ० २।१।२०) इत्यादिना । 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' (छा० ६।१०।२) इति च । विकल्प्यमानेषु तु सुषुप्तिस्थानेषु कदाचिन्नाडीभ्यः प्रतिबुध्यते कदाचित्पुरीततः कदाचिदात्मन इत्यशासिष्यत् । तस्मादप्यात्मैव सुप्तिस्थानमिति ॥ ८ ॥

जिससे आत्मा ही सुषुप्ति का स्थान मुख्य है, इसी कारण से सदा ही इस आत्मा से ही स्वाप (शयन) प्रकरण में प्रबोध (जागरण) उपदिष्ट होता है कि (कहाँ से यह आया) इस प्रश्न के प्रतिवचन के अवसर में (जैसे अग्नि से तुच्छ विस्फुलिङ्ग निकलते हैं। इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण उत्थित होते हैं) इत्यादि वचनों द्वारा आत्मा से प्रबोध का उपदेश होता है। (सत् से आकर सत् को नहीं जानते हैं कि हम सत् से आते हैं) यह भी उपदेश है। यदि विकल्पयुक्त सुषुप्ति के स्थान नाडी आदि अनेक होते, तो जीव कभी तो नाड़ियों से प्रतिबुद्ध होता (जागता) है, कभी पुरीतत् से जागता है, कभी आत्मा से जागता है, इस प्रकार से श्रुति उपदेश देती, परन्तु ऐसा उपदेश है नहीं, नित्य तुल्य आत्मा ही से प्रबोध का उपदेश है, उससे भी आत्मा ही सुषुप्ति का स्थान है ॥ ८ ॥

कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण (३)

यः कोप्यनियमेनात्र बुध्यते सुप्त एव वा । उदबिन्दुरिवाशक्तेर्नियन्तुं कोपि बुध्यते ॥१॥
कर्माविद्यापरिच्छेदादुदबिन्दुवि क्षणः । स एव बुध्यते शास्त्रात्तदुपाधेः पुनर्भवात् ॥२॥

यद्यपि सुषुप्ति काल में सब जीव ब्रह्म में सम्पन्न होता है, ब्रह्म के साथ एक होता है, ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला वस्तुतः नहीं रहता है, तथापि मोक्षपर्यन्त कार्य कारणरूप से भेदक उपाधि के वर्तमान रहने से जो सोता है वही जागता है, जलाशय में क्षिप्त जलबिन्दु के समान ब्रह्म में दुर्विवेक होकर अन्य के स्थान में अन्य भी नहीं जागता है, इसलिये शेष कर्मानुष्ठान, अनुस्मृति, शब्द (श्रुति) और विद्या कर्म की विधि से समझा जाता है। संशय है कि सुषुप्ति के बाद ब्रह्म में लीन अनन्त जीव में से जो कोई अनियमपूर्वक इस एक शरीर में जागता है, अथवा जो जिस शरीर में सोता है, वही उस शरीर में जागता है। पूर्वपक्ष है कि जलाशय में क्षिप्त बिन्दु के समान ब्रह्म में लीन के जागने में नियम करने में अशक्ति से जो कोई जागता है। सिद्धान्त है कि कर्म अविद्यादि द्वारा परिच्छेद के सुषुप्तिकाल में भी रहने से, जलाशय में क्षिप्त जलबिन्दु से जीव का औपाधिक स्वरूप विलक्षण है। इससे जो सोता है वही जागता है। उसी की उपाधि से उसी को फिर संसार होने से ऐसा होता है ॥ १–२ ॥

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

तस्याः पुनः सत्संपत्तेः प्रतिबुध्यमानः किं य एव सत्संपन्नः स एव प्रतिबुध्यते उत स वाऽन्यो वेति चिन्त्यते। तत्र प्राप्तं तावदनियम इति। कुतः? यदा हि जलराशौ कश्चिज्जलबिन्दुः प्रक्षिप्यते जलराशिरेव स तदा भवति पुनरुद्धरणे च स एव (१) जलबिन्दुर्भवतीति दुःसंपादम्, तद्वत्सुप्तः परेणैकत्वमापन्नः सम्प्रसीदतीति न स एव पुनरुत्थातुमर्हति, तस्मात्स एवेश्वरो वाऽन्यो वा जीवः प्रतिबुध्यत इति।

सुषुप्तिकाल में होने वाली उस सत्सम्पत्ति सद्भाव की प्राप्ति से फिर जागने वाला क्या वही जागता है, कि जो सत् में सम्पन्न (लीन, प्राप्त) हुआ रहता है; अथवा चाहे वह जागता है और अन्य भी जागता है। यह विचार किया जाता है। वहाँ प्रथम अनियम है यह प्राप्त होता है, क्योंकि जब जलराशि नदी-समुद्रादि में कोई एक जलबिन्दु डाला जाता है तो वह जलबिन्दु उस जलराशिरूप ही हो जाता है; फिर कभी उस जलराशि में से जल निकालने पर वह प्रथम का डाला हुआ निक्षिप्त जलबिन्दु ही निकलता है, यह दुःसंपाद (दुर्ज्ञेय, असाध्य) है। इसी प्रकार सोया हुआ जीव परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त करके संपन्न होता है। इससे फिर वही उत्थान प्रतिबोध के योग्य नहीं है। इससे नियमरहित कभी वही जागता है, कभी अन्य जीव जागता है। कभी सृष्टि के आदिकाल में जीवभाव से अनुप्रवेश के समान ईश्वर ही जागता है।

एवं प्राप्त इदमाह स एव तु जीवः सुप्तः स्वास्थ्यं गतः पुनरुत्तिष्ठति नान्यः। कस्मात्? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः। विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि। कर्मशेषानुष्ठानदर्शनात्तावत्स एवोत्थातुमर्हति नान्यः। तथाहि—पूर्वेद्युरनुष्ठितस्य कर्मणोऽपरेद्युः शेषमनुतिष्ठन्दृश्यते, न चान्येन सामिकृतस्य कर्मणोऽन्यः शेषक्रियायां प्रवर्तितुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। तस्मादेक एव पूर्वेद्युरपरेद्युश्चैकस्य कर्मणः कर्तेति गम्यते। इतश्च स एवोत्तिष्ठति यत्कारणमतीतेऽहन्यहमदोऽद्राक्षमिति पूर्वानुभूतस्य पश्चात्स्मरणमन्यस्योत्थाने नोपपद्यते, नह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति। सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरणमात्मान्तरोत्थाने नावकल्पते। शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते। तथाहि—'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव' (बृ० ४।३।१६) 'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' (छा० ८।३।२) 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति' (छा० ६।९।३) इत्येवमादयः शब्दाः स्वापप्रबोधाधिकारे पठिता नात्मान्तरोत्थाने सामञ्जस्यमीयुः। कर्मविद्याविधिभ्यश्चैवमेवावगम्यते। अन्यथा हि कर्मविद्याविधयोऽनर्थकाः स्युः।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि जो सोता है वही सोया हुआ जीव स्वास्थ्य (विश्राम) को प्राप्त करके प्रसन्न होकर भी फिर जागता है। क्योंकि कर्म, अनुस्मृति, शब्द, और विधि से ऐसा ही निश्चय होता है। आगे हेतु को विभाग करके दर्शाता हूँ कि कर्मशेष (अवशिष्ट कर्म) के अनुष्ठान (आचरण) के देखने से वही उत्थान के योग्य है अन्य नहीं। जिससे पहले दिन में अनुष्ठित (कृत) कर्म के शेष (बाकी) अंश को दूसरे दिन करता हुआ देखा जाता है। और अन्य से सामिकृत (अर्धकृत) यागादि कर्म की शेष (बाकी) क्रिया में, उससे अन्य कोई प्रवृत्ति के योग्य नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग होगा, एक-एक शास्त्रविहित कर्म के अनेकानेक कर्त्ता प्राप्त होंगे। इससे पूर्व के दिन में और उत्तर के अपर दिनों में एक कर्म का एक ही कर्त्ता प्रतीत होता है। और इस हेतु से भी वही सोने वाला उठता, जागता है कि जिस कारण से विगत दिन में मैंने इसको देखा था, इस प्रकार प्रथम के अनुभूत का पश्चात् स्मरण अन्य के उत्थान में नहीं उपपन्न हो सकता है, जिससे अन्य की दृष्ट वस्तु की अनुस्मृति अन्य नहीं कर सकता है। और मैं वही हूँ, इस प्रकार से अपनी आत्मा का अनुस्मरण भी आत्मान्तर के उत्थान में नहीं सिद्ध हो सकता है। श्रुतिरूप शब्दों से भी उस सोने वाले ही का उत्थान अवगत (अनुभूत) होता है। इसी प्रकार की श्रुति है कि (फिर स्वप्नसुषुप्ति के बाद में जागने ही के लिए पूर्वकालिक गति और स्थान के अनुसार ही जीव आता है। यह सब प्रजा सुषुप्ति काल में प्रतिदिन ब्रह्मलोक में जाती हुई भी इस ब्रह्मलोक को नहीं पाती हैं। ये सुषुप्ति काल में ब्रह्मलोक में प्राप्त होकर भी सोने से प्रथम यहाँ जो व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कोट, पतङ्गादि रहते हैं। जागने पर फिर वही होते हैं) शयन और जागरण के प्रकरण में पढ़े गये इस प्रकार के शब्द सब अन्यात्मा के उत्थान में सामञ्जस्य (युक्तता, औचित्य) को नहीं प्राप्त होंगे। कर्म और विद्यासम्बन्धी विधि से भी ऐसा समझा जाता है कि जो सोता है वही जागता है। यदि ऐसा नहीं हो, तो कर्म और विद्या की विधि अनर्थक होगी। जिससे अन्य के उत्थानपक्ष में सोया पुरुष ब्रह्म में प्राप्त होने से सोनेमात्र से मुक्त हो जाता है, ऐसा प्राप्त होगा। और यदि ऐसा होगा तो कहो कि कालान्तर में फल वाले कर्म वा विद्या से क्या किया जायगा, कौन फल सिद्ध होगा।

अन्योत्थानपक्षे हि सुप्तमात्रो मुच्यत इत्यापद्येत। एवं चेत्स्या द किं कालान्तरफलेन कर्मणा विद्यया वा कृतं स्यात्। अपि चान्योत्थानपक्षे यदि तावच्छरीरान्तरे व्यवहरमाणो जीव उत्तिष्ठत्तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात्। अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेत्कल्पनानर्थक्यं स्यात्। यो हि यस्मिञ्शरीरे सुप्तः स तस्मिन्नोत्तिष्ठत्यन्यस्मिञ्शरीरे सुप्तोऽन्यस्मिन्नुत्तिष्ठतीति कोऽस्यां कल्पनायां लाभः स्यात्। अथ मुक्तं उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष आपद्येत। निवृत्ताविद्यस्य च पुनरुत्थानमनुपपन्नम्। एतेनेश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम्, नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्।

अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ च दुर्निवारावन्योत्थानपक्षे स्याताम्, तस्मात्स एवोत्तिष्ठति नान्य इति। यत्पुनरुक्तं—यथा जलराशौ प्रक्षिप्तो जलबिन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यत एवं सति सम्पन्नो जीवो नोत्पतितुमर्हतीति, तत्परिह्रियते। युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जलबिन्दोरनुद्धरणम्, इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैषम्यम्। दृश्यते च दुर्विवेचनयोरप्यस्मज्जातीयैः क्षीरोदकयोः संसृष्टयोर्हंसेन विवेचनम्। अपि च न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्यो विद्यते यो जलबिन्दुरिव जलराशेः सतो विविच्येत, सदेव तूपाधिसम्पर्काज्जीव इत्युपचर्यत इत्यसकृत्प्रपञ्चितम्। एवं सति यावदेकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्तावदेकजीवव्यवहारः, उपाध्यन्तरगतायां तु बन्धानुवृत्तौ जीवान्तरव्यवहारः। स एवायमुपाधिः स्वापप्रबोधयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः प्रतिबुध्यत इति युक्तम् ॥ ९ ॥

और भी बात है कि अन्य के उत्थानपक्ष में यदि शरीरान्तर में व्यवहार करता हुआ जीव सुप्त शरीर में उठेगा तो शरीरान्तर में होने वाले व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा। यदि शरीरान्तर में सोया हुआ इस दूसरे शरीर में उठेगा, तो कल्पना की अनर्थकता होगी। जो जिस शरीर में सोया है, वह उसमें नहीं उठता है और अन्य शरीर में सोया हुआ किसी अन्य में उठता है इस कल्पना में क्या लाभ होगा। यदि मुक्त उठेगा, तो अन्तवाला अनित्य मोक्ष प्राप्त होगा और विनष्ट अविद्या वाले का फिर उत्थान अनुपपन्न है। इसीसे नित्य निवृत्त अविद्यावत्ता के कारण ईश्वर का उत्थान प्रत्युक्त निषिद्ध है। अन्य के उत्थान पक्ष में अकृत का अभ्यागम (प्राप्ति) और कृत का विनाश दुर्निवार होगा। जिससे जो सोता है, वही उठता है, अन्य नहीं। जो यह कहा था कि जलराशि में निक्षिप्त जलबिन्दु फिर निकाला नहीं जा सकता है, इसी प्रकार सत् में सम्पन्न जीव फिर उत्पन्न नहीं हो सकता है। उस शंका का परिहार किया जाता है कि उक्त दृष्टान्त में प्रक्षिप्त जलबिन्दु के विवेक के कारण के अभाव से जलबिन्दु का अनुद्धरण (नहीं निकलना) युक्त है, यहाँ दार्ष्टान्तिक में तो कर्म और अविद्या विवेक का कारण है, इससे विषमता है। हम लोगों मनुष्यादि जाति वालों से दुर्विवेचनीय भी संसृष्ट (मिलित) दूध और जल का विवेचन (पृथक्ता) हंस से देखा जाता है, इसी प्रकार ईश्वर से जीव का विवेचन किया जाता है। और दूसरी बात है कि जीवनाम वाला परमात्मा से अन्य कोई वस्तु नहीं है कि जो जलराशि से बिन्दु के समान सत् से विविक्त, पृथक् हो, किन्तु सत् ही उपाधि के सम्बन्ध से जीव इस शब्द से उपचरित (व्यवहृत) होता है यह अनेक बार विस्तार से कहा जा चुका है। ऐसा होने पर जब तक एक उपाधिगत संसारबन्ध की अनुवृत्ति (प्रवाह) बनी रहती है, तब तक एक जीव का व्यवहार (कथन) होता है। उसी बन्ध की अनुवृत्ति के अन्य उपाधिगत होने पर जीवान्तर का व्यवहार होता है। सुषुप्ति तथा जाग्रत् में मोक्षपर्यन्त वही उपाधि बीजांकुर न्याय से कारण-कार्य रूप से रहता है, अतः जो

जीव सोता है वही जागता है, इससे ब्रह्म की अज्ञानावस्था में प्राप्ति भी मोक्ष का साधन नहीं है, अतः ज्ञान के लिए यत्न कर्तव्य है इत्यादि युक्त कथन है ॥ ९ ॥

मुग्धेऽर्धसंपत्त्यधिकरणम् (४)

किं मूर्च्छैका जाग्रदादौ किं वाऽवस्थान्तरं भवेत् । अन्यावस्था न प्रसिद्धा तेनैका जाग्रदादिषु ॥
न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभावान्न सुप्तता । मुखादिविकृतेस्तेनाऽवस्थाऽन्या लोकसम्मता ॥

अन्यावस्था के लक्षण नहीं मिलने से और सुषुप्ति के आधे लक्षण मिलने से मूर्च्छा अवस्था में परिशेष से अर्धसम्पत्ति (सुषुप्ति) होती है। वहाँ संशय होता है कि मूर्च्छा क्या जाग्रत् आदि में ही कोई एक अवस्थारूप है, अथवा अवस्थान्तर होगी । पूर्वपक्ष है कि शास्त्र में मूर्च्छा नामक अन्य अवस्था जाग्रदादि के समान नहीं प्रसिद्ध है, इससे जाग्रत् आदि में ही किसी एक रूप होगी । सिद्धान्त है कि जाग्रत् और स्वप्न में द्वैतभाव रहता है, द्वैत की प्रतीति रहती है और मूर्च्छा में सुषुप्ति के समान ही द्वैतभाव और द्वैत की प्रतीति नहीं रहती है इससे जाग्रत् और स्वप्न में किसी एक रूप मूर्च्छा नहीं हो सकती है। और सुषुप्ति में मुख की विकृति आदि नहीं रहते हैं, मूर्च्छा में रहते हैं, इससे सर्वथा सुषुप्ति रूप भी मूर्च्छा नहीं है इससे लोकसम्मत अन्य अवस्था है ॥ १–२ ॥

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

अस्ति मुग्धो नाम यं मूर्च्छित इति लौकिकाः कथयन्ति, स तु किमवस्थ इति परीक्षायामुच्यते—तिस्रस्तावदवस्थाः शरीरस्थस्य जीवस्य प्रसिद्धाः—जागरितं स्वप्नः सुषुप्तमिति । चतुर्थी शरीरादपसृतिः, नतु पञ्चमी काचिदवस्था जीवस्य श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धास्ति । तस्माच्चतसृणामेवावस्थानामन्यतमावस्था मूर्च्छेति ।

मुग्ध नाम से प्रसिद्ध वह है कि जिसको लौकिक जन मूर्च्छित इस शब्द से कहते हैं, वह मूर्च्छित किस अवस्था वाला होता है, ऐसी परीक्षा (विचारणा—जिज्ञासा) के होने पर कहा जाता है कि शरीरस्थ जीव की तीन ही जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति रूप अवस्थाएँ हैं। चतुर्थी अवस्था शरीर से अपसृति (निर्गमन, मरण) है, जीव की पञ्चमी कोई अवस्था श्रुति वा स्मृति में प्रसिद्ध नहीं है। इससे इन चार अवस्थाओं में ही कोई एक अवस्था रूप मूर्च्छा है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावन्मुग्धो जागरितावस्थो भवितुमर्हति । नह्ययमिन्द्रियैर्विषयानीक्षते । स्यादेतत्, इषुकारन्यायेन मुग्धो भविष्यति । यथेषुकारो जाग्रदपीष्वासक्तमनस्तया नान्यान्विषयानीक्षत एवं मुग्धो मुसलसंपातादिजनितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान्विषयानीक्षत इति । न । अचेतयमानत्वात् । इषुकारो हि व्यापृतमना ब्रवीति—इषुमेवाहमेतावन्तं कालमुपलभमानोऽभूवमिति । मुग्धस्तु लब्धसंज्ञो ब्रवीत्यन्धे तमस्यहमेतावन्तं

कालं प्रक्षिप्तोऽभूवं, न किंचिन्मया चेतितमिति। जाग्रतश्चैकविषयविषक्तचेतसोऽपि देहो विध्रियते मुग्धस्य तु देहो धरण्यां पतति। तस्मान्न जागर्ति, नापि स्वप्नान्पश्यति निःसंज्ञ(क)त्वात्। नापि मृतः, प्राणोष्मणोर्भावात्। मुग्धे हि जन्तौ मृतोऽयं स्यान्न वा मृत इति संशयाना ऊष्मास्ति नास्तीति हृदयदेशमालभन्ते, निश्चयार्थं प्राणोऽस्ति नास्तीति च नासिकादेशम्। यदि प्राणोष्मणोरस्तित्वं नावगच्छन्ति, ततो मृतोऽयमित्यध्यवसाय दहनायारण्यं नयन्ति। अथ तु प्राणमूष्माणं वा प्रतिपद्यन्ते ततो नायं मृत इत्यध्यवसाय संज्ञालाभाय भिषज्यन्ति। पुनरुत्थानाच्च न दिष्टं गतः, नहि यमं गतो यमराष्ट्रात्प्रत्यागच्छति। अस्तु तर्हि सुषुप्तः, निःसंज्ञत्वादमृतत्वाच्च। न। वैलक्षण्यात्। मुग्धः कदाचिच्चिरमपि नोच्छ्वसिति, सवेपथुरस्य देहो भवति, भयानकं च वदनं, विस्फारिते नेत्रे। सुषुप्तस्तु प्रसन्नवदनस्तुल्यकालं पुनः पुनरुच्छ्वसिति, निमीलिते अस्य नेत्रे भवतः, न चास्य देहो वेपते। पाणिपेषणमात्रेण च सुषुप्तमुत्थापयन्ति, नतु मुग्धं मुद्गरघातेनापि।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि मुग्ध प्राणी जाग्रत् अवस्थावाला नहीं हो सकता है, जिससे यह इन्द्रियों द्वारा विषयों को नहीं जानता है। यदि कहो कि जाग्रत् होते भी इन्द्रियों द्वारा विषयों को नहीं जानना यह हो सकता है। इषुकार (बाण बनाने वाला) के न्याय (तुल्यता) युक्त मुग्ध हो सकता है कि जैसे जागता हुआ भी इषुकार इषुकी रचना में आसक्तमनवाला होने से अन्य विषयों को नहीं देखता है। इसी प्रकार मुसलादि के संपात (प्रहार) आदि से जन्य दुःख के अनुभव से व्यग्र (व्याकुल) मन वाला-होने से जागता हुआ भी अन्य विषयों को नहीं देखता है। तो यह कहना शंका मुग्ध की अचेतयमानता (अचेतनता) से नहीं बन सकती है। जिससे व्यापारयुक्त मन वाला इषुकार पूछने पर कहता है कि इतने काल तक मैं बाण का ही ज्ञान वाला था। मुग्ध तो संज्ञा (चेतना) का लाभ (प्राप्ति) करने पर कहता है कि मैं इतने कालतक अन्ध तम में प्रक्षिप्त था, इतने कालतक मैंने कुछ नहीं समझा। और एक विषय में विशेष आसक्तियुक्त मन वाले भी जागते हुए प्राणी की देह विधृत खड़ी वा बैठी रहती है। मुग्ध की देह तो पृथिवी पर गिर जाती है, जिससे मुग्ध जागता हुआ नहीं रहता है। और निःसंज्ञक चेतनारहित बदहोश होने से स्वप्नों को नहीं देखता है। प्राण तथा उष्णता (गरमी) के शरीर में रहने से वह मृतक भी नहीं हो जाता है, जिससे मुग्ध प्राणी विषयक यह मर गया है, अथवा नहीं मरा है, इस प्रकार के संशय करने वाले गरमी है या नहीं है इस निश्चय के लिए हृदय देश का आलम्भ (स्पर्श) करते हैं। प्राण है या नहीं है इस निश्चय के लिए नासिका देश का स्पर्श करते हैं। और यदि प्राण और गरमी की सत्ता को नहीं अवगत (अनुभव) करते हैं, तो यह मर गया ऐसा निश्चय करके जलाने के लिए जंगल (श्मशान) में ले जाते हैं। यदि प्राण और गरमी को समझ पाते हैं, तो यह नहीं

मरा है ऐसा निश्चय करके चेतना की प्राप्ति के लिए भेषज चिकित्सा करते हैं। चिकित्सा आदि द्वारा फिर उत्थान से वह दिष्ट (मरण) को नहीं प्राप्त हुआ रहता है, क्योंकि मर कर यमराष्ट्र (यम के विषय) में प्राप्त फिर उस देह में नहीं आता है। यदि कहा जाय कि मुग्ध चेतनारहित बदहोश रहता है और मरा हुआ भी नहीं रहता है, तो वह सुषुप्त हो सकता है, उत्तर है कि विलक्षणता से वह सुषुप्त भी नहीं है। मुग्ध कभी चिर काल तक उच्छ्वास (श्वास-प्रश्वास) रहित रहता है, इसकी देह कम्पसहित रहती है और मुख भयानक रहता है, नेत्र विस्फारित (अधिक खुले) रहते हैं। सुषुप्त तो प्रसन्न मुखवाला रहता है, परिमित समय में बार-बार श्वास-प्रश्वास लेता है, इसके नेत्र बन्द रहते हैं, इसकी देह नहीं काँपती है। हाथ संघर्षण स्पर्शमात्र से सुषुप्त को लोग उठाते हैं। मुग्ध को तो मुद्‌गर के घात (चोट) से भी नहीं उठा सकते। मोह (मूर्च्छा) और सुषुप्ति के निमित्त कारण में भी भेद होता है। मोह को मुसलघातादिनिमित्तकत्व है, अर्थात् मुसलघातादि से मूर्च्छा होती है। सुषुप्ति को श्रमादिनिमित्तकत्व है, श्रमादि से सुषुप्ति होती है और लोक में प्रसिद्धि नहीं है कि मुग्ध सोया है। इसलिए परिशेष से अर्द्धसम्पत्ति मुग्धता है, ऐसा समझते हैं। निःसंज्ञता (बदहोशी) से सम्पन्न है (प्राप्त है) और अन्य विलक्षणता से असम्पन्न है। यहाँ शंका होती है कि मुग्धता अर्धसम्पत्ति है, यह कैसे कह सकते हैं। जब कि सुप्त के प्रति श्रुति ने कहा है कि—(हे सोम्य ! उस सुषुप्ति में जीव सत् के साथ सम्पन्न हो जाता (मिल जाता) है। उस अवस्था में चोर, चोर नहीं रहता है। इस सेतुविधारक आत्मा को दिन और रात नहीं व्याप्त होते हैं। अर्थात् आत्मा काल से परिच्छिन्न नहीं होता है। इसीसे इस आत्मा को जरा, मरण, पुण्य और पाप नहीं प्राप्त होते हैं।) जिससे सुखित्व-दुःखित्व ज्ञान के उत्पादन (जनन) द्वारा जीव में पुण्य-पाप की प्राप्ति होती है। सुप्त प्राणी में सुखित्व का ज्ञान वा दुःखित्व का ज्ञान नहीं होता है। और मुग्ध में भी वे सुखित्व-दुःखित्व के ज्ञान नहीं होते हैं। इससे उपाधि के उपशम (निवृत्ति) से सुषुप्त के समान मुग्ध में भी पूर्ण सम्पत्ति होने योग्य है, अर्धसम्पत्ति नहीं। ऐसी शंका होने पर यहाँ कहा जाता है कि मुग्धावस्था में जीव को ब्रह्म के साथ सम्पत्ति (अभेद) हो जाता है, ऐसा हम नहीं कहते हैं। तो क्या कहते हैं कि मुग्धावस्था में मुग्धत्व अर्द्धांश से सुषुप्त पक्ष का (सुषुप्ततुल्य) होता है, और अर्द्धांश से अवस्थान्तर पक्ष का होता है। यह हम कहते हैं। स्वाप के साथ मोह की कुछ अंश में समता और कुछ अंश में विषमता दर्शाई जा चुकी है। यह मुग्धत्व मरण का द्वाररूप है। जब इस जीव के प्रारब्ध कर्म सावशेष (पूर्णभुक्त नहीं) रहते हैं, तो वाक् और मन लौट आते हैं, व्यक्त होते हैं। जब निरवशेष (पूर्णभुक्त) कर्म रहते हैं, तो प्राण और गरमी भी चले जाते हैं। इससे ब्रह्मवेत्ता लोग मुग्धता को अर्द्धसम्पत्ति उचित समझते हैं। जो यह कहा था कि पञ्चमी कोई अवस्था प्रसिद्ध नहीं है, सो यह अप्रसिद्धि दोष नहीं है। यह

अवस्था कभी दैवयोग से होती है, इससे प्रसिद्ध नहीं हो ऐसा हो सकता है। वस्तुतः यह लोक और आयुर्वेद में प्रसिद्ध है। अर्द्ध सम्पत्ति के स्वीकार से पञ्चमी नहीं गिनी जाती है, इससे अनवद्य (निर्दोष) है ॥ १० ॥

निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः। मुसलसंपातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादिनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य। न च लोकेऽस्ति प्रसिद्धिः मुग्धः सुप्त इति। परिशेषादर्धसंपत्तिर्मुग्धतेत्यवगच्छामः। निःसंज्ञत्वात्संपन्न इतरस्माच्च वैलक्षण्यादसंपन्न इति। कथं पुनरर्धसंपत्तिर्मुग्धतेति शक्यते वक्तुम्, यावता सुप्तं प्रति तावदुक्तं श्रुत्या—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति, 'अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति' (बृ० ४।३।२२) 'नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्' (छा० ८।४।१) इत्यादि। जीवे हि सुकृतदुष्कृतयोः प्राप्तिः सुखित्वदुःखित्वप्रत्ययोत्पादनेन भवति। न च सुखित्वप्रत्ययो दुःखित्वप्रत्ययो वा सुषुप्ते विद्यते, मुग्धेऽपि तौ प्रत्ययौ नैव विद्येते। तस्मादुपाध्युपशमात्सुषुप्तवन्मुग्धेऽपि कृत्स्नसंपत्तिरेव भवितुमर्हति, नार्धसंपत्तिरिति। अत्रोच्यते। न ब्रूमो मुग्धेऽर्धसंपत्तिर्जीवस्य ब्रह्मणा भवतीति। किं तर्ह्यर्धेन सुषुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वमर्धेनावस्थान्तरपक्षस्येति ब्रूमः। दर्शिते च मोहस्य स्वापेन साम्यवैषम्ये। द्वारं चैतन्मरणस्य। यदास्य सावशेषं कर्म भवति तदा वाङ्मनसे प्रत्यागच्छतः, यदा तु निरवशेषं कर्म भवति तदा प्राणोष्माणावपगच्छतः, तस्मादर्धसंपत्तिं ब्रह्मविद इच्छन्ति। यत्तूक्तं—न पञ्चमी काचिदवस्था प्रसिद्धास्ति—इति। नैष दोषः। कादाचित्कीयमवस्थेति न प्रसिद्धा स्यात्। प्रसिद्धा चैषा लोकायुर्वेदयोः। अर्धसंपत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इत्यनवद्यम् ॥ १० ॥

उभयलिङ्गाधिकरण (५)

ब्रह्म किं रूपि वारूपि भवेन्नीरूपमेव वा। द्विविधश्रुतिसद्भावाद् ब्रह्म स्यादुभयात्मकम्॥१॥
नीरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः। रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तमुभयत्वं विरुध्यते॥२॥

परमात्मा को स्थान से (उपाधिसम्बन्ध से) अपि वा स्वतः स्वरूप से वस्तुतः उभय (द्वैत-भेद) का कोई लिङ्ग हेतु नहीं है। जिससे सब अवस्था देश काल श्रुति में भेदरहित ही परमात्मा सिद्ध है, जीव के समान अवस्थादिकृत परमात्मा में वस्तुतः व्यावहारिक भेद भी नहीं है। संशय है कि ब्रह्म रूपवाला और अरूपवाला अवस्था आदि के भेद से उभयस्वरूप होगा। अथवा सर्वथा नीरूप ही होगा। पूर्वपक्ष है कि दोनों प्रकार की श्रुति की सत्ता से ब्रह्म उभयात्मक होगा। सिद्धान्त है कि अपूर्वता (अन्य प्रमाण की अविषयता) से नीरूप ही ब्रह्म वेदान्तों से प्रतिपाद्य है। भ्रमसिद्ध रूप तो श्रुति से उपासनादि के लिए अनुवादित होता है। वह वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। विरोध से वास्तविक उभयरूपत्व तो हो ही नहीं सकता है इससे नीरूप ही ब्रह्म है ॥ १–२ ॥

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

येन ब्रह्मणा सुषुप्त्यादिषु जीव उपाध्युपशमात्संपद्यते तस्येदानीं स्वरूपं श्रुतिवशेन निर्धार्यते। सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३।१४।२) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः, 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः। किमासु श्रुतिषूभयलिङ्गं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम्। यदाप्यन्यतरलिङ्गं तदापि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति मीमांस्यते। तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेति।

सुषुप्ति समाधि आदि काल में उपाधि के उपशम-निवृत्ति से जीव जिस ब्रह्म के साथ सम्पन्न, एक होता है, श्रुतिवश से उस ब्रह्म के स्वरूप का इस समय निर्धारण, निर्णय किया जाता है। सविशेषत्व और निर्विशेषत्व उभय (दोनों) की लिङ्ग (बोधक) श्रुतियाँ ब्रह्मविषयक हैं कि (सब विश्व जिसका कर्म, कार्य है। दोषरहित जिसके सब काम (इच्छा) हैं, जो सर्व सुखप्रद गन्धरूप है। पुण्य रसमय है वह परमात्मा है)। इत्यादि श्रुतियाँ सविशेष ब्रह्म की बोधक हैं। और (वह स्थूल, अणु, ह्रस्व और दीर्घ नहीं है) इत्यादि निर्विशेष की बोधक हैं। क्या इन श्रुतियों में दोनों सविशेषत्व-निर्विशेषत्वरूप लिङ्गवाला ब्रह्म को समझना चाहिये वा दोनों में से किसी एक लिङ्गवाला समझना चाहिये। जब एक रूपलिङ्गवाला समझा जाय तो भी ब्रह्म सविशेष है, अथवा निर्विशेष है, यह विचार किया जाता है। यहाँ सुषुप्ति, मरण उभयरूप मुग्धता के समान उभय (दोनों) के बोधक श्रुति के बल से दोनों लिङ्गवाला ही ब्रह्म है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते। नह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात्। अस्तु तर्हि स्थानतः पृथिव्याद्युपाधियोगादिति। तदपि नोपपद्यते। नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति। नहि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (क० ३।१।५। मुक्तिको० २।७२) इत्येवमादिष्वपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि परब्रह्म को स्वतः स्वरूप से ही उभयलिङ्गत्व (उभयस्वरूपत्व) उपपन्न नहीं हो सकता है। जिससे विरोध होने के कारण एक ही वस्तु स्वतःस्वरूप से रूपादिविशेषयुक्त है। और उससे विपरीत है, ऐसा

अवधारण नहीं किया जा सकता है। यदि कहो कि स्वतः नहीं हो सकता हो तो स्थान (उपाधि) से, पृथिवी आदि उपाधि के सम्बन्ध से उभयलिङ्गत्व हो सकता है, तो वह भी नहीं उपपन्न हो सकता हैं। जिससे उपाधि के सम्बन्ध से भी अन्य प्रकार की वस्तु को अन्य प्रकार का स्वभाव नहीं हो सकता है। स्फटिक स्वच्छ होता हुआ अलक्तक (लाक्षा, महावर) आदि उपाधि के सम्बन्ध से वस्तुतः अस्वच्छ नहीं होता है। स्फटिक में अस्वच्छता के अभिनिवेश को (सम्बन्ध को) भ्रममात्र होने से अस्वच्छता नहीं होती है। और स्फटिक में तो उसके समान सत्तावाला उपाधि-सम्बन्ध हैं भी ब्रह्म में उपाधियों के माया अविद्या से प्रत्युपस्थापितत्व (जन्यत्व) होने से उपाधिजन्य विशेष सत्य नहीं हो सकता हैं। अतः अन्यतर (किसी एक) लिङ्ग का परिग्रहण कर्तव्य है, उस एकलिङ्ग के परिग्रहण में भी समस्त विशेषों (भेदों) से रहित निर्विकल्पक (निर्गुण) ही ब्रह्म समझने योग्य है, उससे विपरीत नहीं। जिससे ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादनपरक (शब्द, स्पर्श, रूपरहित निर्विकार नित्य ब्रह्म है) इत्यादि सभी वाक्यों में निरस्त समस्त विशेषवाला सब विशेषों से रहित ही ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

अथापि स्याद्यदुक्तं निर्विकल्पमेव ब्रह्म नास्य स्वतः स्थानतो वोभयलिङ्गत्वमिति। तन्नोपपद्यते। कस्मात्? भेदात्। भिन्ना हि प्रतिविद्यं ब्रह्मण आकारा उपदिश्यन्ते। चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्म वामनीत्वादिलक्षणं ब्रह्म त्रैलोक्यशरीरवैश्वानरशब्दोदितं ब्रह्मेत्येवंजातीयकाः, तस्मात्सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम्। ननूक्तं नोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः संभवतीति। अयमप्यविरोधः। उपाधिकृतत्वादाकारभेदस्य। अन्यथा हि निर्विषयमेव भेदशास्त्रं प्रसज्येतेति चेत्। नेति ब्रूमः। कस्मात्? प्रत्येकमतद्वचनात्। प्रत्युपाधिभेदं ह्यभेदमेव ब्रह्मणः श्रावयति शास्त्रम्—'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' (बृ० २।५।१) इत्यादि। अतश्च न भिन्नाकारयोगो ब्रह्मणः शास्त्रीय इति शक्यते वक्तुम्। भेदस्योपासनार्थत्वादभेदे तात्पर्यात् ॥ १२ ॥

पूर्वोक्त रीति से श्रुतियों द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का निर्णय होने पर भी यदि शङ्का होती हो कि, जो कहा गया है कि निर्विकल्प ही ब्रह्म है, इस ब्रह्म को स्वतः वा स्थान से उभयलिङ्गत्व (उभयस्वरूपत्व) नहीं है, वह नहीं उपपन्न होता है। क्यों नहीं उपपन्न होता है? तो भेद (विशेष) से निर्विशेष नहीं उपपन्न होता है। जिससे प्रत्येक विद्या में ब्रह्म के आकार भिन्न (विशेषयुक्त) उपदिष्ट होते (कहे जाते) हैं कि (चार पाद वाला ब्रह्म है, षोडशकला वाला ब्रह्म है, वामनीत्वादि लक्षण वाला ब्रह्म है। तीनों लोकरूप शरीर वाला वैश्वानर शब्द से कहा गया ब्रह्म है)

इस प्रकार के भिन्न ब्रह्म के उपदेश हैं, इससे ब्रह्म का निर्विशेषत्व के समान सविशेषत्व भेद भी स्वीकार के योग्य है। यदि कहा जाय कि ब्रह्म का उभयलिङ्गत्व सम्भव नहीं है, यह कहा जा चुका है तो कहा जाता है कि यह भी विरोध नहीं है, आकार के उपाधिकृत होने से अविरोध है। अन्यथा (यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो) भेद का बोध करानेवाले शास्त्र निर्विषय (अनर्थक) ही प्राप्त होंगे। यदि ऐसी शंका कोई करे तो कहते हैं ऐसा नहीं हो सकता, उपाधि से भी सत्य भेद ब्रह्म में नहीं होता है, क्यों सत्य भेद नहीं होता है ? तो कहते हैं कि प्रत्येक सविशेष उपदेश में भी (अतद्वचन) भेद के अभाव के कथन से भेद नहीं सिद्ध होता है, तद् शब्द सूत्र में भेद का बोधक है। अतद् अभेद (भेदाभाव) का बोधक है। प्रत्येक उपाधि के भेदों में भेद के उपदेशों में भी शास्त्र ब्रह्म के अभेद को ही सुनाता है कि (जो इस पृथिवी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, जो यह अध्यात्म शरीर में रहने वाला तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वह यही है जो यह आत्मा है) इत्यादि। इससे ब्रह्म का भिन्न आकार के साथ सम्बन्ध को शास्त्र से सिद्ध नहीं कह सकते हैं। भेद के उपासनार्थक होने से और अभेद में शास्त्र का तात्पर्य होने से, शास्त्र से भेद नहीं सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

अपि चैवं भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेददर्शनमेवैके शाखिनः समामनन्ति—
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ (क० ४।११) इति।
तथान्येपि 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्'— (श्वे० १।१२) इति समस्तस्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावतामधीयते ॥ १३ ॥

इसी प्रकार भेददर्शन (ज्ञान) की निन्दापूर्वक अभेददर्शन का ही एक शाखावाले कथन भी करते हैं कि (यह ब्रह्म शुद्ध मन से समझने, प्राप्त करने योग्य है इसमें भेद कुछ नहीं है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है कि जो इस ब्रह्म में नाना सा देखता है।) इसी प्रकार अन्य भी कहते हैं कि (भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता जीव जगत् और अंतर्यामी ईश्वर को विचार कर जो कुछ मुझसे कहा गया है, उन सबको त्रिविध ब्रह्म ही समझे) इस प्रकार भोग्य, भोक्ता और नियन्ता रूप समस्त प्रपञ्च की ब्रह्म के साथ एकस्वभावता का अध्ययन एक शाखावाले करते हैं ॥ १३ ॥

कथं पुनराकारवदुपदेशिनीष्वनाकारोपदेशिनीषु च ब्रह्मविषयासु श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमिति। अत उत्तरं पठति—

फिर भी शङ्का होती है कि साकार ब्रह्म का उपदेश देने वाली और निराकार का उपदेश देने वाली ब्रह्मविषयक दोनों प्रकार की श्रुतियों के रहते भी निराकार

ही ब्रह्म कैसे अवधारित, निश्चित होता है। विपरीत भी क्यों नहीं अवधारित होता है। ऐसी शंका होने पर उत्तर पढ़ते हैं कि—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं न रूपादिमत्। कस्मात्? तत्प्रधानत्वात्। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३।१५। मुक्ति० २।७२) 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुण्ड० २।१।२), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९) इत्येवमादीनि वाक्यानि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तरप्रधानानीत्येतत्प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र। तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम्। इतराणि त्वाकारवद् ब्रह्मविषयाणि वाक्यानि न तत्प्रधानानि। उपासनाविधिप्रधानानि हि तानि, तेष्वसति विरोधे यथाश्रुतमाश्रयितव्यम्। सति तु विरोधे तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्तीति। एष विनियमनायां हेतुः, येनोभयीष्वपि श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमिति ॥ १४ ॥

रूपादि आकार से रहित ही ब्रह्म अवधारण के योग्य है। रूपादि वाला नहीं, क्योंकि श्रुतियों में उस निराकार को ही प्रधानत्व है। (ब्रह्म स्थूल, अणु, ह्रस्व, दीर्घ नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप रहित अव्यय है। आकाश ब्रह्म-नाम और रूप का निर्वाहक है, नाम और रूप जिसके अन्तर्गत हैं, वह ब्रह्म है। दिव्य, स्वयंप्रकाश-मूर्ति आकार रहित बाहर-भीतर भेदरहित ही अज पुरुष है। यह ब्रह्म कारण तथा कार्य नहीं हैं। अन्तर बाह्य भेदरहित है, यह आत्मा ब्रह्म है, सर्वज्ञ है) इत्यादि वाक्यों में निष्प्रपञ्च (शुद्ध) ब्रह्मात्म तत्त्व प्रधानरूप से वर्तमान है। इन में अर्थान्तर प्रधान नहीं है। यह अर्थ, 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्र में प्रतिष्ठापित (निश्चित रूप से स्थापित) किया गया है। इससे इस प्रकार के वाक्यों में यथाश्रुत (श्रुति के अनुसार) निराकार ही ब्रह्म अवधारण के योग्य है। अन्य जो साकार ब्रह्म विषयक वाक्य हैं वह साकारप्रधानवाले नहीं हैं, किन्तु उपासना-विधिप्रधानवाले वे वाक्य हैं। उनमें विरोध के नहीं रहने पर वे यथाश्रुत आश्रयण के योग्य हैं। विरोध होने पर, स्वार्थप्रधानवाले वाक्य अन्यार्थप्रधानवाले वाक्यों से बलीयान्—अतिबली होते हैं और यही विनिगमना में (दोनों में से एक के ग्रहण में) हेतु हैं। जिस से दोनों प्रकार की श्रुतियों के रहते भी निराकार ही ब्रह्म अवधारित होता है, विपरीत नहीं ॥ १४ ॥

का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिरित्यत आह—

शंका होती है कि तब साकारविषयक श्रुतियों की क्या गति (आश्रय) है। इससे कहते हैं कि—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तदृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते, एवं ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसम्बन्धात्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तदालम्बनो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते। एवमवैयर्थ्यमाकारवद्ब्रह्मविषयाणामपि वाक्यानां भविष्यति, नहि वेदवाक्यानां कस्यचिदर्थवत्त्वं कस्यचिदनर्थवत्त्वमिति युक्तं प्रतिपत्तुं प्रमाणत्वाविशेषात्। नन्वेवमपि यत्पुरस्तात्प्रतिज्ञातं—नोपाधियोगादप्युभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणोऽस्तीति—तद्विरुध्यते, नेति ब्रूमः। उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः। उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। सत्यामेव च नैसर्गिक्यामविद्यायां लोकवेदव्यवहारावतार इति तत्र तत्रावोचाम ॥ १५ ॥

जैसे सूर्य वा चन्द्रमा का प्रकाश आकाश में व्याप्त होकर वर्तमान होता हुआ भी अङ्गुली आदि उपाधियों के सम्बन्ध से उन उपाधियों के सीधे-टेढ़े आदि रूपता के प्राप्त होने पर वह प्रकाश भी उनके ही समान सीधा-टेढ़ा आदि भासता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी पृथिवी आदि उपाधियों के सम्बन्ध से तदाकारता को प्राप्त के समान भासता है, मानो उन आकारों को प्राप्त कर लेता है और उन कल्पित आकारों का आश्रयण करके उसी के आश्रित उपासना के लिए ब्रह्म के आकार विशेष का उपदेश विरुद्ध नहीं होता है। इस प्रकार साकार ब्रह्मविषयक वाक्यों की अव्यर्थता (सार्थकता) होगी। वेदवाक्यों में किसी वाक्य को सार्थकता है, किसी वाक्य को निरर्थकता है, ऐसा समझना युक्त नहीं है। क्योंकि सब वेदवाक्यों में प्रमाणत्व अविशेष (तुल्य) है। इससे साकारविषयक वेदवाक्यों की भी उक्त रीति से सार्थकता है ही। शंका होती है कि इस प्रकार से वेदवचनों की व्यवस्था होने पर भी प्रथम जो प्रतिज्ञा की गई है कि उपाधि के सम्बन्ध से भी ब्रह्म को उभयलिङ्गवत्त्व (साकारत्व-निराकारत्व) नहीं है, किन्तु केवल निराकारत्व ही है। उपासनार्थक भी आकार मानने पर उस प्रतिज्ञा से विरोध होगा। उत्तर है कि विरोध नहीं है, ऐसा हम कहते हैं, जिससे उपाधिनिमित्तक साकारत्व धर्म को उपासनार्थक कल्पित होते भी वस्तुस्वरूप निराकार ब्रह्म के धर्मत्व की साकारत्व में अनुपपत्ति है और उपाधियों के अविद्या से प्रत्युपस्थापित (प्रापित) होने से विरोध नहीं है। अर्थात् प्रथम भी औपाधिक रूप के कल्पित होने से उभयरूपत्व सत्य नहीं है यह कहा गया था। अब भी निर्विशेषत्व सत्य है और सविशेषत्व मिथ्या (मायिक) है यह कहा जाता है, इससे पूर्वापर-विरोध नहीं है,

और स्वाभाविक अविद्या के रहते ही लोक के और वेद के व्यवहारों का अवतार (जन्म) होता है, यह तत्तत् स्थानों में कहा जा चुका है ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म—'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इति। एतदुक्तं भवति। नास्यात्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपम्, यथा सैन्धवघनस्यान्तर्बहिश्च लवणरस एव निरन्तरो भवति न रसान्तरं तथैवेति ॥ १६ ॥

चैतन्यमात्र विलक्षण रूपान्तर से रहित निर्विशेष ब्रह्म को श्रुति कहती भी है कि (अरे मैत्रेयि ! जैसे सैन्धव घन लवणपिण्ड बाहर-भीतर पदार्थान्तर, रसान्तर से रहित सम्पूर्ण रसघन एकरस लवणमात्र रहता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी अन्दर और बाहर रूपभेद अन्तराय रहित सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है) इससे यह उक्त (कथित) होता है कि इस आत्मा के अन्दर वा बाहर में चैतन्य से अन्य रूप नहीं है, निरन्तर चैतन्य ही इस आत्मा का स्वरूप है। जैसे लवण के घन (पिण्ड, मूर्ति) के अन्तर और बाहर में लवण रस ही निरन्तर रहता है, रसान्तर नहीं रहता है। इसी प्रकार यह आत्मा है ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

दर्शयति च श्रुतिः पररूपप्रतिषेधेनैव ब्रह्म निर्विशेषत्वात्—'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (के० १।३) इति, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) इत्येवमाद्या। बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—'स होवाचाधीहि भगवो ब्रह्म इति स तूष्णींबभूव तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि, उपशान्तोऽयमात्मा' इति। तथा स्मृतिष्वपि परप्रतिषेधेनैवोपदिश्यते—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। (१३।१२) इत्येवमाद्यासु। तथा विश्वरूपधरो नारायणो नारदमुवाचेति स्मर्यते—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद !।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि। इति ॥ १७ ॥

निर्विशेषता के कारण पर (अनात्म) रूप के प्रतिषेध द्वारा ही श्रुति ब्रह्म को दर्शाती है कि (अथात आदेशो नेति नेति) सत्य स्वरूप के निर्देश के बाद जिससे आत्मा सत्यों का सत्य है, इससे उसका निर्देश है कि वह मूर्त अमूर्त (कार्य-कारण)

स्वरूप नहीं है और (वह विदित अविदित, व्यक्त अव्यक्त से अन्य है । मन सहित वाक् जिस में नहीं पहुँच कर निवृत्त होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ अनात्मा के प्रतिषेध द्वारा ब्रह्म को दर्शाती हैं । वाष्कलि नामक शिष्य ने बाध्व नामक गुरु से ब्रह्म पूछा (ब्रह्म-विषयक प्रश्न किया) तो पूछे गये बाध्व ने मौन द्वारा ब्रह्म का कथन किया—उपदेश दिया यह सुना जाता है । फिर (उस वाष्कलि ने कहा कि हे भगवन् बाध्व ! मेरे लिए ब्रह्म का उपदेश करो, परन्तु वह गुरु मौन ही रहा, फिर दूसरी वा तीसरी बार पूछने पर मौन को त्याग कर कहा कि हम तो ब्रह्म का उपदेश करते हैं, तुम तो नहीं समझते हो, यह आत्मा उपशान्त (द्वैतरहित) है, इससे इसका मौन ही उत्तर है) सूत्रगत अथ शब्द तथा अर्थ में है, वैसे ही स्मृतियों में भी अनात्मा के प्रतिषेध द्वारा ही ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है कि (जिसको जान कर जीव अमृत को प्राप्त करता है, ऐसा जो ज्ञेय ब्रह्म है, उस क्षेत्रज्ञाभिन्न ब्रह्म को मैं अच्छी तरह कहूँगा कि वह आदि वाला नहीं है । सत् इन्द्रियों का विषय, वा असत् परोक्ष पर ब्रह्म नहीं कहा जाता है, अर्थात् स्वयंप्रकाश परब्रह्म है) इत्यादि स्मृतियों में पर का निषेध द्वारा उपदेश है । इसी प्रकार विश्वरूपधारी नारायण ने नारद के प्रति कहा है ऐसा स्मृति में कहा गया है कि—(हे नारद ! सर्व दिव्य गुणों से युक्त जो मुझे देख रहे हो, यह मुझसे माया रची गई है, आप मुझे इसी प्रकार जानने योग्य नहीं हो) ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परमप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु—

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥ इति ।
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ (ब्र० बिं० १२) इत्येवमादिषु ॥ १८ ॥

अत्र प्रत्यवस्थीयते—

जिससे चैतन्यरूप यह आत्मा निर्विशेष वाक् और मन का अविषय और अनात्मा के प्रतिषेध ही द्वारा उपदेश के योग्य है, इसीसे इस आत्मा के उपाधि-निमित्तक अपारमार्थिक (मायिक) विशेषवत्ता को मानकर मोक्षशास्त्रों में (जल सूर्य-कादिवत्, जल में कल्पित सूर्य के समान ब्रह्म का विशेष स्वरूप है) इस प्रकार उपमा का ग्रहण किया जाता है कि (जैसे स्वयं ज्योतिःस्वरूप यह सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न जलों में प्रतिबिम्ब रूप से अनुगत (प्राप्त) हुआ बहुत प्रकार का अनेक

किया जाता है। इसी प्रकार अज एक भी यह आत्म देव क्षेत्रों, देहों में बुद्धि आदि उपाधि द्वारा भेदयुक्तरूपवाला किया जाता है)। इति। (सब प्राणी का एक ही आत्मा तत्त‍् भूतों में विशेष (भिन्न) रूप से अवस्थित है और आकाश में स्थिर चन्द्र और जलगत चन्द्रप्रतिबिम्ब के समान आत्मा एक स्वरूपवाला और बहुत स्वरूपवाला दीखता (भासता) है। इत्यादि शास्त्रों में उपमा गृहीत है ॥ १८ ॥

यहाँ उक्तार्थविषयक शङ्का की जाती है कि—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

न जलसूर्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते तद्वदग्रहणात्। सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः। न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः, सर्वगतत्वात्सर्वानन्यत्वाच्च। तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति ॥ १९ ॥

अत्र प्रतिविधीयते—

यहाँ बुद्धि आदि में आत्मा का जलसूर्यकादितुल्यत्व उपपन्न नहीं होता है, जिससे दृष्टान्त में जल के समान यह बुद्धि आदि का आत्मा से पृथक् ग्रहण नहीं होता है। दृष्टान्त में मूर्तिमान् सूर्यादि से पृथक् स्वरूपवाला दूरदेशवाला मूर्त साकार जल गृहीत होता है, उस जल में सूर्यादि के प्रतिबिम्बों का उदय, प्रकट होना युक्त है। आत्मा तो मूर्त नहीं है, और न इनसे पृथक् स्वरूपवाले दूरदेशवर्ती उपाधि सब हैं। क्योंकि आत्मा को सर्वगतत्व और सब से अनन्यत्व (अभिन्नत्व) है। इससे यह दृष्टान्त अयुक्त है ॥ १९ ॥

यहाँ समाधान कहा जाता है कि—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो विवक्षितांशसंभवात्, नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित्कंचिद्विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात्। नचेदं स्वमनीषया जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम्। शास्त्रप्रणीतस्य त्वस्य प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते। किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति। तदुच्यते। वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति। जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति जलभेदे भिद्यते इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति, नतु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति। एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद् ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत इवोपाधिधर्मान्वृद्धिह्रासादीन्, एवमुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यादविरोधः ॥२०॥

विवक्षितांश के सम्भव होने से यह दृष्टान्त युक्त ही है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में कहीं किसी विवक्षित अंश को छोड़ कर सर्वांश में सरूपता किसी से दिखाई नहीं जा सकती है। और सर्वांश में सरूपता होने पर दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव का उच्छेद ही

होगा। अपनी बुद्धि से वह जलसूर्यकादि दृष्टान्त का प्रणयन (निर्माण) नहीं किया गया है, किन्तु शास्त्र से प्रणीत (निर्मित, प्राप्त) इस दृष्टान्त के प्रयोजनमात्र का उपन्यास (कथन) किया जाता है। फिर भी यहाँ विवक्षित सारूप्य क्या है ? वह कहा जाता है कि (वृद्धिह्रासभागित्व होना ही सादृश्य है) जिससे जलगत सूर्य का प्रतिबिम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है, जल के न्यून, क्षीण होने पर न्यून, क्षीण होता है, जल के चलने से चलता है, जल के भेद होने पर भिन्न होता है। इस प्रकार जल के धर्मानुगामी, उसके अनुसार भासने वाला प्रतिबिम्ब होता है। परन्तु उससे सूर्य को तथात्व (वृद्धि आदि धर्मवत्त्व) परमार्थ से नहीं है। इसी प्रकार परमार्थ स्वरूप से विकाररहित एकस्वरूप भी सत् ब्रह्म देहादि रूप उपाधि के अन्तर्भाव से उपाधि के धर्म वृद्धि-ह्रासादि को मानो भजता है (प्राप्त होता है) इस प्रकार दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक दोनों के सामञ्जस्य (संमेलन) से विरोध (वैषम्य) नहीं है ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

दर्शयति च श्रुतिः परस्यैव ब्रह्मणो देहादिषूपाधिष्वन्तरनुप्रवेशम्—

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्र चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ॥ (बृ० २।५।१८) इति।

'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इति च। तस्माद्युक्तमेतत्—'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र० सू० ३।२।१८) इति। तस्मान्निर्विकल्पकैकलिङ्गमेव ब्रह्म नोभयलिङ्गं विपरीतलिङ्गं चेति सिद्धम्। अत्र केचिद् द्वे अधिकरणे कल्पयन्ति। प्रथमं तावत्—किं प्रत्यस्तमिताशेषप्रपञ्चमेकाकारं ब्रह्मोत प्रपञ्चवदनेकाकारोपेतमिति। द्वितीयं तु—स्थिते प्रत्यस्तमितप्रपञ्चत्वे किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमिति। अत्र वयं वदामः—सर्वथाप्यानर्थक्यमधिकरणान्तरारम्भस्येति। यदि तावदनेकलिङ्गत्वं परस्य ब्रह्मणो निराकर्तव्यमित्ययं प्रयासस्तत्पूर्वेणैव 'न स्थानतोऽपि' इत्यनेनाधिकरणेन निराकृतमित्युत्तरमधिकरणं 'प्रकाशवच्च' एतद् व्यर्थमेव भवेत्। न च सल्लक्षणमेव ब्रह्म न बोधलक्षणमिति शक्यं वक्तुम्, विज्ञानघन एवेत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कथं वा निरस्तचैतन्यं ब्रह्म चेतनस्य जीवस्यात्मत्वेनोपदिश्येत। नापि बोधलक्षणमेव ब्रह्म न सल्लक्षणमिति शक्यं वक्तुम् 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (क० ६।१३) इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कथं वा निरस्तसत्ताको बोधोऽभ्युपगम्येत। नाप्युभयलक्षणमेव ब्रह्मेति शक्यं वक्तुम्, पूर्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्। सत्ताव्यावृत्तेन च बोधेन बोधव्यावृत्तया च सत्तयोपेतं ब्रह्म प्रतिजानानस्य तदेव पूर्वाधिकरणप्रतिषिद्धं सप्रपञ्चत्वं ब्रह्मणः प्रसज्येत। श्रुतत्वाददोष इति चेत्। न। एकस्यानेकस्वभावत्वानुपपत्तेः। अथ—सत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्तीति—

यद्युच्येत, तथापि किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमित्ययं विकल्पो निरालम्बन एव स्यात्। सूत्राणि त्वेकाधिकरणत्वेनैवास्माभिर्नीतानि। अपि च ब्रह्मविषयासु श्रुतिष्वाकारवदनाकारप्रतिपादनेन विप्रतिपन्नास्वनाकारे ब्रह्मणि परिगृहीतेऽवश्यं वक्तव्येतरासां श्रुतीनां गतिः। तादर्थ्येन प्रकाशवच्चेत्यादीनि सूत्राण्यर्थवन्तराणि संपद्यन्ते। यदप्याहुराकारवादिन्योऽपि श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुखेनानाकारप्रतिपत्त्यर्था एव न पृथगर्था इति, तदपि न समीचीनमिव लक्ष्यते। कथम्? ये हि परविद्याधिकारे केचित्प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा 'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च' (बृ० २।५।१९) इत्येवमादयस्ते भवन्ति प्रविलयार्थाः 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१९) इत्युपसंहारात्। ये पुनरुपासनाधिकारे प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्येवमादयो न तेषां प्रविलयार्थत्वं न्याय्यम्। 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३।१४।१) इत्येवंजातीयकेन प्रकृतेनैवोपासनविधिना तेषां संबन्धात्। श्रुत्या चैवंजातीयकानां गुणानामुपासनार्थत्वेऽवकल्प्यमाने न लक्षणया प्रविलयार्थत्वमवकल्पते। सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सति 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' (ब्र० सू० ३।२।१४) इति विनिगमनकारणवचनमनवकाशं स्यात्। फलमप्येषां यथोपदेशं क्वचिद् दुरितक्षयः क्वचिदैश्वर्यप्राप्तिः क्वचित्क्रममुक्तिरित्यवगम्यत एवेत्यतः पार्थगर्थ्यमेवोपासनावाक्यानां ब्रह्मवाक्यानां च न्याय्यं नैकवाक्यत्वम्। कथं चैषामेकवाक्यतोत्प्रेक्ष्यत इति वक्तव्यम्। एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवदिति चेत्। न। ब्रह्मवाक्येषु नियोगाभावात्। वस्तुमात्रपर्यवसायीनि हि ब्रह्मवाक्यानि न नियोगोपदेशीनीत्येतद्विस्तरेण प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र। किंविषयश्चात्र नियोगोऽभिप्रेयत इति वक्तव्यम्। पुरुषो हि नियुज्यमानः कुर्विति स्वव्यापारे कस्मिंश्चिन्नियुज्यते। ननु द्वैतप्रपञ्चप्रविलयो नियोगविषयो भविष्यति। अप्रविलापिते हि द्वैतप्रपञ्चे ब्रह्मतत्त्वविबोधो न भवत्यतो ब्रह्मतत्त्वावबोधप्रत्यनीकभूतो द्वैतप्रपञ्चः प्रविलाप्यः, यथा स्वर्गकामस्य यागोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यत एवमपवर्गकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः, यथा च तमसि व्यवस्थितं घटादितत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतं तमः प्रविलाप्यते, एवं ब्रह्मतत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतः प्रपञ्चः प्रविलापयितव्यः। ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावं ब्रह्म, तेन नामरूपप्रपञ्चप्रविलापनेन ब्रह्मतत्त्वावबोधो भवतीति। अत्र वयं पृच्छामः—कोऽयं प्रपञ्चप्रविलयो नाम। किमग्निप्रतापसंपर्काद् घृतकाठिन्यप्रविलय इव प्रपञ्चप्रविलयः कर्तव्य आहोस्विदेकस्मिंश्चन्द्रे तिमिरकृतानेकचन्द्रप्रपञ्चवदविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापयितव्य इति। तत्र यदि ताव-

द्विद्यमानोऽयं प्रपञ्चो देहादिलक्षण आध्यात्मिको बाह्यश्च पृथिव्यादिलक्षणः प्रविलापयितव्य इत्युच्यते स पुरुषमात्रेणाशक्यः प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयोपदेशोऽशक्यविषय एव स्यात्। एकेन चादिमुक्तन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगदभविष्यत् । अथाविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं प्रपञ्चो विद्यया प्रविलाप्य इति ब्रूयात्, ततो ब्रह्मैवाविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनावेदयितव्यम् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति। तस्मिन्नावेदिते विद्या स्वयमेवोत्पद्यते तया चाविद्या बाध्यते, ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्प्रविलीयते। अनावेदिते तु ब्रह्मणि ब्रह्मविज्ञानं कुरु प्रपञ्चप्रविलयं चेति शतकृत्वोऽप्युक्ते, न ब्रह्मविज्ञानं प्रपञ्चप्रविलयो वा जायते। नन्वावेदिते ब्रह्मणि तद्विज्ञानविषयः प्रपञ्चविलयविषयो वा नियोगः स्यात्। न। निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्ववदनेनैवोभयसिद्धः। रज्जुस्वरूपप्रकाशनेनैव हि तत्स्वरूपविज्ञानमविद्याध्यस्तसर्पादिप्रपञ्चप्रविलयश्च भवति। नच कृतमेव पुनः क्रियते। नियोज्योऽपि च प्रपञ्चावस्थायां योऽवगम्यते जीवो नाम स प्रपञ्चपक्षस्यैव वा स्याद् ब्रह्मपक्षस्यैव वा। प्रथमे विकल्पे निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनेन पृथिव्यादिवज्जीवस्यापि प्रविलापितत्वात्कस्य प्रपञ्चप्रविलये नियोग उच्येत कस्य वा नियोगनिष्ठतया मोक्षोऽवाप्तव्य उच्येत। द्वितीयेऽपि ब्रह्मैवानियोज्यस्वभावं जीवस्य स्वरूपं जीवत्वं त्वविद्याकृतमेवेति प्रतिपादिते ब्रह्मणि नियोज्याभावान्नियोगाभाव एव। द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधिप्रधाना भवन्ति। लोकेऽपीदं पश्येदमाकर्णयेति चैवंजातीयकेषु निर्देशेषु प्रणिधानमात्रं कुर्वित्युच्यते न साक्षाज्ज्ञानमेव कुर्विति। ज्ञेयाभिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचिज्जायते कदाचिन्न जायते तस्मात्तं प्रति ज्ञानविषय एव दर्शयितव्यो ज्ञापयितुकामेन। तस्मिन्दर्शिते स्वयमेव यथाविषयं यथाप्रमाणं च ज्ञानमुत्पद्यते। न च प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽर्थेऽन्यथाज्ञानं नियुक्तस्याप्युपपद्यते। यदि पुनर्नियुक्तोऽहमित्यन्यथाज्ञानं कुर्यान्न तु तज्ज्ञानं किं तर्हि मानसी सा क्रिया स्वयमेव चेदन्यथोत्पद्येत भ्रान्तिरेव स्यात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते। न च प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते। नहि तत्पुरुषतन्त्रं, वस्तुतन्त्रमेव हि तत्। अतोऽपि नियोगाभावः, किंचान्यन्नियोगनिष्ठतयैव पर्यवस्यत्याम्नाये यदभ्युपगतमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं जीवस्य तदप्रमाणकमेव स्यात्। अथ शास्त्रमेवानियोज्यब्रह्मात्मत्वमप्याचक्षीत तदवबोधे च पुरुषं नियुञ्जीत ततो ब्रह्मशास्त्रस्यैकस्य द्व्यर्थपरता विरुद्धार्थपरता च प्रसज्येयाताम्। नियोगपरतायां च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना

कर्मफलवन्मोक्षफलस्यादृष्टफलस्यादृष्टफलत्वमनित्यत्वं चेत्येवमादयो दोषा न केनचित्परिहर्तुं शक्याः। तस्मादवगतिनिष्ठान्येव ब्रह्मवाक्यानि न नियोगनिष्ठानि। अतश्चैकनियोगप्रतीतेरेकवाक्यतेत्ययुक्तम्। अभ्युपगम्यमानेऽपि च ब्रह्मवाक्येषु नियोगसद्भावे तदेकत्वं निष्प्रपञ्चोपदेशेषु सप्रपञ्चोपदेशेषु चासिद्धम्। नहि शब्दान्तरादिभिः प्रमाणैर्नियोगभेदेऽवगम्यमाने सर्वत्रैको नियोग इति शक्यमाश्रयितुम्। प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येषु त्वधिकारांशेनाभेदाद्युक्तमेकत्वम्, नत्विह सगुणनिर्गुणचोदनासु कश्चिदेकत्वाधिकारांशोऽस्ति। नहि भारूपत्वादयो गुणाः प्रपञ्चप्रविलयोपकारिणः, नापि प्रपञ्चप्रविलयो भारूपत्वादिगुणोपकारी, परस्परविरोधित्वात्। नहि कृत्स्नप्रपञ्चप्रविलापनं प्रपञ्चैकदेशापेक्षणं चैकस्मिन्धर्मिणि युक्तं समावेशयितुम्। तस्मादस्मदुक्त एव विभाग आकारवदनाकारोपदेशानां युक्ततर इति ॥ २१ ॥

परब्रह्म ही का देहादिरूप उपाधियों के अन्तर में अनुप्रवेश को श्रुति दर्शाती है कि (परमात्मा ने दो पैरवाले मनुष्यादिशरीररूप पुरों को बनाया और चार पैर वाले पशु आदि शरीररूप पुरों को बनाया। नेत्रादि की अभिव्यक्ति से प्रथम ही पक्षी (लिङ्ग-शरीरवाला) होकर उस परमात्मा ने ही पुरुष रूप पुर में प्रवेश किया तथा प्रविष्ट होने पर भी स्वरूप से पुरुष (पूर्ण ही) रहा)। (इस जीवात्मा रूप से अनुप्रवेश करके नाम-रूप को व्यक्त करूँ) इत्यादि। इससे (अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्) यह कथन युक्त है। जिससे निर्विकल्पक (निर्गुण) एकलिङ्ग (लक्षण) वाला ही ब्रह्म है। उभय लिङ्गवाला और विपरीत (विशेष) लिङ्ग वाला नहीं है, यह सिद्ध हुआ। यहाँ कोई दो अधिकरण की कल्पना करते हैं, (न स्थानतोपि) इत्यादि से प्रथम की कल्पना करते हैं कि क्या निरस्तसमस्तप्रपञ्च वाला एक आकारवाला ब्रह्म है अथवा प्रपञ्च के समान अनेक आकार से युक्त ब्रह्म है। उस प्रथम अधिकरण में निरस्त प्रपञ्चवाला, प्रपञ्चशून्य ब्रह्म के स्थिर होने पर (प्रकाशवच्च) इत्यादि से द्वितीय की कल्पना करते हैं कि क्या ब्रह्म केवल सत्स्वरूप है, अथवा केवल बोधस्वरूप है, यद्वा उभयस्वरूप है। वहाँ सच्चिदुभयरूपता को पूर्वपक्ष करके (आह च तन्मात्रम्) इस सूत्र से सत्तामात्र सिद्धान्त सिद्ध करते हैं। यहाँ द्वितीय अधिकरण की अयुक्तता को भाष्यकार दर्शाते हैं, कि हम यहाँ कहते हैं कि अन्य अधिकरण के आरम्भ की सर्वथा अनर्थकता है। यदि द्वितीय अधिकरण से ब्रह्म का अनेकलिङ्गत्व-निराकरण करना है इसके लिए यह अधिकरण की रचना रूप प्रयास हो, तो (न स्थानतोऽपि) इस पूर्व अधिकरण से ही अनेकलिंगत्व निराकृत हो चुका है। इससे (प्रकाशवच्च) इत्यादि उत्तर अधिकरण व्यर्थ ही होगा। ब्रह्म सत्स्वरूप ही है। बोध (ज्ञान) स्वरूप नहीं है ऐसा नहीं कह सकते हैं। जिससे बोधरूप नहीं मानने पर (विज्ञानघन ही ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियों की व्यर्थता की प्राप्ति होगी! चेतनतारहित ब्रह्म का चेतन जीव के आत्मारूप से कैसे उपदेश हो सकता है। ब्रह्मबोध ही स्वरूप है,

सत् स्वरूप नहीं है, यह भी नहीं कह सकते हैं। ऐसा मानने से (आत्मा है ऐसा ही समझना चाहिये) इत्यादि श्रुतियों की व्यर्थता की प्राप्ति होगी अथवा सत्तारहित बोध को कोई किस प्रकार समझेगा। उभय (पृथक् दो) स्वरूपवाला ही ब्रह्म है, यह भी नहीं कह सकते हैं। जिससे ऐसा मानने पर पूर्व के स्वाभ्युपगम (स्वीकृति) से विरोध की प्राप्ति होगी। सत्ता से व्यावृत्त (भिन्न) बोध और बोध से व्यावृत्त सत्ता, इन दोनों से युक्त ब्रह्म की प्रतिज्ञा करने वाले को पूर्व अधिकरण में जिसका प्रतिषेध किया है, उसी ब्रह्म की सप्रपञ्चता की प्राप्ति होगी। अर्थात् निष्प्रपञ्च एकरूपत्व पूर्व सिद्धान्त के विरोध से भिन्नोभयरूपत्वविषयक पूर्वपक्ष भी नहीं हो सकता है। श्रुति में सत्स्वरूप और ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सुना गया है। इससे दोष नहीं है, अर्थात् पूर्वपक्ष का असम्भव नहीं है, श्रुतिबल से पूर्वपक्ष हो सकता है। यदि ऐसा कहो तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुतिबल से एक वस्तु को विरुद्ध अनेकस्वभावत्व की अनुपपत्ति होगी, अर्थात् श्रुति भी विरुद्ध अर्थ को नहीं कह सकती है। यदि कहो कि सत्ता ही बोध है, बोध ही सत्ता है, सत्ता और बोध इन दोनों को परस्पर व्यावृत्ति (भेद) नहीं है। दोनों अखण्ड स्वरूप हैं। तो भी ब्रह्म क्या सत् स्वरूप है अथवा बोध स्वरूप है, अथवा उभयस्वरूप है। इस प्रकार अखण्डवस्तुविषयक विकल्प (संशय) निरालम्बन (निराश्रय, निर्विषय) ही होगा। इससे दूसरा अधिकरण अयुक्त है। हमने तो एक अधिकरणरूप से भी सूत्रों की संगति, योजना की है। दूसरी बात है कि साकार और निराकार ब्रह्म का प्रतिपादन द्वारा परस्पर विरोधयुक्त श्रुतियों के रहते निराकार ब्रह्म को स्वीकार करने पर अन्य श्रुतियों की गति (विषय, आश्रय) अवश्य कहना चाहिए। इससे उस गति को कहने, प्रदर्शन कराने के लिए, 'प्रकाशवच्च' इत्यादि सूत्र अत्यन्त सार्थक सिद्ध होते हैं। इससे अधिकरण का भेद नहीं है और जो कोई यह कहते हैं कि (मनोमयः प्राणशरीरः सत्यकामः) इत्यादि ब्रह्म के आकारों को कहने वाली भी श्रुतियाँ (ब्रह्म मनोमय है। परन्तु अन्य उपाधि रहित है। प्राण शरीरवाला है अन्य शरीररहित है, सत्य कामवाला है अन्य काम रहित है) इस प्रकार से प्रपञ्च का क्रमशः विलय द्वारा निराकार के ज्ञानार्थ कही हैं। पृथक् उपासना आदि प्रयोजन के लिए नहीं हैं। वह कथन समीचीन (उचित) सा नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि पर विद्या के प्रकरण में जो कोई प्रपञ्च कहे जाते हैं। जैसे कि (रथ में युक्त, लगे घोड़ों के समान इस आत्मा के हरणशील हरि, घोड़े इन्द्रियाँ सौ हैं दश हैं, यह आत्मा ही हरि है। यही दश इन्द्रिय रूप है, और प्राणिभेद से कितने सहस्र और बहुत और अनन्त है) इत्यादि प्रपञ्च हैं। वे प्रविलयार्थक हैं। यह प्रविलयार्थत्व (सो यह ब्रह्मात्मा कार्य-कारण रहित और बाह्य-अन्तर रहित है) इस उपसंहार से सिद्ध और प्रतीत होता है। और जो उपासना प्रकरण में प्रपञ्च कहे जाते हैं, जैसे कि (आत्मा मनोमय और प्राणरूप शरीरवाला ज्ञानस्वरूप है) इत्यादि। उनका प्रविलयार्थत्व न्याययुक्त नहीं है, क्योंकि (वह

उपासक क्रतु संकल्प, चिन्तन करे) इस प्रकार की प्रकृत उपासनाविधि के साथ उनको सम्बन्ध है। और इस प्रकार के मनोमयत्वादि गुणों को श्रुति की शक्तिवृत्ति से उपासनार्थकत्व के अवकल्पित, सिद्ध होते, लक्षणा द्वारा प्रविलयार्थकत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। और साकार-निराकार श्रुति के विरोध होते ब्रह्म निराकार ही है, इसमें नियामक क्या है, ऐसी शंका होने पर, अस्थूलादि श्रुति का तात्पर्य नियामक है, इस अर्थ को कहने के लिए 'अरूपवदेव' इत्यादि सूत्र है, और सब प्रपञ्चों के साधारण रूप से विलयार्थक निराकार विषय के होने पर शंका के अभाव से (अरूपवदेव) इत्यादि नियामक कारण का कथन अनवकाश (व्यर्थ) होगा। और यदि कहो कि निष्प्रपञ्च वाक्य फलवाले हैं, इससे निष्फल सप्रपञ्च वाक्य उनके ही अंग हैं, तो सो कहना ठीक नहीं। इन सप्रपञ्च वाक्यजन्य उपासनाओं का फल भी उपदेश के अनुसार कहीं पाप का नाश, कहीं ऐश्वर्य की प्राप्ति, कहीं क्रममुक्ति ये अवगत (अनुभूत) होते ही हैं, इससे उपासनावाक्य और ब्रह्मवाक्यों की पृथगर्थता ही न्याययुक्त है। प्रविलयार्थता रूप एकवाक्यता (एकार्थता) युक्त नहीं है। और इनकी एकवाक्यता कैसे उत्प्रेक्षित (कल्पित, सिद्ध) होती है सो कहना चाहिए। यदि कहो कि अंग रूप प्रयाज याग और प्रधान स्वरूप दर्श-पूर्णमास के बोधक वाक्यों की एकवाक्यता जैसे एक प्रधानापूर्वरूप नियोग (फल) से होता है। इसी प्रकार यहाँ भी एक प्रपञ्चविषयक एक अपूर्व अनुभवादि रूप एक नियोग की प्रतीति से एकवाक्यता सिद्ध होती है (नियुज्यते सम्वध्यतेऽनेनेति नियोगः) जिससे सम्बन्ध हो उसको नियोग कहते हैं। फल पुरुष की प्रेरणा करता है। या विधि प्रेरणा करती है। तब पुरुष किसी काम में फल के श्रवण से विधि के अनुसार प्रवृत्त होता है। विधि को भी नियोग कहते हैं। दर्श-पूर्णमास के समान ब्रह्मवाक्यों में दर्शपूर्णमासादि के समान नियोग अपूर्व वा विधि के अभाव से उसके समान एकवाक्यता नहीं हो सकती है। जिससे वस्तुमात्र में ब्रह्मवाक्यों का पर्यवसान (तात्पर्य्य, अन्तिम स्थिति) है। इससे ब्रह्मवाक्य नियोग (अपूर्वादि) का उपदेश देने वाले नहीं हैं। यह अर्थ विस्तारपूर्वक (तत्तु समन्वयात्) इस सूत्र में प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित) किया गया है। यहाँ किस विषयक नियोग विधि अभिप्रेत है, सो विषय कहना चाहिए। जिससे करो इस प्रकार नियुज्यमान (नियुक्त, प्रेरित) पुरुष अपने किसी व्यापार में नियुक्त किया जाता है। ब्रह्मवाक्य में व्यापार का अभाव है। यहाँ प्रपञ्च प्रविलयवादी कहता है कि द्वैत प्रपञ्च का प्रविलय नियोग (विधि) का विषय होगा। जिससे द्वैतप्रपञ्च को प्रविलापित (नष्ट) किये बिना ब्रह्म तत्त्व का अवबोध (अनुभव) नहीं होता है। अतः ब्रह्मतत्त्व के अवबोध का विरोधी प्रतिबन्धक रूप द्वैत प्रपञ्च का प्रविलय कर्तव्य है। जैसे स्वर्ग की इच्छा वालों के प्रति अनुष्ठान के योग्य (कर्त्तव्य) याग का उपदेश दिया जाता है। इसी प्रकार अपवर्ग की इच्छावाले मुमुक्षुओं के प्रति प्रपञ्च प्रविलय का उपदेश दिया जाता है। जैसे अन्धकार में वर्तमान घटादि वस्तु को

समझने की इच्छा वालों से उस ज्ञान के विरोधी अन्धकार का प्रविलय किया जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व को जानने की इच्छा वालों से उस ज्ञान के विरोधी प्रपञ्च का प्रविलय कर्तव्य है। यदि कहा जाय कि प्रपञ्च रूपता को ब्रह्म ने ही धारण किया है। इससे प्रपञ्च के प्रविलय से ब्रह्म का प्रविलय प्राप्त होगा। वहाँ कहा जाता है कि ब्रह्मस्वभाव वाला (ब्रह्म की सत्ता से सत्ता वाला) प्रपञ्च है। प्रपञ्चस्वभाव वाला ब्रह्म नहीं है स्वतः सत्य स्वरूप है। कार्य रूप कारण की सत्ता नहीं होती है, कारण रूप कार्य की सत्ता होती है, इससे कार्य के प्रविलय से कारण मात्र अवशेष रहेगा उसका प्रविलय नहीं होगा। जिससे नामरूपात्मक प्रपञ्च के प्रविलायन के द्वारा ब्रह्म तत्त्व का अवबोध (अनुभव) होता है। ऐसी शंका होने पर भाष्यकार कहते हैं कि हम यहाँ पूछते हैं कि यह प्रपञ्च का प्रविलय नाम कौन पदार्थ है। क्या अग्नि के प्रताप (तेज) के सम्बन्ध से घृत की कठिनता के प्रविलय के समान प्रपञ्च का प्रविलय कर्तव्य है। अथवा एक चन्द्र में तिमिररूप नेत्र के दोष से किये गये (भासित) अनेक चन्द्र प्रपञ्च के समान ब्रह्म में अविद्या कृत नामरूप का प्रपञ्च विद्या से प्रविलय करने योग्य है। वहाँ यदि देहादिरूप आध्यात्मिक और पृथिवी आदि रूप बाह्य विद्यमान यह प्रपञ्च प्रविलय करने योग्य है, यह कहा जाता है, तो वह विद्यमान सत्य प्रपञ्च पुरुष मात्र से प्रविलायन (नाशन) के लिए अशक्य है, इससे उस प्रपञ्च का प्रविलय विषयक उपदेश अशक्य विषयक ही होगा। और एक आदि मुक्त से पृथिवी आदि का प्रविलय किया जा चुका है, इससे इस समय पृथिवी आदि से शून्य जगत् को होना चाहिए; अर्थात् एक के मुक्त होते ही जगत् का अभाव हो गया होता यदि कहें कि एक ब्रह्म में अविद्या से अध्यस्त (कल्पित) यह प्रपञ्च विद्या से प्रविलीन किया जाता है। तब तो अविद्या से अध्यस्त प्रपञ्च का प्रत्याख्यान (निषेध) के द्वारा ब्रह्म ही आवेदन (उपदेश) के योग्य है कि (एक द्वैत रहित ब्रह्म है। वह सबका कारण परम सूक्ष्म सत् स्वरूप जो वस्तु है वह सत्य है। वह आत्मा है, वही तुम हो) उस ब्रह्म के आवेदित (उपदिष्ट) होने पर अधिकारी में विद्या स्वयं ही उत्पन्न होती है, प्रपञ्च विलय से नहीं उत्पन्न होती है, और उस विद्या से अविद्या बाधित होती है (मिथ्या निश्चित होती है निवृत्त होती है) तब कारण के अभाव से अविद्या से अध्यस्त सम्पूर्ण यह नामरूप का प्रपञ्च स्वप्नप्रपञ्च के समान प्रविलीन होता है। ब्रह्म के अनावेदित (अनुपदिष्ट) होते तो, ब्रह्मविज्ञान करो, और प्रपञ्च का प्रविलय करो इस प्रकार सौ बार कहने पर भी, न ब्रह्मविज्ञान उत्पन्न होता है, न प्रपञ्च का प्रविलय उत्पन्न होता है। शंका होती है कि ब्रह्म के आवेदित (उपदिष्ट) होने पर ब्रह्मविज्ञान-विषयक वा प्रपञ्चविलयविषयक नियोग (विधि) होगा। वहाँ कहा जाता है कि ब्रह्मतत्त्व के आवेदन से ही विज्ञान और प्रविलय दोनों के सिद्ध होने से विधि की जरूरत नहीं है, उपदेश से सिद्ध फल के लिए विधि निरर्थक है। रज्जु के स्वरूप के प्रकाशन से ही उसके स्वरूप का विज्ञान, और अविद्या से अध्यस्त सर्पादि का प्रविलय होता है,

विधि से नहीं। किया हुआ सिद्ध कार्य ही फिर नहीं किया जाता है। नियोग का विषय नियोज्य (प्रवर्त्य) के अभाव से भी यहाँ नियोग नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रपञ्चावस्था में जो जीव नाम वाला नियोज्य भी अवगत (ज्ञात) होता है, वह या तो प्रपञ्च पक्ष का (प्रपञ्च के अन्तर्गत) होगा, या तो ब्रह्म पक्ष का होगा। वहाँ प्रथम विकल्प में प्रपंच पक्ष के जीव के होने पर निष्प्रपंच ब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादन द्वारा पृथिवी आदि के समान जीव के प्रविलापित (बाधित) होने से किस को प्रपंच के प्रविलय में नियोग कहा जायगा। वा नियोग में निष्ठता (स्थिरता) से प्राप्त होने योग्य मोक्ष किसका कहा जायगा। दूसरे विकल्प में भी अनियोज्य स्वभाव वाला ब्रह्म ही जीव का स्वरूप है। उसमें जीवत्व अविद्याकृत ही है, इस प्रकार ब्रह्म के प्रतिपादित उपदिष्ट होने पर नियोज्य के अभाव से नियोग का अभाव ही सिद्ध होता है। यदि कहो कि (आत्मा द्रष्टव्यः) इत्यादि विधि वाक्यों की क्या गति होगी कि यदि नियोग का अभाव है, तो कहा जाता है कि परविद्याप्रकरण में पठित द्रष्टव्यादि शब्द भी, तत्त्व के अभिमुखकरणप्रधान वाले हैं, अर्थात् तत्त्व के अभिमुख करने में उनका तात्पर्य है, तत्त्व के अनभिमुख को तत्त्व के अभिमुख करना ही जिनका प्रधान कार्य है, ऐसे वे शब्द हैं, तत्त्वबोध का विधानरूप प्रधान (तात्पर्य) वाले नहीं हैं, लोक में भी इसको देखो, इसको सुनो, इस प्रकार के निर्देशों (विधियों, आज्ञाओं) में प्रणिधान (चित्त सावधान) मात्र करो यह कहा जाता है। साक्षात् ज्ञान ही करो, ऐसा नहीं कहा जाता है। ज्ञेय के अभिमुख को भी कभी ज्ञान होता है, कभी नहीं होता है, इससे उस ज्ञेयाभिमुख के प्रति, अर्थात् सावधान जिज्ञासु के प्रति उसे समझाने की इच्छावाले गुरु द्वारा ज्ञान का विषय ही उपदेश से दर्शाने योग्य होता है और उस ज्ञान के विषय के दर्शित (उपदिष्ट) आदि होने पर विषय और प्रमाण के अनुसार ज्ञान स्वयं ही उत्पन्न होता है। प्रमाणान्तर से अन्यथा (अन्यरूप से) प्रसिद्ध अर्थ विषयक नियुक्त को भी अन्यथा ज्ञान (प्रसिद्धि से विपरीत ज्ञान) नहीं उत्पन्न होता है और स्त्री आदि को अग्नि से भिन्न समझते हुए भी उपासक यदि समझता है कि मैं इन्हें अग्नि रूप से चिन्तन के लिए शास्त्रादि से नियुक्त (आज्ञप्त) हूँ, और ऐसा समझ कर अन्यथा ज्ञान (अग्नि ज्ञान) करता है। शालग्राम में चतुर्भुजादि ज्ञान करता है, तो वस्तुतः वह ज्ञान नहीं है, किन्तु आज्ञाजन्य वह मानसी क्रिया है। नियोग के बिना स्वयं यदि, अन्यथा ज्ञान उत्पन्न हो तो वह भ्रांति ही होगी। ज्ञान तो प्रमाणजन्य और जैसा विषय रहता है वैसा ही होता है। प्रमाण और विषय के बिना सैकड़ों नियोगों से ज्ञान कराया नहीं जा सकता है। प्रमाण तथा विषय के उपस्थित रहते सैकड़ों निषेधों से ज्ञान का वारण नहीं किया जा सकता है, जिससे वह ज्ञान पुरुष के अधीन नहीं है, किन्तु वस्तु के अधीन ही वह ज्ञान है, इससे भी नियोग का अभाव है। दूसरी बात है कि नियोग (विधि) निष्ठता रूप से ही आम्नाय (वेदान्त) के पर्यवसन्न (निश्चित) होने पर, अनियोज्य ब्रह्मात्मता जो जीव को माना गया है, वह प्रमाणरहित ही होगा।

यदि शास्त्र ही जीव की अनियोज्य ब्रह्मात्मता को भी कहे, और उसके ज्ञान में पुरुष को नियुक्त भी करे, तो एक ही ब्रह्मविषयक शास्त्र को दो अर्थ की प्रतिपादकता और विरुद्धार्थ प्रतिपादकता प्राप्त होगी। वेदान्त की नियोगपरता (नियोग में तात्पर्य) को मानने पर श्रुत ब्रह्मार्थ की हानि (त्याग) होगी और अश्रुत विधि की कल्पना होगी। विधि की कल्पना होने पर, कर्मफल के समान मोक्षरूप फल को भी अदृष्ट (धर्म) जन्यत्व और अनित्यादि रूप दोष किसी से निवारण नहीं किये जा सकेंगे। इससे ज्ञान में निष्ठा (स्थिति) वाले ही ब्रह्म वाक्य हैं, नियोगनिष्ठ नहीं हैं, यह सिद्ध होता है। इससे एक नियोग की प्रतीति से साकार निराकार वाक्यों की एकवाक्यता है यह कथन अयुक्त है। ब्रह्मबोधक वाक्यों में नियोग की सत्ता को मानने पर भी, निष्प्रपञ्च ब्रह्म के उपदेशों और सप्रपञ्च ब्रह्म के उपदेशों में उस नियोग का एकत्व असिद्ध है, क्योंकि यजति, ददाति, इत्यादि शब्दभेद, प्रकरणभेदादि रूप प्रमाणों से नियोग के भेद के अवगत होते, सर्वत्र एक नियोग है, ऐसा आश्रयण स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार यहाँ वेद, उपासीत, इत्यादि शब्दभेद प्रकरणभेदादि हैं और प्रयाज-दर्शपूर्णमास वाक्यों में तो अधिकारांश द्वारा अभेद होने से, अर्थात् अङ्गयुक्त प्रधानयाग में एक स्वर्गेच्छु का अधिकार होने से, साङ्गयज्ञ से साध्य फलार्थक अपूर्व (अदृष्ट) के एक होने से वह नियोग की एकता युक्त है। यहाँ सगुण-निर्गुण विधियों में कोई अधिकारांश एकत्व को सिद्ध करनेवाला नहीं है, अर्थात् एकत्व को नियोग में सिद्ध करने वाला फलादि वा अधिकारी का कोई विशेषण नहीं है। मुमुक्षु और अभ्युदयेच्छु अधिकारी के भेद से निर्गुण-सगुण विद्याओं में अङ्गाङ्गिभाव नहीं है, इससे नियोग की एकता नहीं है। अङ्गाङ्गिभाव नहीं होने से ही उपकार्य-उपकारक भाव नहीं है। रूपत्वादि गुण प्रपञ्च प्रविलय के उपकारक नहीं हैं, न प्रपञ्च प्रविलय ही भारूपत्वादि गुणों का उपकारक है, क्योंकि इन्हें परस्पर विरोधित्व है। जिससे एकधर्मी (ब्रह्म) में सम्पूर्ण प्रपञ्च का प्रविलापन और भारूपत्व सत्यकामत्व मनोमयत्वादि रूप प्रपञ्च के एकदेश का अपेक्षण (स्थापन) का समावेश करना युक्त नहीं हो सकता है, इससे भाष्यकार कहते हैं कि हम से कहा गया हुआ ही साकार-निराकार उपदेशों का विभाग युक्ततर है (अत्यन्त युक्त है) ॥ २१ ॥

प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण (६)

ब्रह्मापि नेति नेतीति निषिद्धमथवा नहि। द्विरुक्त्या ब्रह्मजगती निषिध्येते उभे अपि ॥
ब्रह्मापि नेति नेतीति निषिद्धमथवा नहि। —

अनिदं सत्यसत्यं च ब्रह्मैकं शिष्यतेऽवधिः ॥
वीप्सेयमितिशब्दोक्ता सर्वदृश्यनिषिद्धये।

'नेति-नेति' यह श्रुति, पूर्व में प्रधानरूप से प्रकृत ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त स्वरूप मात्र एतावत्त्व (परिच्छिन्नत्व) का प्रतिषेध करती है, ब्रह्म मूर्तामूर्त के विशेषण होने से अप्रधान है, उसको निषेध के साथ सम्बन्ध नहीं है। यह कैसे समझा जाता है, तो जिससे उस निषेध के अनन्तर फिर ब्रह्म का ही कथन उपदेश श्रुति करती है।

यहाँ संशय होता है कि पूर्वनिर्दिष्ट सब वस्तु की इति शब्द से उपस्थिति द्वारा ब्रह्म भी नेति-नेति शब्द से निषिद्ध होता है अथवा ब्रह्म नहीं निषिद्ध होता है। पूर्वपक्ष है कि द्विवार के कथन द्वारा शून्यवाद के अभिप्राय से ब्रह्म और मूर्तामूर्तात्मक जगत् दोनों का निषेध किया जाता है। सिद्धान्त है कि इति शब्द इदन्ता विषयरूप से ज्ञेय वस्तु का बोधक है, इससे मूर्तामूर्त से उपलक्षित अनात्ममात्र सर्व दृश्य का निषेध के लिये यह इति शब्द से कही गई वीप्सा इच्छा विषय व्याप्ति है। इस व्याप्ति से युक्त न शब्द सभी इदं का ही निषेध करता है, इससे सत्य का सत्य अनिदंरूप एकब्रह्म निषेध का अवधिरूप से शेष रहता है उसका निषेध नहीं हो सकता है ॥ १–२ ॥

प्रकृतैतावत्त्वे हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' मर्त्यं चामर्त्यं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च (बृ० २।३।१) इत्युपक्रम्य पञ्चमहाभूतानि द्वैराश्येन प्रविभज्यामूर्तरसस्य च पुरुषशब्दोदितस्य माहारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वा पुनः पठ्यते—'अथात आदेशो नेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति' (बृ० २।३।६) इति। तत्र कोऽस्य प्रतिषेधस्य विषय इति जिज्ञासामहे। नह्यत्रेदं तदिति विशेषितं किंचित्प्रतिषेध्यमुपलभ्यते। इतिशब्देन त्वत्र प्रतिषेध्यं किमपि समर्प्यते नेति नेतीतिपरत्वान्नञ्प्रयोगस्य इतिशब्दश्चायं संनिहितालम्बन एवंशब्दसमानवृत्तिः प्रयुज्यमानो दृश्यते 'इति ह स्मोपाध्यायः कथयति' इत्येवमादिषु। संनिहितं चात्र प्रकरणसामर्थ्याद्रूपद्वयं सप्रपञ्चं ब्रह्मणः, तच्च ब्रह्म यस्य ते द्वे रूपे, तत्र नः संशय उपजायते—किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयमपि प्रतिषेधत्याहोस्विदेकतरम्। यदाप्येकतरं तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति रूपे परिशिनष्ट्याहोस्विद्रूपे प्रतिषेधति ब्रह्म परिशिनष्टीति। तत्र प्रकृतत्वाविशेषादुभयमपि प्रतिषेधतीत्याशङ्कामहे। द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ द्विर्नेतिशब्दप्रयोगात्। तयोरेकेन सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं प्रतिषिध्यतेऽपरेण रूपवद्ब्रह्मेति भवति मतिः। अथवा ब्रह्मैव रूपवत्प्रतिषिध्यते तद्धि वाङ्मनसातीतत्वादसंभाव्यमानसद्भावं प्रतिषेधार्हम्, नतु रूपप्रपञ्चः प्रत्यक्षादिगोचरत्वात्प्रतिषेधार्हः। अभ्यासस्त्वादरार्थ इति।

ब्रह्म के दो ही रूप हैं, एक मूर्त ही है, जो तेज, जल, भूमिरूप है और एक अमूर्त ही है जो वायु, आकाशरूप है, यहाँ मूर्त ही मर्त्य (मरणशील), स्थित (परिच्छिन्न) और सत् (विशेष प्रत्यक्ष धर्म वाला) है। अमूर्त ही अमर्त्य, यत् और त्यत् है। इस प्रकार उपक्रम करके पाँच महाभूतों को उक्त रीति से दो राशि(पुञ्ज)रूप से विभाग करके और अमूर्त का रस(सार) रूप पुरुष शब्द से कथित हिरण्यगर्भ सूक्ष्म शरीर के महारजन (हलदी से रँगा हुआ वस्त्र) आदि तुल्य विचित्र रूपों को दर्शा कर फिर

पढ़ा जाता है कि (मूर्तामूर्त के निर्देश के अनन्तर जिससे अवशिष्ट उपदेश योग्य मूर्तामूर्त रहित ब्रह्म ही है, इससे अब नेति-नेति यह ब्रह्म का आदेश (उपदेश) है, नेति-नेति इससे अन्य पर (उत्तम) निर्देशन (उपदेश) नहीं है। यहाँ जिज्ञासा करते हैं, जानना चाहते हैं कि इस निषेध का विषय क्या है, जिससे यहाँ प्रतिषेध के योग्य विशेष रूप निर्दिष्ट नहीं उपलब्ध होता है कि वह निषेधार्ह यह है। इति शब्द से तो यहाँ कोई प्रतिषेध योग्य सामान्य रूप से समर्पित (प्राप्त) होता है, जिससे नेति-नेति यहाँ इति शब्द जिससे परे है ऐसा नञ् (न) शब्द का प्रयोग है, इससे सामान्य अर्थ समर्पित होता है। सामान्य अर्थ को कहने वाला भी यह इति शब्द एवं शब्द के समान वृत्ति (शक्ति) वाला होने से सन्निहित आलम्बन (विषय) में ही प्रयुज्यमान प्रयुक्त उच्चारित देखा जाता है, जैसे कि (यह उपाध्याय ने कहा) इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त होता है। यहाँ प्रकरण के सामर्थ्य से ब्रह्म के सप्रपञ्च (विस्तारयुक्त) दो रूप सन्निहित (पास में) हैं। ब्रह्म वह है जिसके दो रूप हैं। यहाँ हमें संशय होता है कि क्या यह प्रतिषेध दोनों रूप और रूप वाला दोनों का प्रतिषेध करता है, अथवा दोनों में से एक का प्रतिषेध करता है, और जब एक का प्रतिषेध करता है, तब भी क्या ब्रह्म का प्रतिषेध करता है, और दो रूपों को परिशेष रखता है, अथवा दोनों रूपों का प्रतिषेध करता है, और ब्रह्म को परिशेष रखता है। यहाँ प्रकृतत्व के अविशेष (तुल्य) होने से रूप और ब्रह्म दोनों का ही प्रतिषेध करता है इस प्रकार पूर्वपक्षीरूप से आशङ्का कर सकते हैं। दो बार नेति शब्द के प्रयोग से ये दो प्रतिषेध हैं। उन दोनों में से एक नेति के द्वारा सप्रपञ्च ब्रह्म का रूप प्रतिषिद्ध होता है और दूसरे द्वारा रूप वाला ब्रह्म प्रतिषिद्ध होता है, ऐसी मति (प्रतीति) होती है। अथवा रूप वाले ब्रह्म का ही प्रतिषेध किया जाता है, मन, वाणी का अविषय होने से असम्भावित सत्ता वाला वह ब्रह्म प्रतिषेध के योग्य है और प्रत्यक्षादि का विषय होने से रूप प्रपञ्च प्रतिषेध के योग्य नहीं है। नेति का अभ्यास तो आदर के लिए है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात्। किंचिद्धि परमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः। तच्च परिशिष्यमाणे कस्मिंश्चिद्भावेऽवकल्प्यते। कृत्स्नप्रतिषेधे तु कोऽन्यो भावः परिशिष्येत। अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन्य इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः। नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २।१।१) इत्याद्युपक्रमविरोधात्। 'असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' (तैत्ति० २।६।१) इत्यादिनिन्दाविरोधात्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठ० ६।१३) इत्यवधारणविरोधात्, सर्ववेदान्तव्याकोपप्रसङ्गाच्च। वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते, नहि महता परिकरबन्धेन 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१)

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवमादिना वेदान्तेषु ब्रह्म प्रतिपाद्य तस्यैव पुनरभावोऽभिलप्येत। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति हि न्यायः।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि शून्यवाद की प्राप्ति से दोनों का निषेध तो उपपन्न नहीं हो सकता है। किसी परमार्थ (सत्य) का अवलम्ब लेकर असत्य का प्रतिषेध किया जाता है। जैसे कि रज्जु आदि में सर्पादि का प्रतिषेध किया जाता है। वह परमार्थ का अवलम्बन और प्रतिषेधन किसी भाव वस्तु के परिशेष रहते ही सिद्ध होता है। सब का प्रतिषेध करने पर तो अन्य भाव कौन परिशेष रहेगा कि जिसके अवलम्बन से प्रतिषेध होगा। निरधिष्ठान प्रतिषेध का असंभव है, अधिष्ठान की प्रमा से ही कल्पित की निवृत्ति के लिए उपदेश होता है। अन्य भाव के अपरिशेष रहने पर, जिस इतर पदार्थ का प्रतिषेध आरम्भ किया जाता है, अधिष्ठान प्रमा के बिना उसी का प्रतिषेध के अशक्य होने से उसी को परमार्थत्व (सत्यत्व) की प्राप्ति से प्रतिषेध की अनुपपत्ति होगी। ब्रह्म का प्रतिषेध भी उपपन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म के निषेध पक्ष में (तेरे लिए ब्रह्म कहूँगा) इत्यादि उपक्रम से विरोध होगा। (ब्रह्म असत् है ऐसा जो जानता है वह स्वयं असत् होता है) इत्यादि निन्दा विरोध से, और (ब्रह्म है, आत्मा है, ऐसा ही समझना चाहिए) इस अवधारण के विरोध से, और सब वेदान्त का बाधविरोध की प्राप्ति से ब्रह्म का निषेध नहीं हो सकता है। ब्रह्म के वाक् और मन का अविषयत्व भी ब्रह्म के अभाव के अभिप्राय से नहीं कहा जाता है, जिससे (ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होता है। सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म) इत्यादि महान् परिकर (प्रयत्न) के प्रबन्ध द्वारा वेदान्तों में ब्रह्म का प्रतिपादन करके फिर उसी का अभाव नहीं कहा जा सकता है। लौकिक न्याय है कि (पङ्क देह में लगा कर उसे धोने की अपेक्षा दूर स्थिति से उसका स्पर्श नहीं करना श्रेष्ठ है)।

प्रतिपादनप्रक्रिया त्वेषा 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) इति। एतदुक्तं भवति—वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपातिप्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति। तस्माद्ब्रह्मणो रूपप्रपञ्चं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यम्। तदेतदुच्यते प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति। प्रकृतं यदेतावदियत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेष शब्दः प्रतिषेधति। तद्धि प्रकृतं प्रपञ्चितं च पूर्वस्मिन्ग्रन्थेऽधिदैवतमध्यात्मं च, तज्जनितमेव च वासनालक्षणमपरं रूपममूर्तरसभूतं पुरुषशब्दोदितं लिङ्गात्मव्यपाश्रयं माहारजनाद्युपमाभिर्दर्शितम्। अमूर्तरसस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोगित्वानुपपत्तेः। तदेतत्सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं संनिहितालम्बनेनेतिकरणेन प्रतिषेधकनञ्प्रत्युपनीयत इति गम्यते। ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन षष्ठ्या निर्दिष्टं पूर्वस्मिन्ग्रन्थे न स्वप्रधानत्वेन। प्रपञ्चिते च

तदीये रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम् 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति। तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरू- पावेदनमिदमिति निर्णीयते।

(मन सहित वाक् जिस में नहीं पहुँच कर लौटता है) यह तो ब्रह्म को प्रतिपादन करने की प्रक्रिया (प्रकार) है। इससे यह उक्त (वर्णित) होता है कि ब्रह्म मन वाक् का अविषय है, अत एव विषयों के अन्तःपाती (मध्यवर्ती) नहीं है, इससे सबका प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) स्वरूप और नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त स्वभाव है। अर्थात् अन्तरात्मा होते भी कर्ता-भोक्ता आदि स्वरूप नहीं किन्तु साक्षिमात्र ब्रह्म है। इसी से नेति-नेति यह श्रुति ब्रह्म के मायामय रूप प्रपञ्च का प्रतिषेध करती है और ब्रह्म को परिशेष रखती है। ऐसा अभ्युपगम (स्वीकार, अनुभव) करना चाहिए। इससे यह कहा जाता है कि (प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति) इति। प्रकृत (प्रकरण में प्राप्त) जो एतावत् इयत्ता से परिच्छिन्न (परिमित) मूर्त और अमूर्त स्वरूप ब्रह्म का रूप है उसका नेति-नेति यह शब्द प्रतिषेध करता है, जिससे वही अधिदैवत और अध्यात्म ब्रह्म का रूप पूर्वग्रंथ में प्रकृत है—प्रपञ्चित (विस्तार से वर्णित) है। उसी से उत्पन्न हुआ ही वासना स्वरूप ब्रह्म का अन्य रूप है। जो अमूर्त का रस स्वरूप, पुरुष शब्द से वर्णित, लिङ्गात्मा (हिरण्यगर्भ) आश्रित, और महा-रजनादि उपमाओं के द्वारा दर्शित है। जिससे अमूर्त के रस (सार) रूप पुरुष को चक्षु से ग्रहण योग्य रूप के योगित्व (संबन्धित्व) की अनुपपत्ति है। इससे वह वासना मय रूपों से उपमित होता है। प्रसिद्ध रूप वाला नहीं होता है। इससे यह विस्तार-युक्त ब्रह्म का रूप सन्निहित विषयक इति शब्दरूप करण (साधन) के द्वारा प्रतिषेधक नञ् (न) शब्द के प्रति प्रतियोगी (निषेध्य) रूप से उपनीत (प्राप्त, समर्पित) किया जाता है। ऐसी प्रतीति होती है। यद्यपि ब्रह्म अर्थ स्वरूप से प्रधान है, उसका सम्बन्ध होना चाहिये, तथापि शब्दार्थ रूप से, रूप के विशेषण रूप से षष्ठी विभक्ति द्वारा पूर्वग्रन्थ में ब्रह्म निर्दिष्ट है, स्वयं प्रधानरूप से नहीं निर्दिष्ट है, इससे ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। उस ब्रह्म के मूर्तामूर्त दो रूप के प्रपञ्चित (सविस्तर निरूपित) होने पर, उससे रूप वाले ब्रह्म की जिज्ञासा (ज्ञानेच्छा) होने पर, यह उपक्रान्त (आरब्ध) हुआ है कि (रूप के निर्देश के अनन्तर नेति-नेति यह उपदेश है) यहाँ कल्पित रूपों के प्रत्याख्यान के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का यह आवेदन (उपदेश) है, ऐसा निर्णय होता है।

तदास्पदं हीदं समस्तं कार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धम्। युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनं ननु ब्रह्मणः, सर्वकल्पनामूलत्वात्। न चात्रेयमाशङ्का कर्तव्या—कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति—'प्रक्षा- लनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति, यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन

ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति, लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवद्यम्। द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ यथासंख्यन्यायेन द्वे अपि मूर्तामूर्ते प्रतिषेधतः । यद्वा पूर्वः प्रतिषेधो भूतराशिं प्रतिषेधत्युत्तरो वासनाराशिम् प्रतिषेधति। अथवा 'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति वीप्सेयमितीति यावत्किंचिदुत्प्रेक्ष्यते तत्सर्वं न भजतीत्यर्थः।

ब्रह्म जिस का आस्पद (प्रतिष्ठा, आश्रय) है ऐसा यह सम्पूर्ण कार्य नेति-नेति इससे प्रतिषिद्ध होता है। कार्य को (वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्) इत्यादि वाचारम्भण श्रुति आदि से असत्त्व (मिथ्यात्व) है, इससे नेति-नेति इससे उस कार्य का प्रतिषेधन युक्त है। सब कल्पना के मूल सर्वाधिष्ठान होने से ब्रह्म का निषेध युक्त नहीं है। यहाँ यह भी आशंका नहीं करने योग्य है कि, ब्रह्म के दो रूपों को स्वयं ही दर्शा कर फिर शास्त्र स्वयं ही प्रतिषेध कैसे करता है (पंक लगा कर धोने की अपेक्षा दूर स्थिति से पंक का स्पर्श नहीं करना श्रेष्ठ है) अर्थात् जिसका निषेध करना हो उसका निरूपण ही नहीं करना श्रेष्ठ है। जिससे यह शास्त्र ब्रह्म के दो रूपों का प्रतिपादन योग्य रूप से निर्देश नहीं करता है, किन्तु लोक में प्रसिद्ध ब्रह्म में कल्पित इन दोनों रूपों की प्रतिषेध्यता और शुद्ध ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन के लिए रूपों का निर्देश शास्त्र करता है, अर्थात् रूपों के प्रतिषेध द्वारा शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान के लिए रूप का निर्देश है, इससे निर्दोष है। नेति-नेति ये दो प्रतिषेध हैं; वह (यथासंख्यमनुदेशः समानाम्) उद्देश्य विधेय अर्थ के सम संख्यक होने पर क्रम के अनुसार सम्बन्ध होता है। इस यथासंख्य न्याय से मूर्त और अमूर्त दोनों ही का प्रतिषेध करते हैं। अथवा पूर्व प्रतिषेध भूतसमूह का प्रतिषेध करता है, उत्तर प्रतिषेध वासनावृन्द का प्रतिषेध करता है। अथवा नेति-नेति यह वीप्सा (व्याप्तिबोधक) है। इससे जो कुछ अनात्म वस्तु उत्प्रेक्षित (कल्पित) होती है, वह ब्रह्म नहीं है यह अर्थ है।

परिगणितप्रतिषेधे हि क्रियमाणे यदि नैतद्ब्रह्म किमन्यद्ब्रह्म भवेदिति जिज्ञासा स्यात्, वीप्सायां तु सत्यां समस्तस्य विषयजातस्य प्रतिषेधादविषयः प्रत्यगात्मा ब्रह्मेति जिज्ञासा निवर्तते। तस्मात्प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि कल्पितं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णयः। इतश्चैष एव निर्णयः। यतस्ततः प्रतिषेधाद् भूयो ब्रवीति 'अन्यत्परमस्ति' (बृ० २।३।६) इति। अभावावसाने हि प्रतिषेधे क्रियमाणे किमन्यत्परमस्तीति ब्रूयात्। तत्रैषाक्षरयोजना—नेति नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति, नेति नेतीत्यस्य कोऽर्थः, नह्येतस्माद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेति नेतीत्युच्यते न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः। तच्च दर्शयति 'अन्यत्परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्ती'ति। यदा पुनरेवमक्षराणि योज्यन्ते नह्येतस्मादिति नेति नेति, नहि प्रपञ्चप्रतिषेधरूपादादेशनादन्यत्परमादेशनं ब्रह्मणोऽस्तीति। तदा ततो ब्रवीति च भूय इत्येतन्नाम-

धेयविषयं योजयितव्यम् । अथ नामधेयम्—'सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् इति हि ब्रवीति' (बृ० २।१।२०) इति । तच्च ब्रह्मावसाने प्रतिषेधे समञ्जसं भवति, अभावावसाने तु प्रतिषेधे किं सत्यस्य सत्यमित्युच्येत । तस्माद् ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसान इत्यध्यवस्यामः ॥ २२ ॥

जिससे परिगणित का प्रतिषेध करने पर, यदि यह प्रतिषिद्ध मूर्त-अमूर्त ब्रह्म नहीं है, तो कोई अन्य ब्रह्म होगा, ऐसी जिज्ञासा हो सकती है। वीप्सा के होने पर तो समस्त विषय समूह का प्रतिषेध होने से अविषयरूप अन्तरात्मा ब्रह्म है ऐसा निश्चय होने से जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है। इससे ब्रह्म में कल्पित प्रपञ्च का ही श्रुति प्रतिषेध करती है। ब्रह्म को परिशेष सिद्ध करती है यह निर्णय है। इससे भी यही निर्णय है कि जिससे उस प्रतिषेध के बाद फिर श्रुति कहती है कि (अन्य परब्रह्म है) अभावरूप अवसान (समाप्ति) वाला निषेध के करने पर अन्य पर है इस प्रकार किस को कहेगी। यहाँ इस प्रकार अक्षर (पद) की योजना (अन्वय) है कि नेति-नेति इस प्रकार ब्रह्म का आदेश (निर्वचन) करके, उसी आदेश का फिर निर्वचन करती है कि, नेति-नेति इसका क्या अर्थ है कि इस ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है, इससे नेति-नेति ब्रह्म कहा जाता है और स्वयं ब्रह्म ही नहीं है, ऐसा अर्थ नहीं है। वही दर्शाती है कि (मूर्तामूर्तादि से अन्य अप्रतिषिद्ध परब्रह्म है) जब इस प्रकार अक्षर योजित (अन्वित) होते हैं कि (न हि एतस्मात् नेति नेति) प्रपञ्च का निषेधरूप ब्रह्म का आदेशन (उपदेश) से अन्य परमादेशन ब्रह्म का नहीं है। तब (ततो ब्रवीति च भूयः) इस सूत्रभाग की नामधेय विषयक योजना करनी चाहिये (अनन्तर में उस ब्रह्म का नामधेय-नाम-सत्य का सत्य वह है जिससे प्राण सत्य है; उनका भी सत्य स्वरूप ब्रह्म है, इससे ब्रह्म का, सत्य का, सत्य नाम है इस प्रकार श्रुति कहती है। वह कथन ब्रह्मावसान वाला प्रतिषेध के होने पर युक्त होगा। अभावावसान वाला प्रतिषेध के होने पर तो सत्य का सत्य इससे क्या कहा जायगा इससे ब्रह्मावसान यह प्रतिषेध है, अभावावसान नहीं है। ऐसा निश्चय करते हैं ॥ २२ ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

यत्प्रतिषिद्धात्प्रपञ्चजातादन्यत्परं ब्रह्म तदस्ति चेत्कस्मान्न गृह्यत इति । उच्यते—तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात्, आह ह्येवं श्रुतिः—'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' (मुण्ड० ३।१।८) 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ३।९।२६) 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (मुण्ड० १।१।६) 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' (तै० २।७।१) इत्याद्या । स्मृतिरपि—'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (भ० गी० २।२५) इत्याद्या ॥ २३ ॥

शंका होती है प्रतिषिद्ध प्रपञ्च से अन्य जो पर ब्रह्म है, वह यदि वर्त्तमान है, तो हम सबसे गृहीत ज्ञात क्यों नहीं होता है। उत्तर कहा जाता है कि सर्वदृश्य के साक्षित्व से वह अव्यक्त (रूपादि रहित) है, अत एव इन्द्रियों से ग्रहण के योग्य नहीं है। जिससे इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (ब्रह्मात्मा चक्षु से गृहीत, ज्ञात नहीं होता है, न वाक् से गृहीत (कथित) होता है, न अन्य देव इन्द्रियों से गृहीत होता है, न तप वा कर्म से गृहीत होता है)। अतः यह आत्मा नेति-नेति निर्दिष्ट है, इन्द्रियों से ग्रहण के अयोग्य है, इससे इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता है। जो ज्ञान इन्द्रियों से अदृश्य और कर्मेन्द्रियों से अग्राह्य है वह ब्रह्म है। जब यह साधक अदृश्य, अशरीर, अवाच्य, निराधार ब्रह्म में अभय स्थिति का लाभ करता है, तब वह अभय को प्राप्त होता है। इत्यादि श्रुति है। (यह आत्मा अव्यक्त-इन्द्रियों का अविषय-अचिन्त्य-अनुमान का अविषय और विकार के अयोग्य निरवयव असंग कहा जाता है) इत्यादि स्मृति भी कहती है ॥ २३ ॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

अपि चैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः। संराधनं च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम्। कथं पुनरवगम्यते संराधनकाले पश्यन्तीति। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। तथाहि श्रुतिः—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' ॥ (क० ४।१) इति।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः (मु० ३।१।८) इति चैवमाद्या। स्मृतिरपि—

यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ इति चैवमाद्या ॥ २४ ॥

इन्द्रियादि से अग्राह्य भी निरस्त समस्त प्रपञ्च वाले अव्यक्त इस आत्मा का योगी लोग संराधन काल में दर्शन करते हैं। भक्ति, ध्यान और प्रणिधान (समाधि) आदि संराधन (सम्यक् आराधन) कहा जाता है। भक्ति और ध्यान से प्रत्यगात्मा के पूर्णरीति से चित्त में निधान (स्थापन) को प्रणिधान कहते हैं वह समाधि रूप है। भक्ति और ध्यान से प्रणिधान होता है। शंका होती है कि योगी लोग संराधन काल में दर्शन करते हैं, यह कैसे समझा जाता है। उत्तर है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से, अर्थात् श्रुति और स्मृति से समझा जाता है, सूत्रगत प्रत्यक्ष अनुमान शब्द का श्रुति स्मृति अर्थ है। वैसी ही श्रुति है कि (जिससे इन्द्रियाँ बाह्य विषयों में ही गमन करती हैं, इससे परमात्मा ने उनका हनन किया है। इसीसे जीव बाह्य विषय को देखता है अन्तरात्मा को नहीं देखता है, कोई धीर विवेकी अमृतत्व की इच्छा

करता हुआ इन्द्रियों का निरोधयुक्त होकर प्रत्यगात्मा को देखता है। कर्मादि से विशुद्ध अन्तःकरण वाला ज्ञान की स्वच्छतापूर्वक उस निरवयव का ध्यान करता हुआ उसका दर्शन करता है)। इत्यादि श्रुति का कथन है और (निद्रा प्रमादरहित, श्वास को जीतने वाले, सन्तुष्ट, संयतइन्द्रिय वाले युंजान-ध्यानशील योगी जिस ज्योतिस्वरूप आत्मा को देखते हैं। उस योग से लाभयोग्य आत्म के प्रति नमस्कार है ! सनातन उस भगवान् को योगी प्रत्यक्ष देखते हैं) इत्यादि स्मृति भी है ॥ २४ ॥

ननु संराध्यसंराधकभावाद्युपगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति, नेत्युच्यते—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥

यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा इवावभासन्ते, नच स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति, एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः स्वतस्त्वैकात्म्यमेव। तथाहि—वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते ॥ २५ ॥

जैसे प्रकाश, आकाश, सूर्य आदि, अङ्गुलि, कमण्डलु, जल आदि उपाधिस्वरूप कर्मों में सविशेष (भिन्न) के समान अवभासते प्रतीत होते हैं, परन्तु अपनी स्वाभाविक अविशेषात्मता (अभिन्नता) को नहीं त्यागते हैं। इसी प्रकार प्रकाश (चिदात्मा) भी ध्यानादि के कर्मरूप उपाधि में भिन्न के समान भासता है, इससे उपाधिनिमित्तक ही यह आत्मा का भेद है। स्वतः तो इस आत्म को एकात्मता रूप अविशेषता ही है। जिससे इसी प्रकार वेदान्तों में, तत्त्वमसि, इत्यादि के अभ्यास द्वारा बार-बार जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया जाता है। वह अभेद भी पूर्वोक्त संराधन कर्म विषयक अभ्यास श्रवण-मननपूर्वक निदिध्यासन के द्वारा शुद्ध प्रकाश ज्ञानरूप से समझा जाता है। इससे अव्यक्त के ज्ञान के लिये संराधन का अभ्यास कर्तव्य है, इत्यादि ॥२५॥

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

अतश्च स्वाभाविकत्वादभेदस्याविद्याकृतत्वाच्च भेदस्य विद्ययाऽविद्यां विधूय जीवः परेणानन्तेन प्राज्ञेनात्मनैकतां गच्छति। तथाहि लिङ्गम्—'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इत्यादि ॥ २६ ॥

इस अभेद की स्वाभाविकता से तथा भेद के अविद्यादि कृत औपाधिक होने से विद्या से अविद्या को नष्ट करने पर अनन्त प्रज्ञात्मा के साथ एकता को प्राप्त करता है तथा इस अभ्यास से एकता का अनुभव करता है। ऐसा ही लिङ्ग (हेतु-प्रमाण) है कि (अतः जो कोई परब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही होता है। ज्ञानी

जीवनकाल में ही ब्रह्मस्वरूप होता हुआ फिर विदेहकाल में ब्रह्म स्वरूपता को प्राप्त करता है) इत्यादि ॥ २६ ॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

तस्मिन्नेव संराध्यसंराधकभावे मतान्तरमुपन्यस्यति स्वमतविशुद्धये। क्वचिज्जीवप्राज्ञयोर्भेदो व्यपदिश्यते 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मुण्ड० ३।१।८) इति ध्यातृध्यातव्यत्वेन द्रष्टृद्रष्टव्यत्वेन च, 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३।२।८) इति गन्तृगन्तव्यत्वेन, 'यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' इति नियन्तृनियन्तव्यत्वेन च। क्वचित्तु तयोरेवाभेदो व्यपदिश्यते 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१) 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।३) इति। तत्रैवमुभयव्यपदेशे सति यद्यभेद एवैकान्ततो गृह्यते भेदव्यपदेशो निरालम्बन एव स्यात्, अत उभयव्यपदेशदर्शनादहिकुण्डलवदत्र तत्त्वं भवितुमर्हति, यथाहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनीति तु भेद एवमिहापीति ॥ २७ ॥

उक्त उस संराध्य-संराधक (उपास्य-उपासक) भाव में स्वमत की विशुद्धि के लिए सूत्रकार मतान्तर का उपन्यास करते हैं। कहीं जीव और प्राज्ञ (ईश्वर) के भेदों का ध्याता और ध्यातव्य (ध्येय) रूप से, द्रष्टा और द्रष्टव्य (दृश्य) रूप से व्यपदेश (कथन) किया जाता है कि (उस विशुद्धि के बाद उस आत्मा का ध्यान करता हुआ अधिकारी निरवयव आत्मा को देखता है) और कहीं गन्ता और गन्तव्य रूप से भेद का निर्देश किया जाता है कि (पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है) कहीं नियन्ता और नियन्तव्य रूप से भेद कहा जाता है कि (जो सब भूतों के अन्दर वर्तमान रहकर सबका नियमन, शासन करता है) और कहीं उसी जीव और प्राज्ञ के अभेद का व्यपदेश किया जाता है कि (तुम उस सत् ब्रह्म स्वरूप हो। मैं ब्रह्म हूँ। यह तेरा ही आत्मा सब के अन्दर वर्तमान है। यह तेरा ही आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है) इस प्रकार भेद और अभेद दोनों व्यपदेशों के रहते, वहाँ यदि अभेद ही निश्चित रूप से गृहीत (स्वीकृत) किया जाय तो भेद का व्यपदेश निराश्रय निर्विषय हो जायगा। इससे दोनों व्यपदेशों को देखने से अहि (सर्प) और उस सर्प के कुण्डलाकार के समान यहाँ तत्त्व (वस्तु) होने योग्य है। जैसे कि सर्प को सर्प रूप से अभेद है और कुण्डलाकार, वक्रता-पूर्णताकार, दीर्घाकारता आदि रूप से भेद है। इसी प्रकार यहाँ भी जीवरूप से भेद है, ब्रह्मरूप से जीव का अभेद है। इसी प्रकार ज्ञानरूपता और ज्ञानाश्रयता का व्यपदेश भी अहि-कुण्डल तुल्य है। ऐसा कोई कहते हैं ॥ २७ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

अथवा प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम्। यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता नात्यन्तभिन्नावुभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात्। अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवत एवमिहापीति ॥ २८ ॥

अथवा सूर्यादि का प्रकाश, और प्रकाश का आश्रय सूर्यादि के समान इस भेदाभेद को समझना चाहिए कि जैसे सूर्य का प्रकाश और उस प्रकाश का आश्रय सूर्य दोनों के तेजरूप स्वभाव होने से दोनों अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, इससे तेजरूप से ही भिन्न-अभिन्न हैं, और भेद व्यपदेश (व्यवहार) के भागी (आश्रय) होते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी एक आत्मत्वधर्म से ही श्रुति में भेदाभेद का व्यवहार होता है ॥ २८ ॥

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमिति तथैवैतद्भवितुमर्हति। तथाह्यविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते। यदि पुनः परमार्थत एव बद्धः कश्चिदात्माऽहिकुण्डलन्यायेन परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रय-न्यायेन चैकदेशभूतोऽभ्युपगम्येत ततः पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्तुम-शक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत, नचात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तु-ल्यवद्व्यपदिशति। अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति भेदं तु पूर्वप्रसि-द्धमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षया। तस्मात्प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमित्येष एव सिद्धान्तः ॥ २९ ॥

सिद्धान्त है, अथवा जैसे प्रथम प्रकाश आदि के समान जीव ईश्वर में अविशे-षता अभेद कहा गया है। उसी के समान यहाँ भी होने के योग्य है। जिससे इसी प्रकार अविद्याकृत बन्ध होने से विद्या से मोक्ष उत्पन्न होता है और यदि परमार्थरूप से ही अहि-कुण्डल न्याय से कोई बद्ध आत्मा परमात्मा का संस्थान (सन्निवेश, आकार) स्वरूप माना जाय और प्रकाशाश्रय न्याय से परमात्मा का एकदेश स्वरूप माना जाय तो, पारमार्थिक बन्ध का तिरस्कार (नाश) करना अशक्य होने से मोक्ष विधायक शास्त्र की व्यर्थता प्राप्त होगी। यहाँ भेद और अभेद के व्यपदेश को श्रुति तुल्यरूप से नहीं करती है। किन्तु अभेद का ही प्रतिपादनीयरूप से निर्देश करती है। पूर्वसिद्ध ही भेद का तो अर्थान्तर (उपासनादि) की विवक्षा से अनुवाद करती है। इससे प्रकाशादि के समान अविशेषता (अभेद) है, यही सिद्धान्त है ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

इतश्चैष एव सिद्धान्तः। यत्कारणं परस्मादात्मनोऽन्यच्चेतनं प्रतिषेधति शास्त्रम्—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३। २। २३) इत्येवमादि। 'अथात

आदेशो नेति नेति' (बृ० २ । ३ । ६) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २ । ५ । १९) इति च ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चनिराकरणाद् ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्चैष एव सिद्धान्त इति गम्यते ॥ ३० ॥

इससे भी यही सिद्धान्त है कि जिस कारण से परमात्मा से अन्य चेतन का शास्त्र प्रतिषेध करता है, कि (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि । (इसके बाद उपदेश है नेति-नेति) अतः यह ब्रह्म अपूर्व अनपर अनन्तर अबाह्य है । इस ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्च का निराकरण और ब्रह्ममात्र के परिशेष से यही सिद्धान्त है यह समझा जाता है ॥३०॥

पराधिकरण (७)

अस्त्यन्यद्ब्रह्मणो नो वा विद्यते ब्रह्मणोऽधिकम् । सेतुत्वोन्मानवत्त्वाच्च सम्बन्धाद्भेदवत्त्वतः ॥ धारणात्सेतुतोन्मानमुपास्त्यै भेदसंगतिः । उपाध्युद्भवनाशाभ्यां नान्यदन्यनिषेधतः ॥ २ ॥

(सेतुर्विधृतिः) इससे सेतु का व्यपदेश और चतुष्पादत्वादि उन्मान का व्यपदेश और सम्बन्ध तथा भेद के व्यपदेशों से सिद्ध है कि इस ब्रह्म से अन्य सत्य भी वस्तु है । यह पूर्वपक्षरूप सूत्र है । संशय है कि ब्रह्म से अन्य भी सत्य वस्तु है , अथवा नहीं है । पूर्वपक्ष है कि सेतुत्व उन्मानत्व सम्बन्ध और भेदवत्ता से अन्य वस्तु है, अन्य की सत्ता के बिना सेतुत्वादि के असम्भव से अन्य की सत्ता सिद्ध होती है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि मुख्य सेतुत्व का ब्रह्म में असम्भव है, इससे कल्पित के धारण से गौणी सेतुता है, वह द्युभ्वादि अधिकरण में भी कहा गया है और उपासना प्रकरण में पठित होने से उन्मान वचन उपासना के लिए है और उपाधि के उद्भव तथा नाश से भेद और सङ्गति (सम्बन्ध) का व्यवहार कथन होता है । अर्थात् उपाधि की उत्पत्ति से औपाधिक भेद होता है, और उपाधि के नाश से अभेदात्मक तादात्म्य सम्बन्ध होता है, अन्य के निषेध से अन्य वस्तु नहीं है ॥ २ ॥

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥

यदेतन्निरस्तसमस्तप्रपञ्चं ब्रह्म निर्धारितमस्मात्परमन्यत्तत्त्वमस्ति नास्तीति श्रुतिविप्रतिपत्तः संशयः । कानिचिद्धि वाक्यान्यापातेनैव प्रतिभासमानानि ब्रह्मणोऽपि परमन्यत्तत्त्वं प्रतिपादयन्तीव । तेषां हि परिहारमभिधातुमयमुपक्रमः क्रियते । परमतो ब्रह्मणोऽन्यत्तत्त्वं भवितुमर्हति । कुतः ? सेतुव्यपदेशादुन्मानव्यपदेशात्संबन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्चेति । सेतुव्यपदेशस्ताव —'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' (छा० ८ । ४ । १) इत्यात्मशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणः सेतुत्वं संकीर्तयति । सेतुशब्दश्च हि लोके जलसन्तानविच्छेदकरे मृद्दार्वादिप्रचये प्रसिद्धः । इह तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति लौकिकसेतोरिवातमसेतोरन्यस्य वस्तुनोऽस्तित्वं गमयति । 'सेतुं तीर्त्वा' (छा० ८ । ४ । २) इचि च तरतिशब्दप्रयोगात् । यथा लौकिकं सेतुं तीर्त्वा जाङ्गल-

मसेतं प्राप्नोतीत्येवमात्मानं सेतुं तीर्त्वाऽनात्मानमसेतुं प्राप्नोतीति गम्यते।

जो यह समस्त प्रपञ्च से रहित ब्रह्म निर्धारित हुआ है, उससे भिन्न अन्य तत्त्व (वस्तु) है वा नहीं है, श्रुतियों की विप्रतिपत्ति (विरोध) से यह संशय होता है। जिससे कितने कोई-कोई वाक्य आपात से, श्रवण मात्र से, पूर्ण विचार किये बिना ही ब्रह्म से भी भिन्न अन्यतत्त्व को प्रतिपादन करते हुए के समान प्रतिभासमान (प्रतीत) होते हैं। उन ही के परिहार को कहने के लिए यह उपक्रम (आरम्भ) किया जाता है। यहाँ पूर्वपक्ष है कि—इस ब्रह्म से पर, भिन्न अन्य तत्त्व होने के योग्य है, क्योंकि सेतु का व्यपदेश, उन्मान का व्यपदेश, सम्बन्ध का व्यपदेश और भेद के व्यपदेश से पर-वस्तु की सिद्धि होती है। प्रथम सेतु का व्यपदेश है कि (जो यह अमृतत्वादि लक्षण वाला आत्मा है वह सेतु के समान विधारण कर्ता है) यह श्रुति आत्म शब्द से कथित ब्रह्म के सेतुत्व धर्म का संकीर्तन करती है। लोक में जलसंतान का (प्रवाह का) विच्छेदकारक, मिट्टी-लकड़ी आदि का प्रचय (रचनाविशेष) में सेतु शब्द प्रसिद्ध है। यहाँ तो सेतु शब्द आतमा में प्रयुक्त (प्रयोग वाला) हुआ है। इससे लौकिक सेतु के समान आत्मारूप सेतु से भी अन्य वस्तु की अस्तिता (सत्ता) को सेतु शब्द अवगम (बोध) कराता है। (इस आत्मसेतु को तर कर अन्ध भी अन्धतारहित होता है) इस प्रकार तरति शब्द के प्रयोग से, जैसे लौकिक सेतु को तर कर जंगल के स्थानविशेषरूप असेतु (सेतु से भिन्न) स्थान को मनुष्य प्राप्त करता है, इसी प्रकार आत्मारूप सेतु को तर कर अनात्मारूप असेतु को प्राप्त करता है। ऐसी प्रतीति होती है।

उन्मानव्यपदेशश्च भवति 'तदेतद्ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमि'ति।
यच्च लोक उन्मितमेतावदिदमिति परिच्छिन्नं कार्षापणादि ततोऽन्यद्वस्त्वस्तीति
प्रसिद्धम्, तथा ब्रह्मणोऽप्युन्मानात्ततोऽन्येन वस्तुना भवितव्यमिति गम्यते।
तथा सम्बन्धव्यपदेशोऽपि भवति—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा०
६। ८। १) इति, 'शारीर आत्मा' (तै० २। ३। १) 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः'
(बृ० ४। ३। २) इति च। मितानां च मितेन संबन्धो दृष्टो यथा नराणां
नगरेण। जीवानां च ब्रह्मणा सम्बन्धं व्यपदिशति सुषुप्तौ। अतस्ततः परमन्य-
दमितमस्तीति गम्यते। भेदव्यपदेशश्चैतमेवार्थं गमयति। तथाहि—'अथ य
एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १। ६। ६) इत्यादित्याधार-
मीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्ष्याधारमीश्वरं व्यपदिशति—'अथ य एषोऽन्तर-
क्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १। ७। ५) इति। अतिदेशं चास्यामुना रूपादिषु
करोति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गैष्णौ तौ गैष्णौ यन्नाम
तन्नाम' (छा० १। ७। ५) इति। सावधिकं चेश्वरत्वमुभयोर्व्यपदिशति—'ये
चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १। ६। ८) इत्येकस्य,

'ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १ । ७ । ३) इत्येकस्य । यथेदं मागधस्य राज्यमिदं वैदेहस्येति ॥ ३१ ॥

उन्मान का व्यपदेश भी है कि (अतः यह ब्रह्म चार पाद वाला, आठ खुर वाला, सोलह अवयव वाला है) चार दिशाएँ, ब्रह्म का प्रकाशवान नाम वाला एक पाद है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और समुद्र अनन्तवान् नाम वाला दूसरा पाद है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् ज्योतिष्मान् नाम वाला तीसरा पाद है। चक्षु:, श्रोत्र, वाक् और मन आयतनवान् नाम वाला चौथा पाद है । इन पादों के अर्द्धांश आठ शफ (खुर) हैं। चारों पादों में चार-चार अवयव हैं अत: सोलह अवयव हैं। लोक में जो उन्मित अर्थात् यह वस्तु इतना है इस प्रकार परिच्छिन्न कार्षापण (सोलह पैसे भर तामा) आदि है। उससे अन्य वस्तु है, यह प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ब्रह्म का भी उन्मान है, इससे उस ब्रह्म से अन्य वस्तु होनी चाहिए, ऐसी प्रतीति होती है। इसी प्रकार सम्बन्ध का व्यपदेश भी होता है कि (हे सोम्य ! सुषुप्ति में जीवात्मा सत् ब्रह्म के साथ सम्पन्न एक होता है। अन्नमयरूप शरीर में रहने वाला यह आत्मा है। सुषुप्ति में प्राज्ञ आत्मा के साथ संमिलित जीव बाहर-भीतर को नहीं जानता है) इत्यादि। परिमित पदार्थ का परिमित पदार्थ के साथ सम्बन्ध देखा गया है। जैसे मनुष्यों का नगर के साथ सम्बन्ध देखा गया है। जीवों का सुषुप्ति में ब्रह्म के साथ सम्बन्ध को श्रुति कहती है। इससे उस ब्रह्म से भिन्न अन्य अपरिमित वस्तु है, यह समझा जाता है। भेद का व्यपदेश भी इसी अर्थ का बोध अवगम कराता है। जिससे इसी प्रकार की श्रुति है कि (जो यह आदित्य के अन्दर हिरण्मय, ज्योतिर्मय पुरुष दीखता है) इस प्रकार आदित्य में रहने वाले ईश्वर का कथन करके, उससे भेदपूर्वक भिन्न रूप से आँख में रहने वाले ईश्वर का श्रुति कथन करती है कि (जो यह आँख में पुरुष दीखता है) और इस आँख में रहने वाले पुरुष का उस आदित्य में रहने वाले पुरुष के साथ रूपादि के विषय में श्रुति अतिदेश करती है (सादृश्यादि बोध कराती है) कि (जिस इस आँखों में स्थिर पुरुष का वही रूप है कि जो उस आदित्यस्थ पुरुष का रूप है। जो उसके पर्व हैं, जो उसका नाम है सो इसका नाम है) दोनों के सावधिक (परिच्छिन्न) ऐश्वर्य का व्यपदेश करती है कि (आदित्य लोक से जो परे लोक हैं उनका और देवों के कामों का वह आदित्य पुरुष नियन्ता है) यह एक का ईश्वरत्व है। (जो इससे नीचे लोक हैं उनका और मनुष्यों के कामों का नियन्ता अक्षिस्थ पुरुष है) यह एक का ईश्वरत्व है। इससे जैसे यह मगध का राज्य है, यह वैदेह का है, यहाँ परिच्छिन्न ईश्वरत्व बोधित होता है, वैसे ही श्रुति बोध कराती है ॥ ३१ ॥

एवमेतेभ्यः सेत्वादिव्यपदेशेभ्यो ब्रह्मणः परमस्तीत्येवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—

इन सेतु आदि व्यपदेशों से इस प्रकार ब्रह्म से पर वस्तु है। ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि—

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

तुशब्देन प्रदर्शितां प्राप्तिं निरुणद्धि। न ब्रह्मणोऽन्यत्किञ्चिद्भवितुमर्हति प्रमाणाभावात्। नह्यन्यस्यास्तित्वे किञ्चित्प्रमाणमुपलभामहे। सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य जन्मादि ब्रह्मणो भवतीति निर्धारितम्, अनन्यत्वं च कारणात्कार्यस्य। नच ब्रह्मव्यतिरिक्तं किञ्चिदजं संभवति 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यवधारणात्। एकविज्ञानेन च सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानान्न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वमवकल्पते। ननु सेत्वादिव्यपदेशाः ब्रह्मव्यतिरिक्तं सत्त्वं सूचयन्तीत्युक्तम्। नेत्युच्यते। सेतुव्यपदेशस्तावन्न ब्रह्मणो बाह्यस्य सद्भावं प्रतिपादयितुं क्षमते 'सेतुरात्मेति ह्याह न पुनस्ततः परमस्ती'ति। तत्र परस्मिन्नसति सेतुत्वं नावकल्पत इति परं किमपि कल्प्येत, नचैतन्न्याय्यं हठो ह्यप्रसिद्धकल्पना। अपि च सेतुव्यपदेशादात्मनो लौकिकसेतुनिदर्शनेन सेतुबाह्यवस्तुतां प्रसञ्जयता मृद्दारुमयतापि प्रासङ्क्ष्येत। नचैतन्न्याय्यम्, अजत्वादिश्रुतिविरोधात्। सेतुसामान्यात्तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति श्लिष्यते, जगतस्तन्मर्यादानां च विधारकत्वं सेतुसामान्यमात्मनः, अतः सेतुरिव सेतुरिति प्रकृत आत्मा स्तूयते। सेतुं तीर्त्वेत्यपि तरतेरतिक्रमासम्भवात्प्राप्नोत्यर्थ एव वर्तते, यथा व्याकरणं तीर्ण इति प्राप्त इत्युच्यते नातिक्रान्तस्तद्वत् ॥ ३२ ॥

सूत्रगत तुशब्द से प्रदर्शित प्राप्ति का निरोध करते हैं कि प्रमाण के अभाव से ब्रह्म से अन्य होने योग्य कुछ नहीं है। जिससे अन्य के अस्तित्व (सत्ता) में किसी प्रमाण का उपलम्भ अनुभव नहीं कर रहे हैं। जन्म वाले सभी वस्तु समूह के जन्मादि ब्रह्म से होते हैं, यह निर्धारित हो चुका है, और कारण से कार्य के अनन्यत्व (अभेद) का भी निर्धारण हो चुका है और (हे सोम्य ! यह जगत् प्रथम सत् ही एक अद्वितीय ही था) इस अवधारण से ब्रह्म से अन्य किसी अज (अजन्मा, नित्य) का सम्भव नहीं है, और एक के विज्ञान से सबका विज्ञान की प्रतिज्ञा से भी ब्रह्म से भिन्न वस्तु का अस्तित्व नहीं सिद्ध हो सकता है। यदि कहो कि सेतु आदि के व्यपदेश ही ब्रह्म से भिन्न तत्त्व (वस्तु) की सूचना करते हैं, यह कहा जा चुका है। तो वहाँ कहा जाता है कि सेतु के व्यपदेशादि अतिरिक्त तत्त्व की सूचना नहीं कर सकते हैं। प्रथम सेतु का व्यपदेश ब्रह्म से बाह्य (अन्य) के सद्भाव को प्रतिपादन करने के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि वह व्यपदेश आत्मा सेतु है यही कहता है, फिर यह नहीं कहता है कि उससे पर (भिन्न) वस्तु है। वहाँ पर के नहीं रहने पर सेतुत्व नहीं सिद्ध होता है इससे किसी भी पर की कल्पना कोई करेगा। परन्तु यह न्याय युक्त नहीं होगा, अप्रसिद्ध की कल्पना हठ (दुराग्रह) रूप ही होगा और दूसरी बात है कि आत्मा के सेतु व्यपदेश से लौकिक-सेतु के दृष्टान्त द्वारा सेतु रूप आत्मा से भिन्न पदार्थ की वस्तुता (सत्ता) का प्रसंग करने वाला से आत्मा में मिट्टी लकड़ी रूपता

को भी प्रसक्ति प्राप्ति की जायगी। परन्तु अजत्वादि श्रुति के साथ विरोध से यह न्याययुक्त नहीं होगा, और सेतु की समानता से सेतु शब्द आत्मा में प्रयुक्त (उच्चारित) हुआ है, यह संगत होता है। जगत् और उसकी मर्यादाओं का विधारकत्व ही आत्मा की सेतु के साथ तुल्यता है। इससे सेतु के समान सेतु है इस प्रकार आत्मा की स्तुति की जाती है और (सेतुं तीर्त्वा) इस वाक्य में भी आत्मारूप सेतु को तर कर (उल्लंघन करके) इस प्रकार तृधातु के अर्थ के असम्भव से, उसका प्राप्ति ही अर्थ है। जैसे यह बटु व्याकरण तीर्ण है, इस वाक्य में व्याकरण को प्राप्त कर चुका है, यह कहा जाता है। व्याकरण का अतिक्रमण किया है, ऐसा नहीं कहा जाता, उसी के समान यहाँ भी समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

यदप्युक्तमुन्मानव्यपदेशादस्ति परमिति, तत्राभिधीयते—उन्मानव्यपदेशोऽपि न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वप्रतिपत्त्यर्थः। किमर्थस्तर्हि बुद्ध्यर्थः, उपासनार्थ इति यावत्। चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमित्येवंरूपा बुद्धिः कथं नु नाम ब्रह्मणि स्थिरा स्यादिति विकारद्वारेण ब्रह्मण उन्मानकल्पनैव क्रियते। नह्यविकारेऽनन्ते ब्रह्मणि सर्वैः पुंभिः शक्या बुद्धिः स्थापयितुं मन्दमध्यमोत्तमबुद्धित्वात्पुंसामिति। पादवत्। यथा मन-आकाशयोरध्यात्ममधिदैवतं च ब्रह्मप्रतीकयोराम्नातयोश्चत्वारो वागादयो मनःसंबन्धिनः पादाः कल्प्यन्ते, चत्वारश्चाग्न्यादय आकाशसम्बन्धिनः आध्यानाय तद्वत्। अथवा पादवदिति, यथा कार्षापणे पादविभागो व्यवहारप्राचुर्याय कल्प्यते, नहि सकलेनैव कार्षापणेन सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीशते क्रयविक्रये परिमाणानियमात्त दित्यर्थः ॥ ३३ ॥

और जो यह भी कहा था कि उन्मान के व्यपदेश से ब्रह्म से पर है, उस विषय में कहा जाता है कि उन्मान का व्यपदेश भी ब्रह्म से भिन्न वस्तु के ज्ञान के लिए नहीं है, तो किसके लिए है, ऐसी जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए कहा जाता है कि बुद्धि (ज्ञान) के लिए है, अर्थात् उपासना के लिए है। चार पाद वाला, आठ खुर वाला, सोलह अवयव वाला ब्रह्म है, इस रूप-आकार वाली बुद्धि किसी प्रकार भी ब्रह्म में स्थिर हो, इस दृष्टि से विकारों के द्वारा ब्रह्म में उन्मान की कल्पना ही की जाती है, उसमें वस्तुतः उन्मान का प्रतिपादन नहीं किया जाता है कि जिससे अन्य की सत्ता सिद्ध हो और पुरुषों के मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धि वाले होने से सभी पुरुषों से निर्विकार अनन्त ब्रह्म में बुद्धि को स्थिर नहीं किया जा सकता है, इससे विकार द्वारा ब्रह्म में बुद्धि की स्थिति रूप उपासना के लिए उन्मान की कल्पना पाद कल्पना के समान है। जैसे सर्वात्मक ब्रह्म के प्रतीक (एकदेश) रूप से कथित मन आकाश के अध्यात्म और अधिदैवतरूप, वाक् प्राण चक्षु और श्रोत्र रूप मन सम्बन्धी वाक् आदि नामक चार पाद कल्पित होते हैं। तथा अग्नि वायु आदित्य और दिशा-

रूप आकाश सम्बन्धी अग्नि आदि नामक चार पाद कल्पित होते हैं, वह केवल आध्यान (उपासना) के लिए कल्पित होते हैं, इसी प्रकार उन्मान कल्पना और सेतु कल्पना को भी समझना चाहिए। अथवा पादवत् इसका यह अर्थ है कि जैसे कार्षापण में व्यवहार की अधिकता के लिए पाद का विभाग कल्पित होता है, जिससे क्रय और विक्रय (खरीदना और बेचना) में परिमाण के अनियम से सम्पूर्ण कार्षापण द्वारा ही सदा सब जन व्यवहार नहीं कर सकते हैं, उसी के समान यहाँ समझना चाहिए कि सब जन निर्विकार ब्रह्म में बुद्धि को स्थिर नहीं कर सकते हैं, इससे उन्मान की कल्पना की गई है ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

इह सूत्रे द्वयोरपि सम्बन्धभेदव्यपदेशयोः परिहारो विधीयते। यदप्युक्तं—सम्बन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्च परमतः स्यात्—इति, तदप्यसत्। यत एकस्यापि स्थानविशेषापेक्षयैतौ व्यपदेशावुपपद्येते। सम्बन्धव्यपदेशे तावदयमर्थः बुद्धयाद्युपाधिस्थानविशेषयोगादद्भुतस्य विशेषविज्ञानस्योपाध्युपशमे य उपशमः स परमात्मना सम्बन्ध इत्युपाध्यपेक्षयैवोपचर्यते न परिमितत्वापेक्षया। तथा भेदव्यपदेशोऽपि ब्रह्मण उपाधिभेदापेक्षयोपचर्यते न स्वरूपभेदापेक्षया। प्रकाशादिवदित्युपमोपादानम्। यथैकस्य प्रकाशस्य सौर्यस्य चान्द्रमसस्य वोपाधियोगादुपजातविशेषस्योपाध्युपशमात्सम्बन्धव्यपदेशो भवत्युपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशः। यथा वा सूचीपाशाकाशादिषूपाध्यपेक्षयैवैतौ सम्बन्धभेदव्यपदेशौ भवतस्तद्वत् ॥ ३४ ॥

इस सूत्र में सम्बन्ध व्यपदेश और भेद व्यपदेश दोनों ही का परिहार किया जाता है कि जो यह भी कहा था कि सम्बन्ध व्यपदेश और भेद व्यपदेश से इस ब्रह्म से भिन्न वस्तु भी सिद्ध होगा, वह कथन असत् है, जिससे एक वस्तु के भी स्थान (उपाधि) विशेष की अपेक्षा से ये दोनों व्यपदेश उपपन्न (सिद्ध) होते हैं। प्रथम भेद व्यपदेश में यह अर्थ है कि बुद्धि आदि उपाधि रूप स्थान विशेष के सम्बन्ध से उद्भूत (प्रकट) हुआ विशेष विज्ञान का जो उपाधि के उपशम (निवृत्ति) होने पर उपशम होता है, वही उपाधि के उपशम की अपेक्षा से ही परमात्मा के साथ सम्बन्ध इस शब्द से उपचरित (व्यवहृत) होता है। परिमितत्व की अपेक्षा से सम्बन्ध का व्यवहार नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म का भेद व्यपदेश भी उपाधि के भेद की अपेक्षा से उपचरित (गौण) होता है, स्वरूप भेद की अपेक्षा से नहीं। इस सूत्र में प्रकाशादिवत् उपमा का ग्रहण है, जैसे एक सूर्य वा चन्द्रमा के प्रकाश को उपाधि के सम्बन्ध से उत्पन्न विशेष का उपाधि के उपशम से सम्बन्ध का व्यपदेश होता है और उपाधि के भेद से भेद का व्यपदेश होता है। अथवा जैसे सुई के पाशा के आकाश आदि में उपाधि की अपेक्षा से ही ये सम्बन्ध और भेद के व्यपदेश होते हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

उपपद्यते चात्रेदृश एव सम्बन्धो नान्यादृशः। यथा 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति हि स्वरूपसम्बन्धमेनमामनन्ति, स्वरूपस्य चानपायित्वात्। न नरनगरन्यायेन सम्बन्धो घटते, उपाधिकृतस्वरूपतिरोभावात्तु— 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इत्युपपद्यते। तथा भेदोऽपि नान्यादृशः सम्भवति। बहुतरश्रुतिप्रसिद्धैकेश्वरत्वविरोधात्। तथा च श्रुतिरेकस्याप्याकाशस्य स्थानकृतं भेदव्यपदेशमुपपादयति—'योऽयं वहिर्धा पुरुषादाकाशः' (छा० ३।१२।७), 'योऽयमन्तः पुरुष आकाशः' (छा० ३।१२।८), 'योऽयमन्तर्हृदय आकाशः' (छा० ३।१२।९) इति च ॥ ३५ ॥

और यहाँ ऐसा ही (औपाधिक भेद की निवृत्ति रूप ही) सम्बन्ध उपपन्न होता है। अन्य प्रकार का नहीं। जैसे कि (स्वस्वरूप को प्राप्त होता है) इस प्रकार की श्रुतियाँ स्वरूप सम्बन्ध का ही कथन करती हैं और स्वरूप के अनपायी (नित्य) होने से नगर के साथ नरों के सम्बन्ध के न्याय (रीति) से स्वरूप सम्बन्ध संघटित नहीं हो सकता है, किन्तु उपाधिकृत स्वरूप के तिरोभाव (लीन) होने से (स्वस्वरूप को प्राप्त होता है) यह उपपन्न होता है और इसी प्रकार बहुत अधिक श्रुतियों से प्रसिद्ध एकेश्वरत्व के साथ विरोध से, औपाधिक भेद से अन्य प्रकार के भेद का भी सम्भव नहीं है और इसी प्रकार एक ही आकाश के स्थानकृत भेद व्यपदेश का उपपादन श्रुति करती है कि (जो यह पुरुष से बाहर भौतिक आकाश है। जो यह पुरुष-शरीर के अन्तर में आकाश है। जो यह हृदय के अन्तर में आकाश है) इत्यादि ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

एवं सेत्वादिव्यपदेशान्परपक्षहेतूनुन्मथ्य सम्प्रति स्वपक्षं हेत्वन्तरेणोपसंहरति। तथान्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते। तथाहि— 'स एवाधस्तात्' (छा० ७।२५।२) 'अहमेवाधस्तात्' (छा० ७।२५।१), 'आत्मैवाधस्तात्' (छा० ७।२५।२), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ०२।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९), 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्' (श्वे० ३।९), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१९), इत्येवमादिवाक्यानि स्वप्रकरणस्थान्यन्यार्थत्वेन परिणेतुमशक्यानि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं वारयन्ति। सर्वान्तरश्रुतेश्च न परमात्मनोऽन्योऽन्तरात्मास्तीत्यवधार्यते ॥ ३६ ॥

इस पूर्व वर्णित रीति से पर पक्ष के हेतु रूप सेतु आदि व्यपदेशों का उन्मथन (निषेध) करके, अब इस समय हेत्वन्तर (अन्य हेतु) के द्वारा अपने पक्ष का उपसंहार करते हैं कि इसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न वस्तु के प्रतिषेध से भी ब्रह्म से भिन्न अन्य वस्तु नहीं है, यह समझा जाता है, वह प्रतिषेध इस प्रकार है कि (वह भूमा विभु

ब्रह्म ही नीचे है। मैं ही नीचे हूँ। आत्मा ही नीचे है। उसका सब पराभव त्याग करता है जो आत्मा से अन्य सबको जानता है। यह सब ब्रह्म ही है। यह सब आत्मा ही है। इस आत्मा में नाना कुछ नहीं है। जिस पुरुष से पर श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। वह यह ब्रह्म कारण कार्य रहित और अन्तर बाहर भेद रहित है) इत्यादि वाक्य, स्व (ब्रह्मात्म) प्रकरणस्थ और अन्यार्थकत्व रूप से परिणयन (प्रापण) करने में अशक्य है, वह ब्रह्म से भिन्न अन्य वस्तु का वारण करता है। ब्रह्मात्म विषयक सर्वान्तर श्रुति से परमात्मा से अन्य अन्तरात्मा नहीं है, यह अवधारण (निश्चय) किया जाता है। (तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास। ऋग्। पुरुषान्न परं किञ्चित्) ॥३६॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च सर्वगतत्वमप्यात्मनः सिद्धं भवति। अन्यथा हि तन्न सिद्ध्येत्। सेत्वादिव्यपदेशेषु हि मुख्येष्वङ्गीक्रियमाणेषु परिच्छेद आत्मनः प्रसज्येत, सेत्वादीनामेवमात्मकत्वात्। तथान्यप्रतिषेधेऽप्यसति वस्तु वस्त्वन्तराद्व्यावर्तत इति परिच्छेद एवात्मनः प्रसज्येत। सर्वगतत्वं चास्यायामशब्दादिभ्यो विज्ञायते। आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः, 'यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाशः' (छा० ८।१।३) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान्दिवः' (छा० ३।१४।३) 'ज्यायानाकाशात्' 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (भ. गी. २।२४) इत्येवमादयो हि श्रुतिस्मृतिन्यायाः सर्वगतत्वमात्मनोऽवबोधयन्ति ॥ ३७ ॥

इस सेतु आदि व्यपदेशों के निराकरण से और अन्य के प्रतिषेध के समाश्रयण से आत्मा के सर्वगतत्व विभुत्व की भी सिद्धि होती है, अन्यथा वह सर्वगतत्व नहीं सिद्ध होगा। जिससे सेतु आदि व्यपदेशों को मुख्य स्वीकार करने पर आत्मा का परिच्छेद प्राप्त होगा, क्योंकि सेतु आदि को एवमात्मत्व (परिच्छिन्न स्वरूपत्व) है। इसी प्रकार अन्य के प्रतिषेध नहीं होने पर भी एक वस्तु अन्य वस्तु से व्यावृत्त (भिन्न) होती है, इस प्रकार आत्मा का परिच्छेद ही प्राप्त होगा और आयाम शब्दादि से इस आत्मा का जहाँ सर्वगतत्व समझा जाता है, वहाँ आयाम शब्द व्याप्तिवाचक शब्द है। जितना परिमाण वाला यह बाह्य आकाश है, उतना ही परिमाण वाला यह हृदयान्तर्वर्ती आकाश आत्मा है। आत्मा आकाश के समान सर्वगत और नित्य है। स्वर्ग से बहुत बड़ा है, आकाश से बहुत बड़ा है, यह नित्य है, सर्वगत है स्थाणु-स्थिर-अचल और सनातन (अनादि) है। इत्यादि श्रुति, स्मृति और न्याय आत्मा के सर्वगतत्व का अवबोध कराते है ॥ ३७ ॥

फलाधिकरण (८)

कर्मैव फलदं यद्वा कर्माराधित ईश्वरः। अपूर्वावान्तरद्वारा कर्मणः फलदातृता ॥ १ ॥
अचेतनात्फलासूतेःशास्त्रीयात्पूजितेश्वरात्। कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नापूर्वपरिकल्पना ॥ २ ॥

औपाधिक भेद वाले इस सर्वगत सत्य ईश्वर से ही व्यावहारिक जीव को कर्मादि के अनुसार इष्टानिष्ट फल की प्राप्ति होती है, सो उपपत्ति से (युक्ति से) सिद्ध होता है। वहाँ संशय है कि कर्म ही फल देने वाला है, अथवा कर्म द्वारा आराधित (सेवित) ईश्वर फल देने वाला है। पूर्वपक्ष है कि यद्यपि यह कर्म क्षणभंगुर है वह कालान्तरभावी फल को साक्षात् नहीं दे सकता है, तथापि जैसे वृक्ष में सेचित जल साक्षात् फल नहीं देकर रसादि रूप अवान्तर (मध्यगत) व्यापार द्वारा फल देता है, उसी प्रकार कर्म को भी अपूर्व (धर्माधर्म, अदृष्ट) रूप अवान्तर व्यापार के द्वारा दातृत्व हो सकता है ॥ १ ॥

सिद्धान्त है कि स्वतन्त्र प्रकृति के समान स्वतन्त्र अचेतन कर्म से वा उसके व्यापार अदृष्ट से भी नियमित फल की यथा योग्य उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इससे शास्त्र से सिद्ध पूजित ईश्वर से फल की उत्पत्ति होने से स्वतन्त्र अपूर्व की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। ईश्वराधीन फलप्रद कर्म और उसकी वासना सूक्ष्मांशादि रूप अदृष्ट तो पञ्चाग्नि विद्या और (कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः। कर्मणा वध्यते जन्तुः) इत्यादि शास्त्र से सिद्ध हो है ॥ २ ॥

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

तस्यैवं ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यविभागावस्थायामयमन्यः स्वभावो वर्ण्यते। यदेतदिष्टव्यामिश्रलक्षणं कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनां किमेतत्कर्मणो भवत्याहोस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा। तत्र तावत्प्रतिपाद्यते फलमत ईश्वराद्भवितुमर्हति। कुतः? उपपत्तेः। स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान्विचित्रान्विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयतीत्युपपद्यते, कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः कालान्तरभावि फलं भवतीत्यनुपपन्नम्, अभावाद्भावानुत्पत्तेः। स्यादेतत् कर्म विनश्यत्स्वकालमेव स्वानुरूपं फलं जनयित्वा विनश्यति तत्फलं कालान्तरितं कर्त्रा भोक्ष्यत इति। तदपि न परिशुद्ध्यति, प्राग्भोक्तृसम्बन्धात्फलत्वानुपपत्तेः। यत्कालं हि यत्सुखं दुःखं वात्मना भुज्येत तस्यैव लोके फलत्वं प्रसिद्धम्। नह्यसम्बद्धस्यात्मना सुखस्य दुःखस्य वा फलत्वं प्रतियन्ति लौकिकाः। अथोच्यते—मा भूत्कर्मानन्तरं फलोत्पादः, कर्मकार्यादपूर्वात्फलमुत्पत्स्यत—इति। तदपि नोपपद्यते। अपूर्वस्याचेतनस्य काष्ठलोष्टसमस्य चेतनेनाप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदस्तित्वे च प्रमाणाभावात्। अर्थापत्तिः प्रमाणमिति चेत्। न। ईश्वरसिद्धेरर्थापत्तिक्षयात् ॥ ३८ ॥

जिस पूर्व वर्णित ईश्वर की ही ईशितृ (ईशिता) ईशितव्य (नियम्य) रूप व्यावहारिक विभाग अवस्था में, उसके यह अन्य स्वभाव रूप फल हेतुत्व का वर्णन किया जाता है। कि जन्तुओं को जो यह इष्ट (सुख) अनिष्ट (दुःख) और सुख दुःख का

मिश्रण रूप तीन प्रकार के कर्म फल सांसारिक अवस्था में प्रसिद्ध हैं, वे क्या कर्म से प्राप्त होते हैं, अथवा ईश्वर से प्राप्त होते हैं, ऐसी विचारणा (चर्चा) होती है । वहाँ प्रथम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है कि इस ईश्वर से फल होने योग्य है, क्योंकि उपपत्ति से ऐसा ही सिद्ध होता है । जिससे सबका अध्यक्ष रूप वह ईश्वर, देश काल विशेष की अभिज्ञता से विचित्र सृष्टि स्थिति और संहार का विधान (विधि सिद्धि) करता हुआ, कर्मियों के कर्मानुसार फल का सम्पादन (सिद्धि) करता है, उपपन्न (युक्ति सिद्ध) होता है । अनुक्षण विनाशी कर्म से कालान्तर में होने वाला फल होता है, यह तो अभाव से भाव की अनुत्पत्ति से अनुपपन्न है । यहाँ शङ्का होती है कि कर्म से भी यह फल हो सकता है, क्योंकि विनाश को प्राप्त होने वाला विनाश की उन्मुखता काल में अपनी वर्तमानता युक्त काल में ही कर्म अपने अनुसार फल को उत्पन्न करके नष्ट होता है और होगा, और वह फलान्तर में कर्म कर्ता से भोगा जायगा। उत्तर है कि यह कर्म का फल दातृत्व भी परिशुद्ध निर्दुष्ट नहीं सिद्ध होता है, जिससे भोक्ता के साथ सम्बन्ध से पूर्व काल में फल के फलत्व की ही अनुपपत्ति है । जिस काल सम्बन्धी जो सुख वा दुःख जीवात्मा से भोगा जायगा, या भोगा जाता है, उसी को लोक में फलरूपत्व प्रसिद्ध है । आत्मा से सम्बन्ध रहित सुख वा दुःख के फल रूपत्व को लौकिक जन नहीं समझते हैं । यदि कहा जाय कि कर्म के अनन्तर काल में फल की उत्पत्ति नहीं हो, किन्तु कर्म के कार्य रूप अदृष्ट धर्माधर्म से फल उत्पन्न होगा, तो कहा जाता है कि वह फल देने वाला स्वतन्त्र अपूर्व भी नहीं उपपन्न सिद्ध हो सकता है । जिससे काठ ढेले के समान अचेतन और चेतन से अप्रेरित अपूर्व की प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है और उस स्वतन्त्र फल दाता अपूर्व के अस्तित्व (सत्ता) में प्रमाण का अभाव है । यदि कहें कि अर्थापत्ति (अपूर्व के बिना फल की असिद्धि) प्रमाण है, तो कहा जाता है कि अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है । जिससे फलप्रद स्थायी ईश्वर की सिद्धि से क्षणिक कर्म से फल की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति के उपक्षय से स्वतन्त्र अपूर्व में प्रमाण का अभाव ही है ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

न केवलमुपपत्तेरेवेश्वर फलहेतुं कल्पयामः, किं तर्हि ? श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे । तथा च श्रुतिर्भवति—'स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः' (बृ० ४।४।२४) इत्येवंजातीयका ॥ ३९ ॥

केवल उपपत्ति से ही फल का हेतु रूप ईश्वर की कल्पना (अनुमिति) नहीं करते हैं, किन्तु श्रुति से श्रुत होने से भी ईश्वर को ही फल का हेतु मानते हैं । इसी प्रकार की श्रुति है कि (वह यह महान् अजन्मा सब प्राणियों को सर्वत्र अन्न देने वाला है और धन देने वाला है) अर्थात् जड़ कर्म अपूर्व फल नहीं देता है किन्तु कर्मादि के अनुसार

सर्वज्ञ सर्वशक्ति वाला स्वतन्त्र ईश्वर ही फल देता है, अल्पज्ञता आदि से कोई जीव भी कर्म फल दाता वा स्वयं भोक्ता नहीं हो सकता है ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते। अत एव हेतोः श्रुतेरुपपत्तेश्च। श्रूयते तावदयमर्थः 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवमादिषु वाक्येषु। तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते, अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत तत्रास्योपदेशवैयर्थ्यं स्यात्। नन्वनुक्षणविनाशिनः कर्मणः फलं नोपपद्यत इति परित्यक्तोऽयं पक्षः। नैष दोषः, श्रुतिप्रामाण्यात्। श्रुतिश्चेत्प्रमाणं यथाऽयं कर्मफलसम्बन्धः श्रुत उपपद्यते तथा कल्पयितव्यः, नचानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत्कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति। अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते। उपपद्यते चायमर्थ उक्तेन प्रकारेण। ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम्। अविचित्रस्य कारणस्य विचित्रकार्यानुपपत्तेर्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गादनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च। तस्माद्धर्मादेव फलमिति ॥ ४० ॥

जैमिनि आचार्य तो धर्म (अदृष्ट) को इसी श्रुति और उपपत्ति रूप हेतु से फल का दाता मानते हैं, कहते हैं कि यह कर्म को फलदातृत्व रूप अर्थ (स्वर्ग की इच्छा वाला मनुष्य याग से इष्ट का सम्पादन करे) इत्यादि वाक्यों में सुना जाता है और उस वाक्य में विधि रूप श्रुति (लिङ्कार का अर्थ रूप प्रेरणा) का विषय भाव के उपगम (प्राप्ति) से याग स्वर्ग का उत्पादक (हेतु) है ऐसी प्रतीति होती है। अर्थात् स्वर्ग रूप इष्ट को सिद्ध करना विधि (लिङ्) का अर्थ है और याग उसमें करण रूप से अन्वित होता है। इससे याग में स्वर्ग की हेतुता सिद्ध होती है। अन्यथा यदि याग इष्ट का हेतु नहीं हो, तो अनुष्ठाता रहित याग प्राप्त होगा, निष्फल याग का अनुष्ठान कौन करेगा और ऐसा होने पर इस याग के उपदेश की व्यर्थता होगी। यदि कहा जाय कि अनुक्षण विनश्वर यागादि कर्म से फल नहीं उत्पन्न होता है, इससे इस पक्ष का त्याग किया गया है, तो कहा जाता है कि श्रुति की प्रमाणता से यह दोष नहीं है। अर्थात् श्रुति यदि इस अर्थ में प्रमाण है, तो जिस प्रकार यह श्रुति में सुना गया हुआ कर्म फल का सम्बन्ध उपपन्न हो सके, वैसा उपाय कल्पना के योग्य है और किसी भी अपूर्व (अदृष्ट) को नहीं उत्पन्न करके विनष्ट होता हुआ कर्म कालान्तर में होने वाले फल को नहीं दे सकता है। इससे कर्म की कोई सूक्ष्म उत्तरावस्था व्यापार वा फल की कोई पूर्वावस्था रूप अपूर्व नाम वाली वस्तु है ऐसा तर्क अनुमान किया जाता है और उक्त रीति से यह अर्थ उपपन्न भी होता है, इससे श्रुति और उपपत्ति से कर्म ही फल का हेतु रूप सिद्ध होता है और ईश्वर फल देता है, यह कथन तो अनुपपन्न है। क्योंकि यदि कर्म की अपेक्षा के बिना ईश्वर फल दाता हो, तो अविचित्र एक कारण से विचित्र

फल रूप कार्य की अनुपपत्ति है और ईश्वर में विषमता क्रूरता की प्राप्ति रूप दोष होगा । तथा ईश्वर से ही फल होने पर कर्मानुष्ठान की व्यर्थता की आपत्ति होती है, इससे ईश्वर फल का हेतु नहीं है और यदि धर्म सापेक्ष ईश्वर फल दाता हो, तो भी उस धर्म से ही स्वभाव विशेष से फल होता है । ईश्वर से नहीं, यह जैमिनि आचार्य का मत है ॥ ४० ॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

बादरायणस्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते । केवलात्कर्मणोऽपूर्वाद्वा केवलात्फलमित्ययं पक्षस्तुशब्देन व्यावर्त्यते । कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा यथा तथास्त्वीश्वरात्फलमिति सिद्धान्तः। कुतः ? हेतुव्यपदेशात् । धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यपदिश्यते फलस्य च दातृत्वेन 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तु यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति । स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ (७।२१) इति ।

सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एवं सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते । तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति (१) । विचित्रकार्यानुपपत्त्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते ॥ ४१ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

बादरायण आचार्य तो पूर्व वर्णित ईश्वर को ही फल का हेतु मानते हैं । केवल कर्म से वा केवल अपूर्व से फल होता है, इस पक्ष की सूत्र गत तुशब्द से व्यावृत्ति (निवारण) की जाती है कि केवल अचेतन से देश कालादि के अनुसार योग्य फल नहीं हो सकता है । इससे कर्म की अपेक्षा युक्त अथवा अदृष्ट की अपेक्षा युक्त ईश्वर से जिस प्रकार हो सके उस प्रकार ही फल हो सकता है यह सिद्धान्त है, अर्थात् कर्मादि सापेक्ष ईश्वर के हेतु होने से वैषम्यादि किसी दोष की सम्भावना नहीं है । कर्मादि सापेक्ष ईश्वर ही फल का हेतु है, यह कैसे समझा जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि श्रुति में ईश्वर का हेतु रूप से व्यपदेश से समझा जाता है । जिससे धर्म और अधर्म का भी कारयिता (करवाने वाला) हेतु रूप से और फल का दाता रूप से ईश्वर व्यपदिष्ट (कथित, उपदिष्ट) होता है कि (यह ईश्वर ही जीव के वासना

आदि के अनुसार उस जीव से पुण्य कर्म करवाता है कि जिसको ऊपर ले जाना चाहता है और वही उससे पाप कर्म करवाता है कि जिसको नीचे ले जाना चाहता है)। भगवद्-गीता में भी यह अर्थ स्मृत होता है (कहा जाता है) कि (जो-जो कामी जीव जिस-जिस देव शरीर को श्रद्धा युक्त भक्त होकर पूजना चाहता है, उस जीव की उसी श्रद्धा को मैं स्थिर करता हूँ और वह उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देव शरीर का आराधन करता है, फिर उससे मुझ ईश्वर से ही विहित निर्मित उन कामों भोगों को अवश्य ही प्राप्त करता है)। सभी वेदान्तों में ईश्वर रूप हेतु जन्य ही सृष्टियाँ कही जाती हैं और वही ईश्वर को फल हेतुत्व है कि जो स्व-स्व कर्मों के अनुसार प्रजा की सृष्टि ईश्वर करता है। जीव के कृत प्रयत्न (कर्म) की अपेक्षा पूर्वक उसके अनुसार सृष्टि आदि करने से ही विचित्र कार्य की अनुपपत्ति आदि दोष भी ईश्वर को नहीं प्राप्त होते हैं। अर्थात् कृत-प्रयत्नापेक्षत्व ईश्वर के होने से दोषों का अभाव है ॥ ४१ ॥

जीवेशयोः स्वरूपोऽत्र सविशेषो निरूपितः।
विवेकाय च धर्माय भक्त्या शुद्धस्य लब्धये ॥ १ ॥
सर्वावस्थासु यो जीवान् पाति भोगप्रदानतः।
अन्ते ददाति मोक्षं च भक्त्या तस्मै नमाम्यहम् ॥ २ ॥
विश्वम्भरं विश्वकरं मलारिं, विश्वेश्वरं विश्वपरं च विश्वम्।
विश्वासवासं जगतां निवासं, रामं गुरुं जन्महरं नमामि ॥ ३ ॥
विश्वोद्भवे विश्वलये स्थितौ वा सदाऽसहायोऽपि करोति सर्वम्।
यो विश्वनाथोऽखिलशक्तियुक्तस्तं सादरं जन्महरं नमामि ॥ ४ ॥
माया यदीयाऽखिलकार्यशक्ता स्वयं सदा साक्षितया विरक्तः।
सक्तो न च क्वापि न वा विरक्तस्तं सादरं जन्महरं स्मरामि ॥ ५ ॥
भक्ताऽभयं भीतिकरं खलानामात्मानमेकं ह्यजमद्वितीयम्।
सर्वं स्वभासा किल कारयन्तं हेतुत्वमुक्तं हृदि संस्मरामि ॥ ६ ॥
यदात्मना विश्वमिदं विभातं सत्यं तदासीदधुना च सत्यम्।
मृदात्मना पिण्डघटादि यद्वत्तं व्यापकं सर्वमयं नमामि ॥ ७ ॥
भीतो यदीयेन भयेन सर्वो वह्न्यादिदेवः कुरुते स्वकर्म।
यत्र स्थितो वा उदितश्च यस्मात्तं देवदेवं मनसा नमामि ॥ ८ ॥
आत्मा विमृत्युर्विजरो विपाप्मा विशोकसत्यः खलु सत्यकामः।
कामान् समस्तान् विसृजन्नकामो यो नित्यमास्ते ननु तं नमामः ॥ ९ ॥
य आविरास्ते हृदि सर्वजन्तोर्हनूमतो मानसपुष्पभृङ्गः।
लिङ्गैर्विमुक्तं परतः परं तं नमामि रामं स्वगुरुं विशुद्धम् ॥ १० ॥

तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

[अथ परापराब्रह्मविद्यागुणोपसंहारविवरणम्]

सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण (१)

सर्ववेदेष्वनेकत्वमुपास्तेरथवैकता। अनेकत्वं कौथुमादिनामधर्मविभेदतः ॥१॥

विधिरूपफलैकत्वादेकत्वं नाम न श्रुतम्। शिरोव्रताख्यधर्मस्तु स्वाध्याये स्यान्न वेदने ॥२॥

(सर्वेषु वेदान्तेषु प्रत्ययः प्रतीतिर्ज्ञानं विधिर्यस्य तत्सर्वं वेदान्तप्रत्ययं ब्रह्मोपासनमेकं परस्परभेदरहितमिति मन्तव्यम्, विधिफलरूपादिषु, विशेषाभावात्) सब वेदान्त में जिसका ज्ञान होता है वह विधि है, ऐसी जो ब्रह्म की उपासना है, सो एक है, ऐसा मानना चाहिये, उस एकता में विधिरूप फलादि का अभेद हेतु है। इसीसे विधि आदि जिन के भेद रहित हैं, सो किसी वेदान्त में हों उन्हें एक समझना चाहिये और विधि फल रूपादि के भेद से भिन्न समझना चाहिये। यह सूत्र का अर्थ है। यहाँ संशय होता है कि सब वेदों में उपासना की अनेकता है अथवा एकता है। पूर्वपक्ष है कि पूर्वमीमांसा में, शाखान्तराधिकरण में, नाम, रूप, और धर्मादि के भेद से कर्म का भेद कहा गया है। वैसे ही कठ, कौथुम, वाजसनेय, आदि वेद के भेद से नामों के भेद होने से, और शिरोव्रतादि धर्मों के भेद से उपासना में अनेकता होनी चाहिये। सिद्धान्त है कि (एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात्) अर्थ (फल) का संयोग, द्रव्य देवतात्मक रूप, विधि रूप चोदना और आख्या की अविशेषता से कर्म एक होता है। इस सिद्धान्त सूत्र के अनुसार यहाँ भी विधि रूप और फल की एकता से विद्या में एकता है और कठकौथुमादि जो नाम हैं, वे ज्योतिष्टोमादि कर्म भेदक नामों के समान श्रुति में नहीं सुने गये हैं। ये अध्यापनादि निमित्तक नाम हैं, ये उपासना के भेदक नहीं हो सकते हैं, और इसी प्रकार शिरोव्रत नामक जो धर्म है वह (नैतदचीर्णव्रतोधीते) इस श्रुति के अनुसार अध्ययन का धर्म है उपासना का धर्म नहीं है ॥ १-२ ॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मणस्तत्त्वम्। इदानीं तु प्रतिवेदान्तं विज्ञानानि भिद्यन्ते न वेति विचार्यते। ननु विज्ञेयं ब्रह्म पूर्वापरादिभेदरहितमेकरसं सैन्धवघनवदवधारितं, तत्र कुतो विज्ञानभेदाभेदचिन्तावतारः। नहि कर्मबहुत्ववद्ब्रह्मबहुत्वमपि वेदान्तेषु प्रतिपिपादयिषितमिति शक्यं वक्तुम्, ब्रह्मण एकत्वादेकरूपत्वाच्च। न चैकरूपे ब्रह्मण्यनेकरूपाणि विज्ञानानि सम्भवन्ति, नह्यन्यथार्थोऽन्यथा ज्ञानमित्यभ्रान्तं भवति। यदि पुनरेकस्मिन्ब्रह्मणि बहूनि विज्ञानानि वेदान्तान्तरेषु प्रतिपिपादयिषितानि तेषामेकमभ्रान्तं भ्रान्तानीत-

राणीत्यनाश्वासप्रसङ्गो वेदान्तेषु। तस्मान्न तावत्प्रतिवेदान्तं ब्रह्मविज्ञानभेद आशङ्कितुं शक्यते। नाप्यस्य चोदनाद्यविशेषादभेद उच्यते, ब्रह्मविज्ञानस्याचोदनालक्षणत्वात्। अविधिप्रधानैर्हि वस्तुपर्यवसायिभिर्ब्रह्मवाक्यैर्ब्रह्मविज्ञानं जन्यत इत्यवोचदाचार्यः 'तत्तु समन्वयात् (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र। तत्कथमिमां भेदाभेदचिन्तामारभत इति।

विज्ञेय (मुमुक्षु से अवश्य ज्ञातव्य) ब्रह्म का तत्त्व (स्वरूप) व्याख्यात (निरूपित) हो चुका है। अब इस समय तो प्रत्येक वेदान्त में विज्ञान भिन्न होते हैं, या नहीं, यह विचार किया जाता है। यहाँ शंका होती है कि पूर्व अपर आदि भेदों से रहित सैन्धवघन (लवणपिण्ड) के समान एक रस विज्ञेय ब्रह्म अवधारित (निश्चित) हो चुका है। उसमें विज्ञान के भेद और अभेद की चिन्ता (विचार) का अवतार (जन्म) किसी से हो सकता है। अर्थात् वेद्य वस्तु के भेद से विद्या का भेद हो सकता है। एक रस एक वस्तु विषयक विद्या का भेद भ्रम रूप ही होगा। क्योंकि कर्म के बहुत्व के समान ब्रह्म के बहुत्व भी वेदान्तों में प्रतिपादन की इच्छा का विषय है। इस प्रकार ब्रह्म के एकत्व और एक रसत्व से कहा नहीं जा सकता है और एक स्वरूप ब्रह्म में अनेक रूप वाले विज्ञानों का सम्भव नहीं है। जिससे अन्यथा अर्थ हो, और उससे अन्य प्रकार का ज्ञान हो तो इस अवस्था में वह ज्ञान अभ्रान्त (भ्रमभिन्न) नहीं होता है और यदि एक ब्रह्म विषयक बहुत विज्ञान वेदान्तों में प्रतिपादन की इच्छा के विषय हों, तो उनमें से वस्तु के अनुसार होने वाला एक विज्ञान अभ्रान्त होगा, और अन्य सब विज्ञान भ्रान्त होंगे, फिर इस अवस्था में वेदान्तों में ब्रह्म विज्ञान के भेदों की आशंका ही नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार अभेद भी नहीं कहा जा सकता है। जिससे ब्रह्म विज्ञान को अचोदनालक्षणत्व (अचोदना स्वरूपत्व, चोदना से अजन्यत्व) है। आचार्य ने (तत्तु समन्वयात्) इस सूत्र में कहा है कि अविधि प्रधान (विधि प्रधानता से रहित) वस्तु मात्र में पर्यवसान (तात्पर्य वाले) ब्रह्म बोधक वाक्यों से ब्रह्म का विज्ञान उत्पन्न होता है। वहाँ फिर यह भेदाभेद की चिन्ता (विचार) का आरम्भ आचार्य कैसे करते हैं।

तदुच्यते—सगुणब्रह्मविषया प्राणादिविषया चेयं विज्ञानभेदचिन्तेत्यदोषः। अत्र हि कर्मवदुपासनानां भेदाभेदौ संभवतः कर्मवदेव चोपासनानि दृष्टफलान्यदृष्टफलानि चोच्यन्ते, क्रममुक्तिफलानि च कानिचित्सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण। तेष्वेषा चिन्ता सम्भवति—'किं प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद आहोस्विन्न' इति। तत्र पूर्वपक्षहेतवस्तावदुपन्यस्यन्ते। नाम्नस्तावद्भेदप्रतिपत्तिहेतुत्वं प्रसिद्धं ज्योतिरादिषु। अस्ति चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु विज्ञानेष्वन्यदन्यन्नाम तैत्तिरीयकं वाजसनेयकं कौथुमकं शाट्यायनकमित्येवमादि। तथा रूपभेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादकः प्रसिद्धः 'वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्येवमादिषु। अस्ति चात्र रूपभेदः, तद्यथा—केचिच्छाखिनः

पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमपरमग्निमामनन्त्यपरे पुनः पञ्चैव पठन्ति तथा प्राणसंवादादिषु केचिदूनान्वागादीनामनन्ति केचिदधिकान्। तथा धर्मविशेषोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादक आशङ्कितः कारीर्यादिषु। अस्ति चात्र धर्मविशेषः, यथाऽऽथर्वणिकानां शिरोव्रतमिति। एवं पुनरुक्त्यादयोऽपि भेदहेतवो यथासम्भवं वेदान्तान्तरेषु योजयितव्याः। तस्मात्प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद इति।

वहाँ उत्तर कहा जाता है कि सगुण ब्रह्म विषयक और प्राणादि विषयक यह विज्ञान भेद की चिन्ता है इससे दोष नहीं है। इस वेदान्त में कर्मों के समान उपासनाओं के भेद और अभेद का सम्भव है और कर्म ही के समान उपासना भी दृष्ट फल वाली और अदृष्ट फल वाली कही जाती है और कोई उपासना सम्यग् ज्ञान की उत्पत्ति द्वारा क्रममुक्ति फल वाली होती है। उस उपासना रूप विज्ञान विषयक इस चिन्ता का सम्भव है कि प्रत्येक वेदान्त में विज्ञान का भेद है, अथवा भेद नहीं है। जहाँ प्रथम पूर्वपक्ष के हेतु कहे जाते हैं वहाँ प्रथम ज्योति आध्वर्यव-हीन, आदि वाक्यों में नाम को भेद प्रतीति का जनकत्व प्रसिद्ध है। अर्थात् ज्योतिष्टोम नामक याग के प्रकरण में (अथैष ज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत) यह वाक्य पढ़ा हुआ है। वहाँ ज्योति शब्द से ज्योतिष्टोम का अनुवाद करके उसमें सहस्र दक्षिणा रूप गुण का विधान है। इस प्रकार पूर्वपक्ष है और सिद्धान्त है कि वाक्य गत अथ-शब्द से ज्योतिष्टोम के प्रकरण का विच्छेद हो चुका है, और अपूर्व ज्योति यह नाम है। इस नाम भेद से यह ज्योतिष्टोम से भिन्न ज्योति नाम वाला कर्म है इत्यादि। इसी प्रकार यहाँ भी अन्य वेदान्ता में विहित विज्ञान विषयक अन्य-अन्य नाम, तैत्तिरीयक, वाजसनेयक, कौथुम, शाट्यायनक इत्यादि हैं। इससे विज्ञान में भेद भास सकता है। इसी प्रकार कर्म के भेद का प्रतिपादक रूप भेद भी प्रसिद्ध है कि (वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्। ऐन्द्रं दधि ऐन्द्रं पयः) इत्यादि में रूप भेद से कर्म का भेद है। अर्थात् (विश्वेदेवा देवता यस्याः सा वैश्वदेवी आमिक्षा) विश्वेदेव नामक जिसका देव है सो आमिक्षा है और वाजियों (देव) के लिए वाजिन है। इन्द्र देवता वाला दधि है। इन्द्र देवता वाला पय है। ये चार कर्म हैं, क्योंकि द्रव्य और देवता याग रूप कर्म के रूप होते हैं। वहाँ प्रथम कर्म के आमिक्षा और विश्वेदेव रूप हैं। दूसरे के वाजि और वाजिन रूप हैं। तीसरे के इन्द्र और दधिरूप हैं, चौथे के इन्द्र और पय रूप हैं। वहाँ (तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्) इस वचन के अनुसार गरम दूध में दही देने से फट कर जो कठिनांश होता है, उसको आमिक्षा कहते हैं, और उसके पानी भाग को वाजिन कहते हैं। मीमांसा में विचार है कि वाजि शब्द से विश्वेदेव का ही अनुवाद करके वैश्वदेव याग में ही वाजिन गुण का विधान होना चाहिये। ऐसी शंका करके उत्तर है कि कर्म के स्वरूप की बोधक विधि को उत्पत्ति विधि कहते हैं और उत्पत्ति विधि में उपदिष्ट आमिक्षा से

ही उस याग में द्रव्य की आकांक्षा शान्त हो गई है। इससे वाजि नामक देव और वाजिन रूप द्रव्यात्मक रूप के भेद से यह वैश्वदेव याग से भिन्न कर्म का विधान है। इसी प्रकार यहाँ वेदान्त में भी विज्ञान का रूप भेद है। वह इस प्रकार है कि कोई शाखा वाले पञ्चाग्नि विद्या में षष्ठ अन्य अग्नि का भी कथन करते हैं और अन्य कोई पाँच ही को पढ़ते हैं। इसी प्रकार प्राणों के संवादादि में कोई न्यून वाक् आदि कथन करते हैं और कोई अधिक का कथन करते हैं। इसी प्रकार कारीरि आदि में कर्म भेद का प्रतिपादक धर्म विशेष भी आशंकित है कि कारीरी वाक्यों को पढ़ने वाले कोई भूमि में भोजन करते हैं, कोई ऐसा नहीं करते हैं, जहाँ कर्म भेद है अथवा नहीं है इत्यादि। और यहाँ धर्म विशेष हैं। जैसे कि आथर्वणिकों का शिरोव्रत है। इसी प्रकार (समिधो यजति, तनूनपातं यजति) इत्यादि वाक्यों में यजति पद की पुनरुक्ति (अभ्यास) से पाँच प्रयाजों का भेद कहा गया है। जैसे ही शाखान्तर में अभ्यास से विद्या का भेद प्राप्त होता है। इस प्रकार पुनरुक्ति आदि भी भेद के हेतु हैं, सो यथा-सम्भव अन्य वेदान्त में भी योजना (सम्बन्ध) के योग्य हैं। जिससे प्रत्येक वेदान्त में विज्ञान का भेद है। अर्थात् (नाम–रूप–धर्म–विशेष–पुनरुक्ति–निन्दा–शक्ति–समाप्तिवचन–प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरे कर्मभेदः स्यात्) निन्दा, अशक्ति, समाप्तिवचन में भेद, प्रायश्चित्त और अन्यार्थदर्शन (अर्थवाद) इन सबसे कर्म भेद की शंका होती वहाँ अग्निहोत्र के प्रसंग में निन्दा और प्रायश्चित्त से अग्निहोत्र का भेद होता है। इन हेतुओं में निन्दा का प्रसंग वेदान्त में नहीं आता है। अन्य सब का प्रसंग आता है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि तस्मिंस्तस्मिन्वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति। कुतः ? चोदनाद्यविशेषात्। आदिग्रहणेन शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोदिता अभेदहेतव इहाकृष्यन्ते, संयोगरूपचोदनाख्याविशेषादित्यर्थः। यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे शाखाभेदेऽपि पुरुषप्रयत्नस्तादृश एव चोद्यते जुहुयादिति। एवं 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' (बृ० ६।१।१ छा० ५।१।१) इति वाजसनेयिनां छन्दोगानां च तादृश्येव चोदना। प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्ट एव 'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' (बृ० ६।१।१) इति। रूपमप्युभयत्र तदेव विज्ञानस्य यदुत ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषान्वितं प्राणतत्त्वम्। यथा च द्रव्यदेवते यागस्य रूपमेवं विज्ञेयरूपं विज्ञानस्य तेन हि तद्रूप्यते। समाख्याऽपि सैव प्राणविद्येति। तस्मात्सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानाम्। एवं पञ्चाग्निविद्यावैश्वानरविद्याशाण्डिल्यविद्येत्येवमादिषु योजयितव्यम्। ये तु नामरूपादयो भेदहेत्वाभासास्ते प्रथम एव काण्डे 'न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात्' इत्यारभ्य परिहृताः॥ १॥

इस प्रकार पूर्व पक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि (सर्वैर्वेदान्तैः प्रतीयन्त इति सर्ववेदान्तप्रत्ययानि) सब वेदान्तों से जो समझे जाते हैं जिनमें सब वेदान्त प्रमाण

हैं। ऐसे विज्ञान तत्तत् वेदान्तों में वे ही होने योग्य हैं। यह किस प्रमाण से समझा जाय कि सब वेदान्त में वे ही विज्ञान हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि चोदना (विधि) आदि की अविशेषता से समझा जाता है। यहाँ सूत्रगत आदि शब्द से पूर्व-मीमांसा के शाखान्तराधिकरण के सिद्धान्त सूत्र में कथित अभेद के साधक हेतु आकृष्ट होते हैं कि फल का संयोग, रूप, चोदना और आख्या (नाम) की अविशेषता से विज्ञानों का भेद नहीं है यह सूत्र का अर्थ है। जैसे एक अग्निहोत्र में शाखा के भेद होने पर (जुहुयात्) हवन से इष्ट का सम्पादन करे। इस वचन से पुरुष प्रयत्न वैसा ही विहित होता है कि जैसा एक शाखा में विहित होता है। इसी प्रकार (जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जाने) यह वाजसनेयी और छन्दोगों की सदृश ही विधि है और प्रयोजन (फल) का संयोग भी तुल्य ही है कि (अपने सम्बन्धियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है और ज्येष्ठ श्रेष्ठ आदि गुण विशेषण से युक्त जो प्राणतत्त्व है। वही दोनों शाखा में विज्ञान का रूप है। जैसे याग के द्रव्य और देवता रूप होते हैं। इसी प्रकार विज्ञान का विज्ञेय विषय रूप होता है। जिससे जिस विषय द्वारा ही विज्ञान विशेष रूप वाला किया जाता है, निरूपित होता है। प्राणविद्या यह समाख्या (यौगिक नाम) भी दोनों शाखा में वही एक ही है। जिससे विज्ञानों को सब वेदान्तों से प्रत्ययत्व (ज्ञेयत्व) है। इसी प्रकार पञ्चाग्निविद्या, वैश्वानरविद्या, और शाण्डिल्यविद्या इत्यादि में विधि रूपादि की योजना करनी चाहिये। जो काठक कौथुम आदि नाम और रूपादि भेद के हेतु के समान भासते हैं उनका प्रथम काण्ड (पूर्वमीमांसा) में ही (न नाम्ना स्यादचोदना-भिधानत्वात्) इस प्रकार आरम्भ करके परिहार (निवारण) किया गया है कि काठकादि नामों से कर्म का भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि काठकादि शब्द ग्रन्थ के नाम हैं, चोदना (विहित कर्म) के वाचक नहीं हैं। कर्म वाचक नाम के भेद से कर्म का भेद होता है। इससे भिन्न नाम वाले शाखा ग्रन्थ के भेद रहते भी उससे विहित कर्म एक ही होता है। अल्प रूप के भेद से कर्म भिन्न नहीं होता है। धर्म विशेष अध्य-यन का अङ्ग है कर्म का नहीं है इत्यादि ॥ १ ॥

इहापि कञ्चिद्विशेषमाशङ्क्य परिहरति—

यहाँ भी किसी विशेष की आशंका करके परिहार करते हैं—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

स्यादेतत्। सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानां गुणभेदान्नोपपद्यते। तथाहि वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य षष्ठमपरमग्निमामनन्ति—'तस्याग्नि-रेवाग्निर्भवति' (बृ० ६।२।१४) इत्यादिना। छन्दोगास्तु तं नामनन्ति पञ्च-संख्ययैव च त उपसंहरन्ति 'अथ ह य एतानेव पञ्चाग्नीन्वेद' (छा० ५।१०।१०) इति। येषां च स गुणोऽस्ति येषां च नास्ति कथमुभयेषामेका विद्योपपद्येत।

नचात्र गुणोपसंहारः शक्यते प्रत्येतुं, पञ्चसङ्ख्याविरोधात्। तथा प्राणसंवादे श्रेष्ठादन्यांश्चतुरः प्राणान्वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि छन्दोगा आमनन्ति। वाजसनेयिनस्तु पञ्चममप्यामनन्ति 'रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद' (बृ० ६।१।६) इति। आवापोद्वापभेदाच्च वेद्यभेदो भवति। वेद्यभेदाच्च विद्याभेदो द्रव्यदेवताभेदादिव यागस्येति चेत्।

चोदना आदि के अविशेष होने पर यह विज्ञान का एकत्व हो सकता है। परन्तु गुणों के भेद से विज्ञानों को सर्व वेदान्त प्रत्ययत्व उपपन्न नहीं होता है। जिससे पञ्चाग्नि विद्या को प्रस्तुत करके वाजसनेयी अन्य षष्ठी अग्नि का इस प्रकार कथन करते हैं कि (उस मृतक पुरुष के दाह रूप आहुति के लिये प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि है) इत्यादि से कल्पना करते हैं। इसलिये छन्दोग लोग उसका कथन नहीं करते हैं किन्तु पाँच संख्या से ही वे लोग पञ्चाग्नि विद्या का उपसंहार (समाप्ति) करते हैं (फिर जो कोई इन पाँचों अग्नियों को जानता है वह महापापियों के साथ व्यवहार करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता है) इत्यादि। जिस वाजसनेयी को वह षष्ठाग्नि रूप गुण है। जिस छन्दोग को वह गुण नहीं है। उन दोनों की विद्या एक कैसे उपपन्न हो सकती है। यदि कहा जाय कि मृतक दाह के लिए जो वाजसनेयी शाखा में प्रसिद्धाग्नि है, उसका छन्दोग्य में उपसंहार (प्राप्ति, स्वीकार) करने से रूप का भेद नहीं रहेगा। जहाँ कहा जाता है कि इस छान्दोग्य में से गुण का उपसंहार (ग्रहण) नहीं समझा जा सकता है। क्योंकि ऐसा करने से पाँच संख्या से विरोध होगा। इसी प्रकार प्राणसंवाद में छन्दोग लोग श्रेष्ठ प्राण से अन्य वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मनरूप चार प्राणों का कथन करते हैं। वाजसनेयी तो पञ्चम प्राण का भी कथन करते हैं कि रेतः (वीर्य) प्रजनन शक्तियुक्त इन्द्रिय ही प्रजापति है। (ऐसा जो समझता है वह प्रजा और पशु से सम्पन्न होता है) इत्यादि। अधिक गुणादि के आवाप (परिक्षेप, प्राप्ति) और उद्वाप (उद्धरण, निष्कासन) से भी वेद्य (ज्ञेय) पदार्थ का भेद होता है। द्रव्य देवता के भेद से याग भेद के समान वेद्य के भेद से विद्या का भेद होता है। इससे उक्त स्थानों में विद्या का भेद है।

नैष दोषः। यत एकस्यामपि विद्यायामेवंजातीयको गुणभेद उपपद्यते। षष्ठस्याग्नेरुपसंहारो न सम्भवति तथापि द्युप्रभृतीनां पञ्चानामग्नीनामुभयत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्न विद्याभेदो भवितुमर्हति, नहि षोडशिग्रहणाग्रहणयोरतिरात्रोभिद्यते। पठ्यतेऽपि च षष्ठोऽग्निश्छन्दोगैः—'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एवं हरन्ति' (छा० ५।९।२) इति। वाजसनेयिनस्तु सांपादिकेषु पञ्चस्वग्निष्वनुवृत्तायाः समिद्धूमादिकल्पनाया निवृत्तये 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समित्' (बृ० ६।२.१४) इत्यादि समामनन्ति स नित्यानुवादः। अथाप्युपासनार्थ एष वादस्तथापि स गुणः शक्यते छन्दोगैरप्युपसंहर्तुम्। न चात्र पञ्चसङ्ख्याविरोध आशङ्क्यः, साम्पादिकाग्न्यभिप्राया ह्येषा पञ्चसङ्ख्या नित्यानुवा-

दभूता न विधिसमवायिनीत्यदोषः। एवं प्राणसंवादादिष्वप्यधिकस्य गुणस्येतरत्रोपसंहारो न विरुध्यते। नचावापोद्वापभेदाद्वेद्यभेदो विद्याभेदश्चाशङ्क्यः, कस्यचिद्वेद्यांशस्यावापोद्वापयोरपि भूयसो वेद्यराशेरभेदावगमात्। तस्मादेकविद्यमेव ॥ २ ॥

यदि ऐसी शङ्का हो तो कहते हैं कि यह विद्या का भेद रूप दोष नहीं है। जिससे एक विद्या में भी इस प्रकार के गुण का भेद उपपन्न होता है। यद्यपि छान्दोग्य में षष्ठ (छठी) अग्नि का उपसंहार नहीं हो सकता, तथापि स्वर्गादि पाँच अग्नियों की दोनों शाखाओं में प्रत्यभिज्ञा होती है। इससे पाँच अग्नियों को दोनों स्थानों में प्रत्यभिज्ञायमानत्व (प्रत्यभिज्ञाविषयत्व) है। इससे विद्या का भेद होने योग्य नहीं है। षोडशि पात्र के ग्रहण और अग्रहण मात्र से अतिरात्र याग का भेद नहीं होता है। अर्थात् अल्प गुणादि के भेद से जैसे कर्म में भेद नहीं होता वैसे अल्पवेद्य के भेद से विद्या का भेद नहीं हो सकता। छन्दोगों से षष्ठी अग्नि पढ़ी भी जाती है कि (पारलौकिक कर्म में वर्तमान के उस मृतक देह को इस ग्राम में अग्नि के लिए लोग ले जाते हैं)। यदि कहो कि छान्दोग्य में अग्निमात्र सुना गया है। अन्यत्र समित् आदि अधिक पढ़े जाते हैं। इससे विद्या का भेद है तो कहा जाता है कि वाजसनेयी भी साम्पादिक (कल्पित) पाँच अग्नियों में अनुवृत्त (सम्बद्ध) समित् धूमादि कल्पना की निवृत्ति के लिए (उस मृतक के दाह अन्त्येष्टि के लिए प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि है, प्रसिद्ध समित् ही समित् है) इत्यादि पढ़ते हैं, सो नित्यानुवाद (प्रसिद्धानुवाद) रूप है। यदि यह उपासना के लिए अनुवाद है, तो भी वह गुण छन्दोगों से उपसंहार किया जा सकता है। उपसंहार करने पर पाँच संख्या के साथ विरोध की शंका भी यहाँ करने योग्य नहीं है, क्योंकि सम्पत्तिविधिसिद्ध अग्नि के अभिप्राय से ही यह पञ्चत्व रूप संख्या नित्यानुवाद रूप है विधि के साथ सम्बन्ध वाली ध्येय नहीं है, इससे दोष नहीं है। इसी प्रकार प्राणसंवाद आदि में भी अधिक गुण का अन्यत्र उपसंहार विरुद्ध नहीं होता है। आवाप-उद्वाप के भेद से वेद्य के भेद और विद्या के भेद की आशंका भी करने योग्य नहीं है। क्योंकि किसी वेद्यांश के आवाप और उद्वाप (वृद्धि और ह्रास) होने पर भी भूयः (बहुल) वेद्यराशि के अभेद के अवगम से भेद शङ्का का कोई हेतु नहीं है। जिससे सब वेदान्त में एक विद्यात्व ही है ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

यदप्युक्तम्—आथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रताद्यपेक्षणादन्येषां च तदनपेक्षणाद्विद्याभेद—इति, तत्प्रत्युच्यते। स्वाध्यायस्यैष धर्मो न विद्यायाः।

कथमिदमवगम्यते ? यतस्तथात्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे आथर्वणिका इदमपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमिति समामनन्ति। 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीत' (मु० ३।२।११) इति चाधिकृतविषयादेतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्म एवैष इति निर्धार्यते ।

जो यह भी कहा था कि अथर्वशाखा वालों की विद्या के प्रति (विद्या की प्राप्ति में) शिरोव्रतादि की अपेक्षा की जाती है और अन्य की विद्या की प्राप्ति में शिरोव्रतादि की अपेक्षा नहीं की जाती, इससे धर्मभेद से विद्या का भेद है । उसका प्रत्युत्तर कहा जाता है कि शिरोव्रतादि स्वाध्याय का धर्म है । अर्थात् स्वशब्द का अर्थ मुण्डक उपनिषद् है। अध्ययन को अध्याय कहते हैं । इससे मुण्डक के अध्ययन का यह धर्म है, विद्या का धर्म नहीं है । यदि कहा जाय कि यह कैसे समझा जाता है कि यह स्वाध्याय का ही धर्म है, तो कहा जाता है कि जिससे आथर्वणिक लोग कहते-पढ़ते हैं कि तथात्वरूप से अर्थात् स्वाध्याय के धर्मत्वरूप से व्रतों के उपदेशपरक समाचार (सम्यगाचार) रूप अर्थात् सदाचार के प्रतिपादक ग्रन्थ में, यह शिरोव्रतादि भी वेदव्रतरूप से अर्थात् वेदाध्ययन व्रत (धर्म) रूप से व्याख्यात (कथित) है । इस कथन से स्वाध्याय धर्म जाना जाता है । (एतत् इस मुण्डक का अध्ययन वह नहीं करता है कि जिसने शिरोव्रत नहीं किया है) इस वचन में अधिकृतविषयक एतत् शब्द और अध्ययन शब्द से भी अपनी उपनिषद् के अध्ययन का ही यह धर्म है ऐसा निर्धारण (निश्चय) किया जाता है ।

ननु च 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेच्छिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' (मु० ३।२।१०) इति ब्रह्मविद्यासंयोगश्रवणादेकैव सर्वत्र ब्रह्मविद्येति संकीर्येतैष धर्मः। न। तत्राप्येतामिति प्रकृतपरामर्शात् । प्रकृतत्वं च ब्रह्मविद्याया ग्रन्थविशेषापेक्षमिति ग्रन्थविशेषसंयोग्येवैष धर्मः । सववच्च तन्नियम इति निदर्शननिर्देशः। यथा च सवाः सप्त सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यनभिसम्बन्धादाथर्वणोदितैकाग्न्यभिसम्बन्धाच्चाथर्वणिकानामेव नियम्यन्ते तथैवायमपि धर्मः स्वाध्यायविशेषसम्बन्धात्तत्रैव नियम्यते। तस्मादप्यनवद्यं विद्यैकत्वम् ॥३॥

शंका होती है कि (जिन्होंने शिरोव्रत का विधियुक्त अनुष्ठान किया है, उनके ही प्रति यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये) इस प्रकार ब्रह्मविद्या के साथ व्रत के संयोग के श्रवण से और सर्वत्र ब्रह्मविद्या के एक ही होने से यह धर्म सर्वत्र संकीर्ण (सम्बद्ध) होगा और यदि नहीं सम्बद्ध होता है, तो सर्वत्र ब्रह्मविद्या एक नहीं है, विद्या का भेद है । उत्तर है कि इस धर्म का सर्वत्र सम्बन्ध नहीं होता है न वस्तुतः विद्या का भेद है, जिससे उस वचन में भी (एताम्) इस पद से प्रकृत का परामर्श (स्मरण) होने से ब्रह्म के बोधक ग्रन्थ का ही वाचक ब्रह्मविद्या शब्द है । अर्थात् एताम्, इससे प्रकृत का परामर्श होता है। ब्रह्मविद्या को प्रकृतत्व ग्रन्थविशेष की अपेक्षा से है, इससे ग्रन्थविशेष का

सम्बन्धी यह धर्म है। (सववच्च तन्नियमः) सूत्र में यह निदर्शन (दृष्टान्त) का निर्देश (कथन) है। सव शब्द होम, यज्ञविशेष का वाचक है। यहाँ जैसे शतौदन-पर्यन्त सौर्यादि नाम वाले सात होम, वेदान्तर (अन्य वेद) में कथित आहवनीय आदि त्रेताग्नि (तीन अग्नि) के साथ सम्बन्धाभाव, और आथर्वण में कथित एकर्षि नामक एक अग्नि के साथ सम्बन्ध के कारण आथर्वणिकों के ही लिए नियमित होते हैं, कि आथर्वणिकों को उस एक अग्नि में ही उक्त सातों होम करना चाहिए अन्य में नहीं। इसी प्रकार यह भी शिरोव्रतादि धर्म स्वाध्यायविशेष के साथ सम्बन्ध से उस स्वाध्याय (अध्ययन) में ही नियमित होता है इससे भी विद्या की एकता दोष रहित है ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ४ ॥

दर्शयति च वेदोऽपि विद्यैकत्वं सर्ववेदान्तेषु वेद्यैकत्वोपदेशात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क० २।१५) इति, तथा 'एतमेव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' इति च। तथा 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (क० ६।२) इति काठके उक्तस्येश्वरगुणस्य भयहेतुत्वस्य तैत्तिरीयके भेददर्शन-निन्दायै परामर्शो दृश्यते 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (त० २।७।१) इति। तथा वाजसनेयके प्रादेशमात्रसंपादितस्य वैश्वानरस्य छान्दोग्ये सिद्धवदुपादानम् 'यस्त्वेतमेव प्रादेश-मात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (छा० ५।१८।१) इति। तथा सर्व-वेदान्तप्रत्ययत्वेनाऽन्यत्र विहितानामुक्थादीनामन्यत्रोपासनविधानायोपादानात्प्राय-दर्शनन्यायेनोपासनानामपि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वसिद्धिः ॥ ४ ॥

वेद्यब्रह्म की एकता के उपदेश से निर्गुण ब्रह्मविद्या की एकता को वेद भी सब वेदान्तों में दर्शाता है तथा उसके सन्निधिपाठादि से सगुण विद्याओं की भी एकता दर्शाता है कि (सब वेद जिस प्राप्तव्य वस्तु का प्रतिपादन करते हैं) इति। इसी प्रकार (इसी ब्रह्मात्मा को बह्वृच, ऋग्वेदी महान् उक्थ में विचार करते हैं, इसी को अग्नि में अध्वर्यु होम द्वारा पूजते हैं, छन्दोग महाव्रत में इसका ध्यान करते हैं) यह वचन भी सगुण को एकता को दर्शाता है। इसी प्रकार (जगत् का कारणरूप ब्रह्म महाभय का हेतु है, उद्यत वज्र के समान है) इस कठसम्बन्धी वचन में कहा गया भयहेतुत्वरूप ईश्वर के गुण का भेददर्शन की निन्दा के लिए तैत्तिरीयक में परामर्श देखा जाता है कि (जब यह अज्ञ जीव इस अद्वैत ब्रह्म में परम् उत् अल्प भी अन्तर, भेद देखता-समझता है, तब उसको भय होता है। जिससे ब्रह्म के मनन विचारादि से रहित विद्वान् के लिए भी वह ब्रह्म ही भय का हेतु होता है) यह परामर्श दर्शन एकता को सिद्ध करता है। इसी प्रकार वाजसनेयक में प्रादेशमात्ररूप से सम्पादित (कल्पित) वैश्वानर का छान्दोग्य में सिद्ध वस्तु के समान उपादान (ग्रहण) भी वैश्वानरविद्या की

एकता को दर्शाता है कि (जो कोई इस वैश्वानर को यथोक्त रीति से द्युमूर्धादि रूप प्रदेशों से युक्त प्रादेशमात्र अभिविमान, प्रत्यगात्मक रूप से ज्ञायमान आत्मारूप से उपासना करता है वह सर्वत्र अन्न खाता है) इति। जैसे निर्गुण और सगुण ब्रह्म की एकता है, उसकी विद्या भिन्न नहीं होती है, इसी प्रकार अन्यत्र विहित (उक्त) उक्थादि (वेदांश आदि) के अन्य स्थान में उपासना विधान के लिये ग्रहण से सर्व-वेदान्तों में उक्थादि के प्रत्ययत्व (प्रतीयमानत्व) प्रतीतिविषयत्व द्वारा प्रायदर्शन न्याय से बाहुल्यरूप से उपासनाओं की सर्ववेदान्त-प्रत्ययसिद्धि (सब वेदान्त में एकता ज्ञान की सिद्धि) होती है ॥ ४ ॥

उपसंहाराधिकरण (२)

एकोपास्तावनाहार्या आहार्या वा गुणाः श्रुतौ। अनुक्तत्वादनाहार्या उपकारः श्रुतेर्गुणैः॥१॥ श्रुतत्वादन्यशाखायामाहार्या अग्निहोत्रवत्। विशिष्टविद्योपकारः स्वशाखोक्तगुणैः समः॥२॥

समान (अनेक शाखा में वर्णित एक) विज्ञान-उपासना में कहीं श्रुत गुण का अन्यत्र अश्रुत गुण के स्थान में अर्थ के अभेद से (प्रयोजन की अविशेषता-तुल्यता से) उपसंहार (संग्रह, सम्बन्ध) समझना चाहिये, कि जैसे अग्निहोत्र में अन्यत्र उक्त धर्म का अन्यत्र संग्रह होता है, वैसे ही यहाँ भी होता है। यहाँ संशय है कि एक उपासना में अन्यत्र श्रुत गुण आहरण (संग्रह) के योग्य हैं, अथवा अन्य श्रुति में आहरण योग्य नहीं हैं। पूर्वपक्ष है कि जो गुण जिस श्रुति में अनुक्त है सो अनुक्त होने ही में अन्यत्र से उपसंहार के अयोग्य है। यदि कहा जाय कि गुण से उपासना में उपकार (विशेष फल) होता है, इसलिए उपसंहार करना चाहिए तो कहा जाता है कि श्रुत गुणों से ही उपकार होगा, अन्य गुण का ग्रहण निरर्थक है। सिद्धान्त है कि एक शाखा में नहीं श्रुत होने पर अन्य शाखा में श्रुत होने से अग्निहोत्र कर्म के समान विद्या में भी गुण का उपसंहार करना चाहिए, क्योंकि उपसंहार करने से अपनी शाखा में उक्त गुणों से अन्य उपकार के समान उन उपसंहृत गुणों से विशिष्ट (अधिक) विद्या में उपकार होगा अधिक गुण का अधिक फल होगा इत्यादि॥ १–२॥

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥

इदं प्रयोजनसूत्रम्। स्थिते चैवं सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे सर्वविज्ञानानामन्यत्रोदितानां विज्ञानगुणानामन्यत्रापि समाने विज्ञान उपसंहारो भवति, अर्थाभेदात्। य एव हि तेषां गुणानामेकत्रार्थो विशिष्टविज्ञानोपकारकः स एवान्यत्रापि, उभयत्रापि हि तदेवैकं विज्ञानं तस्मादुपसंहारः विधिशेषवत्, यथाहि विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्रेत्यर्थाभेदादुपसंहार एवमिहापि। यदि हि विज्ञानभेदो भवेत्ततो विज्ञानान्तरनिबद्धत्वाद् गुणानां प्रकृतिविकृतिभावाच्च न स्यादुपसंहारः। विज्ञानैकत्वे तु नैवमिति, अस्यैव तु प्रयोजनसूत्रस्य प्रपञ्चः सर्वाभेदादित्यारभ्य भविष्यति॥ ५॥

भाष्यकार कहते हैं कि विद्या की एकता साधन के प्रयोजन को कहने वाला यह सूत्र है। क्योंकि इस पूर्व कही रीति से सर्ववेदान्त-प्रत्ययत्व (सब वेदान्त से ज्ञेयत्व) के सब विज्ञान के सिद्ध होने पर स्थिर होने पर, अन्यत्र कथित विज्ञान के गुणों का कहीं अन्यत्र भी समान विज्ञान में अर्थ के अभेद से उपसंहार होता है। जिससे उन गुणों का विशिष्ट विज्ञान का उपकारक जो ही अर्थ (फल, प्रयोजन) एक स्थान में है वही अर्थ उपसंहार करने पर अन्यत्र भी होगा। जिससे दोनों स्थान में एक वही विज्ञान है। इससे उपकार की तुल्यता से विधि शेष (अंग) के समान उपसंहार होता है। जैसे कि विधि के शेषों (अङ्गों) अग्निहोत्रादि के धर्मों का वही एक अग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्र है इस बुद्धि से और अर्थ के अभेद से उपसंहार होता है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। यदि विज्ञान का भेद हो, तब तो गुणों को विज्ञानान्तर में निबद्ध होने से तथा प्रकृति-विकृतिभाव के अभाव से उपसंहार नहीं हो। परन्तु विज्ञान का एकत्व होने पर तो इस प्रकार गुण का अनुपसंहार नहीं होता है। अर्थात् कर्मों में भेद रहते गुण का उपसंहार नहीं होता है। परन्तु प्रकृति-विकृतिभाव के रहने पर प्रकृति कर्म के गुण का विकृति कर्म में (प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या) प्रकृति के समान विकृति करना चाहिए, इस वचन के अनुसार सम्बन्ध होता है। जिसमें अन्य से गुण की प्राप्ति नहीं हो उसको प्रकृति कहते हैं। अन्य को विकृति कहते हैं। विज्ञान में प्रकृति-विकृतिभाव नहीं होने से भेद रहने पर अन्य के गुण का अन्य में सम्बन्ध नहीं हो सकता है। परन्तु अभेद रहने पर तो सम्बन्ध होता ही है। इसी प्रयोजनसूत्र का सर्वाभेदात् यहाँ से आरम्भ करके विस्तार किया जायगा, पुनरुक्ति नहीं है ॥ ५ ॥

अन्यथात्वाधिकरण (३)

एका भिन्नाथोद्गीथविद्या छान्दोग्यकाण्वयोः। एका स्यान्नामसामान्यात्संग्रामादिसमत्वतः॥१॥
उद्गीथावयवोंकार उद्गातेत्युभयोर्भिदा। वेद्यभेदेऽर्थवादादिसाम्यमत्राऽप्रयोजकम् ॥ २ ॥

छान्दोग्य और बृहदारण्यक में उद्गीथ विद्या पढ़ी गई है, वहाँ छान्दोग्य में उद्गीथ के अवयव ओंकार की प्राणरूप से उपासना कही गई है। बृहदारण्यक में सम्पूर्ण उद्गीथ के कर्ता उद्गातारूप से प्राण की उपासना कही गई है। इस शब्द भेद से उपासना में अन्यथात्व है, भेद है। ऐसा यदि कोई कहे, तो पूर्वपक्षी कहता है कि इस अल्प भेद से विद्या का भेद नहीं हो सकता है, नामादि बहुत की तुल्यता से विद्या की एकता है। यह सूत्रार्थ है। संदेह है कि छान्दोग्य और काण्व की उद्गीथविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है। पूर्वपक्ष है कि नाम की समानता से तथा सात्त्विक-तामस इन्द्रिय-वृत्तिरूप देवासुर के संग्रामादि की तुल्यता से एक विद्या होनी चाहिए। सिद्धान्त है कि छान्दोग्य में उद्गीथ का अवयव ओंकार उपास्य है। अन्यत्र उद्गातारूप प्राण उपास्य है। विज्ञान का वेद्य के भेद से भेद होता है इससे विद्या का भेद है, वेद्य के भेद रहते अर्थवादादि की तुल्यता इस विद्या में अभेद का प्रयोजक (हेतु) नहीं हो सकती है ॥ १-२ ॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

वाजसनेयके 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति' (बृ० १।३।१) 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथा' (बृ० १।३।२) इति प्रक्रम्य वागादीन्प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्' (बृ० १।३।७) इति तथा छान्दोग्येपि—'तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्यामः' (छा० १।२।१) इति प्रक्रम्येतरान्प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा तथैव मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' (छा० १।२।७) इति। उभयत्रापि च प्राणप्रशंसया प्राणविद्याविधिरध्यवसीयते। तत्र संशयः—किमत्र विद्याभेदः स्यादाहोस्विद्विद्यैकत्वमिति। किं तावत्प्राप्तं ? पूर्वेण न्यायेन विद्यैकत्वमिति।

वाजसनेयक (बृहदारण्यक) में वर्णन है कि (असुरों से—तामस वृत्तियों से पराजित वे देव कहने लगे कि इस उदगीथ के कर्तृत्वरूप से इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में असुरों को जीत कर अपने देवभाव को प्राप्त करें। ऐसा निश्चय करके उन देवों ने वाक् के अभिमानी देव से कहा कि तुम हम सब के लिए उद्गान कर्म करो, तथास्तु ऐसा कहकर वाक् ने उद्गान किया) इस प्रकार से आरम्भ करके और वाक् आदि प्राणों की असुर-सम्बन्धी पापों से विद्धत्व (व्याप्तत्व) द्वारा निन्दा करके मुख्य प्राण का उद्गातारूप से परिग्रह पढ़ा जाता है कि (आस्य, मुख में रहने वाले प्राण से देव सब कहने लगे कि तुम हमारे लिए उद्गान करो, तथास्तु इस प्रकार स्वीकार करके इस प्राण ने उनके लिए उद्गान किया) इत्यादि। इसी प्रकार छान्दोग्य में भी है कि (उस प्रवृत्त देवासुर संग्राम में देव सब ने उद्गीथ कर्म को प्राप्त किया कि इस कर्म से असुरों का पराजय करेंगे) इस प्रकार से आरम्भ करके अन्य प्राणों की पापविद्धत्व से निन्दा करके, उक्त रीति से ही मुख्य प्राण का परिग्रह पढ़ा जाता है कि (फिर जो ही यह प्रसिद्ध मुख में रहने वाला प्राण है उसकी उदगीथरूप से उपासना देवों ने की) दोनों उपनिषद् में ही प्राण की प्रशंसा से प्राणविद्या की विधि का निश्चय किया जाता है।

ननु न युक्तं विद्यैकत्वं प्रक्रमभेदात्, अन्यथा हि प्रक्रमन्ते वाजसनेयिनोऽन्यथा छन्दोगाः 'त्वं न उद्गाय' (बृ० १।३।२) इति वाजसनेयिन उद्गीथस्य कर्तृत्वेन प्राणमामनन्ति, छन्दोगास्तूद्गीथत्वेन 'तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' (छा० १।२।७) इति, तत्कथं विद्यैकत्वं स्यादिति चेत्। नैष दोषः। न ह्येतावता विशेषेण विद्यैकत्वमपगच्छति अविशेषस्यापि बहुतरस्य प्रतीयमानत्वात्। तथाहि—देवासुरसंग्रामोपक्रमत्वमसुरात्ययाभिप्राय उद्गीथोपन्यासो वागादिसंकीर्तनं तन्निन्दया मुख्यप्राणव्यपाश्रयस्तद्वीर्याच्चासुरविध्वंसनमश्ममृल्लोष्टनिदर्शनेनेत्येवं बहवोऽर्था उभयत्राप्यविशिष्टाः प्रतीयन्ते। वाजसनेयकेऽपि चोद्गीथ-

सामानाधिकरण्यं प्राणस्य श्रुतम्—'एष उ वा उद्गीथः' (बृ० १।३।२३) इति। तस्माच्छान्दोग्येऽपि कर्तृत्वं लक्षयितव्यम्। तस्माच्च विद्यैकत्वमिति ॥ ६ ॥

यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ विद्या का भेद होगा, अथवा विद्या की एकता है। प्रथम क्या प्राप्त है ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष होता है कि पूर्व न्याय से विद्या का एकत्व प्राप्त होता है। पूर्वपक्ष में शंका होती है कि प्रक्रम (उपक्रम) के भेद से विद्या का एकत्व (अभेद) युक्त नहीं है। जिससे वाजसनेयी अन्य प्रकार से आरम्भ करते हैं। छन्दोग उससे अन्य प्रकार से आरम्भ करते हैं (तुम हमारे लिए उद्गान करो) इस प्रकार वाजसनेयी उद्गीथ (उद्गान) के कर्तृत्वरूप से प्राण का कथन करते हैं। छान्दोग्य तो उद्गीथत्व (ओंकारत्व) रूप से प्राण का कथन करते हैं कि (उस मुख्य प्राण की उद्गीथरूप से देवों ने उपासना की) इस प्रकार का भेद होते वह विद्या का एकत्व कैसे होगा। पूर्वपक्षी कहता है कि यह दोष नहीं है, जिससे इतने विशेष भेद से विद्या की एकता नष्ट नहीं होती है, क्योंकि बहुतर (अति अधिक) अविशेष (अभेद) के भी प्रतीयमान (प्रतीत) होने से विद्या की एकता सिद्ध होती है। क्रमत्व विशेष से अधिक अविशेष ही इस प्रकार है कि देवासुर-संग्रामीय क्रमत्व, असुरों के अत्यय का अभिप्राय (असुरजयार्थक संवाद) उद्गीथ का उपन्यास, वाक् आदि का संकीर्तन, उनकी निन्दा से मुख्य प्राण का आश्रयण और उस प्राण के वीर्य, प्रभाव से असुरों का नाश उसके लिये पत्थर-मृत्तिका के लोष्ट (ढेले) का दृष्टान्तरूप से कथन कि जैसे पत्थर को प्राप्त होकर लोष्ट नष्ट होता है, इसी प्रकार प्राण को हनन के लिए प्राप्त होकर असुर पाप स्वयं नष्ट होते हैं। इस प्रकार के बहुत अर्थ दोनों स्थान में तुल्य प्रतीत होते हैं। वाजसनेयक में भी उद्गीथ की समानाधिकरणता (उद्गीथरूपता) प्राण की छान्दोग्य के समान सुनी जाती है कि (यह प्राण अवश्य उद्गीथ है) इस प्रकार उद्गीथरूपता के दोनों में तुल्य होने पर इसी से छान्दोग्य में भी उद्गीथ कर्तृत्व प्राण में लक्षणा से समझना चाहिए। इस प्रकार अल्प भेद के भी नहीं रहने से विद्या की एकता है ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

न वा विद्यैकत्वमत्र न्याय्यं विद्याभेद एवात्र न्याय्यः। कस्मात्? प्रकरणभेदादिति। प्रक्रमभेदादित्यर्थः। तथाहि—इह प्रक्रमभेदो दृश्यते छान्दोग्ये तावत् 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्येवमुद्गीथावयवस्योंकारस्योपास्यत्वं प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपव्याख्यानं च तत्र कृत्वा 'अथ खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १।१।१०) इति, पुनरपि तमेवोद्गीथावयवमोंकारमनुवर्त्य देवासुराख्यायिकाद्वारेण 'तं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' (छा० १।२।२) इत्याह। तत्र यद्युद्गीथशब्देन सकला भक्तिरभिप्रेयेत तस्याश्च कर्तोद्गातर्त्विक्तत उपक्रमश्चोपरुध्येत, लक्षणा च प्रसज्येत। उपक्रमानुरोधेन

चैकस्मिन्वाक्ये उपसंहारेण भवितव्यम् । तस्मादत्र तावदुद्गीथावयवे ओङ्कारे प्राणदृष्टिरुपदिश्यते ।

यहाँ विद्या का एकत्व न्याययुक्त किसी प्रकार नहीं है, विद्या का भेद ही यहाँ न्याययुक्त है, क्योंकि प्रकरण भेद (प्रक्रमभेद) से यही सिद्ध होता है । सूत्रगत प्रकरण शब्द का प्रक्रम अर्थ है । यहाँ इस प्रकार प्रक्रम (उपक्रम) भेद देखा जाता है कि छान्दोग्य में तो (ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे) इस प्रकार उद्गीथ के अवयव ओंकार के उपास्यत्व का प्रस्ताव (आरम्भ)· और पृथिवी आदि रसों का भी रसतम (उत्तम रस) ओंकार है, इत्यादि गुणों का उसमें उपव्याख्यान (कथन) करके (अथ इसी प्रकृत उद्गीथ के अवयवरूप ओंकार अक्षर का उपव्याख्यान है) इस प्रकार फिर भी देवासुर की आख्यायिका द्वारा उसी उद्गीथ के अवयव ओंकार की अनुवृत्ति करके (उन देवों ने प्राणरूप से उस उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना की) यह श्रुति कहती है ।

वाजसनेयके तूद्गीथशब्देनावयवग्रहणे कारणाभावात्सकलैव भक्तिरावेद्यते, 'त्वं न उद्गाय' (बृ० १।३।२) इत्यपि तस्याः कर्तोद्गातर्त्विक्प्राणत्वेन निरूप्यत इति प्रस्थानान्तरम् । यदपि तत्रोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य तदप्युद्गातृत्वेनैव दिदर्शयिषितस्य प्राणस्य सर्वात्मत्वप्रतिपादनार्थमिति न विद्यैकत्वमावहति, सकलभक्तिविषय एव च तत्राप्युद्गीथशब्द इति वैषम्यम् । नच प्राणस्योद्गातृत्वमसंभवेन हेतुना परित्यज्येत उद्गीथभाववदुद्गातृभावस्याप्युपासनार्थत्वेनोपदिश्यमानत्वात् । प्राणवीर्येणैव चोद्गातौद्गात्रं कर्म करोतीति नास्त्यसंभवः । तथा च तत्रैव श्रावितम्—'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्' (बृ० १।३।२४) इति ।

यहाँ यदि वाजसनेय के साथ एकता के लिए उद्गीथ शब्द से सम्पूर्ण उद्गीथ भाग अभिप्रेत (स्वीकृत, गृहीत) किया जाय, और (प्राणमुद्गीथम्) यहाँ उस उद्गीथ भाग का कर्ता उद्गाता ऋत्विक् रूप उपास्य प्राण अभिप्रेत किया जाय, तो उपक्रम उपरुद्ध (बाधित) हो जायगा, अर्थात् ओंकार की उपासनारूप उपक्रम का भंग होगा, और उद्गीथ पद की उद्गीथकर्ता अर्थ में लक्षणा की प्राप्ति होगी । यदि कहा जाय कि उद्गीथ पद की उद्गीथ के अवयव में लक्षणा करनी ही पड़ती है । उससे श्रेष्ठ है कि श्रुत्यन्तर के अनुसार से तथा उपसंहार में कर्तारूप प्राण की उपासना के निश्चय से उपक्रम में भी कर्ता प्राण का निश्चय किया जाय, तो कहा जाता है कि एक वाक्य में असंदिग्ध उपक्रम के अनुसार उपसंहार को होना चाहिए, उपक्रम सन्दिग्ध हो वहाँ भले ही उपसंहार के अनुसार उसका निश्चय किया जाता है, यहाँ तो ओंकाररूप अक्षर को उपक्रम में उपास्यत्व निश्चित है । इससे उसके साथ एक विभक्तियुक्त उद्गीथपद की लक्षणा भी निश्चित है । इससे उपसंहार को उपक्रम के अनुसार

कर्तव्य है। जिससे यहाँ उद्गीथ के अवयव ओंकार में ही प्राणदृष्टि का उपदेश दिया जाता है, उद्गीथ भाग में नहीं। वाजसनेयक में तो उद्गीथ शब्द से अवयव के ग्रहण में कारण के अभाव से सम्पूर्ण उद्गीथ भाग ही उद्गीथ शब्द से आवेदित (बोधित) होता है। (तुम हमारे लिए उद्गान करो) इस वचन से भी उस उद्गीथ भाग का गानकर्ता ऋत्विक् उद्गाता ही प्राणरूप से निरूपित होता है, इससे यह प्रस्थानान्तर है (छान्दोग्य से अन्य प्रकार का उपक्रम है)। उस वाजसनेयक में जो भी प्राण को उद्गीथ के साथ समानाधिकरणता (एकविभक्तिवाच्यता) है, वह भी उद्गातृत्वरूप से ही दर्शाने की इच्छा के विषय प्राण की सर्वात्मता के प्रतिपादन के लिए है, इससे वह विद्या की एकता को नहीं सिद्ध करता है। वहाँ भी उद्गीथ शब्द सम्पूर्ण उद्गीथ भागविषयक ही है, यह विषमता है। जड़ता से प्राण के उद्गातृत्व के असंभव रूप हेतु से भी प्राण का उद्गातृत्व त्यागा नहीं जा सकता है। क्योंकि उद्गीथरूपता के समान ही उद्गातृरूपता का भी उपासना के लिए उपदेश है प्राण के वीर्य (बल, प्रभाव) से ही उद्गाता औद्गात्र (उद्गान) कर्म करता है, इससे प्राण के उद्गातृत्व का असम्भव नहीं है। इसी प्रकार वहाँ ही सुनाया गया है कि (प्राणप्रधान वाक् द्वारा आत्मस्वरूप प्राण से उस उद्गाता ने उद्गान किया)।

नच विवक्षितार्थभेदेऽवगम्यमाने वाक्यच्छायानुकारमात्रेण समानार्थत्वमध्यवसातुं युक्तम्, तथा ह्यभ्युदयवाक्ये पशुकामवाक्ये च—'त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्' इत्यादिनिर्देशसाम्येऽप्युपक्रमभेदादभ्युदयवाक्ये देवतापनयोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यागविधिः, तथेहाप्युपक्रमभेदाद्विद्याभेदः, परोवरीयस्त्वादिवत्। यथा परमात्मदृष्ट्यध्याससाम्येऽपि 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छा० १।९।१) 'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १।२।९) इति परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टमुद्गीथोपासनमक्ष्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथोपासनाद्भिन्नम्, नचेतरेतरगुणोपसंहार एकस्यामपि शाखायां तद्वच्छाखान्तरस्थेष्वप्येवंजातीयकेषूपासनेष्विति ॥ ७ ॥

विवक्षित अर्थ उपास्य ओंकार और प्राण के भेद के अवगम्यमान (अनुभूत) होते वाक्यच्छाया (वाक्य-प्रतिबिम्ब) के अनुकरण (तुल्यता) मात्र से समानार्थत्व का निश्चय करना युक्त नहीं है। वह इस प्रकार से युक्त नहीं है कि जैसे अभ्युदय वाक्य (दर्शयाग में चन्द्रमा के अभ्युदयनिमित्तक कर्मबोधक वाक्य) और पशुकाम वाक्य में (तण्डुलों का त्रिधा विभाग करे, उनमें जो मध्यम तण्डुल हों उनका दाता अग्नि के लिये आठ कपाल में पुरोडाश करे) इत्यादि निर्देश के तुल्य होते भी उपक्रम के भेद से अभ्युदय वाक्य में देवता का अपनय (त्याग) अध्यवसित (निश्चित) होता है, कर्म वही रहता है। पशुकाम वाक्य में तो अन्य याग का विधान होता है, उसी प्रकार से यहाँ भी परोवरीयस्त्वादि के समान विद्या का भेद उपक्रम के भेद से होता है। अर्थात् (वि वा एतं

प्रजया पशुभिरर्द्धयति वर्द्धयत्यस्य भ्रातृव्यं यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेद् ये मध्यमास्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्याद् ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधँश्चरुं येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे विशिष्टाय शृते चरुम्) चतुर्दशी में ही अमावास्या के भ्रम से जिस यज्ञकर्ता को अमावास्या में दर्शयाग के लिए प्रवृत्त होना चाहिए वह चतुर्दशी में ही प्रवृत्त हो और दर्श के देवता अग्नि आदि के लिए तण्डुल दधिपयरूप हवि प्रथम ही निरुप्त संकल्पित हो जाय, उसके बाद यदि चन्द्रमा अभ्युदित हो तो उस यज्ञकर्ता को काल के विपर्ययरूप अपराध से, वही संकल्पित हवि इसको प्रजा आदि से वियुक्त करता है, उसके शत्रु को बढ़ाता है इसलिए काल की भ्रान्ति वाला यजमान, दधि आदि सहित जो तीन प्रकार के संकल्पित तण्डुल हैं, उनको अग्नि आदि देवों से विभजेत् (विभक्त करे) और दातृप्रदातृ, शिपिविष्ट(महेश्वरत्व)स्थ गुण वाले देवों के प्रति उसी कर्म में अष्टाकपाल पुरोडाश चरु का अर्पण करे। इस प्रकार देवता का अपनयमात्र अध्यवसित होता है। पशुकाम वाक्य में यद्यपि (ये स्थविष्ठास्तानग्नये प्रणीयते) इत्यादि निर्देश अभ्युदय वाक्य के तुल्य है तथापि अमावास्या में नित्य दर्शकर्म की समाप्ति के बाद फिर गोदोहन के लिए वत्सापाकरणादि का उपक्रम है इससे यागान्तर की विधि है, अभ्युदय वाक्य के साथ पशुकाम वाक्य को एकार्थता नहीं है, इसी प्रकार यहाँ भी कुछ अंश में निर्देश की समता विद्या की एकता का हेतु नहीं है, किन्तु परोवरीयस्त्वादि के समान विद्या का भेद है जैसे परमात्मदृष्टि का अध्यास के तुल्य होते भी (आकाश परमात्मा ही इन सब भूतों से अति महान् है और आकाश ही सबका परम आश्रय है। वही परमात्मा पर से पर और वर से वर परोवरीयान् ही उद्गीथ है, और सो यह उद्गीथ अनन्त है) इस प्रकार की परोवरीयस्त्वादि गुणविशिष्ट उद्गीथ की उपासना, नेत्रसूर्यादिगत हिरण्यश्मश्रुत्वादि गुणविशिष्ट उद्गीथ उपासना से भिन्न है। भिन्न होने से एक शाखा में भी परस्पर गुणों का उपसंहार भी नहीं होता है। इसी प्रकार शाखान्तर में स्थित इस प्रकार को उपासनाओं में गुणोपसंहार नहीं होता है ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

अथोच्येत संज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वमत्र न्याय्यमुद्गीथविद्येति ह्युभयत्राप्येका संज्ञेति। तदपि नोपपद्यते। उक्तं ह्येतत्—'न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्' (ब्र० सू० ३।३।७) इति। तदेव चात्र न्याय्यतरं श्रुत्यक्षरानुगतं हि तत्संज्ञैकत्वं तु श्रुत्यक्षरबाह्यमुद्गीथशब्दमात्रप्रयोगाल्लौकिकैर्व्यवहर्तृभिरुपचर्यते। अस्ति चैतत्संज्ञैकत्वं प्रसिद्धभेदेष्वपि परोवरीयस्त्वाद्युपासनेषूद्गीथविद्येति। तथा प्रसिद्धभेदानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां काठकैकग्रन्थपरिपठितानां काठकसंज्ञैकत्वं दृश्यते तथेहापि भविष्यति। यत्र तु नास्ति कश्चिदेवंजातीयको भेदहेतुस्तत्र भवतु संज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वं यथा संवर्गविद्यादिषु ॥ ८ ॥

यदि पूर्वपक्षी कहे कि संज्ञा की एकता से विद्या का एकत्व यहाँ न्याययुक्त है। उद्गीथ विद्या यह संज्ञा दोनों स्थानों में एक ही है, तो वह कहना उपपन्न नहीं हो सकता, जिससे यह कहा जा चुका है कि (न वा प्रकरणभेदात्) इत्यादि, और वही यहाँ अत्यन्त न्याययुक्त है, जिससे वह श्रुति के अक्षरों से अनुगत (प्राप्त) है। संज्ञा की एकता तो श्रुति के अक्षरों से बाहर है, उद्गीथ शब्दमात्र के प्रयोग से लौकिक व्यवहार करने वालों से उपचार, व्यवहार किया जाता है। प्रसिद्ध भेदवाले परोवरीयस्त्वादिउपासनाओं में भी उद्गीथविद्या, यह संज्ञा की एकता है, इसी प्रकार प्रसिद्ध भेद वाले, काठक नामक एक ग्रन्थ में पठित अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि को भी काठक एक संज्ञावत्त्व देखा जाता है। उसी प्रकार यहाँ भी होगा। परन्तु जहाँ इस प्रकार का कोई भेद का हेतु नहीं है, वहाँ संज्ञा की एकता से विद्या को एकता होगी, जैसे कि संवर्ग विद्या की सब शाखा में संज्ञा की एकता से एकता होती है ॥ ८ ॥

व्याप्त्यधिकरण (४)

किमध्यासोऽथवा बाध ऐक्यं वाथ विशेष्यता। अक्षरस्यात्र नास्त्यैक्यं नियतं हेत्वभावतः॥
वेदेषु व्याप्त ओंकार उद्गीथेन विशिष्यते। अध्यासादौ फलं कल्प्यं संनिकृष्टांशलक्षणा॥

(ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत) यहाँ संशय होता है कि इस वचन से ओंकार अक्षर की उपासना विहित है, यहाँ उद्गीथ पद का क्या फल है, उद्गीथ का उच्चारण असमञ्जस (अयुक्त) प्रतीत होता है। उत्तर है कि ओंकार की सब वेद में व्याप्ति से (ओमित्येतदक्षरमुपासीत) इतना ही कहने पर संशय हो सकता था कि किस ओंकार की उपासना की जाय और उद्गीथ पद के रहने से लक्षणा द्वारा निःसंशय बोध होता है कि उद्गीथ के अवयवरूप ओंकार की उपासना करे इससे समञ्जस (युक्त) उद्गीथ पद है। फिर भी शंका होती है कि यदि ओंकार व्यापक है, तो उद्गीथ का अवयव ओंकार अन्य स्थान में पठित से भिन्न नहीं है कि फिर भी विशेषण असमञ्जस व्यर्थ है। उत्तर है कि परमात्मा की व्याप्ति के समान होने से समञ्जस है। अर्थात् परमात्मा की व्याप्ति रहते भी औपाधिक भेद से हृदयादि में भेद माना जाता है। इसी प्रकार सब वेद में व्यापक एक ओंकार के पाठादि कृत औपाधिक भेद से भेद समझा जाता है इत्यादि सूत्रार्थ है ॥

यहाँ समानाधिकरणविषयक संशय है 'किं नाम ब्रह्मेत्युपासीत', इसके समान यह अध्यासमूलक उपदेश है। अथवा 'यश्चौरः स स्थाणुः' जो चोर था वह ठूँठ है। इसके समान बाध दृष्टि से है, या 'अहं ब्रह्म' इत्यादि के समान एकता दृष्टि से है, अथवा 'नीलो घटः' इत्यादि के समान विशेषण विशेष्यभाव से है। पूर्वपक्ष है कि हेतुविशेष के अभाव से यहाँ श्रुति के अक्षर का नियत (निश्चित) ऐक्य (एकार्थबोधकत्व) नहीं है। उत्तर है कि वेदों में व्याप्त ओंकार उद्गीथ द्वारा विशेषित किया जाता है। अध्यासादि में नामोपासनादि के समान फल की कल्पना करनी पड़ेगी, विशेषण पक्ष में इतर की

व्यावृत्ति फल होता है, और सन्निकृष्ट अवयव में लक्षणा होती है, अन्यथा विप्रकृष्ट लक्षणा की प्राप्ति होगी ॥ १–२ ॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्यत्राक्षरोद्गीथशब्दयोः सामानाधिकरण्ये श्रूयमाणेऽध्यासापवादैकत्वविशेषणपक्षाणां प्रतिभासनात्कतमोऽत्र पक्षो न्याय्यः स्यादिति विचारः। तत्राध्यासो नाम द्वयोर्वस्तुनोरनिवर्तितायामेवान्यतरबुद्धावन्यतरबुद्धिरध्यस्यते, यस्मिन्नितरबुद्धिरध्यस्यतेऽनुवर्तत एव तस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यस्तेतरबुद्धावपि। यथा नाम्नि ब्रह्मबुद्धावध्यस्यमानायामप्यनुवर्तते एव नामबुद्धिर्न ब्रह्मबुद्धया निवर्तते। यथा वा प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्ध्यध्यासः। एवमिहाप्यक्षरे उद्गीथबुद्धिरध्यस्येत उद्गीथे वाऽक्षरबुद्धिरिति।

(उद्गीथ के अवयव ओम् इस अक्षर की उपासना करे) यहाँ इस वाक्य में अक्षर और उद्गीथ शब्द की समानाधिकरणता के सुनने पर, अध्यास, अपवाद, एकत्व और विशेषण इन चारों पक्षों की प्रतीति होने से इन चारों में से कौन पक्ष यहाँ न्याययुक्त है, यह विचार उपस्थित होता है। यहाँ अध्यास वह कहा जाता है कि जहाँ दो वस्तुओं में से एक वस्तु की बुद्धि की निवृत्ति हुए बिना ही अन्य दूसरी वस्तु की बुद्धि कल्पित होती है, जिसमें अन्य की बुद्धि कल्पित होती है, उसमें कल्पित अन्य की बुद्धि होते भी उस वस्तु की अपनी बुद्धि भी वर्तमान ही रहती है। जैसे कि (नाम ब्रह्मेत्युपासीत) इस वचन के बल से नाम में ब्रह्मबुद्धि-कल्पना (सिद्धि) करने पर भी नाम बुद्धि भी अनुवर्तमान ही रहती है, ब्रह्मबुद्धि से नामबुद्धि निवृत्त नहीं होती है। अथवा जैसे प्रतिमा आदि में विष्णु आदि बुद्धि का अध्यास विधि बलादि से होता है परन्तु प्रतिमा आदि बुद्धि निवृत्त नहीं होती है। इसी प्रकार यहाँ भी अक्षर में उद्गीथ बुद्धि कल्पित होती है, अथवा उद्गीथ में अक्षर बुद्धि अध्यस्त होती है। एक यह पक्ष है।

अपवादो नाम यत्र कस्मिंश्चिद्वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धिः पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धेर्निवर्तिका भवति, यथा देहेन्द्रियसंघाते आत्मबुद्धिरात्मन्येवात्मबुद्धया पश्चाद्भाविन्या 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यनया यथार्थबुद्धया निवर्तते, यथा वा दिग्भ्रान्तिबुद्धिर्दिग्याथात्म्यबुद्धया निवर्त्यते, एवमिहाप्यक्षरबुद्धयोद्गीथबुद्धिर्निवर्त्यते उद्गीथबुद्धया वाक्षरबुद्धिरिति। एकत्वं त्वक्षरोद्गीथशब्दयोरतिरिक्तार्थवृत्तित्वम्, यथा द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूमिदेव इति। विशेषणं पुनः सर्ववेदव्यापिन ओमित्येतस्याक्षरस्य ग्रहणप्रसङ्गे औद्गात्रविषयस्य समर्पणम्, यथा नीलं यदुत्पलं तदानयेति। एवमिहाप्युद्गीथो य ॐकारस्तमुपासीतेति। एवमेतस्मिन्सामानाधिकरण्यवाक्ये विमृश्यमाने एते पक्षाः प्रतिभान्ति। तत्रान्यतमनिर्धारणकारणाभावादनिर्धार-

णप्राप्तावदमुच्यते—व्याप्तेश्च समञ्जसमिति। चशब्दोऽयं तुशब्दस्थाननिवेशी पक्षत्रयव्यावर्तनप्रयोजनः। तदिह त्रयः पक्षाः सावद्या इति पर्युदस्यन्ते, विशेषणपक्ष एवैको निरवद्य इत्युपादीयते।।

अपवाद वह कहा जाता है कि जहाँ किसी वस्तु में निश्चित (निश्चयात्मक) मिथ्या (भ्रान्ति) बुद्धि के पूर्वकाल में निविष्ट (उत्पन्न स्थिर) होते, पीछे उत्पन्न होने वाली यथार्थ बुद्धि उस पूर्वनिविष्ट मिथ्या बुद्धि को निवृत्त करने वाली होती है। जैसे कि देह इन्द्रिय आदि के संघात (समूह) में प्रथम निविष्ट आत्मबुद्धि (तत्त्वमसि) इत्यादि उपदेशों से पीछे होने वाली आत्मविषयक ही आत्मबुद्धिरूप इस यथार्थ बुद्धि से निवृत्त होती है। अथवा जैसे दिग्भ्रमबुद्धि दिक् की यथार्थ बुद्धि से निवृत्त होती है, इसी प्रकार यहाँ भी अक्षर बुद्धि से उद्गीथ बुद्धि निवृत्त होती है, वा उद्गीथबुद्धि से अक्षरबुद्धि निवृत्त होती है। यह दूसरा पक्ष है। अक्षर और उद्गीथ शब्द को अनतिरिक्तार्थवृत्तित्व (एकार्थवाचकत्व) एकत्व है, जैसे द्विजोत्तम, ब्राह्मण और भूमिदेव इन शब्दों को एकत्व है। विशेषणरूप उद्गीथ शब्द तो सर्ववेद में व्यापक ओम् इस अक्षर के ग्रहण, प्राप्त होने पर औद्गात्र (उद्गान) के विषयरूप ओम् शब्द का समर्पण (बोध) कराता है, जैसे नील जो कमल है उसको लाओ, यह प्रयोग होता है। इसी प्रकार यहाँ भी उद्गीथ जो ओंकार उसकी उपासना करो। यह प्रयोग होता है। इस प्रकार इस समानाधिकरणताबोधक वाक्य के विचार काल में ये चार पक्ष प्रतीत होते हैं। उनमें किसी एक पक्ष के निर्धारण के कारण के अभाव से अनिर्धारण की प्राप्तिरूप पूर्वपक्ष के होने पर यह कहा जाता है कि (व्याप्तेश्च समञ्जसम्) इति। सूत्रगत यह च शब्द तु शब्द के स्थान में निवेश (स्थिति) वाला है, वह प्रथम के तीन पक्ष की व्यावृत्तिरूप प्रयोजन वाला है। इससे यहाँ तीनों पक्ष सदोष हैं, इससे पर्युदस्त (निवारित) किये जाते हैं। एक विशेषण पक्ष ही दोषरहित है, इससे उसका उपादान (ग्रहण) किया जाता है।

तत्राध्यासे तावद्या बुद्धिरितरत्राध्यस्यते तच्छब्दस्य लक्षणावृत्तित्वं प्रसज्येत तत्फलं च कल्प्येत। श्रूयत एव फलम् 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादीति चेत्। न। तस्यान्यफलत्वात्। आप्त्यादिदृष्टिफलं हि तत्रोद्गीथाध्यासफलम्। अपवादेऽपि समानः फलाभावः। मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः फलमिति चेत्। न। पुरुषार्थोपयोगानवगमात्। नच कदाचिदप्योंकारादोंकारबुद्धिर्निवर्तते उद्गीथाद्वोद्गीथबुद्धिः। न चेदं वाक्यं वस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरम्, उपासनविधिपरत्वात्। नाप्येकत्वपक्षः संगच्छते, निष्प्रयोजनं हि तदा शब्दद्वयोच्चारणं स्यात् एकेनैव विवक्षितार्थसमर्पणात्। नच हौत्रविषये वाध्वर्यवविषये वाऽक्षरे ओंकारशब्दवाच्ये उद्गीथशब्दप्रसिद्धिरस्ति। नापि सकलायां साम्नो द्वितीयायां भक्तावुद्गीथशब्दवाच्यायामोंकारशब्दप्रसिद्धिर्येनानतिरिक्ता-

र्थता स्यात्। परिशेषाद्विशेषणपक्षः परिगृह्यते, व्याप्तेः सर्ववेदसाधारण्यात्। सर्वव्याप्यक्षरमिह मा प्रसञ्जीत्यत उद्गीथशब्देनाक्षरं विशेष्यते कथं नामोद्गीथावयवभूत ओंकारो गृह्येतेति।

यहाँ अध्यास पक्ष में जो बुद्धि अन्यार्थ में कल्पित होगी, अर्थात् उद्गीथ की बुद्धि ओंकार में कल्पित होगी, तो उस उद्गीथ के वाचक उद्गीथ शब्द की ओंकार अर्थ में लक्षणावृत्ति की प्राप्ति होगी ओंकार की उद्गीथरूप से प्रतीकोपासना के फल की कल्पना करनी पड़ेगी। यदि कहो कि (वह यजमान के कामों को प्राप्त कराने वाला होता है) इत्यादि फल सुना ही जाता है, इससे फल की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी, तो वह कहना युक्त नहीं है। जिससे उसको अन्य का फलत्व है, अर्थात् ओंकार आप्ति है, समृद्धि है इस दृष्टि से जो ओंकार की उपासना की जाती है उसका वह फल है उद्गीथ के अध्यास का वह फल नहीं है। अपवाद पक्ष में भी फल का अभाव अध्यास पक्ष के समान है, यदि कहो कि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति फल है, तो वह नहीं कह सकते हो, क्योंकि आत्मज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्तिजन्य पुरुषार्थ के समान ओंकार बुद्धि से उद्गीथ बुद्धि की वा उद्गीथ बुद्धि से ओंकार बुद्धि की निवृत्तिजन्य कोई पुरुषार्थरूप उपयोग (फल) अवगत (ज्ञात) नहीं होता है। वस्तुतः ओंकार से कभी ओंकार बुद्धि नहीं निवृत्त होती है, न उद्गीथ से उद्गीथ बुद्धि निवृत्त होती है। इससे इस पक्ष का सम्भव भी नहीं है। अर्थात् भ्रमबुद्धि की यथार्थबुद्धि से निवृत्ति होती है, यहाँ भ्रमबुद्धि नहीं है। वस्तुतत्त्व के प्रतिपादक वचन से तत्त्वज्ञान द्वारा भ्रान्ति की निवृत्ति होती है। यह वाक्य वस्तुतत्त्व का प्रतिपादनपरक नहीं है। क्योंकि इस वाक्य को उपासना विधिपरत्व है। एकत्वपक्ष भी संगत नहीं हो सकता है जिससे उस एकत्व पक्ष में ओंकार और उद्गीथ दोनों शब्दों का उच्चारण निष्प्रयोजन होगा। क्योंकि एकार्थता से किसी एक शब्द से ही विवक्षित अर्थ का समर्पण (पूर्णबोध) हो सकता है। एकार्थकत्व हो भी नहीं सकता है जिससे हौत्रविषयक (होताकृत कर्मविषयक) वा आध्वर्यव (अध्वर्यु-कर्म) विषयक ओंकार शब्द के वाच्य अक्षररूप अर्थ में उद्गीथ शब्द की प्रसिद्धि नहीं है। इसी प्रकार उद्गीथ शब्द के वाच्य सामवेद के सम्पूर्ण द्वितीय भाग में भी ओंकार शब्द की प्रसिद्धि नहीं है कि जिससे अनतिरिक्तार्थता (एकार्थता) हो। अन्य पक्षों में दोष होने से परिशेष से विशेषण पक्ष परिगृहीत होता है। सूत्रगत व्याप्ति पद का सर्ववेदसाधारणता अर्थ है। इससे सूत्र का भावार्थ है कि (ओमित्यक्षरमुपासीत) ओम् इस अक्षर की उपासना करे, ऐसा कहने से सब वेद में व्यापक ओंकार इस उपासना में प्राप्त होगा, वह नहीं प्राप्त हो इसलिए उद्गीथ शब्द के द्वारा अक्षर को विशेषित (व्यापक से भिन्न) किया जाता है कि किसी प्रकार से (लक्षणा से) उद्गीथ का अवयवरूप ओंकार गृहीत हो। इससे विशेषण समञ्जस है।

नन्वस्मिन्नपि पक्षे समाना लक्षणा, उद्गीथशब्दस्यावयवलक्षणार्थत्वात्। सत्यमेवमेतत्, लक्षणायामपि तु संनिकर्षविप्रकर्षौ भवत एव, अध्यासपक्षे

ह्यर्थान्तरबुद्धिरर्थान्तरे निक्षिप्यत इति विप्रकृष्टा लक्षणा, विशेषणपक्षे त्ववयविवचनेन शब्देनावयवः समर्प्यत इति संनिकृष्टा लक्षणा। समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिषु। अतश्च व्याप्तेर्हेतोरोमित्येतदक्षरमित्येतस्योद्गीथमित्येतद्विशेषणमिति समञ्जसमेतन्निरवद्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥

शंका होती है कि इस पक्ष में भी उद्गीथ शब्द के अवयवार्थं में लक्षणार्थकता से लक्षणा पूर्व के समान ही है। उत्तर है कि लक्षणा की तुल्यता सत्य है परन्तु लक्षणा में भी सन्निकर्ष और विप्रकर्ष होता ही है। अध्यासपक्ष में अर्थान्तर की बुद्धि किसी अन्यार्थ में निक्षिप्त (प्राप्त) की जाती है, इससे वह विप्रकृष्ट (दूर) लक्षणा है। विशेषण पक्ष में तो अवयवी वाचक शब्द से उसी का अवयव बोधित समर्पित होता है इससे सन्निकृष्ट लक्षणा है। जिससे समुदाय पर ग्रामादि में प्रवृत्त शब्द उनके अवयवों में भी प्रवर्तमान देखे गये हैं, इससे और व्याप्तिरूप हेतु से (ओमित्येतदक्षरम्) इस भाग का (उद्गीथम्) इतना भाग श्रुति में विशेषण है। इस प्रकार यह समञ्जस निर्दोष है यह अर्थ है ॥ ९ ॥

सर्वाभेदाधिकरण (५)

वसिष्ठत्वाद्यनाहार्यमाहार्यं वैवमित्यतः। उक्तस्यैव परामर्शादनाहार्यमनुक्तितः ॥ १ ॥
प्राणद्वारेण बुद्धिस्थं वसिष्ठत्वादि नेतरत्। एवंशब्दपरामर्शयोग्यमाहार्यमिष्यते ॥ २ ॥

सर्वत्र प्राणविद्या का अभेद होने से कहीं सुने गये ये प्राण के गुण अन्यत्र (अश्रुत स्थान) में भी उपसंहार के योग्य होते हैं, वेद्यवस्तु के एक होने से एकत्र सम्बन्ध वाले गुण अन्यत्र उससे वियुक्त नहीं हो सकते हैं। यह प्राणविद्यादि सब के लिए तुल्य न्याय है। यहाँ संशय है कि छान्दोग्य बृहदारण्यक में प्राणविद्या के प्रकरण में प्राण के वसिष्ठत्वादि गुण पढ़ते हैं। तैत्तिरीयक कौषीतकी आदि में नहीं पढ़ते हैं, यहाँ अपठित स्थान में वे गुण उपसंहार के योग्य हैं अथवा नहीं हैं। पूर्वपक्ष है कि उन स्थानों में (च एवं वेद) जो ऐसा जानता है उपासना करता है। इस प्रकार एवं शब्द के पढ़ने से उस शाखा में पठित का ही परामर्श होता है, इससे अनुक्ति के कारण उपसंहार के योग्य नहीं हैं। सिद्धान्त है कि गुणी प्राण द्वारा बुद्धिस्थ वसिष्ठत्वादि गुण प्राण से इतरत् (भिन्न) नहीं हैं, इससे एवं शब्द से प्राण के समान सर्वत्र परामर्श के योग्य हैं, इससे उपसंहार के योग्य इष्ट है ॥ १–२ ॥

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

वाजसनेयिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे श्रैष्ठ्यगुणान्वितस्य प्राणस्योपास्यत्वमुक्तम्, वागादयोऽपि हि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणान्विता उक्ताः, ते च गुणाः प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः—'यद्वा अहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' (बृ०

६।१।१४) इत्यादिना। अन्येषामपि तु शाखिनां कौषीतकिप्रभृतीनां प्राणसंवादेषु 'अथातो निःश्रेयसादानम्', 'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमाना:' (कौ० २।१४) इत्येवंजातीयकेषु प्राणस्य श्रैष्ठ्यमुक्तं न त्विमे वसिष्ठत्वादयोऽपि गुणा उक्ताः। तत्र संशयः—किमिमे वसिष्ठत्वादयो गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्राप्यस्येरन्नुत नास्येरन्निति। तत्र प्राप्तं तावन्नास्येरन्निति। कुतः? एवंशब्दसंयोगात्। 'अथो य एवैवं विद्वान्प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' इति तत्रतत्रैवंशब्देन वेद्यं वस्तु निवेद्यते। एवंशब्दश्च संनिहितावलम्बनो न शाखान्तरपरिपठितमेवंजातीयकं गुणजातं शक्नोति निवेदयितुम्, तस्मात्स्वप्रकरणस्थैरेव गुणैर्निराकाङ्क्षत्वमिति।

वाजसनेयी और छन्दोग के प्राण-संवाद में श्रेष्ठतादि गुणयुक्त प्राण की उपास्यता कही गई है। वागादि भी वहाँ वसिष्ठत्वादि गुण वाले कहे गये हैं। वे वागादि के वसिष्ठत्व (वासहेतुत्व) आदि गुण फिर प्राण में वागादि से प्रत्यर्पित किए गये हैं कि (जो मैं वसिष्ठ हूँ सो तुम ही हो) इत्यादि। कौषीतकी आदि अन्य शाखा वालों के प्राण-संवादों में भी (अब इसके बाद निःश्रेयस, श्रेष्ठता का आदान, निर्धारण प्रस्तुत होता है। ये देव अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करते हुए इस शरीर से निकले) इस प्रकार वाले संवादों में प्राण की श्रेष्ठता कही गई है। परन्तु ये वसिष्ठत्वादि गुण नहीं कहे गये हैं। यहाँ संशय होता है कि क्या ये कहीं कहे गये वसिष्ठत्वादि गुण अन्यत्र भी आक्षिप्त प्राप्त होंगे अथवा नहीं प्राप्त होंगे। यहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि नहीं प्राप्त होंगे, क्यों नहीं होंगे, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि एवं शब्दों के संयोग से नहीं प्राप्त होंगे। (जिस प्रकार वागादि से प्राण की श्रेष्ठता है अथो उस प्रकार से इस श्रेष्ठता गुण को जानने वाला जो इसी प्रकार से उपासना करता है वह प्राण में श्रेष्ठता को जान कर ध्यान करके स्वयं श्रेष्ठ होता है) इस प्रकार तत्तत् स्थानों में एवं शब्द से वेद्य वस्तु निवेदित (प्रदर्शित) होती है। सन्निहित को अवलम्बन (वाच्यरूप से ग्रहण) करने वाला एवं शब्द, शाखान्तर में पठित इस प्रकार के वसिष्ठत्वादि गुण समूह का निवेदन (ज्ञान) नहीं करा सकता है। इससे स्वप्रकरणस्थ गुणों से ही विद्या को निराकांक्षता होती है।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अस्येरन्निमे गुणाः क्वचिदुक्ता वसिष्ठत्वादयोऽन्यत्रापि। कुतः? सर्वाभेदात्। सर्वत्रैव हि तदेवैकं प्राणविज्ञानमभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते। प्राणसंवादादिसारूप्यात्। अभेदे च विज्ञानस्य कथमिमे गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्र नास्येरन्। नन्वेवंशब्दस्तत्र तत्र भेदेनैवंजातीयकं गुणजातं वेद्यत्वाय समर्पयतीत्युक्तम्। अत्रोच्यते। यद्यपि कौषीतकिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन वाजसनेयिब्राह्मणगतं गुणजातमसंशब्दितमसंनिहितत्वात्तथापि तस्मिन्नेव विज्ञाने वाजसनेयिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन तत्संशब्दितमिति न परशाखागतमप्यभिन्न-

विज्ञानावबद्धं गुणजातं स्वशाखागताद्विशिष्यते। नचैवं सति श्रुतहानिरश्रुत-कल्पना वा भवति। एकस्यामपि हि शाखायां श्रुता गुणाः श्रुता एव सर्वत्र भवन्ति गुणवतो भेदाभावात्। नहि देवदत्तः शौर्यादिगुणत्वेन स्वदेशे प्रसिद्धो देशान्तरं गतस्तद्देश्यैरविभावितशौर्यादिगुणोऽप्यतद्गुणो भवति। यथाच तत्र परिचयविशेषाद्देशान्तरेऽपि देवदत्तगुणा विभाव्यन्ते, एवमभियोगविशेषाच्छाखान्तरेऽप्युपास्या गुणाः शाखान्तरेऽप्यस्थरन्। तस्मादेकप्रधानसंबद्धा धर्मा एकत्राप्युच्यमानाः सर्वत्रैवोपसंहर्तव्या इति ॥ १० ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्युत्तर कहते हैं कि कहीं भी कहे गये ये वसिष्ठत्वादि गुण अन्यत्र भी आक्षिप्त, प्राप्त होंगे, क्योंकि सर्वत्र विद्या का अभेद है। जिससे सर्वत्र ही वही एक अभिन्न प्राण विज्ञान प्रत्यभिज्ञात होता है। प्राण संवादादि की सरूपता प्रत्यभिज्ञा में हेतु है, इससे प्रत्यभिज्ञा होती है। इस प्रकार विज्ञान के अभेद होते कहीं भी कहे गये गुण अन्यत्र क्यों नहीं प्राप्त होंगे। यदि कहो कि इस प्रकार के गुण-समूह को तत्तत् स्थान में भेदयुक्त ही वेद्यता के लिए एवं शब्द समर्पित (उपस्थित) करता है, यह कहा जा चुका है ? तो यहाँ कहा जाता है कि यद्यपि कौषीतकी ब्राह्मण गत एवं शब्द से वाजसनेयी ब्राह्मणगत गुणसमूह असन्निहितत्व के कारण अशब्दित (अकथित) हैं। तथापि उसी विज्ञान में वाजसनेयीगत एवं शब्द से वह गुणसमूह संशब्दित है। इससे परशाखागत भी अभिन्न (एक) विज्ञान से सम्बन्धवाला गुणसमूह स्वशाखागत से विशिष्ट (भिन्न) नहीं होता है। अर्थात् विज्ञान द्वारा सम्बन्ध हो जाने से वाजसनेय-गत गुण कौषीतकिगत गुण से भिन्न नहीं समझा जाता है। ऐसा होने से श्रुत की हानि वा अश्रुत की कल्पना भी नहीं होती है। जिससे गुणवाला विज्ञान के भेद के अभाव से एक शाखा में सुने गये गुण सर्वत्र सुने ही हुए होते हैं। जैसे शौर्यादिगुणवत्ता से अपने देश में प्रसिद्ध देवदत्त देशान्तर में प्राप्त होने पर उस देश के वासियों से अविज्ञात शौर्यादिगुणवाला होते भी देवदत्त उन गुणों से रहित नहीं हो जाता है। जैसे उस देशान्तर में भी परिचय विशेष से देवदत्त के गुण विज्ञात, प्रख्यात होते हैं। इसी प्रकार सम्बन्ध विशेष से शाखान्तर में भी उपास्य गुण किसी अन्य शाखान्तर में भी प्राप्त होंगे, उससे एक प्रधान के साथ सम्बन्धवाले धर्म एक स्थान में कहे गये हों तो भी सर्वत्र उपसंहार कर्तव्य है ॥ १० ॥

आनन्दाद्यधिकरण (६)

नाहार्या उत वाहार्या आनन्दाद्या अनाहृतिः। वामनोसत्यकामादेरिवैतेषां व्यवस्थितेः ॥
विधीयमानधर्माणां व्यवस्था स्याद्यथाविधि। प्रतिपत्तिफलानां तु सर्वशाखासु संहृतिः ॥

प्रधान मुख्य ब्रह्म के जो आनन्दादि गुण के लिए उपदिष्ट हैं, वह एक ज्ञानार्थक होने से सब सर्वत्र यथाशक्ति उपसंहार के योग्य हैं। यहाँ संशय होता है कि तैत्तिरीयक में आनन्दादि गुण पढ़े गये हैं। ऐतरेयक आदि में नहीं पढ़े गये हैं, ऐतरेयक में प्रज्ञान रूप गुण पढ़ा गया है, वहाँ गुणों का परस्पर उपसंहार करना चाहिए, अथवा नहीं ?

वहाँ पूर्वपक्ष है कि तत्तत् ब्रह्म की उपासनाओं में जैसे वामनी सत्यकामादि गुणों की व्यवस्था नियम है, वैसे ही आनन्दादि की तत्तत् शाखा में व्यवस्था है। सिद्धान्त है कि विधीयमान धर्मों की विधि के अनुसार व्यवस्था होगी। ज्ञानार्थक की तो सब शाखा में उपसंहृति होगी ॥ १—२ ॥

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरासु श्रुतिष्वानन्दरूपत्वं विज्ञानघनत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका ब्रह्मणो धर्माः क्वचित्केचिच्छ्रूयन्ते। तेषु संशयः किमानन्दादयो ब्रह्मधर्मा यत्र यावन्तः श्रूयन्ते तावन्त एव तत्र प्रतिपत्तव्याः किंवा सर्वे सर्वत्रेति। तत्र यथाश्रुतिविभागं धर्मप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते— आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्माः सर्वे सर्वत्र प्रतिपत्तव्याः। कस्मात्? सर्वाभेदादेवं सर्वत्र हि तदेवैकं प्रधानं विशेष्यं ब्रह्म न भिद्यते। तस्मात्सार्वत्रिकत्वं ब्रह्मधर्माणां तेनैव पूर्वाधिकरणोदितेन देवदत्तशौर्यादिनिदर्शनेन ॥११॥

ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादनपरक श्रुतियों में, आनन्दरूपत्व, विज्ञानघनत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्व इस प्रकार के ब्रह्म के धर्म कहीं कोई सुने जाते हैं। अर्थात् सब धर्म सर्वत्र नहीं सुने जाते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों में सुने जाते हैं। उनके विषय में संशय होता है कि क्या आनन्दादि ब्रह्म के धर्म जहाँ जितने सुने जाते हैं वहाँ उतने ही समझने योग्य हैं, अथवा सब गुण सर्वत्र उपसंहार द्वारा समझने योग्य हैं। वहाँ श्रुतिविभाग के अनुसार धर्मप्रतिपत्ति (धर्मज्ञान) के प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि आनन्दादि रूप प्रधान (मुख्य) ब्रह्म के सब धर्म सर्वत्र उपसंहार से समझना चाहिये। अर्थात् सत्य आनन्दज्ञान सर्वगत सर्वात्मस्वरूप अखण्ड एक ब्रह्म है, जैसे कि उष्ण, प्रकाशक, दाहक, शीतवारक स्वरूप एक अग्नि है। वहाँ सत्यत्वादि कल्पित धर्म असत्यत्वादि के वारणपूर्वक अखण्ड ब्रह्म के बोध के लिए पढ़े जाते हैं, इससे जितने धर्मों के उच्चारण अध्ययनादि से विपरीत (असत्यत्वादि) बुद्धि के वारणपूर्वक सत्यादिस्वरूप अखण्ड अद्वय एक ब्रह्म का बोध हो सके वे धर्म कहीं भी पढ़े हों उनका उपसंहार ब्रह्म के समानाधिकरणतापूर्वक उच्चारण-अध्ययन कर्तव्य है। ऐसा क्यों कर्तव्य है ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि सर्वाभेद रूप पूर्वोक्त हेतु ही से ऐसा कर्तव्य है। जिससे सर्वत्र वही एक प्रधान ब्रह्म विशेष्य है वह कहीं भिन्न नहीं होता है। उससे पूर्व अधिकरण में वर्णित देवदत्त के शौर्यादि रूप उस दृष्टान्त से ही ब्रह्म के धर्मों को सार्वत्रिकत्व (सर्वत्र सम्बन्धित्व) सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

नन्वेवं सति प्रियशिरस्त्वादयोऽपि धर्माः सर्वे सर्वत्र सङ्कीर्येरन्, तथाहि— तैत्तिरीयक आनन्दमयमात्मानं प्रक्रम्याम्नायते—'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति। अत उत्तरं पठति—

पूर्वोक्त अर्थविषयक शंका होती है कि उक्त रीति से आनन्दादिरूप ब्रह्म के धर्मों का सर्वत्रोपसंहार मानने पर प्रियशिरस्त्वादि भी सब धर्म सर्वत्र संकीर्ण होंगे, अर्थात् सगुण उपासनाओं में भी सब धर्म सर्वत्र उपसंहृत होंगे, क्योंकि सगुण ब्रह्म भी तो सर्वत्र वस्तुतः अभिन्न ही है। तैत्तिरीयक में आनन्दमय आत्मा का प्रक्रम (उपक्रम) करके कहा जाता है कि—(इस आनन्दमय आत्मा का प्रिय इष्टदर्शनजन्य सुख ही शिर है, मोद-इष्ट की प्राप्तिजन्य सुख दक्षिण पक्ष है। प्रमोद, उपभोगादिजन्य सुख उत्तर पक्ष है। सामान्य आनन्द आत्मा है। ब्रह्मपुच्छ के समान प्रतिष्ठा आधार है) इत्यादि। अतः इस शंका का उत्तर सूत्रकार पढ़ते हैं कि—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्माणां तैत्तिरीयक आम्नातानां नास्त्यन्यत्र प्राप्तिः। यत्कारणं प्रियं मोदः प्रमोद आनन्द इत्येते परस्परापेक्षया भोक्त्रन्तरापेक्षया चोपचितापचितरूपा उपलभ्यन्ते। उपचयापचयौ च सति भेदे सम्भवतः। निर्भेदं तु ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। नचैते प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मधर्माः, कोशधर्मास्त्वेत इत्युपदिष्टमस्माभिः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १।१।१२) इत्यत्र। अपि च परस्मिन्ब्रह्मणि चित्तावतारोपायमात्रत्वेनैते परिकल्प्यन्ते न द्रष्टव्यत्वेन।

तैत्तिरीयक में कहे गये प्रियशिरस्त्वादि धर्मों की अन्यत्र प्राप्ति नहीं होती है, जिस कारण से प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द ये धर्म परस्पर की अपेक्षा से और अन्य भोक्ता जीव की अपेक्षा से भी उपचित (पुष्टियुक्त) और अपचित (अपुष्ट) रूपवाले उपलब्ध (अनुभूत) होते हैं। भेद के रहते उपचय और अपचय हो सकते हैं। ब्रह्म तो (एक ही अद्वितीय ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियों से भेदरहित सिद्ध होता है। वस्तुतः ये प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्म के धर्म नहीं हैं, किन्तु आनन्दमय नामक कोश के धर्म हैं। इस प्रकार (आनन्दमयोऽभ्यासात्) इस सूत्र में भाष्यकार से उपदेश कहा जा चुका है। दूसरी बात है कि परब्रह्म में चित्त का अवतरण (प्रवृत्ति स्थिति) के उपाय (साधन) मात्र रूप से ये प्रियशिरस्त्वादि परिकल्पित होते हैं, द्रष्टव्य—ज्ञेय रूप से नहीं परिकल्पित होते हैं।

एवमपि सुतरामन्यत्राप्राप्तिः प्रियशिरस्त्वादीनाम्। ब्रह्मधर्मास्त्वेतान्कृत्वा न्यायमात्रमिदमाचार्येण प्रदर्शितं प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरिति। स च न्यायोऽन्येषु निश्चितेषु ब्रह्मधर्मेषूपासनायोपदिश्यमानेषु नेतव्यः संयद्वामादिषु सत्यकामादिषु च। तेषु हि सत्यप्युपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वे प्रक्रमभेदादुपासनाभेदे सति नान्योन्यधर्माणामन्योन्यत्र प्राप्तिः। यथा च द्वे नार्यावेकं नृपतिमुपासाते छत्रेणैका चामरेणान्या तत्रोपास्यैकत्वेऽप्युपासनाभेदो धर्मव्यवस्था च भवत्येवमिहापीति। उपचितापचितगुणत्वं हि सति भेदव्यवहारे सगुणे ब्रह्मण्युप-

पद्यते न निर्गुणे परस्मिन्ब्रह्मणि। अतो न सत्यकामत्वादीनां धर्माणां क्वचिच्छ्रुतानां सर्वत्र प्राप्तिरित्यर्थः ॥ १२ ॥

इस प्रकार अज्ञेय होने से भी प्रियशिरस्त्वादि की अन्यत्र ज्ञेय ब्रह्म में सुतरां (अत्यन्त) अप्राप्ति है। इस प्रकार अप्राप्ति होते भी इन प्रियशिरस्त्वादि को ब्रह्म के धर्म मतान्तर के अनुसार मानकर आचार्य ने यह न्यायमात्र प्रदर्शित किया है कि इन्हें ब्रह्म के धर्म मानने पर भी इस रीति से प्रियशिरस्त्वादि की अप्राप्ति है। उस न्यायप्रदर्शन का यह फल है कि उपासना के लिए उपदिश्यमान (उपदिष्ट) संयद्वामादि और सत्यकामादि रूप निश्चित अन्य ब्रह्म के धर्मों में वह न्याय नेतव्य (प्राप्त करने योग्य) होता है। जिससे उन धर्मों में उपास्य ब्रह्म के एकत्व होते भी उपक्रम के भेद से उपासना का भेद होने पर परस्पर के धर्मों की परस्पर में प्राप्ति नहीं होती है। जैसे दो नारियाँ एक राजा की उपासना (सेवा) करती हैं। वहाँ एक छत्र द्वारा करती है, अन्य चामर द्वारा करती है तो वहाँ उपास्य की एकता होते भी उपासना का भेद और धर्म की व्यवस्था होती है। इसी प्रकार यहाँ भी धर्म की व्यवस्था होगी। जिससे सगुण ब्रह्म में भेद-व्यवहार के रहते ही उपचित-अपचितगुणवत्त्व उपपन्न होता है, निर्गुण परब्रह्म में नहीं। इससे कहीं श्रुत सत्यकामत्वादि धर्मों को सर्वत्र प्राप्ति नहीं होती है यह अर्थ है ॥ १२ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

इतरे त्वानन्दादयो धर्माः ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना अर्थसामान्यात्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो धर्मिण एकत्वात्सर्वे सर्वत्र प्रतीयेरन्निति वैषम्यं, प्रतिपत्तिमात्रप्रयोजना हि त इति ॥ १३ ॥

उपास्य धर्म से अतिरिक्त आनन्दादि धर्म तो ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादन के लिए ही कहे गये हैं, सो अर्थ की समानता से प्रतिपादनीय ब्रह्मरूप धर्मी की एकता से सब सर्वत्र प्रतीत उपसंहृत होंगे। जिससे वे प्रतिपत्ति मात्र प्रयोजन वाले सत्यत्व ज्ञानत्व आनन्दत्व आत्मत्व ब्रह्मत्व पूर्णत्वादि धर्म हैं ॥ १३ ॥

आध्यानाधिकरण (७)

सर्वा परम्पराक्षादेर्ज्ञेया पुरुष एव वा। ज्ञेया सर्वाश्रुतत्वेन वाक्यानि स्युर्बहून्यपि ॥१॥
पुमर्थः पुरुषज्ञानं तत्र यत्नः श्रुतो महान्। तद्बोधाय श्रुतोऽक्षादिर्वेद्य एकः पुमांस्ततः ॥२॥

(इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः) इत्यादि श्रुति में इन्द्रियों से पर अर्थ, अर्थ से पर मन, मन से पर बुद्धि, व्यष्टि बुद्धि से पर समष्टि बुद्धिरूप महान् आत्मा, उससे पर अव्यक्त (प्रकृति, माया), अव्यक्त से पर (सूक्ष्म श्रेष्ठ) पुरुष है, इस प्रकार क्रम से परत्व कहा गया है। वहाँ आध्यान के लिए पूर्वोक्त आनन्दादिवाला ब्रह्म ही यहाँ पुरुष शब्द से कहा गया है कि जिससे उसका ज्ञान हो, अन्य इन्द्रियादि की परता का वर्णन भी पुरुष के ज्ञान के ही लिए है। उनका प्रत्येक परत्व आध्यान के लिए नहीं है। जिससे उसका कोई फल नहीं है। यहाँ संशय है कि इन्द्रियादि के सभी परम्परा (क्रम) ज्ञेय-ध्येय-प्रतिपाद्य हैं।

अथवा पुरुष ही ज्ञेय है। पूर्व पक्ष है कि सब परम्परा श्रुति से तुल्य ही श्रुत है। इससे श्रुतत्व के कारण सब परत्व ज्ञेय-ध्येयादि हैं। यदि कहा जाय कि अनेक परत्व की ध्येयता-ज्ञेयता के लिए अनेक के प्रतिपादन से वाक्यभेद होगा तो, तो कहा जाता है कि अनेक अर्थ के होने से वाक्य बहुत भी हों तो दोष नहीं है। सिद्धान्त है कि (निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते) उस आत्मा को जानकर मृत्युमुख, अविद्यादि से विमुक्त होता है। इस श्रुति रीति से पुरुष का ज्ञान पुरुषार्थरूप है। उसी के लिए वहाँ वाक्-मन आदि का निरोधादि रूप महान् यत्न सुना गया है, इससे उसके बोध के ही लिए इन्द्रियादि सुने गये हैं जिससे एक पुरुष ही वेद्य है ॥ १–२ ॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

काठके हि पठ्यते—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः' (क० ३।१०) इत्यारभ्य 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (क० ३।११) इति। तत्र संशयः—किमिमे सर्व एवार्थादयस्ततस्ततः परत्वेन प्रतिपाद्यन्ते, उत पुरुष एवैभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत–इति। तत्र तावत्सर्वेषामेवैषां परत्वेन प्रतिपादनमिति भवति मतिः। तथाहि श्रूयते—'इदमस्मात्परमिदमस्मात्परम्' इति। ननु बहुष्वर्थेषु परत्वेन प्रतिपादयिषितेषु वाक्यभेदः स्यात्। नैष दोषः। वाक्यबहुत्वोपपत्तः बहून्येव ह्येतानि वाक्यानि प्रभवन्ति बहुविषयान्परत्वोपेतान्प्रतिपादयितुम्। तस्मात्प्रत्येकमेषां परत्व-प्रतिपादनमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पुरुष एव ह्येभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति न युक्तं प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपादनम्। कस्मात्? प्रयोजनाभावात्। नहीतरेषु परत्वेन प्रतिपन्नेषु किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा, पुरुषे त्विन्द्रियादिभ्यः परस्मिन्स-र्वानर्थव्रातातीते प्रतिपन्ने दृश्यते प्रयोजनं मोक्षसिद्धिः। तथा च श्रुतिः—'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' (क० ३।१५) इति। अपि च परप्रतिषेधेन काष्ठाशब्देन च पुरुषविषयमादरं दर्शयन्पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैव पूर्वापरप्रवाहोक्तिरिति दर्शयति—आध्यानायेति। आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनायेत्यर्थः। सम्यग्दर्शनार्थमेव हीहाध्यानमुपदिश्यते न त्वाध्यानमेव स्वप्रधानम् ॥ १४ ॥

कठ उपनिषद में पढ़ा जाता है कि (कार्यरूप इन्द्रियों से पर सूक्ष्म उनके कारण रूप अर्थ हैं; उनसे सूक्ष्म मन है, मन से सूक्ष्म बुद्धि है) इस प्रकार आरम्भ करके (पुरुष से पर कुछ नहीं है, वह परत्व की काष्ठा, सीमा, पर्यवसानरूप है और परा गति (प्रकृष्ट आश्रय) है कि जिसको प्राप्त करके संसार से रहित हुआ जाता है) इत्यादि। वहाँ संशय होता है कि क्या ये सब ही अर्थादि उस-उससे (इन्द्रियादि से) पररूप से प्रतिपादित होते हैं। अथवा इन सबसे पर एक पुरुष ही प्रतिपादित होता है। वहाँ इन सबका पररूप से प्रतिपादन है ऐसी मति (बुद्धि, ज्ञान) प्रथम होती है।

जिससे इसी प्रकार से सुना जाता है कि यह अर्थ इस इन्द्रिय से पर है, यह मन इस अर्थ से पर है इत्यादि। यदि कहा जाय कि बहुत अर्थों के पररूप से प्रतिपादन की इच्छा के विषय होने पर वाक्यभेद होगा, तो कहा जाता है कि वाक्य के बहुत्व की उपपत्ति से यह दोष नहीं है। जिससे परत्व से युक्त बहुत विषयों के प्रतिपादन के लिए ये बहुत ही वाक्य समर्थ हो सकते हैं। जिससे इनके प्रत्येक परत्व का प्रतिपादन है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि इन सबसे परपुरुष ही प्रतिपादित होता है। प्रत्येक इन सबके परत्व का प्रतिपादन युक्त नहीं है, क्यों युक्त नहीं है तो कहा जाता है कि प्रयोजन के अभाव से युक्त नहीं है। जिससे पुरुष से इतर के पररूप से प्रतिपन्न (निश्चित ज्ञात) होने पर कोई प्रयोजन (फल) देखा वा सुना नहीं जाता है। सब अनर्थ-समूह से रहित इन्द्रियादि से पर पुरुष के प्रतिपन्न (अनुभूत) होने पर जो मोक्ष की सिद्धि रूप प्रयोजन देखा जाता है। इसी प्रकार श्रुति कहती हैं कि (उस आत्मा को जानकर मृत्यु के मुख से पृथक् हो जाता है) और दूसरी बात है कि (पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा) इस वचन से पुरुष से पर के प्रतिषेध द्वारा और काष्ठा शब्द से पुरुषविषयक आदर को दर्शाता हुआ गुरु तथा वेद पुरुष के ज्ञान के लिए ही पूर्वापरप्रवाह (परत्व-क्रम) की उक्ति है इस अर्थ को दर्शाता है, वह आध्यान के लिए दर्शाता है, अर्थात् तत्तत्परत्व के आध्यान-चिन्तन पूर्वक सम्यग् दर्शन के लिए दर्शाता है यह अर्थ है। जिससे सम्यक् दर्शन के लिए ही यहाँ आध्यान का उपदेश दिया जाता है, आध्यान ही स्वप्रधान नहीं है॥ १४॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

इतश्च पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैवेयमिन्द्रियादिप्रवाहोक्तिः। यत्कारणम्—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठ० ३।१२)—

इति प्रकृतं पुरुषात्मेत्याह। अतश्चानात्मत्वमितरेषां विवक्षितमिति गम्यते। तस्यैव च दुर्विज्ञानतां संस्कृतमतिगम्यतां च दर्शयति। यद्विज्ञानायैव च 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (कठ० ३।१३) इत्याध्यानं विदधाति। तद्व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० सू० १।४।१) इत्यत्र। एवमनेकप्रकार आशयातिशयः श्रुतेः पुरुषे लक्ष्यते नेतरेषु। अपि च 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क० ३।९) इत्युक्तेः किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायामिन्द्रियाद्यनुक्रमणात्परमपदप्रतिपत्त्यर्थ एवायमायास इत्यवसीयते ॥ १५ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी पुरुष की प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिए ही यह इन्द्रियादि के प्रवाह (परम्परा) की उक्ति है कि जिस कारण से (सब भूतों में आच्छादित यह पुरुष आत्मरूप से नहीं प्रकाशता है किन्तु अग्र्य एकाग्रतायुक्त सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सूक्ष्म-

दर्शियों से तो देखा जाता है) यह श्रुति प्रकृत पुरुष को आत्मा इस शब्द से कहती है। इससे इतर का अनात्मत्व विवक्षित है। यह ज्ञात होता है। उसी की दुर्विज्ञानता (कष्ट-साध्य ज्ञानविषयता) को और संस्कृतमतिगम्यता (शुद्धबुद्धिज्ञेयता) को श्रुति दर्शाती है। उसी के विज्ञान के लिए (विवेको वाक् का मन में उपसंहार करे) -इत्यादि वचन से आध्यान का विधान करती। सो (आनुमानिकमप्येकेषाम्) यहाँ व्याख्यात हो चुका है। इस प्रकार श्रुति के अनेक प्रकार वाले पुरुषविषयक आशय का अतिशय (औत्कर्ष्य) श्रुति से ही लक्षित होता है। इतर पदार्थविषयक आशय नहीं लक्षित होता है। (वह विद्वान् संसारगति के पाररूप पद को पाता है, और वही परमात्मा का परमस्वरूप है) ऐसा कहने पर, वह संसारमार्ग के पार रूप विष्णु का पर पद क्या है, इस आकांक्षा के होने पर इन्द्रियादि के अनुक्रमण (क्रमपूर्वक कथन) होने से परम पद की प्रतिपत्ति के लिए ही यह आयास (आरम्भ) है ऐसा निश्चय किया जाता है ॥ १५ ॥

आत्मगृहीत्यधिकरण (८)

आत्मा वा इदमित्यत्र विराट् स्यादथवेश्वरः। भूतासृष्टेर्नेश्वरः स्याद्गवाद्यानयनाद्विराट् ॥१॥
भूतोपसंहृतेरीश: स्यादद्वैतावधारणात्। अर्थवादो गवाद्युक्तिर्ब्रह्मात्मत्वं विवक्षितम्॥२॥
द्वयोर्वस्त्वन्यदेकं वा काण्वछान्दोग्यषष्ठयोः। उभयत्र पृथग्वस्तु सदात्मभ्यामुपक्रमात् ॥३॥
साधारणोऽयं सच्छब्दः स आत्मा तत्त्वमित्यतः। वाक्यशेषादात्मवाची तस्माद्वस्त्वेकमेतयोः ॥

(आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्) इस ऐतरेयक वाक्य में तथा (सदेव सोम्येदमग्र आसीत्) इस छान्दोग्य वाक्य में तथा (अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चोनः। तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरममृतं युवानम्। अथर्व० १०।४।८।४४) इस वाक्य में आत्म शब्द से तथा मन शब्द से परमात्मा का ग्रहण है क्योंकि परमात्मा ही सबकी सृष्टि आदि में समर्थ है और परमात्मा ही पूर्ण काम सर्वाधार सर्वज्ञ अमृत स्वयम्भू आनन्द से तृप्त और किसी से न्यूनतारहित हो सकता है, तथा युवा समर्थ, परमात्मा को जान करके ही विद्वान् भयरहित होता है। अन्य को नहीं। इन सब स्थानों में परमात्मा को कैसे समझना चाहिये तो कहा जाता है कि (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः) इत्यादि इतर श्रुति के समान समझना चाहिए। तथा उन वचनों से उत्तर में पठित वचनों से समझना चाहिए। यह सूत्रार्थ है। यहाँ संशय है कि 'आत्मा वा इदम्' इस वाक्य में आत्मा शब्द का अर्थ विराट् होगा, अथवा ईश्वर होगा, पूर्वपक्ष है कि भूतों की सृष्टि के अकथन से विराट् होगा, ईश्वर नहीं। तथा देवताओं के लिए गाय लाया, अश्व लाया, इन विशेष क्रियाओं से भी विराट् प्रतीत होता है। सिद्धान्त है कि (एक एवाग्र आसीत्) इस अवधारण से अद्वैत का बोध होता है, इससे आत्म शब्द का अर्थ ईश्वर ही होगा, और भूतों की सृष्टि के उपसंहार से ब्रह्मात्मत्व ही विवक्षित है। गवादि आनयन की उक्ति अर्थवाद रूप है, भाव है कि कोई क्रिया ईश्वर के विना नहीं होती है, इनसे देवों के लिए गौ आदि का विराट् द्वारा ले आना वस्तुतः ईश्वर ही सिद्ध करता है ॥ १-२ ॥

काण्व और छान्दोग्य दोनों के षष्ठ अध्याय की प्रतिपाद्य वस्तु भिन्न है वा एक है यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि छान्दोग्य में सत् शब्द से अध्याय का उपक्रम है; और काण्व में आत्म शब्द से उपक्रम है, इससे दोनों में भिन्न वस्तु है। सिद्धान्त है कि यद्यपि यह सत् शब्द साधारण है आत्मा-अनात्मा दोनों को कह सकता है, तथापि (स आत्मा तत्त्वमसि) इस वाक्यशेष से सत् शब्द आत्मा का वाचक सिद्ध होता है जिससे इन दोनों में एक वस्तु है ॥ ३–४ ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

ऐतरेयके श्रूयते—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा' इति (ऐ० १।१) 'स इमांल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० १।२) इत्यादि। तत्र संशयः किं पर एवात्मेहात्मशब्देनाभिलप्यत उतान्यः कश्चिदिति। किं तावत्प्राप्तं ? न परमात्मेहात्मशब्दाभिलप्यो भवितुमर्हतीति। कस्मात् ? वाक्यान्वयदर्शनात्। ननु वाक्यान्वयः सुतरां परमात्मविषयो दृश्यते प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणात्, ईक्षणपूर्वकस्रष्टृत्ववचनाच्च। नेत्युच्यते। लोकसृष्टिवचनात्। परमात्मनि हि स्रष्टरि परिगृह्यमाणे महाभूतसृष्टिरादौ वक्तव्या लोकसृष्टिस्त्विहादावुच्यते। लोकाश्च महाभूतसंनिवेशविशेषाः। तथा चाम्भःप्रभृतींल्लोकत्वेनैव निर्ब्रवीति—'अदोऽम्भः परेण दिवम्' (ऐ० १।३) इत्यादिना। लोकसृष्टिश्च परमेश्वराधिष्ठितेनापरेण केनचिदीश्वरेण क्रियत इति श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते।

ऐतरेयक में सुना जाता है कि (सृष्टि से पूर्वकाल में यह सब जगत् एक आत्म रूप ही था, अन्य कुछ भी मिषत् क्रियायुक्त नहीं था। उस आत्मा ने विचार किया कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ। फिर उसने अम्भ-स्वर्ग, मरीची-अन्तरिक्ष, मर-मर्त्य, आप-पाताल, इन लोकों को रचा) इत्यादि। वहाँ संशय होता है कि परमात्मा ही यहाँ आत्मशब्द से कहा जाता है, अथवा अन्य कोई कहा जाता है। वहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि यहाँ आत्मशब्द से परमात्मा नहीं कहाने योग्य है, अर्थात् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वाक्य के अन्वय को देखने से परमात्मा की प्रतीति नहीं होती है। शंका होती है कि उत्पत्ति से पहले आत्मा के एकत्व के अवधारण से और ईक्षणपूर्वक सृष्टिकर्तृत्व के कथन से परमात्मविषयक वाक्य का अन्वय सुन्दर स्पष्ट दीखता है। उत्तर है कि लोकों की सृष्टि के कथन से सुन्दर अन्वय नहीं दीखता है। जिससे सृष्टिकर्ता परमात्मा के परिग्रहण करने पर महाभूतों की सृष्टि आदि में कहना चाहिये और यहां तो लोकों की सृष्टि आदि में कही जाती है और लोक महाभूत नहीं हैं किन्तु लोक तो महाभूतों के सन्निवेश (रचनाकार्य) विशेष रूप भौतिक पदार्थ हैं। इसी प्रकार अम्भ आदि का लोक रूप से ही श्रुति निर्वचन, व्याख्यान करती है कि (दिव से पर दिव में स्थिर चन्द्र जल से व्याप्त जो लोक है वह अम्भ है)। लोकों की सृष्टि परमेश्वर से

अधिष्ठित (परमेश्वराधीन) किसी अन्य ईश्वर से की जाती है। यह श्रुति-स्मृति में उपलब्ध होता है, ऐसा वर्णन देखा जाता है।

तथाहि श्रुतिर्भवति—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्याद्या। स्मृतिरपि—

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥ इति।

ऐतरेयिणोऽपि 'अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतो देवाः' इत्यत्र पूर्वस्मिन् प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकां विचित्रां सृष्टिमामनन्ति। आत्मशब्दोऽपि तस्मिन्प्रयुज्यमानो दृश्यते। 'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्यत्र। एकत्वावधारणमपि प्रागुत्पत्तेः स्वविकारापेक्षमुपपद्यते। ईक्षणमपि तस्य चेतनत्वाभ्युपगमादुपपन्नम्। अपि च 'ताभ्यो गामानयत्ताभ्योऽश्वमानयत्ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्नि'त्येवंजातीयको भूयान्व्यापारविशेषो लौकिकेषु विशेषवत्स्वात्मसु प्रसिद्ध इहानुगम्यते। तस्माद्विशेषवानेव कश्चिदिहात्मा स्यादिति।

इसी प्रकार की श्रुति है कि (यह जगत् सृष्टि से प्रथम हिरण्यगर्भ रूप आत्मस्वरूप ही था और वह आत्मा पुरुषविध नराकार था) इत्यादि। स्मृति भी है कि (वह प्रथम शरीरी है, वही पुरुष कहा जाता है। वह चराचर भूतों का आदिकर्त्ता है। वह ब्रह्म सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ और था) और (अब रेत-कार्य की सृष्टि कही जाती है कि देव सब प्रजापति के कार्य हैं) इस पूर्व प्रकरण में ऐतरेय शाखा वाले भी प्रजापति जिसका कर्त्ता है ऐसी विचित्र सृष्टि का वर्णन करते हैं। और आत्मशब्द भी उसी प्रजापति में प्रयुज्यमान (उच्चार्यमाण) दीखता है (आत्मा ही यह नराकार था)। अपने कार्यों की उत्पत्ति से प्रथम अपने कार्यों की अपेक्षा से एकत्व का अवधारण भी उपपन्न होता है, तथा चेतनता के स्वीकार से ईक्षण (आलोचन, विचार) भी उपपन्न है। और दूसरी बात है कि (वह देवों के लिए गाय लाया, अश्व लाया, पुरुष लाया, फिर उन देवताओं को कहा) इस प्रकार के लौकिक विशेष (भेद) वाले आत्माओं में प्रसिद्ध बहुत व्यापारविशेष यहाँ अनुगम (अनुभूत) होते हैं उससे विशेष वाला ही कोई आत्मा यहाँ होगा।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पर एवात्मेहात्मशब्देन गृह्यत इतरवत्। यथेतरेषु सृष्टिश्रवणेषु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१।१) इत्येवमादिषु परस्यात्मनो ग्रहणम्, यथा चेतरस्मिँल्लौकिकात्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्य आत्मशब्देन गृह्यते तथेहापि भवितुमर्हति। यत्र तु 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० १।४।१) इत्येवमादौ 'पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्येवमादि विशेषणान्तरं श्रूयते भवेत्तत्र विशेषवत आत्मनो ग्रहणम्। अत्र पुनः परमात्मग्रहणानुगुणमेव विशेषणमप्युत्तरमुपलभ्यते 'स ईक्षत लोकान्नु सृजै' इति, (ऐ०

१।१) 'स इमांल्लोकानसृजत' (ऐ० १।२) इत्येवमादि। तस्मात्तस्यैव ग्रहणमिति न्याय्यम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि, इतर श्रुति के समान यहाँ आत्मशब्द से परमात्मा ही का ग्रहण किया जाता है। जिस प्रकार (उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादिक सृष्टिश्रवणों में परमात्मा का ग्रहण आत्म शब्द से होता है। जिस प्रकार इतर लौकिक आत्म शब्द के प्रयोग में मुख्य प्रत्यगात्मा ही आत्म शब्द से गृहीत होता है, उसी प्रकार यहाँ भी होने योग्य है। क्योंकि आत्मशब्द की चिदात्मा में मुख्य वृत्ति है, और मुख्य के ग्रहण में बाधक का अभाव है, तथा उत्तर के ईक्षणादि श्रवण भी अनुकूल है। जहाँ (आत्मा ही यह आगे था) इत्यादि वाक्य में (पुरुषाकार) इत्यादि विशेषणान्तर सुना जाता है, वहाँ बाधक के सद्भाव से विशेष वाले आत्मा ही का ग्रहण होगा। यहाँ तो परमात्मा के ग्रहण के अनुकूल ही उत्तर का विशेषण भी उपलब्ध (ज्ञात) होता है कि (वह विचारने लगा कि लोकों की सृष्टि करूँ) और (उसने इन लोकों को रचा) इत्यादि। उससे महाभूतों की सृष्टिपूर्वक लोकों की सृष्टि करने वाला उस परमात्मा का ही ग्रहण है, ऐसा मानना ही न्याययुक्त है ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

'वाक्यान्वयदर्शनान्न परमात्मग्रहण'मिति पुनर्यदुक्तं तत्परिहर्तव्यमिति। अत्रोच्यते। स्यादवधारणादिति ! भवेदुपपन्नं परमात्मनो ग्रहणम्। कस्मात्? अवधारणात्। परमात्मग्रहणे हि प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणमाञ्जसमवकल्पते, अन्यथा ह्यनाञ्जसं तत्परिकल्प्येत। लोकसृष्टिवचनं तु श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमहाभूतसृष्ट्यनन्तरमिति योजयिष्यामि। यथा 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येतच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धवियद्वायुसृष्ट्यनन्तरमित्ययूयुजमेवमिहापि। श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो हि समानविषयो विशेषः श्रुत्यन्तरेषूपसंहर्तव्यो भवति। योऽप्ययं व्यापारविशेषानुगमस्ताभ्यो गामानयदित्येवमादिः सोऽपि विवक्षितार्थावधारणानुगुण्येनैव ग्रहीतव्यः। नह्ययं सकलः कथाप्रबन्धो विवक्षित इति शक्यते वक्तुं, तत्प्रतिपत्तौ पुरुषार्थाभावात्। ब्रह्मात्मत्वं त्विह विवक्षितम्। तथाह्यम्भःप्रभृतीनां लोकानां लोकपालानां चाग्नेयादीनां सृष्टिं शिष्ट्वा करणानि करणायतनं च शरीरमुपदिश्य स एव स्रष्टा 'कथं न्विदं मदृते स्यात्' (ऐ० ३।११) इति वीक्ष्येदं शरीरं प्रविवेशेति दर्शयति–'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० ३।१२) इति। पुनश्च 'यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितम्' (ऐ० ३।११) इत्येवमादिना करणव्यापारविवेचनपूर्वकम् 'अथ कोऽहम् (ऐ० ३।११) इति वीक्ष्य 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्' (ऐ० ३।१३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमवधारयति। तथोपरिष्टादपि 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (ऐत० ५।३) इत्यादिना समस्तभेदजातं सह महाभूतैरनुक्रम्य 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं

प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० ५।३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमेवावधारयति । तस्मादिहात्मगृहीतिरित्यनपवादम् ।

वाक्य के अन्वय के देखने से परमात्मा का ग्रहण नहीं है, यह जो प्रथम कहा जा चुका है, उसका परिहार तो फिर भी कर्तव्य है, यदि ऐसे कोई कहे तो यहाँ कहा जाता है कि अवधारण से परमात्मा का ग्रहण होगा। अर्थात् परमात्मा का ग्रहण उपपन्न होगा। किस हेतु से होगा, अवधारण से होगा। जिससे परमात्मा का ग्रहण करने ही पर उत्पत्ति से प्रथम एकत्व का अवधारण सर्वथा युक्त सिद्ध होता है। अन्यथा वह अवधारण अयुक्त, अमुख्य होगा। लोक के सृष्टिविषयक वचन को तो श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध भूतसृष्टि के अनन्तर परमात्मा ने लोकों को रचा, ऐसी योजना करेंगे। जैसे कि (उसने तेज को रचा) इस वचन की श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध आकाश और वायु की सृष्टि के अनन्तर परमात्मा ने तेज को रचा इस प्रकार योजना की गई है। उसी प्रकार यहाँ भी योजना की जायगी। जिससे श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध समान विषय वाला विशेष अन्य श्रुतियों में उपसंहार के योग्य होता है। और जो भी यह व्यवहार विशेष का अनुगम (सम्बन्ध, अनुभव) है, वह भी विवक्षितार्थं अवधारण के अनुसार से ग्रहण करने के योग्य है कि लोक की सृष्टि में भी हिरण्यगर्भ का व्यापार नहीं है किन्तु उनमें प्रविष्ट परमात्मा का ही वह भी व्यापार है। जिससे यह सम्पूर्ण कथा का प्रबन्ध विवक्षित है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उस प्रबन्ध की प्रतिपत्ति (ज्ञान) में पुरुषार्थ (फल) का अभाव है। यहाँ तो ब्रह्मात्मत्व (सर्वात्मभाव) ही विवक्षित है। सो इस प्रकार है कि अम्भ (स्वर्ग) आदि लोकों और अग्नि आदि लोकपालों की सृष्टि का उपदेश करके तथा करण (इन्द्रिय) और करणों के आश्रय शरीर का उपदेश करके, (मेरे बिना यह कैसे रहेगा) इस प्रकार उसी सृष्टिकर्ता ने विचार किया, और विचार कर शरीर में प्रवेश किया यह श्रुति दर्शाती है कि (वह परमेश्वर इसी शिर की सीमा को फाड़ कर उसी ब्रह्मरन्ध्र द्वारा लिङ्ग-शरीरसहित स्थूल शरीर में पैठा) और फिर भी विचार किया कि (मेरे बिना वाक् से व्याहृत, कथन हुआ, प्राण से श्वास लिया गया) इत्यादि वचनों से कारणों के व्यापारों का विवेचन पूर्वक (फिर मैं कौन हूँ) अर्थात् इन्द्रियाँ यदि अपना व्यापार आप ही करती हैं, तो मैं किसका स्वामी हूँ। इस प्रकार विचार कर (उसने इस शुद्ध ही व्यापक ब्रह्म पुरुष को निज स्वरूप समझा) इस प्रकार श्रुति ब्रह्मात्मत्वदर्शन का अवधारण करती है। इसी प्रकार आगे भी ब्रह्मात्मत्व दर्शन का ही अवधारण करती है कि (यह ब्रह्म है यह इन्द्र है) इत्यादि वचनों से महाभूतों के सहित समस्त भेदसमूह का अनुक्रमण (क्रमशः कथन) करके (ये सब प्रज्ञान-चिदात्मा रूप नेतावाले चिदात्मा के आश्रित हैं, प्रज्ञान नेत्रवाला लोक है, सबकी प्रज्ञा प्रतिष्ठा है प्रज्ञान ब्रह्म है) इत्यादि। उससे यहाँ परमात्मा ही का ग्रहण है, यह अपवादरहित कथन है॥

अपरा योजना—आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्। वाजसनेयके 'कतम आत्मेति

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य तस्यैव सर्वसङ्गविनिर्मुक्तत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मात्मतामवधारयति। तथाह्युपसंहरति—'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) इति। छान्दोग्ये तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यन्तरेणैवात्मशब्दमुपक्रम्योदर्के 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति तादात्म्यमुपदिशति। तत्र संशयः—तुल्यार्थत्वं किमनयोराम्नानयोः स्यादतुल्यार्थत्वं वेति। अतुल्यार्थत्वमिति तावत्प्राप्तमतुल्यत्वादाम्नानयोः, नह्याम्नानवैषम्ये सत्यर्थसाम्यं युक्तं प्रतिपत्तुमाम्नानतन्त्रत्वादर्थपरिग्रहस्य। वाजसनेयके ह्यात्मशब्दोपक्रमादात्मतत्त्वोपदेश इति गम्यते। छान्दोग्ये तूपक्रमविपर्ययादुपदेशविपर्ययः। ननु छन्दोगानामप्यस्त्युदर्के तादात्म्योपदेश इत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। उपक्रमतन्त्रत्वादुपसंहारस्य तादात्म्यसंपत्तिः सेति मन्यते।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्—इस सूत्र की अपर योजना है कि वाजसनेयक में (देहेन्द्रियादि में आत्मा कौन है, जो यह विज्ञानमय हृदय के अन्दर प्राणों में ज्योतिरूप पुरुष है वह आत्मा है) इस प्रकार आत्म शब्द से उपक्रम करके, उसीकी सर्वसंगविनिर्मुक्तता के प्रतिपादन के द्वारा उसकी ब्रह्मात्मता का अवधारण श्रुति करती है। जिससे उसी प्रकार ब्रह्मरूप से उपसंहार करती है कि (वही यह महान् अज आत्मा अजर अमर अमृत अभय ब्रह्म है) इति। और छान्दोग्य में तो (हे सोम्य ! यह जगत् उत्पत्ति से प्रथम एक ही अद्वितीय सत् स्वरूप ही था) इस प्रकार आत्म शब्द के बिना ही उपक्रम करके उदर्क (उपसंहार, उत्तर) में (वह आत्मा है वह तुम हो) इस प्रकार तादात्म्य (अभेद) का उपदेश गुरु करते हैं। वहाँ संशय होता है कि क्या इन दोनों श्रुतियों को तुल्यार्थवत्त्व होगा, अथवा अतुल्यार्थवत्त्व है। वहाँ श्रुतियों की अतुल्यता से प्रथम अतुल्यार्थत्व प्राप्त होता है, जिससे श्रुति की विषमता रहते अर्थज्ञान के श्रुति के अधीन होने से अर्थ की समता समझना युक्त नहीं है। वाजसनेयक में आत्मशब्द से उपक्रम होने से आत्मतत्त्व का उपदेश है, यह समझा जाता है। छान्दोग्य में तो उपक्रम के विपर्यय से (आत्मसम्बन्धरहित होने से) उपदेश का विपर्यय समझा जाता है। यदि कहा जाय कि छन्दोगों के भी उपसंहार में तादात्म्य का उपदेश है, यह कहा जा चुका है। तो कहा जाता है कि कहा जा चुका है वह सत्य है। परन्तु उपसंहार के उपक्रम के अधीन होने से वह तादात्म्य-सम्पत्ति (उपासनार्थक संपादनरूप) है ऐसा मानते हैं।

तथा प्राप्तेऽभिधीयते आत्मगृहीतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यत्र छन्दोगानामपि भवितुमर्हतीतरवत्। यथा 'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इत्यत्र वाजसनेयिनामात्मगृहीतिस्तथैव। कस्मात्? उत्तरात्तादात्म्योपदेशात्। अन्वयादिति चेत्, स्यादवधारणात्। यदुक्तम्—उपक्रमान्व-

यादुपक्रमे चात्मशब्दश्रवणाभावान्नात्मगृहीतिः—इति तस्य कः परिहार इति चेत्, सोऽभिधीयते स्यादवधारणादिति। भवेदुपपन्नेहात्मगृहीतिः अवधारणात्। तथाहि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमवधार्य तत्संपिपादयिषया 'सदेव' इत्याह। तच्चात्मगृहीतौ सत्यां संपद्यते, अन्यथा हि योऽयं मुख्य आत्मा स न विज्ञात इति नैव सर्वविज्ञानं संपद्येत, तथा प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणं जीवस्य चात्मशब्देन परामर्शः, स्वापावस्थायां च तत्स्वभावसंपत्तिकथनं परिचोदनापूर्वकं च पुनः पुनः 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यवधारणमिति च सर्वमेतत्तादात्म्यप्रतिपादनायामेवावकल्पते न तादात्म्यसंपादनायाम्। नचात्रोपक्रमतन्त्रतोपन्यासो न्याय्यः। नह्युपक्रम आत्मत्वसंकीर्तनमनात्मत्वसंकीर्तनं वास्ति। सामान्योपक्रमश्च न वाक्यशेषगतेन विशेषेण विरुध्यते विशेषाकाङ्क्षित्वात्सामान्यस्य। सच्छब्दार्थोऽपि च पर्यालोच्यमानो न मुख्यादात्मनोऽन्यः संभवत्यतोऽन्यस्य वस्तुजातस्यारम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वोपपत्तेः आम्नानवैषम्यमपि नावश्यमर्थवैषम्यमावहति, आहर पात्रं पात्रमाहरेत्येवमादिष्वर्थसाम्येऽपि तद्दर्शनात्। तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकारभेदेऽपि प्रतिपाद्यार्थाभेद इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि (हे सोम्य ! यह प्रथम सत् ही था) छन्दोगों के भी इस वाक्य में इतर वाक्य के समान परमात्मा ही का ग्रहण होने योग्य है। अर्थात् (कौन आत्मा है) इस वाजसनेयी के वाक्य में जैसे आत्म शब्द से परमात्मा का ग्रहण होता है, वैसे ही छन्दोगों के वाक्य में सत् शब्द से परमात्मा का ग्रहण होना उचित है। क्यों ऐसा होना उचित है, तो कहा जाता है कि उत्तर (आगे) के तादात्म्य (अभेद) के उपदेश से ऐसा होना उचित है। फिर यदि कहो कि अन्वय से नहीं हो सकता है, तो कहा जाता है कि अवधारण से हो सकता है। अर्थात् यदि यह कहो कि उपक्रम के अन्वय से (उपक्रम के अधीन उपसंहार के होने से) और उपक्रम में आत्मशब्द के श्रवण के अभाव से उपक्रम के अनुसार से छान्दोग्य वाक्य में परमात्मा का ग्रहण नहीं हो सकता है, यह जो प्रथम कहा जा चुका है उसका परिहार (उत्तर) है, तो वह परिहार कहा जाता है कि अवधारण से परमात्मा का ग्रहण होगा, अर्थात् यहाँ अवधारण से परमात्मा का ग्रहण उपपन्न (युक्त, सिद्ध) होगा। जिससे इस प्रकार का अवधारण है कि (जिस आदेश के सुनने से अश्रुत भी श्रुत होता है, अमत भी मत होता है। अविज्ञात भी विज्ञात होता है) इस प्रकार एक के विज्ञान से सब के विज्ञान का अवधारण करके उसी के प्रतिपादन की इच्छा से (सदेव) सत्य ही था, इत्यादि कहते हैं। वह (सदेव) ऐसा अवधारण परमात्मा से सत्शब्द से ग्रहण करने पर उपपन्न होता है। अन्यथा (अन्य के ग्रहण करने पर) जो यह मुख्य आत्मा है वह यदि नहीं विज्ञात हुआ, तो सर्वविज्ञान सम्पन्न नहीं हो सकता है। इसी प्रकार उत्पत्ति के पूर्वकाल

में (एकमेव) इस प्रकार एकत्व का अवधारण, और (अनेन जीवेनात्मना) इस प्रकार जीव का आत्मशब्द से परामर्श (कथन) और (सता सम्पन्नो भवति) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में परमात्मस्वभाव की सम्पत्ति (प्राप्ति) का कथन, और बार-बार (भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु) फिर मुझे आप समझावें। इस प्रकार की प्रेरणा प्रश्नपूर्वक (तत्त्वमसि) तुम वही हो। यह अवधारण, ये सब तादात्म्य के प्रतिपादन में युक्त सिद्ध होते हैं, तादात्म्य की संपादना (सम्पत्ति आरोप) में नहीं सिद्ध हो सकते हैं। उपक्रमतन्त्रता (अधीनता) का यहाँ उपन्यास (कथन) भी युक्त नहीं है, क्योंकि उपक्रम में आत्मत्व का संकीर्तन वा अनात्मत्व का संकीर्तन नहीं है किन्तु सामान्य रूप से सत् का संकीर्तन है। सामान्य रूप वाला उपक्रम वाक्य शेषगत विशेष से विरुद्ध नहीं होता है, क्योंकि सामान्य वाक्य विशेष वाक्य की आकांक्षा वाला होता है। वस्तुतः पर्यालोच्यमान (विचार्यमाण) सत् शब्द का अर्थ भी मुख्य आत्मा से अन्य नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इस मुख्य आत्मा से अन्य वस्तु-समूह को आरम्भणशब्दादि से अनृतत्व (मिथ्यात्व) की उपपत्ति से मुख्यात्मा ही सत् सिद्ध होता है। श्रुति पाठ की विषमता भी अर्थ की विषमता को अवश्य ही नहीं प्राप्त करती है, (लाओ पात्र, पात्र लाओ) इत्यादि वाक्यों में अर्थ की तुल्यता रहते भी पाठ की विषमता देखी जाती है। उससे इस प्रकार के वाक्यों में प्रतिपादन की प्रक्रियारीति के भेद रहते भी प्रतिपादन के विषय अर्थ का अभेद रहता है। अर्थात् बृहदारण्यक में त्वमर्थं (जीवात्मा) से आरम्भ करके शुद्ध तदर्थं (ईश्वरसाक्षी) का प्रतिपादन है। छान्दोग्य में ईश्वर के स्वरूप से आरम्भ करके शुद्ध जीवात्मा का प्रतिपादन है, और जीवेश्वर का शुद्ध साक्षीस्वरूप आत्मा अभिन्न है यह सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

कार्याख्यानाधिकरण (९)

अनग्नबुद्ध्याचमने विधेये बुद्धिरेव वा। उभे अपि विधेये ते द्वयोरत्र श्रुतत्वतः ॥१॥
स्मृतेराचमनं प्राप्तं प्रायत्यर्थमनूद्य तत्। अनग्नतामतिः प्राणविदोऽपूर्वा विधीयते ॥२॥

पूर्व कही रीति से परमात्मा से भिन्न सब को आरम्भण शब्दादि से ब्रह्मकार्यत्व के आख्यान से ब्रह्म ही (अपूर्वम्) इत्यादि श्रुति के अनुसार कारण रहित है। इससे सत्य और आत्मा है। उस परमात्मा की अनुभूति का साधन शौच है, और (द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्) इत्यादि स्मृति से शौच के लिए उपस्पर्शादि विहित हैं। (सत्त्वशुद्धि-सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च) इस योगसूत्र से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों का विजय, आत्मदर्शन की योग्यता, ये शौच के आभ्यन्तर फल योगदर्शन में दर्शाये गये हैं। प्रकृत में (अशिष्यन्त आचमन्ति) इत्यादि श्रुति से शुद्धि के लिए स्मृति से प्राप्त कर्तव्य रूप आचमन का आख्यान अनुवादमात्र होने से आचमन का विधान नहीं किया जाता है, किन्तु अपूर्व (अप्राप्त) होने से अनग्नता के चिन्तन मात्र का प्राणविद्या में विधान किया जाता है। वहाँ संशय है कि

श्रुति से अनग्नता का चिन्तन और आचमन दोनों विधेय हैं या आचमन के जल में वस्त्र बुद्धि करके और उसके द्वारा प्राण की अनग्नता की बुद्धिमात्र का विधान है। पूर्वपक्ष है कि दोनों के यहाँ श्रुत होने से दोनों का विधान है। सिद्धान्त है कि (विधिरत्यन्तमप्राप्तौ) इस वचन के अनुसार अत्यन्त अप्राप्ति रहते विधि होती है। इससे प्रयत का भावरूप प्रायत्य, शुद्धि के लिए प्राप्त उस आचमन का अनुवाद करके प्राणवेत्ता की अपूर्व अनग्नता मति विहित होती है ॥ १–२ ॥

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

छन्दोगा वाजसनेयिनश्च प्राणसंवादे श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमाम्नायतस्यैवापो वास आमनन्ति। अनन्तरं च छन्दोगा आमनन्ति—'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति' (छा० ५।२।२) इति। वाजसनेयिनस्त्वामनन्ति—'तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (बृ० ६।१।१४) 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते' इति। तत्र त्वाचमनमनग्नताचिन्तनं च प्राणस्य प्रतीयते। तत्किमुभयमपि विधीयत उताचमनमेवोतानग्नताचिन्तनमेवेति विचार्यते। किं तावत्प्राप्तम्? उभयमपि विधीयते इति। कुतः? उभयस्याप्यवगम्यमानत्वात्। उभयमपि चैतदपूर्वत्वाद्विध्यर्हम्। अथवाऽऽचमनमेव विधीयते, विस्पष्टा हि तस्मान्विधिविभक्तिस्तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशि[illegible]ा चाचामेदिति तस्यैव स्तुत्यर्थमनग्नतासंकीर्तनमिति।

प्राणों के संवाद में (मे किमन्नं किं वासः) मेरा क्या अन्न होगा क्या वस्त्र होगा? इस प्रकार प्राण के पूछने पर, इन्द्रियों ने कहा कि (यदिदं किञ्चाश्वभ्य आकृमिभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वासः) इस प्रकार छन्दोग और वाजसनेयी प्राण के संवाद में कुत्ते कृमि आदि पर्यन्त को प्राण का अन्न कहकर और उस प्राण का वस्त्र रूप जल को कहते हैं। उसके बाद में छन्दोग कहते हैं कि (जिससे जल प्राण का वस्त्र है इसीसे भोजन करने वाले विद्वान् यह करते हैं कि भोजन से प्रथम और भोजन के बाद में जलों से प्राण का परिधान आच्छादन करते हैं) और वाजसनेयो तो कहते हैं कि (यतः जल प्राण का वस्त्र है अतः श्रोत्रिय विद्वान् लोग भोजन करते समय प्रथम आचमन करते हैं। और भोजन करके आचमन करते हैं। इसी अन (प्राण) को उस आचमन से अनग्न करना मानते हैं, जिससे ऐसा जानने वाला विद्वान् भोजन करने से प्रथम आचमन करे और भोजन करके आचमन करे, उससे इसी प्राण को अनग्न करता है) इति, वहाँ दोनों श्रुतियों में आचमन और प्राण की अनग्नता का चिन्तन प्रतीत होता है, इससे क्या दोनों विहित हैं? अथवा आचमन ही विहित होता है, यद्वा अनग्नता चिन्तन ही विहित होता है, यह विचार किया जाता है। वहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि दोनों प्राप्त होता है, क्योंकि दोनों का विधान किया

जाता है, दोनों का विधान किससे समझा जाता है ऐसी जिज्ञासा हो, तो कहा जाता है
कि दोनों ही के अवगम्यमान (प्रतीत) होने से दोनों का विधान समझा जाता है।
और अपूर्वता से ये दोनों ही विधि के योग्य भी हैं। अथवा आचमन का ही विधान
किया जाता है, जिससे उस आचमन विषयक विघट विधायक विभक्ति है कि जिससे
ऐसा विद्वान् भोजन से पहले आचमन करे और भोजन करके आचमन करे और आचमन
की विधि होने पर उसी की स्तुति के लिए अनग्नता का संकीर्तन है, विधि नहीं है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते कार्याख्यानात्। प्राप्तमेव
हीदं कार्यत्वेनाचमनं प्रायत्यार्थं स्मृतिप्रसिद्धमन्वाख्यायेत। नन्वियं श्रुति-
स्तस्याः स्मृतेर्मूलं स्यात्। नेत्युच्यते, विषयनानात्वात्। सामान्यविषया हि
स्मृतिः पुरुषमात्रसंबद्धं प्रायत्यार्थमाचमनं प्रापयति। श्रुतिस्तु प्राणविद्याप्रकर-
णपठिता तद्विषयमेवाचमनं विदधती विदध्यात्। नच भिन्नविषययोः श्रुतिस्मृ-
त्योर्मूलमूलिभावोऽवकल्पते। नचेयं श्रुतिः प्राणविद्यासंयोग्यपूर्वमाचमनं विधा-
स्यतीति शक्यमाश्रयितुम्, पूर्वस्यैव पुरुषमात्रसंयोगिन आचमनस्येह प्रत्यभि-
ज्ञायमानत्वात्। अत एव च नोभयविधानम्। उभयविधाने च वाक्यं भिद्यत,
तस्मात्प्राप्तमेवाशिशिषतामशितवतां चोभयत आचमनमनूद्य 'एतमेव तदन-
मनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (बृ० ६।१।१४) इति प्राणस्यानग्नताकरणसंकल्पोऽनेन
वाक्येनाचमनीयास्वप्सु प्राणविद्यासंबन्धित्वेनापूर्व उपदिश्यते। नचायमनग्न-
तावाद आचमनस्तुत्यर्थ इति न्याय्यम्, आचमनस्याविधेयत्वात्, स्वयं चान-
ग्नतासंकल्पस्य विधेयत्वप्रतीतेः। नचैवं सत्येकस्याचमनस्योभयार्थताभ्युपगता
भवति प्रायत्यार्थता परिधानार्थता चेति, क्रियान्तरत्वाभ्युपगमात्। क्रियान्तर-
मेव ह्याचमनं नाम प्रायत्यार्थं पुरुषस्याभ्युपगम्यते, तदीयासु त्वप्सु वासःसंक-
ल्पनं नाम क्रियान्तरमेव परिधानार्थं प्राणस्याभ्युपगम्यत इत्यनवद्यम्। अपिच
'यदिदं किंचाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतंगेभ्यस्तत्तेऽन्नम्' (बृ० ६।१।१४)
इत्यत्र तावन्न सर्वान्नाभ्यवहारश्चोद्यत इति शक्यं वक्तुम्, अशब्दत्वादशक्यत्वाच्च।
सर्वं तु प्राणस्यान्नमितीयमन्नदृष्टिश्चोद्यते। तत्साहचर्याच्चापोवास इत्यत्रापि
नापामाचमनं चोद्यते प्रसिद्धास्वेव त्वाचमनीयास्वप्सु परिधानदृष्टिश्चोद्यत
इति युक्तम्। नह्यर्धवैशसं सम्भवति। अपि चाचामन्तीति वर्तमानापदेशित्वा-
न्नाय शब्दो विधिक्षमः।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि कार्याख्यान से आचमन को विधेयत्व उपपन्न
नहीं होता है। जिससे शुद्धि के लिए कर्तव्य रूप से प्राप्त स्मृति में प्रसिद्ध हो यह
आचमन कहा जाता है। यदि कहो कि स्मृति सिद्ध का श्रुति नहीं अनुवाद कर सकती
है, किन्तु यह श्रुति ही उस स्मृति का मूल है, तो कहा जाता है कि विषय के नानात्व
(भेद) से यह श्रुति उस स्मृति का मूल नहीं है, समान विषय में मूल-मूलीभाव
होता है। और सामान्य विषयक स्मृति है सो पुरुष मात्र के साथ सम्बन्ध वाला शुद्धि

रूप प्रयोजन वाले आचमन को प्राप्त कराती है। प्राणविद्या के प्रकरण में पठित श्रुति तो आचमन का विधान करती हुई भी प्राणविद्या-विषयक ही आचमन का विधान करेगी। भिन्न विषयवाली श्रुति-स्मृति को मूल-मूलि भाव नहीं सिद्ध हो सकता है। वस्तुतः यह श्रुति प्राणविद्या-सम्बन्धी अपूर्व आचमन का विधान करेगी ऐसा आश्रयण (स्वीकार) नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पुरुषमात्र के सम्बन्धी पूर्व के ही आचमन की यहाँ प्रत्यभिज्ञा होती है। इससे वही यहाँ प्रत्यभिज्ञायमान (सम्बद्ध) है। इस विधि के अभाव से ही उभय (दोनों) का विधान भी नहीं है। उभय के विधान में वाक्य-भेद होगा। इससे भोजन की इच्छा वाले और भोजन कर चुकने वाले को प्राप्त भोजन से पूर्वपरकालिक आचमन का ही अनुवाद करके (इस प्राण को ही उस आचमन से अनग्न करते हुए समझते हैं) इस वाक्य से प्राण की अनग्नताकरण का संकल्प आचमनीय जलविषयक प्राणविद्या के सम्बन्धित्व रूप से अपूर्व उपदिष्ट होता है। आचमन की अवि-धेयता से तथा अनग्नताविषयक संकल्प के विधेयत्व की स्वयं प्रतीति से (यह अनग्नता का कथन आचमन की स्तुति के लिए है) यह पूर्वोक्त वचन न्याययुक्त नहीं है। इस प्रकार संकल्प के विधेयत्व की प्रतीति होने पर संकल्प में क्रियान्तरत्व के अभ्युपगम से एक आचमन की शुद्ध्यर्थता और परिधानार्थता रूप उभयार्थता स्वीकृत नहीं होती है, कि जिससे कहा जा सके कि शुद्ध्यर्थक आचमन को प्राण परिधानार्थकत्व विरुद्ध है, जिससे आचमन को आच्छादनार्थत्व असिद्ध है, परन्तु संकल्पमात्र कर्तव्य है। जिससे पुरुष की शुद्धि के लिए आचमन नामक क्रियान्तर माना जाता है। उस आचमन सम्बन्धी जलों में वस्त्र वा संकल्प नामक क्रियान्तर ही प्राणों के परिधानार्थक माना जाता है, इससे उभयार्थता आदि दोष नहीं है। दूसरी बात है कि (कुत्ता, कृमि, कीट-पतंगपर्यन्त जो कुछ है सो सब तेरा अन्न है) यह सब अन्न के भोजन का विधान किया जाता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ऐसा कोई शब्द श्रुति नहीं है, और ऐसा होना अशक्य भी है। इससे सब प्राण का अन्न है इस प्रकार की यह अन्नदृष्टि विहित होती है। उसके साहचर्य से जल वस्त्र है, यहाँ भी जल के आचमन का विधान नहीं किया जाता है, किन्तु प्रसिद्ध आचमनार्थक जलों में परिधान (वस्त्र) दृष्टि का विधान किया जाता है। ऐसा युक्त है। ऐसा नहीं मान कर अन्न वाक्य में दृष्टि-विधिरूप और आचमन वाक्य में क्रिया विधिरूप अर्धवैशस का सम्भव नहीं है। आचामन्ति, इस वर्तमान के कथन से यह शब्द आचमन की विधि में समर्थ भी नहीं है।

ननु मन्यन्त इत्यत्रापि समानं वर्तमानापदेशित्वम्। सत्यमेव तत् अवश्यविधेये त्वन्यतरस्मिन्वासः कार्याख्यानादपां वासःसंकल्पनमेवापूर्वं विधीयते नाचमनं पूर्ववद्धि तदित्युपपादितम्। यदप्युक्तं—विस्पष्टा चाचमने विधिविभक्तिः—इति, तदपि पूर्ववत्त्वेनैवाचमनस्य प्रत्युक्तम्। अत एवाचम-

नस्याविधित्सितत्वादेतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्त इत्यत्रैव काण्वाः पर्यवस्यन्ति तस्मादेवंविदित्यादि। तस्मान्माध्यंदिनानामपि पाठे आचमनानुवादेनैवंवित्त्वमेव प्रकृतप्राणवासोवित्त्वं विधीयते इति प्रतिपत्तव्यम्। योऽप्ययमभ्युपगमः क्वचिदाचमनं विधीयतां क्वचिद्वासोविज्ञानमिति सोऽपि न साधुः। आपो वास इत्यादिकाया वाक्यप्रवृत्तेः सर्वत्रैकरूप्यात्। तस्माद्वासोविज्ञानमेवेह विधीयते नाचमनमिति न्याय्यम् ॥ १८ ॥

यदि कहो कि (अनग्नं मन्यन्ते) यहाँ भी तुल्य ही वर्तमानापदेशित्व (वर्तमानवाचकत्व) है, तो यह कहना सत्य है, तो भी अन्यतर (दो में से एक) के अवश्य विधेय होने पर कार्याख्यान रूप हेतु से जल का वस्त्ररूप अपूर्वसंकल्पन ही विहित होता है, आचमन नहीं विहित होता है वह पूर्व सिद्ध है, यह उपपादित हो चुका है। जो यह कहा था कि आचमन में विस्पष्ट विधि विभक्ति है, सो भी आचमन के पूर्व सिद्धत्व से ही प्रत्युक्त (खण्डित) हो चुका। इस पूर्व सिद्ध होने के कारण आचमन विधि के इष्ट नहीं होने से ही (इस प्राण को इससे अनग्न करना मानते हैं) यहाँ काण्वशाखा वाले समाप्ति करते हैं। (तस्मात् एवंविद) इत्यादि नहीं पढ़ते हैं, जिससे माध्यन्दिनों के पाठ में भी आचमन के अनुवाद द्वारा एवंवित्त्व ही अर्थात् प्रकृत प्राणवस्त्रवित्त्व विहित होता है, ऐसा समझना चाहिए। जो यह अभ्युपगम है कि क्वचित् (माध्यन्दिन) में आचमन का विधान किया जाय, और कहीं अन्यत्र वस्त्रविज्ञान का विधान किया जाय। सो अभ्युपगम भी साधु नहीं है। क्योंकि (आपो वासः) इत्यादि वाक्य प्रवृत्ति की सर्वत्र एकरूपता है। जिससे यहाँ वस्त्रविज्ञान का ही विधान किया जाता है, आचमन का नहीं, यह न्याययुक्त है ॥ १८ ॥

समानाधिकरण (१०)

शाण्डिल्यविद्या काण्वानां द्विविधैकविधाऽथवा। द्विरुक्तेरेकशाखायां द्वैविध्यमिति गम्यते ॥
एका मनोमयत्वादिप्रत्यभिज्ञानतो भवेत्। विद्याया विधिरेकत्र स्यादन्यत्र गुणो विधिः ॥

जैसे भिन्न शाखा में उपास्य के अभेद से विद्या की एकता और गुण का उपसंहार होता है, इसी प्रकार समान (एक) शाखा में भी समझना चाहिए। यहाँ संशय है कि एक काण्वशाखा वाले के दो ग्रन्थ में शाण्डिल्य विद्या पढ़ी हुई है सो दोनों स्थान में द्विविध (भिन्न) होगी, अथवा एकविध (अभिन्न) होगी। पूर्वपक्ष है कि भिन्न शाखा में अध्येता आदि के भेद से पुनरुक्ति दोष नहीं होता है, इससे एक विद्या दो शाखाओं में पढ़ी जा सकती है, परन्तु एक शाखा में एक विद्या के दो स्थानों में पढ़ने से पुनरुक्ति होगी इससे द्विविधता की प्रतीति होती है। सिद्धान्त है कि मनोमयत्वादि द्वारा प्रत्यभिज्ञा होने से विद्या एक है। एक स्थान में विद्या की विधि है। अन्य स्थान में गुणविषयक विधि है, इससे पुनरुक्ति भी नहीं है ॥ १–२ ॥

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्या विज्ञाता, तत्र च गुणाः श्रूयन्ते—'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्' इत्येवमादयः। तस्यामेव शाखायां बृहदारण्यके पुनः पठ्यते—मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यदा व्रीहिर्वा यवो वा स एषां सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशस्ति यदिदं किंच' (बृ० ५।६।१) इति। तत्र संशयः—किमियमेका विद्याग्निरहस्यबृहदारण्यकयोर्गुणोपसंहारश्चोत द्वे इमे विद्ये गुणानुपसंहारश्चेति। किं तावत्प्राप्तम्? विद्याभेदो गुणव्यवस्था चेति। कुतः? पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। भिन्नासु हि शाखास्वध्येतृवेदितृभेदात्पौनरुक्त्यपरिहारसालोच्य विद्यैकत्वमध्यवसायैकत्रातिरिक्ता गुणा इतरत्रोपसंह्रियन्ते प्राणसंवादादिष्वित्युक्तम्। एकस्यां पुनः शाखायामध्येतृवेदितृभेदाभावादशक्यपरिहारे पौनरुक्त्ये न विप्रकृष्टदेशस्थैका विद्या भवितुमर्हति। नचात्रैकमाम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति विभागः संभवति। तदा ह्यतिरिक्ता एव गुणा इतरत्रेतरत्र चाम्नायेरन्नसमानाः, समाना अपि तूभयत्राम्नायन्ते मनोमयत्वादयः, तस्मान्नान्योन्यगुणोपसंहार इति।

वाजसनेय शाखा में अग्निरहस्य प्रकरण में शाण्डिल्य से दृष्ट होने से शाण्डिल्य नाम से अङ्कित (चिह्नित) विद्या विज्ञात होती है। यहाँ (वह जिज्ञासु, मनोमय, प्राणरूप शरीर वाला प्रकाश स्वरूप आत्मा की उपासना करे) इत्यादि मनोमयत्वादि रूप गुण सुने जाते हैं। उसी शाखा में वृहदारण्यक ग्रन्थ में फिर पढ़ा जाता है कि (यह पुरुष मनोमय है, प्रकाश उसका सत्य स्वरूप है, अर्थात् वह भास्वर है। उस हृदय के अन्दर यव वा व्रीहितुल्य परिमाण वाला योगियों से देखा जाता है। सो यह सब का ईशान स्वामी है, सबका स्वतन्त्र अधिपति है। जो कुछ यह जगत् है, उस सबका वह प्रशासन करता है) यहाँ संशय होता है कि अग्निरहस्य और वृहदारण्यक में क्या यह एक विद्या है और गुणों का उपसंहार होता है, अथवा ये दो विद्याएँ हैं, और गुणों का उपसंहार नहीं होता है। जिज्ञासा होती है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है। पूर्वपक्ष है कि विद्या का भेद और गुणों का अनुपसंहार प्राप्त होता है। क्योंकि एक विद्या होने पर पुनरुक्ति का प्रसङ्ग होगा। जिससे भिन्न शाखाओं में अध्ययनकर्ता और वेदिता (द्रष्टा) के भेद से पुनरुक्तिता के परिहार को समझ कर विद्या की एकता को निश्चय करके, एक स्थान में पढ़े गये अधिक गुण अन्य स्थान में उपसंहृत किये जाते हैं, यह प्राण संवादादि में कहा जा चुका है। परन्तु एक शाखा में अध्येता वेदिता के भेद के अभाव से पुनरुक्तता दोष का परिहार नहीं हो सकने से, दूरदेशस्थ एकविद्या होने योग्य नहीं है। यहाँ एक श्रुति

विद्या के विधान के लिए है, अन्य गुण विधान के लिए है। ऐसा विभाग भी नहीं हो सकता है। जिससे ऐसी विभागावस्था में, अधिक ही गुण भिन्न-भिन्न श्रुतियों में कहे जाते, और समान (तुल्य एक) गुण दोनों श्रुतियों में नहीं कहे जाते, और मनोमयत्वादि समान गुण भी दोनों स्थानों में पढ़े जाते हैं, जिससे परस्पर गुणों का उपसंहार नहीं होता है।

एवं प्राप्ते ब्रूमहे—यथा भिन्नासु शाखासु विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि शाखायां भवितुमर्हति, उपास्याभेदात्। तदेव हि ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुभयत्राप्युपास्यमभिन्नं प्रत्यभिजानीमहे। उपास्यं च रूपं विद्यायाः। न च विद्यमाने रूपाभेदे विद्याभेदमध्यवसातुं शक्नुमः। नापि विद्याऽभेदे गुणव्यवस्थानम्। ननु पौनरुक्त्यप्रसङ्गाद्विद्याभेदोऽध्यवसितः। नेत्युच्यते अर्थविभागोपपत्तेः। एकं ह्याम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति न किंचिन्नोपपद्यते। नन्वेवं सति यदपठितमग्निरहस्ये तदेव बृहदारण्यके पठितव्यम् 'स एष सर्वस्येशानः' इत्यादि। यत्तु पठितमेव मनोमयं इत्यादि तन्न पठितव्यम्। नैष दोषः। तद्बलेनैव प्रदेशान्तरपठितविद्याप्रत्यभिज्ञानात्। समानगुणाम्नानेन हि विप्रकृष्टदेशां शाण्डिल्यविद्यां प्रत्यभिज्ञाप्य तस्यामीशानत्वाद्युपदिश्यते। अन्यथा हि कथं तस्यामयं गुणविधिरभिधीयते। अपि चाप्राप्तांशोपदेशेनार्थवति वाक्ये संजाते प्राप्तांशपरामर्शस्य नित्यानुवादतयाऽप्युपपद्यमानत्वान्न तद्बलेन प्रत्यभिज्ञोपेक्षितुं शक्यते। तस्मादत्र समानायामपि शाखायां विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्चेत्युपपन्नम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि उपास्य के अभेद से जैसे भिन्न शाखाओं में विद्या की एकता होती है, और गुणों का उपसंहार होता है, उसी प्रकार एक शाखा में भी होने के योग्य है। जिससे मनोमयत्वादि गुण वाला उसी अभिन्न उपास्य ब्रह्म की दोनों स्थानों में प्रत्यभिज्ञा करते हैं। विद्या (उपासना) का उपास्य रूप होता है। रूप का अभेद विद्यमान रहते विद्या के भेद का निश्चय नहीं कर सकते हैं और विद्या का अभेद होते गुण का व्यवस्थान (अनुपसंहार) भी नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि पुनरुक्तिता के प्रसंग से विद्या का भेद निश्चित किया गया है, तो कहा जाता है कि अर्थों के विभाग की उपपत्ति से पुनरुक्तिता की प्राप्ति नहीं है, एक वह श्रुति जिसमें अधिक गुण श्रुत हैं, वह विद्या के विधान के लिए प्रधान है। उससे अन्य बृहदारण्यक श्रुति गुण विधान के लिए है। इससे कुछ भी अनुपपन्न नहीं है। यदि कहा जाय कि ऐसी व्यवस्था होने पर अग्निरहस्य में जो अपठित है, वही बृहदारण्यक में पढ़ना चाहिए (वह सब का स्वामी है) इत्यादि। जो (मनोमय) इत्यादि अग्निरहस्य में पढ़ा ही हुआ है, उसको बृहदारण्यक में नहीं पढ़ना चाहिए। यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि कुछ पठित गुण का

पाठरूप बल से ही प्रदेशान्तर में पठित विद्या की प्रत्यभिज्ञा होती है। समान गुण
के कथन द्वारा ही दूरदेश वाली शाण्डिल्यविद्या की प्रत्यभिज्ञा कराकर उसमें
ईशानत्वादि का उपदेश दिया जाता है, अन्यथा उसमें यह गुण विधि कैसे कही
जायगी। अप्राप्त अंश के उपदेश से वाक्य के अर्थवाला (सार्थक) होने पर प्राप्तांश
का परामर्श (कथन) के नित्यानुवादरूपता से भी उपपन्न होने से उसके बल से
प्रत्यभिज्ञा की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अर्थात् विद्या का भेद नहीं माना जा
सकता है। इससे यहाँ एक शाखा में भी विद्या का एकत्व और गुणों का उपसंहार
होता है, यह उपपन्न होता है ॥ १९ ॥

सम्बन्धाधिकरण (११)

संहारः स्याद्व्यवस्था वा नाम्नोरहरहं त्विति। विद्यैकत्वेन संहारः स्यादध्यात्माधिदैवयोः ॥
तस्योपनिषदित्येवंभिन्नस्थानत्वदर्शनात् । स्थितासीनगुरूपास्त्योरिव नाम्नोर्व्यवस्थितिः ॥

एक विद्या के साथ सम्बन्ध होने से शाण्डिल्यविद्या के समान अन्यत्र भी गुण का उपसंहार होगा। ब्रह्म के अधिदैवत और अध्यात्म भेद से अहर्, अहम् ये दो रहस्य नाम बृहदारण्यक में कहे गये हैं, वहाँ संशय होता है कि इन नामों का परस्पर उपसंहार होगा, अथवा व्यवस्था रहेगी। पूर्वपक्ष है कि विद्या की एकता से अध्यात्म अधिदैवत नामों का उपसंहार होगा। सिद्धान्त है कि यद्यपि ब्रह्म एक है उसकी विद्या एक है तथापि नेत्र और आदित्यरूप भिन्न स्थान मान कर औपाधिकभेदयुक्त ब्रह्म के तस्य उपनिषद्, अक्षिस्थ का उपनिषद् वा आदित्यस्थ का उपनिषद् इस प्रकार से भिन्न स्थानत्व के दर्शन से नामों की व्यवस्था होती है। जैसे गुरु के एक होते भी स्थित और आसीन गुरु की सेवा उपासना में व्यवस्था होती है ॥

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

बृहदारण्यके 'सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५।३।१) इत्युपक्रम्य 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५।५।३) इति तस्यैव सत्यस्य ब्रह्मणोऽधिदैवतमध्यात्मं चायतनविशेषमुपदिश्य व्याहृतिशरीरत्वं च संपाद्य द्वे उपनिषदावुपदिश्येते। तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम्। तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्। तत्र संशयः—किमविभागेनैवोभे अप्युपनिषदावुभयत्रानुसंधातव्ये उत विभागेनैकाधिदैवतमेकाध्यात्ममिति। तत्र सूत्रेणैवोपक्रमते। यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाप्यधीतायां गुणोपसंहार उक्त एवमन्यत्राप्येवंजातीयके विषये भवितुमर्हति एकविद्याभिसम्बन्धात्। एका हीयं सत्यविद्याधिदैवमध्यात्मं चाधीता उपक्रमाभेदाद् व्यतिषक्तपाठाच्च। कथं तस्यामुदितो धर्मस्तस्यामेव न स्यात्। यो ह्याचार्ये कश्चिदनुगमनादिराचारश्चोदितः स ग्रामगतेऽरण्यगते च तुल्यवदेव भवति। तस्मादुभयोरप्युपनिषदोरुभयत्र प्राप्तिरिति ॥ २० ॥

बृहदारण्यक में (ब्रह्म सत्य है) ऐसा उपक्रम करके (वह सत् ब्रह्म क्या है, वह आदित्य पुरुष क्या है कि सो आदित्य है कि जो यह सूर्यमण्डल में पुरुष है यही सत्य ब्रह्म है। जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है वह ब्रह्म है) इस प्रकार उस उपक्रान्त ब्रह्म के ही अधिदैवत (सूर्यमण्डल) और अध्यात्म (नेत्र) आयतन (आश्रय) विशेष का उपदेश करके और व्याहृति को उस ब्रह्म के शरीररूप से संपादन (सिद्ध) करके दो उपनिषदों (रहस्य नामों) का उपदेश दिया जाता है कि उस ब्रह्म का अधिदैवत (अहर्) यह नाम है। उसी का अध्यात्म (अहम्) यह नाम है। यहाँ संशय होता है कि एक ब्रह्म के दो नाम होने से विभाग के बिना ही दोनों नाम दोनों स्थानों में अनुसंधान, चिन्तन के योग्य हैं, अथवा विभाग-पूर्वक एक अधिदैवत उपनिषद् और एक अध्यात्म उपनिषद् अनुसंधान के योग्य हैं। इस प्रकार संशय होने पर वहाँ सूत्र द्वारा ही अधिकरण का आरम्भ करते हैं, पूर्व-पक्ष करते हैं कि जैसे विभागपूर्वक पठित भी शाण्डिल्यविद्या में गुण का उप-संहार कहा गया है, इसी प्रकार एक विद्या के साथ सम्बन्ध से इस प्रकार के विषय रहते अन्यत्र भी उपसंहार होने योग्य है। जिससे अधिदैवत और अध्यात्म-रूप से पठित भी यह विद्या (सत्यं ब्रह्म) इत्यादि उपक्रम के अभेद से तथा व्यति-षक्त (संश्लिष्ट) पाठ से एक ही सत्यविद्या है। इस प्रकार से एक होने पर उसी में कथित धर्म उसी में नहीं हो, यह कैसे होगा। जिससे आचार्यविषयक जो कुछ अनुगमनादि सदाचार कहा गया है, वह सदाचार आचार्य के ग्राम में रहते वा जंगल में रहते सदृश ही होता है। वैसे ही ब्रह्म के अधिदैवत अध्यात्म स्थानभेद होते भी उपनिषत् का चिन्तन तुल्य होगा, इससे दोनों उपनिषदों की दोनों स्थानों में प्राप्ति होगी ॥ २० ॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

न वोभयोरुभयत्र प्राप्तिः। कस्मात्? विशेषात्, उपासनस्थानविशेषो-पनिबन्धादित्यर्थः। कथं स्थानविशेषोपनिबन्ध इत्युच्यते—'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' (बृ० ५।५।३) इति ह्याधिदैविकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहरिति श्रावयति, 'योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५।५।४) इति ह्याध्यात्मिकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहमिति। तस्येति चैतत्संनिहितावलम्बनं सर्वनाम, तस्मादायतनविशेषव्यपाश्रयेणैवैते उपनिषदावुपदिश्येते। कुत उभयोरुभयत्र प्राप्तिः। नन्वेक एवायमधिदैवतमध्यात्मं च पुरुषः, एकस्यैव सत्यस्य ब्रह्मण आयतनद्वयप्रतिपादनात्। सत्यमेवमेतत्। एकस्यापि त्ववस्थाविशेषोपादानेनैवोपनिषद्विशेषोपदेशात्तदवस्थस्यैव सा भवितुमर्हति। अस्ति चायं दृष्टान्तः सत्यप्याचार्यस्वरूपानपाये यदाचार्यस्यासीनस्यानुवर्तनमुक्तं न तत्तिष्ठतो भवति,

यच्च तिष्ठत उक्तं न तदासीनस्येति। ग्रामारण्ययोस्त्वाचार्यस्वरूपानपायात्तत्स्वरूपानुबद्धस्य च धर्मस्य ग्रामारण्यकृतविशेषाभावादुभयत्र तुल्यवद्भाव इत्यदृष्टान्तः सः। तस्माद्व्यवस्थाऽनयोरुपनिषदोः ॥ २१ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर प्रत्युत्तर कहते हैं कि दोनों उपनिषदों की दोनों स्थानों में प्राप्ति नहीं होती है। यदि कहो कि क्यों नहीं होती है, तो कहा जाता है कि विशेष से नहीं होती है। अर्थात् उपासना के स्थानविशेष के साथ उपनिषदों के उपनिबन्ध (कथन-सम्बन्ध) से अन्यत्र प्राप्ति नहीं होती है। स्थानविशेष का उपनिबन्ध किस प्रकार है, यह कहा जाता है कि (जो यह इस मण्डल में पुरुष है) इस प्रकार आधिदैविक पुरुष को प्रकृत (प्रकरणस्थ) करके उसका उपनिषद् (अहर्) है इस प्रकार श्रुति सुनाती है। (जो यह दक्षिण आँख में पुरुष है) इस प्रकार अध्यात्म पुरुष को प्रकृत करके उसका उपनिषद् (अहम्) है इस प्रकार सुनाती है। तस्य यह शब्द सन्निहित विषय वाला सर्वनाम है, इससे आयतन (आश्रय) विशेष के आश्रयण सम्बन्ध द्वारा ही ये दोनों उपनिषद् उपदिष्ट होते हैं। फिर किस हेतु से दोनों की दोनों स्थानों में प्राप्ति हो सकती है। यदि कहा जाय कि यह अधिदैवत और अध्यात्म पुरुष एक ही है, क्योंकि एक ही सत्य ब्रह्म के दो आयतनों का प्रतिपादन किया गया है। इससे नाम की व्यवस्था नहीं हो सकती है। यहाँ कहा जाता है कि एक ब्रह्म के दो स्थान हैं, यह सत्य ही है। किन्तु एक के भी अवस्थाविशेष के उपादान (ग्रहण) द्वारा ही उपनिषद्विशेष के उपदेश से उस अवस्था वाले ही का वह उपनिषद् होने योग्य है। यह दृष्टान्त भी है कि आचार्य के स्वरूप के अनपाय (वर्तमान) होते भी बैठे हुए आचार्य का जो अनुवर्तन (सेवन) कहा गया है, सो खड़े का नहीं कहा गया है। जो खड़े का कहा गया है वह बैठे का नहीं कहा गया है। अर्थात् आचार्य की अवस्थाभेद से अनुवृत्ति में भी धर्मशास्त्र में भेद कहा गया है। ग्राम और जंगल में तो आचार्य के स्वरूप के अनपाय से और उस आचार्य के स्वरूप के साथ सम्बन्ध वाले धर्म को ग्राम और जंगलकृत भेद के अभाव से दोनों स्थानों में उस धर्म का तुल्य भाव रहता है। इससे वह दृष्टान्त नहीं है, इससे इन दोनों उपनिषदों की व्यवस्था है। इस सूत्र में वा शब्द एवकारार्थ में माना गया है ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

अपि चैवंजातीयकानां धर्माणां व्यवस्थेति लिङ्गदर्शनं भवति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १।७।५) इति। कथमस्य लिङ्गत्वमिति तदुच्यते। अक्ष्यादित्यस्थानभेदभिन्नान्धर्मानन्योन्यस्मिन्ननुपसंहार्यान्पश्यन्निहातिदेशेनादित्यपुरुषगतान्रूपादीनक्षिपुरुष उपसंहरति—'तस्यैतस्य तदेव रूपम्' (छा० १।७।५) इत्यादिना। तस्माद् व्यवस्थिते एवैते उपनिषदाविति निर्णयः ॥ २२ ॥

इस प्रकार के धर्मों की व्यवस्था रहती है, परस्पर उपसंहार नहीं होता है इस अर्थ को समझने के लिए लिङ्ग (हेतु) का दर्शन होता है कि (उस इस चक्षुस्थ पुरुष का वही रूप है कि जो आदित्यस्थ उस पुरुष का रूप है। जो आदित्यस्थ के दो पर्व हैं, वही इसके दो पर्व हैं, जो उसका नाम है सोई चाक्षुष का नाम है) इस को लिङ्गत्व कैसे है वह कहा जाता है कि नेत्र आदित्यरूप स्थान के भेद से भिन्न धर्मों को परस्पर उपसंहार के अयोग्य देखता हुआ यहाँ आदित्य पुरुषगत रूपादि का अतिदेश के द्वारा अक्षिस्थ पुरुष में उपसंहार करते हैं कि (तस्यैतस्य तदेव रूपम्) इत्यादि। अन्यथा विद्या की एकता से उपसंहार सिद्ध ही था, अतिदेश व्यर्थ होगा, इससे एकविद्या में भी स्थान के भेद से कथित गुणों के अनुपसंहार से ये उपनिषद् व्यवस्थित ही हैं, यह निर्णय है ॥ २२ ॥

संभृत्यधिकरण (१२)

आहार्या वा न वा तत्र संभृत्यादिविभूतयः। आहार्या ब्रह्मधर्मत्वाच्छाण्डिल्यादाववारणात् ॥
असाधारणधर्माणां प्रत्यभिज्ञात्र नास्त्यतः। अनाहार्या ब्रह्ममात्रसम्बन्धोऽतिप्रसञ्जकः ॥

उपास्य ब्रह्म के अभेद होने से सम्भृति द्युव्याप्ति गुण-विभूति का अन्यत्र उपसंहार प्राप्त है, परन्तु इसी स्थानविशेष के सम्बन्ध से उपसंहार नहीं होता है। यहाँ संशय है कि संभृति आदि ब्रह्म की विभूतियों का शाण्डिल्यादि विद्याओं में उपसंहार होता है, अथवा नहीं होता है। पूर्वपक्ष है कि ब्रह्म के धर्म होने से शाण्डिल्यादि विद्याओं में वारण के अभाव से उपसंहार होना चाहिये। सिद्धान्त है कि प्रथम जैसे कहा गया है कि मनोमयत्वादि असाधारण धर्मों के दोनों वाक्यों में रहने से उनके द्वारा प्रत्यभिज्ञापूर्वक शेष गुणों का उपसंहार होता है। उस प्रकार से यहाँ असाधारण धर्मों की और धर्मों द्वारा विद्या की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। इससे यहाँ उपसंहार नहीं होता है। ब्रह्ममात्र का सम्बन्ध तो अतिव्याप्ति का हेतु है, अर्थात् ब्रह्म के सम्बन्धमात्र से गुणोपसंहार मानने पर सब विद्याओं में सब गुणों का उपसंहार होगा, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म ही उपास्य है ॥ १—२ ॥

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥

ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' इत्येवं राणायनीयानां खिलेषु वीर्यसंभृतिद्युनिवेशप्रभृतयो ब्रह्मणो विभूतयः पठ्यन्ते। तेषामेव चोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतयो ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते। तासु ब्रह्मविद्यासु ता ब्रह्मविभूतय उपसंह्रियेरन्न वेति विचारणायां ब्रह्मसम्बन्धादुपसंहारप्राप्तावेवं पठति—संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो विभूतयः शाण्डिल्यविद्याप्रभृतिषु नोपसंहर्तव्याः, अत एव चायतनविशेषयोगात्। तथाहि शाण्डिल्यविद्यायां हृद्यायतनत्वं ब्रह्मण उक्तम्—'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' (छा० ४।१।

४३) इति। तद्वदेव दहरविद्यायामपि 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति। उपकोसलविद्यायां त्वक्ष्यायतनत्वम् 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४।१५।१) इति। एवं तत्र तत्र तत्तदाध्यात्मिकमायतनमेतासु विद्यासु प्रतीयते। आधिदैविक्यस्त्वेता विभूतयः संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयस्तासां कुत एतासु प्राप्तिः।

ब्रह्म ही जिन के ज्येष्ठ (कारण) हैं, ऐसे (ब्रह्मज्येष्ठानि) ब्रह्म ज्येष्ठ वाले (वीर्याणि) वीर्य, पराक्रम ब्रह्म से प्रथम संभृत (धृत) हुए। वही ज्येष्ठ ब्रह्म देवादि की उत्पत्ति से प्रथम ही स्वर्ग में व्याप्त हुए (ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः) भूतों का कारण रूप ब्रह्म प्रथम था, उस ब्रह्म के साथ स्पर्धा कौन कर सकता है। इस प्रकार राणायनीय नाम वालों के खिल (परिशिष्ट ग्रन्थ) में वीर्य का धारण स्वर्ग में निवेश व्यापकत्वादि ब्रह्म की विभूतियाँ पढ़ी जाती हैं। उन राणायनीयों के ही उपनिषद् में शाण्डिल्यविद्या आदि ब्रह्मविद्याएँ पढ़ी जाती हैं, उन ब्रह्मविद्याओं में वे ब्रह्म की विभूतियाँ उपसंहृत होंगी, अथवा नहीं होंगी; ऐसी विचारणा (विचार) की उपस्थिति होने पर ब्रह्म के सम्बन्ध से उपसंहार की प्राप्ति होने पर, इस प्रकार पढ़ते—कहते हैं कि संभृतिद्युव्याप्ति आदि विभूतियाँ शाण्डिल्यविद्या आदि में उपसंहृत नहीं होने योग्य हैं, और नहीं सम्बन्ध होने में यह आयतन विशेष का सम्बन्ध ही हेतु है। जिससे इसी प्रकार शाण्डिल्यविद्या में ब्रह्म का हृदय आयतनत्व कहा हुआ है कि (यह मेरा आत्मा हृदय के अन्दर है) इसी प्रकार दहरविद्या में भी ब्रह्म का हृदय स्थान कहा हुआ है कि (अल्प हृदयकमल ब्रह्म का गृह उपलब्धिस्थान है इसमें दहर अल्प अन्तराकाश ब्रह्म रहता है) उपकोशल विद्या में तो नेत्र आयतनत्व (आश्रयत्व) कहा हुआ है कि (जो आँख में पुरुष दीखता है वह ब्रह्म है) इस प्रकार तत्तत् स्थानों में तत्तत् आध्यात्मिक (शरीर सम्बन्धी) आयतन इन विद्याओं में प्रतीत होता है। संभृति द्युव्याप्ति आदि ये विभूतियाँ तो आधिदैविकी हैं, फिर उन की इन विद्याओं में कैसे प्राप्ति होगी।

नन्वेतास्वप्याधिदैविक्यो विभूतयः श्रूयन्ते—'ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१४।३) 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१५।४) 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्येवमाद्याः। सन्ति चान्या आयतनविशेषहीना अपीह ब्रह्मविद्याः षोडशकलाद्याः। सत्यमेवमेतत्। तथाप्यत्र विद्यते विशेषः संभृत्याद्यनुपसंहारहेतुः। समानगुणाम्नानेन हि प्रत्युपस्थापितासु विप्रकृष्टदेशास्वपि विद्यासु विप्रकृष्टदेशा गुणा उपसंह्रियेरन्निति युक्तम्। संभृत्यादयस्तु शाण्डिल्यादिवाक्यगोचराश्च मनोमयत्वादयो गुणाः परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वान्न प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनक्षमाः। नच ब्रह्मसंबन्धमात्रेण प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनमित्युच्यते, विद्या-

भेदेऽपि तदुपपत्तेः। एकमपि हि ब्रह्म विभूतिभेदैरनेकधोपास्यत इति स्थितिः, परोवरीयस्त्वादिवद् भेददर्शनात्। तस्माद्वीर्यसंभृत्यादीनां शाण्डिल्य विद्यादिष्वनुपसंहार इति॥ २३॥

शंका होती है कि इन शाण्डिल्यादिविद्याओं में भी आधिदैविकी विभूतियाँ सुनी जाती हैं कि (आकाशादि से आत्मा अत्यन्त बड़ा है। इन लोकों से अति बड़ा है)। यह सब लोकों में प्रकाश को प्राप्त कराने वाला है जिससे सब लोकों में यही प्रकाशता है। जितना बड़ा यह बाहर का आकाश है। उतना बड़ा यह अन्दर हृदयाकाश आत्मा है इसके अन्दर में ही स्वर्ग और भूमि दोनों स्थिर हैं) इत्यादि और अन्य आयतन-रहित भी षोडशकला आदि ब्रह्मविद्या इस प्रकरण में हैं, इससे आधिदैविक तुल्यता से तथा अध्यात्मशून्यता से संभृत्यादि की प्राप्ति है। उत्तर है कि यह विभूति का श्रवण सत्य ही है, तो भी संभृति आदि के अनुपसंहार का हेतुरूप विशेष (भेद) यहाँ है। जिससे समान गुण के कथन द्वारा दूरदेश वाली विद्याओं के भी प्रत्युपस्थापित (प्रत्यभिज्ञात) होने पर दूरदेश वाले गुण उनमें उपसंहृत होते हैं यह युक्त है। यहाँ तो संभृत्यादिरूप गुण और शाण्डिल्यविद्यावाक्यगत मनोमयत्वादि गुण परस्पर व्यावृत्त स्वरूप वाले होने से दूरदेशवर्ती विद्या के प्रत्युपस्थान (प्रत्यभिज्ञा) में समर्थ नहीं हैं। ब्रह्म के सम्बन्ध मात्र से प्रदेशान्तरवर्ती विद्या का प्रत्युपस्थापन होता है, ऐसा नहीं कहा जाता है, जिससे विद्या के भेद रहते भी ब्रह्म सम्बन्ध की उपपत्ति होती है, एक ही ब्रह्म विभूति के भेदों द्वारा अनेक प्रकार से उपासित होता है ऐसी स्थिति (मर्यादा, निश्चय) है। पूर्वोक्त परोवरीयस्त्वादि गुणयुक्त उपासना का हिरण्यश्मश्रुत्वादि उपासना से भेद देखने से ऐसा निश्चय होता है। इससे वीर्यसंभृत्यादि का शाण्डिल्यविद्या आदि में उपसंहार नहीं होता है॥ २३॥

पुरुषाद्यधिकरण (१३)

पुंविद्यैकाऽथवा भिन्ना तैत्तिरीयकताण्डिनोः। मरणावभृथत्वादिसाम्यादेकेति गम्यते॥१॥
बहुना रूपभेदेन किंचित्साम्यस्य बाधनात्। न विद्यैक्यं तैत्तिरीये ब्रह्मविद्याप्रशंसनात्॥२॥

ताण्डीपैङ्गी की पुरुषविद्या में जैसे गुण हैं, वैसे इतर के विद्या में गुण के अकथन से विद्या भिन्न है, इसीसे गुण का उपसंहार नहीं होता है। संशय है कि तैत्तिरीयक और ताण्डी की पुरुषविद्या एक है अथवा भिन्न है। पूर्वपक्ष है कि मरणरूप अवभृथत्वादि के दोनों स्थानों में तुल्य होने से विद्या एक ही है ऐसी प्रतीति होती है। अधिक रूप के भेद होने से अल्पतुल्यता का बाध होता है, इससे विद्या की एकता नहीं है। ताण्डी शाखा में ही पुरुषविद्या है, तैत्तिरीयक में तो ब्रह्मविद्या की प्रशंसामात्र है स्वतन्त्र पुरुषविद्या नहीं है॥ १–२॥

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्॥ २४॥

अस्ति ताण्डिनां पैङ्गिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या। तत्र पुरुषो यज्ञः

कल्पितः। तदीयमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितम्। अशिशिषादीनि च दीक्षादिभावेन कल्पितानि, अन्ये च धर्मास्तत्र समधिगताश्चाशीर्मन्त्रप्रयोगादयः। तैत्तिरीयका अपि कञ्चित्पुरुषयज्ञं कल्पयन्ति—'तस्यैव विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी' (नारा० ८०) इत्येतेनानुवाकेन। तत्र संशयः—किं ये इतरत्रोक्ताः पुरुषयज्ञस्य धर्मास्ते तैत्तिरीयकेषूपसंहर्तव्याः किंवा नोपसंहर्तव्या इति। पुरुषयज्ञत्वाविशेषादुपसंहारप्राप्तावाचक्ष्महे—नोपसंहर्तव्या इति। कस्मात्? तद्रूपप्रत्यभिज्ञानाभावात्। तदाहाचार्यः—पुरुषविद्यायामिवेति। यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामाम्नानं नैवमितरेषां तैत्तिरीयाणामाम्नानमस्ति। तेषां हीतरविलक्षणमेव यज्ञसंपादनं दृश्यते पत्नीयजमानवेदवेदिबर्हिर्यूपाज्यपशवृत्विगाद्यनुक्रमणात्। यदपि सवनसंपादनं तदपीतरविलक्षणमेव 'यत्प्रातर्मध्यंदिनँ सायं च तानि सवनानि' (नारा० ८०) इति।

ताण्डी और पैङ्गी के रहस्य ब्राह्मण में पुरुषविद्या है। यहाँ पुरुष को यज्ञरूप से कल्पित (सिद्ध) किया गया है कि (पुरुष ही यज्ञ है) और उस पुरुष की आयु को तीन प्रकार से विभाग करके तीन सवन नामक कर्म विशेषस्नान रूप से कल्पित किया गया है कि (उस पुरुष का जो चौबीस वर्ष तक का जीवन है सो प्रातः सवन है, फिर चार अधिक चालीस वर्ष का जीवन मध्यदिन का सवन है, फिर आठ अधिक चालीस वर्ष का जीवन तृतीय सवन है। भोजन की इच्छा आदि दीक्षा आदि रूप से कल्पित हुए हैं कि (जो खाना चाहता है, जो पीना चाहता है, जो रमता नहीं है वह दीक्षा है) इत्यादि। (यावदायुः सन्तनुते) इससे आशीर्वाद (अक्षितमसि) इत्यादि मन्त्रप्रयोगादि अन्य भी धर्म वहाँ अधिगत (ज्ञात) होते हैं, यह छान्दोग्य अ० ३।१६।१–३ आदि में वर्णित है। तैत्तिरीयक भी कोई पुरुषयज्ञ की कल्पना करते हैं कि (इस प्रकार जानने वाला उसके यज्ञ का आत्मा यजमान है श्रद्धा पत्नी है) इस अनुवाक से यज्ञ की कल्पना होती है। यहाँ विद्वान् पुरुष ही यज्ञ है, ऐसी दृष्टि से संशय होता है कि जो अन्यत्र पुरुषरूप यज्ञ के धर्म कहे गये हैं, वे धर्म तैत्तिरीयक में उपसंहार के योग्य हैं, अथवा उपसंहार के योग्य नहीं हैं। पुरुषयज्ञत्व की अविशेषता (तुल्यता) से उपसंहार की प्राप्ति होने पर कहते हैं कि उपसंहार के योग्य नहीं हैं। क्योंकि तैत्तिरीयक में अन्यत्र कथित उस पुरुषयज्ञ के रूप की प्रत्यभिज्ञा का अभाव है। वही आचार्य (सूत्रकार) कहते हैं कि (पुरुषविद्यायामिव)। जिस प्रकार एक ताण्डी और पैङ्गी शाखा वालों की पुरुषविद्या में श्रुति कथन है, उससे अन्य तैत्तिरीयों की वैसी श्रुति कथन नहीं है। जिससे उन तैत्तिरीयों के यज्ञ का संपादन अन्य से विलक्षण ही देखा जाता है (श्रद्धा पत्नी, आत्मा यजमान, शिखा वेद (कुशमुष्टि) उत्तर वेदि, लोम बर्हि, हृदय यूप, काम आज्य, क्रोध पशु, वाक् होता, प्राण उद्गाता, नेत्र अध्वर्यु, मन ब्रह्मा) इत्यादि अनुक्रमण से विलक्षणता है। जो सवन का सम्पादन

(कल्पन) है, वह भी इतर से विलक्षण ही है कि (जो प्रातःकाल, मध्यदिन और सायंकाल हैं, वे सवन हैं) ।

यदपि किंचिन्मरणावभृथत्वादिसाम्यं तदप्यल्पीयस्त्वाद् भूयसा वैलक्षण्येनाभिभूयमानं न प्रत्यभिज्ञापनक्षमम् । नच तैत्तिरीयके पुरुषस्य यज्ञत्वं श्रूयते । विदुषो यज्ञस्येति हि नचैते समानाधिकरणे षष्ठ्यौ, विद्वानेव यो यज्ञस्तस्येति । नहि पुरुषस्य मुख्यं यज्ञत्वमस्ति । व्यधिकरणे त्वेते षष्ठ्यौ विदुषो यो यज्ञस्तस्येति । भवति हि पुरुषस्य मुख्यो यज्ञसंबन्धः । सत्यं च गतौ मुख्य एवार्थ आश्रयितव्यो न भाक्तः । आत्मा यजमान इति च यजमानत्वं पुरुषस्य निर्ब्रुवन्वैयधिकरण्येनैवास्य यज्ञसम्बन्धं दर्शयति । अपिच तस्यैवंविदुष इति सिद्धवदनुवादश्रुतौ सत्यां पुरुषस्य यज्ञभावमात्मादीनां च यजमानादिभावं प्रतिपित्समानस्य वाक्यभेदः स्यात् । अपिच ससंन्यासामात्मविद्यां पुरस्तादुपदिश्यानन्तरं तस्यैवंविदुष इत्याद्यनुक्रमणं पश्यन्तः पूर्वशेष एवैष आम्नायो न स्वतन्त्र इति प्रतीमः । तथा चैकमेव फलमुभयोरप्यनुवाकयोरुपलभामहे 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' इति । इतरेषां त्वनन्यशेषः पुरुषविद्याम्नायः । आयुरभिवृद्धिफलो ह्यसौ 'एष ह षोडशवर्षशतं जीवति य एवं वेद' (छा० ३।१६।७) इति समभिव्याहारात् । तस्माच्छाखान्तराधीतानां पुरुषविद्याधर्माणामाशीर्मन्त्रादीनामप्राप्तिस्तैत्तिरीयके ॥ २४ ॥

जो मरण में अवभृथत्व (अन्तिम स्नानत्व) आदि कल्पना में कुछ तुल्यता है, वह भी अति अल्पता के कारण अधिक विलक्षणता से अभिभूत होकर प्रत्यभिज्ञापन में असमर्थ है । यज्ञ वस्तुतः तैत्तिरीयक में पुरुष के यज्ञरूपत्व नहीं सुना जाता है (विदुषो यज्ञस्य) यहां समानाधिकरण अभेदबोधक दो षष्ठी विभक्ति नहीं हैं कि (जो विद्वान् ही यज्ञ है उसका आत्मा यजमान है) क्योंकि पुरुष को मुख्य यज्ञत्व नहीं है, इससे ये दोनों षष्ठी व्यधिकरण (भेद का बोधक) हैं कि (विद्वान् का जो यज्ञ जिसका आत्मा यजमान है) जिससे पुरुष को यज्ञ के साथ मुख्य सम्बन्ध होता है । गति रहते मुख्य ही आश्रयण के योग्य होता है भाक्त (गौण) नहीं । आत्मा यजमान है इस प्रकार पुरुष के यजमानत्व को कहता हुआ वाक्य व्यधिकरणता (भेद) से ही इस पुरुष के सम्बन्ध को यज्ञ के साथ दर्शाता है । दूसरी बात है कि उस इस प्रकार के विद्वान् के इस प्रकार सिद्ध यज्ञतुल्य अनुवाद श्रुति के रहते पुरुष के यज्ञभाव को और आत्मादि के यजमानादि भाव को प्रतिपादन की इच्छा वाले को वाक्यभेद होगा । विद्वान् के यज्ञ का अनुवाद करके विद्वान् के अङ्गों द्वारा यज्ञाङ्ग की सिद्धि संपादन-विधान में एकवाक्यता प्रतीत होती है । यह भेद भी है कि संन्याससहित आत्मविद्या का प्रथम उपदेश करके उसके बाद (तस्यैवं विदुषः) इत्यादि उपक्रमण (आरम्भ) को देखते हुए, समझते हैं कि पूर्वोक्त आत्मविद्या का शेष (अङ्ग)

रूप प्रशंसार्थक ही यह आम्नाय श्रुति है, स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार संन्यासादि विधायक और इस अङ्गविधायक इन दोनों ही अनुवाक के एक ही फल, उपलब्ध करते हैं कि (ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है। इतर पैङ्गी आदि के तो अनन्यशेष (स्वतन्त्र) पुरुषविद्या का कथन है। वह आयु की अभिवृद्धिरूप फल वाला है (जो ऐसा जानता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीता है) ऐसे कथन से उक्त फल प्रतीत होता है। इससे सिद्ध हुआ कि शाखान्तर में पठित पुरुषविद्या के धर्म आशीष मन्त्रादि की तैत्तिरीयक में नहीं प्राप्ति होती है॥ २४॥

वेधाद्यधिकरण (१४)

वेधमन्त्रप्रवर्ग्यादि विद्याङ्गमथवा न तु।
विद्यासन्निधिपाठेन विद्याङ्गे मन्त्रकर्मणो॥ १॥
लिङ्गेनान्यत्र मन्त्राणां वाक्येनापि च कर्मणाम्।
विनियोगात् सन्निधिस्तु बाध्योऽतो नाङ्गता तयोः॥ २॥

(सर्वं प्रविध्य) इत्यादि मन्त्र, और प्रवर्ग्यादि कर्मों का सन्निहित पठित विद्याओं में उपसंहार नहीं होता है। उसमें कारण है कि वेधादिरूप अर्थों का भेद है, अर्थात् विद्या में अनुपयुक्त मन्त्रों का अर्थ है, और कर्म भी विद्या में अनुपयुक्त हैं। यहाँ संशय है कि वेधादि के बोधक मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म विद्या के अङ्ग हैं। अथवा नहीं हैं। पूर्वपक्ष है कि समीप में पाठ से अङ्ग हैं। सिद्धान्त है कि अङ्ग और अङ्गी के सम्बन्ध बोधक विधि को विनियोग विधि कहते हैं, सो विधि भी, श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या, इन छः प्रमाणों के बल से अङ्ग अङ्गी के सम्बन्ध का बोध कराती है। इन प्रमाणों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा पर-पर दुर्बल होते हैं। जैसे कि श्रुति की अपेक्षा लिङ्ग दुर्बल होता है। इन दोनों की जहाँ प्राप्ति होगी वहाँ श्रुति के अनुसार सम्बन्ध समझा जायगा, लिङ्ग के अनुसार नहीं। यहाँ निरपेक्ष शब्द को श्रुति कहते हैं, उसके विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री ये तीन भेद होते हैं, शब्द के सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं। एकसाथ पाठ को वाक्य कहते हैं, अङ्गाङ्गी दोनों की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। देश की समानता को स्थान कहते हैं, सन्निधिपाठ भी एक प्रकार का स्थान है, वह लिङ्ग से बहुत दुर्बल है और वाक्य से भी दुर्बल है। इस लिङ्गरूप प्रमाण से मन्त्रों का अन्यत्र सम्बन्ध होता है, और वाक्य रूप प्रमाण से प्रवर्ग्यादि कर्मों का भी अन्यत्र सम्बन्ध होता है, लिङ्ग तथा वाक्य से सन्निधि पाठ का बाध होता है, अर्थात् उसके अनुसार सम्बन्ध अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता है। इससे उक्त मन्त्र और कर्म को विद्या की अङ्गता नहीं है॥ १–२॥

वेधाद्यर्थभेदात्॥ २५॥

अस्त्याथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रसमाम्नायः—'सर्वं प्रविध्य हृदयं

प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः' इत्यादिः। स ताण्डिनाम्—'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यादिः। शाट्यायनिनाम्—'श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि' इत्यादिः। कठानां तैत्तिरीयकाणां च—'शं नो मित्रः शं वरुणः' (तै० १।१।१) इत्यादिः। वाजसनेयिनां तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणे पठ्यते–'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' इत्यादिः। कौषीतकिनामप्यग्निष्टोमब्राह्मणम्–'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतदहरुपयन्ति' इति। किमिमे सर्वे 'प्रविध्य' इत्यादयो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यासूपसंह्रियेरन्किंवा नोपसंह्रियेरन्निति मीमांसामहे। किं तावन्नः प्रतिभाति। उपसंहार एवैषां विद्यास्विति। कुतः ? विद्याप्रधानानामुपनिषद्ग्रन्थानां समीपे पाठात्। नन्वेषां विद्यार्थतया विधानं नोपलभामहे। बाढम्। अनुपलभमाना अपि त्वनुमास्यामहे संनिधिसामर्थ्यात्। नहि संनिधेरर्थवत्त्वे संभवत्यकस्मादसावनाश्रयितुं युक्तः।

आथर्वणिकों के उपनिषद् के आरम्भ में मन्त्र का पाठ है कि (हे देव ! मेरे शत्रु के सब अंगों को विदीर्ण करो, हृदय का प्रवेधन करो, धमनी (शिरा) सब को तोड़ डालो, शिर को सर्वथा नष्ट करो, इस प्रकार मेरा शत्रु त्रिधा तीन प्रकार से विनष्ट हो जाय) इत्यादि। ताण्डियों के उपनिषद् के आरम्भ में मन्त्रपाठ है कि (हे सविता, सर्वोत्पादक सूर्यदेव ! यज्ञ को यज्ञपति को सिद्ध, सम्पन्न करो) इत्यादि। शाट्यायनियों के उपनिषद् के आरम्भ में है कि (उच्चैःश्रवा नामक जिसके श्वेत अश्व हैं, वह तुम नील इन्द्रमणि के समान हरित हो) इत्यादि। कठों और तैत्तिरीयकों के उपनिषद् के आरम्भ में मन्त्रपाठ है कि (मित्र, सूर्य, हमारे सुखकारक हों। वरुण हमारे सुखकारक हों) इत्यादि। वाजसनेयियों के उपनिषद् के आरम्भ में प्रवर्ग्यब्राह्मण ग्रन्थ में पढ़ा जाता है कि (इन्द्रादि देव सब किसी समय यज्ञ को सिद्ध करने के लिए उपस्थित हुए) कौषीतकियों के उपनिषद् के आरम्भ में भी अग्निष्टोम ब्राह्मण पढ़ा जाता है कि (अग्निष्टोम यज्ञ ब्रह्म ही है और वह जिस दिन में किया जाता है वह दिन भी ब्रह्म ही है, इससे जो इस दिन में साध्य कर्म का अनुष्ठान करता है, वह ब्रह्मरूप साधन से अपर ब्रह्म को प्राप्त करता है, वह क्रम से अमृतत्व को प्राप्त करता है) इति। प्रविध्य, इत्यादि ये सब मन्त्र, और प्रवर्ग्यादि कर्म क्या विद्याओं में उपसंहृत होंगे अथवा नहीं उपसंहृत होंगे। ऐसी मीमांसा (विचारणा) करते हैं, तो प्रथम हमें क्या प्रतीत होता है कि इन का विद्याओं में उपसंहार ही होता है। क्योंकि विद्याप्रधान उपनिषद् ग्रन्थों के समीप में इनका पाठ है। यदि कहा जाय कि विद्यार्थक (विद्या के हेतु) रूप से इनका ज्ञान नहीं होता है, तो कहा जाता है कि इनमें विद्यार्थकता की अनुपलब्धि तो सत्य ही है, परन्तु सन्निधि के सामर्थ्य से अनुपलभ्यमान विद्यार्थकताओं का भी अनुमान करेंगे। सन्निधि का अर्थवत्त्व के सम्भव रहते वह आकस्मिक निरर्थक है ऐसा मानना युक्त नहीं है।

ननु नैषां मन्त्राणां विद्याविषयं किंचित्सामर्थ्यं पश्यामः, कथं च प्रवर्ग्यादीनि कर्माण्यन्यार्थत्वेनैव विनियुक्तानि सन्ति विद्यार्थत्वेनापि प्रतिपद्येमहीति। नैष दोषः। सामर्थ्यं तावन्मन्त्राणां विद्याविषयमपि किंचिच्छक्यं कल्पयितुं हृदयादिसंकीर्तनात्। हृदयादीनि हि प्रायेणोपासनेष्वायतनादिभावेनोपदिष्टानि तद्द्वारेण च हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां मन्त्राणामुपपन्नमुपासनाङ्गत्वम्। दृष्टश्चोपासनेष्वपि मन्त्रविनियोगः 'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना' (छा० ३।१५।३) इत्येवमादिः। तथा प्रवर्ग्यादीनां कर्मणामन्यत्रापि विनियुक्तानां सतामविरुद्धो विद्यासु विनियोगो वाजपेय इव बृहस्पतिसवस्येति।

शंका होती है कि इन मन्त्रों का विद्याविषयक कुछ भी सामर्थ्य नहीं देखते हैं। प्रवर्ग्यादि कर्म के विनियोग विधि से अन्यार्थकत्व रूप से विनियुक्त (सम्बद्ध) होते विद्यार्थकत्व रूप से कैसे समझ सकते हैं। उत्तर है कि हृदयादि के संकीर्तन से मन्त्रों की विद्याविषयक भी कुछ सामर्थ्य कल्पना की जा सकती है। प्रायः उपासनाओं में हृदयादिक ही आश्रयरूप से उपदिष्ट हैं। उस हृदयादि के द्वारा (हृदयं प्रविध्य) इत्यादि प्रकार वाले मन्त्रों को विद्या उपासना का अङ्गत्व उपपन्न होता है। उपासनाओं में भी मन्त्र का विनियोग (सम्बन्ध) देखा गया है कि (अमुक नाम वाले पुत्र के साथ मैं इस भूलोक को प्राप्त करूँ) अर्थात् मुझे पुत्र का वियोग नहीं हो, पुत्र के दीर्घजीवित्व के लिए की गई उपासना में तीन बार पुत्र के नाम के ग्रहण पूर्वक इस मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। इत्यादि इसी प्रकार अन्यत्र विनियुक्त भी प्रवर्ग्यादि कर्मों के होते, विद्या में भी विनियोग अविरुद्ध है। जैसे कि (ब्रह्मवर्चसकामो बृहस्पतिसवेन यजेत) ब्रह्मतेज की कामना वाला बृहस्पति सव से इष्ट का सम्पादन करे। इस वाक्य से ब्रह्मवर्चस फल में विनियुक्त बृहस्पति सव का भी (वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत) इस वाजपेय प्रकरणस्थ वाक्य से उस बृहस्पति सव का वाजपेय के उत्तर अङ्ग रूप से सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये। यदि दोनों स्थानों के बृहस्पति सव भिन्न कर्म हों तो भी नाम की तुल्यता से उदाहरण दिया है। तथा यज्ञक्रतु में विनियुक्त खादिरत्वादि का विद्या में विनियोग होता है सो उदाहरण है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नैषामुपसंहारो विद्यास्विति। कस्मात्? वेधाद्यर्थभेदात्। हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां हि मन्त्राणां येऽर्था हृदयवेधादयो भिन्नाः, अनभिसंबद्धास्त उपनिषदुदिताभिर्विद्याभिः, न तेषां ताभिः संगन्तुं सामर्थ्यमस्ति। ननु हृदयस्योपासनेष्वप्युपयोगात्तद्द्वारक उपासनासम्बन्ध उपन्यस्तः। नेत्युच्यते, हृदयमात्रसंकीर्तनस्य ह्येवमुपयोगः कथंचिदुत्प्रेक्ष्येत, नच हृदयमात्रमत्र मन्त्रार्थः। हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्येत्येवंजातीयको हि न सकलो मन्त्रार्थो विद्याभिरभिसम्बध्यते, आभिचारिकविषयो ह्येषोऽर्थस्तस्मादाभिचारिकेण कर्मणा सर्वं प्रविध्येत्येतस्य मन्त्रस्याभिसम्बन्धः। तथा 'देव सवितः

प्रसुव यज्ञम्' इत्यस्य यज्ञप्रसवलिङ्गत्वाद्यज्ञेन कर्मणाभिसम्बन्धः। तद्विशेषसंबन्धस्तु प्रमाणान्तरादनुसर्तव्यः। एवमन्येषामपि मन्त्राणां केषांचिल्लिङ्गेन केषांचिद्वचनेन केषांचित्प्रमाणान्तरेणेत्येवमर्थान्तरेषु विनियुक्तानां रहस्यपठितानामपि सतां न सन्निधिमात्रेण विद्याशेषत्वोपपत्तिः। दुर्बलो हि सन्निधिः श्रुत्यादिभ्य इत्युक्तं प्रथमे तन्त्रे 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३) इत्यत्र। तथा कर्मणामपि प्रवर्ग्यादीनामन्यत्र विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वोपपत्तिः, नह्येषां विद्याभिः सहैकार्थ्यं किंचिदस्ति। वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरम्—'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इति। अपि चैकोऽयं प्रवर्ग्यः सकृदुत्पन्नो बलीयसा प्रमाणेनान्यत्र विनियुक्तो न दुर्बलेन प्रमाणेनान्यत्रापि विनियोगमर्हति। अगृह्यमाणविशेषत्वे हि प्रमाणयोरेतदेवं स्यान्नतु बलवदबलवतोः, प्रमाणयोरगृह्यमाणविशेषता संभवति, बलवदबलवत्त्वविशेषादेव। तस्मादेवंजातीयकानां मन्त्राणां कर्मणां वा न सन्निधिपाठमात्रेण विद्याशेषत्वमाशङ्कितव्यम्, अरण्यानुवचनादिधर्मसामान्यात्तु संनिधिपाठ इति संतोष्टव्यम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार अन्यत्र विनियुक्त मन्त्रों को विद्याङ्गत्व प्राप्त होने पर कहते हैं कि इन मन्त्रों का विद्याओं में उपसंहार नहीं होता है। क्योंकि वेधादि अर्थों का भेद है, जिससे (हृदयं प्रविध्य) इस प्रकार के मन्त्रों के जो हृदय-वेधनादि भिन्न अर्थ हैं, सो उपनिषद् में कथित विद्याओं के साथ सम्बन्ध से रहित हैं, उन विद्याओं के साथ उन मन्त्रों को संगत (सम्बद्ध) होने का सामर्थ्य नहीं है। यदि कहो कि हृदय का उपासनाओं में भी उपयोग होने से उस हृदय द्वारा उपासना के साथ मन्त्र का सम्बन्ध कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि विद्या में उपयोग नहीं है। क्योंकि इस कथित रीति से भी मन्त्र में हृदयमात्र संकीर्तन का उपयोग कथंचित् उत्प्रेक्षित (कल्पित) होगा, परन्तु यह हृदयमात्र ही सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ नहीं है (हृदय का भेदन करो, धमनियों को तोड़ो) इस प्रकार का सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ विद्याओं के साथ साक्षात् सर्वथा सम्बन्ध वाला नहीं होता है। वस्तुतः आभिचारिक (मारक) कर्मविषयक यह मन्त्रार्थ है, जिससे आभिचारिक कर्म के साथ (सर्वं प्रविध्य) इत्यादि मन्त्र का सर्वथा सम्बन्ध है। इसी प्रकार (हे सविता देव ! यज्ञ को सिद्ध करो) इस मन्त्र का यज्ञ के प्रसव रूप लिंग से यज्ञ कर्म के साथ सम्बन्ध है। किस मन्त्र का किस यज्ञ कर्म के साथ सम्बन्ध है, इस प्रकार के विशेष सम्बन्ध प्रमाणान्तर से समझने योग्य हैं। इसी प्रकार अन्य मन्त्रों में भी किसी का लिंग से, किसी का वचन से, किसी का प्रकरणादि रूप प्रमाणान्तर से अर्थान्तर में विनियोग है। इस प्रकार अर्थान्तरों में विनियुक्तों का रहस्य (उपनिषद् में) पठित होते भी सन्निधिमात्र से विद्या के शेषत्व (अङ्गत्व) की उपपत्ति नहीं होती है। सन्निधि (स्थान) श्रुति और लिङ्गादि से दुर्बल है, इस

प्रकार पूर्व मीमांसा में कहा गया है कि श्रुति (निरपेक्ष विधि आदि) लिङ्ग (शब्द-सामर्थ्य) वाक्य (साथ पाठ) प्रकरण (अङ्गाङ्गी की आकांक्षा) स्थान (पाठ वा अनुष्ठानदेश को समानता) और यौगिक शब्द रूप समाख्या इन के समवाय में (समान विषय में दो के विरोध में) पूर्व पूर्व से पर पर की दुर्बलता होती है क्योंकि पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर पर को अपने अर्थ के बोध कराने में विप्रकर्षता (दूरता) होतो है । भाव है कि श्रुति अपने अर्थ को बोध कराने में किसी की अपेक्षा बिना बोध कराती है, लिङ्ग श्रुति की कल्पनापूर्वक अपने अर्थ को बोध कराता है इससे श्रुति और लिङ्ग का जहाँ विरोध हो वहाँ लिङ्ग जिस काल में श्रुति की कल्पना में प्रवृत्त होता है उसी काल में उसे बाध कर श्रुति स्वार्थ का बोध कराती है, श्रुति और लिङ्ग के विरोध के उदाहरण मन्त्रादि हैं कि (कदाचन स्तरोरसि नेन्द्र ! सश्चसि दाशुषे) ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते । हे इन्द्र ! कभी तुम घातक नहीं होते हो, किन्तु आहुति देने वाले यजमान के लिए प्रसन्न होते हो । इस मन्त्र में इन्द्र के प्रकाशन की शक्ति है, इससे इसके द्वारा इन्द्र के उपस्थान की प्राप्ति होते भी ऐन्द्री इन्द्रदेवताक मन्त्र द्वारा गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करना चाहिये । इस श्रुतिगत तृतीया विभक्ति रूप श्रुति से गार्हपत्याग्नि के उपस्थान-करणत्व के बोध हो जाने से उस मन्त्र से इन्द्र का उपस्थान बाधित होता है । इसी प्रकार लिङ्ग और वाक्य के विरोध में लिङ्ग से वाक्य बाधित होता है । सब के विरोध के उदाहरण अन्यत्र ज्ञेय हैं, श्रुति सब से प्रबल है, समाख्या सब से दुर्बल है । मध्य के पूर्व-पूर्व से पर-पर दुर्बल हैं पूर्व-पूर्व प्रबल हैं। प्रकृत में इतना ही उपयोग है कि 'सन्निधान लिङ्गादि से दुर्बल है' इससे लिङ्गादि से बाधित होता है, उससे लिङ्गादि द्वारा अन्यत्र विनियुक्त मन्त्रों का दुर्बल सन्निधि (स्थान) से विद्या में सम्बन्ध नहीं होता है । इसी प्रकार अन्यत्र विनियुक्त (सम्बद्ध) प्रवर्ग्यादि कर्मों को भी विद्या के शेषत्व (अङ्गत्व) की उपपत्ति नहीं हो सकती है, जिससे इन कर्मों की विद्या के साथ एकार्थता कुछ नहीं है । अर्थात् इन कर्मों के विद्या के उपकारकत्व में और विद्याओं के साथ एकफलवत्त्व में कोई प्रमाण नहीं है । वाजपेय में तो स्पष्ट ही बृहस्पतिसवको विनियोजक वचनान्तर है कि (वाजपेय से यजन करके बृहस्पति सव से यजन करे) और दूसरी बात है कि एक यह प्रवर्ग्यरूप कर्म एक बार उत्पन्न होने पर और श्रुति, लिङ्ग, वाक्य रूप प्रबल प्रमाणों से अन्यत्र विनियुक्त होने पर दुर्बल सन्निधिरूप प्रमाण से कहीं अन्यत्र भी विनि-योग के योग्य नहीं है । जिससे प्रमाणों के अगृहीत विशेष(भेद)वत्ता होते, अर्थात् दुर्बलत्व-प्रबलत्व के ज्ञान नहीं रहते यह ऐसा हो सकता है कि एक प्रमाण से कहीं विनियुक्त का ही अन्य प्रमाण से अन्यत्र भी उसका विनियोग हो । परन्तु बली और दुर्बल प्रमाणों की अगृहीतविशेषता का सम्भव नहीं है, बलवत्त्व-अबलवत्त्व विशेष (भेद) से ही विशेषता गृहीत है । उससे उक्त प्रकार वाले मन्त्रों को वा कर्मों को सन्निधि पाठमात्र से विद्या के शेषत्व की आशंका नहीं करनी चाहिए । यदि कहो कि वेधादि वाक्यों के उपनिषदों के साथ पाठ की क्या गति है, तो कहा जाता है कि अरण्य में

अनुवचनादिका धर्म की समानता से सन्निधि पाठ है ऐसा समझ कर सन्तोष करना चाहिए ॥ २५ ॥

हान्यधिकरण (१५)

उपायनसमनाहार्यं हानायाहितमतेऽथवा । अश्रुतत्वादनाक्षेपाद्विद्याभेदाच्च नाहृतिः ॥ १ ॥
क्रियाभेदेऽप्यर्थवाद आहार्यः स्तुतिसाम्यतः । हानस्य प्रत्यभिज्ञानादेकविंशादिवादवत् ॥ २ ॥
विधूननं चालनं स्याद्धानं वा चालनं भवेत् । दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीत्यादौ चालनदर्शनात् ॥३॥
हानमेव भवेद्वाक्यशेषेऽन्योपायनश्रवात् । कर्त्रा न ह्यपरित्यक्तमन्यः स्वीकर्तुमर्हति ॥ ४ ॥

सगुण और निर्गुण विद्या प्रकरण में कहीं तो विद्वान् के पुण्य-पाप की निवृत्ति लिखी है। कहीं लिखा है कि विद्वान् के मित्र और शत्रु क्रम से पुण्य और पाप का ग्रहण करते हैं। कहीं निवृत्ति और अन्य से ग्रहण दोनों लिखा है। जहाँ अन्य से ग्रहण-मात्र लिखा है, वहाँ निवृत्ति अर्थतः सिद्ध होती है। किन्तु जहाँ केवल हानि-निवृत्ति लिखा है, वहाँ के लिए कहते हैं, कि केवल हानि के स्थान में उपायन ग्रहण का सम्बन्ध समझना चाहिए क्योंकि हानि का शेषत्व उपायन शब्द में एक स्थान में गृहीत हो चुका है। उसका अन्य स्थान में भी कुशा आदि के समान ग्रहण होगा, वह पूर्व मीमांसा में कहा गया है। एक प्रकार की यह सूत्राक्षर की योजना है, तु शब्द का केवल अर्थ है ॥ अथवा पापादि की निवृत्ति के स्थान में विधूनन शब्द आया है उस का कम्पन अर्थ भी हो सकता है इससे कहते हैं कि हानि अर्थ में ही विधूनन शब्द है क्योंकि वह उपायन शब्द का शेष है, और वह एकत्र पठित भी अन्य स्थान में निर्णय का हेतु कुशादि के समान होगा इत्यादि ॥ यह संशय है कि केवल हानि के स्थान में उपायन का उपसंहार करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए। पूर्वपक्ष है कि अश्रुत होने से, और उपायन के बिना भी हान (त्याग) के सम्भव से, आक्षेप के अभाव से, और विद्या के भेद से उपसंहार नहीं होता है। सिद्धान्त है कि उपायन का वर्णन अर्थवाद रूप है, इससे स्तुति की तुल्यता के कारण विद्या के भेद रहते भी उपसंहार के योग्य है, और प्रत्यभिज्ञा से हानि दोनों स्थान में एक सिद्ध होती है। उस को उपायन के साथ सम्बन्ध है, जैसे कि एकविंशादि अर्थवाद को अन्य अर्थवाद के साथ सम्बन्ध होता है। विधूनन चालन (कम्पन) रूप होगा वा हान (त्याग) होगा। यह संशय है। पूर्व पक्ष है कि ध्वजा के अग्रभाग बार-बार अत्यन्त काँप रहे हैं ऐसा प्रयोग के देखने से चालन ही विधूनन का अर्थ होगा। सिद्धान्त है कि वाक्यशेष में अन्य से ग्रहण के सुनने से उसका त्याग ही अर्थ होगा, क्योंकि कर्ता से अपरित्यक्त का अन्य स्वीकार (ग्रहण) नहीं कर सकता है ॥ १–४ ॥

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछन्दःस्तुत्यु-पगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—'अश्व इव रोमाणि विधय पापं चन्द्र इव

राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' (छा० ८।१३।१) इति। तथाथर्वणिकानाम् 'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मुण्ड० ३।२।८) इति। तथा शाट्यायनिनः पठन्ति 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। तथैव कौषीतकिनः 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रियाः ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' (कौ० १।४) इति। तदिह क्वचित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानं श्रूयते क्वचित्तयोरेव विभागेन प्रियैरप्रियैश्चोपायनं क्वचित्तूभयमपि हानमुपायनं च। तद्यत्रोभयं श्रूयते तत्र तावन्न किंचिद्वक्तव्यमस्ति। यत्राप्युपायनमेव श्रूयते न हानं तत्राप्यर्थादेव हानं सन्निपतति, अन्यैरात्मीययोः सुकृतदुष्कृतयोरुपेयमानयोरावश्यकत्वात्तद्धानस्य। यत्र तु हानमेव श्रूयते नोपायनं तत्रोपायनं संनिपतेद्वा न वेति विचिकित्सायामश्रवणादसंनिपातः, विद्यान्तरगोचरत्वाच्च शाखान्तरीयस्य श्रवणस्य। अपि चात्मकर्तृकं सुकृतदुष्कृतयोर्हानं परकर्तृकं तूपायनं तयोरसत्यावश्यकभावे कथं हानेनोपायनमाक्षिप्येत। तस्मादसंनिपातो हानावुपायनस्येति।

ताण्डियों की श्रुति है कि (जैसे घोड़ा धूलियुक्त अपने रोमों को त्याग कर, झार कर निर्मल होता है, वैसे मैं ज्ञान से पाप (धर्माधर्मादि) को त्याग कर निर्मल चित्त वाला होकर, और राहुग्रस्त चन्द्रमा जैसे राहु के मुख से मुक्त होकर प्रकाशित होता है, वैसे कृतात्मा कृतार्थ स्वरूप मैं शरीर को त्याग कर देहाभिमान से रहित होकर अकृत नित्य ब्रह्मात्मक लोक को प्राप्त करने वाला हूँ।) इसी प्रकार आथर्वणिकों की श्रुति है कि (जैसे बहती हुई नदियाँ नाम-रूप को त्याग कर समुद्र में लीन होती हैं, वैसे ही विद्वान् भी अविद्याकृत नाम-रूप से विभक्त होकर पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है) और (विद्वान् जब स्वयं प्रकाशकर्ता ईश ब्रह्मयोनि पुरुष को देखता है, तब वह विद्वान् पाप-पुण्य को नष्ट करके और निरञ्जन, निर्लेप, क्लेशरहित होकर परम साम्य ब्रह्म को प्राप्त करता है)। इसी प्रकार शाट्यायनी पढ़ते हैं कि (उस मृत विद्वान् के पुत्र दान, धन लेते हैं, मित्र पुण्य लेते हैं, शत्रु पाप लेते हैं) इति। इसी प्रकार कौषीतकी लोग पढ़ते हैं कि (ज्ञानी उस ज्ञान से सुकृत और दुष्कृत को त्यागता है, तो उसके प्रिय ज्ञाति सुकृत लेते हैं, और अप्रिय दुष्कृत लेते हैं) इत्यादि। इससे यहाँ कहीं तो सुकृत और दुष्कृत का हान सुना जाता है और कहीं उन दोनों का ही विभागपूर्वक प्रिय और अप्रिय से उपायन (ग्रहण) सुना जाता है, और कहीं हान और उपायन दोनों सुने जाते हैं। उनमें जहाँ दोनों सुने जाते हैं वहाँ तो कुछ वक्तव्य नहीं है, और जहाँ भी उपाय नहीं सुना जाता है, हान नहीं सुना जाता है, वहाँ भी अर्थात् (अर्थ से) ही हान प्राप्त होता है, जिससे जब अन्य से अपने सुकृत और दुष्कृत गृहीत होंगे, तब उनका त्याग आवश्यक है, अत्यक्त का दूसरों से ग्रहण ...ो सकता है। परन्तु जहाँ

हान ही सुना जाता है, उपायन नहीं सुना जाता है, वहाँ उपायन प्राप्त होगा वा नहीं प्राप्त होगा, ऐसा संशय होने पर, पूर्वपक्ष होता है कि अश्रुत होने से नहीं प्राप्त होगा। शाखान्तर के उपायन का श्रवण अन्य विद्याविषयक है इससे भी उसका ग्रहण नहीं होगा। यह भी बात है कि सुकृत-दुष्कृत का त्याग आत्मकर्तृक है, अपने से किया जाता है और उपायन तो अ यकर्तृक है, हान और त्याग इन दोनों के आवश्यक भाव (नियत सम्बन्ध) नहीं रहने से हान से उपायन का आक्षेप कैसे होगा, इससे हानि में उपायन की प्राप्ति नहीं होती है ॥

अस्यां प्राप्तौ पठति—हानौ त्विति। हानौ त्वेतस्यां केवलायामपि श्रूयमाणायामुपायनं संनिपतितुमर्हति, तच्छेषत्वात्। हानशब्दशेषो ह्युपायनशब्दः समधिगतः कौषीतकिरहस्ये। तस्मादन्यत्र केवलहानशब्दश्रवणेऽप्युपायनानुवृत्तिः। यदुक्तम्—अश्रवणाद्विद्यान्तरगोचरत्वादनावश्यकत्वाच्चासन्निपात—इति, तदुच्यते। भवेदेषा व्यवस्थोक्तिर्यद्यनुष्ठेयं किंचिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र निनीष्येत, नत्विह हानमुपायनं वानुष्ठेयत्वेन संकीर्त्यते। विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयोः संकीर्तनम्—इत्थं महाभागा विद्या यत्सामर्थ्यादस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते संसारकारणभूते विधूयेते, ते चास्य सुहृद्द्विषत्सु निविशेते इति। स्तुत्यर्थे चास्मिन् संकीर्तने हानानन्तरभावित्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वादन्यत्रापि हानश्रुतावुपायनानुवृत्तिं मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभाय। प्रसिद्धा चार्थवादान्तरापेक्षाऽर्थवादान्तरप्रवृत्तिः—'एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः' (छा० २।१०।५) इत्येवमादिषु। कथं हीहैकविंशतादित्यस्याभिधीयेताऽनपेक्ष्यमाणेऽर्थवादान्तरे 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' इत्येतस्मिन्। तथा 'त्रिष्टुभौ भवतः सन्द्रियत्वाय' इत्येवमादिषु वादेष्वपि 'इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्' इत्येवमाद्यर्थवादान्तरापेक्षा दृश्यते। विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरभ्युपेयेते इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम्। उपायनशब्दशेषत्वादिति तु शब्दशब्दं समुच्चारयन्स्तुत्यर्थमिव हानावुपायनानुवृत्तिं सूचयति।

इस प्राप्ति, पूर्वपक्ष के होने पर पढ़ते हैं कि हानौ तु इति। इस केवल हानि के भी श्रूयमाण होने (सुनने) पर उपायन प्राप्त होने के योग्य है। जिससे उपायन हान का शेष है, इससे शेषता से वह प्राप्त होता है। कौषीतकी रहस्य में हान शब्द का शेष रूप उपायन शब्द समधिगत (अनुभूत) हुआ है। इससे शेषत्व अपेक्षितत्व होने से अन्यत्र केवल हान शब्द के सुनने पर भी उपायन की अनुवृत्ति (सम्बन्ध) होती है, अश्व-रोम के दृष्टान्त से त्यक्त पुण्य-पाप को अन्यत्र स्थिति की अपेक्षा होने से अन्य से उपादान वक्तव्य है। जो यह कहा था कि अश्रवण से, विद्यान्तरविषयक होने से और अनावश्यकता से उपायन की अप्राप्ति होती है, वहाँ कहा जाता है, कि इस प्रकार यह व्यवस्था की उक्ति हो सकती कि यदि अनुष्ठेय (अनुष्ठान के योग्य) अन्यत्र श्रुत किसी कर्म को अन्यत्र ले जाने की इच्छा की जाय। यहाँ तो हान वा

उपायन अनुष्ठेय (कर्तव्य) रूप से नहीं कहा जाता है, किन्तु विद्या की स्तुति के लिए इन दोनों का कथन है कि ऐसी महामाग्य वाली माग्य देने वाली विद्या है कि जिसके सामर्थ्य से संसार के कारण रूप विद्वान् के पुण्य और पाप निवृत्त हो जाते हैं, और वे दोनों विद्वान् के मित्र और शत्रुओं में निविष्ट, प्रविष्ट होते हैं। इस संकीर्तन के स्तुति के लिए होने पर, हान के अनन्तरमावी (होने वाले) रूप से उपायन के कहीं श्रुतत्व से अन्यत्र भी हान के श्रवण होने पर स्तुति की प्रकर्षता के लाभ के लिए उपायन की अनुवृत्ति को सूत्रकार मानते हैं। यदि कहो कि अर्थवाद का विधि के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है, दूसरे अर्थवाद के साथ नहीं, और यहाँ हान उपायन यदि दोनों अर्थवाद हैं, तो इनका सम्बन्ध कैसा ? तो कहा जाता है कि अर्थवादान्तर की अपेक्षा से किसी अन्य अर्थवाद की प्रवृत्ति प्रसिद्ध है, अपेक्षात्मक सम्बन्ध अर्थवाद का प्रसिद्ध है कि (इस लोक से वह आदित्य इक्कीसवाँ है) अर्थवाद में अन्य अर्थवाद की अपेक्षा है। दूसरे अर्थवाद की अपेक्षा नहीं करने पर यहाँ आदित्य की एकविंशता कैसे कही जायगी। (बारह मास, हेमन्त-शिशिर की एकता से पाँच ऋतु, तीन ये लोक और वह आदित्य इक्कीसवाँ है) इसकी अपेक्षा के बिना केवल आदित्य को एकविंश नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार (पुरुषरूप से कल्पित यज्ञ के सेन्द्रियत्व के लिए दो त्रिष्टुभ होते हैं) अर्थवाद में त्रिष्टुभ छन्द सेन्द्रियता के लिए कैसे होगा ऐसी आकांक्षा होने पर (इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्) इत्यादि अन्य अर्थवाद की अपेक्षा आकांक्षा की निवृत्ति के लिए देखी जाती है। उपायनवाद के विद्या को स्तुति के लिए होने से अन्य के अमूर्त स्वरूप पुण्य और पाप अन्य लोगों से कैसे गृहीत होंगे, इस प्रकार अत्यन्त अभिनिवेश (आग्रह) नहीं करना चाहिए। अर्थात् ज्ञानी की सेवा और शत्रुता से पुण्य-पाप की उत्पत्ति में तात्पर्य है इत्यादि ॥ (उपायनशब्दशेषत्वात्) इस सूत्रांश में शब्द इस शब्द का उच्चारण करते हुए सूत्रकार हानि में उपायन की अनुवृत्ति को स्तुत्यर्थक सूचित करते हैं।

गुणोपसंहारविवक्षायां ह्युपायनार्थस्यैव हानानुवृत्तिं ब्रूयात्। तस्माद् गुणोपसंहारविचारप्रसङ्गेन स्तुत्युपसंहारप्रदर्शनार्थमिदं सूत्रम्। कुशाछन्दःस्तुत्युपगानवदित्युपमोपादानम्। तद्यथा भाल्लविनाम्—'कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात' इत्येतस्मिन्निगमे कुशानामविशेषेण वनस्पतियोनित्वेन श्रवणे शाट्यायनिनामौदुम्बराः कुशा इति विशेषवचनादौदुम्बर्यः कुशा आश्रीयन्ते। यथा च क्वचिद्देवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' इति पैङ्ग्याम्नानात्प्रतीयते। यथा च षोडशिस्तोत्रे केषांचित्कालाविशेषप्राप्तौ 'समयाध्युषिते सूर्ये' इत्यार्चश्रुतेः कालविशेषप्रतिपत्तिः। यथैव चाविशेषेणोपगानं केचित्समामनन्ति विशेषेण भाल्लविनः। यथैतेषु कुशादिषु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वय एवं हानावप्युपायनान्वय इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरकृतं हि विशेषं श्रुत्यन्तरेऽनभ्युपगच्छतः सर्वत्रैव विकल्पः स्यात्। स चान्याय्यः सत्या गतौ। तदुक्तं

द्वादशलक्षण्याम्–'अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्' इति ।

उपायन की विवक्षा होने पर उपायन का उपसंहार सूत्रकार कहते, और शब्द का उपसंहार कहते हैं इससे स्तुति का सूचन करते हैं इससे गुण के उपसंहार के प्रसंग से स्तुति के उपसंहार के प्रदर्शन के लिए यह सूत्र है । शाखान्तर में वर्तमान विशेष पदार्थ अन्य शाखा में ग्राह्य होता है, इस अर्थ में कुशा, छन्द और उपगान, वत् । यह उपमा (दृष्टान्त) का उपादान (ग्रहण) सूत्रकार ने किया है । उद्गाता के स्तोत्र की गिनती के लिए लकड़ी की बनी हुई शलाका को कुशा कहते हैं । वह उपमान इस प्रकार है कि (हे कुशाओ ! तुम वनस्पतिजन्य हो, तुम मेरी रक्षा करो) इस भाल्लवियों के निगम में कुशानामविशेष द्वारा और वनस्पतियोनित्व द्वारा कुशा के श्रवण होने पर, शाट्यायनियों के (औदुम्बराः कुशाः) गूलर के कुश होते हैं, इस विशेष वचन से उदुम्बर काष्ठ से रचित कुशाओं का आश्रयण किया जाता है । जिस प्रकार देवछन्द और असुरछन्द होते हैं, वहाँ नवाक्षरान्त असुरछन्द होते हैं । दशाक्षरादि वाले देव छन्द होते हैं । वहाँ (छन्दोभिः स्तवते) छन्दों से स्तुति करते हैं । इत्यादि वचन से स्तुति में कहीं देव और असुरछन्दों के अविशेष रूप से पूर्वापर भाव के प्राप्त होने पर (देवछन्द पूर्व होते हैं) इस पैङ्गी वचन से विशेष प्रतीत होता है । जैसे षोडशी ग्रह के स्तोत्र में किसी को काल की अविशेषता की प्राप्ति होने पर (सूर्योदय की प्राप्ति काल में स्तुति करे) इस ऋचा अध्ययन वालों की श्रुति से काल विशेष का ज्ञान होता है । अथवा सूर्य के अर्द्धास्तमित काल को समयाध्युषित कहते हैं । जैसे ही कोई अविशेषरूप से उपगान करते हैं कि (ऋत्विज उपगायन्ति) ऋत्विक सब उपगान करते हैं । माल्लवी विशेषरूप से उपगान कहते हैं कि (नाध्वर्युरुपगायति) अध्वर्यु उपगान नहीं करता है । इससे अध्वर्यु भिन्न ऋत्विक् उपगान करते हैं यह विशेष ज्ञान होता है । जैसे इन कुशा आदिकों में श्रुत्यन्तरगत विशेष का अन्वय होता है, इसी प्रकार हानि में उपायन का अन्वय है यह अर्थ है । जिससे श्रुत्यन्तर कृत विशेष को श्रुत्यन्तर में नहीं मानने वाले को सर्वत्र ही विकल्प प्राप्त होगा, अर्थात् अविशेष श्रुति से कहीं अन्य काष्ठ की भी कुशायें होंगी, कहीं विशेष श्रुति से उदुम्बर की होगी । सामान्य श्रुति से कहीं अध्वर्यु भी उपगान करेगा, निषेध श्रुति से कहीं उपगान नहीं करेगा, इस प्रकार का विकल्प सर्वत्र एकवाक्यता बिना प्राप्त होगा और गति रहते एकवाक्यता रूप उपाय के रहते वह विकल्प अन्याय्य है, व्रीहि यव वाक्य में तो गति के अभाव से विकल्प माना जाता है, वह द्वादशलक्षणी (द्वादश अध्याय वाली) पूर्व मीमांसा में कहा है कि (दीक्षित हवन नहीं करता है, दान नहीं देता है, पाक नहीं करता है) इस प्रकार से दीक्षित के लिए हवनादि का प्रतिषेध है कि हवनादि नहीं करे (जब तक जीये तब तक अग्निहोत्र करे,

प्रतिदिन दान दे) इत्यादि से सदा दान-हवनादि का विधान है, यहाँ शास्त्र प्राप्त का निषेध सर्वथा नहीं हो सकता है। इससे निषेध मानने पर विकल्प की प्राप्ति होगी। इसलिए निषेधक वाक्य को विधिवाक्य का शेष अंग बना कर पर्युदास का आश्रयण किया जाता है कि दीक्षित से अन्य हवन-दानादि करता है इत्यादि सूत्र का भाव है॥

अथ वैतास्वेव विधूननश्रुतिष्वेतेन सूत्रेणैतच्चिन्तयितव्यम्—किमनेन विधूननवचनेन सुकृतदुष्कृतयोर्हानमभिधीयते किंवाऽर्थान्तरमिति। तत्र चैवं प्रापयितव्यम्। न हानं विधूननमधीयते 'धूञ् कम्पने' इति स्मरणात्, दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीति च वायुना चाल्यमानेषु ध्वजाग्रेषु प्रयोगदर्शनात्। तस्माच्चालनं विधूननमभिधीयते। चालनं तु सुकृतदुष्कृतयोः कंचित्कालं फलप्रतिबन्धनादित्येवं प्रापय्य प्रतिवक्तव्यम्।

अथवा इन ही विधूनन बोधक श्रुतियों में इस सूत्र के द्वारा यह विचार कर्तव्य है कि क्या इस विधूनन के कथन से सुकृत और दुष्कृत का हान (त्याग) कहा जाता है, अथवा कोई अन्य अर्थ कहा जाता है। ऐसा संशय होने पर वहाँ ऐसे पूर्वपक्ष को प्राप्त कराना चाहिए कि (धूञ् कम्पने) धूञ् धातु कम्पन अर्थ में है। इस स्मरण (पाणिनीय के वचन) से विधूनन हान (त्याग) नहीं कहा जाता है। ध्वजा के अग्रभाग बार-बार हिलते-डोलते हैं, इस प्रकार वायु से चाल्यमान (कम्पित) ध्वजाग्र विषयक प्रयोग के देखने से भी विधूनन का त्याग अर्थ नहीं है, इससे चालन को विधूनन कहा जाता है, यहाँ अमूर्त पुण्य पाप का ध्वजाग्रादि के समान चालन के असम्भव से उनका चालन तो कुछ काल तक विद्या से फल के प्रतिबन्धन (निरोध) से कहा जाता है, अर्थात् विद्या के प्रभाव से उनकी फलदान शक्ति का प्रतिबन्ध ही उनका चालन है।

हानावेवैष विधूननशब्दो वर्तितुमर्हति, उपायनशब्दशेषत्वात्। नहि परपरिग्रहभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोरप्रहीणयोः परैरुपायनं संभवति। यद्यपीदं परकीययोः सुकृतदुष्कृतयोः परैरुपायनं नाञ्जसं संभाव्यते तथापि तत्संकीर्तनात्तावत्तदानुगुण्येन हानमेव विधूननं नामेति निर्णेतुं शक्यते। क्वचिदपि चेदं विधूननसंनिधावुपायनं श्रूयमाणं कुशाछन्दः स्तुत्युपगानवद्विधूननश्रुत्या सर्वत्राप्यपेक्ष्यमाणं सार्वत्रिकं निर्णयकारणं संपद्यते। नच चालनं ध्वजाग्रवत्सुकृतदुष्कृतयोर्मुख्यं संभवति, अद्रव्यत्वात्। अश्वश्च रोमाणि विधुन्वानस्त्यजन् रजः सहैव तेन रोमाण्यपि जीर्णानि शातयति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८।१३।१) इति च ब्राह्मणम्। अनेकार्थत्वाभ्युपगमाच्च धातूनां न स्मरणविरोधः। तदुक्तमिति व्याख्यातम्॥ २६॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष को प्राप्त करके प्रतिषेध करना चाहिये कि हानि अर्थ में ही विधूनन शब्द वर्तने योग्य है, क्योंकि वह उपायन शब्द का शेष है। जहाँ उपायन शब्द

नहीं श्रुत है वहाँ भी एकत्र श्रुत उपायन की उपसंहार से प्राप्ति होती है। अन्य के परिग्रह (मूलधन) रूप, उससे अप्रहीन (अत्यक्त) पुण्य-पाप का अन्य लोगों से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अर्थात् अत्यक्त का ग्रहण असम्भव है, इससे विधूनन का त्याग ही अर्थ है। यद्यपि यह अन्य के पुण्य-पाप का किसी अन्य से ग्रहण होना तत्त्वतः सम्भावित (सिद्ध होने वाला) नहीं है, तथापि उस ग्रहण के कथन से उसके अनुसार से ही हान ही विधूनन इस शब्द से कहा जाता है ऐसा निर्णय कर सकते हैं। विधूनन के समीप में कहीं भी श्रूयमाण (सुना गया) यह उपायन, कुशा, छन्द और स्तुति उपगान के समान, विधूनन श्रुति से सर्वत्र ही अपेक्ष्यमाण (अपेक्षित, उपसंहृत) होकर सार्वत्रिक (सब स्थान में होने वाला) निर्णय का कारण सिद्ध होता है। सुकृत-दुष्कृत के अद्रव्य होने से ध्वजाग्र के समान उस के मुख्य चालन का सम्भव नहीं है, इससे लाक्षणिक हान अर्थका ग्रहण किया जाता है। यदि कहा जाय कि तो भी हान अर्थ में ही क्यों लक्षणा होती है, किसी अन्यार्थ में क्यों नहीं लक्षणा होती है, तो कहा जाता है कि दृष्टान्त के बल से हान अर्थ में लक्षणा होती है कि जैसे अश्व रोमों का विधूनन, कम्पन करता हुआ, धूलियों को त्यागता हुआ उसके साथ ही जीर्ण रोमों को भी गिराता, त्यागता है। वैसे अश्व के रोमों के समान ही पाप का विधूनन करके ज्ञानी उसका त्याग करता है, यह दृष्टान्तरूप ब्राह्मण ग्रंथ है। वस्तुतः लक्षणा की भी आवश्यकता नहीं है, धातुओं के अनेकार्थक होने से धातु का हान भी अर्थ है। (धूञ् कम्पने) इस स्मरण से विरोध नहीं है, वह भी अर्थ है। यहाँ शाखान्तर में स्थित उपायन विधूनन के हान अर्थ को निश्चय कराने वाला है, इस तात्पर्य को बोध कराने वाला जैमिनि सूत्र है वह कहा जा चुका है, यह व्याख्यान हो चुका है। इस प्रकार विधूनन का हानि अर्थ सिद्ध होने से केवल हानि के स्थान में उपायन का उपसंहार होता है ॥ प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माऽभ्येति सनातनम् ॥ २६ ॥

सांपरायाधिकरण (१६)

कर्मत्यागो मार्गमध्ये यदि वा मरणात्पुरा। उत्तीर्य विरजात्यागस्तया कौषीतकिश्रुतेः।
कर्मप्राप्यफलाभावान्मध्ये साधनवर्जनात्। ताण्डिश्रुतेः पुरा त्यागो बाध्यः कौषीतकिक्रमः॥

पूर्वसूत्र से हानिपद की अनुवृत्ति और उसका प्रथमान्त रूप से विपरिणाम करने से अर्थ है कि सांपराय (परलोक प्राप्ति के लिए गमन काल में ही) सुकृत-दुष्कृत की हानि (त्याग) होता है, क्योंकि उस उपासक वा ज्ञानी को परलोक में तर्तव्य किसी पदार्थ का अभाव रहता है, इसी प्रकार अन्य शाखा वाले कहते हैं। संशय है कि कर्म त्याग मार्ग में होता है, अथवा मरण से प्रथम होता है। पूर्वपक्ष है कि विरजा नदी को तर कर सुकृतादि का त्याग करता है, क्योंकि कौषीतकी श्रुति से ऐसा ही सिद्ध होता है। सिद्धान्त है कि मरण के बाद मार्ग में कर्म से प्राप्त करने योग्य फल के अभाव से, मध्यमार्ग में त्याग के लिये साधन के अभाव से और ताण्डि श्रुति रूप प्रमाण से प्रथम ही त्याग होता है। उसी से कौषीतकी का क्रम बाधित होता है।

वस्तुतः कामादि अरिवर्ग का समूह आरह्लद रूप से कल्पित है, और विगतं रजो यस्याः वा विगता जरा यस्याः सा विरजा, विजरा वा नदी, उपासनारूप क्रिया ही है, उससे उत्तीर्णता उसकी पूर्णता है वह मन से होता है इत्यादि कौषीतकि का भाव है ॥१-२॥

सांपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥

देवयानेन पथा पर्यङ्कस्थं ब्रह्माभिप्रस्थितस्य व्यध्वनि सुकृतदुष्कृतयोर्वियोगं कौषीतकिनः पर्यङ्कविद्यायामामनन्ति 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १।३) इत्युपक्रम्य 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (कौ० १।४) इति। तत्किं यथाश्रुतं व्यध्वन्येव वियोगवचनं प्रतिपत्तव्यमाहोस्विदादावेव देहादपसर्पण इति विचारणायां श्रुतिप्रामाण्याद् यथाश्रुति प्रतिपत्ति प्रसक्तौ पठति—सांपराय इति। सांपराये गमन एव देहादपसर्पण इदं विद्यासामर्थ्यात् सुकृतदुष्कृतहानं भवतीति प्रतिजानीते। हेतुं व्याचष्टे तर्तव्याभावादिति। नहि विदुषः संपरेतस्य विद्यया ब्रह्म संप्रेप्सतोऽन्तराले सुकृतदुष्कृताभ्यां किंचित्प्राप्तव्यमस्ति यदर्थं कतिचित्क्षणानक्षीणे ते कल्प्येयाताम्, विद्याविरुद्धफलत्वात्तु विद्यासामर्थ्येन तयोः क्षयः, स च यदैव विद्या फलाभिमुखी तदैव भवितुमर्हति। तस्मात्प्रागेव सन्नयं सुकृतदुष्कृतक्षयः पश्चात्पठ्यते। तथा ह्यन्येऽपि शाखिनस्ताण्डिनः शाट्यायनिनश्च प्रागवस्थायामेव सुकृतदुष्कृतहानिमामनन्ति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८।१३।१) इति, 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति च ॥ २७ ॥

कौषीतकी शाखा वाले पर्यङ्क विद्या में देवयान मार्ग द्वारा पर्यङ्कस्थ ब्रह्म के प्रतिगमन करने वाले के व्यध्व (मध्यमार्ग) में सुकृत और दुष्कृत के वियोग का कथन करते हैं कि (वह सगुण ब्रह्मवेत्ता इस वक्ष्यमाण देवयान मार्ग में प्राप्त होकर अग्नि लोक में आता है, तेज के अभिमानी देव को प्राप्त करता है) इस प्रकार आरम्भ करके (वह विजरा—विरजा नदी को प्राप्त करता है। उसको साधनान्तर के बिना मन से ही तर जाता है इससे सुकृत और दुष्कृत को त्यागता है। यहाँ क्या श्रुति के अनुसार मध्यमार्ग में ही वियोग वचन को समझना चाहिये, अथवा आदि में ही देह से गमन काल में वियोग समझना चाहिए ऐसी विचारणा के होने पर) श्रुति की प्रमाणता से श्रुति के अनुसार प्रतिपत्ति (ज्ञान) के प्राप्त होने पर सूत्रकार पढ़ते हैं कि (सम्पराय) इत्यादि। साम्पराय—गमन ही काल में, देह से निकलने के समय मरण से पूर्व ही विद्या के सामर्थ्य से यह सुकृत-दुष्कृत का हान (त्याग) होता है, यह प्रतिज्ञा करते हैं, और तर्तव्याभावात्, यह हेतु कहते हैं कि विद्या से ब्रह्म की प्राप्ति चाहने वाले मृत विद्वान् को मध्यमार्ग में कुछ भी सुकृत और दुष्कृत से प्राप्त करने योग्य नहीं है, कि जिसके लिए वे दोनों कुछ क्षण पर्यन्त अक्षीण (वर्तमान) कल्पित हों। विद्या से विरुद्ध फलवाले उन दोनों के होने से विद्या के सामर्थ्य से उन दोनों का क्षय होता

हैं और जब ही विद्या फल के लिये अभिमुख होती है, तभी वह क्षय होना योग्य है। इससे प्रथम ही होने वाला यह सुकृत-दुष्कृत का क्षय पीछे पढ़ा जाता है। अर्थात् (तत् सुकृतदुष्कृते विधूनुते) इस वचनगत तत् शब्द हेतु अर्थ में नहीं है कि मरण काल अर्थ में है। भाव है कि केवल मन से ही विरजा नदी को क्यों तरता है सुकृतादि द्वारा क्यों नहीं तरता है, तो उत्तर है कि सुकृतादि को जिस मरण काल में ही त्याग देता है इत्यादि। इसी प्रकार ही तांडी और शाट्यायनी अन्य शाखा वाले भी पूर्व अवस्था में ही सुकृत-दुष्कृत की हानि कहते हैं कि (अश्व जैसे रोमों को त्यागते हैं वैसे पाप को नष्ट करके निर्मल होऊँगा) और (उसके पुत्र धन लेते हैं, मित्र पुण्य लेते हैं, शत्रु पाप लेते हैं) इत्यादि ॥ २७ ॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

यदि च देहादपसृप्तस्य देवयानेन पथा प्रस्थितस्यार्धपथे सुकृतदुष्कृतक्षयोऽभ्युपगम्येत ततः पतिते देहे यमनियमविद्याभ्यासात्मकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्येच्छातोऽनुष्ठानानुपपत्तेरनुपपत्तिरेव तद्धेतुकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयस्य स्यात्, तस्मात्पूर्वमेव साधकावस्थायां छन्दतोऽनुष्टानं तस्य स्यात्, तत्पूर्वकं च सुकृतदुष्कृतहानमिति द्रष्टव्यम्। एवं निमित्तनैमित्तिकयोरुपपत्तिस्ताण्डिशाट्यायनिश्रुत्योश्च संगतिरिति ॥ २८ ॥

यदि देह से निःसृत और देवयान मार्ग से प्रचलित के अर्धमार्ग में पुण्य-पाप का क्षय माना जाय, तो देह के नष्ट होने पर यमनियमविद्याभ्यासादिरूप सुकृत-दुष्कृत के क्षय के हेतु पुरुष के प्रयत्न के इच्छा से अनुष्ठान की अनुपपत्ति के कारण तद्धेतुक (तज्जन्य) सुकृत-दुष्कृत के क्षय की अनुपपत्ति ही होगी। अर्थात् मरण से प्रथम पुण्य-पाप की निवृत्ति नहीं होने पर, मरने पर देह के बिना साधन के नहीं हो सकने से उनकी निवृत्ति ही नहीं होगी, तो विद्या और कर्मक्षय को परस्पर हेतु फल भाव विरुद्ध होगा। इससे प्रथम ही साधक अवस्था में इच्छा से पापादि की निवृत्ति के साधनों का अनुष्ठान होगा और अनुष्ठानपूर्वक सुकृत-दुष्कृत की हानि होगी, इस प्रकार छन्दत प्रवृत्ति से हेतु भाव और फल भाव में अविरोध होता है यह द्रष्टव्य है, क्योंकि इस प्रकार निमित्त नैमित्तिक (हेतु फल) दोनों की सिद्धि होती है, और ताण्डी शाट्यायनी श्रुतियों की संगति होती है॥ यदि शंका हो कि छान्दोग्य में तो पापमात्र ही निवृत्ति-श्रुत है उसकी क्या गति होगी तो कहते हैं कि छान्दोग्य में भी छन्द (तात्पर्य) से उभय का ग्रहण है। इससे उभय श्रुति से विरोध नहीं है इत्यादि ॥ २८ ॥

गतेरर्थवत्त्वाधिकरण (१७)

उपास्तिबोधयोर्मार्गः समो यद्वा व्यवस्थितः। सम एवोत्तरो मार्ग एतयोः कर्महानिवत् ॥
देशान्तरफलप्राप्त्यै युक्तो मार्ग उपास्तिषु। आरोग्यवद्बोधफलं तेन मार्गो व्यवस्थितः ॥

गति (गति का साधन) देवयान मार्ग की अर्थवत्ता दो प्रकार से है, अर्थात् व्यवस्थित है, जिससे अन्यथा विरोध होगा। संशय है कि उपासना और ज्ञान दोनों में

मार्ग तुल्य है वा व्यवस्थित भिन्न है। पूर्वपक्ष है कि कर्म की हानि के समान उत्तर-मार्ग भी दोनों के समान है। सिद्धान्त है कि देशान्तर के फल की प्राप्ति के लिये उपासनाओं में मार्ग युक्त है। बोध का फल आरोग्य के समान है जिससे मार्ग व्यवस्थित है। ते नल कहु कहवाँ गये, जिनहि दीन्ह गुरु घोटि। रामनाम निज जानि के, छांड़हु वस्तुहि खोटि ॥ १–२ ॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते क्वचिन्न। तत्र संशयः– किं हानावविशेषेणैव देवयानः पन्थाः संनिपतेदुत विभागेन क्वचित्संनिपतेत् क्वचिन्नेति। यथा तावद्धानावविशेषेणैवोपायनानुवृत्तिरुक्तैवं देवयानानुवृत्तिरपि भवितुमर्हतीत्यस्यां प्राप्तावाचक्ष्महे। गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वमुभयथा विभागेन भवितुमर्हति, क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति। नाविशेषेण। अन्यथा ह्यविशेषेणैवैतस्यां गतावङ्गीक्रियमाणायां विरोधः स्यात्। 'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।१।३) इत्यस्यां श्रुतौ देशान्तरप्रापणी गतिर्विरुध्येत, कथं हि निरञ्जनोऽगन्ता देशान्तरं गच्छेत्, गन्तव्यं च परमं साम्यं न देशान्तरप्राप्त्यायत्तमित्यानर्थक्यमेवात्र गतेर्मन्यामहे ॥ २९ ॥

पुण्य-पाप की हानि के समीप में कहीं सगुणविद्या में देवयान मार्ग सुना जाता है, कहीं नहीं सुना जाता है, यहाँ संशय होता है कि हानि में अविशेष रूप से पूर्वोक्त उपायन के समान देवयान मार्ग प्राप्त होगा, अथवा विभागपूर्वक कहीं प्राप्त होगा कहीं नहीं प्राप्त होगा। यहाँ पूर्वपक्ष है कि जैसे हानि में अविशेष रूप से उपायन की अनुवृत्ति कही गई है। इसी प्रकार देवयान की अनुवृत्ति उपसंहार भी होने योग्य है। ऐसी प्राप्ति होने पर कहते हैं कि देवयानरूप गति (पथ, मार्ग) की अर्थवत्ता उभयथा अर्थात् विभाग से होने योग्य है कि कहीं गति अर्थवती है, कहीं अर्थवती नहीं है, अविशेष रूप से अर्थवत्ता नहीं है। अन्यथा अविशेष रूप से इस गति को स्वीकार करने पर विरोध होगा (विद्वान् पुण्य-पाप को नष्ट करके निरञ्जन निर्लेप क्लेशरहित होकर परम समता को प्राप्त करता है) इस श्रुति में देशान्तर को प्राप्त कराने वाली गति विरुद्ध होगी। जिससे निरञ्जन अतएव गमनरहित देशान्तर में कैसे जायगा, परमसाम्य स्वरूप गन्तव्य (प्राप्य) वस्तु है, वह देशान्तर में प्राप्ति के अधीन नहीं है। इससे समता में गति की अनर्थकता को ही मानते हैं ॥ २९ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

उपपन्नश्चायमुभयथाभावः क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति, तल्लक्षणार्थोपलब्धेः। गतिकारणभूतो ह्यर्थः पर्यङ्कविद्यादिषु सगुणेषूपासनेषूपलभ्यते, तत्र हि पर्यङ्कारोहणं पर्यङ्कस्थेन ब्रह्मणा संवदनं विशिष्टगन्धादिप्राप्तिश्चेत्येवमादि बहुदेशान्तरप्राप्त्यायत्तं फलं श्रूयते, तत्रार्थवती गतिः, नहि सम्यग्दर्शने तल्ल-

क्षणार्थोपलब्धिरस्ति। न ह्यात्मैकत्वदर्शिनामाप्तकामानामिहैव दग्धाशेषक्लेशबीजानामारब्धभोगकर्माशयक्षपणव्यतिरेकेणापेक्षितव्यं किंचिदस्ति तत्रानर्थिका गतिः। लोकवच्चैष विभागो द्रष्टव्यो यथा लोके ग्रामप्राप्तौ देशान्तरप्रापणः पन्था अपेक्ष्यते नारोग्यप्राप्तावेवमिहापीति। भूयश्चै ं विभागं चतुर्थाध्याये निपुणतरमुपपादयिष्यामः ॥ ३० ॥

गति कहीं अर्थवती सफला है, कहीं निर्गुण विद्या में अर्थवती नहीं है, यह उभयथाभाव उपपन्न है, क्योंकि उस गतिरूप लक्षण (हेतु, कारण) वाले अर्थों की उपलब्धि से ऐसा सिद्ध होता है। जिससे गति है कारण स्वरूप जिनका ऐसे अर्थ पर्यङ्क विद्या आदि रूप सगुण उपासनाओं में उपलब्ध होते हैं, उस विद्या में भगवान् के पर्यङ्क पर आरोहण, पर्यंक पर स्थिर ब्रह्म (भगवान्) के साथ संवाद और विशिष्ट (श्रेष्ठ) गन्धादि की प्राप्ति, इत्यादि बहुत देशान्तर में प्राप्ति के अधीन फल सुना जाता है, इससे वहाँ गति अर्थवती (सार्थक) है। सम्यग्दर्शन में गतिरूप कारण वाले अर्थों की उपलब्धि नहीं है। जिससे आत्मा की एकता को जानने वाले, आप्त (प्राप्त पूर्ण) काम (मनोरथ) वाले, दग्ध (विनष्ट) क्लेशात्मक बीज वाले, ज्ञानियों को प्रारब्ध के भोग के द्वारा प्रारब्ध कर्माशय के नाश से अतिरिक्त रूप से कुछ भी अपेक्षितव्य (प्राप्तव्य) नहीं रहता है, इससे वहाँ गति अनर्थिका निष्फल) है। यह विभाग लोक के समान समझना चाहिये कि जैसे लोक में किसी ग्राम की प्राप्ति में देशान्तर को प्राप्त कराने वाले मार्ग की अपेक्षा अनुसरण की जाती है, आरोग्य की प्राप्ति में मार्ग की अपेक्षा नहीं की जाती है। वैसे ही यहाँ भी मार्ग की अपेक्षा अनपेक्षा है, फिर इस विभाग को चतुर्थ अध्याय में अतिसुन्दर रूप से सिद्ध करेंगे ॥ ३० ॥ इन दोनों सूत्रों का सिद्धान्त के अनुसार सुगम अर्थ प्रतीत होता है कि (उभयथा) भेदभाव के रहते उपास्य देवादि की प्राप्ति आदि के लिए गति को अर्थवत्त्व है, अन्यथा नहीं, जिससे अन्यथा भेदभाव की निवृत्ति होने पर गति को मानने पर (न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति) ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते, ज्ञानी तो जीते जी ब्रह्म होता हुआ अन्त में ब्रह्म में लीन होता है, निर्वाण पद को पाता है, जो गमनागमन से रहित है, इत्यादि से विरोध होगा ॥ २९ ॥ (ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति) अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः। इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः) इत्यादि श्रुति से गमनागमनरहित ब्रह्म के लक्षण रूप अर्थ की ज्ञानी में उपलब्धि से गमनागमनरहित ब्रह्मरूपत्व उपपन्न होता है, जैसे कि लोक में जिसमें जिसके लक्षण की उपलब्धि होती है उसकी उस रूपता उपपन्न होती है, अर्थात् मिट्टी में कुछ दिन रहने से लोहा मिट्टी रूप होता है, लवण के पहाड़ पर अन्य वस्तु भी लवण रूप होती है, उसमें लवण मिट्टी के लक्षणों को देखकर लोक में मिट्टी लवण कहा जाता है, वैसे ज्ञानी ब्रह्म कहा जाता है और ब्रह्म विभु है ॥ ३० ॥

अनियमाधिकरण (१८)

मार्गः श्रुतस्थलेष्वेव सर्वोपास्तिषु वा भवेत् । श्रुतेष्वेव प्रकरणाद् द्विःपाठोस्य वृथान्यथा ॥ प्रोक्तो विद्यान्तरे मार्गो ये चेम इति वाक्यतः । तेन बाध्यं प्रकरणं द्विःपाठश्चिन्तनाय हि ॥

सभी सगुण विद्या सम्बन्धी यह उत्तरायण मार्ग है, किसी विशेष विद्या के लिए नियम नहीं है और श्रुति-स्मृति द्वारा प्रकट विरोध का अभाव सिद्ध होता है ॥ यह उत्तरायण मार्ग जिन स्थानों में सुना गया है, वहाँ ही रहेगा, अथवा सब उपासनाओं में प्राप्त होगा, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष है कि प्रकरण के बल से जहाँ सुना गया है उन्हीं उपासनाओं में मार्ग का सम्बन्ध रहेगा, अन्यत्र उपसंहार नहीं होगा, अन्यथा एक स्थान में पाठ से ही सर्वत्र उपसंहार हो सकता था, एक ग्रन्थ में पञ्चाग्निविद्या और उपकोशलविद्या में इस मार्ग का दो बार पाठ व्यर्थ होगा ॥ सिद्धान्त है कि (ये चेमे) इस श्रुति वाक्य से विद्यान्तर में भी मार्ग कहा गया है, उसी से प्रकरण बाधित हो जाता है । मार्ग का चिन्तन के लिए दो स्थान में पाठ है, अन्य उपासनाओं में मार्ग चिन्तन की जरूरत नहीं है ॥ १–२ ॥

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवती न निर्गुणायां परमात्मविद्यायामित्युक्तम् । सगुणास्वपि विद्यासु कासुचिद् गतिः श्रूयते यथा पर्यङ्कविद्यायामुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां दहरविद्यायामिति, नान्यासु यथा मधुविद्यायां शाण्डिल्य-विद्यायां षोडशकलविद्यायां वैश्वानरविद्यायामिति । तत्र संशयः—किं यास्वे-वैषा गतिः श्रूयते तास्वेव नियम्येतोतानियमेन सर्वाभिरेवैवंजातीयकाभिर्विद्या-भिरभिसम्बध्येतेति । किं तावत्प्राप्तं नियम इति । यत्रैव श्रूयते तत्रैव भवितु-मर्हति, प्रकरणस्य नियामकत्वात् । यद्यन्यत्र श्रूयमाणापि गतिर्विद्यान्तरं गच्छे-च्छ्रुत्यादीनां प्रामाण्यं हीयेत सर्वस्य सर्वार्थवत्त्वप्रसङ्गात् । अपिचार्चिरादिकैकैव गतिरुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तुल्यवत्पठ्यते, तत्सर्वार्थत्वेऽनर्थकं पुनर्वचनं स्यात् । तस्मान्नियम इति ।

सगुण विद्याओं में गति सार्थक है, निर्गुण परमात्मविद्या में नहीं, यह कहा जा चुका है । सगुण विद्याओं में भी किन्हीं में गति सुनी जाती है, जैसे कि पर्यङ्कविद्या, उपकोशलविद्या, पञ्चाग्निविद्या और दहरविद्या में गति सुनी जाती है । अन्य में नहीं सुनी जाती है, जैसे कि मधुविद्या, शाण्डिल्यविद्या, षोडशकलविद्या और वैश्वानरविद्या में नहीं सुनी जाती है । यहाँ संशय होता है कि जिन विद्याओं में यह गति सुनी जाती है, उन्हीं में नियमित रहेगी, अथवा इस प्रकार वाली सभी सगुण विद्याओं में अनियम से सम्बद्ध होगी । प्रथम क्या प्राप्त है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि नियम प्राप्त होता है, जहाँ गति सुनी जाती है, वहाँ ही होने योग्य है, जिससे प्रकरण को नियामकत्व है, इससे प्रकरण ही नियम करेगा । यदि अन्यत्र श्रूयमाण (श्रुत) भी

गति विद्यान्तर में प्राप्त होगी, तो श्रुति आदि की प्रमाणता बाधित होगी, सब गुणादि को सर्वार्थत्व का प्रसङ्ग होगा और दूसरी बात है कि अर्चि आदि रूप एक ही गति (मार्ग) उपकोशलविद्या में और पञ्चाग्निविद्या में तुल्य स्वरूप वाली एक छान्दोग्य में पढ़ी जाती है। गति के सर्वार्थत्व होने पर वह पुनः कथन निरर्थक होगा, जिससे नियम है ॥

एवं प्राप्ते पठति—अनियम इति। सर्वासामेवाभ्युदयप्राप्तिफलानां सगुणानां विद्यानामविशेषेणैषा देवयानाख्या गतिर्भवितुमर्हति। नन्वनियमाभ्युपगमे प्रकरणविरोध उक्तः। नैषोऽस्ति विरोधः, शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। तथाहि श्रुतिः—'तद्य इत्थं विदुः' (छा० ५।१०।१) इति पञ्चाग्निविद्यावतां देवयानं पन्थानमवतारयन्ती 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्याविद्भिः समानमार्गतां गमयति। कथं पुनरवगम्यते विद्यान्तरशीलिनामियं गतिश्रुतिरिति। ननु श्रद्धातपःपरायणानामेव स्यात्तन्मात्रश्रवणात्। नैष दोषः, नहि केवलाभ्यां श्रद्धातपोभ्यामन्तरेण विद्याबलमेषा गतिर्लभ्यते।

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥

इति श्रुत्यन्तरात्। तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणम्।

ऐसा प्राप्त होने पर पढ़ते हैं कि अनियम है, अभ्युदय (ब्रह्मलोक) की प्राप्ति रूप फल वाली सगुण सभी विद्याओं के सम्बन्ध वाली यह देवयान नामक गति अविशेष (तुल्य) रूप से होने योग्य है, यदि कहा जाय कि अनियम मानने पर प्रकरण के साथ विरोध कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि शब्द और अनुमान से, अर्थात् श्रुति और स्मृति से यह विरोध नहीं है, अर्थात् सामान्य श्रुति आदि से प्रकरण का बाध दोष रूप नहीं है। जिससे इस प्रकार की सामान्य श्रुति है कि (उन विद्या के अधिकारियों में जो कोई ऐसा समझते हैं कि द्युलोकादिरूप अग्नियों द्वारा हम उत्पन्न हुए हैं इत्यादि) इस प्रकार पञ्चाग्निविद्या वालों के देवयान मार्ग का आरम्भ करती हुई श्रुति (और जो अरण्य में वासयुक्त वानप्रस्थ संन्यासी श्रद्धा तपोयुक्त ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे अर्चि आदि को प्राप्त होते हैं) इस प्रकार विद्यान्तर का अनुशीलन (चिन्तन) करने वालों की भी पञ्चाग्निविद्या वालों के साथ समान मार्गता को समझाती है। शङ्का होती है कि इस श्रुति से भी श्रद्धा तप वालों को देवयान की प्राप्ति प्रतीत होती है, तो भी विद्यान्तर वालों की भी यह गति श्रुति कैसे समझी जाती है, तप और श्रद्धा में तत्परों की ही यह गति होगी, जिससे तप और श्रद्धा मात्र का श्रवण है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है, जिससे विद्याबल के बिना केवल तप और श्रद्धा मात्र से यह गति नहीं प्राप्त होती है। (विद्या से उस ब्रह्मलोक में प्राप्त होते हैं कि जहाँ जाने से काम परागत परावृत्त निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् जहाँ कामादि

दोष नहीं हैं, दक्षिणा (केवल कर्मी) और अविद्वान् तपस्वी वहाँ नहीं जाते हैं। इस दूसरी श्रुति से तप आदि मात्र से ब्रह्मलोक की अप्राप्ति सिद्ध होती है। जिससे यहाँ श्रद्धा और तप से साध्य विद्यान्तर का उपलक्षण (बोधन) होता है।

वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते 'ये एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति, तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयम्, सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात्। पञ्चाग्निविद्याविदां चेत्थंवित्तयैवोपात्तत्वाद्विद्यान्तरप ।यणानामेवेतदुपादानं न्याय्यम्। 'अथ ये एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (बृ० ६।२।१६) इति च मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टामधोगतिं गमयन्ती श्रुतिर्देवयानपितृयाणयोरेवैनानन्तर्भावयति। तत्रापि विद्याविशेषादेषां देवयानप्रतिपत्तिः। स्मृतिरपि—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ (भ० गी० ८।२६) इति।

यत्पुनर्देवयानस्य पथोऽर्चिरादेर्द्विराम्नानमुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तदुभयत्राप्यनुचिन्तनार्थम्। तस्मादनियमः॥ ३१॥

वाजसनेयी तो पञ्चाग्निविद्या के प्रकरण में अध्ययन करते हैं कि (जो इस पञ्चाग्निविद्या को इस प्रकार जानते हैं, और जंगल में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं सो अर्चि मार्ग को प्राप्त करते हैं) इति। वहाँ जो श्रद्धालु लोग सत्य ब्रह्म की उपासना करते हैं, ऐसा व्याख्यान कर्तव्य है और सत्य शब्द के ब्रह्म में अनेक बार प्रयुक्तत्व से यह व्याख्यान समझना चाहिये। पञ्चाग्निविद्यावेत्ताओं का (य एवमेतद्विदुः) इस वचन द्वारा इत्थंवेत्ता रूप से ही ग्रहण होने के कारण विद्यान्तर में परायण (तत्परों) का ही यह सत्य का उपासक रूप से उपादान (ग्रहण) न्याय्य है। (जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते हैं अर्थात् उत्तरायण वा दक्षिणायन मार्ग की प्राप्ति के लिए जो विद्या वा कर्मानुष्ठान नहीं करते हैं; वे लोग कीट, पतंग और यह जो दन्दशूक (सर्प) आदि हैं सो होते हैं) यह श्रुति दोनों मार्गों से भ्रष्टों की कष्टरूप अधोगति को समझाती हुई देवयान, पितृयान मार्गों में ही इन वैश्वानरादि उपासकों को अन्तर्भाव करती है, और उन दोनों मार्गों में भी विद्याविशेष से इन्हें देवयान की प्राप्ति होती है। स्मृति भी है कि (अर्चि आदि शुक्लगति और धूमादि कृष्ण गति जगत् के अधिकारियों की शाश्वत सम्मत स्वीकृत हैं, उनमें एक से अनावृत्ति को प्राप्त होता है, अन्य गति से फिर लौट आता है) और जो अर्चि आदि रूप देवयान मार्ग का दो बार उपकोशल-विद्या और पञ्चाग्निविद्या में कथन है, वह दोनों स्थानों में अनुचिन्तन के लिए है, अन्य विद्या वालों को मार्ग के चिन्तन के बिना ही मार्ग की प्राप्ति होती है, जहाँ मार्ग का वर्णन है वहाँ मार्ग के चिन्तन से मार्ग की प्राप्ति होती है, इससे प्रतीक भिन्न सभी उपासना ं में अर्चि आदि की प्राप्ति होती है इससे अनियम है॥ ३१॥

यावदधिकाराधिकरण (१९)

ब्रह्मतत्त्वविदां मुक्तिः पाक्षिकी नियताथवा । पाक्षिक्यपान्तरतमः प्रभृतेर्जन्मकीर्तनात् ॥१॥
नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपास्तिफलं बुधाः । भुक्त्वाधिकारिपुरुषा मुच्यन्ते नियता ततः ॥२॥

ज्ञान और ज्ञानजन्य जीवन्मुक्ति के रहते भी त्रिदेवादि रूप तथा सप्तर्षि आदि रूप अधिकारियों, नियन्ताओं, उपदेशकों की अधिकार पर्यन्त संसार में स्थिति रहती है ॥ संशय है कि ब्रह्मतत्त्ववेत्ताओं की मुक्ति पाक्षिक (वैकल्पिक) है, अथवा नियत है । पूर्वपक्ष है कि अपान्तरतमा आदि ज्ञानियों के जन्म के पुराणादि में कथन से मुक्ति पाक्षिकी है ॥ सिद्धान्त है कि अधिकारी पुरुष रूप ज्ञानी नाना देह में उपभोग के योग्य ईश्वर की उपासना के फल को भोग कर मुक्त होते हैं, इससे मुक्ति नियत है ॥ १–२ ॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

विदुषो वर्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तरमुत्पद्यते न वेति चिन्त्यते। ननु विद्यायाः साधनभूतायाः संपत्तौ कैवल्यनिर्वृत्तिः स्यान्न वेति, नेयं चिन्तोपपद्यते नहि पाकसाधनसम्पत्तावोदनो भवेन्न वेति चिन्ता संभवति। नापि भुञ्जानस्तृप्येन्न वेति चिन्त्यते। उपपन्ना त्वियं चिन्ता ब्रह्मविदामपि केषांचिदितिहासपुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्। तथाह्यपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिर्विष्णुनियोगात्कलिद्वापरयोः संधौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति। वसिष्ठश्च ब्रह्मणो मानसः पुत्रः सन्निमिशापादपगतपूर्वदेहः पुनर्ब्रह्मादेशान्मित्रावरुणाभ्यां संबभूवेति। भृग्वादीनामपि ब्रह्मण एव मानसपुत्राणां वारुणे यज्ञे पुनरुत्पत्तिः श्रूयते। सनत्कुमारोऽपि ब्रह्मण एव मानसः पुत्रः स्वयं रुद्राय वरप्रदानात्स्कन्दत्वेन प्रादुर्बभूव। एवमेव दक्षनारदप्रभृतीनां भूयसी देहान्तरोत्पत्तिः कथ्यते तेन निमित्तेन स्मृतौ। श्रुतावपि मन्त्रार्थवादयोः प्रायेणोपलभ्यते। ते च केचित्पतिते पूर्वदेहान्तरमाददते केचित्तु स्थिते एव तस्मिन्योगैश्वर्यवशादनेकदेहादानन्यायेन। सर्वे चैते समधिगतसकलवेदार्थाः स्मर्यन्ते। तदेतेषां देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्प्राप्तं ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वेति।

विद्वान् के वर्तमान देह के पात के अनन्तर फिर देहान्तर उत्पन्न होता है, अथवा नहीं होता है, यह विचार किया जाता है। यहाँ शंका होती है कि कैवल्य के साधन रूप विद्या की सम्पत्ति (सिद्धि प्राप्ति) होने पर कैवल्य की सिद्धि होगी या नहीं होगी, यह चिन्ता, विचार, उपपन्न नहीं होती है, जिससे पाक के साधन की सम्पत्ति होने पर ओदन (भात) होगा या नहीं होगा ऐसी चिन्ता का सम्भव नहीं है और भोजन करता हुआ तृप्त होगा या नहीं, ऐसी भी चिन्ता नहीं की जाती है, अर्थात् पूर्ण साधन ज्ञान होने पर मोक्ष अवश्य होता है यहाँ चिन्ता का अवसर नहीं है ॥ उत्तर है कि यह चिन्ता तो उपपन्न है, युक्त है, जिससे कितने ब्रह्मवेत्ताओं की भी इतिहास और पुराणों में

देहान्तर की उत्पत्ति कथा को देखने से चिन्ता होती है। इसी प्रकार का स्मरण कथन करते हैं कि अपान्तरतमा नाम से प्रसिद्ध वेदाचार्य पुराण ऋषि विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की सन्धि काल में कृष्ण द्वैपायन हुए। वसिष्ठ भी ब्रह्मा के मानस पुत्र होते हुए भी निमि नामक राजा के शाप से पूर्वदेह से रहित होकर फिर ब्रह्मा की आज्ञा से मित्रावरुण से देहधारी हुए। ब्रह्मा के ही मानसपुत्र भृगु आदि की वरुण के यज्ञ में फिर उत्पत्ति सुनी जाती है, ब्रह्मा के ही मानसपुत्र सनत्कुमार भी स्वयं रुद्र के प्रति वरप्रदान से स्कन्द रूप से प्रगट हुए। इसी प्रकार तत्तत् निमित्तों से दक्ष नारदादि की बहुत ही देहान्तर की उत्पत्ति स्मृति में कही जाती है। श्रुति में भी मन्त्र और अर्थवाद में प्रायः ज्ञानियों की देह की उत्पत्ति उपलब्ध होती है। उनमें से कितने ज्ञानी तो पूर्व देह के पतित होने पर देहान्तर का ग्रहण करते हैं, और कोई तो उस पूर्व देह के स्थिर रहते ही योगैश्वर्य के बल से अनेक देह के ग्रहण न्याय से अन्य देह का ग्रहण करते हैं, और ये सब सम्पूर्ण वेदार्थ के ज्ञाता तत्त्वज्ञ स्मृतियों में कहे जाते हैं। तो भी इनकी देहों की उत्पत्ति की कथा को देखने से ब्रह्मविद्या को पाक्षिक मोक्ष-हेतुत्व वा अहेतुत्व प्राप्त होता है॥

अत उत्तरमुच्यते। न, तेषामपान्तरतमःप्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकस्थितिहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात्स्थितेः। यथासौ भगवान्सविता सहस्रयुगपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तदवसाने उदयास्त-मयवर्जितं कैवल्यमनुभवति, 'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३।११।१) इति श्रुतेः। यथा च वर्तमाना ब्रह्मविदः प्रारब्ध-भोगक्षये कैवल्यमनुभवन्ति, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति श्रुतेः। एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेता-वक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते, तदवसाने चापवृज्यन्त इत्यविरुद्धम्। सकृत्प्रवृत्तमेव हि तेऽधिकारफलदानाय कर्माशयमतिवाहयन्तः स्वात-न्त्र्येणैव गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तः स्वाधिकारनिर्वर्तनायापरि-मुषितस्मृतय एव देहेन्द्रियप्रकृतिवशित्वान्निर्माय देहान्युगपत्क्रमेण वाधिति-ष्ठन्ति। न चैते जातिस्मरा इत्युच्यन्ते 'त एवैते' इति स्मृतिप्रसिद्धेः।

अतः उत्तर कहा जाता है कि पाक्षिक हेतुत्व वा अहेतुत्व नहीं है। उन अपान्तरतमा आदि लोकस्थिति के हेतु वेद के प्रचारादि रूप अधिकारों (व्यापारों) में नियुक्तों की स्थिति के अधिकार रूप प्रतिबन्धक के अधीन होने से दोष का अभाव समझना चाहिए। जैसे यह भगवान् सूर्य हजार युग पर्यन्त जगत् के अधिकार (व्यवहार) को करके उसके अन्त में उदय-अस्तमय से रहित कैवल्य का अनुभव करते हैं (प्राणियों के प्रारब्ध समाप्त होने पर प्राणियों के ऊपर अनुग्रह के बाद में ऊर्ध्व अपने स्वरूप में

प्राप्त होकर सूर्य अपने मध्य (स्वरूप) में एकल स्थिर रहेंगे न उदित होंगे न अस्त होंगे। इस श्रुति से सूर्य का कैवल्य सिद्ध होता है, एकल (अद्वय) स्वरूप से स्थिति ही कैवल्य है (उस अविद्याबन्धनरहित आचार्यवान् पुरुष के सत्स्वरूप की सम्पत्ति को तभी तक विलम्ब है कि जब तक प्रारब्ध से नहीं विमुक्त होता है प्रारब्धान्त होने पर वह सत् स्वरूप में सम्पन्न होता है) इस श्रुति के अनुसार जैसे वर्तमान ब्रह्मवेत्ता प्रारब्ध भोग के क्षय होने पर कैवल्य का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार परमेश्वर से तत्तत् अधिकार में नियुक्त अपान्तरतमा आदि ईश्वर (समर्थ) होते भी, तथा कैवल्य के हेतुरूप सम्यक् दर्शन (ब्रह्मात्मानुभव) के रहते भी प्रारब्ध कर्म के नहीं क्षीण होने से अक्षीण कर्म वाले वे लोग अधिकार पर्यन्त रहते हैं, उस प्रारब्ध के अवसान (समाप्त) होने पर मुक्त होते हैं। इससे विद्या की मोक्षहेतुता में विरोध नहीं है। जिससे उन अधिकारियों का कर्मान्तर से पुनर्जन्म नहीं होता है, किन्तु अधिकार रूप अधिकार-सम्बन्धी फल को देने के लिए सकृत् (एकबार) ही प्रवृत्त कर्माशय (धर्मादि) को (अनेक जन्म के लिए एक बार उद्बुद्ध प्रारब्ध को) भोगादि द्वारा नष्ट करते हुए, स्वतन्त्रतापूर्वक ही एक गृह से गृहान्तर में प्रवेश के समान अन्य-अन्य देहों में संचार (प्रवेश) करते हुए, अपने अधिकारों की सिद्धि के लिए अपरिलुप्त-स्मृतिवाले होते ही देह और इन्द्रियों की प्रकृति की वशिता से प्रकृति द्वारा देहों का निर्माण (सृष्टि) करके एक काल में वा क्रम से उन देहों में अधिष्ठित (प्रविष्ट, स्थिर) होते हैं, अर्थात् कर्मान्तराधीन ईश्वराधीन अज्ञानियों का जन्म होता है। इससे पूर्वापर की स्मृति लुप्त हो जाती है, और ज्ञानी अधिकारियों का दूसरा शरीर भी एक प्रारब्धाधीन होने से वह शरीर एक शरीर की अवस्थान्तर के समान रहता है, और स्वतन्त्रता से गृहीत रहता है, इससे स्मृति का लोप नहीं होता है। इसीसे वे अन्य शरीर में अज्ञानी आदि नहीं हो जाते हैं, इसीसे ये अधिकारी जातिस्मर हैं, ऐसा भी नहीं कहे जाते हैं, क्योंकि स्मृति कहती है कि (ये अधिकारी जो पूर्व थे वही अब हैं) अर्थात् कौमार युवा आदि अवस्था में जैसे वही पुरुष है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है वैसे ही भिन्न देहों में भी अधिकारियों को प्रत्यभिज्ञा होती है, जाति-स्मरों को प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है स्वतन्त्रता नहीं रहती है, कर्मान्तराधीन पुनर्जन्म होता है, इत्यादि भेद है। (वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च। अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्वकीम् ॥ मनुः ४।४८) इस स्मृति के अनुसार, सदा वेदाभ्यास, शौच, तप और अद्रोह से पूर्वजाति का स्मरण करता है। उक्त स्मृति प्रसिद्धि से इस जातिस्मर से भिन्न अधिकारी विशिष्ट उपासना से ज्ञानयुक्त होते हैं।

यथाहि 'सुलभा नाम ब्रह्मवादिनी जनकेन विवदितुकामा व्युदस्य स्वं देहं जानकं देहमाविश्य व्युद्य तेन पश्चात्स्वमेव देहमाविवेशे'ति स्मर्यते। यदि ह्युपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते कर्मणि कर्मान्तरं देहान्तरारम्भकारणमाविर्भवेत्ततोऽप्यदग्धबीजं कर्मान्तरं तद्वदेव प्रसज्येतेति ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्व-

महेतुत्वं वाऽऽशङ्क्येत, नत्वियमाशङ्का युक्ता, ज्ञानात्कर्मबीजदाहस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात्। तथाहि श्रुतिः—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मुण्ड० २।२।८) इति।

'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७।२६।२) इति चैवमाद्या। स्मृतिरपि—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन !।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ (भ० गी० ४।३७) इति,
बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः ॥ इति चैवमाद्या।

जैसे कि (सुलभा नाम वाली ब्रह्मवादिनी ने राजा जनक के साथ विशेष वाद की इच्छायुक्त होकर अपने देह को त्याग कर राजा जनक की देह में पैठ कर उस राजा के साथ विशेष वाद करके फिर अपनी ही देह में प्रवेश किया) ऐसा स्मरण किया जाता है। एक बार प्रवृत्त अधिकार के हेतु कर्म के उपयुक्त (उपभुक्त) होने पर, फिर यदि देहान्तर के आरम्भ के कारण कर्मान्तर आविर्भूत (प्रारब्धरूप) हो, तब तो अन्य भी अदग्ध बीज वाला कर्मान्तर प्राप्त हो, इससे ब्रह्मविद्या के पाक्षिक मोक्ष-हेतुत्व वा मोक्ष के अहेतुत्व की आशङ्का भी की जा सके, परन्तु ज्ञान से कर्मबीज के दाह की श्रुति और स्मृति में प्रसिद्धि से यह आशङ्का युक्त नहीं है। ऐसी ही श्रुति है कि (परावर स्वरूप उस परब्रह्म के अपरोक्ष होने पर इस जीव के कर्म नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कर्मों के कारणरूप हृदय के ग्रंथिरूप रागादि नष्ट हो जाते हैं, सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। आत्म-स्मृति के लाभ करने पर सब ग्रन्थि छूट जाते हैं) इत्यादि। स्मृति भी है कि (हे अर्जुन ! जैसे सम्यक् दीप्त अग्नि लकड़ियों को सर्वथा भस्म करती है, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म करती है)। अग्नि से दग्ध बीज जैसे फिर नहीं अङ्कुरित होते—जमते हैं। वैसे ही ज्ञान से दग्ध क्लेशों से फिर देह-रूप आत्मा नहीं सिद्ध होता है, न उन क्लेशों के साथ सम्बन्ध वाला फिर यह जीवात्मा होता है ! इत्यादि।

नचाविद्यादिक्लेशदाहे सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते। नह्यग्निदग्धस्य शालिबीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते। प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः। 'तस्य तावदेव चिरम्' (छा० ६।१४।२) इति शरीरपातावधिक्षेपकरणात्। तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकाणामवस्थितिः। नच ज्ञानफलस्यानैकान्तिकता। तथाच श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १।४।१०) इति। ज्ञानान्तरेषु

चैश्वर्यादिफलेष्वासक्ताः स्युर्महर्षयः, ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः परमात्मज्ञाने परिनिष्ठाः कैवल्यं प्रापुरित्युपपद्यते ।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति स्मरणात् ।

अविद्यादिरूप क्लेशों का दाह होने पर क्लेशरूप बीज वाला कर्माशय के एकदेश का दाह हो और एकदेश का प्ररोह (अंकुर) हो यह उपपन्न नहीं हो सकता है। अग्नि से दग्ध शालि (धान) बीज के एकदेश का प्ररोह नहीं देखा जाता है। अविद्यादि के नष्ट होने पर भी प्रवृत्त फल वाले प्रारब्ध रूप कर्माशय की त्युक्त बाण के समान वेग की निवृत्ति से निवृत्ति होती है। अर्थात् जैसे वेग के क्षय से बाण की गति की निवृत्ति होती हैं, वैसे भोग से ही प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति होती है, भोग के बिना इसको दग्ध करने की शक्ति ज्ञान में नहीं है, जिससे (उस ज्ञानी को तब तक विलम्ब है) इस श्रुति वचन के अनुसार शरीर के पात तक विक्षेप के कारण से विक्षेप होता है, इससे सिद्ध हुआ कि अधिकार पर्यन्त अधिकारियों की स्थिति रहती है। ज्ञान के फल को अनैकान्तिकता (अनियतता) नहीं है और इसी प्रकार अविशेष रूप से ही ज्ञान से सबके मोक्ष को श्रुति दर्शाती है कि (उन देवताओं में जो-जो प्रतिबुद्ध ज्ञानी हुआ वह उस ब्रह्म का स्वरूप हुआ। इसी प्रकार ऋषियों में तथा मनुष्यों में जो प्रतिबुद्ध हुआ वह तद्रूप हुआ) ज्ञान से प्रथम ऐश्वर्यादिरूप फल वाले अन्य ज्ञानों (उपासनाओं) में महर्षि लोग प्रथम आसक्त होते हुए भी पीछे ऐश्वर्यों का क्षय देखने से विरक्त होकर उपासना के बल से परमात्मज्ञाननिष्ठ होकर उन्होंने मुक्ति प्राप्त की यह उपपन्न होता है। (प्रतिसंचर, महाप्रलय के संप्राप्त होने पर और हिरण्यगर्भ के अधिकार का अन्त होने पर ब्रह्मा के साथ वे सब कृतात्मा, शुद्धात्मा लोग परमपद पाते हैं) इस स्मृति से उक्तार्थ सिद्ध होता है।

प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य फलविरहाशङ्कानुपपत्तिः। कर्मफले हि स्वर्गादावनुभवानारूढे स्यादाशङ्का भवेद्वा न वेति, अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम् 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) इति श्रुतेः, 'तत्त्वमसि' (६।८।७) इति च सिद्धवदुपदेशात्। नहि 'तत्त्वमसि' इत्यस्य वाक्यस्यार्थस्तत्त्वं मृतो भविष्यसीत्येवं परिणेतुं शक्यः। 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १।४।१०) इति च सम्यग्दर्शनकालमेव तत्फलं सर्वात्मत्वं दर्शयति। तस्मादैकान्तिकी विदुषः कैवल्यसिद्धिः ॥ ३२ ॥

ज्ञान के फल के प्रत्यक्ष होने से, फलाभाव की आशङ्का की अनुपपत्ति है, अनुभव में अनारूढ़ (अप्राप्त) कर्मफल स्वर्गादिविषयक आशङ्का हो सकती है कि वह फल होगा या नहीं होगा। (जो साक्षात् व्यवधानरहित अपरोक्ष अगौण ब्रह्म है वह आत्मा है) इस श्रुति से, और (वही तुम हो) इस सिद्धतुल्य उपदेश से ज्ञान का फल तो

अनुभव में आरूढ़ निज स्वरूप ही है, ज्ञानकृत ब्रह्मभावरूप फल कर्मफल के समान भावी नहीं है, जिससे (तत्त्वमसि) इस वाक्य का अर्थ, मृतक होकर तुम ब्रह्म होगे, इस प्रकार से परिणत नहीं किया जा सकता है। (उस ब्रह्म को इस आत्मस्वरूप में देखते हुए वामदेव ऋषि ने सर्वात्म भाव को समझा कि मैं ही मनु और सूर्य हुआ था) यह श्रुति सम्यक् दर्शन काल में ही सर्वात्मता रूप उसके फल को दर्शाती है, जिससे विद्वान् को नियत कैवल्य की सिद्धि होती है ॥ ३२ ॥

अक्षरध्यधिकरण (२०)

निषेधानामसंहारः संहारो वा न संहृतिः। आनन्दादिवदात्मत्वं नैषां संभाव्यते यतः ॥१॥
श्रुतानामश्रुतानां च निषेधानां समा यतः। आत्मलक्षणता तस्माद्दाढर्यायास्तूपसंहृतिः ॥२॥

अक्षरविद्या में पठित निषेधात्मक विशेषणों का सर्वत्र अवरोध उपसंहार सम्बन्ध होता है, क्योंकि धर्मों की समानता और उसी ब्रह्म की सर्वत्र सत्ता सम्बन्ध में हेतु उपसद के समान है, वह पूर्व मीमांसा में कहा है ॥ संशय है कि निषेधों का आनन्दादि के समान उपसंहार होता है, अथवा नहीं होता है। पूर्वपक्ष है कि निषेधों का उपसंहार नहीं होता है जिससे आनन्दादि के समान इन निषेधों की आत्मता की सम्भावना नहीं की जाती है, अर्थात् आनन्दादि आत्मस्वरूप हैं, इससे उनका उपसंहार होता है, निषेध भावभूत ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकते, इससे इनका उपसंहार नहीं होता है ॥ सिद्धान्त है कि श्रुत वा अश्रुत सब निषेधों को आत्मा की लक्षणता तुल्य है, इससे दृढ़ता के लिए उपसंहार होता है ॥ १–२ ॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्या-
मौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

वाजसनेयके श्रूयते—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्' (बृ० ३।८।८) इत्यादि। तथाथर्वणे श्रूयते—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' (मु० १।१।५) इत्यादि। तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेणाक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते। तत्र च क्वचित्केचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रतिषिध्यन्ते। तासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं सर्वासां सर्वत्र प्राप्तिरुत व्यवस्थेति संशये श्रुतिविभागाद्व्यवस्थाप्राप्तावुच्यते—अक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्धयः सर्वाः सर्वत्रावरोद्धव्याः सामान्यतद्भावाभ्याम्, समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः। तदेव च सर्वत्र प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते, तत्र किमित्यन्यत्र कृता बुद्धयोऽन्यत्र न स्युः। तथाच 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३।३।११) इत्यत्र व्याख्यातम्। तत्र विधिरूपाणि विशेषणानि चिन्तितानीह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः। प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः। औपसदवदिति निदर्शनम्। यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् 'अग्नेर्वेहोत्रं

वेरध्वरम् इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युभिरभिसम्बन्धो भवति, अध्वर्युकर्तृकत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य, प्रधानतन्त्रत्वाच्चाङ्गानाम् । एवमिहाप्यक्षर-तन्त्रत्वात्तद्विशेषणानां यत्र क्वचिदप्युत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राभिसम्बन्ध इत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः' (जै० सू० ३।३।८) इत्यत्र ॥ ३३ ॥

वाजसनेयक में सुना जाता है कि (जिस आकाश के आश्रयविषयक प्रश्न किया है, हे गार्गी ! वह यह है कि जिसको ब्राह्मण लोग अक्षर कहते हैं, अर्थात् ब्रह्मवेत्ता जिसको अविनाशी कहते हैं, यदि कहो कि वह अक्षर क्या है, तो कहा जाता है कि वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह है । अर्थात् स्थूलादि से भिन्न है) इत्यादि । इसी प्रकार अथर्वण में सुना जाता है कि (अब यह पराविद्या कही जाती है कि जिससे वक्ष्यमाण अक्षर प्राप्त किया जाता है वह पराविद्या है । जो वह अदृश्य ज्ञानेन्द्रियों का अविषय और कर्मेन्द्रियों से अग्राह्य और गोत्ररहित वर्णरहित है) इत्यादि । इसी प्रकार अन्यत्र भी विशेषों के निराकरण (निषेध) द्वारा अक्षर पर-ब्रह्म का श्रवण कराया जाता है, उनमें कहीं कोई अतिरिक्त (अधिक) विशेष प्रतिषिद्ध होते हैं, यहाँ उन सब विशेषों की–प्रतिषेध-बुद्धियों की सर्वत्र प्राप्ति होती है, अथवा व्यवस्था रहती है, ऐसा संशय के होने पर फिर श्रुतियों के विभाग से तत्तत् निषेधों की तत्तत् श्रुतियों में व्यवस्थारूप पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहा जाता है कि, सामान्य और तद्भाव से अक्षरविषयक सब विशेष प्रतिषेधबुद्धि सर्वत्र उपरोद्धव्य हैं, अर्थात् निषेध की समता ब्रह्म की एकता से सर्वत्र सब निषेध का उपसंहार होता है । जिससे विशेषों का निराकरण रूप ब्रह्म के प्रतिपादन का प्रकार सर्वत्र समान है और निषेधों द्वारा प्रति प्रतिपादन के योग्य प्रतिपाद्य वही अभिन्न ब्रह्म सर्वत्र प्रत्यभिज्ञात होता है, एक परब्रह्म की सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा होती है । तो उस ब्रह्मविषयक अन्यत्र की गई बुद्धि किसी अन्य श्रुति में क्यों नहीं होगी । इसी प्रकार (आनन्दादयः प्रधानस्य) इस सूत्र में व्याख्यान किया जा चुका है । वहाँ विधिरूप विशेष चिन्तित (विचारित) हुए हैं, यहाँ निषेध रूप वाले चिन्तित हुए हैं, यह भेद है, और यह विचार का भेद विस्तार से समझने के लिए किया गया है । औपसद्वत्–यह दृष्टान्त है कि जैसे यमदग्नि से कृत, आचरित होने से यामदग्न्य नामक अहीन (चार दिनों में समाप्त होने वाले कई यज्ञ) में पुरोडाश से सिद्ध होने वाली कई एक इष्टियों की विधि होने पर (अग्ने-र्वेर्होत्रं वेरध्वरम्) वेर् (देवगण के) होत्र और अध्वर हे अग्ने ! तुम से ही होते हैं । इत्यादि उद्गातृवेद (साम) में उत्पन्न पुरोडाश-प्रदान मन्त्रों का अध्वर्युओं के साथ अभिसम्बन्ध होता है, क्योंकि पुरोडाश का प्रदान अध्वर्युकर्तृक होता है, अध्वर्यु ही पुरोडाश का प्रदान करता है, इससे सामवेद में भी उत्पन्न मन्त्र का अध्वर्यु प्रयोग करता है, उद्गाता उसका उद्गान नहीं करता है क्योंकि अङ्गों को प्रधानाधीनत्व होता है, मन्त्र

अङ्ग है, और पुरोडाश-प्रदान अङ्गी कर्म है। इसी प्रकार यहाँ भी अक्षर के विशेषणों के अक्षर के अधीन होने से जहाँ कहीं भी उत्पन्न विशेषणों को अक्षर के साथ सर्वत्र सम्बन्ध होगा यह सूत्रार्थ है। वह प्रथमकाण्ड में कहा है कि उत्पत्ति गौण होती है और विनियोग प्रधान होता है यहाँ गुण मुख्य के व्यतिक्रम विरोध होने पर गुण के मुख्यार्थक होने से बली मुख्य अध्वर्यु के साथ मन्त्रात्मक वेद का सम्बन्ध होता है, अर्थात् अध्वर्युकृत कर्म के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि कर्म विनियोग सम्बन्ध के लिए ही उस वेद की उत्पत्ति हुई है इत्यादि ॥ ३३ ॥

इयदधिकरण (२१)

पिबन्तौ द्वा सुपर्णेति द्वे विद्ये अथवैकता। भोक्तारौ भोक्त्रभोक्ताराविति विद्ये उभे इमे ॥
पिबन्तौ भोक्त्रभोक्ताराविर्युक्तं हि समन्वये। इयत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैका मन्त्रयोर्द्वयोः ॥

(ऋतं पिबन्तौ द्वा सुपर्णा) इन दोनों श्रुतियों में विद्या-उपदेश एक है। जिससे तुल्य संख्यायुक्त जीव और ईश्वर मात्र का दोनों में वर्णन है तथा आनन्दादि की विधि और स्थूलादि का निषेध इतने ही रूप से ब्रह्म चिन्तनीय है, कि जिस रूप का चिन्तन के लिये विधान है। सभय, विनाशी, मर्त्यादि स्वरूप वस्तु की भी ब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं है, परन्तु वे सब चिन्तनीय नहीं हैं मिथ्या हैं। यहाँ संशय है कि उक्त दोनों श्रुतियों में दो विद्याएँ हैं कि विद्या की एकता है। पूर्वपक्ष है कि एक श्रुति में दो भोक्ताओं का वर्णन है, दूसरी में एक भोक्ता और एक अभोक्ता का वर्णन है, इससे ये दो विद्यायें हैं। सिद्धान्त है कि पिबन्तौ, इस श्रुति में भी द्वा सुपर्णा के समान ही एक भोक्ता और दूसरे अभोक्ता ईश्वर का वर्णन है, यह समन्वयाध्याय में कहा जा चुका है और द्वित्व संख्यायुक्त जीवेश्वर मात्र की दोनों मन्त्रों में प्रत्यभिज्ञा होती है, इससे दोनों मन्त्रों में एक विद्या है ॥ १-२ ॥

इयदामननात् ॥ ३३ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(मु० ३।१।१) इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्रमाथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च पठन्ति। तथा कठाः—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

(क० ३।१) इति। किमत्र विद्यैकत्वमुत विद्यानानात्वमिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? विद्यानानात्वमिति। कुतः? विशेषदर्शनात्। द्वा सुपर्णेत्यत्र ह्येकस्य भोक्तृत्वं दृश्यते। एकस्य चाभोक्तृत्वम्, ऋतं पिबन्तावित्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वमेव दृश्यते, तद्वेद्यं रूपं भिद्यमानं विद्यां भिन्द्यादिति।

(दो सुपर्ण पक्षी तुल्य, सदा संयुक्त समान ख्याति अभिव्यक्ति वाले जीव और ईश्वर समान—एक संसार और शरीररूप वृक्ष का आश्रयण करते हैं, उनमें से एक तो उस अश्वत्थ वृक्ष के स्वादु कर्मफल को भोगता है, और एक साक्षीरूप सर्वथा प्रकाश करता है) इस मन्त्र को अध्यात्म प्रकरण में आथर्वणिक और श्वेताश्वतर पढ़ते हैं। इसी प्रकार कठ पढ़ते हैं कि (सुकृत, स्वयंकृत कर्म के कार्यात्मक लोकरूप इस संसार रूप शरीर में हृदयरूप गुहा में प्रविष्ट परम परार्द्ध—परमात्म स्थान में प्रविष्ट जीव और ईश्वर ऋत, सत्य, अवश्यंभावी कर्म फल को भोगते और भोगाते रहते हैं, उनको ब्रह्म-वेत्ता लोग छाया और आतप के समान विलक्षण कहते हैं। और पञ्चाग्नि वाले तथा तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन (संपादन) करनेवाले गृहस्थ भी इसी प्रकार कहते हैं) यहाँ संशय होता है कि विद्या की दोनों मन्त्रों में एकता है। अथवा विद्या में नानात्व (भेद) है। जिज्ञासा होती है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है। पूर्व पक्ष है कि विद्या में नानात्व प्राप्त होता है। क्योंकि विशेष के दर्शन से नानात्व सिद्ध होता है। विशेष यह है कि, द्वा सुपर्णा, इस श्रुति में एक जीव को भोक्तृत्व का वर्णन देखा जाता है, एक ईश्वर के अभोक्तृत्व का वर्णन देखा जाता है। और ऋतं पिबन्तौ, इस श्रुति में दोनों के भोक्तृत्व का ही वर्णन देखा जाता है, इससे प्रथम श्रुति में जीवेश्वर का वर्णन है दूसरी में जीव और बुद्धि का वर्णन है, जीव और बुद्धि में भोग का सम्भव है, उससे विद्या के रूपात्मक वेद्य वस्तु भिद्यमान (भिन्न) होतो हुई विद्या को भी भिन्न करेगी।

एवं प्राप्ते ब्रवीति विद्यैकत्वमिति। कुतः? यत उभयोरप्यनयोर्मन्त्रयोरियत्तापरिच्छिन्नं द्वित्वोपेतं वेद्यरूपमभिन्नमामनन्ति। ननु दर्शितो रूपभेदः, नेत्युच्यते, उभावप्येतौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरं प्रतिपादयतो नार्थान्तरम्। 'द्वा सुपर्णा' इत्यत्र तावत् 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यशनायाद्यतीतः परमात्मा प्रतिपाद्यते। वाक्यशेषेऽपि च स एव प्रतिपाद्यमानो दृश्यते, 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानम्' (श्वे० ४।७) इति। 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र तु जोवे पिबत्यशनायाद्यतीतः परमात्मापि तत्साहचर्याच्छत्रिन्यायेन पिबतीत्युपचर्यते। परमात्मप्रकरणं ह्येतत् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्युपक्रमात्, तद्विषय एव चात्रापि वाक्यशेषो भवति 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (क० ३।२) इति। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० सू० १।२।११) इत्यत्र चैतत्प्रपञ्चितम्। तस्मान्नास्ति वेद्यभेदस्तस्माच्च विद्यैकत्वम्। अपिच त्रिष्वप्येतेषु वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यैवावगम्यते तादात्म्यविवक्षयैव जीवोपपादनं नार्थान्तरविवक्षया। नच परमात्मविद्यायां भेदाभेदविचारावतारोऽस्तीत्युक्तम्। तस्मात्प्रपञ्चार्थ एवैष योगः। तस्माच्चाधिकधर्मोपसंहार इति ॥ ३४ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि विद्या की एकता है। किस हेतु से

एकता है कि जिससे इन दोनों मन्त्रों में इयत्ता से परिच्छिन्न अर्थात् द्वित्वसंख्यायुक्त वेद्यात्मक विद्या का रूप अभिन्न कहते हैं। यदि कहा जाय कि रूप का भेद दर्शित कराया गया है, तो कहा जाता है कि रूप का भेद नहीं है, ये दोनों ही मन्त्र जीवात्मा रूप द्वितीय वाले (जीवसहित) ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, बुद्धि रूप अर्थान्तर का प्रतिपादन कोई मन्त्र नहीं करता है। 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्र में तो (अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति) इस मन्त्र भाग से भोगेच्छा रूप बुभुक्षा आदि से रहित परमात्मा का प्रतिपादन किया जाता है, और (अनेक योगादि से जुष्ट, सेवित अन्य असंसारी ईश्वर का और उसको महिमा का जब जोव साक्षात्कार करता है तब शोकरहित होता है) इस वाक्य-शेष में भी वही परमात्मा प्रतिपाद्यमान (निरूपित) देखा जाता है और (ऋतं पिबन्तौ) यहाँ तो जीव के कर्म फल पान (भोग) करते रहने पर अशनाया भोगादि से रहित परमात्मा भी उस जीव के साहचर्य छत्रीन्याय से पीता है, भोगता है ऐसा उपचार, गौण व्यवहार किया जाता है, अर्थात् भोगयिता होने से भोक्ता कहा जाता है। जिससे (धर्म से पृथक् असंग स्वरूप है अधर्म से पृथक् है) इस उपक्रम से यह परमात्मा का प्रकरण है। और उस परमात्मा-विषयक ही वाक्यशेष भी है कि (जो यज्ञकर्ताओं को दुःखसागर से पार करने के लिये सेतु के समान है, जो अक्षर परब्रह्म है (गुहां प्रविष्टौ) इत्यादि सूत्र में यह विस्तार से कहा गया है। जिससे वेद्य वस्तु का भेद नहीं है, उससे विद्या की एकता है। पूर्वापर के आलोचन करने पर मुण्डक, श्वेताश्वतर और कठ इन तीनों उपनिषदों में परमात्मविद्या ही अवगत (अनुभूत) होती है। परमात्मा के साथ तादात्म्य (अभेद) की विवक्षा से ही जीव का ग्रहण है, अर्थान्तर की विवक्षा से नहीं और परमात्मविद्या के अभेदविषयक होने से परमात्मविद्या में भेदाभेद-विचार का अवतार (सम्बन्ध) नहीं है, यह कहा जा चुका है। इससे यह सूत्र प्रपञ्चार्थक है। इसी से उन दोनों श्रुतियों में परस्पर अधिक धर्म का उपसंहार होता है ॥ ३४ ॥

अनन्तराधिकरण (२२)

विद्याभेदोथ विद्यैक्यं स्यादुषस्तकहोलयोः। समानस्य द्विराम्नानाद् विद्याभेदः प्रतीयते ॥
सर्वान्तरत्वमुभयोरस्ति विद्यैकता ततः। शङ्काविशेषनुत्यै द्विःपाठस्तत्त्वमसीतिवत् ॥

आमननात् इस पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति होती है, सूत्रार्थ है कि (यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः) इस प्रकार की श्रुति दो ब्राह्मण ग्रन्थों में पढ़ी है, वहाँ अभ्यास से कर्म-भेद के समान अभ्यास से विद्या का भेद नहीं है क्योंकि सर्वान्तरत्व के तुल्य आम्नान, आममन, कथन से विद्या की एकता सिद्ध होती है, जैसे कि (एको देवः सर्वभूतेषु गूढः) इत्यादि में एकात्मा कहा जाता है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये ॥ तथा अपने आत्मा के अन्तरा, मध्य में परमात्मा आनन्दादि स्वरूप से चिन्तनीय है, अभिन्न रूप से ज्ञेय है, जैसे कि भूतग्राम में विभुरूप से चिन्तनीय है, क्योंकि श्रुति ऐसी

ही है कि (अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति) यहाँ संशय है कि उषस्त और कहोल ब्राह्मण में विद्या का भेद है, अथवा एकता होगी। पूर्वपक्ष है कि तुल्य वाक्य के दो बार के कथन से अभ्यास द्वारा विद्या का भेद प्रतीत होता है। सिद्धान्त है कि सर्वान्तरत्व का प्रतिपादन दोनों में है, और वह सर्वान्तर वस्तु एक ही हो सकती है, दो नहीं, इससे रूप के अभेद से विद्या की एकता है, परन्तु शंकाविशेष की निवृत्ति के लिए दो बार पाठ है, जैसे कि (तत्त्वमसि) का नौ बार पाठ है ॥ १-२ ॥

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१–३।५।१) इत्येवं द्विरुषस्तकहोलप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाजसनेयिनः समामनन्ति। तत्र संशयः—विद्यैकत्वं वा स्याद्विद्यानानात्वं वेति। विद्यानानात्वमिति तावत्प्राप्तम् अभ्याससामर्थ्यात्। अन्यथा ह्यन्यूनानतिरिक्तार्थे द्विराम्नानमनर्थकमेव स्यात्। तस्माद् यथाभ्यासात्कर्मभेद एवमभ्यासाद्विद्याभेद इति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अन्तराम्नानाविशेषात्स्वात्मनो विद्यैकत्वमिति। सर्वान्तरो हि स्वात्मोभयत्राप्यविशिष्टः पृच्छ्यते च प्रत्युच्यते च। नहि द्वावात्मानावेकस्मिन्देहे सर्वान्तरौ सम्भवतः, तदा ह्येकस्याञ्जसं सर्वान्तरत्वमवकल्प्येत एकस्य तु भूतग्रामवन्नैव सर्वान्तरत्वं स्यात्। यथाच पञ्चभूतसमूहे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यस्तेजोऽन्तरमिति सत्यप्यापेक्षिकेऽन्तरत्वे नैव मुख्यं सर्वान्तरत्वं भवति तथेहापीत्यर्थः। अथवा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तरं निदर्शयति, यथा—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इत्यस्मिन्मन्त्रे समस्तेषु भूतग्रामेष्वेक एव सर्वान्तर आत्माऽऽम्नायते, एवमनयोरपि ब्राह्मणयोरित्यर्थः। तस्माद्वेद्यैक्याद्विद्यैकत्वमिति ॥३५॥

(जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा है, सर्वान्तर है) इस प्रकार उषस्त और कहोल के प्रश्नों में निरन्तर पूर्वापर ब्राह्मण में दो बार वाजसनेयी पढ़ते हैं, यहाँ संशय होता है कि विद्या की एकता होगी अथवा विद्या का नानात्व होगा। पूर्वपक्ष है कि अभ्यास के सामर्थ्य से विद्या को नानात्व ही प्राप्त होता है। अन्यथा न्यून अधिक अर्थ के नहीं रहने पर दो बार का कथन अनर्थक ही होगा। इससे (ईडो यजति) इत्यादि में यजति पद के अभ्यास से प्रयाज नामक कर्म के भेद के समान यहाँ भी अभ्यास से विद्या का भेद है ॥ इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्याख्यान करते हैं कि स्वात्मा के अन्तरा आम्नान के कथन के अविशेष होने से विद्या की एकता है, सर्वान्तर आत्मा तुल्य स्वरूप वाला ही दोनों स्थानों में पूछा जाता है, प्रश्न का विषय है, और वही प्रत्युत्तर में कहा जाता है, जिससे एक देह में सर्वान्तर दो आत्माओं का सम्भव नहीं है, दो अन्तरात्माओं के होने पर एक को तत्त्वतः सत्य सर्वान्तरत्व सिद्ध होगा। एक को तो भूतग्राम (भूतसमूह रूप देह) के समान सर्वान्तरत्व सर्वथा नहीं होगा।

जैसे कि पांच भूतों के समूह रूप देह में पृथिवी के अन्दर जल है, जल के अन्दर तेज है इस प्रकार आपेक्षिक अन्तरत्व के रहते भी किसी भूत को मुख्य सर्वान्तरत्व नहीं होता है, वैसे ही यहाँ भी होगा यह अर्थ है। अथवा भूतग्रामवत् इस पद से अन्य श्रुति का निदर्शन कराते हैं कि (एक देव सब भूतों में गूढ है, सब में व्यापक है, सब प्राणियों का अन्तरात्मा है) इस मन्त्र में समस्त भूतसमूहों में एक ही सर्वान्तर आत्मा कहा जाता है, इसी प्रकार इन दोनों ब्राह्मणों में भी कहा जाता है, यह अर्थ है, इससे वेद्य की एकता से विद्या की एकता है ॥ ३५ ॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

अथ यदुक्तमनभ्युपगम्यमाने विद्याभेद आम्नानभेदानुपपत्तिरिति तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—नायं दोषः। उपदेशान्तरवदुपपत्तेः। यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति नवकृत्वोऽप्युपदेशे न विद्याभेदो भवत्येवमिहापि भविष्यति। कथं च नवकृत्वोऽप्युपदेशे विद्याभेदो न भवति, उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थतावगमात्। 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।५।४) इति चैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः प्रतिपिपादयिषितव्यत्वेनोपक्षेपात् आशङ्कान्तरनिराकरणेन चासकृदुपदेशोपपत्तेः, एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात्। 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२–३।५।१) इति च परिसमाप्त्यविशेषादुपक्रमोपसंहारौ तावदेकार्थविषयौ दृश्येते। 'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।५।१) इति द्वितीयेऽपि प्रश्ने एवकारं प्रयुञ्जानः पूर्वप्रश्नगतमेवार्थमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं दर्शयति। पूर्वस्मिश्च ब्राह्मणे कार्यकरणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः कथ्यते। उत्तरस्मिंस्तु तस्यैवाशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते इत्येकार्थतोपपत्तिः। तस्मादेका विद्येति ॥ ३६ ॥

जो यह कहा गया था कि विद्या के भेद नहीं मानने पर आम्नाय भेद (अभ्यास) की अनुपपत्ति (निरर्थकता) है, वह परिहार के योग्य है, इससे अब यहाँ कहा जाता है कि, उपदेशान्तर के समान उपपत्ति से यह दोष नहीं है। जैसे ताण्डियों के उपनिषद में षष्ठ प्रपाठक (छठे अध्याय) में (हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा है और तुम वही हो) इस प्रकार नव बार उपदेश होने पर भी विद्या का भेद नहीं होता है, इसी प्रकार यहाँ भी भेद नहीं होगा। यदि कहो कि नौ बार उपदेश होने पर भी विद्या का भेद क्यों नहीं होता है, तो कहा जाता है कि उपक्रम और उपसंहार द्वारा एकार्थता के अवगम से विद्या का भेद नहीं होता है। (हे भगवन् मुझे फिर भी समझाइये) इस प्रकार एक ही अर्थ के पुनः पुनः (बार-बार) प्रतिपादन की इच्छा के विषय रूप से उपक्षेप (उपस्थित) होने से और आशङ्कान्तर के निराकरण के द्वारा बार-बार उपदेश की उपपत्ति से विद्या का भेद नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रश्न और रूप के अभेद से विद्या का भेद नहीं है, और (इस आत्मा से अन्य दुःखरूप

विनश्वर है) इस प्रकार परिसमाप्ति की तुल्यता से उपक्रम और उपसंहार दोनों ही एक अर्थविषयक देखे जाते हैं। (जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है) इस दूसरे प्रश्न में भी एवकार (एव शब्द) का प्रयोग करते हुए पूर्व प्रश्नगत अर्थ को ही आगे अनुकृष्यमाण (आकृष्ट सम्बद्ध) दर्शाते हैं। पूर्वब्राह्मण में कार्यकरण से भिन्न आत्मा का सद्भाव कहा जाता है, और उत्तरब्राह्मण में तो उसी आत्मा की बुभुक्षा आदि संसार धर्म से अतीतता (असङ्गता) कही जाती है, इससे एकार्थ की उपपत्ति होती है, इससे विद्या एक है ॥ ३६ ॥

व्यतिहाराधिकरण (२३)

व्यतिहारे स्वात्मरव्योरेकधा धीरुत द्विधा। वस्त्वैक्यादेकधैक्यस्य दार्ढ्याय व्यतिहारधीः ॥
ऐश्येपि व्यतिहारोक्त्या धीर्द्वेधेशस्य जीवता। युक्तोपास्त्यै वाचनिकी मूर्तिवद्दाढर्चमार्थिकम् ॥

उपास्य और उपासक के विशेषण-विशेष्य भाव, परस्परात्मकता का ज्ञान व्यतिहार कहाता है, वही उपासना की परम अवधि है। वह उपासक के लिए इतर उपासनाओं के समान चिन्तनीय है, जिससे उसी प्रकार विशेष रूप से श्रुति में पढ़ते हैं। (यहाँ जो सूर्यमण्डल में परमात्मा का स्वरूप है, वह मैं हूँ और मैं मैं हूँ वह वह है) इस प्रकार की विहित बुद्धि में एक प्रकार की बुद्धि करनी चाहिये कि मैं परमात्म स्वरूप हूँ, अथवा दोनों प्रकार का मैं परमात्मा हूँ और परमात्मा मुझ स्वरूप जीव है ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष है कि एक प्रकार की ही बुद्धि वस्तु की एकता से करना उचित है कि जिससे जीव में उत्कर्षता की सिद्धि होती है, परस्पर की बुद्धि तो एकता की दृढता के लिये है चिन्तन के लिये नहीं। सिद्धान्त है कि वस्तु की एकता रहते भी श्रुति के अनुसार दो प्रकार की बुद्धि कर्तव्य है, ईश्वर की भी जीवता उपासना के लिए युक्त है, वह वचन से प्राप्त है जैसे कि मूर्ति की उपासना वचन से प्राप्त होती है, और एकता की दृढ़ता तो अर्थतः सिद्ध होती है ॥ १–२ ॥

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

यथा—'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' इत्यादित्यपुरुषं प्रकृत्यैतरेयिणः समामनन्ति, तथा जाबालाः 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति। तत्र संशयः—किमिह व्यतिहारेणोभयरूपा मतिः कर्तव्योतैकरूपैवेति। एकरूपैवेति तावदाह। नह्यत्रात्मन ईश्वरेणैकत्वं मुक्त्वान्यत्किंचिच्चिन्तयितव्यमस्ति। यदि चैवं चिन्तयितव्यो विशेषः परिकल्प्येत संसारिणश्चेश्वरात्मत्वमीश्वरस्य संसार्यात्मत्वमिति। तत्र संसारिणस्तावदश्विरात्मत्वे उत्कर्षो भवेदीश्वरस्य तु संसार्यात्मत्वे निकर्षः कृतः स्यात्, तस्मादैकरूप्यमेव मतेः। व्यतिहाराम्नायस्त्वेकत्वदृढीकारार्थ इति।

जिस प्रकार आदित्य पुरुष को प्रस्तुत करके ऐतरेयी पढ़ते हैं कि (जो वह आदित्य-

मण्डल में ब्रह्म है वह मैं हूँ और मैं मैं हूँ वह वह है) इसी प्रकार जाबाल पढ़ते हैं कि (हे भगवन् देवते ! मैं तेरा स्वरूप हूँ तू मेरा स्वरूप है) इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ व्यतिहार विशेष्य-विशेषण भाव द्वारा दो रूप वाली बुद्धि कर्तव्य है अथवा एक रूप वाली कर्तव्य है। यहाँ पूर्वपक्ष है कि एक रूप वाली ही बुद्धि कर्तव्य है, जिससे इस व्यतिहार में आत्मा की ईश्वर के साथ एकता के बिना उससे अन्य कुछ भी चिन्तन के योग्य नहीं है और यदि इस एकता के समान ही ऐसा भी विशेष चिन्तनीय कल्पित हो कि संसारी की ईश्वररूपता और ईश्वर की संसारीरूपता चिन्तनीय है, तो वहाँ संसारी को ईश्वररूपता में उत्कर्ष होगा और ईश्वर को तो जीवरूपता में निकर्ष, अपकर्ष (हीनता) सिद्ध होगा। इससे मति को एकरूपता ही होती है, द्विरूपता नहीं होती है।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—व्यतिहारोऽयमाध्यानायाम्नायते इतरवत्। यथेतरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाम्नायन्ते तद्वत्। तथाहि विशिषन्ति समाम्नातार उभयोच्चारणेन 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इति। तच्चोभयरूपायां मतौ कर्तव्यायामर्थवद्भवति, अन्यथा हीदं विशेषेणोभयाम्नानमनर्थकं स्यात्, एकेनैव कृतत्वात्। ननूभयाम्नानस्यार्थविशेषे परिकल्प्यमाने देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम्। नैष दोषः। ऐकात्म्यस्यैवानेन प्रकारेणानुचिन्त्यमानत्वात्। नन्वेवं सति स एवैकत्वदृढीकार आपद्येत। न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः। किं तर्हि? व्यतिहारेणेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या वचनप्रामाण्यान्नैकरूपेत्येतावदुपपादयामः। फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति। यथाध्यानार्थेऽपि सत्यकामत्वादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिद्धयति तद्वत्। तस्मादयमाध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषये उपसंहर्तव्यो भवतीति ॥३७॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रत्युत्तर कहते हैं कि यह व्यतिहार आध्यान के लिए अन्य के समान कहा जाता है। जैसे सर्वात्मत्वादि इतर गुण आध्यान के लिए कहे जाते हैं, उसी के समान यह व्यतिहार का कथन भी आध्यान के लिए है। जिससे वेदवक्ता लोग दोनों के उच्चारण द्वारा इसी प्रकार परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव करते हैं कि (त्वमहमस्मि-अहं च त्वमसि—मैं तेरा स्वरूप हूँ, तुम मेरा स्वरूप हो) इति, वह कथन बुद्धि के उभय रूप कर्तव्य होने पर सार्थक होता है, अन्यथा नहीं, अन्यथा तो (अहं त्वमस्मि) एक इतने ही से एकमति सिद्ध होती है। इससे यह विशेष रूप से दोनों का कथन निरर्थक ही होगा, अर्थात् एक के उच्चारण से एकत्व-बुद्धि के सिद्ध होने से (अहं त्वमसि) इसका उच्चारण व्यर्थ होगा, यदि कहो कि दोनों वेद-वाक्यों को अर्थविशेष (भिन्न अर्थ) मानने पर देवता की संसारिरूपता की प्राप्ति से निकर्ष प्राप्त होगा यह प्रथम कहा जा चुका है। तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि इस प्रकार से भी एकात्मता ही अनुचिन्त्यमान होता है। अर्थात् ध्यान के

लिए आरोप मात्र से अपकर्षता नहीं प्राप्त होती है और एकता का चिन्तन होता है। यदि कहो कि ऐसा मानने पर तो जो मैंने एकत्व का दृढीकरण कहा था वही प्राप्त होता है, तो कहा जाता है कि हम एकत्व के दृढीकरण (निश्चय) का वरण नहीं करते हैं, किन्तु व्यतिहार द्वारा दो रूप वाली मति यहाँ वचन की प्रमाणता से कर्तव्य है, एक रूप वाली नहीं कर्तव्य है, इतना ही उपपादन (सिद्ध) करते हैं। इस ध्यान रूप मतिद्वारा प्रमाणान्तर से सिद्ध एकत्व भी फल रूप से दृढ़ होता है। जैसे सत्यकामत्वादि रूप गुणोपदेश के ध्यानार्थक होते भी उन सत्यकामत्वादि गुणों वाला ईश्वर भी उस उपदेश से प्रसिद्ध (प्रतिपादित) होता है, वैसे ही यहाँ ध्यानार्थक उपदेश से एकत्व प्रसिद्ध होता है। इससे यह व्यतिहार आध्यान के योग्य है और समान विषय रूप अहंग्रह उपासनाओं में उपसंहार के योग्य होता है। यह हम कहते हैं ॥ ३७ ॥

सत्याद्यधिकरण (२४)

द्वे सत्यविद्ये एका वा यक्षरव्यादिवाक्ययोः । फलभेदादुभे लोकजयात्पापहतेः पृथक् ॥
प्रकृताकर्षणादेका पापघातोऽङ्गधीफलम् । अर्थवादोऽथवा मुख्यो युक्तोधिकृतिकल्पकः ॥

जो यक्ष (पूज्य) हिरण्यगर्भ वाक्य में विद्या है, वही अग्रिम रविवाक्य में भी विद्या है, इससे सत्यादि गुण उपसंहार के योग्य हैं। संशय है कि यक्ष-वाक्य और रवि आदि वाक्य में सत्यविद्या दो है वा एक है, पूर्वपक्ष है कि लोकजय और पाप-नाश रूप फल के भेद से दोनों सत्य विद्या पृथक् हैं। सिद्धान्त है कि दूसरे वाक्य में भी (तद्यत्तत्सत्यम्) इस वचन से पूर्व प्रकृत हिरण्यगर्भ का ही सम्बन्ध होने से उपास्य की एकता से विद्या की एकता है, हिरण्यगर्भ का ही दूसरे वाक्य में सूर्य रूप से वर्णन है। पाप नाश रूप फल अहर् अहम् इन नामों के चिन्तन रूप अङ्ग का है। इससे अर्थ-वाद रूप है अथवा (स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत) इत्यादि के समान यहाँ मुख्य विधिवाक्य में फल का श्रवण नहीं होने से अधिकारी का अश्रवण है, काम का अध्याहारपूर्वक (लोकजयकामः पापघातकामो वोपासीत) इस प्रकार से अधिकार का कल्पक होने से मुख्य ही युक्त है अर्थवाद नहीं है ॥ १–२ ॥

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

'स यो हैतत् महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५।४।१) इत्यादिना वाजसनेयके सत्यविद्यां सनामाक्षरोपासनं विधायानन्तरमाम्नायते— 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५।५।२) इत्यादि। तत्र संशयः—किं द्वे एते सत्यविद्ये किं वैकैवेति। द्वे इति तावत्प्राप्तम्। भेदेन हि फलसंबन्धो भवति 'जयतीमाँल्लोकान्' (बृ० ५।४।१) इति पुरस्तात्, 'हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद' (बृ० ५।३।३) इत्युपरिष्टात्। प्रकृताकर्षणं तूपास्यैकत्वादिति।

(वह जो कोई अधिकारी इस महान् यक्ष,पूज्य प्रथमोत्पन्न सत्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ की उपासना करता है, उसको लोकजयरूप फल प्राप्त होता है) इत्यादि रूप से वाजसनेयक में सत्यनाम के अक्षरों की उपासना सहित सत्यविद्या का विधान करके फिर उसके बाद पढ़ा जाता है कि (वह जो सत्य है वह यह आदित्य है। जो इस सूर्यमण्डल में पुरुष है, और जो यह दक्षिण आँख में पुरुष है) इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि क्या ये दो सत्यविद्यायें हैं अथवा एक ही विद्या है। दो हैं, यह प्रथम प्राप्त होता है, जिससे भेदपूर्वक फल का सम्बन्ध सुना जाता है। (इस लोक को जीतता है) यह फल प्रथम उपासना में सुना जाता है। (जो ऐसा जानता है वह पाप को नष्ट करता है और त्यागता है) यह फल दूसरी उपासना में सुना जाता है और (यत्तत्) इत्यादि से जो पूर्व प्रकृत का आकर्षण है, वह तो उपास्य की एकता से है, विद्या की एकता से नहीं।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्येति। कुतः ? 'तद्यत्तत्सत्यम्' (बृ० ५।५।२)। इति प्रकृताकर्षणात्। ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यैकत्वादुपपद्यत इत्युक्तम्। नैतदेवम्। यत्र तु विस्पष्टात्कारणान्तराद्विद्याभेदः प्रतीयते तत्रैतदेवं स्यात्। अत्र तूभयथा सम्भवे तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात्पूर्वविद्यासम्बद्धमेव सत्यमुत्तरत्राकृष्यत इत्येकविद्यात्वनिश्चयः। यत्पुनरुक्तं फलान्तरश्रवणाद्विद्यान्तरमिति। अत्रोच्यते, तस्योपनिषदहरहमिति चाङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः। अपि चार्थवादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चावयवेषु श्रूयमाणानि बहून्यपि फलान्यवयविन्यामेव विद्यायामुपसंहर्तव्यानि भवन्ति। तस्मात्सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशेषेणोपेताऽऽम्नायत इत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्याः।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि यह सत्यविद्या एक ही है। क्योंकि (तद्यत्तत्सत्यम्) इस वाक्य द्वारा पूर्वप्रकृत के आकर्षण से एकता सिद्ध होती है। यदि कहो कि फल के भेद से विद्या के भेद होते भी उपास्य की एकता से प्रकृत का आकर्षण उपपन्न होता है, यह कहा जा चुका है। तो कहा जाता है कि यह आकर्षण उपास्य की एकता मात्र से नहीं है किन्तु विद्या की एकता से है। जहाँ विस्पष्ट कारणान्तर प्रकरण भेदादि से विद्या का भेद प्रतीत होता हो, वहाँ यह उपास्य की एकता का ज्ञान ऐसा होता है, अर्थात् विद्या के भेद रहते उपास्यमात्र एक रहता है, जैसे कि दहर विद्या और शाण्डिल्य विद्या में विद्या के भेद होते भी एक ब्रह्म की प्रत्यभिज्ञा मात्र होती है। यहाँ तो उभयथा के सम्भव (एकत्व या नानात्व का संशय) होने पर (तद्यत्तत्सत्यम्) इस वाक्य से प्रकृत के आकर्षण से पूर्व विद्या में सम्बन्ध वाला ही सत्य उत्तर विद्या में आकृष्ट होता है इससे एकविद्यात्व का निश्चय होता है, अर्थात् अपवाद के नहीं रहने

पर रूप की एकता से विद्या की एकता सामान्य रूप से सिद्ध होती है। जो यह कहा था कि फलान्तर के श्रवण रूप एकत्व के अपवाद से विद्यान्तर है। यहाँ कहा जाता है कि उसका उपनिषद् (रहस्य नाम) अहर् और (अहम्) है, इस प्रकार जो उत्तर वाक्य में अङ्गान्तर का उपदेश है, उसकी स्तुति करने वाला वह फलान्तर का श्रवण है विद्या का दो फल इससे नहीं है, किन्तु लोकजय रूप एक ही फल है। जहाँ प्रधान में फल के श्रवण से ही अङ्ग भी फलविषयक आकांक्षा से रहित रहते हैं, वहाँ अङ्ग सम्बन्धी फल श्रवण स्तावक ही होता है, इससे यहाँ अङ्ग में फल-श्रवण स्तावक है, यह कहा गया है। वस्तुतः प्रधान विधि रूप वाक्यों में (दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः) इत्यादि के समान (लोकजयकाम उपासीत) इत्यादि रीति से काम पद के अभाव से अर्थवाद से ही फल के कल्पयितव्य (कल्पनायोग्य) होने से और विद्या के एकत्व होने से अवयवों में श्रूयमाण बहुत भी फल अवयवी विद्या में ही उपसंहार के योग्य होते हैं, अर्थात् प्रधान वाक्य में एवं कामादि अधिकारी के विशेषण के बिना प्रधान वाक्य में या अङ्ग वाक्य में जो फल सुने जाते हैं, वह सब अविशेष रूप से श्रुत होने से प्रधान के ही एक फल रूप से कल्पित होते हैं, इससे फल-भेद का अभाव है। उससे वही एक सत्यविद्या तत्तत् विशेषणों से युक्त रूप से कही जाती है। इससे सत्यादि सभी गुण एक ही प्रयोग (उपासना) में उपसंहार के योग्य हैं ॥ ३७ ॥

केचित्पुनरस्मिन्सूत्र इदं वाजसनेयकमक्ष्यादित्यपुरुषविषयं वाक्यं, छान्दोग्ये च—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६) 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४।१५।१) इत्युदाहृत्य सैवेयमक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयत्रैकैवेति कृत्वा सत्यादीन्गुणान्वाजसनेयिभ्यश्छन्दोगानामुपसंहार्यान्मन्यन्ते। तन्न साधु लक्ष्यते। छान्दोग्ये हि ज्योतिष्टोमकर्मसम्बन्धिनीयमुद्गीथव्यपाश्रया विद्या विज्ञायते। तत्र ह्यादिमध्यावसानेषु हि कर्मसम्बन्धिचिह्नानि भवन्ति 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्युपक्रमे, 'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथः' (छा० १।६।८) इति मध्ये, 'य एवं विद्वान्साम गायति' (छा० १।७।९) इत्युपसंहारे, नैवं वाजसनेयके किंचित्कर्मसम्बन्धि चिह्नमस्ति। तत्र प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥ ३८ ॥

अन्य कई एक व्याख्यानकर्ता इस सूत्र में इस वाजसनेय के अक्षि और आदित्य पुरुष-विषयक वाक्य को, और छान्दोग्य में वर्तमान (जो यह आदित्य के अन्दर हिरण्मय पुरुष दीखता है। जो यह आँख के अन्दर पुरुष दीखता है) इस वाक्य को उदाहरण में देकर अक्षि और आदित्य पुरुष-विषयक वही विद्या दोनों स्थान में एक ही है। ऐसा निश्चय करके वाजसनेयियों में से सत्यादि गुणों का उपसंहार छन्दोगों को करना चाहिये। ऐसा मानते हैं, वह सुन्दर नहीं दीखता है। जिससे छान्दोग्य में ज्योतिष्टोम-

कर्मसम्बन्धिनी उद्गीथ आश्रित यह विद्या विज्ञात होती है। वहाँ आदि, मध्य तथा अवसान में कर्म के चिह्न भी हैं कि (यह पृथिवी ही ऋक् है, अग्नि ही साम है) यह उपक्रम में है। (उसके ऋक् और साम पर्व हैं—इससे उद्गीथ है) यह मध्य में है और (जो इस प्रकार जानने वाला सामगाता है) यह उपसंहार में है। वाजसनेयक में इस प्रकार का कर्मसम्बन्धी कोई चिह्न नहीं है। वहाँ प्रक्रम (उपक्रम) के भेद से विद्या के भेद होने पर व्यवस्था ही युक्त है ॥ ३८ ॥

कामाद्यधिकाराधिकरण (२५)

असंहृतिः संहृतिर्वा व्योम्नोर्दहरहार्दयोः। उपास्यज्ञेयभेदेन तद्गुणानामसंहृतिः ॥ १ ॥
उपास्त्यै क्वचिदन्यत्र स्तुतये चास्तु संहृतिः। दहराकाश आत्मैव हृदाकाशोऽपि नेतरः ॥ २ ॥

छान्दोग्य में सगुण दहर विद्या है, जिसमें सत्य कामादि गुण श्रुत हैं। बृहदारण्यक में हार्दविद्या निर्गुणविद्या है, उसमें वशित्वादि गुण श्रुत हैं, वहाँ छान्दोग्य श्रुत कामादि का इतरत्र बृहदारण्यक में सम्बन्ध होता है और उस छान्दोग्य में वशित्वादि का सम्बन्ध होता है, क्योंकि आयतनादि की तुल्यता से दोनों विद्या का सम्बन्ध है। यहाँ संशय है कि दहर और हार्द आकाश के गुणों का परस्पर उपसंहार होता है अथवा नहीं होता है। पूर्वपक्ष है कि दहराकाश उपास्य है और हार्द (हृदयवृत्ति) आकाश (आत्मा) ज्ञेय है, इससे उपास्य और ज्ञेय के भेद से उनके गुणों का उपसंहार नहीं होगा ॥ १ ॥ सिद्धांत है कि कहीं सगुणविद्या में उपासना के लिये अन्य गुणों का उपसंहार होना चाहिये, और निर्गुणविद्या में स्तुति के लिए गुण का उपसंहार होना चाहियें। जिससे विद्या के सगुण-निर्गुण भेद होते भी जैसे दहराकाश आत्मा ही है, वैसे ही हृदयाकाश भी आत्मा से भिन्न नहीं है, इससे आत्मा की एकता से परस्पर गुणोपसंहार होता है और विद्या की एकता है ॥ १–२ ॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३९॥

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति प्रस्तुत्य छन्दोगा अधीयते—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्यादि। तथा वाजसनेयिनः—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी' (बृ० ४।४।२२) इत्यादि। तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च किं वा नेति संशये विद्यैकत्वमिति। तत्रेदमुच्यते—कामादीति। सत्यकामादीत्यर्थः। यथा देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति। यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते तदितरत्र वाजसनेयके 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यत्र सम्बध्येत। यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते तदपीतरत्र छान्दोग्ये 'एष

आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।१।५) इत्यत्र सम्बध्येत। कुतः? आयतनादि-सामान्यात्। समानं ह्युभयत्रापि हृदयमायतनं समानश्च वेद्य ईश्वरः समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासम्भेदप्रयोजनमित्येवमादि बहुतरं सामान्यं दृश्यते। ननु विशेषोऽपि दृश्यते छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणयोगो वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मण इति। न। 'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात्। अयं त्वत्र विद्यते विशेषः—सगुणा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्ये उपदिश्यते 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्' (छा० ८।१।६) इत्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात्। वाजसनेयके तु निर्गुणमेव परं ब्रह्मोपदिश्यमानं दृश्यते 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि' (बृ० ४।३।१४) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात्। वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं वाजसनेयके संकीर्त्यते। तथा चोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिना निर्गुणमेव ब्रह्मोपसंहरति। गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वाद्विभूतिप्रदर्शनायायं गुणोपसंहारः सूत्रितो नोपासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ ३९ ॥

(अथ जो यह इस ब्रह्मपुर-शरीर में दहर अल्प पुण्डरीक तुल्य वेश्म गृह है उसके अन्दर में दहर अल्पतर आकाश है अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म है) ऐसा आरम्भ करके छान्दोग्य अध्ययन करते हैं कि (यह आत्मा है, और विगलित पाप वाला जरारहित, मृत्यु से रहित, शोकरहित, भूख पिपासा से रहित, सत्यकाम वाला और सत्यसङ्कल्प वाला है) इत्यादि। इसी प्रकार वाजसनेयी अध्ययन करते हैं कि (वह जो महान् अज आत्मा है—जो यह प्राणों में विज्ञानमय है, जो यह हृदय का आकाश है उसमें शयन करता है, सबको वश में रखता है) इत्यादि। वहाँ विद्या की एकता है, परस्पर गुणोपसंहार होता है, अथवा विद्या के भेद से गुणों का परस्पर योग (सम्बन्ध) नहीं होता है। ऐसा संशय होने पर सिद्धान्त है कि विद्या की एकता है, वहाँ यह कहा जाता है कि कामादि का उपसंहार होता है। कामादि का सत्यकामादि अर्थ है, जैसे देवदत्त के स्थान में दत्त और सत्यभामा के स्थान में भामा यह प्रयोग, (नामार्थे नामार्द्धप्रयोगः) नाम के अर्थ में नाम के अर्द्धभाग का प्रयोग होता है इस न्याय से किया जाता है, वैसे ही सूत्र में कामादि यह प्रयोग किया गया है। छान्दोग्य में हृदयाकाश का जो यह सत्यकामत्वादिगुणसमूह उपलब्ध होता है, वह इतरत्र वाजसनेयक में (वह यह आत्मा महान् और अज है) यहाँ सम्बद्ध होगा। जो वाजसनेयक में वशित्वादि उपलब्ध होता है, वह इतरत्र छान्दोग्य में (यह आत्मा अपहतपाप्मा है) यहाँ सम्बद्ध होगा। ऐसा किस हेतु से होगा कि आयतनादि की तुल्यता से होगा। जिससे दोनों स्थानों में हृदय रूप आयतन तुल्य है, और वेद्य ईश्वर भी दोनों स्थानों में समान (एक) है, और लोक का असम्भेदन (अमिश्रण) रूप प्रयोजन वाला उस ईश्वर का सेतुत्व रूप धर्म दोनों स्थानों में तुल्य है इस प्रकार अति अधिक समानता

दीख पड़ती है। यदि कहा जाय कि यह विशेष (भेद) भी दीखता है, कि छान्दोग्य में हृदयाकाश को गुणों के साथ सम्बन्ध है, और वाजसनेयक में तो आकाश आश्रय वाले ब्रह्म को गुणों के साथ सम्बन्ध है, तो कहा जाता है कि यह विशेष नहीं है, जिससे (दहर उत्तरेभ्यः) इस सूत्र में छान्दोग्य में भी आकाश शब्द का वाच्य ब्रह्म ही है यह प्रतिष्ठापित (निश्चित) हो चुका है। परन्तु यह यहाँ विशेष है कि सगुण ब्रह्मविद्या छान्दोग्य में उपदिष्ट होती है (अथ जो यहाँ आत्मा को जानकर और इन सत्य कामों को जानकर गमन प्रयाण करते हैं उनको सब लोकों में कामचार होता है) इस प्रकार आत्मा के समान कामों के भी वेद्यत्व के श्रवण से सगुणत्व का ज्ञान होता है। वाजसनेयक में तो निर्गुण ही परब्रह्म उपदिश्यमान (उपदिष्ट) दीखता है। सो (इसके आगे विमोक्ष के लिए ही कहिये)। यह पुरुष असंग ही है। इत्यादि प्रश्न और प्रतिवचन के समन्वय से सिद्ध होता है, और वशित्वादिं गुण समूह तो उस निर्गुण की स्तुति के ही लिए वाजसनेयक में कहा जाता है, वेद्यत्व ध्येयत्व के लिए नहीं इस प्रकार आगे (सो यह आत्मा निर्देश्य विषय रूप नहीं है) इत्यादि वचनों से निर्गुण ब्रह्मविषयक ही उपसंहार करते हैं। इस प्रकार सगुण-निर्गुण ब्रह्मरूप विषय के भेद से सगुण-निर्गुण विद्या के भेद होते भी गुणवाला ब्रह्म के एक होने से (निर्गुण ब्रह्म से भिन्न नहीं होने से) विभूति के प्रदर्शन के लिए दोनों स्थानों में गुण का उपसंहार सूत्र से कहा गया है उपासना के लिए नहीं, अर्थात् सगुणविद्या में ध्येय भी गुण-निर्गुण विद्या में उपसंहृत होने पर वहाँ विद्या को स्तुति के लिए ही सत्यकामादि होते हैं, इसी प्रकार वशित्वादि सगुण विद्या में उपसंहृत होकर सगुण की स्तुति के लिए होते हैं इत्यादि ॥३९॥

आदराधिकरण (२६)

न लुप्यते लुप्यते वा प्राणाहुतिरभोजने। न लुप्यतेऽतिथेः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादरोक्तितः ॥१॥
भुज्यर्थान्नोपजीवित्वात्तल्लोपे लोप इष्यते। भुक्तिपक्षे पूर्वभुक्तावादरोप्युपपद्यते ॥ २ ॥

वैश्वानरविद्या के प्रकरण में प्राण अपानादि में अग्निदृष्टिपूर्वक उपासक के लिये विधि है कि (तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्) इत्यादि, जो भोजन के लिए प्रथम भात आवे वह होम का साधन रूप द्रव्य है, उसके द्वारा (प्राणाय स्वाहा) इत्यादि मन्त्रपूर्वक हवन करे, यहाँ किसी कारण से भोजन के लोप (अभाव) होने पर भी जल आदि के द्वारा प्राणाहुति करना ही चाहिए क्योंकि उस उपासक के लिये अतिथि से प्रथम भोजन के विधान रूप आदर से उसका अलोप सिद्ध होता है। यह पूर्वपक्ष सूत्र है। संशय है कि अभोजन काल में प्राणाहुति नहीं लुप्त होती है, वा लुप्त होती है। पूर्वपक्ष है कि अतिथि से प्रथम भोजन करे, इस प्रकार की आदरोक्ति से लुप्त नहीं होती है॥ सिद्धान्त है भोजनार्थक अन्न का उपजीवी (कार्य) प्राणाहुति के होने से भोजन के अभाव से आहुति का अभाव होता है और भोजन पक्ष में प्रथम भोजन होने से आदर भी उपपन्न होता ॥ १–२ ॥

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा' (छा० ५।१९।१) इत्यादि तत्र पञ्च प्राणाहुतयो विहिताः। तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः 'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (छा० ५।२४।२) इति।

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।

एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥ (छा० ५।२४।५) इति च ॥

तत्रेदं विचार्यते—किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्योतालोप इति। तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणाद्भक्तागमनस्य च भोजनार्थत्वाद्भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्येति। एवं प्राप्ते न लुप्येतेति तावदाह। कस्मात्? आदरात्, तथाहि वैश्वानरविद्यायामेव जाबालानां श्रुतिः 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्, यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत्' इत्यतिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा स्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्रे आदरं करोति। या हि न प्राथम्यलोपं सहते नेतरां सा प्राथम्यवतोऽग्निहोत्रस्य लोपं सहेतेति मन्यते। ननु भोजनार्थभक्तागमनसंयोगाद्भोजनलोपे लोपः प्रापितः। न। तस्य द्रव्यविशेषविधानार्थत्वात्। प्राकृते ह्यग्निहोत्रे पयःप्रभृतीनां द्रव्याणां नियतत्वादिहाप्यग्निहोत्रशब्दात्कौण्डपायिनामयनवत्तद्धर्मप्राप्तौ सत्यां भक्तद्रव्यैकतागुणविशेषविधानार्थमिदं वाक्यं 'तद्यद्भक्तमि'ति। अतो गुणलोपे न मुख्यस्येत्येवं प्राप्तम्। भोजनलोपेऽप्यद्भिर्वाऽन्येन वा द्रव्येणाविरुद्धेन प्रतिनिधानन्यायेन प्राणाग्निहोत्रस्यानुष्ठानमिति ॥ ४० ॥

छान्दोग्य में वैश्वानरविद्या का आरम्भ करके सुना जाता है कि (वहाँ मुख के आहवनीय अग्निरूप कल्पित होने पर जो भक्त भात आदि अन्न भोजन काल में प्रथम भोजन के लिए आवे वह होम का साधनरूप द्रव्य है। वहाँ वह भोक्ता जो प्रथम आहुति करे, वह (प्राणाय स्वाहा इस मन्त्र से करे, मुख में अन्न डाले) इत्यादि। वहाँ पाँच प्राणाहुतियाँ विहित हैं, और उनमें आगे अग्निहोत्र शब्द प्रयुक्त है, उन्हें अग्निहोत्र कहा गया है कि (जो इसको इस प्रकार जानने वाला विद्वान् अग्निहोत्र करता है) इति। और (जैसे इस लोक में भूखे बालक माता की उपासना करते हैं, कि कब माता अन्न देगी, इसी प्रकार सब प्राणी इस अग्निहोत्र की उपासना करते हैं, विद्वान् के भोजन से सब तृप्ति चाहते हैं) इति। यहाँ यह विचार किया जाता है कि भोजन का लोप (अभाव) होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप होता है, अथवा नहीं लोप होता है। वहाँ सिद्धान्त के अनुसार, 'तद्यद्भक्तम्' इस वचन से भक्त के आगमन के संयोग के श्रवण से और भक्तागमन के भोजनार्थक होने से भोजन का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप

होता है, ऐसा प्राप्त होने पर पूर्वपक्षी प्रथम कहता है कि भोजन का लोप होने पर भी प्राणाग्निहोत्र नहीं लुप्त होता है, किस हेतु से नहीं लुप्त होता है, ऐसा पूछने पर कहता है कि आदर रूप हेतु से नहीं लुप्त होता है, जिससे इसी प्रकार आदर का सूचक वैश्वानर विद्या में ही जाबालों की श्रुति है कि (उपासक अतिथियों से प्रथम भोजन करे) यद्यपि अन्य के लिये प्रथम भोजन करना निषिद्ध है, तथापि जो वैश्वानरोपासक होकर प्रथम अतिथि को भोजन कराकर पीछे आप भोजन करता है उसका वह भोजन ऐसा होता है कि (जैसे स्वयं अपना अग्निहोत्र हवन नहीं करके अन्य के अग्निहोत्र करे) यह श्रुति अतिथि भोजन की प्रथमता की निन्दा करके स्वामी (गृहस्वामी) के भोजन को प्रथम प्राप्त कराती हुई प्राणाग्निहोत्र विषयक आदर करती है। जो श्रुति प्राणाग्निहोत्र की प्रथमता के लोप को नहीं सहती है, वह प्रथमता वाले अग्निहोत्र के लोप को तो अत्यन्त ही नहीं सह सकती है, ऐसा समझा जाता है। यदि कहा जाय कि भोजनार्थं भक्त के आगमन के संयोग से भोजन के लोप में अग्निहोत्र का लोप प्रथम प्राप्त (सिद्ध) किया गया है। अर्थात् भोजनार्थक द्रव्य का अग्निहोत्र के साथ सम्बन्ध है, इससे भोजन के लोप से उसका लोप प्राप्त होता है यह कहा जा चुका है। तो कहा जाता है कि (तद्यद् भक्तम्) इत्यादि रूप उस वचन के अग्निहोत्र सम्बन्धी द्रव्यविशेष के विधान के लिये होने से, उस वचन से भोजन के लोप से अग्निहोत्र का लोप नहीं सिद्ध हो सकता है। जिससे प्राकृत (मुख्य) अग्निहोत्र में पय-घृतादि द्रव्यों का नियतत्व होने से, यहाँ भी अग्निहोत्र शब्द के होने से जैसे कौण्डपायियों को अयनयागविशेष में मासाग्निहोत्र में अग्निहोत्र शब्द के रहने से नित्य मुख्य अग्निहोत्र के धर्मरूप पय-घृतादि द्रव्यों की उसमें प्राप्ति होती है, वैसे ही मुख्याग्निहोत्र के धर्मरूप पय-घृतादि के प्राणाग्निहोत्र में भी प्राप्त होने पर उस उत्सर्ग (सामान्य द्रव्य) का बोध के लिए, भक्त द्रव्य की एकतारूप गुणविशेष के विधान के लिए यह वाक्य है कि (यत्तद् भक्तम्) इससे भोजन भक्तादि गुण के लोप होने पर भी मुख्य अग्निहोत्र का नहीं लोप होगा (गुणालोपे न मुख्यस्य) इस जैमिनिसूत्र से ऐसा प्राप्त हुआ। इससे भोजन का लोप होने पर जल से वा अन्य अविरुद्ध द्रव्य से प्रतिनिधान न्याय से प्राणाग्निहोत्र का अनुष्ठान होता है। अर्थात् आरब्ध नित्यादि कर्म में श्रुत द्रव्य के नहीं मिलने पर प्रतिनिहित अन्य द्रव्य से वह कर्म किया जाता है, वैसे ही यहाँ कर्तव्य है ॥ ४० ॥

अत उत्तरं उठति—
इसके बाद उत्तर पढ़ते हैं कि—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

उपस्थिते भोजनेऽतस्तस्मादेव भोजनद्रव्यात्प्रथमोपनिपतितात्प्राणाग्निहोत्रं निर्वर्तयितव्यम्। कस्मात्? तद्वचनात्। तथाहि—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५।१९।१) इति सिद्धवद्भक्तोपनिपातपरामर्शेन परार्थद्रव्य-

साध्यतां प्राणाहुतीनां विदधाति। ता अप्रयोजकलक्षणापन्नाः सत्यः कथं भोजनलोपे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधापयेयुः। न चात्र प्राकृताग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरस्ति, कुण्डपायिनामयने हि 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'ति विध्युद्देशगतोऽग्निहोत्रशब्दस्तद्वद्भावं विधापयेदिति युक्ता तद्धर्मप्राप्तिः। इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्रशब्दो न तद्वद्भावं विधापयितुमर्हति। तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायामग्न्युद्धरणादयोऽपि प्राप्येरन्। नचास्ति सम्भवः, अग्न्युद्धरणं तावद्धोमाधिकरणभावाय, नचायमग्नौ होमो भोजनार्थताव्याघातप्रसङ्गात्, भोजनोपनीतद्रव्यसम्बन्धान्नास्य एवैष होमः। तथाच जाबालश्रुतिः 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादि'त्यास्याधारामेवेमां होमनिर्वृत्तिं दर्शयति। अत एव चेहापि सांपादिकान्येवाग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति—'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५।१८।२) इति। वेदिश्रुतिश्चात्र स्थण्डिलमात्रोपलक्षणार्था द्रष्टव्या, मुख्याग्निहोत्रे वेद्यभावात्, तदङ्गानां चेह संपिपादयिषितत्वात्। भोजनेनैव च कृतकालेन-संयोगान्नाग्निहोत्रकालावरोधसंभवः। एवमन्येऽप्युपस्थानादयो धर्माः केचित्कथंचिद्विरुध्यन्ते। तस्माद्भोजनपक्ष एवैते मन्त्रद्रव्यदेवतासंयोगात्पञ्च होमा निर्वर्तयितव्याः। यत्त्वादरदर्शनवचनं तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम्। नह्यस्ति वचनस्यातिभारः। नत्वनेनास्य नित्यता शक्यते दर्शयितुम्। तस्माद् भोजनलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येति ॥ ४१ ॥

भोजन के उपस्थित (प्राप्त) होने पर—अतः उसी प्रथम प्राप्त भोजन द्रव्य से प्राणाग्निहोत्र सिद्ध करना चाहिये। किस हेतु से ऐसा करना चाहिए इस प्रश्न का उत्तर है कि उस भात के विधायक वचन से ऐसा करना चाहिए जिससे इस प्रकार का वचन है कि (जो वह भात प्रथम आवे सो होम का साधनरूप द्रव्य है) इस वचन में सिद्ध द्रव्य के समान भक्तोपनिपात (प्रकृतभक्तागमन) का तत् शब्द से परामर्श करके प्राणाहुति की परार्थ द्रव्य (भोजनार्थ द्रव्य) साध्यता को श्रुति विधान करती है, इससे भोजनार्थक द्रव्य उन आहुतियों का प्रयोजक है, जैसे ऋतु विशेष गोदोहनादि का प्रयोजक होता है, यहाँ ऋतु के लोप से गोदोहनादि का लोप होता है, वैसे ही यहाँ भोजनार्थ द्रव्य रूप प्रयोजक (हेतु) के लोप से प्राणाहुतियों का लोप होता है, क्योंकि भोजन के लोप से अप्रयोजक (प्रयोजकरहित) लक्षण (स्वरूप) को आपन्न (प्राप्त) हुई वे आहुतियाँ भोजन के लोप के रहते द्रव्यान्तर को प्रतिनिधि रूप से कैसे प्राप्त करेंगी। यहाँ अग्निहोत्र शब्द से प्राकृत मुख्य अग्निहोत्र के धर्म पय-घृतादि की प्राप्ति नहीं है कि जिसका यह भक्त विधि अपवाद हो। जिससे कुण्डपायियों के अयन में तो (एक मास तक अग्निहोत्र करे) इस विधि उद्देश (विधिवाक्य) गत अग्निहोत्र शब्द, तद्वद्भाव (नित्याग्निहोत्र सदृशता) का विधान कर सकता है इससे वहाँ नित्याग्निहोत्र के धर्मों की प्राप्ति युक्त है और इस प्राणाग्निहोत्र में तो अर्थवादगत अग्निहोत्र शब्द है, वह तद्वद्भाव का विधान करवाने योग्य नहीं है। इसमें

नित्याग्निहोत्र के धर्मों की प्राप्ति मानने पर, अग्नि उद्धरणादि भी प्राप्त होंगे, और उनका सम्भव नहीं है, क्योंकि अग्नि का उद्धरण (आहवनीय कुण्ड में स्थापन) होम की अधिकरणता के लिये होती है। भोजनार्थता के व्याघात (विरोध) के प्रसंग से यह होम अग्नि में नहीं होता है। भोजन के लिए उपस्थित द्रव्य के सम्बन्ध से मुख में यह होम होता है और (अतिथियों से प्रथम भोजन करे) इस प्रकार की जाबाल-श्रुति मुख में ही इस होम की सिद्धि को दर्शाती है, यहाँ मुख्याग्निहोत्र धर्मों की अप्राप्ति से ही यहाँ पर भी (सांपादिक) काल्पनिक ही अग्निहोत्र के अङ्गों को श्रुति दर्शाती है कि (इस वैश्वानररूप भोक्ता का उर ही वेदि है, लोम कुश हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है, मुख आहवनीय अग्नि है) मुख्य अग्निहोत्र में वेदि के अभाव से वेदि श्रुति यहाँ स्थण्डिल (संस्कृत भूमि) मात्र का उपलक्षणार्थक है, ऐसा समझना चाहिये। जिससे मुख्याग्निहोत्र के अङ्गों को ही यहाँ सम्पादन की इच्छा का विषयत्व है। निश्चित काल वाले भोजन ही के साथ सम्बन्ध से अग्निहोत्र के सायं प्रातःकाल के अवरोध (अनुसरण, प्राप्ति) का सम्भव नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी उपस्थानादि मुख्याग्निहोत्र के कोई धर्म किसी प्रकार प्राणाग्निहोत्र में विरुद्ध होते हैं। इससे भोजन पक्ष में ही मन्त्र, द्रव्य और देवता (प्राण) के संयोग से ये पाँच होम सिद्ध करने योग्य हैं। जो आदर दर्शन रूप वचन है, वह भोजन पक्ष में प्रथमता के विधान के लिये है। यद्यपि स्वामी का भोजन श्रुति आदि में अतिथि आदि से उत्तरकाल में विहित है, तथापि विशेष उपासक के लिए प्रथम भोजन विधान में वचन का अतिभार नहीं है। परन्तु इस भोजन की प्रथमता मात्र से इस प्राणाग्निहोत्र की नित्यता को नहीं दर्शा सकते हैं, इससे भोजन का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही होता है ॥ ४१ ॥

तन्निर्धारणाधिकरण (२७)

नित्या अङ्गावबद्धाः स्युः कर्मस्वनियता उत । पर्णवत्क्रतुसम्बन्धो वाक्यान्नित्यास्ततो मताः ॥
पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत् । उभौ कुरुत इत्युक्तं कर्मोपास्त्यनुपासिनोः ॥

जो कर्म के अंग उद्गीथादि हैं, उनका जो रसतमत्वादि रूप से कर्मों में निर्धारण (उपासना) किया जाता है, उसका नियम नहीं है, जिससे वह अनियम श्रुति ही में देखा जाता है कि (उभौ कुरुतः) और जिससे उपासनाओं के पृथक् फल सुने जाते हैं। उससे कर्मफल का इनके बिना भी प्रतिबन्ध नहीं होता है। इत्यादि ॥ सू० ॥ कर्माङ्ग उद्गीथादि सम्बन्धी उपासनायें कर्मों में नित्य होंगी, अथवा अनियत होंगी यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि यद्यपि ये उपासनायें आरभ्याधीत नहीं हैं, अर्थात् किसी कर्म के प्रकरण में नहीं पठित हैं। तथापि (यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति) इस श्रुति से विहित अनारभ्याधीत पर्णता का नित्ययज्ञ सम्बन्धी जुहू द्वारा वाक्य प्रमाण से क्रतु के साथ सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार (य एवं विद्वान् साम गायति)

इत्यादि से क्रतु सम्बन्धी सामादि द्वारा उपासनाओं को यज्ञ के साथ नित्य सम्बन्ध होता है। सिद्धान्त है कि पृथक् फल के श्रवण से गोदोहन के समान ये नित्य नहीं हैं, अर्थात् (चमसेनापः प्रणयेत् । गोदोहनेन पशुकामस्य) चमस से जल का प्रणयन करना चाहिये, पशु की इच्छा वाले के जल प्रणयन गोदोहन पात्र से करे, यहाँ गोदोहन में नित्यता नहीं है पशु निमित्तक जल प्रणयन की अभाव दशा में गोदोहन पात्र का भी अभाव होता है। इसी प्रकार कर्म फल में अतिशय की इच्छा के अभाव काल में उपासना की निवृत्ति होती है। इसी से (उभौ कुरुतः) इस श्रुति से उपासक अनुपासक दोनों का कर्म कहा गया है ॥ १–२ ॥

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्येवमादीनि। किं तानि नित्यान्येव स्युः कर्मसु पर्णमयीत्वादिवदुतानित्यानि गोदोहनादिवदिति विचारयामः। किं तावत्प्राप्तम्—नित्यानीति। कुतः ? प्रयोगवचनपरिग्रहात्। अनारभ्याधीतान्यपि ह्येतान्युद्गीथादिद्वारेण क्रतुसम्बन्धात्क्रतुप्रयोगवचनेनैवाङ्गान्तरवत्संस्पृश्यन्ते। यत्त्वेषां स्ववाक्येषु फलश्रवणम् 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादि, तद्वर्तमानापदेशरूपत्वादर्थवादमात्रमेवापापश्लोकश्रवणादिवन्न फलप्रधानम्। तस्माद्यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इत्येवमादीनामप्रकरणपठितानामपि जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवेशात्प्रकरणपठितवन्नित्यतैवमुद्गीथाद्युपासनानामपीति।

(ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे) इत्यादि कर्माङ्ग आश्रित उपासनायें हैं। यहाँ विचार करते हैं कि क्या ये पर्णमयीत्वादि के समान कर्मों में नित्य होंगे, अथवा गोदोहनादि के समान अनित्य होंगे। प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष होता है कि नित्य है, क्योंकि प्रयोग वचन से परिगृहीत है। अंग और प्रधान के सम्बन्ध के बोध होने पर प्रयोग के प्रागभाव (विलम्बाभाव शीघ्रता) के बोधक वचन को प्रयोगवचन कहते हैं। पर्णता के समान अनारभ्याधीत भी ये विज्ञान, पर्णता जैसे जुहू द्वारा क्रतु सम्बद्ध होता है, वैसे ये विज्ञान उद्गीथादि कर्माङ्ग के द्वारा क्रतु (याग) से सम्बद्ध होते हैं, फिर कल्पित प्रयोग वचन से ही ये विज्ञान अन्य अङ्गों के समान क्रतु के साथ साक्षात् संस्पृष्ट हो जाते हैं कि (विज्ञानैरुपकारं सम्पाद्य क्रतुभिरिष्टं साधयेत्) विज्ञानों द्वारा क्रतु में उपकार साहाय्य सिद्ध करके क्रतु से स्वर्गादि इष्ट को सिद्ध करे। इस प्रकार क्रतु में उपकारक भी इन विज्ञानों के जो स्वविधायक वाक्य में स्वतन्त्र फल का श्रवण है कि (जो विद्वान् इस ओंकार अक्षर की ही आप्ति आदि गुण वाला उद्गीथ रूप से उपासना करता है, वह यजमानों के कामों को पूर्ण प्राप्त कराने वाला होता है) इत्यादि, वह वर्तमान अपदेश

(वर्तमान काल का कथन) रूप होने से अपापश्लोक श्रवणादि के समान अर्थवाद (स्तुति) मात्र ही है, फल को प्रधान रूप से बोध कराने वाला नहीं है। इससे (जिसकी पर्णमयी जुहू होती है, वह पापश्लोक अपशब्द को नहीं सुनता है) इत्यादि क्रतु प्रकरण में अपठितों को भी जुहू द्वारा क्रतु में प्रवेश (सम्बन्ध) से जैसे प्रकरण पठितों के समान नित्यता होती है, पर्णता (पालासमयता) जैसे क्रतु का नित्य अंग होता है। इसी प्रकार उद्गीथादि द्वारा क्रतु सम्बद्ध उद्गीथादि उपासनाओं को भी नित्य अंगत्व होगा।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति। यान्येतान्युद्गीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानि 'रसतम आप्तिः समृद्धिर्मुख्यप्राण आदित्य' इत्येवमादीनि नैतानि नित्यवत्कर्मसु नियम्येरन्। कुतः? तद्दृष्टेः। तथाह्यनियतत्वमेवंजातीयकानां दर्शयति श्रुतिः—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १।१।१०) इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्यनुज्ञानात्। प्रस्तावादिदेवताविज्ञानविहीनानामपि प्रस्तोत्रादीनां याजनाध्यवसानदर्शनात् 'प्रस्तोतुर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि' (छा० १।१०।९) 'तां चेदविद्वानुद्गास्यसि' (छा० १।१०।१०) 'तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि' (छा० १।१०।११) इति च। अपि चैवंजातीयकस्य कर्मव्यपाश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमुपलभ्यते कर्मफलसिद्ध्यप्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशयविशेषः कश्चित् 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद, नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति। तत्र नाना त्विति विद्वदविद्वत्प्रयोगयोः पृथक्करणाद्वीर्यवत्तरमिति च तरप्प्रत्ययप्रयोगाद्विद्याविहीनमपि कर्म वीर्यवदिति गम्यते। तच्चानित्यत्वे विद्याया उपपद्यते, नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्यनुज्ञायेत। सर्वाङ्गोपसंहारे हि वीर्यवत्कर्मेति स्थितिः। तथा लोकसामादिषु प्रतिनियतानि प्रत्युपासनं फलानि शिष्यन्ते 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३) इत्येवमादीनि। नचेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रं युक्तं प्रतिपत्तुम्, तथाहि गुणवाद आपद्येत, फलोपदेशे तु मुख्यवादोपपत्तिः, प्रयाजादिषु त्वितिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य क्रतोः प्रकृतत्वात्तादर्थ्ये सति युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वम्। तथानारभ्याधीतेष्वपि पर्णमयीत्वादिषु, नहि पर्णमयीत्वादीनामक्रियात्मकानामाश्रयमन्तरेण फलसम्बन्धोऽवकल्पते। गोदोहनादीनां हि प्रकृताप्प्रणयनाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः। तथा बैल्वादीनामपि प्रकृतयूपाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः, नतु पर्णमयीत्वादिष्वेवंविधः कश्चिदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति। वाक्येनैव तु जुह्वाद्याश्रयतां विवक्षित्वा फलेऽपि विधिं विवक्षतो वाक्यभेदः स्यात्। उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्विशिष्टविधानोपपत्तेरुद्गीथाद्याश्रयाणां फले विधानं न विरुध्यते। तस्माद्यथा क्रत्वाश्रयाण्यपि

गोदोहनादीनि फलसंयोगादनित्यान्येवमुद्गीथाद्युपासनान्यपीति द्रष्टव्यम् । अत एव च कल्पसूत्रकारा नैवंजातीयकान्युपासनानि क्रतुषु कल्पयांचक्रुः ॥ ४२ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (तन्निर्धारणा नियमः) इत्यादि । उन उद्गीथादिकों को निर्धारणा (उपासना) का कर्मों में अनियम है । जो ये उद्गीथादि कर्मों के गुण (अङ्ग) रूप हैं, और उनका जो याथात्म्य (तात्त्विक स्वरूप) रसतम, फलाप्ति, कर्म-समृद्धि, मुख्य प्राण, आदित्य स्वरूप हैं । उनका जो निर्धारण (चिन्तन उपासनाएँ) हैं, वह नित्य अंगों के समान कर्मों में नियमित नहीं किये जा सकते हैं । किस हेतु से नहीं किये जा सकते, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि उस अनियम के देखने से नियमित नहीं किये जा सकते । जिससे इस प्रकार की उपासनाओं के अनियतत्व को श्रुति दर्शाती है कि (उस ओंकार अक्षर के द्वारा दोनों कर्म करते हैं कि जो इस अक्षर के रसतमादि स्वरूप को जानते हैं, और जो कर्ममात्र को जानने वाले रसतमत्वादि को नहीं जानते हैं) इस प्रकार अविद्वान् की भी कर्म विषयक अनुज्ञा अनुमति से अनियतत्व दर्शित होता है । प्रस्तावादि के देवताओं के विज्ञानों से रहित भी प्रस्तोता आदि के याजन (यज्ञ कराने) का अध्यवसाय (निश्चय) देखने से भी अनियम की सिद्धि होती है (हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्ताव भक्ति में अनुगत है, उस प्रस्ताव भक्ति की देवता को जाने बिना यदि मेरे सामने प्रस्ताव स्तुति करोगे तो तुम्हारा शिर गिर जायगा । उस देवता को जाने बिना यदि उद्गान करोगे, उस देवता को जाने बिना यदि प्रतिहरण करोगे) इत्यादि वचनों से चाक्रायण ऋषि ने ऋत्विजों का आपेक्ष किया है, इससे उपासना रहितों की भी कर्म में प्रवृत्ति सिद्ध होती है । दूसरी बात है कि इस प्रकार के कर्मांग सम्बन्धी उपासनाओं के कर्म फल से पृथक् ही जिससे फल उपलब्ध होता है, इससे इन्हें कर्मांगत्व नहीं है, इनका पृथक् यह फल है कि कर्म फल की सिद्धि में अप्रतिबन्ध (प्रतिबन्धक का अभाव) होना, अर्थात् कर्म की समृद्धि कोई अतिशय विशेष कर्म फल में होना उपासना का फल है । इससे उपासना के बिना भी सामान्य कर्म फल होता है । सो श्रुति कहती है कि (उस ओंकार से दोनों कर्म करते हैं कि जो इसको इस प्रकार जानते हैं, और जो इसको इस प्रकार नहीं जानते हैं । परन्तु विद्या और अविद्या नाना (भिन्न) हैं, जो विद्या श्रद्धा और उपनिषद्-उपासना से युक्त होकर कर्म करता है उसका वही कर्म अतिवली होता है) यहाँ (नाना तु) इस कथन से विद्वान् और अविद्वान् के प्रयोगों (कर्मों) को पृथक् करने से और वीर्यवत्तरम्, इस तरप् प्रत्यय के प्रयोग से विद्यारहित भी कर्म वली होता है । यह समझा जाता है । सो विद्या के अनित्यत्व होने पर उपपन्न होता है । विद्या के नित्यत्व होने पर तो विद्यारहित कर्म वीर्यवत्, वली होता है, ऐसी अनुज्ञा (अनुमति) कैसे की जाती । जिससे सब अंगों के उपसंहार (सम्बन्ध) होने पर कर्म वली होता है, ऐसी स्थिति (मर्यादा) है । इसी प्रकार लोकादि दृष्टि से सामादि की उपासनाओं

में प्रत्येक उपासनाओं में प्रतिनियत (भिन्न-भिन्न) फल उपदिष्ट होते हैं कि (इस विद्वान् के लिए भूमि से ऊपर और आवृत्त नीचे के लोक सब भोग देने के लिए समर्थ होते हैं) इत्यादि। यह फलश्रवण अर्थवाद मात्र है, ऐसा समझना युक्त नहीं है, जिससे उस प्रकार से अर्थवाद मानने पर गुणवाद (गौणवचन) प्राप्त होगा और फल का उपदेश रूप होने पर तो मुख्य (प्रधान) वाद की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। प्रयाजादि में तो इतिकर्तव्यता (कर्मप्रकार) की आकांक्षायुक्त क्रतु के प्रकृतत्व (प्रकरण) होने से क्रत्वर्थता के सिद्ध होने पर उनके फल श्रुति को अर्थवादत्वयुक्त है। अर्थात् (द' पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत—स्वर्ग की इच्छा वाला दर्शपूर्णमास से इष्ट को सिद्ध करे) इस अधिकार विधि से ऐसा बोध होने पर, कैसे करे ऐसी आकांक्षा होने पर प्रयाजादि से उपकार को सिद्ध करके दर्शादि से इष्ट को सिद्ध करे, इस प्रकार प्रयाजादि को प्रकरण से दर्शादि के अङ्गत्व सिद्ध होने पर फल श्रवण स्तुतिमात्र का बोधक होता है। इसी प्रकार अनारभ्याधीत पर्णमयीत्वादि में भी फल का श्रवण स्तुति-मात्र है, जिससे अक्रियात्मक पर्णमयीत्वादि को कोई आश्रय के बिना क्रिया के साथ सम्बन्ध के बिना फल का सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सकता है, जुहू द्वारा कर्माङ्गत्व की सिद्धि से फल श्रुति को अर्थवादत्व है। गोदोहनादि को तो प्रकृत अप का प्रणयनादि रूप आश्रय के लाभ से फलविधि उपपन्न होता हैं। इसी प्रकार बैल्वादि को भी प्रकृत यूपादि आश्रय के लाभ से फलविधि उपपन्न है (बैल्वमन्नाद्यकामस्य) इत्यादि फल-विधि सार्थक है। पर्णमयीत्वादि में इस प्रकार का कोई प्रकृत आश्रय नहीं है, कि जो निराकांक्ष हो। किन्तु शेषशेषी का साथ में उच्चारण रूप वाक्य से ही पर्णता को जुहू आदि आश्रयता की विवक्षा करके फल विषयक भी विधि की विवक्षा करने वाले को वाक्यभेद होगा। अर्थात् एक वाक्य से पर्ण को प्रकृति रूप से जुहू के साथ सम्बन्ध और फल के साथ सम्बन्ध के विधान में वाक्य भेद होगा, इससे फल श्रवण स्तुति-मात्र है, फलविधि नहीं है। उपासनाओं के तो क्रियात्मक होने से, फल विशिष्ट के विधान की उपपत्ति से, उद्गीथादि के आश्रित उपासनाओं के फल विषयक विधान (विधि) विरुद्ध नहीं होता है। इससे जैसे क्रतु के आश्रित भी गोदोहनादि स्वतन्त्र फल के संयोग से अनित्य हैं, इसी प्रकार फलवाली उद्गीथादि उपासनाएँ भी अनित्य हैं, ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार अनित्य होने से क्रतु के अङ्गत्व के अभाव से ही कल्पसूत्रकारों ने इस प्रकार की उपासनाओं की क्रतुओं में कल्पना नहीं की है ॥ ४२ ॥

प्रदानाधिकरण (२८)

एकीकृत्य पृथग्वा स्याद्वायुप्राणानुचिन्तनम्। तत्त्वाभेदात्तयोरेकीकरणेनानुचिन्तनम् ॥ १ ॥
अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममधिदैवं पृथक्श्रुतेः। प्रयोगभेदो राजादिगुणकेन्द्रप्रदानवत् ॥ २ ॥

जैसे इन्द्र देवता के एक होते भी राज-अधिराजादि गुण के भेद से गुण विशिष्ट देवता के भेद को मान कर, पुरोडाश के प्रदान का भेद होता है। वैसे ही वायु और

प्राण के स्वरूप के एक होते भी अवस्थाकृत भेद से एक उपासना में भी पृथक् रूप से चिन्तन होता है । वह कहा है कि (नाना वा देवता पृथग् ज्ञानात्—राजादि गुण के भेद से पृथक् ज्ञान होने से देवता नाना ही है)। यहाँ संशय है कि संवर्ग विद्या में वायु और प्राण को एक करके चिन्तन करना चाहिये अथवा पृथक् चिन्तन करना चाहिये । पूर्वपक्ष है कि उन दोनों के स्वरूप के अभिन्न होने से एक करके चिन्तन करना चाहिये । सिद्धान्त है कि अवस्था के भेद से अध्यात्म और अधिदैवत के पृथक् श्रवण होने से उपासना के एक होते भी प्रयोगचिन्तन का भेद होता है, जैसे कि राजा आदि गुण वाले एक इन्द्र के लिए पुरोडाश के प्रदान में भेद होता है ॥ १–२ ॥

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

वाजसनेयके—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १।५।२१) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः श्रेष्ठोऽवधारितोऽधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः। तथा छान्दोग्ये—'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४।३।१) इत्यत्राधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः संवर्गोऽवधारितः 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।२) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः। तत्र संशयः—किं पृथगेवेमौ वायुप्राणावुपगन्तव्यौ स्यातामपृथग्वेति। अपृथगेवेति तावत्प्राप्तं तत्त्वाभेदात्। नह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तनं न्याय्यम्। दर्शयति च श्रुतिरध्यात्ममधिदैवतं च तत्त्वाभेदम्—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्यारभ्य तथा 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ० १।५।१३) इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूतिमात्मभूतां दर्शयति। तथान्यत्रापि तत्र तत्राध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति। क्वचिच्च 'यः प्राणः स वायुः' इति विस्पष्टमेव वायुं प्राणं चैकं करोति। तथोदाहृतेऽपि वाजसनेयिब्राह्मणे 'यतश्चोदेति सूर्यः' (बृ० १।५।२३) इत्यस्मिन्नुपसंहारश्लोके 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' (बृ० १।५।२३) इति प्राणेनैवोपसंहरन्नेकत्वं दर्शयति। 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च' (बृ० १।५।२३) इति च प्राणव्रतेनैकेनोपसंहरन्नेतदेव द्रढयति। तथा छान्दोग्येऽपि परस्तात् 'महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जागार भुवनस्य गोपाः' (छा० ४।३।६) इत्येकमेव संवर्गं गमयति न ब्रवीत्येक एकेषां चतुर्णां संवर्गोऽपरोऽपरेषामिति। तस्मादपृथक्त्वमुपगमनस्येति।

वाजसनेयक में (मैं सदा बोलूंगी ही इस व्रत को वाक् ने धारण किया) यहाँ अध्यात्म वाक् आदि में श्रेष्ठ प्राण अवधारित (निश्चित) हुआ है । अधिदैवत अग्नि आदि में वायु श्रेष्ठ अवधारित हुआ है । इसी प्रकार छान्दोग्य में (वायु ही सबका संवर्जन संग्रहण संग्रसन करने वाला होने से संवर्ग है) यहाँ अधिदैवत अग्नि आदि में वायु संवर्ग अवधारित हुआ है और (प्राण ही संवर्ग है) यहाँ अध्यात्म वाक् आदि में प्राण संवर्ग अवधारित हुआ है, यहाँ संशय होता है कि इस वायु और प्राण को श्रेष्ठ और

संवर्ग-रूप से पृथक् अनुचिन्तनीय समझना चाहिए। अर्थात् पृथक् ये दोनों उपास्य होंगे अथवा अपृथक् रूप से उपास्य होंगे। यहाँ पूर्वपक्ष होता है कि तत्त्व के अभेद से अपृथक् ही उपास्य होंगे ऐसा प्राप्त होता है। जिससे अभिन्न तत्त्वविषयक पृथक् अनुचिन्तन न्याय्य नहीं है। श्रुति भी अध्यात्म और अधिदैवत तत्त्व के अभेद को दर्शाती है कि (वाक् के अभिमानी अग्नि देवता ने वाक् ही होकर मुख में प्रवेश किया) यहाँ से आरम्भ करके (वायु प्राण होकर नासिका में पैठा) इस प्रकार से अभेद दर्शाती है। इसी प्रकार (ये वाक्, मन और प्राण ये सभी तुल्य व्यापक हैं, इसीसे अनन्त हैं संसार के रहते इनका अभाव नहीं होता है) यह श्रुति आधिदैविक विभूति को आध्यात्मिक प्राणों के आत्मस्वरूप दर्शाती है, इसी प्रकार अन्यत्र भी तत्तत् स्थानों में अध्यात्म और अधिदैवत के तत्त्व के अभेद का दर्शन बहुधा होता है। कहीं (जो प्राण है सो वायु है) इस प्रकार विस्पष्ट ही वायु और प्राण को श्रुति एक करके उपदेश करती है। इसी प्रकार प्रथम उदाहृत वाजसनेयि ब्राह्मण में भी (जिस वायु से सूर्य उदित होता है) इस उपसंहार रूप श्लोक में (प्राण ही से यह सूर्य उदित होता है प्राण में अस्त होता है) इस प्रकार प्राण द्वारा उपसंहार करता हुआ वेद एकता को दर्शाता है। (इससे एक ही व्रत करे, प्राण का व्यापार करे और अपान का व्यापार करे) इस प्रकार एक प्राणव्रत से उपसंहार करता हुआ भी इसी प्राण और वायु के एकत्व को दृढ़ करते हैं। इसी प्रकार छान्दोग्य में भी आगे (अग्नि, सूर्य, चन्द्र,—और जल, तथा वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन, इन चार चार महात्माओं को एक (क—प्रजापति जागार, निगल गया) संहार किया, वही भुवनों का रक्षक है) यह वचन ऐसा नहीं कहता है कि, अग्नि आदि एक चारों का एक संवर्ग है और वाक् आदि दूसरे चारों का अन्य संवर्ग है। इससे अनुगमन (ध्यान, चिन्तन) को पृथक्त्व नहीं है।

एवं प्राप्तेः—पृथगेव वायुप्राणावुपगन्तव्याविति। कस्मात्? पृथगुपदेशात्। आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः सोऽसत्याध्यानपृथक्त्वेऽनर्थक एव स्यात्। ननूक्तं न पृथगनुचिन्तनं तत्त्वाभेदादिति। नैष दोषः। तत्त्वाभेदेऽप्यवस्थाभेदादुपदेशभेदवशेनानुचिन्तनभेदोपपत्तेः। श्लोकोपन्यासस्य च तत्त्वाभेदाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानस्य पूर्वोदितध्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात्। स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां वायुः' (बृ० १।५।२२) इति चोपमानोपमेयकरणात्। एतेन व्रतोपदेशो व्याख्यातः। 'एकमेव व्रतम्' (बृ० १।५।२३) इति चैवकारो वागादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्यर्थः। भग्नव्रतानि हि वागादीन्युक्तानि 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे' (बृ० १।५।२१) इति श्रुतेः, न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः 'अथातो व्रतमीमांसा' (बृ० १।५।२१) इति प्रस्तुत्य तुल्यवद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात्। 'एकमेव व्रतं चरेत्' इति चोक्त्वा 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति (बृ० १।५।२३) इति

(बृ० १।५।२३ इति वायुप्राप्तिं फलं ब्रुवन्वायुव्रतमनिर्वर्तितं दर्शयति। देवतेत्यत्र वायुः स्यादपरिच्छिन्नात्मकत्वस्य प्रेप्सितत्वात्, पुरस्तात्प्रयोगाच्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२) इति। तथा 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छा० ४।३।४) इति भेदेन व्यपदिशति। 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' (छा० ४।३।८) इति च भेदेनैवोपसंहरति। तस्मात्पृथगेवोपगमनम् प्रदानवत्, यथा 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे' इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ 'सर्वेषामभिगमयन्नवद्यत्यच्छं वट्कारम्' इति अतो वचनादिन्द्राभेदाच्च सहप्रदानाशङ्कायां,—राजादिगुणभेदाद्याज्यानुवाक्याव्यत्यासविधानाच्च यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात्प्रदानपृथक्त्वं भवति। एवं तत्त्वाभेदेऽप्याध्येयांशपृथक्त्वादाध्यानपृथक्त्वमित्यर्थः। तदुक्तं संकर्षे 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्' (जै० सू०) इति। तत्र तु द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेदो विद्यते नैवमिह विद्याभेदोऽस्ति। उपक्रमोपसंहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशेष्वेकविद्याविधानप्रतीतेः। विद्यैक्येऽपि त्वध्यात्माधिदैवभेदात्प्रवृत्तिभेदो भवति, अग्निहोत्र इव सायं-प्रातःकालभेदात्। इत्येतावदभिप्रेत्य प्रदानवदित्युक्तम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि वाक्य से वायु और प्राण को पृथक् ही ध्येय समझना चाहिये। क्योंकि पृथक् उपदेश से ऐसा ही सिद्ध होता है, जिससे आध्यान, चिन्तन के लिये ही अध्यात्म और अधिदैव के विभाग का उपदेश है, आध्यान के पृथक् नहीं होने पर वह उपदेश अनर्थक ही होगा। यदि कहो कि तत्त्व के अभेद होने से पृथक् अनुचिन्तन नहीं होता है, यह कहा जा चुका है। तो कहा जाता है कि भेद के चिन्तन में तत्त्व का अभेद होना, यह कोई दोष नहीं है। तत्त्व के अभेद होते भी अवस्था के भेद से उपदेश भेद के वश (बल) द्वारा अनुचिन्तन के भेद की उपपत्ति से दोष का अभाव है। भाव है कि तत्त्व एक है, वह उपास्य नहीं है, विशिष्ट वस्तु उपास्य है वह भिन्न ही है, इससे चिन्तन का भेद होता है। और (यतश्चोदेति सूर्यः) इस श्लोक में भी प्राण से सूर्य के उदय और अस्त का कथन तत्त्व के अभेद के अभिप्राय से सिद्ध होने से अवस्था भेदकृत पूर्वकथित ध्येय के भेद के निराकरण में उसके सामर्थ्य के अभाव से दोष नहीं है। (जैसे इन वाक् आदि प्राणों में मृत्यु से अप्राप्त मध्यम प्राण है, इसी प्रकार इन अग्नि आदि देवताओं में वायु मृत्यु से अप्राप्त है) इस प्रकार उपमान और उपमेय के करने से ध्येय का भेद है। इस श्लोक उपन्यास से ही तत्त्व के अभेद के अभिप्राय से व्रत का उपदेश भी व्याख्यात हो गया और (एकमेव व्रतम्) इस वचन में भी एवकार शब्द वाक् आदि के व्रतों की निवृत्ति के द्वारा प्राणव्रत की प्रतिपत्ति के लिये है, जिससे वाक् आदि भग्न (नष्ट) व्रत वाले कहे गये हैं कि (मृत्यु ने श्रमरूप हो कर उन का संग्रहण किया) इस श्रुति से इन्द्रियव्रत की निवृत्ति सिद्ध होती है, इससे वायु व्रत की निवृत्ति के लिए एवकार नहीं है, क्योंकि (इसके अनन्तर व्रत की

मीमांसा प्रवृत्त होती है) इस प्रकार आरम्भ करके वायु और प्राण के तुल्यतायुक्त अभग्न व्रतत्व को निर्धारितत्व हुआ है। (एक ही व्रत करे) ऐसा कह कर (उस व्रत के द्वारा इस वायु देवता के ही सायुज्य सरूपता को और सलोकता को प्राप्त करता है) यह वचन वायु की प्राप्तिरूप फल को कहता हुआ वायुव्रत को अनिर्वातित दर्शाता है, इस वचन में देवता इस पद में वायु अर्थ है, जिससे अपरिच्छिन्न स्वरूपता को प्रेप्सितत्व (प्राप्ति की इच्छा के विषयत्व) है। प्रथम प्रयोग भी है कि (सो यह अस्तरहित देवता है कि जो वायु है) इसी प्रकार (पूर्वोक्त ये दोनों ही संवर्ग हैं, वायु ही अग्नि आदि देवों में संवर्ग है, प्राण ही वाक् आदि प्राणों इन्द्रियों में संवर्ग है) इस प्रकार वायु और प्राण को यह वचन भेदपूर्वक निर्देश करता है। (जो अग्नि आदि वायु से ग्रसित होते हैं, जो वायु उनका ग्रास करता है ये पांच वाक् आदि से अन्य हैं। इसी प्रकार इनसे भिन्न वाक् आदि और प्राण ये पांच हैं, और दोनों मिलकर दश होकर कृत कहाते हैं) यह वचन भेद से ही उपसंहार करता है। इससे प्रदान के समान प्राण और वायु का पृथक् अनुचिन्तन होता है। जैसे कि (इन्द्र राजा के लिए एकादश कपाल में सिद्ध पुरोडाश होता है, अधिराजा इन्द्र के लिये होता है, और स्वराजा इन्द्र के लिए होता है) इस तीन पुरोडाश वाली इष्टि में, साथ पुरोडाश का प्रदान होता है, वा भेद से होता है, ऐसा संशय होने पर, पूर्वपक्ष है कि (अच्छं वट्कारम्—हवि की अव्यर्थता के लिए सब देवों के लिए साथ ही हवि का अवदान करना चाहिए) इस वचन से और इन्द्रदेव के अभेद से साथ ही हवि का प्रदान होना चाहिए, ऐसी आशंका होने पर सिद्धान्त है कि यद्यपि इन्द्र एक देव है, तथापि राज, अधिराज, स्वराजरूप गुण भेद से विशिष्ट देवता के भेद होने से, और याज्या तथा अनुवाक्या मन्त्रों के व्यत्यास के विधान से वचन के अनुसार ही देवता की पृथक्ता से प्रदान की पृथक्ता होती है। यज, ऐसा कहने पर जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसे (याज्या) कहते हैं, अनुब्रूहि, ऐसा कहने पर पढ़ा जाता है वह पुरोऽनुवाक्या कहाता है। यहाँ इस इष्टि में जो प्रथम पुरोडाश प्रदान में, (याज्या) रहता है, वह दूसरे प्रदान में, (पुरोनुवाक्या) होता है। जो प्रथम अनुवाक्या रहता है, वह फिर याज्या होता है, वह (व्यत्यासमन्वाह) इस श्रुति से विहित होता है। यदि एक बार तीनों पुरोडाश का प्रक्षेप हो तो यह व्यत्यास विधान निरर्थक होगा, इससे पृथक् प्रदान होता है। इसी प्रकार वायु प्राण तत्त्व के अभेद होते भी आध्येय अंश के पृथक् होने से आध्यान में पृथक्त्व होता है यह अर्थ है। वह संकर्षकाण्ड (देवकाण्ड) में कहा है कि (राजादि गुण के भेद से भेद ज्ञान होने से देवता नाना ही है) परन्तु इतना भेद है कि वहाँ द्रव्य और देवता के भेद से याग का भेद है, इस प्रकार यहाँ विद्या का भेद नहीं है। उपक्रम और उपसंहार से अध्यात्म अधिदैव उपदेशों में एक विद्या विधान की प्रतीति से विद्या की एकता है, और विद्या की एकता होते भी अध्यात्म अधिदैव के भेद से प्रयोग चिन्तनरूप प्रवृत्ति का भेद होता

है, जैसे कि सायंप्रातःकाल के भेद से अग्निहोत्र का भेद होता है। अवस्थाभेद से देवता भेद होता है तथा प्रयोग भेद होता है इतना ही अंश के अभिप्राय से प्रदानवत्, यह दृष्टान्त कहा गया है ॥ ४३ ॥

लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण (२९)

कर्मशेषाः स्वतन्त्रा वा मनश्चित्प्रमुखाग्नयः । कर्मशेषः प्रकरणाल्लिङ्गं त्वन्यार्थदर्शनम् ॥१॥
उन्नेयविधिगाल्लिङ्गादेव श्रुत्या च वाक्यतः । बाध्यं प्रकरणं तस्मात्स्वतन्त्रं वह्निचिन्तनम् ॥२॥

यद्यपि मनश्चिदादि नामक काल्पनिक अग्नियाँ कर्म प्रकरण में पढ़ी हुई हैं, तथापि लिङ्ग की अधिकता से स्वतन्त्र हैं, कर्माङ्ग नहीं हैं, जिससे प्रकरण से लिङ्ग बलीय होता है, वह पूर्वकाण्ड में कहा है। यहाँ संशय है कि मनश्चिदादि अग्नियाँ अग्निचयन प्रकरण में होने से कर्म के अङ्ग हैं वा स्वतन्त्र हैं। पूर्वपक्ष है कि प्रकरण से कर्माङ्ग हैं, यद्यपि स्वतन्त्रता का लिङ्ग है, वह प्रकरण से बली होता है, तथापि विधि वाक्यादिगत शब्द-सामर्थ्य रूप लिङ्ग बली होता है, और अर्थवादगत अन्यार्थदर्शन रूप लिङ्ग बली नहीं होता है, वह अन्य की स्तुतिमात्र के लिए रहता है, स्वतन्त्र नहीं, इससे उस लिङ्ग से प्रकरण का बाध नहीं होता है। सिद्धान्त है कि जहाँ प्रत्यक्ष विधिवाक्य नहीं रहता है, वहाँ अर्थवाद से ही विधि उन्नेय (अनुमेय) होता है। यहाँ भी लिङ्लोट आदि विधि का श्रवण नहीं है, इससे अर्थवाद से विधि की कल्पना होने से अर्थवाद विधि स्थानापन्न हो जाता है, इससे विधिगत लिंग से ही, तथा (ते हैते विद्याचित एव) इस श्रुति से और वाक्य से प्रकरण बाधित हो जाता है। इससे स्वतन्त्र वह्नि का चिन्तन कर्तव्य है ॥ १–२ ॥

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये—'नैव वा इदमग्र सदासीत्' इत्येतस्मिन् ब्राह्मणे मनोऽधिकृत्याधीयते 'तत्षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः' इत्यादि। तथैव 'वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः' इति पृथगग्नीनामनन्ति सांपादिकान्। तेषु संशयः—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूता उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका—इति।

वाजसनेयियों के अग्निरहस्य ग्रन्थ में (यह सब सत् प्रथम नहीं था न असत् ही था) इस ब्राह्मण ग्रन्थ में मन की सृष्टि को कहकर, फिर उस मन ने आत्मा को देखा, इस प्रकार दर्शनपूर्वक मन ही ने अग्नियों को देखा इस प्रकार मन को प्रस्तुत आरब्ध करके पढ़ते हैं कि (मन ने मन से सम्पादित मनश्चित् अतएव मनोमय मनोवृत्ति में सम्पादित अर्क, पूज्य छत्तीस हजार अपने सम्बन्धी अग्नियों को देखा) यहाँ मनुष्य के सौ वर्ष की आयु सम्बन्धी छत्तीस हजार दिन होते हैं, यद्यपि उन दिनों में मन की अनन्त

वृत्तियां होती हैं, तथापि दिन से परिमित वृत्तियों को छत्तीस हजार मान कर उनमें अग्निरूपता का दर्शन कहा गया है, इत्यादि। इसी प्रकार, वाक् ने वाक्चित् अग्नियों को देखा, प्राण (घ्राण) ने प्राणचित् को देखा। चक्षु ने चक्षुचित् को देखा, श्रोत्र ने श्रोत्रचित् को देखा, कर्मेन्द्रियों ने कर्मचित् को देखा। अग्नि (त्वक्) ने त्वक्चित् को देखा। इस प्रकार साम्पादिक (सम्पादन से सिद्ध) पृथक् अग्नियों का कथन करते हैं। वहाँ संशय है कि क्या ये अग्निचिदादि क्रिया में अनुप्रवेश वाले क्रतु के लिये और क्रतु (याग) के अङ्ग स्वरूप हैं, अथवा क्रियाङ्गता के बिना स्वतन्त्र केवल विद्यात्मक हैं।

तत्र प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत्प्रतिजानीते लिङ्गभूयस्त्वादिति। भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन्ब्राह्मणे केवलविद्यात्मकत्वमेषामुपोद्बलयन्ति दृश्यन्ते 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इति, 'तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति चैवंजातीयकानि। तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः। तदप्युक्तं पूर्वस्मिन्काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्य प्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३) इति ॥ ४४ ॥

वहाँ प्रकरण से क्रिया में अनुप्रवेश प्राप्त होने पर प्रथम स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा करते हैं कि लिङ्ग की अधिकता से ये स्वतन्त्र हैं। इस ब्राह्मण में बहुत ही लिङ्ग इनके केवल विद्यात्मकत्व को व्यक्त, सिद्ध करते हुए देखे जाते हैं। (वहाँ सब प्राणियों की मनोवृत्ति द्वारा मेरी ही अग्नियाँ सदा सम्पादित होती हैं। ऐसा ध्यान के दृढ़ होने पर सब प्राणी जो कुछ मन में संकल्प करते हैं, वह उन अग्नियों की ही कृति-करण है) एक लिंग यह है, क्योंकि क्रियांग की प्राणी के सङ्कल्प से सिद्धि नहीं देखी जाती है। (ऐसी उपासना वाला सोया हो वा जागा हो उसके इन अग्नियों का सम्पादन सदा सब प्राणी करते हैं) यह दूसरा लिंग है, जिससे नियतकालिक क्रियांग का सदा सबसे अनुष्ठेयत्व का असम्भव है। इस प्रकार के अन्य भी लिंग हैं, और वे लिंग प्रकरण से अति बली हैं, अतः पूर्वकांड में कहा है कि (श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या के समवाय में अर्थ की विप्रकर्षता से पर में दुर्बलता होती है) ॥ ४४ ॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥

नैतद्युक्तं–स्वतन्त्रा एतेऽग्नयोऽनन्यशेषभूता–इति, पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात्तद्विषय एवाय विकल्पविशेषोपदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः। ननु प्रकरणाल्लिङ्गं बलीयः। सत्यमेवमेतत्। लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न प्रकरणाद्बलीयो भवति, अन्यार्थदर्शनं ह्येतत्, सांपादिकाग्निप्रशंसारूपत्वात्। अन्यार्थदर्शनं चासत्यामन्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाप्युपपद्यमानं न प्रकरणं बाधितुमुत्सहते। तस्मात्सांपादिका अप्येतेऽग्नयः प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः। मानसवत्, यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजा-

पतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाम्नायन्ते। स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाकरणात्क्रियाशेष एव भवत्येवमयमप्यग्निकल्प इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

ये मनश्चिदादि अग्नियाँ स्वतन्त्र हैं अन्य के अङ्ग स्वरूप नहीं हैं, ऐसा जो कहा गया है वह युक्त नहीं है, जिससे (इष्टकाभिरग्निं चिनुते) ईंटों से अग्निचयन करे। इस प्रकार पूर्व क्रियामय अग्नि के प्रकरण होने से उस क्रियाविषयक ही यह विकल्पविशेष का उपदेश (संकल्पमयनामक प्रकारविशेष का उपदेश) होगा, स्वतन्त्र नहीं हो सकता है। यदि कहो कि प्रकरण से लिङ्ग बलीय होता है। तो यह कहना सत्य है कि विधि-वाक्यगत लिंग बलीय होता है। परन्तु इस प्रकार का लिङ्ग भी प्रकरण से बली नहीं होता है, जिससे यह अन्यार्थक लिंगदर्शन है। क्योंकि साम्पादिक (कल्पित) अग्नियों का प्रशंसारूपत्व इन लिङ्गों को है। अन्यार्थक दर्शन अन्य क्रियारूप प्राप्ति के नहीं रहने पर गुणवाद (प्रशंसा) रूप से भी उपपन्न होता हुआ प्रकरण को बाधने के लिए उत्साह नहीं करता है (समर्थ नहीं होता है) जिससे साम्पादिक भी ये अग्नियां प्रकरण से क्रिया में अनुप्रवेश (सम्बन्ध) वाली होंगी ही, जैसे कि मानसग्रहादि क्रियानुप्रवेशी होते हैं। जैसे दशरात्र क्रतु कर्म के दशम दिन में अविवाक्य (विविध वाक्यरहित दशमाह्न) में पृथिवी रूप पात्र द्वारा प्रजापति रूप देवता के लिए गृह्यमाण (गृहीत) समुद्र रूप सोमरस के पात्र का ग्रहण, और गृहीत पात्र के स्थान में स्थापन रूप आसादन, सोमरस का हवन, हुत से शेष का ग्रहण रूप आहरण, उस शेष का भक्षण के लिए अनुज्ञा, अनुमति रूप आह्वान और भक्षण ये सब मानस कहे जाते हैं। वह मानस भी ग्रह (सोमपात्र) का कल्प (प्रकार) ग्रहणादि, क्रिया के प्रकरण से क्रिया का अंग होता है। इसी प्रकार यह भी अग्नि का प्रकार विशेष प्रकरण से कर्म का अंग है, यह सूत्रार्थ है। मानस ग्रह की विधायक श्रुति है कि (अनया त्वा पात्रेण समुद्रं प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाति) इस भूमि रूप पात्र से तुम समुद्र रूप प्रजापति देवता वाले मन से कल्पित ग्रह-सोमरस को अध्वर्यु ग्रहण करता है ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

अतिदेशश्चैषामग्नीनां क्रियानुप्रवेशमुपोद्बलयति—'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तानान्यावानसौ पूर्वः' इति। सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तते। ततश्च पूर्वेणेष्टकाचितेन क्रियानुप्रवेशिनाऽग्निसांपादिकानग्नीनतिदिशन्क्रियानुप्रवेशमेषां द्योतयति ॥ ४६ ॥

अतिदेश भी इन मानस अग्नियों के क्रिया में अनुप्रवेश को व्यक्त सिद्ध करता है (छत्तीस हजार पूज्य अग्नियाँ हैं, उनमें एक-एक उतनी शक्ति वाली हैं कि जितनी शक्तिवाली पूर्व अग्नि है) यह अतिदेश है। समानता के रहते अतिदेश प्रवृत्त होता है। इससे ईंटों से चित (संपादित) क्रियानुप्रवेशी (कर्मसम्बन्धी) पूर्व अग्नि के साथ

साम्पादिक अग्नियों का अतिदेश करता हुआ (सादृश्य बोध कराता हुआ) वचन, इन साम्पादिकों के क्रिया में अनुप्रवेश का ही द्योतन (प्रकाशन) करता है ॥ ४६ ॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मनश्चिदादयोऽग्नयः स्युर्न क्रियाशेषभूताः। तथाहि निर्धारयति—'ते हैते विद्याचित एव' इति, विद्यया हैवैतं एवंविदश्चिता भवन्ति, इति च ॥ ४७ ॥

तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि ये मनश्चिदादि रूप अग्नियाँ विद्यात्मक स्वतन्त्र ही हो सकती हैं, क्रिया के अङ्गरूप नहीं हो सकती हैं। जिससे इसी प्रकार श्रुति निर्धारण (निश्चय) कराती है कि (वे अग्नियाँ इस प्रसिद्ध विद्याचित रूप ही हैं) इति (इस प्रकार उपासना करने वाले की विद्या से ही ये अग्नियाँ सम्पादित होती हैं) ॥ ४७ ॥

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

दृश्यते चैषां स्वातन्त्र्ये लिङ्गम्, तत्पुरस्ताद्दर्शितम् 'लिङ्गभूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।३।४४) इत्यत्र ॥ ४८ ॥

इनकी स्वतन्त्रता में लिंग दीखता है, यह प्रथम दर्शित कराया गया है (लिङ्गभूयस्त्वात्) इस सूत्र में। इससे श्रुति, लिंग और वाक्य से प्रकरण बाधित होता है ॥ ४८ ॥

ननु लिङ्गमप्यसत्यामन्यस्यां प्राप्तावसाधकं कस्यचिदर्थस्येत्यपास्य तत्करणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसितमिति, अत उत्तरं पठति—

यहाँ शंका होती है कि अन्य प्राप्ति के नहीं रहने पर लिंग भी किसी अर्थ का साधक नहीं होता है, इससे उस लिंग को त्याग कर प्रकरण के सामर्थ्य से प्रथम उक्त अग्नियों का क्रियाशेषत्व अध्यवसित (निश्चित) किया जा चुका है। इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

नैवं प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसाय स्वातन्त्र्यपक्षो बाधितव्यः, श्रुत्यादेर्बलीयस्त्वात्। बलीयांसि हि प्रकरणाच्छ्रुतिलिङ्गवाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्गसूत्रे। तानि चेह स्वातन्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यन्ते। कथम्? श्रुतिस्तावत् 'ते हैते विद्याचित एव' इति। तथा लिङ्गम् 'सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति। तथा वाक्यमपि 'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति। 'विद्याचिते एव' इति हि सावधारणेयं श्रुतिः क्रियानुप्रवेशेऽमीषामभ्युपगम्यमाने पीडिता स्यात्। नन्वबाह्यसाधनत्वाभिप्रायमिदमवधारणं भविष्यति। नेत्युच्यते। तदभिप्रायतायां हि विद्याचित इतीयता स्वरूपसंकीर्तनेनैव कृतत्वादनर्थकमवधारणं भवेत्, स्वरूपमेव ह्येषामबाह्यसाधनमिति।

अबाह्यसाधनत्वेऽपि तु मानसग्रहवत्क्रियानुप्रवेशशङ्कायां तन्निवृत्तिफलमवधारणमर्थवद्भविष्यति। तथा 'स्वपते जाग्रते चैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नींश्चिन्वन्ति' इति सातत्यदर्शनमेषां स्वातन्त्र्येऽवकल्पते। यथा सांपादिके वाक्प्राणमयेऽग्निहोत्र 'प्राणं तदा वाचि जुहोति—वाचं तदा प्राणे जुहोति' (कौ० २।५) इति चोक्त्वोच्यते—'एते अनन्ते अमृते आहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सततं जुहोति' (कौषी० २।५) इति, तद्वत्। क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याल्पकालत्वेन न सातत्येनैषां प्रयोगः कल्पेत। नचेदमर्थवादमात्रमिति न्याय्यम्। यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङादिरुपलभ्यते युक्तं तत्र संकीर्तनमात्रस्यार्थवादत्वम्। इह तु विस्पष्टविध्यन्तरानुपलब्धेः सङ्कीर्तनादेवैषां विज्ञानविधानं कल्पनीयम्, तच्च यथासङ्कीर्तनमेव कल्पयितुं शक्यत इति सातत्यदर्शनात्तथाभूतमेव कल्पते। ततश्च सामर्थ्यादेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः। एतेन 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इत्यादि व्याख्यातम्। तथा वाक्यमपि 'एवंविदे' इति पुरुषविशेषसम्बन्धमेवैषामाचक्षाणं न क्रतुसम्बन्धं मृष्यते। तस्मात्स्वातन्त्र्यपक्ष एव ज्यायानिति ॥ ४९ ॥

श्रुति आदि के अधिक बली होने से इस प्रकार प्रकरण-सामर्थ्य से क्रियाशेषत्व का निश्चय करके स्वतन्त्रतापक्ष बाध के योग्य नहीं है। जिससे श्रुति, लिङ्ग, और वाक्य प्रकरण से अधिक बल वाले हैं, यह श्रुति-लिङ्गादि सूत्र में स्थित (निश्चित) किया गया है। और वे श्रुति आदि प्रमाण यहाँ स्वतन्त्रता पक्ष को सिद्ध करते हुए दीखते हैं। कैसे दीखते हैं, यह कहा जाता है कि प्रथम तो श्रुति है कि (सो ये अग्नियाँ विद्याचित ही हैं) इसी प्रकार लिङ्ग है कि (सोते हुए उपासक के भी इन अग्नियों का चयन सदा सब प्राणी करते हैं) इसी प्रकार वाक्य भी है कि (ऐसे उपासक की ये अग्नियाँ विद्या से ही चित होती हैं) और (विद्याचित ही होती हैं) यह अवधारण सहित श्रुति इनके क्रिया में अनुप्रवेश मानने पर पीडित (बाधित) होगी। यदि कहा जाय कि यह अवधारण अबाह्य साधनत्व के अभिप्राय से हो सकता है कि बाह्य साधनों के बिना मन से ही इन अग्नियों का चयन होता है। तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं हो सकता है। जिससे अबाह्य-साधनत्व मात्र की अभिप्रायता होने पर, एवकार रहित, विद्याचित, इतना स्वरूप संकीर्तन से ही अबाह्य-साधनत्व के कृतत्व (सिद्धत्व) होने से अवधारण (एवकार) व्यर्थ ही होगा। जिससे इन अग्नियों का स्वरूप ही बाह्यसाधन रहित है। परन्तु बाह्य-साधनरहित होते भी मानसग्रह के समान क्रिया में अनुप्रवेश की शंका होने पर उसकी निवृत्ति रूप फलवाला अवधारण सार्थक होगा। इसी प्रकार (सोते-जागते सब अवस्था में ऐसे विद्वान् के लिए सदा सब प्राणी इन अग्नियों का चयन करते हैं) यह सातत्य (सदावर्तमानत्व) का दर्शन इन अग्नियों की स्वतन्त्रता में युक्त सिद्ध होता है। जैसे कि वाक्प्राणमय अग्निहोत्र में (उस ध्यान-काल में प्राण को वाक् में हवन करता है, और ध्यान-काल में वाक् को प्राण में हवन करता है) और ऐसा कहकर

कहा जाता है कि (ये दोनों आहुतियाँ अनन्त और अमृत हैं, जागता हुआ और सोता हुआ सदा हवन करता है) इसी के समान मनश्चिदादि को सातत्य और स्वतन्त्रता है। क्रिया में अनुप्रवेश होने पर तो क्रिया प्रयोग (अनुष्ठान) के अल्पकालिकत्व से इनका सातत्य (निरन्तररूप) से प्रयोग नहीं सिद्ध हो सकता है। यह लिंग अर्थवादमात्र है, ऐसा कहना न्याय्य नहीं है। जिससे जहाँ विस्पष्ट-विधायक लिङ् लोट् आदि उपलब्ध होते हैं, वहाँ संकीर्तन मात्र को अर्थवादत्व युक्त है। यहाँ तो विस्पष्ट अन्य विधि की उपलब्धि नहीं होने से संकीर्तन से ही इन अग्नियों के विज्ञान (उपासना) का विधान (विधि) कल्पनीय है। वह विधान संकीर्तन के अनुसार ही कल्पित हो सकता है, इस कारण से सातत्य (नित्यता) के दर्शन से वैसी ही विधि की कल्पना की जाती है, और उस सातत्य विधि के सामर्थ्य से इन अग्नियों की स्वतन्त्रता की सिद्धि होती है और इस विधित्व से ही (ये प्राणी जो कुछ मन से संकल्प करते हैं, वह उन अग्नियों की ही कृति है) इत्यादि वचन भी व्याख्यात हो गये, अर्थात् ये भी विधि के कल्पक हैं (सदा सब प्राणी मेरे लिए अग्नि का चयन करें, मनन करें, कृति करें, इत्यादि विधि का स्वरूप होता है)। इसी प्रकार वाक्य भी (एवंविदे) यह, इन अग्नियों के पुरुष के साथ सम्बन्ध को ही कहता हुआ क्रतु के साथ सम्बन्ध को नहीं सहता है। इससे स्वतन्त्रतापक्ष ही अतिश्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

इतश्च प्रकरणमुपमृद्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रतिपत्तव्यम्, यत्क्रियावयवान्मनआदिव्यापारेष्वनुबध्नाति 'ते मनसैवाधीयन्त मनसाचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवन्मनसाऽशंसन्यत्किञ्च यज्ञे कर्म क्रियेत यत्किञ्च यज्ञियं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेव क्रियते' इत्यादिना। संपत्फलो ह्ययमनुबन्धः, नच प्रत्यक्षाः क्रियावयवाः सन्तः सम्पदा लिप्सितव्याः। चात्रोद्गीथाद्युपासनवत्क्रियाङ्गसम्बन्धात्तदनुप्रवेशित्वमाशङ्कितव्यं श्रुतिवैरूप्यात्। नह्यत्र क्रियाङ्गं किञ्चिदादाय तस्मिन्नदो नामाध्यवसितव्यमिति वदति। षट्त्रिंशत्सहस्राणि तु मनोवृत्तिभेदानादाय तेष्वग्नित्वं ग्रहादींश्च कल्पयति पुरुषयज्ञादिवत्। संख्या चेयं पुरुषायुषस्याहःसु दृष्टा सती तत्सम्बन्धिनीषु मनोवृत्तिष्वारोप्यत इति द्रष्टव्यम्। एवमनुबन्धात्स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्। आदिशब्दादतिदेशाद्यपि यथासम्भवं योजयितव्यम्। तथाहि–'तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः' इति क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञानमयानामेकैकस्यातिदिशन्क्रियायामनादरं दर्शयति। नच सत्येव क्रियासम्बन्धे विकल्पः पूर्वेणोत्तरेषामिति शक्यं वक्तुम्। नहि येन व्यापारेणाहवनीयधारणादिना पूर्वः क्रियायामुपकरोति तेनोत्तरे उपकर्तुं शक्नुवन्ति। यत्तु–पूर्वपक्षेऽप्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तत–इति, तदस्मत्पक्षेऽप्य-

ग्नित्वसामान्येनातिदेशसम्भवादित्युक्तम्। अस्ति हि सांपादिकानामप्यग्नीनामग्नित्वमिति। श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि। एवमनुबन्धादिभ्यः कारणेभ्यः स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्, प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्। यथा प्रज्ञान्तराणि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि स्वेन स्वेनानुबध्यमानानि पृथगेव कर्मभ्यः प्रज्ञान्तरेभ्यश्च स्वतन्त्राणि भवन्त्येवमिति। दृष्टश्चावेष्टेः राजसूयप्रकरणपठितायाः प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानुबन्धाद्राजयज्ञत्वाच्च राजसूयस्य। तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्' (जै० सू० ११।४।७) इति ॥ ५० ॥

सम्पत् उपासना के लिये मन की वृत्तियों में क्रिया के अङ्गों की योजना (सम्बन्ध-चिन्तन) को यहाँ अनुबन्ध कहते हैं, उस अनुबन्ध से और पूर्वोक्त हेतुओं से अन्य विद्याओं की पृथक्ता के समान मनश्चिदादि को स्वतन्त्रता है। जैसे कि अवेष्टि का प्रकरण से उत्कर्ष (विभाग) देखा गया है वैसे ही इन अग्नियों का प्रकरण से विभाग होता है। वह पूर्व मीमांसा में कहा है। यह संक्षिप्त सूत्राक्षरार्थ है।

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी प्रकरण बुद्धि को नष्ट करके (प्रकरण की प्रधानता को त्याग कर) मनश्चिदादि की स्वतन्त्रता को समझना चाहिये। कि जिससे क्रिया के अवयवों को मन आदि के व्यापारों (वृत्तियों) में श्रुति अनुबन्ध (सम्बन्ध) करती है कि (उन अग्नियों का मन से ही आधान किया जाता है वा करे) मन से ही इंटों का चयन होता है वा कर्त्तव्य है। मन से ही ग्रह (पात्र) गृहीत होते हैं। उद्गाता मन से स्तुति करते हैं, होता मन से ही शंसन, कथन करते हैं। अन्य भी जो कुछ यज्ञ में कर्म किया जाता है, और जो यज्ञीय—यज्ञ के स्वरूप को सिद्ध करने वाला कर्म है वह सब उन मनोमय मनश्चितों में मन से ही मनोमय ही किये जाते हैं) इत्यादि वचनों से श्रुति अनुबन्ध करती है। यह अनुबन्ध सम्पत् फल वाला (उपासनार्थक) है, कर्मावयवों का मनोवृत्ति में सम्पादन कल्पना करके चिन्तन के लिये है। यहाँ क्रिया में सम्बन्ध होने पर प्रत्यक्ष क्रिया के अवयवों के रहते, वे क्रिया के अवयव सम्पत् के द्वारा कल्पना से लाभ की इच्छा के विषय नहीं हो सकते हैं। यदि कहा जाय कि मन की वृत्तियों में अग्नि के ध्यान को क्रिया के अङ्गत्व नहीं होने पर भी उद्गीथ के ध्यान के समान क्रिया के अङ्गरूप मन के आश्रितत्व होगा, तो कहा जाता है कि उद्गीथादि उपासना के समान क्रियाङ्ग के साथ सम्बन्ध से उस क्रिया में अनुप्रवेशित्व की आशङ्का श्रुति की विरूपता से नहीं करने योग्य है। जिससे मन खास क्रिया का अंग नहीं है, और किसी उक्थ समान विशेष क्रिया के अङ्ग को ग्रहण करके उसमें अमुक नाम वाले का अध्यवसाय (निश्चय) करना। इस प्रकार यहाँ श्रुति नहीं कहती है, किन्तु क्रिया के अनङ्गरूप छत्तीस हजार मन की वृत्ति भेदों का ग्रहण कर के, उन में अग्नित्व को और ग्रह आदि की कल्पना करती है। जैसे कि यज्ञ से भिन्न पुरुष में यज्ञत्व को

स्वतन्त्र कल्पना होती है, वैसे ही यह स्वतन्त्र कल्पना है। पुरुष की आयु सम्बन्धी दिनों में देखी गई हुई यह संख्या उन दिनों के सम्बन्धी मन की वृत्तियों में आरोपित की जाती है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार अनुबन्ध से मनश्चिदादि को स्वतन्त्रता है। सूत्रगत आदि शब्द से अतिदेशादि की भी सम्भव के अनुसार योजना करनी चाहिये। जिससे (उन मनश्चिदादि अग्नियों में एक एक की उतनी महिमा है, कि जितनी पूर्व अग्नि की है इस प्रकार क्रियामय अग्नि की महिमा का ज्ञानमय अग्नियों के एक-एक में अतिदेश करता हुआ वचन क्रिया में अनादर को दर्शाता है। यदि कहो कि अनादर का प्रदर्शन के लिए अतिदेश नहीं है किन्तु विकल्प के लिए है, तो कहा जाता है कि यहाँ विकल्प हो नहीं सकता है, तुल्योपकारक यव और व्रीहि में विकल्प होता है। यहाँ आहवनीय वस्तु के धारणादिरूप जिस व्यापार द्वारा इंटों से चित पूर्व अग्नि क्रिया में उपकार करती है, उस व्यापार के द्वारा उत्तर के मनश्चिदादि अग्नियाँ क्रिया में उपकार कर नहीं सकती हैं, इससे मनश्चिदादि का क्रिया में संबन्ध होने और रहने पर भी पूर्व अग्नि के साथ उत्तर अग्नियों का विकल्प नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् एक साध्य में निरपेक्ष दो साधनों को यव और व्रीहि के समान विकल्प होता है। यहाँ क्रिया रूप अग्नि और ध्यान रूप अग्नियों के साध्य (कार्य) के भेद होने से विकल्प नहीं हो सकता है। जो यह कहा था कि पूर्वपक्ष में अतिदेश उद्बोधक है, जिससे समानता के रहने पर अतिदेश प्रवृत्त होता है, इससे साम्पादिक अग्नियों में क्रियाङ्गत्व रूप सामान्यता से अतिदेश है। सो हमारे पक्ष में भी अग्नित्वरूप समानता से अतिदेश के सम्भव होने से प्रत्युक्त (निराकृत) है जिससे साम्पादिक अग्नियों का भी अग्नित्व सामान्य है। अपने पक्ष में श्रुति आदि रूप कारण (प्रमाण) दर्शाये गये हैं। इस प्रकार अनुबन्धादि (अनुबन्ध, श्रुति, लिङ्ग, और वाक्य) रूप कारणों से, प्रज्ञान्तर (ज्ञानान्तर) की पृथक्ता के समान मनश्चिदादि को भी स्वतन्त्रता है। जैसे प्रज्ञान्तररूप शाण्डिल्य विद्या आदि अपने-अपने अनुबन्ध (मुख्य विषय) में अनुबध्यमान (सम्बद्ध निरूपित) होकर कर्मों से और प्रज्ञान्तरों से पृथक् स्वतन्त्र ही होते हैं, इसी प्रकार अग्निचिदादि कर्म से पृथक् स्वतन्त्र हैं। इस अवस्था में मनश्चिदादि का कर्म प्रकरण से उत्कर्ष (उद्धार, विभाग) होगा। राजसूय प्रकरण में पठित, अवेष्टि नामक इष्टि का प्रकरण से उत्कर्ष देखा गया है। जिससे अवेष्टि का तीनों वर्ण के साथ सम्बन्ध है, और राजसूय को राजयज्ञत्व है, इससे अवेष्टि का उद्धार करना पड़ता है। यह प्रथमकाण्ड में कहा है कि (अवेष्टि का अनुष्ठान कहाँ होना चाहिये यदि कहा जाय कि राजसूय के प्रकरण में पढ़ी हुई है, इसलिए क्रतुरूपराजसूय के अन्तर्गत इष्टि में ही इसका अनुष्ठान होना चाहिए तो यह नहीं हो सकता है, क्योंकि अवेष्टि में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों का सम्बन्ध है। इससे राजसूय से बाह्य अन्नादि की इच्छा वाले तीन वर्णकर्तृक अवेष्टि समझना चाहिये) यह (एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्) इत्यादि वचन से विहित है ॥ ५० ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

यदुक्तं मानसवदिति तत्प्रत्युच्यते। न मानसग्रहसामान्यादपि मनश्चिदादीनां क्रियाशेषत्वं कल्प्यम्। पूर्वोक्तेभ्यः श्रुत्यादिहेतुभ्यः केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धेः। नहि किंचित्कस्यचित्केनचित्सामान्यं न संभवति। नच तावता यथास्वं वैषम्यं निवर्तते मृत्युवत्। यथा 'स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' इति 'अग्निर्वै मृत्युः' (बृ० ३।२।१०) इति चाग्न्यादित्यपुरुषयोः समानेऽपि मृत्युशब्दप्रयोगे नात्यन्तसाम्यापत्तिः। यथा च 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्' (छा० ५।४।१) इत्यत्र न समिदादिसामान्याल्लोकस्याग्निभावापत्तिस्तद्वत् ॥ ५१ ॥

जो यह भी कहा था कि मानसग्रह के समान मनश्चिदादि को मानसत्व होते क्रत्वर्थत्व होगा, उसके प्रति कहा जाता है कि मानस ग्रह की समानता से भी मनश्चिदादि के क्रियाशेषत्व कल्पना के योग्य नहीं हैं, जिससे पूर्वोक्त श्रुति आदि रूप हेतुओं से केवल पुरुषार्थत्व की उपलब्धि होती है, इससे मनश्चिदादि क्रतु के शेष (अङ्ग) हो नहीं सकते हैं। किसी को किसी के साथ कुछ भी सामान्य (तुल्यता) नहीं हो, ऐसा सम्भव नहीं है। सबको सबके साथ कुछ न कुछ समता रहती ही है, परन्तु उस समता से स्वस्वरूप के अनुसार मृत्यु के समान विषमता नहीं निवृत्त होती है। जैसे (वह यही मृत्यु है, जो यह इस मण्डल में पुरुष है) यह, और (अग्नि ही मृत्यु है) यह, वचनों से अग्नि आदित्य पुरुष में मृत्यु शब्द के प्रयोग के तुल्य होते भी, अत्यन्त तुल्यता की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे (हे गौतम ! वह द्युलोक ही अग्नि है, और उसके आदित्य ही समित् हैं) यहाँ समिदादि की समानता से लोक को अग्निभाव (अग्निरूपता) की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही ग्रह और मनश्चिदादि अग्नियों में मानसत्व के तुल्य होते भी कर्म-सम्बन्धित्व और असम्बन्धित्व रूप विषमता नहीं निवृत्त होती है ॥ क्रतु अर्थत्व, पुरुष अर्थत्व रूप विषमता रहते भी मानत्व दोनों में तुल्य है, यह भाव है ॥ ५१ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

परस्तादपि 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' इत्येतस्मिन्ननन्तरे ब्राह्मणे ताद्विध्यं केवलविद्याविधित्वं शब्दस्य प्रयोजनं लक्ष्यते न शुद्धकर्माङ्गविधित्वम्। तत्र हि—

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः॥

इत्यनेन श्लोकेन केवलं कर्म निन्दन् विद्यां च प्रशंसन्निदं गमयति तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यस्मिन्ब्राह्मणे विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते 'सोऽमृतो भवति मृत्युर्यस्यात्मा भवति' इति विद्याफलेनैवोपसंहारान्न

कर्मप्रधानता तत्सामान्यादिहापि तथात्वम् । भूयांसस्त्वग्न्यवयवाः संपादयितव्या विद्यायामित्येतस्मात्कारणादग्निनानुबध्यते विद्या न कर्माङ्गत्वात् । अस्मान्मनश्चिदादीनां केवलविद्यात्मकत्वसिद्धिः ॥ ५२ ॥

पूर्व और उत्तर ब्राह्मण में स्वतन्त्र विद्या के विधान से मध्यगत इस अग्निचिद् ब्राह्मण में भी स्वतन्त्र विद्या का विधान है, इस आशय से कहते हैं कि परस्तात्, आगे भी (यही लोक यह अग्नि चित–साम्पादिताग्नि है) इस अनन्तर ब्राह्मण में केवल विद्या का विधित्व रूप तद्विधिता शब्द का प्रयोजन लक्षित (दृष्टिगत) होता है, और शुद्ध कर्म का अंग-विधित्व (उपासना रहित कर्माङ्ग-विधित्व) नहीं लक्षित होता है, जिससे वहाँ पर (जहाँ काम परागत, परावृत्त होते हैं । काम-क्रोधादि दोष जहाँ नहीं हैं, उस ब्रह्मलोक रूप स्थान को विद्या से प्राप्त करते हैं और वहाँ केवल कर्मी वा विद्या रहित तपस्वी नहीं जाते हैं) इस श्लोक से केवल कर्म की निन्दा करके विद्या की प्रशंसा करता हुआ यह ब्राह्मण विद्या की प्रधानता को समझाता है। इसी प्रकार पूर्व में भी (जो यह मण्डल तपता है) इस ब्राह्मण में विद्या की ही प्रधानता लक्षित होती है (वह अमृत होता है मृत्यु जिसका आत्मा होता है) इस प्रकार विद्या के फल द्वारा ही उपसंहार से कर्म-प्रधानता नहीं है, उस पूर्वोत्तर ब्राह्मण की समानता से इस मध्यगत ब्राह्मण में भी कर्म की प्रधानता नहीं है । किन्तु विद्या की प्रधानता है । इस प्रकार विद्या की प्रधानता होते भी इसका क्रियाग्नि के साथ पाठ में यह कारण है कि अग्नि के बहुत अवयव विद्या में सम्पादनीय (कल्पनीय) होते हैं, इस कारण से विद्या अग्नि के साथ अनुबद्ध (सम्बद्ध, पठित) होती है, कर्माङ्गत्व से नहीं । इससे मनश्चिदादि को केवल विद्यात्मकत्व की सिद्धि होती है ॥ ५२ ॥

ऐकात्म्याधिकरणम् (३०)

आत्मा देहस्तदन्यो वा चैतन्यं मदशक्तिवत् । भूतमेलनजं देहे नान्यत्रात्मा वपुस्ततः ॥
भूतोपलब्धिर्भूतेभ्यो विभिन्ना विषयित्वतः । सैवात्मा भौतिकाद्देहादन्योऽसौ परलोकभाक् ॥

(एके)–एक चार्वाकानुयायी कहते हैं कि (शरीरे सति) शरीर के रहते, (आत्मनः, जीवात्मनः चैतन्यस्य) जीवात्मा रूप चेतनता के, (भावात्) सत्त्व से–रहने से शरीर आत्मा है, शरीर से अतिरिक्त स्वर्गापवर्ग का भागी जीवात्मा नहीं है, इससे स्वर्गापवर्गार्थक कर्म विद्या का विचार व्यर्थ है ॥ यहाँ संशय है कि देह आत्मा है वा इससे अन्य है, पूर्वपक्ष है कि गुड-महुआ आदि के मिलने से मदशक्ति के समान भूतों के संमेलन से जन्य देह में चैतन्य होता है, जिससे देह से अन्य आत्मा नहीं है, किन्तु वपु (देह) आत्मा है । सिद्धान्त है कि विषयी (प्रकाशक) होने के कारण भूतात्मक देह की उपलब्धि (ज्ञान) देह से पृथक् है, घट से भिन्न दीपक घट को प्रकाशता है, घट ही घट को नहीं प्रकाशता है, वैसे ही देह ही देह को नहीं जानता

है, किन्तु देह से भिन्न आत्मा देह को जानता है, और दीप के समान स्वयं प्रकाश है, इससे वही आत्मा भौतिक देह से अन्य है, वह परलोक का भागी है, इससे कर्मादि का विचार ठीक सार्थक है ॥ १-२ ॥

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

ईह देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः समर्थ्यते बन्धमोक्षाधिकारसिद्धये। नह्यसति देहव्यतिरिक्तात्मनि परलोकफलाश्चोदना उपपद्येरन्कस्य वा ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्येत। ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुक्तम्। सत्यमुक्तं भाष्यकृता नतु तत्रात्मास्तित्वे सूत्रमस्ति। इह तु स्वयमेव सूत्रकृता तदस्तित्वमाक्षेपपुरःसरं प्रतिष्ठापितम्। इत एव चाकृष्याचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः। इह चेदं चोदनालक्षणेषूपासनेषु विचार्यमाणेष्वात्मास्तित्वं विचार्यते कृत्स्नशास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय। अपिच पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रकरणोत्कर्षाभ्युपगमेन मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वं वर्णितं, कोऽसौ पुरुषो यदर्था एते मनश्चिदादय इत्यस्यां प्रसक्ताविदं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुच्यते। तदस्तित्वाक्षेपार्थं चेदमादिमं सूत्रम्। आक्षेपपूर्विका हि परिहारोक्तिर्विवक्षितेऽर्थे स्थूणानिखननन्यायेन दृढां बुद्धिमुत्पादयेदिति। अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावं मन्यमानाः समस्तव्यस्तेषु वाह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यं शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति संभावयन्तस्तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवद्विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति चाहुः। न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय वा समर्थो देहव्यतिरिक्त आत्मास्ति यत्कृतं चैतन्यं देहे स्यात्, देह एव तु चेतनश्चात्मा चेति प्रतिजानते, हेतुं चाचक्षते शरीरे भावादिति। यद्धि यस्मिन्सति भवत्यसति च न भवति तत्तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते यथाऽग्निधर्मावौष्ण्यप्रकाशौ। प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादयश्चात्मधर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिनां, तेऽप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना वहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरेके धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति। तस्मादव्यतिरेको देहादात्मन इति ॥ ५३ ॥

यहाँ इस अधिकरण में बन्ध और मोक्ष के अधिकार (कर्मोपासनादि) की सिद्धि के लिए देह से अतिरिक्त (भिन्न) आत्मा के सद्भाव (सत्ता) का समर्थन (प्रतिपादन) किया जाता है। जिससे देह से भिन्न आत्मा के नहीं रहने पर परलोक रूप फलवाली विधियाँ सब नहीं उपपन्न हो सकती हैं, अथवा देह-भिन्न आत्मा के नहीं रहने पर किसको ब्रह्मात्मत्व (ब्रह्मस्वरूपता) का उपदेश दिया जायगा। यहाँ पुनरुक्ति की

शंका होती है कि पूर्वमीमांसा शास्त्र के आरम्भ में ही प्रथम पाद में शास्त्रोक्त फलों के उपभोग के योग्य देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व (सत्त्व) कहा गया है। उत्तर है कि सत्य ही कहा गया है, परन्तु भाष्यकार ने देह से अतिरिक्त आत्मा का कथन किया है, आत्मा के अस्तित्व-विषयक (अस्तित्व का प्रतिपादक) सूत्र वहाँ नहीं है। यहाँ तो स्वयं सूत्रकार ने ही उस देह से अतिरिक्त आत्मा का आक्षेपपूर्वक उसके अस्ति का प्रस्थापन (निरूपण) किया है। यहाँ ही से आकर्षण करके आचार्य शबर-स्वामी (भाष्यकार) ने प्रमाण लक्षण (अध्याय) में देहातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का वर्णन किया है। अतएव, वहाँ सूत्र के अभाव से, और यहाँ सूत्रकार ने निरूपण किया है इसीसे पूर्वमीमांसा में आत्मा के अस्तित्व के कथन के प्रसंग के आने पर, भगवान् उपवर्ष ने कहा है कि इस विषय को शारीरक में कहेंगे, और ऐसा कह कर उद्धार (उपरमनिवृत्ति) किया। यहाँ आत्मास्तित्व में सम्पूर्ण शास्त्र के शेषत्व का प्रदर्शन के लिए चोदना (विधि) रूप लक्षण (प्रमाण चिह्न) वाले उपासनों के विचारित होने पर आत्मास्तित्व का विचार किया जाता है। दूसरी बात है कि पूर्व अधिकरण में क्रतु प्रकरण से उपासना के उत्कर्ष को मान कर मनश्चिदादि का पुरुषार्थत्व वर्णित हुआ है। वहाँ कौन वह पुरुष है कि जिसके लिए ये मनश्चिदादि हैं, ऐसी प्रसक्ति आकांक्षा होने पर, यह देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व कहा जाता है। उस अस्तित्व के आक्षेप के लिए यह प्रथम सूत्र है। यह इसलिए है कि आक्षेपपूर्वक परिहार कथन, स्थूणानिखनन न्याय से विवक्षित अर्थविषयक दृढ़ बुद्धि को उत्पन्न करेगा ॥ यहाँ कोई देहमात्र को आत्मा समझने वाले लोकायतिक (चार्वाक) देह से भिन्न आत्मा के अभाव को मानते हुए समस्त वा व्यस्त पृथ्वी आदि बाह्य पदार्थों में अदृष्ट चैतन्य को भी शरीराकार से परिणत भूतों में चैतन्य हो सकता है, ऐसी सम्भावना करते हुए और मदशक्ति के समान उन भूतों से ही संघातजन्य चैतन्य रूप विज्ञान होता है, और चैतन्ययुक्त काय (देह) पुरुष (आत्मा) है इस प्रकार कहते हैं। स्वर्ग में गमन के लिए वा अपवर्ग की गति-प्राप्ति के लिए समर्थ देह से भिन्न आत्मा नहीं है कि जिसका किया हुआ देह में चैतन्य होगा, देह ही तो चेतन है और आत्मा है, ऐसी प्रतिज्ञा वे लोग करते हैं। उस प्रतिज्ञा में, शरीरे भावात्, यह हेतु कहते हैं, जिससे जो जिसके रहते रहता है, जिसके नहीं रहने पर जिसका अभाव होता है, वह उसके धर्म रूप से अध्यवसित (निश्चित) किया जाता है। जैसे कि अग्नि के धर्म रूप उष्णता और प्रकाश निश्चित होते हैं। आत्मवादियों के आत्मा के धर्म रूप से माने गये जो प्राण, चेष्टा, चैतन्य, स्मृति आदि हैं, वे भी देह के अन्दर ही उपलभ्यमान (प्रत्यक्ष अनुभूत) होते हुए और बाहर अनुपलभ्यमान होते हुए, देह से भिन्न धर्मी के असिद्ध रहते देह के धर्म ही होने के योग्य हैं। जिससे देह से आत्मा को अव्यतिरेक (अभेद) है, अर्थात् देह ही आत्मा है ॥ ५३ ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

नत्वेतदस्ति यदुक्तमव्यतिरेको देहादात्मन इति। व्यतिरेक एवास्य देहाद्भवितुमर्हति तद्भावाभावित्वात्। यदि देहभावे भावाद्देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत ततो देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत, देहधर्मवैलक्षण्यात्। ये हि देहधर्मा रूपादयस्ते यावद्देहं भवन्ति। प्राणचेष्टादयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थायां न भवन्ति। देहधर्माश्च रूपादयः परैरप्युपलभ्यन्ते न त्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृत्यादयः। अपिच सति हि तावद्देहे जीवदवस्थायामेषां भावः शक्यते निश्चेतुं न त्वसत्यभावः, पतितेऽपि कदाचिदस्मिन्देहे देहान्तरसंचारेणात्मधर्मा अनुवर्तेरन्। संशयमात्रेणापि परपक्षः प्रतिषिध्यते, किमात्मकं च पुनरिदं चैतन्यं मन्यते यस्य भूतेभ्य उत्पत्तिमिच्छतीति परः पर्यनुयोक्तव्यः। नहि भूतचतुष्टयव्यतिरेकेण लोकायतिकः किञ्चित्तत्त्वं प्रत्येति। यदनुभवनं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमिति चेत्। तर्हि विषयत्वात्तेषां न तद्धर्मत्वमश्नुवीत स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, नह्यग्निरुष्णः सन् स्वात्मानं दहति, नहि नटः शिक्षितः सन्स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति, नहि भूतभौतिकधर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन्, नहि रूपादिभिः स्वं रूपं पररूपं वा विषयीक्रियते। विषयीक्रियन्ते तु बाह्याध्यात्मिकानि भूतभौतिकानि चैतन्येन। अतश्च यथैवास्या भूतभौतिकविषयाया उपलब्धेर्भावोऽभ्युपगम्यते एवं व्यतिरेकोऽप्यस्यास्तेभ्योऽभ्युपगन्तव्यः। 'उपलब्धिस्वरूप एव च नः आत्मे'त्यात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वम्, नित्यत्वं चोपलब्धेरैकरूप्यात्, अहमिदमद्राक्षमिति चावस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धृत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्, स्मृत्याद्युपपत्तेश्च। यत्तूक्तं—शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिः—इति, तद्वर्णितेन प्रकारेण प्रत्युक्तम्। अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति। नचैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति। एवं सति देहे उपलब्धिर्भवत्यसति च न भवतीति न देहधर्मो भवितुमर्हति, उपकरणत्वमात्रेणापि प्रदीपादिवद् देहोपयोगोपपत्तेः। न चात्यन्तं देहस्योपलब्धावुपयोगोऽपि दृश्यते निश्चेष्टेऽप्यस्मिन्देहे स्वप्ने नानाविधोपलब्धिदर्शनात्। तस्मादनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वम् ॥ ५४ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अन्वय और व्यतिरेक से चैतन्य को देह का धर्म मान कर देह से आत्मा को पूर्वपक्षी ने अभिन्न कहा है, यहाँ अन्वय और व्यतिरेक की असिद्धि को दर्शाते हुए, देह से आत्मभेद को दर्शाते हुए, देह की उपलब्धि (ज्ञान) के समान अन्य ज्ञानादि में भी देह-धर्मत्व के अभाव को दर्शाते हैं कि जो देह से अव्यतिरेक (अभेद) को कहा है, यह तो नहीं है, इस आत्मा का देह से व्यतिरेक (भेद) ही होने योग्य है, क्योंकि

उस देह के भाव (सत्ता) रहते भी आत्मा के चैतन्यादि धर्मों का मृतक दशा में अभाव रहता है, इससे अन्वय का अभाव है। यदि जीवन काल में देह के रहते चैतन्यादि के रहने से चैतन्यादि देह के धर्म माने जायें, उन्हें तुम देह के धर्म मानो। तो देह के रहते भी उन चैतन्यादि के अभाव से, इन चैतन्यादि को देह-धर्मत्व का अभाव क्यों नहीं माना जायगा, वा तुम क्यों नहीं मानोगे। देहधर्म-विलक्षणता से ऐसा मानना होगा। जिससे जो रूपगन्धादि देह के धर्मविशेष हैं, वह जबतक देह रहती है तबतक रहते हैं। प्राण-चेष्टादि तो मृतक अवस्था में देह के रहते भी नहीं रहते हैं। देह के धर्मरूपादि अन्य से भी उपलब्ध होते हैं, अन्य लोग भी देह के धर्मों को जानते हैं। और आत्मा के चैतन्य-स्मृति आदि अन्य से नहीं उपलब्ध होते हैं। दूसरी बात है कि जीवन अवस्था में देह के रहते इन चैतन्यादि के भाव का निश्चय कर सकते हैं, परन्तु देह की अभाव दशा में उनके अभाव का निश्चय नहीं कर सकते हैं। कभी सामने इस देह के पतित, नष्ट होनें पर भी देहान्तर में संचार (गमन) के द्वारा आत्मा के धर्म अनुवर्तमान रहेंगे, अर्थात् व्यतिरेक सन्दिग्ध है, मरने पर अज्ञ की अनुपलब्धि से आत्मा की वा उसके धर्मों के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। संशय मात्र से भी परपक्ष का प्रतिषेध किया जाता है, अर्थात् संचार द्वारा आत्म-धर्म की वर्तमानता का निश्चय नहीं होते भी व्यतिरेक का निश्चय भी नहीं हो सकता है। वह देहात्मवादी किमात्मक किस स्वरूप वाला इस चैतन्य को मानता है। अर्थात् भूतों से अतिरिक्त मानता है, वा भूतों के गुण मानता है, कि जिसकी भूतों से उत्पत्ति चाहता है और मानता है, इस प्रकार वह वादी प्रर्यनुयोक्तव्य (प्रश्नार्ह) है। यहाँ चार भूत से अतिरिक्त रूप से किसी तत्त्व को तो लोकायतिक मानता नहीं है। यदि कहें कि जो भूत भौतिक पदार्थों का अनुभव है वह चैतन्य है, तो उन भूत भौतिकों को चैतन्य (अनुभव) के विषय होने से, उन भूतात्मक देह के धर्मत्व को वह चैतन्य नहीं प्राप्त कर सकता है, जिससे स्वात्मा में स्वक्रियाविषयत्व का विरोध होता है। अर्थात् भूतात्मक देह ही जानने वाला विषयी प्रकाशक हो, और वही विषय हो प्रकाशा जाय, यह विरुद्ध है। जिससे अग्नि उष्ण होती हुई अपने को नहीं जलाती है। नट शिक्षित होता हुआ भी अपने कन्धे पर नहीं चढ़ता है। इसी प्रकार भूत भौतिक के धर्म होते हुए चैतन्य से भूत भौतिक विषय (प्रकाशित) नहीं किये जा सकेंगे। जिससे भूत भौतिक के धर्म रूपादि से अपना रूप वा अन्य का रूप विषय नहीं किया जाता है। चैतन्य से तो बाह्य और आध्यात्मिक भूत भौतिक विषय विषय किये जाते हैं। इससे ही जैसे इस भूत भौतिक विषय वाली उपलब्धि का भाव (सत्त्व) माना जाता है, इसी प्रकार इसका भूत भौतिकों से व्यतिरेक (भेद) भी मानना चाहिये। उपलब्धि स्वरूप ही हमारा अभीष्ट आत्मा है, इससे आत्मा को देह से भिन्नता है, और सर्वत्र एक स्फुरण-रूपता से उपलब्धि को नित्यता है। मैंने इसको देखा था, इस प्रकार देह के अवस्थान्तर के योग होने पर भी उपलब्धा

(ज्ञाता) रूप से प्रत्यभिज्ञा होने से, और स्मृति आदि की उपपत्ति से भी देह से भिन्न उपलब्धि रूप आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है। जो यह कहा था कि शरीर में होने से शरीर के रहते होने से शरीर का धर्म उपलब्धि है, वह वर्णित रीति से प्रत्युक्त (निराकृत) हुआ और दीपक आदि उपकरण (साधन) के रहते उपलब्धि होती है, नहीं रहते नहीं होती है, परन्तु इससे प्रदीपादि का धर्म ही उपलब्ध नहीं होता है, इसी प्रकार उपकरण मात्र से भी प्रदीपादि के समान देह के उपयोग (फल) की उपपत्ति से देह के रहते उपलब्धि होती है, देह के नहीं रहने पर नहीं होती है। इससे देह का धर्म नहीं होने योग्य है। देह के चेष्टारहित होते भी स्वप्न में नाना प्रकार की उपलब्धि को देखने से देह का उपलब्धि में अत्यन्त उपयोग भी नहीं देखा जाता है। जिससे देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व निर्दोष है ॥ ५४ ॥

अङ्गावबद्धाधिकरणम् (३१)

उक्थादिधीः स्वशाखाङ्गेष्वेवान्यत्रापि वा भवेत्। सांनिध्यात्स्वस्वशाखाङ्गेष्वेवासौव्यवतिष्ठते॥
उक्थोद्गीथादिसामान्यं तत्तच्छब्दैः प्रतीयते। श्रुत्या च संनिधेर्बाधस्ततोऽन्यत्रापि यात्यसौ॥

कर्माङ्ग रूप उक्थ-उदगीथ आदि के आश्रित उपासनायें प्रत्येक वेद में अपनी-अपनी शाखा में वर्तमान उदगीथादिविषयक ही नहीं होती हैं, किन्तु शाखान्तरवर्ती उक्थादि-विषयक भी होती हैं। जिससे 'उदगीथमुपासीत' इत्यादि श्रुति सामान्य अर्थ को बोध कराती है। हि शब्द श्रुतिरूप हेतु का बोधक है, और तु शब्द सान्निध्यनिमित्तक पूर्वपक्ष का वारक है। संशय है कि उक्थादि की बुद्धि (उपासना) अपनी शाखा के अङ्ग अवयव रूप उक्थादिविषयक ही होगी अथवा अन्यत्र (अन्यविषयक) भी होगी। पूर्वपक्ष है कि अपने लिये अपनी शाखागत उक्थादि सन्निहित होते हैं, अन्य शाखागत दूर होते हैं, इससे सान्निध्य (समीपता) से वह उपासना अपनी-अपनी शाखाओं के अङ्गों में (अङ्गविषयक) ही व्यवस्थित है सिद्धान्त है कि (उक्थमुपासीत) इत्यादि विधि आदि गत उक्थादि तत्तत् शब्दों से शाखादि कृत भेदरहित उक्थादि सामान्य अर्थ प्रतीत होते है। श्रुति सन्निधि रूप स्थान का बोध होता है, इससे वह बुद्धि अन्यत्र भी प्राप्त होती है ॥ १–२ ॥

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा, संप्रति तु प्रकृतामेवानुवर्तामहे—'ओमित्येतद-क्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१), 'उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थम्', 'इयमेव पृथिवी', 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' इत्येवमाद्या य उद्गीथादिकर्माङ्गावबद्धाः प्रत्ययाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विहितास्ते तत्तच्छाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु भवेयुर-थवा सर्वशाखागतेष्विति विशयः॥ प्रतिशाखं च स्वरादिभेदादुद्गीथादिभेदा-नुपादायायमुपन्यासः। किं तावत्प्राप्तम्। स्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु विधीयेरन्निति। कुतः? संनिधानात्। 'उद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इति

हि सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां संनिकृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाकाङ्क्षादिनिवृत्तेः, तदतिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणं नास्ति, तस्मात्प्रतिशाखं व्यवस्थेति।

प्रासङ्गिकी कथा समाप्त हो गई। अब इस समय प्रकृत अंगोपसंहार कथा का ही अनुसरण करते हैं कि ('ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे' और 'पृथिवी आदि रूप लोकों में हिंकारादि रूप पाँच प्रकार के साम की उपासना करे' 'हिंकारादि को पृथिवी आदि रूप से चिन्तन करे' 'उक्थ उक्थ प्रजाएँ कहती हैं, वह उक्थ यही है', 'जो यह पृथिवी है वही उक्थ है अर्थात् उक्थ नामक शस्त्र में पृथिवी दृष्टि करे' और 'यह ईंटों से चित जो अग्नि है, यही लोक है, इष्टकाचित अग्नि में लोक दृष्टि करे') इत्यादि जो उद्गीथादि कर्माङ्गों के साथ सम्बन्ध वाली उपासनायें प्रत्येक वेद के शाखा-भेदों में विहित हैं, वे उपासनायें तत्तत् शाखागत उक्थादिविषयक होंगी, अथवा सर्व शाखागत-विषयक होंगी। यह संशय है। यदि कहा जाय कि उक्थादि की सर्वत्र एकता से उपासना की एकता सिद्ध है, इससे यहाँ संशय कैसे हो सकता है, तो कहा जाता है कि प्रत्येक शाखाओं में स्वरादि के भेद से उद्गीथादि के भेदों को मानकर यह संशय का उपन्यास, कथन है। प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि स्वशाखागत उद्गीथादि विषयक ही विद्याओं की विधि श्रुतियाँ करेंगी। यदि कहा जाय कि किस हेतु से ऐसा होगा, तो कहा जाता है कि सन्निधि से ऐसा होगा। जिससे (उद्गीथ की उपासना करे) इस प्रकार सामान्य उद्गीथविषयक विहित उपासनाओं को विशेष की आकाङ्क्षा होने पर सन्निकृष्ट स्वशाखागत विशेष से ही आकांक्षा की निवृत्ति हो जाने से उसका उल्लंघन त्याग कर के शाखान्तर में विहित विशेष के ग्रहण में कारण नहीं है, इससे प्रत्येक शाखा में उपासना की व्यवस्था है।

एवं प्राप्ते ब्रवीत्यङ्गावबद्धास्त्विति। तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवतिष्ठेरन्, अपितु सर्वशाखास्वनुवर्तेरन्। कुतः? उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात्। स्वशाखाव्यवस्थायां ह्युद्गीथमुपासीतेति सामान्यश्रुतिरविशेषप्रवृत्ता सती संनिधानवशेन विशेषे व्यवस्थाप्यमाना पीडिता स्यात्। नचैतन्न्याय्यम्। संनिधानाद्धि श्रुतिर्बलीयसी। नच सामान्याश्रयः प्रत्ययो नोपपद्यते। तस्मात्स्वरादिभेदे सत्यप्युद्गीथत्वाद्यविशेषात्सर्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिष्वेवंजातीयकाः प्रत्ययाः स्युः॥ ५५॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (अङ्गावबद्धास्तु) इत्यादि। तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि ये प्रत्यय (विद्यायें) प्रत्येक वेदों में स्वशाखा में ही व्यवस्थित नहीं रहेंगे। किन्तु सब शाखाओं में अनुवृत्त होंगे। ऐसे क्यों होंगे कि उद्गीथादि श्रुति के अविशेष (सामान्य) होने से ऐसे होंगे। जिससे अपनी शाखा में व्यवस्था होने पर अविशेष रूप से प्रवृत्त होती हुई उद्गीथ की उपासना करे यह सामान्य श्रुति सन्निधानवश से

विशेष में व्यवस्थित करने पर बाधित होगी। यह श्रुति का सन्निधि से बाध न्याय्य नहीं है। जिससे सन्निधान से श्रुति अधिक बलवती है। यह भी नहीं है कि सामान्य आश्रय (विषय) वाला प्रत्यय (उपासना) उपपन्न नहीं होता हो कि जिससे विशेष का आश्रयण करना पड़े। इससे स्वर आदि के भेद रहते भी उद्गीथत्वादि के अविशेष होने से सर्वशाखागत उद्गीथादिविषयक इस प्रकार के प्रत्यय (विज्ञान-चिन्तन) होंगे ॥ ५५ ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

अथवा नैवात्र विरोधः शङ्कितव्यः, कथमन्यशाखागतेषूद्गीथादिष्वन्यशाखाविहिताः प्रत्यया भवेयुरिति, मन्त्रादिवदविरोधोपपत्तेः। तथाहि मन्त्राणां कर्मणां गुणानां च शाखान्तरोत्पन्नानामपि शाखान्तर उपसंग्रहो दृश्यते, येषामपि हि शाखिनां 'कुटरुरसी'त्यश्मादानमन्त्रो नाम्नातस्तेषामप्यसौ विनियोगो दृश्यते 'कुक्कुटोऽसी'त्यश्मानमादत्त 'कुटरुरसी'ति वेति। येषामपि च समिदादयः प्रयाजा नाम्नातास्तेषामपि तेषु गुणविधिराम्नायते—'ऋतवो वै प्रयाजाः समानमत्र होतव्याः' इति। तथा येषामपि 'अजोऽग्नीषोमीयः' इति जातिविशेषोपदेशो नास्ति तेषामपि तद्विशेषविषयो मन्त्रवर्ण उपलभ्यते—'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' इति।

प्रथम सन्निहित व्यक्तिपरक उद्गीथादि शब्द के हो सकते सामान्यपरता में विरोध को मानकर सामान्यविषयता में अनुपपत्ति के अभाव से श्रुति बल से सामान्य सम्बन्ध कहा गया है, अब कहते हैं कि अथवा सामान्य सम्बन्ध में यहाँ विरोध की शंका करने ही योग्य नहीं है कि अन्यशाखागत उद्गीथादिविषयक, किसी अन्य शाखा में विहित प्रत्यय विज्ञान कैसे होंगे। क्योंकि मन्त्रादि के समान अविरोध की उपपत्ति होती है, जिस प्रकार शाखान्तर में उत्पन्न भी मन्त्र, कर्म और गुणों का किसी शाखान्तर में उपसंग्रह सम्बन्ध देखा जाता है, वैसे ही शाखान्तर में विहित भी प्रत्यय शाखान्तर में सम्बद्ध होंगे। जिससे जिस यजुर्वेदी शाखाविशेष वालों की शाखा में (कुक्कुटोऽसि) ऐसा मन्त्र (अश्मादान) पत्थर के ग्रहण के लिये है, परन्तु (कुटरुरसि) यह अश्मादानमन्त्र पठित नहीं है, उसकी शाखा में भी उस मन्त्र रूप विनियोग (सम्बन्ध) दीखता है कि तण्डुल को पीसने के लिये पत्थर के ग्रहण में (कुक्कुटोऽसि) इस मंत्र को पढ़कर पत्थर का ग्रहण करते हैं, अथवा (कुटरुरसि) इसको पढ़कर ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार जिनकी शाखा में (समिधो यजति) इत्यादि वचन विहित समिध आदि नामक प्रयाज कर्म पठित नहीं हैं, उनकी शाखा में भी उन प्रयाजों में गुण पढ़ा जाता है कि (हेमन्त-शिशिर की एकता से पाँच ऋतु हैं और पाँच ही प्रयाज होते हैं इससे ऋतु ही प्रयाज हैं, सो समानदेश, तुल्य कर्मस्थान में होतव्य हैं) यहाँ पाँच संख्या रूप गुण विधान से शाखान्तर्गत पञ्च प्रयाज का संग्रह होता है। इसी प्रकार जिनकी शाखा में (अज-

बकरा, अग्नि और सोमदेवता वाला होता है) इस प्रकार जातिविशेष का उपदेश नहीं है किन्तु सामान्य पशु का उपदेश है, उन शाखाओं में उस जाति-विशेष विषयक मन्त्र-वर्ण उपलब्ध होता है कि (अज की वपा मेद के होम के लिए अनुमति दो)।

तथा वेदान्तरोत्पन्नानामपि 'अग्नेर्वैर्होत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादिमन्त्राणां वेदान्तरे परिग्रहो दृष्टः। तथा बह्वृचपठितस्य सूक्तस्य 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऋ० सं० २।६।७) इत्यस्य 'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' इत्यत्र परिग्रहो दृष्टः। तस्माद्यथाश्रयाणां कर्माङ्गानां सर्वत्रानुवृत्तिरेवमाश्रितानामपि प्रत्ययानामित्यविरोधः ॥ ५६ ॥

इसी प्रकार वेदान्तर में उत्पन्न भी (देवों के होत्र और देवों के अध्वर अग्नि से ही होते हैं) इत्यादि मन्त्रों का किसी वेदान्तर में परिग्रह देखा गया है। इसी प्रकार (जो उत्पन्न होते ही गुणों से प्रथम श्रेष्ठ और मनस्वान् मनस्वी विवेकी हुआ, हे जनो! वह इन्द्र है) इस बह्वृचपठित सूक्त का (सजनीय, सजनास इन्द्र, इस मन्त्र भाग से युक्त, शस्य, शंसनस्तुति आध्वर्यव, अध्वर्युकृत कर्म प्रयोग में दृष्ट है) यहाँ परिग्रह देखा गया है। इससे जिस प्रकार विद्या के आश्रय (विषय) कर्माङ्गों की सर्वत्र अनुवृत्ति होती है, इसी प्रकार तदाश्रित प्रत्ययों की भी अनुवृत्ति होती है, इससे अविरोध है ॥ ५६ ॥

भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् (३२)

ध्येयो वैश्वानरांशोपि ध्यातव्यः कृत्स्न एव वा। अंशेषूपास्तिफलयोरुक्तेरस्त्यंशयोरपि ॥
उपक्रमावसानाभ्यां समस्तस्यैव चिन्तनम्। अंशोपास्तिफले स्तुत्यै प्रत्येकोपास्तिनिन्दनात् ॥

उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, और बुडिल नाम वाले
विद्वान् लोग विचार करने लगे कि हम लोगों की आत्मा क्या वस्तु है. और उपदेश
लेने के लिए पाँचों उद्दालक ऋषि के पास गये, उद्दालक जी स्वयं उपदेश नहीं देकर
सबको कैकेय राजा के पास ले गये। राजा ने समस्त साङ्गवैश्वानर का उपदेश दिया और
ये लोग प्रथम से ही द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवी को वैश्वानर समझ
कर भिन्न-भिन्न उपासना करते थे, उनके फलों को राजा ने कहा, और प्रत्येक
उपासना की निन्दा भी की, इससे एक-एक अङ्ग की उपासना से भूमा, साङ्ग
वैश्वानर की उपासना को ज्यायस्त्व श्रेष्ठत्व विधेयत्व है, वह साङ्ग क्रतु के समान
समझना चाहिये और उस ज्यायस्त्व को निन्दा आदि द्वारा श्रुति स्वयं दर्शाती है, यह
संक्षिप्त सूत्रार्थ है। संशय है कि वैश्वानर के अंशरूप द्युलोक आदित्यादि भी ध्येय हैं,
अथवा संपूर्ण वैश्वानर ही ध्येय है। पूर्वपक्ष है कि अंग-विषयक भी उपासनों के और
उस उपासना के फल के कथन से अंश और अंशी दोनों ध्येय हैं ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि
उपक्रम और उपसंहार से समस्त का ही चिन्तन विधेय है, अंश की उपासना और फल
का वर्णन समस्तोपासना की स्तुति के लिये है, यह प्रत्येकोपासना की निन्दा से सिद्ध
होता है ॥ २ ॥

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥ ५७ ॥

'प्राचीनशाल औपमन्यवः' (छा० ५।११।१) इत्यस्यामाख्यायिकायां व्यस्तस्य समस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते। व्यस्तोपासनं तावत् 'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स' इति, 'दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से' (छा० ५।१२।१) इत्यादि। तथा समस्तोपासनमपि 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' (छा० ५।१८।२) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिहोभयथाप्युपासनं स्याद् व्यस्तस्य समस्तस्य चोत समस्तस्यैवेति। किं तावत्प्राप्तम्। प्रत्यवयवं सुतेजःप्रभृतिषूपास्स इति क्रियापदश्रवणात्, तस्मा'त्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते' (छा० ५।१२।१) इत्यादिफलभेदश्रवणाच्च व्यस्तान्यप्युपासनानि स्युरिति प्राप्तम्।

(प्राचीन शाल नामक उपमन्यु का पुत्र) इत्यादि रूप इस आख्यायिका (कथा) में व्यस्त (अंग) समस्त (अंगयुक्त अंगी) वैश्वानर की उपासना सुनी जाती है। प्रथम व्यस्त का वर्णन है। वहाँ कैकेय राजा का प्रश्न है कि (हे औपमन्यव ! किस आत्मा की उपासना करते हो ? उसने कहा कि हे भगवन् राजन् ! दिव (स्वर्ग) रूप ही वैश्वानर की मैं उपासना करता हूँ। राजा ने कहा कि यह तो सुतेजा नामवाला वैश्वानर आत्मा है जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो) इत्यादि। इसी प्रकार समस्तोपासना वर्णित है कि (उस ही इस वैश्वानर आत्मा का सुन्दर तेजवाला स्वर्ग मूर्धा, शिर है। विश्वरूप सूर्य आँख है, पृथग्वर्त्मात्मा, वायु प्राण है, बहुल-आकाश, संदेह-धड़-मध्यभाग है, वस्ति ही धन है। पृथिवी ही पाद है) इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि व्यस्त और समस्त के दोनों प्रकार की उपासना विधेय होगी, कर्तव्य होगी, अथवा समस्त की ही होगी। प्रथम प्राप्त क्या होता है ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि वैश्वानर के प्रत्येक अवयवरूप सुतेजा आदि विषयक, उपास्से, तू उपासना करता है, इस क्रिया पद के श्रवण से, और (उस सुतेजा की उपासना से तेरे कुल में सुत प्रसुत, आसुत (सोमरस) दीखते हैं। इत्यादि फलभेद के श्रवण से व्यस्त उपासनाएँ भी कर्तव्य होंगी ऐसा प्राप्त होता है।

ततोऽभिधीयते—भूम्नः पदार्थोपचयात्मकस्य समस्तस्य वैश्वानरोपासनस्य ज्यायस्त्वं प्राधान्येनास्मिन्वाक्ये विवक्षितं भवितुमर्हति, न प्रत्येकमवयवोपासनानामपि, क्रतुवत्। यथा क्रतुषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिषु सामस्त्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैको विवक्ष्यते न व्यस्तानामपि प्रयोगः प्रयाजादीनाम्। नाप्येकदेशाङ्गयुक्तस्य प्रधानस्य तद्वत्। कुत एतद् भूमैव ज्यायानिति। तथाहि श्रुतिर्भूम्नो ज्यायस्त्वं दर्शयति एकवाक्यतावगमात्। एकं हीदं वाक्यं वैश्वानरविद्याविषयं पौर्वापर्यालोचनात्प्रतीयते।

इससे कहते हैं कि भूमा, अङ्गात्मक पदार्थों का उपचय (समूह, संग्रह) रूप समस्त वैश्वानरोपासना को इस वाक्य में प्रधानरूप से ज्यायस्त्व श्रेष्ठत्व विवक्षित होने योग्य है। प्रत्येक अवयव उपासनाओं को ज्यायस्त्व विवक्षित नहीं है, क्रतु के समान। जैसे दर्श पूर्णमासादि क्रतुओं में समस्तरूप से अङ्गसहित प्रधान का प्रयोग (अनुष्ठान) ही एक विवक्षित होता है। व्यस्त प्रयाजादि का प्रयोग भी विवक्षित नहीं होता है। न एकदेशरूप अङ्गयुक्त प्रधान का प्रयोग ही विवक्षित होता है, उसी प्रकार यहां समझना चाहिये। परन्तु भूमा ही ज्यायान् (प्रधान) है, यह किस प्रमाण से यहाँ समझा जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि एकवाक्यता के अवगम से इस प्रकार श्रुति ही भूमा के ज्यायस्त्व को दर्शाती है। पूर्वापर के आलोचन से यह एक ही वैश्वानर विद्याविषयक वाक्य प्रतीत होता है।

तथाहि—'प्राचीनशालप्रभृतय उद्दालकावसानाः षड्ऋषयो वैश्वानरविद्यायां परिनिष्ठामप्रतिपद्यमाना अश्वपतिं कैकेयं राजानमभ्याजग्मुः' इत्युपक्रम्यैकैकस्यर्षेरुपास्यं द्युप्रभृतीनामेकैकं श्रावयित्वा 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच' (छा० ५।१२।२) इत्यादिना मूर्धादिभावं तेषां विदधाति। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मा नागमिष्यः' (छा० ५।१२।२) इत्यादिना च व्यस्तोपासनमपवदति। पुनश्च व्यस्तोपासनं व्यावर्त्य समस्तोपासनमेवानुवर्त्य 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' (छा० ५।१८।१) इति भूमाश्रयमेव फलं दर्शयति। यत्तु प्रत्येकं सुतेजःप्रभृतिषु फलभेदश्रवणं तदेवंसत्यङ्गफलानि प्रधान एवाभ्युपगतानीति द्रष्टव्यम्। तथोपास्स इत्यपि प्रत्यवयवमाख्यातश्रवणं पराभिप्रायानुवादार्थं न व्यस्तोपासनविधानार्थम्। तस्मात्समस्तोपासनपक्ष एव श्रेयानिति।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि प्राचीनशाल आदि उद्दालकपर्यन्त छः ऋषि वैश्वानर विद्या में परिनिष्ठा (पूर्णता-स्थिति) को नहीं प्राप्त होते हुए, परिनिष्ठा के लिए अश्वपति कैकेय राजा के पास गये, इस प्रकार आरम्भ करके, फिर एक-एक ऋषि के उपास्य द्युलोकादि एक-एक का श्रवण कराकर (यह सुतेजा तो वैश्वानर आत्मा का मूर्धा है) इत्यादि वचन से श्रुति उन द्युलोकादिरूप उपास्यों के मूर्धादिभाव का विधान करती है। और (यदि तू मेरे पास नहीं आता तो तेरा शिर गिर जाता) इत्यादि वचन से व्यस्त उपासना की श्रुति निन्दा करती है। फिर भी व्यस्त उपासना की व्यावृत्ति (निवृत्ति) करके और समस्त उपासना की ही अनुवृत्ति (सम्बन्ध) करके (वह वैश्वानर का उपासक सब लोक, सब भूत, सब आत्मा में अन्न खाता है) इस प्रकार भूमा आश्रय वाले ही फल को दर्शाती है। इस प्रकार भूमा का मुख्यत्व सिद्ध होने पर जो प्रत्येक सुतेजा आदि अङ्गों में फलभेद की श्रुति है, सो अङ्गों के फलप्रधान में ही उपगत हैं, इस आशय से समझना चाहिए। इसी प्रकार उपास्से (तुम उपासना

करते हो) यह भी प्रत्येक अवयव में जो क्रिया का श्रवण है, वह दूसरे उपकोशलादि के अभिप्राय के अनुवादार्थक है, व्यस्त उपासना के विधान के लिए नहीं है। इससे समस्त की उपासना वाला पक्ष ही श्रेयान् है—अधिक श्रेष्ठ है।

केचित्त्वत्र समस्तोपासनपक्षं ज्यायांसं प्रतिष्ठाप्य ज्यायस्त्ववचनादेव किल व्यस्तोपासनापक्षमपि सूत्रकारोऽनुमन्यते इति कथयन्ति। तदयुक्तम्। एकवाक्यतावगतौ सत्यां वाक्यभेदकल्पनस्यान्याय्यत्वात्। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' (छा० ५।१२।२) इति चैवमादिनिन्दावचनविरोधात्। स्पष्टे चोपसंहारस्थे समस्तोपासनावगमे तदभावस्य पूर्वपक्षे वक्तुमशक्यत्वात्। सौत्रस्य च ज्यायस्त्ववचनस्य प्रमाणवत्त्वाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानत्वात् ॥ ५७ ॥

कोई तो यहाँ समस्त उपासना पक्ष को अधिक श्रेष्ठ प्रतिष्ठित (सिद्ध) करके ज्यायस्त्व वचन से ही व्यस्तोपासनापक्ष को भी सूत्रकार स्वीकार करते हैं, इस प्रकार कहते हैं, अर्थात् समस्तोपासना अधिक श्रेष्ठ है, इस सूत्रकार के कथन से व्यस्त उपासना में भी श्रेष्ठत्व की प्रतीति होती है, इससे उस विषयक अनुमति की सिद्धि होती है ऐसा कहते हैं, यह कहना अयुक्त है। जिससे एकवाक्यता की अवगति होने पर वाक्यभेद की कल्पना को अयुक्तत्व है, और अनुमति मानने पर (तेरा शिर गिर जाता) इस प्रकार के निन्दावचन से विरोध है। उपसंहारस्थ समस्त उपासना के स्पष्ट अवगम रहते पूर्वपक्ष में उसका अभाव कहना अशक्य है। अर्थात् जब समस्त और व्यस्त दोनों उपासना सिद्धान्त पक्ष होगा, तब व्यस्त वा समस्त एक-एक उपासना ही पूर्वपक्ष होगा। वहाँ व्यस्त उपासना को पूर्वपक्ष में मान कर समस्त उपासना का प्रतिषेध नहीं हो सकता है, क्योंकि उपसंहार में उसी का स्पष्ट अवगम होता है। सूत्रस्थ ज्यायस्त्व वचन को प्रमाणवत्त्व (प्रमाणतात्पर्य-विषयत्व) के अभिप्राय से भी उपपन्न होने से, उक्त कथन अयुक्त सिद्ध होता है ॥ ५७ ॥

शब्दादिभेदाधिकरणम् (३२)

न भिन्ना उत भिद्यन्ते शाण्डिल्यदहरादयः। समस्तोपासनश्रैष्ठ्याद्ब्रह्मैक्यादप्यभिन्नता ॥
कृत्स्नोपास्तेरशक्यत्वाद् गुणैर्ब्रह्म पृथक्कृतम्। दहरादीनि भिद्यन्ते पृथक्पृथगुपक्रमात् ॥

दहर शाण्डिल्यादि विद्या ब्रह्मवेद्य के एक होते भी शब्दगुणादि के भेद से भिन्न हैं। संशय है कि शाण्डिल्य दहर आदि विद्याएँ पूर्वोक्त व्यस्त विद्या के समान भिन्न नहीं हैं, अथवा भिन्न हैं। पूर्वपक्ष है कि पूर्व अधिकरण के समान समस्त उपासना के श्रेष्ठ होने से और विद्या के विषयरूप ब्रह्म के एक होने से भी विद्याओं में अभिन्नता है। सिद्धान्त है कि अनेक प्रकार से विहित अनेक उपासना के अनुष्ठान के एक पुरुष से एक काल में अशक्यस्वरूप होने से तथा पृथक्-पृथक् उपक्रम से दहरादि उपासनाएं भिन्न हैं, और गुणों के द्वारा ब्रह्म भी पृथक् किया गया है, इससे वेद्यरूप की एकता से भी विद्या एक नहीं है ॥ १–२ ॥

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे सत्यामपि सुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रुतौ समस्तोपासनं ज्याय इत्युक्तम्, अतः प्राप्ता बुद्धिरन्यान्यपि च भिन्नश्रुतीन्युपासनानि समस्योपासिष्यन्ते इति। अपिच नैव वेद्याभेदे विद्याभेदो विज्ञातुं शक्यते। वेद्यं हि रूपं विद्यायाः द्रव्यदैवतमिव यागस्य, वेद्यश्चैक एवेश्वरः श्रुतिनानात्वेऽप्यवगम्यते 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१।५) 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ८।१।५) इत्येवमादिषु। तथा 'एक एव प्राणः, प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।३) 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५।१।१) 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' (छा० ७।१५।१) इत्येवमादिषु, वेद्यैकत्वाच्च विद्यैकत्वं श्रुतम्। श्रुतिनानात्वमप्यस्मिन्पक्षे गुणान्तरपरत्वान्नानर्थकम्। तस्मात्स्वपरशाखाविहितमेकवद्यव्यपाश्रयं गुणजातमुपसंहर्तव्यं विद्याकात्स्र्न्यायेति।

पूर्व अधिकरण में सुतेजा आदि के फलभेदविषयक श्रुति के रहते भी समस्त की उपासना श्रेष्ठ है, यह कहा गया है, इससे ऐसी बुद्धि प्राप्त होती है कि भिन्न श्रुति वाली अन्य भी उपासनाएँ मिलकर समस्तरूप से उपासित होंगी; की जायँगी। और भी वेद्यवस्तु के अभेद रहते विद्या का भेद नहीं समझा जा सकता है, जिससे वेद्यवस्तु ही विद्या का रूप होता है, जैसे द्रव्य और देवता याग का रूप होता है और श्रुतियों के नाना होते भी वेद्य एक ही ईश्वर अवगत होता है कि (मनोमय प्राणरूप शरीर वाला आत्मा है। सुखस्वरूप ब्रह्म है, विभु आकाशतुल्य ब्रह्म है। सत्य शुद्ध काम वाला, सत्य संकल्प वाला परमात्मा है) इत्यादि में एक ईश्वर अवगत होता है। और इसी प्रकार (एक ही प्राण है। प्राण ही संवर्ग है। प्राण ही कालकृत ज्येष्ठ बड़ा है और गुणकृत श्रेष्ठ है। प्राण ही पिता है प्राण ही माता है) इत्यादि में वेद्य के एकत्व से विद्या का एकत्व श्रुत है और इस पक्ष में भी गुणान्तर परत्व से श्रुतिगत नानात्व भी अनर्थक नहीं है इससे स्वशाखा और परशाखा में विहित एक वेद्य के आश्रित गुणसमूह विद्या की पूर्णता के लिए उपसंहार के योग्य हैं।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते नानेति। वेद्याभेदेऽप्येवञ्जातीयका विद्या भिन्ना भवितुमर्हति। कुतः? शब्दादिभेदात्। भवति हि शब्दभेदः 'वेद' 'उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३।१४।१) इत्येवमादिः। शब्दभेदश्च कर्मभेदहेतुः समधिगतः पुरस्ता'च्छब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वादिति'। आदिग्रहणाद् गुणादयोऽपि यथासम्भवं भेदहेतवो योजयितव्याः।

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि विद्या नाना है। वेद्य के अभेद रहते भी इस प्रकार की विद्याएँ भिन्न होने योग्य हैं, किस हेतु से भिन्न होने योग्य हैं, तो कहा जाता है, शब्दादि के भेद से भिन्न हैं। जिससे, वेद (जानता है) उपासीत

(उपासना करे) स क्रतुं कुर्वीत (वह संकल्प करे) इत्यादि शब्द भेद है। पूर्व-मीमांसा में शब्द का भेद कर्मभेद का हेतु रूप समधिगत हुआ है कि (यजति, जुहोति, ददाति इत्यादि भिन्नार्थविषयक शब्दान्तर के होने पर, कृतानुबन्धित्व, स्वीकृत भावना-भेद-विधिभेद से कर्म का भेद होता है) सूत्र में आदि शब्द के ग्रहण से भेद के हेतु गुणादि भी सम्भव के अनुसार योजना (सम्बन्ध) के योग्य हैं।

ननु वेदेत्यादिषु शब्दभेद एवावगम्यते न यजतीत्यादिवदर्थभेदः सर्वेषा-मेवैषां मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदात्, अर्थान्तरासम्भवाच्च। तत्कथं शब्दभेदाद्विद्याभेद इति। नैष दोषः। मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदेऽप्यनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे सति विद्याभेदोप-पत्तेः। एकस्यापि हीश्वरस्योपास्यस्य प्रतिप्रकरणं व्यावृत्ता गुणाः शिष्यन्ते। तथैकस्यापि प्राणस्य तत्र तत्रोपास्यस्याभेदेऽप्यन्यादृग्गुणोऽन्यत्रोपासितव्योऽ-न्यादृग्गुणश्चान्यत्रेत्येवमनुबन्धभेदाद् वेद्यभेदे सति विद्याभेदो विज्ञायते। नचात्रैको विद्याविधिरितरे गुणविधय इति शक्यं वक्तुम्। विनिगमनायां हेत्व-भावात्। अनेकत्वाच्च प्रतिप्रकरणं गुणानां प्राप्तविद्यानुवादेन गुणविधा-नानुपपत्तेः। नचास्मिन्पक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादयो गुणा असकृच्छ्रा-वयितव्याः।

यहाँ शंका होती हैं कि वेद, उपासीत, इत्यादि में शब्दों का ही भेद अवगत होता है, यजति, जुहोति, आदि के समान अर्थ का भेद नहीं अवगत होता है, जिससे उन में धात्वर्थ का भेद रहता है, और यहाँ तो सबका मनोवृत्तिमात्र अर्थ है और अर्थान्तर का असम्भव है। तो उस वेदादि शब्दभेद से विद्या का भेद कैसे होगा ? उत्तर है कि यह दोष नहीं है, मनोवृत्तिरूप अर्थ के अभेद रहते भी उपास्य गुणादिरूप अनुबन्ध के भेद से वेद्य के भेद होने पर विद्याभेद की उपपत्ति होतो है। अर्थात् ये उपासनायें वस्तु-निष्ठ नहीं हैं, इससे गुणादिकल्पित धर्मकृत भेद से भी भिन्न होती हैं, जिससे उपास्य एक ईश्वर के भी प्रत्येक प्रकरण में व्यावृत्त (भिन्न-भिन्न) गुण उपदिष्ट होते हैं। इसी प्रकार तत्तत् स्थानों में उपास्य प्राण के एक होते भी, अन्य प्रकार के गुणवाला अन्यत्र उपास्य होता है, उससे अन्य प्रकार के गुणवाला कहीं अन्यत्र उपास्य होता है और इस प्रकार अनुबन्ध के भेद से वेद्य के भेद होने पर विद्या का भेद समझा जाता है। यहाँ एक विद्याविधि है, अन्य गुणविधि है ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इन में कौन विद्याविधि है कौन गुणविधि है, इस विशेष अर्थ की विनिगमना (विभाग) में हेतु (प्रमाण) का अभाव है। प्रत्येक प्रकरण में गुणों के अनेक होने से प्राप्त विद्या के अनुवाद द्वारा गुण विधान की अनुपपत्ति है, क्योंकि इस प्रकार अनेकवाक्यता की प्राप्ति होगी। इस एक विधिपक्ष में पुनरुक्ति होने से समान स्वरूप होते हुए सत्यकामादि गुण अनेक बार सुनाने योग्य नहीं होंगे, इस पक्ष में प्रत्यभिज्ञा के लिए भी पुनरुक्ति नहीं कही जा सकती है, जिससे ब्रह्म की एकता से ही इस पक्ष में प्रत्यभिज्ञा होगी।

प्रतिप्रकरणं चेदंकामेनेदमुपासितव्यमिदङ्कामेन चेदमिति नैराकाङ्क्ष्यावगमान्नैकवाक्यतापत्तिः। नचात्र वैश्वानरविद्यायामिव समस्तचोदनाऽपरास्ति यद्बलेन प्रतिप्रकरणवर्तीन्यवयवोपासनानि भूत्वैकवाक्यतामीयुः। वेद्यैकत्वनिमित्ते च विद्यैकत्वे सर्वत्र निरङ्कुशे प्रतिज्ञायमाने समस्तगुणोपसंहारोऽशक्यः प्रतिज्ञायेत। तस्मात्सुष्ठूच्यते नाना शब्दादिभेदादिति। स्थिते चैतस्मिन्नधिकरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि द्रष्टव्यम् ॥ ५८ ॥

प्रत्येक प्रकरण में इस फल की इच्छा वाले से ऐसा ब्रह्म उपासनीय है, अमुक फल की इच्छा वाले से अमुक स्वरूप वाला उपासनीय है, इस प्रकार उन वाक्यों में निराकांक्षता के अवगम से आकांक्षा के बिना उनकी एकवाक्यता की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वैश्वानर विद्या में जैसे अवयव विधि से अन्य समस्त विधि है, वैसे यहाँ शाण्डिल्य दहरादि विधि से भिन्न समस्तविषयक विधि नहीं है कि जिसके बल से प्रत्येक प्रकरणवर्ती अवयवरूप उपासना होकर एकवाक्यता को प्राप्त हों। वेद्य ब्रह्म की एकतानिमित्तक सब स्थान में निरंकुश (स्वतन्त्र) विद्या की एकता की प्रतिज्ञा करने पर, अशक्य समस्त गुणोपसंहार की भी प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी। इससे सुन्दर कहा जाता है कि (नाना शब्दादिभेदात्) वहाँ शब्द का ग्रहण समुच्चयमात्र है गुणादि के भेद विद्याभेद के कारण हैं। इस अधिकरण के स्थिर होने पर (सर्ववेदान्तप्रत्ययम्) इत्यादि अधिकरण को समझना चाहिए, अर्थात् इस अधिकरण को पाद के आदि में होना उचित है, यहाँ प्रासङ्गिक सम्बन्ध है ॥ ५८ ॥

विकल्पाधिकरणम् (३४)

अहंग्रहेष्वनियमो विकल्पनियमोऽथवा। नियामकस्याभावेन याथाकाम्यं प्रतीयताम् ॥
ईशसाक्षात्कृतेस्त्वेकविद्ययैव प्रसिद्धितः। अन्यानर्थक्यविक्षेपौ विकल्पस्य नियामकौ ॥

अहंग्रह, तटस्थ और कर्माङ्गाश्रित भेद से सगुण विद्या तीन प्रकार की होती है, यहाँ अहंग्रहरूप विद्या सबको ईश्वर का साक्षात्काररूप अविशिष्ट (तुल्य, एक) फल होता है, इससे किसी एक विद्या से ईश्वर का साक्षात्कार होने पर अन्य की जरूरत नहीं रहती है, इसीसे इनका विकल्प है। यहाँ संशय है कि अहंग्रह उपासनाओं में अनियम है कि जो जितनी चाहे उतनी उपासना करे, अथवा विकल्प का नियम है कि इसमें से कोई एक ही उपासना करे। पूर्वपक्ष है कि नियामक हेतु के अभाव से इच्छा के अनुसार कर्तव्य समझना चाहिए, दो चार जितनी की इच्छा हो, उतनी उपासना करे। सिद्धान्त है कि अहंग्रह उपासना ईश्वरविषयक साक्षात्कार के लिए की जाती है, यहाँ एक विद्या से ही ईश्वरविषयक साक्षात्कार की सिद्धि से विकल्प का नियम है और विकल्प का नियामक अन्य की अनर्थकता और विक्षेप है। एक से ही ईश्वर का साक्षात्कार होने पर अन्य निरर्थक है, और दो विद्याओं के एकबार अभ्यास में चित्त के परिवर्तन से विक्षेप होता है, इससे एक का अभ्यास ही उचित है ॥ १-२ ॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

स्थिते विद्याभेदे विचार्यते किमासामिच्छया समुच्चयो विकल्पो वा स्यात्, अथवा विकल्प एव नियमेनेति। तत्र स्थितत्वात्तावद्विद्याभेदस्य न समुच्चयनियमे किंचित्कारणमस्ति। ननु भिन्नानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमो दृश्यते। नैष दोषः। नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारणं, नैवं विद्यानां काचिन्नित्यताश्रुतिरस्ति, तस्मान्न समुच्चयनियमः। नापि विकल्पनियमः, विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तराप्रतिषेधात्। पारिशेष्याद्याथाकाम्यमापद्यते।

विद्याभेद के स्थिर होने पर अहंग्रह-विद्याविषयक विचार किया जाता है कि क्या इन विद्याओं का उपासक की इच्छा के अनुसार समुच्चय (साथ अनुष्ठान) वा विकल्प होगा। अथवा नियम से विकल्प ही होगा। यहाँ पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रथम विद्याभेद के स्थित होने से समुच्चय (सहानुष्ठान) नियम में कोई कारण नहीं है, यदि कहा जाय कि भिन्न भी अग्निहोत्र दर्श-पूर्णमासादि के समुच्चय का नियम देखा जाता है, वैसे यह भी समुच्चय का नियम होगा, तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, अर्थात् उसके समान यहाँ समुच्चय-नियम की प्राप्ति नहीं है, जिससे अग्निहोत्र-विषयक नित्य श्रुति वहाँ समुच्चय में कारण है। इस प्रकार विद्याओं की कोई नित्यता श्रुति नहीं है। इससे समुच्चय का नियम नहीं है। विकल्प का भी नियम नहीं है, जिससे विद्यान्तर में अधिकृत के अधिकार का किसी अन्य विद्या में प्रतिषेध नहीं है, अर्थात् एक विद्या के अधिकारी के लिए दूसरी विद्या का प्रतिषेध नहीं है कि जिससे विकल्प का नियम हो। इसलिए परिशेषता से यथेष्ट पक्ष प्राप्त होता है कि इच्छा के अनुसार समुच्चित या विकल्पित उपासना करे।

नन्वविशिष्टफलत्वादासां विकल्पो न्याय्यः, तथाहि—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ८।१।५) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्येवमाद्यास्तुल्यवदीश्वरप्राप्तिफला लक्ष्यन्ते। नैष दोषः। समानफलेष्वपि स्वर्गादिसाधनेषु कर्मसु याथाकाम्यदर्शनात्। तस्माद्याथाकाम्यप्राप्तावुच्येत विकल्प एवासां भवितुमर्हति न समुच्चयः। कस्मात् ? अविशिष्टफलत्वात्। अविशिष्टं ह्यासां फलमुपास्यविषयसाक्षात्करणम्, एकेन चोपासनेन साक्षात्कृत उपास्ये विषय ईश्वरादौ द्वितीयमनर्थकम्।

शंका होती है कि अविशिष्ट (समान) फलवत्ता से इनका विकल्प होना उचित है, जिससे (मनोमय प्राण शरीर वाला है। सुखस्वरूप आकाशतुल्य ब्रह्म है। सत्यकाम वाला सत्यसंकल्प वाला है) इत्यादि तुल्यरीति वाली ईश्वर की प्राप्तिरूप फलवाली विद्या इस प्रकार उपलब्ध होती है, पूर्वपक्षी का उत्तर है कि यथाकाम पक्ष में यह समानफलता दोष नहीं है, जिससे समानफलवाले भी स्वर्गादि के साधनरूप यज्ञ-

दानादि-कर्मों में यथेष्ट प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे यथेष्टतापक्ष के प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि इन विद्याओं का विकल्प ही होना युक्त है, समुच्चययुक्त नहीं है, क्योंकि एक पुरोडाशफलत्व से जैसे व्रीहि और यव का विकल्प होता है, वैसे ही अविशिष्ट (एक) फलत्व से विकल्प होगा। जिससे उपास्यविषयक साक्षात्कार-रूप इन उपासनाओं का अविशिष्ट फल है। एक उपासना से उपास्य विषयरूप ईश्वरादि के साक्षात्कृत (प्रत्यक्ष) होने पर यह उपासना निरर्थक है।

अपि चासंभव एव साक्षात्करणस्य, समुच्चयपक्षे चित्तविक्षेपहेतुत्वात्। साक्षात्करणसाध्यं च विद्याफलं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति' (छा० ३।१४।४) इति 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ० ४।१।२) इति चैवमाद्याः। स्मृतयश्च 'सदा तद्भावभाविताः' इत्येवमाद्याः। तस्मादविशिष्टफलानां विद्यानामन्यतमामादाय तत्परः स्याद्यावदुपास्यविषयसाक्षात्करणेन तत्फलं प्राप्तमिति ॥ ५९ ॥

फल की अधिकता के लिए काम्य-कर्मादि का समुच्चय होता है, और उपासना का साक्षात्काररूप फल न्यून-अधिक भाव से रहित तुल्य होता है, इससे फलाधिक्य के लिये भी समुच्चयन ही हो सकता है, और उलटा समुच्चयपक्ष में द्वैविध्य से समुच्चय के विक्षेप के हेतुत्व से उस पक्ष में साक्षात्कार का असम्भव ही होगा। साक्षात्कार से ही साध्य विद्या के फल को श्रुतियाँ दर्शाती हैं कि (जिस उपासक को अद्धा सत्य साक्षात्कार होता है, प्राप्ति-अप्राप्ति का संशय नहीं रहता है, उसो को ब्रह्म की प्राप्तिरूप फल होता है। जीते ही अवस्था में साक्षात्कार से सर्वात्मदेव भाव का अनुभव करके देव होकर देहपात के बाद भी देव को प्राप्त करता है, तथा अन्य देवों की भी भावना से जीवन काल में अनुभव करके फिर उन देवों को प्राप्त करता है) इत्यादि। (सदा तत्तत् भावना से भावित चित्त वाला होकर उसी को प्राप्त होता है कि जिस-जिस को स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर को त्यागता है) इत्यादि स्मृतियाँ भी साक्षात्कार से साध्य फल को दर्शाती हैं। इससे अविशिष्ट (एक) फलवाली अनेक विद्याओं में से किसी एक का ग्रहण करके, जब तक उपास्यविषयक साक्षात्कार के द्वारा उस विद्या का फल प्राप्त हो तब तक उसी एक ही विद्या में तत्पर (सावधान) रहे ॥ ५९ ॥

काम्याधिकरणम् (३५)

प्रतीकेषु विकल्पः स्याद्याथाकाम्येन वा मतिः। अहंग्रहेष्विवैतेषु साक्षात्कृत्यै विकल्पनम् ॥
देवो भूत्वेतिवन्नात्र काचित्साक्षात्कृतौ मितिः। याथाकाम्यमतोऽमीषां समुच्चयविकल्पयोः ॥

पूर्वोक्त फल की अविशिष्टतारूप हेतु के अभाव से तटस्थ उपासनाएँ यथेष्ट समुच्चित वा विकल्पितरूप से की जा सकती हैं। संशय है कि प्रतीक (तटस्थ) उपासनाओं में विकल्प होगा, वा इच्छा के अनुसार समुच्चय विकल्परूप मति (उपासना) होगी। पूर्वपक्ष है कि अहंग्रहों के समान साक्षात्कार के लिए इनमें भी विकल्प होगा। सिद्धान्त है कि अहंग्रहोपासना में साक्षात्कार की मिति (प्रमाण) रूप जैसे (देवो भूत्वा

देवानप्येति) यह श्रुति है वैसे यहाँ कोई प्रमाण नहीं है, इससे इनके समुच्चय और विकल्प में यथेष्टता है ॥ २ ॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

'अविशिष्टफलत्वादि'त्यस्य प्रत्युदाहरणम्। यासु पुनः काम्यासु विद्यासु 'स य एतमेव वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति' (छा० ३।१५।२) 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।१।५) इति चैवमाद्यासु क्रियावददृष्टेनात्मनात्मीयं तत्तत् फलं साधयन्तीषु साक्षात्करणापेक्षा नास्ति। ता यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा समुच्चीयेरन्पूर्वहेत्वभावात्। पूर्वस्याविशिष्टफलत्वादित्यस्य विकल्पहेतोरभावात् ॥ ६० ॥

अविशिष्ट(समान)फलत्वात्, इसका यह सूत्र प्रत्युदाहरण है कि (वह जो कोई पुत्र के दीर्घजीवनार्थी इस वायु को ही गो अंगरूप से कल्पित दिशाओं के वत्सरूप से उपासना करता है, वह पुत्र-मरणनिमित्तक रोदन नहीं करता है। अर्थात् उसका पुत्र नहीं मरता है) और (जो कोई नाम की ब्रह्मरूप से उपासना करता है, उसको जहाँ तक नाम का विषय है, वहाँ तक यथेष्ट संचार होता है जैसे राजा का अपने देश में संचार होता है) इत्यादिक जिन सकाम और क्रिया के समान अदृष्टरूप से अपने तत्तत् फलों को सिद्ध करने वाली विद्याओं में उपास्य साक्षात्कार की अपेक्षा नहीं है, उन में अविशिष्ट फलत्वरूप पूर्व हेतु के अभाव से वे उपासनाएँ इच्छा के अनुसार समुच्चित होंगी, अथवा नहीं समुच्चित होंगी। अर्थात् (अविशिष्टफलत्वात्) यह जो पूर्वकथित विकल्प का हेतु है, उसके अभाव से समुच्चय वा विकल्प यथेष्ट होगा ॥ ६० ॥

यथाश्रयभावाधिकरणम् (३६)

समुच्चयोऽङ्गबद्धेषु याथाकाम्येन वा मतिः। समुच्चितत्वादङ्गानां तद्बद्धेषु समुच्चयः ॥
ग्रहं गृहीत्वा स्तोत्रस्यारम्भ इत्यादिवन्न हि। श्रूयते सहभावोत्र याथाकाम्यं ततो भवेत् ॥

कर्माङ्ग उद्गीथादि आश्रित उपासनाओं में उनके आश्रय अङ्गों के समान उन उपासनाओं का भी समुच्चय होगा, यह पूर्व पक्ष सूत्र है। संशय है कि कर्माङ्ग आश्रित उपासनाओं में समुच्चय होगा, अथवा इच्छा के अनुसार मति होगी। पूर्वपक्ष है कि अङ्गों के समुच्चित होने से उनके आश्रित होने वाली उपासनाओं का भी समुच्चय होगा। सिद्धान्त है कि ग्रह (पात्र) का ग्रहण करके स्तोत्र आरम्भ होता है, इत्यादि सहभाव वचन अङ्गों के समुच्चय का हेतु है, वैसे तदाश्रित विद्याओं को समुच्चय का हेतु सहभाव यहाँ नहीं सुना जाता है, इससे इच्छानुसार होगा ॥ १-२ ॥

अङ्गेषु यथाश्रवभावः ॥ ६१ ॥

कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु य आश्रिताः प्रत्यया वेदत्रयविहिताः किं ते समुच्चीयेरन् किंवा यथाकामं स्युरिति संशये यथाश्रयभाव इत्याह। यथैवैषामाश्रयाः स्तोत्रादयः संभूय भवन्त्येवं प्रत्यया अपि, आश्रयतन्त्रत्वात्प्रत्ययानाम् ॥ ६१ ॥

कर्माङ्ग उद्गीथादि के आश्रित तीन वेद से विहित जो प्रत्यय हैं, क्या वे समुच्चित होंगे वा इच्छा के अनुसार होंगे। ऐसा संशय होने पर यथाश्रयभाव होगा यह कहते हैं। जैसे इन प्रत्ययों के आश्रय स्तोत्रादि सम्मिलित होकर रहते हैं, कर्माङ्ग होते हैं, इसी प्रकार इनके आश्रित प्रत्यय भी मिल कर समुच्चित रहते हैं। जिससे प्रत्ययों को आश्रयाधीनत्व है, इससे इनको प्रयोगविधि से अङ्गों के साथ समुच्चित अनुष्ठान होता है ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

यथा चाश्रयाः स्तोत्रादयस्त्रिषु शिष्यन्त एवमाश्रिता अपि प्रत्ययाः। नोपदेशकृतोऽपि कश्चिद्विशेषोऽङ्गानां तदाश्रयाणां च प्रत्ययानामित्यर्थः ॥ ६२ ॥

प्रत्ययों के आश्रय स्तोत्रादि जैसे तीनों वेदों में उपदिष्ट होते हैं, उसी प्रकार उनके आश्रित प्रत्यय भी उपदिष्ट होते हैं, इससे अंगों को और तदाश्रित प्रत्ययों को उपदेशकृत भी कोई विशेष (भेद) नहीं है इससे अंग के समान शासन-विधान के अविशेष होने से अंगों के समान समुच्चय होगा, यह अर्थ है ॥ ६२ ॥

समाहारात् ॥ ६३ ॥

'होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति' (छा० १।५।५) इति च प्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानमाहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मण्युत्पन्नं क्षतं हौत्रात्कर्मणः प्रतिसमादधातीति ब्रुवन्वेदान्तरोदितस्य प्रत्ययस्य वेदान्तरोदितपदार्थसम्बन्धसामान्यात् सर्ववेदोदितप्रत्ययोपसंहारं सूचयतीति लिङ्गदर्शनम् ॥ ६३ ॥

समाहार-समाहरण-क्षत का संधान से भी समुच्चय प्रतीत होता है। यहाँ ऋग्वेदी का जो प्रणव है वह सामवेदी का उद्गीथ है, इत्यादि प्रणव और उद्गीथ की एकतादृष्टि से उपासना का फल है कि (होता के स्थान में स्थितिपूर्वक सम्यक् प्रयुक्त कृत होता के कर्म से, जो उद्गाता दुष्ट उद्गान किया रहता है, अपने कर्म में त्रुटि किया रहता है, उसको चरु उपासक होता अपने कर्म और उपासना के बल से अनुसंधानपूर्ण कर देता है) इस प्रणव और उद्गीथ के एकत्व-विज्ञान के माहात्म्य से उद्गाता स्वकर्म में उत्पन्न क्षत, न्यूनता को होताकृत कर्म से समाधानपूर्णता करता है, इस प्रकार कहता हुआ, वेदान्तर में कथित प्रत्यय का भी वेदान्तर में कथित पदार्थ के साथ सम्बन्ध सामान्य से सब वेद में कथित प्रत्ययों के उपसंहार को सूचित करता है, इससे सामवेद में उत्पन्न उद्गीथ ध्यान को जो ऋग्वेदोक्त प्रणव के साथ सम्बन्ध देखा गया है, वही अंगों के सब वेदों में विहित उपासनाओं के समुच्चय में लिंग है इत्यादि ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

विद्यागुणं च विद्याश्रयं सन्तमोङ्कारं वदत्रयसाधारणं श्रावयति, तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते, 'ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति' (छा० १।१।९) इति च। ततश्चाश्रयसाधारण्यादाश्रितसाधारण्यमिति लिङ्गदर्शनमेव। अथवा

गुणसाधारण्यश्रुतेश्चेति। यदीमे कर्मगुणा उद्गीथादयः सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणा न स्युर्न स्यात्ततस्तदाश्रयाणां प्रत्ययानां सहभावः। ते तूद्गीथादयः सर्वाङ्ग-ग्राहिणा प्रयोगवचनेन सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणाः श्राव्यन्ते, ततश्चाश्रयसह-भावात्प्रत्ययसहभाव इति ॥ ६४ ॥

विद्या का गुण (विषय) अथवा विद्यारूप गुण वाला अर्थात् विद्या का आश्रय होता हुआ ओंकार को वेदत्रय में साधारणरूप से श्रुति श्रवण कराती है कि इस ओंकार से वेदत्रय-विहित कर्मादि प्रवृत्त होते हैं, ओंकार से तीन वेद उत्पन्न होते हैं। (ओम् इस का उच्चारण करके अध्वर्यु आश्रवण कराता है, ओम् के उच्चारणपूर्वक होता स्तुति करता है, ओंकार के उच्चारणपूर्व उद्गाता उद्गान करता है) इति। इससे ओंकाररूप आश्रय की साधारणता से उसके आश्रित रहने वाली विद्याओं में भी साधारणता है, और यह भी लिंग का दर्शन ही है। अथवा गुणसाधारण्यश्रुतेश्च, इसका यह अर्थ है कि यदि ये कर्म के गुण (अंग) रूप उद्गीथादि सब, कर्म के सब प्रयोगों में साधारण नहीं हों, तब तो उनके आश्रित रहने वाले प्रत्ययों का भी सब प्रयोगों में सहभाव नहीं हो। परन्तु वे उद्गीथादि सब तो सब अंगों के ग्राहक प्रयोग-वचन से सब प्रयोगों में साधारणरूप से सुनाये जाते हैं, इससे आश्रयरूप उद्गीथादि के सब प्रयोगों में सहभाव से आश्रित उपासनाओं का सर्वत्र सहभाव होता है ॥६४॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

न वेति पक्षव्यावर्तनम्। न यथाश्रयभाव आश्रितानामुपासनानां भवि-तुमर्हति। कुतः? तत्सहभावाश्रुतेः। यथा हि त्रिवेदीविहितानामङ्गानां स्तोत्रा-दीनां सहभावः श्रूयते—'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति स्तो-त्रमनुशंसति प्रस्तोतः साम गाय होतरेतद्यज' इत्यादिना, नैवमुपासनानां सह-भावश्रुतिरस्ति।

फलेच्छा और रुचि के अनुसार उपासना की जाती है, नियम से नहीं, इससे सिद्धान्त सूत्रगत, न वा, यह पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि अंगाश्रित उपासनाओं का यथाश्रय भाव (आश्रयतुल्य समुच्चय) होने योग्य नहीं है, क्यों नहीं है कि उनके सहभाव के अश्रवण से समुच्चय नहीं है। जिससे तीनों वेदों में विहित अंगरूप स्तोत्रादि का जैसे सहभाव सुना जाता है कि (ग्रह, पात्र का ग्रहण करके वा चमस को ऊपर उठा कर स्तोता स्तोत्र का आरम्भ करता है, स्तोत्र का अनुशासन करता है कि, हे प्रस्तोतः! साम गाओ, हे होतः! इसका यज्ञ करो) इत्यादि वचनों से सहभाव सुना जाता है, इस प्रकार उपासनाओं के सहभाव की श्रुति नहीं है।

ननु प्रयोगवचन एवासां सहभावं प्रापयेत्। नेति ब्रूमः पुरुषार्थत्वादुपास-नानाम्। प्रयोगवचनो हि क्रत्वर्थानामुद्गीथादीनां सहभावं प्रापयेत्। उद्गीथा-द्युपासनानि क्रत्वर्थाश्रयाण्यपि गोदोहनादिवत्पुरुषार्थानीत्यवोचाम 'पृथग्घ्य-

प्रतिबन्धः फलम्' (ब्र० सू० ३।३।४२) इत्यत्र। अयमेव चोपदेशाश्रयो विशेषोऽङ्गानां तदालम्बनानां चोपासनानां यदेकेषां क्रत्वर्थत्वमेकेषां पुरुषार्थत्वमिति। परं च लिङ्गद्वयमकारणमुपासनसहभावस्य श्रुतिन्यायाभावात्। नच प्रतिप्रयोगमाश्रयकार्त्स्न्योपसंहारादाश्रितानामपि तथात्वं विज्ञातुं शक्यम्, अतत्प्रयुक्तत्वादुपासनानाम्। आश्रयतन्त्राण्यपि ह्युपासनानि काममाश्रयाभावे मा भूवन्न त्वाश्रयसहभावे सहभावनियममर्हन्ति तत्सहभावाश्रुतेरेव। तस्माद्यथाकाममेवोपासनान्यनुष्ठीयेरन् ॥ ६५ ॥

यदि कहा जाय कि प्रयोग-विधि ही इन उपासनाओं के सहभाव को प्राप्त करायेगी, तो कहते हैं कि प्रयोग-विधि इनके सहभाव को नहीं प्राप्त करा सकती है, क्योंकि अङ्ग और प्रधान के सम्बन्धों का बोधक प्रयोग-विधि होती है, उपासनायें कर्माङ्ग नहीं हैं, उपासनाओं को पुरुषार्थत्व है, पुरुष की प्रयोजनविशेष के लिए उपासना होती है। इससे प्रयोग-वचन क्रत्वर्थक उद्गोथादि के आश्रित होते भी गोदोहनादि के समान पुरुषार्थक ही हैं, वह (पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्) इस सूत्र में हमने कहा है। उपदेशाश्रय (उपदेश से समझने योग्य) अंग और उनके आश्रित उपासनाओं का यही विशेष भेद है, कि इनमें एक को क्रत्वर्थत्व है, और एक को पुरुषार्थत्व है। (समाहारात्) इत्यादि दो सूत्र से कथित अन्य दो लिङ्ग भी श्रुति और न्याय के अभाव से उपासनाओं के सहभाव का कारण नहीं हैं। अर्थात् लिङ्ग के अर्थवादगत होने से मानान्तर से प्राप्त का वह द्योतक होता है, स्वयं अर्थ का साधक नहीं होता है और यहाँ मानान्तर नहीं है। प्रत्येक कर्म प्रयोग में अङ्गरूप आश्रयों का सम्पूर्णरूप से उपसंहार होने से आश्रित उपासनाओं के भी उन अङ्गों के समान ही समाहार को नहीं समझ सकते हैं, क्योंकि उपासनाओं को अतत्प्रयुक्तत्व है, अर्थात् उपासनायें अङ्ग प्रयुक्त नहीं हैं, किन्तु फल काम से प्रयुक्त हैं। इससे आश्रय के अधीन भी उपासनायें, आश्रय के नहीं रहने पर (कामं) यथेष्ट भले न हों, परन्तु आश्रय के समान उपासनाओं का सहभाव रहने पर उपासनायें सहभाव के नियम के योग्य नहीं हो सकती हैं। इससे इच्छा के अनुसार उपासनायें अनुष्ठित होंगी, की जायँगी, इससे उपासना अङ्गों की व्याप्य हैं व्यापक नहीं हैं ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

दर्शयति च श्रुतिरसहभावं प्रत्ययानाम् 'एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति' (छा० ४।१७।१०) इति। सर्वप्रत्ययोपसंहारे हि 'सर्वे सर्वविदः' इति न विज्ञानवता ब्रह्मणा परिपाल्यत्वमितरेषां संकीर्त्येत। तस्माद्यथाकाममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो वेति ॥ ६६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

प्रत्ययों के असहभाव को श्रुति दर्शाती है कि (इस प्रकार व्याहृति आदि को जानने वाला ब्रह्मा यज्ञ, यजमान, और सब ऋत्विजों की रक्षा करता है) इति। जिससे सब प्रत्ययों का उपसंहार होने पर सब ऋत्विगादि सर्ववेत्ता होंगे, इससे विज्ञान वाले ब्रह्मा से इतर की परिपाल्यता नहीं संकीर्तित हो सकेगी। इससे इच्छा के अनुसार उपासनाओं का समुच्चय वा विकल्प होता है ॥ ६६ ॥

गुणागुणात्मकं विश्वं ह्यगुणं ब्रह्म निर्भयम्। अन्यद् भयात्मकं सर्वं ह्यशुद्धं च विनश्वरम्॥१॥
गुणेषु सात्त्विकं शुद्धं कार्यं कल्याणकारकम्। वारकं दोषसंघानामघानां हारकं तथा ॥२॥
कार्यं ब्रह्मविशुद्धैर्हि सात्त्विकैः सद्गुणैर्युतम्। ध्यातं ज्ञातं सुविज्ञातं ददाति गुणमुत्तमम् ॥३॥
उत्तमगुणलाभेन शान्तिदान्त्यादिलाभतः। भावतः सद्गुरौ देवे मुच्यते ज्ञानलाभतः ॥४॥
राजसं तामसं भावं यत्नेन वर्जयेज्जनः। कामं क्रोधं तथा लोभं मानं मोहं च मत्सरम् ॥५॥
नरकद्वारमेतद्धि कामादि कलुषात्मकम्। एतैर्युक्तो न शक्नोति गुणं शुद्धं सुसेवितुम् ॥६॥
विशुद्धगुणसेवार्थमन्यत्यागार्थमेव च। पादोऽयं मुनिना गीतः सुबोधाय कृपालुना ॥७॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

[अत्र निर्गुणविद्याया अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनविचारः ।]

पुरुषार्थाधिकरणम् (१)

क्रत्वर्थमात्मविज्ञानं स्वतन्त्रं वात्मनो यतः । देहातिरेकमज्ञात्वा न कुर्यात्क्रतुगं ततः ॥
नाद्वैतधीः कर्म हेतुर्हन्ति प्रत्युत कर्म सा । आचारो लोकसंग्राही स्वतन्त्रा ब्रह्मधीस्ततः ॥

पूर्वोक्त उपासनादि से और वक्ष्यमाण साधनों से जन्य इस आत्मज्ञान से परमपुरुषार्थ (मोक्ष) होता है, इस प्रकार बादरायण आचार्य कहते हैं जिससे (य इत्तद्विदुस्तेऽमृतत्वमानशुः । ऋग् २।३।१८।२३) ये इत्—ये एव—जो लोग उस ब्रह्म को समझ पाये, वे अमृतत्व को प्राप्त हुये, इत्यादि श्रुति से ज्ञान से ही मोक्ष सिद्ध होता है ॥ यहाँ संशय होता है कि आत्मविज्ञान क्रत्वर्थक है वा स्वतन्त्र है । पूर्वपक्ष है कि जिससे आत्मा के देह से अतिरेक (भेद) को समझे बिना पारलौकिक फल के हेतु कर्मों को मनुष्य नहीं कर सकता है, इससे आत्मतत्त्व विज्ञान क्रतुगत (कर्माङ्ग) रूप कर्ता द्वारा है । सिद्धान्त है कि सामान्य रूप से देहातिरिक्त परोक्ष आत्मा का ज्ञान कर्माङ्ग हो सकता है परन्तु औपनिषद अपरोक्ष अद्वैत आत्मविज्ञान कर्म का हेतु नहीं है, प्रत्युत भेद रागादि की निवृत्ति द्वारा आत्मज्ञान कर्म को नष्ट करता है । ज्ञानी में सदाचार लोकसंग्रहार्थक रहता है, इससे ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्र मोक्षार्थक है ॥ १-२ ॥

पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

अथेदानीमौपनिषदमात्मज्ञानं किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवानुप्रविशत्याहोस्वित्स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांसमानः सिद्धान्तेनैव तावदुपक्रमते पुरुषार्थोऽत इति । अतः अस्माद्वेदान्तविहितादात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात् पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुत एतदवगम्यते ? शब्दादित्याह । तथाहि—'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) 'आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति । 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्युपक्रम्य 'स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' (छा० ८।७।१) इति । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्युपक्रम्य 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (बृ० ४।५।१५) इत्येवंजातीयका श्रुतिः केवलाया विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वं श्रावयति ॥ १ ॥

पूर्वोक्त गुणोपसंहार ज्ञान साधन उपासनादि विचार के बाद अब इस समय

उपनिषद्-जन्य आत्मज्ञान कर्माधिकारी के द्वारा क्या कर्म ही में प्रवेश करता है, अथवा स्वतन्त्र ही पुरुषार्थ का साधन होता है, इस मीमांसा विचार को करते हुए सूत्रकार प्रथम सिद्धान्त द्वारा ही विचार का आरम्भ करते हैं कि (पुरुषार्थोऽत इति) अतः, इस वेदान्त में निहित स्वतन्त्र आत्मज्ञान से पुरुषार्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार बादरायण आचार्य मानते हैं। यह किस प्रमाण से ज्ञात सिद्ध होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर, शब्द में यह अवगत होता है, ऐसा कहते हैं, जिससे इस प्रकार की श्रुतियाँ हैं कि (आत्मज्ञानी शोकसागर संसार को तरता है। इससे जो कोई उस पर ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही होता है। ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त करता है। आचार्यवाला पुरुष जानता है, और उसको सत्यात्म सम्पत्ति में तभी तक देर है कि जब तक प्रारब्ध कर्म से नहीं विमुक्त हुआ है, प्रारब्धान्त में वह सत् में सम्पन्न, लीन होता है। इति। जो आत्मा है वह सब पापों से रहित है। ऐसा आरम्भ करके (जो उस आत्मा को शास्त्रादि के द्वारा अन्वेषण, विचार करके जानता है, वह सब लोक और सब काम को प्राप्त करता है) इति। और (अरे मैत्रेयि ! आत्मा दर्शन के योग्य है) ऐसा आरम्भ करके (अरे मैत्रेयि ! एतावत् इस अद्वैत आत्मा का दर्शन मात्र ही अमृतत्व है) इस प्रकार की श्रुतियाँ केवल आत्मविद्या के पुरुषार्थहेतुत्व का श्रवण कराती हैं ॥ १ ॥

अथात्र परः प्रत्यवतिष्ठते—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

कर्तृत्वेनात्मनः कर्मशेषत्वात्तद्विज्ञानमपि व्रीहिप्रोक्षणादिवद्विषयद्वारेण कर्मसम्बन्ध्येवेत्यतस्तस्मिन्नवगतप्रयोजने आत्मज्ञाने या फलश्रुतिः साऽर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। यथान्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति, यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते, यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै' इत्येवंजातीयका फलश्रुतिरर्थवादः, तद्वत्।

इस सिद्धान्त के बाद इस पर अन्य शंका करते हैं—पक्षान्तर को सिद्ध करते हैं कि—कर्तारूप से आत्मा के कर्म के शेष (अंग) होने से उसके विज्ञान भी विषयरूप आत्मा द्वारा कर्म का ही सम्बन्धी है, जैसे व्रीहि का प्रोक्षणादि व्रीहि द्वारा कर्मसम्बन्धी होता है, इससे कर्म में उपकाररूप ज्ञात प्रयोजन वाले आत्मज्ञान के होते जो पुरुषार्थवादरूप (तरति शोकमात्मवित्) इत्यादि फलश्रुति है वह अर्थवाद मात्र है, इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते हैं। जैसे कि अन्य द्रव्य, संस्कार और कर्म में फल का श्रवण है कि (जिसकी पर्णमयी जुहू होती है वह अपशब्द नहीं सुनता है) यहाँ पर्णमय द्रव्य का फल श्रवण है। (जो अपने नेत्रों में यजमान अंजन करता है उससे शत्रु के नेत्र को ही नष्ट करता है) यह संस्कार का फल श्रवण है। (जो प्रयाज और अनुयाज किये जाते हैं, वह यज्ञ का वर्म, कवच ही किया जाता है, और यजमान के शत्रुओं के अभिभव के लिये

वर्म होता है) इत्यादि फलश्रुति जैसे अर्थवाद हैं, इसी प्रकार ज्ञानविषयक फलश्रुति अर्थवाद है।

कथं पुनरस्यानारभ्याधीतस्यात्मज्ञानस्य प्रकरणादीनामन्यतमेनापि हेतुना विना क्रतुप्रवेश आशङ्क्यते। कर्तृद्वारेण वाक्यात्तद्विज्ञानस्य क्रतुसम्बन्ध इति चेत्। न वाक्याद्विनियोगानुपपत्तेः। अव्यभिचारिणा हि केनचिद्द्वारेणानारभ्याधीतानामपि वाक्यनिमित्तः क्रतुसम्बन्धोऽवकल्पते। कर्ता तु व्यभिचारि द्वारं लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात्, तस्मान्न तद्द्वारेणात्मज्ञानस्य क्रतुसम्बन्धसिद्धिरिति। न। व्यतिरेकविज्ञानस्य वैदिकेभ्यः कर्मभ्योऽन्यत्रानुपयोगात्। नहि देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं लौकिकेषु कर्मसूपयुज्यते, सर्वथा दृष्टार्थप्रवृत्त्युपपत्तेः। वैदिकेषु तु देहपातोत्तरकालफलेषु देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्युपयुज्यते व्यतिरेकविज्ञानम्।

यहाँ सिद्धान्ती कहते हैं कि कर्म के आरम्भ के बिना पठित आत्मज्ञान का प्रकरणादि में किसी एक भी हेतु के बिना क्रतु में प्रवेश कैसे आशङ्कित हो सकता है। यदि कहो कि वाक्य से कर्ता के द्वारा उसके विज्ञान को क्रतु के साथ सम्बन्ध होगा, जैसे कि जुहू को क्रतु के साथ सम्बन्ध है, और पर्णता को जुहू द्वारा कर्म से सम्बन्ध होता है, वैसे कर्ता को कर्म से सम्बन्ध है, इससे कर्ता द्वारा उसके विज्ञान को कर्म के साथ सम्बन्ध होगा, तो कहा जाता है कि वाक्य से विनियोग (सम्बन्ध) की अनुपपत्ति से ऐसा नहीं हो सकता है। जिससे किसी अव्यभिचारी (नित्यक्रतु सम्बन्धी क्रतुव्याप्य) द्वारा अनारभ्याधीत का भी वाक्यनिमित्तकक्रतु के साथ सम्बन्ध सिद्ध हो सकता है, जैसे कि क्रतु व्याप्य जुहू द्वारा पर्णता को कर्म के साथ सम्बन्ध होता है, और लौकिक वैदिक कर्म साधारणता से कर्ता तो व्यभिचारी द्वार रूप है, क्रतु से व्याप्य नहीं है, जिससे कर्ता द्वारा उसके ज्ञान को कर्म के साथ सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती है। फिर पूर्वपक्षी कहते हैं कि यद्यपि कर्तृत्व रूप से कर्ता क्रतुव्याप्य नहीं है, तथापि देह से भिन्न रूप से ज्ञात कर्ता क्रतु से व्याप्य है, इससे व्यभिचार रूप दोष नहीं है, जिससे देह से आत्मा के व्यतिरेक ज्ञान का वैदिक कर्मों से अन्यत्र उपयोग नहीं है, देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान लौकिक कर्मों में उपयुक्त नहीं होता है, जिससे देहात्मत्व रूप से वा भिन्न रूप से किसी प्रकार भी आत्मा का ज्ञान रहे दृष्टार्थक प्रवृत्ति की सर्वथा सिद्धि होती है। परन्तु देहपात के उत्तर काल में फल वाले वैदिक कर्मों में तो देह व्यतिरिक्त आत्मज्ञान के बिना प्रवृत्ति नहीं सिद्ध हो सकती है, इससे व्यतिरिक्त आत्मा का ज्ञान कर्म में उपयुक्त (सफल) होता है।

नन्वपहतपाप्मत्वादिविशेषणादसंसार्यात्मविषयमौपनिषदं दर्शनं न प्रवृत्त्यङ्गं स्यात्। न। प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो द्रष्टव्यत्वेनोपदेशात्। अपहतपाप्मत्वादिविशेषणं तु स्तुत्यर्थं भविष्यति। ननु तत्र तत्र प्रसाधितमे-

तदधिकमसंसारि ब्रह्म जगत्कारणं तदेव च संसारिण आत्मनः पारमार्थिकं स्वरूपमुपनिषत्सूपदिश्यत इति। सत्यं प्रसाधितं तस्यैव तु स्थूणानिखननवत्फलद्वारेणाक्षेपसमाधाने क्रियेते दार्ढ्याय ॥ २ ॥

यदि कहो कि देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान कर्म में उपयोग होते भी अपहतपाप्मत्वादि विशेषण से युक्त असंसारी आत्मा विषयक उपनिषद्जन्य ज्ञान प्रवृत्ति का अंग, कर्म का साधन नहीं हो सकता है, तो कहा जाता है कि असंसारी आत्मा नहीं है। क्योंकि जिसके लिए जाया आदि प्रिय होते हैं, उसी प्रिय आदि से संसूचित संसारी आत्मा का ही द्रष्टव्य रूप से उपदेश होने से संसारी ही आत्मा है। अपहतपाप्मत्वादि आत्मा के विशेषण तो स्तुत्यर्थक होंगे। यहाँ शंका होती है कि जन्मादि सूत्र से आरम्भ करके तत्र स्थानों में यह प्रसाधित (पूर्णरूप से सिद्ध) किया गया है कि अधिक (संसारी से भिन्न) अतएव असंसारी ब्रह्म जगत् का कारण है और वही संसारी आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप उपनिषदों में उपदिष्ट होता है, फिर उसका यहाँ अभाव कैसे कहा जाता है। उत्तर है कि प्रसाधित हुआ है सो सत्य ही है, उसका यहाँ निषेध नहीं किया जाता है किन्तु स्थूणानिखनन के समान उसी की दृढ़ता के लिए फल द्वारा आक्षेप और समाधान किये जाते हैं ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' (बृ० ३।१।१) 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५।११।१५) इत्येवमादीनि ब्रह्मविदामप्यन्यपरेषु वाक्येषु कर्मसम्बन्धदर्शनानि भवन्ति। तथोद्दालकादीनामपि पुत्रानुशासनादिदर्शनाद् गार्हस्थ्यसम्बन्धोऽवगम्यते। केवलाच्चेज्ज्ञानात्पुरुषार्थसिद्धिः स्यात्किमर्थमनेकायाससमन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः 'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' इति न्यायात् ॥ ३ ॥

(विदेह निमि वंश के राजा जनक ने बहुत दक्षिणायुक्त यज्ञ के द्वारा यजन किया। हे भगवन्त ऋषिगण ! मैं यज्ञ करने वाला हूँ आप लोग यहाँ बसें) यह ज्ञानी कैकेय राजा ने कहा था। इत्यादि, अन्यपर (विद्याविधिपरक, कर्मविधिभिन्न) वाक्यों में ब्रह्मवेत्ताओं के कर्म सम्बन्ध के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार उद्दालकादि के भी पुत्र के प्रति उपदेशादि के दर्शन से, उनका गृहस्थ धर्म यज्ञादि के साथ सम्बन्ध उपलब्ध अवगत होता है, केवल ज्ञान से यदि पुरुषार्थ की सिद्धि होती तो अनेक आयास (परिश्रम) से युक्त कर्मों को वे ज्ञानी लोग क्यों करते, भला (अक्क) पास में गृह कोण में मधु मिल जाय, तो मध्वर्थी पर्वत पर क्यों और किस फल के लिए जायगा। इस न्याय से केवल अनायास साध्यज्ञान से मोक्ष की सिद्धि हो तो कोई ज्ञानी कर्म नहीं करे, और ज्ञानी के कर्माचार का दर्शन होता है, इससे ज्ञान कर्माङ्ग है, अर्थात् कर्म समुच्चित ज्ञान से मोक्ष होता है ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति च कर्मशेषत्वश्रवणाद्विद्याया न केवलायाः पुरुषार्थहेतुत्वम् ॥४॥

(विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् (ध्यान) से युक्त होकर जिस कर्म को करता है, वही कर्म अतिवीर्ययुक्त होता है, अज्ञ के कर्मों से अधिक फलप्रद होता है) इस प्रकार विद्या के कर्म शेषत्व के तृतीया विभक्ति से श्रवण होने से केवल विद्या को पुरुषार्थ का हेतुत्व नहीं है ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४।४।२) इति च विद्याकर्मणोः फलारम्भे सहकारित्वदर्शनान्न स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ ५ ॥

(मरण के बाद परलोक में जाते हुए उस जीवात्मा के साथ शुभाशुभ विद्या और कर्म अनुगमन करते हैं, साथ वासनाएँ जाती हैं । इस प्रकार विद्या और कर्म को फलों के आरम्भ में परस्पर सहकारित्व (साहित्य) के दर्शन से फलारम्भ (पुरुषार्थ) में विद्या को स्वतन्त्रता नहीं है, किन्तु विद्या कर्म का अंग है ।

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः' (छा० ८।१५।१) इति चैवंजातीयका श्रुतिः समस्तवेदार्थविज्ञानवतः कर्माधिकारं दर्शयति, तस्मादपि न विज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वम् । नन्वत्राधीत्येत्यध्ययनमात्रं वेदस्य श्रूयते नार्थविज्ञानम् । नैष दोषः । दृष्टार्थत्वाद्वेदाध्ययनमर्थावबोधपर्यन्तमिति स्थितम् ॥ ६ ॥

(गुरु की सेवा-शुश्रूषा आदि कर्मों से अतिरिक्त काल में विधि के अनुसार अर्थ सहित वेदों का अध्ययन करके फिर गुरुकुल, गुरुगृह से अर्थात् ब्रह्मचर्य से अभितः विधिपूर्वक समावर्तन करके, कुटुम्ब में, गार्हस्थ्य में स्थिर होकर प्रतिदिन शुचिदेश में वेद का अध्ययन तथा अन्य नित्यादि कर्मों को करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है) इत्यादि प्रकार वाली श्रुति समस्त वेद और वेदार्थ के ज्ञानवालों के कर्म विषयक अधिकार को दर्शाती है । इससे भी विज्ञान को स्वतन्त्रता पूर्वक फल का हेतुत्व नहीं है । यदि शंका हो कि श्रुति में (अधीत्य) अध्ययन करके, इस प्रकार वेद का अध्ययन मात्र सुना जाता है । अर्थ का विज्ञान नहीं सुना जाता है, तो उत्तर है कि यह अर्थ का अश्रवण रूप दोष नहीं है, जिससे व्रीहि अवघातादि के समान वेदाऽध्ययन के दृष्टार्थक होने से अर्थ के अवबोधपर्यन्त वेदाध्ययन कहा जाता है, क्योंकि अर्थावबोध रूप दृष्टफल के सम्भव रहते, अदृष्टार्थक अध्ययन को मानना अयुक्त है, ब्रह्म भी वेदार्थ है, इससे ब्रह्मज्ञान वाले के लिए कर्म का विधान होने से ज्ञान कर्म का अंग है, यह स्थित हुआ ॥ ६ ॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (ईशा० २) इति ।

तथा 'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' इत्येवंजातीयकान्नियमादपि कर्मशेषत्वमेव विद्याया इति ॥ ७॥

(इस मानव देह में अग्निहोत्रादि विहित कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे, क्योंकि शतायु मनुष्य कहा जाता है। इस प्रकार कर्म करते हुए जीने वाले फलेच्छारहित तुम नरमात्राभिमानी में भी कर्म नहीं लिप्त होगा। इससे अन्यथा कर्मालेप का साधन नहीं है) इति। इसी प्रकार (यह जो अग्निहोत्र है सो जरा अवस्था और मरणपर्यन्त कर्तव्य सत्र-याग रूप है, इससे जरा अवस्था से वा मृत्यु से ही मनुष्य इस अग्निहोत्र कर्म से मुक्त (रहित) होता है) इस प्रकार के नियमों से भी विद्या को कर्मशेषत्व ही है ॥ (द्वितीय सूत्रगत शेषत्वात् यह पञ्चम्यन्त पद प्रथमान्त रूप से यहाँ तक आया है) ॥ ७ ॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते। यदुक्तम्—'शेषत्वात्पुरुषार्थवादः' (ब्र० सू० ३।४।२) इति, तन्नोपपद्यते। कस्मात्? अधिकोपदेशात्। यदि संसार्येवात्मा शारीरः कर्ता भोक्ता च शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्ततो वर्णितेन प्रकारेण फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात्। अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसारिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर उसके निषेधपूर्वक सिद्धान्त का विधान करते हैं कि—

संसारी से अधिक (श्रेष्ठ भिन्न) तत्त्व का श्रुति में उपदेश होने से तो प्रथम सूत्रोक्त बादरायण आचार्य का ही मत स्थित है, निश्चय योग्य है, जिससे इसी प्रकार उस अधिक तत्त्व का श्रुतियों में दर्शन होता है। इससे सूत्रगत तु शब्द से पूर्वपक्ष परावृत्त (निवृत्त) होता है कि जो कहा गया है कि (शेषत्वात्पुरुषार्थवादः) इत्यादि। वह उपपन्न नहीं होता है, किस हेतु से नहीं उपपन्न होता है, तो अधिक उपदेश से नहीं उपपन्न होता है। यदि कर्ता भोक्ता संसारी ही शारीर आत्मा शरीर मात्र से भिन्न रूप से वेदान्तों में उपदिष्ट होता, तब तो पूर्ववर्णित रीति से फलश्रुति को अर्थवादत्व होता। शारीर (जीव) आत्मा से अधिक (भिन्न) ही असंसारी ईश्वर कर्तृत्वादिसंसारिधर्मरहित, अपहत पाप्मत्वादि विशेषण वाला परमात्मा वेद्यत्व रूप से वेदान्तों में उपदिष्ट होता है।

न च तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तकं भवति प्रत्युत कर्माण्युच्छिनत्तीति वक्ष्यति 'उपमर्दं च' (ब्र० सू० ३।४।१६) इत्यत्र। तस्मात् 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३।४।१) इति यन्मतं भगवतो बादरायणस्य तत्तथैव तिष्ठति न शेषत्वप्रभृतिभिर्हेत्वाभासैश्चालयितुं शक्यते। तथाहि तमधिकं शारीरादीश्वर-मात्मानं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९) 'भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः' (तै० २।८।१) 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठ० ६।२) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' (बृ० ३।८।९) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येवमाद्याः। यत्तु प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो वेद्यतयाऽनुकर्षणम् 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१) 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ८।७।४) इत्युपक्रम्य 'एतं त्वेव ते भूयोनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) इति चैवमादि, तदपि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० २।४।१०) 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृ० ३।५।१) 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।३) इत्येवमादिभिर्वाक्यशेषैः सत्यामेवाधिकोपदिदिक्षायामत्यन्ताभेदाभिप्रायमित्यविरोधः। पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, उपाधिकृतं तु शारीरत्वम् 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३।८।११) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सर्वं चैतद्विस्तरेणास्माभिः पुरस्तात्तत्र तत्र वर्णितम् ॥

उस परमात्मा का विज्ञान कर्मों का प्रवर्तक (साधक) नहीं होता है। प्रत्युत (उल्टा) कर्मों का उच्छेद करता है, जो (उपमर्द च) इस सूत्र में कहेंगे। जिससे (पुरुषार्थोऽतः शब्दात्) यह जो भगवान् बादरायण का मत है, वह वैसा ही वर्तमान है, शेषत्वादि हेत्वाभासों से वह विचलित नहीं किया जा सकता है। अर्थात् (ज्ञानं कर्माङ्गम्, अफलत्वे सति कर्मशेषाश्रयत्वात्) ज्ञान कर्म का अंग है, फलरहित होते कर्मशेष कर्ता विषयक होने से यह हेतु असिद्ध है, जिससे मोक्ष फल वाला ईश्वर का ज्ञान होता है, जिससे इसी प्रकार शारीर से अधिक उस ईश्वर रूप आत्मा को श्रुतियाँ दर्शाती हैं कि (जो परमात्मा सामान्य रूप से सबको जानने वाला सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने वाला सर्ववेत्ता है) इस परमात्मा के भय से ही वायु सब को शुद्ध करता और बढ़ाता है। (इसके भय से ही सूर्य उदित होता है)। उद्यत वज्र के समान ब्रह्म महान् भय का हेतु है। हे गार्गि! इसी अक्षर अविनाशी के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र विधृत नियमित होकर स्थिर रहते हैं। उस सत् ने विचार किया कि बहुत होऊँ। बहुत रूप से उत्पन्न होऊं, फिर उसने तेज को रचा, इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं। जो भी प्रियादि संसूचित संसारी आत्मा ही का वेद्यरूप से अनुकर्षण सम्बन्ध है कि (अपने काम के लिए सब प्रिय होता है। अरे मैत्रेयि! आत्मा ही समझने

योग्य है। जो मुख नासिका संचारी प्राण के द्वारा प्राण की चेष्टा करता है, वह तेरा विज्ञानमय आत्मा सर्वान्तर है) और (जो यह आँख में पुरुष दीखता है) इस प्रकार उपक्रम करके (इस उक्त आत्मा ही का मैं फिर व्याख्यान करूँगा) इत्यादि जीवात्मा का अनुकर्षण है। वह भी (इस महान् स्वरूप का यह निःश्वसित है जो ऋग्वेद है। जो भूख, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु का उल्लंघन करता है, जो परज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप से निष्पन्न सिद्ध होता है वह उत्तम पुरुष है) इत्यादि वाक्यशेषों से अधिक (भिन्नब्रह्म) के उपदेश की इच्छा के रहते ही अभेद में अभिप्राय वाले अनुकर्षण हैं, इससे अविरोध है, जीव का पारमार्थिक स्वरूप पारमेश्वर (परमेश्वर-भिन्न) ही है, शारीरत्व (शरीरभवत्व) तो उपाधिकृत है, जो (तत्त्वमसि, नान्यद-तोऽस्ति द्रष्टृ) वह तुम हो, इससे अन्य द्रष्टा नहीं है, इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। यह सब तत्त्व तत्तत् स्थानों में विस्तारपूर्वक पूर्व हम से वर्णित हुआ है, यह भाष्यकार का कथन है ॥ ८ ॥

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

यत्तूक्तमाचारदर्शनात्कर्मशेषो विद्येति। अत्र ब्रूमः—तुल्यमाचारदर्शनमकर्मशेषत्वेऽपि विद्यायाः। तथाहि श्रुतिर्भवति—'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुरृषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे, एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रिरे' 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३।५।१) इत्येवंजातीयका। याज्ञवल्क्यादीनामपि ब्रह्मविदामकर्मनिष्ठत्वं दृश्यते—'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अपिच 'यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५।११५) इत्येतल्लिङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम्। संभवति च सोपाधिकायां ब्रह्मविद्यायां कर्मसाहित्यदर्शनम्, न त्वत्रापि कर्माङ्गत्वमस्ति प्रकरणाद्यभावात् ॥ ९ ॥

और जो यह कहा था कि आचार के दर्शन से विद्या कर्म का शेष (अङ्ग) है। यहाँ कहते हैं कि विद्या की अकर्मशेषता (स्वतन्त्रता) में भी आचार का दर्शन तुल्य है, जिससे इस प्रकार की श्रुति है कि (इस प्रसिद्ध आत्मतत्त्व को उस ब्रह्मस्वरूप जानने वाले कावषेय ऋषि कहते हैं कि हम किस लिए अध्ययन करेंगे। किस लिए यज्ञ करेंगे। इसी वाक् और प्राण के परस्पर होम रूप अग्निहोत्र को जाननेवाले पूर्व के विद्वानों ने अग्निहोत्र नहीं किया। मृत्यु आदि से रहित उस आत्मा को इस निजस्वरूप जानकर ब्रह्मनिष्ठ लोग) पुत्रार्थक, वित्तार्थक और लोकार्थक इच्छाओं से व्युत्थित उपरत होकर फिर भिक्षाचरण करते हैं। इत्यादि श्रुति है। ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्यादि के भी अकर्मनिष्ठत्व (कर्मरहितत्व) देखा जाता है कि (अरे मैत्रेयि ! अद्वैत आत्मदर्शन-

मात्र ही अमृतत्व है, ऐसा कह कर याज्ञवल्क्य ने त्याग किया) इत्यादि श्रुतियों से
याज्ञवल्क्यादि का कर्मरहितत्व ज्ञात होता है। दूसरी बात है कि (हे भगवन्त ! मैं यज्ञ
करने वाला हूँ उसे देखने के लिए आप यहाँ ठहरें) यह लिङ्गदर्शन वैश्वानर विद्या-
विषयक है। सोपाधिक ब्रह्मविद्या में कर्मसाहित्य का दर्शन सम्भव है। परन्तु इस
वैश्वानरविद्या में भी कर्म का अङ्गत्व नहीं है, जिससे कर्म के प्रकरणादि के अभाव से
अङ्गत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। लोकसंग्रह के लिए ज्ञानीकृत कर्म वस्तुतः कर्म नहीं
होता है ॥ ९ ॥

यत्पुनरुक्तम्—'तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० ३।४।४) इति, अत्र ब्रूमः—

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

'यदेव विद्यया करोति' (छा० १।१।१०) इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया प्रकृतविद्याभिसंबन्धात्, प्रकृता चोद्गीथविद्या 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्यत्र ॥ १० ॥

जो यह भी कहा था कि (तच्छ्रुतेः) कर्मांगत्व की श्रुति से विद्या कर्माङ्ग है। इति। इस विषय में कहते हैं कि—

(जो विद्यायुक्त होकर कर्म करता है) यह श्रुति, प्रकृत विद्या के साथ अभिसम्बन्ध से सर्वविद्याविषयक नहीं है और (ओम् इस अक्षर रूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे) यहाँ यह उद्गीथ विद्या प्रकृत है। इससे आत्मविद्या कर्म का शेष नहीं है ॥ १० ॥

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

यदप्युक्तम्—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४।४।२) इत्येतत्समन्वा-
रम्भवचनमस्वातन्त्र्ये विद्याया लिङ्गम्—इति तत्प्रत्युच्यते। विभागोऽत्र द्रष्टव्यो
विद्यान्यं पुरुषमन्वारभते कर्मान्यमिति। शतवत्, यथा शतमाभ्यां दीयतामि-
त्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदपरस्मै तद्वत्। नचेदं समन्वारम्भ-
वचनं मुमुक्षुविषयम् 'इति नु कामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति संसारिविषय-
त्वोपसंहारात्, 'अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति च मुमुक्षोः पृथगुप-
क्रमात्। तत्र संसारिविषये विद्या विहिता प्रतिषिद्धा च परिगृह्यते विशेषाभा-
वात्। कर्मापि विहितं प्रतिषिद्धं च यथाप्राप्तानुवादित्वात् एवं सत्यविभागेना-
पीदं समन्वारम्भवचनमवकल्पते ॥ ११ ॥

और जो यह भी कहा था कि (उस परलोक में जाने वाले के साथ विद्या और
कर्म अनुगमन करते हैं) यह समन्वारम्भ (साथ गमन) वचन विद्या की अस्वतन्त्रता
में लिङ्ग (हेतु) है। उसका प्रत्युत्तर–प्रत्याख्यान कहा जाता है कि यहाँ विभाग
समझना चाहिये कि विद्या अन्य पुरुष के साथ अनुगमन करती है, मुमुक्षु को मुक्त
करती है। कर्म अन्य के साथ अनुगमन करता है। शत के समान इस विभाग को

समझना चाहिए। जैसे कि इन दोनों को सौ रुपये दो, ऐसा कहने पर विभाग करके दिया जाता है। पचास एक को और पचास अन्य को दिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी विभागपूर्वक विद्या और कर्म का सहगमन होता है। वस्तुतः यह सहगमन वचन मुमुक्षु विषयक नहीं है, और विद्या शब्द का आत्मज्ञान अर्थ नहीं है, जिससे (इस प्रकार कामना करने वाला कर्म करता है, और जन्मता मरता है) इस प्रकार संसारी विषयक उपसंहार से, यह सहगमन संसारी विषयक ही सिद्ध होता है। (जिससे काम रहित मुक्त होता है) इस प्रकार मुमुक्षु के पृथक् उपक्रम से भी मुमुक्षुविषयक उक्त वचन नहीं है। उस समन्वारम्भ वचन में संसार विषयक उस वाक्य में विद्या शब्द से विहित उद्‌गीथादि विद्या और निषिद्ध नग्न स्त्री दर्शनादि दोनों परिगृहीत होते हैं, क्योंकि विशेष वचन का अभाव है और कर्म शब्द के भी यथा प्राप्त के अनुवादित्व होने से विहित प्रतिषिद्ध दोनों ही कर्म कर्म शब्द से गृहीत होते हैं। ऐसा होने पर अविभाग से भी समन्वारम्भ वचन सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

यच्चैतत् 'तद्वतो विधानात्' (ब्र० सू० ३।४।६) इति, अत उत्तरं पठति—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८।१५।१) इत्यत्राध्ययनमात्रस्य श्रवणादध्ययनमात्रवत एव कर्मविधिरित्यध्यवस्यामः। नन्वेवं सत्यविद्वत्त्वादनधिकारः कर्मसु प्रसज्यते। नैष दोषः। न वयमध्ययनप्रभवं कर्मावबोधनमधिकारकारणं वारयामः, किं तर्ह्यौपदनिमात्मज्ञानं स्वातन्त्र्येणैव प्रयोजनवत्प्रतीयमानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यत इत्येतावत्प्रतिपादयामः। यथाच न क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकारे(णा)पेक्ष्यत एवमेतदपि द्रष्टव्यमिति ॥ १२ ॥

जो यह कहा था कि (तद्वतो विधानात्) वेदार्थज्ञान वाले के लिये कर्म के विधान से ज्ञान कर्माङ्ग है ! इससे उसका उत्तर पढ़ते हैं कि—

(वेद का अध्ययन करके आचार्य कुल से समावर्तनपूर्वक गृहस्थ हो) यहाँ अध्ययन मात्र के श्रवण से अध्ययन मात्र वाले ही के लिये कर्मविधि है, ऐसा निश्चय करते हैं। यदि कहो कि ऐसा होने पर अविद्वत्ता—वेदोक्तार्थ के ज्ञान से शून्यता के कारण कर्मों में अनधिकार की प्राप्ति होगी, अर्थात् अर्थ के ज्ञान से रहित केवल वेद के अक्षरों को जानने वाला कर्म का अधिकारी नहीं होगा, वैदिक कर्म नहीं कर सकेगा, तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, जिससे अध्ययनजन्य कर्म के अधिकार के कारणरूप कर्म ज्ञान का हम मात्र पद से वारण नहीं करते हैं। किन्तु क्या करते हैं कि उपनिषद्‌जन्य स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोजन वाला (सफल) प्रतीत होता हुआ आत्मज्ञान कर्माधिकार की कारणता को नहीं प्राप्त होता है, इतना ही प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् आत्मज्ञानरहित वेदज्ञ कर्माधिकारी होते हैं, आत्मज्ञ नहीं। और जैसे क्रत्वन्तर का ज्ञान किसी अन्य क्रतु के अधिकार में अपेक्षित नहीं होता है, इसी प्रकार

इस आत्मज्ञान को भी समझना चाहिए कि यह किसी क्रतु में अपेक्षित नहीं होता है, क्रतु का ज्ञान क्रतु में अपेक्षित होता है ॥ १२ ॥

यदप्युक्तं 'नियमाच्च' (ब्र० सू० ३।४।७) इति, अत्राभिधीयते—

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (ईशा० २) इत्येवमादिषु नियमश्रवणेषु न विदुष इति विशेषोऽस्ति, अविशेषेण नियमविधानात् ॥ १३ ॥

जो यह भी कहा था कि (नियमाच्च) जीवन काल में सदा कर्म के नियम से ज्ञान कर्माङ्ग है, इस विषय में कहा जाता है कि—

(इस मानव देह में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे) इत्यादि नियम विषयक श्रुतियों में, अविशेष (सामान्य) रूप से नियम के विधान से विद्वान् को कर्म करते जीवन की इच्छा करनी चाहिए ऐसा विशेष नियम नहीं है। इससे अविद्वान् आत्मज्ञानरहित विषयक वह नियम है ॥ १३ ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईशा० २) इत्यत्रापरो विशेष आख्यायते। यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति सम्बध्यते तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतद्द्रष्टव्यम्। 'न कर्म लिप्यते नरे' (ईशा० २) इति हि वक्ष्यति। एतदुक्तं भवति। यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि पुरुषे न कर्म लेपाय भवति विद्यासामर्थ्यादिति। तदेवं विद्या स्तूयते ॥ १४ ॥

(कर्म करते हुए जीने की इच्छा करे) यहाँ अन्य विशेष कहा जाता है कि यद्यपि (कुर्वन्) इस श्रुति में प्रकरण के सामर्थ्य से विद्वान् ही कुर्वन् इस पद से सम्बन्ध वाला होता है कि विद्वान् कर्म करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, तो भी विद्या की स्तुति के लिए यह कर्म का अनुज्ञान (कर्म विषयक अनुमति) समझना चाहिए, जिससे कहेंगे कि (नर में कर्म लिप्त नहीं होता है) इससे यह रहस्य उक्त होता है कि—जीवनपर्यन्त कर्म करते रहने पर भी विद्वान् पुरुषों में विद्या के सामर्थ्य से कर्मलेप (अदृष्ट वासना) के लिए नहीं होता है। इससे अन्यथा ज्ञान के बिना अलेप का सम्भव नहीं है। इसलिए इस प्रकार विद्या की स्तुति की जाती है कि इस आत्मज्ञान के बाद इससे अन्यथा (ब्रह्मभाव से अन्यरूपता) तुममें नहीं होता है, क्योंकि कर्म का लेप नहीं होता है इत्यादि ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

अपि चैके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः सन्तस्तदवष्टम्भात्फलान्तरसाधनेषु प्रजादिषु प्रयोजनाभावं परामृशन्ति कामकारेणेति। श्रुतिर्भवति वाजसनेयिनाम् 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ० ४।४।२२) इति। अनुभवारूढमेव च

विद्याफलं न क्रियाफलवत्कालान्तरभावीत्यसकृदवोचाम। अतोऽपि न विद्यायाः कर्मशेषत्वं, नापि तद्विषयायाः फलश्रुतेरयथार्थत्वं शक्यमाश्रयितुम् ॥ १५ ॥

और भी विद्या की स्वतन्त्रता में यह लिंग है कि विद्या के फल को प्रत्यक्ष किये हुए एक शाखा वाले विद्वान् उस विद्या के अवलम्बन से फलान्तर के साधन प्रजा (पुत्र) आदि में कामकार (इच्छा के अनुसार—स्वेच्छा) से प्रयोजन के अभाव का परामर्श (कथन) करते हैं। वाजसनेयियों की श्रुति है कि (जिस हमारे को यह कर्मफलादि से रहित आत्मा ही लोक-फल-पुरुषार्थ है सो हम प्रजा से किस फल को प्राप्त करेंगे, इस प्रकार समझने वाले पूर्व के विद्वान् आत्मज्ञानी प्रजा की कामना नहीं करते हैं, तीन लोक के साधनरूप पुत्र कर्मविद्या का अनुष्ठान नहीं करते हैं) और विद्या का फल वर्तमान काल में अनुभवारूढ (प्रत्यक्ष) होता है, क्रियाफल के समान कालान्तर में होने वाला नहीं होता है, यह अनेक बार कह चुके हैं। इस पूर्व रीति से स्वयं स्वतन्त्र फलान्तर वाला होने से भी विद्या को कर्माङ्गत्व नहीं है। उस विद्याविषयक फलश्रुति के अयथार्थत्व (मिथ्यात्व) का भी आश्रयण (स्वीकार) प्रत्यक्षता से ही नहीं कर सकते हैं। इससे विद्या को स्वतन्त्रता है ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

अपिच कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्दमामनन्ति—'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्' (बृ० २।४।१४) इत्यादिना। वेदान्तोदितात्मज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं प्रत्याशासानस्य कर्माधिकारोच्छित्तिरेव प्रसज्येत, तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ १६ ॥

कर्म के अधिकार के हेतुरूप क्रिया, कारक और फलस्वरूप समस्त अविद्याकृत प्रपञ्च के स्वरूप के उपमर्दन (निवृत्ति) को विद्या के सामर्थ्य से कहते हैं कि (जिस ज्ञानावस्था में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस अवस्था में किससे किसको देखे और किससे किसको सूंघे) इत्यादि वचनों से क्रिया आदि सत्य स्वरूप का अभाव कहा जाता है। इससे तो वेदान्त में वर्णित आत्मज्ञानपूर्वक कर्माधिकार की सिद्धि के लिए आशा करने वाले के कर्माधिकार के उच्छेद (नाश) की ही प्राप्ति होगी, इससे भी विद्या को स्वतन्त्रता है ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु चाश्रमेषु विद्या श्रूयते, नच तत्र कर्माङ्गत्वं विद्याया उपपद्यते, कर्माभावात्, नह्यग्निहोत्रादीनि वैदिकानि कर्माणि तेषां सन्ति। स्यादेतत्। ऊर्ध्वरेतस आश्रमा न श्रूयन्ते वेद इति, तदपि नास्ति। तेऽपि हि वैदिकेषु शब्देष्ववगम्यन्ते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप

इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १।२।११) 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इत्येवमादिषु । प्रतिपन्नाप्रतिपन्नगार्हस्थ्यानामपाकृतानपाकृतर्णत्रयाणां चोर्ध्वरेतस्त्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ १७ ॥

चतुर्थाश्रमी ऊर्ध्वरेतसों, बद्धवीर्यों में आत्मविद्या सुनी जाती है और कर्म के अभाव से उनमें विद्या को कर्माङ्गत्व नहीं हो सकता है, जिससे अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों का उनको अभाव है। यदि कहो कि यह कर्माङ्गत्व विद्या को होगा ही, जिससे वेद में ऊर्ध्वरेतस आश्रम नहीं सुने जाते हैं, इससे वह कर्माङ्गत्व के अनुपपन्नत्व भी नहीं है। तो कहा जाता है कि, वह ऊर्ध्वरेतस का अश्रवण भी वेद में नहीं है, जिससे तेऽपि (ऊर्ध्वरेतस भी) (शब्दे) वैदिक शब्दों में अवगत होते हैं कि (धर्म के स्कन्ध, प्रविभाग तीन हैं, अर्थात् कर्म प्रधान आश्रम तीन हैं। चतुर्थ ब्रह्मसंस्थ है) जो ये जंगल में वानप्रस्थ और संन्यासी श्रद्धा और तप का सेवन करते हैं। ज्ञानयुक्त जो वानप्रस्थ और संन्यासी स्वधर्मरूप तप और विद्यात्मक श्रद्धा का जंगल में रहकर सेवन करते हैं। प्रव्रजनशील सब इस आत्मस्वरूप लोक को ही चाहते हुए त्याग करते हैं ब्रह्मचर्य से ही त्याग करें। इत्यादि शब्दों में चतुर्थाश्रम अवगत होता है। यह भी नियम नहीं है कि (ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणः) इत्यादि श्रुति आदि के अनुसार गृहस्थ और ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण से रहित हो करके ही त्याग करना चाहिये। किन्तु (ब्रह्मचर्यादेव) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार गृहस्थाश्रम को प्राप्त हों वा नहीं प्राप्त हों, तीन ऋणों का अपाकरण किये हों या नहीं किये हों, उन सब विरक्तों का ऊर्ध्वरेतस्त्व (त्याग) श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है। अविरक्तों के लिये गार्हस्थ्य ऋणापाकरण है। इस संन्यासनिष्ठत्व से भी विद्या को स्वतन्त्रता है ॥ १७ ॥

परामर्शाधिकरणम् (२)

नास्त्यूर्ध्वरेताः किं वास्ति नास्त्यसावविधानतः ।
वीरघाता विधेः क्लृप्तावन्धपंग्वादिगा स्मृतिः ॥
अस्त्यपूर्वविधेः क्लृप्तिर्वीरहानग्निको गृही ।
अन्धादेः पृथगुक्तत्वात्स्वस्थानां श्रूयते विधिः ॥
लोककाम्याश्रमी ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा ।
यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातुमर्हत्यवारणात् ॥
अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठासौ कर्मठे कथम ।
कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः ॥

जैमिनि आचार्य उक्त धर्मस्कन्धबोधक शब्द में ऊर्ध्वरेता का परामर्श (कथन, अनुवाद) मानते हैं, जिससे वहाँ लिङ्लोट् आदि चोदना (विधि) नहीं है। कर्मत्यागी का श्रुति अपवाद (निन्दा) भी करती है। इससे त्यागाश्रम नहीं है कि जहाँ विद्या

कर्म का अंग नहीं हो। यहाँ संशय है कि ऊर्ध्वरेता नहीं होता है, अथवा होता है। पूर्वपक्ष है कि विधि के अभाव से ऊर्ध्वरेता नहीं होता है। अपूर्व अर्थ होने आदि से यदि विधि की क्लृप्ति (कल्पना) करें, तो भी (वीरहा वा एष देवानाम्) इस वचन में वीरघात रूप दोष प्राप्त होता है। संन्यासविषयक जो स्मृति है, वह कर्म के अनधिकारी अन्ध-पङ्गु आदि विषयक है। इससे कर्माधिकारी स्वस्थ के लिए चतुर्थाश्रम नहीं है। सिद्धान्त है कि चतुर्थ आश्रम है जिससे अपूर्व विधि की क्लृप्ति सिद्धि होती है। अग्निरहित गृहस्थ वीरहा होता है। अन्धादि अनधिकृत के संन्यास पृथक् उक्त होने से स्वस्थों के संन्यास की विधि सुनी जाती है। पुण्यलोक की कामना वाले तीन आश्रमी क्या ब्रह्मनिष्ठा के योग्य होते हैं अथवा नहीं होते हैं? पूर्वपक्ष है कि लोकार्थक कर्मादि से अवकाश के समय अवकाश के अनुसार वे भी ब्रह्म को ही जान सकते हैं, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा के लिये विचारादि कर सकते हैं, क्योंकि किसी वचन से उनका वारण (निषेध) नहीं किया गया है कि लोकार्थी ब्रह्मविचारादि नहीं करे इत्यादि। सिद्धान्त है कि अनन्यचित्तता केवल ब्रह्मपरता ब्रह्मनिष्ठा कहाता है, वह कर्मठ (कर्मपरायण) में कैसे हो सकती है। इससे कर्मविषयक आसक्ति लोककामादि का त्यागी ब्रह्मनिष्ठा के योग्य होता है, अन्य नहीं होता है इत्यादि ॥ १–४ ॥

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इत्यादयो ये शब्दा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाणां सद्भावायोदाहृताः न ते तत्प्रतिपादनाय प्रभवन्ति। यतः परामर्शमेषु शब्देष्वाश्रमान्तराणां जैमिनिराचार्यो मन्यते न विधिम्। कुतः? नह्यत्र लिङादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दोऽस्ति। अर्थान्तरपरत्वं चैषु प्रत्येकमुपलभ्यते। त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्र तावद्यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं संकीर्त्यात्यन्तिकफलतया ब्रह्मसंस्थता स्तूयते—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा० २।२३।१) इति।

(तीन धर्म के स्कन्ध हैं) इत्यादि जो शब्द, ऊर्ध्वरेता आश्रमों (कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंसों) के सद्भाव (अस्तित्व) के लिए उदाहृत हुए हैं, कहे गये हैं वे शब्द उन आश्रमों के प्रतिपादन के लिये समर्थ नहीं होते हैं। जिससे इन शब्दों में अन्य आश्रमों के परामर्श (अनुवाद) जैमिनि आचार्य मानते हैं, विधि नहीं मानते हैं। क्यों ऐसा मानते हैं कि जिससे इन शब्दों में लिङ्गादि में से कोई विधिवाचक शब्द नहीं है। इनमें प्रत्येक का अर्थान्तरपरत्व (अन्यार्थ में तात्पर्य) उपलब्ध (ज्ञात) होता है। जैसे कि तीन धर्म के स्कन्ध (आश्रम) हैं। यहाँ आदि में यज्ञ, अध्ययन और दान ये तीनों मिलकर एक प्रथम धर्मस्कन्ध कहा गया है। तप ही द्वितीय

धर्मस्कन्ध कहा गया है। आचार्यगृह में बसने वाला और आचार्यकुल में ही अपनी आत्मा-देह को अत्यन्त जीवनपर्यन्त क्षीण करता हुआ नैष्ठिक ब्रह्मचारी तृतीय धर्मस्कन्ध कहा गया है। ये सब पुण्य लोक वाले होते हैं, इस प्रकार पूर्वकथित के परामर्श (कथन, अनुवाद) पूर्वक आश्रमों के अनात्यन्तिक (अनित्य) फलवत्त्व का संकीर्तन करके आत्यन्तिक (नित्य) फलवत्तारूप से ब्रह्मसंस्थता (ब्रह्मनिष्ठता) की स्तुति की जाती है कि (ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् पुण्यलोक से भिन्न अविनाशीफल को प्राप्त करता है) इस प्रकार स्तुति के लिए अनुवाद होने से आश्रमों की विधि नहीं है।

ननु परामर्शेऽप्याश्रमा गम्यन्ते एव। सत्यं गम्यन्ते, स्मृत्याचाराभ्यां तु तेषां प्रसिद्धिर्न प्रत्यक्षश्रुतेः। अतश्च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सत्यनादरणीयास्ते भविष्यन्ति, अनधिकृतविषया वा। ननु गार्हस्थ्यमपि सहैवोर्ध्वरेतोभिः परामृष्टं यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम इति। सत्यमेवम्, तथापि तु गृहस्थं प्रत्येवाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधानाच्छ्रुतिप्रसिद्धमेव हि तदस्तित्वम्। तस्मात्स्तुत्यर्थ एवायं परामर्शो न चोदनार्थः। अपि चापवदति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम् 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते', 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' (तै० १।११।१) 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः' इत्येवमाद्या। तथा 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १।२।४२) इति च देवयानोपदेशो नाश्रमान्तरापदेशः। सन्दिग्धं चाश्रमान्तराभिधानम् 'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्येवमादिषु। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति लोकसंस्तवोऽयं न पारिव्राज्यविधिः। ननु ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विस्पष्टमिदं प्रत्यक्षं पारिव्राज्यविधानं जाबालानाम्। सत्यमेवमेतत्। अनपेक्ष्य त्वेतां श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

यदि कहा जाय कि परामर्श होते भी आश्रम तो अवगत होते ही हैं, तो कहा जाता है कि अवगत तो सत्य ही होते हैं, परन्तु स्मृति आचार से उन आश्रमों की प्रसिद्धि है, प्रत्यक्ष श्रुति से संन्यासाश्रम की प्रसिद्धि नहीं है। इससे जीवन पर्यन्त अग्निहोत्रादिविधायक प्रत्यक्षश्रुति से विरोध होने पर वे अग्नि आदि रहित आश्रम सर्वथा अनादरणीय होंगे, अथवा कर्म में अनधिकृत अन्धादि विषयक होंगे। यदि कहा जाय कि ऊर्ध्वरेता आश्रमों के साथ ही गृहस्थता भी (यज्ञ, अध्ययन और दान यह प्रथम है) इस प्रकार परामृष्ट (कथित, अनूदित) है, इससे अन्य आश्रमों के अनादरणीय होने पर साथ में अनुवादित गार्हस्थ्य भी अनादरणीय होगा, जिससे आश्रम और आश्रमधर्मादि का लोप ही प्राप्त होगा। तो कहा जाता है कि अन्य आश्रमों के साथ गार्हस्थ्य का अनुवाद तो इस प्रकार सत्य ही है, तथापि गृहस्थ के प्रति ही अग्निहोत्रादि कर्मों के विधान से उस गार्हस्थ्य का अस्तित्व श्रुति से ही प्रसिद्ध है। इससे यह गृहस्थ से अन्य ऊर्ध्वरेता का परामर्श स्तुति के ही लिए है, विधि के लिए

नहीं है। दूसरी बात है कि प्रत्यक्ष ही श्रुति अन्य आश्रम का निषेध अपवाद (निन्दा) करती है कि (जो अग्नि का उद्वासन, विहनन करता है वह देवों का वीरहा, पुत्रघातक होता है) आचार्य के लिए प्रिय धन दे कर प्रजातन्तु, सन्तति का उच्छेद नहीं करो। पुत्ररहित को लोक नहीं प्राप्त होता है, यह सब पशु जानते हैं। इत्यादि श्रुति है। इसी प्रकार (जो ये जंगल में श्रद्धा और तप का सेवन करते हैं। जंगल में बसते हुए जो तप और श्रद्धा का सेवन नहीं करते) ये वचन भी देहयान मार्ग के उपदेशरूप हैं, आश्रमान्तर के उपदेशरूप नहीं हैं, क्योंकि (तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति) इत्यादि वाक्यशेष है। आश्रमवाचक शब्द के नहीं रहने से स्कन्ध शब्द के आश्रमवाचक नहीं होने से (तप ही द्वितीय है) इत्यादि में अन्य आश्रम का कथन संदिग्ध है। इसी प्रकार (इस आत्मस्वरूप लोक को चाहने वाले प्रव्रजनशील त्याग करते हैं) यह वचन आत्मस्वरूप लोक की स्तुतिरूप है, पारिव्राज्य (त्याग) को विधि रूप नहीं है। यदि कहा जाय कि ब्रह्मचर्य से ही त्याग करे, यह जाबालों का प्रत्यक्ष विस्पष्ट ही त्याग विधान है, तो भाष्यकार कहते हैं कि इस जाबाल श्रुति की अपेक्षा नहीं करके इसकी सत्ता को नहीं मानकर यह विचार है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं बादरायण आचार्यो मन्यते। वेदे श्रवणात्। अग्निहोत्रादीनां चावश्यानुष्ठेयत्वात्तद्विरोधादनधिकृतानुष्ठेयमाश्रमान्तरमिति हीमां मतिं निराकरोति गार्हस्थ्यदेवाश्रमान्तरमप्यनिच्छता प्रतिपत्तव्यमिति मन्यमानः। कुतः ? साम्यश्रुतेः। समाना हि गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुतिर्दृश्यते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इत्याद्या। यथेह श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृष्टमेवमाश्रमान्तरमपीति प्रतिपत्तव्यम्। यथाच शास्त्रान्तरप्राप्तयोरेव निवीतप्राचीनावीतयोः परामर्श उपवीतविधिपरे वाक्ये, तस्मात्तुल्यमनुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य। तथा 'एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यस्य वेदनानुवचनादिभिः समभिव्याहारः। 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) इत्यस्य च पञ्चाग्निविद्यया। यत्तूक्तम्—'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्यादिष्वाश्रमान्तराभिधानं संदिग्धम्—इति। नैष दोषः। निश्चयकारणसद्भावात्। 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इति हि धर्मस्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञातम्। नच यज्ञादयो भूयांसो धर्मा उत्पत्तिभिन्नाः सन्तोऽन्यत्राश्रमसम्बन्धात्त्रित्वेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते। तत्र यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो निर्दिष्टो, ब्रह्मचारीति च स्पष्ट आश्रमनिर्देशस्तप इत्यपि कोऽन्यस्तपःप्रधानादाश्रमाद्धर्मस्कन्धोऽभ्युपगम्यते। 'ये चेमेऽरण्ये' (छा० ५।१०।१) इति चारण्यलिङ्गाच्छ्रद्धातपोभ्यामाश्रमगृहीतिः। तस्मात्परामर्शेऽप्यनुष्ठेयमाश्रमान्तरम् ॥ १९ ॥

कहीं भी किसी प्रकार भी विधि के नहीं रहने पर अनुवाद नहीं हो सकता है, इससे अनुवाद से भी विधि को समझकर आश्रमान्तर अनुष्ठान के योग्य है इस प्रकार बादरायण आचार्य मानते हैं, जिससे वेद में आश्रमान्तर का श्रवण है, इससे वह अनुष्ठान के योग्य है। आश्रमान्तर की इच्छा नहीं करने वाले को भी गार्हस्थ्य के समान ही आश्रमान्तर का भी स्वीकार करना चाहिए, ऐसा मानते हुए बादरायण आचार्य अग्निहोत्रादि के अवश्य अनुष्ठेय (अनुष्ठान योग्य) होने से और आश्रमान्तर में उस अग्निहोत्रादि के विरोध से अग्निहोत्रादि में अनधिकृतों से ही आश्रमान्तर अनुष्ठेय है, इस मति का निराकरण करते है। क्यों निराकरण करते है, उत्तर है कि समता की श्रुति से निराकरण करते हैं। जिससे (तीन धर्म के स्कन्ध हैं) इत्यादि रूप परामर्श श्रुति गार्हस्थ्य के समान ही आश्रमान्तर की देखी जाती है। जैसे इस परामर्श श्रुति में श्रुत्यन्तर में विहित ही गार्हस्थ्य परामृष्ट (अनुवादित) होता है, इसी प्रकार अन्य श्रुति में विहित ही आश्रमान्तर भी यहाँ परामृष्ट होता है। जैसे (निवीतं मनुष्याणां, प्राचीनावीतं पितॄणामुपवीतं देवानामुपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते) इस उपवीत विधि परक वाक्य में शास्त्रान्तर से प्राप्त ही निवीत और प्राचीनावीत का परामर्श किया जाता है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। (उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः। सव्ये प्राचीन आवीतो निवीती कण्ठसज्जने) इस मनुवचन के अनुसार देवकार्यादि में उपवीती आदि का लक्षण ज्ञेय है। इससे गार्हस्थ्य के तुल्य ही आश्रमान्तर को भी अनुष्ठेयत्व है। इसी प्रकार (इस आत्मस्वरूप लोक की ही इच्छा से त्यागी त्याग करते हैं) इस वचन में इस संन्यास का अनुष्ठेय वेदानुवचनादि के साथ कथन है, इससे यह अनुष्ठेय विधेय है।) जो ये जंगल में श्रद्धातप की उपासना करते हैं) इस वानप्रस्थ का पञ्चाग्नि विद्या के साथ कथन है, इससे विधेय पञ्चाग्नि विद्या के समान वानप्रस्थ भी विधेय है। जो यह कहा था कि (तप ही द्वितीय स्कन्ध है) इत्यादि वचनों में आश्रम वाचक शब्द के नहीं होने से आश्रमान्तर का विधान सन्दिग्ध है, वहाँ निश्चय कारण के उद्भाव (सत्ता) से यह दोष नहीं है। जिससे (धर्म के तीन स्कन्ध हैं) इस प्रकार धर्म स्कन्ध का त्रित्व (तीन संख्या) प्रतिज्ञात (प्रतिज्ञा का विषय) हुआ है। यजेत, अध्येतव्यः, दद्यात्, इत्यादि कर्म स्वरूप बोधक उत्पत्ति विधि से भिन्न उत्पत्ति वाले (पृथक् उत्पन्न) होते हुए यज्ञ, अध्ययन, दान, श्रद्धा, तप आदि बहुत धर्म आश्रम के साथ सम्बन्ध के बिना त्रित्व (तीन संख्या) के अन्तर्भाव करने के योग्य नहीं हो सकते हैं। वहाँ यज्ञादि चिह्नवाला एक गृहाश्रम रूप धर्मस्कन्ध निर्दिष्ट है। ब्रह्मचारी इस शब्द से स्पष्ट आश्रम का निर्देश है। तप इस शब्द से भी-तपःप्रधान वानप्रस्थाश्रम से अन्य कौन धर्मस्कन्ध अभ्युपगत होगा, अर्थात् तप इससे वानप्रस्थ आश्रम ही निर्दिष्ट है। (जो ये अरण्य में श्रद्धा तप का सेवन करते हैं) इस श्रुति में भी अरण्यलिङ्ग से और श्रद्धा तप से आश्रम का ग्रहण (ज्ञान) होता है। जिससे परामर्श होते भी आश्रमान्तर अनुष्ठान योग्य है॥ १९॥

विधिर्वाऽयमाश्रमान्तरस्य न परामर्शमात्रम्। ननु विधित्वाभ्युपगम एकवाक्यताप्रतीतिरुपरुध्येत प्रतीयते चात्रैकवाक्यता पुण्यलोकफलास्त्रयो धर्मस्कन्धा ब्रह्मसंस्थता त्वमृतत्वफलेति। सत्यमेतत्। सतीमपि त्वेकवाक्यताप्रतीतिं परित्यज्य विधिरेवाभ्युपगन्तव्योऽपूर्वत्वात् विध्यन्तरस्यादर्शनात्, विस्पष्टाच्चाश्रमान्तरप्रत्ययाद्गुणवादकल्पनयैकवाक्यत्वयोजनानुपपत्तेः। धारणवत्। यथा 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' इत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ विधीयत एवोपरिधारणमपूर्वत्वात्।

प्रथम स्कन्ध श्रुति को अनुवादक मानकर विध्यन्तर की कल्पना द्वारा आश्रमों को अनुष्ठानार्ह कहा गया है, अब उस स्कन्ध श्रुति को ही विधि रूप कहते हैं कि अथवा यही आश्रमान्तर की विधि रूप है, परामर्शमात्र नहीं है। शंका होती है कि अनुवादपूर्वक स्तुति मानने से एकवाक्यता होती है, चार आश्रम की विधि मानने पर एकवाक्यता की प्रतीति उपरुद्ध बाधित होगी। एकवाक्यता की प्रतीति होती है कि तीन धर्मस्कन्ध पुण्यलोकरूप फलवाले होते हैं, और ब्रह्मनिष्ठता तो अमृतत्वफली है। उत्तर है कि यह कथन सत्य है कि एकवाक्यता प्रतीत होती है, परन्तु विध्यन्तर से प्राप्ति के अभाव से और प्राप्ति के बिना अनुवाद के असम्भव होने से और परामर्श के नहीं रहने पर स्तुति के भी नहीं हो सकने से, वर्तमान भी एकवाक्यता प्रतीति को परित्याग करके अपूर्वता से विधि ही स्वीकार के योग्य है। तथा विध्यन्तर के अदर्शन से विधि स्वीकार के योग्य है। विस्पष्ट आश्रमान्तर की प्रतीति होने से गुणवाद (स्तुतिवाद) की कल्पना द्वारा एकवाक्यत्व की योजना की अनुपपत्ति से विधि स्वीकार के योग्य है। वह भी धारण के समान एकवाक्यता को त्याग कर स्वीकार के योग्य है। जैसे पिण्डपितृ महायज्ञ में विधि है कि (आहवनीय अग्नि में हवनकाल में हवि से पूर्ण स्रुग् (पात्रविशेष) के नीचे समिध का धारण करता हुआ अनुद्रवण करे और देवताओं के लिए तो हवि से ऊपर समिध का धारण करता है) यहाँ सह पाठ और धारयति में विधि के अभाव से उपरि धारण को अनुवाद मानने पर अधोधारण के साथ ऊपर धारण की एकवाक्यता को प्रतीति होते भी धारयति में पञ्चम लकार मानकर अपूर्वता से उपरि धारण का विधान ही किया जाता है।

तथाचोक्तं शेषलक्षणे—'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति। तद्वदिहाप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेति कल्प्यते। यदापि परामर्श एवायमाश्रमान्तराणां तदापि ब्रह्मसंस्थता तावत्संस्तवसामर्थ्यादवश्यं विधेयाऽभ्युपगन्तव्या। सा च किं चतुर्ष्वाश्रमेषु यस्य कस्यचिदाहोस्वित्परिव्राजकस्यैवेति विवेक्तव्यम्। यदि च ब्रह्मचार्यन्तेष्वाश्रमेषु परामृश्यमानेषु परिव्राजकोऽपि परामृष्टस्ततश्चतुर्णामप्याश्रमाणां परामृष्टत्वाविशेषादनाश्रमित्वानुपपत्तेश्च यः कश्चिच्चतुर्ष्वाश्रमेषु

ब्रह्मसंस्था भविष्यति । अथ न परामृष्टस्ततः परिशिष्यमाणः परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इति सेत्स्यति ।

इसी प्रकार पूर्वमीमांसा के शेषाध्यायों में कहा है कि (अपूर्वता से स्रुग् के ऊपर समिध के धारण में विधि है)। उसी के समान यहाँ भी आश्रमविषयक परामर्श श्रुतिविधि ही है ऐसी कल्पना की जाती है और जब भी यह आश्रमान्तर का परामर्श-रूप ही है तब भी ब्रह्मसंस्थता तो संस्तव (स्तुति) सामर्थ्य से अवश्य ही विधेय अभ्युगन्तव्य (स्वीकारार्ह) है। इस प्रकार विधेय होने पर भी वह ब्रह्मसंस्थता चारों आश्रमों में जिस किसी का धर्म है अथवा परिव्राजक का ही है। यह विवेक करने योग्य है यदि (त्रयः) तीन स्कन्ध हैं इस श्रवण से परामृश्यमान ब्रह्मचर्यपर्यन्त तीन आश्रम में ही परिव्राजक भी परामृष्ट है, अर्थात् तीन में ही यदि संन्यासी का भी ग्रहण है, तब तो चारों ही आश्रमों के परामृष्टत्व के तुल्य होने से और (अनाश्रमी न तिष्ठेत्) इस वचन के अनुसार (अनाश्रमित्व की अनुपपत्ति से जो ब्रह्मसंस्थ होगा वह चारों आश्रमों में से ही कोई होगा) यदि ब्रह्मचर्यपर्यन्त तीन आश्रमों में परिव्राजक नहीं परामृष्ट हुआ है, तो तीन से परिशिष्यमाण (बाकी, भिन्न) परिव्राट् ही ब्रह्मसंस्थ सिद्ध होगा। इस प्रकार तीन के अन्दर परिव्राजक का परामर्श और परामर्श का अभाव के द्वारा संशय होता है।

तत्र तपःशब्देन वैखानसग्राहिणा परामृष्टः परिव्राडपीति केचित्। तदयुक्तम्। नहि सत्यां गतौ वानप्रस्थविशेषणेन परिव्राजको ग्रहणमर्हति। यथात्र ब्रह्मचारिगृहमेधिनावसाधारणेनैव स्वेन स्वेन विशेषणेन विशेषितावेवं भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम्। तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानां कायक्लेशप्रधानत्वात् तपःशब्दस्य तत्र रूढेः, भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिलप्यते।

यहाँ कोई पूर्वपक्ष का ग्रहण करते हैं कि वैखानस (वानप्रस्थ) के ग्राहक (बोधक) तप शब्द से परिव्राड् भी परामृष्ट होता है, क्योंकि यम-नियमादिरूप तप का परिव्राजक में भी सम्भव है। स्वाभाविक बहुत विलक्षणता और यमादि में तप शब्द की अप्रसिद्धि से सिद्धान्ती कहते हैं कि वह तपशब्द से परिव्राजक का ग्रहण अयुक्त है। जिससे पृथक् गति रहते वानप्रस्थ के विशेषण तप से परिव्राजक ग्रहण के योग्य नहीं हो सकता है। जैसे यहाँ (धर्मस्कन्ध श्रुति में) ब्रह्मचारी और गृहस्थ असाधारण अपने-अपने विशेषणों से ही विशेषित (विशेष रूप से कथित) हैं। इसी प्रकार भिक्षुक वैखानस भी असाधारण अपने-अपने विशेषण से विशेषित हैं ऐसा मानना युक्त है। वानप्रस्थों की कायक्लेश-प्रधानता से उनका तप असाधारण धर्म है। जिससे कृच्छ्रादिरूप कायक्लेश में ही तप की रूढ़ि है, इससे वही उनका असाधारण धर्म सिद्ध होता है। इन्द्रियों के संयमादि रूप भिक्षु का धर्म तो तप शब्द से नहीं कहा जाता है।

चतुष्ट्वेन च प्रसिद्धा आश्रमास्त्रित्वेन परामृश्यन्त इत्यन्याय्यम्। अपि च भेदव्यपदेशोऽत्र भवति 'त्रय एते पुण्यलोकभाज एकोऽमृतत्वभाक्' इति। पृथक्त्वे चैष भेदव्यपदेशोऽवकल्पते। नह्येवं भवति देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञावन्यतरस्त्वनयोर्महाप्रज्ञ इति। भवति त्वेवं देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ विष्णुमित्रस्तु महाप्रज्ञ इति। तस्मात्पूर्वे त्रय आश्रमिणः पुण्यलोकभाजः परिशिष्यमाणः परिव्राडेवामृतत्वभाक्। कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्दो योगात्प्रवर्तमानः सर्वत्र सम्भवन्परिव्राजक एवावतिष्ठेत, रूढ्यभ्युपगमे वाश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इति।

चार रूप से प्रसिद्ध आश्रम तीन रूप से परामृष्ट हो यह अन्याय्य है। दूसरी बात है कि यहाँ भेद का व्यपदेश (कथन) होता है कि (ये गृहस्थादि तीन पुण्यलोक के भागी होते हैं) एक अमृत का भागी होता है। वानप्रस्थ से परिव्राजक का पृथक्त्व होने पर यह भेद का व्यपदेश सिद्ध होता है। जिससे ऐसा प्रयोग नहीं होता है कि देवदत्त और यज्ञदत्त मन्द बुद्धिवाले हैं, परन्तु इन दोनों में से एक महाबुद्धिमान् है। इस प्रकार का प्रयोग तो होता है कि देवदत्त और यज्ञदत्त तो मन्द बुद्धिवाले हैं, परन्तु विष्णुमित्र महाबुद्धिमान् है। इससे पूर्व के तीन आश्रमी पुण्यलोकरूप फल वाले होते हैं। परिशिष्ट एक परिव्राट् विरक्त निर्वासन मुनि अमृतत्वरूप फल वाला होता है। यहाँ शंका होती है कि योग (अवयवार्थ) से प्रवृत्त होता हुआ ब्रह्मसंस्थ शब्द सब आश्रमों में सम्भव वाला होता हुआ परिव्राजक में ही क्यों और कैसे अवस्थित, नियमित होगा, जो ब्रह्मनिष्ठ हो वह ब्रह्मसंस्थ कहा जा सकता है, अथवा आश्रमविशेष में ब्रह्मसंस्थ शब्द की रूढ़ि (शब्दशक्ति) मानने पर आश्रममात्र से अमृतत्व की प्राप्ति होने से ज्ञान की अनर्थकता की प्राप्ति होगी।

अत्रोच्यते—ब्रह्मसंस्थ इति हि ब्रह्मणि परिसमाप्तिरनन्यव्यापारतारूपं तन्निष्ठत्वमभिधीयते। तच्च त्रयाणामाश्रमाणां न सम्भवति स्वाश्रमविहितकर्माननुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात्, परिव्राजकस्य तु सर्वकर्मसंन्यासात्प्रत्यवायो न सम्भवत्यननुष्ठाननिमित्तः। शमदमादिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उपोद्बलको न विरोधी। ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म यज्ञादीनि चेतरेषाम्। तद्व्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः। तथा च 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा' 'तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (नारी० ७८) 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' (मुण्ड० ३।२।६ नारी० १२।३ कैवल्य० ३) इत्याद्याः श्रुतयः, स्मृतयश्च—'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' (गी० ५।१७) इत्याद्या ब्रह्मसंस्थस्य कर्माभावं दर्शयन्ति।

यहाँ उत्तर कहा जाता है कि ब्रह्मसंस्थ इस शब्द से ब्रह्म ही में परितः (सब तरफ से) चित्त को समेट कर समाप्ति (सम्यक् प्राप्ति) स्थितिरूप ही अन्य व्यापार-

रहितता, अनन्यव्यापारतारूप ब्रह्मनिष्ठत्व कहा जाता है। स्वाश्रमविहित कर्मों के नहीं अनुष्ठान करने पर प्रत्यवाय के श्रवण से तीन आश्रमियों को उस ब्रह्मनिष्ठत्व का संभव नहीं है। सब कर्मों के परित्याग से परिव्राजकों को तो कर्म के अनुष्ठान (त्याग) निमित्तक प्रत्यवाय का संभव नहीं है। शमदमादि जो उस परिव्राजक के धर्म हैं, वह तो ब्रह्म-निष्ठता के उपोद्बलक (उद्बोधक, पोषक हैं, विरोधी नहीं हैं। शमदमादि से उपबृंहित (परिवर्द्धित, पोषित) ब्रह्मनिष्ठत्व ही उस परिव्राजक का स्वाश्रमविहित कर्म है। यज्ञादि अन्य के कर्म हैं। उस शमादि-सहित ब्रह्मनिष्ठत्व के व्यतिक्रमण उल्लंघन, त्याग से उस परिव्राजक को प्रत्यवाय होता है। इस प्रकार की श्रुतियाँ हैं कि (ब्रह्मपरायणतापूर्वक सर्व इच्छा संग का त्यागरूप संन्यास ब्रह्मा है। ब्रह्मा ही पर-हिरण्यगर्भ है, इससे संन्यास-रूप ब्रह्मा भी पर ही है) किससे पर है ऐसी अपेक्षा होने पर कहा जाता है कि (वे पूर्वोक्त सत्यादि ज्ञानरहित ये तप अवर हैं। इनसे संन्यास ही अतिरिक्त श्रेष्ठ है, ब्रह्म-निष्ठा द्वारा मोक्ष का हेतु माना गया है) (वेदान्त विज्ञान का अर्थरूप परमात्मा जिनको सुनिश्चित है, संन्यासरूप योग से पतनशील वे शुद्ध सत्त्व वाले परान्त, उत्तमान्त काल में सर्वथा मुक्त होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। स्मृतियाँ हैं कि (उस परब्रह्मविषयक बुद्धिवाले, ब्रह्मरूप आत्मा वाले, उसमें निष्ठा स्थिति प्रीति वाले, तत्स्वरूप ही परम अयन, गति वाले ज्ञान से विनष्ट पापादि वाले होकर पुनरावृत्तिरहित मोक्ष को प्राप्त करते हैं)। इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ ब्रह्मसंस्थ के कर्मों के अभाव को दर्शाती हैं।

तस्मात्परिव्राजकस्याश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इत्येषोऽपि दोषो नावतरति। तदेवं परामर्शेऽपीतरेषामाश्रमाणां पारिव्राज्यं तावद्ब्रह्मसंस्थताल-क्षणं लभ्येतैव। अनपेक्ष्यैव जाबालश्रुतिमाश्रमान्तरविधायिनीमयमाचार्येण विचारः प्रवर्तितः। विद्यत एव त्वाश्रमान्तरविधिश्रुतिः प्रत्यक्षा 'ब्रह्मचर्यं परि-समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा' (जाबा० ४) इति। न चेयं श्रुतिरनधिकृ-तविषया शक्या वक्तुम्। अविशेषश्रवणात्, पृथग्विधानाच्चानधिकृतानाम् 'अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा' (जाबा० ४) इत्यादिना ब्रह्मज्ञानपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्राज्यस्य नानधिकृ-तविषयत्वम्। तच्च दर्शयति—'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचि-रद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति' (जाबा० ५) इति। तस्मात्सिद्धा ऊर्ध्वरे-तसामाश्रमाः। सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु विधानाद्विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति ॥ २० ॥

इस प्रकार ब्रह्मसंस्थ शब्द के ज्ञान प्रधान आश्रम के वाचक होने से परिव्राजक को आश्रममात्र से मोक्ष की प्राप्ति होने से ज्ञान की अनर्थकता का प्रसंगरूप यह दोष भी नहीं प्राप्त होता है। इससे इस प्रकार इतर आश्रमों के परामर्श (अनुवाद) होते, विधि के नहीं रहते भी ब्रह्मसंस्थता की स्तुति के सामर्थ्य से ब्रह्मसंस्थतारूप पारिव्राज्य संन्यास प्राप्त होता ही है। वस्तुतः आश्रमान्तर, संन्यास को विधान करने

वाली जाबाल श्रुति की अपेक्षा नहीं करके ही आचार्य से यह विचार प्रवर्तित (प्रारब्ध) हुआ है। आश्रमान्तर की विधिरूप श्रुति तो प्रत्यक्ष है ही कि (ब्रह्मचर्य को परिसमाप्त करके गृहस्थ होना चाहिए, गृहस्थ होकर वनस्थ होना चाहिए। वनस्थ होकर प्रव्रजन (सर्वथा त्याग) करना चाहिए। अथवा अन्य प्रकार से भी ब्रह्मचर्य से प्रव्रजन करे, या गृह से या वन से प्रव्रजन करे)। सामान्य श्रवण होने से यह श्रुति कर्म में अनधिकृत (कर्माधिकाररहित) विषयक नहीं कही जा सकती है, जिससे सामान्य श्रुति के संकोच में कोई प्रमाण नहीं है। अनधिकारियों के संन्यास का पृथक् विधान है, इससे भी यह श्रुति अनधिकृत-विषयक नहीं है। उस श्रुति के बाद अनधिकृतविषयक श्रुति है कि (और फिर भी वेदव्रती हो, या वेदव्रतरहित हो, गुरुकुल से परिवर्तन के बाद भी गार्हस्थ्यरहित गुरुसेवी स्नातक हो वा उससे विपरीत अस्नातक हो, विधुर (मृतभार्याक) उत्सन्नाग्निक हो, या अग्नि-परिग्रहरहित हो। दृढ़ वैराग्य और तीव्र मुमुक्षा होने पर परिव्रजन (त्याग करे) इत्यादि वचनों से किसी हेतु से कर्म के अधिकारी सर्वाङ्गयुक्त मुमुक्षुओं के लिए संन्यास का विधान किया गया है, विकलाङ्ग ज्ञान-साधन में असमर्थादि के लिए तो ज्ञानप्रधान आश्रम में कभी अधिकार नहीं है और जिससे पारिव्राज्य (संन्यास) को ब्रह्मज्ञान के परिपाक (दृढ़ता) का अङ्गत्व है, इससे अनधिकृत विषयत्व नहीं है, अन्ध-बधिरादि असमर्थ-विषयकत्व नहीं है, यह श्रुति भी दर्शाती है कि संन्यास ज्ञान का अंग (साधन) है। श्रुति है कि (विवर्ण, विशेष रंगादि रहित वस्त्रवाला, मुण्डित, परिग्रहरहित, पवित्र, द्रोहरहित, भिक्षावृत्ति वाला संन्यासी ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए समर्थ होता है)। इससे ऊर्ध्वरेतसों के आश्रम सिद्ध होते हैं, और ऊर्ध्वरेताओं में विद्या के विधान से विद्या की स्वतन्त्रता सिद्ध हुई ॥ २० ॥

स्तुतिमात्राधिकरणम् (३)

स्तोत्रं रसतमत्वादि ध्येयं वा गुणवर्णनात् । जुहूरादित्य इत्यादाविव कर्माङ्गसंस्कृतिः ॥ १ ॥
भिन्नप्रकरणस्थत्वान्नाङ्गविध्येकवाक्यता । उपासीतेतिविध्युक्तेर्ध्येयं रसतमादिकम् ॥ २ ॥

'उद्गीथ का अवयव ओंकार रसों का रसतम (अतिश्रेष्ठ रस) है' इत्यादि श्रुति का कथन, कर्माङ्ग उद्गीथ के ग्रहण से स्तुतिमात्र है, रसतमत्वादि गुण ओंकार के समान ध्येय नहीं हैं, जैसे कि कर्माङ्ग के ग्रहण से (जुहूरादित्यः) जुहू सूर्य है, यह स्तुतिमात्र होता है, वैसा ही इसको समझना चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि स्तुतिमात्र नहीं है किन्तु अपूर्वता से ध्यान का विधान है ॥ संशय है कि रसतमत्वादि स्तुति है, अथवा ध्येय है। पूर्वपक्ष है कि जुहू आदित्य है इत्यादि में जैसे स्तुति से कर्माङ्ग का संस्कार किया जाता है, वैसे ही यहाँ गुणवर्णन से कर्मांग का संस्कार किया जाता है। सिद्धान्त है कि (जुहूरादित्यः) इत्यादि कर्म प्रकरण के हैं, उन्हें कर्मांग का स्तावक होना उचित है, रसतमादि वचन के कर्म से भिन्न उपासना प्रकरण में

होने से कर्माङ्ग विधि के साथ इनकी एकवाक्यता (एकार्थकता) नहीं है, किन्तु उपासीत इस विधि की उक्ति से रसतमादिक ध्येय हैं ॥ १–२ ॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

'स एष रसानां रसतमः परमः परार्घ्योऽष्टमो यदुद्गीथः' (छा० १।१।३) 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः। तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी' इत्येवंजातीयकाः श्रुतयः किमुद्गीथादेः स्तुत्यर्था आहोस्विदुपासनाविध्यर्था इत्यस्मिन्संशये स्तुत्यर्था इति युक्तम्, उद्गीथादीनि कर्माङ्गान्युपादाय श्रवणात्। यथा—'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीयः' इत्याद्या जुह्वादिस्तुत्यर्थास्तद्वदिति चेत्। नेत्याह। नहि स्तुतिमात्रमासां श्रुतीनां प्रयोजनं युक्तमपूर्वत्वात्। विध्यर्थतायां ह्यपूर्वोऽर्थो विहितो भवति स्तुत्यर्थतायां त्वानर्थक्यमेव स्यात्। विधायकस्य हि शब्दस्य वाक्यशेषभावं प्रतिपद्यमाना स्तुतिरुपयुज्यत इत्युक्तम् 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्यत्र। प्रदेशान्तरविहितानां तूद्गीथादीनामियं प्रदेशान्तरपठिता स्तुतिर्वाक्यशेषभावमप्रतिपद्यमानानर्थिकैव स्यात्। इयमेव जुहूरित्यादि तु विधिसंनिधावेवाम्नातमिति वैषम्यम्। तस्माद्विध्यर्था एवैवंजातीयकाः श्रुतयः ॥ २१ ॥

(इन चराचर भूतों का पृथिवी रस-उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण है। पृथिवी का जल रस कारण आधारादि है। जल का ओषधि रस, परिणाम है, ओषधियों का पुरुष (मानवदेह) रस, परिणाम है। पुरुष का वाक् रस, श्रेष्ठ सारयुक्त अवयव है। वाक् का ऋग्वेद रस, सारतर है। ऋग्वेद का सामवेद रस है, उसका भी उद्गीथ, ओंकार रस, सार है। यह ओंकार भूमि आदि रसों का भी रसतम (श्रेष्ठरस) है, और परमात्मा का प्रतीक (अंग) होने से परम उत्तम है। तथा पर=परमात्मा के अर्घ=स्थानयोग्य होने से परमात्मा के समान उपास्य है, जो यह पृथिवी आदि रसों में अष्टम रस उद्गीथ, ओंकार है) और (यह पृथिवी ऋक् है, ऋक् पृथिवी दृष्टि में चिन्तनीय है, अग्नि साम है, साम अग्नि दृष्टि से चिन्तनीय है) और (यही लोक है, जो यह अग्निचित, सम्पादिताग्नि है) (वह उक्थ यही है जो यह पृथिवी ही है) इस प्रकार की श्रुतियाँ क्या उद्गीथादि की स्तुति के लिए हैं, अथवा उपासना विधि के लिए हैं, इस संशय के होने पर, उद्गीथादि कर्माङ्गों का उपादान करके श्रवण होने से ये स्तुति के लिए हैं, ऐसा युक्त प्रतीत होता है, जैसे (यह जुहू पृथिवी स्वरूप ही है, चयनस्थ कूर्म आदित्य स्वरूप है, आहवनीय अग्नि स्वर्गलोक स्वरूप हैं) इत्यादि श्रुति जुहू कूर्म, आहवनीय अग्नि की स्तुति के लिए हैं, उसीके समान उद्गीथादि की स्तुति के लिए उक्त श्रुतियाँ हैं। इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि यदि इस प्रकार स्तुत्यर्थक कहो तो कहा जाता है कि स्तुत्यर्थक नहीं हैं, जिससे अपूर्वता से इन श्रुतियों का

स्तुतिमात्र प्रयोजन युक्त नहीं है। विध्यर्थकता होने पर इन श्रुतियों से अपूर्व (असिद्ध) अर्थ विहित होता है, और स्तुत्यर्थकता में तो इनकी अनर्थकता (निष्फलता) ही होगी। जिससे विधिबोधक विधायक शब्द की वाक्यशेषता (अङ्गता) को प्राप्त स्तुति उपयुक्त (सफल) होती है, यह कहा है कि (विधियों के स्तुत्यर्थकरूप से विधि के साथ एकवाक्यता से अर्थवाद सार्थक होंगे) यहाँ एकवाक्यता से स्तुति की सार्थकता कही गई है। प्रदेशान्तर में अंगरूप विहित उद्गीथादि की तो किसी अन्य देश में पठित स्तुति वाक्य शेषभाव (एकवाक्यता) को नहीं प्राप्त होती हुई अनर्थक ही होगी। (इयमेव जुहः) इत्यादि तो विधि के समीप में ही पठित है, यह विलक्षणता है। इससे इस प्रकार की श्रुतियाँ विध्यर्थक ही हैं ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

'उद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'सामोपासीत' (छा० २।२।१) 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' इत्यादयश्च विस्पष्टा विधिशब्दाः श्रूयन्ते ते च स्तुतिमात्रप्रयोजनतायां व्याहन्येरन्। तथा च न्यायविदां स्मरणम्—

कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्।
एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥ इति।

लिङाद्यर्थो विधिरिति मन्यमानास्त एवं स्मरन्ति। प्रतिप्रकरणं च फलानि श्राव्यन्ते—'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) 'एष ह्येव सामगानस्येष्टे' (छा० १।७।९) 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३) इत्यादीनि। तस्मादप्युपासनविधानार्था उद्गीथादिश्रुतयः ॥ २२ ॥

प्रथम विधि की कल्पना मान कर विचार किया गया है, अब कहा जाता है कि कल्पना की जरूरत नहीं है, साक्षात् विधिसिद्ध है कि—(उद्गीथ की उपासना करे। साम की उपासना करे। मैं उक्थ हूँ ऐसा चिन्तन करे) इत्यादि विस्पष्ट विधिवाचक शब्द सुने जाते हैं। स्तुतिमात्र प्रयोजनता-पक्ष में वे सब शब्द व्याहत (बाधित) होंगे, इससे विधि से अपेक्षित गुणसमर्पण के ही लिए रसतमादि वचन है। इसी प्रकार न्यायवेत्ताओं का स्मरण (कथन) है कि (कुर्यात्—करे, क्रियेत—किया जाय, कर्तव्यम्—करने योग्य है, भवेत्—होगा और पञ्चम स्यात्—होगा, सब वेदों में यह नियत विधि का लक्षण होगा) लिङादि का अर्थ विधि है, ऐसा मानते हुए वे न्यायवेत्ता इस प्रकार स्मरण करते हैं। भाव है कि क्रिया को भावना कहते हैं, और कृ, भू, अस्, तीन धातु क्रिया सामान्य के वाचक हैं, इससे इन तीनों के उदाहरण दिए गए हैं कि सामान्य के कथन से विशेष को लोग आक्षेपादि से समझेंगे। इसीसे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि (पञ्चमम्) इस कथन से पाँच पदों को ही विधिरूपत्व है, (उपासीत) इत्यादि को विधिरूपत्व नहीं है। क्रिया सामान्यवाचक कृ आदि के उदाहरण के द्वारा सब धातु से युक्त लिङादि का विधिरूपत्व विवक्षित है। कुर्यात् में धातु का

अर्थरूप ही भावना आख्यात से अनुवादित होता है लिङ् से इष्टसाधनत्व बोधित होता है और भावना से कर्त्ता आक्षिप्त होता है। क्रियेत में कर्म आक्षिप्त होता है। कर्तव्यम् में प्रत्यय से कर्म कारक कहा जाता है, इत्यादि मीमांसक-मत है। प्रत्येक प्रकरण में फल सुनाये जाते हैं कि (आप्तिगुणविशिष्ट उद्गीथ अक्षर की उपासना करने वाला विद्वान् जो होता है वह यजमान के कामों को पूर्ण प्राप्त कराने वाला होता है। इस प्रकार का विद्वान् उद्गाता ही सामगान के विषय में समर्थ होता है। इस उपासक के लिए ऊपर के और नीचे के सब लोक भोग्यरूप से प्राप्त और सिद्ध होते हैं।) इत्यादि फल सुनाये जाते हैं, इससे भी उद्गीथादि श्रुतियाँ उपासना की विधि के लिए हैं ॥ २२ ॥

पारिप्लवाधिकरणम् (४)

पारिप्लवार्थमाख्यानं किं वा विद्यास्तुतिः स्तुतेः। ज्यायोऽनुष्ठानशेषत्वं तेन पारिप्लवार्थता ॥
मनुर्वैवस्वतो राजेत्येवं तत्र विशेषणात्। अत्र विद्यैकवाक्यत्वभावाद्विद्यास्तुतिर्भवेत् ॥

अश्वमेध याग की रात्रियों में जो सपरिवार राजा के प्रति नाना प्रकार की आख्यायिका कथा, कही जाती है उसको पारिप्लव कहते हैं। उपनिषदों में मैत्रेयी याज्ञवल्क्यादि की कथा है, उन्हें भी यदि कोई पारिप्लव के लिए कहे, तो कहा जाता है कि—(मनुर्वैवस्वतो राजा। शत० १३।४।३।३) इत्यादि विशेषरूप से पारिप्लवार्थक कथा पढ़ी हुई है, इससे उपनिषद् की कथा विद्या की स्तुति के लिए है कर्माङ्ग नहीं है। संशय है कि उपनिषद् के आख्यान सब पारिप्लवार्थक हैं, अथवा विद्या की स्तुतिरूप हैं। पूर्वपक्ष है स्तुति की अपेक्षा (पारिप्लवमाचक्षीत) इस वचन से विहित कर्मानुष्ठान का शेषत्व होना श्रेष्ठ है, इससे पारिप्लवार्थक है। सिद्धान्त है कि उस पारिप्लव में (मनु विवस्वान् का पुत्र राजा था) इत्यादि कथा विशेषणरूप से पठित है, वह राजा के मनोरञ्जनमात्र के लिए है। यहाँ उपनिषद् में उपाख्यानों को विद्या के साथ एक-वाक्यता की सत्ता से परम श्रेष्ठ विद्या की स्तुति होगी ॥ १–२ ॥

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च' (बृ० ४।५।१) 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम' (कौषी० ३।१) 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस' (छा० ४।१।१) इत्येवमादिषु वेदान्तपठितेष्वाख्यानेषु संशयः–किमिमानि पारिप्लवप्रयोगार्था-न्याहोस्वित्संनिहितविद्याप्रतिपत्त्यर्थानीति। पारिप्लवार्था इमा आख्यानश्रुतयः। आख्यानसामान्यात्, आख्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात्। ततश्च विद्याप्रधानत्वं वेदान्तानां न स्यात् मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वादिति चेत्। तन्न। कस्मात् ? विशेषितत्वात्। तथा हि 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति हि प्रकृत्य 'मनु-र्वैवस्वतो राजा' इत्येवमादीनि कानिचिदेवाख्यानानि तत्र विशेष्यन्ते। आख्यान-

सामान्याच्चेत्सर्वगृहीतिः स्यादनर्थकमेवेदं विशेषणं भवेत् । तस्मान्न पारिप्लवार्था एता आख्यानश्रुतयः ॥ २३ ॥

(पूर्वोक्त हेतु-प्रदर्शन के बाद कहा जाता है कि याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं, जिनमें एक मैत्रेयी कही जाती थी, और दूसरी कात्यायनी कही जाती थी) (दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन राजा इन्द्र के प्रियधाम, स्थान, स्वर्ग में गया) (श्रद्धापूर्वक देने वाला, बहुत देने का स्वभाव वाला, बहुत पाक-योग्य अन्न वाला, जनश्रुत का अपत्य जानश्रुति पौत्रायण था) इत्यादि प्रकार के वेदान्त में पठित आख्यानों में संशय होता है कि ये पारिप्लव में प्रयोग (पाठ) के लिये हैं, अथवा सन्निहित (पास में पठित) विद्या की प्रतिपत्ति (प्रतीति, स्तुति) के लिए हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि ये आख्यानरूप श्रुतियाँ पारिप्लवार्थक हैं। क्योंकि पारिप्लव आख्यान के साथ इनकी तुल्यता है। आख्यान के प्रयोग को पारिप्लव में विहितत्व है, अर्थात् आख्यान का पाठ पारिप्लव में विहित है, इससे ये पारिप्लवार्थक हैं। इस पारिप्लवार्थकता से वेदान्तों को कर्मार्थक मन्त्र के समान कर्मप्रयोग (विधि) की विशेषता से विद्याप्रधानत्व नहीं होगा। यहाँ सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि ऐसा कोई कहे तो वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उस पारिप्लव में विशेषितत्व है (विशेष कथा को विहितत्व है) वह इस प्रकार है कि (पारिप्लव का प्रकथन करे) इस प्रकार प्रस्तुत करके (मनु वैवस्वत राजा) इत्यादि कितने आख्यान वहाँ विशेषरूप से कहे जाते हैं। अर्थात् वाक्यशेष में अश्वमेध के प्रथम दिन की रात्रि में (मनुर्वैवस्वतः), द्वितीय दिन की रात्रि में (यमो वैवस्वतः), तृतीय दिन की रात्रि में (वरुण आदित्यः) इत्यादि कथा कहे, इस प्रकार वहाँ विशेष कथायें विहित हैं। यदि आख्यान की तुल्यता से सब आख्यानों का ग्रहण हो, तो यह विशेषण अनर्थक ही होगा, इससे ये आख्यानरूप श्रुतियाँ पारिप्लव के लिए नहीं हैं ॥ २३ ॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

असति च पारिप्लवार्थत्व आख्यानानां सन्निहितविद्याप्रतिपादनोपयोगितैव न्याय्या एकवाक्यतोपनिबन्धात्, तथाहि तत्र तत्र सन्निहिताभिर्विद्याभिरेकवाक्यता दृश्यते प्ररोचनोपयोगात्प्रतिपत्तिसौकर्योपयोगाच्च। मैत्रेयीब्राह्मणे तावत्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्याद्यया विद्ययैकवाक्यता दृश्यते। प्रातर्दनेऽपि 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्याद्यया, जानश्रुतिरित्यत्रापि 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४।३।१) इत्याद्यया, यथा च 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इत्येवमादीनां कर्मश्रुतिगतानामाख्यानानां सन्निहितविधिस्तुत्यर्थता तद्वत्। तस्मान्न पारिप्लवार्थत्वम् ॥ २४ ॥

पूर्व कही रीति से परम पुरुषार्थविषयक आख्यानों के पारिप्लवार्थत्व के नहीं होने पर एकवाक्यतारूप उपनिबन्ध (संबन्ध) से उनको सन्निहित विद्या के प्रतिपादन में उपयोगिता ही न्याय्य है (अर्थात् उपयोगी होना उचित है)। जिससे इसी प्रकार तत्तत्

स्थानों में प्ररोचन (प्रेमोत्पादन) में उपयोग से और ज्ञान की सुकरता (सुगमता) में उपयोग से सन्निहित विद्याओं के साथ आख्यानों की एकवाक्यता देखी जाती है। मैत्रेयीब्राह्मण में (अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही अपरोक्ष दर्शन के योग्य है) इत्यादि में पठित विद्या के साथ ही आख्यान का सम्बन्ध दीखता है। प्रतर्दनब्राह्मण में भी (मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ) इत्यादि में पठित के साथ सम्बन्ध होता है। जानश्रुति इत्यादि वाक्य में भी (वायु ही संवर्ग है) इत्यादि में पठित विद्या के साथ आख्यान का सम्बन्ध दीखता है। जैसे (उस प्रजापति ने होम के लिए अपनी वपा को उद्धृत किया) इत्यादि कर्मश्रुतिगत आख्यानों को सन्निहित विधि की स्तुत्यर्थकता है। वैसे ही इन आख्यानों को सन्निहित विद्या की स्तुत्यर्थकता है, इससे पारिप्लवार्थत्व नहीं है ॥२४॥

अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् (५)

आत्मबोधः फले कर्मापेक्षो नो वा ह्यपेक्षते। अङ्गिनोऽङ्गेष्वपेक्षायाः प्रयाजादिषु दर्शनात् ॥१॥
अविद्यातमसोर्ध्वस्तौ दृष्टं हि ज्ञानदीपयोः। नैरपेक्ष्यं ततोऽत्रापि विद्या कर्मानपेक्षिणी ॥२॥

जिससे स्वतन्त्र ज्ञान परम पुरुषार्थ का साधन है, इसीसे इस ज्ञान को अपने फल की सिद्धि में अग्नि के इन्धन, उद्दीपन (अग्न्याधान) आदि की अपेक्षा नहीं है, अर्थात् अग्नीन्धनादि आश्रम कर्मों की अपेक्षा नहीं है। संशय है कि आत्मज्ञान अपने फल में कर्मापेक्ष है, अथवा कर्मापेक्ष नहीं है, पूर्वपक्ष है कि जैसे प्रयाजादि अंग है और दर्श पूर्णमास अङ्गी हैं, जहाँ अङ्गी को अपने फल में अङ्ग की अपेक्षा होती है, वैसे ही कर्म अंग है, ज्ञान की उत्पत्ति का साधन है, और ज्ञान अङ्गी है, कर्म से साध्य है, इससे दर्शादि अंगी की फल में प्रयाजादि अंग-विषयक अपेक्षा के देखने से ज्ञान भी अपने फल में कर्म की अपेक्षा करता है। सिद्धान्त है कि घट-ज्ञान को घट के अज्ञान के ध्वंस में और दीप को अन्धकार के ध्वंस में निरपेक्षता देखी गई है, इससे यहाँ अज्ञानरूप अन्धकार की निवृत्तिरूप फल में कर्म की अपेक्षा-रहित ज्ञान है। भाव है कि एक अंग अंगी के साथ रहकर अंगी के फल को उत्पन्न करता है, अंगी के समान ही अंग भी गौणरूप से फल का जनक होता है, जैसे कि प्रयाजादि हैं। एक अंग अंगी को सिद्ध करके उपरत हो जाता है अंगी स्वयं अपना कार्य करता है जैसे अनेक साधन से सिद्ध दीपक साधनरूप दीप के बनाने वाले बालने वाले, आदि के नहीं रहते भी प्रकाश करता है, वैसे ही ज्ञान के साधन कर्मादि के बिना ज्ञान अपना काम करता है ॥ १–२ ॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३।४।१) इत्येतद्व्यवहितमपि संभवादत इति परामृश्यते। अत एव च विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीत्याद्यस्यैवाधिकरणस्य फलमुपसंहरत्यधिकविवक्षया ॥ २५ ॥

(पुरुषार्थोऽतः शब्दात्) यह सूत्र यहाँ से व्यवहित भी है, तो भी सम्भव से इस

सूत्रगत (अतः) इस पद से उसी का परामर्श (बोध) होता है। इससे इस सूत्र का अर्थ है कि, अतएव च, विद्या के पुरुषार्थ-हेतुत्व से ही अग्नीन्धनादि रूप आश्रम के कर्म विद्या के स्वार्थ (फल) सिद्धि में अपेक्षितव्य (हेतु) नहीं हैं। इस प्रकार यह अधिकरण अधिकार्थ की विवक्षा से आद्य अधिकरण के ही फल (सिद्धान्त) का उपसंहार करता है। अर्थात् विद्या के फल मोक्ष में कर्म का सामर्थ्य नहीं है, कर्मजन्य यदि मोक्ष होगा तो वह अनित्य होगा, परन्तु चित्त की शुद्धि मोक्षेच्छा की उत्पत्ति आदि के द्वारा विद्या के स्वरूप की सिद्धि में कर्म की अपेक्षा है, यह आगे कहा जायगा और इसी अधिक अर्थ को कहने के लिए यह आद्याधिकरण का उपसंहार है ॥ २५ ॥

सर्वापेक्षाधिकरणम् (६)

उत्पत्तावनपेक्षेयमुत कर्माण्यपेक्षते । फले यथानपेक्षैवमुत्पत्तावनपेक्षता ॥ १ ॥
यज्ञशान्त्यादिसापेक्षं विद्याजन्म श्रुतिद्वयात् । हलेनपेक्षितोप्यश्वो रथे यद्वदपेक्ष्यते ॥ २ ॥

ज्ञान के फल में कर्म की अपेक्षा नहीं होते भी ज्ञान की उत्पत्ति में तो यज्ञादि के श्रवण से सब आश्रम-कर्मों की अपेक्षा है, जैसे कि अश्व की अपेक्षा उसके योग्य कर्म में होती है। संशय है कि यह आत्मविद्या उत्पत्ति में कर्मों की अपेक्षा नहीं करती है, अथवा अपेक्षा करती है। पूर्वपक्ष है कि फल में अनपेक्षा के समान प्रमाण मात्र की अपेक्षा वाली ज्ञान की उत्पत्ति में भी कर्म की अपेक्षा नहीं है। सिद्धान्त है कि यज्ञादि श्रुति और शमादि श्रुति से यज्ञादि और शान्ति आदि सापेक्ष ही प्रमाण से भी विद्या का जन्म होता है। जैसे हल में अनपेक्षित भी अश्व रथ में अपेक्षित होता है, वैसे विद्या फल में अनपेक्षित कर्म विद्या की उत्पत्ति में योग्यता के अनुसार अपेक्षित होता है ॥ १–२ ॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते किं विद्याया अत्यन्तमेवानपेक्षाऽऽश्रमकर्मणामुतास्ति काचिदपेक्षेति। तत्रात एवाग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यायाः स्वार्थसिद्धौ नापेक्ष्यन्त इति एवमत्यन्तमेवानपेक्षायां प्राप्तायामिदमुच्यते सर्वापेक्षा चेति। अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि नात्यन्तमनपेक्षैव। ननु विरुद्धमिदं वचनमपेक्षते चाश्रमकर्माणि विद्या नापेक्षते चेति। नेति ब्रूमः। उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किंचिदन्यदपेक्षत उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते। कुतः? यज्ञादिश्रुतेः। तथाहि श्रुतिः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४।४।२२) इति यज्ञादीनां विद्यासाधनभावं दर्शयति। विविदिषासंयोगाच्चैषामुत्पत्तिसाधनभावोऽवसीयते। 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' (छा० ८।५।१) इत्यत्र च विद्यासाधनभूतस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञादिभिः संस्तवाद्यज्ञादीनामपि हि साधनभावः सूच्यते।

इस समय अब यह विचार किया जाता है कि क्या विद्या को आश्रम-कर्मों की अत्यन्त ही अनपेक्षा है, अथवा कुछ अपेक्षा है। यहाँ पूर्वपक्ष है कि जैसे कहा गया है कि इस ज्ञान की स्वतन्त्रता से ही अग्नीन्धनादि रूप आश्रमकर्म विद्या की स्वार्थ-सिद्धि में अपेक्षित नहीं होते हैं। इसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप ज्ञान के साधन स्वतन्त्र हैं, उनसे ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म की अत्यन्त अनपेक्षा है, इस प्रकार अत्यन्त अनपेक्षा के प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि (सर्वापेक्षा चेति) विद्या अपनी उत्पत्ति में सब आश्रमकर्मों की अपेक्षा करती है, इससे उसको आश्रम कर्म की अत्यन्त अनपेक्षा ही नहीं है। यदि कहो कि विद्या आश्रम के कर्मों की अपेक्षा करती है, और अपेक्षा नहीं करती है, यह परस्पर विरुद्ध वचन है, तो कहा जाता है कि विरुद्ध नहीं है, जिससे उत्पन्न विद्या फलसिद्धि के प्रति अन्य किसी की कुछ अपेक्षा नहीं करती है। अपनी उत्पत्ति के प्रति तो कर्मों की अपेक्षा करती है। यदि कहो कि यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है, तो कहा जाता है कि विद्यार्थक यज्ञादि की श्रुति से यह सिद्ध होता है। जिससे इस प्रकार की श्रुति है कि (उस औपनिषद पुरुष को ब्राह्मणादि अधिकारी लोग, वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अनाशक तप द्वारा जानने की इच्छा करते हैं) यह श्रुति यज्ञादि के विद्या-साधनत्व को दर्शाती है। विविदिषा (ज्ञानेच्छा) के साथ यज्ञादि के सम्बन्ध से इन यज्ञादिकों के ज्ञानसाधनत्व का निश्चय किया जाता है। (शिष्ट लोग परम पुरुषार्थ का साधनरूप जिस यज्ञ को कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है, यज्ञ का फल भी ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है) यहाँ विद्या के साधनरूप ब्रह्मचर्य की यज्ञादि के द्वारा स्तुति से यज्ञादि की ज्ञानसाधनता भी सूचित होती है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ (कठ० २।१५)

इत्येवमाद्या च श्रुतिराश्रमकर्मणां विद्यासधनभावं सूचयति। स्मृतिरपि—

कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥

इत्येवमाद्या। अश्ववदिति योग्यतानिदर्शनम्। यथा च योग्यतावशेनाश्वो न लाङ्गलाकर्षणे युज्यते रथचर्यायां तु युज्यते, एवमाश्रमकर्माणि विद्यया फलसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते उत्पत्तौ त्वपेक्ष्यन्ते इति ॥ २६ ॥

(सब वेद जिस पद (प्राप्य) वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, सब कर्म तप जिसकी प्राप्ति के लिए कहे जाते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य करते हैं, उस पद को तेरे लिए संक्षेप से मैं कहता हूँ कि वह ओंकार है—ओंकार का वाच्य है) इत्यादि श्रुति आश्रम-कर्मों की विद्या की साधनता को सूचित करती है। (कर्म सब कषाय, राग-द्वेषादि दोषों की पक्ति निवृत्ति के साधन हैं, उनसे पापों की निवृत्ति द्वारा दोषों की निवृत्ति होती है और ज्ञान तो परमगति है मोक्ष का साधन है। यहाँ कर्मों से दोष-पापादि के निवृत्त, नष्ट होने पर तब ज्ञान प्रवृत्त सिद्ध होता है) इत्यादि स्मृतियाँ भी

कर्मों की ज्ञानसाधनता को सूचित करती हैं। सूत्र में अश्ववत् यह पद योग्यता का निदर्शन (दृष्टान्त) रूप है। जैसे योग्यता के वश से अश्व हल के खींचने में नहीं नियुक्त किया जाता है, किन्तु रथ द्वारा गमन में तो रथ-गति में नियुक्त किया जाता है। इसी प्रकार आश्रम के कर्म विद्या के फल की सिद्धि में नहीं अपेक्षित होते हैं और विद्या की उत्पत्ति में तो अवश्य अपेक्षित होते हैं ॥ २६ ॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

शमदमाद्युपेतः— स्यात्—तथापि—तु—तद्विधेः—तदङ्गतया—तेषाम्—अवश्यानुष्ठेयत्वात्। इस सूत्र में नव पद हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (तथापि ज्ञानोत्पत्तौ कर्मापेक्षत्वेऽपि तु कर्मैव न पर्याप्तं साधनं तस्मान्मुमुक्षुः शमादियुक्तः साधनचतुष्टयोपेतः स्यात्। यतस्तस्य ज्ञानस्याङ्गतया तेषां शमादीनां विधेः सत्त्वात् तेषां शमादीनामवश्यानुष्ठेयत्वात् तदुपेतत्वमपेक्ष्यते) ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म की अपेक्षा होने पर भी कर्ममात्र ही ज्ञान का पूर्ण साधन नहीं है, इससे मुमुक्ष को शमादि से युक्त होना चाहिए, अर्थात् चतुष्टय-साधनसहित होना चाहिए, जिससे उस ज्ञान के अंगरूप से उन शमादियों की विधि की सत्ता है, और उन शमादियों को अवश्य अनुष्ठेयत्व है, इससे ज्ञान के लिए शमादि से युक्तत्व अपेक्षित है। विशद अन्य अर्थ भाष्य में होगा।

यदि कश्चिन्मन्यते यज्ञादीनां विद्यासाधनभावो न न्याय्यो विध्यभावात्, 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्येवञ्जातीयका हि श्रुतिरनुवादस्वरूपा विद्याभिष्टवपरा न यज्ञादिविधिपरा। इत्थं महाभागा विद्या यद्यज्ञादिभिरेवैतामवाप्तुमिच्छन्तीति। तथापि तु शमदमाद्युपेतः स्याद्विद्यार्थी 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ० ४।४।२३) इति विद्यासाधनत्वेन शमदमादीनां विधानाद्विहितानां चावश्यानुष्ठेयत्वात्।

यदि कोई माने (समझे) कि यज्ञादि को विद्या का साधनभाव (साधनत्व) विधि के अभाव से न्याय्य (उचित) नहीं है। (यज्ञ से जानने को इच्छा करते हैं) इस प्रकार की अनुवादस्वरूप श्रुति विद्या की स्तुतिपरक है, ज्ञान के साधनरूप से यज्ञादि की विधिपरक नहीं है। इस प्रकार की महाभाग वाली विद्या है कि जिससे यज्ञादि के द्वारा इसको प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, इस प्रकार से विद्या की स्तुति होती है। तथापि इस प्रकार से स्तुत्यर्थक होने पर भी तो ब्रह्मविद्या के अर्थी (इच्छुक) को शमदमादि से युक्त होना चाहिये, शम, दम आदि के बिना श्रुति के श्रवणमात्र से विद्या नहीं होती है, न उचित रीति से श्रवणादि हो ही सकते हैं। श्रुति है कि (जिससे कर्म सम्बन्धरहित ब्रह्मज्ञ की महिमा है उससे इस प्रकार ज्ञान को समझने वाला ज्ञान के लिए शान्त-शमयुक्त, दान्त-दमयुक्त, उपरत-उपरतियुक्त वितृष्ण, तितिक्षु-द्वन्द्वसहिष्णु और समाहित-एकाग्र होकर कार्यकरण के संघात रूप आत्मा में प्रत्यक्

चिदात्मा स्वरूप आत्मा का अपरोक्ष करता है) इस प्रकार विद्या के साधनरूप से शमदम आदि के विधान से, और विहितों के अवश्य अनुष्ठान के योग्य होने से शमदम आदि से युक्त होना चाहिए।

नन्वत्रापि शमाद्युपेतो भूत्वा पश्यतीति वर्तमानापदेश उपलभ्यते न विधिः। नेति ब्रूमः। तस्मादिति प्रकृतप्रशंसापरिग्रहाद्विधित्वप्रतीतेः। पश्येदिति च माध्यन्दिना विस्पष्टमेव विधिमधीयते। तस्माद्यज्ञाद्यनपेक्षायामपि शमादीन्यपेक्षितव्यानि। यज्ञादीन्यपि त्वपेक्षितव्यानि यज्ञादिश्रुतेरेव। ननूक्तं यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीत्यत्र न विधिरुपलभ्यत इति। सत्यमुक्तं तथापि त्वपूर्वत्वात्संयोगस्य विधिः परिकल्प्यते। नह्ययं यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्वं प्राप्तो येनानूद्येत। 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' इत्येवमादिषु चाश्रुतविधिकेष्वपि वाक्येष्वपूर्वत्वाद्विधिं परिकल्प्य पौष्णे पेषणं विकृतौ प्रतीयेतेत्यादिविचारः प्रथम तन्त्रे प्रवर्तितः। तथा चोक्तम् 'विधिर्वा धारणवत्' (जै० सू० ३।४।४) इति। स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यास्वनभिसंधाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम्। तस्माद्यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथाश्रमं सर्वाण्येवाश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावपेक्षितव्यानि। तत्राप्येवंविदिति विद्यासंयोगात्प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि, विविदिषासंयोगात्तु बाह्यानीतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम् ॥ २७ ॥

शंका होती है कि इस श्रुति में भी तो (शमदम आदि से युक्त होकर देखता है) इस प्रकार वर्तमान क्रिया का कथन उपलब्ध होता है, कोई विधि नहीं उपलब्ध होती है। उत्तर कहते हैं कि विधि का अभाव नहीं है, श्रुतिगत (तस्मात्) इस पद से प्रकृत प्रशंसा का परिग्रह होने से विधित्व की प्रतीति होती है कि जिससे ऐसा जानने वाला कर्मों से लिप्त नहीं होता है इससे शमादियुक्त होकर विचारादि करना चाहिए। माध्यन्दिन तो 'पश्यति' के स्थान में 'पश्येत्' इस प्रकार विस्पष्ट ही विधि का अध्ययन करते हैं। इससे यज्ञादि को ज्ञान के लिए अपेक्षा नहीं होने पर भी शमदम आदि तो अवश्य अपेक्षणीय (अनुष्ठेय) हैं। वस्तुतः यज्ञादि की श्रुति से ही यज्ञादि भी अपेक्षणीय हैं। यदि कहा जाय कि यज्ञादि के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं, इस वाक्य में विधि नहीं उपलब्ध होती है, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि विधि की अनुपलब्धि सत्य कही गई है, तथापि यज्ञादि को विद्या की इच्छा के साधनत्व रूप सम्बन्ध की अपूर्वता से विधि परिकल्पित होती है। इससे यज्ञादि का इस विविदिषा (ज्ञानेच्छा) के साथ सम्बन्ध प्रथम किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं है कि जिससे उस प्राप्त का अनुवाद हो सके। (जिससे पूषादेव दाँत रहित है इससे अच्छी तरह से पिष्ट पीसे हुए का भोक्ता है) इत्यादि विधि के श्रवण से रहित वाक्यों में भी अपूर्वता से विधि की परिकल्पना करके (दर्शपूर्णमास की विकृति याग में पूषादेव सम्बन्धी पेषण को समझना चाहिए) इत्यादि विचार प्रथम तन्त्र में प्रवर्तित हुआ है,

किया गया है) और इसी प्रकार कहा जा चुका है कि (अथवा धारण के समान विधि है) और भगवद्गीता आदि स्मृतियों में भी फल के अनुसंधान-चिन्तन इच्छा के बिना अनुष्ठित यज्ञादि मुमुक्षु के ज्ञान के साधन होते हैं, यह विस्तारपूर्वक कहा गया है। इससे आश्रमों के अनुसार यज्ञादि और शमदम आदि सभी आश्रमों के कर्म विद्या की उत्पत्ति में अपेक्षणीय (साधन) हैं। उनमें भी (एवंविच्छान्तो दान्तः) यहाँ विद्या के साथ शमादि का साक्षात् सम्बन्ध होने से प्रत्यासन्न (अन्तरंग, समीपवर्ती) विद्या के साधनरूप शमदम आदि हैं। विविदिषा के साथ यज्ञादि का सम्बन्ध होने से शमादि से भिन्न यज्ञादि बहिरंग (अदृष्ट द्वारा दूरवृत्ति) साधन हैं। इस प्रकार विवेकपूर्वक समझना चाहिए ॥ २७ ॥

सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् (७)

सर्वाशनविधिः प्राणविदोऽनुज्ञायवापदि। अपूर्वत्वेन सर्वान्नभुक्तिर्ध्यातुर्विधीयते ॥१॥
श्वाद्यन्नभोजनाशक्तः शास्त्राच्चाभोज्यवारणम्। आपदि प्राणरक्षार्थमेवानुज्ञायतेऽखिलम् ॥२॥

प्राण संवाद में प्राण का सब अन्न है इस प्रकार के ध्यान वाले के लिए जो कहा गया है कि उसके लिए कुछ भी (अनन्न) अभक्ष्य नहीं है इत्यादि यह विधि नहीं है किन्तु भक्ष्यान्न के बिना प्राण के नाश-काल में प्राण-रक्षा के लिए सर्वान्नविषयक अनुमति रूप वह वचन है, जो अन्यत्र चाक्रायण की कथा देखने से सिद्ध होता है। संशय है कि (न किञ्चनाऽनन्नं भवति) इत्यादि प्राणवेत्ता के लिए सर्वाशन (सर्वभक्षण) की विधि है। अथवा आपत्ति में अनुमति है। पूर्वपक्ष है कि प्राणध्यानी के लिए अपूर्वता से सर्वान्नभक्षण विहित होता है। सिद्धान्त है कि श्वादि अन्न भोजन की अशक्ति से और शास्त्र से अभोज्य, अभक्ष्य का वारण, निषेध है, परन्तु आपत्तिकाल में प्राण की रक्षा के लिए ही सर्वान्न अनुज्ञात (अनुमत) होता है ॥ १–२ ॥

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

प्राणसंवादे श्रूयते छन्दोगानाम्—'न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति' (छा० ५।२।१) इति, तथा वाजसनेयिनाम्—'न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्' (बृ० ६।१।१४) इति, सर्वमेवास्यादनीयमेव भवतीत्यर्थः। किमिदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवद्विद्याङ्गं विधीयत उत स्तुत्यर्थं संकीर्त्यत इति संशये विधिरिति तावत्प्राप्तम्। तथाहि—प्रवृत्तिविशेषकर उपदेशो भवत्यतः प्राणविद्यासंनिधानात्तदङ्गत्वेनेयं नियमनिवृत्तिरुपदिश्यते। नन्वेवं सति भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रव्याघातः स्यात्। नैष दोषः। सामान्यविशेषभावाद्बाधोपपत्तेः। यथा प्राणिहिंसाप्रतिषेधस्य पशुसंज्ञपनविधिना बाधः। यथा च 'न कांचन स्त्रियं परिहरेत्तद् व्रतम्' (छा० २।१३।२) इत्यनेन वामदेव्यविद्याविषयेण सर्वस्त्र्यपरिहारवचनेन तत्सामान्यविषयं गम्यागम्यविभागशास्त्रं

बाध्यते। एवमनेनापि प्राणविद्याविषयेण सर्वान्नभक्षणवचनेन भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रं बाध्येतेति।

छन्दोगों के प्राण संवाद में सुना जाता है कि (प्राण के सब अन्न हैं, ऐसा ध्यान वाले में कुछ भी अनन्न, अखाद्य नहीं होता है) इसी प्रकार वाजसनेयियों के प्राण संवाद में सुना जाता है कि (इस प्राणवेत्ता को अनन्न भक्षित नहीं होता है, अभक्ष्य-भक्षण का दोष नहीं लगता है, और अनन्न प्रतिगृहीत नहीं होता है) इस प्राणवेत्ता का सभी खाद्य अखाद्य खाद्य ही होता है यह अर्थ है। क्या यह सब अन्न का अनुज्ञान (अनुमति-वचन) शमादि के समान प्राण विद्या का अङ्ग विधानरूप है। अथवा स्तुति के लिए संकीर्तन मात्र है, इस प्रकार संशय होने पर विधि है, ऐसा प्रथम प्राप्त होता है, जिससे इस प्रकार वाला प्रवृत्ति विशेष को सिद्ध करने वाला उपदेश होता है। इससे प्राण विद्या की समीपता से प्राणविद्या के अङ्गरूप से भक्ष्याभक्ष्य के नियमों की निवृत्ति का यह उपदेश दिया जाता है। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर भक्ष्य-अभक्ष्य के विभागरूप शास्त्रों का व्याघात (बाध) होगा तो कहा जाता है कि सामान्य विशेष भाव से विशेष स्थान में बाध की उत्पत्ति से यह दोष नहीं है। जैसे कि प्राणियों की हिंसा के निषेध का याज्ञिक पशु हिंसाविधि से बाध होता है। जिस प्रकार (किसी स्त्री का परित्याग नहीं करे, यह उसका व्रत है) इस वामदेव-विद्याविषयक सब स्त्री के अपरित्याग वचन से उसके सामान्यविषयक स्त्री सामान्यविषयक गम्यागम्य-विभाग शास्त्र बाधित होता है। इसी प्रकार प्राणविद्याविषयक इस सर्वान्न-भक्षण वचन से भी भक्ष्य-अभक्ष्य का विभागरूप शास्त्र बाधित होगा।

एवं प्राप्ते ब्रूमः -- नेदं सर्वान्नानुज्ञानं विधीयत इति। नह्यत्र विधायकः शब्द उपलभ्यते 'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' (छा० ५।२।१) इति वर्तमानापदेशात्। न चासत्यामपि विधिप्रतीतौ प्रवृत्तिविशेषकरत्वलोभेनैव विधिरभ्युपगन्तुं शक्यते। अपिच श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमित्युक्त्वेदमुच्यते 'नैवंविदः किंचिदनन्नं भवति' इति। नच श्वादिमर्यादमन्नं मानुषेण देहेनोपभोक्तुं शक्यते। शक्यते तु प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति विचिन्तयितुम्, तस्मात्प्राणान्नविज्ञानप्रशंसार्थोऽयमर्थवादो न सर्वान्नानुज्ञानविधिः। तद्दर्शयति 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये' इति। एतदुक्तं भवति—प्राणात्यय एव हि परस्यामापदि सर्वमन्नमदनीयत्वेनाभ्यनुज्ञायते तद्दर्शनात्। तथाहि श्रुतिश्चाक्रायणस्यर्षेः कष्टायामवस्थायामभक्ष्यभक्षणे प्रवृत्तिं दर्शयति—'मटचीहतेषु कुरुषु' (छा० १।१०।१) इत्यस्मिन्ब्राह्मणे। चाक्रायणः किलर्षिरापद्गत इभ्येन सामिखादितान्कुल्माषांश्चखाद, अनुपानं तु तदीयमुच्छिष्टदोषात्प्रत्याचचक्षे। कारणं चात्रोवाच 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्' (छा० १।१०।४) इति, 'कामो म उदपानम्' (छा० १।१०।४) इति च। पुनश्चोत्तरेद्युस्तानेव स्वपरोच्छिष्टान्पर्युषितान्कुल्माषान्

भक्षयांबभूवेति । तदेतदुच्छिष्टोच्छिष्टपर्युषितभक्षणं दर्शयन्त्याः श्रुतेराशयातिशयो लक्ष्यते प्राणात्ययप्रसङ्गे प्राणसन्धारणायाभक्ष्यमपि भक्षयितव्यमिति । स्वस्थावस्थायां तु तन्न कर्तव्यं विद्यावतापीत्यनुपानप्रत्याख्यानाद् गम्यते । तस्मादर्थवादो 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्येवमादिः ॥ २८ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं, कि यह सर्वान्न का अनुज्ञान विहित नहीं होता है, जिससे यहाँ विधायक शब्द नहीं उपलब्ध होता है (इस प्राणोपासक में कुछ अनन्न नहीं होता है) इस वर्तमान काल के अपदेश (कथन) से विधि का अभाव है। विधिज्ञान के नहीं रहते भी प्रवृत्ति-विशेषकरत्व के लोभ से ही यहाँ विधि नहीं मानी जा सकती है । दूसरी बात है कि कुत्ता आदि पर्यन्त प्राण का अन्न है, ऐसा कहकर यह कहा जाता है कि (ऐसा जानने वाले में कुछ अनन्न नहीं होता है) वहाँ कुत्ता आदि पर्यन्त अन्न का मनुष्य देह के द्वारा उपयोग नहीं किया जा सकता है, परन्तु प्राण का यह सब अन्न है इस प्रकार चिन्तन किया जा सकता है । उस प्राणान्न विज्ञान की प्रशंसा के लिए यह अर्थवाद है, सब अन्नों के अनुज्ञान भक्षण की विधि नहीं है । यह सूत्रकार दर्शाते हैं कि (प्राण के विनाश काल में सर्वान्न की अनुमति मात्र है) इससे यह उक्त होता है कि—प्राण के अत्यय (नाश) में ही परम आपत्ति में ही सब अन्न भक्ष्यरूप से अनुज्ञात, सम्मत होता है, यह श्रुति के दर्शन से सिद्ध होता है । (अशनि टीड़ीरूप मटची से कुरुदेश की खेती के नष्ट होने से महादुर्भिक्ष काल में चाक्रायण ऋषि स्त्री सहित इभ्य-हस्तिपाल के ग्राम में भ्रमण करते हुए गए) इत्यादि कथारूप इस ब्राह्मण ग्रन्थ में, इस प्रकार की श्रुति है जो कि कष्ट अवस्था में चाक्रायण ऋषि की अभक्ष्य भक्षण में प्रवृत्ति को दर्शाती है कि आपत्ति में प्राप्त चाक्रायण ऋषि ने भी हस्तिपक से आधे खाये गये उरद खाये, और उसके अनुपान, भोजन बाद पीने के लिए पानी का उच्छिष्ट दोष से प्रत्याख्यान (अग्रहण) किया । इसमें कारण कहा कि (इन उरदों को नहीं खाता हुआ मैं जीवित नहीं रह सकूँगा । पीने के लिए जल तो मुझे यथेष्ट मिलेगा) फिर दूसरे दिन अपने और दूसरे के उच्छिष्ट (जूठा) बासी उरदों को खाया । वह यहाँ पर उच्छिष्ट स्व उच्छिष्ट बासी के भक्षण को दर्शाती हुई श्रुति का आशयातिशय (तात्पर्यातिशय) लक्षित (ज्ञात) होता है कि प्राण नाश के प्रसंग होने पर अभक्ष्य का भी भक्षण प्राणधारण के लिए करना चाहिए । स्वस्थ अवस्था में तो विद्वान् से भी वह अभक्ष्य भक्षण नहीं करने योग्य है, वह अनुपान के प्रत्याख्यान (निषेध) से समझा जाता है । जिससे (न ह वा एवंविदि) इत्यादि श्रुति अर्थवाद (स्तुति) है । विधि नहीं है ॥ २८ ॥

अबाधाच्च ॥ २९ ॥

एवंच सत्याहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्येवमादि भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रमबाधितं भविष्यति ॥ २९ ॥

इस प्रकार प्राणात्यय में अनुमति और स्वस्थावस्था में अभक्ष्य का त्याग होने पर, आहार की शुद्धि से सत्त्व (अन्तःकरण) की शुद्धि होती है, इत्यादि भक्ष्य और अभक्ष्य के विभाग का विधायक शास्त्र अबाधित होगा। इससे प्राणात्यय में ही अनुमति है ॥२९॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

अपि चापदि सर्वान्नभक्षणमपि स्मर्यते विदुषोऽविदुषश्चाविशेषेण—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ इति।

तथा 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणः', 'सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिंचेयुरास्ये', 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्' इति च स्मर्यते वर्जनमन्नस्य ॥ ३० ॥

आपत्ति में विद्वान् तथा अविद्वान् सब के अभक्ष्य-भक्षण का और स्वस्थावस्था में निषेध का भी स्मरण अविशेष (सामान्य) रूप से किया जाता है कि (जीवन की नाशदशा को प्राप्त जो मनुष्य जहाँ-तहाँ से अन्न लेकर खाता है, वह पाप से इस प्रकार नहीं लिप्त होता है कि जैसे पद्मपत्र जल से नहीं लिप्त होता है) इसी प्रकार (मद्यं नित्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्) ब्राह्मण सदा मद्य का त्याग करे। (सुरा पीने वाले ब्राह्मण के मुख में अत्यन्त उष्ण सुरा डाले। अभक्ष्य के भक्षण से सुरा पीने वाले कृमि होते हैं) इस प्रकार निषिद्ध अभक्ष्य अन्न का वर्जन (त्याग) स्मृति में कहा जाता है, ब्राह्मण के लिए सर्वथा मद्य निषिद्ध है ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

शब्दश्चानन्नस्य प्रतिषेधकः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः काठकानां संहितायां श्रूयते—'तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इति। सोऽपि 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्यस्यार्थवादत्वादुपपन्नतरो भवति। तस्मादेवंजातीयका अर्थवादा न विधय इति ॥ ३१ ॥

कामकार (यथेष्ट प्रवृत्ति) का निवृत्तिरूप प्रयोजन वाला (अकामकारविषयक) अनन्न का प्रतिषेध करने वाला शब्द काठकों की संहिता में सुना जाता है कि (उस मरणान्त प्रायश्चित्त के देखने से ब्राह्मण सुरा नहीं पिए) इत्यादि (न ह वा एवंविदि) इसके अर्थवादत्व से वह निषेध भी उपपन्नतर होता है (अतियुक्त होता है) यदि (न ह वै) इत्यादि विधि होगा तो विहित का प्रतिषेधरूप सुरानिषेध के होने से विकल्प की प्राप्ति होगी इत्यादि। इससे इस प्रकार की श्रुतियाँ अर्थवाद हैं विधि नहीं हैं ॥ ३१ ॥

आश्रमकर्माधिकरणम् (८)

विद्यार्थमाश्रमार्थं च द्विःप्रयोगोऽथवा सकृत्। प्रयोजनविभेदेन प्रयोगोऽपि विभिद्यते ॥
श्राद्धार्थभुक्त्या तृप्तिः स्याद्विद्यार्थेनाश्रमस्तथा। अनित्यनित्यसंयोगा क्रिभ्यां खादिरे मतः ॥

विहित होने से आश्रम-सम्बन्धी कर्म भी ज्ञान का साधन होता है। इससे आहार-शुद्धि के समान आश्रम-कर्म का भी मुमुक्षु अनुष्ठान करे। यहाँ संशय है कि विद्या के लिए और आश्रम के लिए प्रयोजन के भेद से यज्ञादि कर्म दो बार करना चाहिए अथवा एक बार करना चाहिए। पूर्वपक्ष है कि विविदिषा और आश्रमधर्मरूप प्रयोजन (फल) के भेद से यज्ञादि के प्रयोग (अनुष्ठान) का भी भेद होता है। इससे दो बार करना चाहिए। सिद्धान्त है कि जैसे श्राद्धार्थक भोजन से तृप्ति होती है, वैसे विद्या के लिए अनुष्ठित यज्ञादि से आश्रम-धर्म भी सिद्ध होता है। इससे एक बार करना चाहिए। यद्यपि विद्यार्थक यज्ञादि का अनित्य प्रयोग है, आश्रम धर्म रूप से नित्य प्रयोग है, इससे नित्यत्व अनित्यत्वरूप विरोध प्रतीत होता है, तथापि खादिरयूप में जैसे नित्यानित्य का संयोग (संबन्ध-अभेद) वचनों से होता है, वैसे यहाँ भी होगा। (खादिरो यूपो भवति) खैर का यूप होता है। इस कथन से खादिरत्व को नित्य क्रत्वर्थकता होती है। (खादिरं वीर्यकामस्य) इस वचन से अनित्य पुरुषार्थकता होती है ॥ १-२ ॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

'सर्वापेक्षा च—' (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत्राश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वमवधारितम्। इदानीं तु किममुमुक्षोरप्याश्रममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तान्यनुष्ठेयान्युताहो नेति चिन्त्यते। तत्र 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिनाऽऽश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वेन विहितत्वाद्विद्यामनिच्छतः फलान्तरं कामयमानस्य नित्यान्यननुष्ठेयानि। अथ तस्याप्यनुष्ठेयानि न तर्ह्येषां विद्यासाधनत्वं नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति।

(सर्वापेक्षा च) इस सूत्र में आश्रम-कर्मों के विद्या-साधनत्व का अवधारण (निश्चय) किया गया है। अब इस समय यह चिन्ता-विचार किया जाता है कि मोक्ष की इच्छा से रहित अतएव विद्या की इच्छा से रहित आश्रम मात्र में निष्ठा वाले से क्या वे आश्रम-कर्म अनुष्ठेय) कर्तव्य) हैं, अथवा नहीं हैं। इस विचार में पूर्वपक्ष होता है कि (उस उपनिषद्गम्य इस आत्मा को ब्राह्मणादि अधिकारी लोग नित्य वेदाऽध्ययनादि द्वारा जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुति से आश्रम-कर्मों के विद्या के साधनरूप से विहित होने से विद्या के अनिच्छुक फलान्तर के इच्छुक से नित्य यज्ञादि कर्म अनुष्ठेय नहीं हैं, उनका कर्तव्य नहीं हैं। यदि नित्य यज्ञादि मोक्षानिच्छुक के कर्तव्य होंगे, तो इन यज्ञादिकों को विद्या के साधनत्व का अभाव होगा, इन में विद्या-साधनत्व नहीं रहेगा, जिससे नित्य और अनित्य के संयोग को विरोध है, अर्थात् ज्ञान की कामना से यज्ञादि अनुष्ठान विहित होने से यज्ञादि को अनित्यत्व है, क्योंकि ज्ञान की इच्छा से रहित के लिए अनावश्यक है। नित्यकर्म जीवनपर्यन्त कर्तव्य होता है। इससे नित्यत्व अनित्यत्व विरुद्ध धर्म हैं, इनका एक में सन्निवेश नहीं हो सकता है इत्यादि॥

अस्यां प्राप्तौ पठति–आश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्तव्यान्येव नित्यानि कर्माणि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिना विहितत्वात्। नहि वचनस्यातिभारो नाम कश्चिदस्ति ॥ ३२ ॥

इस प्राप्ति के होने पर पढ़ते हैं कि (जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे) इत्यादि वचनों द्वारा साधारण रूप से नित्य कर्मों के विहितत्व होने से आश्रममात्र में निष्ठा वाले मोक्षेच्छारहित को भी नित्यकर्म कर्तव्य ही हैं, सिद्ध वस्तु विरुद्ध धर्म का आश्रय नहीं हो सकता है, वचनाधीन साध्य कर्म वचन के अनुसार नित्य-अनित्य उभयस्वरूप हो सकता है, इसमें उभयस्वरूपबोधक वचन को कुछ अतिभार (असाध्य) नहीं है ॥३२॥

अथ यदुक्तं नैवं सति विद्यासाधनत्वमेषां स्यादित्यत उत्तरं पठति—

जो यह कहा है कि (इस प्रकार होने पर) अमुमुक्षु के कर्तव्य होने पर इन यज्ञादिकों को विद्या के साधनत्व का अभाव होगा, अतः उसका उत्तर पढ़ते हैं कि—

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

विद्यासहकारीणि चैतानि स्युर्विहितत्वादेव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिना। तदुक्तम् –'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इति। नचेदं विद्यासहकारित्ववचनमाश्रमकर्मणां प्रयाजादिवद्विद्याफलविषयं मन्तव्यम्, अविधिलक्षणत्वाद्विद्यायाः, असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्य। विधिलक्षणं हि साधनं दर्शपूर्णमासादि स्वर्गफलसिषाधयिषया सहकारिसाधनान्तरमपेक्षते नैवं विद्या। तथा चोक्तम् 'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र० सू० ३।४।२५) इति। तस्मादुत्पत्तिसाधनत्व एवैषां सहकारित्ववाचोयुक्तिः। नचात्र नित्यानित्यसंयोगविरोध आशङ्क्यः, कर्माभेदेऽपि संयोगभेदात्। नित्यो ह्येकः संयोगो यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो न तस्य विद्याफलत्वम्। अनित्यस्त्वपरः संयोगः 'तमेतं वेदानुवचनेन' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिवाक्यकल्पितस्तस्य विद्याफलत्वम्। यथैकस्यापि खादिरत्वस्य नित्येन संयोगेन क्रत्वर्थत्वमनित्येन संयोगेन पुरुषार्थत्वं च तद्वत् ॥ ३३ ॥

ये यज्ञादि कर्म विद्या के सहकारी होंगे, अतः विहित होने से ही सहकारी रूप से भी यज्ञादि अनुष्ठानार्ह हैं। वह (उस औपनिषद आत्मा को ब्राह्मणादि वेदाऽध्ययन से जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि वचन से सिद्ध होता है। यह प्रथम कहा गया है कि (सर्वापेक्षा च) इत्यादि। परन्तु इस कर्मों के सहकारित्व वचन को प्रयाजादि के समान विद्या का फलविषयक नहीं मानने योग्य है। जिससे वि[illegible] को अविधिस्वरूप होने से, अर्थात् विधि से अजन्य और प्रमाण से जन्य होने से [illegible] का फलजनन में सहकारी की अपेक्षा नहीं है। विद्या का फल मोक्ष के भी अ[illegible] से वह सहकारी कर्मजन्य नहीं हो सकता है। जिससे विधिस्वरूप दर्श-पूर्णमा[illegible] का साधन स्वर्गजन्य

फल की सिद्धि की इच्छा से सहकारी साधनान्तर की अपेक्षा करते हैं। प्रमाणजन्य विद्या इस प्रकार अपने फल के लिए सहकारी की अपेक्षा नहीं करती है। अज्ञानमात्र की निवृत्ति करती है कि जिससे नित्यमुक्तस्वरूप स्वयं ही अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार कहा है कि (अत एव च) इत्यादि। इससे ज्ञान की उत्पत्ति-साधनत्व-विषयक ही कर्मों के सहकारित्व वचन की युक्ति (योग्यता-सम्बन्ध) है। कर्म के अभेद रहते भी नित्यत्व-अनित्यत्व के संयोग (विधि) भेद से यहाँ नित्य और अनित्य के संयोग में विरोध आशंका के योग्य नहीं है। जिससे, यावत्, जीवनपर्यन्त, अग्निहोत्रविधि आदि वाक्य से कल्पित एक नित्यसंयोग है, उसको विद्यारूप फलवत्ता नहीं है। (तमेतं वेदानुवचनेन) इत्यादि वाक्य से कल्पित (सिद्ध) दूसरा अनित्य संयोग है, उस दूसरे संयोग को विद्याफलवत्त्व है। जैसे कि एक ही खादिरत्व को (खादिरो यूपो भवति) इस श्रुति से सिद्ध नित्यसंयोग द्वारा क्रत्वर्थकत्व होता है। (खादिरं वीर्यकामस्य) इस श्रुति से अनित्य संयोग द्वारा पुरुषार्थत्व होता है। इसी के समान दो वाक्य के होने से यहाँ भी विरोध नहीं है ॥ ३३ ॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

सर्वथाप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे च त एवाग्निहोत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः। त एवेत्यवधारयन्नाचार्यः किं निवर्तयति ? कर्मभेदशङ्कामिति ब्रूमः। यथा कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इत्यत्र नित्यादग्निहोत्रात्कर्मान्तरमुपदिश्यते नैवमिह कर्मभेदोऽस्तीत्यर्थः। कुतः ? उभयलिङ्गात्—श्रुतिलिङ्गात् स्मृतिलिङ्गाच्च। श्रुतिलिङ्गं तावत् 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुङ्क्ते नतु जुह्वतीत्यादिवदपूर्वमेषां रूपमुत्पादयतीति। स्मृतिलिङ्गमपि 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' (६।१) इति विज्ञातकर्तव्यताकमेव कर्म विद्योत्पत्त्यर्थं दर्शयति। यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्याद्या च संस्कारत्वप्रसिद्धिर्वैदिकेषु कर्मसु तत्संस्कृतस्य विद्योत्पत्तिमभिप्रेत्य स्मृतौ भवति। तस्मात्साध्विदमभेदावधारणम् ॥ ३४ ॥

सर्वथा हि आश्रमकर्म पक्ष में (नित्यत्व में) और विद्यासहकारित्व पक्ष में (अनित्यत्व में) वे ही अग्निहोत्रादि धर्म अनुष्ठेय हैं, भिन्न नहीं। वे ही इस प्रकार अवधारण करते हुए आचार्य किसकी निवृत्ति करते हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि कर्म के भेद-शंका की निवृत्ति करते हैं। जैसे कि कुण्ड से सोम पीने वालों के अयन (यागविशेष) में (मासमग्निहोत्रं जुह्वति) इस वाक्य में नित्य अग्निहोत्र से कर्मान्तर-रूप एक मास पर्यन्त कर्तव्य अग्निहोत्र का उपदेश दिया जाता है क्योंकि (जुह्वति) यह साध्य हवनवाचक शब्द है, और नित्याग्निहोत्र विधायक वचन दूर व्यवहित है। उसका इस मासाग्निहोत्र वचन से परामर्श नहीं हो सकता है। इससे मास-गुण-विशिष्ट

कर्मान्तर इस वचन से विहित होता है। उसके समान यहाँ कर्मभेद नहीं है, यह अर्थ है, यहाँ यज्ञादि पद सिद्ध कर्म का वाचक होता हुआ आख्यात (क्रिया) के साथ एकवाक्यतापूर्वक व्यवहित यज्ञादि के विद्या-साधनत्व का बोधक होता है। यह किस प्रमाण से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि उभयलिङ्ग से अर्थात् श्रुतिलिङ्ग से और स्मृतिलिङ्ग से समझा जाता है। प्रथम श्रुतिलिङ्ग है कि (उस इस आत्मा को ब्राह्मणादि वेदाऽध्ययन से जानना चाहते हैं) यह वचन सिद्धवस्तु के समान वचनान्तर से उत्पन्न (सिद्ध) रूप वाले ही यज्ञादि का विविदिषा में विनियोग (सम्बन्ध) करता है। जुह्वति, इत्यादि के समान अपूर्व (असिद्ध) इन यज्ञादि के स्वरूप को नहीं उत्पन्न करता है। स्मृतिलिङ्ग भी है कि (कर्मफल के अनाश्रित, कर्मफल की इच्छारहित होता हुआ जो अवश्य कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है) यह स्मृति विज्ञात-कर्तव्यता वाले कर्म को विद्या की उत्पत्ति के लिए दर्शाती है। (जिसके ये अड़तालिस संस्कार हैं) इत्यादि वैदिक सिद्ध कर्मों में संस्कारत्व की प्रसिद्धि उन कर्मों से संस्कृत (शुद्ध) की विद्या की उत्पत्ति को मानकर स्मृति में है। इससे यह अभेद का अवधारण साधु सम्यक् सुन्दर है ॥ ३४ ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

सहकारित्वस्यैवैतदुपोद्बलकं लिङ्गदर्शनमनभिभवं च दर्शयति श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नस्य रागादिभिः क्लेशैः 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते' (छा० ८।५।३) इत्यादिना। तस्माद्यज्ञादीन्याश्रमकर्माणि च भवन्ति विद्यासहकारीणि चेति निश्चितम् ॥ ३५ ॥

सहकारित्व के ही साधक इस लिङ्गदर्शनरूप अनभिभव (आदर) को भी श्रुति दर्शाती है कि ब्रह्मचर्यादि-साधन-सम्पन्न का रागादि क्लेशों से (यह आत्मा नहीं नष्ट लुप्त-परोक्ष होता है कि जिस आत्मा को ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त अनुभूत अपरोक्ष करता है) इत्यादि वचन से अनभिभव दर्शाती है। अतः यज्ञादि आश्रम-कर्म भी होते हैं, और विद्या के सहकारी (हेतु) भी होते हैं। यह निश्चित सिद्धान्त है ॥ ३५ ॥

विधुराधिकरणम् (९)

नास्त्यनाश्रमिणो ज्ञानमस्ति वा नैव विद्यते। धीशुद्धयर्थाश्रमित्वस्य ज्ञानहेतोरभावतः ॥
अस्त्येव सर्वसम्बन्धिजपादेश्चित्तशुद्धितः। श्रुता हि विद्या रैक्वादेराश्रमे त्वतिशुद्धता ॥

अन्तरा भी (आश्रम-धर्म के बिना भी) तथा आश्रम के स्वीकारादि के बिना वर्तमान को भी) ज्ञान होता है। वह रैक्वादि के ज्ञानविषयक श्रुति के देखने से सिद्ध होता है। अनाश्रमी को ज्ञान होता है अथवा नहीं यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि ज्ञान का हेतुरूप, बुद्धि की शुद्धि के लिए आश्रमित्व के अभाव से अनाश्रमियों को ज्ञान नहीं होता है, सिद्धान्त है कि आश्रमी अनाश्रमी। सब सम्बन्धी जप, भक्ति, अहिंसा,

सत्य, ब्रह्मचर्यादि से चित्त की शुद्धि से अनाश्रमी को भी ज्ञान होता। जिससे रैक्वादि की विद्या सुनी गई है। परन्तु आश्रम में अति शुद्धता होती है, यह विशेष है॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

विधुरादीनां द्रव्यादिसम्पद्रहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्तिहीनानामन्तरालवर्तिनां किं विद्यायामधिकारोऽस्ति किं वा नास्तीति संशये नास्तीति तावत्प्राप्तम्। आश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वावधारणादाश्रमकर्मासम्भवाच्चैतेषामिति।

विधुरादि और यज्ञादि के कारण द्रव्यादि सम्पत्तिरहित चारों आश्रमों में से किसी भी आश्रम का स्वीकार प्राप्ति से रहित, अन्तरालवर्ती जो हैं, उनका विद्या में अधिकार क्या है। अथवा नहीं है। ऐसा संशय होने पर, नहीं अधिकार है ऐसा प्रथम प्राप्त होता है, क्योंकि आश्रम-कर्मों को विद्या के हेतुत्व का अवधारण हुआ है और उन विधुरादिकों को आश्रम-कर्म का असम्भव है, इससे उनको विद्या हो नहीं सकती है।

एवं प्राप्त इदमाह—अन्तरा चापि त्वनाश्रमित्वेनान्तराले वर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते। कुतः? तद्दृष्टेः। रैक्ववाचक्नवीप्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः॥ ३६॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर यह कहते हैं कि (अन्तरा चापितु) अनाश्रमी रूप से अन्तराल (मध्य) में वर्तमान भी विद्या में अधिकृत होता है, किस हेतु से अधिकृत होता है, तो कहा जाता है कि इस विषयक श्रुति के देखने से अधिकारी सिद्ध होता है, रैक्व वाचक्नवी (गार्गी) आदि इस प्रकार के लोगों के भी ब्रह्मवित्त्वविषयक श्रुति की उपलब्धि से उक्त सिद्धान्त सिद्ध होता है॥ ३६॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वं स्मर्यते इतिहासे॥ ३७॥

नग्नचर्या (विचरण) आदि के सम्बन्ध से आश्रम-कर्म की अपेक्षा नहीं करने वाले संवर्तादि के भी महायोगित्व का इतिहास में स्मरण किया जाता है। इससे अनाश्रमी को ज्ञान का अधिकार सिद्ध होता है॥ ३७॥

ननु लिङ्गमिदं श्रुतिस्मृतिदर्शनमुपन्यस्तं का नु खलु प्राप्तिरिति साऽभिधीयते—

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

तेषामपि च विधुरादीनामविरुद्धैः पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति। तथा च स्मृतिः—

> जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
> कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

इत्यसम्भवादाश्रमकर्मणोऽपि जप्येऽधिकारं दर्शयति। जन्मान्तरानुष्ठितैरपि

चाश्रमकर्मभिः सम्भवत्येव विद्याया अनुग्रहः । तथा च स्मृतिः—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (६।४६) इति जन्मान्तरसञ्चितानपि संस्कारविशेषाननुग्रहीतॄन्विद्यायां दर्शयति । दृष्टार्था च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणादिषु । तस्माद्विधुरादीनामप्यधिकारो न विरुद्धयते ॥ ३८ ॥

यहाँ शंका होती है कि अनाश्रमी के ज्ञान में लिङ्ग-रूप यह श्रुति स्मृति का दर्शन उपन्यस्त (कथित) हुआ है, वह ज्ञान जन्मान्तरकृत आश्रम-कर्म से भी हो सकता है। इससे अन्यथासिद्ध यह लिङ्ग अनाश्रम-कर्म के विद्याहेतुत्व को नहीं सिद्ध कर सकता है, इसलिए अनाश्रम-कर्म की निश्चित रूप से प्राप्ति क्या है। अर्थात् ज्ञान के हेतुरूप से अनाश्रम-कर्म के प्रापक की प्राप्ति (सिद्धि) क्या है, ऐसी शंका होने पर वह प्राप्ति कही जाती है कि—

उन विधुर आदि अनाश्रमियों को भी अनाश्रमित्वादि के अविरोधी पुरुषमात्र-सम्बन्धी जप, उपवास, देवता की आराधना आदि रूप धर्मविशेषों से विद्या का अनुग्रह लाभ सम्भव होता है। इस प्रकार की स्मृति है कि (ब्राह्मण जप से ही सम्यक् सिद्ध होता है। इसमें संशय नहीं है। अन्य कर्म करे या नहीं करे, ब्राह्मण दयावान् कहा जाता है) यह स्मृति आश्रम-कर्म के असम्भव से भी जप्य में अधिकार को दर्शाती है कि आश्रम-कर्म के नहीं कर सकने पर भी ब्राह्मण जप से सिद्धि पाता है, और जन्मान्तर में अनुष्ठित आश्रम-कर्म से भी विद्या का अनुग्रह होता है और इस प्रकार की स्मृति है कि (अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों की धीरे-धीरे वृद्धि द्वारा सम्यक् शुद्ध होकर तब योगी आत्मानुभव को प्राप्त करके परगति—मुक्ति को प्राप्त करता है) यह स्मृति जन्मान्तर में संचित विद्या में अनुग्राहक (सहकारी हेतु) संस्कारविशेषों को दर्शाती है। दृष्टार्थक विद्या-प्रतिषेध के अभावमात्र से भी श्रवणादि में अर्थी जिज्ञासु को अधिकृत, प्रवृत्त करती है, श्रवण के लिए संन्यासादि आश्रम का नियम नहीं है, इससे विधुरादि का भी विद्या में अधिकार-विरुद्ध नहीं होता है ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

अतस्त्वन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायो विद्यासाधनम्, श्रुतिस्मृतिसंदृष्टत्वात् । श्रुतिलिङ्गाच्च 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' (बृ० ४।४।९) इति ।

अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः ।
संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत् ॥

इति च स्मृतिलिङ्गात् ॥ ३९ ॥

परन्तु इस अन्तरालवर्तित्व से इतरत् (भिन्न) आश्रमवर्तित्व ज्यायः, श्रेष्ठ विद्या का साधन है, जिससे आश्रमवर्तित्व को श्रुति और स्मृति में संदृष्टत्व है (पुण्यकृत् तैजस पुण्य करने वाला शुद्ध चित्तयुक्त ब्रह्मवेत्ता उस मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त करता है) इस श्रुतिलिङ्ग से और (द्विज एक दिन भी अनाश्रमी नहीं रहे। एक वर्ष अनाश्रमी रहने

पर एक कृच्छ्र चान्द्रायण करे) इस स्मृतिलिङ्ग से अनाश्रमित्व श्रेष्ठ सिद्ध होता है ॥ श्रुति में पुण्यकृत्त्व लिङ्ग से आश्रमित्व को श्रेष्ठ कहा गया है, जिससे पुण्य की वृद्धि से विद्या का शीघ्र लाभ होता है ॥ ३९ ॥

तद्भूताधिकरणम् (१०)

अवरोहोऽस्त्याश्रमाणां न वा रागात्स विद्यते । पूर्वधर्मश्रद्धया वा यथारोहस्तथैच्छिकः ॥१॥
रागस्यातिनिषिद्धत्वाद्विहितस्यैव धर्मतः । आरोहनियमोक्त्यादेर्नावरोहोऽस्त्यशास्त्रतः ॥२॥

तद्भूत–प्राप्त उत्तम आश्रम वाले का फिर अतद्भाव–उसका त्याग–पूर्वाश्रम में प्रवेश नहीं होने योग्य है, यह जैमिनि, बादरायण दोनों का सिद्धान्त है । क्योंकि ऐसा ही शास्त्र का नियम है, और तद्रूप (उत्तम स्वरूप) के बाद (अतद्रूप) तद्रूप के त्याग का शास्त्र में अभाव है, तथा सदाचार में भी अतद्रूप का अभाव है ॥ संशय है कि उत्तमाश्रम में आरूढ होने पर अवरोह–फिर पूर्वाश्रम में प्रत्यागमन आश्रमियों का हो सकता है; अथवा नहीं । पूर्वपक्ष है कि राग से अथवा पूर्वाश्रम के धर्मों में फिर श्रद्धा होने से जैसे इच्छा के अनुसार आरोह होता है, वैसे ही इच्छा के अनुसार अवरोह भी हो सकता है ॥ सिद्धान्त है कि राग के अतिनिषिद्ध होने से, विहित ही के धर्म होने से तथा अवरोहविषयक नियम के कथन से, और अवरोहविषयक- शास्त्र के अभाव से अवरोह सर्वथा नहीं है ॥ १–२ ॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

सन्त्यूर्ध्वरेतस आश्रमा इति स्थापितम् । तांस्तु प्राप्तस्य कथंचित्ततः प्रच्युतिरस्ति नास्ति वेति संशयः । पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया वा रागादिवशेन वा प्रच्युतोऽपि स्याद्विशेषाभावादिति ।

ऊर्ध्वरेतस आश्रम हैं, यह प्रथम स्थापित (निश्चित निरूपित) किया गया है । उन उत्तम आश्रमों को प्राप्त मनुष्य को उससे फिर किसी प्रकार से प्रच्युति (अधः प्रवृत्ति) धर्मदृष्टि से है, अथवा नहीं है । यह संशय होता है । पूर्वपक्ष है कि उत्तम आश्रम में आरूढ होने पर पूर्व आश्रमसम्बन्धी कर्मविषयक अनुष्ठान (आचरण) करने की इच्छा होने से, अथवा रागादि के वश से प्रच्युत भी हो सकता है, क्योंकि धर्म के लिए आरोह-अवरोह में विशेष का अभाव है ।

एवं प्राप्त उच्यते—तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोर्ध्वरेतोभावस्य न कथंचिदप्यतद्भावो न ततः प्रच्युतिः स्यात् । कुतः ? नियमातद्रूपाभावेभ्यः । तथाहि—'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' (छा० २।२३।१) इति 'अरण्यमियादिति पदं, ततो न पुनरेयादित्युपनिषत्' इति ।

आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् ।
आ विमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि ॥

इति चैवंजातीयको नियमः प्रच्युत्यभावं दर्शयति। यथा च 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' (जा० ४) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इति चैवमादीन्यारोहरूपाणि वचांस्युपलभ्यन्ते नैवं प्रत्यवरोहरूपाणि। न चैवमाचाराः शिष्टा विद्यन्ते। यत्तु पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया प्रत्यवरोहणमिति, तदसत् 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' (३।३।५) इति स्मरणात्। न्यायाच्च। यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मो न तु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते चोदनालक्षणत्वाद्धर्मस्य। नच रागादिवशात्प्रच्युतिः। नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। जैमिनेरपीत्यपिशब्देन जैमिनिबादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिं शास्ति प्रतिपत्तिदार्ढ्याय ॥ ४० ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि (तद्भूतस्य तु), ऊर्ध्वरेतःस्वरूपता को प्राप्त मनुष्य का फिर अतद्भाव—उससे प्रच्युति किसी प्रकार भी उचित धर्मस्वरूप नहीं हो सकता है, यह किस प्रमाण से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि नियम और अतद्रूप तथा अभाव से समझा जाता है। वह नियमादि इस प्रकार है कि (नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्यकुल में जीवनपर्यन्त नियमों से शरीर को अत्यन्त क्षीण करता हुआ बसे)- और (अरण्य-एकान्तवासयुक्त संन्यास को प्राप्त करे—यह पद शास्त्रीयमार्ग है) और (उससे फिर प्रच्युत न हो यह उपनिषद् रहस्य है) और (आचार्य से अभ्यनुज्ञात-अनुमत-स्वोकृत होकर, उनकी आज्ञा पाकर शरीर के त्याग-पर्यन्त चारों आश्रमों में से किसी एक आश्रम का विधि के अनुसार वह अनुष्ठान करे) इस प्रकार का नियम प्रच्युति के अभाव को दर्शाता है। जैसे (ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थाश्रम का स्वीकार करे) (ब्रह्मचर्य से ही त्याग करे) इत्यादि आरोह-विधायक स्वरूप वाले वचन उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार प्रत्यवरोह (परावृत्ति) रूप वाले वचन नहीं उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के आचार वाले शिष्ट पुरुष भी नहीं हैं। जो त्यक्त पूर्वाश्रमसम्बन्धी कर्मविषयक अनुष्ठान करने की इच्छा से प्रत्यवरोह होगा, यह कथन है वह असत् है। (पूर्णविधिपूर्वक अनुष्ठित, कृत अन्य के धर्म से विगुण अनुष्ठित भी अपना धर्म अति श्रेष्ठ है) इस स्मरण से और न्याय-धर्म मर्यादा से उक्त कथन असत् अयुक्त है। जिससे जिसके प्रति जो विहित होता है, वह उसका धर्म होता है। जो जिससे अच्छी तरह से अनुष्ठित हो सकता हो (किया जा सकता हो) वह उसका धर्म नहीं होता है, क्योंकि धर्म का चोदना (विधि) ही लक्षण है। रागादि वश से भी प्रच्युति उचित नहीं है, रागादि से नियम-शास्त्र अतिबली है। (जैमिनेरपि) इस अपि शब्द से जैमिनि और बादरायण दोनों की इस विषय में संप्रतिपत्ति (निश्चय) का उपदेश प्रतिपत्ति (ज्ञान विश्वास) की दृढ़ता के लिए करते हैं ॥ ४० ॥

अधिकाराधिकरणम् (११)

भ्रष्टोर्ध्वरेतसो नास्ति प्रायश्चित्तमथास्ति वा। अदर्शनोक्तेरस्त्येव व्रतिनो गर्दभः पशुः ॥ १ ॥

उपपातकमेवैतद्व्रतिनो मधुमांसवत्। प्रायश्चित्ताच्च संस्कारान्छुद्धिर्यत्नपरं वचः ॥ २ ॥

तद्भूत के अतद्भाव होने पर (ऊर्ध्वरेता के पतित होने पर) पूर्वमीमांसा के षष्ठ अधिकाराध्याय में निर्णीत (आधिकारिक) प्रायश्चित्त भी नहीं हो सकता है। प्रायश्चित्त से भी वह शुद्ध नहीं हो सकता है। जिससे निवृत्ति के अयोग्य पतन के बोधक श्रुति का संस्कार के प्रायश्चित्त के अभावबोधक स्मृति आदि से अनुमान होता है। इससे उस प्रायश्चित्त के अयोग से प्रायश्चित्त नहीं हो सकता है ॥ संशय है कि भ्रष्ट ऊर्ध्वरेता का प्रायश्चित्त है अथवा नहीं है। पूर्वपक्ष है कि (प्रायश्चित्तं न पश्यामि) इस अदर्शन वचन से प्रायश्चित्त नहीं है। गर्दभ पशुरूप प्रायश्चित्त भी उपकुर्वाणक व्रती के लिए है, ऊर्ध्वरेता के लिए नहीं ॥ सिद्धान्त है कि मधु-मांसभक्षण के समान यह स्त्रीसंग भी गुरुदारा आदि से अतिरिक्त-विषयक उपपातक ही है, इससे प्रायश्चित्त और संस्कार से शुद्धि होती है। (प्रायश्चित्तं न पश्यामि) वचन अधिक यत्न-सावधानीपरक है ॥१-२॥

नचाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

यदि नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रमादादवकीर्येत किं तस्य 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत' इत्येतत्प्रायश्चित्तं स्यादुत नेति। नेत्युच्यते। यदप्यधिकार-लक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तम् 'अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्' (जै० सू० ६।८।२१) इति, तदपि न नैष्ठिकस्य भवितुमर्हति। किं कारणम्?

आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महा॥

इत्यप्रतिसमाधेयपतनस्मरणाच्छिन्नशिरस इव प्रतिक्रियानुपपत्तेः। उपकुर्वाणस्य तु तादृक्पतनस्मरणाभावादुपपद्यते तत्प्रायश्चित्तम् ॥ ४१ ॥

यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रमाद से अवकीर्णी (ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट) हो। व्यभिचार करे तो क्या उसका (अवकीर्णी ब्रह्मचारी निर्ऋति देवता के लिए गर्दभ का आलम्भ करे) इस वचन से विहित प्रायश्चित्त होगा, अथवा नहीं होगा। ऐसा संशय होने पर कहा जाता है कि उसका प्रायश्चित्त नहीं होगा, जो भी अधिकाराध्याय में (अग्निग्रहण के दाराग्रहण के उत्तरकाल में होने से उपनयन काल में गृहीत अग्नि के अप्राप्तकाल होने से जैसे उपनयन काल में लौकिक अग्नि में ही होम कर्तव्य होता है, उसी प्रकार से अवकीर्णी ब्रह्मचारी के प्रायश्चित्त गर्दभ पशु का लौकिकाग्नि में हवन कर्तव्य होता है) इस प्रकार से प्रायश्चित्त निर्णीत है, वह भी नैष्ठिक का नहीं होने योग्य है। उसमें कारण क्या है कि (नैष्ठिक धर्म में आरूढ होकर जो फिर पतित होता है, उसका वह प्रायश्चित्त नहीं देखता हूँ कि जिससे वह आत्मघाती शुद्ध हो) इस प्रकार अप्रति-समाधेय (अनिवार्य) पतन के स्मरण से छिन्न शिर वालों के समान प्रतिकार (निवृत्ति साधन) की अनुपपत्ति से प्रायश्चित्त नहीं हो सकता है। उपकुर्वाण को वैसे अनिवार्य पतन स्मरण के अभाव से उसका प्रायश्चित्त उपपन्न होता है ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

अपि त्वेक आचार्या उपपातकमेवैतदिति मन्यन्ते। यन्नैष्ठिकस्य गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यं विशीर्येत न तन्महापातकं भवति गुरुतल्पादिषु महापातकेष्वपरिगणनात्। तस्मादुपकुर्वाणवन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तस्य भाव मिच्छन्ति ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्च अशनवत्। यथा ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशने व्रतलोपः पुनःसंस्कारश्चैवमिति। ये हि प्रायश्चित्तस्याभावमिच्छन्ति तेषां न मूलमुपलभ्यते, ते तु भावमिच्छन्ति तेषां ब्रह्मचार्यवकीर्णीत्येतदविशेषश्रवणं मूलम्। तस्माद्भावो युक्ततरः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' (जै० सू० १।३।८) 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' (जै० सू० १।३।१९) इति। प्रायश्चित्ताभावस्मरणं त्वेवं सति यत्नगौरवोत्पादनार्थमिति व्याख्यातव्यम्। एवं भिक्षुवैखानसयोरपि 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्' 'भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवल्लिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्च' इत्येवमादि प्रायश्चित्तस्मरणमनुस्मर्तव्यम् ॥ ४२ ॥

एक आचार्य तो यह नैष्ठिक की च्युति उपपूर्वक पतन है, अर्थात् उपपातक ही है प्रतिकार के अयोग्य महापातक नहीं है इस प्रकार मानते हैं। नैष्ठिक का जो गुरुदारा (स्त्री) आदि से अन्य में यदि ब्रह्मचर्य विशीर्ण नष्ट हो, तो वह महापातक नहीं होता है, जिससे गुरुतल्प (दारा) आदि महापातकों में उसका परिगणन नहीं है। इससे उपकुर्वाणक के समान नैष्ठिक के प्रायश्चित्त के सत्त्व को वे आचार्य मानते हैं, जिससे ब्रह्मचारित्व और अवकीर्णित्व दोनों में तुल्य है। वह अवकीर्णित्व लोप अशन (अभक्ष्य-भक्षण के समान है। इससे जैसे मधु-मांस के भक्षण करने पर ब्रह्मचारी का व्रतलोप-नियमनाश होता है, परन्तु फिर संस्कार होता है, इसी प्रकार व्यभिचार-विषय में भी प्रायश्चित्त समझना चाहिए। जो कोई प्रायश्चित्त का अभाव मानते हैं उनके मत का मूल नहीं उपलब्ध होता है। जो प्रायश्चित्त का सत्त्व मानते हैं, उनके मत का (अवकीर्णी ब्रह्मचारी) इत्यादि अविशेष (सामान्य) श्रुति मूल है। इससे प्रायश्चित्त का भाव (अस्तित्व) युक्ततर (अति उचित) है। यह प्रमाणाध्याय में कहा है कि (यवमयश्चरुर्भवति) यव का चरु होता है। इस श्रुति में यव शब्द किस अर्थ का वाचक है, यह निश्चय नहीं होता है, क्योंकि अनार्य लोग प्रियगु (कौनो) को यव कहते हैं, और आर्य दीर्घशूक (टूड़ा) वाले को यव कहते हैं, यहाँ (समप्रसिद्धि से समप्रतिपत्ति तुल्य ज्ञान अर्थात् विकल्प होगा, कभी जौ का चरु होगा, कभी कौनी का होगा) ऐसा प्राप्त होने पर कहा गया है कि (शास्त्रस्थ शास्त्रमूलक प्रतिपत्ति ग्राह्य है क्योंकि धर्म का ज्ञान शास्त्रनिमित्त होता है) और (यदा चान्या ओषधयो म्लायन्त्यथैते यवा मोदमानास्तिष्ठन्ति) जब अन्य ओषधियाँ सूख जाती हैं, उस समय भी यव हरे-भरे रहते हैं। यह शास्त्र दीर्घशूक वालों का ही बोध कराता है। इससे शास्त्र

के अनुसार ही प्रायश्चित्त भी मन्तव्य है। परन्तु ऐसा निश्चय होने पर प्रायश्चित्त का अभावरूप स्मरण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-पालनविषयक प्रयत्न-गुरुत्व का उत्पादनार्थक है, ऐसा व्याख्यान के योग्य है। इसी प्रकार (दीक्षा का भङ्ग, नियम का नाश होने पर द्वादश—बारह रात्रि तक कृच्छ्र (प्राजापत्य) व्रत करके वानप्रस्थ महाकक्ष — वन को जलादि-प्रदान से बढ़ावे। तृण वृक्ष जहाँ बहुत हों उस भूमि को सेवा करे) और (भिक्षुव्रत भंग होने पर सोमलता से भिन्न महाकक्ष को वानप्रस्थ के समान जल-सेचनादि से बढ़ावे। संन्यासशास्त्र में विहित कर्म-युक्त हो) इत्यादि भिक्षुक वानप्रस्थ का भी प्रायश्चित्त स्मरण अनुसमर्तव्य (समझने योग्य) है ॥ ४२ ॥

बहिरधिकरणम् (१२)

शुद्धः शिष्टैरुपादेयस्त्याज्यो वा दोषहानितः। उपादेयोऽन्यथा शुद्धिः प्रायश्चित्तकृता वृथा ॥
आमुष्मिके च शुद्धिः स्यात्ततः शिष्टास्त्यजन्ति तम्। प्रायश्चित्तादृष्टिवाक्यावशुद्धिस्त्वैहिकीष्यते ॥

पतित होने पर प्रायश्चित्त करें या नहीं करें लोक व्यवहार में स्मृति-आचार से वे पतित बहिष्कार्य, सम्बन्ध के अयोग्य होते हैं। भाष्य के अनुसार पातकी वा महापातकी हों उभयथा बहिष्कार्य हैं। संशय है कि प्रायश्चित्त से शुद्ध हुआ पतित शिष्टों से लोक-व्यवहार में उपादेय, ग्राह्य होता है अथवा त्याज्य होता है। पूर्वपक्ष है कि प्रायश्चित्त से दोष की निवृत्ति हो जाने से वह शिष्टों से उपादेय है, अन्यथा प्रायश्चित्त से की गई शुद्धि व्यर्थ होगी। सिद्धान्त है कि पारलौकिक कर्मादि-विषयक उसकी प्रायश्चित्त से शुद्धि होगी लोकव्यवहार के लिए नहीं, इससे शिष्ट लोग उसका त्याग करते हैं, जिससे प्रायश्चित्त के अदृष्टि-विषयक वाक्य से ऐहिकी (लौकिकी) अशुद्धि प्रायश्चित्त करने पर भी मानी जाती है ॥ १–२ ॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

यद्यूर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्यवनं महापातकं यदि वोपपातकमुभयथापि शिष्टैस्ते बहिष्कर्तव्याः,

आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महा ॥ इति,
आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम्।
उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति चैवमादिनिन्दातिशयस्मृतिभ्यः शिष्टाचाराच्च। नहि यज्ञाध्ययनविवाहादीनि तैः सहाचरन्ति शिष्टाः ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वरेताओं का अपने आश्रमों से पतन यदि महापातक है, प्रायश्चित्त के योग्य नहीं है। अथवा उपपातक (प्रायश्चित्त के योग्य) है। दोनों अवस्थाओं में वे शिष्टों से बहिष्कार्य हैं (नैष्ठिक में आरूढ होकर जो फिर पतित होता है वह आत्मघाती जिससे शुद्ध हो, उस प्रायश्चित्त को नहीं देखता हूँ। प्रथम उत्तम आश्रम में आरूढ होकर फिर

उससे पतित, और दोष के कारण देश-समाजरूप मण्डल से विनिःसृत (निकले हुए अपराध से उद्बद्ध, बाँध कर लटकाएं, कृमि से दष्ट ब्राह्मण का स्पर्श करके चान्द्रायण करे) इत्यादि निन्दा के अतिशयरूप स्मृतियों से और शिष्टाचार से वे बहिष्कार्य हैं, इससे यज्ञ, अध्ययन, विवाहादि रूप व्यवहार शिष्ट लोग उनके साथ नहीं करते हैं ॥४३॥

स्वाम्यधिकरणम् (१३)

अङ्गध्यानं याजमानमार्त्विज्यं वा यतः फलम् । ध्यातुरेव श्रुतं तस्माद्याजमानमुपासनम् ॥१॥
ब्रूयादेवंविदुद्गातेत्यार्त्विज्यत्वं स्फुटं श्रुतम् । क्रीतत्वादृत्विजस्तेन कृतं स्वामिकृतं भवेत् ॥२॥

कर्म के अङ्गरूप उद्गीथादि की उपासना स्वामी (यजमान) का कर्तव्य है। क्योंकि उपासना का फल कर्म-कर्ता में सुना जाता है। इस प्रकार आत्रेय कहते हैं। संशय है कि कर्माङ्गरूप ध्यान यजमान को करना चाहिए, अथवा ऋत्विजों को करना चाहिए। पूर्वपक्ष है कि जिससे ध्यानकर्ता का फल सुना गया है, उससे यजमान को ध्यान करना चाहिए। सिद्धान्त है कि उस प्रकार जानने वाला, ध्यान करने वाला उद्गाता कहे इत्यादि वचन से ऋत्विक्-कृत ध्यान स्पष्ट श्रुत है। ऋत्विक्-क्रीत होता है, इससे ऋत्विक्-कृत ध्यान स्वामिकृत होता है ॥ १–२ ॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

अङ्गेषूपासनेषु संशयः। किं तानि यजमानकर्माण्याहोस्विदृत्विक्कर्माणीति। किं तावत्प्राप्तं यजमानकर्माणीति। कुतः ? फलश्रुतेः। फलं हि श्रूयते—'वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।३।२) इत्यादि। तच्च स्वामिगामि न्याय्यम्, तस्य साङ्गे प्रयोगेऽधिकृतत्वात्, अधिकृताधिकारत्वाच्चैवंजातीयकस्य। फलं च कर्तर्युपासनानां श्रूयते—'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' (छा० उ०) इत्यादि। नन्वृत्विजोऽपि फलं दृष्टम् 'आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति' (बृ० १।३।२८) इति। न, तस्य वाचनिकत्वात्। तस्मात्स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो मन्यते ॥ ४४ ॥

अङ्ग उपासनाओं विषयक संशय होता है कि वे उपासनाएँ क्या यजमान के कर्तव्य कर्म हैं, अथवा ऋत्विक् के कर्म हैं। प्रथम प्राप्त क्या होता है, ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष है कि यजमान के कर्म हैं। क्योंकि फल के श्रवण से यजमान के कर्म सिद्ध होते हैं। जिससे फल सुना जाता है कि (इस साम को इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् वृष्टि में पाँच प्रकार साम की उपासना करता है, उसके लिए उसकी इच्छा के अनुसार वृष्टि होती है, और अन्य के लिए भी वह मेघों से वृष्टि करवाता है) इत्यादि। वह फल स्वामिगामी (स्वामी में) होना न्याययुक्त (उचित) है। जैसे गोदोहन का फल साङ्गकर्मकर्ता को होता है इससे स्वामी को ही अङ्गसहित कर्म में अधिकृतत्व (अधिकार) है। इस प्रकार के अङ्गरूप कर्मों को अधिकृत-अधिकारत्व है, अर्थात्

प्रधान कर्म के अधिकारी का ही ऐसे अङ्ग में अधिकार होता है, इससे उपासना यजमान का कर्म है। उपासनाओं का फल उपासनाकर्ता में सुना जाता है कि (जो उपासना करता है उसके लिए उसकी इच्छा के अनुसार मेघ वृष्टि करता है) इत्यादि। यहाँ शंका होती है कि ऋत्विक् सम्बन्धी भी फल देखा गया है कि (उद्गाता अपने लिए वा यजमान के लिए जिस काम्य अभीष्ट वस्तु की इच्छा करता है उसको उद्गान द्वारा सिद्ध, प्राप्त करता कराता है) उत्तर है कि यह फल दर्शन विशेष स्थान के लिए है, इससे इस उद्गान फल को वाचनिकत्व है, विशेष स्थान में वचनसिद्धत्व है, इससे वह दर्शन उत्सार्ग (सामान्य) रूप से प्राप्त स्वामिगामि फल का बाधक नहीं है, इसमे स्वामी को ही फलवाले उपासनाओं में कर्तृत्व है इस प्रकार आत्रेय आचार्य मानते हैं, जो फलभोक्ता होता है, वह कर्ता होता है, यह उपसर्ग है ॥ ४४ ॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥

नैतदस्ति स्वामिकर्माण्युपासनानीति । ऋत्विक्कर्माण्येतानि स्युरित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। किं कारणम् ? तस्मै हि साङ्गाय कर्मणे यजमानेनर्त्विक्परिक्रीयते । तत्प्रयोगान्तःपातीनि चोद्गीथाद्युपासनान्यधिकृताधिकारत्वात्। तस्माद्गोदोहनादिनियमवदेवर्त्विग्भिर्निर्वर्त्येरन् । तथा च 'तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार स ह नैमिषीयाणामुद्गाता बभूव' (छा० १।२।१३) इत्युद्गातृकर्तृकतां विज्ञानस्य दर्शयति । यत्तूक्तं—कर्त्राश्रयं फलं श्रूयत—इति । नैष दोषः । परार्थत्वादृत्विजोऽन्यत्र वचनात्फलसम्बन्धानुपपत्तेः ॥ ४५ ॥

उपासनाएँ स्वामि के कर्म हैं, यह कथन सत्य नहीं है, इससे ये उपासनाएँ ऋत्विक् के कर्म होंगे, इस प्रकार औडुलोमि आचार्य मानते हैं, उसमें कारण क्या है कि उस अंगसहित कर्म के लिए ही यजमान से ऋत्विक् परिक्रीत (द्रव्यदान द्वारा स्वीकृत) होता है। उस अंग-सहित कर्म के प्रयोग (अनुष्ठान) के अन्तःपाती (मध्यवर्ती) अधिकृताधिकारत्व से उद्गीथादि उपासनाएँ भी हैं। अर्थात् सांग कर्म के अधिकारी का उपासना में अधिकार है। परिक्रीत ऋत्विक् का सांग कर्म में अधिकार होने से उपासनाओं में भी अधिकार है। इससे गोदोहनादि नियम के समान ही अङ्गसम्बन्धी उपासनाएँ भी ऋत्विजों से निर्वर्तित (सिद्ध, संपादित) होंगी (की जायँगी)। इसी प्रकार (उस उद्गीथनामक प्रणव का दल्भ के अपत्य बक ने प्राणदृष्टि से ध्यान किया उस प्रणव को प्राणस्वरूप समझा और समझकर नैमिषीय सत्रियों का उद्गाता हुआ) यह श्रुति विज्ञान (उपासना) की उद्गातृकर्तृकता को दर्शाती है, ध्यान का उद्गाता कर्ता होता है, इस अर्थ को यह श्रुति दर्शाती है। जो यह कहा था कि (कर्त्राश्रय [कर्तृस्वामिगामी] फल सुना जाता है) ऋत्विक् के कर्ता होने से ऋत्विग्गामी फल होगा, यह दोष है। यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है। ऋत्विक् के परार्थक (यजमान के लिए) होने से विशेष वचन के बिना सामान्य फल के साथ ऋत्विक् के सम्बन्ध की अनुपपत्ति से

दोष का अभाव है। जहाँ विशेष वचन है वहाँ वचन के बल से ऋत्विक् को फल होता है, अन्यत्र तो भृत्यकर्तृक विजय का फल जैसे स्वामी को प्राप्त होता है, वैसे ऋत्विक्-कर्तृक साङ्गकर्म का फल यजमान को होता है ॥ ४५ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

'यां वै कांचन यज्ञे ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाचेति' 'तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि' (छा० १।७।८–९) इति। तच्चर्त्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामि फलं दर्शयति। तस्मादङ्गोपासनानामृत्विक्कर्मत्वसिद्धिः ॥ ४६ ॥

(यज्ञ में ऋत्विक् जिस किसी काम्य वस्तु की आशा करते हैं यजमान के लिए ही उसकी आशा करते हैं, देवादि की प्रार्थना-स्तुति करते हैं, इस प्रकार कहा है, इससे ऐसा जानने वाला उद्गाता यजमान से कहे कि तेरे लिए मैं किस काम्य वस्तु का उद्गान करूँ, किसके लिए प्रार्थना करूँ) में श्रुतियाँ ऋत्विक्-कर्तृक (ऋत्विक्-कृत) उपासनाओं के स्वामिगामि फल को दर्शाती हैं, इससे अङ्गसम्बन्धी उपासनाओं को ऋत्विक्-कर्तृकत्व की सिद्धि होती है इससे उपासनाएँ ऋत्विक् के कर्तव्यकर्म सिद्ध होती हैं और उसका फल स्वामिगामी होता है ॥ ४६ ॥

सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् (१४)

अविधेयं विधेयं वा मौनं तत्र विधीयते। प्राप्तं पाण्डित्यतो मौनं ज्ञानवाच्युभयं यतः ॥ १ ॥
निरन्तरज्ञाननिष्ठा मौनं पाण्डित्यतः पृथक्। विधेयं तद्भेददृष्टिप्राबल्ये तन्निवृत्तये ॥ २ ॥

श्रवण और मनन से उस आत्मतत्त्व के विज्ञान वाले के लिए भी जिस पक्ष में श्रवण-मनन से अपरोक्ष-अनुभव नहीं हुआ हो, उस पक्ष से तृतीय अपरोक्ष ज्ञान के साधन रूप सहकार्यन्तर मौन-निदिध्यासन का विधि श्रुति में की गई है। जैसे कि प्रधान कर्म-विधि में अंग-विधि होती है उसके समान तथा अन्य विधि-निषेध के समान यह भी विधि है ॥ वहाँ संशय है कि पाण्डित्य और बाल्य (श्रवण और मनन) के वाद में मौन (निदिध्यासन) विधान के अयोग्य है, अथवा विधान के योग्य है। पूर्वपक्ष है कि जिससे पाण्डित्य और मौन दोनों शब्द ज्ञान के वाचक हैं, इससे पाण्डित्य के विधान से ही मौन का विधान हो चुका है, और आगे विधि का श्रवण भी नहीं है, इससे वह मौन विधेय नहीं होता है ॥ सिद्धान्त है कि निरन्तर ज्ञान निष्ठा ध्यान रूप मौन पाण्डित्य से पृथक् है। इससे भेद-दृष्टि की प्रबलता दशा में श्रवण-मनन से अपरोक्षानुभव नहीं होने पर उस भेद-दृष्टि की निवृत्ति के लिए वह मौन विधेयक (कर्तव्य) है ॥ १–२ ॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥४७॥

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' (बृ० ३।५।१) इति

बृहदारण्यके श्रूयते। तत्र संशयः मौनं विधीयते न वेति। न विधीयत इति तावत्प्राप्तम्। बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्रैव विधेरवसितत्वात्। नह्यथ मुनिरित्यत्र विधायिका विभक्तिरुपलभ्यते, तस्मादयमनुवादो युक्तः। कुतः प्राप्तिरिति चेत्। मुनिपण्डितशब्दयोर्ज्ञानार्थत्वात्पाण्डित्यं निर्विद्येत्येव प्राप्तं मौनम्। अपि चामौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण इत्यत्र तावन्न ब्राह्मणत्वं विधीयते प्रागेव प्राप्तत्वात्। तस्मादथ ब्राह्मण इति प्रशंसावादस्तथैवाथ मुनिरित्यपि भवितुमर्हति समाननिर्देशत्वादिति।

बृहदारण्यक कहोल ब्राह्मण में सुना जाता है कि (जिससे पूर्वकालिक ब्राह्मण इस आत्मा को जानकर त्यागपूर्वक भिक्षाचर्या करते थे, इससे वर्तमान ब्राह्मण-सामान्य ज्ञान वाले पण्डित के कृत्यरूप पाण्डित्य (श्रवण) को निर्विद्य (निःशेषरूप से निश्चयपूर्वक लाभ करके) बाल्य से बालभावरूप मनन से बालभावरूप शुद्धचित्तवत्ता से संशयरहित स्थिति की इच्छा करे। बाल्य तथा पाण्डित्य का निःशेषरूप से लाभ करके उसके बाद मुनि मननशील-निदिध्यासन-कर्ता होता है। अमौन (श्रवण-मनन) का और मौन (निदिध्यासन) का निःशेषरूप से लाभ करके फिर ब्रह्म के साक्षात्कार वाला ब्राह्मण होता है) यहाँ संशय होता है कि यहाँ मौन का विधान होता है, अथवा नहीं होता है, प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि मौन का विधान नहीं होता है, क्योंकि (बाल्येन तिष्ठासेत्) बाल्यरूप से स्थिति की इच्छा करे, विधि का यहाँ ही अवसानत्व (अन्त) है। (अथ मुनिः) फिर मुनि होता है। इस वाक्य में विधायक कोई विधि-विभक्ति नहीं उपलब्ध होती है, इससे यह अनुवादरूप युक्त है। यदि शंका हो कि मौन की प्राप्ति किससे है कि जिसका (अथ मुनिः) इससे अनुवाद होगा। तो कहा जाता है कि मुनि और पण्डित दोनों शब्दों के ज्ञानार्थक होने से (पाण्डित्यं निर्विद्य) इसी कथन से मौन प्राप्त है। दूसरी बात है कि (अमौन और मौन को निःशेष प्राप्त करके फिर ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण होता है) यहाँ प्रथम ही प्राप्त होने से ब्राह्मणत्व का विधान नहीं होता, इससे (अथ ब्राह्मणः) यह प्रशंसावाद है, वैसा ही (अथ मुनिः) यह भी होने के योग्य है, जिससे दोनों को तुल्य निर्देशत्व (वचनत्व) है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सहकार्यन्तरविधिरिति। विद्यासहकारिणो मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरेवाश्रयितव्योऽपूर्वत्वात्। ननु पाण्डित्यशब्देनैव मौनस्यावगतत्वमुक्तम्। नैष दोषः। मुनिशब्दस्य ज्ञानातिशयार्थत्वात्, मननान्मुनिरिति च व्युत्पत्तिसंभवात्, 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (गी० १०।३७) इति च प्रयोगदर्शनात्। ननु मुनिशब्द उत्तमाश्रमवचनोऽपि श्रूयते 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्' इत्यत्र। न। 'वाल्मीकिर्मुनिपुंगवः' इत्यादिषु व्यभिचारदर्शनात्। इतराश्रमसंनिधानाच्च पारिशेष्यात्तत्रोत्तमाश्रमोपादानं ज्ञानप्रधानत्वादुत्तमाश्रमस्य। तस्माद् बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं

विधीयते। यत्तु बाल्य एव विधेः पर्यवसानमिति, तथाप्यपूर्वत्वान्मुनित्वस्य विधेयत्वमाश्रीयते मुनिः स्यादिति। निर्वेदनीयत्वनिर्देशादपि मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधेयत्वाश्रयणम्, तद्वतो विद्यावतः संन्यासिनः। कथं विद्यावतः संन्यासिन इत्यवगम्यते, तदधिकारात् 'आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति। ननु सति विद्यावत्त्वे प्राप्नोत्येव तत्रातिशयः किं मौनविधिनेत्यत आह—पक्षेणेति। एतदुक्तं भवति—यस्मिन्पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति तस्मिन्नेष विधिरिति। विध्यादिवत्। यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयके विध्यादौ सहकारित्वेनाग्न्याधानादिकमङ्गजातं विधीयते एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन्विद्यावाक्ये मौनविधिरित्यर्थः ॥ ४७ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (ज्ञान के सहकारी कारणान्तर की विधि है, अनुवाद नहीं है। अर्थात् अपूर्वत्व से बाल्य पाण्डित्य के समान विद्या के सहकारी मौन की विधि ही स्वीकार के योग्य है, अन्य नहीं। यदि कहो कि पाण्डित्य शब्द से ही मौन को अवगतत्व (प्राप्तत्व) प्रथम कहा गया है। तो कहा जाता है कि मुनि शब्द के ज्ञान के अतिशय अर्थवाला होने से यह दोष नहीं है। अर्थात् सामान्य ज्ञानवाची पाण्डित्य शब्द के तुल्यार्थक मौन शब्द नहीं है। और मनन से मुनि होता है इस प्रकार की व्युत्पत्ति-निर्वचन के सम्भव से, और 'मुनियों में मैं व्यास हूँ' इस प्रयोग के दर्शन से भी मौन पाण्डित्य से विलक्षण है। यदि कहो कि (गार्हस्थ्यं, आचार्यकुलं-मौनं वानप्रस्थम्) इस वचन में उत्तमाश्रम का वाचक भी मुनि शब्द सुना जाता है। तो कहा जाता है कि (वाल्मीकि मुनियों में श्रेष्ठ हैं) इत्यादि प्रयोगों में आश्रमवाचित्व के व्यभिचार (अभाव) के देखने से मुनिशब्द को आश्रमवाचित्व नहीं है। उस (गार्हस्थ्यम्) इत्यादि वाक्य में तो इतर आश्रम के सन्निधान से और उत्तमाश्रम की ज्ञान-प्रधानता से और परिशेषता से मौन शब्द से उत्तमाश्रम का ग्रहण होता है। अतः बाल्य पाण्डित्य की अपेक्षा से तृतीय ज्ञान का अतिशय रूप यह मौन विहित होता है। और जो यह कहा था कि बाल्य में ही विधि का पर्यवसान है। वह यद्यपि है ही तथापि अपूर्वता से मुनित्व के विधेयत्व का आश्रयण किया जाता है कि मुनि होना चाहिये। और निर्वेदनीयत्व निःशेष रूप से प्राप्यत्व का निर्देश से भी मौन के बाल्य पाण्डित्य के तुल्य विधेयत्व का आश्रयण किया जाता है। (तद्वतः) इस सूत्रगत पद का विद्या वाला संन्यासी का तृतीय मौन ज्ञानार्थकसाधन है, इस प्रकार सम्बन्ध है। यदि कहा जाय कि (तद्वतः संन्यासिनः) यह कैसे समझा जाता है। तो कहा जाता है कि (आत्मा) को जान कर पुत्रादि-इच्छा से रहित हो कर भिक्षाचर्या करते हैं। इस प्रकार उस संन्यासी के अधिकार से समझा जाता है। यदि शंका हो कि विद्यावत्त्व के होने पर अभ्यासादि से उसमें अतिशय प्राप्त होता ही है मौन विधि से क्या फल होना है। अतः उत्तर कहते हैं कि (पक्षेणेति) भेद-दर्शन की प्रबलता से जिस पक्ष में

ज्ञानातिशय नहीं प्राप्त होता है उस पक्षविषयक यह विधि है। वह विधि आदि के समान है। जैसे कि (स्वर्ग की इच्छा वाला दर्शपूर्णमास याग से इष्ट का सम्पादन करे) इस प्रकार के विधि आदि में सहकारी रूप से अग्नि आदि अंग समूह विहित होते हैं, इसी प्रकार अविधि प्रधान भी इस विद्यावाक्य में मौन की विधि है यह अर्थ है ॥ ४७ ॥

एवं बाल्यादिविशिष्टे कैवल्याश्रमे श्रुतिमति विद्यमाने कस्माच्छान्दोग्ये गृहिणोपसंहारः 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' (छा० ८।१५।१) इत्यत्र, तेन ह्युपसंहरंस्तद्विषयमादरं दर्शयतीति। अत उत्तरं पठति—

शंका होती है कि इस प्रकार बाल्य (श्रवण) आदि युक्त श्रुतिसिद्ध कैवल्याश्रम के विद्यमान रहते छान्दोग्य में किस हेतु से (अभिसमावर्तन धर्ममीमांसा करके कुटुम्ब में रहता हुआ शुचि देश में अध्ययनादि करे)। इस वाक्य में गृहस्थ द्वारा उपसंहार किया गया है। उस गृहस्थ द्वारा उपसंहार करती हुई श्रुति उस विषयक आदर को दर्शाती है इति। इससे इस शंका का उत्तर पढ़ते हैं कि—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः। कृत्स्नभावोऽस्य विशिष्यते। बहुलायासानि हि बहून्याश्रमकर्माणि यज्ञादीनि तं प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टान्याश्रमान्तरकर्माणि च यथासंभवमहिंसेन्द्रियसंयमादीनि तस्य विद्यन्ते। तस्माद् गृहमेधिनोपसंहारो न विरुध्यते ॥ ४८ ॥

तु शब्द विशेषणार्थक है, इससे इस गृहस्थ की कृत्स्नता-पूर्णता विशेषित (पूर्णरूप से बोधित) होती है, कि बहुत आयास वाले बहुत यज्ञादि रूप आश्रम कर्म उस गृहस्थ के प्रति उपदिष्ट हैं और आश्रमान्तर के कर्मरूप अहिंसा, इन्द्रियसंयमादि कर्म भी सम्भव के अनुसार उस गृहस्थ के होते हैं, अतः गृहस्थ द्वारा उपसंहार विरुद्ध नहीं है। अर्थात् संन्यास के अभाव से गृही द्वारा उपसंहार नहीं है, किन्तु गृहस्थ में अधिक धर्म के सन्निवेश से अधिक धर्म की दृढता आदि के लिए गृही से उपसंहार किया गया है ॥४८॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

यथा मौनं गार्हस्थ्यं चैतावाश्रमौ श्रुतिसंमतावेवमितरावपि वानप्रस्थ-गुरुकुलवासौ। दर्शिता हि पुरस्ताच्छ्रुतिः—'तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य-कुलवासी तृतीयः' (छा० २।२३।१) इत्याद्या। तस्माच्चतुर्णामप्याश्रमाणामुपदेशाविशेषात्तुल्यवद्विकल्पसमुच्चयाभ्यां प्रतिपत्तिः। इतरेषामिति द्वयोराश्रमयोर्बहुवचनं वृत्तिभेदापेक्षयाऽनुष्ठातृभेदापेक्षया वेति द्रष्टव्यम् ॥ ४९ ॥

इस पूर्व प्रकरण में गृहस्थ और संन्यासी दो ही की चर्चा हुई है, इससे अन्य दो आश्रम के अभाव की शंका के निवारण के लिए कहते हैं कि जिस प्रकार मौन और गार्हस्थ्य ये दोनों आश्रम श्रुतिसम्मत हैं, इसी प्रकार वानप्रस्थ और गुरुकुलवास रूप

इतर दो आश्रम भी श्रुतिसम्मत हैं। प्रथम श्रुति दर्शित कराई गई है कि (तप ही द्वितीय आश्रम है धर्मस्कन्ध है। आचार्य कुलवासी ब्रह्मचारी तृतीय धर्मस्कन्ध है) इत्यादि। उससे चारों ही आश्रमों का तुल्य उपदेश से विकल्प और समुच्चय से तुल्यवत् प्रतिपत्ति होती है। सूत्रगत (इतरेषाम्) यह दो आश्रमविषयक बहुवचन वृत्तिभेद की अपेक्षा से अथवा अनुष्ठाता के भेद की अपेक्षा से समझना चाहिए। वैखानस, औदुम्बर, बालखिल्य, फेनप, ये चार वृत्तिभेद वानप्रस्थ के होते हैं। गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य और बृहत् ये ब्रह्मचारी के चार वृत्तिभेद होते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ और संन्यासी के भी चार-चार अवान्तर भेद स्मृति में निरूपित हैं ॥ ४९ ॥

अनाविष्काराधिकरणम् (१५)

बाल्यं वयः कामचारो धीशुद्धिर्वा प्रसिद्धितः। वयस्तस्याविधेयत्वे कामचारोस्तु नेतरा ॥
मननस्योपयुक्तत्वाद्भावशुद्धिर्विवक्षिता। अत्यंतानुपयोगित्वाद्विरुद्धत्वाच्च न द्वयम् ॥२॥

श्रुतिगत बाल्य शब्द का विवक्षितार्थ है कि आत्मजिज्ञासु अपनी साधन-सम्पत्ति और काम-दर्प-द्वेषादि को नहीं प्रगट करता हुआ बालक के समान शुद्ध भावयुक्त रहे। इसी बाल्यभाव का ज्ञान साधन के साथ सम्बन्ध होने से अन्य यथेष्टाचार रूप बाल्यभाव विवक्षित नहीं है। संशय है कि बाल्यशब्द अवस्था का बोधक है, अथवा यथेष्टाचार का बोधक है, या बुद्धि की शुद्धि का बोधक है। पूर्वपक्ष है कि प्रसिद्धि से बाल्य का अवस्था अर्थ हो सकता है, अथवा अवस्था के अविधेय होने से संपादन विधि के अयोग्य होने से कामचार अर्थ हो सकता है, इतर भावशुद्धि अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। सिद्धान्त है कि प्रसिद्धि के नहीं रहते भी प्रकरणादि से और मनन के उपयोगित्व से भाव की शुद्धि ही विवक्षित है, मनन में अत्यन्त अनुपयोगित्व और विरुद्धत्व से अन्य दोनों बाल्य शब्द के विवक्षितार्थ नहीं हैं ॥ १–२ ॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' (बृ० ३।५।१) इति बाल्यमनुष्ठेयतया श्रूयते। तत्र बालस्य भावः कर्म वा बाल्यमिति तद्धिते सति बालभावस्य वयोविशेषस्येच्छया संपादयितुमशक्यत्वाद्यथोपपादमूत्रपुरीषत्वादिबालचरितमन्तर्गता वा भावविशुद्धिर्दम्भदर्पप्ररूढेन्द्रियत्वादिरहितता वा बाल्यं स्यादिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? कामचारवादभक्षणता यथोपपादमूत्रपुरीषत्वं च प्रसिद्धतरं लोके बाल्यमिति तद्ग्रहणं युक्तम्। ननु पतितत्वादिदोषप्राप्तेर्न युक्तं कामचारताद्याश्रयणम्। न। विद्यावतः संन्यासिनो वचनसामर्थ्याद्दोषनिवृत्तेः पशुहिंसादिष्विवेति।

(अतः ब्राह्मण पाण्डित्य को प्राप्त करके बालभाव से स्थिति की इच्छा करे) इस प्रकार बालभाव अनुष्ठेय (कर्तव्य) रूप से सुना जाता है। वहाँ बाल का भाव वा बाल का कर्म इस अर्थ में बाल शब्द से तद्धितसंज्ञक प्रत्यय होने पर बाल्य शब्द

सिद्ध होता है। वय—अवस्थाविशेष रूप बालभाव के इच्छा से संपादन (प्राप्ति सिद्धि) करने में अशक्य होने से, यथासंभव अनियत मूत्रपुरीषवत्त्वादि रूप बालक का चरित्र बाल्य होगा। अथवा अन्तर्गत भावशुद्धि, दम्भ-दर्प-प्ररूढेन्द्रियत्व (प्रबलेन्द्रियवत्व) आदि से रहित बाल्य होगा, यह संशय होता है। वहाँ प्राप्त क्या होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर, पूर्वपक्ष है कि काम (इच्छा) के अनुसार विचरण-कथन-भक्षण वाला होना, तथा यथासम्भव मूत्रमलादि वाला होना यह लोक में अति प्रसिद्ध बाल्य (बालकता) है, उसका यहाँ ग्रहण होना युक्त (उचित) है। यदि कहा जाय कि पतितत्वादि दोष की प्राप्ति से यथेष्टाचारतादि का आश्रयण युक्त नहीं है, तो कहा जाता है कि वैध पशुहिंसा आदि में दोषाभाव के समान विद्यावाले संन्यासी के वचन सामर्थ्य से दोष की निवृत्ति से कामचारता आदि का आश्रयण प्रयुक्त नहीं है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते। न। वचनस्य गत्यन्तरसम्भवात्। अविरुद्धे ह्यन्यस्मिन्बाल्यशब्दाभिलप्ये लभ्यमाने न विध्यन्तरव्याघातकल्पना युक्ता। प्रधानोपकाराय चाङ्गं विधीयते। ज्ञानाभ्यासश्च प्रधानमिह यतीनामनुष्ठेयम्। न च सकलायां बालचर्यायामङ्गीक्रियमाणायां ज्ञानाभ्यासः सम्भाव्यते तस्मादान्तरो भावविशेषो बालस्याप्ररूढेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते। तदाह—अनाविष्कुर्वन्निति। ज्ञानाध्ययनधार्मिकत्वादिभिरात्मानमविख्यापयन्दम्भदर्पादिरहितो भवेत्, यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया न परेष्वात्मानमाविष्कर्तुमीहते तद्वत्। एवं ह्यस्य वाक्यस्य प्रधानोपकार्यर्थानुगम उपपद्यते। तथा चोक्तं स्मृतिकारैः—

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः॥
गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥
'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः' इति चैवमादि॥ ५०॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि बाल्य वचन का गत्यन्तर (अर्थान्तर) के सम्भव से उक्तार्थ युक्त नहीं है, जिससे शास्त्र से अविरुद्ध अन्य बाल्यशब्द के अभिलप्य (वाच्यार्थ) के लभ्यमान (प्रतीयमान) होते अन्य विधि के व्याघात की कल्पना युक्त नहीं है। प्रधान के उपकार के लिए अङ्ग (साधन) का विधान किया जाता है। यहाँ यतियों का अनुष्ठेय (कर्तव्य) ज्ञानाभ्यास प्रधान है। सम्पूर्ण बालचर्या (बालव्यवहार) के अङ्गीकार करने पर ज्ञान के अभ्यास का सम्भव नहीं हो सकता है, अतः अन्तर्वर्ती भावविशेष (शुद्धभाव) बाल का अप्ररूढेन्द्रियवत्त्वादि यहाँ बाल्यस्वीकृत होता है। उसे कहते हैं कि (अनाविष्कुर्वन्निति) ज्ञान अध्ययन धार्मिकत्वादि के द्वारा अपनी प्रख्याति आप नहीं करता हुआ दम्भ-दर्पादि से रहित जिज्ञासु को रहना चाहिए।

अप्ररूढेन्द्रिय वाला होने से बालक जैसे अन्य लोगों में अपने को प्रख्यात करने के लिए चेष्टा नहीं करता है, वैसे जिज्ञासु और विद्वान् को रहना चाहिए। इस प्रकार ही इस वाक्य के प्रधान के उपकारी अर्थ का अनुगम (संबन्ध अनुभव) उपपन्न होता है। इसी प्रकार स्मृतिकारों ने कहा है कि (जिसको कोई सन्त-असन्त, अश्रुत-बहुश्रुत, सुवृत्त-दुर्वृत्त नहीं जानता है वह ब्राह्मण है)। गूढधर्म के आश्रित रहने वाला विद्वान् लोगों से अज्ञात चरित का आचरण करे। अन्ध, जड़, मूक के समान भूमि में विचरे (अव्यक्त लिङ्गवाला अव्यक्त आचार वाला रहे) इत्यादि ॥ ५० ॥

ऐहिकाधिकरणम् (१६)

इहैव नियतं ज्ञानं पाक्षिकं वा नियम्यते। तथाभिसन्धेर्यज्ञादिः क्षीणो विविदिषाजनौ ॥१॥
असति प्रतिबन्धेऽत्र ज्ञानं जन्मान्तरेऽन्यथा। श्रवणायेत्यादिशास्त्राद्वामदेवोद्भवादपि ॥२॥

प्रस्तुत कर्म से प्रतिबन्ध के नहीं रहते, अर्थात् अप्रस्तुत-अनुपस्थित प्रतिबन्ध वाले में (ऐहिक) इस वर्तमान जन्म में होने वाले ज्ञान को श्रवणादि साधन उत्पन्न करते हैं। प्रतिबन्ध के रहते पारलौकिक ज्ञान के हेतु हैं। सो श्रुति दर्शन से सिद्ध होता है। संशय है कि श्रवणादि साधनों से इस जन्म में नियत (अवश्य) ज्ञान होता है, वा पाक्षिक होता है, अर्थात् इस जन्म में वा जन्मान्तर में अनियम से होता है। पूर्वपक्ष है, कि इसी जन्म में ज्ञान की अभिसन्धि (अभिलाषा) से नियम किया जाता है, अर्थात् मनुष्य वर्तमान जन्म में ज्ञान की इच्छा से साधन में प्रवृत्त होता है इससे वर्तमान जन्म में ही ज्ञान होता है, ऐसा नियम है। यज्ञादि रूप बहिरंग साधन विविदिषा की उत्पत्ति में ही क्षीण हो जाते हैं, वे भी पारलौकिक ज्ञान के हेतु नहीं हो सकते हैं, इससे नियम उचित है॥ सिद्धान्त है कि प्रतिबन्ध के नहीं रहने पर श्रवणादि से वर्तमान जन्म में ज्ञान होता है, अन्यथा जन्मान्तर में होता है, (श्रवणाय) इत्यादि श्रुति से और वामदेव के गर्भ में ज्ञानोद्भव से ऐसा निश्चय होता है ॥ १–२ ॥

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत आरभ्योच्चावचं विद्यासाधनमवधारितं, तत्फलं विद्या सिद्ध्यन्ती किमिहैव जन्मनि सिद्ध्यत्युत कदाचिदमुत्रापीति चिन्त्यते। किं तावत्प्राप्तम्? इहैवेति। किं कारणम्? श्रवणादिपूर्विका हि विद्या। नच कश्चिदमुत्र मे विद्या जायतामित्यभिसन्धाय श्रवणादिषु प्रवर्तते। समान एव तु जन्मनि विद्याजन्माभिसन्धायैतेषु प्रवर्तमानो दृश्यते। यज्ञादीन्यपि श्रवणादिद्वारेणैव विद्यां जनयन्ति प्रमाणजन्यत्वाद्विद्यायाः। तस्मादैहिकमेव विद्याजन्मेति।

(सर्वापेक्षा च) इत्यादि सूत्र से आरम्भ करके अनेक प्रकार के विद्या के साधनों का अवधारण किया गया है, इससे विद्या के साधन अवधारित हो चुके हैं, उनके फलरूप से सिद्ध होती हुई विद्या क्या इसी जन्म में सिद्ध होती है, अथवा कभी परलोक में

अन्य जन्म में भी सिद्ध होती है, यह विचार किया जाता है। वहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कोई कहते हैं कि इस जन्म में ही ज्ञान होता है, उसमें कारण क्या है कि श्रवणादि पूर्वक ही विद्या होती है, और मुझे परलोक में जन्मान्तर में ज्ञान उत्पन्न हो ऐसा अभिसंधान (संकल्प-निश्चय) करके श्रवणादि में कोई नहीं प्रवृत्त होता है, किन्तु साधन के साथ समान (तुल्य एक) जन्म में विद्या के जन्म का अभिसंधान करके इन श्रवणादिकों में प्रवर्तमान देखा जाता है। विद्या के प्रमाणजन्य होने से यज्ञादि भी श्रवणादि द्वारा ही विद्या को उत्पन्न करते हैं। इससे यज्ञादि भी स्वर्गादि के समान परलोक में विद्या को नहीं उत्पन्न कर सकते हैं, अतः इस जन्म में होने ही वाला विद्या का जन्म होता है।

एवं प्राप्ते वदामः—ऐहिकं विद्याजन्म भवत्यसति प्रस्तुतप्रतिबन्ध इति। एतदुक्तं भवति–यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्य कश्चित्प्रतिबन्धो न क्रियते उपस्थितविपाकेन कर्मान्तरेण तदेहैव विद्योत्पद्यते, यदा तु खलु तत्प्रतिबन्धः क्रियते तदामुत्रेति। उपस्थितविपाकत्वं च कर्मणो देशकालनिमित्तोपनिपाताद्भवति। यानि चैकस्य कर्मणो विपाचकानि देशकालनिमित्तानि तान्येवान्यस्यापीति न नियन्तुं शक्यते, यतो विरुद्धफलान्यपि कर्माणि भवन्ति। शास्त्रमप्यस्य कर्मण इदं फलं भवतीत्येतावति पर्यवसितं न देशकालनिमित्तविशेषमपि संकीर्तयति। साधनवीर्यविशेषात्त्वतीन्द्रिया कस्यचिच्छक्तिराविर्भवति तत्प्रतिबद्धा परस्य तिष्ठति। नचाविशेषेण विद्यायामभिसन्धिर्नोत्पद्येत इहामुत्र वा मे विद्या जायतामित्यभिसन्धेर्निरङ्कुशत्वात्। श्रवणादिद्वारेणापि विद्योत्पद्यमाना प्रतिबन्धक्षयापेक्षयैवोत्पद्यते।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्रस्तुत प्रतिबन्ध के नहीं रहने पर ऐहिक विद्या का जन्म होता है। इससे यह उक्त होता है, कहा जाता है कि जब उपक्रान्त (आरब्ध) विद्या के साधन का उपस्थित फल वाला कर्मान्तर से कोई प्रतिबन्ध (विघ्न-रुकावट) नहीं किया जाता है, तब तो इस वर्तमान जन्म में ही विद्या उत्पन्न होती है, और जब वह प्रतिबन्ध किया जाता है, तब परलोक में जन्मान्तर में विद्या की उत्पत्ति होती है। विघ्न के हेतुरूप प्रारब्ध कर्म का उपस्थित विपाकत्व (प्राप्त-फलवत्त्व) देश-कालरूप निमित्त के उपनिपात (प्राप्ति) से होता है, उसे कोई साधन रोक नहीं सकता है। जो देश-काल निमित्त एक कर्म के विपाचक (फल-हेतु) होते हैं, वही अन्य कर्म के भी विपाचक हों, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है, जिससे विरुद्धफल वाले भी कर्म होते हैं अर्थात् श्रवणादि से विरुद्ध फल वाले ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्म होते हैं, उनके विपाचक देश-काल निमित्त से श्रवण का विपाक नहीं हो सकता है। शास्त्र भी इस कर्म का यह फल होता है, इतने अर्थ में पर्यवसित (समाप्त) है। देशकाल और निमित्त विशेष का भी संकीर्तन नहीं करता है, फल के द्वारा देश-कालादि का ज्ञान होता है। साधन के वीर्य (शक्ति) विशेष से तो किसी

कर्म का अतीन्द्रिय शक्ति विशेष आविर्भूत (प्रकट) होता है। उससे प्रतिबन्ध होकर अन्य कर्म की शक्ति वर्तमान रहती है। अर्थात् प्रतिबन्ध से ही प्रतिबन्धक की प्रबल शक्ति समझी जाती है। अभिसंधि (संकल्प) के निरंकुश (स्वतन्त्र) होने से, यहाँ वा परलोक में मुझे विद्या उत्पन्न हो, इस प्रकार की विद्याविषयक अविशेष (सामान्य) रूप से अभिसन्धि नहीं उत्पन्न होती है, यह नहीं कहा जा सकता है। श्रवणादि द्वारा भी उत्पन्न होने वाली विद्या प्रतिवन्धक्षय की अपेक्षा करके ही उत्पन्न होती है।

तथा च श्रुतिर्दुर्बोधत्वमात्मनो दर्शयति—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

(क० २।७) इति। गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिपेदे ब्रह्मभावमिति वदन्ती जन्मान्तरसंचितात्साधनादपि जन्मान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति। नहि गर्भस्थस्यैवैहिकं किंचित्साधनं सम्भाव्यते। स्मृतावपि—'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति' (गी० ६।३७) इत्यर्जुनेन पृष्टो भगवान्वासुदेवः 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' (गी० ६।४०) इत्युक्त्वा पुनस्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिं साधुकुले सम्भूतिं चाभिधायानन्तरम् 'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' (गी० ६।४३) इत्यादिना 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी० ६।४५) इत्यन्तेनैतदेव दर्शयति। तस्मादैहिकमामुष्मिकं वा विद्याजन्म प्रतिबन्धक्षयापेक्षयेति स्थितम्॥ ५१॥

इसी प्रकार प्रतिबन्धादि से आत्मा के दुर्बोधत्व (कष्टसाध्य बोध) को श्रुति दर्शाती है कि (बहुतों को श्रवण के लिए भी जो आत्मा नहीं प्राप्त होने योग्य है, बहुत श्रवण करने वाले भी जिसको नहीं समझते हैं। इस आत्मा का वक्ता आश्चर्य रूप कोई विरल होता है. कोई कुशल इसका लाभ करने वाला होता है जिससे कुशल गुरु से अनुशिष्ट आश्चर्य रूप ही इसका कोई ज्ञाता होता है) और गर्भस्थ ही वामदेव ऋषि ने ब्रह्मभाव को समझा प्राप्त किया इस प्रकार कहती हुई श्रुति जन्मान्तर में संचित साधन से भी अन्य जन्म में विद्या की उत्पत्ति को दर्शाती है, जिससे गर्भस्थ को ही ऐहिक कुछ साधन का संभव नहीं हो सकता है। स्मृति में भी (हे कृष्ण ! योग से चलित मनवाला योग की संसिद्धि—योग के फल रूप सम्यक् दर्शन मोक्ष को नहीं प्राप्त करके मरने पर किस गति को प्राप्त होता है) इस प्रकार अर्जुन से पूछे गये भगवान् वासुदेव (हे तात ! शिष्य !) कल्याण—शुभ करने वाला कोई भी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है। ऐसा कह कर फिर उस पुण्यकर्ता की पुण्यलोक में प्राप्ति और साधुकुल में संभूति (जन्म) को कहकर, उसके बाद (उस कुल में पूर्वदेहसम्बन्धी उस बुद्धिसंयोग का लाभ करता है) इत्यादि से (अनेक जन्मों में संचित संस्कारों द्वारा सम्यक् सिद्ध होकर अनुभव को प्राप्त करके तब परगति को प्राप्त करता है) यहाँ तक के

उपदेशों से यह उक्तार्थ ही दर्शाते हैं। उससे प्रतिबन्ध-क्षय की अपेक्षापूर्वक ऐहिक वा पारलौकिक विद्या का जन्म होता है यह स्थित हुआ है ॥ ५१ ॥

मुक्तिफलाधिकरणम् (१७)

मुक्तिः सातिशया नो वा फलत्वाद् ब्रह्मलोकवत् । स्वर्गवच्च नृभेदेन मुक्तिः सातिशयैव हि ॥
ब्रह्मैव मुक्तिर्न ब्रह्म क्वचित्सातिशयं श्रुतम् । अत एकविधा मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य वा ॥

श्रवणादि के फलरूप ज्ञान में ऐहिक आमुष्मिक (लौकिक-पारलौकिक) का नियम है, अर्थात् श्रवणादि साधन के होने पर अब ही ज्ञान की प्राप्ति हो यह नियम नहीं है, किन्तु प्रतिबन्ध-क्षय की अपेक्षा साधन की प्राप्ति होने पर भी रहती है, मुक्ति रूप फल में इस प्रकार का अनियम है (नियम का अभाव है) अपरोक्ष ज्ञान होने पर मोक्ष में कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता है, ज्ञानाग्नि सब प्रतिबन्ध को दग्ध करती हुई उत्पन्न होती है, इससे लोक-परलोक का नियम नहीं रहता है, मोक्ष में यह विशेष नियम इससे नहीं है कि जिससे मोक्ष में ब्रह्मावस्था-ब्रह्मरूपता का अवधारण है और ब्रह्म सब भेद से रहित है ॥ यहाँ संशय है कि मुक्ति सातिशय (भेदयुक्त) है, अथवा सातिशय नहीं है। पूर्वपक्ष है कि फल होने से जैसे ब्रह्मलोक और स्वर्ग, सालोक्य सामीप्यादि उत्तममध्यमादि भेद वाले होते हैं, वैसे ही मुक्ति भी मनुष्य के भेद से अतिशययुक्त है। सिद्धान्त है कि ब्रह्मस्वरूपता मुक्ति है। ब्रह्म कहीं भी अतिशययुक्त नहीं सुना गया है। इससे ब्रह्मा की वा मनुष्य की मुक्ति एक प्रकार की, एक स्वरूप ही होती है ॥ १–२ ॥

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

यथा मुमुक्षोर्विद्यासाधनावलम्बिनः साधनवीर्यविशेषाद्विद्यालक्षणे फले ऐहिकामुष्मिकफलत्वकृतो विशेषप्रतिनियमो दृष्टः, एवं मुक्तिलक्षणेऽप्युत्कर्षापकर्षकृतः कश्चिद्विशेषप्रतिनियमः स्यादित्याशङ्क्याह—एवं मुक्तिफलानियम इति। न खलु मुक्तिफले कश्चिदेवंभूतो विशेषप्रतिनियम आशङ्कितव्यः। कुतः? तदवस्थावधृतेः। मुक्त्यवस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधार्यते, ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति। एकलिङ्गत्वावधारणात् 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६) 'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

जैसे विद्या के साधनों का अवलम्बन (अनुष्ठान) करने वाले मुमुक्षु के विद्यारूप फल में साधनों के वीर्य (सामर्थ्य) विशेष से ऐहिक फलत्व और आमुष्मिक (पारलौकिक) फलत्व से किया गया विशेष का प्रतिनियम देखा गया है, कि प्रबल

निर्विघ्न साधन वाले को वर्तमान जन्म में ज्ञान होता है, अन्य को जन्मान्तर में होता है इत्यादि। इसी प्रकार मुक्तिरूप विद्या के फल में भी विद्यागत उत्कर्ष (अतिशय) अपकर्ष (न्यूनता) से किया गया कोई विशेष का प्रतिनियम (प्राप्ति में भेद) होगा। ऐसी आशंका करके कहते हैं कि (एवं मुक्तिफलानियम इति) मुक्तिरूप फल में ऐसा ज्ञान के समान प्रतिनियम नहीं है। न मुक्तिरूप फल में इस प्रकार का कोई विशेष प्रतिनियम आशंका ही के योग्य है। क्योंकि उस मुक्ति अवस्था की अवधृति से आशंका की योग्यता नहीं है। जिससे मुक्तिरूप अवस्था सब वेदान्तों में एक स्वरूप वाली ही अवधारित (निश्चित) कराई जाती है, अतः ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है, और ब्रह्म को अनेक आकार के साथ सम्बन्ध नहीं है, वह निराकार एकरस अद्वितीय है, वह एकलिङ्गत्व (एकलक्षणत्व) के अवधारण से सिद्ध होता है। (अक्षरब्रह्म स्थूल-अणु आदि स्वरूप नहीं है। सो यह सर्वाधार आत्मा नेतिनेति—सब विशेष से रहित कहा गया है। जिसमें अन्य को नहीं देखता है सो ब्रह्म है। अमृतस्वरूप ब्रह्म पूर्व पश्चिम आदि सब दिशाओं में सत्य है। जो यह सब जगत् है सो इस आत्मस्वरूप ही है। सो यह आत्मा महान्, अज, अजर, अमर, अमृत, अभय, ब्रह्मस्वरूप है। जिस अवस्था में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस अवस्था में किससे किसको देखे) इत्यादि श्रुतियों से उस एक लिङ्गत्व का अवधारण होता है।

अपि च विद्यासाधनं स्ववीर्यविशेषात् स्वफल एव विद्यायां कंचिदतिशयमासञ्जयेन्न विद्याफले मुक्तौ, तद्धयसाध्यं नित्यसिद्धस्वभावभूतमेव विद्ययाधिगम्यत इत्यसकृदवादिष्म। नच तस्यामप्युत्कर्षनिकर्षात्मकोऽतिशय उपपद्यते निकृष्टाया विद्यात्वाभावात्कृष्टैव हि विद्या भवति, तस्मात्तस्यां चिराचिरोत्पत्तिस्वरूपोऽतिशयो भवन्भवेत्, नतु मुक्तौ कश्चिदतिशयसंभवोऽस्ति। विद्याभेदाभावादपि तत्फलभेदनियमाभावः कर्मफलवत्, नहि मुक्तिसाधनभूताया विद्यायाः कर्मणामिव भेदोऽस्तीति। सगुणासु तु विद्यासु—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इत्याद्यासु गुणावापोद्वापवशाद्भेदोपपत्तौ सत्यामुपपद्यते यथास्वं फलभेदनियमः कर्मफलवत्। तथा च लिङ्गदर्शनम्—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति। नैवं निर्गुणायां विद्यायां गुणाभावात्। तथा च स्मृतिः—

दूसरी बात है कि विद्या के साधन विवेकादि श्रवणादि भी अपने वीर्य (प्रभाव) विशेष से अपने फल रूप विद्या में ही किसी अतिशय का सम्बन्ध करायेंगे, विद्या के फलरूप मुक्ति में अतिशय का सम्बन्ध नहीं करा सकते हैं। जिससे वह विद्या का फल मोक्ष असाध्य (अकार्य) नित्यसिद्धस्वभावस्वरूप हो विद्या में अविद्या की निवृत्ति द्वारा अधिगत (प्राप्त-अभिव्यक्त-अनुभूत) होता है, यह अनेक बार कह चुके हैं। वस्तुतः उस एकरस ब्रह्मविषयक विद्या में भी उत्कर्ष (अतिशय) निकर्ष (अपकर्ष) स्वरूप

अतिशय (भेद) नहीं उपपन्न होता है, जिससे अपकर्षयुक्त निकृष्ट में विद्यात्व के अभाव से उत्कृष्ट (अविद्या के नाश में समर्था) ही विद्या होती है। अतः उस विद्या में चिरकाल में अचिरकाल में उत्पत्ति स्वरूप अतिशय (भेद) होता हुआ भले ही हो सकता है, परन्तु मुक्ति में किसी अतिशय का सम्भव नहीं है। निर्गुण आत्मविद्या में गुणादिकृत भेद के अभाव से भी, गुणकृत कर्मफल भेद के समान उस विद्याफल में भेद नियम का अभाव है। जिससे मुक्ति के साधन स्वरूप विद्या को कर्मों के समान भेद नहीं है। (आत्मा मनोमय है प्राणरूप शरीर वाला है) इत्यादि सगुण विद्याओं में तो अधिक गुणों का आवाप (ग्रहण) और गृहीत गुणों का उद्वाप (त्याग) के वश से भेद की उपपत्ति होने पर कर्मफल के समान स्वरूप के अनुसार फलभेद का नियम उपपन्न होता है। इस प्रकार का लिङ्ग (हेतु) दर्शन है कि (उस परमात्मा की जिस जिस प्रकार से उपासना करता है, वैसा ही फल होता है) गुण के अभाव से निर्गुण-विद्या में इस प्रकार फलभेद का नियम नहीं है। इस प्रकार की स्मृति है कि—

नहि गतिरधिकास्ति कस्यचित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम्। इति।

तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य
चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

(किसी निर्गुण ब्रह्मज्ञानी की अधिक गति—मुक्ति नहीं होती है किन्तु सब ज्ञानी की सम—एकरस मुक्ति होती है, जिससे गुण के रहने पर अतुल्यता-भेद को कहते हैं) (तदवस्थावधृतेः) इस पद का अभ्यास—दो बार का उच्चारण अध्याय की समाप्ति का द्योतन करता है ॥ ५२ ॥

अज्ञानमूलको वन्धो ज्ञानेन प्रविलीयते।
सूर्येणान्धतमो यद्वत्तमोमूलं भ्रमादिकम् ॥ १ ॥
कर्मणा चित्तसंशुद्धौ विरागजनिसम्भवः।
विरागे परमे जाते श्रवणादौ प्रवर्तते ॥ २ ॥
श्रवणादौ प्रवृत्तस्तु गुरुशास्त्रप्रसादतः।
लब्ध्वा ह्यात्मानमद्वैतं नित्यं मोमुच्यते स्वयम् ॥ ३ ॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये तृतीयोऽध्यायः।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

[अत्रास्मिन् फलाध्याये प्रथमपादे जीवन्मुक्तिनिरूपणम्]

आवृत्त्यधिकरणम् (१)

**श्रवणाद्याः सकृत्कार्या आवर्त्या वा सकृद्यतः । शास्त्रार्थस्तावता सिध्येत्प्रयाजादौ सकृत्कृतेः ॥
आवर्त्या दर्शनान्तास्ते तण्डुलान्तावघातवत् । दृष्टेऽत्र सम्भवत्यर्थे नादृष्टं कल्प्यते बुधैः ॥**

ज्ञानार्थक उपदिष्ट श्रवणादि साधनों के असकृत् अनेक बार उपदेश से इन्हें दृष्ट-फलार्थकत्व है, यज्ञादि के समान अदृष्टार्थकत्व नहीं है, इससे दृष्टार्थक अवघात के समान अपरोक्षात्मानुभव पर्यन्त श्रवणादि की आवृत्ति कर्तव्य होता है ॥ यहाँ संशय है कि श्रवणादि एक एक बार करना चाहिए, अथवा आवृत्ति द्वारा अनेकानेक बार करना चाहिए । पूर्वपक्ष है कि जैसे दर्शादि के साधन प्रयाजादि विषयक एक बार की (कृति) क्रिया से शास्त्रार्थ सम्पादित हो जाता है, इसी प्रकार एक-एक बार श्रवणादि करना चाहिए । इससे उतने ही से शास्त्रार्थ सिद्ध हो जायगा, शास्त्र की आज्ञा पालित हो जायगी ॥ सिद्धान्त है कि श्रवणादि प्रयाजादि के समान अदृष्टार्थक नहीं हैं किन्तु अवघात के समान दृष्टार्थक हैं, इससे तण्डुलान्त अवघात के समान आत्मदर्शन पर्यन्त वे श्रवणादि आवृत्ति के योग्य हैं । यहाँ दृष्टफल के सम्भव रहते अदृष्टफल विद्वानों से नहीं कल्पित होता है ॥ १–२ ॥

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

तृतीयेऽध्याये परापरासु विद्यासु साधनाश्रयो विचारः प्रायेणात्यगात् । अथेह चतुर्थेऽध्याये फलाश्रय आगमिष्यति । प्रसङ्गागतं चान्यदपि किंचिच्चिन्तयिष्यते । प्रथमं तावत्कतिभिश्चिदधिकरणैः साधनाश्रयविचारशेषमेवानुसरामः । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६) 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४।४।२१) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१) इति चैवमादिश्रवणेषु संशयः—किं सकृत्प्रत्ययः कर्तव्य आहोस्विदावृत्त्येति । किं तावत्प्राप्तम् ? सकृत्प्रत्ययः स्यात्प्रयाजादिवत्, तावता शास्त्रस्य कृतार्थत्वात् । अश्रूयमाणायां ह्यावृत्तौ क्रियमाणायामशास्त्रार्थः कृतो भवेत् । नन्वसकृदुपदेशा उदाहृताः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्येवमादयः । एवमपि यावच्छब्दमावर्तयेत्सकृच्छ्रवणं सकृन्मननं सकृन्निदिध्यासनं चेति नातिरिक्तम्, सकृदुपदेशेषु तु वेदोपासीतेत्येवमादिष्वनावृत्तिरिति ।

तृतीय अध्याय में परा और अपरा विद्या विषयक साधन सम्बन्धी विचार प्रायः हुआ है । उसके बाद इस चतुर्थ अध्याय में फलसम्बन्धी विचार आवेगा । प्रसंग से

प्राप्त अन्य कुछ अर्चि आदि मार्ग की भी चिन्ता (विचार) की जायगी। प्रथम तो कई एक अधिकरणों द्वारा साधनाश्रित विचार शेष का ही अनुसरण (वर्णन) करते हैं कि (अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही प्रत्यक्ष दर्शन के योग्य है और उस दर्शन के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर्तव्य हैं। उस अज अविनाशी आत्मा को उपदेश और शास्त्र से जानकर प्रकृष्ट साधन का अनुष्ठान अपरोक्षानुभव के लिए करे। वह आत्मा ही साधन उपदेशादि द्वारा अन्वेषण—अनुभव करने के योग्य है, आत्मा ही विशेषरूप से जानने के लिए विचारार्ह है) इत्यादि श्रवणविषयक संशय होता है कि, क्या एक बार श्रवणादि द्वारा एक प्रत्यय (ज्ञान) करना चाहिए अथवा आवृत्ति द्वारा प्रत्यय करना चाहिए। अर्थात् एक-एक बार आत्मा के श्रवणादि करना चाहिए या अपरोक्षानुभव पर्यन्त बार-बार श्रवणादि करना चाहिए। प्रथम प्राप्त क्या है कि प्रयाजादि के समान एक बार प्रत्यय होगा। क्योंकि उतने ही से शास्त्र को कृतार्थत्व हो जाता है। अश्रुत आवृत्ति के करने पर अशास्त्रार्थ (शास्त्रविरुद्धार्थ) अनुष्ठित होगा। यदि कहा जाय कि (श्रवण कर्तव्य है, मनन कर्तव्य है, ध्यान कर्तव्य है) इत्यादि अनेक बार उपदेश उदाहृत (कथित) हुआ है, फिर आवृत्ति से शास्त्र विरुद्ध कैसे होगा, तो कहा जाता है कि इस प्रकार भी जितने शब्द हैं उतनी ही आवृत्ति करनी चाहिए, एक बार श्रवण, एक बार मनन, और एक बार निदिध्यासन (ध्यान) करना चाहिए, इससे अतिरिक्त (अन्य-अधिक) नहीं करना चाहिए। (वेद। उपासीत) जानता है। उपासना करे। इत्यादि एक बार उपदेशों में तो अनावृत्ति है, आवृत्ति का सर्वथा अभाव है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः ? प्रत्ययावृत्तिः कर्तव्या। कुतः ? असकृदुपदेशात् 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवंजातीयको ह्यसकृदुपदेशः प्रत्ययावृत्तिं सूचयति। ननूक्तं यावच्छब्दमेवावर्तयेन्नाधिकमिति। न दर्शनपर्यवसितत्वादेषाम्। दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति, यथाऽवघातादीनि तण्डुलादिनिष्पत्तिपर्यवसानानि तद्वत्। अपि चोपासनं निदिध्यासनं चेत्यन्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाभिधीयते। तथाहि लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति च यस्तात्पर्येण गुर्वादीननुवर्तते स एवमुच्यते। तथा ध्यायति प्रोषितनाथा या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा सैवमभिधीयते। विद्युपास्त्योश्च वेदान्तेष्वव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते। क्वचिद्विदिनोपक्रम्योपास्तिनोपसंहरति, यथा 'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः' (छा० ११४) इत्यत्र 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से' (छा० ५।२।२) इति। क्वचिच्चोपास्तिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति यथा—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१) इत्यत्र 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद' (छा० ३।१८।३) इति। तस्मात्सकृदुपदेशेष्वप्यावृत्तिसिद्धिः। असकृदुपदेशस्त्वावृत्तेः सूचकः ॥ १ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि श्रवणादि प्रत्यय की आवृत्ति कर्तव्य है। क्योंकि असकृत् (अनेक बार) के उपदेश से आवृत्ति की कर्तव्यता सिद्ध होती है। जिससे (श्रवण कर्तव्य है, मनन कर्तव्य है, ध्यान कर्तव्य है) इस प्रकार का अनेक बार का उपदेश आवृत्ति को सूचित करता है। यदि कहो कि ऐसा होने पर भी जितने शब्द हैं, उतनी ही आवृत्ति होनी चाहिए अधिक नहीं, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि इन श्रवणादि प्रत्ययों के दर्शन पर्यवसितत्व (दर्शन में समाप्ति) होने से जितने शब्द हैं उतनी ही आवृत्ति का नियम नहीं हो सकता है। जिससे आत्मदर्शन रूप पर्यवसान (अन्त) वाले, आवर्त्यमान (आवृत्तियुत) श्रवणादि दृष्टार्थक होते हैं। जैसे कि तण्डुल की सिद्धिरूप पर्यवसान वाले अवघातादि दृष्टार्थक होते हैं, उसके समान श्रवणादि दृष्टार्थक हैं। दूसरी बात है कि उपासना और निदिध्यासन इन शब्दों से अन्तर्गत आवृत्ति रूप गुण वाली क्रिया ही कही जाती है। जैसे कि लोक में (गुरु की उपासना करता है, राजा की उपासना करता है) इस प्रकार वही कहा जाता है कि जो तत्परता से गुरु आदि का अनुवर्तन (सेवन) करता है। इसी प्रकार प्रोषितनाथा (विदेशस्थ पति वाली) स्त्री पति का ध्यान करती है, इस प्रकार वही स्त्री कही जाती है कि जो पति के प्रति उत्कण्ठा–उत्कटस्पृहा–युक्त होकर निरन्तर स्मरण वाली होती है। यदि कहो कि उपासना शब्द का उक्त रीति से आवृत्ति अर्थ हो सकता है परन्तु वेद इस शब्द से कहे गये अहंग्रह ज्ञानों में आवृत्ति कैसे सिद्ध होगी तो कहा जाता है कि विद् धातु और उपपूर्वक आस् धातु का वेदान्तों में अव्यतिरेक (अभिन्न) रूप से प्रयोग देखा जाता है, अर्थात् दोनों को एकार्थकत्व है। इसी से कहीं विद् धातु से उपक्रम करके उपास्ति से उपसंहार करते हैं, जैसे (जिस तत्त्व को रैक्व जानता है, उस तत्त्व को जो अन्य भी जानता है, उसको भी सब प्राणी के धर्म और धर्मों के फल सब प्राप्त होते हैं। ऐसा वह रैक्व यह मुझ से कहा गया है) यहाँ इस प्रकार के हंस के वचन को सुनकर रैक्व की शरण में जाकर जानश्रुति राजा ने उनसे कहा कि (हे भगवन्! जिस देवता की उपासना करते हो उसी देवता का उपदेश मेरे लिए करो) और कहीं उपास्ति से उपक्रम करके विद से उपसंहार करते हैं। जैसे (मनन शक्तिवाला अन्त:करण की ब्रह्मरूप से उपासना करे) यहाँ (जो इस प्रकार जानता है सो कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज से प्रकाशता है और तपता है) इति। अत: एक बार के उपदेशों में भी आवृत्ति की सिद्धि होती है। अनेक बार का उपदेश तो आवृत्ति का सूचक है ही ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

लिङ्गमपि प्रत्ययावृत्तिं प्रत्याययति। तथा ह्युद्गीथविज्ञानं प्रस्तुत्य 'आदित्य उद्गीथः' (छा० १।५।१) इत्येतदेकपुत्रतादोषेणापोद्य 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' (छा० १।५।२) इति रश्मिबहुत्वविज्ञानं बहुपुत्रतायै विदधत्सिद्धवत्प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति।

तस्मात्तत्सामान्यात्सर्वप्रत्ययेष्वावृत्तिसिद्धिः। अत्राह--भवतु नाम साध्यफलेषु प्रत्ययेष्वावृत्तिः, तेष्वावृत्तिसाध्यस्यातिशयस्य सम्भवात्। यस्तु परब्रह्मविषयः प्रत्ययो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमेवात्मभूतं परं ब्रह्म समर्पयति तत्र किमर्थावृत्तिरिति। सकृच्छ्रुतौ च ब्रह्मात्मत्वप्रतीत्यनुपपत्तेरावृत्त्यभ्युपगम इति चेत्। न। आवृत्तावपि तदनुपपत्तेः। यदि हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवंजातीयकं वाक्यं सकृच्छ्रूयमाणं ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं नोत्पादयेत्ततस्तदेवावर्त्यमानमुत्पादयिष्यतीति का प्रत्याशा स्यात्।

लिङ्ग भी प्रत्ययों की आवृत्ति का ज्ञान कराता है। सो इस प्रकार कराता है कि उद्गीथ विज्ञान को प्रस्तुत करके (आदित्य उद्गीथ है) यह एक आदित्य उद्गीथ रूप से उपास्य है। परन्तु इस एक की उपासना से तुम मेरे एक पुत्र हुए हो, इस प्रकार पिता पुत्र के प्रति एकपुत्रता रूप दोष से एक की उपासना का निषेध करके कहता है कि तुम ऐसा नहीं करना किन्तु (तुम सूर्य के बहुत रश्मि और सूर्य का पृथक् चिन्तन करो) तो बहुत पुत्र होंगे। इस प्रकार बहुपुत्रता के लिए रश्मिविषयक बहुत्व विज्ञान का विधान करता हुआ वचनसिद्ध तुल्य प्रत्यय की आवृत्ति को दर्शाता है। उस सामान्यता से सब प्रत्ययों में आवृत्ति की सिद्धि होती है, उद्गीथ प्रत्यय के साथ सब प्रत्ययों को ध्यानत्व अथवा साक्षात्कार रूप फलहेतुत्व सामान्य है। यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि साध्यफल वाले प्रत्ययों में आवृत्ति भले हो सकती है, जिससे उन प्रत्ययों में आवृत्ति से साध्य (जन्य) अतिशय—उत्कर्षता का सम्भव हो। परन्तु जो परब्रह्म विषयक वाक्यजन्य प्रत्यय नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव वाला आत्मस्वरूप ही परब्रह्म का समर्पण (अनुभव अपरोक्ष) कराता है, उस प्रत्यय विषयक आवृत्ति किस प्रयोजन के लिए होगी। यदि कहा जाय कि एक बार के श्रवण से ब्रह्मस्वरूपता की प्रतीति की अनुपपत्ति से आवृत्ति को स्वीकार किया जाता है, तो कहा जाता है कि यदि एक बार के श्रवण से ब्रह्मात्मत्व की प्रतीति की अनुपपत्ति होती है तो आवृत्ति होने पर भी उसकी अनुपपत्ति से आवृत्ति कर्तव्य नहीं है। क्योंकि यदि (तत्त्वमसि) इस प्रकार के वाक्य के एक बार सुनने पर, सुना हुआ भी वह वाक्य ब्रह्मस्वरूपता की प्रतीति को नहीं उत्पन्न करता है, तो उसके बाद आवृत्ति किया गया वही वाक्य ब्रह्मस्वरूपता प्रतीति को उत्पन्न करेगा ऐसी प्रत्याशा (प्रतीति-विश्वास) क्या हो सकती है।

अथोच्येत—न केवलं वाक्यं कंचिदर्थं साक्षात्कर्तुं शक्नोत्यतो युक्त्यपेक्षं वाक्यमनुभावयिष्यति ब्रह्मात्मत्वमिति। तथाप्यावृत्त्यानर्थक्यमेव। साऽपि हि युक्तिः सकृत्प्रवृत्तैव स्वमर्थमनुभावयिष्यति। अथापि स्याद्युक्त्या वाक्येन च सामान्यविषयमेव विज्ञानं क्रियते न विशेषविषयम्, यथास्ति मे हृदये शूलमित्यतो वाक्याद्गात्रकम्पादिलिङ्गाच्च शूलसद्भावसामान्यमेव

परः प्रतिपद्यते न विशेषमनुभवति, यथा स एव शूली । विशेषानुभवश्चाविद्याया निवर्तकस्ततस्तदर्थावृत्तिरिति चेत् । न । असकृदपि तावन्मात्रे क्रियमाणे विशेषविज्ञानोत्पत्त्यसम्भवात् । नहि सकृत्प्रयुक्ताभ्यां शास्त्रयुक्तिभ्यामनवगतो विशेषः शतकृत्वोऽपि प्रयुज्यमानाभ्यामवगन्तुं शक्यते । तस्माद्यदि शास्त्रयुक्तिभ्यां विशेषः प्रतिपाद्येत यदि वा सामान्यमेवोभयथापि सकृत्प्रवृत्ते एव ते स्वकार्यं कुरुत इत्यावृत्त्यनुपयोगः । नच सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती कस्यचिदप्यनुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुं, विचित्रप्रज्ञत्वात्प्रतिपत्तृणाम् । अपि चानेकांशोपेते लौकिके पदार्थे सामान्यविशेषवत्येकेनावधानेनैकमंशमवधारयत्यपरेणापरमिति स्यादप्यभ्यासोपयोगो यथा दीर्घप्रपाठकग्रहणादिषु, ननु निर्विशेषे ब्रह्मणि सामान्यविशेषरहिते चैतन्यमात्रात्मके प्रमोत्पत्तावभ्यासापेक्षा युक्तेति ।

यदि कहा जाय कि केवल वाक्य किसी अर्थ को साक्षात् कराने में समर्थ नहीं होता है, इससे युक्ति सहित वाक्य ब्रह्मस्वरूपता का अनुभव करायेगा । तो भी आवृत्ति अनर्थक ही है, जिससे एक बार ही प्रवृत्त वह युक्ति भी अनुभव करायेगी । यदि ऐसा विश्वास हो कि युक्ति और वाक्य से सामान्य विषयक ही विज्ञान किया जाता है, विशेष विषयक नहीं । जैसे मेरे हृदय में शूल है, ऐसा किसी के वाक्य से और उसके गात्रकम्पादि रूप लिंग से अन्य कोई शूल के सद्भाव (अस्तित्व) सामान्य को ही समझ पाता है, विशेष का अनुभव वाक्य और लिंग से नहीं करता है, जैसे कि वही शूलवाला विशेष का जैसा अनुभव करता है, वैसा अन्य नहीं करता है । ब्रह्मात्मता के विशेष का अनुभव अविद्या का निवर्तक है, उससे विशेष के अनुभव के लिए आवृत्ति सार्थक है । तो कहा जाता है कि अनेक बार भी तावन्मात्र (श्रवण युक्तिमात्र) के कर लेने पर विशेष विज्ञान की उत्पत्ति के असम्भव से आवृत्ति सार्थक नहीं हो सकती है । जिससे एक बार प्रयुक्त (कृत) शास्त्र का श्रवण और युक्ति से अनवगत (अज्ञात) विशेष सौ बार भी प्रयुक्त शास्त्र और युक्ति से नहीं समझा जा सकता है । अतः यदि शास्त्र और युक्ति से विशेष प्रतिपादित होता हो । अथवा सामान्य ही प्रतिपादित होता हो, दोनों प्रकार से एक बार ही प्रवृत्त वे शास्त्र और युक्ति अपने कार्य को करते हैं, इससे आवृत्ति का उपयोग (फल) नहीं है । एक बार प्रयुक्त शास्त्र और युक्ति किसी के भी अनुभव को नहीं उत्पन्न करते हैं, इसलिए आवृत्ति कर्तव्य है, ऐसा नियम नहीं कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिपत्ताओं (शास्त्रयुक्ति द्वारा अनुभवकर्ताओं) को विचित्रप्रज्ञत्व (विभिन्नबुद्धिमत्त्व) होता है। दूसरी बात है कि अनेक अंश से युक्त सामान्य विशेष वाले लौकिक पदार्थों में एक अवधान (चिन्तन-ध्यान) से एक अंश का अवधारण (निश्चय-अनुभव) करता है, अन्य अवधान से अन्य अंश का अवधारण करता है, इससे वहाँ अभ्यास का उपयोग होगा भी, जैसे कि दीर्घ (बड़ा) प्रपाठक (अध्याय) के ग्रहण (ज्ञान) आदि में अभ्यास का उपयोग होता है । परन्तु

सामान्यविशेष रहित चैतन्यमात्र स्वरूप वाला निर्विशेष ब्रह्मविषयक प्रमा (यथार्थानुभव) की उत्पत्ति में अभ्यास की अपेक्षा युक्त नहीं है।

अत्रोच्यते—भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव ब्रह्मात्मत्वमनुभवितुं शक्नुयात्। यस्तु न शक्नोति तं प्रत्युपयुज्यत एवावृत्तिः। तथाहि छान्दोग्ये 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इत्युपदिश्य भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।८।७) इति पुनः पुनः परिचोद्यमानस्तत्तदाशङ्काकारणं निराकृत्य 'तत्त्वमसी'त्येवासकृदुपदिशति। तथाच 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्यादि दर्शितम्। ननूक्तं सकृच्छ्रुतं चेत्तत्त्वमसिवाक्यं स्वमर्थमनुभावयितुं न शक्नोति तत आवर्त्यमानमपि नैव शक्ष्यतीति। नैष दोषः। नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। दृश्यन्ते हि सकृच्छ्रुताद्वाक्यान्मन्दप्रतीतं वाक्यार्थमावर्तयन्तस्तत्तदाभासव्युदासेन सम्यक्प्रतिपद्यमानाः।

इस प्रकार के पूर्वपक्ष होने पर ज्ञान के अधिकारियों के भेद से अब यहाँ उत्तर कहा जाता है कि उस ज्ञानाधिकारी के प्रति अभ्यास—आवृत्ति को अनर्थकता होगी कि जो एक बार गुरु से उक्त (कथित) ही (तत्त्वमसि) वह तुम हो, इस ब्रह्मस्वरूपता को अनुभव करने के लिए प्राक्तन संस्कारादि से समर्थ हो। जो इस प्रकार अनुभव के लिए समर्थ नहीं हो सकता है, उसके प्रति आवृत्ति उपयुक्त होती है। जिससे इसी प्रकार छान्दोग्य में (हे श्वेतकेतो ! तुम उस सद्ब्रह्मस्वरूप हो) इस प्रकार उपदेश करके (भगवन् मुझे फिर समझाइये) इस प्रकार बार-बार प्रेरित होते हुए तत्तत् आशंकाओं के कारणों का निराकरण करके (तुम उस ब्रह्मस्वरूप हो) यही अनेक बार उपदेश करते हैं। इसी प्रकार (श्रवण कर्तव्य है, मनन कर्तव्य है, ध्यान कर्तव्य है) इत्यादि भी दर्शित कराया गया है। यहाँ कहो कि यदि एक बार सुना गया (तत्त्वमसि) यह वाक्य अपने अर्थ का अनुभव नहीं करा सकता है, तो उसके बाद आवर्त्यमान (बार-बार सुना गया) भी वही वाक्य अपने अर्थ का अनुभव नहीं करा सकेगा, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि यहाँ यह दोष नहीं है, जिससे दृष्ट में यह अनुपपन्न है ऐसा नहीं कहा जा सकता है, और एक बार श्रुतवाक्य से अल्प प्रतीत वाक्यार्थ की आवृत्ति करने वाले तत्तद् आभास (संशय भ्रम) के निवारण द्वारा सम्यक् प्रतीत की प्राप्ति करते हुए देखे जाते हैं।

अपिच तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे, तत्पदेन च प्रकृतं सद्ब्रह्मेक्षितृ जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० ३।८।११), 'अदृष्टं द्रष्टृ' 'अविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३।८।११) 'अजमजरममरम्' 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धम्। तत्राजादिशब्दैर्जन्मादयो भावविकारा निवर्तिताः, अस्थूलादिशब्दैश्च स्थौल्यादयो द्रव्यधर्माः, विज्ञानादिशब्दैश्च चैतन्यप्रकाशा-

त्मकत्वमुक्तम्। एष व्यावृत्तसर्वसंसारधर्मकोऽनुभवात्मको ब्रह्मसंज्ञकस्तत्पदार्थो वेदान्ताभियुक्तानां प्रसिद्धः, तथा त्वंपदार्थोऽपि प्रत्यगात्मा श्रोतुः देहादारभ्य प्रत्यगात्मतया संभाव्यमानश्चैतन्यपर्यन्तत्वेनावधारितः। तत्र येषामेतौ पदार्थावज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिबद्धौ तेषां तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं स्वार्थे प्रमां नोत्पादयितुं शक्नोति पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थमानस्येत्यतस्तान्प्रत्येष्टव्यः पदार्थविवेकप्रयोजनः शास्त्रयुक्त्यभ्यासः।

दूसरी बात है कि तत्त्वमसि यह वाक्य त्वंपदार्थ (जीव) का तत्पदार्थ (ईश्वर) स्वरूपता को कहता है। तत्पद से प्रकृत ईक्षणकर्ता (द्रष्टा) जगत् के जन्मादि का कारण सत्य ब्रह्म कहा जाता है, कि जो ब्रह्म (सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म) है। विज्ञान और आनन्दस्वरूप ब्रह्म है। अदृष्ट होते द्रष्टा, अविज्ञात होते विज्ञाता ब्रह्म है। अज, अजर-अमर है। स्थूल, अणु, ह्रस्व, दीर्घ ब्रह्म नहीं है। इत्यादि शास्त्रों से प्रसिद्ध है। वहाँ अज अजरादि शब्दों से जन्मादिरूप षड्विध (छह प्रकार के) भाव (कार्यवस्तु) के विकार (परिणाम) निवारित किये गये हैं कि ये ब्रह्म में नहीं हैं। अस्थूल, अनणु इत्यादि शब्दों से द्रव्यों के धर्म निवारित किये गये हैं। विज्ञानादि शब्दों से चैतन्यात्मक प्रकाशस्वरूपत्व कहा गया है। यह व्यावृत सब संसार धर्मवाला, सब संसार धर्म से रहित, अनुभवस्वरूप ब्रह्म-नामवाला तत्पद का अर्थ वेदान्त में अभियुक्तों (परिनिष्ठितों-समाहितों) को प्रसिद्ध है। इसी प्रकार (तत्त्वमसि) इस वाक्यगत त्वं पद का अर्थ प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) भी श्रोता के स्थूल देह से आरम्भ करके इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रत्यगात्मता रूप से सभाव्यमान (संभावित-निश्चित) होता हुआ चैतन्यपर्यन्त रूप से अवधारित (निश्चित) होता है, वेदान्ताभियुक्तों को अवधारित है। वहाँ जिनके ये दोनों पदार्थ अज्ञान, संशय और विपर्यय से प्रतिबद्ध (प्रतिहत अप्रकाशित) हैं। उनको तत्त्वमसि, यह वाक्य स्वार्थ-विषयक प्रमा को नहीं उत्पन्न करा सकता है, क्योंकि वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थ-ज्ञानपूर्वकत्व होता है, अर्थात् पदार्थ-ज्ञानजन्य वाक्यार्थ-ज्ञान होता है। इससे उनके प्रति पदार्थों के विवेकरूप प्रयोजन वाला शास्त्र और युक्ति का अभ्यास स्वीकार करने योग्य और इष्ट मानने योग्य है।

यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंशस्तथाप्यध्यारोपितं तस्मिन्बह्वंशत्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादिलक्षणं तत्रैकेनावधानेनैकमंशमपोहत्यापरेणापरमिति युज्यते तत्र क्रमवती प्रतिपत्तिः। तत्तु पूर्वरूपमेवात्मप्रतिपत्तेः। येषां पुनर्निपुणमतीनां नाज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धोऽस्ति ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुमिति तान्प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमिष्टमेव। सकृदुत्पन्नैव ह्यात्मप्रतिपत्तिरविद्यां निवर्तयतीति नात्र कश्चिदपि क्रमोऽभ्युपगम्यते। सत्यमेवं युज्येत यदि कस्यचिदेवं प्रतिपत्तिर्भवेत्। बलवती ह्यात्मनो दुःखित्वादिप्रतिपत्तिः, अतो न दुःखित्वाद्यभावं कश्चित्प्रतिपद्यत इति चेत्। न। देहाद्यभिमानवद् दुःखित्वाद्यभिमानस्य मिथ्याभि-

मानत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षं हि देहे छिद्यमाने दह्यमाने वाऽहं छिद्ये दह्ये इति च मिथ्याभिमानो दृष्टः, तथा बाह्यतरेष्वपि पुत्रमित्रादिषु संतप्यमानेष्वहमेव संतप्य इत्यध्यारोपो दृष्टः, तथा दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि स्यात्। देहादिवदेव चैतन्याद् बहिरुपलभ्यमानत्वाद् दुःखित्वादीनां सुषुप्तादिषु चाननुवृत्तेः। चैतन्यस्य तु सुषुप्तेऽप्यनुवृत्तिमामनन्ति 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिना। तस्मात्सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मानुभवः। नचैवमात्मानमनुभवतः किंचिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते। तथाच श्रुतिः—'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः' (बृ० ४। ४।२२) इत्यात्मविदः कर्तव्यभावं दर्शयति।

यद्यपि ज्ञातव्य (जानने योग्य) आत्मा निरंश है। तथापि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषयज्ञान आदि रूप बहुत अंशवत्त्व उसमें अध्यारोपित (कल्पित) हैं। वहाँ एक अवधान से एक अंश का निवारण करता है, अन्य अवधानों से अन्य अंशों का निवारण करता है। इससे वह क्रमवाली प्रतिपत्ति (ज्ञानावृत्ति) युक्त होती है। यदि कहो कि वाक्यार्थज्ञान होने पर अभ्यास आवृत्ति की क्या जरूरत है, ज्ञानी तो कर्तव्य से विमुक्त हो जाता है, तो कहा जाता है कि वह श्रवणादि के अभ्यास का नियम आत्मज्ञान का पूर्वरूप (हेतु) होता है। अर्थात् अपरोक्ष अनुभव से प्रथम ही क्रमिक श्रवणादि का अभ्यास कर्तव्य होता है। जिन निपुण (कुशल) बुद्धिवालों को तत् त्वम् पदार्थविषयक अज्ञान, संशय और विपर्ययरूप प्रतिबन्ध नहीं है वे लोग एकबार कहे गये ये 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के अर्थ को अनुभव करने के लिए समर्थ होते हैं, इससे उनके प्रति आवृत्ति की अनर्थकता इष्ट ही है। जिससे एकबार उत्पन्न हुई आत्मानुभूति अविद्या को निवृत्त करती है। इससे इस अनुभव में कोई आवृत्ति आदि का कोई भी क्रम नहीं माना जाता है। यहाँ शका होती है कि यदि किसी को एक बार वाक्य के सुनने पर ऐसा ज्ञान होता हो कि जिससे अविद्या निवृत्त हो जाय तो ऐसा सत्य ही युक्त हो सकता है कि किसी क्रम की आवश्यकता नहीं है, जिससे आत्मा के दुःखित्वादि की प्रतीति बलवती है। इससे शास्त्र के एकबार के श्रवण से कोई भी दुःखित्वादि के अभाव को नहीं समझता है। अर्थात् दुःखित्वादि के प्रत्यक्ष के साथ विरोध से वाक्य से एकता का ज्ञान किसी को नहीं उत्पन्न होता है। यदि ऐसा कोई कहे तो कहा जाता है कि ऐसी बात नहीं है कि किसी को एकबार के श्रवण से ज्ञान नहीं होता है। देहादि के अभिमान के समान दुःखित्वादि अभिमान को मिथ्याभिमानत्व की उपपत्ति से—श्रवण से उस अभिमान की भी निवृत्ति होती है। जिससे प्रत्यक्ष है कि देह के छेदनयुक्त वा दाहयुक्त होने पर मैं छेदा जाता हूँ और मैं जलाया जाता हूँ—इस प्रकार मिथ्या अभिमान प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार अत्यन्त बाह्य पुत्रमित्रादि के भी संतापयुक्त होने पर मैं ही संतप्त हो रहा हूँ इस प्रकार का अध्यारोप-भ्रम अभिमान प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार का दुःखित्वादि का अभिमान भी होगा, अर्थात् मिथ्या होने से ज्ञान से अवश्य

निवृत्त होगा। क्योंकि देहादि के समान ही दुःखित्वादि के चैतन्य से बाहर भिन्न उपलभ्यमान (ज्ञात) होने से और सुषुप्ति आदि में अननुवृत्ति (अभाव) से, दुःखित्वादि को मिथ्यात्व है। चैतन्य की तो सुषुप्ति में भी अनुवृत्ति को श्रुतियाँ कहती हैं कि (सुषुप्ति में जो नहीं देखता है वह देखता ही हुआ नहीं देखता है) इत्यादि से अनुवृत्ति कहती हैं। उससे सब दुःखों से विनिर्मुक्त एक चैतन्यस्वरूप मैं हूँ, वह आत्मा का अनुभव है। इस प्रकार आत्मा के अनुभव करनेवाले का कोई अन्य कर्तव्य बाकी नहीं रहता है। इसी प्रकार की श्रुति है कि (जिन हम ज्ञानियों का यह आत्मा ही लोक है, वे हम प्रजा से कौन फल प्राप्त करेंगे) वह श्रुति आत्मज के कर्तव्य के अभाव को दर्शाती है।

स्मृतिरपि—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (गी० ३।१७) इति।

यस्य तु नैषोऽनुभवो द्रागिव जायते तं प्रत्यनुभवार्थ एवावृत्त्यभ्युपगमः। तत्रापि न तत्त्वमसिवाक्यार्थात्प्रच्याव्यावृत्तौ प्रवर्तयेत्, नहि वरघाताय कन्यामुद्वाहयन्ति। नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहं कर्ता मयेद कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्ययात्परीतप्रत्यय उत्पद्यते। यस्तु स्वयमेव मन्दमतिरप्रतिभानात्तं वाक्यार्थं जिहासेत्तस्यैतस्मिन्नेव वाक्यार्थे स्थिरीकार आवृत्त्यादिवाचो युक्त्याभ्युपेयते, तस्मात्परब्रह्मविषयेऽपि प्रत्यये तदुपायोपदेशेष्वावृत्तिसिद्धिः॥ २॥

स्मृति भी कर्तव्य के अभाव को दर्शाती है कि (जो आत्मज्ञानी मनुष्य विषय-
प्रीतिरहित आत्मविषयक रति-प्रीतिवाला होता है, आत्मा से ही तृप्त विषय-
तृष्णारहित रहता है, आत्मा ही में सन्तुष्ट रहता है। उसको कुछ भी कर्तव्य नहीं है)
जिसको यह आत्मा का अनुभव शीघ्र नहीं उत्पन्न होता है, उसके प्रति अनुभव के लिए
ही आवृत्ति का अभ्युपगम (स्वीकार) है। यदि कहो कि नियोग (विधि) से आवृत्ति
में प्रवृत्त होने पर देवध्यानादि के समान नियोगार्थक प्रवृत्ति होगी, आत्मा के अनुभव
के लिए नहीं होगी, तो कहा जाता है कि उस आवृत्ति के अभ्युपगम करने पर भी
तत्त्वमसि इस वाक्य के अद्वैतार्थ से प्रच्युत करके आवृत्ति में गुरु वा अन्य कोई नहीं
प्रवृत्त करे, क्योंकि वर के नाश के लिए कन्या का विवाह नहीं कराते हैं अर्थात् वाक्य-
जन्य परोक्ष-ज्ञान की रक्षा करते हुए अपरोक्ष ज्ञान के लिए आवृत्ति का उपदेश करना
चाहिए, आत्मा में कर्तृत्वादि के उपदेश से वाक्यार्थ-ज्ञान का भंग नहीं करना चाहिए।
ऐसा नहीं करने पर आवृत्ति में नियुक्त को मैं इसमें नियुक्त करता हूँ। मुझसे यह कर्तव्य
है इस प्रकार अवश्य ही ब्रह्मज्ञान से विपरीत प्रत्यय होता है। यदि कहा जाय
कि नियुक्त नहीं किया जाय, वाक्यार्थ-ज्ञान का त्यागपूर्वक कर्तृत्वादि बुद्धि नहीं करायी
जाय तो आवृत्ति में प्रवृत्ति कैसे होगी, तो कहा जाता है कि जो मन्द बुद्धिवाला स्वयं

ही वाक्यार्थ के अप्रतिमान (अप्रतीति) से उस वाक्यार्थ को त्यागने की इच्छा करता है, उसको इसी वाक्यार्थ में स्थिर करना असंभावनादि दोषों का निवारणपूर्वक वाक्यार्थ-विषयक प्रतीति को उत्पन्न करना आवृत्ति आदि वाक्-युक्ति से माना जाता है । अर्थात् असंभावना आदि से वाक्यार्थ के त्याग प्रसंग होने पर शिष्य की बुद्धि के अनुसार श्रोतव्यादि श्रुतियों के द्वारा गुरु आवृत्ति में शिष्य को प्रवृत्त करे, परन्तु प्रधान वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए करे, उससे विरुद्ध नहीं । उससे परब्रह्म विषयक ज्ञान में भी उसके उपाय श्रवणादि के उपदेशों में आवृत्ति की सिद्धि होती है ॥ २ ॥

आत्मत्वोपासनाधिकरणम् (२)

ज्ञात्रा स्वात्मतया ब्रह्म ग्राह्यमात्मतयाऽथवा । अन्यत्वेन विजानीयाद् दुःख्यदुःखिविरोधतः ॥
औपाधिको विरोधोऽत आत्मत्वेनैव गृह्यताम् । गृह्णन्त्येव महावाक्यैः स्वशिष्यान् ग्राहयन्ति च ॥

निज आत्मा ही परब्रह्म को समझना चाहिये, जिससे ज्ञानी लोग ऐसे ही समझते हैं और समझाते हैं । संशय है कि ज्ञाता को निजात्मा से अन्य स्वरूप से ब्रह्म को समझना चाहिए । अथवा आत्मस्वरूप समझना चाहिए । पूर्वपक्ष है कि जीव दुःखी है, और ब्रह्म दुःखरहित है, और दुःखी-अदुःखी के अभेद में विरोध से अन्य रूप से ब्रह्म को जानना चाहिये । सिद्धान्त है कि उपाधि-निमित्तक विरोध है, स्वरूप से नहीं, इससे आत्मस्वरूप से ही ब्रह्म को समझो, महावाक्यों से विद्वान् इसी प्रकार समझते हैं और अपने शिष्यों को समझाते हैं ॥ १–२ ॥

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

यः शास्त्रोक्तविशेषणः परमात्मा स किमहमिति ग्रहीतव्यः किंवा मदन्य इत्येतद्विचारयति । कथं पुनरात्मशब्दे प्रत्यगात्मविषये श्रूयमाणे संशय इति । उच्यते—अयमात्मशब्दो मुख्यः शक्यतेऽभ्युपगन्तुं सति जीवेश्वरयोरभेदसंभवे, इतरथा तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? नाहमिति ग्राह्यः, न ह्यपहतपाप्मत्वादिगुणो विपरीतगुणत्वेन शक्यते ग्रहीतुं, विपरीतगुणो वापहतपाप्मत्वादिगुणत्वेन, अपहतपाप्मत्वादिगुणश्च परमेश्वरस्तद्विपरीतगुणस्तु शारीरः । ईश्वरस्य च संसार्यात्मत्वे ईश्वराभावप्रसङ्गः, ततः शास्त्रानर्थक्यम् । संसारिणोऽपीश्वरात्मत्वेऽधिकार्यभावाच्छास्त्रानर्थक्यमेव, प्रत्यक्षादिविरोधश्च । अन्यत्वेऽपि तादात्म्यदर्शनं शास्त्रात्कर्तव्यं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादिदर्शनमिति चेत्, काममेवं भवतु, नतु संसारिणो मुख्य आत्मेश्वर इत्येतन्नः प्रापयितव्यमिति ।

शास्त्र में कथित अजत्वादि विशेषणवाला जो परमात्मा है, वह मैं हूँ, क्या इस प्रकार ग्रहण (ज्ञान) के योग्य है, अथवा मुझसे अन्य है—इस प्रकार समझने योग्य है, इस विषय पर विचार करते हैं । यदि कहा जाय कि (अयमात्मा ब्रह्म) इत्यादि श्रुतियों से आत्मशब्द के प्रत्यगात्मविषयक श्रूयमाण रहते (सर्वान्तरवर्ती एकात्मविषयक श्रवण रहते) संशय कैसे हो सकता है कि जिसकी निवृत्ति के लिए विचार करते हैं ।

तो कहा जाता है कि जोव और ईश्वर के अभेद के सम्भव होने पर यह आत्मशब्द मुख्य है ऐसा स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा तो यह आत्मशब्द गौण मानने योग्य है, ऐसा मानते हैं। अर्थात् (मनो ब्रह्म, आदित्यो ब्रह्म) इत्यादि के समान (अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि) प्रतीकोपासना का उपदेश जीवन और ईश्वर के भेदपक्ष में होगा, तब आत्मशब्द गौण रहेगा, सर्वान्तर्वर्ती ब्रह्माभिन्न आत्मा का वाचक नहीं होगा, इस प्रकार सूत्रकार मानते हैं इससे विचार करते हैं। वहाँ प्रथम प्राप्त क्या होता है ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष है कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ, ब्रह्म से अन्य हूँ इसी प्रकार आत्मा ग्रहण (ज्ञान) के योग्य है। जिससे अपहतपाप्मत्व (पापरहितत्व) आदि गुणवाले ईश्वर का विपरीत गुणवत्त्व रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अथवा विपरीत गुणवाले जीवन का अपहतपाप्मत्वादि गुणवत्व रूप से भी नहीं ग्रहण किया जा सकता है। अपहतपाप्मत्वादि गुणवाला परमेश्वर है और उससे विपरीत गुण-वाला ही जीव है। ईश्वर के संसारी जीवस्वरूप होने पर ईश्वर का अभाव प्राप्त होगा, उससे ईश्वरविषयक उपदेशरूप शास्त्र की अनर्थकता होगी। संसारी को भी ईश्वरस्वरूप होने पर अधिकारी के अभाव से शास्त्र की अनर्थकता होगी। अभेद-पक्ष में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा। यदि कहा जाय कि अन्यत्व (भेद) होते हुए भी प्रतिमा आदि में विष्णु आदि के दर्शन (ज्ञान) के समान शास्त्र से तादात्म्य (अभेद) दर्शन कर्तव्य है, तो कहा जाता है कि इस प्रकार का तादात्म्य यथेष्ट हो सकता है। परन्तु संसारी का मुख्य आत्मा ईश्वर है यह हमें प्राप्त कराने योग्य नहीं है॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः। तथाहि परमेश्वर-
प्रक्रियायां जाबाला आत्मत्वेनैवैतमुपगच्छन्ति—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देव-
तेऽहम् वै त्वमसि भगवो देवते' इति। तथान्येऽपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येव-
मादय आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः। ग्राहयन्ति चात्मत्वेनैवेश्वरं वेदान्त-
वाक्यानि 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१) 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'
(बृ० ३।७।३) 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवमादीनि।
यदुक्तं—प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यति—इति, तदयुक्तं गौणत्व-
प्रसङ्गात्, वाक्यवैरूप्याच्च। यत्र हि प्रतीकदृष्टिरभिप्रेयते सकृदेव तत्र वचनं
भवति यथा—'मनो ब्रह्म' (छा० ३।१८।१) 'आदित्यो ब्रह्म' (छा० ३।१९।१)
इत्यादि। इह पुनस्त्वमहमस्म्यहं च त्वमसीत्याह, अतः प्रतीकश्रुतिवैरूप्यादभेद-
प्रतिपत्तिः। भेददृष्ट्यपवादाच्च। तथाहि—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्यो-
ऽसावन्योऽहमस्तीति न स वेद' (बृ० १।४।१०) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य
इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९ कठ० ४।१०) 'सर्वं तं परादाद्योऽन्य-
त्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० ४।५।७) इत्येवमाद्या भूयसी श्रुतिर्भेददर्शनमपवदति।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि अभेद श्रुति के फलयुक्त अपूर्वार्थक होने से

गौणता के अयुक्तता आदि से आत्मस्वरूप ही परमेश्वर ग्रहण के योग्य है। जिससे परमेश्वर के प्रकरण में इसी प्रकार आत्मस्वरूप से ही जाबाल इस परमात्मा को स्वीकार करते—समझते हैं और कहते हैं कि (हे भगवन् देव मैं तूही हूँ, तू मैं हो हो) इसी प्रकार अन्य भी कहते हैं कि (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि ब्रह्मात्मता का स्वीकार समझना चाहिए. और वेदान्तवाक्य आत्मारूप से ईश्वर का बोध कराते हैं कि (यह तेरा आत्मा सबके अन्तर है। यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी है। वह सर्वान्तवर्ती वस्तु सत्य है, वही आत्मा है, वही आत्मा तुम हो) इत्यादि। जो यह कहा था कि विष्णु-प्रतिमा न्याय से यह ब्रह्मात्मता दर्शन (ज्ञान) प्रतीक दर्शन होगा (अन्य में किसी अन्य की दृष्टिरूप उपासनात्मक दर्शन होगा) तत्त्वज्ञान नहीं होगा। गौणत्व के प्रसंग से और वाक्य की विरूपता (विलक्षणता) से वह कथन अयुक्त है। जिससे जहाँ प्रतीक दृष्टि अभिप्रेत होती है, वहाँ एकबार ही वचन होता है। जैसे कि (मनो ब्रह्म, आदित्यो ब्रह्म) इत्यादि है। यहाँ तो (त्वम्, अहम्, अस्मि और अहम्, त्वम्, असि) तुम मैं हूँ, मैं तुम हो, इस रीति से फिर भी कहते हैं। अतः प्रतीक-श्रुति से विरूपता के कारण अभेद ज्ञान होता है। भेद-दृष्टि के अपवाद (निन्दा) से अभेदज्ञान होता है। वह अपवाद इस प्रकार है कि (जो कोई आत्मा से अन्य देवता की उपासना करता है, और समझता है कि वह देव मुझसे अन्य है। मैं उस देव से अन्य हूँ, वह नहीं जानता है, तत्त्व को नहीं समझता है। वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस आत्मा में नाना के समान देखता है। जो आत्मा से अन्य सबको देखता है उसको सब पर कल्याण से दूर करता है) इत्यादि बहुत श्रुतियाँ भेददर्शन की निन्दा करती हैं।

यत्तूक्तं—न विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वसंभव–इति, नायं दोषः। विरुद्धगुणताया मिथ्यात्वोपपत्तेः। यत्पुनरुक्तम्–ईश्वराभावप्रसङ्ग—इति। तदसत् शास्त्रप्रामाण्यादनभ्युपगमाच्च। नहीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छामः, किं तर्हि? संसारिण. संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वं प्रतिपिपादयिषितमि[ति]। एवं च सत्यद्वैतेश्वरस्यापहतपाप्मत्वादिगुणता विपरीतगुणता त्वितरस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते। यदप्युक्तमधिकार्यभावः प्रत्यक्षादिविरोधश्चेति। तदप्यसत्। प्राक्प्रबोधात्संसारित्वाभ्युपगमात्, तद्विषयत्वाच्च प्रत्याक्षादिव्यवहारस्य। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४) इत्यादिना हि प्रबोधे प्रत्यक्षाद्यभावं दर्शयति। प्रत्यक्षाद्यभावे श्रुतेरप्यभावप्रसङ्ग इति चेत्। न। इष्टत्वात्। 'अत्र पिताऽपिता भवति' (बृ० ४।३।२२) इत्युपक्रम्य 'वेदा अवेदाः' (बृ० ४।३।२२) इति वचनादिष्यत एवास्माभिः श्रुतेरप्यभावः प्रबोधे। कस्य पुनरयमप्रबोध इति चेत्। यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इति वदामः। नन्वहमीश्वर एवोक्तः श्रुत्या, यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि नास्ति कस्यचिदप्रबोधः। योऽपि दोषश्चोद्यते कैश्चित्–अविद्यया किलात्मनः सद्विती-

यत्वादद्वैतानुपपत्तिः—इति, सोऽप्येतेन प्रत्युक्तः, तस्मादात्मेत्येवेश्वरे मनो दधीत ॥ ३ ॥

जो यह कहा था विरुद्ध गुणवाले जीव और ईश्वर की अन्योन्यात्मकता—अभिन्नता असम्भव है। वहाँ विरुद्धगुणता (विरुद्धगुणवत्ता) के मिथ्यात्व की उपपत्ति से यह दोष नहीं है, अर्थात् सत्यस्वरूप का अभेद है। गुणकृत भेद मायिक है और फिर वह जो कहा था कि ईश्वर के अभाव का प्रसङ्ग होगा, वह कथन शास्त्र की प्रमाणता से और अनभ्युपगम से असत् है। जिससे ईश्वर की संसारीरूपता का अद्वैत श्रुति से प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा नहीं मानते हैं, तो क्या मानते हैं कि संसारी के अविद्याजन्य संसारित्व के अपोह (विद्या से निवारण) द्वारा उसके ईश्वरात्मत्व (ईश्वरस्वरूपता) श्रुति से प्रतिपिपादयिषित (प्रतिपादन की इच्छा का विषय) है। यह मानते हैं। ऐसा होने पर अद्वैत ईश्वर की अपहत—अद्वैत पाप्मत्वादि—गुणता और इतर जीव की विपरीतगुणता मिथ्या है इस प्रकार व्यवस्थित होता है। जो यह भी कहा था कि अधिकारी का अभाव होगा और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा। वह भी कथन प्रबोध से पूर्वकाल में संसारित्व के स्वीकार से असत् है। प्रत्यक्षादिव्यवहार के प्रबोध से पूर्वकालविषयक होने से भी वह कथन असत् है। जिससे (जिस काल में इस ज्ञानी के सब आत्मा ही हो गया उस काल में किससे किसको देखेगा) इत्यादि वचनों से प्रबोध होने पर प्रत्यक्षादि के अभाव को श्रुति दर्शाती है। यदि कहो कि प्रत्यक्षादि के अभाव होने पर श्रुति के भी अभाव का प्रसङ्ग होगा, तो कहा जाता है कि प्रबोध काल में श्रुति की भी आत्मभिन्नसत्ता का अभाव इष्ट होने से यह दोष नहीं है। जिससे (इस आत्मस्थितिरूप सुषुप्ति में पिता अपिता होता है) इस प्रकार उपक्रम करके (वेद अवेद होते हैं)इस वचन से प्रबोध अवस्था में श्रुति का अभाव भी हमें इष्ट ही है हमसे माना ही जाता है। यदि कहो कि यह अप्रबोध (अज्ञान) किसको है, तो कहते हैं कि जो तुम पूछते हो उस तुमको अज्ञान है, यह प्रश्न से ही सिद्ध होता है। यदि कहो कि मैं ईश्वर ही हूँ इस प्रकार मैं श्रुति से कहा गया हूँ, तो कहा जाता है कि यदि तुम इस प्रकार श्रुति से प्रतिबुद्ध (ज्ञानयुक्त) हो, तो सत्य अप्रबोध किसी को नहीं हैं, सत्य होता तो श्रुतिजन्य ज्ञान से भी नहीं निवृत्त होता। जो भी किन्हीं से दोष कहा जाता है, दोषविषयक शंका की जाती है कि आत्मा को अविद्या से द्वैतसहित होने से अद्वैत की अनुपपत्ति है, वह भी इस अविद्या के मिथ्यात्व से ही प्रत्याख्यात (खण्डित) हो गया, जिससे सत्य अद्वैत श्रुति अनुभवादि से माना जाता है। मिथ्या द्वैत तो प्रत्यक्षादि सिद्ध है ही, उससे मिथ्या द्वैत का विद्या से बोध करके ईश्वर आत्मा है इस प्रकार से ईश्वर में मन का धारण करे ॥ ३ ॥

प्रतीकाधिकरणम् (३)

प्रतीकेऽहंदृष्टिरस्ति नवा ब्रह्माविभेदतः। जीवप्रतीकयोर्ब्रह्मद्वाराहंदृष्टिरिष्यते ॥ १ ॥
प्रतीकत्वोपासकत्वहानिर्ब्रह्मैक्यवीक्षणे। अवीक्षणे तु भिन्नत्वान्नास्त्यहंदृष्टियोग्यता ॥ २ ॥

प्रतीक मूर्ति मन आदि द्वारा ब्रह्म की उपासना करनेवाला, जैसे ब्रह्म में आत्म-बुद्धि की जाती है, वैसे प्रतीक में आत्मबुद्धि अहंग्रहध्यान नहीं करे, क्योंकि यह उपासक वस्तुतः ब्रह्म है, इससे ब्रह्म में अहंग्रहध्यान करना ठीक है किन्तु वह प्रतीक उपासक वस्तुतः प्रतीक रूप नहीं है, इससे प्रतीक में अहंबुद्धि करना उचित नहीं है। यहाँ संशय है कि प्रतीक में अहंदृष्टि होती है, अथवा नहीं। पूर्वपक्ष है कि जीव और प्रतीक को बाधदृष्टि के द्वारा ब्रह्म के साथ अभेद होने से ब्रह्म द्वारा प्रतीक में अहं-दृष्टि इष्ट है। सिद्धान्त है कि बाधदृष्टिसे ब्रह्म के साथ एकता के वीक्षण (दर्शन) करने पर प्रतीकत्व और उपासकत्व का अभाव सिद्ध होगा। एकत्व के अवीक्षण रहते तो भिन्नता से अहंदृष्टि की योग्यता नहीं है, इससे प्रतीक में अहंबुद्धि नहीं होती है ॥१–३॥

न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ ॥

'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति' (छा० ३।१८।१), तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।१।५) इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः–किं तेष्वप्यात्मग्रहः कर्तव्यो न वेति। किं तावत्प्राप्तम्? तेष्वप्यात्मग्रह एव युक्तः। कस्मात्? ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन प्रसिद्धत्वात्प्रतीकानामपि ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वोपपत्तेरिति।

(मन अन्तःकरण ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करे। यह अध्यात्म दर्शन है। उसके बाद देवताविषयक दर्शन है, कि आकाश ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करे) इसी प्रकार (आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है) वह जो नामब्रह्म है इस प्रकार से उपासना करता है) इत्यादि प्रतीक उपासनाओं में संशय होता है कि क्या उनमें भी अहंग्रह कर्तव्य है, अथवा नहीं कर्तव्य है। प्रथम प्राप्त क्या होता है। ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि उनमें भी आत्मग्रह (आत्मबुद्धि) ही युक्त है, क्योंकि ब्रह्म की आत्मरूपता से श्रुतियों में प्रसिद्धि से और प्रतीकों की भी ब्रह्मविकारता से इन्हें ब्रह्मत्व होने पर आत्मत्व की उपपत्ति से आत्मग्रह-युक्त है ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः–न प्रतीकेष्वात्ममतिं बध्नीयात्। नहि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत्। यत्पुनर्ब्रह्मविकारत्वात्प्रतीकानां ब्रह्मत्वं ततश्चात्मत्वमिति। तदसत्। प्रतीकाभावप्रसङ्गात्। विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादिजातस्य ब्रह्मत्वमेवाश्रितं भवति। स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुतः प्रतीकत्वमात्मग्रहो वा। नच ब्रह्मण आत्मत्वाद् ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्वात्मदृष्टिः कल्प्या, कर्तृत्वाद्यनिराकरणात्। कर्तृत्वादिसर्वसंसारधर्मनिराकरणेन हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः, तदनिराकरणेन चोपासनविधानम्, अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः-समत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते, नहि रुचकस्वस्तिकयोरितरेतरात्मत्वमस्ति,

सुवर्णात्मनेव तु ब्रह्मात्मनैकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम । अतो न प्रतीकेष्वात्मदृष्टिः क्रियते ॥ ४ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्रतीकों में आत्मरूप से बुद्धि को नहीं लगाना चाहिए । जिससे वह उपासक व्यस्त (भिन्न) प्रतीकों को आत्मरूप से अनुभव नहीं कर सकता है । जो यह कहा है कि प्रतीकों को ब्रह्म के विकारत्व से ब्रह्मत्व है, और उस ब्रह्मत्व से आत्मत्व है, वह कथन प्रतीक के अभाव के प्रसंग से असत् है । जिससे विकार स्वरूप के उपमर्द (नाश) से ही नामादि समूह का ब्रह्मत्व आश्रित (स्वीकृत) होता है । नामादि के स्वरूप के नष्ट होने पर किस हेतु से प्रतीकत्व वा आत्मग्रह होगा और प्रतीकविषयक ब्रह्मदृष्टि उपदेशों में ब्रह्म के आत्मत्व से आत्मदृष्टि नहीं कल्पित हो सकती है । क्योंकि इन उपासनाओं में कर्तृत्वादि का निराकरण नहीं होने से आत्मा को ब्रह्मत्व नहीं है, जिससे कर्तृत्वादिरूप संसारधर्म के निराकरण से ब्रह्म के आत्मत्व का उपदेश होता है कि ब्रह्म आत्मा है, और उस कर्तृत्वादि के अनिराकरण से उपासना का विधान है । इससे उपासकों को प्रतीकों के साथ समता से आत्मग्रह नहीं उपपन्न होता है । जिससे सुवर्ण के विकार होते भी रुचक और स्वस्तिक को परस्परात्मकता (अभेद) नहीं है, वैसे ही ब्रह्म विकार भी जीव और प्रतीक का अभेद नहीं है । जैसे सुवर्णरूप से रुचक और स्वस्तिक अभिन्न हैं । वैसे ब्रह्मरूप से प्रतीक और उपासक के एकत्व होने पर प्रतीक के अभाव के प्रसंग को कह चुके हैं । इससे प्रतीकों में आत्मदृष्टि नहीं की जाती है ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् (४)

किमन्यधीर्ब्रह्मणि स्यादन्यस्मिन् ब्रह्मधोरुत । अन्यदृष्ट्योपासनीयं ब्रह्मात्र फलदत्वतः ॥
उत्कर्षेतिपरत्वाभ्यां ब्रह्मदृष्ट्यान्यचिन्तनम् । अन्योपास्त्या फलं दत्ते ब्रह्मातिथ्याद्युपास्तिवत् ॥

(आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है) इत्यादि प्रतीकोपासनाबोधक वाक्यों में, आदित्य और ब्रह्मशब्द के समानाधिकरण होने से, आदित्य ब्रह्म है और ब्रह्म आदित्य है—ऐसी दृष्टि हो सकती है । तथापि हीन में उत्तम दृष्टि से हीन का आदर होता है, इससे आदरजन्य पुण्य माना जाता है, उत्तम में हीन दृष्टि से उत्तम का निरादर, तिरस्कार होता है । इससे निरादरजन्य पाप माना जाता है, इसलिए मन, आकाश, आदित्य, नाम आदि में ही ब्रह्मदृष्टि कर्तव्य है कि जिससे उत्कर्ष (अतिशय-श्रेष्ठता) बोध से आदर सिद्ध हो । संशय है कि क्या अन्य बुद्धि ब्रह्म में करनी चाहिए, अर्थात् सूर्यादि दृष्टि से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए । अथवा ब्रह्मबुद्धि अन्य में करनी चाहिए, ब्रह्मदृष्टि से अन्य की उपासना करनी चाहिए । पूर्वपक्ष है कि ईश्वररूप ब्रह्म फलदाता है, इससे अन्य दृष्टि से ब्रह्म की उपासना कर्तव्य है । सिद्धान्त है कि ब्रह्मदृष्टि से अन्य की उत्कर्षता होती है । दूसरी बात है कि सब वाक्य में ब्रह्म शब्द से इति शब्द परे है । (न वेति विभाषा) यहाँ के समान (इतिशब्दः पदार्थविपर्यास-

कृत्) इति शब्द अपने सम्बन्धी पद के अर्थ को विपरीत करता है, इससे यहाँ इति शब्द ब्रह्मशब्द को लक्षण द्वारा ब्रह्मदृष्टिपरक करता है, इसलिए ब्रह्मदृष्टि से अन्य का चिन्तन कर्तव्य है। ईश्वर पूज्यादि दृष्टि से अतिथि की सेवा से जैसे ब्रह्म फल देता है, वैसे ही अन्य की उपासना से भी ब्रह्म फल देता है ॥ १-२ ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

तेष्वेवोदाहरणेष्वन्यः संशयः—किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यसितव्याः किं वा ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति। कुतः संशयः ? सामानाधिकरण्ये कारणानवधारणात्। अत्र हि ब्रह्मशब्दस्यादित्यादिशब्दैः सामानाधिकरण्यमुपलभ्यते, 'आदित्यो ब्रह्म प्राणो ब्रह्म विद्युद् ब्रह्म' इत्यादिसमानविभक्तिनिर्देशात्। नचात्राञ्जसं सामानाधिकरण्यमवकल्पते, अर्थान्तरवचनत्वाद् ब्रह्मादित्यादिशब्दानाम्। नहि भवति गौरश्व इति सामानाधिकरण्यम्। ननु प्रकृतिविकारभावाद् ब्रह्मादित्यादीनां मृच्छरावादिवत्सामानाधिकरण्यं स्यात्। नेत्युच्यते। विकारप्रविलयो ह्येवं प्रकृतिसामानाधिकरण्यात्स्यात्। ततश्च प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम। परमात्मवाक्यं चेदं तदानीं स्यात्ततश्चोपासनाधिकारो बाध्येत। परिमितविकारोपादानं च व्यर्थम्। तस्माद् ब्राह्मणोऽग्निर्वैश्वानर इत्यादिवदन्यतरत्रान्यदृष्टयध्यासे सति क्व किंदृष्टिरध्यस्यतामिति संशयः। तत्रानियमो नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्येवं प्राप्तम्। अथवाऽऽदित्यादिदृष्टय एव ब्रह्मणि कर्त्तव्या इत्येवं प्राप्तम्। एवं ह्यादित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति ब्रह्मोपासनं च फलवदिति शास्त्रमर्यादा। तस्मान्न ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति।

(मनो ब्रह्मेत्युपासीत) इत्यादि पूर्वकथित उन ही उदाहरणोंविषयक अन्य संशय है कि क्या आदित्य आदि दृष्टि का ब्रह्म में अध्यास करना चाहिए, अथवा ब्रह्मदृष्टि का आदित्यादि में अध्यास करना चाहिए। अर्थात् (मनो ब्रह्मेत्युपासीत) इत्यादि उपासनाविधि के श्रवण से ये वाक्य सब बाधदृष्टि से ब्रह्मबोधपरक नहीं हैं। भिन्न ब्रह्म आदित्यादि का अभेद ही नहीं सकता है, इससे ये वाक्य सब अध्यास द्वारा उपासनापरक हैं वहाँ कैसे अध्यास करना चाहिए। संशय कैसे होता है, तो कहा जाता है कि समानाधिकरणता में (नीलो घटः) नील घट है, इत्यादि के समान विशेषणविशेष्यभावादिरूप कारण के अनवधारण से संशय होता है। इन वाक्यों में ब्रह्मशब्द की आदित्यादि शब्दों के साथ समानाधिकरणता (अभेदबोधकत्वरूप समानविभक्तिकता) उपलब्ध होती है (आदित्य ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, विद्युत् ब्रह्म है) इत्यादि समान- (तुल्य-एक) विभक्ति के निर्देश से समानाधिकरणता है। ब्रह्म और आदित्यादि शब्दों के अर्थान्तर के (भिन्न भिन्न अर्थ के) वाचक होने से इनका आञ्जस (मुख्य तत्त्वतः) समानाधिकरण सिद्ध नहीं हो सकता है, जिससे गौ अश्व है, ऐसी समानाधिकरणता नहीं होती है। यदि कहा जाय कि ब्रह्म और आदित्यादि को मृत्तिका और

शराव आदि के समान प्रकृतिविकारभाव (उपादानोपादेयता) से समानाधिकरणता होगी, तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं हो सकता है। जिससे इस प्रकार प्रकृति के साथ विकार की समानाधिकरणता से विकार का सर्वथा विलय होगा। उससे प्रतीक के अभाव का प्रसंग होगा, वह कहा जा चुका है। उस प्रतीक के अभाव काल में यह परमात्मा का बोधक वाक्य होगा और उससे उपासना का अधिकार बाधित होगा। परमात्मवाक्य पक्ष में परिमित सूर्यादि विकारों का ग्रहण व्यर्थ होगा, सब विकार कारण दृष्टि से ब्रह्म हैं। उससे (ब्राह्मण वैश्वानर नामक अग्नि है) इत्यादि के समान अन्य में किसी अन्य की दृष्टिरूप अध्यास के सिद्ध होने पर किसमें किस दृष्टि का अध्यास कर्तव्य है, और किया जाय, यह संशय होता है। पूर्वपक्ष है कि नियमकारक शास्त्र के अभाव से वहाँ अनियम है, इच्छा के अनुसार अध्यास किया जा सकता है ऐसा प्राप्त होता है, अथवा ब्रह्म में आदित्यादि दृष्टि ही करना चाहिए ऐसा प्राप्त होता है, जिससे इस प्रकार से आदित्यादि दृष्टि द्वारा ब्रह्म उपासित (उपासना का विषय) होता है। ब्रह्म की उपासना फलवती है, यह शास्त्र की मर्यादा है, जिससे आदित्यादि में ब्रह्मदृष्टि कर्तव्य नहीं है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु स्यादिति। कस्मात्? उत्कर्षात्। एवमुत्कर्षेणादित्यादयो दृष्टा भवन्ति, उत्कृष्टदृष्टेस्तेष्वध्यासात्, तथाच लौकिको न्यायोऽनुगतो भवति। उत्कृष्टदृष्टिर्हि निकृष्टेऽध्यसितव्येति लौकिको न्यायः। यथा राजदृष्टिः क्षत्तरि, स चानुसर्तव्यः विपर्यये प्रत्यवायप्रसङ्गात्। नहि क्षत्तृदृष्टिपरिगृहीतो राजा निकर्षं नीयमानः श्रेयसे स्यात्। ननु शास्त्रप्रामाण्या- दनाशङ्कनीयोऽत्र प्रत्यवायप्रसङ्गः, नच लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नि- यन्तुं युक्तेति। अत्रोच्यते—निर्धारिते शास्त्रार्थे एतदेवं स्यात्। संदिग्धे तु तस्मिंस्तन्निर्णयं प्रति लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते, तेन चोत्कृ- ष्टदृष्ट्यध्यासे शास्त्रार्थेऽवधार्यमाणे निकृष्टदृष्टिमध्यस्यन्प्रत्यवेयादिति श्लिष्यते। प्राथम्याच्चादित्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्वमविरोधाद् ग्रहीतव्यम्। तैः स्वार्थवृत्तिभि- रवरुद्धायां बुद्धौ पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्या- सम्भवाद् ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैवावतिष्ठते। इति परत्वादपि ब्रह्मशब्दस्यैष एवार्थो न्याय्यः। तथाहि 'ब्रह्मेत्यादेशः' 'ब्रह्मेत्युपासीत' 'ब्रह्मेत्युपास्ते' [illegible] च सर्वत्रेति- परं ब्रह्मशब्दमुच्चारयन्ति शुद्धांस्त्वादित्यादिशब्दान्। ततः यथा शुक्तिकां रजतमिति प्रत्येतीत्यत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दो रजतशब्दस्तु रजतप्रतीति- लक्षणार्थः प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति नतु तत्र रजतमस्ति, एवम- त्राप्यादित्यादीन्ब्रह्मेति प्रतीयादिति गम्यते। वाक्यशेषोऽपि च द्वितीयानि- र्देशेनादित्यादीनेवोपास्तिक्रियया व्याप्यमानान्दर्शयति—'स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ३।१९।४), 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।२।२), 'यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।४।३) इति च। यत्तूक्तं ब्रह्मोपा-

सनमेवात्रादरणीयं फलवत्त्वायेति । तदयुक्तम् । उक्तेन न्यायेनादित्यादीनामेवोपास्यत्वावगमात् । फलं त्वतिथ्याद्युपासने इवादित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति सर्वाध्यक्षत्वात् । वर्णितं चैतत् 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र० सू० ३।२।३८) इत्यत्र । ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत्प्रतीकेषु तद् दृष्ट्यध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्णवादीनाम् ॥ ५ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि आदित्य आदि में ब्रह्मदृष्टि ही कर्तव्य होगी, ऐसी किस हेतु से होगी । तो कहा जाता है कि उत्कर्ष हेतु से होगी, जिससे इस प्रकार से आदित्य आदि उत्कर्ष (अतिशय) रूप से दृष्ट (चिन्तित–ध्येय) होते हैं, क्योंकि उत्कर्षदृष्टि का उनमें अध्यास होता है । इसी प्रकार लौकिक न्याय भी अनुगत (सम्बद्ध अनुसृत) होता है । जिससे लौकिक न्याय है कि, उत्कृष्ट की दृष्टि का निकृष्ट (हीन) में अध्यास करना चाहिये, जैसे कि राजदृष्टि का क्षत्ता (सारथि) में अध्यास किया जाता है । वह लौकिक न्याय अनुसरण के योग्य है, क्योंकि उस न्याय से विपरीत गति व्यवहार में प्रत्यवाय का प्रसंग होता है । जिससे क्षत्ता-की दृष्टि से गृहीत (सारथिरूप समझा गया) अतएव निकर्ष (निकृष्टता) को नीयमान (प्राप्त किया गया) राजा श्रेयः (शुभ) के लिए नहीं होता है । यदि कहा जाय कि शास्त्र की प्रमाणता से यहाँ प्रत्यवाय का प्रसंग आशंका के योग्य नहीं है, लौकिक न्याय से शास्त्रीय दृष्टि को नियमित करना युक्त नहीं है । तो यहाँ कहा जाता है कि शास्त्र के अर्थ के निर्धारित रहने पर इस प्रकार का यह कथन बन सकता है कि शास्त्र के अर्थ का लौकिक न्याय से नियम नहीं करना चाहिये । किन्तु उस शास्त्रार्थ के सन्दिग्ध रहने पर तो उसका निर्णय के प्रति (निर्णय के लिए) स्वीकृत लौकिक न्याय भी विरुद्ध नहीं होता है । उस लौकिक न्याय से उत्कृष्ट दृष्टि का अध्यासरूप शास्त्रार्थ के अवधार्यमाण (निर्णीत-निश्चित होने पर निकृष्ट दृष्टि का उत्कृष्ट में अध्यास करता हुआ प्रत्यवाय को प्राप्त करेगा, यह कथन संघटित होता है । केवल लौकिक न्याय ही इस निश्चयका हेतु नहीं है किन्तु आदित्यादि शब्दों की प्रथमता से अविरोधता के कारण उनका मुख्यार्थत्व ग्रहण के योग्य है । स्वार्थ में वृत्ति (शक्ति , वाले उन आदित्य आदि शब्दों से अवरुद्ध (उनके निश्चययुक्त) बुद्धि में पीछे अवतरण करने वाले (आने वाले ब्रह्मशब्द की . मुख्य शक्ति वृत्ति द्वारा समानाधिकरणता के असम्भव से लक्षण द्वारा ब्रह्मदृष्टि विधानार्थवत्ता ही वाक्य को अवस्थित है । वाक्य आदित्य आदि में ब्रह्मदृष्टि का ही विधान करते हैं । ब्रह्मशब्द की इतिशब्दपरता से अर्थात् ब्रह्मशब्द से इति शब्द के पर रहने से भी यही अर्थ न्याययुक्त है । जिससे आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है । ब्रह्म रूप से उपासना करे । ब्रह्म ऐसा जो उपासना करता है । इस प्रकार से (ब्रह्मेति) यह इतिपरक ब्रह्मशब्द का सर्वत्र उच्चारण करते हैं । इतिरहित शुद्ध आदित्य आदि शब्दों का उच्चारण करते हैं । उससे जैसे (शुक्ति का)

सीपी को रजतमिति—रजतरूप से जानता है, इस वाक्य में शुक्तिका शब्द शुक्ति का वाचक ही होता है। रजत शब्द तो रजत की प्रतीति का लक्षणार्थक होता है कि यह रजत है इस प्रकार से केवल जान ही रहा है, परन्तु वहाँ रजत है नहीं। इसी प्रकार इन उदाहरणों में भी आदित्य आदि को ब्रह्मरूप से जाने, ऐसा अर्थ समझा जाता है। वाक्यशेष भी द्वितीया विभक्ति के निर्देश द्वारा आदित्य आदि को ही उपासना-क्रिया से व्याप्यमान (उपासना के विषय) रूप दर्शाता है कि (जो कोई इस आदित्य की महिमा को जानने वाला आदित्य की ब्रह्मरूप से उपासना करता है। जो वाक् की ब्रह्मरूप से उपासना करता है। जो संकल्प की ब्रह्मरूप से उपासना करता है) इत्यादि। जो यह कहा था कि फलवत्ता के लिए यहाँ ब्रह्म की उपासना ही आदरणीय है। वह कथन भी उक्त न्याय से आदित्यादि की उपास्यता के अवगम (ज्ञान) से अयुक्त है। सर्वाध्यक्षता (सर्वस्वामिता) से जैसे अतिथि आदि की उपासना में ब्रह्म फल देता है, अतिथि आदि नहीं देते हैं, वैसे ही आदित्य आदि की उपासना में भी ब्रह्म ही फल देगा। (फलमत उपपत्तेः) इस सूत्र में यह वर्णित हो चुका है। यहाँ ब्रह्म की जो प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि से आरोप है, इसी प्रकार के ब्रह्म की उपास्यता है। जैसे कि प्रतिमा आदि में विष्णु आदि की उपास्यता होती है ॥५॥

आदित्यादिमत्यधिकरणम् (५)

आदित्यादावङ्गदृष्टिरङ्गे रव्यादिधीरुत। नोत्कर्षो ब्रह्मजत्वेन द्वयोस्तेनैच्छिकी मतिः ॥१॥
आदित्यादिधियाऽङ्गानां संस्कारे कर्मणः फले। युज्यतेऽतिशयस्तस्मादङ्गेष्वर्कादिदृष्टयः॥२॥

संस्कार की उपपत्ति से अङ्गों में आदित्यादि दृष्टि कर्तव्य है। यहाँ संशय है कि आदित्यादि में कर्माङ्गदृष्टि करना चाहिये अथवा कर्माङ्ग में आदित्य आदि दृष्टि कर्तव्य है। पूर्वपक्ष है कि दोनों के ब्रह्मजन्यत्व तुल्य होने से किसी में उत्कर्ष नहीं है कि जिससे अन्य में उत्कृष्ट दृष्टि की जाय उससे इच्छा के अनुसार मति (दृष्टि) कर्तव्य है। सिद्धान्त है कि अङ्गों में आदित्यादि दृष्टि करने से उस दृष्टि से अङ्गों का संस्कार होता है, उनमें विचित्र शक्ति उत्पन्न होती है और अङ्गों के संस्कार होने पर कर्म के फल में अतिशय युक्त (प्राप्त) होता है, आदित्य में अङ्गदृष्टि करणों से कर्मफल में अतिशय नहीं हो सकता, क्योंकि आदित्य विशेष कर्माङ्ग नहीं हैं। उससे अङ्गों में आदित्यादि दृष्टि कर्तव्य है ॥१–२॥

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।३।१), 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१), 'वाचि सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २।८। १), 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्येवमादिष्वङ्गावबद्धेषूपासनेषु संशयः–किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टयो विधीयन्ते कि वोद्गीथादिष्वेवादित्यादिदृष्टय–इति। तत्रानियमो नियमकारणाभावादिति प्राप्तम्। नह्यत्र ब्रह्मण इव

कस्यचिदुत्कर्षविशेषोऽवधार्यते 'ब्रह्म हि समस्तजगत्कारणत्वादपहतपाप्मत्वादि-गुणयोगाच्चादित्यादिभ्य उत्कृष्टमिति शक्यमवधारयितुं न त्वादित्योद्गीथा-दीनां विकारत्वाविशेषात्किंचिदुत्कर्षविशेषावधारणे कारणमस्ति। अथवा नियमेनैवोद्गीथादिमतय आदित्यादिष्वध्यस्येरन्। कस्मात्? कर्मात्मकत्वा-दुद्गीथादीनां कर्मणश्च फलप्राप्तिप्रसिद्धेः उद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदि-त्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलहेतवो भविष्यन्ति।

(जो ही वह आदित्य तपता है उसकी उद्गीथरूप से उपासना करे। पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, आदित्य और स्वर्गरूप लोकों में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन नामक पांच प्रकार के साम की उपासना करे आदि, और उपद्रव सहित सात प्रकार के उन सामों की वाक् में उपासना करे। यह पृथ्वी ही ऋग् है, अग्नि साम है) इत्यादि कर्माङ्गों से अवबद्ध (सम्बद्ध) उपासनाओं में संशय होता है कि क्या आदित्य आदि में उद्गीथादि दृष्टियाँ विहित होती हैं। अथवा उद्गीथादि में ही आदित्यादि दृष्टियाँ विहित हैं। पूर्वपक्ष हैं कि उनमें नियम के कारण के अभाव से अनियम है ऐसा प्राप्त होता है। जिससे यहाँ ब्रह्म के समान किसी का उत्कर्षरूप विशेष अवधारित नहीं होता है। समस्त जगत् के कारणत्व से और अपहतपाप्मत्वादि गुणों के सम्बन्ध से ब्रह्म आदित्य आदि से उत्कृष्ट है इस प्रकार निर्धारण किया जा सकता है। परन्तु आदित्य और उद्गीथादि के विकारत्व के अविशेष (तुल्य) होने से उत्कर्षविशेष के अवधारण में कोई कारण नहीं है। अथवा उद्गीथादि बुद्धियाँ नियम से ही आदित्य आदि में अध्यस्त की जायेंगी। यदि कहा जाय कि किस हेतु से ऐसा होगा, तो कहा जाता है कि उद्गीथादि के कर्मात्मक होने से और कर्म से फलप्राप्ति की प्रसिद्धि से ऐसा होगा। उद्गीथादि दृष्टि से उपास्यमान आदित्य आदि कर्मात्मक होते हुए फल के हेतु होंगे।

तथा च 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्यत्र 'तदेतदेतस्यामृच्य-ध्यूढं साम' (छा० १।६।१) इत्यृक्शब्देन पृथिवीं निर्दिशति सामशब्देनाग्निम्, तच्च पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामदृष्टिचिकीर्षायामवकल्पते न ऋक्सामयोः पृथिव्य-ग्निदृष्टिचिकीर्षायाम्। क्षत्तरि हि राजदृष्टिकरणाद्राजशब्द उपचर्यते न राजनि क्षत्तृशब्दः अपि च 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) इत्यधि-करणनिर्देशाल्लोकेषु सामाध्यसितव्यमिति प्रतीयते। 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २।११।१) इति चैतदेवं दर्शयति। प्रथमनिर्दिष्टेषु चादित्यादिषु चरम-निर्दिष्टं ब्रह्माध्यस्तम् 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) इत्यादिषु। प्रथमनिर्दिष्टाश्च पृथिव्यादयश्चरमनिर्दिष्टा हिंकारादयः 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २।२।१) इत्यादिश्रुतिषु। अतोऽनङ्गेष्वादित्यादिष्वङ्गमति(नि)क्षेप इति।

इसी प्रकार (यह पृथिवी ही ऋग् है, अग्नि साम है) यहाँ पर (सो वह अग्नि नामक साम इस पृथिवी नामक ऋक् पर अध्यूढ़-ऊपर स्थिर है) इस प्रकार ऋक्

शब्द से पृथिवी का और सामशब्द से अग्नि का श्रुति निर्देश करती है। वह निर्देश पृथिवी और अग्नि में क्रम से ऋक् और साम दृष्टि की चिकीर्षा (करने की इच्छा) होने पर सिद्ध होता है। ऋक् और साम में पृथिवीदृष्टि और अग्निदृष्टि करने की इच्छा होने पर वह निर्देश नहीं सिद्ध हो सकता है। जिससे सारथि में राजदृष्टि करने से उसमें राजा शब्द का उपचार (गौण प्रयोग) किया जाता है। राजा में सारथि शब्द का उपचार प्रयोग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार पृथिवी आदि में ऋगादि दृष्टि के बिना पृथिवी आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता है (लोकों में पाँच प्रकार के साम की उपासना करे) इस प्रकार अधिकरण रूप से लोक के निर्देश से लोकों में सामों का अध्यास करना चाहिये ऐसी प्रतीति होती है। (यह गायत्र-साम प्राण में प्रोत-स्थिर है) यह श्रुतिवचन इसी प्रकार दर्शाता है, (आदित्य ब्रह्म है) इत्यादि वाक्यों में प्रथम निर्दिष्ट आदित्य आदि में पश्चात् निर्दिष्ट ब्रह्म अध्यस्त है। (पृथिवी हिंकार है इत्यादि श्रुतियों में प्रथम निर्दिष्ट पृथिवी आदि हैं पश्चात् निर्दिष्ट हिंकारादि हैं, इससे अङ्ग भिन्न आदित्य आदि में अङ्गमति का निक्षेप अध्यास होता है ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यादिमतय एवाङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्। कुतः ? उपपत्तेः। उपपद्यते ह्येवमपूर्वसन्निकर्षादादित्यादिमतिभिः संस्क्रियमाणेषूद्गीथादिषु कर्मसमृद्धिः। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१ १०) इति च विद्यायाः कर्मसमृद्धिहेतुत्वं दर्शयति। भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवं, स्वतन्त्रफलेषु तु कथम् य 'एतदेवं विद्वांल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।२।३) इत्यादिषु, तेष्वप्यधिकृताधिकारात्प्रकृतापूर्वसन्निकर्षेणैव फलकल्पना युक्ता गोदोहनादिनियमवत्। फलात्मकत्वाच्चादित्यादीनामुद्गीथादिभ्यः कर्मात्मकेभ्य उत्कर्षोपपत्तिः। आदित्यादिप्राप्तिलक्षणं हि कर्मफलं शिष्यते श्रुतिषु। अपिच 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १।१।१०) इति चोद्गीथमेवोपास्यत्वेनोपक्रम्यादित्यादिमतीर्विदधाति।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि उद्गीथादि अङ्गों में आदित्यादि की बुद्धि ही क्षिप्त अध्यस्त की जायगी। ऐसा किस हेतु से होगा, तो कहा जाता है कि उपपत्ति से होगा, जिससे अपूर्व (कर्मजन्य अदृष्ट) के साथ सन्निकर्ष (संबन्ध) से ऐसा उपपन्न (सिद्ध) होता है कि आदित्यादि दृष्टि से उद्गीथादि के संस्कारयुक्त होने पर अदृष्ट द्वारा कर्म की समृद्धि (फलवृद्धि) होती है। विद्या और श्रद्धा से युक्त होकर उपनिषद-उपासना सहित जो ही कर्म करता है, वह कर्म अतिबलवत् होता है। यह श्रुति विद्या के कर्मसमृद्धिहेतुत्व को दर्शाती है। यहाँ शंका होती है कि कर्म की समृद्धिरूप फलवाले उपासनाओं में ऐसा हो सकता है। परन्तु (जो इस प्रकार जानने वाला विद्वान् लोकों में पांच प्रकार के साम की उपासना करता है) उसको भोग देने के लिए ऊपर और नीचे के लोक समर्थ होते हैं। इत्यादि स्वतन्त्र फल वाली

उपासनाओं में अङ्गों में अनङ्गदृष्टि कैसे अध्यस्त होगी। तो कहा जाता है कि उन उपासनाओं में भी कर्म में अधिकृत का अधिकार होने से प्रकृत अपूर्व के साथ सन्निकर्ष से ही गोदोहनादि नियम के समान फल की कल्पना युक्त है। अर्थात् जैसे स्वतन्त्र पशु-रूप फलवाला भी गोदोहन का अप का प्रणयनरूप अङ्गात्मक द्वार की अपेक्षापूर्वक ही उसका फल माना गया है। इसी प्रकार लोकादि फलवाली उपासनाओं में भी कर्मसम्बन्धी अपूर्वरूप अंग द्वारा ही फल की कल्पना युक्त है। क्योंकि कर्मों में अधिकृतों का ही अङ्गाश्रित उपासनाओं में अधिकार है। आदित्यादि के फलस्वरूप होने से कर्म-स्वरूप उद्गीथादि से उनमें उत्कर्ष की उपपत्ति होती है। जिससे श्रुतियों में आदित्य की प्राप्तिरूप कर्मफल का उपदेश दिया जाता है। इससे उत्कर्ष के अनवधारण से अनियम कहा था वह अयुक्त है। दूसरी बात है कि (ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ की उपासना करे। इस अक्षर का ही रसतमत्वादि गुण रूप उपव्याख्यान है) इस प्रकार उद्गीथ का ही उपास्य रूप से उपक्रम करके उसमें आदित्यादि दृष्टि का श्रुति विधान करती है।

यत्तूक्तमुद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मभूयं भूत्वा फलं करिष्यन्तीति। तदयुक्तम्। स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात्फलवत्त्वोपपत्तेः। आदित्यादिभावेनापि च दृश्यमानानामुद्गीथादीनां कर्मात्मकत्वानपायात्। 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १।६।१) इति तु लाक्षणिक एव पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगः। लक्षणा च यथासम्भवं संनिकृष्टेन विप्रकृष्टेन वा स्वार्थसम्बन्धेन प्रवर्तते। तत्र यद्यप्यृक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षा तथापि प्रसिद्धयोर्ऋक्सामयोर्भेदेनानुकीर्तनात्पृथिव्यग्न्योश्च संनिधानात्तयोरेवैष ऋक्सामशब्दप्रयोग ऋक्सामसम्बन्धादिति निश्चीयते। क्षत्तृशब्दोऽपि हि कुतश्चित्कारणाद्राजानमुपसर्पन्न निवारयितुं पार्यते। 'इयमेवर्क्' (छा० १।६।१) इति च यथाक्षरन्यासमृच एव पृथिवीत्वमवधारयति। पृथिव्या हि ऋक्त्वेऽवधार्यमाण इयमृगेवेत्यक्षरन्यासः स्यात्। 'य एवं विद्वान्साम गायति' (छा० १।७।७) इति चाङ्गाश्रयमेव विज्ञानमुपसंहरति न पृथिव्याद्याश्रयम्।

जो यह कहा था कि उद्गीथादि मति (दृष्टि) से उपास्यमान (उपासित) आदित्य आदि कर्मभूय (कर्मभाव-कर्मात्मकता) को प्राप्त होकर फल देंगे, वह कहना अयुक्त है। जिससे उपासना के स्वयं ही कर्मत्व होने से उसी से फल की सिद्धि होती है। आदित्यादिरूप से दृश्यमान (उपास्य) भी उद्गीथादि के कर्मात्मकत्व के नष्ट नहीं होने से उसमें फल की सिद्धि होती है, भाव है कि किसी तेजस्वी बालक को कहा जाता है कि यह बालक अग्नि है, तो वह वस्तुतः अग्नि नहीं हो जाता है, इसी प्रकार कर्माङ्ग कर्मरूप उद्गीथादि में आदित्यादि दृष्टि करने पर वे कर्माङ्ग वस्तुतः आदित्यादि नहीं हो जाते हैं, इससे अङ्गों में अनङ्ग-दृष्टि अविरुद्ध है। (वह यह अग्निरूप साम भूमिरूप ऋक के ऊपर स्थिर है) यह तो लाक्षणिक ही पृथिवी और अग्नि में ऋक् और साम

शब्द का प्रयोग है, अनङ्ग में अङ्ग दृष्टि निमित्तक नहीं है। लक्षणा सम्भव के अनुसार सन्निकृष्ट वा विप्रकृष्ट (समीप वा दूर) स्वार्थ के सम्बन्ध से प्रवृत्त होती है। जैसे (गङ्गायां घोष:) यहाँ सन्निकृष्ट संयोग-सम्बन्ध से लक्षणा होती है, (अग्निर्माणवक:) यहां शुचित्वादि गुणवत्त्वादि द्वारा लक्षणा होती है। वैसे ही ऋक् साम में पृथिवी अग्नि-दृष्टि पक्ष में भी ऋक् साम में पृथिवी अग्नि दृष्टिरूप सम्बन्ध से ही ऋगादि पद की पृथिवी आदि में लक्षणा है। यहाँ यद्यपि ऋक् और साम में पृथिवी और अग्निदृष्टि करने की इच्छा है, तो भी प्रसिद्ध ऋक् और साम के भेद से, अनुकीर्तन से (पृथक् कथन से) और पृथिवी तथा अग्नि के सन्निधान से उस पृथिवी अग्नि में ही (एतस्यामृच्यध्यूढंसाम) यह ऋक् साम शब्द का प्रयोग है। ऋक् और साम के सम्बन्ध से ऐसा निश्चय किया जाता है। भाव है कि (तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते) यह पृथक् प्रसिद्ध ऋक् साम का प्रयोग है, एतस्यामृचि) यहाँ भी उनके ग्रहण से पुनरुक्ति होगी, इससे पृथिवी अग्नि के सन्निधान से पृथिवी और अग्नि में ही लाक्षणिक प्रयोग है। यदि कहो कि पृथिवी अग्नि में ऋक् साम की दृष्टि के बिना ऋक् साम पद का लक्षणा से प्रयोग हो तो क्षत्ता में भी राजदृष्टि के बिना राजशब्द का प्रयोग होना चाहिये तो कहा जाता है कि रथचर्या आदि किसी कारण से सारथि शब्द भी राजविषयक प्रयुक्त होता हो तो उसका वारण नहीं कर सकते हैं। दूसरी बात है कि प्रयोग देखने पर निमित्त कहना चाहिए। निमित्त के होने से प्रयोग की प्राप्ति नहीं की जाती है। (यही ऋक् है) यह वाक्य अक्षरविन्यास (वाक्यरचना) के अनुसार ऋक् के ही पृथिवीत्व का अवधारण करता है कि यही पृथिवी ही ऋक्स्वरूप है। पृथिवी के ऋक्त्व के अवधार्यमाण (अवधारण का विषय) होने पर तो (यह ऋक् ही है) इस प्रकार का अक्षरों का विन्यास होगा। (जो इस प्रकार जानने वाला होता हुआ साम का गान करता है यह वाक्य अङ्गरूप आश्रय वाला विज्ञान का उपसंहार करता है। पृथिवी आदि के आश्रित विज्ञान का उपसंहार नहीं करता है।

तथा 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) इति। यद्यपि सप्तमीनिर्दिष्टा लोकास्तथापि साम्न्येव तेऽध्यस्येरन्द्वितीयानिर्देशेन साम्न उपास्यत्वावगमात्। सामनि हि लोकेष्वध्यस्यमानेषु साम लोकात्मनोपासितं भवति, अन्यथा पुनर्लोकाः सामात्मनोपासिताः स्युः। एतेन 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २।११।१) इत्यादि व्याख्यातम्। तत्रापि तुल्यो द्वितीया-निर्देशः—'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २।९।१) इति, तत्रापि 'समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु' (छा० २।१।१) 'इति तु पञ्च-विधस्य' (छा० २।७।२) 'अथ सप्तविधस्य' (छा० २।८।१) इति च साम्न एवोपास्यत्वोपक्रमात्तस्मिन्नेवादित्याद्यध्यासः। एतस्मादेव च साम्न उपास्यत्वा-वगमात् 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २।२।१) इत्यादिनिर्देशविपर्ययेऽपि हिंकारा-

दिष्वेव पृथिव्यादिदृष्टिः। तस्मादनङ्गाश्रया आदित्यादिमतयोऽङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्निति सिद्धम् ॥ ६ ॥

इसी प्रकार (लोकों में पाँच प्रकार के सामों की उपासना करे) इस वाक्य में यद्यपि सप्तमी विभक्तियुक्त पद से लोक निर्दिष्ट हैं, तो भी साम में ही वे लोक अध्यस्त होंगे, अर्थात् लोकदृष्टि से साम की ही उपासना होगी, जिससे द्वितीया विभक्ति के निर्देश से साम के उपास्यत्व का अवगम-ज्ञान होता है। जिससे साम में लोकों के अध्यस्यमान (अध्यस्त) होने पर लोकरूप से साम उपासीत (ध्यात) होता है। अन्यथा होने पर तो लोक सामरूप से उपासित होंगे, लोकों की उपासना की जायगी तो द्वितीया विभक्ति असङ्गत होगी। इसीसे (प्राणों में यह गायत्र साम प्रोत है) इत्यादि भी व्याख्यात हो गया। अर्थात् इन वाक्यों में सप्तमी विभक्ति के भंग द्वारा लोकरूप से साम की उपासना करे प्राणरूप से गायत्र-साम उपास्य है यह अर्थ है। अन्यथा सप्तमी द्वितीया दोनों विभक्ति का भंग करना पड़ेगा। जहाँ भी तुल्य ही द्वितीया विभक्ति का निर्देश है कि (इस आदित्य की सप्तविध सामरूप से उपासना करे) इति। वहाँ भी (समस्त साम की उपासना ही साधु—श्रेष्ठ है) यह तो पञ्चविध साम की उपासना है। (अब सप्तविध साम की कही जाती है) इस प्रकार साम के ही उपास्यत्व के उपक्रम से उस साम में ही आदित्य का अध्यास होता है। इस साम के उपास्यत्व के अवगम से ही (पृथिवी हिंकार है) इत्यादि निर्देश के विपर्यय में भी हिंकारादि में ही पृथिवी आदि दृष्टि कर्तव्य है, जिससे अनङ्ग आश्रित (अनङ्गविषयक) आदित्यादि बुद्धियाँ उद्गीथादि अंगों में क्षिप्त (अध्यस्त) होंगी यह सिद्ध हुआ ॥६॥

आसीनाधिकरणम् (६)

नास्त्यासनस्य नियम उपास्तावुत विद्यते। न देहस्थितिसापेक्षं मनोऽतो नियमो नहि ॥१॥
शयनोत्थानगमनैर्विक्षेपस्यानिवारणात्। धीसमाधानहेतुत्वात् परिशिष्यत आसनम् ॥२॥

आसीन (विशेष आसनयुक्त बैठे हुए) से उपासना ध्यान निदिध्यासन के सम्भव होने से आसीन हो करके ही उपासना ध्यान करे। संशय है कि उपासना में आसन का नियम नहीं है (अथवा नियम है) पूर्वपक्ष है कि उपासना मानस-धर्म है, शारीरिक नहीं है। मन अपने कार्य में देह की स्थिति की अपेक्षा नहीं करता है, इससे उपासना में आसन का नियम नहीं है। सिद्धान्त है कि उपासना के मानस होते भी चञ्चल मन से उपासना नहीं होती है और शयन, उत्थान (खड़े रहना) तथा गमन से मन के विक्षेप (चंचलता) का निवारण नहीं होता है। इससे बुद्धि के समाधान (चंचलता-रहित एकाग्रता) के हेतुत्व से आसन कर्तव्यरूप से परिशेष रहता है, इससे उपासना में आसन का नियम है ॥ १–२ ॥

आसीनः संभवात् ॥ ७ ॥

कर्माङ्गसम्बद्धेषु तावदुपासनेषु कर्मतन्त्रत्वान्नासनादिचिन्ता, नापि सम्य-

ग्दर्शने वस्तुतन्त्रत्वाद्विज्ञानस्य। इतरेषु तूपासनेषु किमनियमेन तिष्ठन्नासीनः शयानो वा प्रवर्तेतेति नियमेनासीन एवेति चिन्तयति। तत्र मानसत्वादुपानस्यानियमः शरीरस्थितेरिति।

कर्मों के बैठकर, खड़े होकर कितने प्रकार से अनुष्ठान के देखने से, और कर्माङ्ग से सम्बन्ध वाले उपासनाओं के कर्माधीन होने से कर्मसम्बद्ध उपासनाओं में आसन की चिन्ता (विचार) नहीं की जाती है। विज्ञान के वस्तु के अधीन होने से सम्यक् दर्शन में भी आसन की चिन्ता नहीं की जाती है। इतर उपासनाओं में चिन्ता करते हैं कि क्या अनियम से खड़े होते हुए, बैठे हुए वा सोये हुए उपासना में प्रवृत्त हो। अथवा नियम से बैठे हुए ही प्रवृत्त हो। यहाँ पूर्वपक्ष है कि उपासना के मानस होने से शरीर की स्थिति का अनियम है।

एवं प्राप्ते ब्रवीति—आसीन एवोपासीतेति। कुतः ? सम्भवात्। उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणं, नच तद्गच्छतो धावतो वा सम्भवति गत्यादीनां चित्तविक्षेपकरत्वात्। तिष्ठतोऽपि देहधारणे व्यापृतं मनो न सूक्ष्मवस्तुनिरीक्षणक्षमं भवति। शयानस्याप्यकस्मादेव निद्रयाभिभूयते। आसीनस्य त्वेवंजातीयको भूयान्दोषः सुपरिहर इति सम्भवति तस्योपासनम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि आसीन होकर—बैठ कर ही उपासना करे, क्योंकि बैठ कर ही उपासना का होना सम्भव है। जिससे समान (तुल्य) ज्ञान का प्रवाह करना उपासना कही जाती है। गति आदि के चित्त के विक्षेपकारक होने से चलते वा दौड़ते हुए की उस उपासना का सम्भव नहीं है। खड़े हुए का भी देह के धारण में व्यापारयुक्त मन सूक्ष्म वस्तु के निरीक्षण में समर्थ नहीं होता है। सोये हुए का मन भी अकस्मात् ही निद्रा से अभिभूत (तिरस्कृत-लीन) होता है। आसीन (बैठे) के तो इस प्रकार के बहुत दोष सुख से निवारण किये जाते हैं। इससे उस आसीन की उपासना का सम्भव होता है ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

अपिच ध्यायत्यर्थ एष यत्समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्। ध्यायतिश्च प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचित्तेषूपचर्यमाणो दृश्यते, ध्यायति बको ध्यायति प्रोषितबन्धुरिति, आसीनश्चानायासो भवति। तस्मादप्यासीनकर्मोपासनम् ॥ ८ ॥

जो समान ज्ञान का प्रवाह करना रूप उपासना है, यह ध्यायति (ध्यै-चिन्तायाम्) इस धातु का अर्थ रूप है। अर्थात् ध्यानरूप उपासना है। प्रशिथिल (निवृत्त) अङ्ग चेष्टा वाले, प्रतिष्ठित (स्थिर) दृष्टि वाले, एक विषय में आक्षिप्त (स्थापित) चित्त वालों में ध्यायति शब्द उपचार से प्रयुक्त देखा जाता है, कि बक ध्यान करता है,

प्रोषित बन्धु वाला ध्यान करता है। आसीन अनायास (आयासरहित ध्याता) होता है, इससे भी आसीन का कर्म रूप उपासना है ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

अपिच 'ध्यायतीव पृथिवी' (छा० ७।६।१) इत्यत्र पृथिव्यादिष्वचलत्वमेवापेक्ष्य ध्यायतिवादो भवति, तच्च लिङ्गमुपासनस्यासीनकर्मत्वे ॥ ९ ॥

(ध्यान करती हुई के समान पृथिवी निश्चल दिखती है) इस श्रुति में पृथिवी आदि में अचलत्व ही की अपेक्षा करके ध्यायति का कथन है। वह उपासना का आसीन के कर्मत्व में लिङ्ग है ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

स्मरन्त्यपि च शिष्टा उपासनाङ्गत्वेनासनम्—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी० ६।११) इत्यादिना। अत एव पद्मकादीनामासनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे ॥ १० ॥

शिष्ट लोग उपासना के अङ्गरूप से आसन का स्मरण (कथन भी करते हैं (शुचिदेश में अपने स्थिर आसन को प्रस्थापित करके योग का अभ्यास करे) इत्यादि से। आसीन के ध्यान सम्भव से ही योगशास्त्र में पद्म-सिद्ध आदि आसनों का उपदेश है ॥ १० ॥

एकाग्रताधिकरणम् (७)

दिग्देशकालनियमो विद्यतेथ न विद्यते। विद्यते वैदिकत्वेन कर्मण्येतस्य दर्शनात् ॥ १ ॥
एकाग्र्स्याविशेषेण दिगादिर्न नियम्यते। 'मनोनुकूल' इत्युक्तेर्दृष्टार्थं देशभाषणम् ॥ २ ॥

उक्त उपासनाएँ कहाँ कर्तव्य हैं ? जहाँ कि एकाग्रता हो सके वहाँ अविशेष विधि से कर्तव्य हैं। अर्थात् इनके लिए कर्मों के समान विशेष देश-कालादि का अदृष्टार्थक विधान नहीं है। इससे दृष्टफल एकाग्रता जिस देश-काल में हो वहाँ कर्तव्य हैं। संशय है कि दिशा, देश और काल का नियम उपासना में है, अथवा नहीं है। पूर्वपक्ष है कि वैदिक कर्म दर्श-पूर्णमास-अग्निहोत्रादि में इस देशादि नियम के देखने से और इस उपासना के भी वैदिक कर्म होने से देश-कालादि का नियम है। सिद्धान्त है कि एकाग्र की उपासना सिद्ध होती है उसमें अविशेषरूप से दिशा आदि सामान्य कारण हैं, चाहे किसी दिशा-देश-काल में उपासना की जा सकती है, इससे विशेष दिशा आदि नियमित नहीं किये जाते हैं। (मनोऽनुकूले) इत्यादि उक्ति से भी दृष्टार्थक देश का भापण है, कर्म के समान अदृष्टार्थक देश का नियम नहीं ॥ १–२ ॥

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

दिग्देशकालेषु संशयः—किमस्ति कश्चिन्नियमो नास्ति वेति। प्रायेण वैदि-

केष्वारम्भेषु दिगादिनियमदर्शनात्स्यादिहापि कश्चिन्नियम इति यस्य मतिस्तं प्रत्याह दिग्देशकालेष्वर्थलक्षण एव नियमः। यत्रैवास्य दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत, प्राचीदिक्पूर्वाह्णप्राचीनप्रवणादिवद्विशेषाश्रवणात्, एकाग्रताया इष्टायाः सर्वत्राविशेषात्। ननु विशेषमपि केचिदामनन्ति—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले नतु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

(श्वे० २।१०) इति यथेति। उच्यते—सत्यमस्त्येवंजातीयको नियमः। सति त्वेतस्मिंस्तद्गतेषु विशेषेष्वनियम इति सुहृद्भूत्वाचार्य आचष्टे। 'मनोनुकूले' इति चैषा श्रुतिर्यत्रैकाग्रता तत्रैवेत्येतदेव दर्शयति॥ ११॥

दिशा, देश और काल विषयक संशय है कि उपासना में पूर्वादि दिशा, तीर्थादि देश और प्रदोषादि काल का क्या कोई नियम है अथवा नहीं है। यहाँ प्रायः वैदिक आरम्भों (कर्मों) में दिशा आदि का नियम देखने से यहाँ भी कोई नियम होगा, ऐसी जिसकी मति (बुद्धि) है, उसके प्रति कहते हैं कि दिशा, देश और कालविषयक दृष्ट एकाग्रतारूप अर्थ (फल) रूप लक्षण वाला ही नियम है, अर्थात्, एकाग्रता फलरूप लिङ्ग वाला एकाग्रता से आक्षिप्त नियम है, कि जिस दिशा, देश वा काल में इस उपासक के मन की एकाग्रता सुकरता (सुगमता) से अनायास हो, उसी दिशा आदि में उपासना करे। क्योंकि (प्राचीनप्रवणं प्राग्देशे निम्नस्थाने वैश्वदेवं कुर्यात्) पूर्व तरफ जहाँ नीची भूमि हो ऐसे पूर्वदेश निम्नस्थान में वैश्वदेव कर्म करे—इत्यादि के समान, पूर्वदिशा, पूर्वाह्णकाल, प्राचीनप्रवण (पूर्व तरफ निम्नतायुक्त) देश इत्यादि विशेष का यहाँ श्रवण नहीं है। दृष्ट एकाग्रता की भी सर्वत्र अविशेषता-तुल्यता है। इससे जहाँ एकाग्रता हो वहाँ उपासना करे। यदि कहा जाय कि कोई विशेष का भी कथन करते हैं, जैसे कि (सम, पवित्र, शर्करा-कंकर, अग्नि, बालू से रहित, शब्द और अतिनिकट जलाशयादि से रहित, मन के अनुकूल, चक्षुःपीडन-मशक से रहित, गुहातुल्य वातरहित स्थान के आश्रयण करने पर चित्त को परमात्मा में लगावे इति) तो कहा जाता है कि इस प्रकार का नियम सत्य ही है, परन्तु इस नियम के रहते भी तद्गत विशेषों में अनियम है, यह सुहृद होकर आचार्य कहता है। (मनोऽनुकूले) यह श्रुति जहाँ एकाग्रता हो, वहाँ उपासना करे इसी बात को दर्शाता है॥ ११॥

आप्रायणाधिकरणम् (८)

उपास्तीनां यावदिच्छमावृत्तिः स्यादुताऽऽमृति। उपास्त्यर्थाभिनिर्वृत्तेर्यावदिच्छं नतूपरि॥
अन्त्यप्रत्ययतो जन्म भाव्यतस्तत्प्रसिद्धये। आमृत्यावर्तनं न्याय्यं सदा तद्भाववाक्यतः॥

उक्त उपासनाएँ मरणपर्यन्त कर्तव्य होती हैं जिससे उस मरणपर्यन्त उपासना विषयक भी दृष्ट (श्रुतिरूप दर्शन) है कि (प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत) इत्यादि।

यहाँ संशय है कि उपासनाओं की आवृत्ति इच्छापर्यन्त इच्छा के अनुसार होगी, अथवा मरणपर्यन्त होगी। पूर्वपक्ष है कि इच्छापर्यन्त आवृत्ति से ही चित्त की एकाग्रता रूप उपासना शब्द के अर्थ की सिद्धि से उसके बाद में आवृत्ति नहीं करनी चाहिए। सिद्धान्त है कि उपासना के फलरूप भावी जन्म अन्तिम (मरणकालिक) प्रत्यय से होता है, इससे उस भावी जन्म की सिद्धि के लिए मरणपर्यन्त आवृत्ति न्याययुक्त है, वह (सदा तद्भावभावितः) इस भगवद्वचन से भी सिद्ध होता है ॥ १—२ ॥

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

आवृत्तिः सर्वोपासनेष्वादर्तव्येति स्थितमाद्येऽधिकरणे। तत्र यानि तावत्सम्यग्दर्शनार्थान्युपासनानि तान्यवघातादिवत्कार्यपर्यवसानानीति ज्ञातमेवैषामावृत्तिपरिमाणम्, नहि सम्यग्दर्शने कार्ये निष्पन्ने यत्नान्तरं किंचिच्छासितुं शक्यम्। अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात्, यानि पुनरभ्युदयफलानि तेष्वेषा चिन्ता—किं कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमावर्त्योपरमेदुत यावज्जीवमावर्तयेदिति। किं तावत्प्राप्तम्? कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमभ्यस्योत्सृजेदावृत्तिविशिष्टस्योपासनशब्दार्थस्य कृतत्वादिति।

सब उपासनाओं में आवृत्ति आदरणीय है यह आद्य (प्रथम) अधिकरण में स्थिर (निश्चित) किया गया है। उन उपासनाओं में जो उपासनायें सम्यक् दर्शनार्थक हैं वे तो अवघात के समान दर्शनरूप कार्यात्मक अवसान (समाप्ति) वाली हैं, इससे इनकी आवृत्ति का परिमाण ज्ञात ही है। जिससे सम्यग् दर्शनरूप कार्य के सिद्ध होने पर अन्य किसी यत्न का वहाँ शासन (उपदेश) नहीं किया जा सकता है। क्योंकि अनियोज्य (अप्रेर्य) ब्रह्मविषयक आत्मत्व की प्रतिपत्ति (अनुभव) जिसको हुआ है, वह अनियोज्य ब्रह्मविषयक आत्मत्व-प्रतिपत्तिवाला, शास्त्र का अविषय होता है। इसलिए उसके शास्त्र के अविषयत्व से उसको उपदेश नहीं दिया जा सकता है। फिर भी जो उपासनाएँ अभ्युदयरूप फलवाली हैं, उनके विषय में यह चिन्ता (विचार) है कि क्या कितने कुछ कालों तक प्रत्यय की आवृत्ति करके उपरत (निवृत्त) हो जाय, अथवा जीवनपर्यन्त आवृत्ति करता रहे। प्रथम प्राप्त क्या है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि कुछ काल तक प्रत्यय की आवृत्ति करके त्याग दे, क्योंकि आवृत्तियुक्त उपासना शब्द के अर्थ को आवृत्ति से कृतत्व (सिद्धत्व) हो गया।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आप्रायणादेवावर्तयेत्प्रत्ययम्, अन्त्यप्रत्ययवशाददृष्टफलप्राप्तेः। कर्माण्यपि हि जन्मान्तरोपभोग्यं फलमारभमाणानि तदनुरूपं भावनाविज्ञानं प्रायणकाले आक्षिपन्ति, 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' 'यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति, प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः, तृणजलूकानिदर्शनाच्च। प्रत्ययास्त्वेते स्वरूपानुवृत्तिं मुक्त्वा किमन्यत्प्रायणकालभावि भावनाविज्ञानमपेक्षेरन्। तस्माद्ये

प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकाः प्रत्ययास्तेष्वाप्रायणादावृत्तिः। तथाच श्रुतिः— 'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' इति प्रायणकालेऽपि प्रत्ययानुवृत्तिं दर्शयति। स्मृतिरपि—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः॥ (गी० ८।६)

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि अन्तिम प्रत्यय के बल से अदृष्ट फल की प्राप्ति होने से मरणपर्यन्त प्रत्यय की आवृत्ति करे। जिससे जन्मान्तर में उपभोग के योग्य फल को आरम्भ करने वाले कर्म भी उस फल के अनुरूप (सदृश) भावनामय विज्ञान को मरण-काल में आक्षेप (प्राप्त) करते हैं। वह मरण-काल में सविज्ञान-भावनामय विज्ञान-फल के स्फुरणसहित होता है। विज्ञानसहित ही फल को फिर अवक्रमण (गमन-प्राप्ति) करता है। मरण-काल में जिस लोकादिविषयक चित्तवाला होता है, उस संकल्पमय चित्त के सहित यह जीव मुख्य प्राण में लीन होता है। वह प्राण (तेजो ह वाव उदानः) इस श्रुतिकथित उदानरूप तेज के साथ युक्त होकर और जीवात्मा-सहित होकर उसी जीवात्मा को यथासंकल्पित-संकल्प के अनुसार लोक में प्राप्त कराता है, इत्यादि श्रुतियों से और तृण-जलूकारूप दृष्टान्त से, उक्तार्थ सिद्ध होता है। ये उपासनारूप प्रत्यय तो अपने स्वरूप की आवृत्ति को छोड़ कर किस अन्य मरण-काल में रहने वाले भावनामय विज्ञान की अपेक्षा करेंगे, अर्थात् कर्म के समान अदृष्ट की अपेक्षा उपासनाएँ नहीं करती हैं किन्तु अन्त-काल में भी दृष्ट प्रत्यय की आवृत्ति की ही फलोत्पत्ति के लिये अपेक्षा करती हैं, इससे प्राप्त करने योग्य फल-विषयक भावनास्वरूप जो प्रत्यय हैं, उनके विषय में मरणपर्यन्त आवृत्ति कर्तव्य है। इसी प्रकार की श्रुति है कि (वह उपासक जीव जितना जैसा क्रतु संकल्पवाला होकर इस लोक से गमन करता है, उस संकल्प से युक्त ही परलोक में प्राप्त होकर फल को प्राप्त करता है), यह श्रुति मरण-काल में भी प्रत्यय की अनुवृत्ति को दर्शाती है। स्मृति भी है कि (हे कौन्तेय ! जिस-जिस भी भाव-देवादि का स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर को त्यागता है सदा उसकी भावना से भावित, वासित चित्तवाला होता हुआ उसी-उसी भाव को प्राप्त होता है, अन्य को नहीं।)

इति 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन' (गी० ८।१०) इति च। 'सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत' इति च मरणवेलायामपि कर्तव्यशेषं श्रावयति॥ १२॥

(मरण-काल में अचल मन से परपुरुष का स्मरण करता हुआ दिव्य परपुरुष को प्राप्त करता है) और (वह उपासक अन्तकाल में, अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि, इन तीन मन्त्रों का स्मरण करे) उक्त स्मृति और श्रुति भी मरणकाल में कर्तव्य-शेष सुनाती है॥ १२॥

तदधिगमाधिकरणम् (९)

ज्ञानिनः पापलेशोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगतः । आनाश इति शास्त्रेषु घोषाल्लोपोऽस्य विद्यते ॥
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्नैव न लिप्यते । अश्लेषनाशावप्युक्तावज्ञे घोषस्तु सार्थकः ॥

उस ब्रह्मात्मा के अधिगम अपरोक्ष होने पर आगामी अघ (पाप) का अश्लेष (असंबन्ध) होता है । पूर्व के संचित पाप का नाश होता है, उसका श्रुति-स्मृति में व्यपदेश से यह समझा जाता है । ज्ञानी को शरीरादि-कृत पाप का लेप (भोग) होता है अथवा नहीं होता है—यह संशय है । पूर्वपक्ष है कि (नाभुक्तं क्षीयते कर्म) इत्यादि शास्त्र के अनुसार उपभोग के बिना पाप का नाश नहीं होता है, यह शास्त्रों में घोष (कथन) है, इससे इस ज्ञानी को लेप होता है । सिद्धान्त है कि अकर्त्ता, असंग, आत्मा के ज्ञान से ज्ञात आत्मवस्तु की महिमा से ही ज्ञानी में पाप लिप्त नहीं होता है । पुष्करपलाश के समान अलेप तथा इषीकातूल का अग्नि से नाश के समान नाश भी श्रुति में कहे गये हैं । इससे अनाश का कथन अज्ञ में सार्थक है ॥ १—२ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

गतस्तृतीयशेषः । अथेदानीं ब्रह्मविद्याफलं प्रति चिन्ता प्रतायते । ब्रह्माधिगमे सति तद्विपरीतफलं दुरितं क्षीयते न क्षीयते वेति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? फलार्थत्वात्कर्मणः फलमदत्त्वा न संभाव्यते क्षयः । फलदायिनी ह्यस्य शक्तिः श्रुत्या समधिगता । यदि तदन्तरेणैव फलोपभोगमपवृज्येत श्रुतिः कदर्थिता स्यात् । स्मरन्ति च 'नहि कर्माणि क्षीयन्त' इति । नन्वेवं सति प्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थकः प्राप्नोति । नैष दोषः । प्रायश्चित्तानां नैमित्तिकत्वोपपत्तेर्गृहदाहेष्ट्यादिवत् । अपिच प्रायश्चित्तानां दोषसंयोगेन विधानाद्भवेदपि दोषक्षपणार्थता, नत्वेवं ब्रह्मविद्यायां विधानमस्ति । नन्वनभ्युपगम्यमाने ब्रह्मविदः कर्मक्षये तत्फलस्यावश्यं भोक्तव्यत्वादनिर्मोक्षः स्यात् । नेत्युच्यते । देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भविष्यति । तस्मान्न ब्रह्मविद्याधिगमे दुरितनिवृत्तिरिति ।

तृतीय अध्याय का शेष साधनसम्बन्धी विचार समाप्त हो गया । इसके बाद अब ब्रह्मविद्या के फलविषयक विचार का विस्तार किया जाता है । यहाँ संशय है कि ब्रह्म के अधिगम (अपरोक्ष) होने पर, उससे विपरीत फलवाला पाप नष्ट होता है, अथवा नहीं नष्ट होता है । प्रथम प्राप्त क्या होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष होता है कि कर्म के फलार्थक होने से फल दिये बिना उसके क्षय की संभावना नहीं होती है । जिससे इस पापकर्म की फल देने वाली शक्ति (मा हिंस्यात्, ब्राह्मणो न हन्तव्यः) हिंसा नहीं करे । ब्राह्मण हिंसायोग्य नहीं है इत्यादि निषेध-श्रुतियों से समधिगत (ज्ञात) होती है । वह कर्म यदि फलभोग के बिना ही नष्ट हो जाय, तो श्रुति कदर्थित (अपमानित) होगी । स्मरण भी करते हैं कि (फल दिये बिना कर्म

नष्ट नहीं होते)। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर अर्थात् भोग के बिना पाप के नहीं नष्ट होने पर उस पाप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित कर्म का उपदेश अनर्थक प्राप्त (सिद्ध) होगा। तो कहा जाता है कि गृहदाह इष्टि आदि के समान प्रायश्चित्तों के नैमित्तिक कर्मत्व की उपपत्ति से यह अनर्थकतारूप दोष नहीं है। अर्थात् आहिताग्नि, अग्नि के आधानयुक्त, पुरुष के घर में अग्नि के लगने पर उसमें दाहरूप निमित्त से आठ कपाल में संस्कृत हवि का अर्पणरूप नैमित्तिक कर्म का विधान है, उससे अग्नि की निवृत्ति नहीं होती है। वैसे ही दोषरूप निमित्त के होने पर प्रायश्चित्त का विधान है, उससे दोषरूप पाप का नाश नहीं होता है। दूसरी बात है कि (दोषवान् प्रायश्चित्तं कुर्यात्) दोषवाला प्रायश्चित्त करे इत्यादि उपदेशों के अनुसार प्रायश्चित्तों का दोषसंयोगनिमित्तक विधान होने से जैसे मलनिमित्तक स्नान से मल की निवृत्ति होती है वैसे ही प्रायश्चित्त को दोषनाशरूप प्रयोजनवत्ता होगी भी। परन्तु ब्रह्मविद्या की इस प्रायश्चित्त के समान दोषसंयोग-निमित्तक विधि नहीं है। यदि कहा जाय कि ब्रह्मवेत्ता के कर्मक्षय के नहीं मानने पर उस कर्मफल की अवश्य भोक्तव्यता से मोक्ष नहीं होगा, तो कहा जाता है कि मोक्ष का अभाव नहीं होगा, किन्तु देशकाल-निमित्तों की अपेक्षापूर्वक कर्मफल के समान ज्ञान का फल मोक्ष होगा, जिससे ब्रह्मविद्या के अधिगम होने पर पाप की निवृत्ति नहीं होती है, यह पूर्वपक्ष (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) इत्यादि श्रुति को स्तुत्यर्थक मानकर किया गया है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः, उत्तरस्याश्लेषः, पूर्वस्य विनाशः। कस्मात् ? तद्व्यपदेशात्। तथाहि ब्रह्मविद्याप्रक्रियायां संभाव्यमानसंबन्धस्यागामिनो दुरितस्यानभिसंबन्धं विदुषो व्यपदिशति—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४।१४।३) इति। तथा विनाशमपि पूर्वोपचितस्य दुरितस्य व्यपदिशति—'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।३) इति। अयमपरः कर्मक्षयव्यपदेशो भवति —

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मु० २।२।८) इति।

उन श्रुतियों के अपूर्वार्थक और मानान्तर से विरुद्धादि नहीं होने से उनमें स्तावकत्व का असम्भव है। इस आशय से इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि तदधिगम-ब्रह्म के अधिगम (अनुभव) होने पर उत्तर के अघ का अश्लेष और पूर्व के अघ का विनाश होता है। इससे उत्तर-पूर्व के अघों के अश्लेष-विनाश होते हैं। यह किस हेतु से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि उसके व्यपदेश (कथन) से समझा जाता है। जिससे ब्रह्मविद्या के प्रकरण में जिसके सम्बन्ध की संभावना हो सकती है ऐसे आगामी पाप के साथ विद्वान् के असम्बन्ध को श्रुति इस प्रकार व्यपदेश (कथन)

करती है कि (जैसे कमल के पत्ते में जल नहीं लिप्त होता है, इसी प्रकार अक्षि आदित्यादि में असंग ब्रह्म को जाननेवाला में पाप कर्म नहीं लिप्त होता है), इसी प्रकार पूर्व के संचित पाप के विनाश का व्यपदेश करती है कि (जैसे मुञ्जेपीका तूल अग्नि में दिया हुआ शीघ्र नष्ट-दग्ध होता है, इसी प्रकार इस विद्वान् के सब पाप शीघ्र प्रदग्ध होते हैं, प्रारब्धभिन्न सब कर्म नष्ट होते हैं) निर्गुण-विद्याविषयक यह अन्य कर्मक्षय का व्यपदेश है कि (उस पर-अवर-कारणकार्यस्वरूप तथा अन्य से पर हिरण्यगर्भ भी जिससे अवर हैं उस परब्रह्म के अपरोक्ष होने पर इस विद्वान् के हृदय-ग्रन्थि—कामादि—नष्ट हो जाते हैं। सब संशय छिन्न हो जाते हैं, और इसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं)।

यदुक्तमनुपभुक्तफलस्य कर्मणः क्षयकल्पनायां शास्त्रं कदर्थितं स्यादिति। नैष दोषः। नहि वयं कर्मणः फलदायिनीं शक्तिमवजानीमहे, विद्यत एव सा, सा तु विद्यादिना कारणान्तरेण प्रतिबध्यत इति वदामः। शक्तिसद्भावमात्रे च शास्त्रं व्याप्रियेत, न प्रतिबन्धाप्रतिबन्धयोरपि, नहि कर्म क्षीयते इति। एतदपि स्मरणमौत्सर्गिकं न हि भोगादृते कर्म क्षीयते तदर्थत्वादिति, इष्यत एव तु प्रायश्चित्तादिना दुरितस्य क्षयः 'सर्वं पाप्मानं तरति' 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। यत्तूक्तं नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि भविष्यन्तीति। तदसत्। दोषसंयोगेन चोद्यमानानामेषां दोषनिर्घातफलसंभवे फलान्तरकल्पनानुपपत्तेः।

जो यह कहा था कि फलभोग-रहित कर्म के क्षय की कल्पना करने पर शास्त्र कदर्थित (विरुद्धार्थक) होगा, यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, जिससे हम कर्म की फल देनेवाली शक्ति की अवज्ञा (अनादर-अस्वीकार) नहीं करते हैं, वह शक्ति तो है ही, परन्तु वह कर्म की शक्ति विद्या आदि रूप अन्य कारण से प्रतिबद्ध हो जाती है, यह बात कहते हैं। कर्म में फल देने वाली शक्ति के सद्भाव (अस्तित्व) मात्र में शास्त्र अपना व्यापार करेगा, शक्ति की सत्ता का बोध करायेगा, परन्तु फलवती शक्ति के प्रतिबन्ध और अप्रतिबन्ध में शास्त्र व्यापार नहीं करेगा। कर्म क्षीण नहीं होता है यह स्मृति शास्त्र भी औत्सर्गिक (सामान्य) स्वरूप है। भोग के बिना कर्म क्षीण नहीं होता है, क्योंकि तदर्थत्व (भोगार्थकत्व) कर्म को है। भोगार्थक होने से भोग के बिना कर्म का नाश नहीं होता है इस सामान्य शास्त्र का विशेष शास्त्र से बाध-अपवाद होने से प्रायश्चित्तादि से दुरित (पाप) का क्षय (नाश) मानना तो इष्ट ही है। वह (सब पाप को तरता है, जो अश्वमेध यज्ञ करता है, जो इसको इस प्रकार जानता है वह ब्रह्महत्या को तरता है) इत्यादि श्रुति-स्मृति से प्रायश्चित्त को पाप-नाशकत्व सिद्ध होता है। जो वह कहा था कि गृहदाहेष्टि के समान प्रायश्चित्त कर्म नैमित्तिक हैं, वह कहना असत् है जिससे दोष के संयोग से शास्त्र से विहित इन

का दोषों का—प्रायश्चित्तों का नाशरूप फल के संभव रहते फलान्तर के कल्पना की अनुपपत्ति है।

यत्पुनरेतदुक्तं न प्रायश्चित्तवद्दोषक्षयोद्देशेन विद्याविधानमस्तीति। अत्र ब्रूमः—सगुणासु तावद्विद्यासु विद्यावत एव विधानम्, तासु च वाक्यशेष ऐश्वर्यप्राप्तिः पापनिवृत्तिश्च विद्यावत उच्यते, तयोश्चाविवक्षाकारणं नास्तीत्यतः पाप्मप्रहाणपूर्वकैश्वर्यप्राप्तिस्तासां फलमिति निश्चीयते। निर्गुणायां तु विद्यायां यद्यपि विधानं नास्ति तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात्कर्मप्रदाहसिद्धिः। अश्लेष इति चागामिषु कर्मसु कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्मविदिति दर्शयति। अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञानात्कर्तृत्वं प्रतिपेद इव तथापि विद्यासामर्थ्यान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तेस्तान्यपि प्रविलीयन्ते इत्याह विनाश इति। पूर्वप्रसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वस्वरूपविपरीतं हि त्रिष्वपि कालेष्वकर्तृत्वाभोक्तृत्वस्वरूपं ब्रह्माहमस्मि नेतः पूर्वमपि कर्ता भोक्ता वाहमासं नेदानीं नापि भविष्यत्काल इति ब्रह्मविदवगच्छति। एवमेव च मोक्ष उपपद्यते। अन्यथा ह्यनादिकालप्रवृत्तानां कर्मणां क्षयाभावे मोक्षाभावः स्यात्। नच देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भवितुमर्हति, अनित्यत्वप्रसङ्गात्। परोक्षत्वानुपपत्तेश्च ज्ञानफलस्य। तस्माद् ब्रह्माधिगमे दुरितक्षय इति स्थिरम्॥ १३॥

फिर जो यह कहा था कि प्रायश्चित के समान दोषक्षय को उद्देश करके (दोष की निवृत्ति के लिए) विद्या का विधान नहीं है। यहाँ कहते हैं कि सगुण विद्याओं में तो दोषक्षय को उद्देश्य (लक्ष्य) करके विधान है ही, और उन सगुण विद्याओं में वाक्यशेष में विद्यावाले को ऐश्वर्य (अणिमादि-विभूति) की प्राप्ति और पाप की निवृत्ति कही जाती है। उन दोनों फलों की अविवक्षा में कोई कारण नहीं है, कि जिससे उनका स्वीकार नहीं किया जाय। इससे पापों की निवृत्ति नाशपूर्वक ऐश्वर्य की प्राप्ति उन सगुण विद्याओं का फल है, ऐसा निश्चय किया जाता है। निर्गुण विद्या में तो यद्यपि दोषक्षय को उद्देश्य करके वा अन्य किसी प्रकार का विधान (विधि) नहीं है, तथापि अकर्तृस्वरूपत्व के बोध से कर्मप्रदाह (कर्मनाश) की सिद्धि होती है। अर्थात् अविद्या की निवृत्ति से अविद्यामूलक कर्मादि का अभाव होता है। सूत्रगत अश्लेष इस शब्द से दर्शाते हैं कि आगामी कर्मों में ब्रह्मवेत्ता कर्तृत्व को ही नहीं प्राप्त होता है। सब व्यापार को संघाताश्रित देखता हुआ विद्वान् अपने को कर्ता नहीं मानता है। सूत्रगत विनाश इस शब्द से कहते हैं कि अतिक्रान्त (भूत-संचित) कर्मों में तो यद्यपि मिथ्याज्ञान से ज्ञानोत्पत्ति के पूर्वकाल में कर्तृत्व को प्राप्त के समान हुआ था, तथापि विद्या के सामर्थ्य से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने से मिथ्याज्ञान-निमित्तक वे विद्वान् के अतिक्रान्त पाप भी प्रविलीन (अत्यन्त नष्ट) हो जाते हैं। जिससे-पूर्वकाल में प्रसिद्ध कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वरूप से विपरीत ही ब्रह्मवेत्ता अपने को समझता है

कि तीनों ही काल में अकर्तृत्व-अभोक्तृत्वस्वरूप ब्रह्म मैं हूँ। मैं इससे पूर्वकाल में भी कर्ता वा भोक्ता नहीं था, न इस समय कर्ता-भोक्ता हूँ, न भविष्यत्-काल में ही कर्ता वा भोक्ता हो सकता हूँ। इस प्रकार के ज्ञान से कर्मों के क्षय होने ही से शास्त्रों में प्रसिद्ध मोक्ष भी उपपन्न (सिद्ध) होता है। अन्यथा तो अनादिकाल से प्रवृत्त अनन्त कर्मों के भोगादि द्वारा सर्वथा क्षय के अभाव से मोक्ष का अभाव होगा। कर्मफल के समान देश-काल और निमित्त की अपेक्षावाला मोक्ष होने योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से मोक्ष में कर्मफल के समान अनित्यत्व की प्राप्ति होगी। देशादि की अपेक्षापूर्वक मोक्ष के होने पर स्वर्गादि के समान परोक्षत्व की प्राप्ति होगी और ज्ञान के प्रत्यक्ष ही वस्तु की अभिव्यक्तिरूप फल होने से ज्ञान के फल के परोक्षत्व की अनुपपत्ति से भी देश-काल निमित्त की अपेक्षावाला मोक्ष नहीं हो सकता है। इससे ब्रह्म के अधिगम होने पर पाप का नाश होता है, यह स्थिर हुआ ॥ १३ ॥

इतरासंश्लेषाधिकरणम् (१०)

पुण्येन लिप्यते नो वा लिप्यतेऽस्य श्रुतत्वतः। नहि श्रौतेन पुण्येन श्रौतं ज्ञानं विरुध्यते ॥
अलेपो वस्तुसामर्थ्यात् समानः पुण्यपापयोः। श्रुतं पुण्यं पापतया तरणं च समं श्रुतम् ॥

उक्त अघ के समान उससे इतर (भिन्न) पूर्वपरकालिक पुण्य का भी ज्ञान होने पर अश्लेष और विनाश होता है वह उसका व्यपदेश से अवगत होता है। इस कर्म-क्षय से ही प्रारब्धान्त में ज्ञानी के देह के पात होने पर विदेह-कैवल्य-ब्रह्मसम्पत्ति कहेंगे। संशय है कि ज्ञानी पुण्य कर्म से लिप्त होता है अथवा नहीं लिप्त होता है। पूर्वपक्ष है कि पुण्य के श्रुतिसिद्ध होने से पुण्य से ज्ञानी लिप्त होता है। ज्ञान से पाप के समान पुण्य नष्ट भी नहीं होता है, क्योंकि श्रुतिसिद्ध पुण्य के साथ श्रुतिसिद्ध ज्ञान को विरोध नहीं है, और विरोध के बिना नाश्य-नाशक भाव नहीं देखा गया है। सिद्धान्त है कि असंग आत्मस्वरूप से स्थिर ज्ञानी में असङ्ग वस्तु के सामर्थ्य से पुण्य-पाप दोनों का समान-तुल्य ही अलेप (सम्बन्धाभाव) होता है। श्रुति में पुण्य भी पाप रूप से (सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते) इस वचन में सुना गया है। तथा (उभे उ हैवैष एते तरति) इस वचन में पुण्य और पाप के तुल्य तरण सुना गया है। इससे पुण्य का भी पाप के समान अश्लेष और विनाश होता है ॥ १–२ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे बन्धहेतोरघस्य स्वाभाविकस्याश्लेषविनाशौ ज्ञाननिमित्तौ शास्त्रव्यपदेशान्निरूपितौ। धर्मस्य पुनः शास्त्रीयत्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोध इत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय पूर्वाधिकरणन्यायातिदेशः क्रियते। इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मण एवमघवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः। कुतः? तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धित्वप्रसङ्गात्। 'उभे उ हैवैष एते

तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिषु च दुष्कृतवत्सुकृतस्यापि प्रणाशव्यपदेशात्। अकर्त्रात्मत्वबोधनिमित्तस्य च कर्मक्षयस्य सुकृतदुष्कृतयोस्तुल्यत्वात् 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० २।२।८) इति चाविशेषश्रुतेः। यत्रापि केवल एव पाप्मशब्दो दृश्यते तत्रापि तेनैव पुण्यमप्याकलितमिति द्रष्टव्यम्, ज्ञानफलापेक्षया निकृष्टफलत्वात्। अस्ति च श्रुतौ पुण्येऽपि पाप्मशब्दः 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' (छा० ८।४।१) इत्यत्र सह दुष्कृतेन सुकृतमप्यनुक्रम्य सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्त इत्यविशेषेणैव प्रकृते पुण्ये पाप्मशब्दप्रयोगात्। पाते त्विति तुशब्दोऽवधारणार्थः। एवं धर्माधर्मयोर्बन्धहेत्वोर्विद्यासामर्थ्यादश्लेषविनाशसिद्धेरवश्यंभाविनी विदुषः शरीरपाते मुक्तिरित्यवधारयति ॥ १४ ॥

पूर्व अधिकरण में बन्ध के हेतु स्वाभाविक पाप के ज्ञाननिमित्तक (ज्ञानजन्य) अश्लेष और विनाश शास्त्र के व्यपदेश (वचन) से निरूपित (प्रतिपादित) हुए हैं। फिर भी धर्म के शास्त्रसिद्ध होने से शास्त्रसिद्ध ज्ञान के साथ धर्म का अविरोध है, इसमें धर्म का ज्ञान से नाश नहीं होगा, ऐसी आशंका करके उस आशंका का निराकरण करने के लिए पूर्व अधिकरण के न्याय का अतिदेश (सम्बन्ध) किया जाता है कि इतर-पुण्य कर्म का भी इसी प्रकार अघ के समान ज्ञानी के साथ अश्लेष और विनाश होते हैं, क्योंकि उस पुण्य को भो अपने फल के हेतुत्व द्वारा ज्ञानफल के प्रतिबन्धकत्व का प्रसंग होता है। अर्थात् पुण्य के फल-भोग से भी मोक्ष का अभाव होता है। इस कारण से और (यह ज्ञानी इन दोनों पुण्यरूप और पापरूप कर्मों को तरता है) इत्यादि श्रुतियों में पाप के समान पुण्य के भी प्रणाश का व्यपदेश (कथन) से तथा अकर्तृ-स्वरूपता के बोधनिमित्तक पुण्य-पापरूप कर्मों के क्षय की तुल्यता से (इस ज्ञानी के कर्म क्षीण होते हैं) इस प्रकार अविशेष (सामान्य) रूप से कर्ममात्र की निवृत्ति के श्रवण से भी ज्ञानी के पाप के समान पुण्य भी नष्ट होते हैं। जहाँ भी केवल पाप शब्द ही दीखता है, वहाँ भी उस पाप शब्द से ही पुण्य भी गृहीत है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि ज्ञान के फल की अपेक्षा से पुण्यफल को निकृष्टत्व है, इससे वह भी पापतुल्य है। श्रुति में पुण्य में पाप शब्द का प्रयोग है (इस आत्मारूप विधारक सेतु को दिन-रात्रि नहीं तरते हैं परिच्छिन्न व्याप्त नहीं करते हैं) इस स्थान में दुष्कृत के साथ सुकृत का भी अनुक्रमण (कथन) करके (इस आत्मस्वरूप हेतु से सब पाप निवृत्त हो जाते हैं) इस प्रकार अविशेष (सामान्य) रूप से ही प्रकृत पुण्य में पाप शब्द के प्रयोग से पुण्य का भी ग्रहण होता है। 'पाते तु' यहाँ तु शब्द अवधारणार्थक है। इससे इस प्रकार विद्या की सामर्थ्य से बन्ध के हेतु धर्म और अधर्म के अश्लेष और विनाश की सिद्धि होने से विद्वान् के शरीरपात होने पर अवश्य होने वाली मुक्ति है, इस प्रकार अवधारण करते हैं ॥ १४ ॥

अनारब्धाधिकरणम् (११)

आरब्धे नश्यतो नो वा संचिते इव नश्यतः । उभयत्राप्यकर्तृत्वतद्बोधौ सदृशौ खलु ॥ १ ॥
आदेहपातं संहारश्रुतेरनुभवादपि । इषुचक्रादिदृष्टान्तात् नैवारब्धे विनश्यतः ॥ २ ॥

पूर्व के पुण्य और पाप दो स्वरूप वाले होते हैं, एक तो अपने कार्य को आरम्भ किए रहते हैं कि जिनको प्रारब्धकर्म कहते हैं, जिनसे जन्म, आयु, भोग वर्तमान में मिलते हैं, उनका विद्या से नाश नहीं होता है किन्तु भोग से ही नाश होता है। किन्तु अनारब्ध कार्य वाले पूर्व के संचित पुण्य-पाप ही ज्ञान से नष्ट होते हैं, उनके सर्वथा नाश का ज्ञान अवधि है और ज्ञानी के शरीर का पात विदेह कैवल्य में अवधि है। यहाँ संशय है कि प्रारब्धरूप पुण्य-पाप नष्ट होते हैं, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि आत्मा के अकर्तृत्व और उसका बोधरूप नाश के हेतु आरब्ध-अनारब्ध दोनों में तुल्य हैं। इससे सञ्चित के समान प्रारब्ध कर्मरूप पुण्य-पाप भी ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं, तो भो चक्रवेग के समान शरीर कुछ देर के लिए रहता है। सिद्धान्त है कि देहपात-पर्यन्त संसार की श्रुति से और अनुभव से तथा इषुचक्र-वेगादि के दृष्टान्तों से प्रारब्ध-धर्म भोग के बिना ज्ञान से नहीं नष्ट होते हैं ॥ १–२ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

पूर्वयोरधिकरणयोर्ज्ञाननिमित्तः सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशोऽवधारितः, स किमविशेषेणारब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवत्युत विशेषेणानारब्धकार्ययोरेवेति विचार्यते। तत्र 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्येवमादिश्रुतिष्वविशेषश्रवणादविशेषेणैव क्षय इति।

पूर्व के दो अधिकरणों में ज्ञाननिमित्तक सुकृत और दुष्कृत का विनाश अवधारित (निश्चित) किया गया है। वह विनाश क्या अविशेष रूप से आरब्ध कर्मवाले और अनारब्ध कार्यवाले सब कर्मों का होता है अथवा विशेष रूप से अनारब्ध कार्य वाले का ही नाश होता है, यह विचार किया जाता है। वहाँ (यह ब्रह्मवेत्ता पुण्यरूप और पापरूप दोनों ही इन कर्मों को तरता है) इत्यादि श्रुतियों में अविशेष (सामान्य) श्रवण से अविशेषरूप से सब कर्म का क्षय होता है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होता है।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अनारब्धकार्ये एव त्विति। अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तरसंचिते अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात्क्षीयेते नत्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले याभ्यामेतद्ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम्। कुत एतत् ? 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति शरीरपातावधिकरणात्क्षेमप्राप्तेः। इतरथा हि ज्ञानादशेषकर्मक्षये सति स्थितिहेत्वभावाज्ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव क्षेममश्नुवीत, तत्र शरीरपातप्रतीक्षां नाचक्षीत। ननु वस्तुबलेनैवायमकर्त्रात्मावबोधः कर्माणि

क्षपयन्कथं कानिचित्क्षपयेत्कानिचिन्नोपेक्षेत। नहि समानेऽग्निबीजसंपर्के केषांचिद् बीजशक्तिः क्षीयते केषांचिन्न क्षीयत इति शक्यमङ्गीकर्तुमिति। उच्यते—न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यं कर्माशयं ज्ञानोत्पत्तिरुपपद्यते। आश्रिते च तस्मिन्कुलालचक्रवत्प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रतिबन्धासंभवाद्भवति वेगक्षय-प्रतिपालनम्। अकर्त्रात्मबोधोऽपि हि मिथ्याज्ञानबाधनेन कर्माण्युच्छिनत्ति, बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत्संस्कारवशात्कंचित्कालमनुवर्तत एव। अपिच नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदा कंचित्कालं शरीरं ध्रियते न वा ध्रियत इति। कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत। श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरुच्यते। तस्मादना-रब्धकार्ययोरेव सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय इति निर्णयः॥ १५॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं (अनारब्धकार्ये एव तु) इति। पूर्व के जन्मों में संचित (उपार्जित) और इस जन्म में भी ज्ञान की उत्पत्ति से प्रथम संचित पूर्वकाल के अप्रवृत्त फलवाले ही पुण्य और पाप ज्ञान की प्राप्ति से क्षीण होते हैं और प्रारब्धफल-वाले, सामि-अर्द्धभुक्त फलवाले जिनसे यह ब्रह्मज्ञान का आश्रय जन्म निर्मित हुआ है, वह पुण्य-पाप नहीं निवृत्त होते हैं, यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? तो कहा जाता है कि (उस आचार्यवाला अविद्यारहित की तबतक ही सत् सम्पत्ति में देर है कि जबतक देह से विमुक्त नहीं होता है। देह से विमुक्त होते ही वह सत् में सम्पन्न हो जाता है) इस प्रकार क्षेम (मोक्ष) की प्राप्ति के शरीरपात की अवधि करने से उक्तार्थ सिद्ध होता है। अन्यथा ज्ञान से सब कर्म के नाश होने पर तो शरीरादि की स्थिति के हेतु के अभाव से ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर ही ज्ञानी क्षेम को प्राप्त करेगा, तो वहाँ शरीरपात की प्रतीक्षा को श्रुति नहीं कहती। यदि कहा जाय कि यह अकर्तास्वरूप आत्मा का अवबोध (अनुभव) वस्तुबल के ही कर्मों को नष्ट करता हुआ किस प्रकार से कितने कर्मों को नष्ट करेगा और कितने की उपेक्षा कर देगा, नाश किए बिना कितनों को कैसे छोड़ेगा, जिससे अग्नि और बीज के सम्पर्क (सम्बन्ध) तुल्य होते किसी बीज की बीजशक्ति नष्ट होती है, किसी की नहीं नष्ट होती है, ऐसा स्वीकार नहीं कर सकते हैं, इत्यादि। तो कहा जाता है कि आरब्ध कार्यवाले कर्माशय का आश्रयण (शरीरधारणादि) किए बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं उपपन्न (सिद्ध) होती है। उस कर्माशय के आश्रित करने पर कुलालचक्र के समान प्रवृत्त (उत्पन्न) वेगवाले कर्मों का मध्य में प्रतिबन्ध-निरोध के असम्भव से वेगक्षय का प्रतिपालन (प्रतीक्षण) होता है। अकर्ता-स्वरूप आत्मा का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान अज्ञान के बाध द्वारा कर्मों का उच्छेद करता है। बाधित भी मिथ्याज्ञान दो चन्द्रमा के ज्ञान के समान संस्कार के वश से कुछ काल तक अनुवर्तमान रहता ही है। दूसरी बात है कि ब्रह्मवेत्ता से कुछ काल तक शरीर का धारण किया जाता है, अथवा नहीं

धारण किया जाता है, इस विषय में विवाद नहीं करना चाहिए। जिससे एक पुरुष से जिसका अपने हृदय से प्रत्यय (ज्ञान) होता है ऐसा स्वहृदय से प्रत्ययवाला ब्रह्म के वेदन (ज्ञान) का और देह के धारण का अन्य से कैसे प्रतिक्षेप (निषेध) किया जा सकता है। अर्थात् अन्य को उसका अनुभव नहीं है। अनुभव बिना विधि-निषेध नहीं हो सकता है। श्रुति-स्मृति में स्थितप्रज्ञ के लक्षण के कथन द्वारा यही बाधितानुवृत्ति कही जाती है। प्रारब्ध का ज्ञान से अनाश कहा जाता है। इससे अनारब्ध कार्यवाले ही सुकृत और दुष्कृत का विद्या के सामर्थ्य से क्षय होता है यह निर्णय है ॥ १५ ॥

अग्निहोत्राद्यधिकरणम् (१२)

नश्येन्नो वाऽग्निहोत्रादि नित्यं कर्म विनश्यति। यतोऽयं वस्तुमहिमा न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥१॥
अनुषक्तफलांशस्य नाशोप्यन्यो न नश्यति। विद्यायामुपयुक्तत्वात् भाव्यश्लेषस्तु काम्यवत् ॥२॥

अन्य कर्मों का ज्ञान से नाश होता है परन्तु नित्य-नैमित्तिक अग्निहोत्रादि तो अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा विविदिषा के जननपूर्वक उस ज्ञान के कार्य मोक्ष के ही लिए होता है, इससे उसका ज्ञान से नाश नहीं होता है, अर्थात् वह ज्ञान में उपयुक्त होकर स्वयं निवृत्त हुआ रहता है, इससे उसकी ज्ञान से निवृत्ति नहीं होती है, वह तद्विषयक श्रुति के दर्शन से जाना जाता है। संशय है कि अग्निहोत्रादि नित्यकर्म ज्ञान से नष्ट होगा अथवा नहीं होगा। पूर्वपक्ष है कि नित्यकर्म भी ज्ञान से नष्ट होता है। जिससे अकर्ता असंग निर्गुण आत्मवस्तु की महिमा से ही ज्ञान कर्म को नष्ट करता है और यह वस्तु की महिमा किसी कर्म के नाश में प्रतिहत (निरुद्ध) नहीं होती है। इससे वस्तु-महिमा से अग्निहोत्रादि को भी ज्ञान नष्ट करता है। सिद्धान्त है कि यद्यपि मीमांसक नित्य नैमित्तिक कर्म के अकरणजन्य प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति ही फल मानते हैं, तथापि वेदान्त में सकाम के स्वर्गादि के हेतु और निष्काम के चित्तशुद्धि के हेतु नित्य नैमित्तिक कर्म भी होते हैं। वहाँ सकाम अवस्था में किए गए नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुषक्त (काम के अनुषंग से प्राप्त होने वाले) गौण भाग के ज्ञान से नाश होने पर भी अन्य चित्त के शोधक मुख्य अंश का नाश नहीं होता है जो कि निष्काम अवस्था में किया गया रहता है, क्योंकि वह विद्या में उपयुक्त हुआ रहता है। इससे काम्यकर्म के समान ही नित्यादि का भी श्लेष नहीं होता है। स्वाभाविक भी नित्य नैमित्तिक कर्म पापनाशक और आनुषङ्गिक फलवाले माने जाते हैं वहां अनुषंग से प्राप्त फलप्रद अंश का ज्ञान से नाश होता है इत्यादि ॥ १–२ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशयोरघन्यायोऽतिदिष्टः सोऽतिदेशः सर्वपुण्यविषय इत्याशङ्क्य प्रतिवक्ति—अग्निहोत्रादि त्विति। तुशब्द आशङ्कामपनुदति यन्नित्यं कर्म वैदिकमग्निहोत्रादि तत्तत्कार्यायैव भवति, ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवास्यापि

कार्यमित्यर्थः। कुतः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिदर्शनात्। ननु ज्ञानकर्मणोर्विलक्षणकार्यत्वात्कार्यैकत्वानुपपत्तिः। नैष दोषः। ज्वरमरणकार्ययोरपि दधिविषयोर्गुडमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात्। तद्वत्कर्मणोऽपि ज्ञानसंयुक्तस्य मोक्षकार्योपपत्तेः। नन्वनारभ्यो मोक्षः कथमस्य कर्मकार्यत्वमुच्यते। नैष दोषः। आरादुपकारकत्वात्कर्मणः। ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते। अतएव चातिक्रान्तविषयमेतत्कार्यैकत्वाभिधानम्। नहि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि सम्भवति। अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात्। सगुणासु तु विद्यासु कर्तृत्वानिवृत्तेः सम्भवत्यागाम्यप्यग्निहोत्रादि। तस्यापि निरभिसन्धिनः कार्यान्तराभावाद्विद्यासङ्गत्युपपत्तिः॥ १६॥

पुण्य कर्म के भी अश्लेष और विनाशविषयक पापसम्बन्धी न्याय अतिदिष्ट हुआ है (अतिदेश से प्राप्त हुआ है) वह अतिदेश सब पुण्यविषयक है, ऐसी आशंका करके उसका प्रत्याख्यान करते हैं। कि (अग्निहोत्रादि तु) इति। तु शब्द आशंका का निवारण करता है, कि जो वैदिक वेदविहित नित्य कर्म अग्निहोत्रादि हैं, वे उस ज्ञान के कार्य के ही लिये होते हैं, अर्थात् जो ज्ञान का कार्य है, वही कार्य इस अग्निहोत्रादि का भी है, यह अर्थ है। वह जिससे समझा जाता है, तो कहते हैं कि (उस उपनिषद्गम्य इस आत्मा को वेदाध्ययन, यज्ञ और दान से ब्राह्मणादि जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुति के देखने से उक्तार्थ समझा जाता है। यदि कहा जाय कि ज्ञान और कर्म के विलक्षण (स्वाभाविक भेदयुक्त) कार्य के होने से दोनों के कार्य की एकता की अनुपपत्ति है तो कहा जाता है कि यह अनुपपत्तिरूप दोष नहीं है। जिससे ज्वर और मरणरूप कार्य वाले भी दधि और विष को गुण और मन्त्रशोधनादि से संयुक्त होने पर तृप्ति और पुष्टि कार्य देखा जाता है। वैसे ही ज्ञानसंयुक्त कर्म के भी मोक्षरूप कार्य की उपपत्ति होती है। इससे अनुपपत्तिरूप दोष नहीं है। यहाँ तक अभ्युपगमवाद है, आगे सिद्धान्त है। शंका होती है कि मोक्ष अनारभ्य-साधन से अजन्य-नित्य है, ज्ञान से उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। फिर इस मोक्ष को कर्म के कार्यत्व कैसे कहा जाता है। उत्तर है कि कर्म के मोक्ष में आरात् (दूर) उपकारकत्व से यह दोष नहीं है। जिससे सत्कर्म ज्ञान का ही प्रापक (हेतु) है, परन्तु प्रणाड़ी (परंपरा) से मोक्ष का कारण है, ऐसा उपचार (गौण व्यवहार) किया जाता है। इससे ज्ञान के बाद कर्म के अभाव से ही अतिक्रान्त पूर्वकर्मविषयक यह ज्ञान और कर्म के कार्य की एकता का कथन है, अर्थात् क्रमसमुच्चय है, समसमुच्चय नहीं है, जिससे ब्रह्मवेत्ता को आगामी (ज्ञान के बाद होनेवाले) अग्निहोत्रादि का सम्भव नहीं है। अनियोज्य (विधि का अविषय) ब्रह्मात्मता की प्रतीति से ब्रह्मवेत्ता को शास्त्र के अविषयत्व से अग्निहोत्रादि नहीं हो सकता है। परन्तु सगुण विद्याओं में कर्तृत्व की अनिवृत्ति से आगामी भी अग्नि-

होत्रादि का सम्भव है। निरभिसंधि (फलेच्छारहित) उस कर्म का भी (कार्यान्तर) फलान्तर के अभाव से उस कर्म को विद्या के साथ सङ्गति की उपपत्ति होती है, अर्थात् उससे विद्या उत्पन्न होती है ॥ १६ ॥

किंविषयं पुनरिदमश्लेषविनाशवचनं किंविषयं वाऽदोविनियोगवचनमेकेषां शाखिनाम् 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। अत उत्तरं पठति—

शंका होती है कि यदि अग्निहोत्रादि ज्ञान के हेतु हैं, तो फिर यह अश्लेष और विनाश-बोधक वचन किस कर्मविषयक हैं, अथवा एक शाखावालों का (उस ज्ञानी के पुत्र दाय-धन पाते हैं, मित्र पुण्य पाते हैं, शत्रु पाप पाते हैं) यह विनियोग (सम्बन्ध) वचन किस कर्मविषयक है। इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या या फलमभिसन्धाय क्रियते तस्या एष विनियोग उक्त एकेषां शाखिनाम् 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' इति। तस्या एव चेदमघवदश्लेषविनाशनिरूपणमितरस्याप्येवमश्लेष इति। एवंजातीयकस्य काम्यस्य कर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वे सम्प्रतिपत्तिरुभयोरपि जैमिनिबादरायणयोराचार्ययोः ॥ १७ ॥

इस अग्निहोत्रादि नित्य कर्म से अन्य भी पुण्य कर्म हैं, जो कि फल की इच्छा से किए जाते हैं, उन्हीं का यह विनियोग एक शाखावालों ने कहा है कि (उसके सुहृद उसके पुण्य पाते हैं) इत्यादि। उनका ही यह अश्लेष और विनाश का निरूपण किया गया है कि (इतरस्याप्येवमश्लेषः) इति। इस प्रकार के काम्यकर्मों के विद्या के प्रति अनुपकारकत्व के विषय में जैमिनि और बादरायण दोनों ही आचार्यों की सम्मति है तथा अग्निहोत्रादि से अन्य कर्म हैं जिससे एक शाखावाले ज्ञान के हेतु अग्निहोत्रादि से अन्य पुण्य और पाप दोनों का कथन करते हैं, सुहृद और शत्रु से ग्राह्य कहते हैं इत्यादि ॥ १७ ॥

विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम् (१३)

किमङ्गोपास्तिसंयुक्तमेव विद्योपयोग्युत। केवलं च प्रशस्तत्वात् सोपास्त्येवोपयुज्यते ॥१॥
केवलं वीर्यवद्विद्यासंयुक्तं वीर्यवत्तरम्'। इतिश्रुतेस्तारतम्यादुभयं ज्ञानसाधनम् ॥२॥

यदेव विद्यया—यह श्रुति विद्यायुक्त कर्म को अधिक बलयुक्त मात्र कहती है। विद्या-रहित की ज्ञानासाधनता को नहीं कहती है, इससे विद्या-(उपासना)-रहित भी कर्म निष्कामतायुक्त होने पर ज्ञान के साधन होते हैं। नित्य कर्म भी कर्माङ्गाऽश्रित उपासना-सहित और उपासनारहित दो प्रकार के होते हैं। यहाँ संशय होता है कि क्या अंग उपासनासहित ही कर्म विद्या के उपयोगी होते हैं, अथवा उपासनासहित और केवल

(उपासनारहित) दोनों साधारण रूप से विद्या के उपयोगी होते हैं। पूर्वपक्ष है कि विद्यासहित कर्म के प्रशस्त (श्रेष्ठ) होने से वही ज्ञान में उपयुक्त होता है। सिद्धान्त है कि केवल कर्म वीर्यवाला है, और विद्यायुक्त अधिक वीर्यवाला है, इस श्रुति से न्यूनाधिक भाव से दोनों ही ज्ञान के साधन हैं ॥ १-२ ॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

सुसमधिगतमेतदनन्तराधिकरणे नित्याग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेन कृतमुपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण सत्त्वशुद्धिकारणतां प्रतिपद्यमानं मोक्षप्रयोजनब्रह्माधिगमनिमित्तत्वेन ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति। तत्राग्निहोत्रादिकर्माङ्गव्यपाश्रयविद्यासंयुक्तं केवलं चास्ति। 'य एवं विद्वान्यजति' 'य एवं विद्वाञ्जुहोति' 'य एवं विद्वाञ्छंसति' 'य एवं विद्वानुद्गायति' 'तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं' (छा० ४।१७।१०) 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १।१।१०) इत्यादिवचनेभ्यो विद्यासंयुक्तमग्नि केवलमप्यस्ति। तत्रेदं विचार्यते—किं विद्यासंयुक्तमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षोर्विद्याहेतुत्वेन तया सहैककार्यत्वं प्रतिपद्यते न केवलमुत विद्यासंयुक्तं केवलं चाविशेषेणेति। कुतः संशयः? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इति यज्ञादीनामविशेषेणात्मवेदनाङ्गत्वेन श्रवणात्, विद्यासंयुक्तस्य चाग्निहोत्रादेर्विशिष्टत्वावगमात्। किं तावत्प्राप्तं? विद्यासंयुक्तमेव कर्माग्निहोत्राद्यात्मविद्याशेषत्वं प्रतिपद्यते न विद्याहीनम्, विद्योपेतस्य विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनात्, 'यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवंविद्वान्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (गी० २।३९) 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' (गी० २।४९) इत्यादिस्मृतिभ्यश्चेति।

अनन्तर पूर्वगत अधिकरण में यह सुसमधिगत (निश्चित) हुआ है कि मोक्षरूप प्रयोजन का उद्देश करके मुमुक्षु से किया गया नित्य अग्निहोत्रादि कर्म उपार्जित संचित पाप के क्षय के हेतुत्व द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि की कारणता को प्राप्त होता हुआ मोक्षरूप प्रयोजनवाला ब्रह्मज्ञान के निमित्तरूप से ब्रह्मज्ञान के साथ एक कार्यवाला होता है। वहाँ अग्निहोत्रादिरूप कर्म, अङ्गाश्रितविद्या से संयुक्त और केवल विद्यारहित भी होता है। (जो इस प्रकार जानने वाला यज्ञ करता है, जो ऐसा विद्वान् हवन करता है, जो ऐसा विद्वान् शंसन करता है, जो ऐसा विद्वान् उद्गान करता है, यथोक्त व्याहृति आदि को जानने वाला ब्रह्मा यज्ञादि की रक्षा करता है, इससे ऐसा जानने वाले को ही ब्रह्मा नामक ऋत्विक्त्व करे, ऐसा नहीं जाननेवाले को नहीं करे, उस ओंकार अक्षर के द्वारा दोनों कर्म करते हैं, जो इस अक्षर को रसतमादि रूप जानते हैं और जो नहीं जानते हैं) इत्यादि वचनों से विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि कर्म सिद्ध होते हैं, और केवल भी सिद्ध होते हैं। यहाँ यह विचार किया जाता है कि क्या विद्यासंयुक्त

ही अग्निहोत्रादि कर्म मुमुक्षु की विद्या के हेतुत्वरूप से विद्या के साथ एककार्यता को प्राप्त होते हैं (एक कार्य को सिद्ध करते हैं) और केवल अग्निहोत्रादि नहीं करते हैं। अथवा विद्यासंयुक्त और केवल अविशेषरूप से एक कार्यकारी विद्या के साथ होते हैं। यह संशय किस हेतु से होता है, तो कहा जाता है कि (उस उपनिषद्-गम्य इस आत्मा को यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं) इस प्रकार यज्ञादि के अविशेषरूप से आत्मज्ञान के अङ्गत्वरूप से, श्रवण से और विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि के विशिष्ट (श्रेष्ठता) के श्रवण से संशय होता है। प्रथम प्राप्त क्या होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि विद्यासंयुक्त ही अग्निहोत्रादिरूप कर्म आत्मविद्या के शेषत्व (अंगत्व) को प्राप्त होता है, विद्यारहित नहीं, क्योंकि विद्यारहित से विद्यायुक्त के विशिष्टत्व अधिकता) का ऐसा जानने वाला जिस दिन हवन करता है उसी दिन फिर अपमृत्यु को जीतता है) इत्यादि श्रुतियों से ज्ञान होता है। (हे पार्थ ! जिस योगविषयक बुद्धि से युक्त होकर कर्मरूप बन्धन को त्यागेगा।) (हे धनञ्जय ! मोक्षवाले समत्वबुद्धि योगात्मक कर्मयोग से कामी से किया गया कर्म बहुत दूर से ही अवर-अतिनिकृष्ट है) इत्यादि स्मृतियों से भी विद्यायुक्त के विशिष्टत्व का ज्ञान होता है।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—यदेव विद्ययेति हि। सत्यमेतत्। विद्यासंयुक्तं कर्माग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात्कर्मणोऽग्निहोत्राद्विशिष्टं विद्वानिव ब्राह्मणो विद्याविहीनाद् ब्राह्मणात्, तथापि नात्यन्तमनपेक्षं विद्याविहीनं कर्माग्निहोत्रादिकम्। कस्मात् ? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यविशेषेणाग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वेन श्रुतत्वात्। ननु विद्यासंयुक्तस्याग्निहोत्रादेर्विद्याविहीनाद्विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनमग्निहोत्राद्यात्मविद्याहेतुत्वेनानपेक्षमेवेति युक्तम्। नैतदेवम्। विद्यासहायस्याग्निहोत्रादेर्विद्यानिमित्तेन सामर्थ्यातिशयेन योगादात्मज्ञानं प्रति कश्चित्कारणत्वातिशयो भविष्यति न तथा विद्याविहीनस्येति युक्तं कल्पयितुम्, नतु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यत्राविशेषेणात्मज्ञानाङ्गत्वेन श्रुतस्याग्निहोत्रादेरनङ्गत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम्। तथाहि श्रुतिः—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति विद्यासंयुक्तस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्वीर्यवत्तरत्वाभिधानेन स्वकार्यं प्रति कंचिदतिशयं ब्रुवाणा विद्याविहीनस्य तस्यैव तत्प्रयोजनं प्रति वीर्यवत्त्वं दर्शयति। कर्मणश्च वीर्यवत्त्वं तद्यत्स्वप्रयोजनसाधनप्रसहत्वम्। तस्माद्विद्यासंयुक्तं नित्यमग्निहोत्रादि विद्याविहीनं चोभयमपि मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेनेह जन्मनि जन्मान्तरे च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतं यत्तद्यथासामर्थ्यं ब्रह्माधिगमप्रतिबन्धकारणोपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण ब्रह्माधिगमकारणत्वं प्रतिपद्यमानं श्रवणमननश्रद्धाध्यानतात्पर्याद्यन्तरङ्गकारणापेक्षं ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति स्थितम् ॥ १८ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादित किया जाता है कि (यदेव विद्ययेति हि) यह सत्य

कहना है कि विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि कर्म, विद्यारहित अग्निहोत्रादि कर्म से विशिष्ट हैं, जैसे कि विद्यारहित ब्राह्मण से विद्वान् ब्राह्मण विशिष्ट होता है। तो भी विद्यारहित अग्निहोत्रादि कर्म अत्यन्त अनपेक्ष (ज्ञान और मोक्ष में सर्वथा अनुपयोगी) नहीं हैं। क्योंकि (तमेतम्) इस श्रुति द्वारा अविशेषरूप से अग्निहोत्रादि के विद्याहेतुत्व के श्रवण से विद्यारहित अग्निहोत्रादि के ज्ञानहेतुत्व भी सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि की विद्यारहित से विशिष्टता (श्रेष्ठता) के ज्ञान होने से विद्या-रहित अग्निहोत्रादि विद्या के हेतुरूप से अनपेक्ष (अस्वीकार्य) हैं, ऐसा होना युक्त है तो कहा जाता है कि ऐसा युक्त नहीं है। किन्तु विद्यारूप सहायवाला (विद्यायुक्त) अग्नि-होत्रादि को विद्यानिमित्तक सामर्थ्य के अतिशय (अधिकता) के साथ योग (सम्बन्ध) से आत्मज्ञान के प्रति कोई कारणत्व का अतिशय (दृढ़ता) होगा और विद्यारहित अग्निहोत्रादि को उस प्रकार के कारणत्व का अतिशय नहीं होगा, इस प्रकार की कल्पना करना युक्त है। परन्तु (यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं) इस श्रुति में अविशेष (सामान्य) से आत्मज्ञान के अङ्गरूप से सुने गये अग्निहोत्रादि के विद्या की अनङ्गता का स्वीकार नहीं किया जा सकता है। जिससे इस प्रकार की श्रुति है कि-(विद्या, श्रद्धा और उपनिषद्—योग से युक्त होकर किसी कर्म को करता है, वही कर्म अतिबल-वाला होता है) यह श्रुति विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि कर्मों के वीर्यवत्तरत्व (अतिबल-वत्व) के कथन से उनके अपने कार्यों के प्रति किसी अतिशय को कहती हुई, विद्यारहित उन्हीं कर्मों के उस प्रयोजन के प्रति वीर्यवत्त्व को दर्शाती है। कर्म का वीर्यवत्त्व वह है कि जो अपने प्रयोजन (फल) के साधनों में प्रसहत्व (समर्थत्व) है। इससे यह स्थित-सिद्ध हुआ कि विद्यासंयुक्त और विद्याविहीन अग्निहोत्रादि दोनों हो नित्य कर्म इस जन्म में वा जन्मान्तर में ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व काल में सामर्थ्य के अनुसार और मोक्षरूप प्रयोजन को उद्देश्य करके जो मुमुक्षुसे किया गया रहता है, वह कर्म ब्रह्मविद्या के प्रति-बन्धक कारण उपार्जित पाप के क्षय के हेतुत्व के द्वारा ब्रह्मज्ञान के कारणत्व को प्राप्त होता हुआ श्रवण, मनन, श्रद्धा, ध्यान, तत्परता आदि रूप अन्तरंग कारणों की अपेक्षा-पूर्वक ब्रह्मविद्या के साथ एक कार्य वाला होता है ॥ १८ ॥

इतरक्षपणाधिकरणम् (१४)

बहुजन्मप्रदारब्धयुक्तानां नास्त्युतास्ति मुक्। विद्यालोपे कृतं कर्म फलदं नास्ति तेन मुक् ॥
आरब्धं भोजयेदेव नतु विद्यां विलोपयेत्। सुप्तबुद्धवदक्लेशतादवस्थ्यात् कुतो न मुक् ॥

पूर्वोक्त अनारब्ध कार्यों से इतर (आरब्ध कार्य वाले) प्रारब्ध कर्मरूप पुण्य और पाप को भोग से ही नष्ट करके विद्वान् ब्रह्म में सम्पन्न लीन होता है, जैसे नदियाँ समुद्र में लीन होती हैं। संशय है कि बहुत जन्म देने वाले प्रारब्धों से युक्त अधिकारियों की मुक्ति नहीं होती है अथवा होती है। पूर्व पक्ष है कि बार-बार जन्ममरणादि से विद्या के लोप होने पर उसके बाद किए गए कर्म फल देने वाले होंगे इससे उनकी मुक्ति नहीं

होगी ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि प्रारब्ध कर्म भोगमात्र के लिए होंगे, जन्मादि द्वारा भोग ही करायेंगे, विद्या का लोप नहीं करेंगे और अनेक बार सोकर जानने पर भी जैसे न विद्या का लोप होता है, न ज्ञानी के कृत कर्म का श्लेष होता है, उसी के समान जन्म-मरणादि होने पर भी भावी कर्म के अश्लेष की तदवस्था (वर्तमानता) से मोक्ष क्यों नहीं होगा, अवश्य होगा ॥ १–२ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥ १९ ॥

अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय उक्तः, इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छान्दो० ६।१४।२) इति 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः । ननु सत्यपि सम्यग्दर्शने यथा प्राग्देहपाताद्भेददर्शनं द्विचन्द्रदर्शनन्यायेनानुवृत्तमेवं पश्चादप्यनुवर्तेत । न । निमित्ताभावात् । उपभोगशेषक्षपणं हि तत्रानुवृत्तिनिमित्तं, नच तादृशमत्र किंचिदस्ति । नन्वपरः कर्माशयोऽभिनवमुपभोगमारप्स्यते । न । तस्य दग्धबीजत्वात् । मिथ्याज्ञानावष्टम्भं हि कर्मान्तरं देहपाते उपभोगान्तरमारभते तच्च मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धकार्यक्षये विदुषः कैवल्यमवश्यं भवतीति ॥ १९ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरक-मीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

अनारब्ध कार्यवाले पुण्य और पाप का विद्या के सामर्थ्य से नाश कहा जा चुका है, उससे इतर आरब्ध कार्यवाले पुण्य और पाप दोनों को उपभोग से क्षय करके ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप होता है । वह (उस ज्ञानी को उतने ही काल तक सतसम्पत्ति में देर है कि जब तक देहपात नहीं हुआ है, देह का पात होते ही वह सतसम्पन्न होता है । जीवित-दशा में ही ब्रह्म ही होता हुआ ज्ञानी शरीरपात होने पर ब्रह्म में लीन होता है) इत्यादि श्रुतियों से उक्तार्थ सिद्ध होता है । यदि कहा जाय कि सम्यग्दर्शन के रहते भी जैसे देहपात से पूर्वकाल में दो चन्द्रदर्शन न्याय से भेददर्शन अनुवृत्त (वर्तमान) रहता है, इसी प्रकार पश्चात् देहपात के बाद भी भेददर्शन अनुवृत्त रहेगा । तो कहा जाता है कि देहपात के पश्चात् निमित्त के अभाव से भेददर्शन नहीं अनुवृत्त रहेगा । जिससे उस ज्ञान के पश्चात्काल में उपभोग-शेष का क्षपण (भोग से नाशन) ही भेददर्शन की अनुवृत्ति का निमित्त है । इस देहपात के उत्तरकाल में उस भेद-दर्शन की अनुवृत्ति का वैसा कोई निमित्त (कारण) नहीं है । यदि कहा जाय कि अन्य कर्माशय अभिनव (नूतन) भोग का फिर आरम्भ करेगा, तो कहा जाता है कि (क्लेशमूलः कर्माशयः । सति मूले तद्विपाकः) इस योगसूत्रादि के अनुसार अविद्यारूप क्लेशात्मक मूलवाला कर्माशय होता है, और क्लेशरूप मूल के रहते ही उस कर्माशय का विपाक (फल) होता है, इससे ज्ञानाग्नि से उस कर्माशय के बीजरूप क्लेशों के

दग्ध (नष्ट) हो जाने से कर्माशय नूतन भोग का आरम्भ नहीं करता है। जिससे मिथ्याज्ञानरूप अवष्टम्भ (अवलम्ब-आधार) वाला कर्मान्तर (प्रारब्ध से भिन्न कर्म) देह के पात होने पर अन्य उपभोग का आरम्भ करता है और ज्ञानी के वह मिथ्या-ज्ञान सम्यग्-ज्ञान से दग्ध हो जाता है। इससे वह साधु (सुन्दर) कथन है कि प्रारब्ध कर्म के उपभोग से क्षय होने पर विद्वान् का कैवल्य (निर्वाण-विदेहमोक्ष) अवश्य होता है ॥ १९ ॥

स्वधर्मपालनाद्धीशभक्त्या चाहारशोधनात् ।
विवेकपूर्वकाभ्यासवैराग्यजनिसम्भवः ॥
वैराग्याभ्यासतो योगी सदा भवति निर्मलः ।
तदा ज्ञात्वा निजात्मनं मुक्तो भवति सर्वथा ॥

चतुर्थ अध्याय में प्रथम पाद समाप्त ।

—:॰:—

चतुर्थेऽध्याये द्वितीयः पादः

[अत्र पादे उत्क्रान्तिगतिनिरूपणम्]

वागधिकरणम् (१)

वागादीनां स्वरूपेण वृत्त्या वा मानसे लयः । श्रुतिर्वाङ्मनसीत्याह स्वरूपे विलयस्ततः ॥
न लीयतेऽनुपादाने कार्यवृत्तिस्तु लीयते । वह्निवृत्तेर्जले शान्तेर्वाक्शब्दो वृत्तिलक्षकः ॥१॥

मरण के बाद उपासक की स्वर्गादि में प्राप्ति होती है, वह उत्क्रान्ति बिना नहीं हो सकती, इससे श्रुति में उत्क्रान्ति (ऊर्ध्वगमनार्थक शरीर से निष्क्रमण) का वर्णन है, यहाँ प्रथम वर्णन है कि वाक्-व्यापार मन में लीन होता है, वाक् तो स्वरूप से रहता ही है, परन्तु उसकी वृत्तिरूप व्यापार बोलना बन्द हो जाता है, यह मरणकाल में प्रत्यक्ष देखने से और श्रुति से समझा जाता है । यहाँ, सम्पद्यते, इस पद का पूर्वसूत्र में सम्बन्ध समझना चाहिए । यहाँ संशय है कि वाक् आदि इन्द्रियों का स्वरूप से मन में विलय होता है, अथवा वृत्ति द्वारा विलय होता है । पूर्वपक्ष है कि श्रुति (वाङ्मनसि) इस प्रकार कहती है, इससे वाक् आदि के स्वरूप का विलय होता है । सिद्धान्त है कि कोई कार्य उपादान से अन्य में स्वरूप से लीन नहीं होता है । परन्तु कार्य की वृत्ति उपादान से अन्य में भी लीन होती है, वह अग्नि की वृत्ति की जल में शान्ति से समझा जाता है । इससे श्रुति में वाक् शब्द लक्षणा द्वारा वृत्ति का बोधक है, क्योंकि मन वाक् का उपादान नहीं है, इससे मन के वाक् के स्वरूप का विलय नहीं हो सकता ॥ १–२ ॥

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

अथापरासु विद्यासु फलप्राप्तये देवयानं पन्थानमवतारयिष्यन्प्रथमं तावद्यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिक्रममन्वाचष्टे, समाना हि विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरिति वक्ष्यति । अस्ति प्रायणविषया श्रुतिः 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इति । किमिह वाच एव वृत्तिमत्या मनसि संपत्तिरुच्यते, उत वाग्वृत्तेरिति विशयः । तत्र वागेव तावन्मनसि सम्पद्यते इति प्राप्तम्, तथाहि श्रुतिरनुगृहीता भवति, इतरथा लक्षणा स्यात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा । तस्माद्वाच एवायं मनसि प्रलय इति ।

निर्गुण ब्रह्मात्मा के ज्ञान के फलकथन के अनन्तर (बाद में) अपरा (सगुण) विद्याओं में फल की प्राप्ति के लिए देवयान मार्ग का अवतारण (कथनारम्भ) करने वाले सूत्रकार प्रथम ही शास्त्र के अनुसार उत्क्रान्ति के क्रम का कथन करते हैं, जिससे सगुण के विद्वान् उपासक और अविद्वान् दोनों की तुल्य उत्क्रान्ति होती है, इससे विद्वान्

उपासक की भी उत्क्रान्ति का कथन करते हैं, और तुल्य उत्क्रान्ति होती है, यह आगे कहेंगे। यहाँ प्रायण (मरण) विषयक श्रुति है कि (हे सोम्य ! प्रयन्-म्रियमाण-मरता हुआ इस पुरुष की वाक् मन में लीन होती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज पर-देवता में सम्पन्न (लीन होता है)। यहाँ संशय होता है कि क्या इस श्रुति में वृत्तिवाली वाक् का ही मन में सम्पत्ति विलय कहा जाता है अथवा वाक् की वृत्ति का विलय कहा जाता है। यहाँ प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि वाक् ही मन में सम्पन्न (लीन) होती है। जिससे इसी प्रकार मानने से श्रुति अनुगृहीत होती है, इस प्रकार श्रुति का शक्यार्थ स्वीकृत होता है। इतरथा वृत्ति का लय मानने पर वाक् शब्द की लक्षणा होगी, और श्रुति लक्षणाविषयक संशय होने पर, श्रुति न्याययुक्त होती है, लक्षणा नहीं, इससे वाक् का ही यह मन में प्रलय कहा जाता है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यत इति। कथं वाग्वृत्तिरिति व्याख्यायते, यावता वाङ्मनसीत्येवाचार्यः पठति। सत्यमेतत्। पठिष्यति तु परस्तात् 'अविभागो वचनात्' (ब्र० सू० ४।२।१६) इति। तस्मादत्र वृत्त्युपशममात्रं विवक्षितमिति गम्यते। तत्त्वप्रलयविवक्षायां तु सर्वत्रैवाविभागसाम्यात्किं परत्रैव विशिंष्यादविभाग इति। तस्मादत्र वृत्त्युपसंहारविवक्षायां वाग्वृत्तिः पूर्वमुपसंह्रियते मनोवृत्ताववस्थितायामित्यर्थः। कस्मात् ? दर्शनात्। दृश्यते हि वाग्वृत्तेः पूर्वोपसंहारो मनोवृत्तौ विद्यमानायाम्, नतु वाच एव वृत्तिमत्या मनस्युपसंहारः केनचिदपि द्रष्टुं शक्यते। ननु श्रुतिसामर्थ्याद्वाच एवायं मनस्यप्ययो युक्त इत्युक्तम्। नेत्याह, अतत्प्रकृतित्वात्। यस्य हि यत उत्पत्तिस्तस्य तत्र प्रलयो न्याय्यो मृदीव शरावस्य। नच मनसो वागुत्पद्यते इति किंचन प्रमाणमस्ति। वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमाश्रयावपि दृश्येते। पार्थिवेभ्यो हीन्धनेभ्यस्तैजसस्याग्नेर्वृत्तिरुद्भवत्यप्सु चोपशाम्यति। कथं तर्ह्यस्मिन्पक्षे शब्दो वाङ्मनसि सम्पद्यते इति, अत आह शब्दाच्चेति। शब्दोऽप्यस्मिन्पक्षेऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादित्यर्थः ॥ १ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि वाक् की वृत्ति मन में लीन होती है, शंका होती है कि जब आचार्य (वाङ्मनसि) इस प्रकार पढ़ते हैं, तो वृत्ति का अध्याहार करके (वाक् वृत्ति मन में लीन होती है) ऐसा व्याख्यान कैसे किया जाता है। उत्तर है कि यहाँ वाङ्मनसि, ऐसा पढ़ते हैं, वह सत्य है, परन्तु आगे पढ़ेंगे कि (अविभागो वचनात्) इससे यहाँ वृत्ति के उपशम (निवृत्ति) मात्र विवक्षित है, ऐसा समझा जाता है। यहाँ भी तत्त्व के प्रलय की विवक्षा होने पर तो सर्वत्र ही अविभाग की तुल्यता से आगे ही अविभाग यह विशेषण क्यों देंगे, तत्त्वज्ञों के इन्द्रियों के स्वरूप का प्रलय विशेषरूप से क्यों कहेंगे, यदि यहाँ भी स्वरूप का प्रलय कहते हैं, इससे यहाँ ज्ञानी-अज्ञानी के तुल्य मरण के वर्णनकाल में वृत्ति के (उपसंहार की विवक्षा होने पर

मरण काल में मनोवृत्ति के अवस्थित (वर्तमान) रहते ही प्रथम वाक्वृत्ति उपसंहृत लीन होती है यह अर्थ है। परन्तु प्रथम वाक्वृत्ति लीन होती है, यह कैसे समझा जाता है। उत्तर है कि देखने से समझा जाता है। जिससे मनोवृत्ति के रहते वाक्वृत्ति का उपसंहार देखा जाता है। किन्तु वृत्तिवाली वाक् ही मन में उपसंहार किसी से भी देखा नहीं जा सकता है, जिससे वह अतीन्द्रिय है। यदि कहो कि श्रुति के सामर्थ्य से वाक् का ही यह मन में विलय युक्त है, यह कहा जा चुका है, तो कहते हैं कि मन में वाक् के प्रकृतित्व के अभाव से मन में वाक् का लय होना युक्त नहीं है जिससे मृत्तिका में शराव का विलय के समान, जिसकी जिससे उत्पत्ति होतो है, उसका उसी प्रकृति (उपादान) में प्रलय होना न्याययुक्त है। वाक् मन से उत्पन्न होती है, इस अर्थ मे कोई प्रमाण नहीं। वृत्ति के उद्भव और अभिभव (अभिव्यक्ति और तिरोभाव) तो प्रकृति से अन्याश्रित भी देखे जाते हैं। जिससे पार्थिव (पृथिवी के विकार) ईन्धनों से तैजस अग्नि की वृत्ति का उद्भव होता है और जल में वह वृत्ति उपशान्त (निवृत्त) होती हे। परन्तु ऐसा होने पर इस पक्ष में (वाक् मन में सम्पन्न होता है) यह शब्द (श्रुति) कैसे युक्त होगा, इससे कहते हैं कि (शब्दाच्च) वृत्ति और वृत्तिवाले में अभेद के उपचार से शब्द भी इस पक्ष में युक्त सिद्ध होता है यह अर्थ है, अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग हैं ॥ १ ॥

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

'तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः' (प्रश्न० ३।९) इत्यत्राविशेषेण सर्वेषामेवेन्द्रियाणां मनसि सम्पत्तिः श्रूयते। तत्राप्यत एव वाच इव चक्षुरादीनामपि सवृत्तिके मनस्यवस्थिते वृत्तिलोपदर्शनात्तत्त्वप्रलया-सम्भवाच्छब्दोपपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते। सर्वेषां करणानां मनस्युपसंहाराविशेषे सति वाचः पृथग्ग्रहणं वाङ्मनसि सम्पद्यत इत्युदाहरणानुरोधेन ॥ २ ॥

जिससे शरीर में बाहर प्रसिद्ध तेज उष्णता उदानरूप है, इससे उसके बाद शान्त तेज वाला मरणकाल में होता है, और उसके बाद मन में सम्पन्न इन्द्रियों के सहित फिर जन्मान्तर को जीव प्राप्त करता है। इस श्रुति में तुल्य रूप से सब इन्द्रियों की मन में सम्पत्ति (प्राप्ति) सुनी जाती है। वहाँ भी अतएव (इसी से) अर्थात् वाक् के समान चक्षु आदि को भी वृत्तिसहित अवस्थित मन में वृत्तिलोप के दर्शन से तत्त्व (स्वरूप) प्रलय के असम्भव से और शब्द की उपपत्ति से सब इन्द्रियाँ वृत्ति द्वारा ही मन का अनुसरण करती हैं, मन में लीन होती हैं। इस रीति से सब इन्द्रियों का मन में उपसंहार (वृत्तिलय) के तुल्य होते भी वाक् का पृथक् ग्रहण (वाङ्मनसि सम्पद्यते) इस श्रुतिरूप उदाहरण के अनुसार से किया गया है। वाक् के बाद सब इन्द्रियाँ मन में सम्पन्न होती हैं, यह उक्त दर्शन और शब्द से सिद्ध होता है। इस प्रकार स्पष्ट अक्षरार्थ प्रतीत होता है ॥ २ ॥

मनोधिकरणम् (२)

मनः प्राणे स्वयं वृत्त्या वा लीयेत स्वयं ततः । कारणान्नोदकद्वारा प्राणो हेतुर्मनः प्रति ॥
साक्षात्स्वहेतौ लीयेत कार्यं प्राणादिके न तु । गौणः प्राणादिको हेतुस्ततो वृत्तिलयो धियः ॥

(मनः प्राणे) इस उत्तर के वचन से यह इन्द्रियों के लय का आधाररूप मन वृत्ति के लय द्वारा ही प्राण में लीन होता है । मन प्राण में स्वयं स्वरूप में लीन होता है, अथवा वृत्ति द्वारा लीन होता है । पूर्वपक्ष है कि (अन्नमयं हि सोम्य मनः । आपोमयः प्राणः) इस श्रुति के अनुसार अन्न (पृथिवी) मन का कारण है, जल प्राण का कारण है और कार्य-कारण में अभेददृष्टि से मन अन्नरूप है, प्राण जलरूप है और अन्न का जल उपादान हैं; तो जिससे कारणरूप अन्न और जल के द्वारा प्राण मन के प्रति हेतु है, इससे मन स्वरूप से प्राण में लीन होगा । सिद्धान्त है कि कोई कार्य साक्षात् अपने उपादान-हेतु में लीन होगा, परम्परा से हेतु प्राणादि में नहीं लीन होगा । परम्परा से हेतुरूप प्राण गौण हेतु है, इससे प्राण में अन्तःकरण की वृत्ति का ही विलय होता है ॥ १–२ ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

समधिगतमेतत् 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' (छा० ६।८।६) इत्यत्र वृत्तिसम्पत्तिविवक्षेति । अथ यदुत्तरं वाक्यम् 'मनः प्राणे' (छा० ६।८।६) इति किमत्रापि वृत्तिसम्पत्तिरेव विवक्षिता उत वृत्तिमत्संपत्तिरिति विचिकित्सायां वृत्तिमत्संपत्तिरेवात्रेति प्राप्तम्, श्रुत्यनुग्रहात्तत्प्रकृतित्वोपपत्तेश्च । तथाहि–'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' (छा० ६।५।४) इत्यन्नयोनिं मन आमनन्त्यब्योनिं च प्राणम् 'आपश्चान्नमसृजन्त' इति श्रुतिः । अतश्च यन्मनः प्राणे प्रलीयतेऽन्नमेव तदप्सु प्रलीयतेऽन्नं हि मन आपश्च प्राणः प्रकृतिविकाराभेदादिति ।

यह अच्छी तरह से समझा गया कि (वाक् मन में सम्पन्न होता है) यहाँ पर वृत्ति की सम्पत्ति (विलय) विवक्षित है । उसके बाद जो आगे का वाक्य है कि (मन प्राण में सम्पन्न होता है) इति । क्या यहाँ भी वृत्ति की सम्पत्ति ही विवक्षित है, अथवा वृत्तिवाला की सम्पत्ति विवक्षित है, ऐसा संशय होने पर, श्रुति के अनुग्रह (अनुकूलता) से और प्राण को मन के प्रकृतित्व की उपपत्ति से यहाँ वृत्तिवाले की ही सम्पत्ति होती है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होता है । वह इस प्रकार प्राप्त है कि (हे सोम्य ! मन अन्न का विकार-कार्य है । प्राण जल का विकार है) इस प्रकार अन्नरूप योनि (उपादान) वाला मन को कहते हैं और जलरूप योनि वाला प्राण को कहते हैं । (जल ने अन्न को उत्पन्न किया) ऐसी श्रुति है, इससे जो मन प्राण में प्रलीन होता है, वह अन्न ही जल में प्रलीन होता है, जिससे अन्न ही मन है और जल ही प्राण है । प्रकृति और विकार के अभेद से ऐसा सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदप्यागृहीतबाह्येन्द्रियवृत्ति मनो वृत्तिद्वारेणैव प्राणे प्रलीयते इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम् । तथाहि सुषुप्सोर्मुमूर्षोश्च प्राणवृत्तौ परि-

स्पन्दात्मिकायामवस्थितायां मनोवृत्तीनामुपशमो दृश्यते। न च मनसः स्वरूपाप्ययः प्राणे संभवति अतत्प्रकृतित्वात्। ननु दर्शितं मनसः प्राणप्रकृतित्वम्। नैतत्सारम्। नहीदृशेन प्राणादिकेन तत्प्रकृतित्वेन मनः प्राणे सम्पत्तुमर्हति। एवमपि ह्यन्ने मनः सम्पद्येताप्सु चान्नमप्स्वेव च प्राणः। नह्येतस्मिन्नपि पक्षे प्राणभावपरिणताभ्योऽद्भ्यो मनो जायते इति किंचन प्रमाणमस्ति, तस्मान्न मनसः प्राणे स्वरूपाप्ययः। वृत्त्यप्ययेऽपि तु शब्दोऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादिति दर्शितम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि जिस मन ने बाह्य-इन्द्रिय-वृत्तियों को आगृहीत किया है। अर्थात् जिसमें बाह्य-इन्द्रिय वृत्तियों का विलय हो चुका है। वह मन भी वृत्ति द्वारा ही प्राण में प्रलीन होता है। इस प्रकार उत्तरवर्ती वाक्य से समझना चाहिये। जिससे इसी प्रकार सुषुप्सु और मुमूर्षु अर्थात् सोने की इच्छा वाले और मरणासन्न की परिस्पन्दात्मक-चलनात्मक प्राणवृत्तियों के वर्तमान रहते ही मन की वृत्तियों का उपशम-लय देखा जाता है। अतत्प्रकृतित्व—ये प्राणरूप प्रकृति वाला नहीं होने से मन के स्वरूप का विलय प्राण में सम्भव नहीं है। यदि कहो कि मन की अन्नरूपता और प्राण की जलरूपता से मन के प्राणप्रकृतित्व (प्राणकार्यत्व) प्रदर्शित कराया जा चुका है, तो कहा जाता है कि यह प्रदर्शन सार (सत्य) नहीं है। जिससे इस प्रकार के प्राणादिक (परम्परा से सिद्ध) तत्प्रकृतित्व (प्राणकार्यत्व) से मन प्राण में सम्पत्ति (लय) के योग्य नहीं हो सकता है। जिससे ऐसा होने पर भी अन्न में मन सम्पन्न होगा, जल में अन्न सम्पन्न होगा और जल ही में प्राण भी सम्पन्न होगा। इस पक्ष में भी प्राणरूप से परिणत जल से मन उत्पन्न होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, इससे प्राण में मन के स्वरूप का विलय नहीं होता है। वृत्ति के विलय होने पर भी तो वृत्ति और वृत्तिवाले में अभेद के उपचार (गौण व्यवहार) से शब्द (श्रुति) युक्त सिद्ध होता है। यह दर्शित कराया जा चुका है ॥ ३ ॥

अध्यक्षाधिकरणम् (३)

असोर्भूतेषु जीवे वा लयो भूतेषु तच्छ्रुतेः। 'स प्राणस्तेजसी'त्याह नतु जीव इति क्वचित् ॥१॥
एवमेवेममात्मानं प्राणायन्तीति च श्रुतेः। जीवे लीत्वा सहैतेन पुनर्भूतेषु लीयते ॥२॥

सब इन्द्रियों के सहित मन के लय का आधार वह प्राण अध्यक्षरूप जीवात्मा में सम्पन्न होता है, वह जीवात्मा के प्रति प्राणों के उपगम (पास गमन), अनुगमन और अवस्थान-(स्थिति)-रूप हेतुओं से ज्ञात होता है (एवमेवेममात्मानं सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति। बृ० ४।३।३८। तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। बृ० ४।४।२। सविज्ञानो भवति।४।४।२) ये श्रुतियाँ उपगमादि के बोधक हैं। वहाँ संशय है कि प्राण का भूतों में लय होता है, अथवा जीव में लय होता है। पूर्वपक्ष है कि भूतों में लय होता है यह श्रुति से सिद्ध होता है, जिससे सप्राण तेज में लीन होता है इस प्रकार श्रुति कहती है, परन्तु जीव में लीन होता है, इस प्रकार कहीं नहीं कहती है। सिद्धान्त है कि इस

प्रकार जीवात्मा के प्रति सब प्राण गमन करते हैं कि जैसे कहीं जाने की इच्छा वाले राजा के प्रति सूत आ गमन करते हैं। इस श्रुति से जीव में लीन होकर इस जीव के साथ फिर भूतों में लीन होते हैं ॥ १–२ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

स्थितमेतद्यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन्वृत्तिप्रलयो न स्वरूपप्रलय इति। इदमिदानीं प्राणस्तेजसीत्यत्र चिन्त्यते—किं यथाश्रुति प्राणस्य तेजस्येव वृत्त्युपसंहारः किंवा देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीवे इति। तत्र श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात्प्राणस्य तेजस्येव सम्पत्तिः स्यादश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति।

यह स्थित हुआ कि जिसकी जिससे उत्पत्ति नहीं होती है उसमें उसकी वृत्ति का लय होता है, स्वरूप का लय उस में नहीं होता है। अब इस समय (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति में यह विचार किया जाता है कि क्या श्रुति के अनुसार प्राण का तेज में ही वृत्तिविलय होता है, अथवा देह इन्द्रियरूप पञ्जर (पिञ्जर) के अध्यक्ष (स्वामी) जीव में वृत्तिविलय होता है। यहाँ पूर्वपक्ष होता है कि श्रुति को अतिशंका (अतिक्रमण) के योग्य नहीं होने से तथा अश्रुत अर्थ की कल्पना की अयुक्तता से प्राण की तेज में ही सम्पत्ति (विलय) होती है।

एवं प्राप्त प्रतिपाद्यते सोऽध्यक्ष इति। स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षेऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञोपाधिके विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते। तत्प्रधाना प्राणवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। कुतः? तदुपगमादिभ्यः। एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति 'यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' इति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगामिनः सर्वान्प्राणानविशेषेण दर्शयति। विशेषेण च 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (बृ० ४।४।२) इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानुगामितां दर्शयति, तदनुवृत्तितां चेतरेषाम् 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इति। 'सविज्ञानो भवति' इति चाध्यक्षस्यान्तर्विज्ञानवत्त्वप्रदर्शनेन तस्मिन्नपीतकरणग्रामस्य प्राणस्यावस्थानं गमयति। ननु 'प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते कथं प्राणोऽध्यक्षे इत्यधिकावापः क्रियते। नैष दोषः। अध्यक्षप्रधानत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य श्रुत्यन्तरगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥ ४ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि (सोऽध्यक्षे) इति। वह प्रकृत-प्राण, अविद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा-(वासना)-रूप उपाधिवाले विज्ञानात्मा-(जीवात्मा) -रूप अध्यक्ष में अवस्थित होता है। अर्थात् उस अध्यक्षरूप प्रधानवाली प्राण की वृत्ति होती है, यह अर्थ है। यह किस हेतु से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि उस अध्यक्ष के प्रति प्राणों के उद्गमादि (उपगमनादि) से समझा जाता है। उपगमन, अनुगमन और अवस्थान-विषयक श्रुतियों से यह ज्ञान होता है कि अध्यक्ष में प्राण अवस्थित होते हैं। जिससे (जैसे यात्रा की इच्छावाला राजा के सूतादि सेवक पास में आते हैं, इसी प्रकार अन्तकाल में जब यह ऊर्ध्वश्वासवाला होता है तब सब प्राण इस

जीवात्मा के अभिमुख आते हैं) यह अन्य श्रुति अध्यक्ष के पास में गमन करने वाले सब प्राणों को अविशेषरूप से दर्शाती है। (उस उत्क्रमण-परलोकगमन करता हुआ जीवात्मा के पीछे प्राण उत्क्रमण करता है) यह श्रुति विशेषरूप से पाँच वृत्ति वाले मुख्य प्राण की अध्यक्ष के अनुगामिता (पश्चात् गति) को दर्शाती है। (विज्ञानात्मा के पीछे गमन करते हुए प्राण के पीछे अन्य सब प्राण, सब इन्द्रियाँ, उत्क्रमण (गमन करते हैं) यह श्रुति उस मुख्य प्राण की अनुवृत्तिता (अनुगामिता) अन्य प्राणों को दर्शाती है कि अन्य प्राण मुख्य प्राण के अनुगामी होते हैं। (वह जीवात्मा विज्ञानसहित रहता है) यह श्रुति अध्यक्ष विज्ञानात्मा के अन्तर्विज्ञानत्व के प्रदर्शन द्वारा जिसमें इन्द्रिय-समूह लीन हुआ है, उस प्राण का उस जीवात्मा में अवस्थान (स्थिति) को समझाती है। यदि कहा जाय कि (प्राण तेज में लीन होता है) यह सुना जाता है। फिर (प्राण अध्यक्ष में लीन होता है) यह अधिक का संग्रह कैसे किया जाता है। तो कहा जाता है कि उत्क्रमणादि व्यवहार के अध्यक्ष प्रधानत्व (अध्यक्षरूप प्रधानवाला) होने से, और श्रुत्यन्तरगत विशेष (अधिकांश) के भी अपेक्षणीयत्व (स्वीकारयोग्य) होने से यह अधिक का संग्रह दोषरूप नहीं है। अर्थात् जीवात्मा के बिना प्राणों की उत्क्रान्ति नहीं हो सकती और अन्य श्रुति में जीवात्मा के प्रति प्राणों के अनुगमनादि का वर्णन है, इससे गुणोपसंहार न्याय से (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति में भी मध्य में अध्यक्ष का संग्रह अत्यंत युक्त है ॥ ४ ॥

कथं तर्हि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरित्यत आह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

स प्राणसंपृक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम् 'प्राणस्तेजसी'ति श्रुतेः। ननु चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति न प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्य। नैष दोषः। सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्याप्यन्तरालेऽप्युपसंख्यातत्वात्। योऽपि हि स्रुघ्नान्मथुरां गत्वा मथुरायाः पाटलिपुत्रं व्रजति सोऽपि स्रुघ्नात्पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते वदितुम्। तस्मात्प्राणस्तेजसीति प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्यैवैतत्तेजःसहचरितेषु भूतेष्ववस्थानम् ॥ ५ ॥

तो प्राण तेज में लीन होता है, यह अव्यवधानपूर्वक तेज में प्राण का लय विषय श्रुति कैसे युक्त होगी, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—भूतेषु इति।

(प्राणस्तेजसि) इस श्रुति से ऐसा समझना चाहिये कि प्राणसंयुक्त वह अध्यक्ष, तेजसहित देह के बीजस्वरूप सूक्ष्म भूतों में अवस्थित होता है। शंका होती है कि (प्राणस्तेजसि) यह श्रुति प्राण की तेज में स्थिति को दर्शाती है, प्राणसंयुक्त अध्यक्ष की भूतों में स्थिति को तो नहीं दर्शाती है, फिर भूतों में स्थिति कैसे समझी जाय ? उत्तर है कि (सोऽध्यक्षे) इस सूत्र में उदाहृत श्रुतियों के बल से अध्यक्ष का भी प्राण

और तेज के अन्तराल (मध्य) आख्यातत्व (कथितत्व) है, इससे यह दोष नहीं प्राणसंयुक्त अध्यक्ष का भूतों में स्थिति समझा जा सकता है। श्रुतिगत तेज शब्द-भूत सूक्ष्ममात्र का उपलक्षक है। जैसे जो कोई स्रुघ्न से मथुरा जाकर और मथुरा से पटना जाता है, वह भी स्रुघ्न से पटना जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है, वैसे ही प्राण भी मध्य में जीव को प्राप्त होकर फिर तेज में सम्पन्न होने पर भी (प्राणस्तेजसि) यह कहा जा सकता है, इससे (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति से प्राणसंयुक्त अध्यक्ष का ही यह तेजसहित भूतों में अवस्थान कहा जाता है ॥ ५ ॥

कथं तेजःसहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते, यावतैकमेव तेजः श्रूयते प्राणस्तेजसीति, अत आह—

शंका होती है कि तेजसहित भूतों में अवस्थान कैसे कहा जाता है, जबकि (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति में एक तेज ही सुना जाता है। इससे उत्तर कहते हैं कि—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते कार्यस्य शरीरस्यानेकात्मकत्वदर्शनात्। दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' (छा० ५।३।३) इति। तद्व्याख्यातम् 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।१।२) इत्यत्र। श्रुतिस्मृती चैतमर्थं दर्शयतः। श्रुतिः 'पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्याद्या। स्मृतिरपि—

शरीरान्तर की प्राप्ति की इच्छा के समय एक तेज ही में जीव नहीं अवस्थित होता है, वह कार्यरूप शरीर के अनेकात्मकत्व (सर्वभूतमयत्व) के दर्शन से समझा जाता है। (आपः पुरुषवचसो भवन्ति) जल पुरुष-शब्द का वाच्यार्थ हो जाता। यहाँ के प्रश्न और प्रतिवचन इस अर्थ को दर्शाते हैं। (आत्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्) इस सूत्र में वह शरीर के अनेकात्मकत्व व्याख्यात (कथित) हो चुका है। श्रुति-स्मृति भी इस अर्थ को दर्शाती हैं। यहाँ (पृथिवीमये आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः) इत्यादि श्रुति है, कि पृथिवी आदि का विकार देह और (मोक्षपर्यन्त अविनाशी जो दशार्ध—पाँच भूतों के अणु, सूक्ष्म तन्मात्राएँ हैं, उनके साथ यह सब जगत् क्रम से उत्पन्न होता है) इत्यादि स्मृति है।

अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ (मनु०) इत्याद्या ॥

ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां 'क्वायं तदा पुरुषो भवति' (बृ० ३।२।१३) इत्युपक्रम्य श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति—'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः' (बृ० ३।२।१३) इति। तत्रोच्यते—तत्र कर्मप्रयुक्तस्य ग्रहातिग्रहसंज्ञकस्येन्द्रिय-विषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोक्ता, इह पुनर्भूतोपादानाद्देहा-

न्तरोत्पत्तिरिति भूताश्रयत्वमुक्तम् । प्रशंसाशब्दादपि तत्र प्राधान्यमात्रं कर्मणः प्रदर्शितं न त्वाश्रयान्तरं निवारितम् । तस्मादविरोधः ॥ ६ ॥

यहाँ शंका होता है कि शरीरान्तर की प्राप्ति की इच्छाकाल में वाक् आदि इन्द्रियों के उपसंहृत (आत्मा में लीन) होने पर (उस समय यह जीवात्मारूप पुरुष किस के आश्रित रहता है) इस प्रकार आर्तभाग के प्रश्न से आरम्भ करके अन्य श्रुति जीव की कर्माश्रयता का निरूपण करती है कि (उन आर्तभाग और याज्ञवल्क्य दोनों ने विचार कर जो कुछ जीव का आश्रय कहा वह कर्म ही कहा, जो कुछ प्रशंसा किया वह कर्म का ही प्रशंसा किया) इति । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि उस श्रुति में कर्म-प्रयुक्त (कर्मजन्य) ग्रहातिग्रह (इन्द्रिय-विषय) संज्ञक, इन्द्रिय-विषय-स्वरूप बन्ध की प्रवृत्ति (सिद्धि) होती है, इससे प्रयोजकरूप से कर्माश्रयता कही गई है और वहाँ भूतरूप उपादान से देहान्तर की उत्पत्ति होती है, इससे उपादानस्वरूप से भूतों का आश्रयत्व कहा गया है । प्रशंसा शब्द से भी कर्म के प्रधानतामात्र को प्रदर्शित कराया गया है, आश्रयान्तर का निवारण नहीं किया गया है, इससे विरोध नहीं है ॥ ६ ॥

आसृत्युपक्रमाधिकरणम् (४)

ज्ञान्यज्ञोत्क्रान्तिरसमा समा वा नहि सा समा । मोक्षसंसाररूपस्य फलस्य विषमत्वतः ॥
आसृत्युपक्रमं जन्म वर्तमानमतः समा । पश्चात्तु फलवैषम्यादसमोत्क्रान्तिरेतयोः ॥

सृति (गति) का उपक्रमपर्यन्त उससे प्रथम वागादि का मन आदि में लयरूप उत्क्रान्ति अज्ञ और उपासनज्ञ की तुल्य ही होती है, पश्चात् मार्ग के भेद से गति का भेद होता है । अविद्या का दाह के बिना उपासक का अमृतत्व (मोक्ष) होता है, अर्थात् आपेक्षिक मोक्ष होता है, इससे उस में गति होती है, वास्तविक मोक्ष में तो गति नहीं होती है । (उप-दाहे) इस धातु के अनुसार यह अर्थ है । (वस निवासे) के अनुसार अर्थ होगा कि उपवासादि (वासनात्यागादि) किये बिना यह आपेक्षिक मुक्ति है इत्यादि । संशय है कि उपासक-अनुपासक की उत्क्रान्ति असम होती है, अथवा सम होती है । पूर्वपक्ष है कि मोक्ष (ब्रह्मलोक) और संसाररूप फल की विषमता से वह उत्क्रान्ति सम नहीं है । सिद्धान्त है कि ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश और इतर नाड़ी में प्रवेशरूप गति का आरम्भ से प्रथम वर्तमान ही जन्म रहता है इससे वहाँ तक तुल्य गति होती है, उसके बाद तो फल की विषमता से इन दोनों को असम उत्क्रान्ति होती है ॥ १—२ ॥

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

सेयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना किंवा विशेषवतीति विशयानानां विशेषवतीति तावत्प्राप्तम् । भूताश्रयविशिष्टा ह्येषा । पुनर्भवाय च भूतान्याश्रीयन्ते । नच विदुषः पुनर्भवः संभवति । 'अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते' इति श्रुतिः । तस्मादविदुष एवैषोत्क्रान्तिः । ननु विद्याप्रकरणे समाम्नाद्विदुष एवैषा

भवेत् । न । स्वापादिवद्यथाप्राप्तानुकीर्तनात् । तथाहि 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम' 'अशिशिषति नाम' 'पिपासति नाम' (छा० ६।८।१, ३५) इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनुकीर्त्यन्ते, विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषितवस्तुप्रतिपादनानुगुण्येन, नतु विदुषो विशेषवन्तो विधीयन्ते, एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयतस्तेजः संपद्यते स आत्मा तत्त्वमसीत्येतत्प्रतिपादयितुम् । प्रतिषिद्धा चैषा विदुषः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ३।४।६) इति । तस्मादविदुष एवैषेति ।

यह पूर्ववर्णित उत्क्रान्ति क्या विद्वान् (उपासक) और अविद्वान् की तुल्य होती है, अथवा विशेषवाली (भेदवाली) होती है । इस प्रकार विशयानों (संशयवालों) को विशेषवाली होती है । इस प्रकार प्रथम प्राप्त (प्रतीत) होती है । जिससे यह उत्क्रान्ति भूतरूप आश्रय युक्त होती है, और पुनर्जन्म के लिये भूतों का उत्क्रान्ति काल में आश्रयण किया जाता है । विद्वान् के पुनर्जन्म का सम्भव नहीं है । (विद्वान् अमृतत्व ही प्राप्त करता है) यह श्रुति है, जिससे अविद्वान् की हो यह उत्क्रान्ति होती है, यदि कहा जाय कि विद्या के प्रकरण में उत्क्रान्ति के कथन से विद्वान् की ही यह उत्क्रान्ति होगो, तो कहा जाता है कि स्वापादि के समान यथाप्राप्त (स्वभावसिद्ध) उत्क्रान्ति का अनुकीर्तन से यह विद्वान् की उत्क्रान्ति नहीं है । जिससे स्वापादि का इस प्रकार कीर्तन है कि (जिस काल में पुरुष का स्वापति यह नाम होता है, जिस काल में अशिशिषति—खाने की इच्छा करता है—इस नाम वाला होता है, जिस काल में पिपासति—पीने की इच्छा करता है, इस नामवाला होता है) ये सर्वप्राणी में साधारण रूप से रहने ही वाले स्वापादि, विद्या के प्रकरण में भी प्रतिपादन की इच्छा विषयवस्तु के प्रतिपादन में अनुकूलता से अनुकीर्तित (वर्णित) होते हैं । विशेषवाले विद्वान् के स्वापादि विहित नहीं होते हैं । इसी प्रकार जिस पर देवता में प्रयत (प्रयाणवाले) पुरुष का तेज सम्पन्न (लीन) होता है वह आत्मा है, और वह तुम हो, इस अर्थ को प्रतिपादन करने के लिए महाजन (जनसमूह) में गत ही यह उत्क्रान्ति भी अनुकीर्तित होती है, कही जाती है । विद्वान् की यह उत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध है कि उस विद्वान् के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, जिससे यह उत्क्रान्ति अविद्वान् की ही होती है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या, विद्वदविदुषोरासृत्युपक्रमाद्भवितुमर्हति, अविशेषश्रवणात् । अविद्वान्देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याश्रित्य कर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनुभवितुं संसरति, विद्वांस्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते, तदेतदासृत्युपक्रमादित्युक्तम् । नन्वमृतत्वं हि विदुषा प्राप्तव्यं नच तद्देशान्तरायत्तं तत्र कुतो भूताश्रयत्वं सृत्युपक्रमो वेति । अत्रोच्यते—अनुपोष्य चेदम्, अदग्ध्वाऽत्यन्तमविद्यादीन्क्लेशानपरविद्यासामर्थ्यादापेक्षिकममृतत्वं प्रेप्सते, संभवति तत्र सृत्युपक्रमो भूताश्रयत्वं च । नहि निराश्रयाणां प्राणानां गतिरुपपद्यते । तस्माददोषः ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (वाङ्मनसि सम्पद्यते) इत्यादि श्रुतियों से वर्णित उत्क्रान्ति विद्वान् और अविद्वान् की गतिविशेषपर्यन्त अविशेष-श्रवण से समान (तुल्य) होने योग्य है। देह के बीजस्वरूप भूतों के सूक्ष्म भागों का आश्रयण करके कर्मयुक्त अविद्वान् देहग्रहण का अनुभव करने के लिए संसार में गमन करता है। और विद्वान् तो ज्ञान से प्रकाशित मोक्षनाड़ी के द्वार का आश्रयण करता है। यह रहस्य सूत्रगत (आसृत्युपक्रमात्) इस पद से कहा गया है। शंका होती है कि विद्वान् को तो अमृतत्व ही प्राप्त कर्त्तव्य है, वह अमृतत्व देशान्तर के अधीन नहीं है, तो उस अमृतत्व में भूताश्रयत्व वा सृति (मार्गगमन) का उपक्रम कैसे हो सकता है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि, उपासकरूप ज्ञानी अविद्यादि को निर्गुण आत्मज्ञान से न जला कर इस सृति (मार्ग) का उपक्रम करता है। अर्थात् अविद्या अदि क्लेशों को अत्यन्त दग्ध नहीं करके अपर (सगुण) विद्या के सामर्थ्य से आपेक्षिक अमृतत्व को प्राप्त करना चाहता है। उस अवस्था में मार्ग का उपक्रम और भूताश्रयत्व का सम्भव होता है, जिससे निराश्रय प्राण को गति नहीं हो सकती है, जिससे भूताश्रयत्वादि होने पर भी आपेक्षिक मोक्ष में दोष का अभाव है ॥ ७ ॥

संसारव्यपदेशाधिकरणम् (५)

स्वरूपेणाथ वृत्त्या वा भूतानां विलयः परे। स्वरूपेण लयो युक्तः स्वोपादाने परात्मनि ॥
आत्मज्ञस्य तथात्वेपि वृत्त्यैवान्यस्य तल्लयः। न चेत् कस्यापि जीवस्य न स्याज्जन्मान्तरं क्वचित् ॥

वह तेज आदि का सूक्ष्म भाग वागादिसहित जीव का आश्रयरूप सूक्ष्म शरीर (ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति) इस श्रुतिकथित ब्रह्म में अप्यय—लयरूप आत्यन्तिक प्रलय मोक्षपर्यन्त रहता है, क्योंकि मोक्षपर्यन्त संसार का कथन श्रुति में है।

संशय है कि (तेजः परस्यां देवतायाम्) इस श्रुति के अनुसार भूतों का परदेव में विलय स्वरूप से होता है, अथवा वृत्ति द्वारा होता है। पूर्वपक्ष है कि भूतों का अपने उपादानरूप परमात्मा में स्वरूप से लय होना युक्त है। सिद्धान्त है कि आत्मज्ञानी के सूक्ष्मशरीररूप भूतों का उस प्रकार स्वरूप से अपने उपादान में विलय होने पर भी अन्य प्राणी के सूक्ष्म देहरूप भूतों का वृत्ति द्वारा ही मरने पर विलय होता है। यदि ऐसा नहीं हो, सब के भूतों का स्वरूप विलय हो तो किसी भी जीव का कहीं जन्मान्तर नहीं होगा, ज्ञान के बिना ही सब मुक्त हो जायेंगे इत्यादि ॥ १–२ ॥

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्यात्तद्यथा-प्रकृतं तेजः साध्यक्षं सप्राणं सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं प्रयतः पुंसः परस्यां देवतायां संपद्यते इत्येतदुक्तं भवति। कीदृशी पुनरियं संपत्तिः स्यादिति चिन्त्यते। तत्रात्यन्तिक एव तावत्स्वरूपप्रविलय इति प्राप्तम्, तत्प्रकृतित्वोपपत्तेः। सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिः परा देवतेति प्रतिष्ठापितम्। तस्मादात्यन्तिकीयमविभागापत्तिरिति।

(तेज परदेवता में लीन होता है) इस श्रुति में प्रकरण के सामर्थ्य से प्रयाण करने वाले पुरुष के प्रकृत के अनुसार, अध्यक्षसहित, प्राणसहित, कारणसमूहसहित और अन्य भूतों के सहित तेज परदेवता में सम्पन्न (लीन) होता है, यह कहा गया है। किन्तु यह सम्पत्ति कैसी होगी, यह विचार किया जाता है। वहाँ उस परदेवता के उन भूतों की प्रकृतिता (उपादानता) की उपपत्ति से आत्यन्तिक ही भूतों के स्वरूप का विलय होता है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्रथम प्राप्त होता है जिससे सभी जन्म वाले वस्तु-समूह की प्रकृति परदेवता है, यह प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित) किया जा चुका है। जिससे यह अत्यन्त स्वरूप से होने वाली अविभाग (लय) की प्राप्ति होती है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्तेज आदि भूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतमाऽपीतरा-संसारमोक्षात्सम्यग्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ (क० ५।७)

इत्यादिसंसारव्यपदेशात्। अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्य-स्तमयादत्यन्तं ब्रह्म संपद्यत, तत्र विधिशास्त्रमनर्थकं स्याद्विद्याशास्त्रं च। मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादृते विस्रंसितुमर्हति। तस्मात्तत्प्रकृ-तित्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद्बीजभावविशेषैवैषा सत्संपत्तिरिति ॥ ८ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि श्रोत्रादिरूप करणों (इन्द्रियों) के आश्रयरूप, वे भूतों के सूक्ष्म-स्वरूप तेज आदि, सम्यक् ज्ञाननिमित्तक अपीति (प्रलय) पर्यन्त, संसार से विमुक्ति के पूर्वकाल तक अवस्थित (वर्तमान) रहते हैं। अतः (अन्य—कोई अविद्यावाले देही जीव शरीर के ग्रहण के लिए योनिरूप द्वार को प्राप्त करते हैं, और उनसे अन्य अत्यन्त अधम कोई स्थाणु—वृक्षादि स्थावररूपता को प्राप्त होते हैं। वे सब कृत कर्म और उपार्जित ज्ञान के अनुसार ही अदृष्ट और वासना से योनि और स्थाणु में प्राप्त होते हैं) इत्यादि संसार के व्यपदेश से सिद्ध होता है, जिससे अन्यथा-स्वरूप से भूतों का विलय होने पर प्रयाण (मरण) काल में ही उपाधियों के प्रत्यस्तमय (विलय) होने से सब प्राणी अत्यन्त ब्रह्म में सम्पन्न लीन मुक्त होंगे। इस अवस्था में विधिशास्त्र अनर्थक होगा, और विद्याशास्त्र अनर्थक होगा और मिथ्या-ज्ञान-निमित्तक बन्ध (संसार) सम्यक् ज्ञान के बिना विनाश के योग्य नहीं है जिससे उस परदेवता-रूप प्रकृतिवाले भूतों के होने पर भी सुषुप्तिकालिक प्रलय के समान बीजभाव के अवशेषवाली ही यह सत्संपत्ति (ब्रह्म में लय) होती है ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

तच्चेतरभूतसहितं तेजो जीवस्यास्माच्छरीरात्प्रवसत आश्रयभूतं स्वरूपतः प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवितुमर्हति। तथाहि—नाडीनिष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य

सौक्ष्म्यमुपलभ्यते। तत्र तनुत्वात्संचारोपपत्तिः, स्वच्छत्वाच्चाप्रतीघातोपपत्तिः। अतएव च देहान्निर्गच्छन्पार्श्वस्थैर्नोपलभ्यते ॥ ९ ॥

इस शरीर से प्रवास (गमन) करने वाला जीव का आश्रयस्वरूप अन्य भूतों के सहित वह तेज (लिङ्ग शरीर) स्वरूप से और प्रमाण से सूक्ष्म होने योग्य है। अर्थात् उसको अत्यन्त सूक्ष्म समझना चाहिए, जिससे अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा इसके निष्क्रमण के (गमन के) श्रवणादि से इसके इस प्रकार की सूक्ष्मता उपलब्ध होती है। तनुता (सूक्ष्मता) से ही उन सूक्ष्म नाड़ियों में संचार (गमन) की सिद्धि होती है। स्वच्छता से अप्रतिघात–अनिरोध की सिद्धि होती है। अतएव, सर्वथा सूक्ष्म स्वच्छ होने ही से मरणकाल में देह से निकला हुआ पास में स्थिर लोगों से नहीं देखा जता है ॥ ९ ॥

नोपमर्दनातः ॥ १० ॥

अत एव सूक्ष्मत्वान्नास्य स्थूलस्य शरीरस्योपमर्देन दाहादिनिमित्तेनेतरत्सूक्ष्मं शरीरमुपमृद्यते ॥ १० ॥

अतएव इस सूक्ष्मत्व से ही इस स्थूल शरीर के उपमर्द से दाहादिनिमित्तक नाश इस स्थूल से इतरत् (अन्य) सूक्ष्म शरीर उपमृदित (नष्ट) नहीं होता है ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

अस्यैव च सूक्ष्मस्य शरीरस्यैष ऊष्मा यमेतस्मिञ्शरीरे संस्पर्शेनोष्माणं विजानन्ति। तथाहि मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते जीवदवस्थायामेव तूपलभ्यते इत्यत उपपद्यते–प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तशरीरव्यपाश्रय एवैष ऊष्मेति। तथाच श्रुतिः–'उष्ण एवैष जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' इति ॥ ११ ॥

इसी सूक्ष्म शरीर को यह ऊष्मा (गर्मी) है, कि जिस ऊष्मा को संस्पर्श के द्वारा इस शरीर में लोग समझते हैं, जिससे मृतक अवस्था में इसी प्रकार देह के अवस्थित रहते भी और देह के गुणरूप, रूपादि के विद्यमान रहते भी, ऊष्मा नहीं उपलब्ध होती है, जीवन-अवस्था में ही उपलब्ध होती है, इससे उपपन्न (सिद्ध) होता है कि प्रसिद्ध स्थूल शरीर से भिन्न सूक्ष्म शरीर के आश्रित ही यह ऊष्मा है। इसी प्रकार की श्रुति है कि (यह जीवित रहने वाला उष्ण ही रहता है, मरने वाला शीत हो जाता है) ॥११॥

प्रतिषेधाधिकरणम् (६)

किं जीवादथवा देहात्प्राणोत्क्रान्तिर्निवार्यते। जीवान्निवारणं युक्तं, जीवेद्देहोन्यथा सदा ॥१॥
तस्माश्मजलवद्देहे प्राणानां विलयः स्मृतः। उच्छ्वयत्यत्र देहोऽतो देहात्सा विनिवार्यते ॥२॥

पूर्वपक्ष है कि (न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति) इस श्रुति से यदि निर्गुण आत्मज्ञ के प्रणों की शरीर से उत्क्रान्ति के निषेध से लोकान्तर में गति नहीं मानी जाय, तो वह मानना युक्त नहीं है, क्योंकि उस श्रुति में जीवात्मा से प्राण की उत्क्रान्ति का निषेध है।

संशय है कि श्रुति में क्या जीव से अथवा देह से प्राण की उत्क्रान्ति का निवारण किया जाता है। पूर्वपक्ष है कि जीव से उत्क्रान्ति का निवारण करना युक्त है। अन्यथा देह से उत्क्रान्ति का निवारण करने पर देह सदा जीवित रहेगी। सिद्धान्त है कि प्राण शरीर से नहीं निकलते हैं, तो भी शरीर का सदा जीवन इसलिये नहीं होता है कि जैसे पत्थर पर दिया गया जल उसमें लीन हो जाता है, वैसे ही प्रारब्ध के अन्त में देह के अन्दर ही ब्रह्म में ज्ञानी के प्राणों का विलय कहा गया है। मरने पर देह ही फूलता है, और इस फूलने वाली देह से उस उत्क्रान्ति का निवारण किया जाता हैं ॥ १–२ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

'अमृतत्वं चानुपोष्य' इत्यतो विशेषणादात्यन्तिकेऽमृतत्वे गत्युत्क्रान्त्योरभावोऽभ्युपगतः। तत्रापि केनचित्कारणेनोत्क्रान्तिमाशङ्क्य प्रतिषेधति—'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति, अतः परविद्याविषयात्प्रतिषेधान्न परब्रह्मविदो देहात्प्राणानामुत्क्रान्तिरस्तीति चेत्।

नेत्युच्यते। यतः शारीरादात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां न शरीरात्। कथमवगम्यते 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति' इति शाखान्तरे पञ्चमीप्रयोगात्। सम्बन्धसामान्यविषया हि षष्ठी शाखान्तरगतया पञ्चम्या सम्बन्धविशेषे व्यवस्थाप्यते। तस्मादिति च प्राधान्यादभ्युदयनिःश्रेयसाधिकृतो देही सम्बध्यते न देहः। न तस्मादुच्चिक्रमिषोर्जीवात्प्राणा अपक्रामन्ति सहैव तेन भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

(अमृतत्वं चानुपोष्य) अविद्यादि क्लेशों का दाह के बिना अमृतत्व गौण होता है, इस विशेषण से आत्यन्तिक अमृतत्व (मुख्य मोक्ष) में सब क्लेशों के दाहवाले निर्गुणात्म ज्ञानी की गति और उत्क्रान्ति का अभाव स्वीकृत हुआ है। वहाँ भी किसी कारण से उत्क्रान्ति की शंका करके निषेध करते हैं कि (ससार-कथा के बाद समझना चाहिए कि जो पूर्णानन्द की प्राप्ति से कामरहित है, कामना नहीं करता है और अकाम बाह्यतृष्णारहित है, निष्काम—अन्तर्गतकामवासनाशून्य है। अतएव जो पूर्णकाम, आत्मकाम—सर्वात्मैकत्वदर्शी होता है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, वह आत्मदर्शी जीवित अवस्था में ही ब्रह्म होता हुआ फिर ब्रह्म में लीन होता है) इति। इस श्रुति से इस परविद्याविषयक उत्क्रान्ति के प्रतिषेध से ब्रह्मवेत्ता की देह से प्राणों की उत्क्रान्ति नहीं होती है, यदि ऐसा कहा जाय तो कहा जाता है कि शरीर से प्राण-उत्क्रान्ति का प्रतिषेध नहीं है, जिससे शरीर (जीव) आत्मा से यह प्राणों की उत्क्रान्ति का प्रतिषेध है, शरीर से नहीं। यदि कहा जाय कि यह कैसे समझा जाता है। तो कहा जाता है कि (न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति) उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं। इस प्रकार अन्य शाखा में पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग से जाना जाता है। जिससे उक्त श्रुतिगत, तस्य,

यह सम्बन्ध-सामान्य-विषयक षष्ठी विभक्ति शाखान्तरगत पञ्चमी विभक्ति से अपादानत्व सम्बन्धविशेष में व्यवस्थापित (निश्चित) की जाती है। तस्मात्, इसके साथ प्रधानता से अभ्युदय और निःश्रेयस (स्वर्ग और मोक्ष) में अधिकृत (अधिकारयुक्त) देही जीवसम्बद्ध होता है, देह नहीं। अर्थात् तस्मात् पद से देही कहा जाता है, देह नहीं। इससे उत्क्रमण की इच्छावाले उस देही जीव से प्राण अपक्रान्त नहीं होते हैं किन्तु उसके साथ ही गमन करते हैं, साथ ही रहते हैं यह अर्थ है, अतः ज्ञानी की भी लोकान्तर में उत्क्रान्ति होती है ॥ १२ ॥

सप्राणस्य च प्रवसतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादित्येवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—

इस प्रकार प्राणसहित और प्रवास (शरीर से निर्गमन) करने वाले ज्ञानी की देह से उत्क्रान्ति होती है, इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्याख्यान किया जाता है। प्रत्युत्तर दिया जाता है कि—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

न तदस्ति यदुक्तं परब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्तिः प्रतिषेधस्य देह्यपादानत्वादिति। यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषां समाम्नातॄणां स्पष्ट उपलभ्यते। तथाहि—आर्तभागप्रश्ने 'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति' (बृ० ३।२।११) इत्यत्र 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (बृ० ३।२।११) इत्यनुत्क्रान्तिपक्षं परिगृह्य न तर्ह्ययमनुत्क्रान्तेषु प्राणेषु म्रियत इत्यस्यामाशङ्कायाम् 'अत्रैव समवलीयन्त' इति प्रविलयं प्राणानां प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते' (बृ० ३।२।११) इति सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्वयनादीनि समामनन्ति। देहस्य चैतानि स्युर्न देहिनः। तत्सामान्यात् 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' इत्यत्राप्यभेदोपचारेण देहोपादानस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेधः। यद्यपि प्राधान्यं देहिन इति व्याख्येयं येषां पञ्चमीपाठः। येषां तु षष्ठीपाठस्तेषां विद्वत्सम्बन्धिन्युत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यत इति प्राप्तोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वादस्य वाक्यस्य देहापादानैव सा प्रतिषिद्धा भवति, देहादुत्क्रान्तिः प्राप्ता न देहिनः। अपिच 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्येवमविद्वद्विषयेषु सप्रपञ्चमुत्क्रमणं संसारगमनं च दर्शयित्वा इति नु कामयमानः' (बृ० ४।४।६) इत्युपसंहृत्याविद्वत्कथाम् 'अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति व्यपदिश्य विद्वांसं यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदसमञ्जस एव व्यपदेशः स्यात्। तस्मादविद्वद्विषये प्राप्तयोर्गत्युत्क्रान्त्योर्विद्वद्विषये प्रतिषेध इत्येवमेव व्याख्येयं व्यपदेशार्थवत्त्वाय। नच ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते निमित्ताभावात्। 'अत्र

ब्रह्म समश्नुते' इति चैवंजातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति ॥१३॥

उत्क्रान्ति के प्रतिषेध का अपादानत्व देही के होने से ब्रह्मवेत्ता की भी देह से उत्क्रान्ति होती है, यह जो कहा है, वह बात नहीं है, जिससे देह अपादानवाला ही उत्क्रान्ति का प्रतिषेध एक शाखावाले वक्ताओं का स्पष्ट उपलब्ध होता है क्योंकि (जिस काल में यह ज्ञानी पुरुष मरता है, उस काल में इसके प्राण उत्क्रमण करते हैं, अथवा नहीं करते हैं) इस प्रकार आर्त भाग के प्रश्न होने पर, यहाँ उत्तर है कि (याज्ञवल्क्यजी ने कहा कि ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं। इस प्रकार अनुत्क्रान्ति पक्ष का ग्रहण करके, तो क्या प्राणों के अनुत्क्रान्त होने से यह ज्ञानी मरता नहीं है, ऐसी आशंका होने पर (यहाँ ही प्राण सम्यक् लीन हो जाते हैं) इस प्रकार प्राणों के प्रविलय की प्रतिज्ञा करके, उस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए (वह शरीर फूलता है, शब्द करता है, वायु से शब्दयुक्त होकर–मृतक होकर सोता है) इस श्रुति में से (वही) शब्द से परामृष्ट (गृहीत) प्रकृत उत्क्रान्ति की अवधि (अपादान) के वृद्धि आदि (फूलने आदि) को श्रुति कहती है, और देह के ये सूजन (शोथ) आदि हो सकते हैं, देही के नहीं होते हैं। उस श्रुति की समानता से विद्या प्रकरण की तुल्यता से (उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, यहाँ ही लीन होते हैं) यहाँ भी देह और देही के अभेद के उपचार व्यवहार से 'तस्मात्' इस पद से देही से अभिन्न देह के ग्रहण से देहोपादानक ही उत्क्रमण का प्रतिषेध है। यद्यपि जिनका पञ्चमी विभक्त्यन्त पाठ है, उनको सर्वनाम से स्मृत देही की प्रधानता है, तथापि यह अभेद दृष्टि से शरीरोपादानक उक्त व्याख्या कर्तव्य है। जिनका षष्ठी पाठ है, उनके अनुसार विद्वान्सम्बन्धिनी उत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध होती है (इस प्रकार प्राप्त उत्क्रान्ति के प्रतिषेधार्थक इस वाक्य के होने से देहापादानक ही (देह से ही) वह ज्ञानी की उत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध होती है , जिससे देह से उत्क्रान्ति प्राप्त है, देही से नहीं। दूसरी बात है कि (आँख से वा शिर से वा अन्य शरीर के अवयवों से उत्क्रमण करते हुए उस जीव के पीछे प्राण उत्क्रमण करता है, प्राण के पीछे सब इन्द्रियाँ उत्क्रमण करती हैं) इस प्रकार अविद्वान्विषयक विस्तारयुक्त उत्क्रमण और संसार-गमन को दर्शा कर, और (इस प्रकार कामना करने वाला संसार में गमन करता है) इस प्रकार अविद्वान् की कथा उपसंहार (समाप्ति) करके (अथाकामयमान.) कामरहित कामी से विलक्षण है। इस प्रकार विद्वान् का कथन करके, यदि उस विद्वान् के विषय में उत्क्रान्ति को ही श्रुति व्यपदेश प्राप्त करावे, करे, तो यह व्यपदेश (कथन) असमञ्जस (असंगत–अयुक्त) ही होगा, जिससे व्यपदेश की अर्थवत्ता के लिए, अविद्वान् के विषय में प्राप्त गति और उत्क्रान्ति का विद्वान् के विषय में प्रतिषेध है इस प्रकार ही व्याख्यान कर्तव्य है। और उत्क्रान्ति तथा गति के निमित्त कर्मादि के अभाव से सर्वगत ब्रह्मात्मस्वरूप प्रक्षीण-काम-कर्मवाले ब्रह्मवेत्ता की उत्क्रान्ति वा गति उपपन्न नहीं होती है। (यहाँ ब्रह्म को प्राप्त करता है) इस प्रकार की श्रुतियाँ ज्ञानी की उत्क्रान्ति और गति के अभाव को सूचित करती हैं ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः—

सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः ।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः ॥ इति ।

ननु गतिरपि ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य स्मर्यते 'शुकः किल वैयासकिर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा चानुगम्याहूतो भो इति प्रतिशुश्राव' इति। न। सशरीरस्यैवायं योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वकः शरीरोत्सर्ग इति द्रष्टव्यम्, सर्वभूतदृश्यत्वाद्युपन्यासात्, नह्यशरीरं गच्छन्तं सर्वभूतानि द्रष्टुं शक्नुयुः। तथाच तत्रैवोपसंहृतम्—

शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षगः ।
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूतगतोऽभवत् ॥ इति ।

तस्मादभावः परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्योः। गतिश्रुतीनां तु विषयमुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥

महाभारत में ब्रह्मवेत्ता की गति और उत्क्रान्ति के अभाव का स्मरण भी किया जाता है कि (भूतों को सम्यक् आत्मस्वरूप से जानने वाले, अतएव सब भूतों के आत्मस्वरूप और अपद (प्राप्तव्यपदरहित) ब्रह्मवेत्ता के पद को चाहने वाले देव भी अपद ज्ञानी के मार्ग में मोहित होते हैं, मार्ग नहीं जानते हैं, जिसे विद्वान् का मार्ग नहीं है। शंका होती है कि सर्वगत ब्रह्मात्मस्वरूप ब्रह्मवेत्ता की गति का भी स्मरण (कथन) किया जाता है कि (व्यास जी के पुत्र मुमुक्षु शुक ने आदित्यमण्डल की यात्रा की—सूर्य की तरफ शुकदेव चले, फिर पीछे से चल कर पिता से आहूत हुए, पुकारे गये, तो भी ऐसा उत्तर दिया) इस शंका का उत्तर है कि यह शुक की गति का वर्णन शरीर-त्याग के बाद का नहीं है किन्तु शरीरसहित का ही योग के बल से विशिष्ट (उत्तम) देश की प्राप्तिपूर्वक शरीर-त्याग वर्णित है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि सब भूतों से दृश्यत्व आदि का कथन है, और शरीररहित जाने वाले को सब प्राणी नहीं देख सकते हैं, और इस प्रकार वहाँ ही उपसंहार किया है कि (शुक तो वायु से भी शीघ्र गति करके अन्तरिक्षगत होकर अपने प्रभाव को दिखा कर सर्वभूतगत ब्रह्मस्वरूप हो गये) जिससे परब्रह्मवेत्ता की गति और उत्क्रान्ति का अभाव है। गति-श्रुतियों के विषय का आगे व्याख्यान करेंगे ॥ १४ ॥

वागादिलयाधिकरणम् (७)

ज्ञस्य वागादयः स्वस्वहेतौ लीनाः परेऽथवा। 'गताः कला' इति श्रुत्या स्वस्वहेतुषु तल्लयः ॥
नद्यब्धिलयसाम्योक्तेर्विद्वद्दृष्ट्या लयः परे। अन्यदृष्टिपरं शास्त्रं गता इत्याद्युदाहृतम् ॥

विद्वान् के वे वाक् आदि इन्द्रिय, और इन्द्रियों के आश्रय सूक्ष्मभूत ये सब पर-ब्रह्म में लीन होते हैं, जिससे इसी प्रकार श्रुति कहती है। संशय है कि ज्ञानी के वाक्

आदि इन्द्रियाँ अपने अपने कारण अग्नि आदि में लीन होती हैं, अथवा परब्रह्म में लीन होती हैं। पूर्वपक्ष है कि (गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः) सोलह कलाओं में मन और प्राण को एक करने से पञ्चदश (पन्द्रह) कलाएँ होती हैं, सो विद्वान् की कलाएँ अन्त में अपनी प्रतिष्ठाओं (उपादानों) को प्राप्त होती हैं। इस श्रुति से अपने अपने हेतु में लय सिद्ध होता है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि दूसरी श्रुति में नदी और समुद्र की समता के कथन से विद्वान् की दृष्टि से परब्रह्म में लय होता है, और (गताः कलाः) इत्यादि उदाहृत शास्त्र लोकदृष्टिपरक है, लोकदृष्टि से स्वकारण में लय होता है। वस्तुतः कलाओं का स्व स्व कारण में लयपूर्वक परब्रह्म में विलय से दोनों श्रुतियों की सङ्गति होती है ॥ २ ॥

तानि परे तथाह्याह ॥ १५ ॥

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते। कस्मात् ? तथा ह्याह श्रुतिः—'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (प्रश्न० ६।५) इति। ननु 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मु० ३।२।७) इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह स्म। न। सा खलु व्यवहारापेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति। इतरा तु विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षाकृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव सम्पद्यत—इति तस्माद दोषः ॥ १५ ॥

वे पूर्वोक्त प्राण शब्द से कथित एकादश इन्द्रिय और पञ्च सूक्ष्मभूत परब्रह्मवेत्ता-सम्बन्धी ये सोलह पदार्थ उस परब्रह्मरूप आत्मा में लीन होते हैं, क्योंकि इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (जैसे बहती हुई नदियाँ समुद्ररूप आश्रयवाली होकर समुद्र को प्राप्त करके अस्त हो जाती हैं, उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार इस सर्वत्र आत्मदर्शी के ये प्राणादि सोलह कला पुरुषाश्रित होकर पुरुष को प्राप्त होकर लीन होती हैं, उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं) इत्यादि शंका होती है कि (मोक्षकाल में प्राणादि कलायें अपनी-अपनी प्रतिष्ठाओं को प्राप्त होती हैं) यह विद्वान् विषयक ही दूसरी श्रुति परमात्मा से अन्यत्र भी कलाओं का प्रलय कहती है। उत्तर है कि दूसरी श्रुति का कथन वास्तविक दृष्टि से नहीं है, वह श्रुति ही व्यवहार की अपेक्षा से है कि पार्थिव (पृथिवी के कार्य) घ्राण आदि कला पृथिवी आदि रूप अपनी प्रकृति (कारण) में लीन होते हैं। दूसरी श्रुति विद्वान् के अनुभव की अपेक्षा से है कि सम्पूर्ण कलासमूह ब्रह्म में लीन होता है, इति। इससे विरोधरूप दोष नहीं है ॥ १५ ॥

अविभागाधिकरणम् (८)

तल्लयः शक्तिशेषेण निःशेषेणाऽथवात्मनि। शक्तिशेषेण युक्तोऽसावज्ञानिष्वेतदीक्षणात् ॥१॥
नामरूपविभेदोक्तेर्निःशेषेणैव संक्षयः। अज्ञे जन्मान्तरार्थन्तु शक्तिशेषत्वमिष्यते ॥२॥

जिन ज्ञानी कलाओं का ब्रह्म में लय कहा गया है, उनका ब्रह्म के साथ अत्यन्त अविभाग (अभेद) हो जाता है, सो (भिद्येते तससां नामरूपे) इत्यादि वचस से सिद्ध होता है। संशय है कि उन कलाओं का लय शक्ति (बीज वासना) के शेषपूर्वक आत्मा में होता है, अथवा निःशेष रूप से ही लय होता है। पूर्वपक्ष है कि शक्ति का शेषपूर्वक वह लय होना युक्त है, जिससे अज्ञानियों में यह ऐसा ही लय देखा जाता है। सिद्धान्त है कि ज्ञानियों में कलाओं के नाम और रूप के श्रुति में विनाश के कथन से निःशेषरूप से ही उनका संक्षय होता है, जिससे प्रथम से ही वे ज्ञानाग्नि से दग्ध रहते हैं, अज्ञ में तो जन्मान्तर के लिए शक्ति का शेष माना जाता है ॥ १--२ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

स पुनर्विदुषः कलाप्रलयः किमितरेषामिव सावशेषो भवत्याहोस्विन्निरवशेष इति। तत्र प्रलयसामान्याच्छक्त्यवशेषताप्रसक्तौ ब्रवीति—अविभागापत्तिरेवेति। कुतः ? वचनात्। तथाहि कलाप्रलयमुक्त्वा वक्ति 'भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति' (प्र० ६।५) इति। अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वोपपत्तिः। तस्मादविभाग एवेति ॥ १६ ॥

फिर संशय होता है कि वह विद्वान् की कलाओं का प्रलय क्या इतर जीवों के समान कुछ अवशेष सहित होता है, अथवा निरवशेष (सम्पूर्ण रूप से) प्रलय होता है। वहां प्रलय की समानता से अन्य प्रलय के समान ज्ञानजन्य प्रलय में भी शक्ति के अवशेष की (अनिवृत्ति की) प्राप्ति होने पर कहते हैं कि अविभाग की ही प्राप्ति होती है। वह किससे सिद्ध होता है, तो कहा जाता है कि वचन से सिद्ध है। जिससे कलाओं के प्रलय को कहकर श्रुति इसी प्रकार कहती है कि (उन कलाओं के नाम और रूप नष्ट हो जाते हैं, उनके नाश होने पर जो अविनाशी तत्त्व शेष रहता है, उसको ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस प्रकार कहते हैं। इस प्रकार वह विद्वान् इस कलारहित अमृतस्वरूप होता है) और विद्यानिमित्तक प्रलय में अविद्यानिमित्तक कलाओं के अवशेषसहितत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है, जिससे अविभाग ही होता है ॥ १६ ॥

तदोकोऽधिकरणम् (९)

अविशेषो विशेषो वा स्यादुत्क्रान्तेरुपासितुः। हृत्प्रद्योतनसाम्योक्तेरविशेषोऽन्यनिर्गमात् ॥ मूर्द्धन्ययैव नाड्यासौ व्रजेन्नाडीविचिन्तनात्। विद्यासामर्थ्यतश्चापि विशेषोऽस्त्यन्यदर्शनात् ॥

मार्गारम्भ तक तो उपासक अनुपासक की उत्क्रान्ति तुल्य है ही, उसके बाद भी उपासक की उत्क्रान्ति को अन्य की उत्क्रान्ति के साथ अविशेष (तुल्यता) है वा विशेष (भेद) है, यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि हृदय प्रद्योतन की समता के कथन से अन्य के निर्गमन के समान ही उपासक का निर्गमन होता है। सिद्धान्त है कि मूर्द्धन्य सुषुम्ना नाड़ी के चिन्तन से और विद्या के सामर्थ्य से भी वह उस नाड़ी से ही गमन करेगा।

क्योंकि हृदय के प्रज्वलन के तुल्य होने पर भी उस समय अन्य के दर्शन से इस उपासक के दर्शन में विशेष होता है, अन्य को अन्य नाड़ियों का द्वार दीख पड़ता है, उपासक को ब्रह्मरन्ध्र का द्वार दीख पड़ता है ॥ १–२ ॥

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेष-गत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

तदोकोऽग्रज्वलनम्, तत्प्रकाशितद्वारः, विद्यासामर्थ्यात्, तच्छेषगत्यनुयोगात्, च, हार्दा-नुगृहीतः, शताधिकया—ये सात पद हैं। संक्षिप्तार्थं है कि (लयानन्तरं नृत्युप-क्रमकाले, तस्य जीवस्य यदोकः स्थानं हृदयं तदग्रस्य ज्वलनं भवति, तेन ज्वलनेन प्रका-शितं द्वारं यस्य जिगमिषोः स विद्यायाः सामर्थ्यात्, विद्यायाः शेषभूताया मार्गानुस्मृतेश्च योगात् हार्देन ब्रह्मणानुगृहीतः सन् शताधिकया नाड्या निष्क्रामति) इन्द्रिय और प्राण के लय के बाद मार्गगमन के आरम्भ काल में उस जीव का स्थानरूप जो हृदय है, उसके अग्रभाग का प्रकाश होता है, उस प्रकाश से जिसका द्वार (मार्ग) प्रकाशित हुआ है, वह गमनेच्छुक उपासक जीव विद्या के सामर्थ्य से और विद्या के अंगरूप मार्ग के अनुस्मरण से हार्द ब्रह्म से अनुगृहीत होकर सौ से भिन्न सुषुम्ना नाड़ी द्वारा गमन करता है।

समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यागता चिन्ता, सम्प्रति त्वपरविद्याविषयामेव चिन्तामनुवर्तयति। समाना चासृत्युपक्रमाद्विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरित्युक्तं, तमि-दानीं सृत्युपक्रमं दर्शयति। तस्योपसंहृतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषतो विज्ञा-नात्मन ओक आयतनं हृदयम् 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवा-न्ववक्रामति' इति श्रुतेः। तदग्रज्वलनं तत्पूर्विका चक्षुरादिस्थानापादाना चोत्क्रान्तिः श्रूयते—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ५।४।२) इति। सा किमनियमेनैव विद्वदविदुषोर्भवत्यथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियमप्राप्तावाचष्टे—समानेऽपि हि विद्वद-विदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्धस्थानादेव विद्वान्निष्क्रामति स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे। कुतः ? विद्यासामर्थ्यात्। यदि विद्वानपीतरवद्यतः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रामेन्नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत। तत्रानर्थिकैव विद्या स्यात्, तच्छे-षगत्यनुस्मृतियोगाच्च। विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसम्बद्धा गतिरनुशीलयि-तव्या विद्याविशेषेषु विहिता तामभ्यस्यंस्तयैव प्रतिष्ठते इति युक्तम्। तस्माद् हृदयालयेन ब्रह्मणा सूपासितेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्य-यैव शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्या नाड्या निष्क्रामतीतराभि-रितरे। तथाहि हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ (छा० ८।६।६)

इति ॥ १७ ॥

प्रसंग से प्राप्त परविद्याविषयक चिन्ता (विचार) समाप्त हुई । अब इस समय अपरविद्याविषयक ही विचार का अनुवर्तन (आरम्भ—अनुसरण) करते हैं । सृति (मार्ग) के उपक्रम पर्यन्त विद्वान् और अविद्वान् की उत्क्रान्ति तुल्य होती है, यह कहा जा चुका है । इस समय उस मार्ग के उपक्रम (आरम्भ) को दर्शाते हैं कि (वह मुमूर्षु मरणासन्न प्राणी तेजोमात्रा–इन्द्रियों का ग्रहण करता हुआ हृदय में जाता है) इस श्रुति से उपसंहृत (प्रलीन) वागादि इन्द्रिय-समूहवाला उत्क्रमण की इच्छावाला विज्ञानात्मा (जीव) का ओक अर्थात् आयतन—आश्रय हृदय सिद्ध होता है और उस हृदय के अग्रभाग का ज्वलन और उस ज्वलनपूर्वक चक्षुआदि स्थानरूप अपादान (अवधि) वाली उत्क्रान्ति सुनी जाती है कि (उस जीवन के स्थानरूप इस हृदय के अग्र-नाड़ी का मुखरूप निर्गमन का द्वार प्रकाशित होता है, उस प्रकाश से प्रकाशित द्वार से यह जीवात्मा निर्गमन करता है, वह नेत्र से वा शिर से अथवा अन्य श्रोत्रादि शरीर के देशों से निर्गमन करता है) सो वह नेत्रादि से उत्क्रमण क्या अनियम से ही विद्वान् और अविद्वान् का होता है, अथवा विद्वान् के उत्क्रमण में कोई विशेष नियम है, ऐसा संशय होने पर, विद्योतनादि श्रुति की अविशेषता से अनियम के प्राप्त होने पर कहते हैं कि विद्वान् और अविद्वान् के हृदयप्रद्योतन के तथा उससे प्रकाशित द्वारवत्त्व के तुल्य होते भी मूर्धस्थान से ही विद्वान् निष्क्रमण करता है, और स्थानान्तरों से अन्य प्राणी गमन करते हैं । ऐसा क्यों होता है, तो कहा जाता है कि विद्या के सामर्थ्य से ऐसा भेद होता है । यदि विद्वान् भी अन्य के समान जिस किसी देह के देश से उत्क्रमण करे, तो उत्कृष्ट लोक का लाभ नहीं करेगा । और उस अवस्था में विद्या अनर्थक ही होगी । और उस सगुण विद्या के शेष (अंग) रूप जो गति की अनुस्मृति (चिन्तन) है, उसके सम्बन्ध से भी उपासक ब्रह्मनाड़ी से गमन करता है । और विद्या के शेष स्वरूप, मूर्धन्य नाड़ी से सम्बन्धवाली अनुशीलन-(चिन्तन)-योग्य गति, विद्याविशेषों में विहित है । उस गति (मार्ग) का अभ्यास (चिन्तन) करता हुआ, उसी गति से प्रस्थान (गमन) करता है, यह युक्त है । अतः हृदयरूप स्थान वाले, सुन्दर रीति से उपासित ब्रह्म से अनुगृहीत (अनुकम्पित) और उस ब्रह्मभाव को प्राप्त विद्वान् मूर्धन्य सौ से अधिक एक सौ के बाद भिन्न एक नाड़ी से ही निष्क्रमण करता है, अन्य प्राणी अन्य नाड़ियों से गमन करते हैं । जिससे हार्द (ब्रह्म) विद्या को प्रस्तुत करके कहते (पढ़ते) हैं कि (एक सौ और एक हृदय की प्रधान नाड़ियाँ है, उनमें से एक नाड़ी शिर में गई है, उस नाड़ी द्वारा ऊपर जाने वाला अमृतत्व को प्राप्त करता है । उत्क्रमण में नाना प्रकार उसी गतिवाली अन्य नाड़ियाँ होती हैं) इति ॥ १७ ॥

रश्म्यधिकरणम् (१०)

अहन्येव मृतो रश्मिं याति निश्यपि वा निशि ।
सूर्यरश्मेरभावेन मृतोऽहन्येव याति तम् ॥ १ ॥
यावद्देहे रश्मिनाड्योर्युक्तो ग्रीष्मे क्षपास्वपि ।
देहदाहाद् श्रुतत्वाच्च रश्मीन्निश्यपि यात्यसौ ॥ २ ॥

मूर्धन्य नाड़ी से निकला हुआ वह उपासक (रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रामते) इस श्रुति के अनुसार सूर्यरश्मि के अनुसारी होकर ऊपर की तरफ गमन करता है। संशय है कि दिन में ही मृत प्राणी सूर्यरश्मि को प्राप्त करता है, अथवा रात्रि में मृत भी प्राप्त करता है, पूर्वपक्ष है कि रात्रि में सूर्यरश्मि के अभाव से दिन में मृत ही उस रश्मि को प्राप्त करता है। सिद्धान्त है कि देहस्थिति-पर्यन्त सदा रश्मि और नाड़ी का संयोग रहता है। सो ग्रीष्म की रात्रियों में भी देह के दाह (ताप) से और श्रुतत्व से सिद्ध होता है। इससे रात्रि में भी मृत यह उपासक रश्मियों को प्राप्त करता है ॥ १–२ ॥

रश्म्यनुसारा ॥ १८ ॥

अस्ति 'दहरोस्मिन्नन्तराकाश' इति हार्दविद्या—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८।१।१) इत्युपक्रम्य विहिता। तत्प्रक्रियायाम् 'अथ या एता हृदयस्य नाड्यः' (छा० ८।६।१) इत्युपक्रम्य सप्रपञ्चं नाडीरश्मिसंबन्धमुक्त्वोक्तम् 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति। पुनश्चोक्तम् 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६) इति। तस्माच्छताधिकया नाड्या निष्क्रामन्रश्म्यनुसारी निष्क्रामतीति गम्यते। तत्किमविशेषेणैवाहनि रात्रौ वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्विदहन्येवेति संशये सत्यविशषश्रवणादविशेषेणैव तावद्रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते ॥ १८ ॥

(जो इस ब्रह्मपुर शरीर में दहर—अल्प पुण्डरीक तुल्य वेश्म है) इस प्रकार उपक्रम करके (दहर इसमें अन्तराकाश है) इससे हार्दविद्या विहित है। उसी प्रकरण में (और जो ये हृदय की नाडियाँ हैं) इस प्रकार से उपक्रम करके विस्तारपूर्वक नाडी और रश्मि के सम्बन्ध को कह कर कहा है कि (ओर जब इस शरीर से यह उत्क्रमण करता है, तब इन्हीं रश्मियों द्वारा ऊपर गमन करता है) फिर कहा है कि (उस एक नाडी द्वारा ऊपर जाता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करता है) जिससे यह समझा जाता है कि सौ से अधिक सुषुम्ना नाडी द्वारा निष्क्रमण करता हुआ रश्मि अनुसारी निष्क्रमण करता है। वहाँ क्या सामान्य रूप से ही दिन में वा रात्रि में मरने वाले को रश्मि अनुसारित्व होता है, अथवा दिन में ही मरनेवाले को होता है, ऐसा संशय होने पर अविशेष (सामान्य) के श्रवण से अविशेषरूप से ही रश्मि के अनुसारी होता है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १८ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥

अस्त्यहनि नाडीरश्मिसम्बन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्युनुसारित्वं रात्री तु प्रेतस्य न स्यात्, नाडीरश्मिसम्बन्धविच्छेदादिति चेन्न। नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्। यावद्देहभावी हि शिराकिरणसंपर्कः। दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः—'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' (छा० ८।६।२) इति। निदाघसमये च निशास्वपि किरणानुवृत्तिरुपलभ्यते, प्रतापादिकार्यदर्शनात्। स्तोकानुवृत्तेस्तु दुर्लक्ष्यत्वमृत्वन्तररजनीषु शैशिरेष्विव दुर्दिनेषु। 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' इति चैतदेव दर्शयति। यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत रश्म्यनुसारानर्थक्यं भवेत्। नह्येतद्विशिष्याधीयते यो दिवा प्रैति स रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते यस्तु रात्रौ सोऽनपेक्ष्यैवेति। अथ तु विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नोर्ध्वमाक्रमेत पाक्षिकफला विद्येत्यप्रवृत्तिरेव तस्यां स्यात्, मृत्युकालानियमात्। अथापि रात्रावुपरतोऽहरागममुदीक्षेत। अहरागमेऽप्यस्य कदाचिदं रश्मिसम्बन्धार्हं शरीरं स्यात्पावकादिसंपर्कात्। 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८।६।५) इति च श्रुतिरनुदीक्षां दर्शयति। तस्मादविशेषेणैवेदं रात्रिंदिवं रश्म्यनुसारित्वम् ॥ १९ ॥

दिन में नाडी और रश्मि का सम्बन्ध रहता है, इससे दिन में मरनेवाले को रश्मि अनुसारित्व होगा, रात्रि में मरनेवाले को नहीं होगा, क्योंकि रात्रि में नाडी और रश्मि के सम्बन्ध का विच्छेद (अभाव) हो जाता है, यदि ऐसा कहा जाय तो यह कहना ठीक (सत्य) नहीं है। जिससे नाडी और रश्मि के सम्बन्ध को (यावद्देह) देह की स्थिति पर्यन्त भावित्व (वर्तमानत्व) रहता है। देह की स्थिति पर्यन्त शिरा और किरण (नाडी और रश्मि) का सम्बन्ध रहता ही है। और इस अर्थ को श्रुति दर्शाती है कि (इस आदित्यमण्डल से प्रवाहरूप से रश्मियाँ फैलती हैं, सो इन नाडियों में प्राप्त—प्रविष्ट होती हैं, और नाडियों से फैलती हैं, सो उन आदित्यमण्डल में प्राप्त होती है) और निदाघ (उष्ण) काल में रात्रि में भी किरणों की अनुवृत्ति (सत्ता) उपलब्ध होती है, जिससे किरणों के प्रताप (उष्णता) आदि रूप कार्य ग्रीष्म की रात्रियों में भी देखा (समझा) जाता है। अन्य ऋतुओं की रात्रियों में ही शिशिर के दुर्दिनों (मेघ से आवृत दिनों) के समान स्तोक (अल्प) किरणों की अनुवृत्ति से किरणों की दुर्लक्ष्यता (अप्रत्यक्षता) होती है। और सूर्य ही रात्रि में इस तापरूप दिन का ही धारण करता है) यह श्रुति इस अर्थ को ही दर्शाती है। और यदि रात्रि में मरनेवाला रश्मि के अनुसरण के बिना ही ऊर्ध्वगमन करे, तो रश्मि का अनुसरण अनर्थक होगा, दिन में भी वैसा ही गमन हो सकता है। और विशेष भेद का निर्देश करके श्रुति

में भी यह नहीं पढ़ा जाता है (कहा जाता है) कि जो दिन में मरता है, वह रश्मि की अपेक्षापूर्वक रश्मि-अनुसारी ऊर्ध्वंगमन करता है, और जो रात्रि में मरता है वह रश्मियों की अपेक्षा के बिना ही ऊर्ध्वंगमन करता है। यदि विद्वान् (उपासक) भी रात्रि में मरणरूप अपराध मात्र से ऊर्ध्व गति नहीं करे, तो पाक्षिक (वैकल्पिक) फलवाली विद्या होगी, इससे उस विद्या में अप्रवृत्ति होगी, जिससे मृत्युकाल का कोई नियम नहीं है कि उपासक दिन में ही मरता है इत्यादि। और यदि रात्रि में मरा हुआ विद्वान् रश्मि के अनुसरण के लिए दिन के आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ वहाँ वर्तमान रहेगा, तो दिन का आगमन होने पर भी कभी इसका शरीर अग्नि आदि के सम्बन्ध से रश्मि के साथ सम्बन्ध के योग्य नहीं रहेगा। और (वह उपासक जितने काल में मन की प्रेरणा संकल्प करता है, उतने काल में आदित्य को प्राप्त करता है) यह श्रुति अनुदीक्षा (अप्रतीक्षा) को दर्शाती है। अतः अविशेषरूप से ही यह रश्मि अनुसारित्व रात्रि और दिन में होता है ॥ १९ ॥

दक्षिणायनाधिकरणम् (११)

अयने दक्षिणे मृत्वा धीफलं नैत्यथैति वा। नैत्युत्तरायणाध्वोक्तेर्भीष्मस्यापि प्रतीक्षणात् ॥
आतिवाहिकदेवोक्तेर्वरख्यात्यै प्रतीक्षणात्। फलैकान्त्याच्च विद्यायाः फलं प्राप्नोत्युपासकः॥

इस पूर्वोक्त नाडी और रश्मि के सदा सम्बन्ध से और काल की अप्रतीक्षा आदि से दक्षिणायन में मरने वाला उपासक भी ब्रह्मलोक में प्राप्त होता है। संशय है कि दक्षिणायन में मर कर उपासना के फल को नहीं प्राप्त करता है, अथवा प्राप्त करता है। पूर्वपक्ष है कि उत्तरायण मार्ग के कथन से और भीष्मपितामह के उत्तरायण की प्रतीक्षा से भी दक्षिणायन में मरने वाला उपासक उपासना के फल-रूप ब्रह्मलोक को नहीं प्राप्त करता है। सिद्धान्त है कि उत्तरायण वर्ष आदि शब्दों से कालादि नहीं कहे गये हैं, किन्तु उन शब्दों से आतिवाहिक (ब्रह्मलोक में प्राप्त कराने वाले) देव विशेष कहे गए हैं। भीष्मपितामह ने प्रसन्न पिता से प्राप्त ऐच्छिक मृत्युरूप वर की ख्याति के लिए काल की प्रतीक्षा की, तथा विद्याफल की ऐकान्तिकता (अव्य-भिचारिता—अवश्यभाविता) से दक्षिणायन में मृत उपासक उपासना का फल पाता है॥

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

अतएव चोदीक्षानुपपत्तेरपाक्षिकफलत्वाच्च विद्याया अनियतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेऽपि म्रियमाणो विद्वान्प्राप्नोत्येव विद्याफलम्। उत्तरायणमरण-प्राशस्त्यप्रसिद्धेर्भीष्मस्य च प्रतीक्षादर्शनात् 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्' (छा० ४।१५।५) इति च श्रुतेरपेक्षितव्यमुत्तरायणमितीमामा-शङ्कामनेन सूत्रेणापनुदति। प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्वद्विषया। भीष्मस्य तूत्त-रायणप्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थं च। श्रुतेस्त्वर्थं वक्ष्यति 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् (ब्र० सू० ३।३।४) इति ॥२०॥

अतएव उक्त प्रतीक्षा की अनुपपत्ति से, विद्या के अपाक्षिक (नित्य) फलवत्त्व से और मृत्यु के अनियत काल होने से दक्षिणायन में भी मरने वाला विद्वान् विद्या के फल को प्राप्त करता ही है। उत्तरायण में मरण के प्राशस्त्य (श्रेष्ठता) की प्रसिद्धि से और भीष्म जी के उत्तरायण की प्रतीक्षा के दर्शन से और (शुक्ल पक्ष से जिन छह मासों में सूर्य उत्तर गमन करते हैं, उन मासों में उपासक प्राप्त होता है) इस श्रुति से उत्तरायण ब्रह्मलोक की प्राप्ति में अपेक्षितव्य (कारण—मार्ग) हैं, इस आशंका का इस सूत्र से अपनोदन (निवारण) करते हैं कि प्रशस्तता प्रसिद्धि अविद्वान्-विषयक है, कि दैवयोग से उत्तरायण में अज्ञ का मरण प्रशस्त है। भीष्म की उत्तरायण की प्रतीक्षा आचार का परिपावन कराने के लिए है और पिता को प्रसन्नता से प्राप्त स्वतन्त्रमृत्युता को समझाने के लिए है। श्रुति का अर्थ तो (आतिवाहकास्तल्लिङ्गात्) इस सूत्र से कहेंगे॥

ननु च—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ (गी० ८।२३)

इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावपुनरावृत्तये नियमितः कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति। अत्रोच्यते—

उक्तार्थ में शंका होती है कि (हे भरतकुल में श्रेष्ठ ! जिस काल में प्रयात—मृतयोगी अनावृत्ति—मुक्ति, और आवृत्ति—पुनर्जन्मसंसरण पाते हैं, वह काल मैं तुम्हें कहूँगा) इस प्रकार काल को प्रधानता से आरम्भ करके दिनादिरूप काल-विशेष अपुनरावृत्ति के लिए स्मृति में नियमित किया गया है। फिर रात्रि में वा दक्षिणायन में मरने वाला अनावृत्ति कैसे पावेगा ? यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते। स्मार्ते चैते योगसांख्ये न श्रौते। अतो विषयभेदात्प्रमाणविशेषाच्च नास्य स्मार्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञानेष्ववतारः। ननु—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ॥ (गी० ८.२४।२५)

इति च श्रौतावेतौ देवयानपितृयाणौ प्रत्यभिज्ञायेते स्मृतावपीति। उच्यते—'तं कालं वक्ष्यामि' (गी० ८।२३) इति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानाद्विरोधमाशङ्क्य परिहार उक्तः। यदा पुनः स्मृतावप्यग्न्याद्या देवता एवातिवाहिक्यो गृह्यन्ते तदा न कश्चिद्विरोध इति ॥ २१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

—:०:—

कर्मभक्तियोग प्राणायामादि अभ्यासयोगवालों के प्रति यह दिन आदि काल का विनियोग (नियम) अनावृत्ति (अपुनर्जन्म) के लिए स्मृति में कहा जाता है। भक्तिपूर्वक ईश्वरार्पण–बुद्धि से किया गया कर्मरूप योग, धारणापूर्वक अकर्तृत्वादि का अनुभव-विवेकादिरूप सांख्य, ये दोनों योग और सांख्य स्मार्त हैं, श्रौत नहीं हैं। अर्थात् स्मृतिविहित वे दो प्रकार की उपासनाएँ हैं, गति हैं श्रुतिविहित नहीं हैं। इससे विषय के भेद से और प्रमाण-विशेष से इस स्मृतिसिद्ध कालनियम का श्रुति से विहित विज्ञानों में प्राप्ति-सम्बन्ध नहीं होता है। शंका फिर भी होती है कि (अग्नि, ज्योतिः, दिन, शुक्लपक्ष, छह मास उत्तरायण। धूम, रात्रि तथा कृष्णपक्ष, छह मास दक्षिणायन) इन स्मृति-वचनों में भी श्रुति-वर्णित ही देवयान, और पितृयाण प्रत्यभिज्ञात होते हैं, इससे श्रौत से भिन्न नहीं है। उत्तर कहा जाता है कि (उस काल को कहूँगा) इस प्रकार स्मृति में काल की प्रतिज्ञा से विरोध की शंका का परिहार कहा गया है। जब स्मृति में भी अग्नि आदि आतिवाहिक (मार्गप्रदर्शक) देवता ही गृहीत होते हैं, तब कोई विरोध नहीं है ॥ २१ ॥

साक्षी सदैव विमलो गुणसङ्गहीनो
द्रष्टैव केवलविभुः स सदा चकास्ति।
मायैव भाति विविधाकृतिभिस्तदीया
ह्यात्मैव केवलनिजः स चराचरस्य ॥ १ ॥
प्राकाश्यं वै जगत् सर्वं रामः प्राकाशकः सदा।
मायया हीशतां याति सत्त्वाज्ज्ञानगुणाश्रयः ॥ २ ॥

॥ चतुर्थं अध्याय में द्वितीयपाद समाप्त ॥

चतुर्थेऽध्याये तृतीयः पादः

(अत्र पादे सगुणविद्यावतो मृतस्योत्तरमार्गाभिधानम्)

अर्चिराद्यधिकरणम् (१)

नानाविधो ब्रह्मलोकमार्गो यद्वार्च्चिरादिकः । नानाविधः स्याद्विद्यासु वर्णनादन्यथान्यथा ॥१॥
एक एवार्च्चिरादिः स्यान्नानाश्रुत्युक्तपूर्वकः । यतः पञ्चाग्निविद्यायां विद्यान्तरवतां श्रुतः ॥२॥

सभी ब्रह्मलोक के यात्री एक अर्च्चि आदि मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं, जिससे उसी की मार्गरूप से प्रख्याति है । पञ्चाग्नि-विद्या में वही मार्ग अन्य श्रद्धा आदि वालों के लिए भी कहा गया है । संशय होता है कि जैसे किसी एक नगर में जाने के लिए नानाविध मार्ग होते हैं, वैसे ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति के मार्ग नानाविध अनेक प्रकार के अनेक हैं । अथवा अर्च्चि आदि रूप एक ही मार्ग है । पूर्वपक्ष है कि विद्याओं में अन्य अन्य प्रकार से मार्गों के वर्णन से नानाविध मार्ग होगा । सिद्धान्त है कि नानाश्रुति की उक्तिपूर्वक गुणोपसंहार न्याय से एक ही अर्चि आदि रूप मार्ग ज्ञेय, ध्येय, गन्तव्य होगा, जिससे पञ्चाग्नि-विद्या में विद्यान्तर वालों का अर्चि आदि मार्ग सुना गया है ॥ १-२ ॥

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

आसृत्युपक्रमात्समानोत्क्रान्तिरित्युक्तम् । सृतिस्तु श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा श्रूयते । नाडीरश्मिसम्बन्धेनैका 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते' (छा० ८।६।५) इति । अर्चिरादिकैका 'तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽह्नः' (बृ० ६।२।१५) इति । 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १३) इत्यन्या । 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति' (बृ० ५।१८।१) इत्यपरा । 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' (मुण्ड० १।२।११) इति चापरा । तत्र संशयः– किं परस्परं भिन्ना एताः सृतयः किं वैकैवानेकविशेषणेति । तत्र प्राप्तं तावद्भिन्ना एताः सृतय इति, भिन्नप्रकरणत्वात्, भिन्नोपासनाशेषत्वाच्च । अपि च 'अथैतैरेव रश्मिभिः' (छा० ८।६।५) इत्यवधारणमर्चिराद्यपेक्षायामुपरुध्येत, त्वरावचनं च पीड्येत 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८।६।५) इति । तस्मादन्योन्यभिन्ना एवैते पन्थान इति ।

मार्ग के उपक्रमपर्यन्त सबकी समान उत्क्रान्ति होती है, यह कहा जा चुका है, परन्तु भिन्न श्रुतियों में अनेक प्रकार का मार्ग सुना जाता है । नाडी और रश्मि के सम्बन्ध द्वारा एक सृति (गति) सुनी जाती है कि (हृदय में प्राप्ति के बाद इन रश्मियों द्वारा ही ऊपर गमन करता है) एक अर्च्चि आदि सृति सुनी जाती है कि (वे अर्च्चि को प्राप्त होते हैं अर्च्चि से दिन को प्राप्त होते हैं और (वह इस देवयान मार्ग को प्राप्त करके अग्निलोक में आता है) यह अन्य सृति सुनी जाती है । (जब वह पुरुष इस लोक

से गमन करता है, तब वायु लोक में आता है) यह अन्य सृति श्रुति है। (वे विरज-पापरहित, वानप्रस्थादि सूर्य द्वारा उत्तरायण-मार्ग से प्रयाण-गमन करते हैं) यह भी अन्य सृति सुनी जाती है। यहाँ संशय होता है कि क्या ये परस्पर भिन्न मार्ग हैं। अथवा अनेक विशेषण वाला एक ही मार्ग है। यहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि भिन्न-प्रकरणता से भिन्न ही ये मार्ग हैं। भिन्न उपासनाओं के शेष अङ्ग होने से भी भिन्न हैं। दूसरी बात है कि (इन रश्मियों से ही ऊपर जाता है) यह अवधारण अर्चि आदि की अपेक्षा होने पर उपरुद्ध (बाधित) होगा। और (जितने काल में मन की प्रेरणा करे उतने काल में आदित्य में जाता है) वह शीघ्रताबोधक वचन भी अन्य की अपेक्षा में पीडित होगा। जिससे परस्पर भिन्न ही ये मार्ग हैं।

एवं प्राप्तेऽभिदध्महे—अर्चिरादिनेति। सर्वो ब्रह्म प्रेप्सुरर्चिरादिनैवाध्वना रंहतीति प्रतिजानीमहे। कुतः? तत्प्रथितेः। प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम्। तथाहि पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे 'येऽचामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति विद्यान्तरशीलिनामप्यर्चिरादिका सृतिः श्राव्यते। स्यादेतत्। यासु विद्यासु न काचिद् गतिरुच्यते तास्वियमर्चिरादिकोपतिष्ठतां यासु त्वन्यान्या श्राव्यते तासु किमित्यर्चिराद्याश्रयणमिति। अत्रोच्यते—भवेदेतदेवं यद्यत्यन्तभिन्ना एवैताः सृतयः स्युः। एकैव त्वेषा सृतिरनेकविशेषणा ब्रह्मलोक-प्रपदनी क्वचित्केनचिद्विशेषणेनोपलक्षितेति वदामः।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (अर्चिरादिनेति) सभी ब्रह्मलोक की प्राप्ति चाहने वाले अर्चि आदि एक ही मार्ग से गमन करते है। ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं, किस हेतु से ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं, तो कहा जाता है कि उस अर्चि आदि की प्रथिति (मार्ग रूप से प्रख्याति) से ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है, जिससे सब विद्वानों का यह मार्ग प्रथित (प्रख्यात-प्रसिद्ध) है। क्योंकि पञ्चाग्नि-विद्या-प्रकरण में (जो यथोक्त पञ्चाग्नि-विद्या को जानते हैं, और जो ये वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य-ब्रह्म हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे सब अर्चि को प्राप्त करते हैं) इस प्रकार विद्यान्तर के अनु-शीलन-चिन्तन वालों की भी अर्चि आदि सृति सुनाई जाती है। शंका होती है कि विद्या-न्तरशीली के लिए यह श्रवण हो सकता है, परन्तु जिन विद्याओं में कोई गति नहीं कही जाती है, उन विद्याओं में यह अर्चि आदिरूपगति उपस्थित हो। जिन विद्याओं में अन्य अन्य गति सुनाई जाती है, उनमें किस हेतु से अर्चि आदि का आश्रयण होगा। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि यह भिन्न मार्ग-श्रवण ऐसा होता, यदि ये सृतियाँ अत्यन्त भिन्न ही होतीं। किन्तु यह एक ही सृति अनेक विशेषवाली ब्रह्मलोक तक पहुँचने और पहुँचाने वाली कहीं किसी विशेषण से उपलक्षित (चिह्नित) है, ऐसा कहते हैं।

सर्वत्रैकदेशप्रत्यभिज्ञानादितरेतरविशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः। प्रकरणभेदेऽपि तु विद्यैकत्वे भवतीतरेतरविशेषणोपसंहारवद् गतिविशेषणानामप्युपसंहारः। विद्या-भेदेऽपि तु गत्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद् गन्तव्याभेदाच्च गत्यभेद एव। तथाहि 'तेपु

ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति (बृ० ६।२।१५) 'तस्मिन्वसन्ति' शाश्वतीः समाः' (बृ० ५।१।१०) 'सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्यष्टिस्तां जितिं जयति तां व्यष्टिं व्यश्नुते' (कौषी० १।४) 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' (छा० २।४।३) इति च तत्र तत्र तदेवैकं फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं प्रदर्श्यते। यत्त्वेतैरेवेत्यवधारणमर्चिराद्याश्रयणे न स्यादिति। नैष दोषः। रश्मिप्राप्तिपरत्वादस्य। नह्येक एव शब्दो रश्मींश्च प्रापयितुमर्हत्यर्चिरादींश्च व्यावर्तयितुम्। तस्माद्रश्मिसम्बन्ध एवायमवधार्यत इति द्रष्टव्यम्। त्वरावचनं त्वर्चिराद्यपेक्षायामपि गन्तव्यान्तरापेक्षया शीघ्रप्राप्त्यर्थत्वान्नोपरुध्यते। यथा निमिषमात्रेणात्रागम्यत इति। अपिच 'अथैनयोः पथोर्न कतरेणचन' (छा० ५।१०।८) इति मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टं तृतीयं स्थानमाचक्षाणा पितृयाणव्यतिरिक्तमेकमेव देवयानमर्चिरादिपर्वाणं पन्थानं प्रथयति। भूयांसि चार्चिरादिश्रुतौ मार्गपर्वाण्यल्पीयांसि त्वन्यत्र। भूयसां चानुगुण्येनाल्पीयसां च नयनं न्याय्यमित्यतोऽप्यर्चिरादिना तत्प्रथितेरित्युक्तम् ॥ १ ॥

सर्वत्र एक देश की प्रत्यभिज्ञा से परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव की उपपत्ति से भी मार्ग एक है। प्रकरण के भेद रहते भी विद्या के एकत्व रहने पर परस्पर विशेषणों के उपसंहार के समान गति के विशेषणों का भी उपसंहार होता है। विद्या के भेद होते भी गति के एकदेश की प्रत्यभिज्ञा से और गन्तव्य ब्रह्मलोक के अभेद (एक) होने से गति का अभेद ही है। और गन्तव्य का अभेद इस प्रकार है कि (उन ब्रह्मलोकों में परावतः, परम दीर्घ आयुवाले हिरण्यगर्भ के परा-गर्भ सम्वत्सरपर्यन्त वे ब्रह्मोपासक बसते हैं। उस प्रजापति के लोक में शाश्वत नित्य वर्षों तक बसते हैं। वह जो ब्रह्म-हिरण्यगर्भ की जिति-विजयविभूति और व्यष्टि-व्याप्ति है उस विजय और व्याप्ति को प्राप्त करता है। वहाँ ब्रह्मचर्य से जो इस ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है) इन वचनों से वही ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूप फल तत्तत् स्थानों में प्रदर्शित कराया जाता है। इससे गन्तव्य एक है। और जो यह कहा था, कि (इन रश्मियों के ही द्वारा ऊर्ध्व आक्रमण करता है) यह अवधारण अर्चि आदि के आश्रयण करने पर नहीं होगा, वहाँ कहा जाता है कि इस अवधारण के रश्मि के प्राप्तिपरक होने से यह दोष नहीं है। अर्थात् रात्रि के रश्मि की स्पष्ट प्रतीति नहीं होने से रश्मि के असम्बन्ध प्राप्त होने पर उस समय भी उपासक का रश्मि के साथ सम्बन्ध दर्शाने के लिए 'एव' शब्दरूप अवधारण है। एक ही एव शब्द रश्मियों को प्राप्त कराने के लिए और अर्चि आदि की व्यावृत्ति (निवृत्ति) कराने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है। जिससे यह रश्मि का सम्बन्ध ही अवधारित (निश्चित) होता है, ऐसा समझना चाहिए। अर्चि आदि की अपेक्षा होने पर भी त्वरावचन (शीघ्रताकथन) तो गन्तव्यान्तर की अपेक्षा से ब्रह्मलोक की प्राप्ति में शीघ्रतार्थक होने से उपरुद्ध नहीं होता है। जैसे कहा जाता है कि निमिषमात्र में यहाँ आया जाता है। दूसरी बात है कि (जब न तो विद्या का

सेवन करता है न इष्टादि कर्मों का सेवन करता है। तब इन अर्चि आदि और धूमादि मार्गों में से किसी मार्ग से गमन नहीं करता है) इस प्रकार उत्तर-दक्षिण दोनों मार्गों से भ्रष्टों के तृतीय कष्टमय स्थान को कहती हुई श्रुति, पितृयाण से भिन्न अर्चि आदि पर्वग्रन्थि-अंशवाले एक ही देवयान मार्ग प्रख्यात करती कहती है। यदि कहा जाय कि उत्तर मार्ग के एक होते भी अर्चि आदि यह विशेषण देने में क्या हेतु है, तो कहा जाता है कि अर्चि आदि श्रुति में मार्ग के पर्व बहुत हैं। और अन्य श्रुतियों में अल्प पर्व हैं और बहुतों के अनुसार अल्पों की प्राप्ति कराना उचित होता है, इस हेतु से भी (अर्चिरादिना तत्प्रथितेः) यह कहा गया है ॥ १ ॥

वाय्वधिकरणम् (२)

सन्निवेशयितुं वायुरत्राशक्योऽथ शक्यते । न शक्यो वायुलोकस्य श्रुतक्रमविवर्जनात् ॥ १ ॥
वायुश्छिद्राद्विनिष्क्रम्य स आदित्यं व्रजेदिति । श्रुतेरर्वाग्रवेर्वायुर्देवलोकस्ततोऽप्यवः ॥ २ ॥

(स वायुमागच्छति) वह उपासक वायु को प्राप्त करता है। इस प्रकार से क्रम-रहित श्रुत वायु का अविशेष और विशेषरूप अन्य वचन से शब्द (सम्वत्सर) से आगे स्थान समझना चाहिए ॥

संशय है कि इस अर्चि आदि पर्ववाले मार्ग में पर्वरूप से वायु का सन्निवेश किया जा सकता है, अथवा नहीं। पूर्वपक्ष है कि वायुलोक के श्रुतक्रम से रहित होने से उसका सन्निवेश नहीं हो सकता है। सिद्धान्त है कि वह उपासक वायु के छिद्र से निकल कर आदित्य लोक में जाता है, इस श्रुति से सूर्य से नीचे वायु का स्थान है, और उससे भी नीचे देवलोक है, इस प्रकार अर्चि आदि मार्ग में वायु का सन्निवेश है ॥ १–२ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

केन पुनः संनिवेशविशेषेण गतिविशेषाणामितरेतरविशेषणविशेष्यभाव इति तदेतत्सुहृद्भूत्वाऽऽचार्यो ग्रथयति। 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' (कौ० १।३) इति कौषीतकिनां देवयानः पन्थाः पठ्यते। तत्रार्चिरग्निलोकशब्दौ तावदेकार्थौ ज्वलनवचनत्वादिति नात्र संनिवेशक्रमः क्वचिदन्वेष्यः। वायुस्त्वर्चिरादौ वर्त्मनि अश्रुतः कतमस्मिन् स्थाने संनिवेशयितव्य इति। उच्यते—'तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ५।१०।१,२) इत्यत्र संवत्सरात्पराञ्चमादित्यादर्वाञ्चं वायुमभिसम्भवन्ति। कस्मात्? अविशेषविशेषाभ्याम्। तथाहि—'स वायुलोकम्' (कौ० १।३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माँल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा

रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इति। एतस्मादादित्याद्वायोः पूर्वत्वदर्शनाद्विशेषादब्दादित्ययोरन्तराले वायुर्निवेशयितव्यः।

अर्चि आदि के एक मार्गरूप होने पर किस सन्निवेश-विशेष (रचनास्थान-भेद) से गतिविशेषणों (मार्गपर्वों) का परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव है। किस प्रकार पूर्व-पररूपता है, उस श्रुति के अनुसार इस भेद का सुहृद् होकर आचार्य ग्रन्थन (उल्लेख) करते हैं। (वह हृदय में प्राप्त उपासक देवयान मार्ग को प्राप्त करके अग्निलोक में आता है। वह वायु लोक में आता है, वह वरुणलोक में आता है, वह इन्द्रलोक में आता है, वह प्रजापति लोक में आता है, ब्रह्मलोक में आता है) इस प्रकार कौषीतकियों का देवयान मार्ग पढ़ा जाता है। वहाँ ज्वलनवाचकत्व से वे अर्चि और अग्निलोक शब्द एकार्थक हैं, इनमें कहीं सन्निवेश का क्रम अन्वेषण के योग्य नहीं है। परन्तु अर्चि आदि मार्ग में वायु अश्रुत है, सो किस स्थान में सन्निवेश कराने योग्य है, अर्थात् कौषीतकी पाठ के अनुसार अग्निरूप अर्चि से आगे, अथवा वक्ष्यमाण श्रुति के अनुसार सम्वत्सर से आगे सन्निवेश के योग्य है। ऐसा संशय होने पर कहा जाता है कि (वे उपासक अर्चि को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन को प्राप्त होते हैं, दिन से आपूर्यमाण शुक्ल पक्ष को प्राप्त करते हैं। शुक्ल पक्ष से जिन छह मासों में सूर्य उत्तर जाते हैं उन मासों को वे प्राप्त होते हैं, मासों से सम्वत्सर को और सम्वत्सर से आदित्य को प्राप्त होते हैं) इस श्रुति में वर्णित सम्वत्सर के बाद और आदित्य से प्रथम वायु को प्राप्त होते हैं, क्योंकि अविशेष और विशेष श्रुतियों से ऐसा ही सिद्ध होता है। अतः अविशेष और विशेष श्रुति इस प्रकार है (वह वायु को प्राप्त होता है) यहाँ अविशेष रूप से उपदिष्ट वायु का अन्य श्रुति में विशेष रूप से उपदेश देखा जाता है कि (जब उपासक पुरुष इस लोक देह से निर्गमन करता है, तब वह वायु को प्राप्त होता है, वह वायु उस पुरुष के लिए वहाँ स्थान के त्याग द्वारा रथचक्र के छिद्र समान मार्ग देता है उस मार्ग से वह ऊपर जाता है और आदित्य लोक में प्राप्त होता है) इति। इस श्रुति-वचन से इस आदित्य से वायु के पूर्वत्व-प्रथमत्व के दर्शनरूप विशेष से सम्वत्सर और आदित्य के मध्य में वायु का निवेश करने समझने योग्य है।

कस्मात्पुनरग्नेः परत्वदर्शनाद्विशेषादर्चिषोऽनन्तरं वायुर्न निवेश्यते। नैषोऽस्ति विशेष इति वदामः। ननूदाहृता श्रुतिः—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' (कौषी० १।३) इति। उच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणावस्थितो नात्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। पदार्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते 'एतञ्चैतं च स गच्छती'ति इतरत्र पुनर्वायुप्रत्तेन रथचक्रमात्रेण च्छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छतीत्यवगम्यते क्रमः। तस्मात्सूक्तमविशेषविशेषाभ्यामिति। वाजसनेयिनस्तु

'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६।२।१५) इति समामनन्ति, तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकाद्वायुमभिसम्भवेयुः । वायुमब्दादिति तु छान्दोग-श्रुत्यपेक्षयोक्तम् । छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र देवलोको न विद्यते परत्र संवत्सरः, तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ । तत्रापि माससम्बन्धात्संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम् ॥ २ ॥

यदि कहा जाय कि कौषीतकी पाठ के अनुसार अग्नि से परत्वदर्शनरूप विशेष से अर्चि के अनन्तर वायु का निवेश किस हेतु से नहीं किया जाता है। तो कहते हैं कि यह विशेष नहीं है । यदि कहा जाय कि श्रुति उदाहृत हो चुकी है कि (वह इस देवयान-मार्ग को प्राप्त करके अग्निलोक में आता है, वह वायुलोक में आता है, वह वरुण लोक में आता है) इति । तो कहा जाता है कि इस श्रुति में पूर्वापर रूप से केवल पाठ अव-स्थित है, इसमें क्रमवाचक कोई शब्द नहीं है । जिससे पदार्थों का उपदेशमात्र यहाँ किया जाता है कि (इसलोक में वह जाता है) और अन्य श्रुति में वायु से प्रदत्त (दिया गया) रथचक्रमात्र छिद्र द्वारा ऊपर जाकर आदित्य लोक में प्राप्त होता है, इस प्रकार क्रम अवगत होता है । जिससे सुन्दर कहा गया है कि (अविशेष और विशेष से क्रम अवगत होता है) और वाजसनेयी तो (मासों से देवलोक को और देव-लोक से आदित्य को प्राप्त करता है इस प्रकार पढ़ते हैं । वहाँ आदित्य से अनन्तरता के लिए देवलोक से वायु को उपासक प्राप्त होंगे । सूत्र में, वायुमब्दात्, सम्वत्सर से वायु को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार तो छान्दोग्य श्रुति की अपेक्षा से कहा गया है । छान्दोग्य और वाजसनेयक में से एक में देवलोक नहीं है, और अन्य में सम्वत्सर नहीं है, वहाँ श्रुतिद्वय के प्रत्यय (एकवाक्यता) से दोनों स्थानों में ग्रन्थन (सम्बन्ध) के योग्य हैं । उनमें भी सम्वत्सर को मास के साथ कालत्व अवयवित्वरूप सम्बन्ध से मास से पर सम्वत्सर होगा और देवलोक से पूर्व होगा, देवलोक सम्वत्सर से पश्चिम होगा, उससे पर वायु और वायु से पर आदित्य सन्निविष्ट होगा ऐसा विवेक कर्तव्य है ॥ २ ॥

तडिदधिकरणम् (३)

वारुणादेः सन्निवेशो नास्ति तत्राथ विद्यते । नास्ति, वायोरिवैतस्य व्यवस्थाश्रुत्यभावतः ॥१॥
विद्युत्सम्बन्धिवृष्टिस्थनीरस्याधिपतित्वतः । वरुणो विद्युतस्तूर्ध्वं तत इन्द्रप्रजापती ॥२॥

जल के स्वामित्व द्वारा वरुण को विद्युत् के साथ सम्बन्ध है इससे विद्युत् के ऊपर वरुण का स्थान है । संशय है कि उस अर्चि आदि मार्ग में पूर्वोक्त वरुणादि का सन्निवेश है, अथवा नहीं है । पूर्वपक्ष है कि वायु के समान इस वरुणादि की व्यवस्था श्रुति के अभाव से सन्निवेश नहीं है, सिद्धान्त है कि विद्युत्-सम्बन्धी वृष्टि में स्थित जल के स्वामी होने से विद्युत् के ऊपर वरुण का स्थान है, और पाठ के अनुसार उसके आगे इन्द्र और प्रजापति के स्थान हैं ॥ १–२ ॥

तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्' (छा० ४।१५।५) इत्यस्या विद्युत उपरिष्टात्स वरुणलोकमित्ययं वरुणः सम्बध्यते। अस्ति हि सम्बन्धो विद्युद्वरुणयोः। यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति, 'विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा' (छा० ७।११।१) इति च ब्राह्मणम्। अपां चाधिपतिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः। वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च आगन्तुकत्वादपि वरुणादीनामन्त एव निवेशः। वैशेषिकस्थानाभावाद्विद्युच्चान्त्यार्चिरादौ वर्त्मनि ॥ ३ ॥

(आदित्य से चन्द्र में और चन्द्र से विद्युत् में प्राप्त होते हैं) इस प्रकार श्रुति में श्रुत इस विद्युत् से ऊपर वह उपासक वरुण लोक में जाता है। इस प्रकार यह वरुण से सम्बन्ध होता है। जिससे विद्युत् और वरुण का सम्बन्ध है। जब ही तीव्र स्तनित-(गर्जना)रूप निर्घोष (शब्द) वाली विशाल विद्युत् मेघ के उदरों में प्रनृत्य करती है, तब पानी गिरते हैं। (विजली चमकती है, मेघ गरजता है। वर्षा होगी) ऐसा लोकोक्ति-विषयक ब्राह्मण है। जलों का अधिपति वरुण है, ऐसी श्रुति-स्मृति में प्रसिद्धि है। स्थानान्तर के अभाव से और पाठ के सामर्थ्य से वरुण के ऊपर इन्द्र और प्रजापति हैं, और आगन्तुकत्व से भी (आगन्तुकानामन्ते निवेशः) इस लौकिक न्याय से वरुणादि का अन्त में ही निवेश होता है। अर्थात् अर्चि आदि के मध्य में निर्दिष्ट किसी स्थान के अभाव से वरुणादि को आगन्तुकत्व है, और आगन्तुक न्याय से विद्युत् के बाद वरुण से सम्बन्ध होने पर पाठ से इन्द्र और प्रजापति का क्रम होता है। अर्चि आदि मार्ग में विद्युत् अन्त में हैं, इससे विशेष स्थान के अभाव से वरुणादि का अन्त में सन्निवेश है ॥ ३ ॥

आतिवाहिकाधिकरणम् (४)

मार्गचिह्नं भोगभूर्वा नेतारो वार्चिरादयः। आद्यौ स्यातां मार्गचिह्नसारूप्याल्लोकशब्दतः ॥१॥
अन्ते गमयतीत्युक्तेर्नेतारस्तेषु चेदृशः। निर्देशोऽस्त्यत्र लोकाख्या तन्निवासिजनान् प्रति ॥२॥

आतिवाहिक देवविशेष के बोधक लिङ्गों से अर्चि आदि शब्दों से आतिवाहिक (मार्गप्रदर्शक) देव गृहीत होते हैं। संशय है कि अर्चि आदि मार्ग के चिह्न हैं, अथवा भोग के स्थान हैं। यद्वा नेता देव हैं। पूर्व पक्ष है कि मार्गचिह्न की स्वरूपता से और लोक शब्द से प्रथम के दोनों पक्ष हो सकते हैं। सिद्धान्त है कि अन्त में अमानव पुरुष पहुँचाता है, इस कथन से अर्चि आदि नेता ही हैं, उन में ही इस प्रकार का लोकसदृश निर्देश है, और यहाँ लोक नाम उन लोकों में बसने वालों के प्रति कहा गया है ॥१--२॥

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

तेष्वेवार्चिरादिषु संशयः—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवातिनेतारो गन्तॄणामिति। तत्र मार्गलक्षणभूता अर्चिरादय इति तावत्

प्राप्तम्, तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य। यथाहि लोके कश्चिद् ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते गच्छेतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीति। एवमिहाप्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह। अथवा भोगभूमय इति प्राप्तम्। तथाहि—लोकशब्देनाग्न्यादीनुपबध्नाति 'अग्निलोकमागच्छति' (कौषी० १।३) इत्यादि। लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते 'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (बृ० १।५।१६) इति च। तथाच ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते' इत्यादि। तस्मान्नातिवाहिका अर्चिरादयः। अचेतनत्वादप्येतेषामातिवाहिकत्वानुपपत्तिः। चेतना हि लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाह्यानतिवाहयन्तीति।

उन्हीं अर्चि आदि-विषयक संशय होता है कि क्या ये अर्चि आदि मार्ग के चिह्न हैं, अथवा भोग के स्थान हैं, अथवा ब्रह्मलोक में जाने वालों के अतिनेता-अतिवहन (पहुँचाने में) समर्थ आतिवाहिक हैं। वहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि मार्गचिह्नरूप अर्चि आदि हैं। क्योंकि उपदेश को वह चिह्नस्वरूपत्व है, जैसे लोक में कोई किसी ग्राम वा नगर में प्रस्थान (यात्रा) की इच्छावाला गुरुजनों से अनुशासित होता है, उपदेश पाता है कि तुम यहाँ से उस पर्वत पर जावो, वहाँ से न्यग्रोध (वटवृक्ष) के पास जाना, वहाँ से नदी के पास जाना, उसके बाद ग्राम वा नगर को प्राप्त करोगे। इसी प्रकार यहाँ भी अर्चि से दिन, दिन से शुक्ल पक्ष को प्राप्त करता है, इत्यादि श्रुति कहती है। अथवा अर्चि आदि भोग के स्थान हैं, ऐसा प्राप्त होता है। जिससे लोकरूप भोग स्थान के समान ही लोकशब्द के साथ अग्नि आदि का उपनिबन्ध (संबन्ध-उल्लेख) श्रुति करती है कि (अग्निलोक में प्राप्त होता है) लोक शब्द प्राणियों के भोग-स्थानों में भाषित (पठित-कथित) होता है कि (मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक ये तीन लोक हैं) इसी प्रकार का ब्राह्मण-ग्रन्थ है कि (लोक शब्द से कहे गए भोग के आश्रयरूप दिन-रात्रि आदि में वे कर्मी और ज्ञानी उपासक सक्ति (भोग) का अनुभव करते हैं) इत्यादि। जिससे अर्चि आदि आतिवाहिक नहीं हैं। अचेतनत्व से भी इनके आतिवाहिकत्व की अनुपपत्ति है। जिससे लोक में राजा से नियुक्त चेतन पुरुष दुर्गम मार्गों में जाने वालों को इष्ट स्थान में पहुंचाते हैं। अर्थात् दुर्गम मार्गों के पार जाने योग्यों को मार्गों से परे ले जाते हैं।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आतिवाहिका एवैते भवितुमर्हन्ति। कुतः ? तल्लिङ्गात्। तथाहि 'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इति सिद्धवद्गमयितृत्वं दर्शयति। यद्वचनं वाचनिकमिति न्यायात्। तद्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेत्। न। प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशेषणस्य। यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति ॥ ४ ॥

ननु तल्लिङ्गमात्रमगमकं न्यायाभावात् । नैष दोषः,—

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि ये अर्चि आदि आतिवाहिक ही होने योग्य हैं, किस हेतु से ऐसा होने योग्य है, तो कहा जाता है कि उस आतिवाहिक के लिङ्ग (बोधक हेतु) से होने योग्य हैं। वह लिङ्ग इस प्रकार का है कि (चन्द्रमा से विद्युत में जाते हैं, विद्युत् को प्राप्त करते हैं, वहाँ ब्रह्मलोक से अमानव पुरुष आता है, ब्रह्मलोक से उन्हें लेने के लिए आता है। अतः इन उपासकों को ब्रह्मलोक में पहुंचाता है) यह श्रुति लोकसिद्ध चेतन नेता के समान गमयितापन अमानव पुरुष में दर्शाती है, उसके साहचर्य से अर्चि आदि भी चेतन नेता सिद्ध होते हैं। शंका होती है कि वचन से सिद्ध वस्तु वचनमात्रविषयक होती है, अर्थात् जहाँ वचन कहता हो वहाँ ही सिद्ध होती है अन्यत्र नहीं, इस न्याय से वह वचन विद्युत् लोक से चेतन नेता के बोध करा कर ही उपक्षीण शान्त हो जाता है, अर्चि आदि में चेतन पुरुषता को नहीं सिद्ध कर सकता है। उत्तर है कि नेताओं में प्राप्त मानवत्व की निवृत्तिपरत्व वचन के होने से वचन तावन्मात्रविषयक नहीं है। अर्थात् वचन से नेतृत्व और अमानवत्व दोनों के विधान में वाक्य-भेद होगा, इससे अर्चि आदि पद से मानव नेता प्रथम से प्राप्त हैं, विद्युत् से आगे मानव की प्राप्ति होने पर यह वचन प्रकरण से प्राप्त नेतापन का अनुवाद करके केवल अमानवता का प्रतिपादन करता है। इससे यदि अर्चि आदि में पहुँचाने वाले पुरुष प्राप्त हैं; और वे मानव हैं, तो उस मानवत्व की निवृत्ति के लिए अमानव यह विशेषण युक्त होता है। और इसी से सर्वत्र चेतन पुरुष नेता सिद्ध होते हैं ॥ ४ ॥

शंका होती है कि न्याय (युक्ति हेतु) के अभाव से लिङ्ग मात्र अगमक (अबोधक) होता है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

ये तावदर्चिरादिमार्गास्ते देहवियोगात्संपिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्राः अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता इति गम्यते। लोकेऽपि हि मत्तमूर्च्छितादयः संपिण्डितकरणग्रामा परप्रयुक्तवर्त्मानो भवन्ति। अनवस्थितत्वादप्यर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः। नहि रात्रौ प्रेतस्याहःस्वरूपाभिसम्भव उपपद्यते। नच प्रतिपालनमस्तीत्युक्तमधस्तात्। ध्रुवत्वात्तु देवतात्मनां नायं दोषो भवति। अर्चिरादिशब्दता चैषामर्चिराद्यभिमानादुपपद्यते। 'अर्चिषोऽहः' (छा० ४।१५।५,५।१०।१) इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते। अर्चिषा हेतुनाऽहरभिसम्भवन्ति अह्ना हेतुना आपूर्यमाणपक्षमिति। तथा च लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते, गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिंहं ततः कृष्णगुप्तमिति। अर्चि चोपक्रमे 'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति सम्बन्धमात्रमुक्तं न सम्बन्धविशेषः कश्चित्। उप-

संहारे तु 'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इति सम्बन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तस्तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते। संपिण्डितकरणग्रामत्वादेव च गन्तॄणां न तत्रोपभोगसम्भवः। लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितुं शक्यते, अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात्। अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनाऽतिवाह्यते वायुस्वामिकं लोकं प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम् ॥ ५ ॥

कथं पुनरातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्सम्भवः। विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ता विद्युतस्त्वनन्तरमा ब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति, अत उत्तरं पठति—

यदि अर्चि आदि अचेतन हैं, और गन्ता भी अज्ञ है तो दोनों के अज्ञ होने से ऊर्ध्व गति नहीं हो सकेगी। इससे स्वयं प्रयत्नरहित किसी अन्य चेतन से कहीं प्राप्त किया जाता है। इस लौकिक न्याययुक्त लिङ्ग से नेता की सिद्धि से दोष का अभाव है। यह सूत्र का संक्षिप्तार्थ है ॥

जो अर्चि आदि मार्ग से गमन करने वाले हैं वे तो स्थूल देह के वियोग से सम्पिण्डित (संलीन) करण-समूहवाले हैं, इससे गमन में अस्वतन्त्र हैं, होते हैं। अचेतनता से अर्चि आदि को भी अस्वतन्त्रता है। इससे अर्चि आदि के अभिमानी चेतन देवताविशेष अतियात्रा (उत्तम ब्रह्मगति) में ईश्वर से नियुक्त हैं, ऐसा समझा जाता है। जिससे लोक में लीन करणसमूहवाले मत्त, मूर्च्छित आदि अन्य प्रयुक्त मार्गवाले (अन्य निमित्तक गतिवाले) होते हैं। अर्चि आदि के अनवस्थित होने से भी मार्ग के लक्षणत्व की उत्पत्ति उनमें गिरि आदि के समान नहीं हो सकती है। रात्रि में मरने वाले को दिन के स्वरूप का अभिसंभव (प्राप्ति) सिद्ध नहीं हो सकता है। प्रथम कहा गया है कि रात्रि में मरने वाले को दिन का प्रतिपालन (प्रतीक्षा करना) नहीं हो सकता है। देवतात्मा (देवस्वरूप) के तो ध्रुव होने से यह दोष नहीं होता है। अर्चि आदिविषयक अभिमान से इन देवतात्माओं को अर्चि आदि शब्दवत्ता अर्चि आदि शब्दवाच्यता उपपन्न होती है। आतिवाहिकत्व होने पर भी (अर्चि से दिन को प्राप्त होते हैं) इत्यादि निर्देश विरुद्ध नहीं होता है। अर्चिरूप हेतु द्वारा दिन को प्राप्त करते हैं। दिनरूप हेतु द्वारा शुक्ल पक्ष को प्राप्त करते हैं, इस प्रकार अविरुद्ध निर्देश होता है। इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध आतिवाहिकों में इस रीतिवाला उपदेश देखा जाता है कि तुम यहाँ से बलवर्मा के पास जावो, वहाँ से जयसिंह के पास जाना, वहाँ से कृष्णगुप्त को प्राप्त करना इत्यादि। और दूसरी बात है कि (वे अर्चि को प्राप्त करते हैं) इस उपक्रम में सम्बन्धसामान्यमात्र कहा गया है, कोई विशेष सम्बन्ध नहीं कहा गया है। उपसंहार में तो (वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म की प्राप्ति कराता है) इस प्रकार अतिवाह्य (अतिगामी) अतिवाहकत्व (प्रापकत्व) रूप सम्बन्ध विशेष कहा गया है जिससे वही विशेष सम्बन्ध उपक्रम में भी है ऐसा निर्णय निश्चय किया जाता है। संलीन

कारणसमूह के होने ही से ब्रह्मलोक के यात्रियों को उन अर्चि आदि लोकों में भोग का सम्भव नहीं है। गन्ता यात्रियों के उन लोकों में भोगरहित होते भी अन्य उन लोक-वासियों के भोगभूमित्व (भोगस्थानत्व) से लोकशब्द संगत-प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् अर्चि आदि लोक शब्द से कहे जा सकते हैं। इससे अग्निरूप स्वामी वाले लोक में प्राप्त उपासक अग्निदेव से आगे पहुँचाया जाता है, वायुरूप स्वामी वाले लोक में प्राप्त हुआ वायुदेव से आगे पहुँचाया जाता है। इस प्रकार योजना (सम्बन्ध) करने योग्य है ॥ ५ ॥

शंका होती है कि आतिवाहिकत्व पक्ष में विद्युत् से आगे रहनेवाले वरुणादि में उस आतिवाहिकत्व का सम्भव कैसे होगा, जिससे विद्युत् में ऊपर वरुणादि उपक्षिप्त (स्थापित) हैं। विद्युत् के अनन्तर ब्रह्मलोक में ब्रह्म की प्राप्ति पर्यन्त अमानव पुरुष की ही गमयितृता (गमनहेतुता) सुनी गई है। इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

ततो विद्युदभिसंभवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलोकादिष्वतिवाह्यमाना ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम्। 'तान्वैद्युतात्पुरुषोऽमानवः (स) एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति तस्यैव गमयितत्वश्रुतेः। वरुणादयस्तु तस्यैवाप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्यवगन्तव्यम्। तस्मात्साधूक्तमातिवाहिका देवतात्मानोऽर्चिरादय इति ॥ ६ ॥

उस विद्युत् की प्राप्ति के अनन्तर उससे ऊपर विद्युत् के अनन्तरवर्ती (विद्युल्लोकमागतो वैद्युतस्तेनैव) विद्युत् लोक में आया हुआ वैद्युत (विद्युत् सम्बन्धी) अमानव पुरुष द्वारा ही वरुण लोकादि में पहुँचाए जाते हुए प्राप्त होते हुए ब्रह्मलोक में उपासक प्राप्त होते हैं, ऐसा समझना चाहिए (वह अमानव पुरुष आकर उन उपासकों को विद्युत्सम्बन्धी लोक से ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है) इस प्रकार उस अमानव पुरुष को ही विद्युत् से आगे गमयितृत्व-अतिवाहकत्व श्रुति से उक्त रीति से समझना चाहिए। और वरुणादि तो उसी अमानव पुरुष के अप्रतिबन्ध संपादन के द्वारा वा किसी सहायता के अनुष्ठान के द्वारा अनुग्राहक (मददगार) होते हैं, ऐसा जानने योग्य है; जिससे अर्चि आदि आतिवाहिक देवतात्मा हैं, यह सुन्दर सत्य कहा गया है ॥ ६ ॥

कार्याधिकरणम् (५)

परं ब्रह्मायवा कार्यमुदङ्मार्गेण गम्यते। मुख्यत्वादमृतत्वोक्तेर्गम्यते परमेव तत् ॥ १ ॥
कार्यं स्याद् गतियोग्यत्वात् परस्मिंस्तदसंभवात्। सामीप्याद् ब्रह्मशब्दोक्तिरमृतत्वं क्रमाद्भवेत्॥

वह अमानव पुरुष इन उपासकों को कार्य-ब्रह्म की प्राप्ति कराता है, क्योंकि इस कार्य-ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही गति की उपपत्ति हो सकती है, सर्वात्मा विभु अखण्ड निर्विशेष की प्राप्ति के लिए इस उपासक की गति उपपन्न नहीं हो सकती, इस प्रकार बादरि आचार्य कहते हैं। उत्तर देवयान मार्ग से परब्रह्म प्राप्त किया जाता है, अथवा

कार्यब्रह्म प्राप्त होता है। यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि, ब्रह्म शब्द के मुख्य अर्थ परब्रह्म के होने से और गतिपूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति द्वारा अमृतत्व (मोक्ष) के कथन से वह परब्रह्म ही प्राप्त किया जाता है। सिद्धान्त है कि गतिद्वारा प्राप्ति के योग्य होने से कार्यब्रह्म होगा, विभु परब्रह्म में उस गति के असम्भव से परब्रह्म नहीं हो सकता है। कार्यब्रह्म को भी अन्य पदार्थों की अपेक्षा समीपता से आकाश के समान परब्रह्म की सदृशता असङ्गता आदि से ब्रह्मशब्द से उसका कथन होता है, और उसकी प्राप्ति से ज्ञानद्वारा क्रम से अमृतत्व होग ॥ १–२ ॥

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इत्यत्र विचिकित्स्यते— किं कार्यमपरं ब्रह्म गमयत्याहोस्वित्परमेवाविकृतं मुख्यं ब्रह्मेति। कुतः संशयः ? ब्रह्मशब्दप्रयोगाद् गतिश्रुतेश्च। तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मैनान्गमयत्यमानवः पुरुष इति बादरिराचार्यो मन्यते। कुतः ? अस्य गत्युपपत्तेः अस्य हि कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते प्रदेशवत्त्वात्, नतु परस्मिन्ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वाऽवकल्पते, सर्वगतत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तॄणाम् ॥ ७ ॥

(वह अमानव पुरुष इन उपासकों को ब्रह्मलोक में ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है) यहाँ संशय होता है कि क्या वह अमानव पुरुष कार्यरूप अपर ब्रह्म को प्राप्त कराता है, अथवा अविकृत मुख्य परब्रह्म को ही प्राप्त कराता है। संशय किस हेतु से होता है, तो कहा जाता है कि ब्रह्म शब्द के प्रयोग से और गति के श्रवण से संशय होता है। ऐसा संशय होने पर अमानव पुरुष इन उपासकों को सगुण अपर कार्यब्रह्म की ही प्राप्ति कराता है। इस प्रकार बादरि आचार्य मानते हैं। क्यों ऐसा मानते हैं, तो कहते हैं, इस कार्यब्रह्म-सम्बन्धी गति की उपपत्ति से ऐसा मानते हैं। जिससे प्रदेशवत्ता से इस कार्यब्रह्म को गन्तव्यत्व (गतिप्राप्यत्व) उपपन्न होता है। परब्रह्म में तो गन्तृत्व (गमनकर्तृत्व) गन्तव्यत्व वा गति की सिद्धि नहीं हो सकती है। परब्रह्म के सर्वगत होने से तथा गमनकर्ताओं के प्रत्यगात्मत्व (अन्तरात्मत्व) से किसी प्रकार भी परब्रह्म को गन्तव्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

'ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति च श्रुत्यन्तरे विशेषितत्वात्कार्यब्रह्मविषयैव गतिरिति गम्यते। नहि बहुवचनेन विशेषणं परस्मिन्ब्रह्मण्यवकल्पते। कार्ये त्ववस्थाभेदोपपत्तेः संभवति बहुवचनम्। लोकश्रुतिरपि विकारगोचरायामेव संनिवेशविशिष्टायां भोगभूमावाञ्जसी, गौणी त्वन्यत्र 'ब्रह्मैव लोक एव सम्राट्' इत्यादिषु। अधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि परस्मिन्ब्रह्मणि नाञ्जसः स्यात्। तस्मात्कार्यविषयमेवेदं नयनम् ॥ ८ ॥

ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते समन्वये हि समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेति प्रतिष्ठापितमिति, अत्रोच्यते—

(अमानव पुरुष उपासकों को ब्रह्मलोकों की प्राप्ति कराता है, और वे उपासक उन लोकों में हिरण्यगर्भ के उत्तम सम्वत्सरों तक वास करते हैं) इस प्रकार अन्य श्रुति में विशेषितत्व [बहुवचनरूप विशेषणयुक्तत्व] से कार्यब्रह्मविषयक ही गति होती है ऐसा समझा जाता है, जिससे परब्रह्म में बहुवचन द्वारा विशेषण [भेद] नहीं सिद्ध हो सकता है। कार्यब्रह्म में तो अवस्थाभेद की सिद्धि से बहुवचन का सम्भव होता है। गति से प्राप्त ब्रह्मविषयक लोक श्रुति भी विकाराश्रय सन्निवेश [आकार] विशेषयुक्त भोगस्थान में ही मुख्य हो सकती है। अन्यत्र [हे सम्राट् ब्रह्म ही यह लोक है] इत्यादि वाक्यों में परब्रह्मविषयक लोक श्रुति भोग्यत्व के उपचार से गौणी है। अधिकरण अधिकर्तव्य [आधाराधेयत्व] निर्देश भी परब्रह्म में मुख्य नहीं होगा। जिससे कार्यविषयक ही यह उपासक का प्रापण है ॥ ८ ॥

शंका होती है कि कार्यब्रह्मरूप विषय [अर्थ] में भी ब्रह्मशब्द नहीं उपपन्न होता है, जिससे समन्वयाध्याय में समस्त जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म है, यह प्रतिज्ञा-प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित निश्चित] किया गया है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्मणस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्दप्रयोगो न विरुध्यते। परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसवन्धात् क्वचित्कैश्चिद्विकारधर्मैर्मनोमयत्वादिभिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः ॥ ९ ॥

ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिश्रवणं न घटते। नहि परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्र क्वचिन्नित्यता संभवति। दर्शयति च देवयानेन पथा प्रस्थितानावृत्तिम् 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।६) इति, तथा-मिह न पुनरावृत्तिरस्ति' 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६—क० ६।१६,) इति चेत्। अत्र ब्रूमः—

तुशब्द शंका की व्यावृत्ति के लिए है कि अपरब्रह्म को परब्रह्म के साथ समीपता-रूप सम्बन्ध से उस अपरब्रह्म में ब्रह्म शब्द का प्रयोग विरुद्ध नहीं होता है, जिससे परब्रह्म ही सात्त्विक विशुद्ध उपाधियों के सम्बन्ध से कहीं किसी विकारों के धर्म मनोमयत्वादि द्वारा उपासना के लिए उपदिश्यमान [उपदेश का विषय] होता हुआ अपर-ब्रह्म कहा जाता है, ऐसी स्थिति है ॥ ९ ॥

यहाँ शंका होती है कि देवयान से कार्यब्रह्म की प्राप्ति होने पर अपुनरावृत्ति (नित्यमुक्ति) श्रवण संघटित नहीं होता है। जिससे परब्रह्म से अन्यत्र कहीं नित्यता का सम्भव नहीं है। देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में प्रस्थितों (प्राप्तों) की अनावृत्ति को

श्रुति दर्शाती है कि (इस देवमार्ग से ब्रह्मलोक में प्राप्त प्राणी इस मानव आवर्त (मनुष्य लोक-सम्बन्धी जन्ममरण के काल-चक्र) में नहीं आते हैं। उनको फिर यहाँ आवृत्ति संसृति नहीं होती है। उस सुषुम्ना नाडी द्वारा ऊपर जाता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करता है। यदि इस प्रकार कोई शंका करते हैं, तो यहाँ कहते हैं कि—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तदध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः परं पदं प्रतिपद्यन्त इति। इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या। नह्यञ्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवतीत्युपपादितम् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्म के लोक के प्रलय की प्रत्युपस्थिति (प्राप्ति) होने पर उस लोक में ही उपासनादि के बल से उत्पन्न सम्यग् दर्शन वाले होते हुए उस लोक के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ इस कार्यब्रह्म से पर परिशुद्ध विष्णु के पर पद (स्वरूप) को अनुभूत प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की क्रममुक्ति, अनावृत्ति आदि रूप श्रुति-वचनों से अभ्युपगन्तव्य (स्वीकारार्ह) है। क्योंकि मुख्य रूप से ही साक्षात् ही गतिपूर्वक परब्रह्म की प्राप्ति का सम्भव नहीं है, यह उपपादक (सिद्ध) किया गया है ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति ॥

तस्मात्कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयते इति सिद्धान्तः ॥ ११ ॥

कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्याधायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्यादिनेति, स इदानीं सूत्रैरेवोपदर्श्यते—

स्मृति भी इस उक्त अर्थ में अनुमति देती है। इस अर्थ को स्वीकार करती है कि (प्रतिसंचर-महाप्रलय के संप्राप्त होने पर पर-हिरण्यगर्भ के अन्त संप्राप्त होने पर वे सब कृतात्मा शुद्धबुद्धिवाले ब्रह्मलोक-निवासी ब्रह्मा के साथ पर पद में प्रवेश करते हैं) जिससे कार्यब्रह्मविषयक गति सुनी जाती है, यह सिद्धान्त है ॥ ११ ॥

यहाँ जिज्ञासा होती है कि, किस पूर्वपक्षकी आशंका करके (कार्यं बादरिः इत्यादि सूत्रों से सिद्धान्त प्रतिष्ठापित (निरूपित) किया गया है। इससे अब इस समय सूत्रों द्वारा ही वह पूर्वपक्ष उपदर्शित कराया जाता है (दिखलाया जाता है) कि—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यः 'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते। कुतः ? मुख्यत्वात्। परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनं गौणमपरं, मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययो भवति ॥ १२ ॥

जैमिनि आचार्य तो (वह अमानव पुरुष इन उपासकों को ब्रह्म की प्राप्ति कराता है) इस श्रुति में परब्रह्म को ही प्राप्त कराता है, ऐसा मानते हैं। किस हेतु से ऐसा मानते हैं, जिससे परब्रह्म ब्रह्मशब्द का मुख्य आलम्बन (वाच्यार्थ-विषय) है अपर-ब्रह्म गौण आलम्बन (अर्थ) है। मुख्य-गौण दोनों की प्राप्ति-प्रसंग रहते मुख्यविषयक संप्रत्यय (प्रतीति) होता है ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, क० ६।१६) इति च गतिपूर्वकममृतत्वं दर्शयति। अमृतत्वं च परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यते न कार्ये, विनाशित्वात्कार्यस्य 'अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७।२४।१) इति वचनात्। परविषयैव चैषा गतिः कठवलीषु पठ्यते नहि तत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽस्ति 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इति परस्यैव ब्रह्मणः प्रक्रान्तत्वात् ॥ १३ ॥

(उस मूर्धगामिनी सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ऊर्ध्व गमन करता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करता है) यह श्रुति गतिपूर्वक अमृतत्व दर्शाती है। परब्रह्म में प्राप्त होने पर अमृतत्व उपपन्न होता है, कार्य के विनाशित्व से कार्य में प्राप्ति से अमृतत्व नहीं होता है। (जिस अविद्या अवस्था में अन्य से अन्य को देखता है, वह दृश्य वस्तु स्वप्न दृश्य के समान अल्प है अतएव वह मर्त्य-विनश्वर है) इस वचन से कार्य का विनाशित्व सिद्ध होता है। कठवल्लियों में भी यह परब्रह्मविषयक ही गति पढ़ी जाती है, क्योंकि (धर्म-धर्म फलादि से जो अन्य है, तथा अधर्मादि से अन्य है) इस प्रकार परब्रह्म ही के प्रक्रान्तत्व (निरूपण के लिए आरब्धत्व) होने से उन कठवल्लियों में विद्यान्तर का प्रक्रम (प्रकरण-आरम्भ) नहीं है ॥ १३ ॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १४ ॥

अपि च 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८।१४।१) इति, नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसंधिः 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) इति कार्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्, 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छा० ८।१४।१) इति च सर्वात्मत्वेनोपक्रमात्। 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति, यस्य नाम महद्यशः' (श्वेता० ४।१९) इति च परस्यैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्रसिद्धेः। सा चेयं वेश्मप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दविद्यायामुदिता 'तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्' (छा० ८।५।३) इत्यत्र। पदेरपि च गत्यर्थत्वान्मार्गापेक्षाऽवसीयते। तस्मात्परब्रह्मविषया गतिश्रुतय इति पक्षान्तरम्।

और भी वक्तव्य है कि (प्रजापति के सभारूप घर को मैं प्राप्त करता हूँ) यह भी कार्यब्रह्मविषयक प्रतिपत्ति (प्राप्ति) की अभिसंधि (संकल्प-ध्यान) उपासक की मरण-

कालिक चिन्ता (विचार) नहीं है। क्योंकि (आकाश-आत्मा ही बीजस्वरूप नाम और रूप का निर्वहिता धारण कर्ता व्याकर्ता है और नाम रूप जिसके अन्दर में हैं, नाम रूप के अन्दर में जो असंग रूप से है वह ब्रह्म है इस प्रकार से परब्रह्म ही प्रकृति है। अर्थात् परब्रह्म का प्रकरण है। जो कार्यब्रह्म से विलक्षण है, इससे वह उपासक का संकल्प श्रुति कार्यब्रह्मविषयक नहीं है। (और मैं ब्राह्मणों का यश—आत्मा होऊं) इस प्रकार सर्वात्मत्वरूप से उपक्रम होने से भी यह परब्रह्म के प्राप्तिविषयक ही उपासक का संकल्प वर्णित है। (उस परब्रह्म ईश्वर की प्रतिमा-उपमा नहीं है कि जिसका महत्-अपरिच्छिन्न विभु यश नाम है) इस श्रुति से परब्रह्म के ही यशोनामत्व की प्रसिद्धि से यशनाम से सर्वात्मरूप से परब्रह्म का उपक्रम सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि प्रकरणादि से वह संकल्प परब्रह्मविषयक हो, तो भी वह वेश्म घर) की प्राप्ति गतिपूर्वक कैसे होगी, परब्रह्म के सभागृह तो सब के हृदय हैं, तो कहा जाता है, कि इस वेश्म की गतिपूर्वक प्राप्ति हार्दविद्या में कही गई है (उस ब्रह्मलोक में विद्या ब्रह्मचर्यादिहीनों से अपराजित-अप्राप्य ब्रह्म का पुर है, जो प्रभु से ही विशेषरूप से निर्मित है और सुवर्णमय सुवर्ण रचित है) यहाँ वह गतिपूर्वक प्राप्ति कही गई है। (वेश्म प्रपद्ये) इस श्रुतिगत पदधातु के भी गत्यर्थक होने से मार्ग की अपेक्षा निश्चित होती है। जिससे परब्रह्मविषयक गतिश्रुतियाँ हैं, यह पक्षान्तर है।

तावेतौ द्वौ पक्षावाचार्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरेको मुख्यत्वादिभिरपरः। तत्र गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति मुख्यत्वादीनाभासयितुं नतु मुख्यत्वादयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातः, द्वितीयस्तु पूर्वपक्षः। न ह्यसत्यपि संभवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चिदाज्ञापयिता विद्यते। परविद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते 'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा० ८।६।६) इतिवत्। 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८।१४।१) इति तु पूर्ववाक्यविच्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंधिर्न विरुध्यते। तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः।

उक्त ये दो पक्ष आचार्य से सूत्रित (सूत्रों द्वारा कथित) हुए हैं, उनमें गति की उपपत्ति आदि रूप हेतुओं से एक पक्ष कहा गया है। मुख्यत्वादि हेतुओं से दूसरा पक्ष कहा गया है, जिनमें गति की उपपत्ति आदि रूप जो हेतु हैं वे मुख्यत्वादि रूप हेतुओं को आभास (मिथ्या-असत्) स्वरूप सिद्ध करने के लिए समर्थ हैं। मुख्यत्वादि हेतु गति की उपपत्ति आदि को आभास करने के किए समर्थ नहीं है। इससे आद्यपक्ष ही सिद्धान्तरूप व्याख्यात (कथित) हुआ, है, सिद्धान्तरूप से आद्यपक्ष का व्याख्यान किया गया है। दूसरा पक्ष पूर्वपक्ष व्याख्यात हुआ है। जिससे असम्भव के होते भी (सम्भव के नहीं रहते भी) मुख्य ही अर्थ का ग्रहण होना चाहिए, इस प्रकार आज्ञा देने वाला कोई नहीं है। अर्थात् गन्तव्यता, बहुवचन भोगादि का परब्रह्म में असम्भव

है, इससे मुख्य अर्थ का त्याग ही उचित है (अन्य नाडियाँ उत्क्रमण में नाना संसारगति के लिए होती हैं) इसके समान परविद्या के प्रकरण में भी उस परविद्या की स्तुति के लिए विद्यान्तर (अपरविद्या) रूप आश्रयवाली गति का अनुकीर्तन उपपन्न होता है। और प्रजापति की सभा-रूप गृह में जाता हूँ) यह तो पूर्ववाक्य से विच्छेद (भेदन) द्वारा कार्यब्रह्म में प्राप्तिविषयक ध्यान विरुद्ध नहीं होता है। सगुण ब्रह्म में भी यश आदि रूप से सर्वात्मत्व का संकीर्तन (सर्व कर्म वाला है, सब काम वाला है) इत्यादि के समान सिद्ध हो सकता है, जिससे गतिश्रुतियाँ अपरब्रह्मविषयक ही हैं।

केचित्पुनः पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्राणीत्येतां व्यवस्थामनुरुध्यमानाः परविषया एव गतिश्रुतीः प्रतिष्ठापयन्ति। तदनुपपन्नम्— गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणः 'यत्सर्वगतं सर्वान्तरं सर्वात्मकं च परं ब्रह्म' 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२) 'ब्रह्मैवेदं विश्वं वरिष्ठम्' (मु० २।२।११) इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेषं, तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपपद्यते। नहि गतमेव गम्येत, अन्यो ह्यन्यद्गच्छतीति प्रसिद्धं लोके। ननु लोके गतस्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टस्य दृष्टा, यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवीं देशान्तरद्वारेण गच्छतीति, तथानन्यत्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्टं वार्धकं स्वात्मभूतमेव गन्तव्यं दृष्टं, तद्वद् ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्त्युपेतत्वात्कथंचिद् गन्तव्यता स्यादिति। न। प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद् ब्रह्मणः। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वेता० ६।१९) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (बृ० २।१।२) 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमतोऽमृतोऽभयोयी ब्रह्म' (बृ०१।४।२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० २।९।२६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो न देशकालादिविशेषयोगः परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते।

पूर्व के सूत्र पूर्वपक्षसूत्ररूप हैं, उत्तर के अगले सूत्र सिद्धान्तसूत्ररूप हैं। ऐसी व्यवस्था को अनुरोध (स्वीकार) करने वाले कोई गतिश्रुतियाँ परब्रह्म-विषयक ही हैं, ऐसा प्रतिष्ठापन (प्रतिपादन) करते हैं। वह अनुपपन्न (अयुक्त) है। जिससे परब्रह्म को गन्तव्यत्व (गति से प्राप्तियोग्यत्व) की अनुपपत्ति है (जो परब्रह्म सर्वगत, सर्वान्तर और सर्वात्मक है। आकाश के समान सर्वगत होता हुआ नित्य है। जो साक्षात्—व्यवधान रहित अपरोक्ष ब्रह्म है। आत्मा है, सर्वान्तर है। जो आत्मा ही इस सब जगत्स्वरूप है। ब्रह्म ही इस समस्त जगत्स्वरूप है, और अत्यन्त वर है) इत्यादि श्रुतियों से निर्धारित सर्वगतत्वादि विशेषवाला परब्रह्म है, जिसकी गन्तव्यता (गतिप्राप्यता) कभी नहीं उपपन्न हो सकती है। जिससे गत (प्राप्त) ही नहीं प्राप्त किया जाता है, लोक में प्रसिद्ध है कि अन्य ही किसी अन्य को प्राप्त करता है। शंका होती है कि लोक में देशान्तर (स्थानान्तर) युक्त प्राप्त की भी गन्तव्यता (प्राप्यता)

देखी जाती है, जैसे पृथिवी पर प्राप्त स्थित ही पुरुष देशान्तर द्वारा पृथिवी को प्राप्त करता है। इसी प्रकार बालक के अनन्य (अभिन्न) होते भी कालान्तर से युक्त वृद्धता को बालक के स्वात्मस्वरूप को ही गन्तव्य देखा गया है, बालक वृद्धता को प्राप्त करता है, यहाँ प्राप्त में प्राप्यता देखी जाती है। वैसे ही ब्रह्म को भी सर्वशक्तियुक्त होने से किसी प्रकार से गन्तव्यता होगी। उत्तर है कि पृथिवी और बालक के विशेषयुक्त होने से उसमें भी वस्तुतः अप्राप्त ही स्थानविशेष और अवस्थाविशेष प्राप्त किए जाते हैं, बालक बाल्य को नहीं प्राप्त करता है। ब्रह्म निषिद्ध सर्व विशेष वाला है। अर्थात् सब विशेष से रहित है। इससे ब्रह्म में पृथिवी आदि के समान गन्तव्यता नहीं हो सकती है। (निष्कल-निरवयव, क्रियारहित, शान्त-सर्वाधार) निर्दोष, निर्लेप ब्रह्म है, स्थूलता अणुता ह्रस्वता दीर्घता से रहित ब्रह्म है। वह ब्रह्मात्मा पुरुष बाह्याभ्यन्तर के सहित वर्तमान होता हुआ अज है। वह महान् आत्मा अजर अमर अमृत ब्रह्म है। वह यह आत्मा इदं रूप से भासित दृष्ट श्रुतादि सबका निषेधात्मक है। (अनादिमत् परं ब्रह्म) इत्यादि स्मृति, तथा तदनन्यत्वादि न्याय से परमात्मा में देश-कालादि विशेष (भेद) के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है।

येन भूप्रदेशवयोवस्थान्यायेनास्य गन्तव्यता स्यात्। भूवयसोस्तु प्रदेशावस्थादिविशेषयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता। जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत्। न। विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात्। उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत्। न। तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात्। मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य चानृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति। कस्मात्पुनरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषत्वं न पुनरितरशेषत्वमितरासामिति। उच्यते—विशेषनिराकरणश्रुतीनां निराकांक्षार्थत्वात्। नह्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः काचिदाकाङ्क्षोपजायते पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युपपत्तेः 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन। एतं ह वाव न तमपि किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' (तैत्ति० २।९।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथैव च विदुषां तुष्ट्यनुभवादिदर्शनात्। विकारानृताभिसंध्यपवादाच्च 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति। अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यशेषत्वमवगन्तुं शक्यते। नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति। प्रत्यक्षं तु तासामन्यार्थत्वं समनुगम्यते। तथाहि 'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति' (छा० ६।८।३) इत्युपन्यस्योदर्के सत एवैकस्य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वं दर्शयति। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व,

तद्ब्रह्म' (तै० ३।१।१) इति। एवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनामैकात्म्यावगमपरत्वान्नानेकशक्तियोगो ब्रह्मणः। अतश्च गन्तव्यत्वानुपपत्तिः। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति च परस्मिन्ब्रह्मणि गतिं निवारयति। तद् व्याख्यातं 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र० सू० ४।२।१३) इत्यत्र। गतिकल्पनायां च गन्ता जीवो गन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽवयवो विकारो वान्यो वा ततः स्यात्। अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः।

जिस विशेष के द्वारा भूमि के प्रदेश न्याय और वयस की अवस्था न्याय से इस ब्रह्म की गन्तव्यता होगी। भूमि और वयस को तो प्रदेश और अवस्था आदि रूप विशेष के सम्बन्ध से देश और काल से युक्त गन्तव्यता उपपन्न (सिद्ध) होती है। यदि कहा जाय कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के हेतुत्वविषयक श्रुति से ब्रह्म को अनेकशक्तिमत्त्व है। इससे सगुण ही ब्रह्म है और वही सूत्रात्मा से परब्रह्म गन्तव्य है। तो कहा जाता है कि विशेषों के निराकरणरूप श्रुतियों के अनन्यार्थक (प्रधान) होने से निर्विशेष ही ब्रह्म श्रुतियों का प्रतिपाद्य विषय है, सगुण प्रतिपाद्य विषय नहीं है कि जो गन्तव्य हो सके। यदि कहा जाय कि निर्विशेष श्रुतियों के समान उत्पत्ति आदि के प्रतिपादक श्रुतियों को भी अनन्यार्थकत्व है, तो कहा जाता है कि उन उत्पत्ति आदि श्रुतियों को एकत्व प्रतिपादन परक होने से उन्हें अनन्यार्थकत्व नहीं है। जिससे मृत्तिका आदि रूप दृष्टान्तों के द्वारा एक ब्रह्म की सत्यता का और विकारों की अनृतता (मिथ्यात्व) का प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र उत्पत्ति आदि परक (उत्पत्ति आदि में तात्पर्य वाला) होने योग्य नहीं है। जिज्ञासा होती है कि किस हेतु से उत्पत्ति आदि श्रुतियों को विषयों के निराकरणार्थक श्रुतियों के शेषत्व (अङ्गत्व) है। इतर-विशेष निराकरण श्रुतियों को उत्पत्ति आदि श्रुतियों के शेषत्व नहीं हैं। तो कहा जाता है कि विशेषों के निराकरणार्थक श्रुतियों के निराकांक्षार्थक (आकांक्षारहित अर्थ का प्रतिपादक) होने से ऐसा नियम है। जिससे आत्मा के एकत्व, नित्यत्व, शुद्धत्वादि के अनुभव होने पर, पुरुषार्थ की समाप्ति बुद्धि की उपपत्ति (सिद्धि) से फिर कोई आकांक्षा नहीं उत्पन्न होती है। (उस आत्मा के एकत्व को जानने वाले को उस ज्ञानकाल में कौन मोह और कौन शोक हो सकता है, मोहादि का सर्वथा अभाव हो जाता है) हे जनक! तुम अभय को प्राप्त हो। विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता है। इस आत्मानन्द के विद्वान् को यह पश्चात्ताप भी मरणादिकाल में संतप्त उद्विग्न नहीं करता है कि मैंने साधुकर्म पुण्य क्यों नहीं किया। क्यों मैंने पाप किया। इत्यादि श्रुतियों से और इसी प्रकार की ही विद्वानों की तुष्टि और अनुभवादि के देखने से और (वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस आत्मा में नाना के समान देखता है) इस प्रकार विकार-रूप अनृत के अभिसंधान (चिन्तन) के अपवाद से, एकत्वादियुक्त आत्मानुभव के बाद आकांक्षाओं का अभाव सिद्ध होता है, और विशेषों के निराकरण

रूप श्रुतियों की प्रधानता सिद्ध होती है। इससे विशेषों के निराकरणरूप श्रुतियों की अन्यशेषता नहीं समझी जा सकती है। इन विशेष निराकरण श्रुतियों के समान उत्पत्ति आदि श्रुतियों को निराकांक्ष अर्थ के प्रतिपादन में सामर्थ्य नहीं है। उनकी अन्यार्थता प्रत्यक्ष ही समनुगत (सम्यक् अनुभूत) होती है। वह इस प्रकार समनुगत होती है कि (उस पीये गए जल से शरीररूप शुङ्ग कार्य उत्पन्न हुआ है, हे ! सोम्य उसको समझो, यह कार्य मूलरहित नहीं होगा) इस प्रकार कथन करके उत्तर में जगत् के मूलरूप एक सत् के ही ज्ञेयत्व को श्रुति दर्शाती है। (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिससे जीते हैं, प्रलयकाल में जिसमें लीन होते हैं, उसका विचार करो वह ब्रह्म है) इस प्रकार से उत्पत्ति आदि श्रुतियों के एकात्मता के अवगम (ज्ञान) परत्व से ब्रह्म को अनेक शक्तियों के साथ सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् श्रुति से सम्बन्ध नहीं प्रतिपादित होता है, कल्पित है। इससे ब्रह्म के गन्तव्यत्व की अनुपपत्ति है। (उस ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, वह ब्रह्म होता हुआ ब्रह्म में लीन होता है) यह श्रुति परब्रह्म में गति का निवारण करती है, यह (स्पष्टं ह्येकेषाम्) इस सूत्र में व्याख्यान हो चुका है, व्याख्यान किया गया है। परब्रह्म-विषयक गति की कल्पना करने पर गमन करने वाला जीव गन्तव्य (गमन से प्राप्त करने योग्य) ब्रह्म का अवयव होगा अथवा विकार होगा, अथवा उस ब्रह्म से अन्य स्वतन्त्र पदार्थान्तर होगा। क्योंकि जीव का ब्रह्म के साथ अत्यन्त तादात्म्य (अभेद) होने पर गमन की अनुपपत्ति से, अवयव और विकाररूप से भेदाभेद मानना होगा, या अत्यन्त भेद मानना होगा।

यद्येवं ततः किं स्यात्। उच्यते। यद्येकदेशस्तेनैकदेशिनो नित्यप्राप्तत्वान्न पुनर्ब्रह्मगमनमुपपद्यते। एकदेशित्वकल्पना च ब्रह्मण्यनुपपन्ना निरवयवत्वप्रसिद्धेः। विकारपक्षेऽप्येतत्तुल्यं विकारेणापि विकारिणो नित्यप्राप्तत्वात्। नहि घटो मृदात्मतां परित्यज्यावतिष्ठते परित्यागे वाऽभावप्राप्तेः। विकारावयवपक्षयोश्च तद्वतः, स्थिरत्वाद् ब्रह्मणः संसारगमनमप्यनवक्लृप्तम्। अथान्य एव जीवो ब्रह्मणः, सोऽणुर्व्यापी मध्यमपरिमाणो वा भवितुमर्हति। व्यापित्वे गमनानुपपत्तिः। मध्यमपरिमाणत्वे चानित्यत्वप्रसङ्गः। अणुत्वे कृत्स्नशरीरवेदनानुपपत्तिः। प्रतिषिद्धे चाणुत्वमध्यमपरिमाणत्वे विस्तरेण पुरस्तात्। परस्माच्चान्यत्वे जीवस्य 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिशास्त्रबाधप्रसङ्गः। विकारावयवपक्षयोरपि समानोऽयं दोषः। विकारावयवयोस्तद्वतोऽनन्यत्वाददोष इति चेत्। न। मुख्यैकत्वानुपपत्तेः। सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वनिर्मोक्षप्रसङ्गः, संसारात्मत्वानिवृत्तेः। निवृत्तौ वा स्वरूपनाशप्रसङ्गः। ब्रह्मात्मत्वानभ्युपगमात्।

यदि कहो कि ऐसा होगा तो क्या दोष होगा, तो कहा जाता है कि यदि जीव ब्रह्म का एकदेश (अवयव) हो, तो उसमें एकदेशी (एकदेश वाला-अवयवी) ब्रह्म के

नित्य प्राप्त होने से फिर ब्रह्म प्राप्ति के लिये गमन नहीं उपपन्न हो सकता है। ब्रह्म के निरवयवत्व की प्रसिद्धि से ब्रह्म में एकदेश और एकदेशित्व की कल्पना विरुद्ध है। विकारपक्ष में भी विकार से भी विकारी के नित्य प्राप्त होने से यह गमन की अनुपपत्तिरूप दोष तुल्य है। घट मृदात्मता (मृत्तिकारूपता) को त्याग कर स्थिर (वर्तमान) नहीं रह सकता है या मृदात्मता को त्यागने पर उसके अभाव की प्राप्ति से नहीं त्यागता है। विकार तथा अवयव पक्ष में विकार और अवयवरूप जीव वाले ब्रह्म के स्थिर (अचल) होने से जीव के संसार में गमन भी असिद्ध है, गमनागमन जीव के नहीं हो सकेंगे। जिससे अवयवी विकारी के चलन के बिना अवयव विकार का चलन नहीं हो सकता है। यदि जीव ब्रह्म से अन्य ही है, तो भी वह अणु (परमाणुस्वरूप) या व्यापक अथवा मध्यम परिमाणवाला हो सकता है। यहाँ व्यापक होने पर गमनादि की अनुपपत्तिरूप दोष है। मध्यम परिमाण वाला होने पर सावयवता से अनित्यत्व का प्रसङ्ग होता है अनित्यता की प्राप्ति होती है। अणुत्व पक्ष में सम्पूर्ण शरीर में सुख-दुःखादि की वेदना (अनुभव) की अनुपपत्ति होती है।.. अणुत्व तथा मध्यम परिमाणत्व प्रथम बिस्तार से प्रतिषिद्ध हो चुके हैं। विस्तारपूर्वक इनका निषेध किया जा चुका है। परमात्मा से जीव की अन्यता (भेद) होने पर (तत्त्वमसि) इत्यादि शास्त्र का भी बाध प्राप्त होगा। विकार तथा अवयवपक्ष में भी यह शास्त्र का बाधरूप दोष भेद पक्ष के समान है। यदि कहा जाय कि विकार और अवयव को विकार और अवयव वाले से अनन्यता (अभेद) होने से शास्त्र का बाधरूप दोष नहीं है, तो कहा जाता है कि विकार और अवयव को विकारी अवयवी के साथ मुख्य एकत्व (अभेद) की अनुपपत्ति से मुख्य एकत्व के बोधक शास्त्र-का अबाध नहीं है। इन सभी पक्षों में जीव की संसारी रूपता की अनिवृत्ति से अनिर्मोक्ष (मोक्षाभाव) की प्राप्ति होती है। अथवा संसारी-रूपता की निवृत्ति होने पर जीव के स्वरूप के नाश का प्रसङ्ग होगा। स्वरूप-नाश की प्राप्ति होगी। क्योंकि ब्रह्मात्मत्व के अस्वीकार से और संसारिता के स्वीकार से संसारिता के नाश होने पर जीव के स्वरूप का ही नाश होगा, जैसे औष्ण्य प्रकाश के नाश से अग्नि का नाश होता है।

यत्तु कैश्चिज्जल्प्यते—नित्यानि नैमित्तिकानि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते प्रत्यवायानुत्पत्तये, काम्यानि प्रतिषिद्धानि च परिह्रियन्ते स्वर्गनरकानवाप्तये, साम्प्रतदेहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षप्यन्त इत्यतो वर्तमानदेहपातादूर्ध्वं देहान्तरप्रतिसन्धानकारणाभावात्स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यं विनापि ब्रह्मात्मतयैवंवृत्तस्य सेत्स्यति—इति। तदसत्, प्रमाणाभावात्। नह्येतच्छास्त्रेण केनचित्प्रतिपादितं मोक्षार्थीत्थं समाचरेदिति। स्वमनीषया त्वेतत्तर्कितं यस्मात्कर्मनिमित्तः संसारस्तस्मान्निमित्ताभावान्न भविष्यतीति। नचैतत्तर्कयितुमपि शक्यते निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात्। बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरसञ्चितानीष्टानिष्टविपा-

कान्येकैकस्य जन्तोः सम्भाव्यन्ते। तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासम्भवात्कानिचिल्लब्धावसराणीदं जन्म निर्मिमते कानिचित्तु देशकालनिमित्तप्रतीक्षाण्यासत इत्यतस्तेषामवशिष्टानां साम्प्रतेनोपभोगेन क्षपणासम्भवाच्च यथावर्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते देहान्तरनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम्। कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च 'तद्य इह रमणीयचरणास्ततः शेषेण' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। स्यादेतत्। नित्यनैमित्तिकानि तेषां क्षेपकाणि भविष्यन्तीति। तन्न। विरोधाभावात्। सति हि विरोधे क्षेप्यक्षेपकभावो भवति, नच जन्मान्तरसञ्चितानां सुकृतानां नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः, शुद्धिरूपत्वाविशेषात्। दुरितानां त्वशुद्धिरूपत्वात् सति विरोधे भवतु क्षपणं नतु तावता देहान्तरनिमित्ताभावसिद्धिः। सुकृतनिमित्तत्वोपपत्तेः। दुश्चरितस्याप्यशेषक्षपणानवगमात्। नच नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायानुत्पत्तिमात्रं न पुनः फलान्तरोत्पत्तिरिति प्रमाणमस्ति फलान्तरस्याप्यनुनिष्पादिनः सम्भवात्।

जो कितने लोगों से कहा जाता है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म अकरणजन्य प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति के लिये किये जाते हैं, और काम्य तथा प्रतिषिद्ध (निषिद्ध) कर्म, स्वर्ग और नरक की अप्राप्ति के लिये, परिहृत होते त्यागे जाते हैं। वर्तमान काल में प्राप्त देह से उपभोग के योग्य कर्म उपभोग से हीं क्षीण नष्ट किये जाते हैं। इससे वर्तमान देह के पात के बाद देहान्तर की प्राप्ति संम्बन्ध के कारण के अभाव से स्वरूप में अवस्थितिस्वरूप कैवल्य (मोक्ष) ब्रह्मात्मता के बिना भी ऐसे वृत्त (चरित्र) वाले को सिद्धप्राप्त होगा। वह कथन प्रमाण के अभाव से असत् है। जिससे किसी शास्त्र से यह नहीं प्रतिपादित है कि मोक्षार्थी इस प्रकार नित्यादि कर्मों का आचरण करे। किन्तु अपनी मनीषा (बुद्धि) से यह कल्पित (सिद्ध) हुआ है कि जिससे कर्मनिमित्तक जन्मादि रूप संसार है, जिससे कर्मरूप निमित्त के अभाव से संसार नहीं होगा इत्यादि। परन्तु निमित्ताभाव के दुर्विज्ञान (दुर्ज्ञेय) होने से यह तर्क से भी नहीं समझा जा सकता है, ऐसा तर्क भी नहीं किया जा सकता है, जिससे जन्मान्तर में संचित इष्ट और अनिष्ट फलवाले बहुत कर्म एक-एक प्राणी के सम्भावित (निश्चित) हैं। उन विरुद्ध फलवाले कर्मों का एक काल में साथ भोग के असम्भव से, उनमें से कोई प्राप्त अवसर वाले कर्म इस वर्तमान जन्म का निर्माण (सृष्टि रचना) करते हैं। कितने कर्म तो देश, काल और निमित्त की प्रतीक्षा करते हुए स्थिर निर्व्यापार वर्तमान रहते हैं। इससे उन अवशिष्ट संचितों का वर्तमान उपभोग से नाश के असम्भव से, यथोक्त चरित्र वाले भी वर्तमानदेह के पात होने पर देहान्तर के निमित्त के अभाव का निश्चिय नहीं किया जा सकता है। (जिससे जो यहाँ रमणीय आचरण वाले हैं, वे रमणीय योनि पाते हैं। उसके बाद शेष कर्म से जन्मान्तर पाते हैं) इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से कर्मशेष के सद्भाव (अस्तित्व) की सिद्धि होती है। शंका होती है कि कर्मशेष का अस्तित्व रहो, परन्तु नित्य नैमित्तिक

कर्म उन कर्मों का निवारक विनाशक होंगे तो कहा जाता है कि विरोध के अभाव से नित्यादि कर्म संचित पुण्य कर्मों के नाशक नहीं हो सकते हैं, जिससे विरोध रहने पर क्षेप्य-क्षेपक नाश्य-नाशकभाव होता है और जन्मान्तर में संचित पुण्यों को शुद्धिरूपत्व के अविशेष-तुल्य होने से नित्य नैमित्तिकों के साथ विरोध नहीं है, पापों के अशुद्धिरूपत्व से नित्यादि के साथ विरोध होने पर उन पापों का नित्यादि कर्मों से नाश हो, परन्तु इससे देहान्तर के निमित्त के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि पुण्य को देह के निमित्तत्व की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। दुश्चरित (पाप) के भी निःशेषरूप से नित्यादि द्वारा नाश में प्रमाण के अभाव से उसके नाश के अवगम (ज्ञान) नहीं होने से संचित पाप की भी वर्तमानता से जन्म के निमित्त का अभाव नहीं है। नित्यादि जो वर्तमान कर्म किये जाते हैं, उनसे प्रत्यवाय की अनुत्पत्तिमात्र ही फल होता है। फिर फलान्तर की उत्पत्ति उनसे नहीं होती। इस अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है। इससे (कर्मणा पितृलोकः) कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है, इत्यादि शास्त्र के अनुसार पश्चात् उत्पन्न होने वाले अन्य फल के भी सम्भव होने से, नित्यादि से भी फलान्तर की उत्पत्ति होती है।

स्मरति ह्यापस्तम्बः—'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एव धर्मं चर्यमाणमर्था अनुत्पद्यन्ते' इति। नचासति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्यप्रतिषिद्धवर्जनं जन्मप्रयाणान्तराले केनचित्प्रतिज्ञातुं शक्यम्, सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात्। संशयितव्यं तु भवति तथापि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव। नचानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावस्यात्मनः कैवल्यमाकाङ्क्षितुं शक्यम्, अग्न्यौष्ण्यवत्स्वभावस्यापरिहार्यत्वात्। स्यादेतत्। कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमनर्थो न तच्छक्तिस्तेन शक्त्यवस्थानेऽपि कार्यपरिहारादुपपन्नो मोक्ष इति। तच्च न, शक्तिसद्भावे कार्यप्रसवस्य दुर्निवारत्वात्। अथापि स्यान्न केवला शक्तिः कार्यमारभतेऽनपेक्ष्यान्यानि निमित्तानि, अत एकाकिनी सा स्थितापि नापराध्यतीति। तच्च न। निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन सम्बन्धेन नित्यसम्बद्धत्वात्। तस्मात्कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावे सत्यात्मन्यसत्यां विद्यागम्यायां ब्रह्मात्मतायां न कथंचन मोक्षं प्रत्याशास्ति। श्रुतिश्च—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इति ज्ञानादन्यं मोक्षमार्गं वारयति।

आपस्तम्ब कहते हैं कि (लोक में जैसे फल के लिए आम्रवृक्ष के निर्मित-आरोपित होने पर पीछे छाया और गन्ध भी उत्पन्न सिद्ध होते ही हैं इसी प्रकार आचरित धर्म के पीछे छाया अर्थ उत्पन्न होते हैं) और सम्यक् दर्शन के नहीं रहते जन्म और मरण के मध्यकाल में सर्वथा काम्य और निषिद्ध के त्याग की प्रतिज्ञा किसी से की नहीं जा सकती है, क्योंकि अत्यन्त निपुणों के भी सूक्ष्म अपराध देखे जाते हैं। यद्यपि अपराधाभाव काम्यनिषिद्ध की सत्ता के अभाव संशयितव्य (संशययोग्य) तो होता है। तथापि जन्म के निमित्ता-

स्वभाव को दुर्शनित्व (दुर्ज्ञेयत्व) ही है। अग्नि की उष्णता के समान स्वभाव के अपरिहार्य (त्यागानर्ह) होने से ज्ञान से गम्य (प्राप्य) ब्रह्मात्मत्व के नहीं स्वीकार करने पर कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभाववाले आत्मा के कैवल्य की आकांक्षा नहीं की जा सकती है। शंका होती कि जीवात्मा का स्वभाव रहे, परन्तु कर्तृत्व भोक्तृत्व उसका स्वभाव नहीं है किन्तु कर्तृत्व भोक्तृत्व तो स्वभाव का कार्य है और वह कार्य ही अनर्थ संसाररूप है। कर्तृभोक्तृत्व की शक्ति है, वह स्वभावरूप है, वह अनर्थरूप नहीं है। जिससे शक्तिरूप स्वभाव के स्थिर रहते भी कार्यमात्र के परिहार से मोक्ष उपपन्न होता है। यहाँ कहा जाता है कि वह शक्ति का अ ितत्व युक्त नहीं है। शक्ति के सद्भाव रहते कार्य की उत्पत्ति की दुर्निवारता से उसमें अयुक्तता है, मोक्ष नहीं हो सकता है। यदि ऐसी भी आशंका हो कि अन्य निमित्त की अपेक्षा किये बिना निमित्त की सहायता से रहित केवल शक्ति कार्य का आरम्भ नहीं करती है। इससे अकेली स्थित भी वह शक्ति अनर्थ संसाररूप अपराध नहीं करती है। तो कहा जाता है कि वह कथन भी युक्त नहीं है, शक्ति कार्यगम्य होती है, कार्य के बिना शक्ति की सत्ता में प्रमाण का अभाव है, इससे शक्ति के रहने पर शक्तिरूप सम्बन्ध द्वारा निमित्तों के भी नित्य सम्बद्ध (सम्बन्धवाले) होने से कार्य अवश्य होगा, मोक्ष नहीं हो सकता है। इससे आत्मा के कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभाववाले होने पर और विद्या से गम्य (प्राप्य) ब्रह्मस्वरूपता के नहीं रहने पर मोक्ष के प्रति आशा किसी प्रकार नहीं है। श्रुति है कि (मोक्ष के लिये ज्ञान से अन्य मार्ग नहीं है) । यह श्रुति ज्ञान से अन्य मोक्षमार्ग का वारण करती है।

परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः, प्रत्यक्षादिप्रमाणाप्रवृत्तेरिति चेत्। न। प्राक्प्रबोधात्स्वप्नव्यवहारवत्तदुपपत्तेः। शास्त्रं च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४;४ ५।१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४,४।५।१५) इत्यादिना तदभावं दर्शयति। तदेवं परब्रह्मविदो गन्तव्यादिविज्ञानस्य बाधितत्वान्न कथंचन गतिरुपपादयितुं शक्या।

यदि कहा जाय की मोक्ष की उपपत्ति के लिये जीव को परमात्मा से अनन्यत्व (अभिन्नत्व) के मानने पर भी सब व्यवहार का लोप प्राप्त होगा) क्योंकि जीव के निर्गुण ब्रह्मस्वरूप होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अप्रवृत्ति से कोई व्यवहार नहीं होगा। तो कहा जाता है कि ब्रह्मात्मता के बोध से पूर्वकाल में स्वप्नव्यवहार के समान प्रमाण की प्रवृत्ति की उपपत्ति से व्यवहार लोप का प्रसंग नहीं होता है। (जिस अविद्याकाल में द्वैत के समान होता है। उस अवस्था में अन्य अन्य को सत्य देखता है) इत्यादि शास्त्र अज्ञ विषय में प्रत्यक्षादि व्यवहार को कहकर, फिर प्रबुद्ध विषय में (जिस ज्ञान

काल में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस अवस्था में किससे किसको देखेगा) इत्यादि वचनों से उस व्यवहार के अभाव को दर्शाता है। अतः उक्त रीति से ब्रह्मवेत्ता के गन्तव्यादि विज्ञान के बाधितत्व से ब्रह्मवेत्ता की गति का उपपादन किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता है।

किंविषयाः पुनर्गतिश्रुतय इति। उच्यते—सगुणविद्याविषया भविष्यन्ति। तथाहि क्वचित्पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य गतिरुच्यते क्वचित्पर्यङ्कविद्यां क्वचिद्वैश्वानरविद्याम्। यत्रापि ब्रह्म प्रकृत्य गतिरुच्यते तथा 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) इति 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८।१।१) इति, तत्रापि च वामनीयत्वादिभिः सत्यकामादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात्सम्भवति गतिः, न क्वचित्परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते। तथा गतिप्रतिषेधः श्रावितः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।६) इति। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) इत्यादिषु तु सत्यप्याप्नोतेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसम्भवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपितनामरूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते। 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।७) इत्यादिवदिति द्रष्टव्यम्। अपि च परविषया गतिर्व्याख्यायमाना प्ररोचनाय वा स्यादनुचिन्तनाय वा। तत्र प्ररोचनं तावद् ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते, स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः।

जिज्ञासा होती है कि फिर गतिबोधक श्रुतियाँ किस विषयक हैं, तो कहा जाता है कि सगुणविद्याविषयक वे श्रुतियाँ होंगी, जिससे इस प्रकार वे श्रुतियाँ हैं कि कहीं पञ्चाग्निविद्या को प्रस्तुत करके गति कही जाती है, और कहीं पर्यंकविद्या को, कहीं वैश्वानरविद्या को प्रस्तुत करके गति कही जाती है। जहाँ भी ब्रह्म को प्रस्तुत करके (ब्रह्म का प्रक्रम आरम्भ करके) गति कही जाती है, जैसे (प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाशतुल्य ब्रह्म है) इति। (जो इस ब्रह्मपुर-देह में अल्प पुण्डरीकरूप वेश्म है) इत्यादि। वहाँ भी वामनीत्वादि और सत्यकामत्वादि गुणों द्वारा सगुण ब्रह्म के उपास्यत्व होने से गति का सम्भव है, और जैसे (उस ब्रह्मवेत्ता के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं) यह गति का प्रतिषेध सुनाया गया है, वैसे परब्रह्मविषयक गति कहीं नहीं सुनाई जाती हैं। (ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है) इत्यादि वाक्यों में तो आप्नोति (आप्) धातु के गत्यर्थक होते भी वर्णित (न्याय) रीति से ज्ञानी को देशान्तर की प्राप्ति के असम्भव से स्वरूप की प्रतिपत्ति ही (ज्ञान ही) वह, अविद्या से अध्यारोपित नामरूप के प्रविलय की अपेक्षा से (ब्रह्म ही होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त करता है) इत्यादि के समान कही जाती है। अर्थात् अविद्यानाशक अपरोक्षानुभव प्राप्ति शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार समझना चाहिए। दूसरी बात है कि परब्रह्मविषयक व्याख्यायमान (कही गई) गति या तो प्ररोचन के लिए होगी, अथवा

अनुचिन्तन के लिए होगी। यहाँ ब्रह्मवेत्ता का प्ररोचन (रुचि उत्पादन) तो गति के कथन से नहीं किया जाता है। क्योंकि स्वसंवेद्य (स्वयम् अनुभूत) अव्यवहित (प्रत्यक्ष) विद्या से समर्पित (प्रापित) स्वस्थता (शान्ति) से ही उस प्ररोचन की सिद्धि हो जाती है।

नच नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिवेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तने काचिदपेक्षोपपद्यते। तस्मादपरब्रह्मविषया गतिः। तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन्ब्रह्मणि प्रवर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते। किं द्वे, ब्रह्मणी परमपरं चेति। बाढं द्वे, 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (प्र० ५।२) इत्यादिदर्शनात्। किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति। उच्यते। यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः (छा० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। नन्वेवं सत्यद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत। न। अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात्। तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्सन्निधौ श्रूयमाणम् 'स यदि पितृलोककामो भवति' (छा० ८।२।१) इत्यादिजगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति, अनिवर्तितत्वादविद्यायाः। तस्य च देशविशेषावबद्धत्वात्तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम्। सर्वगत्वेऽपि चात्मन आकाशस्येव घटादिगमने बुद्ध्याद्युपाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्म 'तद्गुणसारत्वात्' (ब्र० सू० २।३।२९) इत्यत्र। तस्मात् 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्येष एव स्थितः पक्षः। 'परं जैमिनिः' (ब्र० सू० ४।३।१२) इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

नित्यसिद्ध निःश्रेयस का निवेदन (प्रकथन-अभिव्यक्ति) रूप असाध्य फलवाला विज्ञान की गति के अनुचिन्तन विषयक कोई अपेक्षा नहीं उपपन्न होती है, अर्थात् गति अनुचिन्तन से आत्मज्ञान में कोई विशेषाधान नहीं किया जा सकता है। इससे अपर ब्रह्मविषयक गति होती है। यहाँ पर और अपर ब्रह्म का विवेकपूर्वक अनवधारण से अपर ब्रह्मविषयक वर्तमान गतिश्रुतियाँ परब्रह्मविषयक अध्यारोपित होती हैं (समझी जाती हैं)। जिज्ञासा होती है कि क्या पर और अपर ये दो ब्रह्म हैं ? उत्तर है कि हाँ दो हैं (हे सत्यकाम ! यह जो ओंकार है, वह परब्रह्म और अपर ब्रह्म है) इत्यादि देखने से निर्देश से दो ब्रह्म सिद्ध होते हैं। प्रश्न होता है कि तो परब्रह्म कैसा है, और अपरब्रह्म कैसा है ? उत्तर कहा जाता है कि जिसमें अविद्याकृत नाम-रूपादि के प्रतिषेध (अभाव) से अस्थूल आदि शब्दों द्वारा जो ब्रह्म उपदिष्ट होता है, वह परब्रह्म है। वही परब्रह्म जिस अवस्था में जहाँ किसी नामरूपादि विशेष (भेद) के द्वारा उपासना के लिए (मनोमय, प्राणरूप शरीरवाला, ज्ञानस्वरूप) इत्यादि शब्दों से विशिष्ट स्वरूप

उपदिष्ट होता है, वह अपर ब्रह्म है। शंका होती है कि ऐसा होने पर अद्वितीय श्रुति उपरुद्ध (बाधित) होगी। तो कहा जाता है कि पारमार्थिक अद्वैतविषयक अद्वितीय श्रुति के होने से और अविद्याकृत नामरूप उपाधिकृत भेद के होने से, पारमार्थिक भेद के परिहृत होने से श्रुति नहीं बाधित होगी। उस अपरब्रह्म की उपासना का उसके समीप में सुना गया (वह यदि पितृलोक की कामना वाला होता है, तो उसके संकल्प से भोग देने के लिए पितृलोग उपस्थित होते हैं) इत्यादि संसार के एश्वर्यरूप संसारविषयक ही फल अविद्या के अनिवर्त्तितत्व से होता है। उस फल के देशविशेष के साथ अवबद्धत्व (सम्बद्धत्व) के कारण उसकी प्राप्ति के लिए गमन अविरुद्ध है। यदि कहा जाय कि व्यापक जीवात्मा की फल के लिए गति कैसे होगी तो कहा जाता है कि आत्मा के सर्वगतत्व होने पर भी घटादि के गमन में घटाकाश के गमन के समान बुद्धि आदि रूप उपाधि के गमन होने पर आत्मा के गमन की प्रसिद्धि होती है, वह (तद्गुणसारत्वात्) इस सूत्र से कह चुके हैं। इससे (गति से कार्य ब्रह्मगम्य है यह बादरायण आचार्य का मत है) यही स्थितपक्ष है। (परब्रह्म गति से प्राप्य है, यह जैमिनि मुनि का मत है) यह तो पक्षान्तर के प्रतिभान (प्रतीति) मात्र का प्रदर्शन है, वह बुद्धि का विकासन (विकास) के लिए है, ऐसा समझना चाहिए ॥१४॥

अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् (६)

प्रतीकोपासकान् ब्रह्मलोकं नयति वा नवा। अविशेषश्रुतेरेतान् ब्रह्मोपासकवन्नयेत् ॥ १ ॥
ब्रह्मक्रतोरभावेन प्रतीकार्हफलश्रवात्। न तन्नयपि पञ्चाग्निविदो नयति तच्छ्रुतेः ॥ २ ॥

प्रकृति के अवयवरूप प्रतीकों से भिन्न के उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति कराता है, इस प्रकार बादरायण आचार्य कहते हैं, क्योंकि प्रतीक भिन्नोपासक का ही ब्रह्मविषयक क्रतु (संकल्प) रहता है, इससे संकल्प के अनुसार उभयथा गति में दोष के अभाव से उभयथा गति मन्तव्य है, सब की ब्रह्मलोक में गति मानना उचित नहीं है। संशय है कि प्रतीक (प्रकृति के अवयव) के उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है, अथवा नहीं। पूर्वपक्ष है कि अविशेष (सामान्य) श्रुति से प्रतीक उपासकों को भी ब्रह्मोपासक के समान ब्रह्मलोक में प्राप्त करायेगा। सिद्धान्त है कि प्रतीक नामादि के उपासकों में ब्रह्मविषय संकल्प के अभाव से और प्रतीक के योग्य अन्य फलों के श्रवण से प्रतीकोपासक को ब्रह्मलोक में नहीं प्राप्त कराता है। पञ्चाग्निवेत्ता के प्रतीकोपासक होते भी तद्विषय श्रुति से सिद्ध होता है कि उसको अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है ॥ १–२ ॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभय-थाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

स्थितमेतत्कार्यविषया गतिर्न परविषयेति। इदमिदानीं सन्दिह्यते किं सर्वान्विकारालम्बनानविशेषेणैवामानवः पुरुषः प्रापयति ब्रह्मलोकमुतकांश्चिदे-

वेति। किं तावत्प्राप्तं? सर्वेषामेवैषां विदुषामन्यत्र परस्माद् ब्रह्मणो गतिः स्यात्। तथाहि—'अनियमः सर्वासाम्—(ब्र० ३।३।३१) इत्यत्राविशेषेणैवेषा विद्यान्तरेष्ववतारितेति।

यह स्थिर हुआ कि कार्यब्रह्मविषयक गति होती है, परब्रह्मविषयक गति नहीं होती है। इस समय यह संदेह अब किया जाता है कि क्या विकार-कार्य को अवलम्बन करने वाले विकारोपासक सभी को अमानव पुरुष अविशेषरूप से तुल्य ही ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है, अथवा किसी विशेष उपासकों को ही प्राप्त कराता है। यहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि इन सभी उपासकों की परब्रह्म से अन्यत्र-कार्यब्रह्म में गति होगी। जिससे इसी प्रकार (अनियमः सर्वासाम्) इस सूत्र में अविशेष रूप से ही यह गति अन्य विद्याओं में अवतरित (प्रतिपादित) हुई है।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अप्रतीकालम्बनानिति। प्रतीकालम्बनान्वर्जयित्वा सर्वानन्यान्विकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति बादरायण आचार्यो मन्यते। नह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिद्दोषोऽस्ति। अनियमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरिक्तेष्वप्युपासनेषूपपत्तेः। तत्क्रतुश्चास्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्द्रष्टव्यः। यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्राह्ममैश्वर्यमासीदेदिति श्लिष्यते 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः। नतु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति प्रतीकप्रधानत्वादुपासनस्य। नन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते, यथा पञ्चाग्निविद्यायाम् 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५ इति। भवतु यत्रैवमाहात्यवाद उपलभ्यते, तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषामिति गम्यते ॥१५॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (अप्रतीकालम्बनानिति) प्रतीकरूप अवलम्बन वालों को छोड़कर उनसे अन्य सब विकारावलम्बी (कार्य उपासकों) को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है, इस प्रकार बादरायण आचार्य मानते हैं। इस प्रकार उभयथाभाव के स्वीकार करने पर (प्रतीक उपासक से अन्य की ब्रह्मलोक गति प्रतीकोपासक की अन्य गति मानने पर) कोई दोष नहीं है। (अनियमः सर्वासाम्) इस स्थान में कथित अनियम न्याय की प्रतीक भिन्न उपासनाओं में उपपत्ति में दोषाभाव है। सूत्रगत तत्क्रतु शब्द इस उभयथाभाव का समर्थक (साधक) हेतु समझना चाहिए। जिससे जो ब्रह्मविषयक क्रतु-संकल्प वाला है, वह ब्रह्मसम्बन्धी ऐश्वर्य को प्राप्त करे यह युक्त है (उस परमात्मा की जिस-जिस रूप से उपासना करता है, वैसा ही उपासक होता है) इस श्रुति से संकल्पानुसार उपासना के फल सिद्ध होते हैं। प्रतीक उपासनाओं के प्रतीक प्रधानत्व से प्रतीकों में ब्रह्मक्रतुत्व (ब्रह्मसंकल्पत्व) नहीं है। शंका होती है कि ब्रह्म के संकल्पवाला नहीं होते भी उपासना से ब्रह्मलोक में जाता है कार्य-ब्रह्म को प्राप्त करता है यह सुना जाता है, जैसे कि पञ्चाग्निविद्या में सुना जाता है कि (वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म की प्राप्ति कराता है) तो कहा जाता है कि जहाँ इस प्रकार

का माहत्यवाद-प्रत्यक्षवाद, अपवादरूप उपलब्ध होता है, वहाँ प्रतीक उपासक को भी ब्रह्म प्राप्ति हो, परन्तु उस विशेष वाद के अभाव रहते तो औत्सर्गिक (सामान्य) तत्क्रतु-न्याय से ब्रह्मक्रतु वाले को ही ब्रह्मप्राप्ति होती है, अन्यों को नहीं ऐसा समझा जाता है ॥ १५ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

नामादिषु प्रतीकोपासनपु पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति—'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।१।५) 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' (छा० ७।२।१) 'यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।२।२) 'मनो वाव वाचो भूयः' (छा० ७।३।१) इत्यादिना । स चायं फलविशेषः प्रतीकतन्त्रत्वादुपासनानामुपपद्यते । ब्रह्मतन्त्रत्वे तु ब्रह्मणोऽविशिष्टत्वात्कथं फलविशेषः स्यात् । तस्मान्न प्रतीकालम्बनानामितरैस्तुल्यफलत्वमिति ॥ १६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

—:०:—

नामादि प्रतीक उपासनाओं में पूर्व-पूर्व उपासनाओं से उत्तर-उत्तर उपासनाओं में फलविशेष को श्रुति दर्शाती है कि (नाम को ब्रह्मरूप से चिन्तन करने वाले इस उपासक को जितनी नाम की गति है, वहाँ तक इच्छा के अनुसार गति होती है) और (वाक् नाम से अधिक बड़ी वस्तु है) उसकी ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने वाले को जहाँ तक वाक् की गति है वहाँ तक स्वतन्त्रता होती है । मन वाक् से अधिक बड़ा है—इत्यादि श्रुति से फलविशेष दर्शाया जाता है । उपासनाओं के प्रतीक के अधीनत्व से सो यह फलविशेष (फलों का भेद) उपपन्न होता है और उपासनाओं के ब्रह्माधीनत्व होने पर तो ब्रह्म के अविशिष्टत्व-अभिन्नत्व से फलविशेष (फलभेद) कैसे होगा । इससे प्रतीकालम्बनवाली उपासनाओं को इतर उपासनाओं के साथ तुल्य फलवत्त्व नहीं है, अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिरूप फलवत्त्व प्रतीकोपासनाओं का नहीं है ॥ १६ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां शुद्धानामेव कारणम् । विशुद्धं परमानन्दं सद्गुरुं राममाश्रये ॥

चतुर्थ अध्याय में तृतीय पाद समाप्त ।

—:०:—

चतुर्थेऽध्याये चतुर्थः पादः

[अत्र पादे ब्रह्मप्राप्ति–ब्रह्मलोकस्थितिनिरूपणम्]

संपद्याविर्भावाधिकरणम् (१)

नाकवन्नूतनं मुक्तिरूपं यद्वा पुरातनम् । अभिनिष्पत्तिवचनात् फलत्वादपि नूतनम् ॥ १ ॥
स्वेन रूपेणेति वाक्ये स्वशब्दात्तत्पुरातनम् । आविर्भावोऽभिनिष्पत्तिः फलं चाज्ञानहानितः ॥

पूर्वोक्त साधनों के द्वारा ज्ञान को प्राप्ति से ब्रह्म को सम्पद्य (प्राप्त करके) आत्मस्वरूप से अनुभव करके स्थिर विद्वान् की जो जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेहमुक्ति होती है, वह किसी नूतन तत्त्वस्वरूप अवस्था आदि की प्राप्तिरूप नहीं है किन्तु विद्या से अविद्यात्मक आवरण की निवृत्ति से नित्यसिद्ध निजमुक्त स्वरूप का आविर्भाव (प्राकट्य) मात्र होता है, वह श्रुतिगत, स्वेन इस शब्द से समझा जाता है। संशय है कि स्वर्ग के समान मुक्ति नूतन (कार्य) रूप होती है, वा स्वरूपात्मक पुरातन है। पूर्वपक्ष है कि अभिनिष्पत्ति वचन से और फलत्व से भी नूतन है। सिद्धान्त है कि अभिनिष्पत्ति का उत्पत्ति अर्थ हो तो ऐसा हो सकता है परन्तु श्रुतिगत स्वेन रूपेण इस वाक्यगत स्वेन इस शब्द से स्वरूपात्मक पुरातन मुक्ति का स्वरूप सिद्ध होता है। आविर्भाव अभिनिष्पत्ति का अर्थ है, और अविद्या की निवृत्ति से फल होता है ॥ १–२ ॥

संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ १ ॥

'एवमेवैव संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति श्रूयते। तत्र संशयः—किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवागन्तुकेन केनचिद्विशेषेणाभिनिष्पद्यत आहोस्विदात्ममात्रेणेति। किं तावत्प्राप्तम् ? स्थानान्तरेष्विवागन्तुकेन केनचिद्रूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्, मोक्षस्यापि फलत्वप्रसिद्धेः, अभिनिष्पद्यते इति चोत्पत्तिपर्यायत्वात्। स्वरूपमात्रेण चेदभिनिष्पत्तिः पूर्वास्वप्यवस्थासु स्वरूपानपायाद्विभाव्येत। तस्माद्विशेषेण केनचिदभिनिष्पद्यत इति।

जैसे वायु कभी अपनी निश्चल आकाशरूपता को प्राप्त होता है इसी प्रकार यह सुषुप्ति में संप्रसन्न होने वाला संप्रसाद जीव विवेक द्वारा इस शरीर से समुत्थान करके देहाभिमान को त्याग कर और परज्योति को प्राप्त अनुभूत करके उस अपने स्वरूप से अभिनिष्पन्न (अभिव्यक्त) होता है यह सुना जाता है। यहां संशय होता है कि क्या जैसे देवलोकादि उपभोग के स्थानों में विशेष रूप से निष्पन्न होता है, वैसे आगन्तुक किसी विशेष से अभिनिष्पन्न (युक्त) होता है, अथवा आत्ममात्र से अभिनिष्पन्न होता है इति। प्रथम प्राप्त क्या है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि स्थानान्तरों में के

समान किसी आगन्तुक (कार्य) रूप से अभिनिष्पत्ति होगी । क्योंकि मोक्ष को भी फलत्व की प्रसिद्धि से, और अभिनिष्पद्यते, अभिनिष्पन्न होता है, इसकी उत्पत्ति की पर्यायता (एकार्थता) से आगन्तुकरूप से अभिनिष्पत्ति सिद्ध होती है । स्वरूपमात्र से यदि मोक्षावस्था में अभिनिष्पत्ति हो, तो पूर्वावस्थाओं में भी स्वरूप के अनपाय (अनाश) से वह विभावित (अनुभूत) होना चाहिए, इससे मोक्षावस्था में किसी विशेष से अभिनिष्पन्न (सिद्ध) होता है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—केवलेनैवात्मनाविर्भवति न धर्मान्तरेणेति । कुतः ? स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इति स्वशब्दात् । अन्यथा हि स्वशब्देनेति विशेषणमनवक्लृप्तं स्यात् । नन्वात्मीयाभिप्रायः स्वशब्दो भविष्यति । न, तस्यावचनीयत्वात् । येनैव हि केनचिद्रूपेणाभिनिष्पद्यते तस्यैवात्मीयत्वोपपत्तेः स्वेनेति विशेषणमनर्थकं स्यात् । आत्मवचनतायां त्वर्थवत्केवलेनैवात्मरूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपेणापीति ॥ १ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि केवल आत्मस्वरूप से आविर्भूत (प्रकट) होता है, धर्मान्तरयुक्त रूप से नहीं । क्योंकि स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है, इस स्वशब्द से ऐसा ही सिद्ध होता है, जिससे अन्यथा होने पर स्वशब्देन (स्वेन रूपेण इस वाक्य में स्व यह विशेषण, अर्थात् स्वेनरूपेण यह विशेषण अनवक्लृप्त (असिद्ध-अनर्थक) होगा । यदि कहो कि आत्मीय (आत्मसम्बन्धी) के अभिप्राय वाला स्वशब्द होगा. तो कहा जाता है इस आत्मीय की अवचनीयता (अवक्तव्यता) से आत्मीय वाचक नहीं हो सकता है । जिससे किसकी किसी रूप से अभिनिष्पन्न होगा, उसी रूप को आत्मीयत्व की उपपत्ति से स्वेन यह विशेषण अनर्थक होगा । स्वशब्द की आत्मवचनता (आत्मवाचकता) होने पर तो स्व विशेषण सार्थक होता है कि केवल आत्मस्वरूप से ही निष्पन्न होता है, आगन्तुक अन्य रूप से नहीं निष्पन्न होता है ॥ १ ॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वास्ववस्थास्विह च स्वरूपानपायसाम्ये सती त्यत आह—

शंका होती है कि पूर्वावस्थाओं में और इस मोक्षावस्था में स्वरूप के अनपाय तुल्य रहने पर विशेष (भेद) क्या होता है, इससे मोक्षावस्था के विशेष कहते हैं कि—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

योऽत्राभिनिष्पद्यते इत्युक्तः स सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवात्मनाऽवतिष्ठते । पूर्वत्र त्वन्धो भवत्यपि रोदितीव विनाशमेवापीतो भवतीति चावस्थात्रयकलुषितेनात्मनेत्ययं विशेषः । कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति ? प्रतिज्ञानादित्याह । तथा हि 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३,८। १०४,८।११।३) इत्यवस्थात्रयदोषविहीनमात्मानं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञाय 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१) इति चोपन्यस्य 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।३) इति चोपसंह-

रति तथाख्यायिकोपक्रमेऽपि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादि मुक्तात्मविषयमेव प्रतिज्ञानम्। फलत्वसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा नापूर्वोपजननापेक्षा, यदप्यभिनिष्पद्यते इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं तदपि पूर्वावस्थापेक्षं यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यते इति तद्वत्। तस्माददोषः ॥ २ ॥

जो यहाँ अभिनिष्पन्न होता है, इस प्रकार कहा गया है, वह सब बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूप से ही अवस्थित होता है। मोक्ष से पूर्वकाल में तो देहादि के अभिमान से जाग्रत काल में अन्ध आदि होता है। स्वप्न में दुःखादि से रोते हुए के समान भी होता है। सुषुप्ति में विशेषज्ञानों के अभाव से मानों विनाश ही को प्राप्त होता है। इस प्रकार अवस्थात्रय से कलुषित रूप से अवस्थित होता है यह विक्षेप है। यदि कहा जाय कि कैसे समझा जाता है कि यह जीवात्मा इस शरीर से व्युत्थान करके स्वरूप से स्थितिरूप इस अवस्था में मुक्त होता है, तो कहते हैं कि प्रतिज्ञान (प्रतिज्ञा) से समझा जाता है। वह प्रतिज्ञान इस प्रकार है कि (तेरे लिए इसी आत्मा का फिर व्याख्यान करूंगा) इस प्रकार तीनों अवस्था के दोषों से रहित आत्मा की व्याख्येयत्व (उपदेशयोग्यत्व) रूप प्रतिज्ञा करके अर्थात् शुद्ध नित्ययुक्त आत्मा के उपदेश की प्रतिज्ञा करके, और शरीरसंबन्धरहित आत्मा को प्रिय और अप्रिय सुख-दुःखादि नहीं स्पर्श करते हैं) ऐसा उपन्यास (कथन) करके, और (अपने स्वरूप से निष्पन्न-आविर्भूत होता है वह उत्तम पुरुष है) इस प्रकार प्रजापति उपसंहार करते हैं। इसी प्रकार आख्यायिका (कथा) के आरम्भ में भी (जो आत्मा अपहत-पाप्मा है) इत्यादि मुक्त आत्मविषयक ही प्रतिज्ञान है। मोक्षविषयक फलत्व की प्रसिद्धि भी बन्ध की निवृत्ति मात्र की अपेक्षा से है, किसी अपूर्व धर्मादि के उपजनन (उत्पत्ति) की अपेक्षा से नहीं है। जो भी, अभिनिष्पद्यते, इस पद को उत्पत्ति पर्यायत्व है, वह भी पूर्वावस्था की अपेक्षा से है, जैसे कि रोग की निवृत्ति होने पर अरोग अभिनिष्पन्न होता है, इसी प्रकार अविद्यादि की निवृत्ति होने पर अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है अतः दोष नहीं है ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

कथं पुनर्मुक्त इत्युच्यते—यावता 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति कार्यगोचरमेवैनं श्रावयति। ज्योतिःशब्दस्य भौतिके ज्योतिषि रूढत्वात्। नचानतिवृत्तो विकारविषयात् कश्चिन्मुक्तो भवितुमर्हति। विकारस्यार्तत्वप्रसिद्धेरिति। नैष दोषः। यत आत्मैवात्र ज्योतिःशब्देनावेद्यते प्रकरणात् 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः (छा० ८।७।१) इति हि प्रकृते परस्मिन्नात्मनि नाकस्माद्भौतिकं ज्योतिः शक्यं ग्रहीतुम्, प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ० ४।४।१६) इति। प्रपञ्चितं चैतत् 'ज्योतिर्दर्शनात्' (ब्र० सू० १।३।४०) इत्यत्र ॥ ३ ॥

शंका होती है कि स्वरूप से निष्पन्न होने वाला भी यह जीव मुक्त है इस प्रकार कैसे कहा जाता है, जब (पर ज्योति को प्राप्त कर के) इत्यादि श्रुति इस जीव को कार्यरूप ज्योति गोचर (कार्यरूप ज्योति में प्राप्त) ही सुनाती है, क्योंकि ज्योति शब्द को भौतिक (भूतकार्य) ज्योति (प्रकाश) अर्थ में रूढत्व है और विकाररूप विषय से अनतिवृत्त (विषय-विकार के अतिक्रमण—त्याग से रहित) कोई मुक्त होने योग्य नहीं है। क्योंकि विकार की आर्तता (दुःखरूपता) की प्रसिद्धि है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है, जिससे इस श्रुति में प्रकरण से ज्योति शब्द द्वारा आत्मा ही आवेदित (बोधित-कथित) होता है। जिससे (जो आत्मा पापरहित जरारहित मृत्युरहित है) इस प्रकार प्रकृत परमात्मा के रहते, परमात्मा के प्रकरण में, अकस्मात् (निष्कारण) भौतिक ज्योति का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि ऐसा करने से प्रकृति की हानि और अप्रकृत की प्रक्रिया (अधिकार-प्रकरण) का प्रसंग होगा। और ज्योतिः शब्द तो आत्मारूप अर्थ में भी प्रयुक्त देखा जाता है कि (देव लोग उस ज्योतियों की ज्योति की उपासना करते हैं) इत्यादि। और (ज्योतिर्दर्शनात्) इस सूत्र में इस अर्थ का विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रकार प्रकरण से संप्रसाद शब्द आत्मवाचक होता है। इत्यादि ॥ ३ ॥

अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् (२)

मुक्तरूपाद् ब्रह्म भिन्नमभिन्नं वाऽथ भिद्यते। 'सम्पद्य ज्योति'रित्येवं कर्मकर्तृभिदोक्तितः ॥१॥
अभिनिष्पन्नरूपस्य 'स उत्तमः पुमानिति'। ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्नं तद्भेदोक्तिरुपचारतः ॥२॥

तत्त्वमसि इत्यादि उपदेशों को देखने से सिद्ध होता है कि उक्त मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म के साथ अविभाग [अभिन्न] स्वरूप से रहता है। वहाँ संशय है कि उस मुक्त जीव के स्वरूप से ब्रह्म भिन्न है, अथवा अभिन्न है। पूर्वपक्ष है कि ज्योति को प्राप्त होकर स्वरूप से निष्पन्न होता है, इस प्रकार जीव प्राप्ति का कर्ता कहा गया है, और ब्रह्म कर्म कहा गया है। इससे कर्म और कर्ता के भेद के कथन से, मुक्त से ब्रह्म भिन्न है ॥ सिद्धान्त है कि स्वरूप को अभिनिष्पन्न मुक्त की, वह उत्तम पुरुष है, इत्यादि वचन से ब्रह्मरूपता की उक्ति से, वह ब्रह्म स्वरूप से अभिन्न है, और भेद का कथन विवेकादि कालिक है, इससे उपचार से है, गौण है ॥ १–२ ॥

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते यः स किं परस्मादात्मनः पृथगेव भवत्युताविभागेनैवावतिष्ठत इति वीक्षायाम् 'स तत्र पर्येति' (८।१२।३) इत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात् 'ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति च कर्तृकर्मनिर्देशाद्भेदेनैवावस्थानमिति यस्य मतिस्तं व्युत्पादयत्यविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते। कुतः? दृष्टत्वात्। तथाहि 'तत्त्वमसि' (छा०

६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो नोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।२३) इत्येवमादीनि वाक्यान्यविभागेनैव परमात्मानं दर्शयन्ति। यथादर्शनमेव च फलं युक्तं तत्क्रतुन्यायात्। 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम' (क० ४।१५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्यान्यविभागमेव दर्शयन्ति नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च। भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते। 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति, 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (छा० ७।२५।२) इति चैवमादिदर्शनात् ॥ ४ ॥

पर ज्योति को प्राप्त करके जो जीव अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है, वह क्या परमात्मा से पृथक् ही रहता है। अथवा अविभाग से परमात्मा के साथ अभिन्न रूप से परमात्मरूप से ही अवस्थित (वर्तमान) रहता है, ऐसा विचार के उपस्थित (प्राप्त) होने पर (वह संप्रसाद उस ज्योतिस्वरूप में सर्वथा गमन करता है) इस प्रकार अधिकरण और अधिकर्तव्य के (आधाराधेयभाव के) निर्देश से, और (ज्योति को प्राप्त करके) इस प्रकार कर्ता और कर्म के निर्देश से, मोक्षावस्था में परमात्मा से भेदपूर्वक ही मुक्त का अवस्थान (स्थिति) रहता है, ऐसी जिसकी मति (निश्चय) है। उसको बोध कराते—समझाते हैं कि परमात्मा से अविभक्त (अभिन्न) होता हुआ ही मुक्तात्मा अवस्थित रहता है। यह कैसे सिद्ध होता है, तो कहा जाता है कि ऐसी श्रुतियों के दृष्टत्व (प्रत्यक्षता) से यह सिद्ध होता है, जिससे इस प्रकार की श्रुतियाँ हैं कि (उस सत्य ब्रह्मस्वरूप तुम हो। मैं ब्रह्म हूँ। जिसमें अन्य को नहीं देखता है वह ब्रह्म है। उस ज्ञानी से दूसरी वस्तु नहीं है, उससे अन्य विभक्त वस्तु नहीं है कि जिसको देखे) इत्यादि वाक्य मुक्त से अविभाग रूप से ही परमात्मा को दर्शाते हैं। तत्क्रतुन्याय से दर्शन के अनुसार ही फल होना युक्त है। (जैसे शुद्ध जल में आक्षिप्त शुद्ध जल आधारभूत जलस्वरूप ही हो जाता है, हे गौतम! विज्ञानी मुनि का आत्मा भी इसी प्रकार परब्रह्मस्वरूप हो जाता है) इत्यादि मुक्तस्वरूप के निरूपणपरक वाक्य अविभाग को ही दर्शाते हैं। और नदी समुद्रादि के दृष्टान्त भी अविभाग को ही दर्शाते हैं। भेद का निर्देश तो अभेद रहते भी उपचार से (गौण रूप से किया जाता है, वह (हे भगवन्! वह भूमा-ब्रह्म किस में प्रतिष्ठित (स्थिर) है। ऐसा नारद जी के प्रश्न होने पर सनत्कुमार जी का उत्तर है कि भूमा अपनी महिमा-स्वरूप में प्रतिष्ठित है। ज्ञानी आत्मा में रति-प्रीति वाला आत्मा में क्रीडा वाला होता है) इत्यादि अभेद होते भेद का व्यवहार देखने से अभेद में भेद का उपचार सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

ब्राह्माधिकरणम् (३)

क्रमेण युगपद्वाऽस्य सविशेषाविशेषकौ। विरुद्धत्वात् कालभेदाद्व्यवस्था श्रुतयोस्तयोः ॥१॥
मुक्तामुक्तदृशोर्भेदाद्व्यवस्था सम्भवे सति। अविरुद्धं यौगपद्यमश्रुतं क्रमकल्पनम् ॥२॥

यह मुक्तात्मा ब्रह्मसम्बन्धी सविशेष निर्विशेष स्वरूप से मुक्तावस्था में रहता है, यह उपन्यासादि से सिद्ध होता है, इस प्रकार जैमिनि आचार्य कहते हैं। उपन्यासादि पद से उपक्रम, उपसंहार और अन्य श्रुति के निर्देश का ग्रहण होता है। उपन्यास का उद्देश-नामकथन, अन्यत्र ज्ञात का अनुवाद अर्थ है। जैसे [य आत्मा अपहतपाप्मा) इत्यादि है। अज्ञात-ज्ञापन विधि है, जैसे [स तत्र पर्येति जक्षद्रममाणः] इत्यादि है। 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः', इत्यादि व्यपदेश है। इन हेतुओं से जैमिनि उक्तार्थ कहते हैं। संशय है कि इस ब्रह्म के सविशेष और निर्विशेष स्वरूप को मुक्त पुरुष क्रम से प्राप्त करता है, अथवा एक काल में प्राप्त करता है। पूर्वपक्ष है कि दोनों स्वरूप के परस्पर विरुद्ध होने से, श्रुत उन दोनों स्वरूपों की काल भेद से व्यवस्था होती है। क्रम से मुक्त पुरुष उभयस्वरूपता को प्राप्त करता है। सिद्धान्त है कि मुक्त और अमुक्त पुरुषों की दृष्टियों के भेद से एक काल में ही दोनों स्वरूपों की व्यवस्था के सम्भव होने से समकाल में उभय स्वरूप अविरुद्ध है, क्रम की कल्पना अश्रुत है। अर्थात् सविशेषता मायिक है, उसको निर्विशेषता से विरोध नहीं है ॥ १–२ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

स्थितमेतत् 'स्वेन रूपेण' (छा० ८।३।४) इत्यत्रात्ममात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपेणेति। अधुना तु तद्विशेषवुभुत्सायामभिधीयते। स्वमस्य रूपं ब्राह्ममपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च तेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। कुतः? उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावगमात्। तथाहि—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादिना 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।१) इत्येवमन्तेनोपन्यासेनैवमात्मकतामात्मनो बोधयति। तथा 'स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः' (छा० ८।१२।३) इत्यैश्वर्यरूपमावेदयति। 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२) इति च। 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इत्यादिव्यपदेशाश्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति ॥ ५ ॥

यह स्थित हुआ कि [अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है] इस स्थान में आत्ममात्र स्वरूप से अभिनिष्पन्न [अभिव्यक्त स्थिर] होता है। किसी आगन्तुक स्वरूप से नहीं अभिनिष्पन्न [उत्पन्न] होता है। अब इस समय तो उस अभिनिष्पन्न स्वस्वरूप के विशेष को जानने की इच्छा होने पर कहा जाता है कि इस मुक्त का अपना स्वरूप, ब्राह्म [ब्रह्मस्वरूप—ब्रह्मसम्बन्धि] अपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्वादि है। इसी प्रकार सर्वज्ञत्व और सर्वेश्वरत्व इस का विशेष स्वरूप है। उस ब्राह्म स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है, इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते हैं। किस हेतु से ऐसा मानते हैं, तो कहा जाता है कि उपन्यासादि रूप हेतुओं से उसी प्रकारत्व के अवगम होने से वैसा मानते

हैं। सो उपन्यासादि इस प्रकार है कि (जो आत्मा अपहतपाप्मा है) इत्यादि से लेकर, और (सत्य काम वाला, सत्य संकल्प वाला है) यहाँ पर्यन्त के उपन्यास (उद्देश) से आत्मा के इस प्रकार के स्वरूपवत्त्व को श्रुति बोध कराती है। इसी प्रकार (वह संप्रसाद उस ज्योतिस्वरूप में सर्वथा गमन करता है, हँसता हुआ, क्रीड़ा करता हुआ, रमण करता रहता है) यह वाक्य ऐश्वर्य-रूप का आवेदन करता है। (उसका सब लोकों में कामचार-यथेष्ट गमन होता है) यह वाक्य भी ऐश्वर्य का आवेदन (ज्ञापन—विधि करता है। (वह सर्वज्ञ सर्वेश्वर है) इत्यादि व्यपदेश (सिद्ध स्वरूप का कथन) इसी प्रकार (ब्राह्म स्वरूप से) उपपन्न होंगे ॥ ५ ॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयो भेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते तथापि शब्दविकल्पजा एवैते, पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते, चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता। तथाच श्रुतिः—'एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इत्येवञ्जातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति। सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुस्वरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते सत्याः कामा अस्येति, तथाप्युपाधिसम्बन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत्स्वरूपत्वसंभवः। अनेकाकारत्वप्रतिषेधात्। प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम् 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' (ब्र० सू० ३।२।११) इत्यत्र। अतएव च जक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत्। न हि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनि शक्यन्ते वर्णयितुं द्वितीयविषयत्वात्तेषाम्। तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यते इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

यद्यपि अपहत-पाप्मत्वादि धर्मभेद (भिन्न) रूप से ही निर्दिष्ट—कथित होते हैं, तथापि शब्दज्ञान से जन्य विकल्प (मिथ्या ज्ञान) जन्य ही ये धर्म हैं, जिससे अपहत-पाप्मत्वादि के कहने से पापादि की निवृत्ति (अभाव) मात्र ही वहाँ प्रतीत होता है, चिति (चैतन्य) ही मात्र तो इस आत्मा का स्वरूप है, इससे तन्मात्र (चैतन्यमात्र) स्वरूप से अभिनिष्पत्ति-युक्त है। इसी प्रकार (अरे मैत्रेयि ! इस सैंधव घन के समान ही यह आत्मा अन्तर-बाहर भेदरहित सम्पूर्ण प्रज्ञान घन ही है) इस प्रकार की श्रुति अनुगृहीत होगी। यद्यपि सत्य काम हैं जिस के वह सत्यकामवाला है, इस अर्थ के अनुसार सत्यकामत्वादि धर्म वस्तु-स्वरूप से ही कहे जाते हैं अपहत-पाप्मत्वादि के समान विकल्प-जन्य नहीं हैं, तो भी उपाधि के सम्बन्धाधीनता से उन धर्मों का भी चैतन्य के समान स्वरूपत्व का सम्भव नहीं है, और चिदात्मा में अनेकाकारता के प्रतिषेध से भी सत्यकामत्वादि को स्वरूपत्व का असम्भव है, जिससे (न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्गम्)

इस सूत्र में ब्रह्म का अनेकाकारत्व प्रतिषिद्ध हो चुका है । इसी अनेकाकारत्व के असम्भवादि से सर्वधर्मनिषेध से ही हसन-क्रीडनादि का संकीर्तन भी दुःखाभावमात्रविषयक अभिप्रायवाला, आत्मरति इत्यादि के समान स्तुत्यर्थक है । रति, क्रीडा, तथा मिथुन (युग्म) इनको आत्मा में मुख्य सत्यस्वरूप से वर्णन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उन रति आदिकों को द्वितीय विषयत्व है, अर्थात् द्वैत अवस्था में रति-क्रीड़ादि होते हैं, अद्वैत मुक्तात्मा में इनका असम्भव है । जिससे सम्पूर्ण प्रपञ्च से रहित प्रसन्न (निर्मल) विशेष कथन के अयोग्य ज्ञानस्वरूप से मुक्त जीव अभिनिष्पन्न होता है, इस प्रकार औडुलोमि आचार्य मानते हैं ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते ॥ ७ ॥

प्रथम एक पक्ष में ब्रह्म के धर्मों को सत्य कहा गया है, दूसरे पक्ष में सर्वथा असत्य कहा गया है, अब चिन्मात्र को पारमार्थिक और सत्यकामत्व आदि को औपाधिक श्रुति के अनुसार मानकर सिद्धान्त कहा जाता है कि (इस प्रकार भी) औडुलोमि मत के अनुसार, पारमार्थिक (सत्य) चैतन्यमात्रस्वरूप के स्वीकार करने पर भी, व्यवहार की अपेक्षा से उपन्यासादि हेतुओं से अवगत (ज्ञात) पूर्ववर्णित ब्राह्म ऐश्वर्य-रूप के अप्रत्याख्यान से उसके भाव (सत्ता) से, व्यावहारिक स्थिति से बादरायण आचार्य अविरोध मानते हैं । इससे मुक्त भी इस अविरुद्ध रूपता को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

संकल्पाधिकरणम् (४)

भोग्यसृष्टावस्ति बाह्यो हेतुः संकल्प एव वा । आशामोदकवैषम्याद्धेतुर्बाह्योऽस्ति लोकवत्॥१॥
संकल्पादेव पितर इति श्रुत्यावधारणात् । सङ्कल्प एव हेतुः स्याद्वैषम्याच्चानुचिन्तनात् ॥२॥

इस विमुक्त विद्वान् के संकल्पमात्र से ही पितृ आदि देव उपस्थित होते हैं, सो श्रुति से सिद्ध होता है । संशय होता है कि ब्रह्मलोक में प्राप्त एक प्रकार का विमुक्त बाह्य प्रपञ्चरहित विद्वान् के सांकल्पिक भोग्य वस्तु की सृष्टि में बाह्य हेतु भी रहता है, अथवा संकल्पमात्र ही हेतु रहता है । पूर्व पक्ष है आशा-मोदक से विषमता से अर्थात् भोग का हेतु होने से लोक के समान बाह्य हेतु भी है । सिद्धान्त है कि संकल्पमात्र से ही पितर समुपस्थित होते हैं, इस प्रकार श्रुति में अवधारण किया गया है, इससे संकल्प ही सृष्टि में हेतु होगा, और अनुचिन्तन से ही आशामोदक तथा लोक से वैषम्य होगा ॥ १–२ ॥

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

हार्दविद्यायां श्रूयते—'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः

समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादि। तत्र संशयः—किं संकल्प एव केवलः पित्रादिसमुत्थाने हेतुरुत निमित्तान्तरसहितः—इति। तत्र सत्यपि संकल्पादेवेति श्रवणे लोकवन्निमित्तान्तरापेक्षा युक्ता। यथा लोकेऽस्मदादीनां संकल्पाद् गमनादिभ्यश्च हेतुभ्यः पित्रादिसंपत्तिर्भवत्येवं मुक्तस्यापि स्यात्, एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्यति। संकल्पादेवेति तु राज्ञ इव संकल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनान्तरसामग्रीं सुलभामपेक्ष्योच्यते। नच संकल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रादयो मनोरथविजृम्भितवच्चञ्चलत्वात्पुष्कलं भोगं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युरिति।

हार्दविद्या में सुना जाता है कि (ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासक यदि पितृलोक की प्राप्ति की इच्छा वाला होता हैं, तो इसके संकल्प से ही पितृलोक समुपस्थित होते हैं) इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि क्या केवल संकल्प ही पितृ आदि के समुत्थान में (समुपस्थिति) कारण है। अथवा निमित्तान्तर-सहित संकल्प कारण है। वह पूर्व पक्ष है कि श्रुति में (संकल्पादेव) संकल्प से ही ऐसा श्रवण होते भी लोक के समान पितृसमुत्थान में निमित्तान्तर की अपेक्षा होना युक्त है। जैसे लोक में हम लोगों के संकल्प से और गमनादिरूप हेतुओं से पितृ आदि की संप्राप्ति होती है, वैसे ही मुक्तों को भी होगी। ऐसा होने से दृष्ट से विपरीत समुत्थान नहीं कल्पित होगा। लौकिक अनुभव के अनुसार ही होगा। और संकल्प से ही यह अवधारण तो जैसे राजा के संकल्पित अर्थ की सिद्धि करने वाली साधनान्तर की सामग्री (पूर्णतया) सुलभ होती है, उसके समान साधनान्तर-सामग्री की सुलभता की अपेक्षा से है, कि मानो इस मुक्त के संकल्पित अर्थ की सिद्धि करनेवाली साधनान्तर की सामग्री संकल्प से ही सिद्ध हो जाती है। इस दृष्टि से 'संकल्पादेव' ऐसा कहा जाता है। संकल्पमात्र से समुत्थानवाले पितृ आदि मनोरथ के विस्तारतुल्य मन से कल्पित के समान चञ्चलत्व से पूर्ण भोग को समर्पण (प्राप्त) कराने के लिये समर्थ नहीं होंगे।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—संकल्पादेव तु केवलात्पित्रादिसमुत्थानमिति। कुतः? तच्छ्रुतेः। 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापेक्षायां पोड्यते। निमित्तान्तरमपि तु यदि संकल्पानुविधाय्येव स्याद्भवतु, नतु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमितीष्यते। प्राक्तत्संपत्तेर्वन्ध्यसंकल्पत्वप्रसङ्गात्। नच श्रुत्यवगम्येऽर्थे लोकवदिति सामान्यतोदृष्टं क्रमते। संकल्पबलादेव चैषां यावत्प्रयोजनं स्थैर्योपपत्तिः, प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंकल्पस्य॥ ८॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि केवल संकल्प से ही पितृ आदि का समुत्थान होता है। किस हेतु से ऐसा माना जाता है, तो कहा जाता है कि केवल संकल्प मात्र के श्रवण से ऐसा माना जाता है (इस विद्वान् मुक्त के संकल्प से हीं पितर समुत्थित होते हैं) इत्यादि श्रुति निमित्तान्तर की अपेक्षा में पीड़ित (बाधित) ही होगी। और

पोहित होती है। निमित्तान्तर भी तो यदि संकल्प के अनुसारी संकल्पमात्र-जन्य ही हों, तो हो सकते हैं, किन्तु अन्य यत्न से सम्पाद्य (साध्य) अन्य निमित्त होते हैं, ऐसा माना नहीं जा सकता है। क्योंकि प्रयत्नान्तर से साध्य निमित्तान्तर की सिद्धि से प्रथम विद्वान् को बन्ध्यसंकल्पत्व की प्राप्ति होगी, अर्थात् संकल्प करने पर भी निमित्तान्तर के बिना भोग में विलम्ब से उस संकल्प में बन्ध्यत्व (निष्फलत्व) प्राप्त होगा, इससे सत्यकल्पत्व का बाध होगा। और श्रुतिमात्र से अवगम्य (ज्ञेय) अर्थ में लोकवत्— दृष्टान्त से साध्य सामान्य रूप से देखा गया अनुमान[1] की प्रवृत्ति नहीं होती है। जो यह कहा था कि संकल्पमात्र से समुत्थित पितृ आदि के मनोरथ से कल्पित के समान चंचल होने से वे पूर्ण भोग का संपादन नहीं कर सकेंगे, वहाँ कहा जाता है कि, उस मुक्त के संकल्प के बल से ही यावत् प्रयोजन (भोगादि प्रयोजनों की सिद्धिपर्यन्त) उन पितृ आदिकों की स्थिरता की सिद्धि होती है, क्योंकि प्राकृत (साधारण) पुरुष के संकल्प से विलक्षणत्व मुक्त के संकल्प को रहता है ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

अत एव चावन्ध्यसंकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान्भवति, नास्यान्योऽधिपतिर्भवतीत्यर्थः। नहि प्राकृतोऽपि संकल्पयन्नन्यस्वामिकत्वमात्मनः सत्यां गतौ संकल्पयति। श्रुतिश्चैतद्दर्शयति—'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ८।१।६) इति ॥ ९ ॥

अतएव इसी अबन्ध्य-संकल्पत्व (सत्यसंकल्पत्व) से ही विद्वान् अन्य अधिपति (स्वामी) वाला नहीं होता है, जिससे अन्य स्वामीवाला होने पर और स्वामी के अधीन भोग के होने पर सत्यसंकल्पत्व का व्याघात होगा, और सत्य संकल्पवाला होने से स्वामी को भी संकल्प से ही सिद्ध करना होगा, और मुक्त पुरुष अन्य स्वामी का संकल्प नहीं करता है। इससे इसका अन्य अधिपति नहीं होता है, यह सूत्र का अर्थ है। क्योंकि संकल्प करता हुआ प्राकृत जन भी गति (उपाय-शक्ति) रहते अपने अन्यस्वामित्व (पराधीनत्व) का संकल्प नहीं करता है। और श्रुति भी यह दर्शाती है कि (जो यहाँ उपदेश के अनुसार आत्मा को जान कर गमन करते हैं, और शास्त्रकथित सत्यकामों को जान कर गमन करते हैं, उनकी सब लोकों में यथेष्ट गति होती है) इत्यादि ॥९॥

अभावाधिकरणम् (५)

व्यवस्थितावैच्छिको वा भावाभावौ तनोर्यतः। विरुद्धौ तेन पुंभेदादुभौ स्यातां व्यवस्थितौ ।१।
एकस्मिन्नपि पुंस्येतावैच्छिकौ कालभेदतः। अविरोधात् स्वप्नजाग्रद्भोगवद्युज्यते द्विधा ।२।

---

१. पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टम्। ये तीन प्रकार के अनुमान होते हैं, कारण से कार्य का अनुमान, कार्य से कारण का अनुमान, और लोकदृष्ट सामान्यता से अनुमान रूप तीनों होते हैं, विस्तार अन्यत्र द्रष्टव्य है।

ब्राह्मलौकिक मुक्तावस्था में संकल्प का साधन मन तो रहता ही है, परन्तु बादरि आचार्य देह इन्द्रिय का अभाव मानते हैं, जिससे श्रुति इस प्रकार कहती है। (मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। स एकधा भवति त्रिधा भवति) इस दो प्रकार की श्रुति से संशय होता है कि ब्रह्मलोक में मुक्त के शरीर के भाव और अभाव को पुरुषों के भेद से कोई व्यवस्था है कि कोई शरीरवाला और कोई शरीररहित मन ही से रमता है, अथवा इच्छा के अनुसार एक पुरुष के भी शरीर के भाव और अभाव होते हैं। पूर्वपक्ष है कि भाव और अभाव जिससे परस्पर विरुद्ध हैं, उससे पुरुष के भेद से दोनों व्यवस्थित होंगे। सिद्धान्त है कि काल के भेद से एक पुरुष में भी अविरोध होने से ये दोनों भाव और अभाव एक में इच्छा के अधीन होंगे, और स्वप्न तथा जाग्रत के भोग के समान दो प्रकार भी श्रुति कथित युक्त होता है। अर्थात् देह इन्द्रिय की इच्छा होने पर संकल्प से ही एकानेक शरीर की सृष्टि करके जाग्रत् के समान रमता है, शरीरादि की इच्छा नहीं होने पर केवल मन से ही स्वप्न के समान रमता है इत्यादि ॥ १–२ ॥

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ७।२।१) इत्यादिश्रुतेर्मनस्तावत्संकल्पसाधनं सिद्धम्। शरीरेन्द्रियाणि पुनः प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषः सन्ति न वा सन्तीति समीक्ष्यते। तत्र बादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते। कस्मात्? एवं ह्याहाम्नायः 'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते' (छा० ८।१२।५) 'य एते ब्रह्मलोके' (छा० ८।१३।१) इति। यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेन्मनसेति विशेषणं न स्यात्। तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ॥ १० ॥

(इस मुक्त के संकल्प से ही पितृगण समुत्थित होते हैं) इत्यादि श्रुतियों से संकल्प का साधन मन तो मुक्तों का सिद्ध होता ही है। परन्तु ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले विद्वान् के शरीर और इन्द्रियां, ये सब रहते हैं, अथवा नहीं रहते हैं। यह विचार अब किया जाता है। यहाँ महीयमान (पूज्यता को प्राप्त) ऐश्वर्ययुक्त विद्वान् के शरीर और इन्द्रियों के अभाव को ही बादरि आचार्य मानते हैं। क्यों ऐसा मानते हैं, तो कहा जाता है कि जिससे आम्नाय (वेद) इसी प्रकार कहता है कि (मन से ही इन संकल्पमात्र से लभ्य कामों को देखता हुआ रमता है कि जो काम ब्रह्मलोक में प्राप्त होते हैं) यदि मन से और शरीर इन्द्रियों से विहार करे—रमण करे तो मनसा यह विशेषण सार्थक नहीं होगा। इससे शरीर और इन्द्रियों का मोक्ष में अभाव रहता है ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते,

यत: 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इत्यादिनाऽनेकधाभावविकल्पमामनन्ति। नह्यनेकविधता विना शरीरभेदेनाञ्जसी स्यात्। यद्यपि निर्गुणायां भूमविद्यायामयमनेकधाभावे विकल्प: पठ्यते, तथापि विद्यमानमेवेदं सगुणावस्थायामैश्वर्यं भूमविद्यास्तुतये संकीर्त्यत इत्यत: सगुणविद्याफलभावेनोपतिष्ठत इत्युच्यते ॥ ११ ॥

जैमिनि आचार्य तो मन के समान इन्द्रियसहित शरीर का भी भाव (अस्तित्व) को मुक्त के प्रति मानते हैं, जिससे (वह मुक्त पुरुष एक प्रकार होता है, तीन प्रकार होता है) इत्यादि वचनों से अनेक भाव के विकल्प को कहते हैं। शरीर-भेद के बिना अनेकविधता आञ्जसी (वास्तविकी-युक्ता) नहीं होगी। यद्यपि निर्गुण ब्रह्मविद्या में अनेकधा भाव का विकल्प पढ़ा जाता है। तथापि सगुण अवस्था में ही विद्यमान यह ऐश्वर्य ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये ब्रह्मविद्या में संकीर्तित होता है। इससे सगुणविद्या के फलरूप से उपस्थित (प्राप्त) होता है, इस प्रकार कहा जाता है ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽत: ॥ १२ ॥

बादरायण: पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते—यदा सशरीरतां संकल्पयति तदा सशरीरो भवति यदा त्वशरीरतां तदाऽशरीर इति। सत्यसंकल्पत्वात् संकल्पवैचित्र्याच्च। द्वादशाहवत्। यथा द्वादशाह: सत्रमहीनश्च भवति उभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादेवमिदमपीति ॥ १२ ॥

बादरायण आचार्य तो इसी उभय (दोनों) लिङ्गवाली श्रुतियों के देखने से उभयविधता (दोनों स्वरूपता) को साधु (चारु) सुन्दर मानते हैं। जिस काल में शरीरसहित रहने का संकल्प विद्वान् करता है, उस समय शरीर-सहित रहता है, और जब अशरीरता (शरीर-रहित रहने) का संकल्प करता है, तब शरीर-रहित रहता है। सत्य-संकल्पवाले होने से और संकल्प की विचित्रता से ऐसी स्थिति होती है। जैसे द्वादशाह याग के नियत बहुत कर्ता से साध्य होने पर वह सत्र कहा जाता है। अनियत एक-दो कर्ता से साध्य होने पर अहीन कहाता है। तथा (य एवं विद्वांस: सत्रमुपयन्ति) इससे विहित द्वादशाह को सत्रत्व होता है। (द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्) इससे विहित एकनियतकर्तृक को अहीनत्व होता है। इसी प्रकार उभयलिङ्गवाली श्रुति के देखने से यह सशरीरत्व और अशरीरत्व भी उपपन्न होता है ॥ १२ ॥

तन्वभावे संध्यवदुपपत्ते: ॥ १३ ॥

यदा तु सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावस्तदा यथा संध्ये स्थाने शरीरेन्द्रियविषयेष्वविद्यमानेष्वप्युपलब्धिमात्रा एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मोक्षेऽपि स्युरेवं ह्येतदुपपद्यते ॥ १३ ॥

जिस काल में विद्वान् के इन्द्रिय-सहित शरीर का अभाव रहता है, उस काल में, जाग्रत्-सुषुप्ति के सन्धि में होनेवाले सन्ध्य (स्वप्न) स्थान में जैसे शरीर, इन्द्रिय और विषयों के अविद्यमान रहते भी उपलब्धि (ज्ञान) मात्र ही पितृ आदि रूप काम्य पदार्थ होते हैं, इसी प्रकार मोक्ष में भी होंगे, जिससे इसी प्रकार यह उपपन्न होता है ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

भावे पुनस्तनोर्यथा जागरिते विद्यमाना एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मुक्तस्याप्युपपद्यते ॥ १४ ॥

शरीर के भाव (सत्ता) रहने पर जैसे जाग्रत् में विद्यमान (वर्तमान) ही पितृ आदि काम्य पदार्थ रहते हैं, इसी प्रकार मुक्त के भी काम्य पितृ आदि उपपन्न होते हैं ॥

प्रदीपाधिकरणम् (६)

निरात्मनोऽनेकदेहाः सात्मका वा निरात्मकाः ।
अभेदादात्ममनसोरेकस्मिन्नेव वर्तनात् ॥ १ ॥
एकस्मान्मनसोऽन्यानि मनांसि स्युः प्रदीपवत् ।
आत्मभिस्तदवच्छिन्नैः सात्मकाः स्युस्त्रिधेत्यतः ॥ २ ॥

अनादि लिङ्ग शरीरवाला विद्वान् के एक रहते अनेक शरीर के निर्माण-काल में सब शरीर में नहीं रह सकेगा, इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि एक दीप से अनेक दीप के समान विद्वान् का सब शरीर में आवेश (प्रवेश) होता है । यद्यपि प्रदीप भिन्न हो जाता है, तथापि विद्वान् का एक ही लिङ्ग-शरीर विद्या-बल से सब में व्याप्त होता है । संशय होता है कि मुक्त से भोगार्थक कल्पित अनेक देह निरात्मक रहते हैं, अथवा सात्मक रहते हैं, भाव है, कि आत्मा-रहित जड़ हों तो भोग नहीं हो सकता है, सात्मक हों तो मुक्त का भोक्तास्वरूप विशिष्टात्मा एक है, वह अनेक शरीर में एक काल में रह नहीं सकता है । इससे पूर्वपक्ष है कि आत्मा और मन के भेदरहित होने से अनेक नहीं होने से कल्पित देह निरात्मक हैं, जिससे आत्मा-सहित (सूक्ष्म शरीर) एक ही निर्मित शरीर में रहता है, अन्य में नहीं, इससे भोग भी नहीं होता । सिद्धान्त है कि एक मन से अन्य मन प्रदीप के समान विद्यादि के बल से होते हैं, और उनसे युक्त आत्माओं से आत्मा-सहित शरीर होंगे, इससे त्रिधा इत्यादि श्रुति भी सङ्गत होगी ॥ १–२ ॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' (ब्र० सू० ४।४।११) इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम् । तत्र त्रिधाभावादिष्वनेकशरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दारुयन्त्रवत् सृज्यन्ते किंवा सात्मकान्यस्मदादिशरीरवदिति भवति वीक्षा ।

तत्र चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकेन शरीरेण योगादितराणि शरीराणि निरात्मकानीति ।

(भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्) इस सूत्र में मुक्त को सशरीत्व कहा गया है। यहाँ त्रिधा भावादि रूप अनेक शरीर की सृष्टि में क्या निरात्मक काष्ठयन्त्र के समान शरीर रचे जाते हैं, अथवा आत्मासहित हम लोगों के शरीरों के समान रचे जाते हैं, ऐसी जिज्ञासा होती है। यहाँ पूर्व पक्ष है कि आत्मा और मन के भेद की अनुपपत्ति से एक शरीर के साथ भोक्ता आत्मा और मन का संयोग रहता है। अन्य शरीर निरात्मक रहते हैं।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—प्रदीपवदावेश इति। यथा प्रदीप एकोऽनेकप्रदीपभावमापद्यते विकारशक्तियोगात्, एवमेकोऽपि सन्विद्वानैश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य सर्वाणि शरीराण्याविशति। कुतः ? तथाहि दर्शयति शास्त्रमेकस्यानेकभावम्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा' (छा० ७।२६।२) इत्यादि। नैतद्दारुयन्त्रोपमाभ्युपगमेऽवकल्पते नापि जीवान्तरावेशे। नच निरात्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः सम्भवति। यत्त्वात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरनेकशरीरयोगासंभव इति। नैष दोषः। एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि सत्यसङ्कल्पत्वात्स्रक्ष्यति, सृष्टेषु च तेषूपाधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं योक्ष्यते। एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरयोगप्रक्रिया ॥ १५ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन करते हैं कि (प्रदीपवदावेश इति) जैसे एक प्रदीप विकार-शक्ति के योग से अनेकप्रदीपभाव को प्राप्त होता है। इसी प्रकार एक होता हुआ भी विद्वान् ऐश्वर्य के योग से अनेक भाव को प्राप्त होकर सब शरीरों में आवेश (प्रवेश) करता है। यह किस हेतु से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि इसी प्रकार शास्त्र दर्शाता है कि (वह विद्वान् एकधा होता है, त्रिधा होता है, पञ्चधा, सप्तधा, नवधा होता है) इत्यादि। यह विद्वान् के अनेकधात्व काष्ठयन्त्र-तुल्यता के स्वीकार करने पर नहीं सिद्ध हो सकता है, न अन्य जीवों के प्रवेश होने ही पर सिद्ध हो सकता है। वे सब शरीर सात्मक होते हैं, क्योंकि निरात्मक शरीरों की प्रवृत्ति का सम्भव नहीं है। जो यह कहा गया था कि आत्मा और मन के भेदों की अनुपपत्ति से अनेक शरीरों के साथ सम्बन्ध का असम्भव है, वहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि सत्यसंकल्पत्व से अनादि एक मन के होते भी उस एक मन के अनुवर्ती मनसहित ही अन्य शरीरों की सृष्टि वह करेगा। और उन शरीरों को सृष्टि होने पर उपाधि के भेद से आत्मा का भी भेद होने से अधिष्ठातृत्व-युक्त होगा। योगशास्त्रों में योगियों के अनेक शरीर के योग की यही प्रक्रिया है। (निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकमेकमनेकेषाम्) यो० ४।४—५ योगी के निर्मित्त देहों में अभिमानमात्र से निर्मित चित्त होते हैं। उन अनेक चित्तों के प्रवृत्तिभेद में नियामक अनादि चित्त रहता है ॥ १५ ॥

कथं पुनर्मुक्तस्यानेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युपगम्यते यावता 'तत्केन कं विजानीयात्' (बृ० ४।५।१५) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' (बृ० ४।३।३०) 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (बृ० ४।३।३२) इति चैवंजातीयका श्रुतिविशेषविज्ञानं वारयतीत्यत उत्तरं पठति—

यहां शंका होती है कि मुक्त के अनेक शरीर में आवेश आदि रूप ऐश्वर्य कैसे माने जाते हैं। जब (वह विमुक्त ज्ञानी किस को देखेगा, किससे किस को जानेगा। उससे अन्य उससे विभक्त वह दूसरी वस्तु नहीं है कि जिसको वह जानेगा। वह सलिल के समान स्वच्छ द्रष्टा अद्वैत होता है) इस प्रकार की श्रुति विशेषज्ञान का वारण करती है। इति। इस शंका के (प्रश्न के) होने से उत्तर पढते हैं कि—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

स्वमप्ययः सुषुप्तम् 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते' (छा० ६।८।१) इति श्रुतेः। 'संपत्तिः कैवल्यम्, 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति श्रुतेः। तयोरन्यतरामवस्थामपेक्ष्यैतद्विशेषसंज्ञाभाववचनम्। क्वचित्सुषुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते क्वचित्कैवल्यावस्थाम्। कथमवगम्यते, यतस्तत्रैव तदधिकारवशादाविष्कृतम् 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' (बृ० २।४।१४) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (बृ० २।४।१४) 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' (बृ० ४।३।१९) माण्डू० (५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सगुणविद्याविपाकावस्थानं त्वेतत्स्वर्गादिवदवस्थान्तरं यत्रैतदैश्वर्यमुपवर्ण्यते, तस्माददोषः ॥ १६ ॥

(अपने स्वरूप में लीन होता है जिससे इसको स्वपिति इस प्रकार कहते हैं) इस श्रुति से स्वस्वरूप में अप्यय (लय) रूप स्वाप्यय सुषुप्ति है। (ब्रह्म होता हुआ ब्रह्म में अप्येति – लीन होता है) इस श्रुति से सम्पत्ति (ब्रह्मभावापत्ति) कैवल्य (मोक्ष) है, इन दोनों में से अन्यतर (किसी एक) अवस्था की अपेक्षा करके यह विशेष संज्ञा (ज्ञान) के अभाव का वचन (कथन) है। कहीं सुषुप्ति अवस्था की अपेक्षा कर के विशेष ज्ञानों का अभाव कहा जाता है, कहीं कैवल्यावस्था की अपेक्षा करके कहा जाता है। यदि कहा जाय कि यह कैसे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि जिससे तत्रैव-उन श्रुतियों में ही उस सुषुप्ति और कैवल्य के अधिकार (प्रकरण) वश से उन वचनों के अन्यतर की अपेक्षा पूर्वकत्व आविष्कृत (प्रकट) होता है, जिससे समझा जाता है (इन शरीरादिरूप भूतों से समुत्थित व्यक्त होकर, उनके नाश के पीछे नष्ट अव्यक्त होता है। उस अवस्था में प्राप्त होने पर विशेष नहीं रहता है) जिस अवस्था में इसका सब आत्मा ही हो गया। जिस काल में सोया हुआ किसी काम्य वस्तु की इच्छा नहीं करता है, कोई स्वप्न नहीं देखता है, इत्यादि श्रुतियो से विशेष ज्ञानाभाव का सुषुप्ति मुक्ति-अन्यतरविषयत्व आविष्कृत होता है। यह तो सगुण विद्या के विपाक

(फल) का अवस्थान (अवस्थिति-अवस्था) रूप स्वर्गादि के समान अवस्थान्तर है, कि जिस में यह ऐश्वर्य वर्णित होता है। इसको मुक्ति इस प्रकार कहा जाता है कि जैसे अरुणोदय होने पर सन्ध्याकाल को दिवस कहा जाता है, जिससे दोष का अभाव है ॥ १६ ॥

जगद्व्यापाराधिकरणम् (७)

जगत्स्रष्टृत्वमस्त्येषां योगिनामथ नास्ति वा। अस्ति स्वाराज्यमाप्नोतीत्युक्तैश्वर्यानवग्रहात् ॥
सृष्टावप्रकृतत्वेन स्रष्टृता नास्ति योगिनाम्। स्वराज्यमीशो भोगाय ददे मुक्ति च विद्यया ॥

ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासकों को अपने भोगों के अनुकूल अपने शरीर-इन्द्रियादि की सृष्टि के लिए ऐश्वर्य की प्राप्ति होने पर भी जगत् की उत्पत्ति आदि रूप व्यापार से वर्जित (रहित) ही ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। क्योंकि प्रकरण से, और सृष्टि-प्रकरण में उपासकों के असन्निहितत्व से ऐसा ही सिद्ध होता है। संशय है कि योगियों को जगत् स्रष्टृत्व (जगत्कर्तृत्व) होता है, अथवा नहीं होता है। पूर्वपक्ष है कि (स्वाराज्यमाप्नोति) इस श्रुति से कथित ऐश्वर्य के अनवग्रह (अप्रतिबद्ध-निरङ्कुश) होने से जगत्-स्रष्टृत्व होता है। सिद्धान्त है कि आकाशादिरूप जगत् की सृष्टि में योगियों के अप्रकृतत्व होने से, जगत् की सृष्टि के प्रकरण में इनका उल्लेख नहीं होने से योगियों को जगत् की स्रष्टृता नहीं होती है, केवल भोग के लिये ईश्वर स्वाराज्य देते हैं, और विद्या से मुक्ति देते हैं, दिये है ॥ १–२ ॥

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

ये सगुणब्रह्मोपासनात्सहैव मनसेश्वरसायुज्यं व्रजन्ति किं तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित्सावग्रहमिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? निरङ्कुशमेवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' (तै० १।५।३) 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२,८।१।६) इत्यादिश्रुतिभ्य इति।

जो उपासक सगुण ब्रह्म की उपासना से मन आदि रूप सूक्ष्मशरीर के साथ-सा रहते ही इनके विलय बिना ही ईश्वर के सायुज्य (ईश्वर के ईश्वरत्व) को प्राप्त करते हैं, उनको क्या निरवग्रह (निरंकुश) ऐश्वर्य प्राप्त होता है। अथवा सांकुश ऐश्वर्य प्राप्त होता है, यह संशय होता है। वहाँ प्रथम प्राप्त क्या होता है। ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष होता है कि इनका ऐश्वर्य निरंकुश होने योग्य है। सो वह ईश्वरत्व को प्राप्त करता है। सब देव इसके लिये बलि उपहार का समर्पण करते हैं। उनका सब लोगों में यथेष्टाचार होता है) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है।

एवं प्राप्ते पठति—जगद्व्यापारवर्जमिति। जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्व-

रस्य। कुतः ? तस्य तस्य तत्र प्रकृतत्वादसंनिहितत्वाच्चेतरेषाम्। पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः, तमेव प्रकृत्योत्पत्याद्युपदेशात् नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च। तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते, तेनासंनिहितास्ते जगद्व्यापारे। समनस्कत्वादेव चैतेषामनैकमत्ये कस्यचित्स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित्स्यात्। अथ कस्यचित्संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत, ततः परमेश्वराकूततन्त्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते ॥ १७ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर पढ़ते हैं कि (जगद्व्यापारवर्जमिति) जगत् के उत्पत्ति आदिविषयक व्यापारों को त्याग (छोड़) कर अन्य अणिमा आदि रूप ऐश्वर्य मुक्तों को होने योग्य है जगत्-विषयक व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वर का ही होने योग्य है। क्यों ऐसा होने योग्य है, तो कहा जाता है कि उस नित्यसिद्ध ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति आदि प्रकरण में प्रकृतत्व (प्रकरण से प्राप्तत्व-सम्बन्ध) है, और अन्य योगी आदि को जगत्-सृष्टि-प्रकरण में असंन्निहितत्व है। जिससे पर ही ईश्वर जगत्-विषयक व्यापार में अधिकृत है। उस परमेश्वर को ही प्रस्तुत करके श्रुति में जगत् के उत्पत्ति आदि के उपदेश से, तथा नित्यत्व सें और शब्द-निबन्धनत्व (श्रुतिमात्र-बोध्यत्व) से एक ईश्वर को जगत्-सृष्टि आदि में अधिकृतत्व-युक्त है। उस ईश्वर के अन्वेषण (ध्यान-विचारादि) तथा जिज्ञासा (श्रवणादि) पूर्वक अन्य के ऐश्वर्य सुना जाता है। जिससे वे अन्य ऐश्वर्य वाले जगत् के व्यापार में असन्निहित हैं। इनके मनसहित होने के कारण अनेकमतिता होने पर, किसी का जगत् की स्थितिविषयक अभिप्राय होगा, किसी का संहारविषयक अभिप्राय होगा, तो इस प्रकार का विरोध भी कदाचित् होगा। यह मुक्तों के समप्रधानता में दोष होगा। और यदि उन में गुणप्रधान भाव हो, और किसी एक प्रधान के संकल्प के अनुसार अन्य सबका संकल्प होता है, ऐसा मान कर अविरोध का समर्थन (प्रतिपादन) किया जाय, तो इससे परमेश्वर के तात्पर्य (अभिप्राय) अधीनत्व ही अन्यों को है, यह व्यवस्थित (निश्चित) होता है ॥१७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

अथ यदुक्तम् 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) इत्यादिप्रत्यक्षोपदेशान्निरवग्रहमैश्वर्यं विदुषां न्याय्यमिति तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते नायं दोषः। आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः। आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरस्तदायत्तैवेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते। यत्कारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (तै० १।६।२) इत्याह। यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोति इति। एतदुक्तं भवति। तदनुसारेणैव चानन्तरम् 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति' (तै० १।६।२) इत्याह।

एवमन्यत्रापि यथासम्भवं नित्यसिद्धेश्वरायत्तमेवेतरेषामैश्वर्यं योजयितव्यम् ॥ १८ ॥

और जो यह कहा गया है (स्वाराज्य को प्राप्त करता है) इत्यादि प्रत्यक्ष उपदेश से विद्वानों का निरंकुश ऐश्वर्य न्याय्य है, इति, वह परिहार करने योग्य है। इससे यहाँ कहा जाता है कि अधिकार में नियुक्त करने वाला जो परमात्मा का स्वरूप है वह आधिकारिक है, और वही सूर्यमण्डलादि में स्थित है, उसी की प्राप्यरूप से उक्ति (कथन) से यह दोष नहीं है, अर्थात् (तत्सवितुर्वरेण्यम्) इत्यादि श्रुति में वर्णित परमात्मा का स्वरूप ही प्राप्तव्य है। निरंकुश स्वाराज्य होने पर, ईश्वर प्राप्तव्य नहीं कहा सकता है। इससे आधिकारिक जो सूयमण्डलादि विशेष स्थानों में अवस्थित पर ईश्वर है, उसके अधीन ही यह स्वाराज्य की प्राप्ति कही जाती है। जिस कारण से उसके अनन्तर (मन के पति को प्राप्त करता है) यह श्रुति कहती है। जो सबके मन का पति पूर्वसिद्ध ईश्वर है, उसको प्राप्त करता है, यह कहा जाता है। उसके अनुसार से ही उसके अनन्तर-ईश्वराधीन ही (वाक् का पति, नेत्र का पति, श्रोत्र का पति, और विज्ञान-बुद्धि का पति होता है) यह श्रुति कहती है। इस प्रकार अन्यत्र (कामचारादि में) भी सम्भव के अनुसार नित्यसिद्ध ईश्वर के अधीन ही अन्य का ऐश्वर्य योजना (सम्बन्ध) के योग्य है ॥ १८ ॥

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं न केवलं विकारमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम्। तथा ह्यस्य द्विरूपां स्थितिमाहाम्नायः 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्येवमादिः। नच तन्निर्विकारं रूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुमतत्क्रतुत्वात्तेषाम्। अतश्च यथैव द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठत एवं सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रह एवावतिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

यह साङ्कुश ऐश्वर्य की प्राप्ति का वर्णन सगुण कार्यब्रह्म-उपासकों का है, निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति वालों का नहीं, यदि कहा जाय कि निर्गुण ब्रह्म ही नहीं है, तो कहते हैं कि पारमेश्वर (परमेश्वर का) नित्यमुक्त विकारों में अवर्तने के स्वभाव वाला स्वरूप भी है। केवल विकार मात्र में वर्तनेवाला सूर्यमण्डलादि रूप अधिष्ठान (आश्रय) वाला नहीं है। जिससे इस परमेश्वर की दो रूप वाली स्थिति को (जितना चतुष्पाद छह प्रकार की गायत्रीरूपब्रह्म के विकाररूप पाद कहा गया है, उतनी इस ब्रह्म की महिमा है, उससे ब्रह्मात्मा पुरुष बहुत बड़ा है। इसके पादमात्र सब भूत हैं, तीन पाद अनन्त-स्वरूप अमृत हैं, और प्रकाशात्म-स्वरूप में स्थिर है) इत्यादि वेद कहता है। इतर

(निर्गुणान्य) आलम्बन (ध्येय) वाले उस निर्विकार रूप को प्राप्त होते हैं। ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उनको अतत्क्रतुत्व है, निर्गुण ब्रह्मविषयक संकल्प का अभाव है। इससे ही जैसे दो रूप वाले परमेश्वर के रहते भी सगुणोपासक निर्गुण स्वरूप को नहीं प्राप्त करकें सगुण में ही अवस्थित होते हैं। इसी प्रकार सगुण में भी निरंकुश ऐश्वर्य को नहीं प्राप्त करके साङ्कुश ऐश्वर्य में ही अवस्थित होते हैं। ऐसा समझना चाहिये ॥१९॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः श्रुतिस्मृती—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (कठ० ५।१५। श्वेता० ६।१४। मुण्ड० २।२।१०) इति। 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गी० १५।६) इति च। तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

पूर्वसूत्र वर्णित श्रुति में (तावानस्य महिमा) इससे विकारवर्ती ब्रह्म का रूप कहा गया है, (ततो ज्यायाँश्च) इससे निर्विकार रूप कहा गया है, (पादोऽस्य) से विकारवर्ती कहा है, (त्रिपादस्यामृतम्) से निर्विकार कहा है। इसी प्रकार अन्य भी श्रुति और स्मृति पर— ज्योति की विकार में अवृत्तितामात्र को दर्शाते हैं कि (उस परब्रह्म में सूर्य नहीं प्रकाश करता है, न चन्द्र-तारागण प्रकाश करते हैं, न ये विद्युत् उस में भासती हैं, तो यह अग्नि तो कैसे भासेगी) (न उस परपद को सूर्य प्रकाशता है, न चन्द्र प्रकाशता है, न अग्नि प्रकाशतो है) इति। इससे इस प्रकार विकार में अवृत्तित्व (निर्गुणत्व) परज्योति को प्रसिद्ध है। यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

इतश्च न निरंकुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यं यस्माद्भोगमात्रमेवैषामनादिसिद्धेनेश्वरेण समानमिति श्रूयते—'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' इति 'स' यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १।५।२३) इत्यादिभेदव्यपदेशलिङ्गेभ्यः ॥ २१ ॥

इस हेतु से भी विकाररूप अवलम्बन वालों का ऐश्वर्य निरंकुश नहीं है, कि जिससे इनका भोगमात्र ही अनादिसिद्ध ईश्वर के साथ समान (तुल्य) होता है, ऐसा सुना जाता है कि (ब्रह्मलोक में प्राप्त उस उपासक को हिरण्यगर्भ कहते हैं कि मुझसे ये अमृतरूप जल भोगे जाते हैं। तेरा भी यह लोक-भोग्य है) जैसे इस ब्रह्मदेवता का सब प्राणी भजनसेवन करते हैं, इसी प्रकार ऐसे जानने वाले का सब भजन करते हैं। उस प्राणात्मा की प्रतिपत्ति निश्चयरूप व्रत के धारण से इस सर्वात्मा प्राण देवता का

सायुज्य—एकात्मत्व को प्राप्त करता है, और समानलोकता को भी प्राप्त करता है। इत्यादि भेद के व्यपदेशरूप लिङ्गों से समान भोगमात्र सिद्ध होने से निरंकुश ऐश्वर्य नहीं सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

नन्वेवं सति सातिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात्ततश्चैषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान्बादरायण आचार्यः पठति—

शंका होती है कि ऐसा होने पर ऐश्वर्य के अतिशय युक्त होने से, उसको अन्तवत्त्व (विनाशित्व) होगा, तब ऐश्वर्य के नष्ट होने पर इन उपासकों की फिर संसार में आवृत्ति (जन्म-मरणादि) प्राप्त होगी। इससे भगवान् बादरायण आचार्य उत्तर पढ़ते हैं कि—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

नाडीरश्मिसमन्वितेनार्चिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति यस्मिन्नरश्च ह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरंमदीयं सरो यस्मिन्नश्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिंश्च प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म यश्चानेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते तं ते प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते। कुतः? 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, कठ० ६।१६) 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६।२।१५) 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।१) 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' (छा० ८।१५।१) 'न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१५।१) इत्यादिशब्देभ्यः। अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथाऽनावृत्तिस्तथा वर्णितम् 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्' (ब्र० सू० ४।३।१०) इत्यत्र। सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः।

नाडी और रश्मियों से युक्त, अर्चि आदि पर्व (भाग) वाले देवयान मार्ग से, शास्त्र में वर्णित विशेषणवाले ब्रह्मलोक में जो उपासक जाते हैं, वह उस लोक को प्राप्त करके भुक्तभोग वाले जैसे चन्द्रलोक से लौटते हैं, वैसे वे लोग उस ब्रह्मलोक से नहीं लौटते हैं, कि जिस ब्रह्म लोक में, इस पृथिवीलोक की अपेक्षा तृतीय लोकरूप दिव (स्वर्ग) में जो वर्तमान है उसमें अर और राय नामक दो समुद्र तुल्य तालाव हैं। ऐरम्, अन्नमय मदीय-मदकारक हर्षोत्पादक सर है। जहाँ सोमसवन-अमृत की वृष्टि करने वाला अश्वत्थ है। जिस में अपराजित—ब्रह्मचर्यरहितों से अप्राप्त ब्रह्म की पुरी है। जिसमें प्रभु से निर्मित सुवर्णमय वेश्म है। जो अनेक प्रकार से मन्त्र अर्थवाद आदि के प्रदेशों (स्थानों) में विस्तार से वर्णित होता है। उसको प्राप्त करके नहीं लौटते हैं। यह कैसे समझा जाता है, तो कहते हैं कि (उस ब्रह्मनाडी से ऊपर जाने वाला अमृतत्व को प्राप्त करता है। उनकी फिर संसार में आवृत्ति नहीं होती। इस देवयान मार्ग से

जाने वाले इस मानव संसार में फिर नहीं आते हैं। यद्यपि (इमं मानवावर्तम्) इस मानव-संसार में, श्रुतिगत इस विशेषण से सिद्ध होता है, भासता है कि इस कल्प में ब्रह्मलोक में जाने वालों की कल्पान्तर में आवृत्ति होती है, तथा (आब्रह्मभुवनाल्लोकाः- पुनरावर्तिनोऽर्जुन) इस गीता में आङ् के अभिविधि अर्थ में होने से ब्रह्मलोकपर्यन्त लोकों की पुनरावृत्तिता सिद्ध होती है। तथापि ईश्वरोपासना श्रवणादि के संस्कार से रहित जो मनुष्य केवल पञ्चाग्निविद्या अश्वमेधादिकर्म दृढब्रह्मचर्यादि-साधनों से ब्रह्मलोक में जाते हैं, उनको वहाँ तत्त्वज्ञान के नियम के अभाव से उनकी पुनरावृत्ति होती है, और दहरादि स्वरूप ईश्वर की उपासना से तथा श्रवणादि के संस्कारवाले जो ब्रह्मलोक में जाते हैं, उनको दिव्य लोक के अभाव से उद्बुद्ध संस्कार ईश्वरानुग्रहादि से ज्ञान द्वारा वहाँ ही मुक्ति होती है, पुनरावृत्ति नहीं होती है, इसी प्रकार ब्रह्मलोक में प्राप्त भी सकाम पुरुषों को ज्ञान नहीं होता है, उत्कट काम सर्वत्र ज्ञान मोक्ष का प्रतिबन्धक होता है, और निष्काम को ज्ञान से ही अपुनरावृत्ति होती है। इस से गृहस्थ होते भी जो निष्काम होकर सब इन्द्रियों को आत्मा में स्थिर करके हिंसा आदि का त्यागपूर्वक सदा बर्ताव करता है, वह ब्रह्मलोक में प्राप्त होता है। फिर वह नहीं लौटता है। काम के रहने पर ब्रह्मा की स्थितिपर्यन्त नहीं लौटता है; फिर कल्पान्तर में लौटता है) इत्यादि शब्दों से अपुनरावृत्ति की सिद्धि होती है। ऐश्वर्यों के अन्त वाले होते भी जिस प्रकार से ब्रह्मलोक-वासियों की अनावृत्ति है, वह प्रकार (कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्) इस सूत्र में वर्णित हो चुका है। सगुण विद्या वालों ही की अनावृत्ति का वर्णन सूत्रकार ने इसलिये किया है कि सम्यग् दर्शन से जिनका अविद्यारूप तम विध्वस्त (नष्ट) हो गया है, उन नित्यसिद्ध निर्वाण (कैवल्य) परायणों (परम आश्रय वालों) की अनावृत्ति श्रुति-स्मृति-अनुभूति से स्वयं सिद्ध ही है, उसे सिद्ध करने की जरूरत नहीं है।

तदाश्रयणेनैव हि सगुणशरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति। अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सूत्राभ्यासः शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

जिससे उस सम्यग् दर्शन के आश्रयण द्वारा ही सगुण शरण वालों की भी अनावृत्ति की सिद्धि होती है। इससे सम्यग् दर्शनवालों की अनावृत्ति में कुछ वक्तव्य नहीं है। पद के अभ्यास से पाद की समाप्ति द्योतित (प्रकाशित) होती है। यहाँ (अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्) यह सूत्र का अभ्यास शास्त्र की समाप्ति को द्योतित करता है ॥ २२ ॥

शान्तं सर्वगतं ह्यनन्तमजरं कल्याणकल्पद्रुमं
कामक्रोधमदादिदोषनिवहैः स्पृष्टं न चान्तः क्वचित् ।
हेयादेयविभेदखेदरहितं रामं गुरुं चेश्वरं
दीनोद्धारकरं सदा सुखकरं कैवल्यभानुं भजे ॥
वन्दे बोधकरं बुधैकशरणं सिद्धं सदा निर्गुणं
भक्ताभीष्टविधौ विधानविबुधं धर्मस्य सेतुं परम् ।
सर्वाधारतया तु वेदविबुधैर्गीतं परं पावनं
धर्मध्यानसमाधिशान्तिसुलभं भोगैः सदा दुर्गमम् ॥
साधुत्वं समदर्शित्व सदा परोपकारिता ।
मृदुत्वं मानराहित्यं दयालुत्वं जितारिता ॥
ब्राह्मण्यं पुण्यशीलत्वं पापराहित्यमेव च ।
शमदमादिनिष्ठत्व वेदज्ञत्वं विदुर्बुधाः ॥
दीनाभयकरत्वं च शूरत्वं पालनं सताम् ।
प्रजानां पालनं सत्यं क्षात्रत्वं क्षमितायुतम् ॥
न्यायोपार्जितवित्तत्वं दयादानादिवीरता ।
वैश्यत्वं साधुसेवित्व शूद्राणां कथितं परम् ॥
अहिंसा सर्वदा सर्वैः कर्तव्या कर्मतत्परैः ।
ईशभक्तिर्गुरोर्भक्तिर्यथाशक्ति विधानतः ॥
एवं वृत्तपरा येऽत्र तेऽत्र जन्मनि वा परे ।
लभन्ते ज्ञानमत्यच्छ ध्यानं वा मुक्तिमेव च ॥
यत्कृपालेशमात्रेण तीर्यते भवसागरः ।
ह्रियते नच कामाद्यैस्तं गुरुं शिवमाश्रये ॥
श्रीमोहनगुरुं श्रीमद्रमितारामम्व्ययम् ।
श्रीहरिहरनामानं कृपालुं गुरुमाश्रये ॥
भास्वती शाश्वती स्याद्धि मुमुक्षुहितकारिणी ।
साधूनां लोकमान्यानां मनोमोदाय जायताम् ॥
तिथौ रामनवम्यां वै प्रारब्धा भास्वती त्वियम् ।
आश्विनशुक्लषष्ठ्यां च समाप्ताऽप्यभवच्छुभा ॥
सर्वे सुसुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

ॐ शम्, शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः